पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?

16

कुछ शब्द वाङ्मय के विषय में

प्रस्तुत वाङ्मय एक प्रयास है, इस युग के व्यास परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के जीवन-दर्शन को जन-जन तक पहुँचाने का। आज से ८५ वर्ष पूर्व आगरा के आँवलखेड़ा ग्राम में जन्मा वेदमूर्ति तपोनिष्ठ की उपाधि प्राप्त भारतीय संस्कृति के उन्नयन को समर्पित एवं सच्चे अर्थों में ब्राह्मणत्व को जीवन में उतारने वाला यह राष्ट्र-संत अपने अस्सी वर्ष के आयुष्य में (१९११ से १९९०) आठ सौ वर्ष से अधिक का कार्य कर गया। सादगी की प्रतिमूर्त्ति, ममत्व, स्नेह से लबालब अंत:करण एवं समाज की हर पीड़ा जिनकी निज की पीड़ा थी, ऐसा जीवन जीने वाले युगदृष्टा ने जीवन भर जो लिखा, अपनी वाणी से कहा, औरों को प्रेरित कर उनसे जो संपन्न करा लिया, उस सबको विषयानुसार इस वाङ्मय के खण्डों में बाँधना एक नितान्त असम्भव कार्य है। यदि यह सफल बन पड़ा है तो मात्र उस गुरुसत्ता के आशीष से ही, जिनकी हर श्वास गायत्री यज्ञमय थी एवं समिधा की तरह जिनने अपने को संस्कृति-यज्ञ में होम कर डाला।

उनकी जीवनावधि के अस्सी वर्षों में से प्रारंभिक तीस वर्ष जन्मस्थली आँवलखेड़ा, आगरा जनपद एवं नगर में एक साधक, समाज-सुधारक, प्रखर स्वतंत्रता संग्राम सेनानी की तरह बीते। इसके बाद के तीस वर्ष मथुरा में एक विलक्षण कर्मयोगी, संगठन निर्माता, भविष्य दृष्टा, सारी मानव-जाति को एक सूत्र में पिरो कर युग निर्माण सत्संकल्प के रूप में मिशन का 'मैनिफेस्टो' सतयुगी समाज का आधार बताकर प्रस्तुत करते दृष्टिगोचर होते हैं। इस पूरी अवधि में एवं आयुष्य के अंतिम बीस वर्षों में परमवंदनीया माताजी का

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

मेरे पुत्र अनुराग के
शुभ विवाह की पावन
बेला पर सादर भेंट।
[illegible]
सादर

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

❐
प्रकाशक
अखण्ड ज्योति संस्थान
मथुरा - २८१००३

❐
प्रथम संस्करण १९९५

❐
मूल्य १२५)

❐
मुद्रक
जनजागरण प्रेस, मथुरा
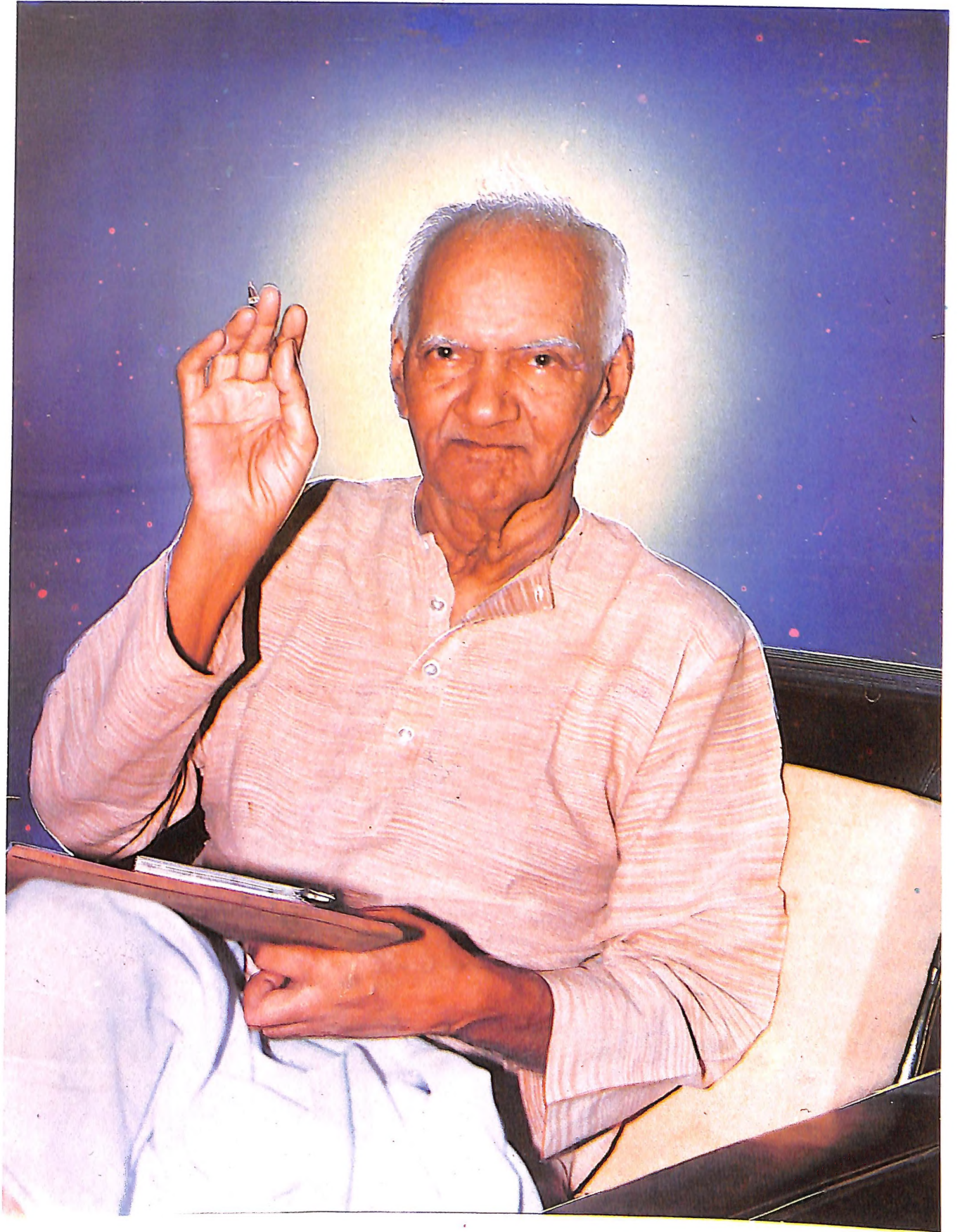
निष्कलंक प्रज्ञावतार ही जिनका पर्याय हो सकता है,
ऐसी विराट स्तर की सत्ता

स्नेह ही जिनकी पूँजी थी, सारी धरित्री जिनका कुटुम्ब थी,
ऐसी मातृसत्ता

समर्पणम्

ॐ मातरं भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ।।

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ।।

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ।।

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ।।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

भूमिका

ईश्वर विश्वास पर ही मानव प्रगति का इतिहास टिका हुआ है । जब यह डगमगा जाता है तो व्यक्ति इधर–उधर हाथ पाँव फेंकता विक्षुब्ध मनः स्थिति को प्राप्त होता दिखाई देता है । ईश्वर चेतना की वह शक्ति है जो ब्रह्माण्ड के भीतर और बाहर जो कुछ है, उस सब में संव्याप्त है । उसके अगणित क्रिया कलाप हैं जिनमें एक कार्य इस प्रकृति का–विश्व व्यवस्था का संचालन भी है । संचालक होते हुए भी वह दिखाई नहीं देता क्योंकि वह सर्वव्यापी सर्वनियन्ता है । इसी गुत्थी के कारण कि वह दिखाई क्यों नहीं देता, एक प्रश्न साधारण मानव के मन में उठता है–ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?

परम पूज्य गुरुदेव ने मानवी अस्तित्व से जुड़े इस सबसे अहम् प्रश्न, जो आस्तिकता की धुरी भी है, का जवाब देते हुए वाङ्मय के इस खण्ड में विज्ञान व शास्त्रों की कसौटी पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया है । मात्र सृष्टि संचालन ही ईश्वर का काम नहीं है चूंकि हमारा संबंध उसके साथ इसी सीमा तक है, अपनी मान्यता यही है कि वह इसी क्रिया–प्रक्रिया में निरत रहता होगा, अतः उसे दिखाई भी देना चाहिए । मनुष्य की यह आकांक्षा एक बाल कौतुक ही कही जानी चाहिए क्योंकि अचिन्त्य, अगोचर, अगम्य परमात्मा–पर ब्रह्म–ब्राह्मी चेतना के रूप में अपने ऐश्वर्यशाली रूप में सारे ब्रह्माण्ड में, इको सिस्टम के कण–कण में संव्याप्त है ।

ईश्वर कैसा है व कौन है, यह जानने के लिए हमें उसे सबसे पहले आत्मविश्वास–सुदृढ़ आत्म–बल के रूप में अपने भीतर ही खोजना होगा । परमपूज्य गुरुदेव का ईश्वर सद्गुणों का–सत्प्रवृत्तियों का–श्रेष्ठताओं का समुच्चय है जो अपने अन्दर जिस परिमाण में जितना इन सद्गुणों को उतारता चला जाता है, वह उतना ही ईश्वरत्व से अभिपूरित होता चला जाता है । ईश्वर तत्त्व की–आस्तिकता की यह परिभाषा अपने आप में अनूठी है एवं पूज्यवर की ही अपनी ऋषि प्रणीत शैली में लिखी गयी है । उनकी लालित्यपूर्ण भाषा में ईश्वर "रसो वैसैः" के रूप में भी विद्यमान है तथा वेदान्त के तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म के रूप में भी । व्यक्तित्व के स्तर को " जीवो ब्रह्मै व नापरः" की उक्ति के अनुसार परिष्कृत कर परमहंस–स्थित प्रज्ञ की स्थिति प्राप्त कर आत्म साक्षात्कार कर लेना ही पूज्यवर के अनुसार ईश्वर दर्शन है–आत्म साक्षात्कार है–जीवन्मुक्त स्थिति है ।

एक जटिल तत्त्व दर्शन जिसमें नास्तिकता का प्रतिपादन करने वाले एक–एक तथ्य की काट की गयी है, को कैसे सरस बनाकर व्यक्ति को आस्तिकता मानने पर विवश कर दिया जाय, यह विज्ञ जन वाङ्मय के इस खण्ड को पढ़कर अनुभव कर सकते हैं । ईश्वर के संबंध में भ्रान्तियाँ भी कम नहीं हैं । बालबुद्धि के लोग कशाय कल्मशों को धोकर साधना के राज मार्ग पर चलने को एक झंझट मानकर सस्ती पगडण्डी का मार्ग खोजते हैं । उन्हें वही शार्टकट पसंद आता है । वे सोचते हैं कि दृष्टिकोण को घटिया बनाए रखकर भी थोड़ा बहुत पूजा उपचार करके ईश्वर को प्रसन्न भी किया जा सकता है व ईश्वर विश्वास का दिखावा भी । जब कि ऐसा नहीं है । परमपूज्य गुरुदेव उपासना, साधना, आराधना की त्रिविध राह पर चल कर ही ईश्वर दर्शन संभव है यह समझाते हैं व तत्त्व– दर्शन के साथ–साथ व्यावहारिक समाधान भी देते हैं ।

ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है–यह जान लेने पर, वह भी रोजमर्रा के उदाहरणों से; एवं विज्ञान सम्मत शैली द्वारा समझ लेने पर किसी को भी कोई संशय नहीं रह जाता कि आस्तिकता का तत्त्व दर्शन ही सही है । चार्वाकवादी नास्तिकता परक मान्यताएँ नहीं । यह इसलिए भी जरूरी है कि ईश्वर विश्वास यदि धरती पर नहीं होगा तो समाज में अनीति मूलक मान्यताओं, वर्जनाओं को लांघकर किये गए दुष्कर्मों का ही बाहुल्य चारों ओर होगा, कर्मफल से फिर कोई डरेगा नहीं और चारों ओर नरपशु, नरकीटकों का या "जिसकी लाठी उसकी भैंस का" शासन नजर आएगा । अपने कर्मों के प्रति व्यक्ति सजग रहे, इसीलिए ईश्वर विश्वास जरूरी है । कर्मों के फल को उसी को अर्पण कर उसी के निमित्त मनुष्य कार्य करता रहे, यही ईश्वर की इच्छा है जो गीताकार ने भी समझाई है ।

ईश्वर शब्द बड़ा अभिव्यंजनात्मक है । सारी स्रष्टि में जिसका एश्वर्य छाया पड़ा हो, चारों ओर जिसका सौंदर्य दिखाई देता हो–स्रष्टि के हर कण में उसकी झाँकी देखी जा सकती हो, वह कितना ऐश्वर्यशाली होगा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । इसीलिए उसे अचिन्त्य बताया गया है । इस सृष्टि में यदि हर वस्तु का कोई निमित्तकारण है–कर्त्ता है, तो वह ईश्वर है । वह बाजीगर की तरह अपनी सारी कठपुतलियों को नचाया करता है व ऊपर से बैठकर तमाशा देखता रहता है । यही पर ब्रह्म–ब्राह्मी चेतना जिसे हर श्वांस में हर कार्य में, हर पल अनुभव किया ज़ा सकता है– सही अर्थों में ईश्वर है । प्राणों के समुच्चय को जिस प्रकार महाप्राण कहते हैं, ऐसे ही आत्माओं के समुच्चय को–सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट रूप को–हम सब के परमपिता को परमात्मा कहते हैं । ईश्वर के संबंध में एक गूढ़ विवेचन का सरल सुबोध प्रतिपादन हर पाठक–परिजन को संतुष्ट कर उसे सही अर्थों में आस्तिक बनाएगा, ऐसा हमारा विश्वास है ।

–ब्रह्मवर्चस

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक
एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-क़भी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंत:स्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्‌बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंत:करण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुत: अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा- पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरु हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अत: पुन: सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमश: उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंत: स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्त्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्राय: पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप:पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्त्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमश: एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमश: क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेघ महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्त्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

विषय सूची

४. उपासना अर्थात् ईश्वर के निकट बैठना ४.१

आस्तिकता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी

विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन आस्तिकवाद

आस्तिकता का अर्थ और स्वरूप गहराई से न समझ सकने वाले संसार के कतिपय समाजों ने उसे एक निरर्थक ईश्वरवाद मानकर अपने से बहिष्कृत कर नये नैतिक स्वरूप का प्रवर्तन किया और आशा की कि इस प्रकार अपने समाज में स्थायी सुख-शांति और सामान्य सदाचार को मूर्तिमान करने में सफल हो सकेंगे। किन्तु उनकी यह आशा पूरी होती नहीं दिखलाई दी।

इस नये प्रयोग को समाजवाद, राष्ट्रवाद अथवा साम्यवाद के नाम से पुकारा गया और कहा गया कि यदि समाज के लोग अपनी निष्ठा को न दिखने वाले ईश्वर की ओर से हटाकर इन यथार्थवादों में लगायें, तो समाज में स्थायी सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है। पिछले पचपन-पचास वर्ष से इस नई विचारधारा का परीक्षण एवं प्रयोग साम्यवादी कहे जाने वाले देशों में होता चला आ रहा है। किन्तु उसका परिणाम देखते हुये यही मानने पर मजबूर होना पड़ता है कि यह प्रयोग सफलता से आभूषित न हो सका। उदाहरण के लिये साम्यवाद की मूलभूमि रूस को ही ले लिया जाय और देखा जाय कि क्या उसका समाज अपनी नवीन अवस्थाओं के आधार पर अपने जन-समूह के लिये वह वांछित सुख-शान्ति अर्जित कर सका है, जिसके लोभ से उसने उनका प्रवर्तन किया था ?

राष्ट्रवाद और समाजवाद का भरपूर शिक्षण एवं प्रशिक्षण देने के बावजूद भी क्या उसके समाज में वह मानवीय सदाचार प्रौढ़ हो सका है, जो सुख-शान्ति का मूल-आधार है ? यदि सच पूछा जाय तो वहाँ अपराधों की संख्या अधिक ही है, अपेक्षाकृत उन समाजों के जो अब भी आस्तिकता और ईश्वर में आस्था रखते हैं। भ्रष्टाचार मिटाने और सदाचार लाने के लिये राजदण्ड को कठोर बना दिया गया है, दुष्प्रवृत्तियाँ रोकने के लिए उत्पीड़न और रक्तपात भी कम नहीं किया जाता, तब भी मन्तव्य की सिद्धि होते नहीं दीखती।

ऊपर से देखने में तो ऐसा ही लगता है कि दमन, नियन्त्रण और प्रतिबन्धों ने जनता का हृदय परिवर्तित कर दिया है। लोग समाजवाद और राष्ट्रवाद की दुहाई भी देते हैं। भ्रष्टाचार आदि अहितकर प्रवृत्तियों के प्रति घृणा भी दिखलाते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि लोगों में खुल-खेलने का साहस तो कम हो गया है पर भीतर-ही-भीतर अनैतिकता की आग बराबर सुलगती रहती है, जो अवसर पाकर भय और आतंक को एक ओर ठेलकर जब-तब प्रकट होती रहती है। यह तो सच्चा सुधार नहीं माना जा सकता।

दमन, दण्ड और आतंक के भय से यदि ऊपर-ऊपर से किन्हीं सदाचारों का प्रदर्शन करते रहा जाय और भीतर ही भीतर उसे मजबूरी अथवा अत्याचार समझा जाये तो उसे सच्ची सदाचार प्रवृत्ति नहीं माना जा सकता। सच्चा सदाचरण तो तब माना जायेगा, जब बाह्य के साथ मनुष्य का हृदय भी उसे स्वीकार करे। अवसर आने पर और कोई भय अथवा प्रतिबन्ध न रहने पर भी लोग सहर्ष उसकी रक्षा करें। आतंक से प्रेरित मनुष्य का कोई भी गुण, गुण नहीं बल्कि एक यांत्रिक प्रक्रिया होती है जिसका न कोई मूल्य है न महत्व।

नये प्रयोग के अगुआ रूस में ही आये दिन शीर्षस्थ नेताओं को देशद्रोही ठहराकर या तो मौत के घाट उतारा जाता है अथवा निर्वासित कर दिया जाता है, एक दिन के देशभक्त दूसरे दिन समाज विरोधी करार दे दिये जाते हैं। यह घटनायें क्या प्रकट करती हैं ? यही तो कि या तो अपदस्थ नेता ने भ्रष्टाचार

का प्रमाण दिया है अथवा दूसरे पक्ष ने वैसा करके अनैतिकता का परिचय दिया है। दोनों स्थितियों में बात एक जैसी ही है। अर्थात् उक्त समाज में वह सदाचार विकसित नहीं हुआ है जिसकी आशा में नास्तिकता परक समाजवाद अथवा राष्ट्रवाद का नया प्रयोग किया गया था।

यही क्यों जर्मनी, इटली, स्पेन, चीन आदि उसी विचारधारा के देशों में तो सामाजिक एवं राष्ट्रीय सदाचार लाने के लिये प्रचण्ड अधिनायकवाद का अवलम्बन लिया गया और जनता का हृदय बदलने के लिए लोमहर्षक रक्त-पात तक किया गया, किन्तु उसका फल, अशांति, संघर्ष, असन्तोष के सिवाय कुछ भी न निकला। आये दिन नेताओं में मार-काट और छीना-झपटी के समाचार आते रहते हैं। जब नये प्रयोगवादी देशों के शीर्षस्थ नेताओं के सदाचार की यह दशा है तो जनसाधारण का नैतिक स्तर क्या होगा, इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है।

आशा की गई थी कि समाज के बुरे लोगों और उसके विरोधियों को दमन के बल पर कुचल डालने से जनता का हृदय-परिवर्तन हो जायेगा और वह सच्चे रास्ते चल पड़ेगी। कुछ ही समय में समाज में सुख-शान्ति की स्थायी स्थापना हो जायेगी। किन्तु यह प्रयोग केवल एक अत्याचार बनकर रह गया। उससे किसी वांछित फल की उपलब्धि न हो सकी।

जनता का सुधार तो दूर स्वयं समाज के अगुओं में ही परस्पर विश्वासघात, भय, निष्ठुरता और आशंका के दोष समाहित हो गये। लोभ, स्वार्थ और अधिकार की लिप्सा ने उन्हें हृद-दर्जे का ईर्ष्यालु, प्रतिस्पर्धी और निर्दयी बना दिया। यह नास्तिकता परक समाजवाद, राष्ट्रवाद अथवा साम्यवाद के नये प्रयोगों की असफलता के लक्षणों के सिवाय और कुछ नहीं है।

वास्तविक सदाचार के बीज आस्तिकता के ही पवित्र आँचल में रहते हैं। नास्तिकता से प्रेरित अन्ध विचारों अथवा भावनाओं में नहीं। सर्वसाक्षी एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर में विश्वास रखना ही एकमात्र ऐसा उपाय है, जो सत्प्रवृत्तियों को किसी नीति अथवा प्रयोग के रूप में नहीं, वरन् मानव-जीवन की मूलभूत आधारशिला के रूप में हृदयंगम करने के लिये प्रेरणा देता है। ईश्वर के महत्व और उसकी सर्वोपरि सत्ता में मनुष्य की आत्मा स्वभावतः विनम्र रहती है और आस्था रखती है। मनुष्य की सत्ता की भाँति उसकी सत्ता के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा अथवा घृणा नहीं रखती। जहाँ मनुष्य, मनुष्य के बल-प्रेरित नियमों एवं प्रतिबन्धों में विवशता का अनुभव करता है, वहाँ प्रभु के दिये प्रतिबन्धों को एवं नियमों को शिरोधार्य करने में गौरव तथा सुख अनुभव करता है।

परमात्मा सत्य एवं शिव रूप है, अस्तु उसमें विश्वास रखने वाला उसकी इच्छा का अनुगमन करने वाला आस्तिक कोई भी ऐसा काम करने से विरत ही रहने का प्रयत्न करेगा, जो उसके मान्य परमात्मा के नियमों के विरुद्ध हो। सदाचार ही एक ऐसी प्रवृति है, जिसका आधार लेकर चलने से अयोग्य कामों की सम्भावना नहीं रह जाती। इसीलिये आस्तिक व्यक्ति बहुधा सदाचारी ही देखे जाते हैं।

आस्तिक व्यक्ति उपयोगिता-अनुपयोगिता की कसौटी पर कसकर मानवीय नैतिकता की महत्ता को कम या अधिक नहीं करते। उनकी दृष्टि में नैतिकता का महत्व एवं मूल्य निश्चित और स्थिर रहा करता है। उपयोगिता और अनुपयोगिता के आधार पर नैतिक नियमों की अदला-बदली करते रहने से सदाचार जीवन का आधार न रहकर एक साधारण-सा नियम मात्र रह जाता। जिसको आवश्यकतानुसार तोड़ डालने में कोई संकोच नहीं किया जाता।

उदाहरण के लिए माँसाहार को ले लीजिये। जहाँ आस्तिक व्यक्ति इसके प्रति स्थिर नैतिक भाव रखता है और किसी परिस्थिति में उसका प्रयोग पाप मानता है, वहाँ नास्तिक भौतिकतवादियों की दृष्टि में इस सदाचार का कोई निश्चित महत्व नहीं होता, उपयोगिता, अनुपयोगिता की दृष्टि से वह घटता-बढ़ता रहता है। इस विचारधारा के लोग जब आर्थिक, स्वाद अथवा किसी अन्य दृष्टि से माँसाहार की उपयोगिता स्वीकार कर लेते हैं तो फिर इसके पीछे निरीह प्राणियों की हत्या का जो पाप सन्निहित रहता है, उसकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता। वे निरपराध प्राणियों को मर्मान्तक

पीड़ा देकर उनका प्राणघात करने में कोई हानि नहीं मानते और कुतर्कों द्वारा विरोधियों का शमन करने का प्रयत्न करते हैं।

उपयोगितावादी इस प्रकार के नास्तिक लोग ही इससे आगे बढ़कर मनुष्यों के सुख-दुःख में पाप-पुण्य का विचार न करके उपयोगिता का ही दृष्टिकोण रखते हैं। जो व्यक्ति चिड़ियों के शिकार में माँस के लाभ और मनोरंजन की उपयोगिता को महत्व दे सकता है, वह इसी नीति के आधार पर अवसर आने पर मनुष्यों का शिकार भी करने लगे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। संसार में जो भी आततायी और अत्याचारी हुये हैं और जिन्होंने मानव जाति का भयानक संहार किया है, उन्होंने अपनी दृष्टि से उस नाहक रक्तपात की भी कोई-न-कोई उपयोगिता ही मानी है। आज के महायुद्ध तो उपयोगिता के नाम पर ही लड़े जाने लगे हैं। इस प्रकार का उपयोगितावाद मनुष्य को स्वार्थी एवं अवसरवादी ही बना सकता है, आदर्श सदाचारी नहीं। यह शक्ति और निष्ठा किसी सच्चे आस्तिक में ही सम्भव हो सकती है, जिसके लिए सदाचार का मूल्य जीवन के आधार के रूप में होता है, उपयोगिता के रूप में नहीं।

आस्तिकता का जन्म सदाचार से हो सकता है, किन्हीं को बड़े भौतिक लाभ न हों, फिर भी इसके द्वारा जो आध्यात्मिक लाभ होते हैं, उनकी तुलना संसार के समस्त वैभव के साथ भी नहीं की जा सकती। उसके असंख्य, अभौतिक लाभ हैं। स्वर्ग और मुक्ति का प्राप्त होना, भव-बन्धनों से छूटना, जीवन, जन्म का वास्तविक सुख मिलना, आत्म-बल, आत्म-शक्ति और आत्मानन्द के साथ ईश्वर की करुणा उसकी कृपा आदि ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिनकी तुलना में भौतिक विभूति न केवल नगण्य ही हैं बल्कि हेय भी हैं। आस्तिकता के आधार पर ईश्वर की महत्ती कृपा पाकर जब जीवन के दुःखों से अनायास ही छुटकारा पाया जा सकता है, तो सुख-सुविधा के लिये अनैतिक आधार पर वैभव इकट्ठा करने के लोभ की कोई उपयोगिता नजर नहीं आती।

आस्तिकता का भौतिक जीवन में कोई उपयोग नहीं है—यह बात किसी प्रकार भी मान्य नहीं है। क्या संसार के परम आस्तिक भक्तजनों को कोई सांसारिक लाभ हुए ही नहीं ? उन्हें भोजन, वस्त्र, मान-सम्मान आदि सांसारिक उपलब्धियों में से किस बात की कमी रही है ?

यह बात दूसरी है कि उन्होंने भौतिक विभूतियों के प्रति अनासक्त रहकर ही उनका उपयोग किया है। सांसारिक उपभोगवादियों की तरह जीवन का लक्ष्य बनाकर भोग नहीं किया है। वह ऐसा करते भी क्यों ? जब उनकी उच्च एवं परिपक्व आस्तिकता ने उसे हृदय में अहेतुक आनन्द का सागर लहरा दिया था, तो वे इन नश्वर भोगों की ओर क्या तो आकृष्ट होते और क्या लालायित ?

संसार में स्थाई सुख-शान्ति के लिए नित्य नये प्रयोगों एवं परीक्षणों को छोड़कर यदि सदा-सर्वदा के परखे और प्रमाणिक, सदाचार मूलक आस्तिकता का उपाय ग्रहण किया जाये, इसको ही मनुष्यों के हृदय में प्रेरित एवं स्थिर बनाया जाये, तो कोई कारण नहीं कि मानव जाति का हृदय अनुकूल दिशा में परिवर्तित न हो जाये और संसार में सत्प्रवृत्तियों के प्रवर्तन के आधार पर स्थाई सुख-शान्ति न विराजने लगे। आस्तिकता का गुण मनुष्य को न केवल सदाचारी, सद्विचारी तथा संयमी ही बना देता है बल्कि आगे बढ़कर वह जीव से ईश्वर, लघु से महान, अणु से विभु और मनुष्य से देवता बना देता है। ऐसे देवत्व प्राप्त मनुष्यों की बहुतायत से पृथ्वी पर स्वर्ग की रचना हो जायेगी, क्योंकि स्वर्ग का निवास ही किसी को देवता नहीं बनाता बल्कि देवताओं की विद्यमानता ही स्थान को स्वर्ग बनाती है।

आस्तिकता का सच्चा स्वरूप

'ईश्वर है'—केवल इतना मान लेना मात्र ही आस्तिकता नहीं है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास कर लेना भी आस्तिकता नहीं है क्योंकि आस्तिकता विश्वास नहीं अपितु एक अनुभूति है।

'ईश्वर है' यह बौद्धिक विश्वास है। ईश्वर को अपने हृदय में अनुभव करना, उसकी सत्ता को सम्पूर्ण सचराचर जगत् में ओत-प्रोत देखना और उसकी अनुभूति से रोमांचित हो उठना ही सच्ची आस्तिकता है। आस्तिकता की अनुभूति

ईश्वर की समीपता का अनुभव कराती है। आस्तिक व्यक्ति जगत् को ईश्वर में, और ईश्वर को जगत् में, ओत-प्रोत देखता है। वह ईश्वर को अपने से और अपने को ईश्वर से भिन्न अनुभव नहीं करता। उसके लिये जड़-चेतनमय सारा संसार ईश्वर रूप ही होता है। वह ईश्वर के अतिरिक्त किसी भिन्न सत्ता अथवा पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं मानता।

प्रायः जिन लोगों को धर्म करते देखा जाता है, उन्हें आस्तिक मान लिया जाता है। यह बात सही है कि आस्तिकता से धर्म-प्रवृत्ति का जागरण होता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो धर्म-कर्म करता हो वह आस्तिक भी हो। अनेक लोग प्रदर्शन के लिए धर्म-कार्य किया करते हैं। वे ईश्वर के प्रति अपना विश्वास, श्रद्धा तथा भक्ति को व्यक्त करते हैं किन्तु उनकी वह अभिव्यक्ति मिथ्या एवं प्रदर्शन भर ही हुआ करती है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लोग आवश्यकता, परिस्थिति शिष्टाचार अथवा स्वार्थवश किसी के प्रति भाव न होने पर भी स्नेह, प्रेम, श्रद्धा अथवा भक्ति दिखाया करते हैं।

आस्तिकता से उत्पन्न धर्म में प्रदर्शन सम्भव नहीं। जो अणु-अणु में ईश्वर की उपस्थिति अनुभव करता है, उससे प्रेम रखता है वह मिथ्या प्रदर्शन का साहस कर ही नहीं सकता। जो उस प्रेमास्पद सर्वशक्तिमान् को ही अन्दर बाहर सब जगह विद्यमान देखता है वह उसके लिये किसी अप्रिय व्यवहार को किस प्रकार कर सकता है ? वह उसके अप्रसन्न हो जाने का भय मानेगा। सच्चे धार्मिक जिनकी धार्मिकता का जन्म आस्तिकता से होता है स्वतः धर्माचरण में प्रवृत्त रहते हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक वैसा करने की आवश्यकता नहीं होती। उनका प्रत्येक व्यवहार धर्म सम्मत एवं उसी से प्रेरित होता है। जीव मात्र को आत्मवत् तथा सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का रूप मानने वाले धर्मात्मा से असंगत, अनुचित अथवा अकरणीय कार्य होना सम्भव नहीं।

प्रदर्शनकारी धर्म-ध्वजियों में आस्तिकता का विश्वास करना एक बड़ा भ्रम है। लोग इसी भ्रम के वशीभूत होकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा तथा आदर-सत्कार करने लगते हैं। वे उसे भगवान् का बड़ा भक्त समझते हैं। अपनी अन्ध-श्रद्धा के कारण लोग धर्म-ध्वजियों के उन कृत्यों को नहीं देखते जो किसी भी धार्मिक के लिये सर्वथा अनुचित होते हैं। प्रातःकाल दो-दो घन्टे, घन्टी बजाने वाले, बड़ी-बड़ी प्रार्थनायें करने और आसन-प्राणायाम करने वाले अपने व्यावहारिक जीवन में निकृष्ट, स्वार्थों एवं संकीर्णताओं का आश्रय लिया करते हैं। तनिक-तनिक-सी बात में झूठ बोलना, एक पैसे के लिये किसी का बड़े-से-बड़ा अहित कर देना, सहसामाजिकों के साथ असहयोग करना, उनसे स्पर्धा मानना और उनके प्रति ईर्ष्या-द्वेष मानना, हर समय लोभ, क्रोध, मोह से प्रेरित रहना, उनका दैनिक जीवन का अंग बन जाता है। ऐसे आदमी भी यदि थोड़ी देर पूजा-पाठ का प्रदर्शन कर देने पर धार्मिक अथवा आस्तिक माने जा सकते हैं तो फिर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि पूरा संसार आस्तिक है और अपनी-अपनी तरह से धर्मात्मा भी।

एक क्षण भी धर्म-कर्म न करने वाला यदि मनुष्यों का ठीक-ठीक मूल्यांकन करता है, समाज के प्रति अपने दायित्व का पालन करता है, सबको ईश्वर का रूप मानकर ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता, जिसका हृदय प्रेम, सहानुभति तथा सम्वेदना से भरा है, वही सच्चा धार्मिक तथा आस्तिक है। किन्तु खेद है कि लोग धार्मिकता आस्तिकता के मूल तत्व न देखकर प्रदर्शन के प्रवाह में बह जाते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना, यह मानना कि ईश्वर कोई है—आस्तिकता नहीं। यह आस्तिकता की ओर उन्मुख होने की उपक्रम-विधि है। उसकी ओर जाने वाले पथ पर चरण भर रखना है, चलना नहीं। इस मान्यता से जिज्ञासा का जन्म होता है, जिससे मनुष्य आस्तिकता की ओर डरते-डरते ही गतिशील होता है फिर ज्यों-ज्यों जिज्ञासा बढ़ती जाती है, गति तीव्र होती जाती है और मनुष्य ईश्वर के सान्निध्य की अनुभूति करना प्रारम्भ कर देता है।

प्रारम्भ में ईश्वर की सत्ता अथवा अस्तित्व का विश्वास उनकी ऐश्वर्य-महिमा के प्रभाव से ही होता है। जब मनुष्य इस अनन्त एवं अनादि जगत पर दृष्टि डालता है, जीवों के जन्म-मरण

की अनुबूझ लीला देखता है, कण मात्र बीज से वट वृक्ष का उदय देखता है, जन्म, विकास, जरा एवं मृत्यु पर विचार करता है, अनन्ताकाश में लटके तथा चक्कर लगाते ग्रह-नक्षत्रों का आधार ढूँढ़ता है तब उसका मन मान उठता है कि ईश्वर नाम की कोई सत्ता है जो इस समस्त सृष्टि का पालन, संचालन करती है।

वाह्य जगत के अतिरिक्त जब वह अर्न्तजगत में विवेक, बुद्धि, भावना तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारों एवं प्रेम, सौहार्द्र, सम्वेदना आदि गुणों का उदय-अस्त एक वैज्ञानिक विधि से होना अनुभव करता है, तब हेतु-भूति किसी अदृश्य कर्त्ता में विश्वास किये बिना चैन नहीं पड़ता। पर परमात्मा की ऐश्वर्य-महिमा से उद्‌भूत विश्वास आस्तिकता नहीं बल्कि आस्तिकता का प्रारम्भ भर है, जो जिज्ञासा का आधार पाकर कालान्तर में चिन्तन करने तथा आस्तिकता की अनुभूति विकसित करने में लगता है।

ईश्वर की ऐश्वर्य-महिमा परिपक्व जब आनन्द बनकर हृदय में उतरने लगती है, तब मनुष्य में यथार्थ आस्तिकता का आविर्भाव प्रारम्भ हो जाता है उसके लिए संसार का अणु-अणु आनन्द का स्रोत बन जाता है। जिस पर भी उसकी दृष्टि पड़ती है, उसी में उसे परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं, उसका ईश्वर सम्बन्धी बौद्धिक विश्वास आत्मिक अनुभूति में बदल जाता है। संसार के सारे सुख-दुःख उसे आनन्द रूप बन जाते हैं, सच्ची आस्तिकता की उपलब्धि होते ही मनुष्य और ईश्वर के बीच पड़ा मोह, अज्ञान अथवा अन्धकार का आवरण हट जाता है और अन्दर बाहर सब जगह ईश्वर के दर्शन करने लगता है। उसकी निष्ठा, उसकी श्रद्धा अपने अतिरेक में सारे तर्कों, संदेहों तथा अनिश्चयों को अपने प्रवाह में निमग्न कर लेती है।

आस्तिकता की यथार्थ अनुभूति मनुष्य में ईश्वरता का जागरण कर देती है, जिससे उसका सारा जीवन आध्यात्मिक भावों से भरकर उच्च से उच्चतम की ओर उठता चला जाता है और शीघ्र ही सोऽहम्' की स्थिति में पहुँच जाता है। मनुष्य का ध्यान जिस पर केन्द्रित हो जाता है, उसके निरन्तर चिन्तन से मनुष्य मन-वचन, कर्म से उसी का स्वरूप हो जाता है। आस्तिक भाव में एकनिष्ठ हो जाने से निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करते और सभी ओर, सब में उसको ही देखते रहने से मनुष्य ईश्वर रूप हो जाता है।

सच्ची आस्तिकता में जहाँ एक प्रेरणा होती है वहाँ एक आकर्षण भी होता है। आस्तिकता जहाँ मनुष्य को ईश्वर की ओर प्रेरित करती है, वहाँ ईश्वरीय तत्व को भी मनुष्य की ओर आकृष्ट करती रहती है, जिससे शीघ्र ही मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। आस्तिक भगवान् के और भगवान आस्तिक के द्वार तक पहुँचने के लिये एक साथ चल पड़ते हैं।

आस्तिक मनुष्य का ध्यान हर घड़ी ईश्वर की ओर लगा रहता है। वह जीवन के सारे काम एक उसी के लिए ही किया करता है, उसी की ओर से जिसके लिए काम करने के कारण उनकी अच्छाई-बुराई का सारा दायित्व परमात्मा पर रहता है। अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखते हुए परमात्मा आस्तिक व्यक्ति को सदा ही असत् कर्मों से बचाकर सत्कर्मों की ओर चलाया करता है। वह पिता की तरह अभिभावक बनकर अपने पर निर्भर विश्वासी की हर अनिष्ट से रक्षा किया करता है। जग-प्रांगण में शिशु की तरह कर्मक्षेत्र में खेलते हुए अपने आस्तिक को हारने अथवा गिरने से ममतामयी माता की तरह बचाये रहता है। अपने अस्तित्व को परमात्मा में विलीन कर देने पर आस्तिक को जीवन की सफलता- असफलता की चिन्ता नहीं रहती। आस्तिक भाव में उतर जाने का अर्थ है—परमात्मा की गोद में चला जाना, जहाँ केवल आनन्द ही आनन्द है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना आस्तिकता की ओर उन्मुख होने का प्रारम्भिक उपक्रम है और विश्वास से उत्पन्न जिज्ञासा उसकी ओर गतिशील होना है, किन्तु अशुद्ध भावना के कारण ईश्वर की ओर गतिशील होने वाले जिज्ञासु में एक भय, एक अनिश्चितता रहा करती है। जिज्ञासु की इस शंकाजन्य भय से रक्षा करना ईश्वर का ही दायित्व होता है, जिसे वह अवश्य ही अनुग्रहपूर्वक पूरा करता है। एक बार

आस्तिकता के बीज साहसपूर्वक बो लेने के बाद मनुष्य को फिर किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिये। ईश्वर की ओर उसी में ध्यान लगाये, उन्मुख हो चलने पर ईश्वर स्वयं ही उसकी रक्षा किया करता है।

इतिहास में आस्तिक भावना के धनी, सन्तों एवं भक्तों के असंख्यों उदाहरण पाये जाते हैं। प्रहलाद, ध्रुव, मीरा, ईसा, मन्सूर आदि सब सच्ची आस्तिकता के जीते-जागते उदाहरण हैं। प्रहलाद को पहाड़ पर से समुद्र में गिराया गया, आग में जलाया गया, लोहे के गर्म खम्भे से बाँध-कर खड्ग से धमकाया गया; किन्तु सच्चे आस्तिक भावों के कारण उन सब भय परिस्थितियों में भी ईश्वर के दर्शन होते रहे जिससे उसे कोई भय अनुभव न हुआ और उसने सारे अत्याचार को हँसते-हँसते सहा। सात वर्ष की अवस्था में विजनवन में शेर, चीतों और भालुओं के बीच तप करते हुए ध्रुव को कोई भय न लगा क्योंकि वह सच्चे आस्तिक थे और हिंस्र जीवों में भी उस परमात्मा के दर्शन कर रहे थे। मीरा को विष दिया, साँप को गोद में खिलाया, अडिग आस्तिकता के बल पर काला साँप और काला विष उसके लिए भावना के अनुसार कृष्ण रूप बन गये।

महात्मा मन्सूर और ईसामसीह ने आस्तिकता के बल पर ही शूल एवं क्रॉस पर लटककर अपनी विश्वासपूर्ण मुस्कान को जीवित रखा। अपनी भावना की वास्तविकता के प्रभाव से उन्हें मृत्यु में भी जीवन और यातना में भी सुख का अनुभव होता रहा। ऐसा नहीं कि ईश्वर भक्त का शरीर किसी जादू का होता है और उस पर आघात-प्रतिघातों का कोई प्रभाव नहीं होता है ऐसी मान्यता मिथ्या है। प्रकृति अपना काम आस्तिक-नास्तिक सब पर समान रूप से करती है। घटनाओं की प्रतिक्रिया सब पर होती है। आस्तिक की विशेषता यह होती है कि उन कष्टों को नास्तिकता समझता है और अपनी आदर्श भक्ति की रक्षा में जो सन्तोष मिलता है, उसकी तुलना में उन कष्टों को कोई विशेष महत्व नहीं देता। उसी प्रकार उसकी मानसिक शक्ति किसी भी परिस्थिति में नष्ट नहीं होने पाती।

आस्तिकता सच्ची भक्ति, सच्चा जीवन तथा सच्चा धर्म है, जिसे अपनाने से मनुष्य सुख-दुःख से परे होकर ईश्वर भक्त हो जाता है।

आस्तिकता का प्रतिफल

आस्तिकता का अर्थ है—ईश्वर को मानना, मानने का अर्थ है, उसका अनुयायी होना और अनुयायी होने का तात्पर्य है, उसके विचार, निर्देश एवं आदर्श के अनुसार चलना। जो अपने को आस्तिक मानता है, उसे यह भी मानना होगा कि वह परमप्रभु परमात्मा का अनुयायी है, उसका प्रतिनिध है, उसका ऐसा प्रतिबिम्ब है, जिसको देखकर परमात्मा के स्वरूप तथा उसके गुण तथा विशेषताओं का आभास पाया जा सकता है परमात्मा में विश्वास करते हुए भी अपनी रीति-नीति उसके अनुरूप नहीं बनाता, पवित्र एवं उन्नत आत्मा नहीं बनाता वह धृष्ट, विद्रोही तथा प्रच्छन्न नास्तिक है।

आस्तिकता स्वयं में एक उदात्त है जिसे हर मनुष्य को अपने में विकसित करनी ही चाहिये। उस परमात्मा को मानना, उसमें विश्वास करना, मनुष्य का परम-पावन कर्त्तव्य है। जिसने चिदानन्द का साधक यह समर्थ जीवन दिया है, एक से एक बढ़कर विशेषतायें एवं क्षमतायें दी हैं। साथ ही आस्तिकता एक बहुत बड़ा सम्बल भी है। आस्तिक भावना एक ऐसी अक्षय एवं अमोघ शक्ति है, जिसके सहारे मनुष्य भयानक से भयानक संकट सागर को सहज ही पार कर जाता है। संसार में किसी समय भी कोई संकट आ सकता है और ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि उस समय उससे बचने अथवा उबरने का कोई साधन न हो, संसार के सारे मित्रों, प्रेमियों, हितैषियों ने साथ छोड़ दिया हो, मनुष्य हर तरफ से निरुपाय एवं असहाय बन गया हो, ऐसी भयानक स्थिति के अवसर पर उस निरुपाय एवं असहाय मनुष्य की आस्तिकता बहुत बड़ी सहायता बन जाती है। सब ओर से निराश होकर आस्तिक व्यक्ति ईश्वर का सहारा पकड़ लेता है, उसे ही अपना सबसे बड़ा सहायक एवं साथी समझ लेता है।

सर्वशक्तिमान परमात्मा का अंचल पकड़ते ही उसमें आत्मबल, आत्मविश्वास तथा उत्साहपूर्ण आशा का संचार होने लगता है, प्रकाश पाते ही अन्धकार दूर हो जाता है, मनुष्य में संकट सहने अथवा उसको दूर कर सकने का साहस आ जाता है। ईश्वर में अखण्ड विश्वास रखने वाला सच्चा आस्तिक जीवन में कभी हार नहीं मानता। एक तो उसे यह विश्वास रहता है कि परमात्मा जो भी सुख, दुःख, अनुग्रह किया करता है, उसमें मनुष्य का कल्याण ही निहित रहता है। इसलिये वह किसी हर्ष-उल्लास अथवा कष्ट-क्लेश से प्रभावित नहीं होता। दूसरे परमात्मा के प्रति आस्थावान होने से उसमें संकट सहने की शक्ति बनी रहती है। आस्तिक व्यक्ति परमात्मा का नाम लेकर संकट सहना क्या उसका नाम लेकर जहर पी जाते और शूली पर चढ़ जाते हैं। मीरा, प्रहलाद, ईसा और मन्सूर ऐसे ही अडिग आस्तिक थे।

नास्तिक व्यक्ति के पास परमात्मा जैसा कोई अन्य सम्बल अथवा शक्ति साहस का स्रोत नहीं होता, इसलिए वह निरुपाय अथवा निःसहाय की दशा में संकट आ जाने पर बहुत अस्त-व्यस्त, अशांति एवं हताश हो जाता है। मानसिक सन्तुलन बनाये रहने के लिए उसके पास आस्तिक भाव जैसा कोई मानसिक आधार नहीं होता, इस अभाव से या तो वह अपने जीवन से भटक जाता है, कुमार्गगामी, सिद्धान्त-हिंसक आदर्शहीन अपनी रक्षा करता है अथवा हार मानकर मैदान से हट जाता है अथवा विक्षिप्त होकर आत्महत्या तक कर लेता है। संसार में मानसिक संकटों से घबराकर विक्षिप्त होने अथवा आत्महत्या करने वालों की यदि मनःपरीक्षा सम्भव हो सके और उनके विचारों तथा विश्वासों का पता लगाया जा सके तो निश्चय ही वे नास्तिक भावना वाले निकलेंगे।

आस्तिकता न केवल बाह्य संकटों में सहायक होने वाला सम्बल अथवा सहारा है, अपितु वह आन्तरिक पशुओं, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से भी रक्षा करती है। आस्तिक व्यक्ति अणु-अणु में परमात्मा का दर्शन करता है। उसका आत्मिक विश्वास कहता है कि जिस प्रकार परमपिता परमात्मा का प्रिय पुत्र, अनुयायी अथवा प्रतिबिम्ब हूँ, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी भी है। इस विश्वास से पुलकित सच्चा आस्तिक प्रत्येक प्राणी को अपना भाई, बहन ही मानता और तदनुरूप प्रेम व्यवहार करता है। सम्पर्क में आने वाला जब प्रत्येक व्यक्ति अपना भाई-बहन ही है, तब सच्चा आस्तिक उनसे कठोर, क्रूर, अथवा छल, कपटपूर्ण व्यवहार किस प्रकार कर सकता है ? वह तो सबसे प्रेमपूर्ण निश्छल एवं प्रेम युक्त व्यवहार ही करेगा। बन्धुभाव से प्रेरित वह प्रत्येक की सहायता करने को हर समय तैयार रहेगा। वह किसी से स्वार्थ अथवा विश्वासघात पूर्ण व्यवहार कदापि नहीं करेगा। इस प्रकार सच्चा आस्तिक सहज ही में आत्म-कल्याणकारी भव्य भावना का अधिकारी बन जाता है। काम, क्रोध अथवा लोभ ये शत्रु तभी आक्रमण करते हैं जब मनुष्य का मन-मलीन अथवा अरक्षित रहता है। आस्तिक व्यक्ति का ईश्वरीय विश्वास एवं परमात्मा की अनुभूति उसके हृदय को प्रसन्न एवं उज्ज्वल बनाने में सहायक होते हैं। उनकी भावनाओं में हर समय परमात्मा का निवास रहता है, जिससे उसके सुरक्षित हृदय पर आसुरी वृत्तियाँ आक्रमण नहीं कर पातीं।

आस्तिक भावना से परमात्मा का सहारा पाकर मनुष्य नितान्त निर्भय एवं निश्चिन्त हो जाता है। उसके अखण्ड विश्वास के रूप से उनका साथी, मित्र, पिता तथा रक्षक हर समय उनके साथ रहता है परमात्मा रूपी पिता अथवा रक्षक रहने पर भय अथवा चिन्ता किस बात की ? संसार में ऐसा शक्तिशाली दुष्ट कौन हो सकता है, जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा से रक्षित किसी आस्तिक का बाल भी बाँका कर सके। अखण्ड विश्वास के साथ जब कोई आस्तिक भूत, भविष्य, वर्तमान के साथ अपना सम्पूर्ण जीवन परमात्मा अथवा उसके उद्देश्यों को सौंप देता है, तब उसे अपने जीवन के प्रति किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब भी यदि वह चिन्ता करता है तो समझना चाहिए कि उसने अपना दायित्व पूरी तरह से सर्वशक्तिमान् को सौंपा नहीं है अथवा उसकी ईमानदारी में विश्वास नहीं करता—कि धरोहर रूप में उसके पास सौंपे हुए जीवन की वह खोज-खबर लेता ही रहेगा जो अपना सर्वस्व

पूर्णरूप से परमात्मा को सौंपकर उद्देश्य में नियोजित हो जाता है, पूरी तरह से उसका बन जाता है, परमात्मा उसके जीवन का सारा दायित्व खुशी-खुशी अपने ऊपर ले लेता है और, कभी भी विश्वासघात नहीं करता। आत्म-समर्पण में कमी अथवा दुरभिसंधि होने पर ही उसकी उपेक्षा बरती जा सकती है अन्यथा अनुभूति से परमात्मा में समाहित हो जाने पर किसी प्रकार भय अथवा चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहती। निश्चिन्तता एवं निर्भयता में कितना अनिवर्चनीय सुख है इसको एक सच्चा आस्तिक ही अनुभव कर सकता है।

असंदिग्ध आस्तिकता ईश्वर के साथ भावनात्मक सत्संग है, जब साधारण सज्जनों तथा सत्पुरुषों का संग असुर को देवता बना देता है, तब ईश्वर जैसी परिपूर्ण एवं सर्वगुण सम्पन्न सत्ता का संग मनुष्य को क्या बना देगा इसकी प्रसन्न कल्पना उसका संग करके ही अनुभव की जा सकती है, कहै नहीं जा सकती है।

मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार जो जिसके संसर्ग में रहता है, वह उसी के अनुसार एवम् अनुभाव हो जाता है। ऐसा तो तब हो जाता है जब मनुष्य बाह्य रूप में किसी के सम्पर्क में आता है। भावनाओं का समावेश होने पर तो यह अनुरूपता और भी अधिक गहरी होकर तद्रूपता में बदल जाती है। जब साधारण लौकिक व्यक्तियों का संसर्ग इस प्रकार प्रतिफलित होता है तब उन सर्व एवं सम्पूर्ण श्रेय तथा श्रीमन्त सर्वशक्तिमान के सम्पर्क में आकर सोऽहं की भावना भूमि के स्तर आकर मनुष्य किसी अनिवर्चनीय आत्मकल्प की दिशा में गतिवान हो उठेगा, इसे उस सौभाग्यपूर्ण स्थिति में पहुँचे बिना किस प्रकार बताया जा सकता है। केवल इतना ही कहा जा सकता कि शृंगी एवं कीट की तरह मनुष्य ईश्वर रूप हो जायेगा। इस कल्पनातीत एवं अन्तिम पदवी की प्रदायिनी आस्तिकता को कौन बुद्धिमान अपने अन्तर एवं अणु-अणु में ओत-प्रोत करने का प्रयत्न नहीं करेगा।

आस्तिकता सदाचार की जननी है। जो आस्तिक होगा, सबमें और सब जगह भगवान् की उपस्थिति देखेगा वह कोई दुराचार का साहस नहीं करेगा। सदा-सर्वदा ऐसे ही कार्य करने और भावनाएँ रखने का प्रयत्न करेगा, जो सच्चे आस्तिक-ईश्वर के अनुयायी के अनुरूप हों। ईश्वर का निर्देश एवं आदर्श, सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, सत्य तथा सेवाभाव आस्तिक के विशेष गुण हैं। चोरी, मक्कारी, छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, मोह, काम आदि की दूषित प्रवृत्तियों से आस्तिक व्यक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आस्तिकता द्वारा ईश्वर से भावनात्मक सम्पर्क रखने वाला तो उसके अनुरूप ही अपने जीवन को उन्नत एवं उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करेगा। आज संसार जिस शान्ति व्यवस्था तथा सहयोग भावना की आवश्यकता अनुभव कर रहा है, वह आस्तिकता द्वारा सहज ही प्राप्त हो सकती है।

यदि संसार का प्रत्येक व्यक्ति पूर्णरूप से आस्तिक होकर ईश्वरीय आदर्श पर चलने लगे तो न तो कोई किसी को सताये और न प्रवंचित करने का प्रयत्न करे। हर कोई अपनी सीमाओं में सन्तुष्ट होकर शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करे। आज संसार में फैला हुआ सारा अनाचार इसी कारण है कि लोग केवल अपने स्वार्थ को देखते हैं, किसी दूसरे की सुख-सुविधा अथवा अधिकार सीमा का ध्यान नहीं रखते। यदि आज आस्तिकता का व्यापक प्रचार हो जाये, लोग ईश्वर को सच्ची भावना से जानने-मानने और उससे डरने लगें तो कल ही सारे अपराधों का अन्त हो जाय और चिरवांछित रामराज्य साकार हो उठे।

जप, तप, पूजा-पाठ कर लेने अथवा किसी देव प्रतिमा के सम्मुख सिर नवा देने मात्र से ही कोई आस्तिक नहीं हो जाता। आस्तिकता का अर्थ है, अपनी भावनाओं एवं क्रिया को उत्कृष्ट बनाना। ईश्वर में विश्वास करता हुआ और अपने को आस्तिक घोषित करता हुआ भी जो व्यक्ति सांसारिक तृष्णा, वासना का दास बना हुआ है, वह आस्तिक नहीं आडम्बरी है। किसी प्रकार भी आस्तिक मानकर उसका आदर नहीं किया जा सकता। आस्तिकता का अर्थ, प्राणीमात्र में परमात्मा की झाँकी देखना और तद्नुसार ही

प्रत्येक का आदर करना, उसके साथ उदारता, दया और प्रेम का व्यवहार करना ही आस्तिक जनों के श्रेष्ठ लक्षण हैं।

आस्तिक भावना शक्ति रूप में परिपक्व होकर मनुष्य को कृतार्थ कर देती है। अपने को आस्तिक कहते हुए भी जिसमें भगवद्भक्ति का अभाव है, वह झूँठा है, उसकी आस्तिकता अविश्वसनीय है। आस्तिकता के माध्यम से जिसके हृदय में भक्तिभावना का उदय हो जाता है, आनन्द मस्त होकर उसका जीवन सफल हो जाता है। भक्ति का उदय होते ही मनुष्य में सुख-शान्ति, सन्तोष आदि के ईश्वरीय गुण फूट पड़ते हैं। भक्त के पास अपने प्रियतम परमात्मा के प्रति आन्तरिक दुःख, क्षोभ, ईर्ष्या, द्वेष का कोई कारण नहीं रहता। भक्त का दृष्टिकोण उदार तथा व्यापक हो जाता है। उसे संसार में प्रत्येक प्राणों से प्रेम तथा बन्धुत्व अनुभव होता है। जन-जन उसका तथा वह जन-जन का होकर लघु से विराट बन जाता है। आठों याम उसका ध्यान प्रभु में ही लगा रहता है। संसार की कोई भी बाधा-व्यथा उसे सता नहीं पाती। वह इसी शरीर में जीवन मुक्त होकर चिदानन्द का अधिकारी बन जाता है। यह है, आस्तिकता की परिपक्वता का परिणाम। तब भला कौन ऐसा होगा जो भगवान् से सान्निध्य, संसर्ग तथा उसकी भक्ति पाकर कृतार्थ होने के लिये सच्चा आस्तिक बनकर अपना जीवन धन्य न करना चाहेगा।

आस्तिकता का तत्वज्ञान एवं व्यावहारिक स्वरूप

जीव को ईश्वर का अंश कहा गया है। यह अंश उतने परिमाण में प्रत्येक प्राणी में है, जिसमें वह अपनी सामान्य जीवन-यात्रा की गतिविधियाँ ठीक तरह से चला सके। उदर, पोषण, शरीर-रक्षा, वंश-वृद्धि विश्राम, विनोद जैसे प्रयोजन पूरे करने के लिए कुछ करना और सोचना पड़ता है। इसके अतिरिक्त शरीर और मन का ढाँचा खड़ा करने के लिए भी ऊर्जा की जरूरत पड़ती है। प्राणधारी को इन प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा करने में क्रियाशीलता और कुशलता की आवश्यकता पड़ती है, इसे जुटाते रहने की सामर्थ्य दे सकने वाला ईश्वरीय अंश प्रत्येक प्राणी में मौजूद है। इतना अनुदान प्रायः सभी को समान रूप से मिला है। जिसकी काया जिस स्तर की है, उसकी आवश्यकता का स्वरूप भी उसी प्रकार का होता है—उन्हें जुटाने की क्षमता में वाह्य अन्तर देखा जा सकता है, पर तात्विक दृष्टि से सभी अपने ढंग से, अपने साधनों से, अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। यह क्षमादान समान रूप से प्रत्येक प्राणी को प्राप्त होने से यह कहा जा सकता है कि सभी को समान रूप से, समान स्तर का ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त है। सभी ईश्वर के समान अंश हैं।

इससे आगे की प्रगति करना जीवधारी के अपने निज के पुरुषार्थ पर निर्भर है। स्पष्ट है कि चेतनात्मक प्रगति ही भौतिक उन्नति के साधन एकत्रित करती है। इसे प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जा सकता है। साधना इसी का नाम है। साधना के दो स्तर हैं—एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म। स्थूल साधना में व्यायाम, अध्ययन, अनुभव, शिल्प कला, वाणिज्य आदि विषय आते हैं। सूक्ष्म साधना में अपने दृष्टिकोण, क्रिया-कलाप, गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत किया जाता है। प्रसुप्त शक्तियों को जगाया जाता है। स्थूल-साधना में मस्तिष्कीय प्रशिक्षण तथा शरीर को अभ्यास कराने की क्रिया-पद्धति चलती है। सूक्ष्म साधना में आकांक्षाओं, मान्यताओं एवं भावनाओं को उच्चस्तरीय बनाया जाता है।

शरीर पंचतत्वों का बना है, इसलिए उसके निर्वाह तथा प्रशिक्षण में भौतिक उपकरण काम आते हैं। मस्तिष्क में मन और बुद्धि की हलचलें होती हैं, उन्हें अध्ययन, अनुभव एवं चिन्तन के आधार पर विकसित किया जाता है। लोक-साधना में यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। व्यक्ति अपनी क्रियाशीलता और बौद्धिक स्थिति में प्रवीणता उत्पन्न करते और भौतिक प्रगति का पथ-प्रशस्त करते हैं। सूक्ष्म-साधना में अन्तरात्मा का स्तर ऊँचा उठाना उड़ता है। इसके लिए परमात्मा सत्ता के साथ सम्पर्क बनाना पड़ता है। भौतिक प्रगति के लिए भौतिक क्षमता और आत्मिक प्रगति के लिए आत्मिक क्षमता चाहिए। इसके लिए जो प्रयोग, प्रयत्न करने पड़ते हैं—उन्हें

अध्यात्म साधना कहते हैं। इसके लिए प्रधान अवलम्बन ईश्वर है। चेतना की उच्चस्तरीय सम्वेदना को ईश्वर कहते हैं। साधना प्रयोजनों में इसी के साथ सम्पर्क बनाना पड़ता है।

यों समस्त सृष्टि के उत्पादन, अभिवर्धन और परिवर्तन के अगणित क्रिया-कलापों में संलग्न ब्रह्माण्ड-व्यापी चेतना का विस्तार और स्वरूप इतना बड़ा है कि उसकी आंशिक जानकारी प्राप्त कर सकना भी सीमित मानवी बुद्धि के लिए सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए परब्रह्म को अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अगम्य आदि कहा गया है और उसके सन्दर्भ में की गई समस्त चर्चा, विवेचनाओं को नेति-नेति' कहकर अपूर्ण बताया गया है। किन्तु अन्तरात्मा के भावनात्मक स्तर को स्पर्श करने वाला ब्राह्मी अंश पहचाना पकड़ा और अपनाया जा सकता है उपास्य यही है। इष्टदेव इसी को कहते हैं। साधना, अभ्यर्थना इसी की की जाती है। अनुग्रह और वरदान इसी से प्राप्त होते हैं वस्तुतः इसे विश्वात्मा अथवा मानवी उत्कृष्टता की चरमावस्था कह सकते हैं। परब्रह्म की असंख्य हलचलों में से एक यह परमात्म सत्ता तरंग भी है, जिसके साथ सम्पर्क बनाकर मानवी अन्तरात्मा को अपने विकास का अवसर मिलता है। अस्तु, उपासना में आस्तिकता को—ईश्वर भक्ति को परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाले प्रयोग-प्रयोजनों को अनिवार्य माना गया है। उपासना साधना की पृष्ठभूमि इस केन्द्र बिन्दु पर आधारित है।

हमारा उपास्य इष्टदेव परमेश्वर क्या है ? इसकी विवेचना कई प्रकार से की जा सकती है। अन्तःकरण में उच्चस्तरीय भाव सम्वेदनाएँ उत्पन्न करने वाली व्यापक चेतना को निराकार ईश्वर कह सकते हैं। वह शरीर में, सत्कर्म मन में, सत् चिन्तन एवं अन्तरात्मा में सद्भाव बन कर दिव्य प्रेरणाएँ भरता है। अपने को अधिकाधिक परिष्कृत एवं उदार बनाने की आकाक्षाएँ जगना, इसी की प्रचुरता का प्रमाण है। इसमें दुहरा प्रयास होता है। एक अवांछनीयताओं से जूझना, दूसरे उत्कृष्टताओं को बढ़ाना। भगवान के अवतार का यही प्रयोजन है। जब भी जहाँ भी ईश्वर का अवतरण हुआ है, तब उसने धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश का दुहरा प्रयत्न किया है। अवतारों की कथा-गाथाओं में यही दो क्रिया-कलाप उभरे दिखाई पड़ते हैं। गीता में "यदा-यदा हि धर्मस्य . . . ." वाले प्रसिद्ध श्लोकों में इसी की घोषणा है कि ईश्वर का अवतार इन्हीं प्रयोजनों के लिए होता है। न केवल संसार लीला के लिए वरन् व्यक्ति के अन्तःकरण में इन्हीं दो हलचलों को उभरते देखकर यह कहा जा सकता है कि यहाँ ईश्वर के अवतरण की प्रक्रिया चल रही है। संक्षेप में आदर्शवादी जीवन के लिए उठती हुई उत्कृष्ट अभिलाषा एवं प्रबल पुरुषार्थ परायणता को ईश्वर दर्शन के रूप में कहा, समझा जा सकता है।

आँखें जड़ तत्वों से बनी हैं, उनकी क्षमता जड़-पदार्थों को देख सकने तक सीमित है। चेतना जड़ नहीं है। परमेश्वर जड़ तत्व न होने के कारण आँखों से नहीं देखा जा सकता। उसके स्वरूप की कल्पना भर ही की जा सकती है। यथार्थ में उसे किसी प्रतीक-स्वरूप की तरह देखा नहीं जा सकता। चेतना का गुण, देखना नहीं अनुभव करना है। आत्मिक चेतना उसे अनुभव तो कर सकती है, पर मूर्तिमान प्रतीक के रूप में देख नहीं सकती। देखना नेत्रों का गुण है और अनुभव करना चेतना का। जीव, नेत्र नहीं हैं, चेतना का अंश है। वह ईश्वरीय अनुभूति कर सकता है, उसे आकृतिवान देख नहीं सकता।

फिर भी मस्तिष्क की स्थिति ऐसी है कि उसे किसी तथ्य पर निष्ठापूर्वक केन्द्रित होने के लिए कुछ प्रमाण चाहिए। यह प्रमाण स्थूल रूप से दृश्य और श्रव्य होते हैं और सूक्ष्म रूप से तर्क और प्रमाण। मोटेतौर से किसी बात पर भरोसा तब होता है, जब उसे देखा या सुना जाय। शरीर क्षेत्र में इन्द्रिय समूह का एक उद्‌देश्य-रसास्वादन और दूसरा ज्ञान-सम्वर्धन है। नेत्रों द्वारा अन्य सभी इन्द्रियों की तुलना में अधिक ज्ञान सम्वर्धन होता, इसलिए देखना सबसे आकर्षक और प्रिय विषय है। कहना न होगा कि सौन्दर्यानुभूति ही हमें सबसे अधिक आकर्षित करती है। ईश्वरीय दर्शन की इच्छा को भी इसी आधार पर मान्यता दी गई है और उसे प्रत्यक्ष

अथवा अप्रत्यक्ष प्रतीकों के रूप में साकार अनुभव करने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

ईश्वर की साकार उपासना के लिए प्रतीक पूजा-मूर्तिपूजा एक चिर-प्रचलित आधार है। इससे अपनी आस्तिकता को केन्द्रित एवं विकसित करने का आधार बनता है। पुस्तक के माध्यम से अध्ययन एवं मुद्‌गर आदि व्यायाम उपकरणों के सहारे स्वास्थ्य सम्वर्धन की सुविधा होती है, इसी प्रकार प्रतीक पूजा से श्रद्धा संवधर्न का प्रयोजन पूरा होता है। यही कारण है कि साकारवादी ही नहीं निराकारवादी भी किसी न किसी प्रतीक में दिव्य सत्ता का समन्वय करके अपनी श्रद्धा का पोषण करते हैं। ईसाई धर्म में क्रूस, इस्लाम धर्म में कावा संगे असवद, पारसी और आर्यसमाजियों में अग्नि में दिव्यता का आरोपण किया गया है। अन्य निराकारवादी मत भी ध्यान में प्रकाश ज्योति जैसे प्रतीकों का सहारा लेते हैं। देव मानवों की प्रतीक-प्रतिमाएँ, समाधियाँ तथा अपने-अपने देश की राष्ट्रध्वजाएँ गहरे सम्मान का केन्द्र इसी आधार पर बनी होती हैं। मूर्तिपूजा के पीछे कोई अवांछनीयताएँ छिपी बैठी हों तो उन्हें निरस्त किया जाना चाहिए। शिर में जुएँ पड़ जाने पर मुंडन कराने या गरदन काटने की उतावली नहीं करनी चाहिए।

प्रतीक पूजा में पूर्ण मानव की कल्पना है। इसे जीवन लक्ष्य का स्वरूप कह सकते हैं। भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि को पूर्ण मानव के, अवतार के रूप में मान्यता दी गई है। इनके प्रतीकों को ध्यान में रखकर अपनी पूर्णावस्था का स्वरूप ध्यान में रखा जाना चाहिए और उसके लिए क्रमबद्ध योजना बनाई जानी चाहिए। यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने की है कि ईश्वरीय प्रतिमाओं की आकृति में अन्तर रखा जा सकता है। पर उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिए। व्यापक ईश्वरीय सत्ता एक है। अलग-अलग देवी-देवताओं की उसके साथ साझेदारी नहीं है। सूक्ष्मजगत अराजकता का केन्द्र नहीं और न वहाँ सामंतशाहों जैसी इलाकेदारी बटी हुयी है। "अमुक देवता का लोक या क्षेत्र यह है अमुक का यह, हर देवता अपने-अपने पूजनकर्त्ता की रखवाली करता है।" प्रायः ऐसी भ्रमग्रस्त मान्यता लोगों के मस्तिष्क में जमी होती है। देववाद की विश्रृंखलता इसी से फैली है। यर्थाथता इतनी ही है—एक व्यापक ब्रह्म की विभिन्न दिव्य शक्तियों को देव संज्ञा दी गई है। सूर्य की सात किरणों को सविता देवता के रथ में जुड़े हुए सात घोड़ों के रूप में चित्रित किया जाता है। यह अलंकार है। वस्तुतः न तो सूर्य का कोई रथ है और न उसमें अपने घोड़ों जैसे कोई प्राणी जुते हैं। देवी-देवताओं का पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व मानना और अमुक पूजा-पाठ के आधार पर उन्हें फुसलाकर वशवर्ती कर लेना—उनसे मन चाहे वरदान पाने की अपेक्षा करना—भ्रान्त धारणा है। हमें ईश्वरीय प्रतीक प्रतिमाओं को पूर्ण मानव का लक्ष्य विग्रह एवं श्रद्धा अभिवर्धन को दिव्य उपकरण मानकर ही चलना चाहिए। सम्प्रदाय भेद से बनी अनेक प्रतिमाओं के बीच तात्विक एकता ही अनुभव करनी चाहिए।

साकार उपासना का उच्चस्तरीय दर्शन 'विराट्स्वरूप' के रूप में देखा जा सकता है। यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड ईश्वर की साकार प्रतिमा है, ऐसा मानकर चलने से लोक-मंगल की, जनसेवा की, विश्व-कल्याण की आकांक्षा उभर कर आती है। रामायण की एक चौपाई में—"**सियाराम मय सब जग जानी**" की स्थापना है। "**ईशावास्य मिदं सर्व**" जैसी उक्तियाँ प्रत्येक अध्यात्म ग्रन्थ में पन्ने-पन्ने पर अंकित हैं। कितने ही उपाख्यानों में इस विराट् दर्शन की चर्चा है। अर्जुन ईश्वर दर्शन का आग्रह करता है तो भगवान कृष्ण कहते हैं कि ऐसा दर्शन चमड़े वाली आँखों से नहीं, दिव्य चक्षुओं से—ज्ञान नेत्रों से ही सम्भव हो सकता है। उन्होंने विराट् रूप के दर्शन कराये। मिट्टी खाने के कारण ताड़ना देते समय यशोदा को भी कृष्ण के ऐसे ही विराट् रूप के दर्शन हुए थे। राम को पालने में झुलाते समय कौशिल्या ने भी उनका विराट् दर्शन पाया था। काकभुसुण्डि जी की दर्शन आकांक्षा इसी प्रकार के दर्शन से तृप्त हुई थी। अन्य देव-चरित्रों में भी उनके स्तवनों में विराट् स्वरूप की झाँकी कराई गई है। इस समस्त संसार को ईश्वर का रूप मानना, यही प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है कि जड़ के प्रत्येक घटक के साथ हमें उच्चस्तरीय मान्यता रखनी चाहिए और उसके साथ श्रेष्ठतम सद्व्यवहार करना चाहिए।

आत्मा का कषाय-कल्मषों से रहित आन्तरिक उत्कृष्टता से भरा-पूरा स्वरूप 'परमात्मा' कहा जा सकता है। खदान में से निकला कच्चा लोहा मिट्टी मिला होता है, उसे भट्टी में तपाकर शुद्ध किया जाता है। यह शुद्ध लोहा ही फौलाद कहलाता है। मिट्टी मिले कच्चे लोहे और शुद्ध फौलाद में जो अन्तर है, वही आत्मा और परमात्मा के बीच समझा जा सकता है। जीव ईश्वर बन सकता है और ईश्वर जीव के रूप में अवतार लेता है, इन दोनों कथनों में पूर्ण एकता है और इस तथ्य का प्रतिपादन है कि मल-आवरण, विक्षेप-रहित, सद्भाव-सम्पन्न, सत्कर्म-परायण व्यक्ति में वे सभी विशेषताएँ हो सकती हैं, जो ईश्वर में पाई जाती हैं। कोयले और हीरे की तात्विक संरचना में नाम मात्र का अन्तर है। दोनों का रासायनिक पदार्थ एक है, मात्र परमाणुओं के भीतरी संगठन में नगण्य-सा हेर-फेर होता है। जीव जब अपनी संकीर्ण स्वार्थपरता और अहंता के सीमा बन्धन को तोड़कर अपने को विश्व-सम्पदा मानता है तो भगवान बनने की राह पर चल पड़ता है। उसमें जितनी उत्कृष्टता बढ़ती है—उतनी ही गहरी देव भूमिका में प्रवेश मिलता चला जाता है।

दूसरी की स्थिति में अपने को रखकर सोचा जा सके तो सहज ही पर पीड़ा में हाथ बँटाने और अपनी उपलब्धियों से दूसरों को लाभान्वित करने को जी मचलता है। विराट् ब्रह्म का उपासक अपने को विश्व नागरिक मानता है और ईश्वरीय सृष्टि को अधिकाधिक सुविकसित बनाने में जीवन लक्ष्य की पूर्ति अनुभव करता है। आस्तिकता की 'विराट् दर्शन' मान्यता भक्ति-दर्शन का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन है। इसे अपनाने वाला लोक-मंगल की परायणता को प्रत्यक्ष उपासना मानता है और सत्कर्म संलग्न रहकर 'कर्त्तव्य-पालन में ईश्वर पूजा' की उक्ति को सार्थक बनाता है।

सर्वव्यापी, न्यायकारी, निष्पक्ष ईश्वर की प्रसन्नता सत्कर्मों पर आधारित है। कर्म के आधार पर ही वह भक्त और अभक्त की परख करता है। उसकी कसौटी पर देव-मर्यादाओं का पालन करने वाला आस्तिक और उनका उल्लंघन करके, दुष्प्रवृत्तियों में निरत व्यक्ति नास्तिक। आस्तिकता की यह मान्यता मनुष्य की सज्जनता और शालीनता बढ़ाती है। सामाजिक विरोध और राजकीय दंड से बचकर अनीति के मार्ग पर चलते रहने की चतुरता मनुष्य में मौजूद है। उसे दुष्कर्मों में लाभ दीखता है और पर्दे की आढ़ में कुकर्म करता रहता है। यदि सच्ची आस्तिकता को अन्तरात्मा में स्थान मिल सके तो वह आत्मानुशासन की—आत्मनियन्त्रण की रस्सी से बँधा रहकर मर्यादाएँ पाल सकता है।

आस्तिकता व्यक्ति और समाज की सुव्यवस्था एवं प्रगति की दृष्टि से नितान्त उपयोगी मान्यता है। उपासनारत होकर व्यक्ति अपना स्तर ऊँचा उठाता है और सर्वतोमुखी प्रगति का पथ-प्रशस्त करता है। आस्तिकता को परिपक्व करने में उपासना का असाधारण योगदान रहता है। इसी से तत्वदर्शियों ने उपासना को अत्यन्त आवश्यक नित्यकर्म माना है और उसे अपनाने पर होने वाले अनेकानेक लाभों का वर्णन किया है। वस्तुतः यह अवलम्बन ऐसा ही है—इसे अपनाकर हर व्यक्ति उज्ज्वल भविष्य की दिशा में अनवरत् रूप से बढ़ते हुए पूर्णता का जीवन लक्ष्य पूरा कर सकता है।

आस्तिकता और सज्जनता की रीति-नीति

मनुष्य मशीन नहीं है, जिसे ईंधन, चिकनाई और सफाई की आवश्यकता पूरी करके सन्तुष्ट किया जा सके। रोटी, कपड़ा और मकान होने से ही उसका काम नहीं चला सकता। आहार, निद्रा का प्रबन्ध कर देने से जिन्दा तो रहा जा सकता है, पर जीवन को पल्लवित नहीं किया जा सकता है। इसके लिए कुछ और भी चाहिए। निर्वाह-साधनों में उसे निश्चन्तता का आश्वासन और आक्रान्ताओं से बचे रहने का संरक्षण चाहिए। उसे यश, सम्मान एवं वर्चस्व के प्रकटीकरण का अवसर चाहिए। सामाजिक शान्ति और सद्व्यवहार की उसे उपेक्षा है। कला और सौन्दर्य के स्पर्श से जो गुदगुदी उत्पन्न होती है—प्रेम सम्वेदनाओं से जो उल्लास उभरता है, वह भी उसकी आन्तरिक आवश्यकताओं का एक अंग है। उत्पादन के लिए श्रम—न केवल

शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता पूरी करता है—क्षुधा-निवारण के साधन जुटाता है और बुद्धि की प्रखरता के अनेकों आधार खड़े करता है। ममत्व का विस्तार व्यक्तियों तथा वस्तुओं में करने से उसे आत्मविस्तार की अनुभूति होती है। इस प्रकार के अवसर न मिलें और किसी प्रकार गुजारा हो सके तो उसे बन्दी जीवन के अतिरिक्त और कुछ न कहा जा सकेगा। जीने को तो लोग एकान्त कारावासों में भी लम्बी उमर गुजार देते हैं। पर नीरस और निरानन्द, परिस्थितियों में रहने वाली चेतना ऊब, खीज और बेचैनी सी अनुभव करती रहेगी। भूखा पेट सारे शरीर को बेचैन करता है और भूखा अन्तस् ऐसे विद्रोह पर उतारू हो जाता है जिसे आत्म-हत्या के समतुल्य स्थिति का आँका जा सके।

प्रगति की लम्बी मंजिल पार करते हुए मनुष्य ने जो बहुमूल्य उपलब्धि अर्जित की है, उसे एक शब्द में 'सभ्यता' कहना उचित होगा। उसे प्राप्त करने में उसने समुचित मूल्य चुकाया है। प्राणधारी को सामान्य प्रवृत्तियाँ—इन्सटिन्क्टस्—उसके साथ ही जन्म-जात रूप में मिली थीं। उनके यथावत् बनी रहने पर वह पशु वर्ग से ऊँचा नहीं उठ सकता। वे उसे सामाजिक सहयोग और चिन्ता के परिष्कार का अवसर ही नहीं मिलने दे सकती थीं। सभ्यता ही है जिसने उसे आदर्श अपनाने और मर्यादा पालन के लिए प्रोत्साहित किया। यही था वह सभ्यता का अवलम्बन जिसके सहारे आदिमकाल के नर-वानर को आज के समुन्नत मानव के स्तर तक पहुँचने का श्रेय प्राप्त हुआ है।

भीतर से क्रोध उठने पर भी उसे पी जाना, यौन स्वेच्छाचार को दाम्पत्य मर्यादा में सीमाबद्ध करना, लाभदायक अवसर आने पर भी उन्हें नीति-अनीति का विश्लेषण करने के उपरान्त ही स्वीकार करना, अधिकारों का कर्तव्यों के पक्ष में त्याग करना, स्वयं भूखे रहकर दूसरों को खिला देना—जैसे अनेकों विशिष्ट आचरण सभ्यता की देन हैं। नर-वानर के लिए इतनी शालीनता प्रस्तुत कर सकना सम्भव न था। वह आत्म-निरीक्षण और आत्म-निर्माण की स्थिति में था ही नहीं। आदिम काल में नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ ही उस पर छाई रहती थीं। सभ्यता ने उसे इतना विवेक और साहस दिया है कि उन जन्म-जात प्रवृत्तियों की न केवल समीक्षा ही कर सके वरन् उन्हें बदलने-सुधारने और परिष्कृत करने का साहस दिखा सके।

यह तो प्रवृत्ति परक नियन्त्रण और परिष्कार की बात हुई। सभ्यता ने चिन्तन को सीमाबद्ध, क्रमबद्ध एवं दिशाबद्ध भी किया है। कल्पना शक्ति, तुलनात्मक समीक्षा दृष्टि, दूरगामी परिणामों की अनुभूति, समाज-निष्ठा, चरित्र-निष्ठा जैसी विशेषताओं को अति मानस का विकास कह सकते हैं। विकास का यही वह केन्द्र बिन्दु है जहाँ से पशु और मनुष्य के बीच मौलिक अन्तर आरम्भ होता है। व्यक्तित्व की अनुभूति को ही आत्मा कहते हैं। निकृष्ट स्तर के जीव क्रिया तो बहुत करते हैं, पर अपने आप के सम्बन्ध में निजी तौर से कुछ सोच नहीं पाते। प्रकृति-प्रेरणा ही उनकी निजी इच्छा होती है। इसमें उनका अपना कोई हाथ नहीं होता। मनुष्य की स्थिति इससे भिन्न है, इससे वह शरीर के अतिरिक्त एक पृथक् चेतना के रूप में न केवल आत्मानुभूति करता है, वरन् उसके विकसित करने में भी यत्नपूर्वक प्रयास करता है। दर्शनशास्त्र और आत्म-विद्या का विशालकाय कलेवर आत्म-विश्लेषण एवं आत्मोत्कर्ष की दिशा धारा निर्धारित करने के लिए ही विनिर्मित हुआ है। आग जलाने, पहिये का उपयोग जानने, नोंकदार उपकरणों का प्रयोग समझने से मानवी प्रगति में असाधारण योगदान मिला समझा जाता है, पर वास्तविकता यह है कि वह श्रेय सभ्यता की कल्पना और उसका स्वरूप निर्धारित करने की सफलता को ही दिया जा सकता है। बोलना, लिखना और हँसना जैसे दिव्य अनुदान उसने सभ्यता की साधना करके ही प्राप्त किये हैं। कृषि, पशुपालन, वस्त्र, वाहन, वस्तु-विनिमय, परिवार, साधन, शिक्षा, चिकित्सा, स्वच्छता जैसी उपलब्धियाँ शारीरिक अथवा पदार्थपरक नहीं—विशुद्ध रूप से सुविकसित चिन्तन की ही प्रतिक्रिया हैं। इन्हें सभ्यता की प्रगति के अतिरिक्त और कोई नाम नहीं दिया जा सकता।

शरीर-निर्वाह एवं मनः तोष ही अब जीवनयापन के आधार नहीं रह गये हैं। व्यक्तित्व

इन सबसे बड़ी इकाई बन चला है। अब 'अहं' का भी एक तथ्य है और उसकी तुष्टि के लिए इतना करना पड़ता है जितना शरीर एवं मन दोनों को संतोष देने के लिए लिए किया जाता है। आत्म-परितोष के लिए विकृत रीति-नीति अपनाई गई या परिष्कृत आधार अपनाया गया वह यह आगे का प्रश्न है। बात वहाँ से आरम्भ होती है, जहाँ शरीर और मन को भी पीछे धकेलकर—दोनों पर कष्टसाध्य अंकुश रखकर आत्म-गौरव के लिए कुछ किया जाता है। आत्मसत्ता का अपना परिचय है। इसी को आत्मा कहा गया है। शरीर शास्त्र मनःशास्त्र का अपना विस्तार और अपना उपयोग है। आत्म-शास्त्र अपना वर्चस्व इन दोनों से ऊपर सिद्ध कर रहा है। कर्म और ज्ञान की क्षमता सर्वविदित है पर इच्छाएँ, भावनाएँ अपनी सामर्थ्य उन दोनों से ऊपर सिद्ध कर रही हैं। यहाँ नैसर्गिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा की ओर नहीं भाव सम्वेदनाओं की ओर इंगित किया जा रहा है। आत्मा का स्वरूप और कार्य-क्षेत्र कितना अधिक बढ़ गया है इसे हम स्पष्ट देखते हैं। अहं को विकृत अथवा परिष्कृत आधार पर पूरा करने के लिए जन-साधारण को कितना कठिन प्रयास करना पड़ता है, इसे कौन नहीं जानता ? आत्म-चेतना का स्वरूप निर्धारण करना और उसकी पूर्ति के नये आधार खड़े करना वस्तुतः प्रकृति प्रवृत्तियों के समानान्तर एक नया विज्ञान खड़ा कर देने के समान है। अविकसित जीवधारी इन उपलब्धियों से सर्वथा अपरिचित ही होते हैं। मानवी उपलब्धियों में भौतिक साधनों की लम्बी शृंखला सामने है, पर सभ्यता के विकास ने उसे जो 'आत्मा' दी है और उसका सुविस्तृत ढाँचा वरदान रूप में दिया उसने वस्तुतः मनुष्य को कृत-कृत्य कर दिया है। किसी दिव्यलोक का निवासी बना दिया है। दुनिया यही है जिसमें कृमि-कीटक निर्वाह करते हैं। पर मनुष्य कला, सम्वेदना, व्यवस्था, सम्पदा और वर्चस्व से भरे पूरे जिस लोक में रहता है वह अनौखा है। अविकसित जीवधारी भी यों इसी धरती पर रहते हैं पर उनके और मनुष्य के 'लोक' को भिन्न माना जाय तो इसमें अत्युक्ति जैसी कोई बात नहीं है।

शरीर और मन को सुविधा-साधनों के उपार्जन, संग्रह एवं उपभोग में जो उत्साह रहता है उसी ने अपने युग में व्यस्तता के चक्र घुमाने में अतिशय तीव्रता उत्पन्न की है। पर यदि गम्भीरता से देखा जाय तो नैतिक एवं अनैतिक दुस्साहसों के पीछे 'अहं' के पोषण की दुर्दान्त लालसा काम करती दिखाई देगी। यदि यह न हो तो खाओ, पीओ, मौज करो के पशु प्रयोजन तो अति सरलतापूर्वक सम्पन्न होते हैं। 'अहं' की सामर्थ्य जितनी बढ़ी-चढ़ी है उतनी ही भयंकर उसकी विकृति भी है। इस तथ्य को तत्वदर्शियों ने भुलाया नहीं है और उन्होंने सोते साँप को जगाने के साथ-साथ उसके विषैले दाँतों को कीलित करने के लिए कीलन मन्त्र के भी आविष्कार में उपेक्षा नहीं वरती है।

चेतना की प्रौढ़ता—आत्मानुभूति के रूप में देखी जाती है, उसका परितोष आत्म-गौरव में होता है। विकृत चिन्तन उसका परितोष ध्वंस में देखता है। वह अपेक्षाकृत सरल है। एक बालक भी माचिस की तीली लेकर आग लगा सकता है और पूरे घर, गाँव को भस्म कर सकता है। आतंकवादी आये दिन ऐसे ही उत्पात खड़े करते हैं और ध्वंस के द्वारा अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हैं। आततायी अपराध प्रायः अभाव पूर्ति के लिए नहीं अपने वर्चस्व और कौशल द्वारा दूसरों को आतंकित कर देने के लिए होते हैं। किसी इमारत को गिरा देना स्वल्प श्रम से ही संभव हो सकता है उसे कोई मूर्ख भी कर सकता है, पर निर्माण अति कठिन है। उसके लिए भावना, सूझ-बूझ, योग्यता एवं साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ती है। यह कठिन है इसलिए सृजनात्मक गतिविधियाँ अपनाकर आत्म-गौरव का परिचय देना किसी-किसी से ही बन पड़ता है। आतंकवाद अपनाकर ओछी सफलता प्राप्त करने के लालच पर अंकुश करना भी प्रखर -आदर्शवादिता अपनाने वाले के लिए ही सम्भव हो सकता है। सभ्यता का लक्ष्य असुरता का—विकृतियों का अभिवर्धन नहीं, वरंन् उस उत्कृष्टता का अनवरत् अभिवर्धन है, जिसे अपनाकर प्रगति की इतनी मंजिल पूरी हो सकी है।

आत्मानुभूति से लेकर आत्म-गौरव तक का अनुदान देकर सभ्यता का लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता वरन् वह अपूर्णता को पूर्णता में—अणु को विभु में परिणत करने के लिए अनवरत् प्रयास करते हुए सतत् संलग्न रही। उसने मनुष्य के सामने चरम उत्कृष्टता का लक्ष्य प्रस्तुत किया है। वह है परमात्मा। परमात्मा का विश्वास, उसके अनुग्रह का उपार्जन और अन्ततः उसी के समतुल्य बनने की उत्कण्ठा का उत्पादन यही है, ईश्वर भक्ति और उसकी प्राप्ति का वह चरम लक्ष्य जिसकी पूर्ति के लिए उपासना एवं साधना के अनेकों विधि-विधान विनिर्मित हुए हैं।

सृष्टि संचालक सत्ता का निरूपण, ब्रह्म के रूप में किया गया है। उसकी मान्यता के सन्दर्भ में विज्ञानवादियों और आतंकवादियों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। सृष्टि सन्तुलन, इकॉलाजी सिद्धान्त सिद्ध करते हैं कि प्रकृति जड़ नहीं वरन् अत्यन्त दूरदर्शी और सन्तुलन बनाये रहने में आश्चर्यजनक रीति से क्रिया-कुशल है। उसका ब्रह्माण्ड-व्यापी कौशल इतना ही दूरदर्शितापूर्ण है जितना कि कोई बुद्धिमत्ता की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ 'अति मनुष्य' हो सकता है। परमाणु संरचना और उसकी गतिविधियों का अति सूक्ष्म निरीक्षण करने पर भी यही प्रतीत होता है कि विज्ञान के छात्रों द्वारा कही जाने वाली प्रकृति की जड़ता वस्तुतः विवेकशील चेतना के भी कान काटती है। अणु जगत में अन्धेरगर्दी नहीं चल रही है, वरन् आश्चर्यचकित करने वाली ऐसी सुव्यवस्था काम कर रही है, जो उच्चस्तरीय विवेकशीलता के लिए ही सम्भव हो सकती है। **"अणोरणीयान् महतो महीयान्"** की स्थिति में सर्वत्र संव्याप्त विवेकशीलता को जड़ मानें या चेतन इस विवाद में न पड़ें, तो उसका अस्तित्व आस्तिक और नास्तिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से मान्य हो सकता है। समष्टि ब्रह्मवर्चस्व को स्वीकार करने में शाब्दिक लड़ाई भले ही हो, पर उस विवाद में तथ्य कुछ नहीं ब्रह्म की सत्ता को सर्वमान्य घोषित किया जाय यह स्थिति दिनदिन निकट ही आती चली जा रही है।

सभ्यता ने जो 'परमात्मा' मनुष्य जाति को दिया है वह ब्रह्म से सम्बद्ध भले ही कहा जाय, पर उसकी संरचना एक प्रकार से स्वतन्त्र कहने में भी कोई संकोच नहीं माना जाना चाहिए। प्राणिमात्र में संव्याप्त चेतना के साथ आत्मिक एकता—**"आत्मवत् सर्व भूतेषु"** की मान्यता करुणा, ममता, सहकारिता-उदारता, सेवा जैसी परमार्थ प्रवृत्तियों को जगाती है। ईश्वरवाद का यह ऐसा अनुदान है, जो विकृत अहं के द्वारा उत्पन्न होने वाले आततायी उत्पातों पर बहुत हद तक अंकुश लगाता है। पुनर्जन्म स्वर्ग-नरक, ईश्वरीय न्याय, कर्मफल की देर-सबेर में सुनिश्चितता जैसे सिद्धान्त ईश्वरवाद के अविच्छिन्न अंग हैं। ईश्वर का स्वरूप निर्धारण करते हुये सर्वव्यापी, घट-घट वासी, सर्वदर्शी और साथ ही न्याय-निष्ठ माना गया है। मनुष्य के ऊपर ईश्वरीय अनुशासन होने और उच्छृंखलता बरतने पर अदृश्य सत्ता द्वारा दंडित किये जानें को मान्यता ही आस्तिकता का मूलभूत सिद्धान्त है। सभ्यता ने इस प्रकार के ईश्वर का सृजन करके मनुष्य समाज का भारी उपकार किया है। अदृश्य अंकुश की मान्यता हटा देने पर विकृत अहं के उत्पातों का चरम सीमा तक जा पहुँचने का खतरा है। समाज व्यवस्था में अपराध की न्यूनतम सजा गोली हो तो बात दूसरी है, अन्यथा सुधारवादी उदारता की न्याय-व्यवस्था से दुष्टता की बहुत ही स्वल्प मात्रा में रोकथाम की जा सकती है। अदृश्य अंकुश की मान्यता का प्रतिफल शासकीय अपराध नियन्त्रण व्यवस्था से भी असंख्य गुना प्रयोजन पूरा करता है। इस मान्यता के रहते हुए भी जब सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति में इतना व्यवधान खड़ा है तब उसके सर्वथा अभाव में तो स्थिति एक प्रकार से असह्य ही हो जायेगी।

भक्ति भावना में प्रेम तत्व की अभिवृद्धि मनोवैज्ञानिक साधना है। यह सद्भावना जितनी मात्रा में उपार्जित की जा सकेगी, उतना ही मनुष्य सज्जन, सहृदय, उदार, सेवा-भावी बनता चला जायेगा और न केवल स्वयं आन्तरिक उल्लास का अनुभव करेगा वरन् सम्पर्क क्षेत्र में भी शालीनता की प्रभावी शक्ति से स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न करेगा। तत्काल कर्मफल न मिलने से अधीर होकर लोग दुष्कर्म करने पर उतारू होते और सत्कर्मों में निराश होते देखे गये हैं। इस विलम्ब के कारण आस्तिक को

अधीर नहीं होना पड़ता और सज्जनता की नीति शांन्तिपूर्वक अपनाये रहता है।

ऐसे-ऐसे अगणित लाभ आस्तिकता के हैं। एकाकी आदर्शवादिता अपनाये रहने से ईश्वर के कारण असाधारण साहस प्राप्त होता है। सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता संव्याप्त है, इस मान्यता से चिन्तन को 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की अनेकों कलात्मक भाव-सम्वेदना के रसास्वादन का अवसर मिलता है।

आज सभ्यता के प्रति अनास्था उत्पन्न हो रही है। अवज्ञा ओर उच्छ्रंखलता को शौर्य एवं प्रगतिशीलता का चिन्ह माना जाने लगा है। नैतिक मर्यादाएँ उपहासास्पद और सामाजिक मर्यादाएँ अव्यावहारिक कही जाने लगी हैं। फलतः उद्धत आचरण और विकृत चिन्तन के प्रति रोश प्रकट करने के स्थान पर उन्हें सहन करने तथा कभी-कभी तो प्रोत्साहन करने तक की प्रवृत्ति देखी जाती है। यह सब थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो है भयंकर ही ? छोटी चिनगारी भी कभी व्यापक विध्वंस खड़ा कर सकती है। सभ्यता के प्रति अनास्था बढ़ती गई और उस खतरे को न समझा गया तो इसकी प्रतिक्रिया वैसी ही होगी जैसी कि अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने की।

आस्तिकता व्यवहार में उतरेगी तो ही संकट मिटेंगे

जन्म-जन्मान्तरों के संचित कुसंस्कारों का प्रभाव अभ्यास मनुष्य जीवन में भी बना रहता है, निम्न योनियों का स्वभाव जड़ जमाये बैठा रहता है और मानवी प्रवृत्तियों को अभ्यास में सम्मिलित करने के मार्ग में अनेकानेक बाधाएँ उपस्थिति करता है। पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहना है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी वस्तु को अवसर मिलते ही नीचे खींच लेती है। ठोस पदार्थों को नीचे की ओर गिरने और प्रवाहों की ओर बहने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। पर जब उन्हें ऊपर उठाना या बहाना होता है तो साधन जुटाने और प्रयत्न करने पड़ते हैं। मन की प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। उसकी मर्जी चलने दी जाय तो फिर नर-पशुओं और नर-कीटकों से अधिक उपयुक्त चिन्तन और आचरण बन पड़ना सम्भव नहीं हो सकता। क्रोध सहज है, स्नेह कठिन। क्रोध बिना किसी प्रशिक्षण के आरम्भ से ही प्रकट होने लगता है, पर प्रेम को स्वभाव का अंग बनाने के लिए सुसंस्कारी वातावरण और तद्नुरूप अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। ईर्ष्या और अपहरण, अहंता और आक्रमंण, वासना और आधिपत्य का आचरण करते हुए सभी प्राणी पाये जाते हैं, मनुष्य भी। किन्तु संयम और सद्भाव को जीवनक्रम में सम्मिलित करने के लिये सभ्यता और संस्कृति को, धर्म और अध्यात्म को गले उतारना, कितना कठिन पड़ता है यह किसी से छिपा नहीं है। यौनाचार की पूर्ति हर प्राणी बिना किसी प्रशिक्षण के संचित अभ्यास के आधार पर स्वयमेव करने लगता है किन्तु ब्रह्मचर्य पालन के तत्वज्ञान को हृदयंगम करने से लेकर तप-साधन करने तक के उपाय, अभ्यास अपनाने होते हैं। वस्तुस्थिति देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि पतन सरल और उत्थान कठिन है। इस कठिनाई को पार करना ही परम पुरुषार्थ कहलाता है। अनेकानेक साधना विधानों का आविर्भाव इसी दृष्टि से हुआ है।

उत्कृष्टता की धुरी आस्तिकता है। यों विकृतियों के घुस पड़ने से मध्यकाल के अन्धकार युग में इस क्षेत्र की दुर्गति भी कम नहीं हुई है। इतने पर भी तथ्य अपने स्थान पर अडिग हैं। आस्तिकता को आस्था में सम्मिलित किये बिना आत्मिक प्रगति का आधार बनता नहीं। दार्शनिक पर्यवेक्षण करने पर आदर्शवादिता और आस्तिकता एक ही तथ्य के दो पक्ष हैं। उच्चस्तरीय आदर्शों का समुच्चय ही ईश्वर का वह स्वरूप है, जिसकी उपासना की जाती है। परब्रह्म तो नियामक सत्ता भी है, सृष्टि प्रवाह को सुव्यवस्थित रीति से चलाने के अतिरिक्त मानवी चेतना को व उच्चस्तरीय चिन्तन और चरित्र अपनाने के लिए बाधित करती है। इसी को अन्तःप्रेरणा या ईश्वर की वाणी भी कहते हैं। कर्मफल के दण्ड-पुरस्कार की विधि-व्यवस्था परब्रह्म के द्वारा संचालित होती है किन्तु मानवी गरिमा विशुद्ध रूप से आस्तिकता के तत्व ज्ञान से जुड़ी हुई है। आस्तिकता के अनेक स्वरूप हैं। उनमें से एक

ईश्वर उपासना का अवलम्बन लेकर चेतना के दिव्य परतों को सुविकसित और सशक्त बनाना भी है।

आस्तिकता एक आस्था दर्शन है और उपासना उसे परिपक्व करने का प्रयोग अभ्यास। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दर्शन एक कल्पना है उसका परिणाम तभी निकलता है, जब वह अभ्यास में उतरे। आस्तिकता में मात्र ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लेने की उपासना में मनुहार द्वारा उनकी कृपा प्राप्त कर लेने, जितना छोटा उद्देश्य सन्निहित नहीं, वरन् तथ्य यह है कि ईश्वर को उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता का समुच्चय मानना होता है और उसे चिन्तन एवं चरित्र का अविच्छिन्न अंग बनाकर तादात्म्य स्थापित करना ही होता है।

भक्ति का अर्थ है—प्यार भरी सेवा। संक्षेप में इसे आत्मीयता एवं उदारता का समन्वय कह सकते हैं। ईश्वर भक्ति का अर्थ होता है—आदर्शों के प्रति असीम प्यार। असीम का तात्पर्य है इतना प्रबल कि उसे क्रियान्वित किये बिना रहा न जा सके। ईश्वर भक्ति को समर्पण योग भी कहते हैं। शरणागति, लक्ष्य आदि कई नामों से इस स्थिति का उल्लेख किया जाता है।

आत्मा की उत्कृष्टतम स्थिति को ही परमात्मा कहते हैं। पुरुष से पुरुषोत्तम—नर से नारायण बनने का एकान्त अभ्यास ही उपासना है। इसमें ईश्वर को व्यक्ति बनाने का नहीं, व्यक्ति को ईश्वर—अति मानव बनाने और अति मानस को प्रखर करने का प्रयोग है। सच्ची उपासना लघु को विभु, क्षुद्र को महान् बनाती एवं कामना को भावना में विकसित करती है। मनोकामना की पूर्ति के लिए ईश्वर का मनुहार करना बाल-कक्षा के विद्यार्थियों तक ही सीमित रहता है। आत्मिक प्रौढ़ता की स्थिति आते ही ईश्वर का स्वरूप उत्कृष्ट आस्थाओं और आदर्शवादी भाव-सम्वेदनाओं का समुच्चय बन जाता है।

ईश्वर भक्ति और आदर्शों के लिए समर्पित व्यक्तित्व परस्पर पर्यायवाचक बन जाते हैं। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए भावात्मक अभ्यासों की चिरपरिचित प्रणाली को उपासना कहते हैं। इसी अवलम्बन का आश्रय लेकर प्राचीन काल में साधकों को ऋषिकल्प, देवमानव एवं सिद्ध पुरुष बनने का अवसर मिला है। ऐसे व्यक्तित्वों में भगवान का स्वरूप प्रत्यक्ष झाँकता है। अतएव भक्त और भगवान की एकता का प्रतिपादन शास्त्रकार सदा से करते रहे हैं।

युग परिवर्तन का श्री गणेश आस्था क्षेत्र में उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना के साथ होना है, व्यक्तित्व प्रस्तुत आस्था समुच्चय का ही दूसरा नाम है। उसी स्तर के अनुरुप आकाँक्षाए उभरती हैं। आकांक्षाएँ विचारणा को दिशा देती हैं, विचारणा के दबाव से शरीर की गतिविधियाँ चलती हैं। गतिविधियों के अनुरूप परिस्थितियाँ बनती हैं। यह भली-बुरी परिस्थितियाँ ही स्वर्ग-नरक उत्थान पतन, विनाश आदि नामों से निरूपित होती रहती हैं। पतन को उत्थान में बदलना हो, नरक को स्वर्ग बनाना हो तो तदनुरूप परिस्थितियाँ बननी चाहिये। परिस्थितियाँ गतिविधियाँ शरीर की कार्य-पद्धति को कहते हैं। शरीर पर मन का परिपूर्ण नियन्त्रण है। मनःक्षेत्र का सूत्र संचालन इच्छाएँ करती हैं। इच्छाएँ अन्तराल के आस्थापरक स्तर के अनुरूप उठती हैं। यही तत्व-दर्शन का खुला रहस्य है जो इसे जानते हैं, वे पत्ते धोने की अपेक्षा जड़ को सींचते हैं। फुन्सियों पर दबा लगाने की अपेक्षा रक्त शोधन पर अधिक ध्यान देते हैं, मच्छर मारते फिरने का श्रम करने की अपेक्षा गन्दी नाली साफ कर डालने की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

सामयिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से उनमें भरी हुई विकृतियों और विभीषिकाओं के अनेकानेक रूप दिखाई पड़ते हैं, वे एक-दूसरे से भिन्न भी दिखाई पड़ते हैं। उनके समाधान भी स्थिति के स्वरूप को देखते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के सोचे जाते हैं। प्रत्यक्षवाद के आधार पर समाधान इसी प्रकार सम्भव दिखाई पड़ता है। शारीरिक दुर्बलता का निवारण पौष्टिक आहार और रुग्णता का निराकरण चिकित्सा उपचार से भी सम्भव प्रतीत होता है, किन्तु परोक्ष तक पहुँचने वालों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि यह सारा बखेड़ा असंयम की दुष्प्रवृत्ति ने उत्पन्न किया है। असंयम के रहते भी पुष्टाई और दबाई की खिलबाड़ तो चलती रह सकती है, पर उनमें दुर्बलता एवं रुग्णता का स्थायी निवारण कदापि सम्भव न हो सकेगा। तात्कालिक उपचार से जादुई लाभ तो मिल भी सकता है किन्तु स्थिर स्वास्थ्य की अपेक्षा रखने वालों को संयम साधना की जीवन नीति बनाकर चलना होगा।

मानसिक विक्षोभों से जन-जन को तनावग्रस्त, खिन्न उद्विग्न, निराश एवं नीरस भारभूत जीते पाया जाता है। मनोविकारों की प्रबलता से अनुकूलताएँ, प्रतिकूलताएँ बनती हैं। सामान्य परिस्थितियाँ भी विकृत चिन्तन के कारण तिल जैसी होते हुए भी ताड़ जितनी भयानक प्रतीत होती हैं। लोग परिस्थितियाँ बदलना चाहते हैं, पर जिस अनुपयुक्त दृष्टिकोण के कारण वे उत्पन्न होती हैं उसके बदलने की बात तक नहीं सोचते। झरना झरता रहे और बहाव को मेंड़ बाँधकर रोकने में श्रम किया जाता रहे तो थकान और निराश के अतिरिक्त और कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है। स्वस्थता की तरह प्रसन्नता भी आवश्यक है, पर उसे परिष्कृत दृष्टिकोण के मूल्य पर ही खरीदा जा सकता है। शरीर सुख संयम पर निर्भर है और मानसिक सन्तोष चिन्तन के सन्तुलन पर यह तथ्य भले ही आज न सही हजार वर्ष बाद समझा जाए किन्तु समाधान सही निष्कर्ष पर पहुँचने और सही उपाय अपनाने पर ही सम्भव हो सकेगा।

आज व्यक्ति और समाज के सामने अगणित समस्याएँ और विभीषिकाएँ मुँह बनाये खड़ी हैं। उनका निराकरण बुद्धिमानों द्वारा प्रत्यक्ष उपचारों सामयिक उपायों के आधार पर सोचा जाता है, मस्तिक की दौड़, इतनी ही है। विग्रहों का साम, दाम, दण्ड, भेद जैसे कूट नीति उपायों से हल करने का बरताव ही उसने देखा समझा है। सो उन्हें क्रियान्वित करने में भी कोई कसर नहीं रखी जाती। आर्थिक सुधार के लिए गरीबी हटाओ अभियान के अन्तर्गत गृह उद्योगों से लेकर विशालकाय कारखाने लगाने तक का प्राविधान पंचवर्षीय योजना में है। निजी क्षेत्र भी इस सन्दर्भ में कुछ उठा नहीं रख रहा है, पर कठोर श्रम और मितव्ययता की तपश्चर्या का सिद्धान्त जन-जीवन में उतर न पाने के कारण बढ़ा हुआ उपार्जन, दुर्व्यसनों की बढ़ोत्तरी तक को पूरा नहीं कर पाता और दरिद्रता जहाँ की तहाँ बनी रहती है। इस कुचक्र में से निकल सकना आर्थोपार्जन और व्यय व्यवस्था में आदर्शवादी सिद्धान्तों का समावेश किए बिना सम्भव ही नहीं हो सकता।

परिवारों की स्थिति का यदि सही मूल्यांकन किया जाए तो स्थिति सराय से अधिक उपयुक्त न मिलेगी। भेड़ें बाड़ों में भी रहती है और कैदी जेलों में। सद्भाव और सहकार के अभाव में होटलों में की जाने वाली चटक-मटक भी कितनी कृत्रिम कितनी नीरस और कितनी कुरूप, कर्कश लगती है उसे सभी जानते हैं। आर्थिक अभाव रहते हुए भी परिवारों में स्नेह सौजन्य के सहारे स्वर्गीय आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता है, इसके लिये साधनों की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक सुसंस्कारिता की। यह उपलब्धि बाह्य व्यवस्थाओं के सहारे नहीं आन्तरिक सदाशयता के सहारे ही सम्भव हो सकती है।

समाज में अनेकानेक मूढ़ मान्यताओं, कुरीतियों, अवांछनीयताओं, की भरमार है। अपराध बेहिसाब बढ़ रहे हैं। प्रामाणिकता दिन-दिन घट रही है। सज्जनता का प्रतिपादन तो है, पर प्रचलन नहीं। सहकारिता का समर्थन जोरों से होता है और आर्थिक क्षेत्र में उसका लंगड़ा-लूला कलेवर भी बना है। किन्तु पारस्परिक व्यवहार में सहाकारिता एवं उदारता को खोज निकालना अति कठिन है।

कलह और विग्रहों के असंख्य क्षेत्र हैं, सबके अपने-अपने कारण हैं। भाषा, प्रान्त, धर्म, वर्ग, वर्ण आदि के निहित स्वार्थों को लेकर परस्पर टकराव की इतनी अधिक घटनाएँ होती हैं कि उनका निराकरण कानून और पुलिस के द्वारा अत्यन्त स्वल्प मात्रा में ही निकल पाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले दाव-पेचों और कुटिल कुचक्रों ने शीतयुद्धों की भरमार बढ़ती जा रही है और गरम युद्ध की—अणु-अणुओं से लड़े जाने वाले तृतीय एवं अन्तिम युद्ध की सम्भावनाएँ तेजी से समीप आ रही हैं। घटनाचक्र पर दृष्टिपात करने से महाप्रलय का दिन दूर दिखाई नहीं पड़ता। इस विग्रह से निपटने में तो कानून और पुलिस जैसे अनुबन्ध भी कुछ काम करते नहीं दीखते।

धर्म और अध्यात्म का उपयोगी कलेवर तो प्राचीन काल से भी अधिक विस्तृत और आकर्षक बन गया है, पर उसमें प्राण का दर्शन दुर्लभ हो रहा है। कर्मकाण्डों के घटा टोप छाये

हुए हैं पर आस्थाओं में उत्कृष्टता भरने वाली प्रक्रिया तो एक प्रकार से विकृत ही होती चली जाती है। धर्म ने मूढ़ता और कट्टरता के कवच कुण्डल पहन लिये हैं और अध्यात्म के कल्पना लोक में बिना पंखों की उड़ानें उड़ने जैसे उपक्रम चल रहे हैं। इन क्षेत्रों में धूर्तों और मूर्खों के बीच ऐसी पटरी बैठी है कि विज्ञजनों को इस कुछ का कुछ हो जाने को देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ बना देने वाले असमंजस का अनुभव हो रहा है।

समस्याओं की यह मोटी झाँकी है, इस स्तर के अगणित कारण हैं जो व्यक्ति और समाज को सुखी समुन्नत बनाने वाले सभी प्रयत्नों को व्यर्थ करते चले जा रहे हैं। इन विग्रहों के रहते आर्थिक, वैज्ञानिक, बौद्धिक उपलब्धियाँ कोई समाधानकारक हल खोजने में अपनी असमर्थता प्रकट कर रही है, इन परिस्थितियों को पीछे मुड़कर देखना होगा और वस्तुस्थिति समझने की गहराई में उतरना होगा। परिस्थितियों का उत्तरदायित्व मनःस्थिति पर लदा हुआ है। मनःस्थिति का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, वे आस्थाओं एवं आकांक्षाओं पर निर्धारित हैं, अन्तःकरण ही वह क्षेत्र जो व्यक्तित्व के स्तर को उठाता-गिराता है। मनुष्य ने स्वयं ही अपना इतिहास सृजा है, वर्तमान की परिस्थितियों के लिए भी वह पूरी तरह उत्तरदायी है। भविष्य को उज्जवल या अन्धकारमय बना लेना पूरी तरह उसी के हाथ में है। इस तथ्य को स्वीकार करने में असमंजस उन्हीं को हो सकता है, जो व्यक्तित्व के उद्‌गम स्रोत अन्तःकरण की सामर्थ्य से अपरिचित हैं। मनुष्य को सर्व समर्थ माना गया है। यह तथ्य पूर्णतया उसके आस्था क्षेत्र के आधार पर सर्वदा सत्य पाया जा सकता है।

नवयुग में मनुष्य आस्था प्रधान होंगे। वे उत्कृष्टता, आदर्शवादिता और उदात्त भाव सम्वेदनाओं से भरे-पूरे होंगे। प्रश्न एक ही है कि वर्तमान अनास्था को उदात्त भाव श्रद्धा में परिणत कैसे किया जाये ? इस सन्दर्भ में उत्तर तो कई दिये जा सकते हैं पर प्रामाणिक प्रतिपादन आस्तिकता की भाव श्रद्धा का उन्नयन ही है। यह कार्य उपासना के आधार पर सम्भव हो सकता है। व्यक्ति निर्माण का आधार भूत क्षेत्र यही है। यह प्रक्रिया ऐसी है जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। उसे प्रमुखता ही देनी होगा। जन-जन को आस्तिक और उपासना प्रिय बनाने के प्रयत्नों में नवयुग की उज्ज्वल सम्भावनाएँ पूर्णतया समाविष्ट हैं, अस्तु युग शिल्पियों को अपने समस्त क्रिया-कलापों में इस केन्द्र बिन्दु को प्रधान मानकर चलना होगा। महाकाल वैसी ही प्रेरणा देने और व्यवस्था बनाने में संलग्न भी है।

आस्तिकता से धर्म-भावना का विकास

सदाचार का मूल आस्तिकता ही हो सकती है। आमतौर से मनुष्य का मन अधोगामी दुष्प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित होता है। निष्कृष्ट योनियों में भ्रमण करतें समय जो कुसंस्कार उसके मन पर जमे थे वे बार-बार जागृत हो उठते हैं और उसी प्रकार का आचरण करने के लिए इच्छा उठती रहती है। इस पर नियन्त्रण करने के लिए सर्वश्रेष्ठ अंकुश ईश्वर विश्वास का ही हो सकता है।

जब जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए घटिया स्तर का जीवन-यापन करता है और पाशविक प्रवृत्तियो को चरितार्थ करता है तो उसके वे कुसंस्कार मनोभूमि में अपना प्रभाव स्थापित कर लेते हैं और जब मनुष्य शरीर प्राप्त होता है तो भी उन्हीं क्षुद्रताओं को कार्यान्वित करने की चेष्टा करता है। पुरानी आदतें रह-रहकर उसे स्मरण हो उठती हैं। जब कौए की योनि मिली तथा अभक्ष भोजन, अविश्वास और धूर्तता का स्वभाव सारे जीवन भर रहा, जब सर्प की योनि मिली तब अहंकार, प्रतिशोध, आक्रमण और दुष्टता के भाव मन में उठते रहे, जब भेड़िये की योनि मिली तब हत्या, क्रूरता और नृशंसता के विचार ही अभ्यास में आते रहे, बन्दर की योनि में उठाईगीरी की शिक्षा मिली, कुत्ते की योनि में जाति-द्रोह और पेट के लिए दुम हिलाने की चापलूसी करनी पड़ी, अजगर की योनि में आलसी पड़े रहे। स्नेह सम्बन्ध निबाहने, नीति और धर्म की

मर्यादाएँ पालन करने के प्रतिबन्ध उन योनियों में न थे। बहिन, बेटी और पत्नी में कोई अन्तर नहीं करना पड़ता था। कृतज्ञता, प्रत्युपकार, धर्म, सदाचार, सफाई, नियमितता जैसी पुण्य-प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने की भी कोई व्यवस्था न थी। उस वातावरण को पार करते हुए जीव मनुष्य योनि में आता है, तब यहाँ से अनेक धर्म-कर्तव्य पालन करने पड़ते हैं। जन्म-जन्मान्तरों के अभ्यास स्वेच्छाचार के थे। यहाँ नियन्त्रित और मर्यादित जीवन-यापन करना पड़ता है। सो प्रयत्न करते हुए भी आये दिन पग-पग पर उसमें भूल होती रहती हैं। पिछली योनियों की पशु-प्रवृत्तियाँ बार-बार स्मरण हो जाती हैं और मनुष्य वह करने लगता है, जो मनुष्य शरीर में रहते हुए न किया जाना चाहिए। पापों का आध्यात्मिक कारण यही है। पुण्य-पथ पर चलने का प्रयास करते हुए भी पाप-मार्ग में बार-बार भटक पड़ने का यही हेतु होता है।

बचपन की आदतें युवावस्था में क्षम्य नहीं हो सकतीं। छोटे बच्चे नंग-धड़ंगे फिरते हैं, कहीं भी टट्टी-पेशाब कर देते हैं, शिष्टाचार और सभ्यता का उल्लंघन करते हुए अटपटा व्यवहार करते हैं तो भी वे क्षम्य माने जाते हैं। पर युवा होने पर यदि वही व्यक्ति बालकपन के आचरण करे तो उसे अक्षम्य माना जायेगा और भर्त्सना होगी। इसी प्रकार अन्य योनियों की आदतें मनुष्य शरीर में भी काम लाई जायेंगी तो उसे बहुत बुरा माना जायेगा। अन्य योनियों को बचपन कहें तो मनुष्य शरीर को युवावस्था कहना पड़ेगा। वयस्क व्यक्ति के जो उत्तरदायित्व होते हैं, उन्हें ही निबाहना मनुष्य शरीरधारी के लिए उपयुक्त हो सकता है। हमें नीति, सदाचार, धर्म और कर्तव्य का पालन करना ही चाहिए, इसके बिना इस जीवन की न तो सार्थकता बन पाती है और न उपयोगिता।

मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए जिन उत्तरदायित्वों का पालन करना आवश्यक है, वे व्यवहार में काफी कठिन पड़ते हैं। पतन का मार्ग सरल है पर उत्थान के लिए भारी श्रम करना पड़ता है। पानी को फैला दिया जाय तो वह नीचे की ओर—ढलाव की ओर—अपने आप बिना किसी प्रयत्न के बहने लगेगा किन्तु यदि उसे ऊँचा चढ़ाना हो तो अनेक प्रयत्न करने पड़ेंगे! कुएँ में से पानी ऊपर खींचना हो तो रस्सी, वाल्टी आदि उपकरणों की तथा खींचने के लिए बाहुबल की जरूरत पड़ती है। जमीन पर से छत पर पानी ले जाना हो तो भी पम्प, मशीन, सीढ़ी, जीना, बर्तन, भार ढोने वाले व्यक्ति आदि साधन जुटाने पड़ते हैं। अन्य योनियों की तुलना में मानव जीवन अत्यन्त उत्कृष्ट है। इस ऊँचाई का अनुपात उससे भी कहीं अधिक है, जितना कि कुएँ और जमीन के अथवा जमीन और छत के बीच में होता है। अभिरुचि और प्रवृत्ति को ऊँचा उठाना यही तो मानव जीवन की सफलता का एक मात्र आधार होता है। इसके लिए जो प्रयत्न करने पड़ते हैं उन्हें धर्म या अध्यात्म के नाम से पुकारा जाता है।

आत्मोत्कर्ष का लक्ष्य पूर्ण करने के लिए धर्म और अध्यात्म का विशाल ढाँचा खड़ा किया गया है। अनेकों ग्रन्थ, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, नीति, नियम, मर्यादाएँ, परम्पराएँ, व्रत, उपवास, साधन, भजन, तीर्थ, कथा, प्रवचन, दान, पुण्य, जप, तप, तीर्थ, सत्संग, स्वाध्याय आदि का अत्यन्त व्यवस्थित और विशालकाय धर्म-तन्त्र इसी निमित्त खड़ा किया गया है कि मनुष्य की मनोभूमि निकृष्ट स्तर से ऊँची उठकर उच्च स्तर की ओर अभिमुख हो सके। छप्पर को उठाने के लिये कितने ही आदमी एक साथ लगते हैं, तब वह उठकर छत तक जा पाता है। मनुष्य का मानसिक स्तर भी एक प्रकार का छप्पर है यदि उसे धर्म व्यवस्था के—अध्यात्म मान्यताओं के अनेकों साधनों, उपकरणों द्वारा ऊपर न उठाया जायगा तो आत्मोत्थान की प्रक्रिया और किसी प्रकार सम्पन्न न हो सकेगी। मनुष्य शरीर में रहते हुए भी जीव पशु-प्रवृत्तियों में ही भटकता रहेगा और बाहर से इन्सान दीखते हुए भी तत्वतः हैवान की स्थित में ही गिना जा सकेगा।

भारी वजनदार चीजों को ऊपर उठाना हो तो उसके लिए 'क्रेन' नामक यन्त्र की आवश्यकता पड़ती है। पटरी पर से उतरी हुए इंजन, जहाजों में लदे हुए भारी पार्सल, वजनदार मशीनें 'क्रेन' के द्वारा ही उठाकर यथास्थान रखे जाते हैं। अविकसित मनुष्य को एक अपूर्ण इंजन माना जाय तो ईश्वर को क्रेन माना जायेगा,

जिसके द्वारा उस भारी चीज़ को उठाकर यथास्थान रखना संभव होता है।

लोभ और भय यह दो आधार ही पशु प्रवृत्ति को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। मन्द बुद्धि ढोर को समझाने-बुझाने से काम नहीं चलता। उसे या तो लाठी से हाँकना पड़ता है या फिर रोटी का टुकड़ा दिखाते हुए कुत्ते को कहीं भी ले जाया जा सकता है। औंधे-सीधे रास्ते पर चलने वाला उच्छ्रंखल पशु लाठी के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। भय न हो, नियन्त्रण न रहे तो पशु-प्रवृत्ति उच्छ्रंखलता की ओर ही बढ़ेगी। अव्यवस्था ही फैलावेगी। इसलिए पशु-पालन करने वाले अपने ढोरों को काबू में रखने के लिए किसी न किसी प्रकार के नियंत्रण की व्यवस्था करते हैं। घोड़े के मुँह में लगाम लगाई जाती है। पैरों में पिछाड़ी और गले में अगाड़ी के बन्धन बाँधें जाते हैं, तब कहीं वह उछल-कूद करने से बाज आता है। ऊँट की नाक में नकेल लगती है। बैल के नथुने में भी रस्सी से नाथे जाते हैं। हाथी के कान पर अंकुश लटकता रहता है। रीछ नचाने वाले भी उसके थूथड़ के ऊपर छेद करके रस्सी डाल देते हैं। अन्य जानवरों को रस्सी से बाँध- कर रखते हैं या बाड़े में बन्द कर देते हैं। सर्कस के भयंकर जानवर हंटर के बल पर तरह-तरह की कलाऐ सीखते और काम करते हैं। साधारण जानवरों के लिए भी उनका स्वामी हाथ में लाठी लिए रहता है! मनुष्य भी एक प्रकार का पशु है, यदि उसके ऊपर ईश्वर की मान्यता का अंकुश न रहे, वह नास्तिक या बेईमान बन जाय तो उसकी उच्छ्रंखलता उसके लिए ही नहीं सारे समाज के लिये भयानक एवं उत्पात करने जैसी अव्यवस्था उत्पन्न कर सकती है।

मदान्ध हाथी जब मदमस्त होता है तब उसकी करतूतें अत्यन्त त्रासदायक बन जाती हैं। इसी प्रकार निरंकुश मनुष्य भी कितना उद्दत, कितना नृशंस और कितना भयानक बन जाता है इसकी कल्पना-मात्र से रोमांच हो उठते हैं। आतातायी, नर-पिशाचों की करतूतें जब पढ़ने, सुनने मे आती हैं, तब लगता है कि असुर, दानव, राक्षस कहीं अन्यत्र नहीं इसी धरती पर इसी मनुष्य शरीर में रहते हैं। मानवीय उत्तरदायित्वों का धर्म-मर्यादाओं का और आध्यात्मिक मान्यताओं का परित्याग करने के पश्चात् व्यक्ति इतना घृणित हो जाता है कि वह जो कुछ भी न करने लगे सो कम है। मन पर से धर्म का नियन्त्रण हट जाने के बाद अन्य सारी, रोक-थाम बहाना मात्र रह जाती है। सामाजिक प्रतिरोध और राजदण्ड दोनों की ही प्रक्रिया ऐसी है, जिससे बच निकलना मनुष्य जैसे चतुर प्राणी के लिये कुछ कठिन नहीं है।

आस्तिकता से विश्व शान्ति का अवतरण

विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना जिन आधारों पर सम्भव है उनमें आस्तिकता सर्वप्रधान है। ईश्वर के अस्तित्व पर, उनकी सर्वव्यापकता और न्यायशीलता पर विश्वास हुए बिना मनुष्य के लिए यह कठिन है, कि वह प्रलोभनों के समय, आपत्तियों के समय भी अपने कर्तव्य धर्म से विचलित न हो। सामाजिक एवं राजकीय प्रतिबन्ध एक सीमा तक जन साधारण को कुमार्गगामी होने से बचा सकते हैं। वे अधिक से अधिक इतना कर सकते हैं कि किसी व्यक्ति के दुष्कर्म कर लेने के पश्चात् उसकी भर्त्सना या दण्ड की व्यवस्था करें। पर यह तो बहुत पीछे की बात हुई। कुकर्म का प्रारम्भ कुविचारों से ही हो जाता है। मन में कुविचार उठते हैं तो मस्तिष्क उसके अनुरूप अनेक योजनायें बनाने लगता है और उन योजनाओं में से छोटे-बड़े रूप में कई फलित भी होती रहती हैं। पकड़ में तो कोई एकाध आती है और पकड़े जाने पर भी दण्ड का भागीदार कभी-कभी होना पड़ता है अन्यथा लोग अपनी चतुरता और सफाई के बल पर छूट भी जाते हैं।

कुकर्मों के कारण ही इस संसार में सारी अशान्ति है। परस्पर जो रागद्वेष और छीना झपटी की अनीतिपूर्ण प्रक्रिया चल रही है उसी के फलस्वरूप विविध विधि संघर्ष और क्लेश दृष्टिगोचर होते हैं। दैवी विपत्तियों भी हमारे पूर्व संचित दुष्कर्मों के फलस्वरूप ही आती हैं। संसार में जितना भी कष्ट है वह किसी न किसी के

कुकर्म का फल है। आक्रमणकारी एवं अमहरणकर्ता का कुकर्म उसके लिए तो दुःखदायक होता ही है पर पहले दूसरे निर्दोषों को भी अपनी चपेट में ले लेता है। संसार में जितने कुकर्म पनपेंगे उतने ही दुःख भी बढ़ते रहेंगे। इसलिए यदि हमें शान्ति की स्थापना करनी है तो कुकर्मों को हटाना पड़ेगा। यह कुकर्म कैसे हटें ? इस पर विचार करते हुये यह स्पष्ट हो जाता है कि कुविचार ही कुकर्मों के उत्पादक हैं। मस्तिष्क में घूमती रहने वाली अधर्ममूलक विचारधारा ही अवसर पाकर कुकर्म का रूप धारण करती है। पानी ही जमकर बर्फ बनेगा। यदि हवा में पानी का अंश न हो तो बर्फ कैसे गिरेगी ? हवा में रहने वाला पानी अदृश्य और गिरने वाली बर्फ दृश्य है, इसी प्रकार कुविचारों को सूक्ष्म, अदृश्य एवं कुकर्म को स्थूल-दृश्य-पाप कहा जा सकता है। कुकर्मों को मिटाने के लिये कुविचारों पर प्रहार करना आवश्यक है।

कुविचारों में अनैतिक तत्वों का समावेश रहता है। अनैतिकता में एक आकर्षण है। जुआ, चोरी, लूट, व्यभिचार, बेईमानी आदि का परिणाम पीछे कुछ भी हो तत्काल इनमें बहुत लाभ एवं बहुत आकर्षण दिखाई पड़ता है। इस लोभ एवं आकर्षण को नियन्त्रित रखने का एक मात्र उपाय यदि हो सकता है तो वह ईश्वरीय न्याय का भय ही है। पाप को छिपाये रहना और राजदण्ड से बचे रहना आज की दुनियाँ में कुछ बहुत मुश्किल नहीं है। इसिलए मनुष्य सोचता है कि जब पाप के प्रतिफल से बचा जा सकता है तो फिर उसके लाभ और लोभ को क्यों छोड़ा जाय ? आज यही विचारधारा दुष्कर्मों को बढ़ावा दे रही है और इसी कारण हमारे मनों में कुविचारों की घटायें स्वच्छन्द होकर विचरण करती रहती हैं।

कुविचारों पर अंकुश रखना किसी आन्तरिक एवं भावनात्मक आधार पर ही संभव है। ईश्वर की सर्वज्ञता एवं निष्पक्ष न्यायशीलता की बात जब तक मन में न जमेगी तब तक और किसी आधार पर मानसिक दुर्भावनाओं को रोका न जा सकेगा। कर्मफल, स्वर्ग, नरक, परलोक, पुनर्जन्म पर जिसका विश्वास है, वही कुमार्ग पर पैर बढ़ाते हुए हिचकेगा। जिसका अन्तःकरण कुमार्ग पर चलने से रोकता है, केवल वही कुकर्मों से बच सकता है। आन्तरिक अंकुश ही सच्चा अंकुश हो सकता है। सत्कर्म का कोई तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ न मिले या उस मार्ग में कष्ट उठाना पड़े तो भी आस्तिक विचार का आदमी यह सोचकर सन्तोष कर सकता है कि सर्वज्ञ ईश्वर की न्यायशीलता निश्चित है तो आज न सही कल मेरे सत्कर्म का फल मिलेगा। पर यदि किसी को ईश्वर पर आस्था न हुई, कर्मफल के बारे में सन्देह रहा तो फिर सत्कर्म के लिए कष्ट उठाना या त्याग करना निश्चय ही कठिन हो जायेगा।

सत्कर्म का तुरन्त ही वैसा लाभ नहीं मिलता जैसा कुकर्म का। इसीलिये लोग सन्मार्ग छोड़कर कुमार्ग पर चलने को तत्पर होते हैं। इस कठिनाई के रहते हुये भी कोई व्यक्ति यदि कुकर्मों का लोभ छोड़कर सत्कर्म से होने वाले स्वल्प लाभ पर सन्तोष करता है तो उसे पुण्य-परमार्थ का, ईश्वरीय-प्रसन्नता का एवं समयानुसार सत्परिणाम प्राप्त होने का विश्वास अवश्य होना चाहिए। इस विश्वास के अभाव में मनुष्य भटक जाता है और बिना पतवार की नाव की तरह उसका मन न सोचने योग्य सोचने में और न करने योग्य करने में अग्रसर हो चलता है। ईश्वरीय विश्वास के अभाव में मन की दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश किस प्रकार लगाया जाना सम्भव है इसका और कोई सुनिश्चित विकल्प अभी तक किसी की समझ में नहीं आया है।

पापी के सामाजिक बहिष्कार एवं सार्वजनिक निन्दा की एक प्रथा प्राचीन काल में सबल थी और उस कारण किसी कदर लोग बुराई से बचते थे। अब वह बन्धन भी टूट चले। कहीं हैं भी तो वे रोटी-बेटी की रूढ़ियों तक सीमित हैं। झूठ बोलने वाले, बेईमानी करने वाले, अनीति बरतने वाले का सामाजिक बहिष्कार होता अब कहीं दीखता नहीं। उल्टे ऐसे लोगों से डरकर या लाभ उठाने का अवसर देखकर अनेक लोग उनके समर्थक बन जाते हैं। यही बात राजदण्ड के बारे में है। एक तो कानून ही बहुत थोड़ा-सा दण्ड देते हैं। दूसरे पुलिस का इतना विस्तार भी नहीं कि छिपकर हुये दुष्कर्मों का भी

पता प्राप्त कर सके। फिर दंड दिलाने के लिये जितना सबूत, जितने गवाह चाहिए वह नहीं जुट पाते हैं, धन खर्च कर सकने वालों के लिये तो इस प्रकार की छूट और भी सुलभ हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक बहिष्कार एवं राजदण्ड की पद्धतियाँ कुकर्मों को रोकने तक में सफल नहीं हो पा रही हैं तो कुविचारों के उठने की गुप्त मनोभूमि की गहराई तक तो उनका प्रवेश हो सकना और भी कठिन है। लोकनिन्दा और राजदण्ड की उपेक्षा का भाव यदि मन में जम जाये तो मनुष्य और ढीठ एवं उच्छृंखल हो जाता है। आज ऐसी ही ढिठाई व उच्छृंखलता तेजी से बढ़ती चली जा रही है।

समाजनिष्ठा, देश-भक्ति या आदर्शवाद के नाम पर एक और भी प्रयोग इस शताब्दी में हो रहा है, जिसमें ईश्वर की उपेक्षा करके इन आधारों पर मनुष्य को सदाचारी एवं आत्मसम्मानयुक्त बनाने का परीक्षण किया गया है। साम्यवादी विचारधारा इसी की पोषक है। रूस और साम्यवादी देशों में इसका प्रयोग पिछले पचास वर्षों से चल रहा है। उस पर सूक्ष्म दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रयोग एक प्रकार से असफल ही रहा है। देशभक्ति एवं समाज-निष्ठा का भरपूर शिक्षण देने पर भी वहाँ अपराधों की संख्या आस्तिक देशों से भी कहीं अधिक है। इन देशों में जितना उत्पीड़न और रक्तपात जनता की दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए किया गया है, वह लोमहर्षक है। इतने दमन और नियन्त्रण की परिस्थितियों ने आतंक पैदा कर दिया है, जिसके भय से निर्धारित प्रतिबन्धों के विरुद्ध कोई सिर न उठावे। पर हृदय परिवर्तन नहीं हुआ है। भीतर ही भीतर अनैतिकता की वह आग मौजूद है और समय-समय पर उसकी चिनगारियाँ सामने आती रहती हैं। रूस के शीर्षस्थ नेताओं को आये दिन देशद्रोही ठहराकर मौत के घाट उतारा जाता रहता है। एक दिन के देशभक्त दूसरे ही दिन देशद्रोही घोषित कर दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया के शिकार जितने बहुसंख्यक शीर्षस्थ नेता रूस में हुये हैं, उसे देखते हुये सोचना पड़ता है कि जब इन ऊँचे कह जाने वाले लोगों का यह हाल है तो साधारण या निम्नवर्ग का क्या हाल होगा ? जर्मनी, इटली, स्पेन आदि देशों में अधिनायकवाद का भी परीक्षण करके देख लिया है। बुरे कहे जाने वाले लोगों का दमन के बल पर कुचल डालने से लोग अच्छे रास्ते पर चलेंगे इसका भयानक परीक्षण हुआ है पर जनता कितनी सुधरी यह तो पीछे खोजा जाएगा, पहले यही देख लिया जाय कि इस विचारधारा के शीर्षस्थ लोग ही परस्पर कितने विश्वासघाती और निष्ठुर सिद्ध हुए और इन सत्ताधारियों ने आपस में ही एक-दूसरे से कितनी प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, विश्वासघात एवं निष्ठुरता की नीति वरती। शीर्षस्थ स्तर पर जो परीक्षण असफल रहा है, वह सामान्य स्तर की जनता में सफल होगा ऐसी आशा करना दुराशा मात्र ही कहा जायगा।

सामूहिक भर्त्सना, राजदण्ड और समाजनिष्ठा यह तीनों ही बातें अच्छी हैं और इन तीनों की उपयोगिता भी है पर मनुष्य के आन्तरिक स्तर को सद्विचारों में ओत-प्रोत रखने एवं सत्कर्मों के लिये कुछ भी कष्ट उठाने की सुदृढ़ प्रेरणा इनमें नहीं है वह तो ईश्वर निष्ठा में ही है।

इन सब बातों पर विचार करते हुये ईश्वर-विश्वास ही एकमात्र वह उपाय रह जाता है जो सत्प्रवृत्तियों को किसी नीति के रूप में नहीं, वरन् मानव जीवन की मूल-भूत आधारशिला मानकर हृदयंगम करने के लिये प्रेरणा दे सकता है। धर्म और कर्तव्य पालन आस्तिकता की दो भुजायें हैं। सच्चे ईश्वर विश्वासी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी धर्मशीलता और कर्तव्य-परायणता के आधार पर परमात्मा को प्रसन्न करे। सब प्राणियों में परमात्मा की ज्योति देखे और सब के साथ शिष्टता, सज्जनता एवं सहृदयता का व्यवहार करे। पाप का दण्ड मिलने और पुण्य का पुरस्कार प्राप्त होने की मान्यता उसके धैर्य को कायम रख सकती है। इस उल्टी दुनियाँ में सन्मार्ग पर चलते हुए कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो परलोक या अगले जन्म में न्याय मिल जाने की आशा भी उसे कठिन अवसरों पर विचलित होने से रोके रह सकती है।

आस्तिकता के, आध्यात्मिकता लाभ असंख्य हैं। स्वर्ग और मुक्ति का प्राप्त होना, भव-बन्धनों से छूटना, जीवन-मुक्ति का आनन्द लेना, ऋद्धि-सिद्धियों की उपलब्धि, ईश्वर की कृपा से कष्टों से छुटकारा, आत्मबल की वृद्धि आदि अगणित लाभ आस्तिकता एवं उपासना से सम्बन्धित हैं। पर सामाजिक एवं लौकिक दृष्टि से आस्तिकता का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वह मनुष्य को कुकर्म करने से ही नहीं, कुविचार से भी दूर रहने की प्रेरणा देती है। आत्म-नियन्त्रण का यही उपाय ऐसा है, जो हमारे नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा को जन-मानस में गहराई तक जमाये रह सकता है। अपने सुधार और दूसरों के साथ सद्व्यवहार की जिस प्रक्रिया के ऊपर विश्व-शान्ति की सम्भावना निर्भर है। उसके लिये आस्तिकता ही एक प्रेरक शक्ति का केन्द्र बन सकती है। जीव लघु से महान बने, अणु से विभु के रूप में विकसित हो, आत्मा को परमात्मा के रूप में परिणित करे; यह आकांक्षा आस्तिकता के आधार पर ही तो जागृत होगी और इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये उसे धर्मनिष्ठा, आत्मसंयम, परोपकार एवं सदाचार का अनिवार्यतः अवलम्बन करना पड़ेगा। यही वह मार्ग हो सकता है, जो हमारी वैयक्तिक एवं सामाजिक दुरवस्था का समाधान करके वह परिस्थिति उत्पन्न करे, जिसमें सब लोग सुखपूर्वक रह सकें और विश्वव्यापी शान्ति का सुखद आनन्द अनुभव कर सकें।

पुलिस कप्तान, जिलाधीश, न्यायाधीश या किसी सरकारी उच्च अधिकारी को सामने खड़ा देखकर चोर भी उस समय चोरी नहीं करता। उसे तुरन्त पकड़े जाने का और कड़ा दण्ड मिलने का भय रहता है। जब न्यायाधीश या कप्तान ने स्वयं अपनी आँखों चोरी करते देखा और पकड़ा है तब छूटने की कोई आशा भी नहीं रहती है। इसलिए इच्छा एवं अवसर रहने पर भी चोर तब तक कुछ नहीं करता जब तक कि वे अधिकारी सामने खड़े दिखाई देते हैं। इसी प्रकार पाप से बचने के लिए ईश्वर-विश्वास एक ऐसा प्रतिबन्ध है, जिसे तोड़ना किसी दुस्साहसी का ही काम हो सकता है।

कहते हैं कि एक बार एक चोर अपने लड़के को साथ लेकर चोरी करने गया। लड़के को रखवाली के लिए उसने खड़ा कर दिया कि कोई देखता हो तो सूचना दे, ताकि भाग निकल जाय। लड़के को भली-प्रकार समझाकर चोरी करने लग गया।

थोड़ी देर में लड़के ने डरी हुई आवाज में पिता से कहा—"जल्दी निकलिए, भागिए, मालिक देख रहा है।" चोर ने अपना काम अधूरा छोड़ा और लड़के के साथ भाग निकला। थोड़ी दूर जाकर जब चोरी का स्थान दृष्टि से ओझल हो गया तो चोर ने लड़के से पूछा—कौन देख रहा था, कहाँ से, कैसे देख रहा था ?" लड़के ने कहा—परमात्मा हर जगह मौजूद है। उसकी जानकारी से कोई चीज छिपी नहीं। सबका मालिक तो वही है। जहाँ आप चोरी कर रहे थे वहाँ भी परमात्मा मौजूद था। इसलिए उस दुष्कर्म के दण्ड से बचने के लिए हम लोगों का भाग खड़ा होना ही उचित था।

पाप से बचने के लिये आस्तिकता की यही आस्था आवश्यक है। यदि हम सच्चे ईश्वर-विश्वासी बन सकें तो शरीर से दुष्कर्म करने और मन में कुविचारों की विचारणा करने का अवसर ही न मिले। पाप कर्मों में निरत रहने वाले व्यक्ति अपने को ईश्वर-भक्त कहने के अधिकारी नहीं हो सकते। आत्म-वंचना और लोगों को धोखे में डालने के लिये कई व्यक्ति भक्ति ढोंग रचते रहते हैं ऐसे लोगों के लिये ही दुष्कर्म कर सकना सम्भव है। अन्यथा ईश्वर को सर्वव्यापक और न्यायकारी मानते हुये किसी आस्थावान आंस्तिक के लिये यह संभव ही नहीं हो सकता कि वह कुमार्ग पर चलते हुये ईश्वर के अत्यन्त भयानक दण्ड को जान-बूझकर आमन्त्रित करे।

वैयक्तिक और सामूहिक समस्त क्लेश, कलह, शोक, संताप, दुष्कर्मों के कारण ही सामने आते हैं। समस्त प्रकार की सुख-शान्ति का एक मात्र आधार सत्कर्म ही तो है। दुःखों से छुटकारा पाने और सुखों को बढ़ाने की इच्छा तो हम करते हैं पर उसके मूल कारण ईश्वर-विश्वास को दृढ़तापूर्वक नहीं अपनाते। इसी अभाव के कारण हमारा जीवन असफल और

अस्त-व्यस्त बना रहता है। सारे समाज में विविध प्रकार के दुःख-द्वन्द्व छाये रहते हैं। विश्वशान्ति के आधार आस्तिकता को दृढ़तापूर्वक हृदयंगम किये बिना न व्यक्ति का कल्याण है और न समाज का। इस तथ्य को हम जितनी अच्छी तरह, जितनी गहराई तक समझलें उतना ही उत्तम है।

विस्मृति से उबरें-अपना आपा सुदृढ़ बनाएँ

ईश्वर विश्वास लगभग उतना ही महत्वपूर्ण है जितना आत्म-विश्वास। आत्म-विश्वास का अर्थ है—अपनी उत्कृष्टता, क्षमता, प्रतिभा एवं सक्रियता की उपस्थिति पर भरोसा करना। जिन्हें अपने अन्दर इन विभूतियों की झाँकी नहीं होती। वे दीन-दुर्बल बने रहते हैं और असफल, असहायों की तरह जिन्दगी गुजारते हैं। जिन्हें अपनी प्रतिभा और क्षमता पर विश्वास होता है, वे साहस भरे कदम बढ़ाते हैं और प्रगति की दिशा में द्रुत गति से अग्रसर होते चले जाते हैं। ईश्वर-विश्वास, आत्म-विश्वास से भी ऊँची अन्तः-निष्ठा है। एक उच्चस्तरीय सत्ता का शासन अपने समेत विश्व पर बने होने की बात जब मन में जम जाती है तो मनुष्य आत्म-नियन्त्रण की बात सोचता है और व्यवस्थित शासन के सुसंस्कृत नागरिक की भूमिका निभाने के लिए कटिबद्ध होता है। शासन के, समाज की पकड़ से बच निकलने की सम्भावना देखकर ही आमतौर से उद्दण्डता अपनाई जाती है और अनाचार के लिए हिम्मत पड़ती है। सजग शासन और उसका कठोर नियन्त्रण होने की बात समझ में आ जाय तो फिर अवांछनीयताएँ, अपनाने के लिए हौसला ही नहीं होता, वरन् सब कुछ शान्तिपूर्वक चलता रहता है।

मनुष्य की मनुष्यता अस्त-व्यस्त होने से न केवल व्यक्तिगत हानि वरन् समाज की शान्ति, सुव्यवस्था एवं प्रगति भी नष्ट हो जाती है। व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है। लोग जिस स्तर के होंगे उसी स्तर का समाज बनेगा। समाज से व्यक्ति और व्यक्ति से समाज का सम्बन्ध उतना ही अविच्छिन्न है, जितना वृक्ष का बीज से, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक की स्थिति डगमगाने लगे तो दूसरे का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। ईश्वर विश्वास इन दोनों ही विपत्तियों में रक्षा करता है। सुनियन्त्रित सूक्ष्म सत्ता की—ईश्वर विश्वास की मान्यता ही मनुष्य को सच्चे अर्थों में सदाचारी, सज्जन बनाये रह सकती है। अन्य नियन्त्रणों को तो वह अपने बुद्धि-कौशल से सहज ही झुठला सकता है। पुलिस, कचहरी तथा लोकनिन्दा के नियन्त्रणों से बच निकलने की अनेकों तरकीबें आदमी को मालूम हैं। सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान किन्तु निष्पक्ष न्यायकारी परमेश्वर का नियन्त्रण ही सर्वांगपूर्ण है। इस लोक से लेकर परलोक तक—भौतिक सुखों से लेकर आत्मिक शान्ति तक का सारा क्षेत्र ईश्वर की व्यवस्था के अन्तर्गत है, यह मानने वाला अपनी रीति-नीति को सही बनाने के लिए विदश होता है। यह एक बहुत बड़ी बात है। व्यक्तित्व को परिष्कृत करने में यह आधार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। आस्तिकता की व्यापक प्रतिक्रिया सभ्य, सुसंस्कृत एवं समुन्नत समाज के रूप में प्रस्तुत होती है।

प्राचीन भारत के उज्ज्वल इतिहास की पृष्ठभूमि आस्तिकता के तत्वज्ञान द्वारा ही सम्पन्न हुई थी। उन दिनों सतयुग का, धर्म राज्य का वातावरण था और हर व्यक्ति में देवत्व की सत्ता जगमगाती थी। वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति की अनेकानेक उपलब्धियाँ ऐसे वातावरण में सहज ही उदीयमान रहती हैं। इसी प्रकाश में प्राचीन भारत की गौरव-गरिमा का मूल्यांकन किया जा सकता है।

आज भी आस्तिकता का आवरण तो खड़ा है, पर वह तात्विक दृष्टि से खोखला ही नहीं विकृत भी हो गया है। फलतः उसका लाभ मिलने की अपेक्षा सड़ी दुर्गन्ध से हानि अधिक उठानी पड़ रही है। अब समझ आने लगा है कि थोड़ी-सी पूजा-पत्री करके ईश्वर को वशवर्ती किया जा सकता है और उससे उचित-अनुचित मनोकामनाएँ बिना प्रयत्न-पुरुषार्थ के सहज ही पूरी कराई जा सकती हैं। इस मान्यता ने लोगों को पूजा-पत्री के विधि-विधान—कर्मकाण्ड अपनाने के लिए तो आकर्षित किया, पर साथ ही उसे पक्षपाती और अन्धेरगर्दी बरतने वाला भी ठहरा

दिया। पूजा से ही ईश्वर प्रसन्न हो सकता है तो फिर उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए कठोर कर्तव्यों का पालन कौन करे ? आत्म-नियन्त्रण, व्यक्ति का परिष्कार, लोकमंगल के लिए त्याग, बलिदान, योग साधना एवं तपश्चर्या अपनाने की, आस्तिक परम्परा सदा से चली आ रही थी, इसे भी तथाकथित 'भक्ति' भावना से उखाड़ फेंका। जब गंगा-स्नान, तीर्थ-दर्शन जैसे सुलभ कर्मकाण्ड पाप के दण्ड प्रतिफल से छुटकारा दिला सकते हैं तो फिर पाप की खुली छूट का द्वार खुल गया। शासन और समाज की आँखों में धूल झोंकने की प्रवीणता लोगों ने पहले ही प्राप्त कर ली थी। एक ईश्वरीय नियन्त्रण की, कठोर कर्मफल की, मान्यता ही चरित्रनिष्ठा को बनाये रह सकती है। वह आधार भी टूट गया तो समझना चाहिए उच्छृंखलता के लिए पूरी तरह छूट मिल गई। आज की विकृति आस्तिकता अपने मूल प्रयोजन से भटक ही नहीं गई वरन् ठीक प्रतिकूल दिशा में चल पड़ी है। ऐसी दशा में तथाकथित भक्त लोगों को अपेक्षाकृत अधिक दंभी, दुराचारी एवं अकर्मण्य पाया जाता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह भ्रष्ट तत्वदर्शन का प्रतिफल है जिसने कर्म-दुष्कर्म के साथ ईश्वरीय अनुग्रह-विग्रह की पतंग काट दी और कर्मकाण्ड के जादू की छड़ी से ईश्वर को उल्लू बनाकर उससे चाहे जो उचित-अनुचित करा लेने की बात भोली जनता के मन में बिठा दो। वस्तुतः यह आस्तिकता के साथ बलात्कार, व्यभिचार ही हुआ और उसकी उपयोगिता नष्ट करके अनिष्टकारी मूढ़ मान्यताएँ प्रतिष्ठापित कर दी गई हैं। इसका दुष्परिणाम भी सामने है। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा आस्तिकता के क्षेत्र में भ्रष्टता एवं दरिद्रता का बोलवाला अधिक है तद्नुसार वे अधिक मात्रा में दुःखी रहते और दुःखी होते देखे जा सकते हैं।

भ्रष्ट रीति-नीति किसी भी क्षेत्र में अपनाई जाय विपत्ति उत्पन्न करेगी, आस्तिकता का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं हो सकता था। अस्तु वर्तमान धर्म बिडम्बना के आधार पर विशुद्ध तत्व-दर्शन की उपेक्षा की जा सकती, ईश्वर विश्वास की उपयोगिता अपने स्थान हर सुदृढ़ है यदि उसका मूल स्वरूप बनाये रखा जाय तो निश्चित्त रूप से व्यक्ति और समाज को अधिकाधिक परिष्कृत सुसम्पन्न बनाने का महान लाभ मिलता रह सकता है। ईश्वरत्व मानवी जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। आत्मा को परमात्मा, अणु को विभु, लघु को महान, पुरुष को पुरुषोत्तम, नर को नारायण बनाने के लिए ही ब्रह्म विद्या का सृजन हुआ है, उसकी चिन्तन-प्रक्रिया एवं कर्म-व्यवस्था के दोनों पक्ष मनुष्य को अधिकाधिक उदात्त एवं परिष्कृत बनने की प्रेरणा देते हैं।

ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् ईश्वर जैसी सुविकसित मनःस्थिति। ईश्वर व्यापक है—हमारी अन्तरात्मा का स्तर भी यही होना चाहिए, सब में अपने को और अपने में सबको देखा जाय। यही आत्मविकास है। इस मान्यता का व्यवहार रूप इसी प्रकार बनता है कि अपनी आत्मीयता का, सर्वजनीन, प्राणिमात्र में विस्तार हो। दूसरों के दुःखों में अपने कष्ट जैसी संवेदना में अनुभव हो और उन्हें बटाने के लिए आतुरता उमगे तो समझना चाहिए कि आत्म-विस्तार हो चला। अपने सुख-साधनों को—श्रम, समय एवं चिन्तन को लोकोपयोगी प्रयोजनों में लगाने की आकांक्षा हिलोरें लेने लगे तो समझना चाहिए आत्म-विचार का, आत्म-विकास का, आत्म-साक्षात्कार का लक्ष्य समीप आ गया।

साकार ईश्वर दर्शन विराट् विश्व के, विराट् ब्रह्म के रूप में ही हो सकता है। कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को, राम ने कौशिल्या और काकभुसुन्डि को अपना विराट् रूप दिखाया था अर्थात् यह अनुभूति कराई थी कि यह समस्त संसार ही भगवान का दृश्यमान रूप है। भगवान का दर्शन होने पर उनके सामने आ उपस्थिति होने पर सेवा सद्व्यवहार की इच्छा उठेगी। लोक-मंगल के प्रयास एक प्रकार से ईश्वर पूजा ही है। शिवजी का प्राचीन प्रतीक गोलमटोल शिवलिंग के रूप में है। लिंग अर्थात् चिन्ह, स्वरूप, भगवान का कल्याणकारी रूप देखना हो तो इसे भू-मण्डल के, ग्लोव के रूप में देखा जाना चाहिए और उसे अधिक सुन्दर, समुन्नत बनाने के लिए घोर परिश्रम करते हुए—तात्विक ईश्वर भक्ति का परिचय देना चाहिए। सालिग्राम की विष्णु प्रतिमा भी शिवलिंग जैसी गोलमटोल पत्थर की बनी होती है। शिव कहें या विष्णु

नामों का ही अन्तर है। ईश्वरीय सत्ता तो एक ही है। देव मान्यता का आदि प्रतिपादन एक ही ईश्वर की अनेक विशेषताओं को अनेक अलंकारिक रूप में चित्रित करने की कला की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ था। पीछे लोगों ने उन्हें परस्पर आकृति-प्रकृति की भिन्न-भिन्न सत्ताओं के रूप में मानना शुरू कर दिया है और निरर्थक बुद्धि भ्रम में उलझा दिया। तत्वतः परमेश्वर एक है। उसी को शिव, विष्णु आदि कहते हैं। साकार उपासकों ने उसकी आदि प्रतिमा गोलमटोल शिवलिंग या शालिग्राम के रूप में इसीलिए की थी कि इसे विराट् ब्रह्म माना जाय और हर जड़-चेतन के साथ सद्व्यवहार की रीति-नीति अपनाते हुए अपने चिन्तन तथा कर्तृत्व को अधिकाधिक उदात्त बनाया जाय।

निराकार ब्रह्म को—हमारी अन्तःचेतना, दिव्य चेतना के रूप में अनुभव करती है। इसे तीनों शरीरों के साथ स्पर्श करते हुए देखा जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में से प्रत्येक के साथ दिव्य सम्वेदनाओं के रूप में ईश्वर की झाँकी कभी भी की जा सकती है, कोई भी कर सकता है। स्थूल शरीर काया से सत्कर्मों के रूप में, सूक्ष्म शरीर, चिन्तन से सद्विचारों के रूप में और कारण शरीर—अन्तः निष्ठा से—सद्भावनाओं के रूप में ईश्वर का दर्शन, स्पर्श किया जा सकता है।

ईश्वर दर्शन के नाम पर देवी-देवताओं या अवतारों की छाया, प्रतिमाओं को देख सकने की ताक में लोग रहते हैं और स्वप्न में अथवा अर्धतन्द्रित अवस्था में उस तरह की कोई झाँकी मिल जाती है तो फूले नहीं समाते। यह आत्म प्रवंचना सर्वथा निरर्थक है। ईश्वर का कोई रूप नहीं। सर्वव्यापी ईश्वर जैसी दिव्य सत्ताएँ आकृतिधारी नहीं हो सकतीं। जितनी भी आकृतियाँ ईश्वर की गढ़ी सोची गई हैं, वे मनुष्य की अलंकारिक कल्पनाएँ भर हैं। प्रतिमा पूजन का विज्ञान तो इसी प्रकार खड़ा किया जाय जैसे छोटे बालकों को वर्णमाला सिखाते समय क—कबूतर, ख—खरगोश, ग—गाय, घ—घड़ा आदि पढ़ाकर बालवोध कराया जाता है। ईश्वर की अनेकानेक विशेषताओं के प्रतीक प्रतिबिम्ब ही देवी-देवताओं के रूप में तत्वदर्शियों ने प्रस्तुत किये हैं। इनका उपयोग अपनी अन्तःचेतना को प्रशिक्षित करने के लिए किया जा सकता है। श्रद्धा-भक्ति बढ़ाने का अभ्यास इनके सहारे हो सकता है। ईश्वरीय सान्निध्य की आकांक्षा को देव-दर्शन के सहारे उभारा जा सकता है। मनोनिग्रह की दृष्टि से भी उसका उपयोग है। देवमन्दिर—धर्म-चेतना के उत्कर्ष एवं परिपोषण के केन्द्र रूप में होते थे—होने चाहिए थे। इन निर्धारणों की कितनी ही उपयोगिताएँ हैं, जिन्हें ध्यान में रखते हुए निराकार परमेश्वर को देव प्रतिमाओं और देव-मन्दिरों के रूप में जन-सामान्य की सुविधा एवं लोकमंगल की दृष्टि से विनिर्मित किया गया था। आज तो लोग लकीर के फकीर ही बन गये हैं और तथ्य को भुलाकर दर्शन में उलझ गये हैं। 'दर्शन' का वास्तविक अर्थ तत्व-दर्शन फिलॉसफी है, लोगों ने उसका उथला अर्थ 'देखना' भर कर लिया है। मूर्तियों को—महात्माओं को देखने भर से पुण्य का मिलना मान लिया जाता है, जबकि चर्मचक्षुओं द्वारा देखना मात्र जानकारी बढ़ाने भर का प्रयोजन पूरा कर सकता है। इसी जंजाल में उलझे हुए व्यक्ति तथाकथित इष्ट देवों के दर्शन के मिलने को आत्म साक्षात्कार की संज्ञा देते हैं। स्वप्न लोक की उड़ानों में कुछ सफलता मिली तो प्रसन्न होते हैं अन्यथा अपनी 'भक्ति' को असफल मानते हैं। इन पिछड़ी मान्यताओं को अवास्तविक और दयनीय ही ठहराया जा सकता है। ईश्वर-दर्शन आत्म-साक्षात्कार के रूप में ही हो सकता है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है—आत्मा को ईश्वरीय सत्ता के प्रतीक, प्रतिनिधि के रूप में विस्तृत और परिष्कृत देखना। उसे कषाय-कल्मष से छुड़ाने और अपनी मूल स्थिति तक पहुँचाने की दृष्टि से जो भावनात्मक एवं क्रियात्मक विधि-विधान हैं, उन्हें ही साधना कहते हैं। जो साधना सही हो तो तथ्य पूर्ण लक्ष्य के प्राप्त होने की सुनिश्चित सम्भावना है। जीवन की समूची विधि-व्यवस्था को उच्चस्तरीय बनाने वाली जीवन साधना हमें आत्म देव का साक्षात्कार कराती है और उनके अजस्र अनुग्रह से—चमत्कारी अनुदान से भरा पूरा बना देती है। सिद्धि इसी को कहते हैं।

कर्मफल प्रायः तुरन्त नहीं मिलता। आहार-विहार के शरीर स्पर्शी क्रियाकृत्य ही

तात्कालिक अनुभूतियाँ प्रस्तुत करते हैं। शेष सभी कर्म अपना प्रतिफल उत्पन्न करने में थोड़ा विलम्ब लगा लेते हैं। माली का बगीचा, किसान का खेत, विद्यार्थी का अध्ययन, परिपुष्टि-आकांक्षा का व्यायाम, उद्योगी का व्यापार आरम्भ से ही फल नहीं देने लगते हैं। उसमें समय लग जाता है। दूरदर्शी इसे सृष्टि का विधान समझकर धैर्य रखते और उपयुक्त समय आने की प्रतीक्षा करते हैं। पर बाल बुद्धि के लोग इस विलम्ब को सहन नहीं कर पाते और अधीर होकर अनुपयुक्त सोचने लगते हैं। विशेषतया कर्मफल तत्काल न मिलने की स्थिति में ऐसी ही हैरानी होती है। बहुधा सत्कर्मों का तत्काल प्रतिफल देखने में नहीं आता और प्रारब्धवश वे कष्ट भुगतने की स्थिति में ही पड़े रहते हैं। ऐसी दशा में यह भ्रम होता है कि प्रस्तुत कष्ट, सत्कर्मों का ही दुष्परिणाम है। इसी प्रकार कई दुष्कर्म करने वाले सुखी, सम्पन्न एवं सफल पाये जाते हैं, इस स्थिति में भी भ्रम होता है कि कलियुग में दुष्कर्मों का फल सुख के रूप में और सत्कर्मों का फल दुख के रूप में होता है इसलिए उपासना, साधना आदि सत्कर्मों से दूर रहकर अनीति की रीति अपनाये रहना ही ठीक है।

सुख-शान्ति की जननी—आस्तिकता

भौतिकवादी दर्शन में प्रत्यक्ष प्रतिपादन ही लक्ष्य है। जो प्रयोगशाला में, इन्द्रियों से, बुद्धि से, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो उतना ही सत्य है। प्रत्यक्ष लाभ जिस में है वही ग्राह्य है। उसमें स्वार्थ सिद्धि को प्रधानता दी गई है। सुविधा हो तो ही परमार्थ की बात सोचने की गुन्जायश है। पशु-पक्षियों के चर्म, माँस का बेधड़क उपयोग का प्रचलन भौतिकवादी तर्कों के आधार पर ही हुआ है। समर्थ देश, असमर्थों पर इसी तर्क के आधार पर आधिपत्य जमाते हैं कि जब बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं, बड़ा पेड़ छोटे की खुराक झपट लेता है तो हमें ही क्यों वैसा नहीं करना चाहिए। जंगल का कानून, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का है। सामन्तवादी नीतियाँ इसी सिद्धान्त पर बनी हैं। साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, अधिनायकवाद ने राजनैतिक दर्शन का सुव्यवस्थित रूप ले लिया है। उस मत के लोग अपने पक्ष में कई दलीलें भी देते हैं। डाकुओं का भी एक दर्शन है' यदि उन्हें छूट मिले तो वे अपने आक्रमण, छल और आतंक के पक्ष में उन्हीं दलीलों को अपने ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं, जिसके आधार पर कि राजा लोग अपने को सर्व-समर्थ और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र घोषित करते हैं। शोषितों को तो भाग्य का विधान समझकर जो सहना पड़े उसके लिये संतोष करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

भौतिकवादी, प्रत्यक्षवादी दर्शन के विस्तार का ही प्रतिफल है कि हर व्यक्ति **'ऋण कृत्वा सुरांपिवेत्'** को व्यवहार में उतारने के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहा है। प्रत्यक्ष लाभ की नीति ने इन्द्रिय-लोलुपता से लेकर अवांछनीय संग्रह और उद्धत अहंकार की पूर्ति के लिए अनेकानेक टाठ-बाट खड़े कर दिये हैं। प्रत्यक्षवाद ही है जिसमें नैतिकता एवं उदारता को मूर्खता कहा गया है और जिस तरह बने उस तरह स्वार्थ सिद्ध करते रहने को प्रोत्साहित किया है। बूढ़े-बैल को कसाई के हाथों में बेचने का प्रतिपादन अर्थशास्त्र करता है। भगिनी और पत्नी में भेद बुद्धि क्यों ? जबकि अन्य प्राणियों में इस प्रकार का कोई अन्तर नहीं किया जाता। प्रत्यक्षवादी, तर्क ऐसे हैं जिन्हें अपनाने पर मनुष्य समस्त नैतिक मर्यादाओं को उठाकर ताक पर रख देता है और जैसे भी बने वैसे—जिससे भी बने उससे, जैसा भी भला-बुरा स्वार्थ सिद्ध होता हो तो उसे करने के लिए तत्पर रहता है। नीति धर्म की दुहाई तो ऐसे ही झूँठ-मूँठ दूसरों को बहकाने के लिए दी जाती रहती है, वस्तुतः स्वार्थ ही इष्ट है। भौतिकवाद ने जब प्रत्यक्ष लाभ को ही सब कुछ माना है तो उसमें वर्ग स्वार्थ की गुन्जायश आदान-प्रदान के आधार पर हो सकती है, पर आदर्शों के लिए कष्ट सहने और उदात्त आचरण करने के लिए कहीं कोई प्रोत्साहन नहीं है।

दर्शन ही मानवी सत्ता का प्राण है। उसी के आधार पर व्यक्तित्व बनते और अपनी दिशा धारा निर्धारित करते हैं। आज सर्वत्र अनाचार का बोलवाला होने की शिकायत है। सभी जानते हैं कि व्यक्ति और समाज के सामने अगणित संकटों और समस्याओं की विभीषिका उत्पन्न करने में एक मात्र कारण चिन्तन की भ्रष्टता ही है। आचरण की दुष्टता उसी से पनपी है। फलतः बुद्धि, सम्पत्ति एवं साधन-सामिग्रियों की दृष्टि से पूर्वजों की तुलना में आज की स्थिति हर दृष्टि से अच्छी है, फिर भी विभीषिकाओं के पर्वत सामने खड़े हैं और सर्वनाशी विनाश की गर्त में गिरने के लिए समूची मनुष्य जाति द्रुत गति से अग्रसर होती चली जाती है। इस विपन्न स्थिति का कारण मनुष्य की मान्यताओं में अनैतिक तत्वों का बढ़ जाना है। कहना न होगा कि यह सब भौतिकवादी दर्शन की ही प्रतिक्रिया है। यह सब इसी रूप में बना रहा और बढ़ता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब हम क्रमशः नर-पशु ही नहीं रहेंगे वरन् नर-पिशाच बनकर एक-दूसरे को परोक्ष शोषण करने से सन्तुष्ट नहीं रहेंगे, वरन् प्रत्यक्ष रक्तपात करेंगे। पवित्रता और उदारता जैसे धर्म प्रतिपादन शोध एवं वाक् चातुरी के विषय बनकर रह जायेंगे। कैसा भयानक होगा वह दुर्दिन ?

समय रहते चेतने की आवश्यकता है। हमें दार्शनिक क्रान्ति करनी चाहिए। आस्तिकताओं के मर्मस्थल में उलट-पुलट करने की तैयारी करनी चाहिए। आस्थाओं का अनुगमन बुद्धि को करना पड़ता है। शरीर की हलचलें मन, बुद्धि के इशारे पर होती हैं। आचरणों के अनुरूप परिस्थितियाँ बनती हैं। विपन्न परिस्थितियाँ नरक हैं, सुसम्पन्न परिस्थितियों को स्वर्ग कहा जाता है। स्वर्ग और नरक के पौधे वस्तुतः आस्थाओं के भूमि पर उगते-उपजते हैं। यदि सुधार की आवश्यकता वस्तुतः समझी जा रही हो तो आस्थाओं को उत्पन्न करना चाहिए। जन मानस का परिष्कार यही है। विचार क्रान्ति का उथला अर्थ नहीं लेना चाहिए, मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने भर से बात नहीं बनेगी। परिष्कार तो अन्तःकरण का करना है। धार्मिकता और आस्तिकता का अवलम्बन हम इसी आधार पर अपना रहे हैं। बौद्धिक दृष्टि से हर मनुष्य नीतिमान बनने का दावा करता है और उपदेश भी उसी स्तर के देता है। किन्तु अपने आचरण में जो भ्रष्टता भरे रहता है, वह भौतिकवादी, प्रत्यक्षवादी आस्थाओं की ही प्रतिक्रया है। परिवर्तन एवं परिष्कार आस्थाओं का होना चाहिए। बुद्धि तभी सुधरेगी, आचरण में उत्कृष्टता तभी आवेगी, परिस्थितियाँ सुखद बनेंगी। आस्थायें यथास्थान रहें तो मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना बेकार है। दिमाग तो दुमुंहा साँप है, भीतर कुछ बाहर कुछ बनाये रहने की उसकी धूर्तता सर्वविदित है। नैतिक आदर्शों का जब हर मनुष्य स्वयं ही समर्थन करता है तो समझे को कौन समझाये ? जगे को कौन जगाये ? विचार-क्रान्ति का वास्तविक तात्पर्य भावक्षेत्र का उत्कर्ष है और भी स्पष्ट शब्दों में समझाना हो तो उसे श्रद्धा का समर्थन कह सकते हैं। दार्शनिक शब्दों में इसे आस्तिकता का पुनजार्गरण कह सकते हैं। चूँकि यह प्रयास विस्तृत और व्यापक रूप से करना है इसलिए उसे 'अभियान' कहना ही उचित है।

आस्तिकता का रूप इन दिनों विचित्र है। देवता को फुसलाकर सस्ते मोल में मनोकामनाएँ पूरी कर लेने की बिडम्बना ही पूजा-पत्री के रूप में आस्तिकता समझी जाती है। इस बाल-बुद्धि से हमें ऊँचे उठना होगा और देखना होगा कि तत्वदर्शी, महामनीषियों ने आस्तिकता का दर्शन किस आकृति, किस प्रकृति में बनाया था। ऋषियों की दृष्टि में ईश्वर व्यक्ति नहीं शक्ति है। शक्ति भौतिक नहीं, चेतनात्मक ऐसा उत्कृष्ट चिन्तन जो आदर्श कर्तृत्व का आधार बन सके, उपासना के योग्य परमेश्वर है। आस्तिक दर्शन का विस्तार, दृष्टिकोण में आध्यात्मिकता का, व्यवहार में धार्मिकता का प्रतिपादन करता है। आस्तिकता अर्थात् उत्कृष्ट आदर्शवादिता पर प्रगाढ़ आस्था। आध्यात्मिकता अर्थात् व्यक्तित्व के अन्तराल में उच्चस्तरीय दृष्टिकोण की प्रतिष्ठापना। धार्मिकता, अर्थात् कर्तृत्व परायणता—नीति-नियमों के परिपालन में पूर्ण दृढ़ता। यही है आस्तिकता का वास्तविक रूप और उसका परिवार, प्रभाव क्षेत्र। आस्तिकता को दूसरे शब्दों में देव-दर्शन कह सकते हैं। उसे भौतिकवादी दैत्य संस्कृति का विपरीत पक्ष कह सकते हैं।

दार्शनिक क्रान्ति ही अपने युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। प्रस्तुत ज्ञान यज्ञ का यही प्रयोजन है। धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण की प्रक्रिया इसी निमित्त अपनाई गई है। इसके लिए आरम्भिक बिन्दु आस्तिकता है। दर्शन को व्यवहार से बदलने के लिए, चिन्तन को स्वभाव से विकसित करने के लिए कर्मकाण्डों का सहारा लेना पड़ता है। उपासना की क्रिया-प्रक्रिया इसी उद्देश्य को पूरा करती है। उपासना पद्धति का जनसाधारण को अभ्यास कराने का तात्पर्य अन्तराल में आस्तिकता की आस्था को प्रतिष्ठापित एवं परिपक्व करना है। कर्म के साथ विचार भी रहता है। दर्शन को स्वभाव अभ्यास में उतारना हो तो उपासनापरक कर्मकाण्डों को अपनाये बिना गाड़ी एक कदम आगे न बढ़ेगी। शुष्क दर्शन को विचारते भर रहने से उसे जीवन व्यवहार में स्थान मिल ही नहीं सकेगा।

आस्तिकता दर्शन है और उपासना व्यवहार। एक प्राण है—दूसरा शरीर। एक ज्ञान है—दूसरा कर्म। दोनों का समन्वय होने से ही भावनात्मक उत्कृष्टता का प्रगतिरथ अग्रगामी होता है। विचार जब क्रिया रूप से दृश्य रूप में परिणत होते हैं तो अन्तःचेतना में तथ्यों की गहरी अवधारणा होती है। उस समन्वय से ही संस्कार बनते हैं। सद्भाव सम्वर्धन के लिए सत्कर्म करने की अनिवार्य आवश्यकता है। परमार्थवृत्ति का विकास पुण्य करने, सेवा धर्म अपनाये बिना हो ही नहीं सकता। कोई व्यक्ति मात्र चिन्तन करता रहे विचारणा को क्रिया रूप में न उतारे तो कल्पना की उड़ान भर उड़ी जा सकेगी। उससे स्वभाव, संस्कार का निर्माण हो नहीं सकेगा। व्यक्ति को ढालने के लिए उसे कर्म की भट्टी में तपाना और गलाना पड़ता है। आस्तिकता का दर्शन हृदयंगम कराने के लिए उपासना के क्रियाकृत्यों की आवश्यकता इसीलिए समझी गयी है और उसे अनिवार्यता दी गई है।

यह सच है कि भावना और विचारणा-रहित धर्मानुष्ठानों की लकीर पीटने और चिन्ह पूजा करने की विडम्बना ही कहा जाता है। प्राण रहित शरीर का क्या मूल्य रह जायगा। किन्तु यह ठीक है कि भावना और विचारणा को चिरस्थाई बनाने के लिए उन क्रियाकृत्यों की आवश्यकता रहेगी, जिन्हें उपासनात्मक कर्मकाण्ड या धर्मानुष्ठान कहते हैं। उपासना का प्रचार-विस्तार प्रकारान्तर से आस्तिकतावादी दर्शन की ही जनमानस में प्रतिष्ठापित कराने का तथ्यपूर्ण उपाय है। आस्तिकता व्यक्ति और समाज को सुख-शान्ति एवं प्रगति की आधारशिला है। उपासना को भी वही श्रेय और महत्व दिया गया है। आस्तिकता और उपासना एक ही तथ्य के दो पहलू हैं।

युग निर्माण अभियान के कार्यक्रमों में कितने ही उपासनात्मक कर्मकाण्डों को प्रमुखता दी गई है। इसका मूल प्रयोजन आस्तिकवादी दर्शन के लिए अन्तःकरणों में उर्वरता उत्पन्न करने और फसल खड़ी करने का उपक्रम बनाना है। जन-जन के मन-मन में आस्तिकतावादी दर्शन को प्रतिष्ठापित और समुन्नत बनाने के लिए उपासना का कर्मकाण्ड लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता है। उसका प्रचलन व्यापक रूप से होना चाहिए। अपने समय की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है। देखने में यह छोटा काम लगता है और उसके माध्यम से कोई बड़ा सत्परिणाम उत्पन्न होने में सन्देह उठता है—अविश्वास होता है। किन्तु वास्तविकता वैसी नहीं है। कई बार छोटे दीखने वाले कृत्य, दृश्य रूप में अकिंचिन और उपहासास्पद होते हैं, किन्तु उनके परिणाम दूरगामी होते देखे गये हैं।

"चर्खा कातो मिले स्वराज्य। यों कहते गाँधी महाराज।" की उक्ति उन दिनों धूमधाम से प्रचलित थी। पर इस दर्शन को कोई विरले ही समझते थे कि चर्खा कातने की दिशा देकर युग देवता में स्वदेशी की, देश भक्ति की भावना को पुनर्जागृत किया जा रहा है। 'नमक सत्याग्रह' छेड़ा गया था। तब भी असंख्यों को यह संदेह था कि नमक बनाने से अंग्रेज क्यों राज्य छोड़कर भाग जायेंगे। इस तथ्य को बहुत कम ने जाना था कि इसमें विदेशी शासन के प्रति अवज्ञा और विद्रोह भड़काने वाले तत्व छिपे पड़े हैं जो अवसर मिलते ही दावानल की तरह उभरेंगे और भड़केंगे। चर्खा कातना और नमक बनाना दृश्य रूप से तुच्छ था पर उसकी परिणति कैसे हुई यह हर किसी ने आँखों से देख लिया। बीज को वृक्ष बनने में, चिन्गारी को

दावानल बनने में, जो विश्वास करते हों उन्हें यह विश्वास भी करना चाहिए कि महान् अभियान के आरम्भ एवं विस्तार के प्रतीक बिन्दु छोटे हों तो उसमें असमंजस करने की आवश्यकता नहीं है। सही आधार का सही परिणाम सही रीति से होता चले तो उसके सत्परिणाम ऐसे हो सकते हैं, जिन्हें अद्‌भुत, आश्चर्यजनक कहा जा सके। आँख से न दीखने वाले—अत्यन्त तुच्छ शुक्राणु—विधिवत् अभिसिंचत होने पर एक प्रौढ़ और परिष्कृत व्यक्तित्व का रूप धारण करता है, यह आश्चर्यजनक लगते हुए भी एक तथ्य है। उपासना प्रक्रिया के विस्तार के साथ यदि उसकी पृष्ठभूमि सही बनी रहे, आधार को ठीक तरह प्रशिक्षण किया जाता रहे तो उसका परिणाम दूरगामी होना निश्चित है। आस्थाओं के परिष्कार का लक्ष्य उपासना अभियान के सहारे प्रौढ़ और परिपक्व होने की बात पर दूरदर्शिता सन्देह नहीं कर सकती।

पुनर्गठन वर्ष के वसन्त पर्व से आस्तिकता विस्तार के लिये उपासना अभियान को नया उभार दिया गया है। कहा गया है कि 'घर-घर में गायत्री माता के चित्रों की प्रतिष्ठापना होनी चाहिए ? घरेलू देवालयों का प्रचलन सर्वत्र किया जाना चाहिए। इस विस्तार-प्रयास के पीछे कई महत्वपूर्ण आधारों की लम्बी श्रृंखला विद्यमान है। उन सब पर हमें सूक्ष्म चिन्तन करना चाहिए।

विज्ञान ने संसार को बहुत छोटा बना दिया है। समूची मनुष्य प्रगति की एकता को एक केन्द्र पर केन्द्रित होना होगा। भाषा, समाज, राष्ट्र और संस्कृति का ऐसा स्वरूप बनेगा जो समूची मानव जाति को एक सूत्र में पिरोये रह सके। विलगाववादी आज की कट्टरता कल समाप्त होने जा रही है। आस्तिकता नवयुग का प्रधान आधार होगी। उसके लिए लाखों वर्षों के अनुभूत और हर कसौटी पर कसे गये आधारों को अपनाने में प्रबुद्ध पीढ़ियों को कोई आपत्ति नहीं होगी। निश्चित रूप से गायत्री मन्त्र में सन्निहित आधार उन दिनों बेहिचक अपनाये जा सकेंगे। आज भी उसे भारतीय समाज में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करने का एक महत्वपूर्ण अवलम्बन माना जा रहा है। उसमें उपासना पद्धति की विविधितायें एक केन्द्र पर केन्द्रित होती हैं। यह मतान्तरवाद को निरस्त करके भावनात्मक एकता का उपयुक्त आधार है। निकट भविष्य में गायत्री मन्त्र सार्वभौम एवं सर्वजनीन आवश्यकता को पूरा कर सकने में हर कसौटी पर खरा सिद्ध होगा। इससे छोटा धर्मशास्त्र, तत्वदर्शन एवं उपासना-विधान और कोई हो नहीं सकता। हिन्दू होने के कारण पूर्वाग्रह एवं पक्षपात से उत्पन्न कल्पना की संज्ञा इस प्रतिपादन को दी जा सकती है, पर कल यही तथ्य सामने आना है कि गायत्री मंत्र भारतीय समाज की भावनात्मक एकता की ही नहीं, वरन् आस्तिकतावादी दर्शन को परिपक्व करने वाली आधारशिला की भूमिका भी गायत्री महामन्त्र ने निवाही है। इसमें वह लोच और लचक मौजूद है, जिसके आधार पर विभिन्न मान्यताओं और परिस्थितियों के लोग उसे अपने-अपने ढंग से अपना सकें। कट्टरता उसमें नैतिक पक्ष भर की है। उपासना में साकार, निराकार के अनेक पक्ष अपनी मनःस्थिति के अनुरूप अपना सकने की गुंजायश उसमें पूरी तरह मौजूद है। विश्व एकता की, वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता का परिपोषण करने में सार्वभौम उपासना के लिए कोई आधार ढूँढ़ना ही होगा। उसके लिए बहुप्रचलित अत्यधिक लोकप्रिय और सारगर्भित आधार गायत्री मन्त्र से बढ़कर और कुछ मिल नहीं सकेगा। जो कल होने जा रहा है, उसका शुभारम्भ हम आज से ही क्यों न करें। चयन की स्थिति आने तक उसे जन मान्यता पहले से ही मिल सके ऐसा आधार अभी से क्यों न खड़ा करें ? गायत्री मन्त्र को न केवल देशव्यापी मान्यता मिलनी चाहिए वरन् उसे विश्वमानव का आराध्य बन सकने का अवसर मिलना चाहिए। प्रस्तुत उपासना विस्तार अभियान का एक आधार यह भी है। गायत्री चित्रों की प्रतिष्ठापना इस दृष्टि से भी की जा रही है।

गायत्री उपासना का वैज्ञानिक महत्व और रहस्य है। उसके माध्यम से चेतना के प्रसुप्त संस्थानों को जगाया जा सकता है। अतीन्द्रिय क्षमतायें विकसित की जा सकती हैं। व्यक्तित्व को प्रखर बनाने वाले मर्म-संस्थानों को उभारा जा सकता है। भौतिक संकटों के निवारण और सुख-सौभाग्य के संवर्धन में चमत्कारी दिव्य

अनुदान मिल सकता है। आत्मा से परमात्मा के अवतरण को रोकने वाले व्यवधान हट सकते हैं। इस अवलम्बन के सहारे मनुष्य तुच्छ से महान बन सकता है और महात्मा, देवात्मा, परमात्म स्तर की क्रमिक प्रगति करते हुए पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यहाँ विचार उस स्तर का नहीं हो रहा है। इन पंक्तियों में विचार-विमर्श का आधार यह है कि आस्तिकता के संवर्धन में गायत्री उपासना का, उसकी चित्र प्रतिष्ठापना प्रयास का क्या महत्व हो सकता है ?

कलेण्डरों की तरह तस्वीर घर में टाँग देना या खिलौने की तरह चित्र को किसी चौकी पर सजा देने की बात नहीं कही जा रही है, वरन् अभीष्ट यह है कि जिस घर में यह स्थापना हो, उस परिवार का हर सदस्य ईश्वर के अस्तित्व को, उसके प्रभाव एवं प्रतिफल को समझने योग्य मनःस्थिति बनाये। कहा गया है कि भोजन करने से पहले तो अनिवार्य रूप से संभव हो तो सोने से पहले भी उस चित्र को नमन करने की पद्धति अपनाई जाय। यह न्यूनतम उपासना पद्धति है। इसमें दो-पाँच मिनट लगते हैं। स्नान आदि का कोई बन्धन नहीं है। इसमें न फुरसत मिलने की कठिनाई और न मन को उचटने का बहाना। इसे चिन्ह पूजा के ढंग से करने में भी किसी को कोई दुराग्रह नहीं होना चाहिए। जिस घर के अधिकांश सदस्य इस स्वल्प-प्रक्रिया को अपनाने लगेंगे, वहाँ गाड़ी आगे भी पटरी पर लुढ़कने लगेगी। आस्तिकता के सिद्धान्तों को समझने और समझाने का भी सिल-सिला चल पड़ेगा। इस सन्दर्भ में यह समझना और समझाना भी बन पड़ेगा कि आस्तिकता के इस अभिवंदन के समय क्या भावनायें उगानी चाहिए और उन भावनाओं को समय-समय पर चिन्तन तथा आचरण में उतारने के लिये किस प्रकार सोचना और किस प्रकार आचरण करना चाहिए ?

उपासना में सामूहिकता जोड़ देने से उसका प्रभाव और भी अधिक बढ़ जाता है। सद्प्रयत्नों से उत्साह बढ़ता है, मन लगता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना को ढालने का पथ-प्रशस्त होता है। सामूहिक आरती, सामूहिक प्रार्थना के अनेक लाभों में एक लाभ यह है कि घर में वातावरण बनता है और उस प्रवाह में चेतना के तन्तु अनायास सही दिशा में प्रवाहित होने लगते हैं। छोटे बालकों पर विशेषतया और वयस्कों पर सामान्यतया सामूहिक प्रार्थना, आरती का सौम्य प्रभाव पड़ना सुनिश्चित है। यह प्रभाव तत्काल भले ही कुछ विशेष प्रभाव उत्पन्न करे, न करे पर अचेतन मन पर ऐसी छाप छोड़ता है जिसमें आस्तिकता के साथ जुड़े हुए आदर्शों की जड़ जमाने और फलने-फूलने का अवसर मिले। आश्रमों, मन्दिरों, धर्म-संस्थानों में नहीं, घर-गृहस्थी में भी सामूहिक आरती, प्रार्थना का समान महत्व है। आग हर जगह गर्मी उत्पन्न करती है। बुरे प्रसंग अपना बुरा प्रभाव प्रस्तुत करते हैं तो कोई कारण नहीं कि सदुद्देश्य के लिये किये जाने वाले सत्प्रयोजन अपना अच्छा प्रभाव उत्पन्न न करें। अच्छी छाप न छोड़ें। इस कार्य में जो थोड़ा-सा समय लगता है, उसका प्रभाव परिवार में धार्मिक रुझान एवं नैतिक अनुशासन उत्पन्न करने के रूप में सामने आता है।

गायत्री भारतीय संस्कृति की जननी और यज्ञ भारतीय धर्म का पिता है। इन दोनों की मान्यता, प्रतिष्ठापना घर-घर में रहनी चाहिए। यह पौधे जिन घरों में सीचें जाते रहेंगे, उनमें भावनात्मक उत्कृष्टता एवं चारित्रिक श्रेष्ठता की सम्भावना उनकी अपेक्षा कहीं अधिक रहेगी, जहाँ ऐसा कुछ होता ही नहीं।

परिवार के सदस्यों से कहा गया है कि उनके घरों में इस वसन्त पर्व से गायत्री माता एवं यज्ञ पिता की अभ्यर्थना का क्रम नियमित रूप से चल पड़ना चाहिए और वह ऐसा होना चाहिए कि एकाध व्यक्ति नहीं वरन् पूरा परिवार उस प्रक्रिया के साथ सम्बद्ध रह सके। इसके लिए विधि-व्यवस्था ऐसी बनाई गई है, जिसमें समय या धन सम्बन्धी कठिनाई किसी को भी अनुभव न करनी पड़े। सुविधा और सरलता का इस न्यूनतम प्रचलन में पूरा ध्यान और पूरा स्थान रखा गया है। अशिक्षित, अनजानों के लिए भी इसमें तनिक भी कठिनाई नहीं है।

न्यूनतम गायत्री उपासना के लिये कहा गया है कि एक चौकी पर पूजा कक्ष स्थापित

किया जाय उस पर गायत्री की प्रतिष्ठापना रहे। चौकी को छोटे बच्चे गड़बड़ करते हों तो दीवार पर भी वह चित्र लगाया जा सकता है। उसके नीचे एक लकड़ी आदि की ऐसी पट्टी लगी रहे जिस पर पुष्प, अगरबत्ती जैसी वस्तुयें रख सकें।

घर का हर सदस्य भोजन से पूर्व इस चित्र के सम्मुख दो-पाँच मिनट हाथ जोड़कर सिर नवाकर खड़ा हो। मन ही मन गायत्री मन्त्र जपे और भगवान की समीपता का ध्यान करे। ध्यान गायत्री माता अथवा सविता पिता का अथवा दोनों का किया जा सकता है। सविता यज्ञ है गायत्री सद्‌बुद्धि की अधिष्ठात्री है और यज्ञ सत्कर्म का प्रेरक। इस उपासना से नमन, जप, ध्यान तीनों की आवश्यकता पूरी होती है। घर में उगाये गये हों तो एक-एक पुष्प भी अर्पित किया जा सकता है। देव प्रतीक कलश पर चंदन-रोली लगा देने से भी पूजन हो जाता है। इसमें स्नान की अनिवार्यता नहीं है! नंगे सिर नंगे पैर रहकर झुका मस्तक, जुड़े हाथ, पूजा मुद्रा का काम दे जाते हैं। दबाव तो किसी पर नहीं देना चाहिए। पर स्नेह दुलार से परिवार के सदस्यों को इसके लिए सहमत करना चाहिए कि वे इस पुण्य प्रयोजन के लिए दो-पाँच मिनट का समय नित्य नियमित रूप से निकाल लिया करें। जो सहमत न हों, उपेक्षा या नागा करते हों, उन पर भी खीजने की आवश्यकता नहीं है। सहमत करने के लिए दुलारपूर्वक समझाने की प्रक्रिया ही जारी रखनी चाहिए। जितनी सफलता मिले उस पर सन्तोष करते हुए आगे का प्रयत्न जारी रखना चाहिए। जो सदस्य रात को सोते समय भी इसी प्रकार का जप ध्यान करने में दो पाँच मिनट फिर लगा सकें उन्हें उसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। एक बार की संध्या से दो बार की संध्या का और भी अधिक दुहरा प्रतिफल है।

प्रातःकाल, सायंकाल या दोनों में जो एक समय सबकी सुविधा का हो उससे सामूहिक आरती का, सह प्रार्थना का क्रम रखना चाहिए। 'जयति जय गायत्री माता' की आरती सर्वविदित है। समय हो तो कोई अन्य एकाध प्रार्थना भी साथ रखी जा सकती है। उनमें हेर-फेर होता रह सकता है। प्रयत्न करना चाहिए कि इस दैनिक धर्मानुष्ठान को सामूहिक सहकार मिले। उसमें घर के अधिक सदस्य उपस्थित रहें।

आरती के उपरान्त प्रसाद वितरण की परम्परा है। युग निर्माण परिवार ने इस सन्दर्भ में सस्तेपन के चरम बिन्दु को छूने वाले प्रचलन किये हैं। प्रसाद में पंचामृत का निर्धारण हुआ है। पंचामृत (१) गंगाजल (२) सामान्य जल (३) चंदन (४) तुलसी पत्र (५) शकर। 'थियोसोफी' में यही प्रसाद प्रचलित है। ईसाई धर्म में भी मन्त्र जल ही प्रसाद दिया जाता है। अपना प्रचलन भी यही है। इसको साधन-सम्पन्न और साधनरहित व्यक्ति समान रूप से प्रयुक्त कर सकते हैं। आरती के उपरान्त यही प्रसाद बँटा करे।

यज्ञ पिता का न्यूनतम उपक्रम यह है कि—चौके में भोजन तैयार होने पर किसी के खाने से पूर्व हविष्यान्न से दैनिक यज्ञ कर लिया जाय। भोजन पकाने वाली महिला इसे बड़ी सरलता से सम्पन्न कर सकती है। चूल्हे में से धुएँ रहित अग्नि चिमटे से बाहर निकाली जाय। जल छीटे हुए स्थान पर उसे रखा जाय। जरा सा घी डालकर उसकी ज्योति जलायी जाय। रोटी के छोटे-छोटे पाँच ग्रास मूंग के दाने के बराबर लिये जायँ। इन्हें घी और शकर मिश्रित किया जाय। मन ही मन एक गायत्री मन्त्र जपा जाय और एक ग्रास होम दिया जाय। इस प्रकार पाँच ग्रास पाँच बार मन्त्र जपकर होम दिये जायें। जिस तरह अग्नि प्रज्ज्वलित करते समय घी की कुछ बूँदें अग्नि पर आव्हान के रूप में चढ़ाई गई थीं। उसी प्रकार पाँच ग्रास होमने के उपरान्त भी दो बूँद घृत की पूर्णाहुति और वसोधारा की चढ़ा दी जायें। इसके उपरान्त दाहिने हाथ की हथेली पर जल रखकर उसे अग्नि के चारों ओर परिक्रमा के रूप में धरती पर छोड़ दिया जाय। दैनिक यज्ञ समाप्त हुआ। इस यज्ञाग्नि को जहाँ-तहाँ नहीं पड़े रहना चाहिए वरन् एक पात्र में जमा करते जाना चाहिए और सुविधानुसार उसे किसी पवित्र जलाशय में विसर्जित कर देना चाहिए। शुद्ध भूमि में इसे गाड़ा भी जा सकता है। इस यज्ञ भस्म को आवश्यकतानुसार औषधि की तरह किसी पीड़ित अंग पर लगाने के काम में लाया जा सकता है। मानसिक उद्विग्नता की स्थिति में इसे सिर

पर लगाया जा सकता है। इसे रत्ती भर किसी को खिलाया भी जा सकता है।

यज्ञावशिष्ट-यज्ञ से बचे हुए भोजन को करने का गीता में बहुत पुण्य फल बताया गया है। भोजन बनाने की घन्टों की प्रक्रिया में दो-पाँच मिनट में सम्पन्न हो जाने वाली, बिना किसी खर्च की, इस प्रक्रिया को भावनाशील महिलायें अपने घर-परिवार में अपने उत्साह भर से पूरा करती रह सकती हैं। यज्ञ भगवान को भोग लगाने उपरान्त बचा हुआ सभी भोजन प्रसाद रूप बन जाता है। इसका उपयोग करने वालों में सहज ही सद्भावना बढ़ने की आशा-अपेक्षा की जा सकती है। सांस्कृतिक परम्परा का तो निर्वाह तो इसमें है ही। महिलाओं को घरेलू कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उपासना का उपयुक्त समय नहीं मिल पाता। वे भोजन पकाते समय मानसिक गायत्री जप करती रहें तो उसका प्रभाव उस आहार में सम्मिलित होकर, जप करने वाली महिला का, उसके परिवार का कल्याण ही करेगा। गोदी के बच्चे को पयपान कराते समय भी इसी प्रकार का मानसिक जप करते रहना बालक की सद्बुद्धि बढ़ाने और प्रतिभा निखारने में बहुत सहायक होता है। जो महिलायें पूरा गायत्री मन्त्र न जप सकें वे पंचाक्षरी लघु गायत्री "ॐ भूर्भुवः स्वः" इतना याद करके काम चला सकती हैं। इतना भी न बन पड़े तो 'ॐ" का जप तो सर्वसुलभ है। उसमें शिक्षा या स्मरण शक्ति की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

विधान छोटा-विस्तार अधिक-की नीति अपनाकर चलने से छोटे-छोटे कदम लम्बी मंजिल पार कर लेते हैं। बड़े और कठिन विधानों को थोड़े लोग ही अपना सकते हैं। जन-मानस के परिष्कार की व्यापक योजना सामने हो तो प्रवचन की दृष्टि से सरलता को ही प्रश्रय देना चाहिए। सर्व साधारण के लिए किसी पुण्य परम्परा को अपनाना इसी आधार पर सम्भव हो सकता है कि वे हर किसी के लिए सुविधायुक्त हो। गायत्री उपासना और यज्ञ-प्रक्रिया का प्रकाश एवं प्रभाव जन-जन तक पहुँचाने का लक्ष्य पूरा करने के लिए जहाँ उसे सरल बनाया गया है। वहाँ उसे अपनाने और दृढ़तापूर्वक हर स्थिति में जारी रखने के लिए भी कहा गया है। उत्साह क्षणिक नहीं होना चाहिए। उसे पानी के बबूले की तरह उपहासास्पद नहीं होना चाहिए वरन् चट्टान की तरह अडिग होना चाहिए।

सीता-राम वनवास जाते हैं—दशरथ जी मरणासन स्थिति में पड़े हैं—कौशल्या विलाप करती हैं, घर का वातावरण पूरी तरह विक्षुब्ध है। ऐसी स्थिति में दैनिक धर्मकृत्यों में उपेक्षा न होने देने के सम्बन्ध में राम जागरूक हैं और वाल्मीकि रामायण के अनुसार वे माता कौशल्या को चलते समय बार-बार स्मरण दिलाते हैं कि नित्य यज्ञ की पुण्य-परम्परा में इन परिस्थितियों में भी व्यतिरेक नहीं होना चाहिए। उसे हर हालात में नियमित रूप से जारी रखा जाना चाहिए। हम सब की निष्ठायें भी ऐसी ही प्रौढ़, परिपक्व होनी चाहिए कि उपासना प्रक्रिया भले ही न्यूनतम, हल्की, सरल क्यों न हो किन्तु उसका परिपालन पूरी निष्ठा और श्रद्धा के साथ होना चाहिए। कष्ट के कारण बन्द कर देने का बहाना नहीं होना चाहिए। जल पीने और साँस लेने की तरह ही उसे अनिवार्य मानकर चलने से बात बनेगी।

गायत्री माता और यज्ञ पिता की भक्ति का यह शुभारम्भ है। श्रवणकुमार ने अपने कन्धों पर काँवर में बिठाकर माता-पिता को तीर्थ यात्रा कराई थी, उनका भार वहन किया था। उनकी प्रसन्नता एवं गौरव-गरिमा के सम्वर्धन के लिए कष्ट उठाया और मातृ-पितृ भक्ति का परिचय दिया था। हममें प्रत्येक को श्रवणकुमार जैसी भाव-भरी भूमिका निभानी चाहिए। दैनिक जीवन में इन दोनों आदर्शों के प्रतीकों को अपनाये रहने के लिए श्रद्धा का समुचित समावेश होना चाहिए। बीज रूप से इन्हें स्वीकार कर लेने के उपरान्त, अनिवार्य नित्य कर्मों में उन्हें किसी प्रकार सम्मिलित कर लेने के उपरान्त वह आधार खड़ा हो जाता है, जिसके सहारे इन महान् तथ्यों के सम्बन्ध में गम्भीर विचार कर सकना सम्भव हो सके। गायत्री माता और यज्ञ पिता का व्यापक प्रसार विस्तार होने और उनके प्रभाव से मानवी प्रगति का आधार खड़ा होने का अवसर इन दो छोटे उपासना विधानों के माध्यम से सम्भव हो सकता है, जो देखने में उपाहासास्पद किन्तु प्रभाव में अत्यधिक प्राणप्रद है।

व्यक्ति और समाज के मध्यवर्ती कहीं परिवार है। युग परिवर्तन के लिए व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाया जाता है और समाज को परिष्कृत किया जाता है। दोनों क्षेत्रों को जो समान रूप में प्रभावित करता है, वह परिवार है। इस धुरी के साथ व्यक्ति और समाज, गाड़ी के दो पहियों की तरह जुड़े हुए हैं। व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए योग, तप, नीति, धर्म का सहारा लिया जाता है और समाज निर्माण के लिए विभिन्न आयोजन आन्दोलन होते रहते हैं। उपेक्षित परिवार ही रह जाता है। व्यक्तिगत सुख-सुविधा की बात याद रहती है और स्वर्ग मुक्ति की बात भी सोची जाती रहती है। सामाजिक उन्नति के लिए आर्थिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य, रक्षा, प्रशासनिक प्रवृत्तियों को समुन्नत बनाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास चलते हैं, उपेक्षित परिवार ही रहता है। यों कुटुम्बियों को सुविधाएँ भी जुटाई जाती रहती हैं पर यह भुला दिया जाता है कि मनुष्य की वास्तविक आवश्यकता उसकी अन्तर्भूमिका में शालीनता का सम्वर्धन ही है। इसके बिना कोई व्यक्ति न तो वास्तविक उन्नति कर सकता है और न सच्चे अर्थों में सुखी, समृद्ध रह सकता है। हमारा ध्यान परिवार संस्था को सुसंस्कृत बनाने के लिए भी जाना चाहिए।

गायत्री और यज्ञ का तत्वज्ञान परिवार संस्था की नर्सरी बोया, उगाया और बढ़ाया जाय। यहीं से वह पौध दूर-दूर तक भेजी जाय और विश्व उद्यान को सुरम्य बनाने में अपनी भूमिका सम्पादित करे। इन दिनों हमारी दृष्टि इस तथ्य पर केन्द्रित होनी चाहिए। घरों में गायत्री को चित्र स्थापना, उसका नमन अभिवन्दन इस प्रयोजन को पूरा तो नहीं करता, हाँ, उसका शुभारम्भ निश्चित रूप से कर देता है। गायत्री सद्बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी है, उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा, विवेक दृष्टि कहा गया है। गायत्री उपासना की प्रतीक पूजा का लक्ष्य यह है कि उपासक विवेकयुक्त, नीतियुक्त दूरदर्शिता को अपनाने के लिए अग्रसर हो। यज्ञ को धर्म का पिता कहा गया है। धर्म अर्थात् सत्कर्म। अग्निहोत्र की सारी प्रेरणायें जीवन को यज्ञमय बनाने को, समाज में यज्ञीय परम्पराएँ प्रचलित करने को हैं। यज्ञ का फलितार्थ व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता और लोक व्यवहार में उदारता की नीति अपनाने के लिए प्रेरणा देता है। संक्षेप में गायत्री को उत्कृष्ट चित्त और यज्ञ को आदर्श कर्तृत्व कह सकते हैं। यही दोनों आत्मा के सच्चे अभिभावक हैं। इन्हीं के संरक्षण, सहयोग एवं अनुग्रह से मनुष्य को देवता बनने की प्रेरणा एवं सुविधा मिलती है।

परिवार में इन पुण्य-परम्पराओं की प्राण प्रतिष्ठा उन छोटे प्रतीकों को नियमित नित्यकर्म का अंग बनाने से हो सकती है, जिनके लिए इस वसन्त पर्व से आग्रह किया जा रहा है। परिवार का हर सदस्य अपने अन्तःकरण में श्रद्धातत्व का बीजारोपण करने और उसे नित्य सींचने के लिये नमन, वन्दन का क्रम चलाये। घर में तुलसी का विरवा स्थापित करने, उसमें जल चढ़ाने, सूर्य का ध्यान और एक परिक्रमा करने की परम्परा अभी भी अनेक धार्मिक परिवारों में प्रचलित है। नित्य नमन उसी का थोड़ा सुधरा हुआ रूप है। तुलसी के विरवे की तरह ही चित्र के नमन-वन्दन से प्रेरणा मिल सकती है। उससे अधिक भी क्योंकि पौधे की तुलना में देवत्य मिश्रित मानवी आकृति की प्रतिमा में प्रेरणा का तत्व निश्चित रूप से अधिक ही रहता है।

यज्ञावशिष्ट भोजन करना, भगवान को प्रथम समर्पण तदुपरान्त अपने लिए उपयोग का तत्व दर्शन मानवी उदारता में अभिवर्धन का दिशा निर्देश है। उपयोग करने से पूर्व उपार्जन में से एक अंश पिछड़ेपन को घटाने और सत्यप्रयत्नों को बढ़ाने के लिए लगाने की बात न भूलें, यही है यज्ञ शिक्षा की प्राणवान प्रेरणा। इसे अपनाया जा सके तो मानवी प्रवृत्तियाँ देवत्व की दिशा में बढ़ेंगी और सामाजिक प्रगति का पथ प्रशस्त होगा। यज्ञीय दर्शन यही है। भगवान को भोग लगाना, प्रथम अग्निदेव के मुख में ग्रास देना, अपनी अनभ्यस्त सत्प्रवृत्तियों को जागृत करने की एक छोटी किन्तु महत्वपूर्ण क्रिया-प्रक्रिया है। पथ का कर्मकाण्ड कुछ भी उसका तत्व दर्शन एक ही है—दैवी परम्पराओं के परिपोषण में हमारा योगदान, अंशदान अनिवार्य रूप से लगना चाहिए। यह तथ्य और सत्य यदि जन मानस की गहराई में प्रवेश कर सके तो उन स्वप्नों के साकार होने में देर न लगेगी, जिनमें मनुष्य में देवत्व और समाज में स्वर्गीय वातावरण की विकास, विस्तार की परिकल्पना की गई है।

गायत्री यज्ञ की प्रतीक पूजा शुभारम्भ है। इसे ध्वजारोपण, शिलान्यास एवं बीजवपन की संज्ञा दी जा सकती है। यह अन्तिम नहीं, आरम्भिक है। उतने भर से लक्ष्य पूरा नहीं होता वरन् दिशा निर्धारण एवं मार्गदर्शन होता है। चूक वहाँ होती है, जहाँ प्रतीक पूजा की क्रिया को ही सब कुछ मान लिया जाता है और उतने से ही लम्बी-चौड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त होने की बात सोची जाने लगती है। हरी झण्डी से गाड़ी चलने की बात व्यवस्था की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक है किन्तु वह गतिशील तो इन्जन की ताकत से होती है। हरी झण्डी दिखाने को सार्थकता तब बनती है, जब इन्जन भी दौड़ने की क्षमता से सम्पन्न हो। उपासनात्मक कर्मकाण्डों के साथ उच्चस्तरीय भावनाओं और प्रवृत्तियों को भी जुटाने की आवश्यकता पड़ती है, तभी वे सार्थक होते हैं। गायत्री और यज्ञ की प्रतीक पूजा आरम्भ करने के उपरान्त आवश्यक है कि इन प्रेरणाओं को उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व के रूप में हर सदस्य को समझाने और स्वभाव का अंश बनाने के लिए अनवरत् प्रयत्न किया जाता रहे। प्रस्तुत उपासना के पीछे दिये हुए तत्व दर्शन को—गायत्री और यज्ञ की प्रेरणाओं को समझाने का अवसर युग निर्माण साहित्य के माध्यम से मिलता ही है। उसे अपने ढंग से घर के सदस्यों को उसी तरह समझाना चाहिए जैसा कि मिशन की पत्रिकाएँ आपको समझाने का प्रयत्न करती हैं।

धार्मिक आधार पर परिवार में सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन—यह है उद्देश्य जिसकी पूर्ति के लिए गायत्री और यज्ञ की प्रतीक पूजा के अतिरिक्त अगले कदम कुछ और भी करने के लिए बढ़ने चाहिए। घर में कथा, कहानियों का दैनिक प्रचलन इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम हो सकता है। कहानियाँ बाल, वृद्ध सभी को प्रिय लगती हैं। लोक रंजन के साथ लोक मंगल के तत्व दो साधनों के सहारे अधिक अच्छी तरह हृदयंगम कराये जा सकते हैं। एक कथा कहानी, दूसरे सह संगीत। यह संगीत का एक नाम कीर्तन भी है। मिल-जुलकर भाव भरे गीत गाने से उनमें सामूहिकता की तीसरी शक्ति भी जुड़ जाती है और अर्थ की प्रेरणा तो भाव भरे गीतों में पहले से ही रहती है। आरती, प्रार्थना के समय तो इस प्रकार के गीत गायन आवश्यक ही हैं। इसके अतिरिक्त साप्ताहिक रूप से या अन्य किसी व्यवस्था के अन्तर्गत घरों में भाव भरे सह संगीत की, भजन-कीर्तन की व्यवस्था रहनी चाहिए।

कहानी कहना एक महत्वपूर्ण कला है। उसमें वक्तृता का, वाणी परिमार्जन का अवसर कहने वाले को मिलता है। सुनने वाले उसे सुनते तो मनोरंजन के लिए कौतूहलवश ही हैं, किन्तु अनायास ही उन्हें उपयोगी मार्गदर्शन प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है। प्रत्यक्ष उपदेश की अपेक्षा शिक्षण के लिए कथा शैली की उपयोगिता असाधारण है। प्रत्यक्ष शिक्षा में बहुत बार मतभेद भी खड़े होते हैं किन्तु कथा प्रसंगों में घुली हुई शिक्षा सहज ही गले उतरती चली जाती है। छोटे बच्चों के लिए पशु-पक्षियों की कहानियाँ हलकी-फुलकी रहने के कारण उपयोगी पड़ती हैं किन्तु कुछ समझ बढ़ाने के उपरान्त पौराणिक ऐतिहासिक कथाएँ अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होने लगती हैं। जीवन चरित्र में प्रेरक अंश प्रशंसात्मक ढंग से और हेय अंश निंदापरक समीक्षा के साथ कहे जा सकते हैं। इतिहास में उपलब्ध विविध प्रकार के संस्मरण भी उस प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। सामयिक समाचार-पत्रों में छपने वाली—तथा जहाँ-तहाँ से सुनने में आने वाली घटनाएँ भी कहानी की तरह रोचक टिप्पणियाँ लगाकर इस प्रकार कही जा सकती हैं, जिससे मनोरंजन और नीतिशिक्षण के दोनों ही उद्देश्य पूरे हो सकें। सर्वविदित है कि हितोपदेश और पंचतन्त्र की कहानियाँ अव्यवस्थित लड़कों को बुद्धिमान और नीतिमान बनाने के लिए लिखी गई थीं और उनसे अभीष्ट उद्देश्य भली प्रकार पूरा भी हुआ था। कथा कहानियों का दैनिक पारिवारिक प्रचलन भी प्रकारान्तर से कुटुम्बियों के दृष्टिकोण एवं भाव संस्थान को परिष्कृत कराने का एक महत्वपूर्ण उपाय, उपचार है। इस माध्यम से उपलब्ध हुई दिशा धारा घर के सदस्यों को सुसंस्कृत बनाने में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध हो सकती है।

रामायण जैसे पौराणिक कथा प्रसंग घर में चलते रहें तो उसमें प्रशिक्षण और श्रद्धा सम्वर्धन का दुहरा लाभ मिलता है। किन्तु उनमें यह सावधानी बरतनी ही चाहिए कि उचित-अनुचित की, ग्राह्य, अग्राह्य की समीक्षा साथ-साथ चलती रहे। अन्यथा बिना देखे छाने दूध के साथ मक्खी भी गले उतर जाती है। कथा प्रसंगों में ऐसे ही अनेक घटना प्रसंग आ जाते हैं, जो जुड़े तो महापुरुषों या देवताओं के साथ होते हैं पर उनमें नीति का सम्वर्धन नहीं होता।

कथा-कहानी, सहगीत के के दो प्रचलन और भी ऐसे हैं, जो गायत्री नमन और यज्ञायोजन की तरह ही घर के वातावरण में सुसंस्कारिता का अभिवर्धन करते हैं और उसका प्रभाव व्यक्ति एवं समाज को हर दृष्टि से समुन्नत बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी

एकाकी पुरुषार्थ से भी यों कई व्यक्ति सफलता के उच्च शिखर तक जा पहुँचते हैं पर वैसे होते कम ही हैं। उन्हें असाधारण या अपवाद ही कह सकते हैं। ऐसे प्रयत्नों को दुस्साहस की संज्ञा दी जाती है। साधारणतया मिल-जुलकर भी बड़े काम सम्पन्न किये जाते हैं। सहयोग में कम से कम दो तो चाहिए ही। दो सच्चे मित्र-सच्चे साथी मिल सकें तो उनके संयुक्त प्रयासों से भी महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं। यों "अधिकस्य अधिकम् फलम्" की उक्ति तो प्रसिद्ध है ही।

सहयोग से प्रगति के तथ्य को सार्थक बनाने में दो की जोड़ी मिल जाने से भी काम चल जाता है। पति और पत्नी दो मिलकर नया गृहस्थ बनाते हैं। 'गृहस्थ' की गाड़ी एक पहिये से नहीं लुढ़क सकती। हल में दो ही बैल चलते हैं। नाव खेने वाले माँझी दोनों हाथों से दो डाड़ चलाते हैं। आकाश की शोभा सूर्य और चन्द्र दोनों से है। इनमें से एक ही रह जाय तो आधे समय घोर अन्धकार छाया रहेगा। एक पहिये की गाड़ी, एक डांड की नाव—एक बैल का हल चलता नहीं। दो हाथ, दो पैर, दो आँखें होने पर शरीर की शोभा और सुव्यवस्था है। इनमें से एक ही रह जाय तो पूरा काम हो नहीं सकेगा उल्टे अपंग उपहासास्पद वर्ग में गणना होने लगेगी। लंगड़े, लूले, काने, पूर्णांग वाले की तुलना में अपने को त्रुटिपूर्ण ही अनुभव करते हैं।

इतिहास में दो महत्वपूर्ण व्यक्तियों के संयोग, सुयोग से ऐसी आश्चर्यजनक सफलतायें सम्भव हो सकी हैं, जो एकाकी प्रयास से सम्भव नहीं हो सकती थी। बुद्ध-हर्ष वर्धन, शंकराचार्य-मान्धाता, समर्थ रामदास-शिवाजी, राणा प्रताप-भामाशाह, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गान्धी, जवाहर, चाणक्य, चन्द्रगुप्त की जोड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। अवतारों तक की जोड़ीदारों के सहयोग बनाने पड़े हैं। राम-लक्ष्मण, कृष्ण-अर्जुन, नल-नील, अंगद-हनुमान, की जोड़ियाँ मिल-जुलकर महान् कार्य कर सकीं। अन्धे और पंगे ने पारस्परिक सहयोग से नदी पार की थी। आज भी बैंकों के सहयोग से अनेकों उद्योग-धन्धे और कल-कारखाने चलते हैं। बिजली के दो ठण्डे-गरम तार मिलकर ही शक्ति धारा प्रवाहित कर सकने में सफल होते हैं। अकेले तार से करण्ट कहाँ उत्पन्न होता है। दिन और रात्रि का, ताने और बाने का, सर्दी और गर्मी का जोड़ा प्रसिद्ध है। जन्म-मरण की धुरी पर सृष्टि का चक्र परिभ्रमण करता है। चक्की के दो पाट मिलकर आटा पीसते हैं। ताली दोनों हाथों के टकराव से बजती है।

छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कोई भी कार्य बिना साथी के सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं होता। फिर जीवन तो सबसे बड़ा उद्योग है। इस उद्योग में ईश्वर ही सर्वाधिक उपयुक्त और समर्थ साझेदार संरक्षक हो सकता है। जीवन व्यवसाय में ईश्वर को साझीदार बनाने से बढ़कर बुद्धिमता दूसरी हो ही नहीं सकती। ईश्वर की सामर्थ्य अनन्त है उसकी अनुकम्पा से मिल सकने वाली सम्पदायें भी असीम हैं। ऐसी समर्थ शक्ति के साथ यदि किसी के लिए घनिष्टता प्राप्त कर सकना संभव हो सके तो समझना चाहिए कि उसने पारस को छूकर लोहे के सीने में परिणित हो जाने जैसी स्थिति प्राप्त कर ली। समर्थ व्यक्तियों की मैत्री से कितनों ने

कितने बड़े लाभ उठाये हैं इसे देखने में सत्संगति का शास्त्रकारों ने जो अत्यधिक महात्म्य बताया है वह अक्षरशः सही सिद्ध होता है। स्वाति बूँद के सम्पर्क से सीप में मोती, केला में कपूर, बाँस में वंश लोचन उत्पन्न होने की बात कही जाती है। चन्दन वृक्ष के समीप उगने वाली झाड़ियों के सुगन्धित हो जाने की चर्चा सुनी जाती है। भृंग कीट का उदाहरण सर्वविदित है। दूध में मिलाकर पानी तद्रूप हो जाता है। गन्दे नाले का पानी पवित्र गंगा से मिल जाने के उपरान्त गंगाजल कहलाता और वैसा ही सम्मान पाता है। आग की घनिष्ठता में पहुँचने वाली हर वस्तु अग्नि रूप में बन जाती है। बूँद समुद्र से मिलने के उपरान्त बूँद नहीं रहतीं वरन् अपनी क्षुद्र सत्ता को उतनी ही विशाल अनुभव करती है। यह सब समर्थ शक्ति के साथ जुड़ जाने पर मिलने वाले लाभों की प्रतिक्रिया है। ईश्वर जैसी महान् सत्ता के साथ यदि सचमुच ही किसी की वास्तविक साझेदारी प्राप्त कर लिया जाय तो समझना चाहिए कि उसने वह सब कुछ प्राप्त कर लिया, जो इस जीवन में, इस संसार में पाने योग्य है।

"लाठी से थन छूना" एक उक्त है। जिसका अर्थ है दूर रहकर वह प्रयोजन पूरा करने की इच्छा करना जो समीपता और घनिष्ठता के सहारे ही सम्पन्न हो सकते हैं। कोई व्यक्ति गाय के थनों को हाथों से सहलाकर उसे पशुराने की क्रिया करके दूध निकालने की अपेक्षा ऐसे ही लम्बी बाँस थनों से छुलाने का प्रयत्न इस आशा से कर रहा होगा कि इतने भर से ही दूध की धार बरसने लगेगी। उसी प्रयत्न के उपहास में यह "लाठी से थन छूना" वाली उक्ति चली होगी। हर कोई जानता है कि ऐसे प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। उनके कर्ता निराश रहते और उपहासास्पद बनते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में भी यहीं बात है। उसके साथ सघन सम्पर्क मिलाने पर ही आशाजनक अनुदानों की अपेक्षा की जा सकती है। यह सघन सम्पर्क कैसे हो इसका 'तत्वदर्शन' पूजा, उपासना के क्रिया-कृत्यों से, भजन-पूजा के निर्धारित कर्मकाण्डों से सीखा जा सकता है। अर्चना आराधना के विधि-विधान हमें उन तथ्यों से परिचित कराते हैं जिनके सहारे ईश्वर तक पहुँचना, उनके साथ घनिष्ठता स्थापित करना और अनुग्रह का लाभ ले सकना सम्भव होता है। थन का स्पर्श करके दूध दुहा जाता है यह बात सही है पर इसमें इतना और जोड़ना चाहिए कि स्पर्श मात्र से ही दूध की धार नहीं छूटती। थनों को हाथों से सहलाने की एक ऐसी विशेष क्रिया भी करनी होती है, जो बछड़े द्वारा मुँह से थन चूसने के समतुल्य हो। ईश्वर भक्ति की सफलता इस बात पर निर्भर है कि भक्त ने भगवान से कितनी वास्तविक सघनता स्थापित की।

यहाँ वास्तविक और अवास्तविक घनिष्ठता का अन्तर भी अच्छी तरह समझ लिया जाना चाहिए। वास्तविक घनिष्ठता को आत्मीयता भरी मैत्री कहते हैं। मित्रता प्रेम के आकार पर जुड़ती दृढ़ होती और बढ़ती है। प्रेम का ही दूसरा नाम भक्ति है। "रसो वैस" उक्ति में प्रेम को ही परमेश्वर माना गया है। प्रेम किसी भावुकता का नाम नहीं है। उसके लिए आँसू टपकाने या ऐसे ही कुछ अन्य भाव क्षेत्र को उछल-कूद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रेम एक स्थिर सिद्धान्त है, जिसे दूसरे शब्दों में सघन आत्मीयता कहते हैं। इस स्तर का उदय होते ही प्रेमी की हित कामना प्रधान हो जाती है, उससे लेने को नहीं, देने को जी करता है। ये देना जितना अधिक उच्च स्तर का—जितना सर्वांगपूर्ण होता है उतना ही मैत्री का आनन्द आता है। उसी अनुपात से मित्रता सुदृढ़ बनती और फलप्रद होती है। पारस्परिक सहयोग मित्रता का मूल प्रयोजन है। इसमें जो अग्रिणी होता है उसे प्रेमी कहते हैं। भक्त की मनःस्थिति भी यही है कि वह भगवान से प्रेम करता है। प्रेमी होने के नाते उससे कुछ माँगता नहीं वरन् अपने पास जो कुछ है, उसे देने के लिए व्याकुल रहता है। अवसर ढूँढ़ता है कि किस समय, किस प्रकार उसे क्या दिया जा सकता है। इन प्रयत्नों को करते-करते एक दिन ऐसी स्थिति आ जाती है कि अपनी चेतना और सम्पदा का समग्र समर्पण प्रभु चरणों पर हो जाता है। अपनी महत्वाकांक्षायें समाप्त हो जाती हैं। उनके स्थान पर ईश्वर की आकांक्षा का वर्चस्व छाया रहता है। जीवन की दिशाधारा अपनी इच्छानुकूल नहीं बहती वरन् उधर चलती है जिधर परमेश्वर की प्रेरणा होती है। चेतना के उपरान्त मानवी

अस्तित्व का दूसरा पक्ष है—सम्पद्। इसमें शरीर, कौशल और धन तीनों का समन्वय रहता है। इनका उपयोग लिप्साओं की पूर्ति के लिए नहीं वरन् उन प्रयोजनों के लिए लगने लगता है, जिसके लिए सृष्टा ने इस बहूमूल्य अमानत को जीवात्मा का स्तर परखने के लिए सौंपा है।

आत्म-समर्पण में जितनी गहराई होती है उसी अनुपात से ईश्वरीय अनुग्रह बरसता है। आदान-प्रदान का सिद्धान्त सर्वत्र काम करता है। भक्त और भगवान के बीच भी घनिष्ठता स्थापित होने में भी यही सिद्धान्त काम करता है। इस आधार पर भक्त जन ईश्वर की समीपता पाते और अनुकम्पा खरीदते हैं। इस तथ्य को यदि किसी वसन्त पर्व की प्रेरणा का अंग माना जा सके तो परिजनों में से प्रत्येक के जीवन में काया-कल्प प्रस्तुत हो सकता है और एक ऐसे सहयोगी की सच्ची घनिष्ठता प्राप्त कर सकने का अवसर मिल सकता है, जो सर्वसमर्थ है और जिसका अनुग्रह इतना बहुमूल्य है जितना समस्त संसार का समन्वित वैभव। इस क्षेत्र की सफलता को जीवन लक्ष्य की प्राप्ति कहते हैं। इसे प्राप्त करने वाले स्वर्ग में रहते-मुक्ति फल पाते और इसी काया में रहते हुए देवताओं जैसा आन्तरिक सन्तोष और बाह्य सम्मान सहयोग प्राप्त करते हुए सत्-चित आनन्द की स्थिति प्राप्त करते हैं। इसके लिए किये गये प्रयासों को परम पुरुषार्थ कहा गया है। ईश्वर के सान्निध्य से परिष्कृत व्यक्तित्व के कण-कण से सिद्धियों का वैभव झरता रहता है।

ईश्वर को मित्र बना लेने का समस्त तत्वज्ञान ऊपर की थोड़ी-सी पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। इस महान् उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए न इससे घटिया मनःस्थिति काम देती है और न इतने आत्म-परिष्कार के अतिरिक्ति और कोई बड़ा कदम उठाने की आवश्यकता पड़ती है।

पुजारियों और भक्तों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिए। पुजारी के क्रिया-कलाप पूजा-परक कर्म-काण्डों तक सीमित रहते हैं, वह इतने भर को ही पर्याप्त मान लेता है और सोचता है वाणी का स्तवन, अंग संचालन एवं छुट-पुट उपहारों के प्रस्तुतीकरण से देवता को वशवर्ती किया जा सकता है। इतने भर से देवता प्रसन्न हो जाते हैं और मनोकामना पूरी करने वाले वरदान बरसाने लगते हैं। यही पुजारी मनोवृत्ति आज सर्वत्र छाई हुई है। तथाकथित पूजा-पाठ करने वालों की मनोभूमि प्रायः इसी बाल-क्रीड़ा में उलझी पाई जाती है। उनमें से किसे, कितना, क्या, मिला ? इसका लेखा-जोखा लेते हैं तो भारी निराशा होती है। कितनों को यह शिकायत करते पाया जाता है कि यदि इतना श्रम और समय उपार्जन या विनोद में लगाया होता तो नफे में रहते। वस्तुतः उनकी यह शिकायत सही है। उपासना में उच्चस्तरीय आस्थाओं का समावेश न रहने—मात्र कर्मकाण्डों को ही सब कुछ मान लेने से भक्ति का उद्देश्य किसी भी प्रकार पूरा नहीं होता। पूर्जा-अर्चा कलेवर है आस्था उसका प्राण। प्राण और कलेवर का सम्मिश्रण ही पूर्णता उत्पन्न करता है। पुजारी की गतिविधियाँ कर्मकाण्डों तक सीमित रहती हैं, जबकि सच्चा भक्त उपासना के क्रिया-कृत्यों से प्रकाश एवं प्रेरणा प्राप्त करके अपनी चेतना को दिशा और सम्पदा को धारा देने का प्रयत्न करता है। भगवान और भक्त की अन्तःस्थिति और गतिविधियों में जितनी समस्वरता जितनी एकता दिखाई पड़े उसी आधार पर यह जाना जा सकता है कि भक्ति कितनी प्राणवान् है। भक्ति के सत्परिणाम सुनिश्चत हैं।

ईश्वर के सान्निध्य से किसने क्या पाया ? ऐसे अगणित उदाहरण प्राचीन और अर्वाचीन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। हनुमान, अंगद, नल-नील जैसे रीछ-वानरों की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक स्थिति तुच्छ थी। उनने भक्ति का मार्ग अपनया और भगवान का अनुग्रह खरीदा। इस उपार्जन से चमत्कारी कार्य कर सके और हर दृष्टि से धन्य बन सके। कृष्ण के भक्तों में अर्जुन और सुदामा के नामों की गणना अग्रणी है। वे आत्मिक और सांसारिक क्षेत्रों में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सके। मनुष्य होते हुए भी ईश्वर का व्यक्तित्व विकसित करने वाले अनकों महामानव अपनी कृतियों के कारण धरती के देवता कहलाते रहे हैं। बुद्ध,

महावीर, मूसा, ईसा, जरथुस्र, मुहम्मद जैसे देवात्माओं का एकमात्र बल दैवी अनुग्रह ही था। सन्तों में भागीरथ, हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, नानक, कबीर, रामदास, रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द, चैतन्य दयानन्द, गाँधी आदि की गणना की जा सकती है। वे स्वयं पार उतरे और असंख्यों को अपनी नाव पर बिठाकर पार करने में समर्थ हुए। न उन्हें सन्तोष की कमी रही, न सम्मान की, न सहयोग की, न साधनों की। ईश्वर भक्ति के सत्परिणाम असीम हैं। उसके लिए प्रयत्न करना सर्वोपरि बुद्धिमता का चिहन है। इस स्तर के प्रयासों को परम पुरुषार्थ नाम दिया है जो अक्षरशः सही है।

जिन्हें सच्ची भगवद्भक्ति अपनाने की, उस दिशा में कुछ साहसिक कदम बढ़ाने का उल्लास उमगे, समझना चाहिए कि उनके ऊपर परमेश्वर का सच्चा प्रयास बरस रहा है।

साझेदारी का अर्थ है मिल-जुलकर काम करना और साधनों को एकत्रित करके पारस्परिक सहमति से गतिवधियों का निर्धारण करना, रीति-नीति को अपनाना। जीवन एक व्यवसाय है। एक समूचा उद्योग है। इसमें ईश्वर के साथ साझेदार को जीवन्त कर लिया जाय तो फिर घाटे की, असफलता की विपन्नता आने की कोई सम्भावना नहीं है। आज का हमारा ईश्वर विमुख जीवन ही दुःख से भरा रहता है। यदि उसमें ईश्वर की साझेदारी जुड़ सके तो फिर अज्ञान, अशक्ति और अभाव के तीनों हो संकटों से सदा सर्वदा के लिए निवृत्ति मिल सकती है।

बैंक की पूँजी से अनेकों उद्योग चलते हैं। अनेकों को ऋण मिलते हैं पर वह उधारी प्राप्त करने के लिए बैंक का अंकुश भी स्वीकार करना होता है। प्राप्त धन उन्हीं कार्यों में लगाया जा सकता है, जिसके लिए बैंक ने सहमति दी है। उस ऋण को मनमर्जी के हर काम में खर्च नहीं किया जा सकता। दूसरी शर्त यह रहती है कि ऋण का मूलधन ही नहीं उसका ब्याज भी लौटाने की तैयारी रखी जाय। इन शर्तों को तोड़ने पर बैंक के सहयोग का सिलसिला बन्द हो जाता है और मिली हुई पूँजी वापिस करने को विवश होना पड़ता है, भले ही उस दबाव से करोबार ही क्यों न बन्द हो जाय ? बैंक का ऋण लूट का माल नहीं है, जिसे अपनी मर्जी से चाहे जिस प्रकार खर्च किया जाय और वापिस करने के नाम पर अँगूठा दिखाने का इरादा रखा जाय।

ईश्वर के साथ साझेदारी का यदि निर्धारण करने और महामानवों जैसे लाभ उठाने का मन हुलसे तो इसके लिए जीवन व्यवसाय की रीति-नीति में नये सिर से निर्धारण और समाधान करने होंगे। पुराना वह सिलसिला समेटना पड़ेगा, जिसके कारण कि ईश्वर और अपने बीच गहरी खाई उत्पन्न हो गई है और सहयोग अनुग्रह का, आदान-प्रदान का सिलसिला बन्द हो गया है। मानव जीवन-सम्पदा ईश्वर की पवित्र धरोहर है। जो साधन सृष्टि के किसी अन्य प्राणी को नहीं मिले हैं। इसमें सृष्टा का अन्धेर या पक्षपात कारण नहीं वरन् विशिष्ट उद्देश्य इतना भर है कि उसके विश्व उद्यान को सुविकसित सुसंस्कृत बनाने में एक सुसम्पन्न प्राणी का भाव भरा सहयोग मिले। बैंक से उधार मिले धन को यदि निर्धारित उद्देश्य में खर्च करने की अपेक्षा ऐसे ही मौज-मजा करने में, वासना तृष्णा की पशु-प्रवृत्तियों में खर्च करते रहा जाय, ब्याज मूल कुछ भी न लौटाया जाय, उलटे अधिक देते रहने के लिए पूजा-पत्री के जाल बुनने में, फुसलाने में लगे रहा जाय तो निश्चय ही इसमें अपना ओछापन ही सिद्ध होता है। प्रामाणिकता पात्रता सिद्ध होने पर पदोन्नति की—अधिक बड़े अधिकार तथा साधन मिलने की जो सम्भावना थी उसका भी इस ओछेपन से द्वार बन्द होता है। यही होता है आज की अपनी स्थिति का सही विवेचन, यथार्थ चित्रण। इस स्थिति को बदला जाना आवश्यक है। युग-परिवर्तन के लिए आत्मपरिवर्तन की आवश्यकता है। 'हम बदलेंगे—युग बदलेगा' का उद्घोष वाणी तक सीमित नहीं रहना चाहिए वरन् उसे क्रिया में उतरना चाहिए। परिवर्तन का केन्द्रबिन्दु है दृष्टिकोण का परिवर्तन। यहाँ वही बदलाव होना चाहिए कि जीवन सम्पदा 'उपभोगों' के लिए महान् उद्देश्य और आदर्श की पूर्ति में उपयोग करने के लिए है। उसे अभीष्ट उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

यदि ईश्वर की महिमा और समर्थकता का सचमुच ही आभास हो गया है और उसके सान्निध्य की, अनुग्रह की सच्चे मन से उपेक्षा हो तो बाल-क्रीड़ा तक सीमित न रहकर साहसी शूरवीरों और उदार चेता महामानवों की तरह ऊँचा सोचने और ऊँचा करने की तैयारी इन्हीं दिनों करनी चाहिए। उपासनात्मक क्रिया-कृत्यों को निरन्तर जारी रखें। उसमें कभी करने की बात न सोंचे वरन् गहरी श्रद्धा का अटूट विश्वास का, प्रेम तत्व से भरी पूरी भक्ति भावना का अधिकाधिक समन्वय करने की तैयारी करें ताकि कर्मकाण्डों में, धर्मानुष्ठानों में प्राण संचय हो और अपनी आराधना में सरलता बरसने लगे। उपासना नीरस लगने-मन उचटने, कोई अनुभूति न होने जैसी निराशाजनक स्थिति का एक ही कारण है—उपासना का निष्प्राण होना, उसे मात्र कर्मकाण्डों की लकीर पीटने तक सीमित कर देना।

उपासना गहरी, जीवन्त, सरस और सफल हो सके इसकी एक ही शर्त है कि उसे प्राणवान् बनाया जाय। ईश्वर रूपी कामधेनु के थन लाठी से न छुए जायँ वरन् बछड़े जैसा स्तर अपना बनाया जाय ताकि माता हमें अपना बालक मानने लगे और भावभरा पयपान कराने के लिए आतुर रह सके। पाने के लिए देने के लिए नहीं, जब अपने मन उमंग उठने लगे तो समझना चाहिए कि जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी की पृष्ठभूमि बन गई। आधार खड़ा करने के लिए इन्हीं दिनों हमें अपने को, अपने को अपने दृष्टिकोण को उलटने का प्रबल प्रयास करना चाहिए। इस परिवर्तन के लिए ही साधना उपासना का विशलाकाय कलेवर खड़ा है। हम इस तथ्य को समझें। अपने को ईश्वर का बनावें ताकि वह हमारा बन सके। प्रगति का, सुख शान्ति का, सच्चा मार्ग यही है। प्रस्तुत वसन्त इसी आन्तरिक परिवर्तन का अनुरोध करने के लिए इस बार विशेष प्रेरणा लेकर आया है। अनुरोध उसका स्वीकार करने में ही बुद्धिमत्ता है।

एकाकी मंजिल पार तो हो सकती है पर पड़ती बहुत भारी है। ज़ोड़ीदारी-साझेदारी की नीति बुद्धिमतापूर्ण भी है और लाभदायक भी। सरल भी और सरस भी। मैत्री कितनी मधुर होती है, इसे हर भावनाशील व्यक्ति जानता है। सघन मित्रता के उपयुक्त सत्पात्र प्रेम भाजन ईश्वर से बढ़कर दूसरा और कोई हो नहीं सकता। संसारी मित्रता अस्थिर और तुच्छ है। सघनता, स्थिरता और उपयोगिता की कसौटी पर ईश्वर की मित्रता ही खरी उतरती है। इसे साथी, जोड़ीदार, साझीदार बनाने में अपनी पात्रता का प्रमाण प्रस्तुत करने भर की एक छोटी-सी कठिनाई है। उसे हल करने का प्रयत्न किया जा सके तो ईश्वर का अजस्र अनुग्रह और अनुदान हममें से प्रत्येक के सामने खड़ा है।

ईश्वर को अपने जीवन व्यवसाय में साझेदार बनाने का कार्य इतना सहज सुगम होते हुए भी एक छोटी-सी कठिनाई साधक का पूरा मार्ग रोककर खड़ी हो जाती है। यह कठिनाई क्यों है और इसका समाधान किस प्रकार हो सकता है ? यह भलीभाँति समझना चाहिए। छाया को पकड़ने के लिए दौड़ने वाले के पल्ले केवल थकान और खीज पड़ती है। इसके विपरीत प्रकाश की ओर मुँह करके चलने वाले को सहज ही यह लाभ मिलता है कि छाया उसके पीछे-पीछे चलने लगे। छाया की ओर भागने वाले का फोटो खींचने पर उसका चेहरा काला होता है किन्तु प्रकाश की ओर चलने वाले का छाया चित्र प्रकाश से भरा-पूरा स्वच्छ और स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ईश्वर प्रकाश है और माया-छाया। वासना, तृष्णा और अहंता का सम्मिश्रण माया कहलाता है। उन्हें पूरा करने के लिए मनुष्य का पुरुषार्थ कम पड़ता है। उपार्जन की एक सीमा है, किन्तु तृष्णा असीम है। महत्वाकांक्षाओं का कहीं अन्त नहीं। उपभोग और संग्रह से तृप्ति किसी को नहीं मिली। हिरण्याक्ष, रावण, कुबेर, सिकन्दर जैसे सुसम्पन्न समझे जाने वाले प्रबल पराक्रमी व्यक्ति भी अभाव और असन्तोष का ही रोना रोते मरे। आग पर घी डालते रहने से वह बुझती कहाँ है, उलटे भड़कती है, न संग्रह की ललक पूरी होती न अहंकार सन्तोष दिलाने में इन्द्र जितना वैभव भी पर्याप्त सिद्ध होता है। तृप्ति और शान्ति मृग तृष्णा में भटकते रहने पर भी कहाँ मिलती है ? यह छाया के पीछे दौड़ना हुआ। इस भगदड़ में

मिलना तो कुछ नहीं। जीवन के बहुमूल्य क्षण खोते, अशान्ति के गर्त में गिरते और नष्ट होते चले जाते हैं। आतुरता, अवांछनीयता का मार्ग पकड़ती है फलतः पापों और अपयश की गठरी और अधिक बोझिल होती चली जाती है।

यही है लोक प्रवाह जिसमें कूड़े-करकट की तरह लोग किसी अनिश्चित दिशा में निरुद्देश्य बहते चले जाते हैं। रोते-कलपते जिन्दगी के दिन गुजारने वाले मरते समय अपनी मूर्खता पर भारी पश्चात्ताप करने वाले प्रायः इसी मनःस्थिति के होते हैं। मायाग्रस्त, भव-बन्धनों से जकड़े हुए, अज्ञान के अन्धकार में भटकने वाले प्राणी प्रायः यह भूल करते हैं। उन्हें माया के सपने ही दीखते हैं। यह कोई सुझाता ही नहीं कि यह मृग-मरीचिका भी है, इससे असन्तोष और अपयश के अतिरिक्त और कुछ मिलने वाला नहीं है।

बुद्धिमता इसी में है कि मनुष्य प्रकाश की ओर चले। ज्योति का अवलम्बन ग्रहण करे। ईश्वर के सान्निध्य में ही आलोकवान जीवन जीने का आनन्द तथा प्रकाश स्तम्भ की तरह भटकाव से असंख्यों को बचाने का श्रेय, लाभ इस दूरदर्शिता को अपनाने वाले प्राप्त करते हैं। ईश्वर की साझेदारी जिस जीवन में बन पड़ेगी उसमें घाटा पड़ने की कोई सम्भावना नहीं है। यही शान्ति और प्रगति का सुनिश्चित मार्ग है।

"पूजा करना—मंशा पूरी कराना" यह बात प्रलोभन भर है, तथ्यपूर्ण नहीं। ईश्वर को हमें अपनी मर्जी पर चलाने में तभी सफलता मिल सकती है, जब हम पहले उसकी मर्जी पर चलना सीखें। प्रलोभन और प्रशंसा की कीमत पर भगवान जैसी दिव्य चेतना को फुसलाकर अपना उल्लू सीधा करने में न आज तक किसी को सफलता मिली है और न भविष्य में किसी को मिलेगी। यदि इतनी छोटी प्रक्रिया में ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करना सम्भव रहा होता तो मन्दिरों के पुजारी, तंत्र-मन्त्र में उलझाने वाले देव व्यवसायी अब तक करोड़पति बन गये होते। उनमें दरिद्र और विपन्न एक भी दिखाई न पड़ता।

ईश्वर प्राप्ति के लिए दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप अपनाना पड़ता है जिसे प्रभु समर्पित जीवन कहा जा सके। जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्मिक प्रगति का मार्ग अपनाना पड़ता है और वह यह है कि हम प्रभु से प्रेरणा की याचना करें और उसके संकेतों पर चलने का साहस करें। उपासना का मर्म और उद्देश्य यही है कि मनुष्य अपने लक्ष्य को-इष्ट को समझें और उसे प्राप्त करने के लिए प्रबल प्रयास करें। उपासना कोई क्रियाकृत्य नहीं है। उसे जादू नहीं समझा जाना चाहिए। आत्मा-परिष्कार और आत्मविकास का तत्व दर्शन ही अध्यात्म है। उपासना उसी मार्ग पर जीवन प्रक्रिया को धकेलने वाली एक शास्त्रानुमोदित और अनुभव प्रतिपादित पद्धति है। इतना समझने पर प्रकाश की ओर चल सकना बन पड़ता है। जो ऐसा साहस जुटाते हैं, उन्हें निश्चित रूप से ईश्वर मिलता है। अपने को ईश्वर के हाथ बेच देने वाला व्यक्ति ही ईश्वर को खरीद सकने में समर्थ होता है। ईश्वर के संकेतों पर चलने वाले में ही इतनी सामर्थ्य उत्पन्न होती है कि ईश्वर को अपने संकेतों पर चला सके। लालच की पूर्ति के लिए ईश्वर को फुसलाने वाली विडम्बनायें लोग रचते तो हैं पर उनमें किसी का भी सफल होना असम्भव है। ज्ञान का देवता, अज्ञानियों की लिप्सा पूरा करने के लिए निमित्त बनना स्वीकार कर लेगा ऐसी आशा करना दुराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

जागृत आत्माओं को जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का आदर-आमन्त्रण—स्वीकार करने का साहस एकत्रित करना चाहिए। अब से ५५ वर्ष पूर्व हमारे सम्मुख ऐसा ही आमन्त्रण आया था। प्रत्यक्ष दृष्टि का हर पक्ष उसे स्वीकार करने में हानि देखता था। तथाकथित मित्रों, स्वजनों में से एक भी उसे स्वीकार करने का समर्थन नहीं करता था। उन्हें स्पष्ट हानि दिखाई पड़ती थी। असमंजस से जूझा गया, विवेक ने विजय पाई। साहसपूर्वक आह्वान स्वीकार कर लिया गया। शब्दों से नहीं हृदय से। उपासना, जप-ध्यान तक सीमित नहीं रही वरन् जीवन की दिशाधारा ही उपासना के साथ जोड़ दी गई। लम्बे अनुभव के बाद पूरे विश्वास के साथ यह कहा जा रहा है कि आरम्भ में घाटे का सौदा लगने वाला आत्मा का, परमात्मा को वरण करने का दुस्साहस अपने प्रथम चरण में नव-वधू के असमंजस जैसा अटपटा भले ही

लगे पर अन्ततः उसमें लाभ ही लाभ है। इतना बड़ा लाभ जितना अन्य किसी व्यवसाय से सम्भव नहीं है। इन पंक्तियों के लेखक की जीवन यात्रा, प्रगति और उपलब्धि को साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई विश्वास कर सके तो पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का लाभ सुनिश्चित है, उसमें अविश्वास और असमंजस की कोई गुंजायश नहीं है।

हम ईश्वर की मर्जी पर चलें। उसी की प्रेरणाओं के अनुरूप अपना दृष्टिकोण बदलें और क्रिया-कलाप का अभिनय निर्धारण करें। उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का समन्वय ही हमारे अन्तःकरण में ईश्वर का अवतरण समझा जा सकता है। पवित्रता और उदारता के दो शब्दों में ही उपासना और साधना का सारा रहस्य छिपा हुआ है। जीवन-क्रम को आदर्श और अनुकरणीय बनाया जाय। गतिविधियों में परमार्थ को बढ़ा-चढ़ा स्थान देकर आत्म-विस्तार की भूमिका में प्रवेश किया जाय। अपने को ईश्वर के घर से आया और वहीं पहुँचने वाला एक प्रतिनिधि भर माना जाय। संसार क्षेत्र में वही अभिनय किया जाय जो जीवनोद्देश्य के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का यथार्थ स्वरूप यही है। न वह इससे कम में बन पड़ती है न अधिक कुछ करने की आवश्यकता है।

इन दिनों हम सबको प्रचण्ड आत्ममंथन करना चाहिये और सोचना चाहिये कि क्या भविष्य में भी उसी कटीले मार्ग पर चलते रहना है जिस पर चलते-चलते इतना समय बिता दिया गया ? अथवा कोई प्रगतिशील कदम उठाना है। अच्छा हो हमारे निष्कर्ष ऐसा निर्धारण कर सकें जिनमें आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं।

अपनी भौतिक महत्वाकांक्षाओं को सीमित करें। शरीर और परिवार के निर्वाह की वैसी व्यवस्था पर्याप्त मानें, जिसमें औसत भारतीय को रहना पड़ रहा है। आत्म-परिष्कार का यही प्रथम चरण है। इसे अपनाने पर अभाव और असन्तोष से निवृत्ति मिलेगी प्रतीत होगा कि अपने पास पैसा प्रचुर परिणाम में मौजूद है, जिसे आवश्यकता से अधिक कहा जा सके। दूसरा चरण यह है कि जीवन वरदान के साथ जन्मजात रूप से जुड़ी हुई विभूतियों का—उपार्जित सम्पदाओं का कहने लायक भाग ईवरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जाय। सही लेखा-जोखा लिया जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने पास समय, श्रम, बुद्धि, प्रतिभा एवं साधनों की इतनी मात्रा मौजूद है, जिससे न केवल संतोषपूर्वक निर्वाह हो सकता है वरन् उसका एक बड़ा भाग ईश्वर की प्रेरणा को पूरा करने के लिए भी दिया जा सकता है। कामना घटाई और भावना बढ़ाई जानी चाहिए। उपभोग की ललक छूटे और उपयोग का विवेक जागे तो समझना चाहिए कि जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी से प्रयत्न चल पड़ा।

सुदामा चावल की पोटली बगल में दबाये थे और भगवान से कुछ प्राप्त करने पहुँचे थे। भगवान ने उन्हें बताया कि वे देते तो हैं पर लेने वाले की पात्रता भी परखते हैं। पोटली के चावल न दिये जा सके तो अनुदारता दिव्य अनुग्रह को धारण कैसे कर सकेगी ? सुदामा को चावल देने पड़े, इसके उपरान्त ही भगवान के अनुदानों को वे पा सके। हमें पहली दृष्टि अपनी पोटली चावलों पर डालनी होगी।

बीज गलता और वृक्ष रूप में परिणत होता है। यही सनातन रीति है। अपने को आदर्शों के लिए चलाना शुरू करें तो उसका प्रतिफल हमें कल्पवृक्ष बनने का अवसर प्रदान करेगा। फेफड़ों में भरी हुई पिछली साँस को बाहर निकालने पर ही नई प्राण वायु का प्रवेश शरीर में होता है। मल त्याग करने के उपरान्त जब पेट खाली होता है, तब भूख लगती है और नया भोजन खाया जाता है। पेट या फेफड़ों को खाली न किया जाय तो न ताजी हवा मिलेगी और न नया रक्त उत्पन्न करने वाले आहार का ही लाभ उठाया जा सकेगा। पूँजी लगाने पर व्यवसाय होता है। थैला मिलता है। कृपणता से बढ़कर आत्मिक प्रगति में और कोई व्यवधान है नहीं। संकीर्ण स्वार्थपरता अपनाकर मनुष्य सांसारिक जीवन में भी तिरष्कृत होता है। ऐसे लोग किसी का स्नेह, सद्भाव एवं सहयोग अर्जित नहीं कर सकते। आध्यात्मिक जीवन का तो आधार ही

उदारता है। उदारता के मूल्य पर ही सांसारिक जीवन में सहयोग खरीदा जाता है। ईश्वर के साथ आदान-प्रदान आरम्भ करने का श्रीगणेश ही सेवा धर्म अपनाकर किया जाता है। कर का मन का फेरते रहने वाले यदि मनका-मनका नहीं फेरते तो उनकी जप साधना का अभीष्ट परिणाम उपलब्ध नहीं होता है।

सृष्टि क्रम में यज्ञतत्व ही सर्वोपरि है। उसके सहारे यह संसार स्थिर रहता और फलता-फूलता है। बादल अपना पानी खेतों पर बरसाते हैं, उस हानि की भरपाई समुद्र द्वारा निरन्तर होती रहती है। नदियाँ खेत-बगीचों को सींचने दौड़ती हैं तो हिमाच्छादित शिखर उनकी क्षतिपूर्ति करते हैं। जमीन को खाद देने के लिए पेड़ अपने पीले पत्ते टपकाते हैं। बदले में प्रकृति उन्हें नई कोपलें ही नहीं, नये फूलों और फलों से लाद देती है। भेड़ अपनी ऊन परोपकार में देती है, बदले में उसे हर साल नई ऊन मिलती है। रीछ अपना एक बाल भी किसी को छूने नहीं देता फलतः प्रकृति भी अपनी मुट्ठी समेट लेती है और आरम्भ में जितने बाल मिले थे उतने से अधिक पाने का फिर कभी उसे सौभाग्य ही नहीं मिलता।

ईश्वर की सजीव साझेदारी में उस ओर से पर्याप्त साधन जुटा दिये गये। अब अपनी बारी है कि अपना पक्ष भी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करें। मनुष्य जीवन का एकमात्र उद्देश्य इस विश्व उद्यान को सुविकसित और सुसंस्कृत बनाने में ईश्वर का हाथ बटाना है। इस धरोहर को इसी प्रयोजन के लिये दिया गया है। सेवा धर्म अपनाकर हम अपने को परिष्कृत—समाज को उपकृत और ईश्वर को प्रसन्न करने का तिहरा लाभ उठाते हैं। इसकी उपेक्षा करके उपासना कृत्य का स्वरूप फुसलाने के लिए रची गई विडम्बना बनकर रह जाता है। भक्त प्रेमी होता है। प्रेम का परिचय—उदार सहयोग के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। हमें ईश्वर से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं है। पात्रता बढ़ने के साथ-साथ पिता सहज ही अपने साधन और अधिकार स्वयं ही हस्तान्तरित करता जाता है। जितना गहरा गड्ढा होगा, वर्षा का जल उसमें उतना ही भरता चला जायेगा। उथले पात्र में मेघमाला द्वारा बरसाये गये अजस्र अनुदान में भी मात्र उतना ही मिल पाता है जितनी कि उस बर्तन की परिधि होती है। हमें अपनी पात्रता ओर परिधि बढ़ानी चाहिए और उसके लिए ईश्वरीय प्रयोजनों के निमित्त अनुदानों की मात्रा बढ़ानी चाहिए।

योग साधन का अर्थ है उदात्त चिन्तन। तपश्चर्या का तात्पर्य है आदर्शों के लिए कष्ट सहन। आत्मिक प्रगति की लम्बी यात्रा इन्हीं दो चरणों को क्रमिक गति से उठाते चलने पर सम्पन्न होती है। ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य पर पहुँच सकना इन्हीं दो आधारों के सहारे सम्भव होता है। हमारा व्यवसाय का परिधान जो भी हो—अन्तः दृष्टि यही रहनी चाहिए कि हमें आदर्श और उदार बनना है। इस मार्ग की एकमात्र बाधा कृपणता की संकीर्ण स्वार्थपरता को निरस्त करना है। इस सुरसा के मुँह में से निकले बिना कोई हनुमान रामकाज करने में समर्थ नहीं हो सकता।

हमारे जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का नया निर्धारण तुरन्त होना चाहिये। अपने को विश्व उद्यान में माली की भूमिका निभाने वाला एक ईश्वरीय प्रतिनिधि भर मानना आरम्भ करें। शरीर और परिवार का परिपालन इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर पूरा करें कि उन्हें सुरक्षित और सुविकसित रखने की जिम्मेदारी अपने कन्धे पर आई है। यही नीति निश्चित हो सके तो औचित्य की कसौटी पर क्षण-क्षण में अपनी गतिविधियों और आकांक्षाओं को परखा जाता रहेगा कि ललक-लिप्सा औचित्य की सीमा को तो नहीं छू रही है। अपने विचार और प्रयास कहीं भौतिक प्रयोजनों में ही तो सीमाबद्ध होकर नहीं रह गये हैं। समय और शक्तियों का विभाजन हमें स्वार्थ और परमार्थ दोनों के बीच करना चाहिए। भौतिक ही नहीं आत्मिक प्रगति भी अपने लक्ष्य में सम्मिलित रहनी चाहिए। संसार को ही नहीं ईश्वर को प्रसन्न रखना भी एक बड़ा काम है। शरीर को सुखी रखना ठीक है पर आत्मा की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का प्रतिफल तत्काल दृष्टिगोचर होता है। चिन्तन में

उत्कृष्टता और क्रिया-कलाप में आदर्शवादिता का अभिवर्धन इसी आधार पर संभव होता है। इतना बने पड़े तो सामान्य दीखने वाला व्यक्ति भी असामान्य महामानव बनने की दिशा में द्रुतगति से अग्रसर होता है। पवित्रता और उदारता का अभिवर्धन शक्तिशाली चुम्बकत्व है, जिसकी आकर्षण शक्ति परमेश्वर को खींचकर ले आती है और आँखों के सामने खड़ा करती है। जिसे परमेश्वर का अनुग्रह हो, उसे न अभावों का सामना करना पड़ता है और न असन्तोष का। अपने अनुभवों का निचोड़ यही है।

ईश्वर की सत्ता और उसकी अनुभूति

भौतिक जगत की कई शक्तियाँ ऐसी हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष नेत्रों द्वारा नहीं देखा जा सकता। विद्युत शक्ति स्वयं अदृश्य रहती है। आँखों से न दीखते हुए भी उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बल्ब में प्रकाश फैलाती, पंखे से हवा बिखेरती-हीटर में गर्मी देती तथा विशालकाय मशीनों, कारखानों को चलाने के लिए ऊर्जा देती, सतत् वह अपनी सत्ता का परिचय देती है। चुम्बकीय शक्ति दिखाई नहीं पड़ती, पर प्रचण्ड आकर्षण शक्ति उसकी सत्ता का बोध कराती है। प्रकाश, ऊर्जा, गर्मी विद्युत शक्ति के गुण हैं, उसकी प्रतिक्रियाएँ हैं, मूल स्वरूप नहीं। मूल स्वरूप तो अभी तक परमाणु की सत्ता की भाँति विवादास्पद बना हुआ है। गुणों का बोध ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। नेत्रों में ज्योति न होने पर न तो प्रकाश दिखाई पड़ सकता है और न ही पंखे का चलना दृष्टिगोचर हो सकता है। आँख के साथ शरीर की त्वचा भी अपनी सम्वेदन क्षमता गँवा बैठे तो जिन्होंने कभी विद्युत शक्ति की सामर्थ्य नहीं देखी है, उनके लिए बिजली की सत्ता का अस्तित्व संदिग्ध ही बना रहेगा। यही बात चुम्बक के साथ लागू होती है।

पृथ्वी का गुरुत्व बल प्रत्यक्ष कहाँ दीखता है ? वस्तुओं के नीचे गिरने से यह अनुमान लगाया जाता है कि उसमें ऐसी आकर्षण शक्ति है जो वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। यही वह प्रमाण है जिसके आधार पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति की उपस्थिति को स्वीकारना पड़ता है। ऐसी कितनी ही शक्तियाँ हैं, जो नेत्रों से नहीं दिखाई पड़ती किन्तु उनका अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। फूल में सुगन्ध होती है यह सर्वविदित है। गन्ध को नेत्र कहाँ देख पाते हैं। घ्राणेन्द्रियों द्वारा गन्ध की मात्र अनुभूति होती है, उनमें सौन्दर्य होता है जो हर किसी को मुग्ध करता है। सौन्दर्य की होने वाली अनुभूति को किस रूप में प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है ? फूल की सुगन्ध एवं सौन्दर्य की अनुभूति—घ्राण शक्ति एवं नेत्र ज्योति से रहित व्यक्ति नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्तियों के उसकी विशेषता से इन्कार करने पर भी तथ्य अपने स्थान पर यथावत् बना रहता है।

खाद्य पदार्थों के गुणधर्म उनके भीतर सन्निहित होते हैं। उनके स्वाद को देखा नहीं, स्वादेन्द्रिय के ठीक रहने पर मात्र अनुभव किया जा सकता है। जिनकी जिव्हा जन्म से ही रोग-ग्रस्त हो, स्वाद का अनुभव नहीं कर पाती हो उनके लिए यह आश्चर्य, अविश्वास एवं कौतूहल का विषय बना रहेगा कि वस्तुओं में स्वाद भी होता है। जिव्हा से अनुभूति होते हुए स्वाद के मूल स्वरूप का दर्शन कर सकना सर्वथा असम्भव है। गन्ध का वास्तविक रूप कैसा होता है, यह दृष्टिगम्य नहीं अनुभूतिगम्य है।

विविध प्रकार की भौतिक शक्तियों का परिचय उनके गुण-धर्मों, विशेषताओं के आधार पर मिलता है और यह भी तभी सम्भव है, जब ज्ञानेन्द्रियाँ उनकी विशेषताओं, सम्वेदनाओं को ग्रहण कर पाने में सक्षम हों। इतने पर भी उनके मूल स्वरूप का दर्शन कर पाना न तो अब तक सम्भव हुआ है और न ही निकट भविष्य में सम्भावना ही है क्योंकि शक्ति का कोई स्वरूप नहीं होता। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई रूपी प्रत्यक्ष मापदण्ड की सीमा में वस्तुएँ आती हैं, शक्तियाँ नहीं। इस तथ्य को कोई भी विज्ञ, विचारशील, तार्किक अथवा वैज्ञानिक भी मानने से इन्कार नहीं कर सकता।

ईश्वर यदि है तो प्रत्यक्ष क्यों नहीं दीखता ? यह तर्क लोग करते रहे हैं। विकसित बुद्धि के व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व के विषय में यदि शंकालु हुए भी, तो उनकी वह शंका इतनी

स्थूल नहीं होती कि पर्याप्त खोज-बीन के बिना निष्कर्ष निकाल लिए जायें। विज्ञान का अधुनातन खोजों ने तो विकसित—मस्तिष्क और अद्यतन जानकारी वाले लोगों को अद्वैत सत्ता के प्रति नये सिरे से आस्थावान बना डाला है। यह स्वाभाविक भी है।

वस्तुतः नास्तिकता एक प्रकार की मानसिक अक्षमता मात्र है, जो अपनी हीनता ढँकने के लिए मानसिक प्रखरता का अभिनय रचती है। ऊपरी तौर पर नास्तिक बड़ा तर्कयुक्त दीखता है, लगता है कि वह अपने पैने विचारों से सत्य को छानना और पहचानना चाहता है। परन्तु इस पैनेपन के पीछे प्रायः दुर्बलताजन्य पूर्वाग्रह छिपा रहता है।

पैनी बुद्धि से विचार करें तो ईश्वर के न दिखाई पड़ने से उसके अस्तित्व पर ही शंका करने का कोई भी कारण सही नहीं सिद्ध हो पाता। ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति न हो पाना, व्यक्ति की सीमाएँ ही स्पष्ट करता है न कि ईश्वर का अनस्तित्व।

अनेक वस्तुएँ हमसे दूर होती हैं। वे हमें तब तक दिखाई नहीं पड़तीं, जब तक हम उनके इतने पास न पहुँच जाएँ कि हमारी दृष्टि—सामर्थ्य के क्षेत्र के भीतर हो जाय। दूरी के कारण वस्तुओं का न दिखाई पड़ना ही उनका न होना नहीं सूचित करता। वे हैं तो, किन्तु हम उनसे दूर हैं, बस इतना ही पता चलता है। हमारे संवेदन और ज्ञान का स्रोत मस्तिष्क है। वह मस्तिष्क ईश्वरीय सत्ता से विलग, विपरीत और दूर-दूर ही भटकता रहे, सामान्य सांसारिक विषयों तथा प्रयासों में ही उलझा रहे, तो ईश्वरानुभूति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

ईश्वर से यह दूरी मनुष्य स्वयं ही बढ़ा लेता है। अपनी हलचलों का क्षेत्र वह ऐसी ही वस्तुओं एवं इच्छाओं को पाने, पूरा करने वाला बनाये रहता है। जो ईश्वरीय चेतना की अनुभूति से उसे दूर ठेले रहती है। यद्यपि वह परम सत्ता है हमारे अति निकट तथापि यह अति समीपता भी ईश्वरानुभूति में सहायक नहीं, बाधक ही बन बैठती है। आँखों में देखने की शक्ति है लेकिन आँखों में लगा सुरमा वे स्वयं तभी देख पाती हैं, जब दर्पण में प्रतिबिम्ब देखा जाय। ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति भी सामान्य व्यक्तियों को प्रायः तभी हो पाती है, जब वे कहीं उसका प्रतिबिम्ब देखते हैं। अन्तःस्थ सत्ता का बहिर्मुखी मन को सामान्यतः अनुभव नहीं हो पाता। यद्यपि वह न केवल है, अपितु अत्यंत समीप है।

अति सामीप्य ही नहीं सादृश्य भी अनुभूति में बाधक बनता है। समुद्र में वर्षा का पानी नद-नादियों का जल मिलता है, वहाँ उनका पृथक् अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता। बाहर भिन्न गुणधर्मी वस्तुओं के बीच तो उनका अस्तित्व देखा जा सकता है। बादलों से वायुमण्डल से होकर आता पानी और पहाड़ों-मैदानों के बीच दौड़ते नदी नद तो अलग ही दिखाई पड़ते हैं, पर समुद्र के भीतर उन्हें अलग से ढूँढ़ बता पाना सम्भव नहीं रह जाता। चेतना समुद्र की बूँदें समुद्र की अलग से अनुभूति सरलता से कैसे कर पायें ? यह अति दुष्कर कार्य है। मनुष्य अनुभूतियाँ इसी परमचेतना के प्रकाश की उपस्थिति में संभव होती हैं। वह चेतना-अंश प्रकृति के विभिन्न रूपों को, उनकी हलचलों को समझने की क्षमता देता है। किन्तु चेतना के अनन्त समुद्र को देख-समझ पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। गंगा के प्रवाह में एक बोतल दवा, मदिरा या एक लोटा दूध, डाल देने के बाद फिर उसे अलग नहीं देखा पहचाना जा सकता। चेतन मन का परम चैतन्य सत्ता को देख पानी इसी प्रकार कठिन है। मन-मस्तिष्क की संरचनात्मक भिन्नता के बावजूद चेतन-तत्व उनका सामान्य गुण है। प्रकृति की बारीकियों को समझने के लिए भी असाधारण प्रयास-पुरुषार्थ अपेक्षित होते हैं किन्तु वहाँ मन मस्तिष्क चेतना के उपकरण के रूप में काम कर रहे होते हैं। स्वयं चेतना के स्वरूप को समझना स्वजाति सादृश्य के कारण अधिक कठिन होता है।

अनेक रोगों के कीटाणु या विविध शब्द तरंगें **ध्वनि** कम्पन आदि हमारे इर्द-गिर्द मौजूद

रहते हैं। माइक्रोस्कोप से आस-पास जो कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगता है साधारणतः हमें उसका भान ही नहीं होता। रेडियो सेट पर निश्चित स्टेशन पर सुनाई पड़ने अथवा टेलीविजन के पर्दे पर दिखाई पड़ने वाली शब्द-तरंगें, ध्वनि-तरंगें इसके पूर्व भी हमारे ही पास से होकर गुजर रही थीं, किन्तु उनकी सूक्ष्मता एवं हमारी दृष्टि-सामर्थ्य की सीमा के कारण उन्हें देख जान पाना सम्भव नहीं था। विभिन्न ग्रह नक्षत्रों से क्वासर पल्सर जैसे विकिरण प्रतिपल हम पर बरसते रहते हैं, परन्तु हमें उनकी प्रतीत नहीं हो पाती क्योंकि हमारी इन्द्रिय क्षमता के अनुपात में अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हैं तो परम चेतन तत्व ही लोगों की अनुभूति में अनायास कैसे आ जाये ? उस हेतु पहले वैसी सामर्थ्य विकसित करनी होगी। नेत्रहीन को सामने का रूप नहीं दिखाई पड़ता, जबकि वहीं पास खड़ा कोई नेत्रयुक्त व्यक्ति उसे सरलता से देख सकता है। ईश्वरानुभूति के लिए भी भीतरी नेत्र चाहिए, शक्ति का विकास चाहिए। मनको वैसा ढालना पड़ता है, उसे ईश्वराभिमुख बनाना होता है और उसकी अन्तर्मुखी सामर्थ्य बढ़ानी होती है।

जब मन किसी विषय में तल्लीन होता है तो समीप की ही दूसरी हलचलें कई बार, ध्यान में नहीं आतीं। कोई अध्येता अध्ययन में, वैज्ञानिक प्रयोगशाला में या दक्ष शिल्पी अपने कारखाने में जब मनोयोग से जुटा हो, तो पास से निकल जाने वाले लोगों की उन्हें कुछ भी जानकारी नहीं हो पाती। इसका कारण मन की विषय-लीन हो जाने की क्षमता एवं प्रवृत्ति ही है। सांसारिक विषय कामनाओं, हलचलों और रंग रूपों में डूबे दिल, दिमाग में जो तर्क तथा जो विश्वास रूढ़ हो जाते हैं उससे भिन्न तर्क तथा अनुभूतियाँ समझ में ही नहीं आतीं। उस ओर ध्यान ही नहीं जा पाता। अतः ईश्वरानुभूति से सम्बन्धित बातों की ओर यदि कुछ लोगों का मन ही न जाए, तो इसी से उनकी निस्सारता या आधारहीनता नहीं सिद्ध होती।

दिन के समय तारे दिखाई नहीं पड़ते। यद्यपि वे होते उस समय भी आकाश में ही हैं। अपने सामान्य क्रम में वहाँ विद्यमान होने पर भी वे लोगों के लिए अप्रकट होते हैं। यह उन तारों के वास्तविक तिरोभाव न होकर भी मनुष्य के लिए तो उनका तिरोभाव ही है। दिन के मनुष्य के लिए तो उनका तिरोभाव ही है। दिन के प्रकाश की चकाचौंध को भेदकर ऊँचे आकाश की ओर दूर तक ताक सकने की क्षमता मनुष्य की आँखों में नहीं है। जागतिक चकाचौंध इससे कम नहीं, अधिक प्रखर ही होती है। उनमें डूबे लोग ईश्वरीय आलोक को देख समझ न पायें, इसमें आश्चर्य की कोई अधिक बात नहीं। जब इस आपाधापी में ही मन नहीं डूबने-उतराने दिया जाता वरन् साथ ही साधना-उपासना द्वारा अपनी आन्तरिक क्षमताएँ विकसित, परिष्कृत करली जाती हैं, तो ईश्वरीय सत्ता की प्रतिपल अनुभूति स्वाभाविक हो जाती है।

परमात्मा वस्तु अथवा व्यक्ति नहीं जो इन स्थूल नेत्रों से देखा जा सके। वह एक सर्वव्यापक शक्ति है, जो जड़-चेतन सभी में समायी हुई है। उसी की प्रेरणा से सभी चेतन प्राणी गतिशील हैं। सृष्टि के प्रत्येक घटक में सुव्यवस्था, नियम एवं सुसंचालन का होना इस बात का प्रमाण है कि किसी सर्वसमर्थ अदृश्य हाथों में इसकी बागडोर है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो लघु परमाणु से लेकर विशाल ब्रह्माण्ड तक उसी की सत्ता क्रीड़ा-कल्लोल कर रही है। सामान्य कृतियों के लिए भी कितना अधिक श्रम, पुरुषार्थ एवं बुद्धि का नियोजन करना पड़ता है। छोटे-बड़े यन्त्रों का निर्माण सुसंचालन अपने आप नहीं हो जाता। सर्वविदित है कि मनुष्य को कितना अधिक नियन्त्रण रखना पड़ता है, तब कहीं जाकर यन्त्र अभीष्ट प्रयोजन पूरा कर पाता है। यह तो मनुष्य द्वारा विनिर्मित सामान्य कृतियों की बात हुई। विशाल सृष्टि अपने आप बनकर तैयार हो गई और स्वसंचालित है यह बात भी बुद्धि के पल्ले नहीं पड़ती।

हमारा अस्तित्व है, यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि कोई आदि कारण सत्ता भी है। जीवन है तो जीवन का स्रोत भी है। यदि चेतना है तो चेतना का आदि स्थल भी है। शक्ति है तो शक्ति का उद्गम स्रोत का होना भी सुनिश्चित है। जो सबका कारण, जीवन शक्ति, ज्ञान का, आनन्द का आदि स्रोत है वही परमात्म है। उसी को विभिन्न धर्मानुयायी अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। शैवलोग उसे शिव कहकर पूजते हैं। वेदान्ती उसी को ब्रह्म कहते हैं। बौद्ध बुद्ध तथा जैन धर्मावलम्बी उसी को 'अरहन्त' और मीमांसक 'कर्म' के रूप में देखते हैं। उपनिषदों के अनुयायी उसे शुद्ध-बुद्ध मुक्ति स्वभाव का मानते हैं तो कपिल के समर्थक आदि विद्वान सिद्ध के रूप में। पाशुपत मत के लोग उसे निर्लिप्त स्वतन्त्र शक्ति के रूप में पूजते हैं तो वैष्णव लोग पुरुषोत्तम के स्वरूप में। 'याज्ञिक' यज्ञ परुष के रूप में मानकर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं तो सौगत लोग सर्वज्ञ के रूप में, न्यायिक मतावलम्बी सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर के रूप में, चार्वाक के अनुयायी व्यवहार सिद्ध के रूप में तथा कलाकार विश्व कर्मा के रूप में उसी का पूजन-अर्चन करते हैं। वह परम सत्ता सृष्टि में सर्वत्र विद्यमान है। कोई उसे तप कहता है तो कोई ज्ञान, कोई प्रकृति तो कोई शक्ति। वह व्यापक दृष्टा जो जगत के सभी घटकों को प्रत्यक्ष कर रहा है—स्वरूप दे रहा है उसे ही अध्यात्म की भाषा में ईश्वर कहते हैं। वैज्ञानिक उसे ही एक अदृश्य, अविज्ञात शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

अपनी सत्ता को मानने और अपने ही आदि कारण को न मानने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। उत्तर दिया जा सकता है कि वह अनुभूति में नहीं आता। भौतिक शक्तियों के विषय में जाना जा चुका है कि वे तभी अनुभूति में आती हैं, जब अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक हों। परमात्मा भी तभी अनुभूति के धरातल पर उतरता है, जबकि उनको धारण करने वाला अन्तःकरण पवित्र एवं उदात्त भावनाओं से सुसम्पन्न हो। इसी माध्यम से उसे जाना जा सकता है। अस्तु-भावनाओं का परिष्कार एवं अन्तःकरण का विस्तार ही उस परमसत्ता के साक्षात्कार का एकमात्र माध्यम है। जप, तप, साधना उपचार के अनेकानेक उपचार उसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए किये जाते हैं।

जो इस दिशा में प्रवृत्त हुए, उन्होंने न केवल उसे जाना वरन् उसके दिव्य आलिंगन को अनुभव किया। सन्त, महात्मा, ऋषि, महर्षियों के ज्वलन्त इतिहास इसी बात के प्रमाण हैं। उनके जीवन की पवित्रता, सरसता, व्यक्तित्व की महानता शक्ति एवं ज्ञान की विलक्षणता जन सामान्य को अभी भी प्रेरणा देती रहती है ?

जिस प्रकार भौतिक ऊर्जा अदृश्य होते हुए भी पंखे की गति, बल्ब में प्रकाश, हीटर में ताप जैसे विविध रूपों में हलचल करती दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार वह परमसत्ता पवित्र हृदय से पुकारने पर भावनाओं के अनुरूप कभी स्नेहमयी माँ बनकर तो कभी पिता अथवा सखा बनकर—कभी रक्षक के रूप में तो कभी शक्ति के रूप प्रकट होकर अपनी सत्ता का आभास कराती एवं अनुदान बरसाती रहती है।

ब्राह्मी चेतना : परमात्म सत्ता का विलक्षण एवं अकाट्य प्रमाण

इन्द्रियों की पकड़ स्थूल जगत तक ही सीमित है। स्थूल वस्तुओं को देख सकने एवं जान सकने की सामर्थ्य इन्द्रियों में होती है। किन्तु बहुत-सी बातें इन्द्रियों में होती हैं। किन्तु बहुत सी बातें इन्द्रियातीत हैं। किन्तु उनके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। वायु न तो दिखाई देती है न ही उसका स्वरूप निर्धारण किया जा सकता है किन्तु उसको अनुभव किया जा सकता है। दिखाई न पड़ने के आधार पर यह कहा जाय कि उसका अस्तित्व ही नहीं है तो यह कहना अविवेकपूर्ण होगा। वह दिखाई नहीं पड़ती, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया शरीर अनुभव करता है। विद्युत को प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता। प्रकाश के रूप में, बल्ब में, चलते हुये पंखे में, जलते हुये हीटर में उसकी शक्ति का आभास मिलता है। परमात्मा के सन्दर्भ में भी यही मान्यता बनायी गई। यन्त्रों अथवा इन्द्रियों की पकड़ में न आने

के कारण उसके अस्तित्व से ही इन्कार करने का दुस्साहस किया गया।

महत्त्व स्थूल स्वरूप का नहीं, बल्कि उसके अन्दर कार्य कर रही शक्ति का है, जिसका प्रमाण विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं के रूप में परिलक्षित होता है। मूलभूत सिद्धान्तों एवं विशेषताओं के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। पदार्थ सत्ता का सूक्ष्मतम कण परमाणु माना जाता रहा। नये शोधों ने पुरानी मान्यताओं को ध्वस्त किया। इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, पॉजीट्रॉन जैसे कणों के अस्तित्व का प्रमाण सामने आया। आधुनिक खोज से परमाणु स्वरूप की सारी मान्यतायें बदल गयीं। वर्तमान स्थिति यह है कि पदार्थ सत्ता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। सम्भव है स्थूल जगत के अस्तित्व को ही अगले दिनों भ्रमपूर्ण बताया जाय और अदृश्य शक्ति की सत्ता से इन्कार करने का जो उत्साह चल रहा है, वह ही सत्य का कारण बने।

परमात्मा के अस्तित्व के विषय में भी विभिन्न मान्यतायें बनायी गईं, विभिन्न स्वरूप निर्धारण किये गये, उनमें उलट-फेर होता रहा तथा आगे भी हो सकता है किन्तु कुछ मूलभूत सिद्धान्त सृष्टि में ऐसे हैं जो कभी नहीं बदलते तथा अदृश्य समर्थ सत्ता का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। (१) नियम-व्यवस्था (२) सहयोग (३) विशालता (४) उद्देश्य, चार विशेषतायें सृष्टि क्रम में ऐसी हैं जो पदार्थ से लेकर चेतन प्राणियों में दृष्टिगोचर होती हैं। विवेक दृष्टि से इसका अध्ययन किया जाय तो कोई कारण नहीं कि परमात्म सत्ता के अस्तित्व से इन्कार किया जा सके।

पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड तथा चेतन जगत में एक नियम, व्यवस्था कार्य कर रही है। प्राणी पैदा होते, क्रमशः युवा होते तथा वयोवृद्ध होकर विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में एक निश्चित उपक्रम दिखाई पड़ता है। ऐसा कभी नहीं होता कि कोई वृद्ध रूप में पैदा हो और युवा होकर बच्चे की स्थिति में पहुँचे। प्रत्येक जीव चाहे मनुष्य हो अथवा छोटे प्राणी, सभी इस व्यवस्था के अन्तर्गत ही गतिशील हैं। वृक्ष, वनस्पतियों का भी यही क्रम है। अंकुरित बीज बढ़ते तथा पेड़-पौधों में विकसित होकर पुष्प, फल देते दिखायी देते और जराजीर्ण होकर मर जाते हैं। प्राणियों एवं वनस्पतियों के उत्पत्ति होने, विकसित होकर जराजीर्ण स्थिति में आ पहुँचने और अन्ततः विनष्ट हो जाने के क्रम में शायद ही कभी कोई व्यतिक्रम देखा जाता हो।

इस नियम के अन्तर्गत दूसरी विशेषता यह जुड़ी है कि एक विशेष प्रकार के बीज से विशेष प्रकार का वृक्ष ही तैयार होगा। गेहूँ के बीज से गेहूँ तथा धान से धान ही उत्पन्न होगा। गेहूँ के बीज से धान अथवा आम के बीज से अमरूद पैदा होने की बात नहीं सुनी जाती है। यही बात प्राणियों में देखी जाती है। पुरुष-स्त्री के संयोग से मानवाकृति ही उत्पन्न होगी। अपवादों को छोड़कर एक निश्चित जातियाँ अपने समान ही जातियों को जन्म देती हैं यह निश्चित नियम प्रत्येक जीव-जन्तु तथा वनस्पतियों में देखा जाता है।

न केवल जीव जगत वरन् अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सुव्यवस्थित क्रम में गतिशील हैं। प्रत्येक ग्रह-नक्षत्र एक निश्चित गति एवं निर्धारित कक्षा में परिक्रमा करते देखे जाते हैं। भौतिक विज्ञान के ज्ञाता इस तथ्य से परिचित हैं कि इनकी गति में थोड़ा भी अन्तर आ जाय अथवा अपनी कक्षाओं से थोड़ा हटकर घूमने लगें तो सारी ब्रह्माण्ड व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है। एक ग्रह दूसरे से टकराकर चूर-चूर हो जायेगा तथा देखते-देखते महाविनाश का दृश्य उपस्थित हो जायेगा। समय की पाबन्दी, गति की सुनिश्चितता तो प्रकृति में देखते ही बनती है। सूर्य प्रातःकाल निकलता तथा सायं को डूब जाता है। ऋतुयें अपने समय पर ही आती हैं। बसन्त ऋतु अपनी छटा नियत समय पर बखेरती है। इनमें थोड़ा भी हेर-फेर सारे प्राकृतिक सन्तुलन को नष्ट कर सकता है। विराट ब्रह्माण्ड ही नहीं बल्कि पदार्थ सत्ता का सबसे छोटा कण परमाणु भी एक सुदृढ़ व्यवस्था का परिचय देता है। नाभिक में रहने वाले प्रोटॉन तथा बाहर कक्षों में घूमने वाले इलेक्ट्रॉन का सन्तुलन, कक्षाओं में घूमने की प्रक्रिया भी पूर्णरूपेण व्यवस्थित है।

गहराई तक दृष्टि दौड़ाई जाय तो ज्ञात होता है कि व्यवस्था, नियामक के अभाव में सम्भव नहीं। अपने आप तो खेतों में, जंगलों में झाड़-झंकाड़ ही उगते हैं। बगीचा लगाने, पौधे उगाने तथा अन्न, फल प्राप्त करने के लिये श्रम एवं विचार शक्ति दोनों का उपयोग करना पड़ता है। सुन्दर मकान, यन्त्र, कला आदि भी कुशल कर्त्ता का भान कराती हैं तथा यह अनुमान लगाया जाता है—उन कलाकृतियों के पीछे सुनयोजित श्रम शक्ति एवं विचार शक्ति लगी है। ऐसा कभी सम्भव नहीं कि जड़ पदार्थ अपने आप गतिशील होकर सुन्दर रचनाकृति में परिवर्तित हो जाये। अभिप्राय यह है कि मानवाकृति रचनायें भी कुशल मस्तिष्क सम्पन्न कर्त्ता का प्रमाण देती हैं, तो फिर विराट सृष्टि जिसकी कल्पना कर सकने में भी मस्तिष्क असमर्थ है, का सुनियोजित एवं व्यवस्थित स्वरूप अपने आप कैसे विनिर्मित हो सकता है। दृष्टि दौड़ाई जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि में नियमबद्धता देखी जा सकती है। यह हुई नियम की बात जिसे सृष्टि के कण-कण में सन्निहित देखा जा सकता है और किसी सुयोग्य नियामक के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरा भिन्न आधार जिसके द्वारा परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है, वह है सहयोग। इसी पर ही सृष्टि की व्यवस्था टिकी है। सहयोग की परम्परा जड़, चेतन सबमें देखी जा सकती है। जड़-चेतन में विभेद दीखता तो है किन्तु दोनों के बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक के ऊपर दूसरे का अस्तित्व टिका है। जीवन चक्र चल रहा है सूर्य उगता है, प्रकाश बखेरता है। सभी जीव-जन्तु, पेड़-पौधे उससे जीवन-प्राप्त करते हैं। अपनी प्रकाश सम्पदा को सूर्य समेट ले, बखेरना बन्द कर दे तो पृथ्वी पर से जीवन लुप्त हो जायेगा। समुद्र सूर्य देव के तप का अनुकरण करता तथा प्रकृति के सन्तुलन में अपना योगदान देता है। अपनी जल सम्पदा को सतत वाष्पित कर आकाश में बखेरता रहता है। नदियाँ समुद्र के जल की आपूर्ति करती रहती हैं। बादल समुद्र से प्राप्त अनुदान का संग्रह नहीं करता वरन् पृथ्वी को अपनी जल सम्पदा से सिक्त करता है। इस प्रकार सहयोग का यह विस्तार-चक्र चलता रहता तथा चेतना समूह का पोषण, अभिवर्धन होता रहता है।

सहयोग का यह सिद्धान्त प्राणियों, वनस्पतियों के बीच भी देखा जाता है। जीव-जन्तु, वृक्ष, वनस्पतियों से स्वच्छ ऑक्सीजन प्राप्त करते हैं जबकि पेड़-पौधे प्राणियों द्वारा निष्कासित गन्दी वायु को ग्रहण करते तथा उसी से अपना विकास करते हैं। आपसी सहयोग का यह क्रम थोड़े समय के लिये भी टूट जाय तो कुछ ही क्षणों में पृथ्वी से जीवन लुप्त हो जाय। सहयोग की यह प्राकृतिक व्यवस्था ही प्राणियों एवं वनस्पतियों के जीवन-क्रम को सुचारु रूप से चलाती रहती है।

सहयोग की प्रवृत्ति सृष्टि के कण-कण में देखी जा सकती है। पदार्थ का स्थूल स्वरूप अणुओं के परस्पर सम्बद्ध रहने से ही दिखायी पड़ता है, यदि अणु वागी हो जाय तो उसका स्वरूप बिखर जायेगा। शरीर तन्त्र को लिया जाय तथा देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि सुगठित स्वास्थ्य शरीर अंग-प्रत्यंगों के परस्पर सहयोग पर ही गतिशील है। यहाँ तक कि शरीर की इकाई कोशिकायें भी पूरी मुस्तैदी के साथ इस प्रवृत्ति को अपनाये हुये हैं। परस्पर आबद्ध रहकर शरीर को दृढ़ बनाये रखता है। भोजन ग्रहण करने, पाचन तथा रक्त में परिवर्तन से लेकर नस-नाड़ियों में रक्त के संचार की प्रक्रिया में शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की सहयोग भरी भूमिका देखी जा सकती है। इसमें थोड़ा भी व्यतिक्रम पूरे शरीर तन्त्र को अस्त-व्यस्त कर दे सकता है। हाथ कार्य बन्द कर दें तो पेट को भोजन नहीं प्राप्त हो सकेगा। पाचन तन्त्र अपनी प्रक्रिया से विमुख होने लगे तो पेट में पहुँचा आहार सड़ने लगेगा तथा विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते जायेंगे। हृदय रक्त संचार की प्रक्रिया, गुर्दे सफाई की क्रिया बन्द कर दें तो कुछ ही घन्टों में मृत्यु हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि अंग, प्रत्यंगों के सहयोग पर ही शरीर की गतिविधियाँ संचालित हैं।

सृष्टि की रचना की तीसरी विशेषता है विशालता। इसकी विशालता के कारण ही इसे ब्रह्माण्ड नाम दिया गया। ब्रह्म अर्थात् बड़ा अण्ड अर्थात् मण्डल, विराट मण्डल। भीमकाय पर्वत

अथाह समुद्र, रहस्यों से भरा अनन्त अन्तरिक्ष, असंख्यों ग्रह नक्षत्र, तारा, पिण्ड को देखकर बुद्धि आश्चर्यचकित रह जाती है। अपने सौर मण्डल के ग्रह नक्षत्रों की अब तक जितनी जानकारी मिल सकी है उसकी तुलना में कई गुना जानना अभी शेष है। एक सूर्य का भी अब तक रहस्योद्घाटन कर सकना सम्भव नहीं हो सका है। इस प्रकार के असंख्य सौर-मण्डल आकाश गंगायें ब्रह्माण्ड में होने का वर्णन शास्त्रों में आता है। अनन्त विस्तार का अनेकों सूर्यों, ग्रह नक्षत्रों से युक्त ब्रह्माण्ड की कल्पना मात्र से बुद्धि चकित हो जाती है। अविज्ञात के रहस्यमय क्षेत्र तक तो कल्पना शक्ति भी नहीं पहुँच पाती है। उनको जानना तो और भी कठिन है। परमात्मा के इस विस्तार के कारण ही भारतीय धर्म-शास्त्रों में ऋषियों ने नेति-नेति कहकर अपनी असमर्थता व्यक्त की।

विराट से कम रहस्यमय एवं विलक्षण सूक्ष्म जगत भी नहीं है। सूक्ष्मता की ओर जैसे-जैसे बढ़ते हैं, शक्ति का अनन्त सागर लहलहाता हुआ दिखाई पड़ता है। बर्फ की अपेक्षा पानी और पानी से वाष्प कहीं अधिक सामर्थ्यवान है। प्रसिद्ध जीवशास्त्री डॉ. फ्रीटुज ने पदार्थ के सूक्ष्म कण अणु का व्यास एक से. मी. का करोड़वाँ भाग बताया है। परमाणु तो इससे भी अधिक सूक्ष्मतम होता है किन्तु पदार्थ की शक्ति उसके नाभिक में केन्द्रित होती है। उसकी प्रचण्ड शक्ति से हर कोई परिचित है। स्थूल से सूक्ष्म की शक्ति कई गुनी अधिक होती है। होमियोपैथी की उपचार प्रक्रिया इसी सिद्धान्त पर आधारित है। नगण्य से दिखाई देने वाले बीज में वृक्ष के आकार-प्रकार तथा उसकी विशेषतायें छिपी पड़ी हैं। नन्हा सा शुक्राणु अपने में मनुष्य की आकृति ही नहीं व्यक्तित्व की सारी विशेषतायें छिपाये बैठा है। सोम्स क्रोमोसोम के जीन्स माता-पिता के गुणों को अपने में समेट बैठे हैं।

यह तो जड़ की बात हुई। अदृश्य सूक्ष्म की चेतन परतें तो और भी अद्‌भुत हैं। स्थूल तो मात्र कलेवर है, जो कठपुतली के धागे समान चेतन परतों द्वारा प्रसंचालित है। स्थूल कलेवर की हलचलें सूक्ष्म चेतना द्वारा ही नियन्त्रित की जाती हैं। सामान्य जीवन-क्रम में उसका एक नगण्य सा भाग व्यक्त होता है उतना मात्र ही चमत्कारी परिणाम प्रदर्शित करता है। अव्यक्त की अनन्त परतें तो और भी विलक्षण हैं। उसकी सम्भावनायें असीम हैं। उसकी विशेषताओं को देखकर ऋषि कह उठते हैं।

विराट् का असीम क्षेत्र मानवी मस्तिष्क को आश्चर्यचकित कर रहा है, वही सूक्ष्मता की ओर बढ़ने पर शक्ति का लहलहाता हुआ सागर दिखायी पड़ता है। शास्त्रकारों ने परमात्मा के विराट् एवं सूक्ष्म स्वरूप को देखकर कहा—अणोरणीयान् महतोमहीयान्।

सृष्टि रचना में सबसे प्रमुख और अन्तिम बात रह जाती है जिसके बिना उपरोक्त तीनों प्रतिपादन अधूरे रह जाते हैं, वह है सृष्टि रचना का उद्देश्य। संसार की प्रत्येक संरचना एवं घटनाओं से किसी विशिष्ट प्रयोजन की जानकारी मिलती है। पृथ्वी, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, नदियाँ, पर्वत, जीव-जन्तु सभी एक निश्चित लक्ष्य को लेकर चलते एवं पूर्ण करते हैं। जीव-जन्तुओं को जीवन धारण किये रहने के लिये पृथ्वी साधन जुटाती, अन्न फल-फूल प्रदान कर उनका पोषण करती है। सूर्य प्राण संचार करता, पेड़, पौधों, प्राणियों में शक्ति प्रदान करता है। उसके इस अनुदान से ही पृथ्वी का जीवन व्यापार चलता है। नदियाँ फसलों को सींचती तथा जीवों की प्यास बुझाती हैं। पृथ्वी पर जल की कमी न हो इसके लिये समुद्र अपने खारे जल को सतत् वाष्पित करके बादलों में परिवर्तित करता रहता है। बादल समुद्र से प्राप्त सम्पदा को पृथ्वी पर बखेरना ही अपना परम लक्ष्य समझता है तथा इसकी पूर्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहता है। विशालकाय पर्वत, जंगल आदि प्राकृतिक सन्तुलन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। सृष्टि चक्र को सन्तुलित बनाये रखने में ग्रह, नक्षत्र निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। अन्यान्य प्राकृतिक संरचनायें भी निश्चित प्रयोजनों की पूर्ति में लगी हैं। सबका सम्मिलित उद्देश्य है, प्रकृति को व्यवस्थित एवं सन्तुलित बनाये रखना। इस महती प्रयोजन में जड़ संरचनाओं की चेष्टायें लगी हैं।

न केवल जड़ प्रकृति बल्कि चेतन प्राणियों के निर्माण में भी सृष्टा का एक सुनिश्चित प्रयोजन है। अन्यान्य जीव-जन्तु इस उद्देश्य की

पूर्ति के लिये अपनी क्षमता के अनुरूप संलग्न हैं। सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ विचारशील प्राणी मनुष्य का निर्माण भी एक महान् उद्देश्य के लिये हुआ है, वह है अपने छोटे प्राणियों को सहयोग करना तथा विश्ववसुन्धरा को श्रेष्ठ, समुन्नत बनाना। अतिरिक्त विशेष क्षमतायें एवं प्रतिभायें उसे परमात्मा द्वारा इस महान लक्ष्य की पूर्ति के लिये दी गई हैं। यह देखा जाता है कि अन्य नन्हे जीव-जन्तु तथा जड़ पदार्थ अपने सुनिश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील हैं जबकि मनुष्य ही अपने महान् लक्ष्य को भूल गया है।

नियम व्यवस्था, सहयोग, विशालता, उद्देश्य इन चार सिद्धान्तों के पीछे इस अदृश्य सत्ता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जिसे सृष्टा, नियामक परिवर्तनकर्ता एवं सर्वव्यापी परमात्मा कहा जाता है। यह चार सिद्धान्त सृष्टि के कण-कण में व्याप्त देखे जा सकते हैं। दुराग्रह छोड़ा जाय तथा दूरदृष्टि अपनायी जाय तो सृष्टि के इन चारों सिद्धान्तों में परमात्म सत्ता का इतना अधिक प्रमाण बिखरा पडा है जिसे देखकर कोई भी विचारशील व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार करने का दुस्साहस न कर सके। आवश्यकता इस बात की है कि उस परम शक्ति का दर्शन अपने दिव्य नेत्रों से किया जाय, उसके सान्निध्य का लाभ उठाया जाय तथा जीवन लक्ष्य को प्राप्त किया जाय। मनुष्य जीवन की गरिमा इसी में निहित है।

ईश्वर को पाना है तो हम उसकी मर्जी पर चलें

छाया को पकड़ने के लिये दौड़ने वाले के पल्ले केवल थकान और खीज पड़ती है। इसके विपरीत प्रकाश की ओर मुँह करके चलने वाले को सहज ही यह लाभ मिलता है कि छाया उसके पीछे-पीछे चलने लगे। छाया की ओर भागने वाले का फोटो खींचने पर उसका चेहरा काला होता है किन्तु प्रकाश की ओर चलने वाले का छाया चित्र प्रकाश से भरा-पूरा स्वच्छ और स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ईश्वर प्रकाश है और माया-छाया। वासना, तृष्णा और अहंता का सम्मिश्रण माया कहलाता है। उन्हें पूरा करने के लिये मनुष्य का पुरुषार्थ कम पड़ता है। उपार्जन की एक सीमा है, किन्तु तृष्णा असीम है। महत्त्वाकांक्षाओं का कहीं अन्त नहीं। उपभोग और संग्रह से तृप्ति किसी को नहीं मिली। हिरण्याक्ष, रावण, कुबेर, सिकन्दर जैसे सुसम्पन्न समझे जाने वाले प्रबल पराक्रमी व्यक्ति भी अभाव और असन्तोष का ही रोना रोते मरे। आग पर घी डालते रहने से वह बुझती कहाँ है, उल्टे भड़कती है, न संग्रह की ललक पूरी होती है न उपभोग से तृप्ति मिलती है और न अहंकार सन्तोष दिलाने में इन्द्र जितना वैभव भी पर्याप्त सिद्ध होता है। तृप्ति और शान्ति मृगतृष्णा में भटकते रहने पर भी कहाँ मिलती है ? यह छाया के पीछे दौड़ना हुआ। इस भगदड़ में मिलता तो कुछ नहीं। जीवन के बहुमूल्य क्षण खोते, अशान्ति के गर्त में गिरते और नष्ट होते चले जाते हैं। आतुरता, अवांछनीयता का मार्ग पकड़ती है। फलतः पापों और अपयश की गठरी और अधिक बोझिल होती चली जाती है।

यही है लोक प्रवाह जिसमें कूड़े-करकट की तरह लोग किसी अनिश्चित दिशा में निरुद्देश्य बहते चले जाते हैं। रोते-कलपते जिन्दगी के दिन गुजारने वाले, मरते समय अपनी मूर्खता पर भारी पश्चात्ताप करने वाले प्रायः इसी मनःस्थिति के होते हैं। मायाग्रस्त—भव-बन्धनों से जकड़े हुये—अज्ञान के अन्धकार में भटकने वाले प्राणी प्रायः यही भूल करते हैं। उन्हें माया के ही सपने दीखते हैं। यह कोई सुझाता ही नहीं कि यह मृग-मरीचिका भी है इससे असन्तोष और अपयश के अतिरिक्त और कुछ मिलने वाला नहीं है।

बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य प्रकाश की ओर चले। ज्योति का अवलम्बन ग्रहण करे। ईश्वर के सान्निध्य में ही आलोकवान जीवन जीने का आनन्द तथा प्रकाश स्तम्भ की तरह भटकाव से असंख्यों को बचाने का श्रेय लाभ इस दूरदर्शिता को अपनाने वाले प्राप्त करते हैं। ईश्वर की साझेदारी जिस जीवन में बन पड़ेगी उसमें घाटा पड़ने की कोई सम्भावना नहीं है। यही शान्ति और प्रगति का सुनिश्चित मार्ग है।

"पूजा करना—मंशा पूरी कराना" यह बात प्रलोभन भर है। तथ्य पूर्ण नहीं। ईश्वर को हमें अपनी मर्जी पर चलाने में तभी सफलता मिल सकती है जब हम पहले उसकी मर्जी पर चलना सीखें। प्रलोभन और प्रशंसा की कीमत पर भगवान जैसी दिव्य चेतना को फुसलाकर अपना उल्लू सीधा करने में न आज तक किसी को सफलता मिली है और न भविष्य में किसी को मिलेगी। यदि इतनी छोटी प्रक्रिया में ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करना सम्भव रहा होता तो मन्दिरों के पुजारी, तन्त्र-मन्त्र में उलझने-उलझाने वाले देव व्यवसायी अब तक करोड़पति बन गये होते। उनमें दरिद्र और विपन्न एक भी दिखाई न पड़ता।

ईश्वर प्राप्ति के लिये ऐसा दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप अपनाना पड़ता है जिसे प्रभु समर्पित जीवन कहा जा सके। जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आत्मिक प्रगति का मार्ग अपनाना पड़ता है और वह यह है कि हम प्रभु से प्रेरणा की याचना करें और उसके संकेतों पर चलने का साहस करें। उपासना का मर्म और उद्देश्य यही है कि मनुष्य अपने लक्ष्य को, इष्ट को समझें और उसे प्राप्त करने के लिये प्रबल प्रयास करे। उपासना कोई क्रिया-कृत्य नहीं है। उसे जादू नहीं समझा जाना चाहिये। आत्म-परिष्कार और आत्म-विकास का तत्वदर्शन ही अध्यात्म है। उपासना उसी मार्ग पर जीवन प्रक्रिया को धकेलने वाली एक शास्त्रानुमोदित और अनुभव प्रतिपादित पद्धति है। इतना समझने पर प्रकाश की ओर चल सकना बन पड़ता है। जो ऐसा साहस जुटाते हैं उन्हें निश्चित रूप से ईश्वर मिलता है। अपने को ईश्वर के हाथ बेच देने वाला व्यक्ति ही ईश्वर को खरीद सकने में समर्थ होता है। ईश्वर के संकेतों पर चलने वाले में ही इतनी सामर्थ्य उत्पन्न होती है कि ईश्वर को अपने संकेतों पर चला सके। लालच की पूर्ति के लिये ईश्वर को फुसलाने वाली विडम्बनायें लोग रचते तो हैं पर उनमें किसी का भी सफल होना असम्भव है। ज्ञान का देवता—अज्ञानियों की लिप्सा पूरी करने के लिये निमित्त बनना स्वीकार कर लेगा ऐसी आशा करना दुराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब से ६० वर्ष पूर्व युग निर्माण मिशन के सूत्र संचालक के सम्मुख ऐसा ही आमन्त्रण आया था। प्रत्यक्ष दृष्टि का हर पक्ष उसे स्वीकार करने में हानि देखता था। तथाकथित मित्रों और स्वजनों में से एक भी उसे स्वीकार करने का समर्थन नहीं करता था। उन्हें स्पष्ट हानि दिखाई पड़ती थी। असमंजस से जूझा गया। विवेक ने विजय पाई। साहसपूर्वक आव्हान स्वीकार कर लिया गया। शब्दों से नहीं हृदय से। उपासना जप, ध्यान तक सीमित नहीं रही वरन् जीवन की दिशा धारा ही उपासना के साथ जोड़ दी गई। लम्बे अनुभव के बाद इस वसन्त पर पूरे विश्वास के साथ यह कहा जा रहा है कि आरम्भ में घाटे का सौदा लगने वाला आत्मा का परमात्मा को वरण करने का दुस्साहस अपने प्रथम चरण में नव-वधू के असमंजस जैसा अटपटा भले ही लगे पर अन्ततः उसमें लाभ ही लाभ है। इतना बड़ा लाभ जितना अन्य किसी व्यवसाय से सम्भव नहीं है। इन पंक्तियों के लेखक की जीवन यात्रा प्रवृत्ति और उपलब्धि को साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई विश्वास कर सके तो पूरे आत्म-विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का लाभ सुनिश्चित है। उसमें अविश्वास और असंमजस की कोई गुंजायश नहीं है।

हम ईश्वर की मर्जी पर चलें। उसी की प्रेरणाओं के अनुरूप अपना दृष्टिकोण बदलें और क्रिया-कलाप का अभिनव निर्धारण करें। उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का समन्वय ही हमारे अन्तःकरण में ईश्वर का अवतरण समझा जा सकता है। पवित्रता और उदारता के दो शब्दों में ही उपासना और साधना का सारा रहस्य छिपा हुआ है। जीवन-क्रम को आदर्श और अनुकरणीय बनाया जाय। गतिविधियों में परमार्थ को बढ़ा-चढ़ा स्थान देकर आत्म-विस्तार की भूमिका में प्रवेश किया जाये। अपने को ईश्वर के घर से आया और वहीं पहुँचने वाला एक प्रतिनिधि भर माना जाये। संसार क्षेत्र में वही अभिनय किया जाये जो जीवनोद्देश्य के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का यथार्थ स्वरूप यही है। न वह इससे कम में बन पड़ती है और न अधिक कुछ करने की आवश्यकता है।

इन दिनों हम सबको प्रचण्ड आत्ममन्थन करना चाहिये और सोचना चाहिये कि क्या भविष्य में भी उसी कंटीले मार्ग पर चलते रहना है जिस पर चलते-चलते इतना समय बिता दिया गया ? अथवा कोई प्रगतिशील कदम उठाना है। अच्छा हो हमारे निष्कर्ष ऐसा निर्धारण कर सकें जिनमें आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं।

अपनी भौतिक महत्वाकांक्षाओं को सीमित करें। शरीर और परिवार के निर्वाह की वैसी व्यवस्था पर्याप्त मानें जिसमें औसत भारतीय को रहना पड़ रहा है। आत्म-परिष्कार का यही प्रथम चरण है। इसे अपनाने पर अभाव और असन्तोष से निवृत्ति मिलेगी और प्रतीत होगा कि अपने पास पैसा प्रचुर परिमाण में मौजूद है जिसे आवश्यकता से अधिक कहा जा सके। दूसरा चरण यह है कि जीवन वरदान के साथ जन्मजात रूप से जुड़ी हुई विभूतियों का, उपार्जित सम्पदाओं का कहने लायक भाग ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिये प्रस्तुत किया जाये। सही लेखा-जोखा लिया जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने पास समय, श्रम, बुद्धि, प्रतिभा एवं साधनों की इतनी मात्रा मौजूद है जिससे न केवल संतोषपूर्वक निर्वाह हो सकता है वरन् उसका एक बड़ा भाग ईश्वर की प्रेरणा को पूरा करने के लिये भी दिया जा सकता है। कामना घटाई और भावना बढ़ाई जानी चाहिये। उपभोग की ललक छूटे और उपयोग का विवेक जागे तो समझना चाहिये जीवन व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का प्रयत्न चल पड़ा।

सुदामा चावल की पोटली बगल में दबाये थे और भगवान से कुछ प्राप्त करने पहुँचे थे। भगवान ने उन्हें बताया कि वे देते तो हैं पर लेने वाले की पात्रता भी परखते हैं। पोटली के चावल न दिये जा सके तो अनुदारता दिव्य अनुग्रह को धारण कैसे कर सकेगी ? सुदामा को चावल देने पड़े, इसके उपरान्त ही अनुदानों को वे पा सके। हमें पहली दृष्टि अपनी पोटली के चावलों पर डालनी होगी।

बीज गलता और वृक्ष रूप में परिणत होता है। यही सनातन रीति है। अपने को आदर्शों के लिये चलाना शुरू करें तो उसका प्रतिफल हमें कल्पवृक्ष बनने का अवसर प्रदान करेगा। फेफड़ों में भरी पिछली साँस को बाहर निकालने पर ही नई प्राण वायु का प्रवेश शरीर में होता है। मल त्याग करने के उपरान्त जब पेट खाली होता है तब भूख लगती है और नया भोजन खाया जाता है। पेट या फेफड़ों को खाली न किया जाये तो न ताजी हवा मिलेगी और न नया रक्त उत्पन्न करने वाले आहार का ही लाभ उठाया जा सकेगा। पूँजी लगाने पर व्यवसाय होता है। थैली खरचने पर थैला मिलता है। कृपणता से बढ़कर आत्मिक प्रगति में और कोई व्यवधान है नहीं। संकीर्ण स्वार्थपरता अपनाकर मनुष्य सांसारिक जीवन में तिरष्कृत होता है। ऐसे लोग किसी का स्नेह, सद्भाव एवं सहयोग अर्जित नहीं कर सकते। आध्यात्मिक जीवन का तो आधार ही उदारता है। उदारता के मूल्य पर ही सांसारिक जीवन में सहयोग खरीदा जाता है। ईश्वर के साथ आदान-प्रदान आरम्भ करने का श्रीगणेश ही सेवा धर्म अपना कर किया जाता है। कर का मनका फेरते रहने वाले यदि मन का मनका नहीं फेरते तो उनको जप साधना का अभीष्ट परिणाम नहीं उपलब्ध होता है।

सृष्टि-क्रम में यज्ञ तत्व ही सर्वोपरि है। उसके सहारे यह संसार स्थिर रहता और फलता-फूलता है। बादल अपना पानी खेतों पर बरसाते हैं, उस हानि की भरपाई समुद्र द्वारा निरन्तर होती रहती है। नदियाँ खेत-बगीचों को सींचने दौड़ती हैं तो हिमाच्छादित शिखर उनकी क्षति-पूर्ति करते हैं। जमीन को खाद देने के लिये पेड़ अपने पीले पत्ते टपकाते हैं बदले में प्रकृति उन्हें नई कोपलें ही नहीं, नये फूलों और फलों से भी लाद देती है। भेड़ अपनी ऊन परोपकार में देती है बदले में उसे हर साल नई ऊन मिलती है। रीछ अपना एक बाल भी किसी को छूने नहीं देता फलतः प्रकृति भी अपनी मुट्ठी समेट लेती है और आरम्भ में जितने बाल मिले थे उतने से अधिक पाने का फिर कभी उसे सौभाग्य ही नहीं मिलता।

ईश्वर की सजीव साझेदारी में उस ओर से पर्याप्त साधन जुटा दिये गये। अब अपनी बारी है कि अपना पक्ष भी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करें। मनुष्य जीवन का एकमात्र उद्देश्य

इस विश्व उद्यान को सुविकसित और सुसंस्कृत बनाने में ईश्वर का हाथ बटाना है। इस धरोहर को इसी प्रयोजन के लिये दिया गया है। सेवा धर्म अपनाकर हम अपने को परिष्कृत—समाज को उपकृत और ईश्वर को प्रसन्न करने का तिहरा लाभ उठाते हैं। इसकी उपेक्षा करके उपासना कृत्य का स्वरूप फुसलाने के लिये रची गई विडम्बना बनकर रह जाता है। भक्त प्रेमी होता है। प्रेम का परिचय—उदार सहयोग के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। हमें ईश्वर से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं है। पात्रता बढ़ने के साथ-साथ पिता सहज ही अपने साधन और अधिकार स्वयं ही हस्तान्तरित करता जाता है। जितना गहरा गड्ढा होगा, वर्षा का जल उसमें उतना ही भरता चला जायेगा। उथले पात्र में मेघ माला द्वारा बरसाये गये अजस्र अनुदान में से भी मात्र उतना ही मिल पाता है जितनी कि उस बर्तन की परिधि होती है। हमें अपनी पात्रता और परिधि बढ़ानी चाहिये और उसके लिये ईश्वरीय प्रयोजनों के निमित्त अपने अनुदानों की मात्रा बढ़ानी चाहिये।

योग साधन का अर्थ है उदात्त चिन्तन, तपश्चर्या का तात्पर्य है, आदर्शों के लिये कष्ट सहन। आत्मिक प्रगति की लम्बी यात्रा इन्हीं दो चरणों को क्रमिक गति से उठाते चलने पर सम्पन्न होती है। ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य पर पहुँच सकना इन्हीं दो आधारों के सहारे सम्भव होता है। हमारा व्यवसाय का परिधान जो भी हो—अन्तःदृष्टि यही रहनी चाहिये कि हमें आदर्श और उदार बनना है। इस मार्ग की एकमात्र बाधा कृपणता की संकीर्ण स्वार्थपरता को निरस्त करना है। इस सुरसा के मुँह में से निकले बिना कोई हनुमान राम-काज कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता।

प्रस्तुत वसन्त पर्व से हमारे जीवन-व्यवसाय में ईश्वर की साझेदारी का नया निर्धारण होना चाहिये। अपने को विश्व-उद्यान में माली की भूमिका निभाने वाली एक ईश्वरीय प्रतिनिधि भर मानना आरम्भ करें। शरीर और परिवार का परिपालन इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर पूरा करें कि उन्हें सुरक्षित और सुविकसित रखने की जिम्मेदारी अपने कन्धे पर आई है। यह नीति निश्चित हो सके तो औचित्य की कसौटी पर क्षण-क्षण में अपनी गतिविधियों और आकांक्षाओं को परखा जाता रहेगा कि कहीं ललक लिप्सा औचित्य की सीमा को तो नहीं छू रही है। अपने विचार और प्रयास कहीं भौतिक प्रयोजनों में ही तो सीमाबद्ध होकर नहीं रह गये हैं। समय और शक्तियों का विभाजन हमें स्वार्थ और परमार्थ दोनों के बीच करना चाहिये। भौतिक ही नहीं, आत्मिक प्रगति भी अपने लक्ष्य में सम्मिलित रहनी चाहिये। संसार को ही नहीं ईश्वर को प्रसन्न रखना भी एक बड़ा काम है। शरीर को सुखी रखना ठीक है पर आत्मा की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिये।

साझेदारी में लाभांश का, उपलब्धियों का उचित विभाजन होता है। हमें अपनी समय सम्पदा का विभाजन इस प्रकार करना चाहिये कि उसमें लोक और परलोक के दोनों ही प्रयोजना सधते रहें। चौबीस घण्टे समय में से ८ घण्टे उपार्जन के लिये ७-घन्टे सोने के लिये ५- घन्टे अन्य कार्यों के लिये लगाये जायें। २० घण्टा शरीर परिवार के लिये—लौकिक निर्वाह के लिये पर्याप्त माने जाने चाहिये। शेष चार घन्टे ईश्वरीय प्रेरणा और आत्मा की आवश्यकता पूरी करने के लिये लगने चाहिये। मस्तिष्क में चिन्तन लौकिक ही न चलता रहे। आत्म-कल्याण और विश्व कल्याण की बात सोचने में भी विचार सामर्थ्य का समुचित उपयोग होना चाहिये। अपने प्रभाव से कितने ही लोगों से सम्पर्क बनाने और उनसे लाभ उठाने में प्रतिभा का उपयोग होता रहता है। यह प्रतिभा अपने सम्पर्क क्षेत्र में सत्प्रवृत्तियाँ विकसित करने के लिये भी प्रयुक्त होनी चाहिये। अपने धन के उपार्जन का एक सुनिश्चित अंश ज्ञान यज्ञ के, युग धर्म के परिपालन में नियमित रूप से लगना चाहिये। परिवार में यदि पाँच सदस्य हैं तो एक छोटा सदस्य ईश्वर को भी माना जाय और प्रत्येक कुटुम्बी के लिये जितना, करना तथा खर्चना पड़ता है उतना ही ईश्वर के निमित्त भी नियत-निर्धारित किया जाये।

प्रातः उठते ही सोचा जाय, ईश्वर के प्रतिनिधि की तरह आज का दिन—एक जीवन—सत्प्रयोजनों की पूर्ति के लिये घर और

बाहर के क्षेत्र में व्यतीत करना है। दिन भर अपने चिन्तन और कर्तृत्व पर कड़ी दृष्टि रखी जाये और परखते रहा जाये कि उनमें निकृष्टता का समावेश तो नहीं हो रहा है। सजगता रहने से अनैतिक तत्वों का आक्रमण प्रायः नहीं हो पाता। रात्रि सोते समय मरण की गहरी अनुमति की जाये। सृष्टा के घर जाने और सौंपे गये उत्तरदायित्वों का लेखा-जोखा देने की बात स्मरण रखी जाये, तो रात की शयन बेला और प्रातःकाल की संध्या एक अच्छे धर्मोपदेशक जैसी प्रेरणायें देती रह सकती हैं। ईश्वर की साझेदारी इन्हीं आधारों को अपनाने से सम्भव है। उपासना अपना चमत्कारी प्रतिफल तभी दे सकती है जब वह जीवन साधना के रूप में परिणत हो जाये। इतना बन पड़े तो सामान्य दीखने वाला व्यक्ति भी असामान्य महामानव बनने की दिशा में द्रुतगति से अग्रसर हो सकता है। इसी में जीवन की सार्थकता है और पूर्णता भी।

ईश्वर का त्रिविध साक्षात्कार

परमात्मा की प्राप्ति और ईश्वर-दर्शन को जीवन में सबसे बड़ा लाभ माना गया है। मुक्ति यही तो है कि जीव भव-बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर ईश्वर के लोक को चला जाय या उसके स्वरूप में लीन ही रहे। जीवन का यही लक्ष्य माना गया है। उसे प्राप्त करना कुछ भी कठिन नहीं है। यदि ठीक रीति से ईश्वर का स्वरूप समझा जाय और उचित मार्ग से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाये तो यह सब उतना कठिन नहीं है जितना कि दिखाई देता है।

ईश्वर के दो स्वरूप हैं, एक सूक्ष्म दूसरा स्थूल। सूक्ष्म वह है जो हमारी अन्तरात्मा के गहन स्तर में विद्यमान रहता है, जो आँख से दिखाई नहीं पड़ता, पर प्रेम, पवित्रता, सन्तोष, उल्लास आदि के रूप में अनुभव किया जाता है। स्थूल वह है जो आँख से भी दिखाई देता है और उसके साथ व्यवहार सम्बन्ध भी रक्खा जाता है। सूक्ष्म को निराकार और स्थूल को साकार कहते हैं। दोनों ही रूपों में उसे देखा और अनुभव किया जाता है।

आत्मा के भीतर एक सूक्ष्म चेतना इस प्रकार की विद्यमान है जो निरन्तर हमारा मार्गदर्शन करती है। अनुकूल आचरण करने पर प्रशंसा करती, पीठ थपथपाती और आशीर्वाद देती है। प्रतिकूल आचरण करने पर धिक्कारती, भय दिखाती और शाप देती रहती है। इस शक्ति को प्रोत्साहित करते रहना, बलवती बनाना और अनुकूलता का आचरण करना उसकी पूजा, आराधना माना गया है। इससे निराकार ईश्वर प्रसन्न होता है और उसकी प्रसन्नता के फलस्वरूप मनुष्य सुख-शान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ता चला जाता है। ईश्वरीय प्रसन्नता का वरदान जिसे प्राप्त है उसे किसी प्रकार की अशान्ति और न्यूनता का अनुभव नहीं होता। निराकार परमात्मा की उपासना में अन्तःकरण में निरन्तर प्रसन्नता और सन्तुष्टि का रसास्वादन होता है।

साकार परमात्मा जड़-चेतन सृष्टि के अन्तराल में विद्यमान है और अपने विभिन्न आवरणों तथा स्वप्नों में इस चर्म चक्षुओं से भी हर घड़ी दिखाई देता रहता है। रामायण में **'सियाराम मय सब जग जानी। करो प्रणाम जोरि युग पानी।"** चौपाई में इसी विराट् दृश्य का अभिवादन किया गया है। नारी में सीता और नर में राम का स्वरूप धारण कर जो सत्ता ओत-प्रोत हो रही है उसे साकार ब्रह्म कहा जा सकता है। इसकी उपासना करने वाले का लौकिक जीवन हर घड़ी आनन्द और उल्लास से ओतप्रोत बना रहता है।

किसी दीन-हीन की सेवा सहायता करते हुये, शुभ कर्म में योग देते हुये, परमार्थ का कोई आदर्श उपस्थित करते हुये अपने भीतर एक बड़ी शान्ति अनुभव होती है। पाप और प्रलोभनों को ठुकराते हुये धर्म और कर्त्तव्य की रक्षा के लिये कई बार बड़े-बड़े लाभों से वंचित रहना पड़ता है। निष्ठा निबाहने में कई बार दुष्ट दुरात्माओं का बुरा बनना पड़ता है और उनके विरोध में हानि भी उठानी पड़ती है। इस पर भी अन्तःकरण में बड़ा सन्तोष अनुभव होता है कि हमने कष्ट सहे पर धर्म नहीं छोड़ा। संयम और सदाचार निबाहने में, उपासना और तपश्चर्या के कार्यक्रम अपनाने में

शारीरिक असुविधा का सामना करना पड़ता है, जिसके कारण मोटे तौर से खिन्नता होनी चाहिये, किन्तु देखा यह जाता है कि उन श्रेष्ठ सत्कर्मों में खेद नहीं वरन् भीतर ही भीतर आनन्द मिलता रहता है। दान में धन खर्च होने से हानि और घाटे के कारण दुःख होना चाहिये था पर होता उसके प्रतिकूल है। दानी का अन्तःकरण उसे प्रोत्साहन और आशीर्वाद प्रदान कर रहा होता है, उसके चेहरे पर न तो उदासीनता होती है और न खिन्नता।

ईश्वर की यही प्रत्यक्ष अनुभूति है। सूक्ष्म एवं निराकार परमात्मा हमारी अन्तरात्मा में विद्यमान रहता है और हमें आदेश देता रहता है कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं ? सत्कर्मों की प्रेरणा निरन्तर उस आत्मिक केन्द्र से उत्पन्न होती है जो उसे सुनता है, ध्यान देता है, और उसके अनुकूल आचरण करता है उसका यह आज्ञा-पालन एक श्रेष्ठ पूजन के रूप में प्रभु को सन्तुष्ट करता है। प्रसन्न हुआ परमात्मा जो आशीर्वाद देता है उसे आत्म-सन्तोष के रूप में कोई भी मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

आत्मा की पुकार के विरुद्ध ईश्वरीय आदेश के प्रतिकूल आचरण करने पर भीतर ही भीतर कोई चीज हमें कचोटती, धिक्कारती और भर्त्सना करती हुई दृष्टिगोचर होती है। किसी के चोरी करते हुये पैर काँपने लगते हैं, व्यभिचार करते हुये दिल धड़कने लगता है, अन्याय और अत्याचार का आचरण करते हुये चेहरे पर मुर्दनी छा जाती है। कुमार्ग पर पैर रखने वाला मनुष्य खिसियाता और सिटपिटाता-सा दीख पड़ता है। उसका मुँह सूखता है, वाणी लड़खड़ाती है और आत्म-प्रताड़ना की चोट से वह अपने आपको आहत जैसा अनुभव करता है। यह ईश्वरीय कोप और अभिशाप का प्रत्यक्ष चिन्ह है, बुरा काम करने का विचार मन में आते ही उसके विरोधी भाव तत्क्षण उत्पन्न होते हैं और वैसा न करने के लिये प्रतिरोध प्रस्तुत करते हैं, यदि मनुष्यता का समुचित अंश मौजूद रहा होता है तो उस प्रतिरोध को महत्त्व मिलता है, समझा जाता है और दुष्कर्मों का विचार छोड़ दिया जाता है। किन्तु यदि मन पर मलीनता का आवरण गहरा हुआ, पशुता की परत मजबूत हुये तो वह आत्मिक पुकार अनसुनी कर दी जाती है। दुष्कर्म करते-करते भी आत्मा चिल्लाती रहती है और पाप न करने का अनुरोध करती जाती है।

दुष्कर्मों का विरोध करने वाली और सत्कर्मों की प्रेरणा करने वाली प्रवृत्ति और कुछ नहीं ईश्वरीय वाणी ही है। इसे जो सुन सकते हैं उन्हें ईश्वर-विश्वासी एवं आस्तिक कहा जा सकता है। जो उस पर आचरण करते हैं वे सच्चे भक्त हैं। ऐसे ही भक्तों के वश में बने रहने की प्रतिज्ञा भगवान ने की है। भगवान की पूजा का सच्चा मार्ग यही है। आत्मा को सन्तुष्ट करना परमात्मा को सन्तुष्ट करना है। आत्मा में बैठा हुआ परमात्मा केवल एक ही प्रेरणा देता रहता है कि जीव सत्प्रवृत्तियों को ही अपनावे, धर्म को ही स्वीकार करे। अनीति और अधर्म चाहे कितने ही आकर्षक बनकर क्यों न आवें उनका परित्याग और बहिष्कार ही किया जाये। इस प्रेरणा को समझने और स्वीकार करने वाले व्यक्ति ही उपासना का सच्चा मर्म समझते हैं, फलस्वरूप उन्हें आत्म-संतोष रूप में ईश्वरीय उपहार भी तत्क्षण प्राप्त होता है। यह उपहार एक आध्यात्मिक पूँजी और दैवी सम्पदा के रूप में जिस मनुष्य के पास बढ़ता रहता है वह आत्मिक दृष्टि से अमीर बन जाता है, उसके आत्म-बल का आरपार नहीं रहता।

अन्तरात्मा में विराजमान परमात्मा की पूजा का-उसके आदर्शों पर चलते हुये संयम, सदाचार, पुण्य, परमार्थ के अवलम्बन करने का-लाभ, तत्काल आत्म-सन्तोष के रूप में प्राप्त होता है। यह लाभ जिसे जितना अधिक उपार्जित करने का अवसर मिलेगा वह उतना ही आत्म-शक्ति की सम्पत्ति से सम्पन्न होता चला जायेगा। ऐसे 'अमीरों' को लोक और परलोक में कोई वस्तु अप्राप्त नहीं रहती।

परमात्मा का दूसरा स्वरूप साकार है—इसे विराट ब्रह्म भी कहते हैं। यों आरम्भ में यह सभी को दीखता है पर उसकी महत्ता और वास्तविकता किसी-किसी को ही सूझ पड़ती है। स्थूल दृष्टि वालों को जमीन सब एक-सी लगती है पर जो वैज्ञानिक शोध के उपकरणों से

सम्पन्न तथा उस ज्ञान में पारंगत होते हैं वे जानते हैं कि किस मिट्टी की विशेषता क्या है ? उसमें क्या वस्तु उत्पन्न हो सकती है या कौन-सा खनिज उसके नीचे दबा पड़ा है ? इसी प्रकार यह संसार जड़, चेतन पदार्थों से भरा हुआ हर किसी को दीखता है। पर जो तत्वदर्शी हैं वे जानते हैं कि इसके भीतर ईश्वरीय सत्ता ही काम कर रही है। परमात्मा ने ही विभिन्न आवरण पहनकर अपना यह बहुरूपियापन धारण किया हुआ है। जो इस तथ्य को भली प्रकार समझ गया, जिसकी अन्तरात्मा में यही अनुभूति प्रत्यक्ष होने लगी उसे हर कोई प्रभु की प्रतिमूर्ति जैसा ही दिखाई पड़ता है। उसे सर्वत्र प्रभु की प्रतिमायें ही चलती-फिरती नजर आती हैं। यही ईश्वर का साकार साक्षात्कार है।

तत्त्वदर्शी भक्तों को इसी रूप में परमात्मा का साक्षात्कार होता है। अर्जुन को इसी प्रकार का प्रभु दर्शन हुआ था। अज्ञान से मोह में डूबे हुये अर्जुन ने जब भगवान कृष्ण से ईश्वर दर्शन की प्रार्थना की तो उन्होंने कहा कि यह चमड़े के नेत्रों से नहीं, दिव्य चक्षुओं से, ज्ञान नेत्रों से, तात्विक दृष्टि रखकर देखने से ही सम्भव हो सकता है। उन्होंने विराट् विश्व की ओर संकेत करके दिखाया कि यह जो कुछ भी विस्तृत संसार दीख रहा है वह परमात्मा का ही स्वरूप है। ज्ञान की दृष्टि से जब इस संसार को अर्जुन ने देखा और समझा तो उसका मन सन्तुष्ट हो गया। वस्तुतः यह विश्व ब्रह्म का ही रूप है।

यशोदा को भी एक बार ऐसे ही ब्रह्म का दर्शन कर सकने का अवसर मिला था। मिट्टी खाते हुये कृष्ण को पकड़कर जब यशोदा ले जा रही थी तो कृष्ण हँस दिये और उनके मुख में समस्त विश्व ब्रह्माण्ड उन्हें दीख पड़ा। यही तो भगवान का विराट् रूप है। रामचन्द्रजी ने भी कौशल्या को एक बार पालने में पड़े-पड़े अपना मुख खोलकर अपने भीतर ऐसे ही विराट् विश्व ब्रह्म का दर्शन कराया था। रामायण के उत्तरकाण्ड में काकभुशुण्डिजी की कथा भी इसी प्रकार आती है। वे कौए के रूप में भगवान राम के साथ खेल रहे थे। अज्ञानग्रस्त जीव का उद्धार करने के लिए उन्होंने अपना मुख खोला, काकभुशुण्डिजी उसके भीतर घुस गये। देखा तो सारा संसार लोक-लोकान्तर उसी के भीतर मौजूद है। चिरकाल तक वे उस सबको देखते फिरे अन्त में थककर जब बाहर निकले तब उन्हें ज्ञान हुआ कि ईश्वर का वास्तविक दर्शन इस विश्व की स्थिति को ठीक तरह समझ लेने से ही सम्भव हो सकता है।

साधारण मनुष्य देखते हुये भी अन्धे बने रहते हैं। वे इस जड़-चेतनमय विश्व को देखते तो रहते हैं पर समझते इसे खेल-खिलौना मात्र ही हैं। उन्हें प्राणिमय जगत् चलते-फिरते कीड़े-मकोड़ों का निर्जीव झुण्ड सरीखा लगता है। किसी के साथ अन्याय, अत्याचार, छल या दुर्व्यवहार करने में कोई आत्मग्लानि नहीं होती। अपना शरीर भर ही अपना लगता है और सब विराने दीखते हैं। स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी आदि भी उतने ही अंश में अपने लगते हैं जितने अंश में कि वे अपने लिये लाभदायक दीखते हैं। लाभ के लिये ही उनसे प्रेम किया जाता है। उन्हीं से क्यों सभी के साथ यही दृष्टि रहती है कि जो जितना स्वार्थसाधन कर सके वह उतना ही प्रिय लगे। जब जिससे अपने स्वार्थ में न्यूनता होने लगती है तब उससे उतनी ही उपेक्षा की जाती है और जब वह सर्वथा निरुपयोगी या हानिकारक हो जाता है तो शत्रु जैसा लगने लगता है। आमतौर से यही दृष्टिकोण दूसरों के प्रति रखा जाता है। दुनियाँ का यही चलन है। इसलिये साधारण बुद्धि को मायाग्रस्त कहा जाता है।

अनेक रूप धारण कर परमात्मा हमारी परीक्षा के लिये ही सामने आता रहता है और जाँच करता रहता है कि कौन व्यक्ति उनके साथ सज्जन या दुर्जन जैसा व्यवहार करता है। कहते हैं कि एक बार बूढ़ा कुत्ता सड़क के किनारे निरर्थक बैठा रहता था, किसी समझदार ने उससे पूछा—प्रियवर ! यहाँ इस तरह निरर्थक क्यों बैठे रहते हो ? कुत्ते ने कहा—"मैं यहाँ बैठा-बैठा भले-बुरे की पहचान करता रहता हूँ। जो भले हैं वे अपनी राह चले जाते हैं, जो बुरे हैं वे मुझे अकारण ही

छेड़ते और सताते जाते हैं।" प्रत्येक जीवधारी की आत्मा में बैठा हुआ भगवान हमारे आचरण, दृष्टिकोण और स्तर की परीक्षा करता रहता है। दुष्ट, दुर्जन, नीच और स्वार्थी लोग दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा नहीं समझते, वरन् उनकी कमजोरी और सज्जनता का बुरे से बुरा लाभ उठाने का प्रयत्न करते रहते हैं। स्वार्थसिद्धि के लिये किसी का कुछ भी अहित करने में उन्हें संकोच नहीं होता। ऐसे लोगों को ईश्वर से विमुख या अपरिचित ही माना जा सकता है। कितने ही लोग पूजा-पाठ करते हुये भी ईश्वर से सर्वथा विमुख और अपरिचित देखे जाते हैं।

विराट् ब्रह्म का दर्शन आँखों से नहीं, विवेक और विचारणा की सूक्ष्म दृष्टि से ही सम्भव हो सकता है। प्राणिमात्र में परमात्मा को विराजमान देखने और प्रत्येक के साथ सज्जनोचित व्यवहार को ही गीता में अध्यात्मवाद का सार बताया गया है। देव मन्दिरों में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के आगे हम वन्दना, अर्चना, नम्रता और सभ्यता का आचरण करते हैं। जड़ पदार्थों की अपेक्षा चेतन जीवों में ईश्वर की सत्ता का अंश कुछ अधिक ही है। इसलिये हमारा व्यवहार उनके साथ उससे भी अधिक श्रेष्ठ होना चाहिये जैसा कि देव प्रतिमाओं के साथ किया जाता है। जल, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प आदि से भले ही हर प्राणी की पूजा अर्चना न हो सके पर इतना तो हो ही सकता है कि प्रेम, करुणा, मैत्री, उदारता, सहानुभूति, आत्मीयता और सौजन्य से भरा हुआ व्यवहार सबके साथ करें। मीठी वाणी, नम्रता, सद्भावना, सरलता, सच्चाई और सहायता का ओत-प्रोत आचरण हम अन्य लोगों के साथ करें तो वे उतने ही प्रसन्न होंगे जितनी कि देव प्रतिमायें धूप, दीप से प्रसन्न हो सकती हैं।

ईश्वर का दर्शन विराट ब्रह्म के रूप में कर सकना सभी के लिये सरल और सम्भव है। इसमें केवल अपनी आस्था और तत्व दृष्टि को ही विकसित करना पड़ता है। तुलसीदास जी को प्रत्येक प्राणी में सियाराम की झाँकी होती थी। सन्त, भक्त ऐसी ही अनुभूति निरन्तर करते रहते हैं। नामदेव की बनाई हुई रोटी जब कुत्ता लेकर भागा तो वे उसके पीछे-पीछे घी की कटोरी भी लेकर चल दिये और पुकारते गये कि भगवान सूखी रोटी क्यों खाते हो, यह घी भी लगा लीजिये। कुत्ते में भी भगवान का प्रकाश देखने वाले और उसके साथ उदारता एवं आत्मीयता का व्यवहार करने वाले को ही भगवान का भक्त कहा जा सकता है और उन्हीं के बारे में यह माना जा सकता है कि इन्हें भगवान के दर्शन हो चुके।

एक तीसरी प्रकार का ईश्वर दर्शन और भी है, जिसमें साधना करने वाला व्यक्ति जिस व्यक्ति, जिस रूप में परमात्मा का ध्यान करता है वह ध्यान, छवि उसे कभी-कभी आँखों के आगे दिखाई देने लगती है, स्वप्न में भी ऐसे दर्शन होते हैं। किसी-किसी को ध्यान की एकाग्रता या अर्ध-तन्द्रा की स्थिति में भी ऐसा आभास होता है मानो इष्ट देवता सामने खड़े हैं, या कुछ भाव संकेत प्रकट कर रहे हैं। ऐसे दर्शनों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसमें ध्यान की प्रगाढ़ता ही प्रकट होती है। भावनाशील अन्तःकरणों में ऐसे अनुभव आसानी से होते रहते हैं और अधिक बार भी होते हैं। प्रेम, निष्ठा, तन्मयता और एकाग्रता और तन्मयता और एकाग्रता की स्थिति में दूरवर्ती प्रियजनों के भी दर्शन का आभास मिलता रहता है। किसी माता का प्यारा बच्चा मर जाय तो शोक की दशा में बहुत दिनों तक उसे उस बच्चे का इधर-उधर आने-जाने जैसा आभास मिलता-रहता है। स्वप्न में भी वह बार-बार दीखता है। यह दर्शन वास्तविक नहीं होता वरन् ध्यान की एकाग्रता और तन्मयता के फलस्वरूप भी अपना संकल्प साकार रूप धारण करके सामने आता रहता है। ईश्वर के दर्शन भी भक्तजनों को इसी प्रकार होते रहते हैं। जिसने जिस रूप या छवि को अपना इष्ट माना होगा उसका भगवान प्रायः उसी रूप में दीखता है। भगवान का यदि कोई निश्चित स्वरूप होता तो सभी भक्तों को एक रूप में दीखना चाहिये था। पर चूँकि सबको अलग-अलग प्रकार की छवियाँ अपनी मान्यता या सम्प्रदाय के अनुसार दीखती हैं। इससे प्रकट होता है कि यह ध्यान की परिपक्वावस्था ही है, तात्विक स्थिति नहीं।

इस प्रकार किसी छवि का ध्यानावस्था में, स्वप्न में या अर्धतन्द्रित स्थिति में दिखाई दे जाना, बहुत ही सामान्य श्रेणी की बात है। इसे कोई बड़ी आध्यात्मिक सफलता नहीं कह सकते। देखा गया है कि इस प्रकार के अनुभव अनेकों भक्तजन सुनाते रहते हैं जिसमें उन्हें ईश्वर दर्शन का लाभ कई-कई बार मिल चुका होता है। यदि वह दर्शन वास्तविक होता और सर्वशक्तिमान परमेश्वर उन्हें अधिकारी और प्रियपात्र मानकर स्वयं उनके समीप खिंचा चला आता तो निश्चित रूप से उनका आत्मोत्कर्ष भी होता और उसके आधार पर उनमें कोई विशेष महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठता एवं सामर्थ्य भी दृष्टिगोचर होती। पर जब यह प्रतीत होता है कि ऐसे लोगों का न तो मानसिक स्तर ऊँचा हुआ, न श्रेष्ठता बढ़ी और न महापुरुषों, ऋषियों, देवदूतों की पंक्ति में बैठ सकने लायक उनका व्यक्तित्व निखरा तो यही मानना पड़ता है कि केवल कोई भावनात्मक चित्र उनके सामने आया है, कोई कहने लायक वस्तु उन्हें बिल्कुल भी नहीं मिली। जिसकी इच्छा पूर्ण करने के लिये समस्त सृष्टि की संचालक शक्ति दौड़ती हुई खिंची चली आवेगी और उसके इच्छित स्वरूप में दर्शन देकर उसे प्रसन्न करेगी तो साथ ही वह इतना भी अवश्य करेगी कि उसके दोष-दुर्गुणों को, पाप-तापों को, शोक-सन्तापों को भी दूर कर दे और वह उत्कृष्ट कोटि का, तत्वज्ञानी और श्रेष्ठ व्यक्तियों जैसा आदर्श-जीवन बिताने लगे, सुनिश्चित सुख-शान्ति का अनुभव करने लगे।

कर्म-भोग और कष्टों से छुटकारा न मिले यह बात तो समझ में आ सकती है पर मनोविकार और अज्ञान-जन्य सन्तापों से तो निवृत्ति हो ही जानी चाहिये। यदि उतना ही लक्षण दृष्टिगोचर न हो तो समझना चाहिए कि ईश्वर दर्शन की बात मन बहलाव मात्र तक ही सीमित है।

वस्तुतः ऐसी छवि दर्शन का कोई विशेष महत्त्व नहीं है और न उससे कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है। वास्तविक ईश्वर दर्शन दो ही प्रकार सम्भव है, एक अन्तरात्मा की पुकार के रूप में। जिसके अनुसार मनुष्य संसार के समस्त प्रलोभनों और आपत्तियों की परवाह न करते हुये वह सोचता है और वही करता है जो अन्तःकरण में से प्रेरणा प्राप्त होती है। यह ध्यान रखने की बात है कि कई बार भौतिक कामनायें भी इतनी प्रबल होती हैं जो निरन्तर बेचैन किये रहती हैं। कई लोग इन्हें भी आन्तरिक प्रेरणा मान बैठते हैं। सच्चाई की परीक्षा यही है कि आत्म-प्रेरणा आदर्शों को कार्यान्वित करने और लौकिक सुखों का परित्याग करने की होती है जिसमें आदर्शों की उपेक्षा और सुख-साधनों की वृद्धि की छटपटाहट हो वह तो वासना और कामना की ज्वलन्त अग्नि ही मानी जायेगी। उसकी पूर्ति नहीं, शान्ति का प्रयत्न किया जाना चाहिये। उसे आत्मा की पुकार नहीं, शैतान का भुलावा मात्र मानना चाहिये। आत्मा की पुकार--सात्विकता, आदर्शवाद, संयम और त्याग का संपुट साथ में लिये होती है। इसे जो सुनते-समझते और सार्थक बनाते हैं उन्हें समझना चाहिये कि इन्हें ईश्वर का दर्शन होता है और ये जीवन लक्ष्य की पूर्ति के समीप ही जा पहुँचे हैं।

इसी प्रकार दूसरा दर्शन विराट् ब्रह्म की झाँकी है। सब को अपने में और अपने को सब में देखने वाला ज्ञानी गीता के अनुसार भगवान के ही दर्शन करता रहता है। जो दूसरों की पीड़ा से पीड़ित होता है, जिसे दूसरों के सुख में अपने सुख जैसा आनन्द मिलता है, उसने आत्मा की एकता को समझ लिया और इस समझदारी को ही ईश्वर की झाँकी कह सकते हैं। परमात्मा के इस रम्य उपवन भूलोक को अधिक सुन्दर, अधिक पवित्र, अधिक समुन्नत और अधिक शान्तिमय बनाने के लिये जो लोग संलग्न हैं उन्हें सच्चा ईश्वर-भक्त कहना चाहिये। माली अपने मालिक की प्रसन्नता उसके उपवन को अधिक सुरम्य बनाकर ही प्राप्त कर सकता है। किसी माता की प्रसन्नता के लिये अन्य बातों के साथ यह भी आवश्यक है कि उसके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार न किया जाय। यदि बच्चों को तो तरह-तरह से सताया जाय और माता की स्तुति, प्रशंसा, अभ्यर्थना की जाय तो यह निश्चय है कि चापलूसी से खुश न होकर माता अपने बच्चों को सताये जाने की बात का ही अधिक ध्यान रक्खेगी। कोई व्यक्ति भले ही माता की प्रशंसा न करे पर उसके बच्चों को

सुखी बनाने के साधन जुटाता रहे तो माता की प्रसन्नता सहज ही मिल जायेगी। विचारशील व्यक्ति इस तथ्य को समझते हैं और वे परमात्मा को प्रसन्न करने के लिये प्राणिमात्र के साथ सद्व्यवहार करने के लिये, परोपकार के लिये, अधिक से अधिक प्रयत्न करते हैं। यह प्रयत्नशीलता ही इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य ईश्वर को जानता है, मानता है, देखता है और उसकी पूजा-प्रसन्नता के लिये प्रयत्नशील है। ऐसा ही भक्ति सार्थक होती है, ऐसे वास्तविक ईश्वर दर्शन से ही आत्मा का कल्याण होता है और उसी से जीवन लक्ष्य की उपलब्धि सम्भव हो सकती है।

आत्म-समर्पण द्वारा प्रभु प्राप्ति

भगवान कृष्ण द्वारा गीता का महत्त्वपूर्ण उपदेश, ज्ञान देने पर भी महारथी अर्जुन का विषाद दूर नहीं हुआ। वैसे अर्जुन स्वयं भी एक नैष्ठिक साधक और दृढ़व्रती थे। जीवन में कठोर साधनाओं और तपश्चर्या के द्वारा उन्होंने अनेकों उत्कृष्ट सफलतायें अर्जित की थीं। किन्तु इन सबके बावजूद रणक्षेत्र में हुये विषाद, खिन्नता को वे शान्त न कर सके, न अपने कर्त्तव्य का निर्धारण ही। मोह और विषाद से खिन्नमना अर्जुन अन्त में भगवान के चरणों गिरकर कहने लगे—

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः,
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि

अर्थात् 'मैं धर्म को जानता हूँ पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म को जानता हूँ पर उससे मेरा छुटकारा नहीं होता। इसलिये हे हृषीकेश ! आप मेरे हृदय में निवास कीजिये, आप जिधर चलाइये, उधर चलूँगा।''

महान विचारक, परम सन्त कबीर ने कहा है—

''मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर।।

जीवन भर की साधना, साधु संगति, उपासना ज्ञानार्जन के बावजूद सन्त कबीर अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हुये, अन्त में अपने समस्त जीवन को प्रभु समर्पण करने में ही उनको जीवन का सन्तोष लाभ मिला।

सन्त विनोवा भावे ने कहा है—''चित्त शुद्धि के लिये की जाने वाली विविध साधनाओं को मैं सोड़ा या साबुन की उपमा दूँगा और ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण के भाव को जल की संज्ञा दूँगा। सोड़ा-साबुन जल के बिना काम नहीं दे सकते किन्तु सोड़ा साबुन के बिना निर्मल जल से भी सफाई का काम हो जाता है।''

आत्मा की परिपूर्णता प्राप्त कर परमात्मा में प्रतिष्ठित होने के दो मार्ग हैं, एक प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना और दूसरा अपने आपको सौंप देना। एक में विभिन्न साधनायें करनी पड़ती हैं, चिन्तन, मनन, ज्ञान के द्वारा विभिन्न उपक्रमों में सचेष्ट रहना पड़ता है। दूसरी ओर सम्पूर्ण भाव से परमात्मा के प्रति अपने आपका समर्पण करना पड़ता है। तरह-तरह की साधनायें, विधि-विधानों का अवलम्बन लेकर प्रयत्न द्वारा ईश्वर प्राप्ति की आकांक्षा रखने वाले बहुत मिल सकते हैं किन्तु सम्पूर्ण भाव से अपने परमदेव के समर्पण हो जाने वाले, जीवन में सर्वत्र ही परमात्मा को प्रतिष्ठित करने वाले, अपनी समस्त बागडोर प्रभु के हाथों सौंपकर उसकी इच्छानुसार संसार के महाभारत में लड़ने वाले अर्जुन विरले ही होते हैं।

विभिन्न साधनाओं, व्रत, तपश्चर्याओं में अपनी शक्ति का परिचय देकर अपनी साधना का हिसाब लगाने वाले साधकों में एक प्रकार का विशेष सात्विक अहंकार पैदा हो जाता है और यही एक बड़ी दीवार बनकर आत्मा और परमात्मा के बीच अवरोध खड़ा कर देता है। इसे ही शास्त्रकारों ने ज्ञानजन्य अहंकार कहा है। यही कारण है कि ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, सिद्ध योगी बनना दूसरी बात है किन्तु सम्पूर्ण भाव से परमात्मा की उपलब्धि करना, उसमें प्रतिष्ठित होना सर्वथा भिन्न है।

विभिन्न साधनाओं के रहते भी अपने समस्त कर्तृत्व, अहंकार, निजत्व की भावनाओं को मिटाकर समस्त जीवन को प्रभु चरणों में समर्पण किये बिना परमात्मा में प्रतिष्ठित होना सम्भव नहीं है।

परमात्मा के साक्षात्कार, उनमें प्रतिष्ठित होने का सरल और सहज मार्ग है, अपनी शक्ति सामर्थ्य, कर्तृत्व के अभिमान का त्याग करना और सम्पूर्ण भाव से परमात्मा को अपने आपका निवेदन समर्पण करना। तब सर्वत्र ही सबके साथ समानता, नम्रता, उदारता, आत्मीयता का सम्बन्ध बढ़ता जाता है। तब हममें सबसे ऊपर और सब के आगे रहने की प्रवृत्ति नहीं होगी वरन् सबके पीछे और नीचे प्रभु के चरण कमलों में हमारा स्थान होगा। अपने लिये नहीं वरन् सबके लिये हमारा जीवन होगा। सबके हित में अपना हित, सबके सुख में अपना सुख, यदि इन उदार भावनाओं द्वारा चरित्र का गठन नहीं होता है तो हमारा आत्म-समर्पण अधूरा है अथवा हम आत्म-समर्पण का स्वाँग रच रहे हैं।

ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करने का यह भी अर्थ नहीं है कि हम जो कुछ करें वह सब ईश्वर कर रहे हैं। यदि यह धारणा बना ली जायेगी तो एक बहुत बड़ी भूल होगी और हमारे आध्यात्मिक जीवन में एक गम्भीर दुर्घटना समझी जायेगी। आत्म-समर्पण के नाम पर अपनी बुराइयों, दुष्कृत्यों को पोषण देना, अपनी अकर्मण्यता और भाग्यवाद को प्रश्रय देना, अपने कृत्यों द्वारा प्राप्त असफलता को ईश्वर के मत्थे मढ़ना, आत्म-समर्पण की भावना के अनुकूल नहीं है। यह तो एक तरह की विडम्बना और आत्म-प्रवंचना है। समर्पण का अर्थ है—पूर्णरूपेण प्रभु को हृदय में स्वीकार करना, उनकी इच्छा प्रेरणाओं के प्रति सदैव जागरूक रहना, जीवन के प्रत्येक क्षण में उसे परिणित करते रहना।

प्रभु आपकी क्या इच्छा है ? आपका क्या आदेश है देव ! यह प्रश्न निरन्तर अन्तर में उठता रहे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि परमात्मा अपनी इच्छा, प्रेरणानुसार हमें सहज ही लक्ष्य तक पहुँचा देंगे। प्रभु की प्रेरणा, इच्छा सदैव दिव्य होती है। दिव्य प्रेरणाओं से मानव जीवन दिव्य-कर्मों में प्रयुक्त होने लगता है और मनुष्य सहज ही श्रेय की प्राप्ति कर लेता है। आत्मा की परिपूर्णता प्राप्त होकर परमात्मा में गति मिलती है।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने में कुछ दिन ही शेष थे। कौरव और पाण्डव दोनों पक्ष अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे, युद्ध के लिये। अपने-अपने पक्ष के राजाओं को निमन्त्रित कर रहे थे। भगवान श्रीकृष्ण को भी निमन्त्रित करने के लिये अर्जुन और दुर्योधन एक साथ पहुँचे। भगवान ने दोनों के समक्ष अपना चुनाव प्रश्न रक्खा। एक ओर अकेले शस्त्रहीन श्रीकृष्ण और दूसरी ओर श्रीकृष्ण की सारी सशस्त्र सेना—इन दोनों में से जिसे जो चाहिये वह माँग ले। दुर्योधन ने सारी सेना के समक्ष निशस्त्र कृष्ण को अस्वीकार कर दिया। किन्तु अपने पक्ष में अकेले निशस्त्र भगवान कृष्ण को देखकर अर्जुन मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ। अर्जुन ने भगवान को अपना सारथी बनाया। भीषण संग्राम हुआ। अन्ततः पाण्डव जीते और कौरव हार गये। इतिहास साक्षी है कि बिना लड़े भगवान कृष्ण ने अर्जुन का सारथी मात्र बनकर पाण्डवों को जिता दिया और शक्तिशाली सेना प्राप्त करके भी कौरवों को हारना पड़ा। दुर्योधन ने भूल की जो स्वयं भगवान के समक्ष सेना को ही महत्त्वपूर्ण समझा और सैन्य बल के समक्ष भगवान को ठुकरा दिया।

किन्तु आज भी हम सब दुर्योधन बने हुये हैं और निरन्तर यही भूल करते जा रहे हैं। संसारी शक्तियों, भौतिक सम्पदाओं के बल पर ही जीवन-संग्राम में विजय चाहते हैं, ईश्वर की उपेक्षा करके। हम भी तो भगवान और उनकी भौतिक स्थूल शक्ति दोनों में से दुर्योधन की तरह स्वयं ईश्वर की उपेक्षा कर रहे हैं और जीवन में संसारी शक्तियों को प्रधानता दे रहे हैं। किन्तु इससे तो कौरवों की तरह असफलता ही मिलेगी।

वस्तुतः जीत उन्हीं की होती है, जो भौतिक शक्तियों तक ही सीमित न रहकर परमात्मा को अपने जीवन-रथ का सारथी बना लेते हैं। उसे ही जीवन का सम्बल बनाकर मनुष्य इस जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त कर लेता है।

दुर्योधन, रावण, हिरण्यकश्यप, सिकन्दर आदि बड़ी-बड़ी हस्तियाँ पछताती चली गईं। भगवान के संसार में रहकर भगवान को भूलने और केवल संसारी शक्तियों को प्रधानता देने से और क्या मिल सकता है ? संसार के रणांगन

में उतरकर हम इतने अन्धे हो जाते हैं कि इस सारी सृष्टि के मालिक का आशीर्वाद लेना तो दूर, उसका स्मरण तक हम नहीं करते और भौतिक स्थूल संसार को ही प्रधानता देकर जूझ पड़ते हैं। ऐसे अहंकारी व्यक्ति चाहे कितनी भी सफलता प्राप्त क्यों न कर लें, उनकी जीवन-संग्राम में विजय संदिग्ध ही रहती है।

ईश्वर विश्वास के लिये श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भौतिक जीवन तथा शारीरिक क्षेत्र में प्रेम की सीमा होती है। जब यही प्रेम आन्तरिक अथवा आत्मिक क्षेत्र में काम करने लगता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा ही ईश्वर-विश्वास का मूल स्रोत है एवं श्रद्धा के माध्यम से ही उस विराट की अनुभूति सम्भव है। श्रद्धा समस्त जीवन-नैया के चप्पू ईश्वर के हाथों सौंप देती है। जिसकी जीवन डोर प्रभु के हाथों में हो भला उसे क्या भय ! भय तो उसी को होगा जो अपने कमजोर हाथ-पाँव अथवा संसार की शक्तियों पर भरोसा करके चलेगा। जो प्रभु का आँचल पकड़ लेता है वह निर्भय हो जाता है, उसके सम्पूर्ण जीवन में प्रभु का प्रकाश भर जाता है। तब उसके जीवन व्यापार का प्रत्येक पहलू प्रभु प्रेरित होता है, उसका चरित्र दिव्य गुणों से सम्पन्न हो जाता है, वह स्वयं परम पिता का युवराज बन जाता है। फिर उसके समक्ष समस्त संसार फीका और निस्तेज, बल-हीन, क्षुद्र जान पड़ता है। किन्तु यह सब श्रद्धा से ही सम्भव है।

"तस्मात् सर्वेषु कालेषु ममनुस्मर युध्यच।"

"हे अर्जुन तू निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ मेरी इच्छानुसार युद्ध कर।" परमात्मा सभी को यही आदेश देता है। ईश्वर का नाम लेकर उनकी इच्छा को जीवन में परिणित होने देकर जो संसार के रणांगन में उतरते हैं उन्हें अर्जुन की ही तरह निराशा का, असफलता का सामना नहीं करना पड़ता, ईश्वरेच्छा को जीवन संचालन का केन्द्र बनाने वाले की हर साँस से यही आवाज निकलती रहती है—"हे ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।" "ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।" जीवन का यही मूलमन्त्र है। महापुरुषों के जीवन इसके साक्षी हैं। स्वामी दयानन्द ने अन्तिम बार जहर खाते हुये भी कहा—"हे ईश्वर ! तेरी इच्छापूर्ण हो।" महात्मा गाँधी ने गोली खाकर कहा—"हे राम ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।" ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया तब उन्होंने भी प्रभु इच्छा को ही पूर्ण होना बताया। जीवन में हर साँस, हर धड़कन में हम प्रभु की इच्छा को ही प्रधान समझें। जीवन को प्रभु के हाथों सौंप दें तो अन्त में भी उसके पावन अंक में ही स्थान मिलेगा, साथ ही हमारा भौतिक जीवन भी दिव्य एवं महान बन जायेगा। भगवान कहते हैं—

"मन्मना भव मद्‌भक्तो मद्याजीमां नमस्कुरु।"

'मेरा भक्त बन जा सारे कर्म, अकर्म मुझे अर्पित कर दे, मैं तुझे सर्व दुःखों से पार कर दूँगा।"

अपने जीवन की बागडोर उनके हाथों देकर निश्चिन्त हो जाने वाले ही उनके विराट रूप का दर्शन कर कृतार्थ हो जाते हैं। हमें सचेत होकर अपना रथ भगवान के हाथों में देना है। परम पिता के संरक्षण में हमें अपनी विजय-यात्रा पर चलने को तैयार हो जाना है। हमारी प्रत्येक साँस और धड़कन में प्रभु का अमर संगीत गूँजता रहे, हमारे हृदय मन्दिर में विराजमान प्रभु हमारे जीवन रथ का संचालन करते रहें और अन्त में उनके पावन अंक में ही हमें स्थान मिले, ऐसी उनसे प्रार्थना है। वे ही हमारे बाहर-भीतर एक रस से व्याप रहे हैं।

ईश्वर को साझीदार बनाना घाटे का सौदा नहीं है

जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी ने एकाकी, अपने ही बलबूते पर सफलता अर्जित कर ली हो, ऐसा बहुत कम ही देखने में आता है। आहार मनुष्य जीवन की नितान्त सामान्य बात है, पर उसे जुटाने में भी कितने ही लोगों का सहयोग और साझेदारी अभीष्ट है इसे सभी जानते हैं।

कोई भी व्यक्ति अकेले गृहस्थ नहीं बसा सकता। पति-पत्नी मिलकर ही उस अभाव की पूर्ति करते हैं। एक पहिये की गाड़ी नहीं चल सकती, अकेले धन या ऋण आवेश से विद्युतधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। जीवन के लिये जल की आवश्यकता सभी समझते हैं

किन्तु काम आग के बिना भी नहीं चल सकता। एक डॉड़ से नाव एक किनारे तो खड़ी की जा सकती है पर नदी पार नहीं कर सकती। जीवन का हर व्यापार साझेदारी की नीति पर बना हुआ है जिनमें पग-पग पर औरों के सहयोग की हर किसी को आवश्यकता पड़ती है।

बड़ी और महान् उपलब्धियों में तो सहयोग की अपेक्षायें और भी सघन होती हैं। धर्मचक्र प्रवर्तन का महान् कार्य गौतम बुद्ध ने पूर्ण किया, किन्तु वह कार्य अधूरा पड़ा रहता, यदि हर्षवर्द्धन ने आगे बढ़कर साझेदारी न निभाई होती। मान्धाता और शंकराचार्य, महाराणा प्रताप और भामाशाह, समर्थ रामदास और शिवाजी, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की साझेदारी के पावन स्मारक और कृतियाँ अभी हजारों वर्षों तक भुलाये न भूलेंगी। अवतारों तक को यही नीति अपनानी पड़ी, राम के साथ लक्ष्मण का, श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन का योगदान सभी जानते हैं। अन्धे और पंगे के पूरक सिद्धान्त की तरह साझेदारी का नियम उन सभी अपूर्णताओं को दूर करता है जिसका सामना प्रायः संसार में हर किसी को करना पड़ता है।

जीवन की छोटी-छोटी बातों में जब सहयोग और साझेदारी का इतना महत्त्व है तो मनुष्य जीवन जैसे अलभ्य अवसर को सार्थक बनाने, उसे दीन-हीन तथा दरिद्र स्थिति में पड़ा रहने देने के लिये, चौरासी लाख योनियों के पश्चात् मिले सुरदुर्लभ जीवन को सफल बनाने में उसका कितना महत्त्व हो सकता है यह सहज ही समझा जा सकता है।

यह साझेदारी किसकी हो ? मनुष्य को मिली विभूतियाँ, और ईश्वर प्रदत्त क्षमतायें इतनी गरिमामय हैं जिन्हें देखकर उसे सृष्टि का राजकुमार ही कह सकते हैं। शिक्षा, दीक्षा, वाणी और विचारों के आदान-प्रदान, संस्कृति और सामाजिकता के सुन्दर उपहार किसी अन्य प्राणी को वैसे नहीं मिले जैसे कि मनुष्य को। इतने उच्चकोटि की प्रतिभा और क्षमताओं से सम्पन्न मनुष्य की साझेदारी किसी पशु-पक्षी, जीव-जन्तु से नहीं, अपने से श्रेष्ठ से ही हो सकती है। जीवन की गहराई और उस तात्विक दृष्टि के कारण भी यह साझेदारी परमात्मा की ही हो सकती है। आज का मनुष्य दीन-हीन स्थिति में यदि है तो उसका एकमात्र कारण ईश्वरीय साझेदारी से वंचित रहना है। यदि परमात्मा हमारे जीवन-व्यापार में घुल जाय तो लोहे का सा काला कुरूप जीवन पारस स्पर्श से बने स्वर्ण की तरह साकार हो सकता है। मनुष्य जीवन की अपूर्णतायें केवल मात्र परमात्मा के संस्पर्श और साझेदारी से ही पूर्ण हो सकती हैं।

साझेदारी का अर्थ है, मिल-जुलकर काम करना और साधनों को एकत्रित करके पारस्परिक सहमति से गतिविधियों का निर्धारण करने की रीति-नीति को अपनाना। जीवन एक व्यवसाय है—एक समूचा उद्योग है। इसमें ईश्वर के साथ साझेदारी को जीवन्त कर लिया जाय तो फिर घाटे की असफलता की विपन्नता आने की कोई सम्भावना नहीं है। आज का हमारा ईश्वर विमुख जीवन ही दुःख से घिरा और दारिद्रय से भरा रहता है। यदि उसमें ईश्वर की साझेदारी जुड़ सके तो अज्ञान, अशक्ति और अभाव के तीनों ही संकटों से सदा सर्वदा के लिये निवृत्ति मिल सकती है।

अमर आत्मा का विश्वास सचमुच भूलोक का अमृत है। इसे पान करने के उपरान्त मनुष्य की दिव्य दृष्टि खुलती है। वह कल्पना करता है कि मैं अतीत काल से सृष्टि के आरम्भ से एक अविचल जीवन जीता चला आया हूँ। अब तक लाखों-करोड़ों शरीर बदल चुका हूँ। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े जलचर, नभचरों के लाखों मृत शरीरों की कल्पना करता है और अन्तदृष्टि से देखता है कि—ये इतने शरीर समूह मेरे द्वारा पिछले जन्मों में काम में लाये एवं त्यागे जा चुके हैं। उसकी कल्पना भविष्य की ओर भी दौड़ती है, अनेक नवीन, सुन्दर, ताजे शक्ति सम्पन्न शरीर सुसज्जित रूप से सुरक्षित रखे हुये उसे दिखाई पड़ते हैं। जो निकट भविष्य में उसे पहनने हैं। यह कल्पना—यह धारणा—ब्रह्म विद्या के विद्यार्थी के मानस लोक में सदैव उठती, फैलती और पुष्ट होती रहती है। यह विचार-धारा धीरे-धीरे निष्ठा और श्रद्धा का रूप धारण करती जाती है। जब पूर्ण रूप से, समस्त श्रद्धा के साथ यह विश्वास करता है कि वर्तमान जीवन—मेरे महान् अनन्त जीवन का एक छोटा सा परमाणु मात्र है तो उसके समस्त मृत्यु-जन्य शोकों की समाप्ति हो जाती है। उसे बिल्कुल ठीक वही आनन्द उपलब्ध होता है जो किसी अमृत का घट पीने वाले को होना चाहिये।

"मैं पवित्र अविनाशी और निर्लिप्त आत्मा हूँ" इस महान सत्य को स्वीकार करते हुये मनुष्य अमरत्व के समीप पहुँच जाता है। उसका दृष्टिकोण अमर, सिद्ध-महात्मा और देवताओं जैसा हो जाता है। इस परिस्थिति के भवबन्धन में बँधा हुआ इधर-उधर नाचता नहीं फिरता, वरन् अपने लिये वैसे ही संसार का जान-बूझकर निर्माण करता है, जैसा आत्म-विश्वास और आत्म-परायणता का मार्ग है। यदि आप अपना सम्मान करते हैं, अपने को आदरणीय मानते हैं, अपनी श्रेष्ठता और पवित्रता पर विश्वास करते हैं तो सचमुच वैसे ही बन जाते हैं। जीवन की अन्तःचेतना उसी साँचे में ढल जाती है और रक्त के साथ दौड़ने वाली विद्युत शक्ति में ऐसा प्रवाह उत्पन्न हो जाता है, जिसके द्वारा हमारे सारे काम-काज ऐसे होने लगते हैं, जिनमें उपरोक्त भावनाओं का प्रतिविम्ब स्पष्ट दिखाई देने लगता है। आत्म-तिरष्कार करने वालों के कामों को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह नीच वृत्ति का अकर्मण्य, आलसी, दास, दीन और अपाहिज है। अपने आप का तिरस्कार करने वाले आत्म-हत्यारे अपना यह लोक भी बिगाड़ते हैं और परलोक भी।

आत्मा और अमरता पर विश्वास करना ही अमृत है।" "मैं अविनाशी हूँ," पग-पग पर दिखाई देने वाले भय को मार भगाकर निर्भयता प्रदान करने वाला यह मृत्युञ्जय बीज मन्त्र है। अपने अन्दर पवित्रता अनुभव करने में आत्म सम्मान है और अपने को अविनाशी समझने से आत्म-विश्वास का प्रादुर्भाव होता है। निराशा और भय के झूले में झूलने वाले लोगों को 'मैं अविनाशी हूँ" यह मन्त्र जीवन सन्देश देता है। वह कहता है—उठो ! कर्त्तव्य पर प्रवृत्त होओ तुम्हारा जीवन अखण्ड है, कपड़े बदल जायेंगे, पर तुम नहीं बदलोगे शरीर बदल जायेंगे, पर जीवन नहीं बदलेगा। अपने ऊपर विश्वास करो। आत्मा और परमात्मा पर विश्वास करो। तुम्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता। इस विश्वास के सहारे उसका जीवन तेजस्विता से परिपूर्ण श्रद्धामय, आनन्दमय हो जाता है।

परमात्मा को साझेदार बनाने का अर्थ है, वह प्रतिक्षण हमारे जीवन के हर क्रिया-कलाप में घुला हुआ आच्छादित रहे, हम कभी उससे रिक्त न रहें। यह वह अमृत है, जो समस्त चिन्ता और तृष्णा को समाप्त कर देता है।

जीवन में अभय की प्राप्ति, आत्मा के दर्शन, मुक्ति-निर्वाण को सर्वोपरि पुरुषार्थ कहा जाता है। उसे पाकर मनुष्य समर्थ हो जाता है, पर यह तभी है जब परमात्मा अपने साथ घुला रहे। जिसके अन्तःकरण में यह परमार्थ जाग गया उसका जीवन धन्य हुआ ही माना जाता है।

संसार के प्रत्येक व्यक्ति की इच्छायें प्रायः (१) आरोग्य और दीर्घ जीवन (२) आर्थिक सम्पन्नता (३) तथा सफलता और सम्मान की प्राप्ति के इर्द-गिर्द ही घूमती रहती हैं। हर व्यक्ति किसी ऐसे पारस पत्थर की तलाश में रहता है, जो लोहे जैसी मनोकामनाओं का स्पर्श करके ही उन्हें स्वर्ण में परिवर्तित कर दे। ऐसा कोई पत्थर संसार में किसी को मिल गया हो—ऐसा अभी तक सुनने में नहीं आया, किन्तु परमात्मा की साझेदारी एक ऐसा पारस प्रदान करती है, जो जीवन को सोने जैसा सुन्दर बना देती है उस समय यह सांसारिक इच्छायें भी तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं।

यह पारस क्या है ? यह है प्रेम। एक काला-कलूटा आदमी जिसे आप पूर्णतया कुरूप, गँवार या असभ्य कह सकते हैं, अपनी स्त्री के लिये कामदेव सा रूपवान और इन्द्र के समान सामर्थ्यवान लगता है। जैसे शची अपने इन्द्र को पाकर प्रसन्न है और अपने को सौभाग्यशालिनी मानती है, वैसे ही एक भीलनी अपने अर्धनग्न और धनहीन भील को पाकर प्रसन्न है। विचार कीजिये कि इसका कारण क्या है ? जो आदमी सबको कुरूप और गन्दा लगता है, वह एक स्त्री को इतना प्रिय क्यों लगता है ? इसका कारण है—प्रेम। प्रेम एक प्रकार का प्रकाश है, अँधियारी रात में आप अपनी बैटरी की बत्ती से किसी वस्तु पर रोशनी फेंकें तो वह वस्तु स्पष्ट रूप से चमकने लगेगी, जबकि पास में पड़ी हुई दूसरी अच्छी-अच्छी चीजें भी अँधियारी के कारण काली-कलूटी और श्रीहीन-सी मालूम पड़ेंगी, , तब

वह वस्तु जो चाहे सस्ती या भद्दी क्यों न हो बैटरी का प्रकाश पड़ने के कारण स्पष्टतया चमक रही होगी, अपने रंग-रूप का भला प्रदर्शन कर रही होगी, आँखों में जँच रही होगी। प्रेम में ऐसा ही प्रकाश है। जिस किसी से भी प्रेम किया जाता है, वही सुन्दर, गुणकारी, लाभदायक, भला, बहुमूल्य, मनभावन मालूम पड़ने लगता है। माता का दिल जानता है कि उसका बालक कितना सुन्दर है। अमीर अपने हीरे-जवाहरात और महल की जैसी कीमत अनुभव करते हैं गरीबों को अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी फटे-पुराने कपड़े और मैले-कुचैले सामान से भी वैसी ही ममता होती है।

प्रेम एक सजीव बिजली है, वह जिसके ऊपर पड़ती है, उसे गतिशील बना देती है। निराश, उदास, रूखे, गिरे हुये और झुँझलाये-झल्लाये हुये लोगों को एकदम परिवर्तित कर देती है। वे आशा, उत्साह, उमंग, प्रसन्नता और प्रफुल्लता से भर जाते हैं। देखा गया है कि उपेक्षा और तिरस्कार ने जिन लोगों को दुर्जन बना दिया था। वे ही प्रेम की डली चखकर बड़े उदार, सद्‌गुणी और सज्जन बन गये। दीपक स्नेह की चिकनाई को पीकर जलता है, मनुष्य का जीवन भी कुछ ऐसा ही है। जिसे स्नेह से सींचा गया है, उसका दिल हरा और फला-फूला रहेगा। जो स्नेह से वंचित है वह सूखा, झुँझलाया, दुःखी, निराश और अनुदार बन जायेगा। इसलिये दूसरों को यदि अपना इच्छानुवर्त्ती, मधुर-भाषी, प्रिय-व्यवहारी बनाना है तो इस निर्माण कार्य के लिये प्रेम चाहिये। अन्धकार को प्रकाश में, निर्जीवता को जीवन में, मरघट को उद्यान में बदल देने की शक्ति का नाम प्रेम है। इतना चमत्कार पूर्ण, सजीव परिवर्तन कर सकने वाली शक्ति को यदि पारस कहा जाता है तो कुछ अत्युक्ति की बात नहीं है।

ऐसा पारस वास्तव में बनाया गया होता तो सृष्टि क्रम के असन्तुलित और बाधित होने में कोई आशंका न थी, पर यह पारस जो परमात्मा के रूप में मिलता है, जीवन के हर क्षण पर श्वाँस को स्वर्णमय बना देता है। प्रेम का अन्त वहीं होता है जहाँ स्वार्थ और मोह भरा हो। जिसे ईश्वरीय सत्ता पर विश्वास होगा, जो संसार के वास्तविक स्वरूप को पहचानता होगा वह आत्मा से प्यार करेगा, शरीर से नहीं। ऐसे व्यक्ति के लिये न तो कोई अपना, न पराया वरन् सभी में एक ही प्रेमास्पद सत्ता से ओत-प्रोत दिखाई देगी। यह दिव्य दृष्टि, यह निर्मलता जीवन को आनन्दपूर्ण बना देती है। जिसने उसका रसास्वादन किया मीरा, कबीर, सूर, तुलसी, नानक बन गया है।

परमात्मा के सान्निध्य में प्राप्त होने वाली तीसरी निधि कल्पवृक्ष की है। कल्पवृक्ष तपस्वी जीवन के रूप में फलित होता है। तप का अर्थ है, सच्ची लगन और निरन्तर प्रयत्न—यही दो महान साधनायें हैं, जिनसे परमात्मा प्रसन्न होता है और इच्छित वरदान प्रदान करता है।

उदासीन, आलसी और निकम्मा व्यक्ति दो घण्टा काम करके, एक पर्वत पारकर लेने की थकान अनुभव करता है, किन्तु उत्साही, उद्यमी और अपने काम में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्ति सोने के समय को छोड़कर अन्य सारे समय लगे रहते हैं और जरा भी नहीं थकते। सच्ची लगन, दिलचस्पी, रुचि और झुकाव एक प्रकार का डायनुमा है, जो काम करने के लिये क्षमता की विद्युत-शक्ति हर घड़ी उत्पन्न करता रहता है।

उत्साह, स्फूर्ति, लगन, धुन, परिश्रम-प्रियता, साहस, धैर्य, दृढ़ता और कठिनाई को देखकर विचलित न होना यह तप के लक्षण हैं। जिसने तप द्वारा इन गुणों को पैदा किया। अपने मनोवांछित तत्व को पाने के लिये खून-पसीना बहाना सीखा; वह एक प्रकार का सिद्ध है। कल्पवृक्ष की सिद्धि उसके आगे हाथ बाँधे खड़ी रहती है। ऐसे आदमी जो चाहते हैं, कर गुजरते हैं। जो चाहते हैं प्राप्त कर लेते हैं। नेतृत्व, लोक-सेवा, धन-उपार्जन, प्रतिष्ठा, ज्ञान, भोग आदि सम्पदायें पाने को जिनके मन में लालसायें उठती हों उन्हें सबसे पहले अपने को तपस्वी बनाना चाहिये। आलस्य, प्रमाद, समय का अपव्यय, बकवाद, ठलुआपन्थी, निराशा, निरुत्साह, अस्थिरता आदि दुर्गुणों को हटाकर तपश्चर्या के सद्‌गुणों को अपने अन्दर धारण करना चाहिये। तप ही कल्पवृक्ष है। जिस किसी ने इस दुनिया में कुछ पाया है, परिश्रम से पाया है। आप भी कुछ

पाना चाहते हैं तो अदम्य उत्साह के साथ घोर परिश्रम करना अपना स्वभाव बनाइये। इस साधना के फलस्वरूप आपको कल्पवृक्ष जैसी प्रतिभा मिलेगी और उसके द्वारा आपकी सब प्रकार की इच्छा, आकांक्षायें आसानी से पूरी हो जाया करेंगी।

परमात्मा को अपने जीवन-व्यवसाय में साझीदार बनाकर उपरोक्त तीनों अनुदान-वरदान प्राप्त किये जा सकते हैं। साझे में चलने वाली कई कम्पनियाँ दूसरों से पूँजी प्राप्त कर अपना काम चलाती हैं। इसी प्रकार कई मालिकों को अपने पिता से ही उत्तराधिकार में सम्पत्ति मिल जाती है और वह उसको चतुराई से उपयोग करता हुआ अपनी सम्पन्नता, श्री समृद्धि, को बढ़ाता रहता है। परमात्मा भी आपके जीवन में यह पूँजी लगाने के लिये तैयार है। आपको भी उत्तराधिकार में यह सम्पदा प्राप्त हो रही है। आप इसका उपयुक्त नियोजन और सदुपयोग करने में जरा चतुराई बरतिये. तो सही।

ईश्वराराधना ही समस्याओं का अन्तिम उपचार

व्यक्तियों की गतिविधियाँ जब श्रेष्ठता से समन्वित रहती हैं तो उनके श्रम, समय, मनोयोग एवं साधनों का उपयोग सत्प्रयोजनों में होता है, फलतः सुखद परिस्थितियाँ बढ़ती जाती हैं, निरर्थक कार्यों में लगने से पिछड़ेपन की और अनर्थ कार्यों से अधःपतन की परिस्थितियाँ बनती हैं। जब जन प्रवाह पतनोन्मुख होता है तो सम्भवतः अभाव, संकट, एवं विद्रोह बढ़ते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया का कुचक्र चलता है और बुरे युग के—पाप युग, नरक युग के समस्त लक्षण सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। सत्प्रयत्नों के सत्परिणाम तो स्पष्ट ही हैं। धर्मराज्य, सतयुग आदि ऐसे ही समय को कहा जाता है। युग कैसा है ? कैसा होगा ? इस प्रश्नों का उत्तर यह पर्यवेक्षण करके दिया जा सकता है कि लोग क्या कर रहे हैं और क्या करने की तैयारियों में लग रहे हैं ?

कुविचार और कुकर्म बढ़ने लगें तो वातावरण में भावनात्मक विषाक्तता उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। उसका प्रतिफल व्यापक रूप से दुखद दुर्घटनाओं के रूप में परिलक्षित होता है। यही कलियुग है। चन्दन वृक्ष सुगन्धित होते हैं उन्हें छूकर जो पवन चलता है, वह दूर-दूर तक सुवास बखेरता है। पुष्प, वाटिकायें भी अपने समीपवर्ती क्षेत्र में सुगन्धित और जीव-दायिनी प्राणवायु बखेरती हैं। सज्जनों को चन्दन वृक्ष और पुष्प पादपों की संज्ञा दी जा सकती है। वे स्वयं तो आन्तरिक प्रसन्नता और साथियों की सद्भावना से सुखी-सन्तुष्ट रहते ही हैं, अपनी गरिमा का उपहार सारे वातावरण को प्रदान करते हैं। कीचड़ और कूड़े से, सड़े नाले से बदबू उठती है, विषाणु बढ़ते हैं, कुरुचिपूर्ण वातावरण बनता है और बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्यों के व्यक्तित्व यदि सड़े नाले और कूड़े के ढेर जैसे बने रहें तो उनकी विकृतियाँ उन अकेले को ही कष्ट नहीं देंगी वरन् समूचे वातावरण में अवांछनीय विक्षोभ उत्पन्न करेंगी। यही कलियुग का, पाप युग का स्वरूप है। युगों के भले—बुरे होने में व्यक्तियों का स्तर ही प्रधान कारण होता है। जन समूह के द्वारा अपनाई गई दुष्प्रवृत्तियाँ अपनी प्रतिक्रिया से समूचे वातावरण में ऐसी ही विषाक्तता उत्पन्न करती हैं जो सबके लिये सब प्रकार दुखदायी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न करती चली जाय।

विषाक्तता से वायुमण्डल का दूषित होना पदार्थ विज्ञान के आधार पर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। अध्यात्म विज्ञान के आधार पर यह जानने में भी कठिनाई न होनी चाहिये कि दुष्प्रवृत्तियों के कारण प्रकृति का सूक्ष्म अन्तराल विक्षुब्ध होता है और उसकी प्रतिक्रिया ऐसी व्यापक परिस्थितियों के रूप में बरसती है जिनसे संसार को संकटों का सामना करना पड़े। प्रकृति प्रकोप की दुर्घटनायें ऐसे ही विक्षुब्ध वातावरण की देन हैं। आवश्यक नहीं कि जहाँ के लोगों में दुष्प्रवृत्तियाँ हों वहीं बरसें। सूर्य की गर्मी से समुद्र में बादल उत्पन्न होते हैं आवश्यक नहीं कि वे समुद्र में ही बरसें। वे कहीं भी जाकर बरस सकते हैं। जब सारी धरती और सारा आसमान एक है, तो बादलों को कहीं बरसने की छूट रहती है।

प्रकृति प्रकोप के रूप में सामूहिक दण्ड-व्यवस्था ही चलती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बाढ़, तूफान, महामारी, कृमि-कीटक आदि के रूप में कई प्रकार की विकृतियाँ आये दिन दरवाजे पर खड़ी रहने की घटनायें पाप युग में होती हैं। सतयुग के सम्बन्ध में विवरण मिलता है कि तब मनुष्य दीर्घजीवी होते थे। बाप के सामने बेटा नहीं मरता था। वृक्ष मनचाहे फल देते थे। भूमि से प्रचुर अन्न उपजता था। गौएँ बहुत घी-दूध देती थीं। वर्षा उपयुक्त समय और उपयुक्त मात्रा में होती थी। प्रकृति-प्रकोप कभी नहीं होता था। यह प्रकृति की अनुकूलता मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों के साथ जुड़ी हुई है। इकॉलोजी विज्ञान के अनुसार प्रकृति की विचारशीलता, सन्तुलन व्यवस्था, दूरदर्शिता एवं न्यायप्रियता का अब क्रमशः अधिकाधिक परिचय मिलता जा रहा है। मानसिक दुष्प्रवृत्तियों का सामूहिक दण्ड भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत आता है।

व्यक्ति के कर्म का दण्ड व्यक्ति को मिलना चाहिये। यह व्यवस्था तो चलती ही है पर सामूहिक उत्तरदायित्यों से बँधा रहने के कारण मनुष्य को सामूहिक दुष्प्रवृत्तियों की रोकथाम करने का जिम्मेदार माना है। उसकी उपेक्षा की जाय तो वह भी एक पाप बनता है। स्वयं अच्छा रहना तो उचित ही है—पर उतना ही आवश्यक यह भी है कि जिस समाज में रहा जा रहा है, उसे परिष्कृत बनाये रहने की जिम्मेदारी निबाहने में भी उतनी ही तत्परता बरती जाय। अपने आप के हित साधन में लगे रहने वाले—दूसरों की उपेक्षा करने वाले स्वार्थी कहलाते हैं और निन्दा के पात्र बनते हैं। यद्यपि स्वार्थ-साधन कोई प्रत्यक्ष अपराध नहीं है और न उससे किसी मर्यादा का प्रत्यक्षतः उल्लंघन ही होता है। फिर भी व्यक्तिवादी, स्वार्थ-परायण व्यक्ति निन्दित ठहराये जाते हैं, उसका एक ही कारण है कि मनुष्य के लिये सामाजिक सुव्यवस्था के प्रति उतना ही जागरूक रहना आवश्यक माना गया है, जितना कि अपने निर्वाह और सुरक्षा का प्रबन्ध करना।

सरकार कई अपराधों के लिये सामूहिक जुर्माना करती है। समीपवर्ती क्षेत्र में अपराध होता रहे, इसका हमसे सीधा सम्बन्ध नहीं, यह सोचकर उसे रोका न जाय तो इस उपेक्षा को भी मानवी कर्त्तव्य शास्त्र में दण्डनीय अपराध माना गया है। सामूहिक जुर्माना ऐसे ही अपराधों में किये जाने की दण्ड व्यवस्था है। पड़ौस के गाँव में डकैती पड़ती रहे और जिसके पास बन्दूक का लाइसेन्स है, वह डाकुओं का सामना करने न गया तो उस कायरता को अपराध माना जायेगा और उसकी बन्दूक जब्त करली जायेगी। सामूहिक प्रकृति प्रकोप भी ऐसे ही सामूहिक दण्ड विधान के रूप में समूचे मनुष्य जाति पर बरसते हैं। आवश्यक नहीं कि जिन्हें कष्ट भुगतना पड़ा है, मात्र उन्हीं का अपराध हो। मुहल्ले में गन्दगी के ढेर जमा हों, तो जमा करने वाले भी और उसे न रोकने वाले भी उस सड़न से हानि उठावेंगे। पड़ौस का छप्पर जलता रहे और अपने घर शान्तिपूर्वक बैठे रहा जाय तो बढ़ती हुई आग अपने को भी लपेटने लगेगी। मुहल्ले में गुन्डा-गर्दी बढ़ती रहे तो अनेक सौम्य प्रकृति के बालक भी उस कुचक्र के शिकार किसी न किसी प्रकार बनकर ही रहेंगे। एक व्यक्ति दुष्टकर्म करता है, बदनामी सारे परिवार या गाँव की होती है।

यही बात प्रशंसनीय कार्य करने के सम्बन्ध में भी है। सत्कर्म करने वाला अपने वंश, परिवार, क्षेत्र, देश, युग सभी को प्रतिष्ठित करता है। यह सामूहिकता का उत्तरदायित्व जिन दिनों ठीक तरह निबाहा जाता है उन दिनों प्रकृति के अनुग्रह की वर्षा सभी पर होती है और जिन दिनों संकीर्ण स्वार्थपरता का बोल-बाला होता है तो दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं—वातावरण बिगड़ता है और दण्ड उनको भी भुगतना पड़ता है, जो प्रत्यक्षतः तो निर्दोष दिखाई पड़ते हैं, पर समूचे मानव समाज की दुष्प्रवृत्तियों को रोकने और सत्प्रवृत्तियों में संलग्न होने के प्रयास की जिम्मेदारी को न निभाने से अनायास ही अपराधी वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं।

युग परिवर्तन के लिये व्यक्ति और समाज में उत्कृष्टता के तत्वों पर अधिकाधिक समावेश करने के लिये प्रबल प्रयत्नों का किया जाना आवश्यक है। व्यक्ति को चरित्रनिष्ठ ही नहीं सामाजिक भी होना चाहिये। मात्र अपने आपको

अच्छा रखना ही पर्याप्त नहीं। अपनापन भी विस्तृत होना चाहिये।

आस्थाओं की पृष्ठभूमि वस्तुतः एक अलग धरातल है, उसका निर्माण मस्तिष्कीय संरचना की तुलना में कहीं अधिक जटिल और कहीं अधिक कठोर है। अन्तःकरण की अपनी स्वतन्त्र रचना है। उस पर बुद्धि का थोड़ा बहुत ही प्रभाव पड़ता है। सच तो यह है कि अन्तःकरण ही बुद्धि की कठपुतली को अपने इशारे से नचाता है। आन्तरिक आस्थाओं और आकांक्षाओं की जो अभिरुचि होती है, उसी को पूरा करने के लिये चतुर राजदरवारी की भूमिका मस्तिष्क को निभानी पड़ती है। उसका अपना अभिमत जो भी हो उसे करना वही पड़ता है, जो अधिपति का निर्देश है। हो सकता है कि नास्तिक वस्तुतः भौतिकता का पक्षधर हो किन्तु व्यवहार में लाते समय तब तक समर्थ न हो सकेगा जब तक अन्तःकरण भी अनुकूल न हो जाय। किसी भी नशेबाज से वार्तालाप किया जाय तो वह समझाने वाले से भी अधिक ऐसे तथ्य प्रस्तुत कर देगा जिससे नशा पीने की हानियों का प्रतिपादन होता है। इतनी जानकारी होते हुये भी वह उस लत को छोड़ने के लिये तत्पर न हो सकेगा, उसका कारण एक ही है कि नशे के पक्ष में उसके अन्तःकरण में इतनी गहरी अभिरुचि जम गयी है जिसे विचारशीलता मात्र के सहारे पलट सकना सम्भव नहीं हो पाता। शराबी आये दिन अपने को धिक्कारता है—शपथ लेता है किन्तु जब अन्दर से लत भड़कती है तो असहाय की तरह शराबखाने की ओर इस प्रकार घिसटता चला जाता है, मानो कोई बल-पूर्वक उसे अपनी पीठ पर लादकर लिये जा रहा हो। रास्ते में संकल्प-विकल्प भी उठते हैं। लौटने को मन भी करता है पर सारे तर्क एक कौने में रखे रह जाते हैं। आदत अपनी जगह स्थिर रहती है।

मस्तिष्क की यहाँ निरर्थकता नहीं बताई जा रही है और न तर्क, प्रभाव अध्ययन का—विचार साधन का—महत्त्व कम किया जा रहा है। उसकी उपयोगिता तो है ही और रहेगी ही। बात इतनी भर है कि मस्तिष्क भौतिक जीवन में अत्यन्त पेचीदा समस्याओं को सुलझाने और महत्त्वपूर्ण फैसले करने और पेचीदगियों को सरल बनाने में अद्‌भुत सूझ-बूझ का परिचय दे सकने में समर्थ होते हुये भी अन्तःकरण में जमे हुये संचित संस्कारों को प्रभावित करने में यत्किंचित ही सहायक हो पाता है। कारण कि वह गहरी परत मस्तिष्क के प्रभाव-क्षेत्र में पूरी तरह है नहीं। वरन् उल्टे मस्तिष्क को ही अपने इच्छानुकूल चलने के लिये विवश करता है।

अन्तःकरण ही मानवी सत्ता का केन्द्र बिन्दु है। वह जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अद्‌भुत। महत्वपूर्ण अर्थ में कि उसमें तनिक सा अन्तर आते ही मनुष्य का सारा स्वरूप बदल जाता है। अद्‌भुत इस अर्थ में कि भावनाओं, संवेदनाओं की दृष्टि से अति सरल होते हुये भी अपनी स्थिति के सम्बन्ध में इतना दुराग्रही है कि बदलने में अत्यन्त कठोरता का परिचय देता है। परिवर्तन के लिये किये जाने वाले साधारण प्रयत्नों को तो ऐसे ही उपहास में उड़ा देते हैं। ईश्वर से मिलने की, सूक्ष्म जगत से सम्पर्क साधने की क्षमतायें इसी मर्मस्थल में सन्निहित हैं। ऋद्धियों और सिद्धियों की समस्त रत्न राशियाँ इसी तिजोरी में भरी हुई हैं। इतने पर भी इसका खोल सकना अत्यन्त कठिन है। जानकार लोग भी अपने आपको असहाय पाते हैं। आत्मबोध की आवश्यकता समझने—समझाने वाले, उसके द्वारा मिलने वाले चमत्कारों का स्वरूप समझने वाले भी इतना संकल्प नहीं जुटा पाते कि आत्म-जागृति का लाभ उठा सकें और साक्षात्कार कर सकें। अपनी जानकारी से स्वयं लाभान्वित न हुआ जा सके तो समझना चाहिये कि कोई बहुत बड़ा कारण या अवरोध काम करता है।

अन्तःकरण की स्थिति में थोड़ा-सा परिवर्तन होते ही जीवन के स्वरूप में असाधारण परिवर्तन प्रस्तुत होता है। बाल्मीक, अजामिल, अम्बमालि, अंगुलिमाल, विल्वमंगल आदि अनेकों के दुष्ट जीवनों ने पलटा खाया और देखते-देखते काया-कल्प कर लिया। बोधिवृक्ष के नीचे एक दिन गौतम राजकुमार के अन्तःकरण ने पलटा खाया और वे दूसरे दिन ही भगवान बुद्ध बन गये। समर्थगुरु रामदास का विवाह मूहूर्त निकट था, उनके भीतर दुस्साहस पूर्वक दूसरे प्रकार का निश्चय कर बैठा। देखते-देखते सारी दिशा धारा ही उलट गई। गृहस्थों जैसा सामान्य जीवन क्रम दूसरे ही दिन महामानवों की, ऋषियों की पंक्ति में जा विराजा। ऐसे चमत्कार अन्तःकरण के परिवर्तन से ही होते रहे हैं।

उत्थान से पतन और पतन से उत्थान के अचानक परिवर्तनों के अगणित प्रमाण, उदाहरण इतिहास के पृष्ठों पर विद्यमान हैं। आरम्भिक परिस्थितियों में अन्तिम उपलब्धि तक क्रमिक गति से चलते हुये आकाश-पाताल जितना अन्तर उत्पन्न करने वाली घटनायें तो अपनी आँखों के सामने ही असंख्यों देखी जा सकती हैं। इसका मूल कारण एक ही है—अन्तःक्षेत्र की प्रबल आस्था और प्रचण्ड आकांक्षा। इतना भर सार तत्व जहाँ भी होगा, वहाँ विपरीत परिस्थितियाँ काई की तरह फटती चली जायेंगी और टिड्डी दल की तरह परामर्शों, सहयोगों और अनुकूलताओं का समूह एकत्रित होता चला आयेगा। पतित, सामान्य और महान जीवनों के अन्तरों में परिस्थिति नहीं मनःस्थिति ही आधारभूत कारण रही है।

अन्तःकरण के कठोर क्षेत्र को प्रभावित करने के लिये अध्यात्म विज्ञान का तत्व दर्शन और साधना उपचार ही प्रभावी सिद्ध होता है। योग साधना और तपश्चर्या का समूचा कलेवर इसी प्रयोजन के लिये विनिर्मित हुआ है। कठोर चट्टानें हीरे की नोंक वाले वरमे के अतिरिक्त और किसी औजार से छेदी नहीं जातीं। अन्तःकरण में जमी अवांछनीयता को निरस्त करके, उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना के लिये अध्यात्म विज्ञान का ही सहारा लेना पड़ेगा। उसी विद्या में पारंगत इन्जीनियर, अध्यात्मवेत्ता इस क्षेत्र की समस्याओं का समाधान कर सकेगा। विकृत विपन्नताओं के स्थान पर परिष्कृत परिस्थितियों की स्थापना यदि सचमुच हो तो उसका हल अध्यात्म विद्या का अवलम्बन लिये बिना और किसी प्रकार निकलेगा नहीं। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा जा सके उतना ही दिशा निर्धारण और सार्थक श्रम करने में सुविधा रहेगी।

व्यक्ति निर्माण के लिये भौतिक उपायों की सार्थकता तब है, जब अन्तःकरण के स्तर में परिवर्तन हो—दृष्टिकोण सुधरे। यह कार्य प्रशिक्षण मात्र से नहीं हो सकेगा। आस्थाओं का स्पर्श आस्थायें करती हैं। भावनाओं को भावनाओं से छुआ जाता है। काँटा, काँटे से निकलता है और विष, विष से ही मारा जाता है। आस्था अन्तःकरण की अत्यन्त गहरी परतों में अपनी जड़ जमाये बैठी रहती है। उन तक पहुँचना और सुधार परिवर्तन करना सामान्य प्रयासों से सम्भव नहीं, उसके लिये उच्चस्तर के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसमें उपासनात्मक उपचारों के अतिरिक्त अन्य प्रयत्न अभीष्ट परिणाम उत्पन्न नहीं करते।

उपासना की प्रक्रिया को अन्तःकरण की वरिष्ठ चिकित्सा समझी जानी चाहिये। कुसंस्कारों की, कषाय कल्मषों की महाव्याधि से छुटकारा पाने के लिये मात्र यही रामबाण औषधि है।

सृष्टि भी परमात्मामय है

जिस प्रकार कोई भी कलाकृति अपने निर्माता के अस्तित्व तथा व्यक्तित्व को प्रकट करती है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी अपने रचयिता, अपने शिल्पी परमात्मा को व्यक्त करती है। जिसका निर्माण हुआ है, उसका निर्माता अवश्य है—इसमें किसी प्रकार की शंका अथवा तर्क को कोई अवसर नहीं है।

यह समस्त सृष्टि एक सुनिश्चित रचना है। इस रचना का अणु-अणु एक निश्चित नियमावली से अनुशासित है, नियन्त्रित है। हजारों प्रकार की वनस्पतियाँ और लाखों प्रकार के प्राणी अपने-अपने नियमानुसार बनते और बिगड़ते रहते हैं पर क्या मजाल कि उसकी रचना में तनिक भी निन्दा अथवा गड़बड़ी हो जाय।

सूर्य समय पर निकलता, समय पर अस्त होता है। गुलाब के पौधे में गुलाब और गेंदे के पौधे में गेंदे के ही फूल खिलते हैं। आम के वृक्ष में आम और अमरूद के वृक्ष में अमरूद के ही फल लगते हैं। उसमें भी जिन वृक्षों से जिस प्रकार के फल अपेक्षित हैं उसी प्रकार के ही फल पैदा होंगे। एक रंग एक आकार और एक स्वाद। खट्टे वृक्षों में खट्टे और मीठे में मीठे फल ही उत्पन्न होंगे। निश्चित भूमि-निश्चित जलवायु और निश्चित ऋतु में ही वे उत्पन्न होंगे और निश्चित समय पर समाप्त होंगे।

एक जंगल में लाखों वनस्पतियाँ होती हैं। हजारों प्रकार के पेड़ एक के पास एक उत्पन्न होते हैं किन्तु उनकी एक भी पत्ती की बनावट में भूल नहीं होती। इमली से लेकर केले तक

की पत्तियों का एक निश्चित आकार-प्रकार होता है। एक पेड़ की पत्ती संसार के किसी दूसरे पेड़ की पत्ती से नहीं मिलती। उनमें कोई न कोई, किसी प्रकार का थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य होगा। इतनी विविधता और इतने प्रकार जानने वाला वह कलाकार, वह शिल्पी, वह निर्माता कितना ज्ञानवान, कितना चैतन्य और कितना समर्थ होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन है। विश्व की इतनी बड़ी रचना को देखकर और संचालन की अविकार विधि को देखकर ऐसा कौन अभागा होगा जो रचयिता के अस्तित्व में सन्देह करेगा।

किसी भी वृक्ष का बीज देखिये। उसके स्तर-स्तर अलग कर डालिये। उसका रेशा-रेशा चीर डालिये, कहीं से भी आपको वृक्ष का कोई आकार, उसकी कोई भी तस्वीर, उसका कोई भी अस्तित्व दृष्टिगोचर न होगा। कितना विलक्षण है, कितना अद्‌भुत है कि जब वह धरती में बो दिया जाता है, तब उसमें विविध प्रकार के वृक्ष उत्पन्न हो उठते हैं। बीज मिट्टी में मिलकर वृक्ष को जन्म देता है। जब वृक्ष अस्तित्व में आता है, तब बीज मिट चुका होता है। किन्तु पुनरपि वह वृक्षों द्वारा उत्पन्न फलों में अपना अस्तित्व, अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है प्रकृति की यह प्रक्रिया कितनी विलक्षण, अद्‌भुत और विस्मय वर्धक है। ध्यानपूर्वक इसको देखने, विचार करने और मनन करने से इसके नियामक-निर्माता और पालनकर्त्ता का ध्यान आये बिना नहीं रहता। कैसा अखण्ड अनुशासन है कि एक मिट्टी से ऊख-मिठास, मिर्च-कड़ुआहट, और करौंदा खटास प्राप्त करता है। मिट्टी को चखिये उसमें इस प्रकार का कोई रस, कोई स्वाद आप को नहीं मिलेगा। इतने रस, स्वाद और इतने गुण एक ही मिट्टी में कहाँ-कहाँ से आ जाते हैं ? यह सारे रस, आकार, प्रकार, गुण आदि और कुछ नहीं एक उसी परमात्मा शिल्पी का अपना व्यक्तित्व है। वह स्वयं धरती है, स्वयं मिट्टी है, स्वयं बीज, वृक्ष और फल है। वह ही स्वयं रस-स्वाद और गुण भी है। संसार में लाखों पशु-पक्षी और जीव-जन्तु मौजूद हैं। सब एक दूसरे से भिन्न, आकार-प्रकार, बनावट, स्वभाव विचित्र, जितने प्रकार के पक्षी उतने प्रकार के रंग, उतनी प्रकार की बोलियाँ और उतने प्रकार के गुण व स्वभाव, इन सब बातों में इतनी असीमता और अपरिमितता एक उसी विराट की याद दिलाती है।

रात-दिन, प्रकाश-अन्धकार, गर्मी-सर्दी, जल-थल आदि सब उसी की साक्षी देते हैं, उसी के अस्तित्व को प्रकट करते हैं। अग्नि जलाती है, पानी बुझाता है, वायु कम्पित करती है, जीवन जिलाता है और मृत्यु मारती है। किसके आदेश से, किसके संकेत से ? एक उसी बिन्दु की इंगित मात्र से यह सारे कार्य-कलाप होते हैं, सारी प्रक्रियायें चलती हैं। बिना उसके संकेत के एक पत्ती भी नहीं हिल सकती, एक श्वाँस का भी आवागमन नहीं हो सकता!

इतनी बड़ी रचना इतनी महान् कृति को उसने किस उद्देश्य, किस हेतु से, किसके लिये निर्मित किया है ? यह एक गहन प्रश्न है। एक गूढ़ रहस्य है। मनीषियों का मत है, कि यह सब एक उस ही परमात्मा ने अपने से अपने में, अपने लिये उत्पन्न किया है।

सृष्टि में हर ओर से ओत-प्रोत परमात्मा और परमात्मा में हर प्रकार से समाहित यह सम्पूर्ण रचना, मनुष्य के समझने के लिये है। समझकर उस रचयिता का ज्ञान प्राप्त कर आनन्द पाने के लिये है।

सृष्टि के प्रत्येक प्रत्यक्ष पदार्थ में जो अप्रत्यक्ष निराकार विस्मय है, विलक्षणता है, कौतूहल है, वही परमात्मा की झलक है जिसके सहारे मनुष्य उस चिदानन्द परमात्मा तक पहुँचता है। अपना हृदय विशाल कीजिये, अपनी दृष्टि निर्मल कीजिये और देखिये आपको सृष्टि के प्रत्येक अणु में उस विराट् बिन्दु की झाँकी देखने को मिलेगी।

परमात्मा-सत् + चित् + आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द रूप है। उसका उद्देय प्राणी-मात्र को आनन्द प्रदान करना है। मनुष्य को छोड़कर संसार का हर प्राणी एक नैसर्गिक आनन्द को प्राप्त करता है। एक मनुष्य ही ऐसा है–जो स्वतः आनन्दित नहीं दिखाई देता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि परमात्मा की इच्छा है कि वह उसके सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके आनन्द की अनुभूति प्राप्त करे। अर्थात् केवल आनन्द नहीं सच्चिदानन्द परमात्मा की पूर्ण

अनुभूति करे। सत्, चित् अर्थात् उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करके आनन्द की अनुभूति प्राप्त करे। अन्य पशु-पक्षियों की भाँति मनुष्य परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किये बिना आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे सच्चा आनन्द तब ही प्राप्त हो सकता है, जब वह परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर ले।

अपनी इच्छा के अनुरूप ही उसने मनुष्य को उपादान भी दिये हैं। अद्‌भुत शरीर और विलक्षण विवेक बुद्धि। इनका उपयोग कर मनुष्य सहज ही परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अपनी विवेक शक्ति को विकृतियों से मुक्त कर मनुष्य यदि प्रत्यक्ष संसार को एक गहरी अनुभूति से देखे, उस पर चिन्तन करे तो सहज ही वह परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान-प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य को आनन्द की खोज करने की आवश्यकता नहीं, वह तो सच्चिदानन्द परमात्मा से उत्पन्न इस आनन्द की सृष्टि में स्वयं ही ओत-प्रोत है। मनुष्य को केवल अपनी अनुभव शक्ति को प्रबुद्ध भर करना है। अनुभव शक्ति के प्रबोध के लिये उसे कोई विशेष तपस्या अथवा साधना नहीं करनी है। वह एक विस्मय मूलक दृष्टिकोण से उनकी रचना इस संसार को देखे और परम शिल्पी की परम रचना समझकर उसका सम्मान करे, इतना भर कर लेने से उसकी अनुभव शक्ति स्वतः प्रबुद्ध हो उठेगी और एक बार प्रबुद्ध हो जाने पर वह शक्ति पुनः निहित नहीं होगी।

स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल जिसको भी देखें, एक विस्मय है और कौतूहल से देखता हुआ निर्माता की सराहना में गद्-गद् हृदय हुआ मनुष्य एक दिन बिना किसी विशेष साधन के परमानन्द को अवश्य पा लेगा।

अपने सहित सृष्टि के बाहर सच्चिदानन्द परमात्मा का अस्तित्व कल्पना करने वाले जन्म-जन्मान्तर उसकी अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। परमात्मा इस सृष्टि में ही है। सृष्टि में जो कुछ है, यह सब उसी का स्वरूप है, उसी का अस्तित्व है।

अधर्म की जननी—नास्तिकता

चौकड़ी भरते हुये मृग जब सिंह के सम्मुख होते हैं तो उनकी सारी शक्ति अपंग हो जाती है। दौड़ लगाना तो दूर वे दाहिने-बायें देख भी नहीं सकते। कोतवाल को देखकर चोर की सारी हेकड़ी भूल जाती है। जेलों के कैदी वार्डनों के डंडों की खटक सुनते ही चुपचाप अपने काम से लग जाते हैं। शेर, कोतवाल, अथवा वाडन के न रहने पर जिस प्रकार मृग, चोर या कैदी ऊधम करते या मनमानी बरतने लगते हैं, नास्तिक व्यक्ति भी प्रायः वैसे ही स्वेच्छाचारी होते हैं। मनुष्य की अधोगामी वृतियों पर नियन्त्रण रखने के लिये निरन्तर साथ रहने वाले की आवश्यकता होती है, वह शक्ति परमात्मा ही हो सकता है, जिसे सर्वव्यापी समझकर मनुष्य पाप और अधर्म की ओर पाँव बढ़ाने से घबड़ाता है।

ईश्वर के अस्तित्व को संसार के प्रायः सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है और उसकी शक्तियाँ एक जैसी मानी गई हैं। उपासना, पूजा-विधि और मान्यताओं में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है और समाज की विकृत अवस्था का उन मान्यताओं पर बुरा असर भी हो सकता है। जिससे किसी भी धर्म के लोग नास्तिक जैसे जान पड़े, पर सामाजिक एकता, संगठन, सहयोग सहानुभूति आदि अनेक सद्प्रवृतियाँ तो उन जातियों में भी स्पष्ट देखी जा सकती हैं। जो जातियाँ ईश्वर के प्रति अधिक निष्ठावान् होती हैं उनमें आत्म-विश्वास, कर्तव्यपरायणता, त्याग, उदारता आदि भव्य गुणों का प्रादुर्भाव भी देखा जा सकता है। ईश्वर में विश्वास का वैज्ञानिक आधार समझ में न आये तो भी मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी इतना—महत्त्वपूर्ण होता है कि सामाजिक जीवन में सभ्यता और सदाचार की पर्याप्त मात्रा बनी रहती है। और उससे जातियों के जीवन सुविकसित, सुखी और सम्पन्न बने रहते हैं।

भारत की आदि संस्कृति और यहाँ की प्राचीन-प्रणाली की गहन गवेषणा पर उतरें तो यहाँ की सम्पूर्ण सम्पन्नता, वैभव और ऐश्वर्य, सुख-सम्पत्ति और व्यापार आदि में समुन्नति,

व्यक्तिगत जीवन में गुण और चरित्र निष्ठा आदि का मुख्य कारण यहाँ पर ईश्वर के प्रति अगाध आस्था को ही माना जा सकता है। इस विश्वास के ठोस तर्क और प्रमाण भी थे जो आज भी हैं किन्तु उन दिनों लोग उन तर्कों पर गम्भीरतापूर्वक विचार और विवेचन करते थे, ज्ञान की साधना के आधार पर यहाँ का बच्चा-बच्चा उस परमेश तत्व के प्रति अटूट भक्ति रखता था। उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान मानते थे। फलस्वरूप उनके आचरण भी उतने सुन्दर थे। अधर्म और पापाचार की बात मन में लाते हुये भी उन्हें डर होता था। उन दिनों भारत भूमि स्वर्गतुल्य रही हो तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात। धर्मशील के पास सम्पदाओं की क्या कमी। स्वर्ग का महत्त्व भी तो इसी दृष्टि से है कि वहाँ किसी प्रकार का अभाव नहीं।

आज भौतिक विज्ञान का अपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण लोग ईश्वर के अस्तित्व को मानने से इन्कार करने लगे हैं। इतना ही नहीं वे धर्म और अध्यात्म की हँसी भी उड़ाते हैं। उनकी किसी भी बात में न तो विचार की गहराई होती है और न बौद्धिक चिन्तन। हमारा आज का समाज इतना हल्का है कि वह विचारों की छिछली तह पर ही उतरकर रह गया है। आत्मिक ज्ञान और संसार के वास्तविक सत्य को जाने बिना मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण ही कहा जा सकता है। जिसे अपने आपका ज्ञान न हो, जो केवल अपने शरीर, हाड़, माँस, रक्त, मुँह, नाक, कान, हाथ आदि की बात तो सोचे, पर प्राणतत्व के सम्बन्ध में जिसको कुछ भी न मालूम हो उसे भौतिक विज्ञान के ज्ञान को पागलों की सी ही बात ठहराया जा सकता है।

सामाजिक जीवन में सत्यता और पवित्रता अक्षुण्ण रखने के लिये आस्तिकता एक महत्त्वपूर्ण उपचार सिद्ध हुआ। ईश्वर की सर्वज्ञता पर जिसे विश्वास होगा उसे उसकी न्यायप्रियता पर भी भरोसा होगा और वह ऐसा कोई भी कार्य करने से जरूर डरेगा। जिससे मानवीय-सिद्धान्तों का हनन होता हो। पर जिसके सामने ऐसा कोई नियन्त्रण न हो उसे अपने ही स्वार्थ की बातें सूझेंगी और वह प्रत्येक अपराध में अपने बचाव की कोई न कोई दलील अवश्य ढूँढ़ लेगा। इस नास्तिकता के भाव का पिछले दो सौ वर्षों में योरोपीय देशों में खूब प्रसार हुआ है और उसके अनेक दुष्परिणाम भी अब दिखने लगे हैं। भौतिकतावादी-आध्यात्म दर्शन के प्रतिपादक—पाश्चात्य दार्शनिक और समाज सुधारक भी अब इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि ईश्वर सम्बन्धी लोकमान्यता किसी भी दृष्टि से बुरी नहीं, वरन् उससे सामाजिक जीवन में उच्चता ही आती है।

यह लिखते हुये कष्ट होता है कि संसार में नास्तिकता के भाव इधर कुछ दिनों में तेजी से बढ़े हैं। धर्म, नीति-सदाचार के नियमों में किसी की आस्था नहीं रही। लौकिक ज्ञान को बढ़ाने वाले अनेकों साधन बढ़े, किन्तु पारलौकिक ज्ञान के प्रति बहुत कम लोगों में रुचि रह गई। सस्ते धर्म और नकली अध्यात्म ने लोगों की नास्तिक मनोवृत्ति को और भी बढ़ावा दिया फलस्वरूप मानव जाति दिनों-दिन नैतिक और चारित्रिक पतन की ओर अग्रसर हो रही है।

नैतिक एवं धार्मिक नियम हमारे ईश्वर-विश्वास को पुष्ट करने वाले हैं, उनके पीछे एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया एवं गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। पर उस आत्मा को वैज्ञानिक की दृष्टि से देखना होगा। हमारी इन भावनाओं को परिपक्व करने के लिये उस साहित्य के सृजन और पुनर्निर्माण की आवश्यकता होगी जो हमारी ईश्वर-निष्ठा को मजबूत कर सके।

नास्तिकता के प्रसार का कारण लोगों में आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव भी है। क्योंकि इसके न होने पर लोग मनुष्य जीवन के सही लक्ष्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते। उद्देश्य की अनभिज्ञता के कारण प्रायः स्वार्थवादी प्रवृत्तियाँ ही विकसित होती हैं। अनुचित भोग की अनियन्त्रित आकांक्षायें बार-बार कुकर्म कराती हैं। लोग दुराचरण करते हैं और उसका प्रत्यक्ष दुष्परिणाम सामाजिक जीवन में देखने को मिलता है। जहाँ त्याग, परोपकार, दया, उदारता, सज्जनता, करुणा आदि का उल्लेख ही न होता हो और लोगों को उनकी महत्ता का ज्ञान ही न हो तो वे अध्यात्म जैसे अत्यावश्यक विषय का लाभ भी कहाँ से, कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

नास्तिकता जहाँ भी फैली है, वहाँ पतनकारी और विनाशकारी परिणाम भी अवश्य देखने को मिले हैं। क्योंकि इनमें मनुष्य की भावनाओं का निरादर भरा हुआ है। नास्तिक व्यक्ति अपने लिये जीता है और अन्य लोगों के हितों की उसे चिन्ता नहीं होती। हो भी कैसे सकती है, जिसे अपनी ही चिन्ताओं से अवकाश न मिले वह दूसरों के कल्याण की बात सोच भी नहीं सकता। इतिहास साक्षी है कि आज तक जहाँ कहीं और जब कभी ऐसे विचारों का प्रचार हुआ है, उससे समाज से सद्प्रवृत्तियों का विघटन ही हुआ है और उससे लोगों की समस्यायें ही बढ़ी हैं। कानून एवं जातीय तथा स्थानीय प्रतिबन्ध जिनका स्थाई हल ढूँढ़ने में आज तक समर्थ नहीं हो पाये हैं।

आस्तिकता मनुष्य-समाज की सुख और शान्ति का मूलाधार है। वह जीवन के अन्तराल में प्रविष्ट होकर सही प्रेरणा, सही मार्ग-दर्शन देती है। व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति से लेकर सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन तक की आन्तरिक शिक्षा का बोध कराने वाली भी वही है। इस बात को अब वैज्ञानिक की मानने लगे हैं कि संसार में एक ऐसी चेतन-शक्ति काम कर रही है जो वैज्ञानिकों भी पहुँच से बहुत आगे है। उसे समझना मनुष्य के कल्याण के लिये बहुत जरूरी है। अणु जगत के पीछे उसे चलाने वाली चेतन शक्ति का अवगाहन करके मनुष्य जाति अपने विकास का एक नवपथ बना सकती है।

मनुष्य समाज की व्यवस्था और लोगों की दूषित मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण के लिये अन्तःदर्शन और आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता की पूर्ति आस्तिकता से ही सम्भव है। नास्तिकता से न व्यक्ति का भला होता है, और न समाज का। आज की विकृत स्थिति और पतनोन्मुख मानव समाज की रक्षा, कल्याण और विकास के लिये आत्म-क्षुद्रता का यह भाव हटाना ही होगा। ईश्वर की मान्यता और उस पर विश्वास करके ही मनुष्य पतन और विनाश से बच सकता है। इस पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता अब बहुत बढ़ गई है।

नास्तिकवादी विचारधारा और उसकी समीक्षा

कई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और कहते हैं, इस सृष्टि को बनाने एवं चलाने वाली कोई चेतन-सत्ता नहीं है। प्रकृति के परमाणु अपने आप अपना काम करते रहते हैं और उसी से जीवों का जन्म-मरण होता रहता है। वे आत्मा की सत्ता को भी नहीं मानते और कहते हैं कि पेड़-पौधों की तरह मनुष्य भी एक बोलने वाला पौधा मात्र है। वह रज, वीर्य के संयोग से जन्मता और रोग एवं बुढ़ापे की क्रिया से मर जाता है।

यह नास्तिकवादी विचारधारा दिन-दिन अधिक तेजी से बढ़ रही है। विज्ञानवेत्ताओं को अपनी प्रयोगशाला में ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण किन्हीं यन्त्रों, दुरबीनों या खुर्दबीनों में नहीं मिल सका है इसलिये वे भी यह कहते हैं कि वैज्ञानिक प्रमाणों के अभाव में हम ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन नहीं कर सकते। विज्ञान की वर्तमान मान्यताओं को ही सब कुछ मानने वाले लोगों को इससे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है।

ईश्वर की मान्यता से नीति, धर्म और सदाचार के बन्धनों में रहने के लिये मनुष्य को विवश होना पड़ता है। उच्छृंखलतावादी ईश्वर की मान्यता रखने पर भी धर्म-कर्म के बन्धनों को तोड़ते रहते थे अब उन्हें कम्युनिज्म और विज्ञान का समर्थन मिल जाने से और भी अधिक छूट मिलती है। इस प्रकार उच्छृंखलता और अनैतिकता का मार्ग और भी अधिक प्रशस्त हो जाता है। यह मान्यतायें यदि इसी प्रकार बढ़ती और पनपती रहीं तो नैतिकता, धर्म और सदाचार के लिये एक विश्वव्यापी संकट खड़ा होने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि अनीश्वरवादी विचारधारा के तर्कों का परीक्षण किया जाय और यह देखा जाय कि उनके कथन में कुछ सार भी है या नहीं ?

क्या सृष्टि का निर्माता कोई नहीं ?

अनीश्वरवादियों का कथन है कि प्रकृति के जड़ परमाणु अपने आप अपनी धुरी पर घूमते हैं, बदलते और हलचल करते हैं, उसी से सृष्टि का क्रम चलता है तथा प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की इसमें कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इस कथन पर विचार करते हुये हमें देखना होगा कि क्या चेतन की प्रेरणा बिना जड़ पदार्थों में एक क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित गतिविधि निरन्तर चलते रहना सम्भव हो सकता है ? देखते हैं कि कोई रेल, मोटर, जहाज, मशीन, अस्त्र आदि कितना ही महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली क्यों न हो, उसे चलाने के लिये चालक की बुद्धि ही काम करती है। राकेट से लेकर उपग्रह तक स्वचालित यन्त्र तभी अपनी सक्रियता जारी रख पाते हैं, जब रेड़ियो सक्रियता के माध्यम से मनुष्य उन्हें किसी दिशा विशेष में चलाते हैं। चालक के अभाव में अपनी इच्छा और शक्ति से यदि वस्तुयें अपने आप ही चलने और काम करने लगें तो फिर उन्हें जड़ ही क्यों कहा जाय ?

मशीन से सम्बन्धित जितनी भी वस्तुयें हैं वे सभी चालक की अपेक्षा रखती हैं। संचालन करने एवं प्रयोग करने वाला न हो तो वे महत्त्वपूर्ण होते हुये भी किसी के कुछ काम नहीं आतीं। इससे प्रकट होता है कि जड़ पदार्थ किसी संचालक की प्रेरणा से ही सक्रियता धारण करते हैं। विशाल सृष्टि के कार्यक्रम में जो सक्रियता, नियमितता और व्यवस्था दीख पड़ती है, उसके पीछे भी चेतन सत्ता का हाथ होना आवश्यक है। इतना बड़ा सृष्टि-साम्राज्य अपने आप इतने विवेकपूर्ण ढंग से नहीं चल सकता। हवा को चलाने वाली, बादलों को बरसाने वाली, नदियों को बहाने वाली, ऋतुओं को बदलने वाली, पौधों को उगाने और सुखाने वाली, कोई शक्ति मौजूद है—यह मानना पड़ेगा। इसे प्रकृति कहें या परमेश्वर। इस नाम भेद से कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

पदार्थों में क्षमता मौजूद भले ही हो, पर उसे गतिशील बनाने वाली एक प्रेरक शक्ति का भी प्रथक् से अस्तित्व मौजूद है। अणु अपनी धुरी पर अपने आप नहीं घूमते उन्हें घुमाने वाली भी कोई प्रेरक् शक्ति होनी ही चाहिये। इतने नियमबद्ध, इतने विशाल विश्व-ब्रह्माण्ड का ठीक प्रकार संचालन होते रहना किसी चैतन्य सत्ता के द्वारा ही सम्भव है। बुद्धिहीन जड़ पदार्थ अपने आप अपना कार्य नियमपूर्वक करते रहेंगे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र अपनी-अपनी धुरी तथा कक्षा में निर्धारित गति से घूमते हैं। यदि इनमें तनिक भी अन्तर आ जाय तो एक ग्रह दूसरे से टकराकर टूटने लगें और इसकी प्रतिक्रिया से अन्य ग्रह, नक्षत्रों की भी गति व्यवस्था बिगड़ जाय। पर ऐसा होता नहीं, क्योंकि इन सबका संचालन एक सावधान सत्ता द्वारा हो रहा है।

जो भी वस्तुयें हमारे उपयोग में आती हैं वह किसी न किसी के द्वारा बनाई हुई होती हैं। रोटी, कपड़ा, दवा, मकान, चारपाई, बर्तन, लालटेन, पुस्तक, घड़ी आदि हमारे उपयोग की सभी चीजें किसी के द्वारा बनाई गई हैं। इनके मूल पदार्थ अन्न, धातु, कपास, आदि को तथा उनके भी मूल पंच तत्वों को बनाने वाला भी कोई होना ही चाहिये। इसी निर्मात्री और संचालक शक्ति का नाम ईश्वर है।

विश्व का संचालन और नियन्त्रण करने वाली कोई विचारशील सत्ता है, उसका अनुमान उसकी कृतियों को ध्यानपूर्वक देखने से सहज ही लग जाता है। जिस प्राणी को जिस परिस्थिति में उत्पन्न किया है, उसके अनुकूल ही उसे साधन भी दिये हैं। माँसाहारी जीवों के दाँत और नाखून ऐसे बनाये हैं कि वे शिकार को पकड़ और फाड़कर खा सकें। इसी प्रकार शाकाहारी जीवों को उसी व्यवस्था के अनुरूप खाने और पचाने के यन्त्र मिले हैं। ठंडे बर्फीले प्रदेशों में रहने वाले जानवरों के शरीर पर बड़े-बड़े बाल और गर्म भूमि पर रहने वालों के शरीर उष्णता सहन करने की क्षमता-सम्पन्न होते हैं।

प्राणियों के शरीर में खाद्य पदार्थों को रक्त-माँस के रूप में परिणत करते रहने वाली पाचन प्रणाली ऐसी आश्चर्यजनक है कि उसकी रासायनिक क्षमता देखते ही बनती है। रोगों की निरोधक शक्ति स्वयं ही बीमारियों से लड़ती और रोगमुक्ति का साधन बनती है। चिकित्सकों के उपचारों द्वारा उसे थोड़ी सहायता ही मिलती है। इस प्रक्रिया की आश्चर्यजनक शक्ति को देखते हुये वैज्ञानिकों को दाँतों तले उँगली दबाकर रह जाना पड़ता है। शरीर में लगा हुआ एक-एक कल-पुर्जा इतना संवेदनशील और अद्‌भुत कारीगरी से भरा हुआ कि उसे अपने आप बना हुआ, अपने आप काम करने वाला नहीं माना जा सकता।

प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश की प्रक्रिया में सन्तुलन रहना एक ऐसा तथ्य है जिसे किसी विचारवान् सत्ता का ही कार्य कहा जा सकता है। विभिन्न प्राणी अपनी सन्तानोत्पत्ति बडी तेजी से करते हैं। मनुष्य ही चार-छै बच्चे तो साधारणतः पैदा कर ही लेता है। सुअर और कुत्ते तो अपने जीवनकाल में सौ-पचास बच्चे पैदा करते हैं। मक्खी, मच्छर, मछली, चींटी, दीमक आदि तो कई-कई सौ अंडे देती हैं। मुर्गी को ही देखिये वह अपने जीवन में कई सौ अण्डे देती होगी। यह उत्पादक क्रम विश्व के लिये एक संकट सिद्ध हो सकता है। यदि एक भी प्राणी की यह वंश-वृद्धि निर्बाध गति से चले, तो उसके बच्चे ही इस सारी धरती पर कुछ ही वर्षों में छा जावें और अन्य प्राणियों को खड़े रहने के लिये भी जगह न बचे। पर कोई सूक्ष्म सत्ता इस वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिये रोग, युद्ध, दुर्भिक्ष, अभाव आदि पैदा करती रहती है और वे सीमित संख्या में उतने ही बने रहते हैं जितने के लिये धरती पर गुंजायश है। यदि ऐसा न होता तो करोड़ों वर्षों से चले आ रहे जीवधारी अब तक इतने हो गये होते कि इन्हें अन्य लोक में भेजने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहता।

जीवधारियों की संख्या पर ही यह नियन्त्रण नहीं होता वरन् उनकी परिस्थितियों पर भी नियन्त्रण रहता है। उन्नति-अवनति, सुख-दुख, लाभ-हानि, सम्पत्ति-विपत्ति, जवानी-बुढ़ापा, संयोग-वियोग, जीवन-मृत्यु, उत्थान-पतन, उदय-अस्त, रात- दिन, सर्दी-गर्मी का उभयपक्षीय क्रम घड़ी के पेण्डुलम की तरह हिलता रहता है और हर किसी को दोनों ही तरह के खट्‌टे-मीठे अनुभव होते रहते हैं। यदि एक ही तरह की परिस्थितियाँ जीवधारी पर बनी रहें तो कुछ लोग मदोन्मत्त और कुछ दीन-हीन दशा में ही पड़े रहें। पर ऐसा नहीं होता इनमें अनायास आकस्मिक हेर-फेर होता रहता है और परिस्थितियों का असन्तुलन दूर होकर सन्तुलन कायम होता ही रहता है। यह कार्य अपने आप नहीं किसी विवेकशील सत्ता के नियन्त्रण में ही हो सकना सम्भव है।

मनुष्यों की मनोदशा में पाप, दुर्गुण, तमोगुण, विलासिता, निष्ठुरता एवं स्वार्थ के भाव जब बढ़ जाते हैं, आसुरी प्रवृत्ति का विस्तार बड़ा हो जाता है तो उसे घटाकर पुनः सन्तुलन स्थापित करने के लिये महापुरुष पैदा होते हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह, बुद्ध, गान्धी, ईसा आदि का अवतरण इसीलिये होता है कि बढ़ी हुई तामसिकता घटकर पुनः उतनी ही रह जाये जितनी कि सृष्टिक्रम चलते रहने के लिये आवश्यक है।

जिस ऋतु में जो रोग होता है उसको शमन करने वाली जड़ी-बूटियाँ भी उसी ऋतु में होती हैं। फल, शाक और अन्नों के बारे में भी यही बात है। ऋतु की आवश्यकता के अनुसार ही पृथ्वी में से वनस्पति और फल-फूल पैदा होते हैं। जहाँ के निवासियों को वहीं की जलवायु और अन्न, शाक, औषधि अनुकूल पड़ती हैं। यह कार्य किसी विचारवान शक्ति का ही हो सकता है।

नियन्त्रण और सन्तुलन की यह महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया अपने आप होती रहे ऐसा सम्भव नहीं। इसके पीछे कोई विचारशील चेतन सत्ता ही काम करती है। उस ज्ञानवान् चित्त-शक्ति को ईश्वर नाम दिया जाता है। उसके अस्तित्व से इन्कार करना, दिन रहते सूरज को न मानने जैसा दुराग्रह ही कहा जायेगा।

क्या विज्ञान ईश्वर विरोधी है ?

नास्तिकवाद का कथन यह है कि–"इस संसार में ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं। क्योंकि उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष उपकरणों से सिद्ध नहीं होता।" अनीश्वरवादियों की मान्यता है कि जो कुछ प्रत्यक्ष है, जो कुछ विज्ञान सम्मत है केवल वही सत्य है। चूँकि वैज्ञानिक आधार पर ईश्वर की सत्ता का प्रमाण नहीं मिलता इसलिये उसे क्यों मानें ?

इस प्रतिपादन पर विचार करते हुये हमें यह सोचना होगा कि अब तक जितना वैज्ञानिक विकास हुआ है क्या वह पूर्ण है ? क्या उसने सृष्टि के समस्त रहस्यों का पता लगा लिया है ? यदि विज्ञान को पूर्णता प्राप्त हो गई होती तो शोध कार्यों में दिन-रात माथापच्ची करने की वैज्ञानिकों को क्या आवश्यकता रह गई होती ?

सच बात यह है कि विज्ञान का अभी अत्यल्प विकास हुआ है। उसे अभी बहुत कुछ जानना बाकी है। कुछ समय पहले तक भाप, बिजली, पेट्रोल, एटम, ईथर आदि की शक्तियों को कौन जानता था, पर जैसे-जैसे विज्ञान में प्रौढ़ता आती गई यह शक्तियाँ खोज निकाली गईं। यह जड़ जगत की खोज हैं। चेतन जगत सम्बन्धी खोज तो अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। बाह्य मन और अन्तर्मन की गतिविधियों की शोध से ही अभी आगे बढ़ सकना सम्भव नहीं है। यदि हम अधीर न हों तो आगे चलकर जब चेतन जगत के मूल तत्वों पर विचार कर सकने की क्षमता मिलेगी तो आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व भी प्रमाणित होगा। ईश्वर अप्रमाणित नहीं है। हमारे साधन ही स्वल्प हैं जिनके आधार पर अभी उस तत्व का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं हो पा रहा है।

पचास वर्ष पूर्व जब साम्यवादी विचारधारा का जन्म हुआ था तब दार्शनिक विकास बहुत स्वल्प मात्रा में हो पाया था। उन दिनों सृष्टि के अन्तराल में काम करने वाली चेतन सत्ता का प्रमाण पा सकना अविकसित विज्ञान के लिये कठिन था। पर अब तो बादल बहुत कुछ साफ हो गये हैं। वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ मनीषियों के लिये चेतन सत्ता का प्रतिपादन कुछ कठिन नहीं रहा है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता ऐसी संभावना प्रकट करने लगे हैं कि निकट भविष्य में ईश्वर का अस्तित्व वैज्ञानिक आधार पर भी प्रमाणित हो सकेगा। जो आधार विज्ञान को अभी प्राप्त हो सके हैं, वे अपनी अपूर्णता के कारण आज ईश्वर का प्रतिपादन कर सकने में समर्थ भले ही न हों पर उसकी सम्भावना से इन्कार कर सकना उनके लिये भी शक्य नहीं है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक रिचार्डसन ने लिखा है—"विश्व की अगणित समस्यायें तथा मानव की मानसिक प्रक्रियायें वैज्ञानिक साधनों, गणित तथा यन्त्रों के आधार पर हल नहीं होतीं। भौतिक विज्ञान से बाहर भी एक अत्यन्त विशाल दुरूह अज्ञात क्षेत्र रह जाता है, जिसे खोजने के लिये कोई दूसरा साधन प्रयुक्त करना पड़ेगा। भले ही उसे अध्यात्म कहा जाय या कुछ और।"

वैज्ञानिक मैकाब्राइट का कथन है–"इस विश्व के परोक्ष में किसी ऐसी सत्ता के होने की पूरी सम्भावना है जो ज्ञान और इच्छायुक्त हो। विज्ञान की वर्तमान इस मान्यता को बदलने के लिये हमें जल्दी ही बाध्य होना पड़ेगा कि विश्व की गतिविधि अनियन्त्रित और अनिश्चित रूप से स्वमेव चल रही है।"

विज्ञानवेत्ता डॉ. मोर्डेल ने लिखा है–"विभिन्न धर्म सम्प्रदायों में ईश्वर का जैसा चित्रण किया गया है, वैसा तो विज्ञान नहीं मानता। पर ऐसी सम्भावना अवश्य है कि अणु-जगत के पीछे कोई चेतन शक्ति काम कर रही है। अणु-शक्ति के पीछे उसे चलाने वाली एक प्रेरक शक्ति का अस्तित्व प्रतीत होता है। इस सम्भावना के सत्य सिद्ध होने पर ईश्वर का अस्तित्व भी प्रमाणित हो सकता है।

विख्यात विज्ञानी इंगोल्ड का कथन है कि–"जो चेतना इस सृष्टि में काम कर रही है, उसका वास्तविक स्वरूप समझने में अभी हम असमर्थ हैं। इस सम्बन्ध में हमारी वर्तमान मान्यतायें अधूरी, अप्रामाणिक और असन्तोषजनक हैं। अचेतन अणुओं के अमुक प्रकार मिश्रण से चेतन प्राणियों में काम करने वाली चेतना उत्पन्न हो जाती है यह मान्यता सन्देहास्पद ही रहेगी।"

विज्ञान अब धीरे-धीरे ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने की स्थिति में पहुँचता जा रहा है।

जान स्टुअर्ट मिल का कथन सच्चाई के बहुत निकट है कि विश्व की रचना में प्रयुक्त हुई नियमबद्धता और बुद्धिमत्ता को देखते हुये ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जा सकती है। कान्ट, मिल, हेल्स, होल्टज, लांग, हक्सले, काम्टे आदि वैज्ञानिकों ने ईश्वर की असिद्धि के बारे में जो कुछ लिखा है वह अब बहुत पुराना हो गया, उनकी वे युक्तियाँ जिनके आधार पर ईश्वर का खण्डन किया जाया करता था अब असामयिक होती जाती हैं। डॉ. फ्लिन्ट ने अपनी पुस्तक 'थीइज्म' में इन युक्तियों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण में ही खण्डन करके रख दिया है।

भौतिक विज्ञान का विकास आज आशाजनक मात्रा में हो चुका है। यदि विज्ञान की यह मान्यता सत्य होती कि–"अमुक प्रकार के अणुओं के अमुक मात्रा में मिलने से चेतना उत्पन्न होती है" तो उसे प्रयोगशालाओं में प्रमाणित किया गया होता। कोई कृत्रिम चेतन प्राणी अवश्य पैदा कर लिया गया होता। अथवा मृत शरीरों को जीवित कर लिया गया होता। यदि वस्तुतः अणुओं के सम्मिश्रण पर ही चेतना का आधार रहा होता तो मृत्यु पर नियन्त्रण करना मनुष्य के वश से बाहर की बात न होती। शरीरों में अमुक प्रकार के अणुओं का प्रवेश कर देना तो विज्ञान के लिये कोई बड़ी बात नहीं है। यदि नया शरीर न भी बन सके तो जीवित शरीरों को मरने से बचा सकना तो अणु विशेषज्ञों के लिये सरल होना ही चाहिये था ?

विज्ञान का क्रमिक विकास हो रहा है। उसे अपनी मान्यताओं को समय-समय पर बदलना पड़ता है। कुछ दिन पहले तक वैज्ञानिक लोग पृथ्वी की आयु केवल सात लाख वर्ष मानते थे और भारतीय ज्योतिर्विदों की उस शक्ति का उपहास उड़ाते थे जिसके अनुसार पृथ्वी की आयु एक अरब ६७ करोड़ वर्ष मानी गई है। अब रेड़ियम धातु तथा यूरेनियम नामक पदार्थ के आधार पर जो शोध हुई है। उससे पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष सिद्ध हो रही है और वैज्ञानिकों को अपनी पूर्व मान्यताओं को बदलना पड रहा है।

विज्ञान ने सृष्टि के कुछ क्रिया-कलापों का पता लगाया है। क्या हो रहा है इसकी कुछ जानकारी उन्हें मिली है। पर कैसे हो रहा है ? क्यों हो रहा है ? यह रहस्य अभी भी अज्ञात बना हुआ है। प्रकृति के कुछ परमाणुओं के मिलने से प्रोटोप्लाज्म-जीवन तत्व बनता ही है, पर इस बनने के पीछे कौन नियम काम करते हैं इसका पता नहीं चल पा रहा है। इस असमर्थता की खीज को यह कहकर आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि–इस संसार में चेतन सत्ता कुछ नहीं है।

जार्ज डार्विन ने कहा है–"जीवन की पहेली आज भी उतनी ही रहस्यमय है जितनी पहले कभी थी।" प्रोफेसर जे० ए० टामसन ने लिखा है–"हमें यह नहीं मालूम कि मनुष्य कहाँ से आया ? कैसे आया ? और क्यों आया ? इसके प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं होते और न यह आशा ही है कि विज्ञान इस सम्बन्ध में किसी निश्चयात्मक परिणाम पर पहुँच सकेगा।"

"ऑन दी नेचर, ऑफ दी फिजीकल वर्ल्ड" नामक ग्रन्थ में वैज्ञानिक एडिंगटन ने लिखा है–"हम इस भौतिक जगत से परे की किसी सत्ता के बारे में ठीक तरह कुछ जान नहीं पाये हैं पर इतना अवश्य है कि इस जगत से बाहर भी कोई अज्ञात सत्ता कुछ रहस्यमय कार्य करती रहती है।"

विज्ञानवादी इतना कह सकते हैं कि जो स्वल्प साधन अभी उन्हें प्राप्त हैं, उनके आधार पर ईश्वर की सत्ता का परिचय वे प्राप्त नहीं कर सके पर इतना तो उन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है कि जितना जाना जा सका है उससे असंख्य गुना रहस्य अभी छिपा पड़ा है। उसी रहस्य में एक ईश्वर की सत्ता भी है। नवीनतम वैज्ञानिक उसकी सम्भावना स्वीकार करते हैं। वह दिन भी दूर नहीं जब उन्हें उस रहस्य के उद्‌घाटन का अवसर भी मिलेगा। अध्यात्म भी विज्ञान का ही अंग है और उसके आधार पर आत्मा-परमात्मा तथा अन्य अनेकों अज्ञात शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकना भी सम्भव होगा।

क्या ईश्वर विज्ञान से प्रमाणित नहीं ?

अनीश्वर-वादियों का कथन है कि विज्ञान द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं होता तो हम उसे क्यों मानें ? विचारणीय बात यह है कि क्या हम केवल उन्हीं बातों को मानते हैं जो प्रत्यक्ष या विज्ञानसम्मत हैं ? जीवन के कितने ही आदर्श और तथ्य ऐसे हैं जिनका सीधा सम्बन्ध अन्तरात्मा से है। नीति-शास्त्र का आधार यही है। धर्म, सदाचार, नीति, कर्त्तव्य, परमार्थ आदि को विज्ञान की कसौटी पर यदि कसा जाय तो यह सभी कुछ व्यर्थ प्रतीत होगा और मनुष्य को पशु की तरह आचरण करना ठीक प्रतीत होगा।

विज्ञान के द्वारा ईश्वर को सिद्ध या असिद्ध करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। जिसे विज्ञान कहा गया है–वह वस्तुतः पदार्थ-विज्ञान है। पदार्थों के बारे में खोज करना, पदार्थों से जीवनोपयोगी प्रयोजन सिद्ध करना, इस भौतिक विज्ञान की मर्यादा है। इसके अतिरिक्त वह अधिक सूक्ष्म तत्वों तक पहुँच सकने में असमर्थ है।

नीति, सदाचार, त्याग, बलिदान, परोपकार, संयम जैसे आवश्यक विषयों में विज्ञान की कोई पहुँच नहीं, यदि इन विषयों को विज्ञान के आधार पर हल किया जाय तो उन उपयोगी मान्यताओं को त्यागना पड़ेगा जो मानवीय, सामाजिक जीवन के लिये मेरुदण्ड के समान आवश्यक हैं

विज्ञान की दृष्टि में नर और मादा का यौन सम्बन्ध स्वाभाविक है। उसमें बहिन, पुत्री या माता का कोई विचार नहीं होता। जब सृष्टि के अन्य सभी जीव-जन्तु अपनी बहिन, पुत्रों या माता के साथ यौन सम्बन्ध करने में कोई संकोच नहीं करते तो मनुष्य ही क्यों करें ? इस प्रतिबन्ध का, इन मर्यादाओं का विज्ञान समर्थन नहीं करता, वरन् उन्हें व्यर्थ बताता है। यदि विज्ञान की कसौटी पर यौन-सदाचार व्यर्थ सिद्ध होता है तो क्या हम उसकी व्यर्थता स्वीकार कर लेंगे और पशुओं की तरह बहिन, पुत्री एवं माता की मर्यादा को छोड़ देने के लिये उद्यत होंगे ?

विज्ञान के अनुसार जीव, जीव का भोजन है। प्रत्येक प्राणी के लिये अपना स्वार्थ ही प्रधान है। फिर त्याग, बलिदान, उदारता, दान, सेवा और परोपकार का महत्त्व कहाँ रहेगा ? जीवधारियों के गुण, धर्म के बारे में विज्ञान की कसौटी प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है। सभी जीवों को अपनी क्षुधाओं और वासनाओं की पूर्ति के लिये जो भी अवसर मिलता है उससे बिना उचित-अनुचित का विचार किये लाभ उठाते हैं, फिर मनुष्य भी यदि वैसा ही करता है तो उसमें क्या अनुचित है ? स्वार्थपरता एवं स्वच्छन्द भोगवाद का विरोध विज्ञान के द्वारा नहीं हो सकता वरन् उसके आधार पर तो समर्थन ही करना पड़ेगा। ऐसी दशा में क्या हम विज्ञान को ही सब कुछ मानकर–परमार्थ की प्रवृत्ति को मानव-जीवन में से बहिष्कृत करने को तत्पर होंगे ? और यदि होंगे तो क्या उसके फलस्वरूप किसी सत्परिणाम की आशा करेंगे ?

विज्ञान बताता है कि मौत से हर प्राणी डरता है, बचता है, लड़ता है और भागता है। यह इसका स्वाभाविक धर्म है। यदि मनुष्य को भी इस स्वाभाविक धर्म से बँधा हुआ मान लिया जाय तो फिर मृत्यु के लिये हँसते हुये तैयार रहने वाले सैनिकों एवं देश-धर्म पर बलिदान होने वाले महा-मानवों को प्रकृति विरोधी एवं मूर्ख ही मानना पड़ेगा। फाँसी का हुकम सुनने के बाद जिनके वजन जेल की कोठरियों में आठ-आठ पौण्ड बढ़ गये, उन क्रान्तिकारियों को मौत से डर न लगने का विज्ञान के पास क्या उत्तर है ?

इसी प्रकार ईश्वर का आँखों से न दिखाई देना या वैज्ञानिक यन्त्रों से उसका प्रमाणित न होना इतना बड़ा कारण नहीं है, जिसके आधार पर उस महान सत्ता के अस्तित्व से इन्कार किया जा सके। इस संसार में सभी कुछ तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता।

ईश्वर दिखाई नहीं देता, इसलिये उसे न माना जाय यह कोई युक्ति नहीं है। अनेकों वस्तुयें ऐसी हैं जो आँख से नहीं दीखतीं फिर भी उन्हें अन्य आधारों से अनुभव करते और

मानते हैं। कोई वस्तु बहुत दूर होने से दिखाई नहीं पड़ती, पक्षी जब आकाश में बहुत ऊँचा उड़ जाता है तो दीखता नहीं। कोई वस्तु नेत्रों के बहुत समीप हो तो भी वह नहीं दीखती। अपने पलक या आँखों में लगा हुआ काजल अपने को कहाँ दीखता है ? यदि नेत्र न हों, कोई व्यक्ति अन्धा हो तो भी उसे वस्तुयें नहीं दीखेंगी, इसका अर्थ यह नहीं कि वे वस्तुयें हैं ही नहीं। चित्त उद्विग्न हो, मन कहीं दूसरी जगह लगा हो, किसी समस्या के चिन्तन में लगा हो तो सामने से कोई चीज गुजर जाने पर भी वह दिखाई नहीं देती। बहुत सूक्ष्म वस्तुयें भी कहाँ दिखाई देती हैं ? परमाणु या रोग कीटाणु बिना सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र के दीखते नहीं। किसी पर्दे की आड़ में रखी हुई, सन्दूक आदि में बन्द की हुई, जमीन में गढ़ी वस्तुओं को भी आँखें कहाँ देख पाती हैं ? सूर्य के प्रकाश के कारण दिन में तारे नहीं दीखते। पानी में नमक घुल जाता है तो फिर नमक दीखता नहीं, फिर भी पानी में उसका अस्तित्व तो रहता ही है।

जो वस्तु दिखाई न दे वह है ही नहीं, यह मान्यता किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराई जा सकती। केवल आँखें ही किसी वस्तु के अस्तित्व को प्रमाणित करने का एक मात्र साधन नहीं हैं।

ईश्वर के अस्तित्व से केवल इस कारण इन्कार करना कि वह इस आज के अविकसित विज्ञान या बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता कोई ठोस कारण नहीं है। प्रत्यक्ष के आधार पर तो यह भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि हमारा पिता वस्तुतः कौन है। माता की साक्षी को ही इसके लिये पर्याप्त प्रमाण मान लिया जाता है। मानव जीवन की अनेकों महत्त्वपूर्ण आस्थायें उस विज्ञान के आधार पर निर्भर हैं जिसे अध्यात्म विज्ञान कहते हैं। पदार्थ विज्ञान से नहीं अध्यात्म-विज्ञान से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

ईश्वरवाद का अवलम्बन करके ही मानव जाति की अब तक की प्रगति सम्भव हुई है। प्रेम, करुणा, उदारता, दान, संयम, सदाचार, पुण्य-परमार्थ जैसे सद्गुणों का विकास आस्तिकता के आधार पर ही सम्भव हो सका है और इन्हीं गुणों के द्वारा सामाजिकता की प्रवृत्ति बढ़ी है। यदि इस महान आदर्श का परित्याग कर दिया जाय तो व्यक्ति का आन्तरिक स्तर इस प्रकार का ही बनेगा, जिससे द्वेष, घृणा, संघर्ष और आतंक का मार्ग अपनाने के लिये मन चलने लगे। हमारे पडौसी देश चीन का उदाहरण सामने है। वहाँ की जनता का कैसा नृशंस उत्पीड़न साम्यवादी सरकार ने किया है, पड़ौसी देशों के साथ कैसी आक्रमणात्मक नीति अपनाई है, आदर्शवाद से नितान्त पतित, छल-छिद्र भरी कूटनीति का सहारा लिया है। प्रचार में कितना सफेद झूँठ अपनाया है यह किसी से छिपा नहीं है। आदर्शवादिता का ही दूसरा नाम आस्तिकता है। जो आस्तिकता छोड़ चुका उसके लिये छल, असत्य, आक्रमण, उत्पीड़न आदि नाम की भी कोई वस्तु नहीं रह जाती। पार्टी की नीति ही उनके लिये सब कुछ है, भले ही वह कितनी ही गलत क्यों न हो। नैतिक प्रवृत्तियों से रहित विचारधारा कितनी भयावह होती है, इसका अनुभव पग-पग पर होता रहता है। नैतिकता का बाँध आस्तिकता की चट्टानों से ही बनता है। यदि यह बाँध तोड़ दिया गया तो फिर व्यक्ति या सरकार अपनी-अपनी सनकें पूरी करने के लिये कुछ भी कर गुजरेंगे और शान्तिप्रिय लोगों के लिये जीवन धारण कर सकना भी एक समस्या बन जायगा।

आस्तिकता मानव जीवन की आधारशिला है। उसका परित्याग करना एक प्रकार से नैतिकता की व्यवस्था को ही चौपट कर डालने जैसी विपत्ति खड़ी करना होगा। मानव-जाति के भविष्य को खतरे में डालने वाली इस विभीषिका से हम जितनी जल्दी सावधान हो जावें उतना ही उत्तम है।

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

आत्मा परमात्मा का ही अंश है। जिस प्रकार जल की धारा किसी पत्थर से टकरा कर छोटे-छींटों के रूप में बदल जाती है,

उसी प्रकार परमात्मा की महान सत्ता अपने क्रीड़ा-विनोद के लिये अनेक भांगों में विभक्त होकर अगणित जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। सृष्टि संचालन का क्रीड़ा-कौतुक करने के लिये परमात्मा ने इस संसार की रचना की। वह अकेला था। अकेला रहना उसे अच्छा न लगा, सोचा एक से बहुत हो जाऊँ। उसकी यह इच्छा ही फलवती होकर प्रकृति के रूप में परिणित हो गई। इच्छा की शक्ति महान् है। आकांक्षा अपने अनुरूप परिस्थितियाँ तथा वस्तुयें एकत्रित कर ही लेती है। विचार ही कार्यरूप में परिणित होते हैं और उन कार्यों की साक्षी देने के लिये पदार्थ सामने आ खड़े होते हैं। परमात्मा की एक से बहुत होने की इच्छा ने ही अपना विस्तार किया तो यह सारी वसुधा बनकर तैयार हो गई।

परमात्मा ने अपने आपको बखरने का झंझट भरा कार्य इसलिये किया कि बिखरे हुये कणों को फिर एकत्रित होते समय असाधारण आनन्द प्राप्त होता रहे। बिछुड़ने में जो कष्ट है उसकी पूर्ति मिलन के आनन्द से हो जाती है। परमात्मा ने अपने टुकड़ों को—अंश, जीवों को बखेरने का विछोह कार्य इसीलिये किया कि वे जीव परस्पर एकता, प्रेम, सद्भाव, संगठन, सहयोग का जितना-जितना प्रयत्न करें उतने ही उतने आनन्द मग्न होते रहें। प्रेम और आत्मीयता से बढ़कर उल्लास इस पृथ्वी पर और किसी वस्तु में नहीं है। इसी प्रकार एकता और संगठन से बढ़कर शक्ति का स्रोत और कहीं नहीं है। अनेक प्रकार के बल इस संसार में मौजूद हैं पर प्राणियों की एकता के द्वारा जो शक्ति उत्पन्न होती है उसकी तुलना और किसी से भी नहीं की जा सकती। पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र, गुरु-शिष्य आदि की आत्मीयता जब उच्चस्तर तक पहुँचती है तो उस मिलन का आनन्द और उत्साहवर्धक प्रतिफल इतना सुन्दर होता है कि प्राणी अपने को कृत-कृत्य मानता है।

कबीर का एक दोहा प्रसिद्ध है—

राम बुलावा भेजिया कबिरा दीना रोय।
जो सुख प्रेमी संग में, सो बैकुण्ठ न होय।।

इस दोहे में बैकुण्ठ से अधिक प्रेमी के सान्निध्य को बताया गया है। कबीर प्रेमी को छोड़कर स्वर्ग जाने में दुःख मानते और रोने लगते हैं। वस्तुस्थिति यही है। सच्चे प्रेम में ऐसा ही आनन्द होता है। जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच में निष्कपट, निःस्वार्थ, आन्तरिक और सच्ची मित्रता होती है, वहाँ गरीबी आदि की कठिनाइयाँ गौण रह जाती हैं और अनेक अभावों एवं परेशानियों के रहते हुये भी व्यक्ति उल्लास भरे आनन्द का अनुभव करता है।

उपासना में प्रेम का अभ्यास एक प्रमुख आधार है। ईश्वर की भक्ति करने का अर्थ है—आदर्शवाद को प्रेम करना। प्रेम के विकास का आधार भी यही है। सच्चे और ईमानदार मनुष्यों के बीच ही दोस्ती बढ़ती और निभती है। धूर्त और स्वार्थी लोगों के बीच तो मतलब की दोस्ती होती है वह जरा-सा आघात लगते ही काँच के गिलास की तरह टूट-फूटकर नष्ट हो जाती है। लाभ में कमी आते ही तोते की तरह आँखें फेर ली जाती हैं। यह दिखावटी धूर्ततापूर्ण मित्रता तो एक प्रवंचना मात्र है, पर जहाँ जितने अंशों में सच्चा मैत्री भाव होगा वहाँ आनन्द, सन्तोष और प्रफुल्लता की निर्झरिणी निरन्तर झरती रहेगी। यदि कुछ लोगों का परिवार या संगठन प्रेम के उच्च आदर्शों पर आधारित होकर विकसित हो सके तो वहाँ उस परिवार के सभी सदस्यों को विकास एवं हर्षोल्लास का परिपूर्ण अवसर मिलता रहेगा। जिस समाज में सच्ची मित्रता, उदारता, सेवा और आत्मीयता का आदर्श भली प्रकार फलने- फूलने लगता है वहाँ निश्चित रूप से स्वर्गीय वातावरण विनिर्मित होकर रहता है। देवता जहाँ कहीं रहते होंगे वहाँ उनके अच्छे स्वभाव ने प्रेम का वातावरण बना रखा होगा और उस भाव-प्रवाह ने वहाँ स्वर्ग की रचना कर दी होगी। स्वर्ग यदि कहीं हो सकता है, तो उसकी सम्भावना वहीं होगी जहाँ सज्जन पुरुष प्रेमपूर्वक मिल-जुलकर आत्मीयता, उदारता, सेवा और सज्जनतापूर्वक रह रहे होंगे।

ईश्वर उपासना से स्वर्ग की प्राप्ति का जो महात्म्य बताया गया है उसका आधार यही है कि उपासना करने वाले को भक्ति का मार्ग अपनाना पड़ता है। परमात्मा को, आत्मा को, आदर्शवाद को जो भी प्यार करना सीख लेगा उसे अनिवार्यतः प्राणिमात्र से प्रेम का अभ्यास होगा और इस कारण के रहते हुये उसका निवास स्थान एवं समीपवर्ती वातावरण स्वर्गीय अनुभूतियों से ही भरापूरा रहेगा। उपनिषद का वचन है–"रसो वै स" अर्थात् प्रेम ही परमात्मा है। बाइबिल में भी इसी तथ्य की पुष्टि की है और मनुष्य को प्रेमी स्वभाव का बनने पर जोर देते हुए कहा है कि जो प्रेमी है वही ईश्वर का सच्चा भक्त कहलायेगा। भक्ति की महिमा से अध्यात्म-शास्त्र का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है। भक्ति से मुक्ति मिलने की प्रतिष्ठापना की गई है। भक्त के वश में भगवान को बताया गया है। इन मान्यताओं का कारण एक ही है कि प्रेम की हिलोरें जिस अन्तरात्मा में उठ रही होंगी, उसका स्तर साधारण न रहेगा। उसमें दिव्य गुण, दिव्य स्वभाव का आविर्भाव होगा और वह दिव्य कर्म ही कर सकेगा। ऐसे ही व्यक्तियों को देवता कहकर पुकारा जाता है। जहाँ देवता रहेंगे वहाँ स्वर्ग तो अपने आप ही होगा।

प्रेम का अभ्यास ईश्वर को प्रथम उपकरण मानकर किया जाता है। कारण यही है कि उससे स्वार्थ भी दोष नहीं है। सूक्ष्म ब्रह्म की उपासना जिन्हें कठिन पड़ती है वे साकार प्रतिमा बनाकर अपनी भावनाओं को किसी पूजा-प्रतीक पर केन्द्रित करते हैं, फलस्वरूप निर्जीव होते हुये भी वह माध्यम सजीव हो उठता है। मूर्ति-पूजा का तत्वज्ञान यही है। इस बात को हर कोई जानता है कि देव प्रतिमायें पत्थर या धातु की बनी निर्जीव होती हैं। उनके सजीव होने की बात कोई सोचता तक नहीं। पर यह आध्यात्मिक तथ्य मूर्ति-पूजा के माध्यम से प्रकाश में लाया जाता है कि जिस किसी से सच्चा प्रेम किया जायेगा, जिसके लिये भी आस्था और श्रद्धा का प्रयोग किया जायेगा, वह वस्तु चाहे निर्जीव हो या सजीव, भक्त की भावना के अनुरूप फल देने लगेगी। मूर्ति पूजा करते हुये साकार उपासना करने वाले अगणित भक्तजन जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर सकने में सफल हुये हैं। मीरा, सूर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस आदि की साकार उपासना निरर्थक नहीं गई। उन्हें परमपद तक पहुँचा सकने में ही समर्थ हुई।

रबड़ की गेंद दीवार पर मारने से लौटकर फेंकने वाले के पास ही पीछे को लौटती है। पक्के कुँए में मुँह करके आवाज लगाने से प्रतिध्वनि गूँजती है। उसी प्रकार इष्ट देव को किया हुआ प्रेम लौटकर प्रेमी के पास ही आता है और उस प्रेम-प्रवाह से रससिक्त हुआ अन्तरात्मा ईश्वर मिलन, ब्रह्म साक्षात्कार एवं भगवत् कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। एकलव्य भील की बनाई हुई मिट्टी की द्रोणाचार्य की प्रतिमा उसे उतनी शस्त्र-विद्या सिखाने में समर्थ हो गई जितनी कि गुरु द्रोणाचार्य स्वय भी नहीं जानते थे। मिट्टी के द्रोणाचार्य में एकलव्य की जो अत्यन्त निष्ठा थी उसके कारण ही वह प्रतिक्रिया सम्भव हो सकी कि वह भील बालक उस युग का अनुपम शस्त्रचालक बन सका। ईश्वर के साकार या निराकार स्वरूप का ध्यान, पूजन, जप, अनुष्ठान करते हुये साधक अपनी प्रेम, भावना, श्रद्धा और निष्ठा को ही परिष्कृत करता है। इस मार्ग में वह जितनी प्रगति कर सके उतनी ही ईश्वरानुभूति का परमानन्द उसे उपलब्ध होने लगता है।

साधना यदि सच्ची हो, सच्चे उद्देश्य से की गई हो तो उसका परिणाम यह होना ही चाहिये कि उपासक के मन में प्रेम की धारा प्रवाहित होने लगे। वह प्राणिमात्र को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को प्राणिमात्र में देखे। दूसरों का दुःख उसे अपने निज के दुःख जैसा कष्टकारक प्रतीत हो और दूसरों को सुखी समुन्नत देखकर अपनी श्रीसमृद्धि की भाँति ही सन्तोष का अनुभव करे। प्रेम का अर्थ है—आत्मीयता और उदारता। जिसके साथ प्रेम भाव होता है उसके साथ त्याग और सेवापूर्ण व्यवहार करने की इच्छा होती है। प्रेमी अपने को कष्ट और संयम में रखता है और अपने प्रेमपात्र को सुविकसित, सुन्दर एवं सुरम्य बनाने का प्रयत्न करता है। सच्चे प्रेम का यही एकमात्र चिन्ह है कि जिसके प्रति प्रेम भावना उपजे उसे

अधिक सुन्दर, अधिक उज्ज्वल एवं अधिक प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाय।

भक्ति का तत्व ज्ञान यही है। भगवान को आधार मानकर भक्त अपनी भक्ति भावना को, प्रेम संवेदना को विकसित करता है। पाषाण प्रतिमा को अधिकाधिक सुन्दर, सुसज्जित बनाने के लिये सुन्दर वस्त्राभूषणों से उसे सजाता है। धूप, दीप, चन्दन आदि से उस वातावरण को सुवासित करता है। मधुर, मेवा, मिष्ठान, नैवेद्य आदि का भोग लगाता है। पाद्य, अर्घ्य, स्नान आदि से शुद्ध करता है। इष्टदेव की महिमा बढ़ाने के लिये बहुत देर तक अपनी जिव्हा से उसका नामोच्चार करता है, हाथ से उसी के नाम की माला फिराता है। उसी का ध्यान करता है। व्यक्ति अपना कष्ट, अपना स्वार्थ और अपना त्याग तुच्छ समझता है। अपने प्रेमपात्र की प्रतिष्ठा, महत्ता एवं स्थिति का ही अधिकाधिक ध्यान रखता है और उसके लिये जो कुछ सम्भव होता है, सो कर गुजरता है। पूजा-अर्चा की सारी प्रक्रिया 'भक्ति भावना' का अभ्यास करने के लिये ही होती है। इस प्रकार की मनोभूमि जितनी मजबूती से ढल जाती है उतना ही मनुष्य महान बन जाता है। प्रेम ही परमात्मा है, जिसके अन्तःकरण में प्रेम-प्रवाह जितना अधिक बहता है समझना चाहिये कि वह ईश्वर के उतने ही निकट पहुँच गया। ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, स्वर्ग, बैकुण्ठ आदि में निवास करते हुये जितना सुख किसी जीव को होता है उतना ही उसे प्रेम-भावना से परिपूर्ण होने की दशा में कहीं भी, किसी भी स्थिति में अनुभव हो सकता है।

माना कि ईश्वर को हमारी निन्दा, स्तुति की न तो कोई आवश्यकता है और न परवाह। वह निष्पक्ष और न्यायकारी होने के कारण किसी की निन्दा, स्तुति से प्रभावित भी नहीं होता और इसलिये किसी को कोई सुविधा भी नहीं देता कि उसने पूजा की है या नाम जपा है। पूजा की रिश्वत देकर ईश्वर से मनमर्जी के उचित-अनुचित काम करा लेने की प्रवृत्ति बहुत ही तुच्छ, हेय, निकृष्ट और बचकाने स्तर की बात है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा सोचता है तो वह अपनी ही तरह ईश्वर को भी अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित करने के लिये रिश्वत देने जैसा घृणित प्रयत्न करता है। यदि ईश्वर भी चापलूसी पसन्द, खुशामदी लोगों के बहकावे में आने वाला, रिश्वती और अपनी न्याय व्यवस्था को तोड़ते रहने वाला बन गया तो निश्चय ही उसकी सारी सृष्टि में भी यही अव्यवस्था फैलेगी और फिर कोई भी कर्त्तव्य के कठोर मार्ग पर न चलना चाहेगा। हर एक को खुशामद और रिश्वत की यह सस्ती तरकीब ही सूझेगी। फिर यहाँ नियम और न्याय नाम की कोई चीज न रहेगी कर्तव्य की सर्वत्र उपेक्षा होने लगेगी। यदि ईश्वर ऐसा ही बन गया तो इससे अधिक दुर्भाग्य की बात इस संसार के लिये कोई न हो सकेगी। फिर ईश्वरीय न्याय की आशा लगाये रहने वाले लोगों को निराश ही होना पड़ा करेगा। रिश्वत और खुशामद से जिसे बहकाया जा सकता हो, उस न्यायाधीश से भला कोई आशा भी क्या रख सकता है ?

पूजा-अर्चा का तात्पर्य ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं वरन् अपनी भक्ति भावना, प्रेम-प्रकृति को विकसित करना है। एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक-व्यायाम की तरह ही पूजा-अर्चा की प्रक्रिया को माना जा सकता है, जिसके आधार पर पूजा-काल में किया हुआ अभ्यास हमारे स्वभाव का एक अंग बन जाय। विचारों और कार्यों में प्रेम की दिव्य पुण्य प्रकृति झिलमिलाने लगे, यही पूजा की सार्थकता है। हम जो कुछ भी सोचें उसमें प्राणिमात्र के हित साधन की आकांक्षा ओत-प्रोत रहे और जो कुछ करें उसका प्रत्येक अंश विश्वमानव की सुख-शान्ति अभिवृद्धि करने वाला सिद्ध हो, यही तो प्रेममय जीवन की गतिविधि हो सकती है। भक्ति-मार्ग का यही लक्ष्य है। ईश्वर-भक्त के लिये अपने जीवन को इसी दिशा में अग्रसर करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। भक्त उसे ही कहा जा सकता है, जो प्राणिमात्र में ईश्वर को समाया हुआ देखता है और उसे पाप-पंक की गन्दगी से स्वच्छ करके सब प्रकार स्वच्छ एवं उत्कृष्ट बनाने के लिये प्रयत्न करता रहता है। हर किसी को उसकी इच्छानुसार सन्तुष्ट कर सकना न तो उचित है और न आवश्यक। क्योंकि बहुत लोग ऐसे हैं जो दुष्टतापूर्ण आकांक्षायें रखते हैं, दूसरों का शोषण करना चाहते हैं यदि उस

दुष्प्रवृत्ति को भी पूर्ण करने के लिये कोई भोला-भावुक व्यक्ति प्रयत्न करने लगे तब तो उससे अनीति ही पनपेगी, असुरता का ही पोषण होगा। प्रेमी को विवेकशील भी रहना पड़ता है ताकि दूसरों के हित साधन का सच्चा उपाय समझ सके और जरूरत हो तो कड़ुई कुनैन खिलाने या फोड़े का ऑपरेशन करने वाले डॉक्टरों की तरह बाहर से निष्ठुर एवं कठोर दीखने वाला दूरदर्शितापूर्ण व्यवहार भी कर सके। कठोरता के पीछे भी अनन्त करुणा छिपी हो सकती है।

समयानुसार व्यवहार की कोमलता या कठोरता का अन्तर रहना स्वाभाविक है और आवश्यक भी। पर उसके मूल में अपना स्वार्थ साधन नहीं, दूसरों की हित साधना—दूरवर्ती स्थिर फल देने वाली श्रेय योजना ही सन्निहित होनी चाहिये। जीवन की यही सर्वोत्कृष्ट नीति हो सकती है। इसी में मानव जीवन की सफलता और सार्थकता मानी जा सकती है। प्रेमी स्वभाव बनाने की साधना को ही ईश्वर भक्ति या पूजा-अर्चा कहते हैं। इस उद्देश्य में हम जितने ही सफल होते जाते हैं ईश्वर उतना ही हमारे निकट खिंचता चला आता है। वस्तुतः ईश्वर हमारे नितान्त निकट है। रोम-रोम में समाया हुआ है। प्रत्येक श्वाँस-प्रश्वाँस में उसी की बंशी बजती है। अन्तरात्मा में बैठा हुआ वह क्षण-क्षण में हमारे साथ विचार-विनिमय करता है और बिना पूछे ही श्रेय साधन के आवश्यक परामर्श देता रहता है। हमीं हैं जो उसकी उपेक्षा करते हैं, भुलाये रहते हैं और अवज्ञा की अशिष्टता बरतते हैं। ईश्वर भक्ति इतने से ही पूर्ण हो सकती है कि उसे अपने कण-कण में समाया हुआ, अपने चारों ओर फैला हुआ, हर घड़ी साथ रहता, हँसता, खेलता और मैत्री निबाहता हुआ देखें। इतनी अनुभूति अन्तरात्मा में जागृत हो सके तो समझना चाहिये कि ईश्वर मिल गया। ईश्वर को अपनी मनमर्जी के अनुसार चलाने की, उसे नौकर जैसे हुक्म देने की धृष्टता छोड़कर यदि उसकी मर्जी से अपनी मर्जी मिलाने की शिष्टता सीख लें तो ईश्वर की उपलब्धि का जो लाभ मिल सकता है वह निश्चित रूप में मिल जायेगा। ईश्वर प्राप्ति कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसके लिये जगह-जगह भटकना पड़े। परमात्मा कहीं खोया हुआ नहीं है जिसे ढूँढ़ना पड़े। वह नाराज नहीं है जिसे प्रसन्न करना पड़े। करना केवल इतना ही है कि उसे जानते हुये भी अनजान जैसी गति-विधियों को अपना रक्खा है उन्हें बदल दिया जाय। पूजा-अर्चा के समय तक ही ईश्वर का जप-ध्यान करने को सीमित न रखकर, उस अनुभूति को यदि पूरे समय, पूरे जीवन क्रम में, पूरी स्नेह संवेदना के साथ देखा, समझा और अनुभव किया जा सके तो ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य सहज ही प्राप्त हो सकता है। इसमें कठिनाई अवश्य है। पूजा में थोड़े कर्मकाण्ड की विधि-व्यवस्था पूरी कर लेने से काम चल सकता है, पर ईश्वर प्राप्ति तो तभी निभेगी जब पूरा जीवनक्रम ही दिव्यता के साँचे में ढाला जाय। आत्मिक पवित्रता ही ईश्वर प्राप्ति की निशानी है। जो आत्मा पवित्र है उसे अपने भीतर परमात्मा की झाँकी प्रतिक्षण होती रहेगी।

अंगार पर भस्म की परत चढ़ जाने से उसका स्वरूप अग्नि जैसा न रहकर कुछ और ही प्रकार का बन जाता है। जलता हुआ अंगार गरम होता है। रंग लाल रहता है, प्रकाश भी उसमें से निकलता है किन्तु जब वह कुछ समय ऐसे ही निष्क्रिय पड़ा रहता है और नया ईंधन नहीं मिलता तो धीरे-धीरे बुझने लगता है, ऊपर के पर्त पर भस्म की एक तह छा जाती है। तब देखने में वह काला, प्रकाश रहित और छूने में उष्णता से रहित बन जाता है। यही बात आत्मा की भी है। ईश्वर का अंश होने से वह अग्नि जैसे दिव्य गुणों से परिपूर्ण है, पर जब दिव्य-विचारों और दिव्य-कर्मों का ईंधन नहीं मिलता तो वह मुरझाने और बुझने लगता है। पर्त मल, आवरण और विक्षोभ की राख जैसी पर्त उस पर छा जाती है। तब वह निकृष्ट कोटि का जीव मात्र रह जाता है। अगणित मनुष्य इसी स्थिति में पड़े हुये हैं। उनके गुण, कर्म, स्वभाव ऐसे घटिया होते हैं कि पशु से, कीट-पतंगों से भी निम्न श्रेणी में ही उन्हें गिना जा सकता है। ऐसी दशा में यह सन्देह होने लगता है कि इन घृणित व्यक्तियों को ईश्वर का पुत्र व आत्मा कैसे कहा जाय ? जलते हुये अंगार और राख से ढके हुये अंगार में जो अन्तर होता है, वही प्रबुद्ध आत्माओं और पतित नर-पामरों के बीच भी पाया जाता है।

राख की परत हटा देने पर अंगार का भीतरी भाग पुनः गरम, प्रकाशवान और लाल ही दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार कुविचारों और कुसंस्कारों का आवरण हटा देने पर साधारण स्तर का प्रतीत होने वाला मनुष्य भी महात्मा, महापुरुष एवं देवता की श्रेणी में पहुँच जाता है। अन्तस्तल में महानता मौजूद रहने से आवरण को हटा देने मात्र की प्रक्रिया उसे पूर्व स्थिति में ले जाती है। उपासना और आराधना आत्मा पर चढ़े हुये मल-आवरण और विक्षोभों को हटाने के निमित्त ही की जाती है। बर्तन माँजने से वे पुनः चमकने लगते हैं, धो डालने से कपड़े पुनः स्वच्छ हो जाते हैं, स्नान करने से शरीर में पुनः ताजगी आ जाती है। उपासना के द्वारा आत्मा पर उच्च संस्कार डालने की विधि-व्यवस्था यदि ठीक प्रकार बनी रहे तो उसकी पवित्रता, महानता एवं उत्कृष्टता भी निरन्तर बढ़ती चली जाती है। यह प्रगति धीरे-धीरे उन्नति के उच्च शिखर तक ले पहुँचती है और आत्मा की स्थिति भी परमात्मा के समान बन जाती है। उसमें वे सब विशेषतायें और शक्तियाँ अवतरित होती हैं जो उसके उद्‌गम केन्द्र परमात्मा में मौजूद हैं।

तपस्वी, साधकों में अनेकों आध्यात्मिक विशेषतायें पाई जाती हैं। इनका व्यक्तित्व अनेकों ऋद्धि-सिद्धियों से भरा होता है। अपने निज के लिये उज्ज्वल भविष्य की रचना करने के साथ-साथ वे दूसरों का भी बहुत भारी हित साधन कर सकने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। माया, स्वार्थ, अज्ञान, वासना, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के—बन्धनों में बँधा हुआ जीव तुच्छ है। उसकी शक्ति, सामर्थ्य स्थिति सब कुछ तुच्छ है। छोटी-छोटी वस्तुओं के लिये उसे दीनता प्रकट करते और अभाव, कठिनाइयों का रोना रोते देखा जा सकता है। पर जब वह इन तुच्छताओं का परित्याग करके आत्म-स्वरूप को पहचान लेता है और जो सोचना चाहिये वही सोचता है, जो करना चाहिये वही करता है तो वह प्रबुद्ध आत्मा ईश्वर के बिलकुल समीप जा पहुँचता है और वे सब विशेषतायें उसमें प्रकट होती हैं जो ईश्वर में मौजूद हैं। सिद्ध पुरुषों की संकल्प शक्ति के बल पर सारा संसार दहल उठता है, लोक-लोकान्तरों तक इसकी आकांक्षा हलचल मचा देती है। अपने तप और आशीर्वाद का एक कण दूसरों को देकर वह उन्हें निहाल बना सकता है। अष्ट-सिद्धियों और नव-निधियों का वर्णन झूठा नहीं है। मानव प्राणी अनन्त शक्तियों से ओत-प्रोत है। ब्रह्माण्ड का सारा नक्शा पिण्ड में मौजूद है। इस शरीर के अन्दर समस्त दिव्य शक्तियाँ बीज रूप में मौजूद हैं। साधना के द्वारा उन्हें विकसित करने के पश्चात् मनुष्य महान ऐश्वर्यवान बन सकता है।

तपश्चर्या और साधना की यों अनेकों विधियाँ प्रचलित हैं। साधक लोग आत्मबल बढ़ाने के लिये उनका उपयोग अपनी सुविधा और परम्परा के अनुसार करते भी हैं पर सभी साधनाओं के मूल में सच्चरित्रता है। सदाचारी और परोपकारी प्रकृति के मनुष्य ही साधना में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अनीतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति किन्हीं मन्त्रों या विधानों का बहुत श्रमपूर्वक साधन करने पर भी कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ मिलता भी है, तो वह चिरस्थायी नहीं होता। आत्मबल भी कठिन तपश्चर्या द्वारा प्राप्त किया जाता है पर उसे कुमार्ग पर चलकर गँवाया बहुत जल्दी जा सकता है। पराई कमाई का अनीति-उपर्जित कुधान्य खाने वाले साधु, संन्यासियों की भी साधना निष्फल चली जाती है, पर ईमानदारी और सज्जनता की रीति-नीति अपनाकर जीवन व्यतीत करने वाले साधारण व्यक्ति भी योगाभ्यासियों से अधिक आत्मबल सम्पन्न देखे जाते हैं।

गांधारी, सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरुन्धती, अनुसूइया आदि स्त्रियों को जो असाधारण आत्मबल प्राप्त था, वह उन्होंने पतिव्रत धर्म ठीक प्रकार पालन करके ही उपार्जित किया था। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह जैसे व्रत धारण करने और उन्हें ठीक तरह पालने वाले व्यक्ति योग की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं। साधना विधानों में जप, तप का जितना महत्त्व है उससे कहीं अधिक साधक की सत्प्रवृत्तियों का है। बिना किसी योगाभ्यास के भी सदाचारी व्यक्ति ईश्वर तथा उसकी शक्ति, सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है, किन्तु दुराचारी, दुर्बुद्धि और दुर्व्यसनी, मनुष्य निरन्तर जप, तप करने पर भी

खाली हाथ ही रहेगा। साधन का महत्त्व व्यायाम जैसा है, किन्तु सदाचार को आहार माना जा सकता है। कोई मनुष्य व्यायाम तो बहुत करे पर भोजन स्वल्प मात्रा में सड़ा-गला मिले तो उस व्यायाम से क्या लाभ उठाया जा सकेगा ? इसी प्रकार आन्तरिक स्तर गया-बीता है, नीति धर्म, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता और परमार्थ में तो रुचि न रहे, किन्तु जप, तप बहुत किया जाय, तो यह ठीक वैसा ही कार्य होगा जैसा भूखों मरने वाले का दिन-रात व्यायाम में लगे रहना।

आत्म-बल सम्पादन करने के लिये ही ईश्वर की उपासना की जाती है। जिसकी आत्मा जितनी अधिक पवित्र हो जाती है, उस पर उतना ही ईश्वर का अनुग्रह होता है और दैवी कृपा प्राप्त करने का वह उतना ही बड़ा अधिकारी बनता जाता है। ईश्वर ने सारे संसार को नियम और व्यवस्था में बाँधा है, इसलिये सबसे पहले उसने अपने आप पर ही वे नियम लागू किये हैं। विधान बनाने वाला ही यदि उसका उल्लंघन करे, तो दूसरों को भी उसके पालन में क्या निष्ठा रहेगी ? परमात्मा ने कर्त्तव्य और पुरुषार्थ के द्वारा उन्नति एवं समृद्धि प्राप्त करने का नियम बनाया है। यदि आलसी, प्रमादी और अकर्मण्य लोग अपनी जागरूकता और क्रियाशीलता की उपेक्षा करके केवल स्तुति, प्रार्थना द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करके मनमाने मनोरथ पूरा करना चाहेंगे तो यह तभी सम्भव हो सकेगा जब अपने बनाये नियमों को ईश्वर स्वयं ही तोड़ने और पक्षपात की नीति बरतने पर उतारू हो जाय।

परमात्मा इतना महान है कि किसी की निन्दा, स्तुति का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी प्रसन्नता, अप्रसन्नता, अनुकम्पा और रोष इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति किस प्रकार का आचरण करता है और अपनी जीवन-नीति किस आधार पर निर्धारित किये हुये है। अनीति का आश्रय लेने वाला अपने दुष्कर्मों का दण्ड प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता। ईश्वर जितना उदार एवं महान है, उतना ही निष्ठुर न्यायाधीश, कठोर प्रशासक और समुचित दण्ड व्यवस्था करने वाला भी है। उसका यह भयंकर रूप देखकर ही ऋषियों ने उसे 'रुद्र' नाम दिया है। दण्ड देने में वह सचमुच ही बड़ा रौद्र—अर्थात् भयानक है। अस्पतालों में, जेलखानों में, पागलखानों में, और घर-घर में नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से ग्रसित अनेकों व्यक्ति करुण क्रन्दन करते दिखाई पड़ते हैं। गरीबी और बीमारी ने कितने लोगों को दुर्दशाग्रस्त कर रखा है। इस सब पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह सहज ही प्रकट हो जाता है कि जहाँ परमात्मा दीनबन्धु, करुणासिन्धु, दानी और उदार है, वहाँ वह पापवृत्तियों के फोड़ों को निर्दयतापूर्वक चीर-फाड़कर रख देने के लिये कठोर हृदय डॉक्टर की तरह दूरदर्शी भी है। लोग पाप करते रहें, वह उन्हें देखता और क्षमा ही करता रहे तब तो पापों पर कभी प्रतिबन्ध ही न लग सकेगा। लोग पाप करते रहेंगे और प्रार्थना करते रहेंगे। इस प्रकार तो पापी ही नफे में रहेंगे। थोड़ी पूजा-प्रार्थना कर ली और सब पाप दूर हो गये। घाटा तो उन बेचारों को रहेगा, जो धर्माचरण करते हुये निरन्तर कष्ट सहते हैं। किसी दिन वे भी सोच सकते हैं कि इस अन्धेर से हम भी लाभ क्यों न उठावें ? क्यों धर्माचरण का कष्ट सहें। जब परमात्मा स्तुति-प्रार्थना मात्र सुनकर पापों को क्षमा कर दिया करता है तो हम भी ऐसा ही क्यों न करें कि पाप कर्मों द्वारा सांसारिक मौज भी लूटें और थोड़ी पूजा-प्रार्थना करके परलोक भी आनन्दमय बना लें। यदि यह बात ठीक होती तो संसार में कोई भी पाप से न डरता और कोई भी पुण्य की अग्नि परीक्षा में अपने को न डालता।

वस्तुस्थिति दूसरी ही है। ईश्वर को प्रसन्न करने का एक ही मार्ग है—उसके बताये हुये मार्ग पर चलना। उसकी नाराजगी भी एक ही कारण से होती है कि—मनुष्य निर्धारित मर्यादाओं का उल्लंघन करे। आत्म-निरीक्षण, एवं आत्म-शोधन के द्वारा अन्तःकरण दर्पण की तरह जितना निर्मल और स्वच्छ बनाया जा सकेगा, उसमें ईश्वर का प्रतिविम्ब उतना ही स्पष्ट झलकेगा। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सत्कर्म करने वाले को उपासना नहीं करनी चाहिये। दोनों के मिलने से सोना और सुगन्ध का लाभ मिलता है। शरीर का स्वास्थ्य और

सौन्दर्य अच्छा हो तो भी वस्त्राभूषण की आवश्यकता रहती है। कोई व्यक्ति निरोग हो और यह कहे कि हम नंगे फिरेंगे तो यह बात अनुचित होगी। यह ठीक है कि स्वास्थ्य और श्रृंगार दोनों में प्रधानता स्वास्थ्य की है, सुसज्जा में स्वास्थ्य की सुरक्षा होती है और सुन्दरता भी बढ़ती है। इसके विपरीत बीमार, मृतक शरीर, भारी सजावट करने पर भी कुरूप ही लगता है। सदाचार को स्वास्थ्य और उपासना की सुसज्जा माना जा सकता है। दोनों की जोड़ी आहार और विहार जैसी है। इसलिये महत्त्व दोनों का ही हैं पर यदि प्रधानता देनी हो तो वह सदाचार को ही देनी पड़ेगी क्योंकि उपासना और अध्यात्म-विज्ञान की पूरी विधि-व्यवस्था इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाई गई है।

ईश्वर निष्ठा का चिन्ह प्रेम भावनाओं से परखा जा सकता है। नीरस, रूखे, स्वार्थी, अपनी ही स्वर्ग-मुक्ति की बात सोचते रहने वाले, दुनियाँ को मिथ्या और अपने मतलब को सत्य बनाने वाले, खुदगर्ज लोग प्रेम का महत्त्व क्या समझेंगे ? और जो प्रेम का रसास्वादन न कर सका उसे परमात्मा का न तो स्वरूप मालूम है और न प्राप्ति का मार्ग। ऐसे लोग चाहे एकान्त में रहें, चाहे वन-पर्वतों में उनकी नीरसता और संकीर्णता, उन्हें जड़ता की ही ओर अग्रसर करेगी। जड़ता को ही किसी ने मुक्ति समझा हो तो बात दूसरी है, अन्यथा चैतन्य आत्मा को चैतन्य परमात्मा से मिलाने के लिये उसे जीवन भी चैतन्य ही रखना पड़ेगा और इसकी परख इस बात से होगी कि ईश्वर भक्त के अन्तःकरण में अपार करुणा का स्रोत फूटा या नहीं ? दूसरों के लिये अपने को घुला डालने या गला डालने की आकांक्षा जिस हृदय में जागरूक नहीं हो सकी उसके सम्बन्ध में यही माना जायेगा कि आस्तिकता यहाँ अभी मूर्छित ही पड़ी है।

ईश्वर की कृपा सत्कर्मों से ही उपलब्ध होनी सम्भव है। उपासना का तात्पर्य अन्तःकरण को इस ढाँचे में ढालना है कि कर्त्तव्य, धर्म और पुरुषार्थ के मार्ग पर मनुष्य निष्ठापूर्वक चलता रह सके, यदि यह दृढ़ता उपलब्ध हो सके, तो सिद्धियों और सफलताओं का द्वार प्रत्येक दिशा में खुला ही पड़ा है। हमारी सज्जनता ही गुम्बज की प्रतिध्वनि बनकर समृद्धि और प्रगति के रूप में सामने आती है। सद्व्यवहार करने का स्वभाव प्रतिफल में दूसरों की मैत्री आत्मीयता और सहायता भारी परिमाण से लाकर खड़ी कर देता है। भावनाओं से स्वच्छ हुये मन में विराजमान होने के लिये ईश्वर उसी प्रकार खिंचा चला आता है जैसे सघन छाया के हरे-भरे पेड़ के नीचे विश्राम पाने को थका हुआ पथिक आकर्षित होता है। आत्मिक पवित्रता ही ऋद्धि-सिद्धियों का स्रोत है। उपासना आवश्यक है और उपयोगी भी पर उसका लाभ केवल उन्हें मिलता है जो अपनी मनोभूमि को सद्भावनाओं से और अपने शरीर को सत्कर्मों से पवित्र बनाते रहते हैं।

❑ ❑

आस्तिकता की उपयोगिता और आवश्यकता

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

जीव क्या है ? चेतना के विशाल सागर की एक छोटी-सी बूँद अथवा लहर। हर शरीर में थोड़ा आकाश भरा होता है, उसका विस्तार सीमित है उसे नापा और जाना जा सकता है, पर वह अलग दीखते हुये भी ब्रह्माण्ड व्यापी आकाश का ही एक घटक है। उसका अपना अलग से कोई अस्तित्व नहीं। जब तक वह काया-कलेवर में घिरा है तभी तक सीमित है, काया के नष्ट होते ही वह विशाल आकाश में जा मिलता है। फेफड़ों में भरी सांस सीमित है। पानी का बबूला स्वतन्त्र है, फिर भी इनके सीमा-बन्धन अवास्तविक है। फेफड़े में भरी वायु का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। ब्रह्माण्ड व्यापी वायु ही परिस्थितिवश फेफड़ों की छोटी परिधि में कैद है। बन्धन न रहने पर वह व्यापक वायुतत्व से पृथक् दृष्टिगोचर न होगी। पानी का बबूला हलचलें तो स्वतन्त्र करता दीखता है पर हवा और पानी का छोटा-सा संयोग जिस क्षण भी झीना पड़ता है। पानी-पानी में और हवा-हवा में जा मिलती है। बबूले का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

जीवन अर्थात् व्यापक ईश्वरीय सत्ता का परिस्थितिवश स्वतन्त्र दिखाई पड़ने वाला एक छोटा और अस्थायी घटक। चेतना का एक असीम समुद्र सर्वत्र लहलहा रहा है। हम सब उसी में जन्मने, मरने और जीवित रहने वाले जल-जन्तु हैं। यह उपमा अधूरी लगती हो तो सागर और उसकी लहरों का उदाहरण ठीक समझा जा सकता है। हर लहर पर एक स्वतन्त्र सूर्य चमकता देखा जा सकता है, पर उतने सूर्य हैं नहीं। यह दृश्य की विचित्रता है। वस्तुतः एक ही सूर्य के पृथक् प्रतिविम्ब भर चमकते हैं।

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध की यथार्थता को समझ लेने पर कई बातें उभरकर आती हैं—एक तो यह है कि अंश में अंशी के समस्त गुण होने चाहिये दूसरे यह कि पृथकता के पर्दे में पीछे से झांकती हुई एकता का दर्शन किया जाना चाहिये और भी कई तथ्य हैं, जो सत्य के निकट तक पहुँचाते हैं पर अभी हमें इन दो पर ही विचार कर लेना उचित होगा।

आग की छोटी चिनगारी में वे सभी विशेषतायें विद्यमान हैं, जो विशालकाय भट्टी में पाई जाती हैं। चिनगारी में गर्मी भी है और रोशनी भी। यदि अवसर मिले तो उपयुक्त ईंधन पाकर उसकी लघुता सुविस्तृत हो सकती है। आकार की लघुता-विशालता तो यथार्थ है पर सम्भावना, तात्विकता एवं एकता में कोई अन्तर नहीं। जीवात्मा उन्हीं विशेषताओं और सम्भावनाओं से भरा-पूरा है, जो परमात्मा में विद्यमान है। इतना होते हुये भी चिनगारी अपने छोटेपन के कारण दुर्बल और अशक्त दिखाई पड़ती है। कई बार तो वह दुर्गन्ध युक्त ईंधन के साथ रहने पर हेय और घृणित भी प्रतीत होती है। चन्दन की लकड़ी में और मल के ढेर में जलने वाली अग्नियों में से एक आनन्द- दायक होती है और सुगन्ध कहलाती है दूसरी कष्ट-कारक दुर्गन्ध के रूप में तिरस्कृत होती है। यद्यपि मूलतः एक ही अग्नि तत्व इन दोनों स्थानों में काम कर रहा होता है।

आत्मा की महिमा और गरिमा को समझा जा सके तो उसे उसके स्तर के अनुरूप स्थिति में रखने की इच्छा होगी। इसके लिये जगी अभिलाषा और विकसित हुई स्थिति आत्म गौरव कहलाती है। गौरवान्वित को सन्तोष मिलता है और आनन्द भी। तिरस्कृत को हीनता अनुभव होती है और लज्जित एवं दुःखी रहना पड़ता है आत्म बोध जब तक न हो तब तक भेड़ों के झुण्ड में पले सिंहशावक की तरह हेय स्थिति में नर-पशु की तरह रहना पड़ता है पर जिस क्षण

अपने अस्तित्व की यथार्थता एवं गरिमा का बोध होता है, उसी समय में यह आतुरता उत्पन्न होती है कि लज्जास्पद स्थिति से उबरना ही चाहिये। गौरवान्वित होकर ही रहना चाहिये। हेय और हीन बनकर रहना जब धिक्कार के योग्य लगता है तो भीतर से एक विशेष तड़पन और तिलमिलाहट उठती है। तत्व ज्ञानियों ने इसी स्थिति को ईश्वर भक्ति कहा है। हेय स्तर अर्थात् भव-बन्धन। उत्कृष्ट स्वाभाविकता अर्थात् ईश्वर मिलन।

ब्रह्म विद्या में आत्म बोध को प्रथम स्थान दिया गया है और अपने आपे की वास्तविकता समझाने के लिये कई सूत्र संकेत दिये गये हैं अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, शिवोऽहं, सच्चिदानन्दोहम—सोऽहम्—तत्वमसि आदि सूत्रों में ईश्वर और आत्मा की एकता का प्रतिपादन है। अंश और अंशी की स्थिति का उद्बोधन है। जीव चेतना को ब्रह्म चेतना का छोटा संस्करण माना गया है और कहा गया है कि उसमें सत्, चित्, आनन्द की सत्यं शिवं सुन्दरम् की समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं।

संकट प्रसुप्त स्थिति का है। सोया हुआ मनुष्य अर्धमृतक स्थिति में पड़ा रहता है। उस स्थिति में उसे गन्दगी, दुर्गंध, अपमान, दुर्गति का बोध नहीं होता। कुछ भी भला-बुरा होता रहे गहरी नींद में कुछ सूझता ही नहीं ठीक आत्म बोध से रहित स्थिति में जीव की असीम दुर्गति रहती है। खुमारी यह विदित ही नहीं होने देती कि उसकी कैसी दुर्गति हो रही है ? इस खुमारी के कारण उत्पन्न हुई अर्ध मूर्छित स्थिति को 'माया' कहते हैं। माया को ही जीव की दयनीय दुर्गति का कारण बताया गया है।

माया ग्रसित स्थिति में जीव अपने को आत्मा न मानकर शरीर अनुभव करने लगता है, और उसी के लाभ-हानि को अपना मानने लगता है। इसकी इच्छा, आकांक्षा अभिरुचि इन्हीं बातों में सीमाबद्ध हो जाती है, जो शरीर और मन को प्रिय है। अपने स्वरूप को भूला हुआ आत्मा अपने लक्ष्य एवं हित को भी भूल जाता है और मात्र उतना ही सोचता है, जितना शरीर को रुचिकर लगे। यह विचित्र स्थिति है कि कोई अपने वाहन, उपकरण, वस्त्र, घर आदि को सुसज्जित रखने के लिये तो समय, बुद्धि और धन को खर्च करता रहे किन्तु अपनी भूख प्यास का आरोग्य आजीविका का कुछ भी विचार न करे, शरीर और मन जीवन रथ के दो पहिये हैं, इन्हें दो घोड़े दो सेवक भी कहा जा सकता है। इनके सहारे जीवन-यात्रा सुविधापूर्वक सम्पन्न हो सके इसलिये परम पिता ने अपने राजकुमार के लिये इन बहुमूल्य साधनों की व्यवस्था की है। इन्हें सँभालकर रखा जाना चाहिये और सदुपयोग किया जाना चाहिये यह बुद्धिमत्तापूर्ण है। किन्तु जब जीव अपना लक्ष्य भूलकर मात्र इन दो वाहनों की साज-सज्जा में लगे रहने के अतिरिक्त और कुछ सोचता ही नहीं तो इस स्थिति को माया मूढ़ता कहते हैं।

जीव की उत्कृष्ट और असीम सम्भावनाओं से भरी-पूरी स्थिति को दीन दयनीय स्थिति से घिरा देखा जाये तो यह उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं मानी जानी चाहिये वरन् माया मूढ़ता का अभिशाप समझा जाना चाहिये। बन्धनों की जकड़न शरीर और मन के लिये इतनी कष्टकारक होती है, इसे कोई भी भुक्त भोगी समझ सकता है। किसी के हाथ-पैर कसकर मुँह से पट्टी बाँधकर अंधेरी कोठरी में डाल दिया जाये तो उसे कितनी शारीरिक पीड़ा और मानसिक व्यथा होगी इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। ईश्वर के अंश जीव की दुर्गति का कारण यही माया-बन्धन है। इन्हीं को काटने के लिये जो प्रबल पुरुषार्थ किया जाता है उसे साधना एवं उपासना कहते हैं।

ईश्वर भक्ति का अत्यधिक माहात्म्य बताया गया है। उसके असंख्य भौतिक एवं आत्मिक लाभ गिनाये गये हैं। वह प्रतिपादन सर्वथा सही है। भक्ति का प्रयोजन—अपना मूल स्वरूप समझना और मायाजन्य दुर्गति से छुटकारा प्राप्त करता है। आत्म बोध को इसी परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु माना गया है। इसे आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर, दर्शन भी कहते हैं। बन्धन मुक्ति, जीवन मुक्ति, नव जागृति, प्रकाश प्राप्ति आदि शब्दों में इसी स्थिति की चर्चा की गई है। इस उपलब्धि को परम पुरुषार्थ की परम सफलता कहा गया है। इस स्थिति में पहुँचे हुये व्यक्ति को जो दिव्य सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता होती है, उसे

ब्रह्मानन्द परमानन्द आदि के नाम से जाना जाता है। इसी को जीवन लक्ष्य की पूर्ति कहते हैं। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये जो प्रयत्न करने पड़ते हैं, उन्हें योग और तप के नाम से पुकारते हैं।

बिजली घर से सम्बन्धित रहने पर बल्ब जलते और पंखे चलते हैं। कनेक्शन कट जाने पर अच्छे खासे विद्युत उपकरण भी गति हीन पड़े रहते हैं। ईश्वर और आत्मा के बीच सघन आदान-प्रदान की श्रृंखला को सुदृढ़ बनाने के लिये भक्ति भावना की आवश्यकता पड़ती है। चेतना का स्वरूप भावनात्मक है। उसमें संवेदना भरी रहती है। सबसे बड़ी, सबसे प्रखर भावना प्रेम है। इसी को भक्ति कहते हैं। इसी के साथ-साथ दया, करुणा, उदारता, सेवा, सहकारिता, पवित्रता, जैसी अन्य उदात्त भावनायें सहचरी बनकर चलती हैं। इन्हें प्रेमरूपी सूर्य की किरणें भी कह सकते हैं। ईश्वर दिव्य संवेदनाओं का केन्द्र है। उसके साथ घनिष्ठता के सम्बन्ध जोड़ने के लिये भक्ति भावना के विकास का अभ्यास करना पड़ता है। उपासनात्मक अनेकों क्रिया-प्रतिक्रियायें इसी आत्म विकास का पथ प्रशस्त करती हैं।

ईश्वर की महिमा अपार है, उसकी सामर्थ्य अनन्त है, उसका कर्तृत्व महान् है, जो कुछ महत्त्वपूर्ण है सभी उसके गर्भ में विद्यमान है, मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता को पूरा कर सकने में कहीं अधिक विभूतियाँ ईश्वरीय सत्ता में विद्यमान हैं पर अपनी पकड़ और पात्रता स्वल्प होने के कारण जो मिलता है, वह स्वल्प होता है। स्वल्प से संतोष नहीं होता। अपनी सत्ता लघु है इसलिये उसके उपार्जन भी सीमित रहते हैं। असीम आकांक्षाओं की तृप्ति असीम के समुद्र में ही मिलने से पूरी होती है। गंगा का उद्भव हिमालय से हुआ है तो भी वह जानती है कि वह स्वयं पाषाण नहीं जल है। पत्थर के टुकड़े पत्थर के ढेर में जमा होने पर गर्व कर सकते हैं पर जल धारा को तो असीम जल राशि में मिलकर ही पूर्णता का आनन्द मिल सकता है। अस्तु गंगा की धारा दौड़ती हुई समुद्र तक पहुँचती है और उसी में विलीन हो जाती है।

जीवात्मा को गंगा की तरह भौतिकता के पाषाण पर्वत से असन्तोष ही बना रहता है। तृप्तिदायक संतोष उसे असीम के अधिष्ठाता ईश्वर के साथ मिलने पर ही हो सकता है। यही है वह आकांक्षा, जिसके अतृप्त रहने पर वह हर दिशा में प्यासा फिरता है और निराशा हाथ लगने पर थकान से चूर और खीज से उद्विग्न बना रहता है। मृगतृष्णा में भटकने वाले हिरन की तरह जीव भी एक छोड़ दूसरा तृप्ति का आधार खोजता है। दूसरे से तीसरे पर और तीसरे से चौथे पर उसकी खोज चलती रहती है। हर प्रयास के बाद नई प्यास की अतृप्ति तब तक चलती रहती है, जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो जाती। गंगा को समुद्र में मिलने से ही तो शान्ति मिल सकी है।

आत्मा का परमात्मा से मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य और परम लाभ है। इसी को प्राप्त करने के लिये लम्बा मार्ग पूरा करना पड़ता है। अमीबा से लेकर बन्दर तक—और बन्दर से मनुष्य तक की लम्बी यात्रा इसी प्रयोजन के लिये पूरी करनी पड़ी है कि लघु से महान् बनने के लिये जो पुरुषार्थ करना पड़ता है उसके अनुभव लिये जायें और क्रमशः अधिक बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुये अपूर्णता से चलकर पूर्णता तक पहुँचा जाय। इसी क्रीड़ा-कल्लोल में जीव को धकेला गया है। प्रायः सभी पशु-पक्षी अपने बच्चों को सुयोग्य एवं समर्थ बनाने के लिये इसी तरह की शिक्षा पद्धति से काम लेते हैं। सम्भवतः ईश्वर ने भी जीव को क्रमशः अधिकाधिक सक्षम बनने की लम्बी यात्रा पर चल पड़ने के लिये विवश किया है। अन्य योनियों में यह यात्रा धीमी गति से चलती है। बच्चा भी तो ठुमक-ठुमक कर चलता है। जवान की सामर्थ्य-परीक्षा लम्बी दौड़ और ऊँची कूद जैसे उपक्रमों से परखी जाती है। मनुष्य जीवन जीवात्मा की जवानी है। उससे उसे पूर्णता का लक्ष्य पूरा करने के लिये विशेष अवसर और विशेष साधन मिला है। तत्व ज्ञानी इसीलिये हर विवेकवान को सजग करते हैं कि वह यथार्थता को समझे। जीवन का मूल्यांकन करे और इस दुर्लभ अवसर का जो लाभ उठाया जा सकता है उसकी ओर से आँखें बन्द न किये रहे।

जीवन का स्वरूप, उद्देश्य, लक्ष्य और उपयोग समझने-समझाने की पुण्य-प्रक्रिया को ब्रह्म विद्या के नाम से जाना जाता है। इसी को चरम ज्ञान कहा गया है। सामान्य व्यक्ति शरीर के इन्द्रिय सुख और मन के अहंकार तोष को ही सब कुछ मानते हैं और उन्हीं के लिये साधन जुटाने में निरन्तर लगे रहते हैं। वासना और तृष्णा को पूरा करने में ही उनका मनोयोग श्रम और समय निरत रहता है। कृमि कीटकों से लेकर पशु-पक्षियों तक सभी सामान्य जीव पेट और प्रजनन को प्रेरणा से ही अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं। मनुष्य की स्थिति विशेष है। उसे ऊँची बात सोचनी चाहिये और यथार्थता को खोजना चाहिये। समझदारी इसी में है और इसी को दूरदर्शिता, विवेकशीलता एवं बुद्धिमत्ता कह सकते हैं।

"नहिं ज्ञानेन सदृश पवित्र मिह विद्यते" की गीता उक्ति में इस लोक की—इस जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि सद्ज्ञान को ही कहा है। जिस पैनी दृष्टि से जीवन का स्वरूप एवं लक्ष्य समझा जा सके और उस दुर्लभ अवसर के सदुपयोग की योजना बन सके, ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान उसी को कहते हैं। यह उपलब्ध होने पर जीवनोद्देश्य को पूर्ण कर सकने वाली निश्चित योजना बन जाती है। दृष्टि साफ हो जाती है और मार्ग के सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता। इसे प्रकाश की प्राप्ति कहा गया है और सबसे बड़ा सौभाग्य माना गया है। शास्त्रों में इस उपलब्धि के कई नाम हैं, ऋतुम्भरा प्रज्ञा, दिव्य दृष्टि, भूमा आदि। इसी को गायत्री कहते हैं। गायत्री महा मन्त्र में जिस सविता की समीपता का वरेण्य की उपासना का भर्ग की आराधना का देव की अनुभूति का, धी की धारणा का, प्रकाश की प्रेरणा का अनुरोध आग्रह किया गया है, वही एक मात्र ईश्वरीय वरदान है। वह मिल सके तो फिर और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। इतना मिल जाने के बाद तो उस थोड़े से साहस का अभ्यास करना पड़ता है, जिसके सहारे पशु-प्रवृत्तियों के अभ्यास के आदत छोड़ी जा सके और दिव्य जीवन की रीति-नीति का दिनचर्या में समावेश किया जा सके।

ईश्वर के अति निकट होते हुये भी हम उसे अनुभव नहीं कर पाते। इस विचित्र व्यामोह का निवारण करने के लिये ही ध्यान प्रक्रिया अपनानी पड़ती है और जो बहुमूल्य रत्न खो गया है, उसे गम्भीरतापूर्वक तलाश करना पड़ता है। आश्चर्य यह है कि अति समीप तत्व हमारे लिये अति दूर बन गया है। गले में बँधे हुये कंठे की याद नहीं रहती है, उसकी खोज में भारी दौड़-धूप की जा रही है और तो और उस प्राणप्रिय प्रियतम का हम नाम तक भूल गये हैं और रूप तक विस्मृति के गर्त में चला गया है। कैसी है यह विचित्र स्थिति अपनी ? उसे उन्मत्त की विक्षिप्त की मनोदेशा कहा जा सकता है। भुलक्कड़ तो तरह-तरह के देखे गये हैं पर जो अपने को अपने लक्ष्य को ही भूल बैठे उसके लिये क्या कहा जाये ? ऐसी विचित्रता हमें अपने भीतर ही दीख पड़ेगी। न अपना स्वरूप याद आता है और न लक्ष्य की स्मृति शेष रही है। इसी विस्मृति को स्मृति में बदलने के लिये नाम जप और इष्टदेव के ध्यान की प्रक्रिया बनाई गई है।

ईश्वर को उसके स्वरूप एवं क्रिया-कलाप को—आदर्श निर्देश को यदि देखना खोजना हो तो वह अपने भीतर ही भली प्रकार दृष्टिगोचर हो सकता है। उसे बाहर देखने का मन हो तो उसका स्वरूप और लीला विलास देखने में भी कुछ कठिनाई नहीं है। अन्तर में झाँकें तो वह परम प्रभु हँसता मुस्कराता और कुछ कहता करता दिखाई पड़ेगा। ऊँचा उठने और आगे बढ़ने की अदम्य आकांक्षा ही किसी के भीतर बनी रहती है—आत्म गौरव हर किसी को अभीष्ट है—सत् और असत् का विवेक सभी में है—श्रेष्ठ आचरणों से आत्म-संतोष और निकृष्ट से आत्म विद्रोह का अनुभव हर कोई करता है। यही देवत्व है भावना क्षेत्र में इन्हीं दिव्य संवेदनाओं के रूप में ईश्वरीय चेतना को अपने अन्तःकरण में विराजा हुआ देखा जा सकता है। मानवी आत्मा की मूल प्रवृत्तियाँ यही हैं। भौतिकवादी अन्वेषणों ने मानवी चेतना को पशु और पिशाच के रूप में खोजा है। ये उसे भय, आक्रमण, स्वार्थ, सेक्स से प्रेरित पीड़ित मानते हैं और प्रकारान्तर से मत्स्य न्याय एवं सर्वभक्षी उपयोग का समर्थन करते हैं। उन्होंने तो जीवन को रासायनिक उत्पादन माना है और पुनर्जन्म, परलोक, कर्मफल, जीव सत्ता एवं परमात्मा के अस्तित्व तक से इन्कार किया है। इस समय उस विवाद में नहीं उलझा जा सकता केवल

इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वह प्रतिपादन सही रहे होते तो अब तक न्याय, नीति, धर्म, सदाचार एवं मानवी मर्यादायें कब की समाप्त हो गई होतीं और बुद्धिबल का पैशाचिक प्रयोग करके एक-दूसरे का रक्त पान करते हुये मनुष्य कबके मर खप कर समाप्त हो गये होते। तब इस संसार में सद्भावना और आदर्शवादिता नाम की कोई परम्परा शेष नहीं रही होती। यदि अब तक इन तथ्यों का पता रहा होगा और भौतिकवादी प्रतिपादनों ने इन रहस्यों का उद्घाटन किया होगा तो निश्चय ही अगले दिनों वही मान्यता सर्वत्र स्वीकार्य होगी। यदि वैसा हुआ तो इतनी भविष्यवाणी निश्चित रूप से की जा सकती है कि बुद्धिहीन पशु तो आदर्श विहीन रहकर भी निर्वाह करते रहेंगे पर बुद्धिमान मनुष्य अमर्यादित वासना और अनियन्त्रित तृष्णा को अपनाकर पिशाच-कृत्यों पर उतरेगा तो राजदण्ड व समाज दण्ड भी उसे रोक न सकेंगे और स्वच्छन्दतावाद की चिता में कूदकर मानव जाति का सामूहिक आत्म हत्या के लिये विवश होना पड़ेगा।

हमारा विश्वास है कि न तो वे मान्यतायें सही हैं और न उन्हें मानवी विवेक कभी स्वीकार करेगा। आत्मा की उत्कृष्टता अक्षुण्ण बनी रहेगी और वह क्रमिक विकास के पथ पर चलते हुये अधिकाधिक समुन्नत परिष्कृत होती चलेगी। जैसे-जैसे हम अध्यात्म की यथार्थता और महत्ता को समझेंगे वैसे-वैसे अधिक उत्साहपूर्वक अपनाने और अधिक श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करने के लिये उत्साह प्रकट करेंगे। साहसपूर्वक उस मार्ग पर चलने के लिये प्रयास करेंगे।

हाँ तो कहा यह जा रहा था कि अपने भीतर ईश्वर की झांकी उत्कृष्टतावादी और अदम्य सत्प्रेरणाओं के रूप में की जा सकती है। ऊँचा उठने, आगे बढ़ने, गौरवास्पद बनने और आत्म-सन्तोष पाने की आकांक्षा केवल दिव्य जीवन क्रम अपनाकर ही पूरी की जा सकती है। औचित्य अपनाकर एक सीमा तक भौतिक उन्नति भी हो सकती है और उसका सदुपयोग भी बन पड़ सकता है, पर यदि आदर्शविहीन संग्रह, उपभोग और आतंक की गति अपनाई गई तो आत्मिक आकांक्षाओं में से एक भी पूरी न हो सकेगी। कुछ पाया भी तो वह उतना महँगा पड़ेगा कि बाह्य अवरोध एवं आन्तरिक विद्रोह उसे नीरस एवं भार भूत बनाकर रख देंगे। अन्तःकरण के मर्मस्थल से जिस महानता' की प्राप्ति के लिये हूक उठती रहती है, उसे उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाकर ही पूरा किया जा सकता है। इसी प्रेरणा को ईश्वरीय चेतना दैवी संदेश आत्मा की पुकार एवं वेदवाणी कहा जा सकता है। जिसकी यह अन्तःप्रेरणा जितनी प्रबल है, उसकी आत्मा में ईश्वर की ज्योति उतनी ही अधिक दीप्तिमान देखी जा सकती है।

भगवान के अवतार समय-समय पर होते रहे हैं। उनके अवतरण का उद्देश्य एक ही रहा है अधर्म का विनाश और धर्म का संस्थापन। दुष्कृत्यों का निराकरण और साधुता का परित्राण, इस एक ही प्रयोजन के लिये विभिन्न स्तर के नाम रूप वाले अवतार हुये हैं, उनके क्रिया-कलापों में भिन्नता तो रही है पर प्रयोजन एक ही रहा है। जो तथ्य वेद रूप में बाह्य जगत में प्रकट होता रहा है, वही अन्तःकरण में भी अवतरित होता हुआ देखा जा सकता है। अपनी भीतरी दुनिया भी कम विस्तृत नहीं है। इसमें भी अनेकों अवांछनीय असुरतायें दुष्प्रवृत्तियों के रूप में अट्टहास करती हुई देखी जा सकती हैं। ईश्वर का अवतार जिस भी अन्तःकरण में प्रकट होगा, वहाँ उसका दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का कार्य तेजी के साथ सम्पन्न हो रहा होगा। राम अवतार में लंकाकाण्ड का—कृष्ण अवतार में महाभारत का युद्ध प्रसंग सर्व प्रमुख सर्वविदित है। यही अन्तः संघर्ष प्रत्येक ईश्वर भक्त के भीतर चलता है। विकृतियों के प्रति उसका रोष आक्रोश बढ़ता जाता है और क्रियाक्षेत्र में विचार क्षेत्र में जो भी दुष्प्रवृत्तियाँ जड़ जमाकर बैठ गई हैं, उनके उन्मूलन का प्रयत्नपूर्ण संवेग के साथ चल पड़ता है। भगवान परशुराम ने इस पृथ्वी को असुरविहीन कर दिया था। रामचन्द्र जी को भी निश्चयहीन करों मही का भुज उठाया प्रण करना पड़ा था। प्रत्येक भक्त अन्तरात्मा में ईश्वर का अवतरण इसी रूप में होता है। भीतर से आरम्भ होकर यह शोधन-प्रक्रिया क्रमशः विकसित होती चली जाती है और दीपक जिस प्रकार स्वयं प्रकाशवान बनने के साथ-साथ अपने क्षेत्र को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यदि अवांछनीयताओं का उन्मूलन करने की प्रक्रिया उभरती दीख पड़े तो उस उभार को प्रत्यक्ष ईश्वर-दर्शन के रूप में देखा जा सकता है।

ईश्वर के अवतार का दूसरा उद्देश्य है धर्म की स्थापना—साधुता का उत्कर्ष। यह पूरक प्रक्रिया हुई। अधर्म का उन्मूलन निषेधात्मक—धर्म की स्थापना विधेयात्मक, दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। नींव खोदने के उपरान्त दीवार चुनी जाती है। खेत जोतने के बाद बीज बोया जाता है। झाड़ियाँ काटकर रामतल खेत बनाये जाते हैं अनीति को हटाकर नीति की स्थापना की जाती है। असुरता का उन्मूलन और देवत्व का अभिवर्धन एक ही प्रयोजन के दो पक्ष हैं। दर्जी कपड़े को काटता भी है और सींता भी है। डाक्टर आपरेशन के बाद मरहम पट्टी भी करता है। मल-विसर्जन जैसे नित्य कर्म करने के बाद भोजन व्यवस्था भी की जाती है। अधर्म का उन्मूलन तभी सार्थक होता है, जब उसके साथ धर्म का सृजन भी होता चले। असुरता के विनाश की पूर्णता देवत्व के अभिवर्धन में अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती है।

किसी में ईश्वर का अवतरण कितने आवेश और आलोक का है, उसका निर्धारण इस साधारण आधार पर हो सकता है कि वह व्यक्ति अपने भीतरी और बाहरी क्षेत्र में अवांछनीयताओं के उन्मूलन और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में कितनी तत्परता के साथ संलग्न है ?

दुर्गुणों को हटा देना ही पर्याप्त नहीं, सद्गुणों का बीजारोपण सिंचन एवं अभिवर्धन भी उसी उत्साह के साथ होना चाहिये। गुण कर्म स्वभाव में समाई हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटा देना तो खाई पाट देना भर हुआ। उस स्थान पर नये देव मन्दिर का सृजन करने के साधन भी जुटाये जाने चाहिये। दुर्बुद्धि छोड़ देना एक पक्ष है उतने से तो हानि भर रुकेगी। लाभ कमाने के लिये सद्बुद्धि को सक्रिय होना चाहिये। दुहने वाले पात्र के पैंदे में हुये छेद बन्द करने से उसमें भरी वस्तु के फैलने का संकट भर दूर होता है। उस पात्र को दूध से भरने के लिये तो कुछ अन्य आन्तरिक प्रयास करने पड़ेंगे। छेद बन्द कर देने मात्र से कोई व्यक्ति उस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता, जिसके लिये दूध दुहने वाला पात्र खरीदा गया था।

गुण, कर्म, स्वभाव के क्षेत्र में उत्कृष्टता का समावेश करते चलने वाली दिव्य धारा का जब अन्तःकरण में उभार आने लगे तो समझना चाहिये कि ईश्वर का अवतरण हो रहा है। गर्मी की ऋतु आते ही हर वस्तु का तापमान बढ़ जाता है समझना चाहिये कि व्यक्ति में ईश्वर का अवतरण आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने के लिये उत्साह और साहस भरी ऊष्मा उत्पन्न किये बिना रहेगा नहीं। वर्षा ऋतु आती है तो हवा में नमी बढ़ती है और धरती पर हरियाली उगती है। ईश्वर वर्षा ऋतु की तरह है उसकी लहर आती है तो आकाश से सद्भावनाओं के बादल बरसते हैं, कुछ श्रेष्ठतम कर गुजरने की उमंगें बिजली की तरह कड़कती हैं। जीवन के धरातल पर सत्प्रवृत्तियों की घास अनायास ही उग पड़ती है और जिधर भी नजर उठाई जाये हरितिमा नजर आती है। अन्तरंग में सद्गुणों का उभार होता है और बाहर भी इस विश्व उद्यान की शोभा सुन्दरता देखने में आँखें आनन्द का अनुभव करती हैं। शीत ऋतु में जिसे भी छुआ जाये ठण्डा प्रतीत होता है। अपने भीतर की शान्ति बढ़ चले और सम्पर्क क्षेत्र में शान्ति संस्थापन का प्रयास सफल होने लगे तो समझना चाहिये यह ईश्वरीय अवतरण का चमत्कार है। वृक्षों के पुराने पत्ते पीले पड़ते और झड़ते हुये शीत ऋतु में देखे जाते हैं। यही हाल ईश्वर भक्ति के प्रभाव से होता है। पुरानी वे आदतें, पुरानी वे इच्छायें, झड़ती-गिरती चली जाती हैं, जिनके कारण मनुष्य को पेट और प्रजनन तक सीमाबद्ध व पशु स्तर का जीवन जीना पड़ता है। वसन्त में नये पल्लवों नये पुष्पों से वृक्ष वनस्पतियों को लदा हुआ देखा जाता है। ईश्वर अवतरण का प्रभाव ऐसा उलास उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्तित्व के कण-कण देव चेतना का सौन्दर्य खिलता हुआ देखा जा सके। ऋतुओं के प्रभाव से बदलता हुआ वातावरण सहज ही पहचाना जा सकता है और अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दिनों अमुक मौसम है। किसी के व्यक्तित्व को—चिन्तन और कर्तृव्य को उत्कृष्टता युक्त देखा जाये तो समझना चाहिये यहाँ ईश्वरीय अवतरण का पुण्य प्रभात हो चला।

२.७ ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

गंगावतरण की कथा प्रसिद्ध है। भागीरथ ने तप किया था और वे उन्हें स्वर्ग से धरती पर लाये थे। भागीरथी ने विशाल भूखण्ड की प्यास बुझाई और सम्पत्ति उगाई। शिव की जटाओं से भी गंगा के प्रकट होने की चर्चा है। हमारा मस्तिष्क ब्रह्मलोक है इसी को स्वर्ग कहते हैं। सद्ज्ञान की गंगा का अवतरण यहीं से होता है और उसकी धारा सुविस्तृत भूखण्ड पर प्रवाहित हो चलती है। सद्ज्ञान का विस्तार सत्कर्म में होता है। सद्भावनायें अवतरित होती हों और वे सत्प्रवृत्तियाँ बनकर कर्म क्षेत्र में बहती हों तो समझना चाहिये कि भक्त भागीरथ की तप-साधना सफल हो चली और ईश्वर दर्शन का प्रयोजन पूर्ण हो गया।

अपने जीवन में ईश्वर की विद्यमानता देख सकना कुछ भी कठिन नहीं है। उत्कर्ष की आत्म-गौरव की प्राप्ति करने का आकांक्षा स्पष्टतः यही अंगुलि निर्देश करती है कि पशु स्तर का जीवन-यापन अपर्याप्त है—अतृप्तिकर है—अवांछनीय है। इस स्थिति से आगे बढ़ा जाये, ऊँचा उठा जाये। मात्र जीवात्मा न रहकर महानात्मा-देवात्मा एवं परमात्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त किया जाये। भटाकाव के कारण यह लाभ भौतिक वस्तुयें समेटने और दूसरों को चमत्कृत करने वाले जादुई विलास-वैभव के संग्रह में इस लक्ष्य की पूर्ति सोची जाती है। बड़प्पन के ठाठ रोपे जाते हैं और उस उन्माद में कुमार्ग अपना-कर प्रगति के नाम पर पतन के गर्त में गिरा जाता है। यदि यथार्थता को समझा जा सके तो वह आत्मिक आकांक्षा सम्पन्नता संग्रह करने के लिये महानता सम्पादित करने के लिये मार्गदर्शन करती दिखाई पड़ेगी। उत्कर्ष की उमंग के रूप में अपने भीतर हम ईश्वरीय सत्ता को दिशा निर्देश करती हुई देख सकते हैं।

विवेक के रूप में उचित को अपनाने और अनुचित से बचने की प्रक्रिया भी ईश्वर हर घड़ी पूरा करता है। प्रत्येक सत्कर्म हमें आन्तरिक सन्तोष देता है और प्रत्येक दुष्कर्म के प्रयास से छाती धड़कती है। अन्तर्द्वन्द्व खड़ा होता है और पैर काँपते हैं। औचित्य के लिये प्रोत्साहन देने वाले और अनौचित्य के प्रति निरुत्साह उत्पन्न करने वाले इस अन्तःप्रकाश को ईश्वरीय सत्ता की विद्यमानता के रूप में देखा जा सकता है।

करुणा, प्रेम, दया, श्रद्धा जैसी सद्भावनायें असीम आत्म सन्तोष प्रदान करती हैं। इन्हें चरितार्थ करने के लिये कुछ कष्ट सहना, संयम बरतना और त्याग करना पड़ता है तो भी उससे दुःख नहीं संतोष ही होता है। इसे ईश्वरीय चेतना का दिव्य शिक्षण कह सकते हैं। उत्कृष्टता की भूख अदम्य है—न्याय और औचित्य का समर्थन शाश्वत है। चोर भी चोरी के सिद्धान्त का समर्थन नहीं कर सकता—वह अपने घर चोर को नौकर रखने के लिये तैयार न होगा। यह सत्य की ईश्वरत्व की दिग्विजय है। हमने निरन्तर ईश्वरीय वाणी की अवज्ञा और प्रेरणा की अवहेलना की है सो आदत भी वैसी बन गयी है। धूलि जमते-जमते दर्पण धुँधला हो गया है अन्यथा हर कोई अन्तरात्मा के भीतर महानता की दिशा मे बढ़ चलने की प्रेरणा के रूप में कोई भी कभी भी जीवन्त किन्तु धूमिल बनाई गई ईश्वरीय चेतना का दर्शन कर सकता है।

शरीर के ढाँचे पर दृष्टि डाली जाये और उसके भीतर कार्यान्वित हो रही रीति-नीति पर गहराई से ध्यान दिया जाये तो प्रतीत होगा कि ईश्वरीय चेतना की प्रकृति क्या है और वह व्यष्टि एवं समष्टि में किस प्रकार काम करती है ? घटकों की घनिष्टता और अवयवों की सहकारिता देखते ही बनती है। यों जीवाणुओं की स्वतन्त्र सत्ता है पर उन सबने इस प्रकार का निर्वाह क्रम अपनाया है कि घनिष्टता देखते ही बनती है। उलट-पुलट कर देखा जाये तो वे एक-दूसरे के साथ गुँथे हुये लगेंगे। उनमें से किसी की इच्छा अलग रहने या अलग बढ़ने की नहीं होती। हर घटक का संतोष पारस्परिक आत्मीयता का आनन्द लेने में ही केन्द्रित हो रहा है। इनमें से किसी घटक को काटकर अलग किया जाय तो छोटी-सी काट-छाँट भी सारे शरीर को व्यथित कर देती है और जहाँ से कुछ कटा था, वहीं रक्त के आँसू बहने लगते हैं। प्रत्येक जीवाणु अहर्निशि श्रम निरत रहता है और अपनी सत्ता का लाभ समूचे शरीर को देता है। यह सघनता ईश्वरीय है। व्यक्ति को घटक बनकर रहना चाहिये और उसका स्वार्थ और परमार्थ एक रहना चाहिये।

अवयवों की सहकारिता दर्शनीय है। हाथ कमाता है—उसे कमाई को मुँह खाता है—मुँह पेट में पहुँचाता है—पेट पचाकर रक्त बनाता है—रक्त हृदय के अधिकार में पहुँचता है और वहाँ से सारे शरीर में पहुँचता है। छोटी-बड़ी नलिकायें इस वितरण की समर्थक और सहायक बनकर रहती हैं। सामर्थ्य का अधिकाधिक उपयोग—उपभोग के लिये न्यूनतम से तुष्टि, यही है प्रत्येक छोटे-बड़े अवयव की नीति। यह घाटे का सौदा नहीं है। हाथ ने कमाकर शरीर-पोषण के लिये अपना समग्र उपार्जन समर्पित कर दिया, यह स्थूल दृष्टि के लिये घाटे का मूर्खता का काम था। पर वस्तुतः इसमें लाभ ही लाभ रहा। सुरक्षा की चिन्ता—अहंकार की उद्धतता—संग्रह की सड़न से बचत हो गई और उपार्जित अन्न-धन—बहुमूल्य रक्त मांस बनकर हाथ के लिये वापिस आ गया। सूक्ष्मदर्शियों के लिये यह बुद्धिमत्ता का काम रहा। हाथ में आदर्शवादिता का श्रेय प्राप्त किया और अन्यान्य अवयवों के सहयोग से रक्त का बहुमूल्य भण्डार उपलब्ध कर लिया। यह ईश्वरीय रीति-नीति है व्यक्ति और समाज के बीच वैसा ही सामंजस्य—सौमनस्य रहना चाहिये जैसा कि शरीर को सुव्यवस्थित बनाये रहने के लिये ईश्वर ने अवयवों के बीच स्थापित किया है।

उपयोगी आवश्यक का गृहण अनुपयोगी अनावश्यक का परित्याग शरीर के निर्वाह क्रम का अविच्छिन्न अंग है। भोजन मिलता है उससे जो तत्व जितनी मात्रा में प्रयुक्त हो सकता है उतना ग्रहण कर लिया जाता है और शेष को मल रूप में बाहर हटा दिया जाता है। संग्रह की तनिक भी उपयोगिता नहीं—संग्रह बढ़ेगा तो मलावरोध उत्पन्न होगा और सड़न से अनेकानेक रोग उठ खड़े होंगे। मल-विसर्जन की क्रिया देखते ही बनती है। विकृतियाँ जहाँ भी उत्पन्न हों वहीं से उन्हें खदेड़ बाहर किया जाना चाहिये। शरीर में बड़े-बड़े नो छिद्र हैं, वे सभी मल-विसर्जन में निरत रहते हैं। त्वचा के असंख्य छिद्र पसीने के माध्यम से विकृतियों को बाहर खदेड़ते हैं। फेफड़े में जाने वाली हर साँस उत्पन्न हुये विषों को समेटकर लाती है और उन्हें बुहारकर बाहर फेंकती है। हमारे भीतर गुण कर्म स्वभाव के—शरीर मन और भावना के क्षेत्र में जहाँ भी—जब भी—लेने की आवश्यकता नहीं है। जो श्रेष्ठ हों—उत्कृष्ट हों उसी को हम संग्रह करें और शेष को उपेक्षा के गर्त में धकेलकर बाहर कर दें। इतना सहज शिक्षण ईश्वर की इस रीति-नीति को देखकर सीखा जा सकता है, जो शरीर सत्ता के अन्तर्गत आजीवन काम करती रहती है।

जन्म से लेकर मरणपर्यन्त शरीर का सारा ढाँचा श्रमशील रहता है। स्थिति बदल देना भर विश्राम है। हर अवयव अपनी नियत मर्यादा का पालन करता है और अपने जिम्मे का उत्तरदायित्व निबाहता है। कर्त्तव्यनिष्ठा—मर्यादाओं का पालन, उदार सहकारिता का निर्वाह—अविश्राम श्रमशीलता जैसी रीति-नीति अपनाकर ही शरीर का स्वास्थ्य—मन का सन्तुलन और अन्तःकरण का चरित्र स्थिर रखा जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के बलिष्ठ रहने का यही उपाय है। ईश्वर का कर्तृत्व शरीर के क्रिया-कलाप के चल रहे विधि-विधान को देखकर समझा जा सकता है। अभक्ष्य पदार्थ खाने से उदरशूल रेचक से दस्त नशा पीने पर उन्माद, विष पीने से मृत्यु, असावधानी से चलने पर ठोकर जैसे घटनाक्रमों को देखकर कर्म फल का सिद्धान्त समझा जा सकता है। अपने भीतर झांककर आदि देखा जा सके तो जिनकी चर्चा की गई है वे दो-चार प्रसंग ही नहीं, असंख्यों आधार ऐसे दिखाई पड़ेंगे जो ईश्वर की रीति-नीति का दिग्दर्शन कराते हैं। चेतना सदा निराकार होती है इसलिये उसे चर्म-चक्षुओं से तो नहीं देखा जा सकता पर ज्ञान नेत्रों से उसकी गतिविधियों का दर्शन किया जा सकता है। यही है ईश्वर का साक्षात्कार। इसका प्रतिफल यही होना चाहिये कि हमें अपनी व्यावहारिक रीति-नीति का निर्धारण उसी आधार पर करना चाहिये, जिसे ईश्वरीय सत्ता द्वारा अपनाया गया है। ईश्वर, भक्ति का—उसकी उपासना-साधना का प्रयोजन यही है कि हम उसी राह पर चलें जो उसने हमारी प्रत्यक्ष पाठ्य पुस्तक में लिख दी है।

आन्तर क्षेत्र की तरह बाह्य जगत में भी ईश्वरीय सत्ता का दर्शन उसको रीति-नीति के रूप में देखते हुये किया जा सकता है। समुद्र

में जमा रहने पर जल खारा रहता है और निरुपयोगी बनता है। कुछ ही समय में खाद बन जाता है। आततायी आपस में ही लड़ते मरते और समाप्त होते रहते हैं। अवांछनीयता अपनाने वाली असुरता सदा हारी और दैवी सत्ता ने अपना वर्चस्व घोर संघर्षों के बीच भी कायम रखा है। एक से एक बढ़कर अनाचारी आये और असीम घृणा एवं अनन्त अशांति लेकर महाकाल की करालता में समा गये पर बुद्ध और ईसा अभी भी जिन्दा हैं। शिवि, दधीचि हरिश्चन्द्र की—ध्रुव प्रहलाद की—सूर कबीर की, मीरा और तुलसी की सत्ता अभी भी जीवित हैं। कालजयी महामानवों को इतिहास के पृष्ठों पर से मिटाया न जा सकेगा, जब तक धरती और आसमान है, तब तक महामानवों की देवसत्ता अमृत वाणी—अजर-अमर बनी रहेगी और उनके चरण-चिन्हों पर श्रद्धा के शत दल कमल मानवी आत्मा निरन्तर अर्पित करती रहेगी।

उपभोगवादी संग्रही और आधिपत्य जताने वाले अतृप्ति और असंतोष का रोना रोते रहेंगे पर जिन्हें सौन्दर्य का बोध है, वे नीले आकाश के झिलमिलाते तारकों में रात भर—लहलहाती हरितमा में दिन भर दिव्य-सौन्दर्य का अनुभव करते हुये हर घड़ी हर्षोल्लास में डुबे रहेंगे। चित्र-विचित्र प्राणियों के चलते बोलते खिलौने कितने सुन्दर हैं ? भोला बचपन इठलाता यौवन और परिपक्व वृद्धत्व कितना भावात्मक होता है इसे किसी भी कलाकार की आँखें देखतीं और ठगी-सी रह जाती हैं। प्रकृति की छोटी-बड़ी हलचलों को यदि भाव भरी आँखों से देखा जा सके तो प्रतीत होगा कि इस सृष्टि के कण-कण से सौन्दर्य बरसता है—पारस्परिक स्नेह सहयोग का यहाँ कितना निर्मल प्रवाह बह रहा है। सत् की ये सत्ता चेतना के समुद्र में किस प्रकार क्रीड़ा कल्लोल कर रही है यह देखते ही बनता है। यहाँ सत् चित् और आनन्द के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। संघर्ष, पाप और संग्रह जहाँ भी होगा वहीं विकृत बनेगा और संकट उत्पन्न करेगा। बादल जल लाते हैं सूखे भूतल को सींचते हैं। उनका क्रिया-कलाप उन्हें ऊँचा चढ़ाता है, देवता बनाता है, आगमन पर सर्वत्र मोद मनाया जाता है। बरसने पर भी वे खाली नहीं होते। हर वर्ष उनका अस्तित्व यथावत् बना रहता है। बादलों का पानी जमीन को मिलता है—जमीन से नदियों में नदियों से समुद्र में जा पहुँचता है। यह एक से दूसरे को देने की पद्धति ही सृष्टि को सुस्थिर और समुन्नत रखे हुये हैं। यदि रोक रखने की लोभ नीति अपनाई जाये, तो बादल क्यों बरसेंगे ? जमीन अपनी नमीं नदियों को क्यों देगी ? नदियाँ सारा पानी अपने में भरे रहेंगी। संग्रह वृत्ति के अपनाने पर कितना बड़ा प्रकृति संकट उठ खड़ा होगा ? यह कल्पना करने मात्र से जी दहल जाता है। प्रकृति की हलचलों में ईश्वर के कर्तृत्व को यदि झाँका जा सकेगा तो प्रभु-दर्शन का प्रकाश हमें सहज ही मिल सकता है।

वनस्पति उगती है दूसरों के लिये, वृक्ष फलते हैं दूसरों के लिये, गाय दूध, भेड़े, ऊन, मक्खियाँ मधु देती हैं। फूल खिलते और सुगन्ध बिखेरते हैं—झरने झरते हैं और नदियाँ बहती हैं—धरती अपने असंख्य अनुदानों से प्राणियों को पोषण करती हैं। पवन चलता है—सूरज उगता है, चन्द्रमा चमकता है और तारे झिलमिलाते हैं। इन सबका अपना प्रत्यक्ष लाभ क्या है ? ईश्वर ने स्वयं इस विशाल सृष्टि का उत्तरदायित्व क्यों सँभाला हुआ है ? इन प्रश्नों का उत्तर यदि खोजने के लिये उतरा जाय सृष्टि का कण-कण उत्कृष्टता से ओत-प्रोत हो रहा है और उसी के आधार पर इस विश्व का सूत्र संचालन हो रहा है अवांछनीयतायें भी इस संसार में उत्पन्न होती हैं पर वे पनपने नहीं पातीं अपनी मौत मरती हैं और श्रेष्ठता की सघनता में उनका अस्तित्व टिक नहीं पाता। अंधेरा आता तो है पर प्रकाश के सम्मुख टिक नहीं पाता। प्राणियों द्वारा त्यागा दुर्गन्धित मल अनाचार की भी यही सत्ता है पर वह है वहीं जहाँ ईश्वरीय सत्ता की न्यूनता है। संसार में कष्ट, शोक, सन्ताप, विद्वेष और विघटन की असुरता भी मिल सकती है पर वह कृति नहीं विकृति है। कृति और विकृति का संघर्ष भी उस परम पुरुष की एक स्फुरणा है, जिसके सहारे असत् पर सत् की—मरण पर जीवन की और अन्धकार पर प्रकाश की विजय की प्रत्यक्ष अनुभूति मिल सकती है।

ईश्वर का दर्शन-ईश्वर का अनुग्रह जीवन का लक्ष्य है। यह चर्म-चक्षुओं से सम्भव नहीं। चमड़े के बने नेत्र तो केवल जड़ पदार्थों को देख सकते हैं, चेतना तो इन्द्रियातीत है, उसकी अनुभूति ज्ञान-चक्षुओं से, विवेक दृष्टि से हो सकती है। अन्तरंग को खोजने और बहिरंग को निहारने से हमें ईश्वर की सत्ता का दर्शन हो सकता है। परमाणु के घटक अन्ततः विद्युत प्रवाह वे स्फुलिंग मात्र हैं। पदार्थ की मूल इकाई रासायनिक नहीं विद्युतीय है। शक्ति ही दृश्य का रूप धारण करती है। यह समूचा पिण्ड और ब्रह्माण्ड ब्राह्मी सत्ता का कलेवर है। यहाँ सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म ज्योतिर्मय है। माया के आवरण ने उसके दर्शन आनन्द में व्यवधान उत्पन्न किया है। उपासना और साधना की छेनी हथौड़े से उसी अवरोध को नष्ट करने की हटाने की प्रक्रिया पूर्ण की जाती है। यदि इस तथ्य को समझा जा सके तो ईश्वर-दर्शन की प्यास को सहज ही बुझा सकते हैं। ईश्वर को जीवन का सहचर बना लेने उसकी प्रकृति और प्रेरणा को हृदयंगम कर लेने पर जो असीम आनन्द मिलता है, शक्तियों का अजस्र स्रोत हाथ लगता है, स्तर में देवत्व परिलक्षित होता है, वही है जीवन का चरम लक्ष्य और वही है परम पुरुषार्थ का महानतम प्रतिफल।

ईश्वर की कर्म फल व्यवस्था

ईश्वरीय सत्ता का मानवी चेतना पर अंकुश रखा जा सके तो इस बहुमूल्य मनुष्य जन्म को सच्चे अर्थों में सार्थक बनाने का अवसर मिल सकता है। यों शरीर यन्त्र और मानसिक तन्त्र दोनों ही ईश्वर विनिर्मित हैं। वही उनकी मूल गतिविधियों का संचालन करता है। हम अपने आप तो मिट्टी का खिलौना भर बना सकते हैं। जीवन्त प्राणियों का जन्म प्राणियों के प्रयत्न और शरीर से होता है पर कोई नहीं जानता कि इस काया का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है ? प्रयोगशालाओं में मनुष्यकृत रासायनिक यान्त्रिक प्राणी उत्पन्न नहीं किये जा सके। रक्त मांस अस्थि जैसे पदार्थ यदि कोई बना सका होता तो रक्तदान या अंग दान की आवश्यकता क्यों पड़ती ? आँखों जैसी दृष्टि और कानों जैसी श्रवण शक्ति वाले यन्त्र यदि बनाये जा सके होते तो कितना अच्छा होता ? मस्तिष्क की संरचना देखकर तो उसके सृजेता की सूझबूझ, कारीगरी और सूक्ष्मता पर चकित रह जाना पड़ता है। इन्द्रियों की संवेदना और सक्रियता कितनी अद्भुत है, जिसकी तुलना मानव कृत प्रयासों में कहीं भी नहीं देखी जा सकती।

अनवरत् चलने वाला रक्तसंचार, निमेष, उन्मेष, अंकुचन-प्रंकुचन, श्वांस-प्रश्वांस जैसी हलचलों को देखकर इस यन्त्र का अनौखापन देखते-देखते तृप्ति नहीं होती। मन की विचार शक्ति की उपयोगिता और गरिमा का तो कहना ही क्या ? निर्जीव जड़ पदार्थों से बनी सृष्टि को कितनी सुन्दर, सुखद और संवेदनशील बना दिया है, इस मन ने। यदि मन न होता तो गुल्म-पादपों की तरह उगते बढ़ते जरूर पर अनुभूति के हाथ सरसता का कोई आनन्द ले सकना सम्भव न रहा होता।

हम न तो शरीर यन्त्र बना सकते हैं और न मनः तन्त्र। यह ईश्वर की अतीव मूल्यवान कलाकृतियाँ हैं, जिन्हें सृजेता ने अपनी समस्त कुशलता का समावेश करके बड़ी आशा और भावना के साथ बनाता है। इसके संचालन का उत्तरदायित्व मनुष्य को सौंपा गया है और अपेक्षा की गई है कि वह उसका सदुपयोग करके स्वयं लाभान्वित होगा और सृष्टि की सुव्यवस्था में सहायक सिद्ध होगा। निर्माण ईश्वर के हाथ, संचालन मनुष्य के हाथो। इस प्रकार की साझेदारी इस कारखाने के साथ जुड़ी हुई है। ईश्वर ने अपना कार्य पूरा कर दिया। अब मनुष्य की बारी है कि वह सुसंचालन करते हुये अपनी प्रामाणिकता और कुशलता का प्रमाण प्रस्तुत करे।

परीक्षा से ही किसी की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। प्रतियोगिताओं में भाग लेकर ही विजेता अपना वर्चस्व सिद्ध करते हैं। बहुमूल्य जीवन तन्त्र का संचालन कुशलतापूर्वक किया गया या उसे मूर्खता अपनाकर नष्ट-भ्रष्ट, अस्त-व्यस्त कर दिया गया, यही परीक्षा काल जीवन अवधि के रूप में सामने प्रस्तुत है। उत्तीर्ण छात्रों को प्रमाण-पत्र मिलते हैं और प्रतियोगिता में खरे सिद्ध होने वालों को गौरवशाली पद एवं उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। जीवन सम्पदा का उपयोग किस प्रकार किया गया है ? यही वह

परख, जिसमें मनुष्य की कुशलता एवं प्रमाणिकता परखी जा रही है। यदि हम खरे सिद्ध होते हैं तो अन्य बढ़े-चढ़े बहुमूल्य उपहारों एवं उत्तरदायित्वों को प्राप्त कर सकने की अपेक्षा कर सकते हैं।

शरीर हम बना तो नहीं सकते पर उसकी क्रिया शक्ति का इच्छानुसार उपयोग कर सकते हैं। विचारशक्ति, इच्छाशक्ति जैसी चेतनाओं का निर्माण हम नहीं कर सकते यदि कर सके होते तो पालतू पशुओं को अपने जैसे बना लेते और पागलों को बुद्धिमान कर देते। इतने पर भी इतना अधिकार हर किसी को प्राप्त है कि वह अपनी मानसिक क्षमता का कुछ भी—कैसा भी—उपयोग करें ? उपयोग की छूट तो मिली है पर एक अधिकार ईश्वर के हाथ में सुरक्षित है कि कर्त्तृत्व के अनुरूप दण्ड और पुरस्कार देने की व्यवस्था अपने हाथ में रखे। हम इच्छानुसार भले और बुरे कर्म करने में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, पर उसके परिणामस्वरूप जो दुःख और सुख मिलते हैं, उनसे बच नहीं सकते। आमतौर से यही चूक होती रहती है। इसी चौराहे पर लोग भटक जाते हैं और प्रलोभनों से प्रेरित होकर उस राह पर चल पड़ते हैं, जो आकर्षक तो लगती है अन्ततः ले पहुँचती है कंटीली झाड़ियों से भरे जंगल में—चिपकन और सड़न भरे दल दल में।

शरीर और मन का कुछ भी उपयोग कर सकने में हम स्वतन्त्र हैं। यह एक लक्ष्य है। हम चाहें तो आत्म हत्या तक कर सकते हैं। चाहें तो आत्म साधना में निरत होकर कुछ ही समय में देवत्व की साधना में लग सकते हैं। दोनों में से किसी भी मार्ग पर चलने की छूट है। पर यहाँ एक भयंकर भ्रान्ति भी अपना ली जाती है कि कर्म फल से बचे रहने की छूट भी हम प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा नहीं हो सकता। जमालगोटा खाया जा सकता है पर उसके फलस्वरूप दस्त होने की बात रोकी नहीं जा सकती। विष पीने की हर किसी को स्वतन्त्रता है पर उसके फलस्वरूप मरण से बच सकना सम्भव नहीं। नशा पीना अपने हाथ में है पर उन्माद से बचाव कैसे हो सकता है ? हम में से अधिकांश की मान्यता यही बनी होती है कि दुष्कर्म करते हुये भी उसके दण्ड से बचे रह सकते हैं। समाज के तिरस्कार और शासकीय दण्ड से बच निकलने में अपनी चतुरता के आधार पर सफल हो सकते हैं। इसी मान्यता के कारण पाप कर्म होते हैं और लोग उस राह पर चलते हैं, जिसमें पग-पग पर काँटें और कंकड़ बिछे हैं।

नास्तिकता की परिभाषा 'कर्म फल की निश्चितता से इन्कारी के रूप में की जा सकती है। नास्तिकता की शास्त्रकारों ने कटु भर्त्सना की है। इसमें ईश्वर के सृजेता और संचालक होने की बात को मानना न मानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना इस सृष्टि में कर्म फल से बच निकलने की बात सोचना। इसमें इतना भर हो सकता है कि कोई अतिधूर्तता बरतने पर सामाजिक तिरस्कार और शासकीय दण्ड से बच जाय पर ईश्वरीय व्यवस्था से चल रहे कर्म-विपाक से कोई बच नहीं सकता। जो यह सोचता है कि चतुरता इस क्षेत्र में भी काम दे सकती है पर ईश्वरीय न्याय और शासन से इन्कार करता है। यही है वह बिन्दु जहाँ नास्तिकता पनपती है और व्यक्ति तथा समाज का भारी अहित होता है।

ईश्वर का ब्रह्म-सृजेता होना असंदिग्ध है। यदि संयोग से प्राणी और पदार्थ बनते हैं तो ईश्वरीय व्यवस्थाक्रम का व्यतिरेक करके मानवी कुशलता के सहारे किसी अन्य प्रकार से प्राणियों और पदार्थों का नव्र-निर्माण किया जाना चाहिये। ऐसा कर सकना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है। वह चल रही प्रकृति-प्रक्रिया की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करके—उस व्यवस्था का लाभ भर उठा सकता है। नया परमाणु—नया तत्व—नया जीवाणु मनुष्य की सारी कुशलता मिलकर भी नहीं बना सकती। अस्तु ईश्वर का सृजेता, सृष्टा ब्रह्म होना स्वयं सिद्ध है। इस क्षेत्र में ईश्वर के न मानने का दुराग्रह कहीं आड़े नहीं आता और सृष्टिकर्त्ता प्रकृति है अथवा पुरुष इस विवाद से कुछ बनता नहीं। जब हम नये सूर्य चन्द्र, तारागण, समुद्र, पर्वत, वृक्ष प्राणी आदि नहीं बना सकते। सृष्टि में चल रही हलचलों से भिन्न प्रकार की परिपाटी खड़ी नहीं कर सकते तो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता एवं ब्रह्मा मानने की बात स्वीकार करने न करने से किसी का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। कोई सूर्य के अस्तित्व से इनकार करता रहे तो इससे उसे ही विक्षिप्त दुराग्रही आदि माना जायेगा। सूर्य पर अथवा उससे लाभान्वित होने वाली सृष्टि पर इस इन्कारी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान का दूसरा स्वरूप है पोषण कर्त्ता—विकासवान, अग्रगामी विष्णु। यहं सत्ता भी सर्वत्र काम करती हुई देखी जा सकती है। परमाणु परिवार से लेकर सौरमण्डल तक सर्वत्र अग्रगामी सक्रियता काम कर रही है। प्राणि जगत में शैशव, यौवन, वृद्धत्व और परिवर्तन का क्रम यथावत् चल रहा है। अमीबा से बढ़कर मनुष्य बनने तक की—आदिम काल से लेकर आज के सभ्य युग की—गवेषणा करने पर प्रगति चक्र के गतिशील होने की बात स्पष्ट है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के उपरान्त मनुष्य जन्म पाने की पौराणिक मान्यता की भी विवेकयुक्त संगति बैठती है। यह ब्रह्माण्ड गोल है। अणु की सत्ता भी गोल है इसलिये आगे ही आगे चलते रहने पर गोलाई के धरातल पर भ्रमण करने वाले को अन्ततः वहीं आ पहुँचना पड़ता है, जहाँ से वह चला था। चक्र गति की व्यापकता सर्वमान्य है। इसे दूसरे शब्दों में अग्रगमन कह सकते हैं।

हर पदार्थ को कहीं न कहीं से पोषण मिलता है। अन्यथा गतिशीलता में खर्च होने वाली शक्ति की पूर्ति कैसे होगी ? हम अन्न, जल और वायु से आहार प्राप्त करते हैं। वृक्षों को जड़ों के और पत्रों के माध्यम से खुराक मिलती है। धरती को आकाश से पोषण मिलता है और आकाश को धरती से। खाद से खेत की भूख बुझती है और उसके उत्पादन को खाकर प्राणियों की मल-विसर्जन क्रिया से उस खाद की पुनः पूर्ति होती है। यह पोषण चक्र असंदिग्ध है। विष्णु का कर्तृत्व प्रत्यक्ष है। इससे जो इन्कार करे वह अन्न, जल और वायु के बिना जीवित रहकर दिखाये बिना ईंधन और ऊर्जा का साधन जुटाये मशीन चलाये। बिना खाद पानी के पौधे उगाये। भगवान के विष्णुत्व से इन्कारी या स्वीकृति भी कुछ महत्त्व नहीं रखती। जो प्रत्यक्ष है, उसे अस्वीकार करना अपनी ही मूर्खता का परिचय देना है।

गड़बड़ तब मचती है जब भगवान के शिव स्वरूप से इन्कार किया जाता है। शिव को नियामक कहा गया है। वह स्वच्छन्द को सीमित करता है और नियन्त्रण का अंकुश लगायें रहता है। यदि ऐसा न होता तो स्वेच्छाचारी परमाणु एक-दूसरे से टकराकर भयंकर विस्फोट खड़े करते। ग्रह नक्षत्र आये दिन परस्पर टकराया करते। बकरी के पेट से बन्दर होते और चने के पौधों में चावल उग पड़ते। सूर्य की जब मर्जी होती निकलता और जब मौज आती चादर तानकर सो जाता। उस दशा में जो अव्यवस्था उत्पन्न होती, उससे दृश्यमान सृष्टि का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। इस सृष्टि क्रम में सन्निहित मर्यादा और नियन्त्रण की व्यवस्था कूट-कूटकर भरी देखकर हम चेतना ब्रह्म की शिव शक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। पर इसी क्रम को जब मानवी कर्म व्यवस्था में से काट देने हटा देने का दुःसाहस किया जाता है, तब उसे अनास्था या नास्तिकता कहते हैं। जो है—उसे नहीं है, कहा जाय माना जाये तो उससे गतिविधियों में अवांछनीय व्यतिरेक उत्पन्न होगा। इसका परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण ही हो सकता है। नास्तिकता से उत्पन्न होने वाले विग्रहों को ध्यान में रखते हुये उससे बचने के लिये ही नास्तिकता को अवांछनीय ठहराया गया है और उसकी कटु-भर्त्सना की गई है।

एक शब्द में नास्तिकता का अर्थ कर्म फल की इन्कारी कहा जा सकता है। यह भ्रान्ति पनपती इसलिये है कि मनुष्य की विवेकशीलता और उत्कृष्टता को चरितार्थ होने का अवसर देने के लिये इतनी गुंजायश छोड़ी गई है कि कर्मों का स्तर निर्धारित करने में मनुष्य अपने स्तर का परिचय दे सके। यदि इतनी भी छूट न मिली होती तो हम यन्त्रवत् बन जाते। जिस प्रकार सांस लेने और पलक झपकने का क्रम चलता है, उसी प्रकार कर्म करने की इच्छा और प्रक्रिया भी ईश्वर ने अपने हाथ में रखी होती तो फिर हर कोई एक ही प्रकार के कर्म करते रहने के लिये विवश होता। उससे जीवन्त प्राणी भी मशीन जैसे बन जाते, उनमें जो विचित्रता और विविधता पाई जाती है, उसके दर्शन भी न होते। तब कोई न ऊँचा उठने का श्रेय प्राप्त करता और न पतन के कारण किसी की भर्त्सना होती। ईश्वर ने अपने जेष्ठ पुत्र पर उतना अंकुश लगाना उचित नहीं समझा और उसे स्वेच्छापूर्वक कर्म करने की पूरी-पूरी छूट प्रदान कर दी। यह उचित भी था और प्रत्यक्ष भी है। हम कुछ भी भला-बुरा कर सकने की

अपनी स्वतन्त्रता से परिचित हैं और उसका उपयोग भी करते हैं। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब कर्म फल पाने न पाने की छूट की भी उच्छृंखलता अपनाई जाती है। इसी मर्यादा व्यतिरेक का नाम नास्तिकता है। निन्दा उसी की होती है।

मनुष्य की स्वतन्त्र विवेकशीलता को परखने के लिये, तत्काल कर्मफल न मिलने की ढील दी गई है और परखा गया है कि देखें यह सृष्टि का मुकटमणि प्राणी अपनी गरिमा, शालीनता और मर्यादा का स्वेच्छापूर्वक पालन कर सकता है या नहीं ? इसी परख के लिये तत्काल कर्मफल न मिलने की ढील-पोल चलती है। देखा जाता है कि नशा पीने से उन्माद, रेचक खाने से दस्त व विषपान से मरण और आग छूने से जलने की तरह तत्काल कर्मफल नहीं मिलते। उनकी प्रतिक्रिया समाज तिरस्कार और राजदण्ड के रूप में तो मिलती रहती है, पर जो चतुरतापूर्वक उस पकड़ से बच जाते हैं, वे तत्काल ईश्वरीय दण्ड नहीं पाते। प्रतिफल में प्रायः देर लग जाती है। इसी प्रसंग में यह समझ लिया जाता है कि चतुरता सफल हो गई। मानवी न्याय व्यवस्था को चकमा देने की तरह ईश्वरीय विधान को झुठलाना भी सम्भव हो गया। इस भ्रान्ति के कारण ही मनुष्य दुष्कर्म करने का दुस्साहस करते हैं और सत्कर्मों के सत्परिणाम तत्काल सामने न आने के कारण निराश होकर बैठ जाते हैं। इसी दुस्साहस एवं नैराश्य को प्रकारान्तर से नास्तिकता कहा जाता है।

झूठ बोलने से मुँह में छाले पड़ जाने, चोरी करने वालों के हाथ में दर्द उठ पड़ने, कुमार्गगामियों को लकवा मार जाने, अचिन्त्य चिन्तन से सिरदर्द होने, कुदृष्टि वालों पर अन्धता छा जाने जैसी तत्काल कर्मफल की व्यवस्था रही होती तो अपनी दुनिया में कोई भी कुकर्म करने का दुस्साहस न करता। आग पकड़ने, बिजली छूने और विष पीने की गलती कोई इसीलिये नहीं करता कि उनके परिणाम तत्काल सामने आ खड़े होते हैं। सत्कर्म करने के प्रतिफल यदि तुरन्त मिला करते तो हर व्यक्ति की रुचि उसी मार्ग पर होती। इन्द्रियों की ललक-लिप्सा अपनाने के लिये हर व्यक्ति इसीलिये आतुर दिखाई पड़ता है कि उस उपभोग में तत्काल रसास्वादन मिलता है। चोरी, बेईमानी की नीति इसी से अपनाई जाती है कि उनसे अर्थ लाभ तुरन्त होता है। इसी प्रकार यदि सत्कर्म से सत्परिणाम तुरन्त मिलते तो हर व्यक्ति अपनी सहज बुद्धि से उन्हें ही इन्द्रिय भोगों की तरह अपनाते हुये दृष्टिगोचर होता, पर वैसी व्यवस्था इस संसार में है नहीं। दुष्कर्मों के दुष्परिणाम और सत्कर्मों के पुण्य फल प्रायः देर से मिलते हैं, इसी से अधीर होकर मनुष्य उस व्यवस्था को ही अमान्य ठहराने पर उतारू हो जाता है। इसी अधीरता को नास्तिकता कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में इसे अदूरदर्शिता कहना भी उचित होगा।

बीज को वृक्ष बनने में देर लगती है। खेत बोते ही किसान फसल कब काटता है ? विद्यालय में भर्ती होते ही स्नातक कौन बनता है। व्यायामशाला में प्रवेश करते ही पहलवान बन सकना कहाँ सम्भव होता है ? नवजात शिशु को प्रौढ़ बनने में समय लगता है। क्रिया और प्रक्रिया के बीच जो अन्तर रहता है, उसकी धैर्य और विश्वास के साथ प्रतीक्षा करने वालों को ही दूरदर्शी कहा जाता है। वे ही कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं और दूरगामी योजना बना सकते हैं। हथेली पर सरसों जमाने और बालू के महल बनाने के लिये आतुर लोगों को उतावले और उपहासास्पद कहा जाता है। ऐसी ही बाल बुद्धि कर्मफल के सम्बन्ध में बरती जाय तो उसे नास्तिकता कहा जायेगा।

अपने संसार की सबसे बड़ी भूल-भुलैया यही है कि राजदण्ड की हल्की-सी पकड़ से बच जाने वालों को यह भ्रम हो जाता है कि ईश्वरीय व्यवस्था में भी ऐसी ही ढील-पोल है और यदि कोई सुव्यस्थित विधान है भी तो उसे चापलूसी, भेंट उपहार जैसे हथकण्डों के सहारे झुठलाया जा सकता है। अमुक पूजा-विधानों के सहारे दुष्कर्मों का प्रतिफल समाप्त हो जाने की मान्यता ऐसे ही हथकण्डेबाजों ने गढ़ ली और सोच लिया है कि गंगा स्नान, देव-दर्शन पूजा प्रसाद जैसे सस्ते उपचारों के सहारे पाप दण्ड से छुटकारा मिल सकता है। ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करने के लिये जीवन-शोधन एवं परमार्थ

प्रयास जैसे कष्ट साध्य कदम उठाने की जरूरत नहीं है। अमुक विधि विधान से की गई छोटी-सी पूजा-पत्री से ईश्वर एवं देवताओं को वशवर्ती बनाया जा सकता है और उनसे उचित-अनुचित कुछ भी करा लेने का उल्लू सीधा हो सकता है। आज आस्तिकता के नाम पर यही भ्रम-जंजाल सर्वव्यापी ही रहा है। पूजा पाठ के छोटे विधि विधान भी बड़े धर्मानुष्ठान प्रायः इसी दृष्टि से किये जाते हैं। कैसी विचित्र विडम्बना है कि आस्तिकता की आड़ में नास्तिकता ने अपना डेरा जमा लिया है और कर्मफल के सिद्धान्त को झुठलाना ही पूजा का माहात्म्य बन गया है। यदि यह मान्यता सच है भी तो इसकी प्रतिक्रिया सर्वनाशी होगी। फिर किसी को पाप दण्ड से डरना न पड़ेगा। फिर कोई सत्कर्म करने में समय और शक्ति भ्रष्ट न करेगा। जब सस्ती पूजा-पत्री से ही पाप से डरने और पुण्य करने की आवश्यकता पूरी हो जाती है, तब फिर किसी को क्या पड़ी है, जो सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिये साधन जुटाये और दुष्प्रवृत्तियों से मिलने वाले लाभों को छोड़ने की बात सोचें ? जो मान्यतायें कर्मफल सिद्धान्त को झुठलाती हैं, वे नास्तिकता के अग्रदूत हैं भले ही उनका नाम पूजा पाठ—धर्मानुष्ठान या और कुछ भी नाम देकर प्रतिष्ठा के सिंहासन पर बिठाया जाता रहे। दुर्भाग्यवश आज प्रच्छन्न नास्तिकता ही आस्तिकता का मुखौटा पहनकर जन मानस को भ्रमित करने पर उतारू हो रही दृष्टिगोचर होती है।

व्यक्तित्व का स्तर सुसंस्कृत बना रहे और समाज का ढाँचा सुव्यवस्थित बना रहे, यह उभय पक्षीय श्रेय साधन मात्र आस्तिकता की मान्यता अपनाने से ही सम्भव हो सकता है। ईश्वर का अस्तित्व मानना उस स्तर पर नितान्त आवश्यक है कि कर्मफल की व्यवस्था का सुनिश्चित सूत्र संचालक है। उसकी इस व्यवस्था में देर की गुंजायश तो है पर अन्धेर की सम्भावना तनिक भी नहीं है। बीज बोने और फल तोड़ने के बीच समय का व्यवधान तो है पर फिर भी अमान्य नहीं ठहराया जाना चाहिये। जो अमान्य ठहरायेगा, उसे नास्तिक कहा जायेगा। ऐसे अधीर लोग तो कभी उद्यान लगाने विलम्ब साध्य किन्तु अत्यन्त महान् कार्यों को हाथ ही नहीं लगायेंगे। इस आधार पर तो नशेबाजी जैसी धीमी आत्महत्या से बचने की बात भी नहीं सोची जा सकेगी। प्रत्यक्ष लाभ की उतावली में ही तो ये अवांछनीय कार्य किये जाते हैं, जिनके कारण भविष्य अन्धकारमय बनता है और वातावरण दुष्प्रवत्तियों की घुटन से भरता है। यही है अनास्था की दुःखद प्रतिक्रिया जिसके कारण उसे निन्दनीय और विघातक ठहराया गया है।

मनुष्य की पतनोन्मुख चतुरता सर्वविदित है। लाखों क्षुद्र योनियों में भ्रमण करते-करते उसकी चेतना पर क्षुद्रता के कुसंस्कारों की गहरी परतें जम गई हैं। पानी ढुलकते ही नीचे की ओर बहता है। मनुष्य को अवसर मिले तो वह पशु-प्रवृत्तियों की ओर ही बढ़ेगा। चतुरता उसका साथ देगी और वे सामाजिक एवं राजनैतिक प्रतिबन्धों को तोड़ते हुये भी अपने को सुरक्षित रख सकने में सफलता प्राप्त कर लेगा। मदोन्मत्त हाथी कुछ भी कर गुजरता है। फसल को रौंद डालना, पेड़-पौधों को उखाड़ फेंकना और प्राणियों को पछाड़ देना उसके लिये खेल हैं। इसी प्रकार कर्मफल से निर्भय होकर मनुष्य भी उद्दंडता पर उतारू होता है और नैतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं को कुचलता रौंदता चला जाता है। इन पशु-प्रवृत्ति पर अंकुश ईश्वर का सुदृढ़ और सुनिश्चित क्रम अवस्था पर विश्वास उत्पन्न करने वाली आस्तिकता की आस्था अपनाने पर ही सम्भव हो सकती है।

आस्तिकता का निष्कर्ष है कि मनुष्य ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था के अप्रत्यक्ष रहते हुये भी उसे प्रत्यक्ष की तरह अनुभव करे। ईथर तत्व आकाश में भरा है, उसे खुली इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता, उसे बुद्धि की सूक्ष्मता से ही जाना जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व को किसी प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं किया जा सकता तो भी उसकी सृष्टि व्यवस्था में सन्तुलन और सामंजस्य देखकर किसी सृजनकर्त्ता और नियामक सत्ता को मान्यता देनी पड़ती है। बिना बनाये कपड़ा, बर्तन, मकान पुस्तक आदि कुछ भी नहीं चलता। जड़ पदार्थों का क्रमबद्ध संचालन किसी चेतना की प्रेरणा से ही हो सकता है। मशीनें बहुत शक्तिशाली और उपयोगी होती हैं, पर वे अपने आप नहीं चलतीं।

रेल, मोटर, वायुयान, जलयान यदि सभी यन्त्र यहाँ तक कि स्वसंचालित होने पर भी किसी मनुष्य की इच्छा एवं चेष्टा से ही चलते हैं। शरीर यन्त्र भी तभी चलता है, जब उसमें जीव रहता है और उसका संकल्प काम करता है। फिर इतने बड़े विश्व ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था किसी कर्त्ता एवं नियामक के बिना बन और चल नहीं सकती। यही ईश्वर है। उसे जानते तो बहुत हैं पर मानता कोई-कोई ही है। मानने का अर्थ है अनुशासन को स्वीकार करना।

बिजली बड़ी समर्थ है और उपयोगी भी। पर उसने लाभ उठाने के लिये तद् विषयक विधि-विधान और अनुशासन का पालन आवश्यक है। सही उपयोग करके बत्ती, पंखा, हीटर, कूलर रेफ्रीजेरेटर आदि छोटे उपयोगी और विशालकाय यन्त्रों के कल-कारखाने चल सकते हैं और तरह-तरह के लाभ उठाये जा सकते हैं, पर यदि अनुचित रीति से छेड़-छाड़ की जाय और खुले तार पकड़ लिये जाये तो उससे प्राण संकट उपस्थित हो जाने का खतरा है। ईश्वर की विधि-व्यवस्था को समझा जाये और अपने दृष्टिकोण, चिन्तन एवं क्रिया कलाप को सही रखा जाये तो परम पिता के अजस्र अनुदानों का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सकता है। उद्धत आचरण करने पर ईश्वरीय रोष का भागी बनना पड़ेगा और आधि दैविक, आधि भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रताड़नायें सहने के लिये विवश होना पड़ेगा। माता का प्यार सर्वविदित है पर उद्दंडता बरतने पर उसे भी लाल-पीली आँखें निकालते, कान ऐंठते और चपत लगाते देखा जाता है। राज सत्ता का उद्देश्य सबकी सुख-सुविधा बढ़ाना और सुरक्षा का प्रबन्ध करना है। उसकी मूल प्रवृत्ति रचनात्मक है। शिक्षा, चिकित्सा, यातायात, संचार, उद्योग आदि के अभिवर्धन में ही उसकी अधिकांश नियोजित रहती हैं किन्तु उद्दण्डता बरतने वालों के साथ कठोरता का काम भी, निषेधात्मक कार्य भी उसी को करना पड़ता है। ईश्वर के प्यार-दुलार का लाभ हम पग-पग पर प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु यह भी नितान्त सत्य है कि मर्यादायें तोड़ने पर उतारू लोग उसकी पकड़ और प्रताड़ना से बच नहीं सकते।

स्थूल दृष्टि से देखने पर तत्काल कर्म फल न मिलने के कारण यह भ्रम होता है कि उत्पादन का कोई क्रम भले ही हो नियन्त्रण की व्यवस्था यहाँ नहीं है। एसे ही अंधेरगर्दी मची हुई है। पाप कर्म का दण्ड और पुण्य का पुरस्कार संदिग्ध है। इसी भ्रान्ति से नास्तिकता का जन्म होता है। आस्तिकता का उद्देश्य मनुष्य की चिन्तन की गहराई में उतरना और यह समझना है कि देर से कर्मफल मिलने की व्यवस्था देखकर अधीर होने और अनुचित पर उतारू होने की आवश्यकता नहीं है। गम्भीर बना जाये और देखा जाये कि अवांछनीयता की प्रतिक्रिया तीव्र न सही, मन्द गति से होने की व्यवस्था किस प्रकार चल रही है ?

अपना अन्तःकरण 'समाज का प्रचलन' राजकीय कानून जिन अनैतिक आचरणों का निषेध करता है, उन्हें ही अपनाने पर अन्य सूत्रों की दण्ड व्यवस्था तो पीछे लागू होगी। पहले अपना ही अन्तरात्मा विद्रोह खड़ा कर देता है अन्तर्द्वन्द्व उठना अनिवार्य है। क्रूर कर्म करने वाले प्रायः नशा पीकर या कृत्रिम आवेश उत्पन्न करके ही आत्म विद्रोह को शिथिलकर पाते हैं अन्यथा कई बार तो हाथ काँपने, पैर लड़खड़ाने और दिल धड़कनें की घबराहट में कार्य बन ही नहीं पड़ते और उलटे पैर लौटना पड़ता है। नौसिखियों पर तो प्रायः यही बीतती है और वे अनेक बार परिस्थिति की विषमता में न ही मनःस्थिति की विषमता में ही घबराकर वापिस लौट आते हैं। इस प्रकार की असफलतायें ईश्वरीय विद्रोह की विजय और अनास्था की पराजय कही जा सकती है। आत्मा की पुकार को निरन्तर दबाते चलने पर जब दुष्टता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तभी क्रूर कर्मों को सरलतापूर्वक कर सकने का अभ्यास बनता है अन्यथा कोई भीतर ही भीतर नोचता काटता रहता है। रुकने और लौटने के लिये कहता रहता है। इस उपदेष्टा को आत्मा की पुकार और परमात्मा की ज्योति कह सकते हैं। इसे धूमिल किया जा सकता है पर सर्वथा बुझा देना किसी के भी वश की बात नहीं है।

मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति उसका मनोबल है इसी के सहारे वह पतन को रोकने

और उत्थान के क्रम को बढ़ाने में समर्थ होता है। कुकर्म उद्धत तो हो उठता है आतंक फैलाने एवं ध्वंस करने में आवेशग्रस्त उन्मादियों की तरह एक सीमा तक सफल भी हो जाता पर उसके लिये व्यक्तित्व को कुछ महत्त्वपूर्ण बना सकना सम्भव नहीं रहता। सृजन की क्षमता ही किसी को सफल सम्पन्न एवं सुविकसित बनाती है। इसके लिये प्रखर मनोबल चाहिये। कुकर्मी का मनोबल निरन्तर गिरता चला जाता है। इस दुर्बलता के कारण वह अपनी आँखों में गिरता है साथ ही हर कोई उसे घृणा की दृष्टि से देखता है। धन-हीन की उपेक्षा होती है और क्षीण मनोबल वाले पर तिरस्कार बरसता है। उसका सच्चा मित्र एक भी नहीं रहता। स्वार्थवश जो मित्रता का ढोंग बनाते थे, वे भी कुसमय आने पर पल्ला झाड़कर दूर जा खड़े होते हैं। पाप की प्रतिक्रिया घृणा के रूप में होकर ही रहती है। कुकर्मी के मित्र मुँह से समर्थन भले ही करें पर भीतर ही भीतर घोर तिरस्कार भरे रहते हैं। जब अशक्ति एवं विपत्तिग्रस्तता आती है तो वे तथा कथित मित्र उचित अवसर पाकर अपनी दबी हुई घृणा को उभारते हैं और असहयोग ही नहीं उलटे प्रहार भी करते हैं। चोर, डाकुओं के वर्ग में आज के मित्र कल शत्रु बनते रहते हैं। मुखविरी करने और पकड़वाने में प्रायः उनके साथियों का ही हाथ रहता है। गुन्डे आपस में ही कटते-मरते रहते हैं।

जिस किसी का प्यार नहीं मिल सके, जिसके लिये किसी के अन्तःकरण में श्रद्धा नहीं जग सके, जिसका कोई सच्चा सहयोगी न हो वह बाहर से कितना ही ठाठ-बाट बना ले भीतर से अशान्त और अतृप्त ही बना रहेगा। इस विक्षोभ की जलन से उत्पन्न उद्विग्नता की अनुभूति हल्की करने के लिये ही प्रायः ऐसे लोग नशेबाजी के अभ्यस्त बनते हैं। इतना तो सुनिश्चित है कि उद्धत मनुष्य कोई महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक कार्य करने में सफल नहीं हो सकते। ध्वंस में किसी की गरिमा नहीं। एक छोटा बच्चा भी दियासलाई की तीली लेकर किसी बड़े कारखाने को भस्म करने की भूमिका बना सकता है। गरिमा की परीक्षा तो सृजन कार्यों से होती है। कारखाना खड़ा करने में किसी की क्षमता आँकी जायेगी। जला देने का कार्य तो कोई बीमार और पागल भी कर सकता है।

कुकर्मी में ध्वंस क्षमता तो एक सीमा तक पाई जाती है पर वह भी निर्विरोध नहीं रहती। समाज और शासन उस पर अंकुश लगाते हैं। स्वजन सविधियों तक में भरी रहने वाली घृणा और अनवरत् बनी रहने वाली आत्मा प्रताड़ना ऐसे लोगों को सदा ही विक्षुब्ध बनाये रहती है। यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाये तो घुन की तरह व्यक्तित्व को खोखला करती चलने वाली यह पाप-प्रतिक्रिया कम विघातक नहीं है। तीव्र गति से न सही मन्द गति से सही ईश्वरीय दण्ड व्यवस्था का वह चाबुक प्रत्येक कुकर्मी पर बरसता देखा जा सकता हैं। पेड़ को कुल्हाड़ी से काटने की प्रत्यक्ष क्रिया दीखती है और उस घटना का प्रत्यक्ष चित्र आँख के सामने आता है। पेड़ को खाद पानी न देकर सुखा दिया जाये तो लोगों को इसमें कोई अनहोनी या काटने जैसी विद्रुप घटना प्रतीत न होगी पर परिणाम की दृष्टि से दोनों ही स्थितियाँ पेड़ के लिये समान रूप से घातक हैं। राजदण्ड मिले अथवा आत्मदण्ड तलवार से काटा जाय या सांस बन्द करके हत्या की जाय, इससे दृश्य का अन्तर हो सकता है पर परिणाम तो एक ही हुआ। आत्म प्रताड़ना से पीड़ित व्यक्ति जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से प्रायः सर्वथा ही वंचित रह जाता है। गुणकर्म स्वभाव की दृष्टि से जो व्यक्ति ओछे हैं वे सदा ओछे ही बने रहेंगे।

यह मनोविज्ञान सम्मत तथ्य है कि अवांछनीयता अपनाने के कारण उत्पन्न हुये अन्तर्द्वन्द्व के कारण अचेतन मन में कितनी ही विघातक ग्रन्थियाँ बनती हैं और उनके कारण अनेकों शारीरिक एवं मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं। आधि-व्याधियों से घिरे रहने वाले ये प्रायः वे ही बहुसंख्यक होते हैं। जिन्होंने सरल नहीं जटिल जीवन जिया। सरल अर्थात् सीधा नैतिक, सौम्य। जटिल अर्थात् कुटिल अनैतिक एवं उद्धत। दूसरे शब्दों में धर्म को सरल और अधर्म को जटिल कह सकते हैं। पाप में उद्विग्नता की जलन और पुण्य में सन्तोष की शान्ति है। कोई समय था जब रोगों का कारण

वात पित्त कफ को—आठी वादी खाकी को विषाणु को—रासायनिक पदार्थों की कमी वेशी को माना जाता था और उसी आधार पर निदान उपचार का क्रम चला करता था। अब नवीनतम वैज्ञानिक शोधों ने सिद्ध किया है कि जड़ शरीर के कण-कण पर मस्तिष्कीय चेतना का आधिपत्य होने के कारण उसी को भली-बुरी स्थिति-स्वस्थता और अस्वस्थता के रूप में परिलक्षित होती है। पागल निर्द्वन्द्व रहते हैं, अस्तु आहार-विहार की अस्तव्यस्तता रहने पर भी वे मस्त और निरोग देखे गये हैं। हंसोड़ व्यक्ति प्रायः निरोग रहते हैं, इसके विपरीत घुटने और कुढ़ने वाले व्यक्ति अनेक रोगों के शिकार रहते पाये जाते हैं। नवीनतम मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष यह है कि शारीरिक स्वास्थ्य रूपी वृक्ष की जड़ें मानसिक स्वास्थ्य रूपी जमीन में गहरी घुसी होती हैं। खुराक से रक्त मांस बन सकता है पर आरोग्य की आधारशिला मानसिक स्तर पर जमी रहती है और उसी केन्द्र से वास्तविक पोषण मिलता है। निर्द्वन्द्व वनवासियों के सुदृढ़ शरीर और एकान्त वन पर्वतों में रहने वाले सन्त महात्माओं का दीर्घ जीवन इस बात का प्रमाण है कि घटिया कहे जाने वाले आहार-विहार के रहते हुये भी चिरस्थायी आरोग्य प्राप्त कर सकना किस प्रकार सम्भव होता है ? इसके विपरीत जो घुटते जलते रहते हैं, वे किसी प्रकार चिन्ता और खीज की आग में तिल- तिल करके अपने को जलाते-घुलाते रहते हैं और रुग्ण रहकर अकाल मृत्यु के शिकार होते हैं। ऐसे लोग बढ़िया आहार-विहार उपलब्ध करने पर भी उसका कोई लाभ नहीं उठा पाते।

कहना न होगा कि मानसिक सन्तुलन-सौमनस्य सन्तोष एवं उल्लास बनाये रहने में कोई कृत्रिम तरकीब काम नहीं दे सकती। दूसरों को झुठलाया जा सकता है पर अपने आपे के साथ चालबाजी नहीं हो सकती। उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व अपनाये बिना किसी का अन्तरात्मा आनन्द और उल्लास की अनुभूति नहीं कर सकता यह वरदान मात्र आस्तिकता की देवी के दरबार से ही मिलता है। ईश्वर विश्वास जीभ से कहने भर का अथवा मस्तिष्क की जानकारी तक सीमित हो तो बात दूसरी है अन्यथा यदि उसे अन्तःकरण में प्रवेश पाने और आस्था रूप में जड़ जमाने का अवसर मिल गया, तब तो उसकी सुनिश्चित प्रतिक्रिया अध्यात्मवादी आदर्शवादिता अपनाने के रूप में ही दृष्टिगोचर होगी। ईश्वर को हाजिर नाजिर मानने वाला कर्मफल के विधान पर विश्वास करेगा और अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने की मूर्खता न करेगा। आस्तिकता और सज्जनता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जो अपने को आस्तिक तो कहता है पर कुमार्ग पर चलता है उसे विसंगतियों का केन्द्र ही कहना चाहिये। पूर्व को मुँह और पच्छिम को पैर करके चलने वाले को विक्षिप्त कहा जाये या और कुछ ! आस्तिकता के साथ अनीति को जोड़े रहना असम्भव है। जो दोनों को मिलाकर चल रहा हैं उसे आस्तिकों की गणना में नहीं ही गिना जा सकता भले ही वह पूजा पाठ के ढोंग ढकोसले कितने ही रचता रहता हो।

देर सबेर से क्या कुछ बनता बिगड़ता है। आज का लिया कर्ज कमाई नहीं है कल ब्याज समेत देना पड़ता है। आज का दूध कल दही बनता है। आज का पौधा कल वृक्ष बनता है। आज प्रश्न-पत्र हल करने का प्रमाणपत्र कल मिलता है, इस विलम्ब से विचलित होने और आस्था खोने की आवश्यकता नहीं है। आत्म अमर है, उसे नित नये जन्म लेने पड़ते हैं। एक जन्म का प्रतिफल दूसरे में मिल सकता है। आज चोरी करने पर आज ही गिरफ्तारी नहीं होती या सजा नहीं मिलती तो उससे किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिये कि चोरी अपराध नहीं है और उसका दण्ड नहीं मिलेगा। कितने ही जन्मजात अविकसित एवं अपंग होते हैं। कितने ही अप्रत्याशित दुर्घटना और विपत्तियों से आच्छादित होते हैं। अस्पतालों, पागलखानों, जेलखानों, मरघटों में जाकर यह जाना जा सकता है कि तत्काल का न सही कोई पूर्वकृत कदम भी मनुष्य के आड़े आ सकता है। कुकर्मियों को निम्न योनियों में जन्मने और नरक भुगतने की जो शास्त्र मान्यता है, वे झुठलाने योग्य नहीं हैं। कुमार्गगामी की अन्तः चेतना पर जमे हुये कुसंस्कार मनोविज्ञान-शास्त्र के अनुसार जब शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ खड़ी कर सकते हैं तो अवांछनीयता की गहरी परतों द्वारा अगले जन्म में कष्टकारक परिस्थितियों के बारे में जकड़े जाने की बात भी अमान्य नहीं ठहराई जा सकती।

कितने ही बालक जन्म से ही असाधारण मेधावी, सद्‌गुणी, प्रतिभावान और दूरदर्शी होते हैं। इनका चिन्तन और कर्तृत्व एक निश्चित दिशा में चलता है। फलतः वे स्वल्प काल में ही असाधारण प्रगति के उच्च शिखर तक जा पहुँचते हैं। कितने ही बच्चे ऐसी परिस्थितियों में जन्मते हैं, जिन्हें प्रगति की विशिष्ट सुविधायें उपलब्ध रहती हैं अथवा उत्साहवर्धक संयोग मिलते हैं। इन्हें पूर्व कृत पुण्यों का प्रतिफल कहा जा सकता है। कई बालकों में दुर्बुद्धि और कुप्रवृत्तियों का प्रचण्ड उभार होता है, वे न वातावरण से प्रभावित होते हैं न व्यक्तियों से। उनकी उद्धत प्रकृति उन्हें पतनोन्मुख बनाती चलती है फलतः वे दुर्भाग्यपूर्ण विपत्तियों के शिकार बनते हैं। ऐसे लोगों में उनके प्रारब्ध का उदय हुआ देखा जा सकता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच पायी जाने वाली भिन्नता को पूर्व कृत का प्रतिफल मानने के अतिरिक्त और कोई समाधान नहीं मिलता। यदि यह भिन्नता ईश्वर कृत हो तो ईश्वर समदर्शी कैसे रहा ? यदि प्रकृति कृत है तो प्रकृति की सर्वव्यापी नियम निष्ठा का व्यतिरेक कैसे हुआ ? एक जाति के प्राणी प्रायः एक ही आकृति प्रकृति के होते हैं, उनकी मनः-स्थिति एवं परिस्थिति लगभग एक ही होती है अन्तर रहता भी है तो नगण्य ही पर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो आकाश पाताल जितना अन्तर पाया जाता है, उसे न तो ईश्वर कृत मानते बनता है न प्रकृति अव्यवस्था कहा जा सकता है। इसे पूर्व कृत कर्मों की प्रतिक्रिया कहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। सनमार्गगामियों को सत्य परिणाम देने और कुमार्ग- गामियों को दुष्परिणाम भुगतने के लिये बाध्य करने वाली सर्वव्यापी व्यवस्था को ईश्वर माना गया है। ईश्वर विश्वास की प्रतिक्रिया आत्म हित को सोचते हुये सन्मार्ग पर चलने की तत्परता के रूप में परिलक्षित हो सकती है। आस्तिक और नास्तिक का वर्गीकरण पूजा करने न करने के आधार पर नहीं, इस कसौटी पर कसा जाना चाहिये कि कर्मफल की व्यवस्था पर सुनिश्चित विश्वास किया गया या नहीं। यदि किया गया होगा तो आग को छूने की गल्ती न करने की तरह पाप वृत्तियों को अपनाने से ही परहेज किया जा रहा होगा। सच्ची आस्तिकता की सही कसौटी यही हो सकती है।

ईश्वर ने मनुष्य जीवन जैसा सृष्टि का अनुपम, अद्‌भुत और अद्वितीय साधने हमें इसलिये दिया है कि इसकी गरिमा समझें और अवसर का श्रेष्ठतम सदुपयोग करके अपनी दूरदर्शिता एवं प्रामाणिकता सिद्ध करें पशु प्रवृतियों को काटने उखाड़ने में प्रवृत्त होकर यदि उसमें देव-प्रवृत्तियों का उद्यान लगा सकें तो इसे सराहनीय दूरदर्शिता कहा जायेगा। पद के अनुरूप ही वेष-भूषा धारण करनी पड़ती है। वैसे ही आचार-व्यवहार एवं शिष्टाचार का निर्वाह करना पड़ता है। बड़े अधिकारी इस सम्बन्ध में आवश्यक सतर्कता बरतते हैं। मनुष्य भगवान का ज्येष्ठ पुत्र एवं राजकुमार है, उसकी समस्त गतिविधियाँ ऐसी होनी चाहिये जिससे मानवीय गरिमा पर आँच न आवे उसकी धवलता पर दाग धब्बा न लगे अपूर्णता से पीछा छुड़ाकर पूर्णता प्राप्त करने का अवसर केवल मनुष्य योनि में ही है। यही वह द्वार है जिसमें प्रवेश करके स्वर्ग एवं मुक्ति जैसी दिव्य उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। सामान्य जीवात्मा से ऊँचा उठकर महान् आत्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने का एक मात्र यहीं अवसर है। ईश्वर पर आस्था रखने वाला न केवल परमात्मा पर वरन् उसके दिये दैव उपहार की गरिमा पर भी आस्था रखता है और जीवन के सदुपयोग की उच्चस्तरीय व्यवस्था बनाता है। कहना न होगा कि उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व अपनाने से ही यह प्रयोजन पूरा होता है। व्यक्तित्व की उत्कृष्टता से ही ईश्वर भक्ति की झाँकी की जा सकती है।

साधन सम्पन्न मनुष्य जीवन मौज-मजा करने के लिये ठाठ बाट रोपने और लोभ मोह की अहंता प्रदर्शित करने के लिये नहीं मिला है। ऐसा करने से ईश्वर पक्षपाती नहीं कहा जा सकता है। इससे तो उसका समदर्शी गौरव ही नष्ट हो जाता है। अन्य प्राणियों को जो नहीं दिया गया है, वह मनुष्य को मिला तो इसका कोई विशेष प्रयोजन होना ही चाहिये। समझा जाना चाहिये कि यह विशुद्ध अमानत है, जिसे इस सृष्टि की सुसंस्कृत समुचित बनाने के लिये

ही नियोजित किया जाना चाहिये। कहा जा चुका है कि खजान्ची मिनिस्टर-अफसर, स्टोरकीपर आदि के हाथों में कई तरह के साधन रहते हैं और वे उन्हें निजी लाभ के लिये नहीं वरन्. निर्दिष्ट उद्देश्य के लिये ही प्रयुक्त करते हैं। आस्तिकता की आस्था निरन्तर यही स्मरण दिलाती है कि इस धरोहर को लोक मंगल के लिये ही प्रयुक्त किया जाना है। व्यक्तिगत आवश्यकतायें न्यूनतम रखी जाये। सादगी और मितव्ययता का जीवन जीया जाये। न ठाठ-बाठ का अपव्यय बढ़ाया जाये और न संतान संख्या बढ़ाने जैसा अनावश्यक भार सिर पर लादा जाय। व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता से जो जितना छूट सके और ईश्वरीय प्रयोजनों में अपने को जितना निरत रख सके, वह उतना ही ईश्वर भक्त है। हनुमान को आदर्श ईश्वर भक्त माना गया है। वे अपने लिये नहीं भगवान के लिये जिये और अपने को भूले रहे और भगवान को याद रखे रहे। याद रखने का तात्पर्य है उसी प्रयोजन में निरत रहना। केवल स्मरण करते रहने से तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं। ऐसे तो कितने ही तथाकथित भक्त लोग ईश्वर की कल्पना करते हुये चित्र-विचित्र उड़ानें उड़ते रहते हैं। सच्चा स्मरण तो लक्ष्य के साथ एकाकार होने में अपने को इसी के साथ घुला देने से सम्पन्न एवं सार्थक होता है।

आस्तिकता का फलितार्थ है सर्वव्यापी परमेश्वर सत्ता का दर्शन-विराट ब्रह्म की दिव्य साक्षात्कार करने वाले को जड़ पदार्थों का सदुपयोग और चेतन प्राणियों का सद्‌भाव भरा सहयोग करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता रहता ही नहीं। ईश्वर भक्त को अपना यही संसार विशालकाय शिवलिंग की तरह सुविस्तृत शालिग्राम की तरह दीखता है। गोलाकार शिवलिंग और शालीग्राम की प्रतिमायें विराट ब्रह्म का स्मरण दिलाती हैं। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनाते समय और माता यशोदा को मिट्टी खाने के अपराध में मुँह खोलकर दिखाते समय अपना यही विराट रूप दिखाया है। भगवान कृष्ण ने कौशिल्या को पालने में झूलते समय और काकभुशुण्डि के उदर प्रवेश को प्रवेश करने का अवसर देकर इसी विराट की झाँकी कराई थी। तुलसीदास सियाराम मय सब जग जानी. के रूप में इसी ब्रह्म का दर्शन करते थे। श्रुति ने 'ईशा वास्यमिदं ॐ सर्व" के रूप में ईश्वर के सर्वव्यापी रूप का दिग्दर्शन कराया है। आस्तिकता की प्रेरणा इस विराट विश्व को सींचने सजोने की, पूजा आराधना में निरत रहने की दिशा में चल पड़ने के लिये प्रोत्साहन देती है।

आस्तिकता की मान्यता को सुस्थिर बनाने के लिये ही पूजा उपासना के विभिन्न कर्मकाण्ड बनाये गये हैं। हम मानवी आदर्शों से भटककर पशु प्रवृत्तियों में लोट-पोट करते हैं, इसी अवांछनीय स्तुति से उबारने के लिये प्रार्थना की पुकार की जाती है। ईश्वर के साथ जीव की असीम दूरी को निकटता, घनिष्ठता में परिणत करने के लिये उपासना की जाती है। उसी की ईश्वर भक्ति सार्थक है, जो कर्मफल पर अटूट विश्वास करे और अपने जीवन को आदर्श बनाने की शपथ ग्रहण करें। आस्तिक वही है जो चरित्र निष्ठ रहता है और लोकमंगल के लिये बढ़-चढ़कर अनुदान प्रस्तुत करता है। ऐसी वास्तविक ईश्वर भक्ति ही अमृत, पारस और कल्पवृक्ष की तरह मनुष्य को सर्व सम्पन्न बनाती है और उसी आधार पर जीव को ब्रह्म, नर को नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम लघु को महान् और दीन दुर्बल को ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न बनाने का अवसर मिलता है।

□ □

हम सच्चे अर्थों में आस्तिक बनें

जड़ पदार्थों का निर्माण एवं संचालन चेतन तत्व द्वारा होता है। संसार में जितनी भी निर्जीव वस्तुएँ गतिशील दिखलाई पड़ती हैं, उनका संचालन चेतन प्राणियों द्वारा होता है। रेल, जहाज, मोटर, बैलगाड़ी, मशीनें, तार, रेडियो आदि में हलचल दिखाई देती है, वह मनुष्यकृत है। मनुष्य या पशुओं द्वारा यदि प्रयत्न परिश्रम न किया जाय तो कृषि, उद्योग, परिवहन शिक्षा, विज्ञान आदि की जितनी भी हलचलें दिखाई देती हैं, ये कहीं भी दिखाई न दें। जड़ पदार्थों का अस्तित्व तो है पर वे निर्जीव होने के कारण हलचल नहीं कर सकते। शरीरों को ही लीजिए कितने उपयोगी और आश्चर्यजनक कार्य करते हैं, पर यदि प्राण निकल जाय तो सुन्दर समर्थ देह भी निःचेष्ट होकर सड़ने लग जाती हैं।

ईश्वर और उसका अस्तित्व

जिस प्रकार व्यवहार संसार में होने वाली हलचलों का संचालक जीव है, उसी प्रकार इस विश्व ब्रह्मण्ड का, पंच तत्वों का, निर्माता एवं संचालक परमेश्वर है। शरीर के भीतर रहने वाली चेतन-सत्ता आत्मा कहलाती है और विश्व शरीर के भीतर रहने वाली चेतना को परमात्मा कहते हैं यदि परमात्मा न हो या निष्क्रिय हो जाय तो विश्व की समस्त शक्तियाँ एवं व्यवस्थायें विशृंखलित हो जायँ और प्रलय होने में क्षणभर की भी देर न लगे।

जिस प्रकार किसी मशीन का संचालन बिजली द्वारा, शरीर का जीव द्वारा होता है, उसी प्रकार समस्त विश्व की सक्रियता परमात्मा की उपस्थिति के कारण ही है। सूर्य चन्द्रमा का समय पर निकलना, अस्त होना, दिन और रात का नियमित रीति से बदलना, ऋतुओं का परिवर्तन, भूमि की उर्वरता, पवन की गतिशीलता, जल की आर्द्रता शरीरों एवम् पेड़-पौधों का जन्म, वृद्धि एवम् मरण का क्रम जीवों एवम् बीजों द्वारा अपनी ही जाति के प्रजनन, ईथर आकर्षण आदि विभिन्न सूक्ष्म शक्तियों का अपने-अपने ढंग से नियमित संचरण आदि को गम्भीरता से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विश्व का नियामक एवं संचालक कोई चेतन-तत्व है। यदि वह न हो तो आकाश में घूमने वाले अरबों-खरबों ग्रह-नक्षत्र अपने स्थान से तनिक भी भटक जाने पर एक-दूसरे से जा टकरायें और यह सुन्दर विश्व देखते-देखते नष्ट-भ्रष्ट होकर धूलि होकर बिखर जाय।

परमात्मा के अस्तित्व से इनकार करना मूर्खता है। कुछ दिन पूर्व विज्ञानवादी यह कहते थे कि इस जगत के मूल में जो विद्युत कण-इलेक्ट्रान प्रोटान आदि हैं, वे अपने-अपने स्वयं चालित काम कर रहे हैं। उन्हीं से अपने आप चेतना उत्पन्न होती है, इसलिए ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यह उपहासास्पद तर्क उन दिनों कुछ जोर पकड़ने लगा था। जब वैज्ञानिक अन्वेषणों का प्रथम चरण ही उठा था, अब विश्व विख्यातमूर्धन्य वैज्ञानिक आइन्स्टीन तक यह स्वीकार कर चुके हैं कि अणुओं का नियमित रूप से अपनी गतिविधियाँ जारी रखना ही किसी चेतन तत्व का कार्य नहीं अपितु उन अणुओं के भीतर उनकी निज की चेतना भी विद्यमान है। यह कण-कण में समाये हुए सर्वव्यापक सर्वेश्वर के अस्तित्व की स्वीकृति ही है। जैसे-जैसे विज्ञानरूपी बालक में अधिक प्रौढ़ता एवं समर्थता आती जायेगी वैसे-वैसे अपने पिता को पिता के रूप में पहचानना कठिन न होगा।

जीव और ईश्वर का सम्बन्ध

जीव उस परम चेतन परमेश्वर का अंश है। जिस प्रकार जल के प्रपात में पानी के अनेक छोटे उत्पन्न और विलय होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न जीवधारी परमात्मा में से उत्पन्न होकर उसी में लय होते रहते हैं। यह लय-विलय की लीला इसलिए रची गई है कि

इस विश्व में जो प्रेम का अमृत भरा हुआ है उसका जीव रसास्वादन करे और उस आनन्द से परितृप्त होकर अपने को धन्य माने। इस विश्व का सृजन ऐसे सुन्दंर ढंग से हुआ है कि जीव अपनी गतिविधि और भाव-दृष्टि ठीक रखे तो उसे पग-पग पर आनन्द, उल्लास, सौन्दर्य, सन्तोष और शान्ति का अनुभव होता रहे। स्वर्गीय अनुभूतियों की परितृप्ति मिले। किन्तु दुःख की बात है कि हम रास्ता भूलकर भ्रम-जंजाल में पड़ते हैं, उल्टी रीति से सोचते और उल्टी नीति पर चलते हैं, फलस्वरूप जीवन नरक बन जाता है। चारों ओर दुःख-दुर्भाग्य की घटायें घिर आती हैं। रोग, अभाव, द्वेष, चिन्ता, भय एवं शोक-सन्तापों से कष्टदायक वातावरण बन जाता है। स्वर्गीय सुख-शान्ति भरे विश्व का नारकीय दुःख-दारिद्र से भर जाना, अपनी भावनात्मक भूल का ही दण्ड-प्रतिफल है। हमें इसी को सुधारना चाहिए। यह सुधार ही अध्यात्मिकता का, आस्तिकता का मात्र एक उद्देश्य है।

आस्तिकता वह शुद्धि दृष्टि है जिसके आधार पर मनुष्य अपने जीवन की रीति-नीति का क्रम ठीक प्रकार बना सकने में समर्थ होता है। "हम ईश्वर के पुत्र हैं, महान् महत्ता, शक्ति एवं सामर्थ्य के पुंज हैं। अपने पिता के उत्तराधिकार में हमें वह प्रतिभा उपलब्ध है, जिससे अपने सम्बन्धित जगत का, समाज एवं परिवार का सुव्यवस्थित संचालन कर सकें। ईश्वर की विशेष प्रसन्नता, अनुकम्पा एवं सहायता प्राप्त करने के लिये हमें परमेश्वर का आज्ञानुवर्ती धर्म परायण होना चाहिए। प्रत्येक प्राणी में भगवान् व्याप्त है, इसिलए हमें हर किसी के साथ सज्जनता का सद्व्यवहार करना चाहिए। संसार के पदार्थों का निर्माण सभी के लिए है। इसलिए अनावश्यक उपयोग न करें। पाप से बचें क्योंकि पाप करना अपने ईश्वर के साथ ही दुर्व्यवहार करना है। कर्म का फल ईश्वरीय विधान का अविच्छिन्न अंग है। इसलिए सत्कर्म करें और सुखी रहें, दुष्कर्मों से बचें ताकि दुःख न सहने पड़ें। यह भावनायें एवं मान्यतायें जिसके मन में जितनी ही गहरी जमी होंगी। जो इन्हीं मान्यताओं के अनुरूप अपनी रीति-नीति बना रहा होगा, वह उसी अनुपात से आस्तिक कहलावेगा और यह निश्चित है कि आस्तिकता का दृष्टिकोण मनुष्य को पग-पग पर उत्कृष्ट स्तर के आनन्द, उल्लास, सन्तोष एवं गौरव का अनुभव कराता है। उसे अपना जीवन हर घड़ी पूर्णतया सार्थक हुआ दीखता है। इसी स्थिति का नाम स्वर्ग-नरक है। किसी स्थान विशेष का नाम नहीं, वरन् वे मानसिक स्तर हैं, जो निकृष्ट भावनास्तर पर है, उसे हर घड़ी नरक की ज्वाला में जलते रहना होता है और जो उत्कृष्ट भावनाओं से सरावोर है उसे स्वर्ग की मंगलमय रसानुभूति इसी जीवन में होती रहती है। आस्तिकता की मान्यतायें हमें उसी ओर ले जाती हैं, जिस ओर स्वर्गीय सुख-शान्ति की अजस्त्र धारा बहती रहती है।

प्रशिक्षण एवं परीक्षा

मनुष्य को अनन्त प्रतिभा प्रदान करने के उपरान्त परमात्मा ने उसकी बुद्धिमत्ता परखने का भी एक विधान बनाया है। उपलब्ध प्रतिभा का वह सदुपयोग कर सकता है या नहीं, यही उसकी परीक्षा है, जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण होता है उसे वे उपहार मिलते हैं, जिन्हें जीवन मुक्ति, परमपद, अनन्त ऐश्वर्य, सिद्धावस्था, ऋषित्त्व एवं देवत्व आदि नामों से पुकारते हैं; जो असफल होता है, उसे कक्षा में अनुत्तीर्ण विद्यार्थी की तरह एक वर्ष और पढ़ने के लिए चौरासी लाख योनियों का एक चक्कर पूरा करने के लिए रोक लिया जाता है। यह बुद्धिमत्ता की परीक्षा इस प्रकार होती है कि चारों ओर पाप, प्रलोभन, स्वार्थ, लोभ, अहंकार एवं वासना, तृष्णा के शस्त्रों से सज्जित शैतान खड़ा रहता है और दूसरी ओर धर्म, कर्त्तव्य, स्नेह, संयम की मधुर मुस्कान के साथ विहँसता हुआ भगवान। इन दोनों में से जीव किसे अपनाता है, यही उसकी बुद्धि की परीक्षा है, यह परीक्षा ही ईश्वरीय लीला है। इसी प्रयोजन के लिए संसार की ऐसी विलक्षण द्विविधापूर्ण स्थिति बनी है। हममें से अनेक दुर्बल व्यक्ति शैतान के प्रलोभन में फँसते और गला कटाते हैं। विवेक कुण्ठित हो जाता है। भगवान पहचानने में नहीं आता, सन्मार्ग पर चलना नहीं बन पड़ता और हम चौकड़ी चूककर मानव-जीवन में उपलब्ध हो सकने वाले स्वर्णिम सौभाग्य से वंचित रह जाते हैं।

इस परीक्षा में हम अनुत्तीर्ण न हों, अपने गौरव एवम् लक्ष्य के अनुरूप उदात्त भावनाओं एवं उत्कृष्ट भावनाओं से नीचे न गिरने पावें। इसका सम्बल आस्तिकता ही हो सकती है। ईश्वर पर अटूट विश्वास और उसकी अविच्छिन्न समीपता का अनुभव, इसी स्थिति को आस्तिकता कहते हैं। उस स्थिति को बनाये रहने के लिए जो साधन अपनाना है उसका नाम 'उपासना' है।

उपासना का विश्लेषण

उपासना का स्वरूप, ईश्वर का नाम, जप, ध्यान, पूजन, दर्शन, स्तवन, कीर्त्तन आदि के विधि-विधानों के साथ सामने आता है। इस अर्चा विधान में जो समय लगता है, उसमें हमारी भावनात्मक चेतना ईश्वर को स्मरण करने उसकी समीपता अनुभव करने में लगी रहती है। यदि यह भावनापूर्वक किया गया है तो भोजन समाप्त होने के बाद भी दिनभर उसका अनुभव होता रहता है। एक बार नशा पी लेने पर उसकी खुमारी दिनभर बनी रहती है। इसी प्रकार एक बार या कई बार ईश्वर का स्मरण-पूजन करने का उपासना-विधान प्रयुक्त किया जाय तो वह समाप्त हो जाने पर भी परमात्मा के सान्निध्य के साथ उत्पन्न होने वाली उत्कृष्ट भावनायें बनी रहती हैं और मनुष्य अपनी विचारणा एवं कार्य-पद्धति वैसी ही बनाता है जैसा कि ईश्वर के दरबार में बार-बार बैठने वाले दरबारी को अपने पद एवम् स्तर के अनुरूप रखनी पड़ती है। राजा के दरबारी, मन्त्री, मुसाहिब अपने पद-गौरव गिराने वाले ओछे काम नहीं करते फिर ईश्वर के दरबार में उसकी समीपता में बार-बार रहने वाला व्यक्ति दुष्कर्म करने एवम् दुर्बुद्धि, अपनाने की भूल भी कैसे कर सकेगा ?

उपासना अपने आप में भले ही घण्टे-आधे घण्टे का छोटा-सा कर्मकाण्ड मात्र हो, पर यदि उसे सही आधार पर किया गया है। तो उसमें सन्निहित प्रतिक्रिया से भावनास्तर भी प्रभावित होना ही चाहिए। "परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है कोई गुप्त-प्रकट स्थिति उसकी उपस्थिति से रहित नहीं, वह सर्वान्तर्यामी घट-घट की जानता है। सत्कर्म ही उसे प्रिय है। धर्म मार्ग पर चलने वाले को ही वह प्यार करता है।" इतनी मान्यता तो ईश्वर भक्त में विकसित होनी ही चाहिये। इस प्रकार की निष्ठा जिसमें होगी वह न शरीर से दुष्कर्म करेगा और न मन में दुर्भावों को स्थान देगा। पुलिस कप्तान के सामने उपस्थित रहने पर कोई जेबकट या चोर अपराध कर बैठने का साहस नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिसको ईश्वर के सर्वव्यापक और न्यायकारी होने का विश्वास है, वह कुमार्ग पर पैर कैसे रखेगा ? आस्तिक कुकर्मी नहीं हो सकता। जो कुकर्मी है उसकी आस्तिकता को एक विडम्बना या प्रवंचना ही कहना चाहिए।

आत्म-कल्याण का आधार

ईश्वर का दण्ड एवम् उपहार दोनों ही असाधारण हैं। इसलिए आस्तिक को इस बात का सदा ध्यान रहेगा कि दण्ड से बचा जाय और उपहार प्राप्त किया जाय। यह प्रयोजन छुट-पुट पूजा-अर्चना, जप-ध्यान से पूरी नहीं हो सकता। भावनाओं और क्रियाओं को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने से ही यह प्रयोजन पूरा होता है। न्यायनिष्ठ जज की तरह ईश्वर किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। स्तवन अर्चन करके उसे उसके नियम विधान से विचलित नहीं किया जा सकता है। अपना पूजन स्मरण या गुणगान करने वाले के साथ यदि वह पक्षपात करने लगे, तब उसकी न्याय व्यवस्था का कोई मूल्य न रहेगा तो फिर सृष्टि की सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जायेगी। सबको अनुशासन में रखने वाला परमेश्वर स्वयं भी नियम व्यवस्था में बँधा है। यदि कुछ उच्छ्रंखलता एवम् अव्यवस्था बरतेगा तो फिर उसकी सृष्टि में पूरी तरह अंधेर खाता फैल जायेगा। फिर कोई उसे न तो न्यायकारी कहेगा और न समदर्शी। तब उसे खुशामदी या रिश्वतखोर नाम से पुकारा जाने लगेगा जो चापलूस स्तुति कर दे उससे प्रसन्न, जो पुष्प-नैवेद्य भेट करें उससे प्रसन्न। यदि उसकी प्रसन्नता इतनी सस्ती हो जायगी, तब हर कोई इसी जाल-जंजाल में उसे फँसाने का प्रयत्न करेगा, तब कठोर कर्म की, जीवन-साधना की, संयम सदाचार की और तप परमार्थ की कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाना भला कोई पसन्द करेगा ?

हमें आस्तिकता एवम् उपासना का वास्तविक उद्देश्य समझना चाहिए। भगवान को हम सर्वव्यापक एवम् न्यायकारी समझकर गुप्त या प्रकट रूप से अनीति अपनाने का कभी भी—कहीं भी साहस न करें। ईश्वर के दण्ड से डरें। वह भक्तवत्सल ही नहीं भयानक रौद्ररूप भी है। उसका रौद्र रूप ईश्वरीय दण्ड से दण्डित असंख्यों रुग्ण, अशक्त, मूक, वधिर, अन्ध, अपंग कारावास एवं अस्पतालों में पड़े हुए कष्टों से कराहते हुये लोगों की दयनीय दशा को देखकर सहज ही समझा जा सकता है। यह स्वरूप भुला नहीं देना चाहिए। केवल वंशी बजाने वाले और रास रचाने वाले ईश्वर का ही ध्यान ना रखें, उसका त्रिशूलधारी भी एक रूप है जो असुरता में निमग्न दुरात्माओं का नृशंस दमन, मर्दन भी करता है। यह भी हमारी चेतना पर चित्रित रहना चाहिए। जहाँ वह भक्तों को प्रेमोपहार प्रदान करता है, वहाँ अभक्तों का, अनीतिरत के अनुगामियों का बुरी तरह उच्छेदन भी करता है। उसके दण्ड में जीव को ऐसी चीत्कार करनी पड़ती है कि एक क्षण के लिए उसे कड़ा अपरेशन काले डाल्टर की तरह नृशंस भी कहना पड़ता है। न्यायनिष्ठ जज को किस प्रकार अपने सगे-सम्बन्धियों, प्रशंसक-मित्रों तक को कठोर दण्ड देना पड़ता है। फाँसी एवम् कोड़े लगाने की सजा देने को विवश होना पड़ता है वैसे ही ईश्वर को भी अपने भक्त-अभक्त का, प्रशंसक-निन्दक का भेद किए बिना उसके शुभ-अशुभ कर्मों का दण्ड-पुरस्कार देना होता है।

पक्षपाती नहीं न्यायकारी

ईश्वर हमारे साथ पक्षपात करेगा। सत्कर्म न करते हुए भी विविध-विधि सफलताएँ देगा या दुष्कर्मों के करते रहने पर भी दण्ड से बचे रहने की व्यवस्था कर देगा। ऐसा सोचना नितान्त भूल है। उपासना का उद्देश्य इस प्रकार ईश्वर से अनुचित पक्षपात कराना नहीं होना चाहिए, वरन् यह होना चाहिए कि वह हमें अपनी प्रसन्नता के प्रमाणस्वरूप सद्भावनाओं से ओत-प्रोत रहने सत्प्रवृत्तियों में संलग्न रहने की प्रेरणा, क्षमता एवं हिम्मत प्रदान करे। भय एवम् प्रलोभन के अवसर आने पर भी सत्पथ से विचलित न होने की दृढ़ता; यही ईश्वर की कृपा का सर्वश्रेष्ठ चिन्ह है। जिनकी उपासना ईश्वर से इतना बड़ा वरदान उपलब्ध कर सकने में समर्थ हो गई समझना चाहिए कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। इससे बढ़कर सुख-सौभाग्य एवं गर्व-गौरव की बात और कुछ भी नहीं हो सकती कि यह कर्त्तव्य पथ पर पूरी तत्परता, ईमानदारी और प्रसन्नता के साथ संलग्न रह सके। मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को तुच्छ समझकर उनकी दर-गुजर करता रह सके। सच्ची उपासना, साधक को इसी गौरवपूर्ण स्थिति तक पहुँचाती है।

पापों से डर और पुण्य से प्रेम यही तो भगवद्-भक्त प्रधान चिन्ह है। कोई व्यक्ति आस्तिक है या नास्तिक, इसकी पहचान किसी के तिलक, जनेऊ, कण्ठी, माला, पूजा-पाठ, स्नान, दर्शन आदि के आधार पर नहीं वरन् भावनात्मक एवम् क्रियात्मक गविविधियों को देखकर ही की जा सकती है। आस्तिकता एक प्रकार का दिव्य नशा है, उसे जो पी रहा होगा। उसकी गतिविधियों में उत्कृष्टता का समावेश होना चाहिए। वह शराबी क्या जिसके पैर न लड़खड़ायें, आँखों में डोरे न पड़ें और आवाज भर्राई न हो। मुँह से बदबू आती है कि नहीं यह देखकर किसी के शराब पिये हुए की जानकारी हो जाती है। ईश्वर भक्त या उपासना प्रेमी की प्रत्येक गतिविधि वासना और तृष्णा के गुलाम 'संसारी' लोगों से भिन्न होती है। वह उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की भाषा में बोलता और सोचता है, भले ही लोभ-मोह के फंदे में फँसे हुए लोग उसका उपहास उड़ावें या मूर्ख बतावें। हर महापुरुष को संसारियों ने उनके समय में सताया और वेबकूफ बनाया है। ईसा, सुकरात, गाँधी, बुद्ध कबीर, दयानन्द, मीरा, तुलसी, ज्ञानेश्वर, हरिश्चन्द्र, दधीचि आदि को क्या नहीं सहना पड़ा ? उनकी महत्ता तो अडिग निष्ठा की परीक्षा हो जाने के बाद ही निखरी।

ईश्वर का साक्षात्कार

आस्तिक की मान्यता प्राणिमात्र में ईश्वर की उपस्थिति देखती है। इसलिए उसे हर प्राणी

के साथ उदारता, आत्मीयता एवं सेवा-सहायता से भरा मधुर व्यवहार करना पड़ता है। भक्ति का अर्थ है प्रेम। जो प्रेमी है वह भक्त है। भक्ति भावना का उदय जिसके अन्तःकरण में होगा, उसके व्यवहार में प्रेम की अजस्र निर्झरिणी बहने लगेगी। वह अपने प्रियतम को सर्वव्यापक देखेगा और सभी से अत्यन्त सौम्यतापूर्ण व्यवहार करके अपनी भक्ति-भावना का परिचय देगा। ईश्वर दर्शन का यही रूप है। भगवान राम ने पालने में पड़े-पड़े कौशल्या को और उदर में घुस पड़ने वाले काकभुसुण्डि को अपना विराट रूप दिखाया और इस दिव्य दर्शन से इन्होंने समझा कि यह समस्त विश्व भगवान की साकार प्रतिमा है। इसी प्रकार भगवान कृष्ण ने मोहग्रस्त अर्जुन को और माटी खाने पर प्रताड़ना देने वाली यशोदा को अपने विराट स्वरूप का दर्शन देकर उनका व्यामोह दूर किया था। ईश्वर दर्शन का यही वास्तविक स्वरूप है। हर चर-अचर में छिपे हुए परमात्मा को जो अपनी ज्ञान दृष्टि से देख सका और तद्नुरूप अपने कर्तव्य का निर्धारण कर सका, मानना चाहिए कि उसे ईश्वर दर्शन का लाभ मिल गया।

अपनी आत्मा को सब में और सब की आत्मा को अपने में देखने का अर्थ ही आत्म-ज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार है। अध्यात्म का तत्वज्ञान भी यही है। अपने में परमेश्वर को और परमेश्वर में अपने को देखने की दिव्य दृष्टि जिसे प्राप्त हो गई समझना चाहिए उसने पूर्णता का जीवन लक्ष्य प्राप्त कर लिया। यह प्रयोजन थोड़ा-सा मंत्र-तंत्र कर लेने से पूरा नहीं हो सकता वरन् दैनिक जीवन में इस प्रकार अभ्यास करने से सम्भव होता है कि विश्व-मानव का एक विनम्र घटक मात्र होने के कारण मुझे उसी की सुख-शान्ति महिमा-महत्ता बढ़ाने को समर्पित करना चाहिए। ईश्वर को आत्म-समर्पण करने का जहाँ वर्णन आया है, वहाँ उसका प्रयोजन यही है कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ परता एवं संकीर्णता को हटकार व्यक्ति अपना सर्वस्व लोकमंगल के लिए लगा दें। सच्चे भक्तों ने भावना एवं क्रिया से अपनी इसी निष्ठा को संसार के सामने उपस्थित किया है। हमारी उपासना का आधार भी यही होना चाहिए। जितनी देर हम भजन, ध्यान करें उतनी देर इसी प्रकार की भावनाओं, आकाँक्षाओं में अपना अन्तःकरण आन्दोलित रखें। जितने समय तक मनुष्य उच्च भावनाओं में तरंगित रहता है, उतने समय तक उसे ध्यानमग्न ही कहा जायेगा। केवल किसी कल्पित मूर्ति की छवि का स्मरण करते रहना या कोई विचार मन में न आने देना ही ध्यान नहीं, सच्चा ध्यान नकारात्मक, निषेधात्मक नहीं, वरन् सृजनात्मक भावनाओं से सराबोर होता है।

ध्यान एवं सान्निध्य

ईश्वर का ध्यान केवल किसी छवि के रूप में ही नहीं होता वरन् उसे भावरूप से भी भजा जाता है। उच्च भावनाएँ स्पष्टतः ईश्वरीय स्थिति की प्रतीक हैं। जितनी देर मन में सद्भावनाएँ उठती रहे उतनी देर अन्तःकरण में ईश्वर की प्रत्यक्ष उपस्थिति ही मानी जायगी। इसलिये अध्यात्म ग्रन्थों में स्वास्थ्य, आत्म-निर्माण एवं लोकमंगल की भावना आकाँक्षाओं में, योजनाओं में तन्मय रहना भी ईश्वर उपासना का एक प्रकार माना गया है। अतः भजन-पूजन आदि का दैनिक नित्यकर्म हर आस्तिक व्यक्ति को करना ही चाहिए ताकि निरन्तर प्रभु का स्मरण एवं सान्निध्य लाभ होता रहे। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईश्वर भक्ति हमारे जीवन में उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की गतिविधियों के रूप में भी परिलक्षित हो। उपासना को साधना के रूप में परिणत होना चाहिये। उपासना एक नियत समय पर नियत विधि-विधान के साथ पूजा अर्चन की प्रक्रिया पूर्ण करने को कहते हैं, इसकी वास्तविकता-अवास्तविकता की कसौटी यह है कि वह भावना जीवन क्रम में समाविष्ट होकर साधना बनी या नहीं। जीवन को उत्कृष्ट बनाने की साधना में संलग्न व्यक्ति ही सफल उपासक कहा जा सकता है ईश्वर महान् है, उसका सान्निध्य लाभ करने वाला तुच्छ घृणित एवं निकृष्ट, स्वार्थी, विषयी एवं संकीर्ण रह ही नहीं सकता, जो ईश्वर विश्वासी होते हुए

भी गुण, कर्म स्वभाव की—चरित्र एवं व्यवहार की दृष्टि से निकृष्ट है समझना चाहिए कि उसे अभी ईश्वर भक्ति का सच्चा मार्ग नहीं मिला। अग्नि की समीपता गर्मी प्रदान करती है। ईश्वर की समीपता व्यक्ति को उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाने के लिये विवश करती है। हमारी उपासना सच्ची होगी तो यह प्रभाव पग-पग पर लक्षित होगा।

प्रेम में परमेश्वर

उपनिषद्कार ने 'रसो वै सः की सूक्ति में यही कहा है कि प्रेम ही परमेश्वर है ईश्वर का भक्त प्रेमी ही हो सकता है। निष्ठुरता एवं स्वार्थपरता उसमें रहेगी कहाँ ? आज तो चापलूसी, खुशामद और खुदगर्जी की पूर्ति के लिए बढ़ती गई मीठी चालाकी ही मुहब्बत के नाम को बदनाम कर रही है। पर सच्चाई इससे भिन्न है। प्रेम में लेने की कल्पना भी नहीं होती, उसमें केवल देना ही देना है, माता बच्चे को प्रेम करती है तो सदा देती ही रहती है, लेने की कल्पना नहीं करती। पतिव्रता नारी भी अपने पति को जो आत्मसर्पण करती है तो उसका प्रतिफल नहीं माँगती, यदि प्रत्यावर्तन माँगने लगे तो फिर वह पतिव्रता न कहलाकर वेश्या कहलाये। ईश्वर से प्रेम करके हम ईश्वर पर कोई अहसान नहीं करते वरन् अपनी प्रेम भावना को, त्याग वृत्ति को विस्तृत, व्यापक बनाने का ही अभ्यास करते हैं। कल्याण तो केवल इसी मार्ग पर चलने से होता है।

ईश्वर दिखाई नहीं देता और न हमारी प्रेम परिचर्या का वैसा ही प्रत्युत्तर मिलता है, फिर भी हम निरन्तर उससे प्रेम करते जायें, यह साधना हमें व्यावहारिक जीवन में इस बात का अभ्यस्त बनाती है कि दूसरे लोग हमारी सेवा, उदारंता एवं सद्भावना के फलस्वरूप न तो प्रशंसा करें और न बदला चुकायें तो भी हमें अपनी ओर कोई कमी नहीं आने देना चाहिए। हम सच्चे प्रेमी बनें। ईश्वर से माँगें- कुछ नहीं उसने जो दिया वही क्या कम है ? उसी का हमने क्या सदुपयोग कर लिया, जो और फरमायशें उसके सामने रखते चले जायें ? उसने सुरदुर्लभ मानव शरीर देकर हमें इतना बड़ा अनुदान दिया है कि उस अनुग्रह से ही हम दबे पड़े हैं। यह शरीर और मन इतना समर्थ है कि यदि उसका ठीक उपयोग कर लिया जाय तो सांसारिक हर प्रयोजन को इस दोनों के माध्यम से पूरा किया जा सकता है। इतने समर्थ होते हुए भी छुट-पुट कार्यों या वस्तुओं के लिए ईश्वर के सामने फरमायशें रखते रहें और उनके न मिलने पर उसे दोष देते रहें तो यह बहुत ही निम्न स्तर का बचकानापन कहलायेगा। हम ओछे, बचकाने नहीं वरन् ईश्वर के भक्त एवं पुत्र के गौरवशाली स्तर को कायम रखें तो ही ठीक है।

भक्ति का वास्तविक रूप

प्रेमी को सदा देना ही देना पड़ता है। यदि हम सच्चे भक्त हों तो उससे कोई भौतिक उपलब्धि की कामना न रखें वरन् यह देखें कि वह हमसे क्या माँगता और क्या चाहता है। उसी पूति में लग पड़ें तो उस त्याग की तुलना से असंख्य गुना प्रेमोपाहार हमें प्राप्त होगा। देने से मिलता है यह आनन्द सिद्धान्त हर आस्तिक को रखना चाहिए। गाँधी, बुद्ध आदि ने जितना त्याग किया उसकी तुलना में बहुत अधिक उन्हें मिला। ईश्वर त्यागने वाले को देता है और निरन्तर झोली पसारे रहने वाले भिखमंगे की ओर से मुँह फेर लेता है। हम भिखमंगे नहीं प्रेमी बनें। प्रेमी कहने से कोई प्रेमी नहीं होता वरन् उसे अपने प्रेम के प्रमाण स्वरूप त्याग का आचरण करना पड़ता है। हम अपनी प्रतिभा, विद्या, समृद्धि, क्षमता का कितना अंश ईश्वरीय निर्देशों की पूर्ति में,-विश्व मानव की पूजा में लोक-मंगल में लगाते हैं, यही एक मात्र वह कसौटी है जिस पर हमारी भक्ति भावना परखी जायेगी। हमें ईश्वर से निरन्तर प्रेम करना चाहिए ताकि प्रेम करना हमारा स्वभाव बन जाय। वह स्वभाव अपने आत्मा से, अपने परिवार से, अपने समस्त संसार से प्रेम करने में प्रतिफलित होना चहिए। प्रेम इस विश्व का अमृत है। उसकी आन्तरिक अनुभूति ईश्वर दर्शन के समान ही मधुर होती है। यह अमृत जब मनुष्य के अन्तःकरण में से बाहर से प्रकट होता है तो जिस पर भी उसके छींटे पड़ते हैं, वह धन्य हो जाता है। इसकी मंगलमयी प्रतिक्रिया से उस सच्चे प्रेमी को ईश्वर भक्त का आनन्द और भी दिन-दिन बढ़ता जाता है।

इस संसार में ईश्वर भक्ति के द्वारा विकसित हुई प्रेम भावना यदि बिखर पड़े तो चारों ओर स्वर्ग का वातावरण दृष्टिगोचर होने लगे। कोई किसी को न तो सताये और न ठगे। एक-दूसरे को प्रेम और सहयोग प्रदान करें तो प्रगति की समृद्धि की कोई सीमा न रहे। अपराधों का कहीं पता भी न चले। विश्व शान्ति का लक्ष साकार होकर सामने उपस्थिति हो जाय। जिस सतयुग को, धर्मराज्य या रामराज्य को लाने की हम कामना करते हैं, वह ईश्वर-भक्ति के द्वारा, आस्तिकता की प्रतिष्ठापना के द्वारा ही सम्भव है। जेल, पुलिस, कचहरी एवं कानून से दुष्टप्रवृत्तियाँ नहीं रुक सकतीं। मनुष्य के भीतर रहने वाली असुरता प्रतिबन्धों, जीवन दण्डों से बच निकलने के अनेकों मार्ग ढूँढ़ लेती हैं। दण्डित होने पर और भी अधिक ढीठ एवं निर्लज्ज बन जाता है। स्थिर उपाय तो यही है कि हर मनुष्य दूसरों में परमेश्वर की झाँकी करके उसके साथ सद्व्यवहार करना सीखे और उस सर्वज्ञ की निष्पक्ष न्यायशीलता का स्मरण रखते हुए हर बुरे काम से बचे। व्यापक सदाचार की आधारशिला आस्तिकता ही हो सकती है और उसी के आधार पर मानव जाति की हर समस्या को सुलझाया जा सकना सम्भव होगा।

कृतज्ञता की भावना

कृतज्ञता मनुष्य का सबसे बड़ा आध्यात्मिक गुण है, जो दूसरों के किये उपकारों का स्मरण रखता है, उस सहायता के लिए सद्भावना रखता है और यथा सम्भव बदला चुकाने का प्रयत्न करता है, उसे आध्यात्मिक व्यक्ति कहना चाहिए। आध्यात्मिकता में प्रेम भावना की तरह कृतज्ञता भी उसका दूसरा प्रतीक है यदि हमें कृतज्ञता की दृष्टि उपलब्ध है तो यह सारा संसार ही उपकारी एवं सहयोगी प्रतीत होने लगेगा। कृतघ्नता का असुर जब हमारी आँखों में बैठा होता है तब दूसरों की छोटी-छोटी कमियाँ भी पहाड़-सी बड़ी मालूम देती हैं और उनके उपकार छोटे बनकर उस पहाड़ के पीछे छिप जाते हैं, तब यह सारा संसार दुष्ट एवम् शत्रु प्रतीत होने लगता है। किन्तु यदि उपकारों को पहाड़ और त्रुटियों को उपेक्षणीय मानने की अपनी दृष्टि हो तो यह संसार स्नेही, सौम्य एवं मित्र प्रतीत होगा। कृतज्ञता के दृष्टिकोण में स्वर्ग और कृतघ्नता की दृष्टि में नरक का निवास रहता है। दोनों में से हम जिस प्रवृत्ति के भी अभ्यस्त होते हैं, उसी के अनुरूप इस संसार का वातावरण हमें दिखाई देने लगता है। हमारे चारों ओर सुखद वातावरण बना रहे इसके लिये कृतज्ञता की भावनायें हमें अपने स्वभाव में समाविष्ट करनी चाहिए। उपासना के द्वारा हम इस सद्प्रवृत्ति का भी सहज अभ्यास करते हैं।

ईश्वर के द्वारा हमारे ऊपर जो उपकार हैं, उनका स्मरण करने का स्तुतिगान उपासक के मन में परम प्रभु के प्रति कृतज्ञता का भाव भर देता है। सभ्य समाजों का यह उचित शिष्टाचार है कि उपकार करने वाले को धन्यवाद दिया जाय। पाश्चात्य देशों में छोटे-छोटे सहयोगों के लिये घर कुटुम्ब में भी परस्पर धन्यवाद 'थेंक्यू''—कहने का शिष्टाचार बरतते हैं। जिस ईश्वर के हमारे ऊपर अनन्त उपकार हैं, उसके लिए हजार बार भी यदि प्रतिदिन सराहा जाय तो कम है। नामजप या ईश्वर स्मरण का एक बड़ा प्रयोजन हमारी कृतज्ञता वृत्ति का विकास करना भी है। यह मनोवृत्ति संसार में जितनी ही अधिक बढ़ेगी, उतना ही सद्भाव एवम् सहयोग बढ़ेगा। परस्पर एक-दूसरे को सम्मान करेंगे और सुखी रहेंगे। व्यक्ति और समाज के लिए परम श्रेयस्कर इस कृतज्ञता की सद्गति का उपासना द्वारा संसार में अभिवर्धन ही होता है।

समग्र सुविकसित व्यक्तित्व

परमात्मा का ध्यान करते हुए उपासक को एक समग्र सुविकसित, परम पुरुष की कल्पना करनी होती है। रामकृष्ण, शिव, सरस्वती, दुर्गा, गायत्री आदि के रूप में हम एक सर्वांगपूर्ण सर्व सद्गुण सम्पन्न व्यक्तित्व का ध्यान करते हैं, उसे अपना इष्ट मानते हैं। जिसका भी हम तन्मयतापूर्वक ध्यान करेंगे उसके अनुरूप हमारा व्यक्तित्व भी बनता चलेगा। भृंग और झींगुर का उदाहरण प्रसिद्ध है। कहते हैं कि झींगुर भृंग के चंगुल में फँस जाता है और उसका निरन्तर गुंजन सुनता एवं एवम् स्वरूप देखता है। फलतः

कुछ समय में वह स्वयं भी शरीर एवम् मन से भृंग बन जाता है। यह उदाहरण कितना सच है कह नहीं सकते। पर यह तथ्य मनोविज्ञान शास्त्र के आधार पर पूर्णतः सत्य है कि मनुष्य जैसा लक्ष्य बनाता है और उसका जितनी भावना एवम् तन्मयता के साथ चिन्तन करता है, उतना ही वह उसके ढाँचे में ढलने लगता है। एक परिपूर्ण समस्त सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों से सुसम्पन्न व्यक्तित्व के रूप में परमेश्वर का जब ध्यान किया जाता है, उसको अपने में और अपने को उसमें देखने का अभ्यास किया जाता है तो उसका परिणाम यह होता है कि उस इष्टदेव की विशेषतायें अपने भीतर बीज रूप से विकसित हों और आगे चलकर वे मूर्तिमान बन जायें। आत्मविकास की दृष्टि से यह इष्टदेव के ध्यान वाली प्रक्रिया बहुत ही उत्तम है। इसमें इतनी ही सतर्कता की आवश्यकता है कि इष्टदेव को दोष, दुर्गुण अभाव एवं कुरूपताओं से आच्छादित न किया जाय, अन्यथा वे दोष भी अपने में आने लगेंगे। माँसाहार, मद्यपान, व्यभिचार, छल जैसे दूषणों का आरोपण किसी को भी अपने इष्टदेव में नहीं करना चाहिए। अच्छा यही है कि उन्हें पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक माना जाय और कोई भला-बुरा चरित्र उनका मन में चित्रित न किया जाय।

अन्तरात्मा की पुकार

अन्तरात्मा की अपनी एक आवाज होती है जो हमें ईश्वरीय मार्ग-दर्शक की तरह रास्ता बताती है। पापकर्म में हाथ लगते ही अन्तःकरण काँपता एवम् धिक्कारता है। सत्कर्म करने पर वह प्रफुल्लता-हल्कापन एवं सन्तोष अनुभव करता है। आत्मा की इस पुकार को यदि हम सुनने लगें और उसका अनुकरण करें तो निश्चय ही इसे जीवन को सार्थक बनाने की प्रक्रिया पूर्ण होती है। जीवन-शोधन का प्रयत्न करते रहने पर आत्मा पर चढ़े हुए मल आवरण, विक्षेप हट जाते हैं। अंगार के ऊपर राख की पर्त जम जाने से वह ठण्डा और काला प्रतीत होता है। जब राख हटा दी जाती है तो भीतर का अंगार फिर गर्मी और रोशनी के साथ प्रकट होता है। उपासना द्वारा आत्मा पर चढ़े हुए आवरण हटते हैं और वह राख हटाये हुये अंगारे की तरह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट होती है। ऐसी दशा में ऋद्धि-सिद्धियाँ स्वयंमेव प्रकट होने लगती हैं जो कठिन अभ्यास द्वारा योगीजनों को उपलब्ध होती हैं। उपासना मनुष्य के आत्म-विकास का महत्त्वपूर्ण माध्यम है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं कि विकसित व्यक्तित्व ही पूर्णता के परमपद का अधिकारी होता है।

जीव जब तक वासना और तृष्णा के बन्धनों में बँधा है, तब तक वह मायाग्रसित एवं भवसागर में फँसा हुआ माना जायगा और जब वह इन कषाय-कल्मषों से ऊपर उठ जाता है तब उसे ब्रह्मलीन होने में—सायुज्य मुक्ति पाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती। लकड़ी जब तक मौजूद है, तभी तक अग्नि की लौ उठेगी। जब लकड़ी समाप्त हुई तो लौ भी व्यापक अग्नि तत्व में लय हो जाती है। इसी प्रकार जब तक वासना, तृष्णा की लकड़ी मौजूद है जीव बंधन में पड़ा माना जाता है और जैसे ही संकीर्णता दूर हुई कि परमात्मा से मिलन प्रत्यक्ष होगा। हवा का आवरण ही पानी से बबूले को पृथक् करता है, हवा हटी कि बबूला फूटकर जलराशि में लय हुआ। उपासना हमारे आत्मविकास का पथ-प्रशस्त करती है और हम अपूर्णताओं को द्वेष-दुर्गुणों को छोड़ते हुए पूर्ण परमात्मा की पूर्णता में लय हो जाते हैं। आत्मिक स्तर का विकास ही आत्म-कल्याण की साधना का एकमात्र उद्देश्य होता है।

जीवनसाथी का सहारा

उपासना के माध्यम से जब हम परमात्मा को अपने भीतर और बाहर समाया देखते हैं, अपना सखा, स्वामी, मित्र और घनिष्ठ आत्मीय मानते हैं, तो स्वभावतः हमारा साहस असंख्य गुना बढ़ जाता है। सशस्त्र पुलिस गारद के पहरे में रात्रि को भयानक जंगलों के बीच भी निर्भय होकर जा सकते हैं क्योंकि तब यह विश्वास रहता है कि साथ पुलिस गारद दुष्ट आक्रमणकारी की दाल न गलने देगा। इसी प्रकार अनन्त सामर्थ्य सम्पन्न परमेश्वर को जब हम हर घड़ी अपने साथ देखते और अपना विश्वासपात्र मित्र मानते हैं तो हर प्रकार के

भय से छुटकारा मिल जाता है। भय ही आत्मिक अशान्ति का कारण है। निर्भयता के बराबर और कोई सुख नहीं। जो निर्भय है निश्चिन्त है, जिसे अनन्त बलशाली का सहारा है उसे अपने भविष्य के बारे में आशंका ही क्या हो सकती है ? कुशल ड्राइवर के द्वारा चलाई जा रही रेल में हम सोते चले जाते हैं तो फिर जीवन की नाव परमात्मा के हाथ में सौंप देने वाले भगवान को भक्त को अपने भविष्य के बारे में कोई चिन्ता, उद्विग्नता क्यों होगी ? सचमुच जो अटूट विश्वास परमात्मा पर रखते हैं और उसकी मर्जी में अपनी मर्जी मिलाकर निश्चिन्त रहकर कठोर कर्म करते रहते हैं ऐसे सच्चे विश्वासियों की नाव वह कभी डूबने भी नहीं देता।

सर्वोत्कृष्ट सत्संग की भूमिका

सांसारिक वातावरण में स्वार्थपरता, वासना, तृष्णा, काम-क्रोध, लोभ, मोह की दुष्प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी हैं। हर घड़ी ऐसा ही सब कुछ हम देखते सुनते हैं अतएव वैसे ही संस्कार भी अपने ऊपर जमते हैं। अपना जीवन-क्रम भी उसी ढर्रे पर लुढ़कने लगता है। विशिष्ट उत्कृष्ट एवं आदर्शवादी मानव-जीवन जीने की प्रेरणा तब मिले जब वैसे ही उत्कृष्ट वातावरण या व्यक्ति के साथ रहना हो, यह प्रयोजन उपासना द्वारा पूरा होता है। ईश्वर में कुल श्रेष्ठता ही श्रेष्ठता है, वह सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों का आगार है निरन्तर श्रम निःस्वार्थ, उपकार, निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ से उदार, क्षमा, स्नेह, करुणा, मैत्री व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो उसमें सर्वांग पूर्णता मिलेगी। उपासना के समय ईश्वर का जप ध्यान करते हुए उसकी महिमा एवं गरिमा का भी ध्यान करना पड़ता है, इससे एक ऐसे श्रेष्ठ सत्संग की आवश्यकता मिलती है जिसके आधार पर हमारी अन्तःचेतना को उच्चस्तरीय विकास के लिए प्रोत्साहन मिले। सांसारिक वातावरण की कलुषता ईश्वरीय सान्निध्य से कट जाती है इस प्रकार आध्यात्मिक प्रगति का एक बड़ा रोड़ा हटता है।

जीवन अन्य क्षुद्र योनियों में क्रमशः विकास करता हुआ मानव योनि के उच्च स्तर तक आ पाया है। अब उसे ऋषित्व एवं देवत्व की कक्षाएँ पार करते हुए ईश्वर का अनन्त ऐश्वर्य प्राप्त करना है यह कार्य अपूर्णताएँ दूर करते चलने में ही सम्भव है। पूर्ण परमात्मा में पूर्ण जीवों का लय होता है। जल में जल ही घुलता है, लोहा नहीं। ईश्वर की जो प्रकृति एवं प्रवृत्ति है, उसी प्रकार अन्तः चेतना जिस दिन हमारी हो जायगी, अपने आप पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर लेंगे। उपासना हमें लघु से महान् बनने की प्रेरणा करती है। ईश्वर को अपने में धारण करना अथवा अपने ईश्वर में समर्पण करना एक ही बात को दो ढंग से कहना मात्र है। यह प्रयोजन वाणी से करने और कल्पना से सोचने पर सिद्ध नहीं होता वरन् जीवन की रीति-नीति ऐसी बनानी पड़ती है, जिसमें से अपूर्णताओं त्रुटियों का निष्कासन एवं महानताओं का अभिवर्धन निरन्तर होता रहे। प्रातः उठते समय दिन-भर का श्रेष्ठतायुक्त कार्यक्रम बनाना और रात्रि को सोते समय दिनभर की क्रिया पद्धति को इस कसौटी पर कसना कि वह पूर्णता की दिशा में प्रगति कराती है कि नहीं—उपासना का आवश्यक अंग है। भजन की तरह यह आत्म-निरीक्षण, आत्मचिन्तन एवम् आत्म-विकास का हृदय-मन्थन उपासना का अनिवार्य अंग है। हम जैसे-जैसे उदार एवम् महान् होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही आत्मोत्कर्ष का उद्देश्य पूरा होता है, लघु से महान् अणु से विभु, आत्मा से परमात्मा, नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम बनने की विचारधारा का नाम आस्तिकता है और उसका दैनिक अभ्यास-भावनात्मक व्यायाम करने की प्रक्रिया को उपासना कहते हैं। सच्चे आधार पर की हुई उपासना का प्रभाव साधक के जीवन में दिन-दिन प्रखर होता चलता है और उसका व्यक्तित्व दूसरों की अपेक्षा अत्यधिक प्रकाशवान् बनने लगता है, जो आत्म-विकास कर रहा होगा, उसकी क्षमता, प्रतिभा, गरिमा, महिमा सभी कुछ बढ़ रही होगी। उसकी पहचान उसके सन्तुष्ट प्रभाव एवं समुन्नत अन्तःकरण के रूप में कभी भी देखी जा सकती है। मानव जीवन की सार्थकता इसी रूप को प्राप्त करने में अनुभव होती है।

आत्म प्रवंचना एवं लोक विडम्बना

आज लाखों, करोड़ों तथाकथित आस्तिक एवं उपासक दृष्टिगोचर होते हैं, पर उनका दृष्टिकोण गलत होने के कारण चिरकाल तक जप-तप करते रहने पर भी कोई लाभ या प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। जिसका यह लोक उज्ज्वल नहीं, जिसको आज प्रसन्नता नहीं उसे मरने के बाद स्वर्गीय आनन्द मिलेगा, यह कल्पना सर्वथा असत्य है। स्वर्ग तो सद्भावनाओं की प्रतिक्रिया मात्र है, जिसके लिये मरने के बाद या मरने से पहले जैसा स्तर नहीं किया जा सकता। वह स्थिति तो जब भी जिसकी होगी, तभी उसे आनन्द का अनुभव मिल रहा होगा। आज के तथाकथित आस्तिक न लौकिक दृष्टि से समृद्ध हैं और न आध्यात्मिक दृष्टि से समुन्नत। ऐसी दशा में यही मानना पड़ेगा कि उनकी क्रिया-व्यवस्था में कहीं दोष है। सच्ची उपासना सच्चे हीरे या स्वर्ण की तरह है—जिसके बदले में सहज ही अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। काँच का बना हीरा और मुलम्मे का नकली सोना जिस प्रकार किसी की समृद्धि नहीं बढ़ाता, उसी प्रकार भ्रान्त आस्तिकता भी किसी उपासक की प्रगति में कोई सहायक नहीं होती।

आज लोग दस-बीस मिनट जो देव-दर्शन, जप, ध्यान, स्तोत्र, पाठ, वन्दन, अर्चन में लगाते हैं उसके पीछे निकृष्ट प्रयोजन काम करते रहते हैं। वे सोचते हैं इतने मात्र में ईश्वर प्रसन्न हो जायगा और उन्हें जितनी भी सांसारिक कामनाएँ अभीष्ट हैं, वे सभी पूरी कर देगा। इसी प्रकार वे निरन्तर दुर्भावग्रस्त एवम् पापलिप्त रहते हैं उसके दण्ड से बचा देने की भी ईश्वर से आशा करते हैं। यह दोनों ही मान्यताएँ ऐसी हैं, जो उपासक की आत्मिक प्रगति में भारी बाधा उपस्थित करती हैं। सांसारिक सुख-साधन मनुष्य को क्षमता, कुशलता एवं प्रतिभा के आधार पर उपलब्ध होते हैं। अनेकों नास्तिक भी अपनी इन विशेषताओं को विकसित करते और मनमाने लाभ उठाते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने हीन व्यक्तित्व को तो विकसित करता नहीं, पर जो लाभ पुरुषार्थियों को मिलना चाहिए, वह बिना श्रम के थोड़े-से पूजा-पाठ द्वारा ही प्राप्त करना चाहता है तो वह एक प्रकार से ईश्वर की महान् व्यवस्था को उलट देने की ही कल्पना करता है। ईश्वर की प्रसन्नता, सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाये बिना सम्भव नहीं। भजन-पूजन तो इस मार्ग पर बढ़ने का एक आधार मात्र है। स्लेट-पेन्सिल तो गणित सीखने का अवलम्बन है। स्लेट-पेन्सिल हाथ में लेने मात्र में कोई गणितज्ञ नहीं हो सकता। इसी प्रकार माला सद्गुणों के विकास का पथ-प्रशस्त करती है, तब उससे समृद्धि की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। यह बीच की प्रक्रिया पूर्ण न की जाय, आत्मविकास की वह साधना जिसमें हर आस्तिक को अपना जीवन सरावोर करना पड़ता है, छोड़ दिया जाय, तो फिर माला से कोई प्रयोजन पूरा नहीं होता। आज ऐसे ही तथाकथित भक्तों का बाहुल्य है, जो आत्म-निर्माण के आवश्यक कर्त्तव्यों का परित्याग कर किसी कोने में बैठे माला जपते रहते हैं और इस लोक तथा परलोक में बड़े-बड़े लाभ मिलने की कल्पना करते रहते हैं।

इसी प्रकार आज गंगा स्नान से लेकर हनुमान चालीसा पाठ अथवा एकादशी उपवास तक हर छोटा-मोटा कर्मकाण्ड समस्त पापों को नाश करने का प्रमाणपत्र मान लिया जाता है। जब पाप इतने सस्ते में कट सकते हैं तो फिर पाप से डरने की क्या आवश्यकता ? फिर क्यों न भरपूर पाप करके इसे लोक का मजा लूटा जाय ? उनका दण्ड तो इन कर्मकाण्डों के माध्यम से नष्ट हो ही जायगा। इस मान्यता से मनुष्य पाप से डरना छोड़ देता है। यही कारण है कि इन तथाकथित आस्तिकों में दोष-दुर्गुणों के अम्बार भरे पड़े रहते हैं और वे साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक गये-गुजरे देखे जाते हैं। इसी शंका से शंकित होकर लोग कहते हैं कि जो उपासना व्यक्तित्व में निखार या परिष्कार न ला सकी वह परलोक में सद्गति का प्रयोजन कैसे पूरा करेगा ?

आधार सही करें

भौतिक कामनाओं की पूर्ति तथा पापनाश इन दोनों ही प्रयोजनों को छोड़कर हमें सर्वशक्तिमान सत्ता के सान्निध्य से प्राप्त होने

वाली महानता के लिए ही उपासना करनी चाहिए। आस्तिकता का दृष्टिकोण अपनाकर प्रेम भावनाओं का अभिवर्धन करना चाहिए और मानसिक एवं शारीरिक पापों से बचना चाहिए। उपासना से आस्तिकता परिपक्व होती है। आस्तिकता मानवता एवं उत्कृष्टता का ही दूसरा रूप है। उपासना इसी का अभ्यास करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण विज्ञान सम्मत, मानसिक व्यायाम के रूप से की जाती है। इससे आत्मबल निश्चित रूप से बढ़ता है और जब शरीर बल, धन बल, बुद्धि बल जैसे भौतिक बलों का आशाजनक लाभ मिलता है तो आत्मबल जैसे इस विश्व के सर्वोत्कृष्ट बल का लाभ क्यों न मिलेगा ? ईश्वर का भक्त ईश्वर के समान ही सामर्थ्यवान एवं महान् बन जाता है, इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है पर वह भक्ति होनी चाहिए ढंग से, बेढंगी भक्ति तो आत्मप्रवंचना और लोक विडम्बना ही कही जायेगी।

हममें से प्रत्येक को आस्तिक बनना चाहिये और इसके लिये नित्य नियमित रूप से उपासना क्रम व्यवस्था दैनिक जीवन में रखनी चाहिए। एक परिपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में ईश्वर की किसी छवि का ध्यान करें, उनके गुणों का चिन्तन करें और उसी में तन्मय हो जावें, उसे अपने में धारण कर लेने की भावना करें। जिव्हा से नाम जप होता रहे। वाणी से नाम जप, मस्तिष्क से स्वरूप का ध्यान, हृदय से एकात्मक का परस्पर घुलन-मिलन के उल्लास का अनुभव यह तीनों क्रियायें साथ-साथ चलती रहनी चाहिये। भजन के समय को भाव ध्यान में न आवे यह सोचना उचित नहीं। विचारों का न उठाना योगाभ्यास का चित्तवृत्ति निरोध साधन तो है पर भजन में इसका कुछ उपयोग नहीं। भजन में भावनायें तो रहनी ही चाहिये। जो भावना से तरंगित न हो वह भजन कैसा ?

जिन्हें ईश्वर का निराकार स्वरूप प्रिय है, वे उपासना के समय प्रकाश ज्योति अथवा समस्त विश्व ब्रह्मांण्ड का—विश्व का, विराट् रूप ध्यान कर सकते हैं जिन्हें साकार स्वरूप प्रिय है, वे राम, कृष्ण, शिव, सूर्य, गायत्री, सीता, सरस्वती आदि का ध्यान कर सकते हैं। रूप कोई भी हो उसे पूर्णब्रह्म का प्रतीक माना जाय। देवताओं के जो औंधे सीधे चरित्र बताये गये हैं उनसे इष्ट ध्यान का कोई सम्बन्ध न जोड़ा जाय। अन्यथा वे देव-दोष हममें भी आने लगेंगे।

आस्तिकता और समाज-कल्याण

आस्तिकता की भावना का एक महत्त्वपूर्ण और उज्ज्वल पहलू समाज-कल्याण की भावना का प्रसार भी है। नास्तिक मनुष्य के उच्छृंखल हो जाने की संभावना अधिक रहती है, जबकि भगवान पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति दुष्कर्मों से बचने की न्यूनाधिक प्रेरणा किसी न किसी रूप में पाता ही रहता है और उससे प्रायः लाभ भी उठाता है, आस्तिकता का वास्तविक तात्पर्य होता है—अन्य मनुष्यों को एक ही भगवान का पुत्र मानकर उनके साथ भ्रातृत्व की भावना रखना। यद्यपि विदेशों के कितने ही दार्शनिकों तथा आन्दोलनकारियों ने भी, जो ईश्वर पर विश्वास नहीं रखते, भ्रातृ-भाव के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है पर ऐसी बातों का प्रभाव लोगों की अन्तरात्मा पर नहीं पड़ता। परिणाम यह होता है कि "भ्रातृभाव" और "समता" का नारा लगाते हुये भी वे स्वार्थपरता की अनुचित प्रवृत्ति से ऊँचा नहीं उठ पाते। वे अपने निकटवर्तियों के हाथ भी समता का व्यवहार करने की बजाय 'शोषण' का व्यवहार ही करते हैं और अन्य देश वालों का तो खुल्लम-खुल्ला खून चूसने में भी संकोच नहीं करते। पर जिस व्यक्ति का ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास है और जो मानव मात्र में एक ही आत्मा के विद्यमान होने में थोड़ा भी विश्वास रखता है, वह दूसरों का उत्पीड़न करने को बुरा समझता है।

बहुत-से लोग पूजा-पाठ, उपासना, ध्यान, भजन-कीर्तन, तीर्थ-यात्रा आदि में विशेष दिलचस्पी रखने वाले लोगों को ईश्वर प्रेमी और आस्तिक समझते हैं। साथ ही जब वे उनको स्वार्थपरता के कारण दूसरे व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार करते देखते हैं, तो उनकी आस्तिकता के महत्त्व पर सन्देह होने लगता है। इसमें गलती यह होती है कि केवल पूजा-पाठ या भजन-कीर्तन को "आस्तिकता का प्रमाण मान लिया जाता है,

जबकि यह उसके बाह्य लक्षण मात्र हैं, जो व्यक्ति इन कार्यों को करते हुये व्यवहार विपरीत मार्ग पर चलता हो, उसके लिये यही निश्चय कर लेना चाहिये कि या तो वह इन कार्यों का वास्तविक तात्पर्य नहीं समझता और केवल परम्परा का पालन करने के लिये विचार से वैसा करता रहता है अथवा दूसरी बात यह है कि अनेक लोग जान बूझकर अन्य लोगों को बहकाने के लिये भी ऐसा आचरण करते हैं। वे सोचते हैं कि ऐसा करने से अनजान लोग हमें ईश्वर भक्त समझने लगेंगे और इस प्रकार विश्वास जमाकर हम अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहेंगे। इसलिए आस्तिकता के प्रभाव का निर्णय करने के लिये हम को इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के नकलीपन को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

आस्तिकता की सचाई का सबसे पहला प्रमाण यही है कि उस व्यक्ति में लोक-कल्याण की आन्तरिक भावना हो। जो मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख से हिस्सा बँटाता और दूसरों के हित के लिये अपने स्वयं का बलिदान करने को प्रस्तुत रहता है, वही वास्तव में 'आस्तिकता' का अनुयायी माना जा सकता है। इस दृष्टि से हम तो प्रत्यक्ष में ईश्वर उपासना करने वाले, पर संसार के अपकार में संलग्न व्यक्तियों को 'नास्तिक' कहेंगे। इसके बजाय जन्म भर देवालय में न जाने वाले और भजन न करने वाले पर अपना जीवन लोक सेवा, परोपकार के लिये उत्सर्ग कर देने वालों को 'आस्तिक' मानेंगे। उदाहरणार्थ प्रथम श्रेणी में चंगेज खाँ, महमूद गजनवी और तैमूर जैसे व्यक्तियों का नाम लिया जा सकता है, जो शायद कट्टर मुसलमान थे और पाँच वक्त 'नमाज' पढ़कर ईश्वर का स्मरण भी करते होंगे। पर उन्होंने अपना जीवन निरापराध व्यक्तियों को मारने-काटने, देशों को लूटने और बर्बाद करने में लगाया। उनके कारण न मालूम कितने लाख बच्चे अनाथ होकर तथा स्त्रियों ने विधवा होंकर अपना जीवन घोर कष्ट सहन करते हुये व्यतीत किया होगा ? ऐसे लोगों को यदि 'आस्तिक' या 'ईश्वरभक्त' कहा जाय तो यह इस शब्द की बिडम्बना ही है।

दूसरी तरफ गत सौ वर्ष के भीतर ही कार्लमार्क्स और लेनिन जैसे व्यक्ति हुये, जिन्होंने संभवतः अपने जीवन में कभी गिरजाघरों की ईश-प्रार्थना में भाग न लिया होगा और जो संसार में 'नास्तिक' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। पर उन्होंने अपने सब तरह से योग्य होने और धनी बनकर आराम की जिन्दगी बिता सकने की सुविधा होने पर भी उस मार्ग को जान-बूझकर त्याग दिया और सामान्य जनता को अन्याय-अत्याचारों से बचाने के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया। उन्होंने समय पड़ने पर भूखे-नंगे रहने की स्थिति को स्वीकार किया, पर कभी लाखों रुपया मिलने पर भी अन्यायियों का समर्थन करने को तैयार न हुये। संयोगवश लेनिन अपने अन्तिम जीवन में रूस जैसे महान् देश का डिक्टेटर (कर्ता-धर्ता) बन गया, पर उस समय भी उसने ऐश-आराम की तो क्या चलाई, भरपेट रोटी भी नहीं खाई क्योंकि युद्ध के कारण देश में अकाल पड़ गया था और लोगों को राशन के द्वारा आवश्यकता से कम ही भोजन दिया जाता था। लेनिन समस्त देश का शासक होने पर भी दूसरे लोगों के बराबर ही हिस्सा लेता था, जबकि उन दिनों वह शासन को सँभालने और देश की रक्षा के लिये प्रतिदिन अठारह-बीस घंटे तक परिश्रम करता था। ऐसे व्यक्ति जिसने अंत में अपने प्राण भी पीड़ित जनता को सुखी बनाने के लिये दे डाले हम 'नास्तिक' कहने को तैयार नहीं हो सकते।

इसलिये हमको 'आस्तिकता' का निर्णय मनुष्य के कर्मों और आचरणों से ही करना चाहिये। घन्टों तक पूजा-उपासना में लगे रहना, ठाकुरजी के आगे खूब घण्टा, घड़ियाल बजाना, शरीर भर में तिलक और चन्दन लगाकर 'भक्तराज' का सा स्वाँग बना लेना, पर व्यवहार में हर तरह से लोगों को ठगना, पराई स्त्रियों से व्यभिचार करना और ऐश-आराम के बढ़िया से बढ़िया साधन इकट्ठे कर लेना—ऐसे व्यक्ति को 'आस्तिक' कभी नही कहा जा सकता, चाहे वह बड़ा भारी 'सन्त' 'महन्त' ही क्यों न हो ? हम तो उसे घोर नास्तिक ही कहेंगे।

जीवन की अनिवार्य आवश्यकता

उपासना की दृष्टि से गायत्री मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। इसके शब्दों का गठन ऐसे चमत्कारी ढंग से हुआ है कि उसका उच्चारण, मानव शरीर के सूक्ष्म शक्ति-संस्थानों को जागृत करता है और उसका प्रभाव उपासक के व्यक्तित्व को आश्चर्य-जनकरूप से विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है। गायत्री जप के साथ प्रकाश पुंज में अवस्थिति माता का ध्यान किया जाता है। ईश्वर के साथ जितने भी रिश्ते स्थापित किये जा सकते हैं, उनमें माता का रिश्ता सबसे श्रेष्ठ है। उसकी सत्प्रेरणाओं का पलायान करते हुए व क्रीड़ा विनोद करते हुए ध्यान करना उपासक के मन में एक उल्लासभरी गुदगुदी पैदा कर देता है। गायत्री उपासना से गंगास्नान की तरह तत्काल शरीर में पवित्रता और मन में उत्कृष्टता की अनुभूति होती है। वैसे कोई भी उपासना की जा सकती है, यदि उपर्युक्त आधार सही है तो इसका लाभ निश्चित रूप से मिलेगा। पर हमारे व्यक्तिगत अनुभव तथा भारतीय उपासना शास्त्र के आधार पर गायत्री उपासना की अपनी विशेषता और विलक्षणता है। उसका लाभ असंदिग्ध है।

हमें अपने नित्यकर्म में उपासना को अनिवार्य रूप से स्थान देना चाहिए। अपने परिवार में प्रत्येक सदस्य को उसके लिये तैयार करना चाहिए। घर में एक पूजास्थान रहना ही चाहिए। छोटे-बड़े सभी को यह आदत डालनी चाहिए कि वह स्नान, भोजन की तरह उपासना भी नित्य करे। अपने प्रभाव-परिचय के अन्य लोगों को भी इसकी प्रेरणा देनी चाहिए। उपासना आस्तिकता को परिपुष्ट करती है और उसके फलस्वरूप मनुष्य अपने लिए, अपने कुटुम्बी सम्बन्धियों के लिए, समाज के लिए, बहुत ही उपयोगी बनता है। आत्मिक गुणों का विकास करने वाली उपासना एवं आस्तिकता विश्व-शान्ति एवं मानव कल्याण की सुनिश्चित आधारशिला है। ईश्वरीय सान्निध्य की अनुभूति हर एक के लिए हर दृष्टि से श्रेयस्कर ही सिद्ध होती है।

नियमित उपासना के लिए शुद्ध स्थान, शुद्ध आसन, शुद्ध पूजा पात्र, वस्त्र एवं शुद्ध शरीर रखने का जितना अधिक ध्यान रखा जायेगा, उतना ही अच्छा रहेगा। बीमार, वृद्ध या असमर्थता की स्थिति में जैसे-तैसे काम चलाया जा सकता है। यदि परिस्थितियाँ विपन्न न हों तो यथासम्भव अधिक शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। शुद्ध वातावरण में मन शुद्ध रहता है और शुद्ध मत से की हुई उपासना अन्तःकरण को अधिक पवित्र, निर्मल बना सकने में समर्थ होती है।

जिन्हें कम अवकाश मिलता है, वे प्रातःकाल आँख खुलने से लेकर चारपाई से नीचे उतरने तक भगवान का नाम स्मरण एवं ध्यान किया करें। प्रार्थना एक ही करें, "हे भगवान् आपने मनुष्य का शरीर दिया, पर मनुष्य का अन्तःकरण, मनुष्य का दृष्टिकोण नहीं मिला, वह मिल जाय तो आपका अनुपम वरदान मानव जीवन धन्य हो जाता। आप वह बल, साहस और प्रकाश दीजिये जिसमें जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सके।" इन भावनाओं के साथ भगवान् का नाम लेते रहना, सब प्रकार श्रेयस्कर होता है। सायंकाल को सोते समय भी यही प्रार्थना करनी चाहिए कि आज की अपेक्षा कल का दिन अधिक प्रकाशपूर्ण हो।

नियमित उपासना के अतिरिक्त हर समय भगवान् का ध्यान रखा जाय, उसे चौबीस घण्टे के साथी की तरह विश्वस्त, आत्मीय समझा जाय, उसे प्रसन्न करने के लिये आदर्शवादिता से परिपूर्ण आचरण किया जाय, और उन कुविचारों एवं दुष्कर्मों से दूर रहा जाय, जिनसे ईश्वर अप्रसन्न होता है। यह भूलना नहीं चाहिये कि पूजा-अर्चन का उद्देश्य जीवन के कण-कण में आस्तिकता का समावेश करना, दिव्य जीवन जीने की प्रेरणा ग्रहण करना है। जीवन घृणित एवं अव्यवस्थित बना रहा तो समझना चाहिए कि हमने प्राणरहित कलवेर मात्र ही पूजा है। आस्तिक व्यक्ति का हर विचार एवं हर कार्य उत्कृष्ट ही होना चाहिए। इस कसौटी पर हम अपनी उपासना को सही सिद्ध करते हुए भजन-ध्यान करें तो उससे ईश्वर की सच्ची प्रसन्नता का लाभ मिलना सुनिश्चित है।

❑ ❑

उपासना अर्थात् ईश्वर के निकट बैठना

उपासना क्यों, किसलिये ?

मानवी सत्ता के दो पक्ष हैं—एक भौतिक दूसरा आत्मिक। भौतिक पक्ष में शरीर और उसकी विभिन्न आवश्यकतायें जुटाने वाला परिवार आता है। इसकी निर्वाह व्यवस्था के लिये सुविधा-साधनों का उपार्जन करना पड़ता है।

जीवन का दूसरा पक्ष है—आत्मिक। जीव चेतना का अपना अस्तित्व है। शरीर उसका वाहन, उपकरण, निवासगृह है। मनुष्य आत्मा है। उसे यह जीवन आत्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ईश्वर के विशेष अनुग्रह के रूप में मिला है। निश्चय ही मनुष्य जीवन का दिव्य अनुदान ईश्वर ने विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विशुद्ध धरोहर के रूप में प्रदान किया है।

मनुष्य जीवन के दो लक्ष्य हैं—(१) संग्रहीत कुसंस्कारों और कषाय-कल्मषों से छुटकारा पाना और परिष्कृत दृष्टिकोण अपनाकर विश्व-उद्यान का परिपूर्ण आनन्द उपलब्ध करना। परिष्कृत जीवन के साथ जुड़ी हुई आनन्द की उपलब्धियाँ स्वर्ग कहलाती हैं और दुर्बुद्धि से, दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने को मुक्ति कहते हैं। जीवन का एक लक्ष्य यह है।

(२) दूसरा है भगवान के विश्व-उद्यान को अधिक सुरम्य, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने में संलग्न होकर अपनी गरिमा को विकसित करना। मनुष्य को ईश्वर का राजकुमार, उत्तराधिकारी एवं पार्षद कहा गया है और कन्धों पर यह उत्तरदायित्व डाला गया है कि सृष्टा के विश्व उद्यान का सौन्दर्य बढ़ाने में हाथ बटायें और सच्चे मित्र, भक्त की भूमिका सम्पन्न करें।

इन दोनों प्रयोजनों को जो जितनी मात्रा में पूरा करता है वह उतना ही बड़ा ईश्वरभक्त कहलाता है। इस मार्ग पर चलने वाले महामानव, सन्त, ब्राह्मण, ऋषि, देवात्मा, अवतारी आदि नामों से पुकारे जाते हैं। उन्हें असीम आत्मसन्तोष प्राप्त होता है और लोक सम्मान एवं सहयोग की वर्षा होने से उन्हें अपने उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति में असाधारण सफलता भी मिलती है। उनके क्रिया-कृत्य ऐतिहासिक होते हैं और उनके प्रभाव से असंख्यों को ऊँचा उठने का, आगे बढ़ने का असाधारण सहयोग मिलता है।

बुद्धिमत्ता इस बात में थी कि आत्मा और शरीर दोनों की तो आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता, श्रम और बुद्धि की जो सामर्थ्य प्राप्त है, उसका उपयोग दोनों ही क्षेत्रों के लिये इस प्रकार किया जाता कि शरीर की सुरक्षा बनी रहती और आत्मा अपने महान लक्ष्य को प्राप्त कर सकने में सफल हो जाती। किन्तु होता विचित्र है। जो बुद्धि आये दिन अनेक समस्याओं के सुलझाने में, सम्पदाओं, और उपलब्धियों के उपार्जन में पग-पग पर चमत्कार दिखाती है वह मौलिक नीति निर्धारण में भारी चूक करती है। सारे का सारा कौशल शारीरिक सुख-सुविधाओं के संचय-सम्वर्धन में लग जाता है। यहाँ तक कि अपने आपको पूरी तरह शरीर ही मान लिया जाता है। आत्मा के अस्तित्व एवं लक्ष्य का ध्यान ही नहीं रहता है। आत्मकल्याण के लिये कुछ सोचते, करते बन ही नहीं पड़ता। बुद्धि का यह एक पक्षीय असन्तुलन ही जीवात्मा का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उसी से छुटकारा पाने के लिये ब्रह्म-ज्ञान, आत्म-ज्ञान, तत्व-ज्ञान के विशालकाय कलेवर की संरचना की गयी है। बुद्धि को आत्मा का स्वरूप और लक्ष्य समझने का अवसर देना ही उपासना का मूलभूत उद्देश्य है। चौबीसों घण्टे मात्र शरीर के लिये ही शत-प्रतिशत दौड़-धूप करने वाली, भौतिकता में पूरी तरह रंगी हुयी बुद्धि को कुछ समय उस भगदड़ से विश्राम देकर आत्मा की स्थिति और आवश्यकता समझने के लिये सहमत किया जाता है। उस अति महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा न करके उस सन्दर्भ में भी कुछ करने के लिये बुद्धि पर दबाव दिया जाना उपासना का तात्विक उद्देश्य है। मन को तद्नुसार कल्पनायें और

बुद्धि को तद्विषयक धारणायें करने के लिये उपासना पद्धति के आधार पर प्रशिक्षित किया जाता है। यह एक बहुत बड़ा काम है। सांसारिक-जीवन के सबसे बड़े और सबसे महत्त्वपूर्ण कामों में से यह एक है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा भी जीवन का एक पक्ष है और उसकी भी कुछ आवश्यकतायें हैं जिस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिये जो समय निकाला जाता है—प्रयत्न किया जाता है, उसी को उपासना प्रक्रिया कहते हैं। आत्मा का स्वार्थ ही वास्तविक स्वार्थ है। उसी को परमार्थ कहते हैं। परमार्थ का चिन्तन—उसके लिये बुद्धि का उद्बोधन, प्रशिक्षण जिन क्षणों में किया जाता है वस्तुतः वे ही सौभाग्य भरे और सराहनीय हैं। यदि इस दृष्टि का उदय हो सके तो उपासना को नित्य कर्मों में सबसे अधिक आवश्यक अनिवार्य स्तर का कार्य माना जायेगा। वास्तविक स्वार्थ साधना के क्षण वही तो होते हैं।

भौतिक जगत में शरीर के लिये आवश्यक सुविधा साधन भरे पड़े हैं। उन्हें उपलब्ध कराने के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार एक चेतन जगत भी है। उसमें भरी हुई सम्पदा आत्मिक आवश्यकताओं को पूरा करती है। शरीर पंचतत्वों का बना है। उसकी आवश्यकता भौतिक पदार्थों की होती है। सम्बन्धियों के शरीर भी भौतिक हैं। पदार्थों की तरह प्राणियों के भी सम्बन्धियों के शरीर भी जड़ तत्वों से ही बने हैं। जड़ का काम जड़ से चलता है किन्तु चेतना की आवश्यकता पूरी करने वाली इस प्रत्यक्ष जगत में कहीं भी नहीं है। उसे उपलब्ध करने के लिये चेतन जगत को सूक्ष्म जगत से ही सम्बन्ध साधना पड़ता है। उपासना के क्षणों में इसी के लिये पुरुषार्थ किया जाता है।

प्रत्यक्ष जगत में जड़ पदार्थ भरा पड़ा है। इसमें एक भाग वह है जो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। दूसरा वह, जो बिजली, विकरण, ईश्वर ऊर्जा, तरंग आदि के रूप में अदृश्य रूप से विद्यमान है। परोक्ष जगत में चेतना का महा समुद्र भरा पड़ा है। उसमें प्रवेश कर सकें। डुबकी मारकर रत्नराशि खोज सकना संभव हो सके तो उससे इतनी विभूतियों का संचय किया जा सकता है, जिसकी तुलना में जड़ जगत की सम्पदायें नितान्त तुच्छ ठहरती हैं। महामानवों और आत्मबल-सम्पन्न महात्माओं का आन्तरिक वैभव इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि वे अपनी नाव पार लगाने के साथ-साथ असंख्यों को अपने प्रकाश एवं सहयोग से पार करते हैं। आत्म-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति अपनी विभूतियों को लोकहित में लगाने का विवेक जागृत रहने के कारण स्वयं संयम बरतते देखे जाते हैं, इतने पर भी वे दरिद्र नहीं होते। उनके उपार्जन-वैभव का लाभ समस्त संसार उठाता है। स्वयं भी लक्ष्य प्राप्त करते हुये कृत-कृत्य बनते ही हैं।

जमीन से अन्न उगजाने, पशुओं से दूध निकालने, धातु से औजार बनाने, कुएँ से जल निकालने, अन्न से भोजन बनाने के लिये श्रम, साधन और बुद्धि तीनों का उपयोग करना पड़ता है। इसके बिना सारे साधन सामने ही प्रस्तुत रहने पर भी उनसे कोई लाभ न उठाया जा सकेगा। ब्रह्मसत्ता सर्वत्र विद्यमान है पर उसकी अभीष्ट मात्रा पकड़ने, भीतर धारण करने और प्रयोग में लाने के लिये भी पुरुषार्थ करना पड़ता है। उसी प्रयत्न, पुरुषार्थ को उपासना कहा गया है। बिज़लीघर में बिजली बनती है। वहाँ से अपने घर के बल्ब तक उस धारा को जोड़ने के लिये तारों की फिटिंग करनी पड़ती है। खम्भे, इन्सुलेटर, स्विच, प्लग लगाने पड़ते हैं। यदि सम्बन्ध कटा रहे तो बल्ब को बिजली की शक्ति का लाभ मिलने और प्रकाशित होने का अवसर ही न मिलेगा। उपासना प्रक्रिया को ईश्वर और जीव के बीच विशिष्ट आदान-प्रदान का द्वार खोल देना कह सकते हैं।

चुम्बकत्व जहाँ होता है वहाँ सजातीय पदार्थ खिंचते चले आते हैं। वृक्षों का चुम्बकत्व बादलों को बरसने के लिये बाध्य करता है। धातुओं में काम करने वाला चुम्बकत्व दूर-दूर तक रेत में बिखरे पड़े धातु वर्णों को घसीट कर अपने पास बुलाने और जमा करने का काम करता है। फूल का आकर्षण मधुमक्खियों, तितलियों को जमा कर लेता है। उपासना से अन्तः चेतना में उच्चस्तरीय आकर्षण उत्पन्न होता है। उससे ब्रह्मचेतना के महासमुद्र में से अपने लिये आवश्यक विभूतियों को आकर्षित कर लेने

में सफलता मिलती है। उपासना प्रक्रिया का तात्विक रहस्य अन्तःचेतना को परिष्कृत करना है। भजन के साबुन से अन्तःकरण पर जमे हुये कषाय-कल्मषों, दोष-दुर्गुणों का परिशोधन होता है। स्वच्छ वस्त्र पर रंगाई करने में कुछ कठिनाई नहीं होती। स्वच्छ दर्पण सामने होने से आकृति स्पष्ट दीखती है। उपासना से आन्तरिक स्वच्छता का उद्देश्य पूरा होता है और उस पर आराध्य परब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखने लगता है।

गायत्री उपासना आध्यात्मिक पुरुषार्थ है जिसके द्वारा सूक्ष्म जगत में भरी हुई दिव्य विभूतियों का अभीष्ट मात्रा में उत्पादन सम्भव होता है। आत्मा सूक्ष्म है, जगत उसका वास्तविक लोक और निवास है। आत्मा की आवश्यकतायें पूरी कर सकने वाले साधन उसी क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं। आत्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो करना और कमाना पड़ता है उसका कार्यक्षेत्र जगत ही है। इस आत्म-लोक-ब्रह्मलोक में प्रवेश करने, उपार्जन करने और अभीष्ट मनोरथ पूरा करने और जीवन को सार्थक बनाने के लिये जो परम पुरुषार्थ किया जाता है उसका प्रत्यक्ष्य और आरम्भिक उपाय उपासना ही है। हमें उपासना को आवश्यक नित्यकर्म मानकर चलना चाहिये।

उपासना सच्चे हृदय से कीजिये

उपासना के लिये एक अनिवार्य शर्त यह है कि वह सच्चे भाव से चित्त लगाकर की जाय। आजकल जिस प्रकार बहुसंख्यक 'धार्मिक' कहाने वाले व्यक्ति दुनियाँ को दिखाने के लिये अथवा एक रस्म पूरी करने के लिये मन्दिर में जाकर दर्शन कर लेते हैं और नियम को पूरा कर लेने के लिये एकाध माला भी जप लेते हैं, उससे किसी बड़े सुफल की आशा नहीं की जा सकती। उपासना और साधना तो तभी सच्ची मानी जा सकती है जब मनुष्य उस समय समस्त सांसारिक विषयों और आस-पास की बातों को भूलकर प्रभु के ध्यान में निमग्न हो जाये। जब मनुष्य इस प्रकार की संलग्नता और एकाग्रता में अपने इष्टदेव की उपासना करता है, तभी वह अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर हो सकता है और तभी वह दैवी कृपा का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसी तथ्य को समझाने के लिये वेदों में बतलाया गया है कि जब मनुष्य हृदय और आत्मा से सोम का अभिषव (परमात्मा की उपासना) करता है तब उसे स्वयमेव ईश्वरीय तेज के दर्शन होने लगते हैं और परमात्मा की कृपा अपने चारों तरफ से मेह की तरह बरसती जान पड़ती है।

संसार में जीवन निर्वाह करते हुये एक साधारण मनुष्य को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, विपरीत परिस्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है, विरोधियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है और लोगों की भली-बुरी सब प्रकार की आलोचना को सहन करना पड़ता है। इससे उसके जीवन में स्वभावतः उद्वेग, अशान्ति, भय, क्रोध, आदि के अवसर आते हैं। प्रभाव जिनका उस पर न्यूनाधिक परिमाण में प्रभाव पड़ता है और वह जीवन में मानसिक अशांति, कष्ट का अनुभव करने लगता है। ऐसा मनुष्य अपने कष्टों के निवारणार्थ और मन तथा आत्मा की शांति के लिये परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है। मन, वचन और कर्म से उसकी उपासना में संलग्न होता है, तो उसकी अनास्था में परिवर्तन होने लगता है। जब साधना में अग्रसर होकर वह अपने चारों ओर परमात्म-शक्ति की क्रीड़ा अनुभव करता है और यह समझने लगता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह उस प्रभु की प्रेरणा और इच्छा का ही फल है तथा वह जो कुछ करता है उसका अन्तिम परिणाम जीव के लिये शुभ ही होता है, चाहे वह तत्काल उसे न समझ सके, तब उसकी व्याकुलता और अशांति दूर होने लगती है और उसे ऐसा अनुभव होता है मानो ग्रीष्म ऋतु से व्यथित, श्रान्त, क्लान्त व्यक्ति को शीतल और शान्तिदायक वर्षा-ऋतु प्राप्त हो गई। मनुष्यों ने अपनी भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये तरह-तरह की साधनायें निकाली हैं। धन, संतान, वैभव, सम्मान, प्रभाव, विद्या, बुद्धि, आदि की प्राप्ति के लिये लोग भाँति-भाँति के उपायों का सहारा लेते रहते हैं, जिनसे उनको अपनी योग्यतानुसार कम या अधिक परिमाण में सफलता भी प्राप्त होती है। पर आत्मिक शांति

प्राप्त करने, सांसारिक तापों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न कामनाओं का मोह त्यागकर सच्चे हृदय से परमात्मा का आश्रय ले और शुद्ध भाव से उसकी स्तुति और प्रार्थना करे। हमें स्मरण रखना चाहिये कि सब प्रकार की कामनाओं को पूरा करने वाला भी वास्तव में भगवान ही है। इसलिये अगर हम उसकी कृपा प्राप्त करके आत्मिक शान्ति प्राप्त कर लेंगे तो हमारी अन्य उचित कामनायें और आवश्यकतायें अपने आप पूरी हो जायेंगी।

कितने ही मनुष्य इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालेंगे कि परमात्मा के ध्यान में लीन होने से मनुष्य की कामनायें शान्त हो जायेंगी, उसमें संसार के प्रति विरक्तता के भाव का उदय हो जायेगा और इस प्रकार वह आत्म-संतोष का भाव प्राप्त कर लेगा। इस विचार में कुछ सच्चाई होने पर भी यह ख्याल करना कि परमात्मा की उपासना का सांसारिक कामनाओं की पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, ठीक नहीं है। वेद में कहा गया है कि—**"अपमिव प्रवणे यस्य "दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावतम्।"** "भगवान का धन कभी न रुकने वाला है। वह उसके उपासकों को इस प्रकार प्राप्त होता है जिस प्रकार नीचे की ओर बहता हुआ जल।" वर्तमान समय में भी अनेकों ऐसे व्यक्ति हो चुके हैं जो बहुत साधारण विद्या-बुद्धि के होते हुये भी परमात्मा के भरोसे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं और जो अपने और दूसरों के बड़े-बड़े कार्यों को सहज में ही पूरा कर देते हैं। हम अपने प्राचीन ग्रन्थों में संतों, तपस्वियों और भक्तों के जिन चमत्कारों का वर्णन पढ़ते हैं उनसे तो यह बात स्पष्ट दिखलाई पड़ती है कि ईश्वर की सच्चे हृदय से उपासना करने वालों को किसी सांसारिक सम्पदा का अभाव नहीं रहता।

मन्त्र में यह भी कहा है कि परमात्मा के उपासक को उसके तेज के भी दर्शन होते हैं। विचार किया जाय तो वास्तव में यही उपासना के सत्य होने की कसौटी है। जो कोई भी एकाग्र चित्त से और तल्लीन होकर परमात्मा का ध्यान करेगा उसे कुछ समय उपरान्त उसके तेज का अनुभव होना अवश्यम्भावी है। यह तेज ही साधक के अन्तर को प्रकाशित करके उसकी भ्रान्तियों को दूर कर देता है और उसे जीवन के सच्चे मार्ग को दिखलाता है। इसी प्रकार से मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी बनता है और सब प्रकार की भव बाधाओं को सहज में पार कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।

उपासना की सफलता जीवन साधना से

आत्मोत्कर्ष का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये दो कार्य करने पड़ते हैं—एक उपासना दूसरा साधना। उपासना में भजन-पूजन के सन्दर्भ में किये जाने वाले जप, ध्यान, प्राणायाम, हवन, कीर्तन आदि क्रिया-कृत्यों को करते हैं। साधना जीवनयापन की चिन्तन एवं कर्मपरक पद्धति है। उपासना उच्चस्तरीय कक्षा का योगाभ्यास कहलाती है और साधना अपने परिष्कृत स्वरूप में तपश्चर्या कहलाती है। दोनों के समन्वय से ही जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने का, पूर्णता तक पहुँचने का लक्ष्य पूरा होता है, यही ईश्वर प्राप्ति है।

उपासना अन्तरंग को परिष्कृत करने के लिये और साधना बहिरंग को सुव्यवस्थित बनाने के लिये है। लक्ष्य तक पहुँचने की यात्रा इन्हीं दो कदमों को अनवरत क्रम से उठाते रहने पर सम्पन्न होती है। उपासना का प्रतिफल है—सुसंस्कारिता। साधना का प्रयोजन है—शालीनता। इन्हीं दोनों को संस्कृति एवं सभ्यता कहते हैं। जीवन सम्पदा का स्तर उठाने और उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग करने से ही मनुष्य व्यक्तित्ववान बनता है। इसी विकास-क्रम पर चलते हुये मनुष्य सामान्य आत्मा से अगली सीढ़ियाँ प्राप्त करता है। महामानव, ऋषि, देवदूत एवं अवतार बनने का सौभाग्य इसी मार्ग की मंजिलें हैं।

उपासना किसी के सामने गिड़गिड़ाना या वैभव सम्पत्ति का उपहार अनुदान सहज ही प्राप्त करने का ताना-बाना नहीं है। देवता न चापलूसी से प्रसन्न होते हैं और न रिश्वत लेने में उन्हें कोई रुचि है। उनका अनुग्रह बादलों

की तरह अनवरत बरसता है। जिसके पास जितना पात्र है उसे उतना अनुदान मिलता है। आत्मपरिष्कार ही साधना का उद्देश्य है। इस प्रयास में जिसे जितनी सफलता मिलती है, वह उतना ही बड़ सन्त होता है। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण में समर्थ अति महत्त्वपूर्ण क्षमता ऐसे ही लोगों को उपलब्ध होती है। पेड़ों के आकर्षण से बादल बरसते हैं। चुम्बक के खिंचाव से लौह कण खिंचते चले आते हैं। फूल खिलता है तो उस पर मधुमक्खियों, तितलियों और भ्रमरों के झुण्ड मँडराते हैं। विकसित व्यक्ति को अन्तरंग से सन्तोष, बहिरंग से सहयोग और अन्तरिक्ष से वरदान बरसने का लाभ मिलता है। दैवी अनुग्रह उपलब्ध करने का एक ही माध्यम है—आत्म-परिष्कार। उपासना और साधना के दोनों ही प्रयोग मिलकर इसी एक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। ब्रह्मविद्या का तत्वदर्शन और धर्मानुष्ठानों का साधना प्रकरण इसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनीषियों द्वारा सृजा गया है।

उपासना में गायत्री मन्त्र का अवलम्बन सर्वश्रेष्ठ है। इस महामन्त्र में सन्निहित २४ अक्षरों में उन सभी शिक्षाओं, प्रेरणाओं एवं सिद्धान्तों का समावेश है, जिसे अपनाकर व्यक्तिगत सुख-शान्ति और समाज की प्रगति, समृद्धि के द्वार खुल सकते हैं। इन अक्षरों में गुन्थन ऐसी विशेषताओं के साथ हुआ है कि उनके पाठ से व्यक्ति के अन्तराल की प्रस्तुत विशेषतायें जाग्रत होती हैं। उनके सामान्य जप ध्यान और असामान्य अनुष्ठान पुरश्चरण प्रक्रिया से ऐसा आत्मबल जागृत होता है जिसके द्वारा आत्मिक विभूतियों और सांसारिक सभ्यताओं को प्रचुर परिमाण में उपलब्ध कर सकना सम्भव होता है। उपासना का विधान अन्यत्र बताया गया है। उतना न बन पड़े तो रास्ता चलने या बिस्तर पर हुये पड़े हुये भी मौन मानसिक जप एवं ध्यान हो सकता है। न्यूनतम चौबीस मन्त्र जप लेने से भी आद्यशक्ति गायत्री के साथ उपासना सूत्र जुड़ा रह सकता है।

साधना का तात्पर्य है—अनगढ़ जीवन को सुगढ़ बनाने, जंगली जानवरों को उपयोगी एवं पालतू और जंगली झाड़ियों को सुरम्य उद्यान के रूप में विकसित करने के लिये जो उपाय अपनाने पड़ते हैं लगभग वही कुसंस्कारित व्यक्तित्व को संस्कारवान्, शालीन बनाने के लिये कार्यान्वित करने होते हैं, यही साधना है।

भगवान का अनुग्रह सर्वप्रथम उदात्त चिन्तन के रूप में प्रकट होता है। पीछे उसकी परिणति आदर्शवादी गतिविधियों के रूप में होती है। इसके उपरान्त उपासना का कल्पवृक्ष ऋद्धि-सिद्धियों के मधुर फल देने लगता है। जिसके अन्तरंग आत्म-परिष्कार और आत्म-विकास की स्फुरणा जितनी उत्कृष्ट, जितनी अगम्य होती है, समझना चाहिये कि उसके ऊपर उतनी ही मात्रा में भगवान् का सघन अनुग्रह बरस रहा है।

ईश्वर का अनुग्रह, पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये एकमात्र उपाय साधना है। इसे परम पुरुषार्थ माना गया है। अपने कुसंस्कारों से निरन्तर लड़ते रहना, जीवन-क्षेत्र में सत्प्रवृत्तियों की फसल उगाना, पशुता को देवत्व में परिणित कर देना, यही है साधना का स्वरूप। विभिन्न पूजा-उपचारों के द्वारा मनन, चिन्तन, स्वाध्याय, सत्संग जैसे विचार मन्थनों द्वारा आत्मशोधन की जो प्रक्रिया चलती है उसी को देखते हुये यह जाना जा सकता है कि साधना में कितनी प्रगति हुई। साधक को सिद्धि मिलती है। बिना आत्मशोधन का भजन निरर्थक जाता है। अपवाद रूप में किसी को कोई दैवी अनुग्रह मिल भी जाय तो उसका परिणाम अन्ततः भस्मासुर, रावण, कुम्भकरण, मारीच, कंस, हिरण्यकश्यप आदि की तरह घोर विपत्ति के रूप में सामने आता है। फलित तो विभीषण, हनुमान जैसे सद्भाव सम्पन्न लोगों की साधना ही होती है। मानव जीवन कल्पवृक्ष है, उनकी साधना यदि सही रीति से जा सके तो वही अपने अमृत फलों से साधक को कल्पवृक्ष बना देता है। ईश्वर ने श्रम, समय, बुद्धि, आभा जैसी दिव्य सम्पदायें हर व्यक्ति को प्रचुर परिमाण में दी हैं। इनका सदुपयोग ही उस बुद्धिमत्ता का परिचायक है जिसे शास्त्रकारों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा या ब्रह्म गायत्री कहा है। मानवी निर्माण की आवश्यकता शान्त स्वल्प है। उपार्जन की क्षमता असीम है। ऐसी स्थिति में किसी के अभावग्रस्त या पिछड़े रहने का कोई कारण नहीं। दरिद्रता और दुर्गति तो आन्तरिक पिछड़े की ही प्रतिक्रिया है। साधना द्वारा अपने दृष्टिकोण और व्यवहार में सुधार किया जाता है।

मनःस्थिति में परिवर्तन आते ही परिस्थिति बदलने लगती है। आँख की पुतली ही दृश्य जगत का परिचय कराती है। कान की झिल्ली में भरी सामर्थ्य से ही संसार में संव्याप्त शब्द सम्पदा से लाभान्वित होने का अवसर मिलता है। अपना मस्तिष्क ही इस विश्ववसुधा में बिखरे हुये वैभव को पहचानने और चुनने का सौभाग्य प्रदान करता है। इन्द्रिय शक्ति की प्रखरता से ही अनेकानेक रसास्वादनों का सुख मिलता है। अपने आँख, कान, मस्तिष्क एवं इन्द्रिय तन्तु यदि विकृत हो उठें तो इस संसार में निराशा और निस्तब्धता के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रहेगा। आत्मसत्ता का स्तर ही संसार के पदार्थों या प्राणियों को उपयोगी-अनुपयोगी बनाता रहता है। समस्याओं की उत्पत्ति भी भीतर से ही होती है और उनका समाधान भी अपनी ही अनुपयुक्तताओं के समाधान होने पर सम्भव होता है। जड़ें जमीन में रहती हैं, पेड़ ऊपर दीखता है। व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति ही बाह्य परिस्थितियों की संरचना करती है। बाहरी सुविधा, सफलता प्राप्त करने के लिये तद्नुरूप विशिष्टतायें अपने ही व्यक्तित्व में उत्पन्न करनी पड़ती हैं, इसी दूरदर्शी पराक्रम को साधना कहते हैं। अपना प्रसुप्त अन्तरंग ही सर्व-सिद्धिदाता देवता है। उसी को जगाने, प्रखर बनाने के लिये पूजा-उपचारों की विधि-व्यवस्था शास्त्रकारों ने बनाई है। जो इस तथ्य को समझते हैं, भजन-पूजन के साथ जुड़े रहस्यों को ढूँढ़ते हैं और अपनी कुसंस्कारिता को परास्त करने का पराक्रम करते हैं, वे ही सच्चे साधक हैं। साधनात्मक उपचारों में सन्निहित आत्म-निर्माण के मर्म को जो जान लेते हैं उसके लिये बिना हारे संघर्ष और शिक्षण का अभ्यास करते हैं वे अपने आपको सरकस के सिंह की तरह मनस्वी और कमाऊ बना लेते हैं। साधना उपक्रमों के साथ जुड़े हुये इस दिशा निर्धारण को जो समझते हैं और बिना हारे अनवरत प्रयास करते हैं, उन्हें सिद्धि पुरुष होने का अवसर निश्चित रूप से मिलता है। साधना से सिद्धि का सिद्धान्त अकाट्य है। प्रयास के साथ जुड़ी हुई उपलब्धि का प्रमाण, परिचय हर साधक कभी भी, कहीं भी प्राप्त कर सकता है।

उपासना अनिवार्य है साधना उससे भी अधिक

कोई भी किसान खेत में बीज डालने से पूर्व पहले उसे पानी से भरकर उसकी अच्छी तरह जुताई करता है, कूड़ा-कचरा निकालता है, खाद डालता है, तब भूमि इस योग्य हो पाती है कि उसमें बीज डालने और उसके उगने की सम्भावनायें सुनिश्चित होती हैं। उपासना मनोभूमि में उगने वाला बीज हैं उसके फलने-फूलने की आशा तभी की जा सकती है जब मनोभूमि का उसी प्रकार परिष्कार किया जाय, जिस प्रकार कृषक अपने खेतों का करता है, मनोभूमि को शुद्ध किये बिना डाला गया उपासना का बीज और झाड़-झंकार बाढ़ में पड़े बीज की तरह होगा जो या तो स्वयं सड़-गलकर नष्ट हो जाता है या जिसे चिड़िया-चूहे और जंगली जीव चुन ले जाते हैं।

जितना महत्त्व उपासना का है उतना ही साधना का भी है। हमें उपासना पर ही नहीं साधना पर भी ध्यान और जोर देना चाहिये। जीवन को पवित्र, परिष्कृत, संयत, संतुलित, उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिये अपने गुण, कर्म, स्वभाव को उच्चस्तरीय बनाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रयत्न का नाम ही जीवन-साधना अथवा साधना है। उपासना-पूजा तो निर्धारित समय का क्रिया-कलाप पूरा कर लेने पर समाप्त हो जाती है, पर साधना चौबीस घण्टे चलामी पड़ती है। अपने हर विचार और हर कार्य पर एक चौकीदार की तरह कड़ी नजर रखनी पड़ती है कि कहीं कुछ अनुचित, अनुपयुक्त तो नहीं हो रहा है। जहाँ भूल दिखाई दी कि उसे तुरन्त सुधारा—जहाँ विकार पाया कि तुरन्त उससे लड़ पड़े। यही साधना है। जिस प्रकार सीमारक्षक प्रहरियों को हर घड़ी शत्रु की चालों और बातों का पता लगाने और जूझने के लिये लैस रहना पड़ता है, वैसे ही जीवन संग्राम के हर मोर्चे पर हमें सतर्क और तत्पर रहने की आवश्यकता पड़ती है। यही तत्परता साधना है।

यह सोचना ठीक नहीं है कि भजन करने मात्र से पाप कट जायेंगे और ईश्वर प्रसन्न हो जायेंगे, अतएव जीवन को शुद्ध बनाने अथवा

कुमार्गगामिता से बचाने की आवश्यकता नहीं, इसी भ्रमपूर्ण मान्यता ने अध्यात्म के लाभों से हमें वंचित कर रखा है। यह भ्रम दूर हटाना चाहिये और भारतीय अध्यात्म का तत्वज्ञान एवं ऋषि अनुभवों के आधार पर यही निष्कर्ष अपनाना चाहिये कि उपासना और साधना आध्यात्मिक प्रगति के दो अविच्छिन्न पहलू हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। जिस तरह अन्न और जल, रात और दिन, शीत और ग्रीष्म, स्त्री और पुरुष का जोड़ा है, उसी प्रकार उपासना और साधना भी अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरा अकेला, असहाय एवं अपूर्ण ही बना रहेगा, इसलिये दोनों को साथ लेकर अध्यात्म मार्ग पर प्रगतिशील होना ही उचित और आवश्यक है।

गायत्री उपासक का जीवन-क्रम उत्कृष्ट, आदर्शवादी एवं परिष्कृत होना ही चाहिये। नशा पीने पर मस्ती आनी ही चाहिये। भक्ति का प्रभाव सज्जनता और प्रगतिशीलता के रूप में दीखना ही चाहिये। इसलिये हमारा उपासना क्रम सांगोपांग होना चाहिये और उसमें आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की परिपूर्ण प्रक्रिया जुड़ी ही रहनी चाहिये। उपासना और साधना का स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक को कर लेने से दूसरे की पूर्ति हो जायेगी, यह सोचना उचित नहीं।

गायत्री की भावनात्मक पूजा की तरह ही सद्आचरण द्वारा भी उपासना की जा सकती है। हम निष्पाप बनें, इतना ही पर्याप्त नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि अपने कर्म एवं स्वभाव में सद्गुणों का समुचित समावेश करके दिव्य जीवन बनावें और उसके द्वारा अपना और समस्त समाज का कल्याण करें। व्यक्तित्व को परिष्कृत और विकसित करते हुये ही हम आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ते हैं और पूर्णता प्राप्त करने में सफल होते हैं।

भ्रम जंजाल में उलझकर देवताओं को गाली न दें

बाल बुद्धि लोग अति उतावले होते हैं। वे इस हाथ में काम लेते ही उस हाथ प्रतिफल चाहते हैं। श्रद्धावानों में जिस धैर्य और संकल्प की गम्भीरता होनी चाहिये, उसके अभाव में कोई महत्त्वपूर्ण काम बन नहीं पड़ते। एम० ए० पास करने के लिये १७ वर्ष चाहिये। पहलवान बनने के लिये वर्षों अखाड़ा गोड़ना पड़ता है। साहित्यकार, संगीतकार, अभिनेता, चित्रकार आदि बनने के लिये वर्षों निरन्तर अभ्यास करना पड़ता है। वट-पीपल के वृक्ष परिपुष्ट होने मे वर्षों का समय ले जाते हैं। हथेली पर सरसों बाजीगर जमाते हैं। झोले से निकालकर वे ही फल लगा हुआ आम का पौधा दिखा देते हैं, पर इन चमत्कारों में चालाकी भर होती है। यदि इतनी जल्दी इन कामों को कर सकना सम्भव होता तो वे कुछ ही वर्षों में धनकुबेर बन गये होते। जल्दी में सिद्धियाँ नहीं मिल सकतीं। बाजीगर के हाथ चालाकी ही सीखी जा सकती है।

किसान को गेहूँ की फसल काटकर कोठी भरने में एक साल लगता है। किले और महल बनने में वर्षों लग जाते हैं। छोटे बच्चे को जवान बनने में पच्चीस वर्ष चाहिये। किसी को बहुत उतावली हो, तो चार आने में बिकने वाली नकली मूँछ लगाकर किसी बच्चे को जवान बनाया और दर्शकों को हँसाया जा सकता है।

पार्वती जब शिव से विवाह करने को तपस्या करने लगीं, तो उनकी श्रद्धा परखने के लिये ऋषियों का समुदाय गया और कहा—शिव ने हजार वर्ष की समाधि लगा ली है। तुम उनसे विवाह का विचार छोड़ो और किसी अन्य देवता या राजा से विवाह कर लो, तब पार्वती ने स्पष्ट उत्तर दिया था—

कोटि जन्म लगि रगर हमारी।
वरऊँ शम्भु न त रहौं कुँवारी।।

ऋषिगण श्रद्धा की गम्भीरता देखकर विवश हो गये और शिव को विवाह करने के लिये विवश होना पड़ा। अनेक साधक ऐसे ही उतावले होते हैं, वे थोड़े-बहुत दिनों, उल्टे-सीधे जन्त्र-मन्त्रों की हेराफेरी करके सिद्ध पुरुष बनना चाहते हैं और कुछ हाथ न लगने पर पूरे साधना विज्ञान को ही कोसने लगते हैं। भविष्य के लिये तो वे श्रद्धा-विश्वास ही गँवा बैठते हैं। ऐसे लोग यदि उतावली न करें, अधिक कोई साधना न करें, तो भी कम से कम आशा तो

बनी रहेगी। उतावली में वह भी चली जाती है। गायक, वादक, अभिनेता अपना अभ्यास नित्य जारी रखते हैं। पहलवानों और सैनिकों को भी नियमित अभ्यासों का आश्रय लेना पड़ता है। मनमौजी ढंग से कभी करना, कभी न करना ऐसे प्रयोग कौतूहल, सफलता एवं सुदृढ़ता के लक्ष्य तक पहुँचते देखे नहीं गये। बच्चे बालू का महल बना लेते हैं और टहनियाँ जमीन में गाड़कर बगीचा लगने की खुशी मना लेते हैं पर जिन्हें उद्यान विज्ञान का ज्ञान है, वे समझते हैं कि मजबूत पेड़ों की जड़ें जमीन में लगायी जाती हैं, वहाँ से रस चूसकर लाती हैं और तने से लेकर टहनियों तक को मजबूत बनाते हुये उसे फल-फूलों से लादती हैं। यह कार्य जो कर लेते हैं उनके आम, जामुन, लीची, कटहल, मुद्दतों फलते-फूलते हैं। मौसमी पौधे तो एक महीने फूल देकर सूख जाते हैं। 'साधना से सिद्धि' प्राप्त करने के लिये अनवरत् प्रयास की आवश्यकता पड़ती है। जिन्हें बहुत जल्दी हो, उनके लिये विज्ञजनों का एक ही परामर्श है कि वे इस झंझट से दूर रहें।

जीवित रहने के लिये हमें रोज भोजन करना पड़ता है और नित्य ही मल-मूत्र त्यागने की, स्नान करने, कपड़े धोने, बर्तन मलने, झाड़ू लगाने की आवश्यकता पड़ती है। हमारे ऊपर भी भीतरी कषाय-कल्मषों का और बाहरी प्रथा-प्रचलनों का प्रभाव पड़ता रहता है। इनके निष्कासन के लिये भी साधना करनी पड़ती है और आत्मिक बल-वर्धन के लिये क्षुधा बुझाने वाले सुपाच्य आहार की व्यवस्था करनी पड़ती है। यह नित्यकर्म है। नित्य ही नहीं, अनवरत भी। साँस लेकर शरीर के भीतर ऑक्सीजन पहुँचाई जाती है और साँस छोड़ने के साथ शरीर में उत्पन्न विषाक्तता को निकाल बाहर किया जाता है। यह अपने स्वास्थ्य को सही बनाने के लिये किया जाने वाला आवश्यक कृत्य है। साँस लेना किसी पर अहसान करना नहीं है और न उसके बदले हुण्डी भुनाई जाती है। श्वासोच्छ्वास वह कर्त्तव्य है, जिसे जीवन धारण करने के लिये करना ही चाहिये। यह किसी देवी-देवता पर अहसान करना नहीं है कि उसकी छुट-पुट पूजा-पत्री की चिन्ह-पूजा करके लम्बे-चौड़े वरदानों की आशा, अपेक्षा की जाय।

सिद्धियाँ बाहर से नहीं आतीं, भीतर से उगती हैं। जड़ें जमीन से रस खींचकर पेड़ को पुष्ट करती हैं, भले ही वे जमीन के भीतर रहने के कारण दृष्टिगोचर न हों। फूल और फल उन्हीं की प्रतिक्रिया है। यह सोचना गलत है कि इन्द्र देवता आकाश से विमान पर आते हैं और पेड़ों के ऊपर फल-फूलों की वर्षा करते हुये चिपका जाते हैं। देवता अनुग्रह अकारण नहीं करते हैं। उसके भी कुछ सिद्धान्त हैं। पेड़ अपनी चुम्बकीय शक्ति से बादलों को जमीन पर खींच बुलाते हैं और बरसाने के लिये मजबूर करते हैं। जिस क्षेत्र में पेड़ नहीं होते, वहाँ आकर्षण के अभाव में बादल ऊपर होकर उड़ जाते हैं, बरसते नहीं। हरीतिमारहित क्षेत्र रेगिस्तान बनते चले जाते हैं। चुम्बक अपने सहधर्मी लौह कणों को रेत में से दूर से घसीट लाता है और खदानों की आकर्षण शक्ति अपने सजातीय कणों की वृद्धि के कारण निरन्तर बड़ी और भारी होती जाती है। साधना के माध्यम से हम अपने व्यक्तित्व को विकसित एवं परिष्कृत करते हैं, फलस्वरूप अन्तःक्षेत्र की प्रसुप्त गरिमा ऋद्धि-सिद्धि बनकर प्रकट होती है। ऐसे ही पराक्रमी लोगों पर देवताओं की अनुकम्पा बरसती है।

धुले कपड़े पर ही रंग चढ़ता है। मैले-कुचैले, तेल, तारकोल में डूबे हुये कपड़े पर कितना भी रंग चढ़ाया जाय, वह चढ़ेगा ही नहीं। बिना जोती जमीन में बीज बो देने पर वह उगेगा ही नहीं। रोग मात्र औषधि सेवन से ही नहीं चला जाता, वरन् साथ ही आहार-विहार का पथ्य भी सही रखना पड़ता है। केवल मन्त्र-तन्त्र के क्रिया-कृत्य कर लेने पर जो बड़े बड़े चमत्कारों की आशा करते हैं वे भूल करते हैं। साधकों को आत्म-शोधन की शर्त भी पूरी करनी चाहिये।

देवता इतने दीन-दरिद्र नहीं हैं कि उन्हें थोड़ा-सा भोग-प्रसाद चढ़ाकर छोटे बच्चों की तरह फुसलाया जा सके। वे व्यापक हैं। उन्हें दिन में सूर्य का और रात्रि में चन्द्रमा का प्रकाश उपलब्ध है। पुष्प भी वे उद्यानों से चाहे जितने, चाहे जैसे सूँघ सकते हैं। उनकी प्रशंसा उड़ती हुई पवन और खिलती हुई धूप करती

है। कोई उनकी स्तुति न करे, तो उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। जो निन्दा-स्तुति से ऊपर हैं, वही देवता हैं। पूजा-उपचार, हमें आत्मशोधन क्यों करना चाहिये ? इसका स्मरण करने के लिये कराये जाते हैं। पुष्प जैसा जीवन खिले और देवता के चरणों में समर्पित हो चन्दन की तरह हम समीप में उगे हुये झाड़-झंखाड़ों को भी सुगन्धित बनायें! दीपक की तरह स्वयं जलकर प्रकाश फैलायें। मीठे नैवेद्य की तरह हमारे वचन और व्यवहार मधुरता से भरे-पूरे हों। यह शिक्षण उपचार माध्यमों से अपने आप को ही देना पड़ता है। तनिक से अक्षतों से तो गणेश जी के चूहे का भी पेट नहीं भर सकता, फिर देवता पर अक्षत किसलिये चढ़ाये जायें ? इसका उद्देश्य इतना ही है कि हम अपनी कमाई का, समय-श्रम का, एक अंश नियमित रूप से देव प्रयोजनों के लिये, परमार्थ के लिये लगाते रहें। यदि पूजा-उपचार के माध्यम से आत्मशिक्षण की बात भुला दी जाय और देवता को फुसलाने का प्रयत्न करें, तो यह मछली मार, चिड़ीमार जैसी विडम्बना होगी, जो तनिक-सा लालच दिखाकर उन्हें पकड़ लेते हैं। देवताओं को इस प्रकार वशवर्ती बनाने की आशा किसी को भी नहीं करनी चाहिये। हमें पूजा-उपचार का मर्म समझना चाहिये। भ्रम-जंजाल में भटकने की अपेक्षा यही अच्छा है कि हम जो भी काम करे, सोच-समझ कर, उसके मर्म को आत्मसात् कर करें। थोड़ी सी पूजा करके टोकरी भर गाली देने का झंझट न पालें।

साधना क्षेत्र में आज जो असफलतायें देखी जाती हैं, उपासनायें फलीभूत नहीं होतीं, उसका मूल कारण यही है कि उतावलापन बरता गया। बहिरंग कर्मकाण्ड को ही सब कुछ समझकर उसी से सब कुछ प्राप्त कर लेने-सिद्ध पुरुष बन जाने की शेखचिल्ली जैसी कल्पना करली गयी। निरन्तरता, गहन श्रद्धा एवं सतत् अभ्यास द्वारा जब साधना उपक्रमों के मर्म को समझते हुये उन्हें जीवन में उतारा जाता है तो वह सिद्धियों को फलीभूत करता चला जाता है। यह हर उस सफल व्यक्ति का इतिहास है जिसने जीवन समर में आतुरता, तुरन्त सफलता मिलने की जल्दबाजी न दिखाकर धैर्य व निष्ठापूर्वक साधना की है, आत्मशोधन किया है व अपने को निखारकर गुणों की खेती आत्मसत्ता रूपी खेत पर की है। गीताकार ने ऐसे ही व्यक्ति को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है व उसी को सफलता सदैव मिलेगी, यह भी बताया है।

हमारी उपासना उस स्तर की हो जैसा कि रामकृष्ण नामक पुजारी की थी जो काली की उपासना कर उनसे चर्चा कर उनके हाथों भोजन पाकर परमहंस पद को प्राप्त कर गया। हमारी लगन परमसत्ता के प्रति मीरा के स्तर की हो जो बिना कोई कर्मकाण्ड या मन्त्र के श्रीकृष्ण की दीवानी बनकर उन्हीं में समाकर उनका प्रतिरूप बन गयी। यही तत्वज्ञान पूजा अवधि में अन्तःकरण में से स्वयं ही उद्भूत होता रहे व लगता रहे कि महाप्रज्ञा-आद्यशक्ति अन्तरात्मा में बैठकर हमें अन्तर्जगत व ब्राह्मीसत्ता के सत्यों और तथ्यों से अनायास ही परिचित करा रही हैं, तो उपासना सफल होती चली जाती है। ऐसी साधना से परमसत्ता का प्यार भरा यथार्थवादी शिक्षण अनायास ही अमृतपान की तरह उपलब्ध होता चला जाता है। यही साधना से सिद्धि का मूलभूत तत्वदर्शन है। इसी को समझकर इस क्षेत्र में उतरा जाना चाहिये।

उपासना में कृत्य नहीं भावना प्रधान

ब्रह्मविद्या या तत्वदर्शन से तात्पर्य उस परमात्म सत्ता का स्मरण, उसकी विशेषताओं का चिन्तन-मनन है जिसे प्रभु, परमात्मा, ईश्वर या भगवान कहा जाता है। सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय को ही भगवान कहते हैं। विराट्-परब्रह्म तो वह सूत्र-संचालन शक्ति है जिसे सारी सृष्टि की व्यवस्था चलानी होती है। नियम अनुशासन से अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलना ही उसका काम है। उपासना में परब्रह्म को नहीं, भगवान को साकार या निराकार रूप में स्मरण किया जाता है। यह भगवान कोई व्यक्ति नहीं, संद्भावना-सद्विचारणा, सत्प्रवृत्तियों का समुदाय है जिसकी समस्त विशेषताओं का स्मरण कर उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास किया जाता है।

उपासना में अन्तःकरण को, भावनाओं को उच्चस्तरीय उद्देश्यों के अनुरूप गतिशील बनाना

पड़ता है। साधना व आराधना भी इसी के साथ स्मरण किये जाने वाले कृत्य हैं जिनमें क्रमशः विचारणा व गतिविधियों को उत्कृष्टता के साथ जोड़ा जाता है। उपासना यदि भक्तियोग है तो साधना-ज्ञानयोग एवं आराधना-कर्मयोग है। कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीर के रूप में इनके कार्यक्षेत्र हैं। आत्मसत्ता को महानता के पथ पर पहुँचाने के लिये इन्हीं त्रिविध सोपानों को अपनाना पड़ता है।

उपासना, साधना व आराधना के इन तीन उपायों से ही ईश्वर जीवसत्ता में प्रवेश करता है तथा मनुष्य को देवोपम चिन्तन, चरित्र विनिर्मित करने की प्रेरणा देता है। साहसी, मनस्वी इस पथ पर चलकर असीम सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, स्वयं को ऊँचा उठाते हैं और दैवी अनुकम्पा उन पर सतत् बरसती रहती है। योगाभ्यास एक पराक्रम है, अपनी अन्तः की दुष्प्रवृत्तियों से संघर्ष है। जो इस देवासुर संग्राम में जितना अधिक सफल होता है वह बहिरंग जगत में सुसंस्कृत एवं अन्तरंग की दृष्टि से महान बनता चला जाता है।

मानव सहज अभ्यास क्रम में अनगढ़ है। कुसंस्कारिता से छुटकारा पाकर सुसंस्कारी शालीनता के ढाँचे में ढलने के लिये आत्मसत्ता को विवश करने हेतु योगत्रयी के ये तीनों ही उपचार नित्य जीवन में अपनाने होते हैं। उपासना से ईश्वरीय गुणों को जीवन में उतारने का अभ्यास किया जाता है, साधना से मन को दुष्प्रवृत्तियों से जूझने योग्य सशक्त बनाया जाता है एवं आराधना द्वारा अपने क्रिया-कलापों को सोद्देश्य बनाकर ईश्वरीय उद्यान को और भी सुन्दर-सुव्यवस्थित बनाने, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना का विकास किया जाता है। सतत् हर क्षण इनका अभ्यास जीवन में अनिवार्य है।

इतनी-सी बात समझ में आने में किसी को भी कोई परेशानी न होगी कि परब्रह्म को किसी उपहार, मनुहार से प्रसन्न नहीं किया जा सकता। भ्रान्तियाँ फिर भी मन पर छायी रहती और मनुष्य को दिग्भ्रान्त करती रहती हैं। परब्रह्म सृष्टि की अनुशासन व्यवस्था का नियन्ता है। उसे फुसलाया नहीं जा सकता। पूजा, उपचार, कर्मकाण्ड तो उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालने का प्रभावी व्यायाम पराक्रम भर हैं। इन माध्यमों को अपनाकर जो अपनी चेतना को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढालता चला जाता है वह ऋषि, देवदूत, महामानव, महात्मा जैसे स्तर को प्राप्त होता है।

उपासना अर्थात् आत्मा को परमात्मा से जोड़ देना। भाव संस्थान जो मान्यताओं, आकांक्षाओं से लिपटा होता है—वही अपनी आत्मा ही तो है। परमात्म तत्व उत्कृष्ट आदर्शवादिता का ही दूसरा नाम है। अपनी ढर्रे में चली आ रही, लोभ-मोह के बँधनों में जकड़ी आत्मा को परिष्कृत शोधित कर उसे उत्कृष्टता की ओर मोड़ देना ही सच्ची उपासना है। उपासना से तात्पर्य है, जिसके समीप बैठे हैं, तद्नुरूप हो जाना। यह समर्पण घनिष्ठता जितनी निश्छल, उच्चस्तरीय होगी, उतनी ही उपासना सार्थक होगी, यह तभी सम्भव है जब उपासक का स्वयं का स्तर ऊँचा हो और उपास्य के सम्बन्ध में वास्तविक बोध बना रहे तथा किसी प्रकार की भ्रान्ति न हो।

उपासना का तत्व दर्शन समझने के उपरान्त शेष इतना ही रह जाता है कि प्रारम्भिक प्रयासों में उसे भावनात्मक व्यायामों की तरह प्रयुक्त कर धीरे-धीरे आगे बढ़ा जाये। कर्मकाण्ड यदि काय-कलेवर हैं तो तादात्म्य वाला पक्ष उसका प्राण है। एक प्रत्यक्ष है, दूसरा परोक्ष। जप, ध्यान, प्राणायाम का क्रियापक्ष महत्त्वहीन है, यदि भाव पक्ष को प्रधानता नहीं दी गयी है। पौरुषहीन के हाथ में तलवार सौंप दी जाय तो पराक्रम के बिना वह मात्र लोहे का एक टुकड़ा भर सिद्ध होती है। पराक्रम ही जिताता है, तलवार नहीं। इसी प्रकार भाव-श्रद्धा ही उपासना को सार्थक बनाती है, कर्मकाण्ड के क्रिया-कलाप नहीं।

महाप्रभु चैतन्य के जीवनकाल की एक घटना है। वे जगन्नाथ पुरी क्षेत्र में प्रचार यात्रा पर निकले थे। मण्डली में कई विद्वान भी थे। वट वृक्ष के नीचे एक किसान को उन्होंने तन्मयतापूर्वक गीता पाठ करते देखा, उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। उसकी तन्मयता देखते बनती थी। हाव-भाव ऐसे थे, मानो वह स्वयं अपने अन्तर्चक्षु से गीता काल की घटनाओं को भगवान कृष्ण एवं अर्जुन को दृश्य रूप में सामने देख रहा हो। मण्डली रुक गयी। पाठ

सुनने लगी। उच्चारण नितान्त अशुद्ध था। अल्प शिक्षित होने के कारण वह न तो संस्कृत शिक्षा से अवगत था, न ही श्लोकों का अर्थ उसे समझ में आता था।

विद्वानों ने उसे टोका एवं अशुद्ध बोलने से रोका। महाप्रभु एकटक—भाव-विभोर हो उसे देख रहे थे। वह रुका नहीं, पढ़ता ही रहा। बोला—"मेरे लिये इतना ही बहुत है कि भगवान जो कह रहे हैं उसे मेरी आत्मा अमृत की तरह पी रही है।" महाप्रभु के बोल फूटे—उन्होंने उस भक्त को नमन करते हुये कहा—"भक्तो ! इस अशिक्षित की भावना स्तुत्य है। यही है वह तत्व जिसके सहारे भक्ति की जाती है, जो भक्त की उपासना को सार्थक बनाती है।" वस्तुतः यह समर्पण, "तादात्म्य" का भाव नियोजित किये बिना सारे पूजा उपचार के क्रम अधूरे, खोखले हैं।

तादात्म्य का अर्थ है, भक्त की भावना और इष्ट की उससे अपेक्षा का एकीकरण। दोनों की अन्तःस्थिति का समन्वय विसर्जन। दैवी अनुशासन के अनुरूप जो अपनी जीवनचर्या का निर्धारण कर लेता है, वही सच्चा उपासक है। इसमें अपने आप से कठोर संघर्ष तो करना पड़ता है, पर आत्मबल-सम्पन्न उस परम तत्व पर पूरा भरोसा रख अपनी नाव खेते चले जाते हैं। साधक को अपना स्वरूप कठपुतली जैसा बनाना होता है और अपने अवयवों में बँधे धागों को बाजीगर को सौंप देना पड़ता है। यह बाजीगर ईश्वर ही तो हैं। इससे कम में वह स्थिति बनती नहीं, जहाँ आत्मा-परमात्मा का मिलन संयोगक्रम बन सके।

बूँद चाहती तो बरसकर सूखी धरती को तृप्ति, प्यासों को तुष्टि दे सकती थी। सरोवर तट पर पड़ी सीप में गिरकर मोती भी बन सकती थी। यदि उसने अपनी अहंता—पृथकता को बनाये रखा और ओस बनकर सर्प द्वारा चाटी जाने पर विष में स्वयं को बदल दिया, तो यह उसकी अपनी नियति है। जो न समुद्र बनने को तैयार है, न बादल; उनकी परिणति अधोगामी ही होती है। यह तो एक उदाहरण हुआ-पर मनुष्य पर यह शत-प्रतिशत लागू होता है। समर्पण माँगता है—लोभ, मोह से विरक्ति, अहंता से मुक्ति। यदि समर्पण भाव न विकसे तो मानना चाहिये कि जीव ब्रह्म की एकता में विलगता उत्पन्न करने वाली बाधायें लोभ-मोह-अहंता के रूप में विद्यमान हैं। उपासना के कर्मकाण्ड इसी कारण बाह्योपचार मात्र बनकर रह गये हैं। समयक्षेप तो इसमें होना ही था, असन्तोष एवं ग्लानि और साथ लग जाती है। देवात्मा बनना तभी सम्भव है, जब परमात्मा के समकक्ष विशेषतायें उत्पन्न करने योग्य पात्रता विकसित कर ली गयी हो। भावना-विचारणा और क्रिया-प्रक्रिया में जितना अधिक उत्कृष्टता, आदर्शवादिता का समावेश हो सकेगा, उपासना उतनी ही सफल होगी। यही है श्रद्धा, प्रज्ञा, निष्ठा का तत्वदर्शन।

बाह्याभ्यन्तरः शुचिः

उपासना का प्रथम चरण स्वच्छता है। पूजा पर बैठने से पहले स्नान करना पड़ता है। सर्दी या रुग्णता के कारण कभी-कभी पूरे शरीर का स्नान नहीं बन पड़ता तो हाथ, पैर, मुँह धोकर शरीर को भीगे कपड़े से रगड़कर काम चलाया जाता है। पसीना लगे हुये कपड़े बदलकर धुले कपड़े पहन लिये जाते हैं। कुल्ला किये बिना, दाँत साफ किये बिना तो काम चलता ही नहीं।

पूजा के साथ बुहारी लगाना, उपचार पात्रों को माँजना-प्रतिमा को जिस भी माध्यम से सम्भव हो स्वच्छ करना। पूजा प्रयोजन के काम आने वाली सभी वस्तुओं को जिस माध्यम से स्वच्छ करना सम्भव हो, करना आवश्यक समझा जाता है। साधक को इष्टदेव के प्रतीक का श्रृंगार करने से पूर्व उसकी स्वच्छता पर प्रधान रूप से ध्यान दिया जाता है। तिलक, चन्दन, कपूर, पुष्प आदि से शोभा बढ़ाने वाले श्रृंगार भी किये जाते हैं, पर उस सबसे पूर्व स्वच्छता बढ़ाने वाले उपचारों को सम्पन्न कर लिया जाता है।

जप, ध्यान करने से पूर्व आचमन, प्राणायाम किये जाते हैं। आचमन तीन बार किये जाते हैं। इनका तात्पर्य है, वाणी, रचना और मनःस्थिति को स्नान करा लेना। भावना प्रयोग द्वारा उनमें यत्किंचित अशुद्धता हो तो उसे स्वच्छ कर लेना। प्राणायाम में गहरे साँस लिये और छोड़े जाते हैं। मल-मूत्र, स्वेद त्याग की तरह श्वाँस छोड़ने से भी शरीरगत मलिनता को साँस के द्वारा निकाल बाहर करना होता है। इस आधार पर भीतर के अवयवों में जो अशुद्धि विद्यमान हो उसे निकाल बाहर करने की प्रतिक्रिया अपनाई जाती है, यही प्राणायाम है।

अस्वच्छता का निवारण करने के साथ ही स्वच्छता का संवर्धन भी इस समग्र प्रक्रिया का आधार है। मलीनता के साथ गन्दगी के विषाणु जुड़े रहते हैं। इसे दुर्गंध द्वारा जाना जा सकता है। इसके रहते मन पर भार चढ़ा रहता है। आलस्य छाया रहता है। उपेक्षा, उदासी, अवज्ञा, जैसे दूषण छाये रहते हैं। पर उनका परिशोधन करने के उपरान्त जिस स्वच्छता का अभिवर्धन होता है उससे चित्त की प्रसन्नता, प्रफुल्लता उभर उठती है। ध्यान में एकाग्रता का भी समावेश होता है और चित्त में उत्साह, उल्लास का भी उभार आता है।

खुली हवा, धूप तथा सन्तुलित गर्मी वाले मकान में सीलन, सड़न, गन्दगी, बदबू का माहौल नहीं बनता और न ऐसे स्थानों में कृमि-कीटक, मकड़ी, मक्खी, मच्छर, झींगुर, खटमल, आदि का जमघट जुड़ने पाता है। ऐसे ही स्थान पूजा, उपासना की मनोभूमि बनाते हैं। जहाँ गन्दगी होगी वहाँ दृश्य या अदृश्य हानिकारक जीवाणुओं का दल एकत्रित होगा। वे काटेंगे-रेंगेंगे, जहाँ जगह पावेंगे वहीं प्रवेश करेंगे। ऐसी दशा में मन उचटना स्वाभाविक है। जब मन उचटता है तो शरीर भी विक्षेप करता है। जब शारीरिक, मानसिक स्थिति गड़बड़ाती रहे तो भक्ति भावना का वह रसास्वादन कैसे बन पड़े जिसे उपासना का प्राण माना गया है।

यह हुई बहिरंग स्वच्छता, जो गन्दगी के अनेक पक्षों को काटती, हटाती है। इस निराकरण का प्रतिफल यह होता है कि प्रकृतिगत स्वच्छता की सौम्य-सुषमा, सात्विक, सौन्दर्य के रूप में प्रकट होती है और सुगन्ध से मनःक्षेत्र कमल पुष्प की तरह खिलता और महकता है। उसकी शोभा-आभा से अन्तराल का हर घटक प्रफुल्ल एवं सुरभित होता हुआ अनुभव में आता है।

इससे भी बढ़कर है अन्तरंग स्वच्छता। बहिरंग काया को और वस्तुओं को कहते हैं। अन्तरंग बुद्धिमत्ता एवं भाव सम्पदा को जितना ध्यान आत्म-परिष्कार के लिये बहिरंग क्षेत्र पर दिया जाना चाहिये उससे भी अधिक अन्तरंग के परिमार्जन की आवश्यकता है। मन में कल्पनायें उठती हैं। यह निर्मल होना चाहिये, क्रिया कल्पना की परिणति है। विचारों की सघनता से ही कार्य पद्धति का आविर्भाव होता है। कल्पनायें जब मस्तिष्क को आच्छादित और प्रभावित करती हैं तो उनकी पूर्ति के लिये बुद्धि को योजना बनाने का निर्देश मिलता है। बुद्धि ताना-बाना बुनती है और वह ढाँचा खड़ा करती है जिससे कल्पनायें आकांक्षा का रूप धारण कर सकें और शरीर उसे कार्यान्वित कर सके। कोई भी सोद्देश्य कर्म तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उस सन्दर्भ में विचार को परिपक्व होने का अवसर न मिलता हो। यह कल्पना प्रकरण किस स्तर का है यह देखना अपना काम है। यदि चिन्तन अनैतिक, अवांछनीय स्तर का चल रहा होगा तो उससे भावना, विचारणा, आकांक्षा सभी में भ्रष्ट और दुष्ट तत्व भर जायेंगे। उत्कंठा, अभिलाषा उन्हें कार्यान्वित करने के लिये मचलेगी। यही है वह मानसिक गन्दगी, जिसे शरीरगत मलिनता से भी हेय स्तर का माना गया है। गन्दगी से उपयोग में आने वाले पदार्थ और काया के अंग-अवयव मलिन होते हैं। पर मन से की गई कुमार्गगामिता समूचे स्तर एवं वातावरण को ही अनुपयुक्त बना देती है। उसके दुष्प्रभाव से वर्तमान और भविष्य का ढाँचा इस प्रकार विनिर्मित होने लगता है जिसे हेय एवं दुखद कहा जा सके।

जिस प्रकार बहिरंग गन्दगी को हटाने से पूर्व उसे बारीकी के साथ तलाश करना पड़ता है। मोटी दृष्टि-मोटी बुद्धि तो इर्द-गिर्द फैली हुई शरीर-वस्त्र एवं उपकरणों के साथ लिपटी हुई गन्दगी तक देख समझ नहीं पाती, उसकी कुरूपता, दुर्गंध एवं अहितकर परिणति तक का अनुमान नहीं लगा पाती। उसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में मानसिक कुकल्पनाओं की अवांछनीयता का भी पता नहीं चल पाता। इसके लिये राजहंस जैसी नीर-क्षीर-विवेक बुद्धि चाहिये। दूध और पानी मिला होने पर सामान्यतया उस मिलावट का पता नहीं चल पाता, पर हंस अपनी विश्लेषण क्षमता के आधार पर उसका विभेद कर लेता है। दोनों को पृथक्-पृथक् कर देता है। दूध वाले अंश को ग्रहण कर लेता है और पानी वाले भाग को हटाकर अलग कर देता है। ठीक इसी प्रकार कल्पनाओं और विचारणाओं में जो हेय तत्व घुले रहते हैं उन्हें

सूक्ष्मदर्शी विवेकशीलता से पहचाना और विलगाया जा सकता है। यह विभेद ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् आवश्यकता इस बात की भी पड़ती है कि जो अचिन्त्य है उसे जड़ जमाने से पूर्व ही उखाड़ दिया जाय। उसे मोड़-मरोड़ कर औचित्य की दिशा अपनाने के लिये बाधित कर दिया जाये। संचित कुसंस्कारों के कारण हेय विचार बार-बार भी उठ सकते हैं। अनीति-अपनाने के लिये आग्रह करते और मचलते भी दीख पड़ सकते हैं, पर संकल्प शक्ति का पौरुष इसमें है कि संघर्ष से हारा न जाय। उठने के साथ ही अनौचित्य के प्रेत को उल्टे मुँह पटक-पछाड़ दिया जाय। ढील देने पर अनौचित्य मनुष्य पर हावी होने लगता है। कुछ अवसर मिलने पर उसकी जड़ें गहरी हो जाती हैं।

जीवन वर्तमान में जिया जाता है। भूत तो उसकी छाया मात्र है। भूतकाल का चिन्तन करने से प्रियजन बिछोह की व्यथा होती है। उन्हें या उन परिस्थितियों को वापिस लौटाना किसी प्रकार सम्भव नहीं, फिर उनकी आकर्षक कल्पनाओं का भार सिर पर लादे रहने, मन को बोझिल बनाने से क्या लाभ ? यही बात भविष्य के सम्बन्ध में भी है। क्रमबद्ध योजनायें तो किसी के ही बनाये बनती हैं। अधिकांश मनोकामनाओं को साकार होते देखने वाले स्वप्न ही सिर पर चढ़े रहते हैं। उनके सही उतरने की सम्भावना नगण्य रहती है। फिर भी जो कार्य बन नहीं पड़ते, जिसके लिये साधन नहीं हैं, सामर्थ्य नहीं है, अवसर नहीं हैं, उन कल्पनाओं की ललक संजोये रहने से मन की उद्विग्नता ही बढ़ती है। मन को स्वच्छ रखने के लिये आवश्यक है कि भूत और भविष्य की कल्पनाओं का चिन्तन छोड़ा जाय और मात्र वह विचारा जाय जो वर्तमान के साथ जुड़ा हुआ है। जो व्यावहारिक एवं अपने कर्तृत्व के अन्तर्गत है। यह विचारणा सार्थक भी होती है और उपयोगी भी, साथ ही असंभाव्य ताने-बाने बुनने से नष्ट होने वाली शक्ति का अपव्यय बचाती है।

मन के बाद वचन का नम्बर आता है। वाणी व्यक्तित्व का दर्पण है। उसमें मात्र विधि निषेधों का ही संकेत नहीं होता वरन् स्वभाव-संस्कार, ज्ञान, विकास आदि का परिचय भी घुला रहता है। मधुर भाषण को एक जादू कहा गया है, जिससे पराये अपने बनते हैं। अपनी विनय और दूसरे का सम्मान, जब भी जहाँ भी जुड़ा हुआ होगा, वाणी का मिठास परिलक्षित होगा। सीमित, सारगर्भित, उद्देश्यपूर्ण, हितकर आदर्शों का पुट लगे हुये वचन जब कभी कहे जाते हैं तब अपने लिये भी शान्तिदायक होते हैं, दूसरे को भी प्रसन्नता देते हैं। ऐसा सम्भाषण शत्रुता घटाता और मित्रता बढ़ाता है। इससे सुनने वाले का भी हित साधन होता है और कहने वाले को भी सन्तोष मिलता है।

जिव्हा का एक कार्य सम्भाषण है। दूसरा उदर पोषण के लिये जो उपयुक्त है उसका चयन। स्वाद को यदि विकृत न किया जाय तो वह कुशल पर्यवेक्षक की तरह यह बताती है कि क्या खाया जाना चाहिये, कब खाया जाना चाहिये, कितना खाया जाना चाहिये। उसे कुशल चिकित्सक, स्वास्थ्य परामर्शदाता भी कह सकते हैं। जो स्वाद को विकृत नहीं करता, सात्विक, सौम्य और सीमित आहार का अनुबन्ध स्वीकारता है, उसका पाचनतन्त्र गड़बड़ाता नहीं, बीमारियों का त्रास नहीं भोगना पड़ता और अकाल मृत्यु नहीं मरना पड़ता। जिव्हा की स्वच्छता उसकी संयमशील-सुसंस्कारिता है। जो इस प्रकार जिव्हा को साध लेता है उसके वचन भी मधुर रहते हैं और स्वास्थ्य भी मर्यादा में रहता है। यही है वचन की या जिव्हा की स्वच्छता। इस ओर समुचित सतर्कता बरती ही जानी चाहिये।

मन, वचन, कर्म का त्रिक है। काम करने के लिये समय, विभाजन और उसका अनुशासन, अनुबन्ध आवश्यक है। जब जी में आया किया, जब मौज आई आलस्य, प्रमाद में फँस गये, मस्ती करने लगे, आवारागर्दी करने लगे। दूसरों की नकल करने या उनका आग्रह, अनुरोध सिर पर चढ़ा लेने से व्यक्ति ऐसे काम करने लगता है जिनका पीछे दुष्परिणाम भुगतना पड़े। कर्म की शुद्धता इसमें है कि जो भी किया जाय उसके सम्बन्ध में अपनी सामर्थ्य, साधन परिस्थिति को तौल लिया जाये और वही किया जाये जो वर्तमान में संभव और भविष्य में सुखद हो।

स्वच्छता के सन्दर्भ में इन्द्रियों का संयम, अनुशासन भी उतना ही आवश्यक है जितना

शरीर, वस्त्र, स्थान एवं उपकरणों को स्वच्छ रखना। नेत्रों में मोतियाबिन्द की तरह अदूरदर्शिता का भी समावेश होता है। दूसरों के धन पर, नारियों पर भी कुदृष्टि रह सकती है। न अनुचित उपार्जन का, अनावश्यक अपव्यय का स्वभाव बनने दिया जाय और न नारी को माता, भगिनी, पुत्री, के अतिरिक्त किसी हेय दृष्टि से देखा जाय। महिलाओं को रमणी, कामिनी, भोग्या की कुदृष्टि से देखने पर मन ही मलिन नहीं होता, दृष्टि भी दूषित होती है। प्रत्यक्ष लाभ तो कुछ होता नहीं। कुदृष्टि किसी के प्रति भी रखी जा सकती है। पर उपभोग में हजार प्रतिबन्ध हैं। जो सोचा जाता है वह किया नहीं जा सकता। ऐसी दशा में मन को मारने, रोकने का जो दबाव पड़ता है उससे चेतना का समूचा स्तर ही गड़बड़ाने लगता है। सभी जानते हैं कि जननेन्द्रिय का दुरुपयोग मनुष्य को खोखला बना देता है और मानसिक क्षमता का विकास रोककर उस क्षेत्र में कुत्सायें, कुंठायें भर देता है। मनुष्य विचारशील न रहकर शेखचिल्ली जैसी अनुपयुक्त कल्पनाओं की उड़ानें उड़ने लगता है। यों इन्द्रियाँ दस हैं पर इनमें कुमार्गगामी प्रायः नेत्र और जननेन्द्रिय ही अधिकतर होती हैं। जिव्हा भी इन्हीं दोनों की सहेली बनती है। हाथ-पैरों का दुरुपयोग तो आलसी-प्रमादी बनने या कुकर्मरत रहने में ही है।

सर्वतोमुखी स्वच्छता आत्मिक प्रगति के लिये नितान्त आवश्यक है। स्वच्छ दर्पण में ही चेहरा स्पष्ट दीख पड़ता है। बहिरंग और अन्तरंग की स्वच्छता ही आत्मदर्शन, ईश्वर-दर्शन में सहायक सिद्ध होती है।

घनिष्ठता-एकात्मता

सान्निध्य कितनी प्रभावी होता है, इसका प्रतिपादन कई उदाहरण देकर सिखाया, समझाया जाता रहता है। पारस को छूकर लोहे का स्वर्ण बन जाना—चन्दन के समीप उसे झाड़-झंखाड़ों का महकने लगना, कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर मनोवांछित फल पा लेना, अमृत पीकर जरा-मरण से छुटकारा पाना। जैसे उदाहरणों में यही बताया गया है कि सत्संगति का कितना प्रभाव होता है। स्वाति बूँदों का सान्निध्य प्राप्त करके सीपी का मोती उगलना, इसी प्रमाण श्रृंखला के अन्तर्गत आता है।

पति-पत्नी के दो शरीर एक मन होने की उक्ति इसी आधार पर सार्थक बनती है कि वे दोनों परस्पर अधिकाधिक घनिष्ठता बढ़ाते और एक-दूसरे के साथ घुलते-चले जाते हैं। माता का सर्वाधिक प्रभाव संतान पर पड़ने की बात के पीछे भी इसी तथ्य को प्रधान रूप से कार्यान्वित होते देखा जा सकता है। सत्संग की ही नहीं कुसंग की महिमा भी ऐसी ही है। "कोयले की दलाली से काले हाथ"—"साँप के पेट में पहुँचकर दूध भी विष बन जाता है," इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

जुड़वाँ बच्चों के बीच पाई जाने वाली असाधारण समता इस तथ्य को और भी अच्छी तरह प्रमाणित करती है। उनमें से अधिकांश के बीच न केवल रंग-रूप की समता पाई जाती है वरन् आकृति के साथ-साथ प्रकृति भी बहुत कुछ मिलती-जुलती है। न केवल प्रकृति मिलती है वरन् एक दूसरे के साथ असाधारण स्नेह सहयोग भी रखती है।

माता के पेट में एक साथ नौ महीने रहने और एक ही वातावरण में लगातार पलने के प्रभाव से उनके बीच ऐसा अदृश्य तालमेल भी बैठ जाता है कि वे एक-दूसरे की परिस्थितियों से प्रभावित होते और दूर रहते हुये भी परस्पर एक जैसे भाव-सम्वेदनाओं का अनुभव करते हैं। एक के कष्ट में दूसरा दुःखी और एक के सुख में दूसरा सुखी होते देखा गया है। यहाँ तक कि जन्म की तरह उनके मरण काल में भी बहुत ही कम अन्तर देखा गया।

यह एकता एवं घनिष्ठता का चमत्कार है। स्वार्थों और दुष्टता का व्यतिक्रम तो कहीं भी रस में विष घोल सकता है किन्तु सामान्य नियम यही है कि निकटतम घनिष्ठता से मनुष्य भी प्रभावित होते हैं आग की निकटता से गर्मी और बर्फ की निकटता से सर्दी का अनुभव होना सान्निध्य सम्पर्क के चमत्कारी प्रतिफल की ओर ही इंगित करता है। इस सम्बन्ध में जुड़वाँ बच्चों की घनिष्ठता विशेष रूप से दृष्टव्य है।

लन्दन में ग्रेटा और फ्रेडा दो जुड़वाँ भाई एक जैसी शक्ल-सूरत के थे। उनके देखने और

चलने का ढंग भी एक जैसा था। एक जैसा भोजन पसन्द करते और एक जैसे कपड़े पहनते। दोनों एक जैसा सोचते और एक जैसी दिनचर्या अपनाते। इतना ही नहीं दोनों में सम्वेदनात्मक एकता भी थी और दूर होने पर भी एक की मनःस्थिति दूसरे को प्रभावित करती।

वे उत्तरी इंग्लैण्ड के आट्यार्क स्थान में रहते थे। इनमें से एक को शान्ति भंग के आरोप में मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया तो दूसरा भी ठीक उसी तरह उद्विग्न पाया गया।

मनोविज्ञान विशेषज्ञ डेविड वेस्वरी ने दोनों की मनःस्थिति का गम्भीर अध्ययन किया। वे उन्हें "एक मस्तिष्क दो शरीर" कहते थे।

ऐसी ही एक घटना और भी है। दो लड़कियाँ बॉक्स और पैरिस एक साथ जन्मीं। १६ वर्ष की आयु में उन्हें वेस्टर्न यूनियन टेलीग्राफ कम्पनी में ऑपरेटर की नौकरी मिल गई। दोनों उसी कम्पनी में ४० वर्ष लगातार काम करती रहीं। दोनों ने शादियाँ तो कर लीं पर बच्चा एक के भी नहीं हुआ। उनमें से एक कॉम्स को १९७३ में मस्तिष्कीय नाड़ी विकार की बीमारी हुई। दूसरी अस्तताल उसे देखने जाया करती थी कि उसे भी वही बीमारी हो गई। कार्डेल के नर्सिंग होम में दोनों की मृत्यु एक साथ एक समय ही हुई। अस्तु, उन्हें दो खाँचे वाले ताबूत में रखकर एक साथ ही दफन भी किया गया।

जुड़वाँ बच्चे बहुधा एक जैसी आकृति के न सही, प्रकृति में समान पाये जाते हैं। उनमें न केवल गुण-स्वभाव ही एक जैसे होते हैं वरन् ऐसा भी पाया गया है कि परस्पर घनिष्ठता भी बहुत होती है। प्रकृतिगत साम्य भी असाधारण मात्रा में पाया जाता है।

जॉर्डिया के कार्डेस नगर में दो बच्चे एक साथ पैदा हुये। एक का नाम मार्गेट नीहम, दूसरे का फ्लोरेन्स नीहम। दोनों जीवन-भर साथ रहे। जहाँ कहीं भी जाते साथ जाते। साथ काम करते और साथ-साथ ही रहते। वे ८६ साल तक जिये। दोनों के बीच जन्म समय में भी दो घण्टे का अन्तर था और मृत्यु में वही ठीक दो घन्टे का आगा-पीछा हुआ। उनके जीवनकाल की घटनाओं में विचित्र साम्य था, जिसका कोई समाधान न्यूरो साइंटिस्टों के पास नहीं था।

मथुरा जिले के सहपऊ कस्बे में ६५ वर्ष पूर्व एक ही रात्रि को एक ही समय दो व्यक्ति जन्मे थे। वे जुड़वाँ तो नहीं पर पड़ौसी अवश्य थे। दोनों जीवनभर मित्र भी रहे। इनमें से एक का नाम था—बनवारी लाल दूसरे का श्रीराम। दोनों ही ब्राह्मण थे।

अचानक हृदय के दौरे से उनमें से एक की मृत्यु हुई। दूसरे ने कहा तो अब हमको भी चलना चाहिये। इतने में दूसरे को भी हृदय का दौरा हुआ और वह भी कुछ क्षणों के अन्तर से ही परलोक सिधार गया।

इसी प्रकार बिजनौर जिले के निकटवर्ती गाँव गिलाड़ा के दो जुड़वाँ भाइयों की मृत्यु भी एक घन्टे के आगे-पीछे से ही हो गई। वे जन्मे भी इतने ही अन्तर से थे। दोनों भाई पहलवानी करते थे और पचास वर्ष तक हृष्ट-पुष्ट जिये, कभी बीमार नहीं पड़े, पर कुछ ही घन्टे की आकस्मिक बीमारी से उनका स्वर्गवास हो गया।

जुड़वाँ बच्चों की आत्मा दो ही होती हैं, पर उनकी शारीरिक, मानसिक निकटता जब घनिष्ठता बन जाती है तो एक दूसरे के साक्षी बनकर रहते हैं। यह सिद्धान्त उन सभी पर लागू होता है। जो सच्चे अर्थों में घनिष्ठता स्थापित कर सकें। सच्चे अर्थों में मित्र साथी बन सकें। इन उदाहरणों से समष्टिगत चेतना की व्यष्टि में व्याप्त चेतन शक्ति की महत्ता सिद्ध होती है। आर्षग्रन्थों में वर्णित मान्यताओं को प्रमाणित ही करती है।

कामनाओं की पूर्ति या उनकी निवृत्ति

उपासना का माहात्म्य बताते हुये यह कहा जाता है कि उससे अनेक कठिनाईयों का निवारण होता है। यह भी कहा जाता है कि उपासना करने से प्रगति का पथ प्रशस्त होता है। उन्नति का द्वार खुलने का तात्पर्य आमतौर से भौतिक सफलता एवं सम्पदा, सम्पन्नता ही किया जाता है। साधारणतः सभी लोग

पूजा-उपचार इन्हीं दो प्रयोजनों के लिये करते हैं। मनोरथ पूर्ण होने पर ही भजन-पूजन की सार्थकता मानते हैं। इसमें कमी पड़ने पर उपासना विधान के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करते, इष्टदेव को गाली देते और उपचार में कोई कमी रहने, भूल होने की बात सोचते हैं। अधिकांश साधकों की मान्यता इसी स्तर की होती है।

इस सन्दर्भ में दूसरा प्रतिपादन यह है कि इस सृष्टि की समस्त व्यवस्था कर्मफल पर अवलम्बित है। ईश्वर अनुशासनप्रिय है। वह दूसरों को अनुशासन में रखता ही नहीं, स्वयं भी अनुशासन में रहता है। दूसरों से जिस व्यवस्था के पालन की अपेक्षा की जाती है, उसे विज्ञजन स्वयं भी पालन करते हैं। ईश्वर सबसे बड़ा विज्ञ और व्यवस्थापक है, वह स्वयं ही अपने नियमों को तोड़ेगा तो और कोई उन्हें क्यों पालेगा ?

कर्मफल मानव जीवन के साथ जुड़ा हुआ, सबसे महत्त्वपूर्ण अनुशासन है। पुरुषार्थ के बलबूते ही सफलतायें अर्जित की जाती हैं। पात्रता के आधार पर ही उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। ईश्वर कर्त्तव्यपरायणों को प्यार करता है। उसका विशिष्ट अनुदान इसी कसौटी पर कसकर किसी को दिया ज़ाता है कि उसमें आदर्शवादी प्रौढ़ता आई या नहीं। बच्चों को न तो बहुमूल्य वस्तुयें दी जाती हैं और न बड़े उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। ईश्वर के वरदान, अनुदानों की उपलब्धि. मानवी गरिमा को अक्षुण्ण रखने वाले और उदारमना परमार्थ-परायण ही पाते हैं।

इन दोनों प्रतिपादनों के बीच विसंगति लगती है। एक में उपासना के फलस्वरूप कष्टों की निवृत्ति और सफलताओं की बात कही गई है, और दूसरे में पात्रता और तत्परता को प्रमुखता दी गई। उपासक की मान्यता याचना और अनुकम्पा पर केन्द्रित रहती है। पात्रता का अभिवर्धन और पुरुषार्थ का उन्नयन उसकी दृष्टि में नहीं होता। देवता का अनुग्रह ही उसे अपेक्षित रहता है, अपनी आशायें इसी पर लगाये रहता है। इस आशा का आश्वासन भी उपासना का माहात्म्य बताने वालों ने दिया है, ऐसी दशा में प्रार्थना से कामना पूर्ति का सिद्धान्त सही माना जाय, या पुरुषार्थ के सहारे आगे बढ़ने का ? यह असमंजस आमतौर से साधना अपनाने वालों को हैरान करता रहता है।

इस असमंजस का समाधान बचपन और प्रौढ़ता की भिन्नता को समझते हुये किया जा सकता है। बालक माँगते रहते हैं, उनकी फरमाइशें क्षण-क्षण में उठती हैं। अभिभावक उनमें से कई पूरी करते और कई के लिये टाल-टूल की बहानेबाजी करते हैं। बच्चे का मन रखने और उत्साह बढ़ाने के लिये कुछ देना, दिलाना भी आवश्यक होता है। किन्तु जब वह महँगी वस्तुयें माँगता है तो अभिभावक सतर्क होते हैं, और बहाने बनाते हैं, क्योंकि उस आयु में बहुमूल्य वस्तुओं का सही उपयोग करने की क्षमता उसमें नहीं होती। मूल्यवान साधनों का दुरुपयोग होने से वे स्वयं नष्ट हो सकते और दूसरों के लिये संकट भी खड़े कर सकते हैं। माचिस और बारूद से छोटे बालकों को खेलने नहीं दिया जाता, न उनके हाथ में वह सम्पत्ति थमाई जाती है जो बड़े होने पर उत्तराधिकार में अनायास ही मिलने वाली है। अनुपयुक्त वस्तुयें पाने के लिये हठ करने वालों को कई बार झिड़कियाँ भी सहनी पड़ती हैं, और कई बार कान पकडे जाने की नौबत भी आ जाती है। इतने पर भी बालकों और अभिभावकों के सहज स्नेह और सतत् सहयोग में कोई अन्तर नहीं आता।

परब्रह्म परमात्मा समदर्शी, सर्वव्यापी और न्यायकारी है, उसके लिये अनुशासन ही सब कुछ है। कर्तव्य पालन से कम में उसे तनिक भी संतोष नहीं होता। जो व्यवस्था अपनाते हैं, वही उसके भक्त हैं। वरदान और अभिशाप वह देता तो है पर पूजा से प्रभावित होकर नहीं, स्तर और प्रयास की कसौटी ही उसके लिये सब कुछ होती है। न उसे मानोपमान की चिन्ता है न स्तवन, उपहार की। पात्रता और प्रखरता से ही उसकी दृष्टि में किसी की गरिमा बढ़ती है। उसी आधार पर उसके वे अनुदान मिलते हैं जिन्हें पाकर ईश्वर विश्वासियों को महामानव,

ऋषि, देवता एवं अवतार बनने का अवसर मिलता है।

द्वितीय प्रतिपादन जिसमें कर्म की प्रधानता को ही दैवी अनुकम्पा का आधार माना गया, वह परब्रह्म के सम्बन्ध में है। परब्रह्म अर्थात् विश्वव्यापी अनुशासन नीति और मर्यादा का अवलम्बन।

प्रथम प्रतिपादन देवताओं के सम्बन्ध में है। देव सत्ता परब्रह्म नहीं वरन् उसके प्रकाश से चमकने वाली मानवी दृश्य और अदृश्य सत्तायें समझी जा सकती हैं। चन्द्रमा में अपना प्रकाश नहीं है। वह सूर्य से ग्रहण करता और रात्रि के समय वितरित करता है। देवता होते तो जीवात्मा ही हैं। पर उनने अपनी विशेष स्थिति परब्रह्म के सम्पर्क से पाई होती है। उत्कृष्टता का अवगाहन, आदर्शों का परिपालन करने से कोई भी व्यक्ति देवात्मा बन सकता है और अपने स्तर के अनुपात में सिद्धियाँ पा सकता है। इन देवताओं को ही यह कार्य-भार सौंपा गया है कि वे बालकों की देखभाल करें और उनका उत्साह बढ़ायें। सामान्यतया ऋषियों, सिद्ध पुरुषों और महामानवों को ही देवता कहते हैं। वे अपने सम्पर्क में आने वालों को अनायास ही कुछ अनुदान देते रहते हैं। आग, चन्दन, पारस आदि की समीपता का प्रतिफल तत्काल देखा जाता है देवताओं का सत्संग भी प्रकारान्तर से अनुदान एवं वरदान बनकर ही बरसता है।

देवत्व का परिपोषण आदर्शवादी चरित्र निष्ठा के अभिवर्धन और उदार परमार्थ परायणता से होता है। इन दोनों के लिये हर देवमानव को सदा प्रयत्नशील रहना पड़ता है। जहाँ तपश्चर्या से वे सिद्धियों को उपार्जित करते हैं, वहाँ वरदान बाँटते रहने से उस कमाई को सार्थक भी बनाते हैं। दिव्य उपलब्धियों का आनन्द लिया जा सकता है उपयोग नहीं किया जा सकता। बेटी को वात्सल्य दिया जा सकता है, उसका उपभोग नहीं हो सकता। इसी तरह दिव्य सिद्धियों के सहारे ललक, लिप्सा पूरी नहीं की जा सकती, उन्हें परमार्थ में लगाना पड़ता है। जो उनके सहारे स्वार्थ साधेगा उनसे रूठकर वे अपने लोक को वापस लौट जाती हैं। देवता के लिये देना ही धर्म है।

मनोकामना पूर्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है वह निश्चित रूप से सिद्ध पुरुषों द्वारा प्रसाद वितरण के रूप में सहज उदारतावश दी जाती रहती है। उपासना की ओर प्रवृत्ति मोड़ने की दृष्टि से जनसाधारण को अमुक उपासना करके अमुक लाभ पाने की बात कहते रहते हैं। इस प्रक्रिया को ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसा बच्चों को पैसे का प्रलोभन देकर स्कूल भेजना। छोटे बच्चे उन स्कूलों में पढ़ने खुशी-खुशी चले जाते हैं जहाँ खेल-खिलौने और नाश्ते का प्रबन्ध होता है। जन-साधारण को कठिनाइयों से छुड़ाने पर मनोरथ साधने का लालच देकर हल्की-फुल्की उपासनायें बता दी जाती हैं। परोक्ष रूप से सिद्ध पुरुष अपना तप देकर उस प्रलोभन को पूरा कराते और साधना में उनकी निष्ठा जमाते रहते हैं देवताओं द्वारा मनोकामनाओं की पूर्ति के प्रतिपादन में सच्चाई इतनी भर है कि धरती के देवता मानवी करुणा से प्रेरित होकर जन-जन की सहायता करते हैं। बदले में इतना भर चाहते हैं कि उनकी प्रकृति सत्प्रवृत्तियों की दिशा में अभिमुख हो चले।

मनोकामना पूरी करने वाले देवता धरती पर रहते हैं। शरीरधारी होते हैं और सिद्ध पुरुष कहलाते हैं। इनसे बालकों को उपहार और वयस्कों को अनुदान मिलते रहते हैं अन्तरिक्ष के देवता तो दिव्य प्रेरणा देते हैं और जो उन्हें अपनाता है, उन्हीं को दिव्य क्षमतायें प्रदान करके उनका उपयोग विवेकपूर्वक करने और अभीष्ट सफलतायें पाने के लिये साधकों को स्वतन्त्र कर देते हैं। श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, सहयोग, सान्निध्य और अनुशासन अपनाने की प्रक्रिया को श्रद्धाञ्जलि कहते हैं। श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करने और वरदान पाने की प्रक्रिया वस्तुतः देव मानवों से सम्बन्धित है। अन्तरिक्ष के देवताओं की अनुकम्पा तो मात्र अन्तःक्षेत्र में उत्कृष्टता भरने तक का अनुग्रह करती है।

जिन दु:खी जनों की वे सहायता करते, जिनके लिये उन्नति का पथ-प्रशस्त करते हैं, उनके सम्बन्ध में यह भी देखते हैं, कि उनके चिन्तन एवं चरित्र में देवत्व की मात्रा बढ़ी या नहीं। यदि बढ़ती है तो वे इसे अपनी सफलता मानते हैं और आगे भी उन सत्पात्रों को अपने अनुदान देने का क्रम जारी रखते हैं। यदि देखते हैं कि जो दिया गया था उगा नहीं वरन् ऊसर भूमि में डाले गये बीज की तरह सड़-गल गया, तो फिर निराश होकर वे वहाँ से अपना हाथ खींच लेते हैं।

सिद्ध पुरुष अपना अहंकार न बढ़ने देने, पुण्य का विज्ञापन करके उसकी गरिमा गिरने न देने के उद्देश्य से यह प्रकट नहीं होने देते कि उनने अपनी संचित तप सम्पदा का महत्त्वपूर्ण अंश देकर किसी की सहायता की है। उसे वे यथासम्भव छिपाये ही रहते हैं। प्रकट यही होने देते हैं कि यह उपासना का चमत्कार है। छोटे बच्चे अपने खिलौने, कपड़े तथा उपकरण निजी वैभव को सौभाग्य मानने, पर यह भूल जाते हैं कि यह उनका उपार्जन नहीं, अभिभावकों का अनुदान है। दु:खों से निवृत्ति और सुविधाओं की उपलब्धि इतनी सस्ती नहीं है कि उन्हें छुट-पुट पूजा उपचारों के बदले नितान्त सरलतापूर्वक पाया जा सके।

सिद्धियाँ स्व उपार्जित हों अथवा किसी आधार के द्वारा उपहार में दी हुई, हर हालत में वे साधना के मूल्य पर ही उपलब्ध होती हैं। देवता उन्हें इसी मूल्य पर कमाते और उन्हें सार्थक बनाने के लिये परमार्थ में लुटाते हैं। उपासना अपनाये बिना उनकी उत्कृष्टता अक्षुण्ण कैसे रहती ? इसलिये हर देवता की नीति पिछड़ों को उठाने और बढ़तों को बढ़ाने की रहती है। मनोकामनाओं की पूर्ति में सामान्य उपासनाओं के द्वारा जहाँ भी सफलता मिल रही हो, समझना चाहिये कि किसी देवात्मा का अनुग्रह उसके पीछे काम कर रहा है। इस तथ्य को जो समझ सके उन्हें इसमें एक कड़ी यह जोड़नी चाहिये कि विश्व-व्यवस्था में अनुदान का प्रतिदान भी एक तथ्य है। अनुग्रह जिनने भी पाया है, उन्हें यह भी सोचना चाहिये कि इसे ब्याज समेत वापिस लौटाना है। मुफ्त में पाने और कृतघ्नतापूर्वक हजम करने की क्षुद्रता संसार में भी तिरस्कृत होती है। फिर अध्यात्म क्षेत्र में तो उसे मान्यता मिल ही कैसे सकती है ?

याचना और प्रार्थना एक बात नहीं है। उपासना के साथ कामना नहीं जुड़ सकती। देना एक बात है, पाना दूसरी। देने वाले का पुण्य और गौरव बढ़ता है। लेने वालों का गौरव गिरता है और ऋण बढ़ता है। देवता वैभव नहीं प्रकाश देते हैं। प्रकाश अर्थात् उत्कृष्टता से सम्पन्न दृष्टिकोण और साहस/कामनायें पूर्ण नहीं हो सकती हैं ये ईंधन डालने पर भड़कने वाली आग की तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हैं। अध्यात्म का प्रतिफल कामनाओं का परिमार्जन परिष्कार करना है, उन्हें भड़काना और सस्ते मोल में पूरी करते चलना नहीं। देवता आप्त काम होते हैं। उनकी कामनायें रहती ही नहीं, उनका स्थान भावनायें ग्रहण करती हैं। भावनायें तो अभावग्रस्त और कठिनाइयों से घिरे जीवन-क्रम में भी पूर्ण होती रहती हैं, जबकि कामना रावणों और हिरण्यकश्यप की भी पूरी नहीं हुई।

उपासना से कामना की पूर्ति होती है या निवृत्ति। इस प्रश्न को हर विचारशील सहज ही हल कर सकता है। देवता अनुदान देते हैं। देवत्व साधना से मिलता है। साधना मार्ग पर बढ़ने के लिये आरम्भिक उपचार उपासना से आरम्भ होता है। परब्रह्म से साधना की प्रेरणा मिलती है और साधना से देवत्व की उपलब्धि होती है। इसी के सहारे सच्चे साधक स्वयं पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचते और दूसरों को कंधे पर बिठाकर पार करते हैं। देवता प्राणधारी होते हैं और परब्रह्म व्यवस्था बनाते हैं जो इस तथ्य को समझ सकेंगे उन्हें प्रथम और द्वितीय स्तर के प्रतिपादनों में विभ्रम नहीं पूरक तथ्य का दिग्दर्शन होगा।

गायत्री उपासना—एक आवश्यक धर्म कर्तव्य

सद्बुद्धिदायिनी, एकमुखी; प्रथम स्तरीय गायत्री उपासना को भारतीय धर्म में प्रत्येक मनुष्य का एक अत्यन्त आवश्यक अनिवार्य नित्य-कर्म माना गया है। जिस प्रकार शौच,

स्नान, भोजन, शयन आदि नित्य-कर्म न करने से शारीरिक स्वास्थ्य सन्तुलन नष्ट होता है उसी प्रकार गायत्री उपासना के अभाव में उस सद्‌बुद्धि से भी वंचित रहना पड़ता है जो हमारे गुण, कर्म और स्वभाव को उच्चस्तरीय बनाने के लिये आवश्यक है। भौतिक समृद्धि और आत्मिक प्रगति के दो पहियों की गाड़ी पर ही हमारा सर्वांगपूर्ण जीवन विकास निर्भर रहता है। इसमें से एक अंग की उपेक्षा करने पर इसकी वही स्थिति हो जाती है जो लँगड़े, काने एवं शरीर में लकवा मारे हुये रोगी की होती है। मोटर का एक पहिया यदि चलते-चलते निकल पड़े तो उसके उलट जाने की दुर्घटना हो जायेगी। हमारी भौतिक समृद्धि तो बढ़ती जा रही है पर आध्यात्मिक स्तर गिरी-पड़ी स्थिति में ही बना हुआ है। ऐसी दशा में मोटर उलटने जैसी दुर्घटनाओं का दृश्य हमें अपने जीवनों में प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु जब यह गलती सुधार ली जाती है तो बिगड़े काम को बना लेने वाले बुद्धिमानों की तरह हम पुनः एक सुव्यवस्थित जीवन-क्रम को विकसित हुआ देखते हैं।

हमारा व्यक्तिगत अनुभव

हमें अपने व्यक्तिगत जीवन का प्रायः सारे का सारा ही समय गायत्री शोध, अन्वेषण और साधना करने में लगा देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस महाविद्या के सम्बन्ध में शास्त्रों में क्या लिखा है यह जानने के लिये प्रायः दो हजार प्रमुख धर्मग्रन्थों को पढ़ा है। पढ़कर उनका सार-संग्रह किया है। सम्पूर्ण भारत के कौने-कौने में इस विद्या के ज्ञाता, मनीषियों और साधना-संलग्न तपस्वियों की खोज की है, उनके चरण धो-धोकर उनके अनुभव का सार एकत्रित किया है। स्वयं भी अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण समय एकनिष्ठ भाव से उसी उपासना में लगाया है। इतने प्रयास का निचोड़ यह निकाला है कि गायत्री उपासना में लगाये हुये किसी भी व्यक्ति के, कोई क्षण निष्फल नहीं जा सकते। उसका कोई न कोई सत्परिणाम उसे मिलता ही है और वह निश्चित रूप से उससे कहीं अधिक होता है जितना कि उपासना में लगे हुये समय का मूल्य हो सकता है। हमारे सान्निध्य और सहचरत्व में जिन लोगों ने यह उपासना की है उनका भी ऐसा ही अनुभव है। आध्यात्मिक प्रगति की ओर हर साधक के कदम बढ़े हैं, चाहे वह कितने ही मन्द क्यों न रहे हों।

गायत्री उपासना का सीधा प्रभाव साधक की अन्तरात्मा पर सात्विकता की अभिवृद्धि के रूप में पड़ता है। उसके मन:क्षेत्र में समाया हुआ तमोगुण, असुरत्व, तत्क्षण घटना आरम्भ हो जाता है। अपने दोष-दुर्गुण देखने और समझने की क्षमता उसमें जागृत होती है, साथ ही कुकर्मों के प्रति घृणा करने और सत्कर्मों की ओर आकर्षित होने का स्वभाव भी अनायास ही बनने लगता है। बहुत पढ़ने और सुनने से भी जिन लोगों ने अपने ऊपर कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया था उनका मन इस उपासना के द्वारा स्वयं ही द्रवित हुआ है और उस आन्तरिक परिवर्तन के कारण बाहरी जीवन में आश्चर्यजनक हेर-फेर दिखाई देने लगा है। आत्म-सुधार की प्रक्रिया में गायत्री उपासना का इतना अधिक महत्त्व देखकर ही प्राचीनकाल में ऋषियों ने सम्भवतः इसे सर्व-साधारण के लिये एक अनिवार्य धर्म कर्त्तव्य घोषित किया था।

अन्त: प्रेरणा का विकास और प्रकाश

हमें अपने व्यक्तिगत सम्पर्क में आये हुये ऐसे हजारों व्यक्तियों का पता है, जिन्होंने गायत्री उपासना आरम्भ करने के बाद अपने विचार और कार्यों में कायाकल्प जैसा परिवर्तन किया। जो लोग माँस खाते थे, नशेबाजी की लत जिन्हें बुरी तरह घेरे हुये थी, शराब, गाँजा, भाँग, अफीम, चरस, तम्बाकू के जो गुलाम बने हुये थे, उनमें से किसी ने एकबारगी, किसी ने धीरे-धीरे इन्हें बिना किसी बाहरी दबाव या उपदेश के अपने आप ही छोड़ दिया। उनके भीतर से ही कुछ ऐसी प्रेरणा और घृणा उत्पन्न हुई जिसके कारण उन्हें इन सत्यानाशी दुर्व्यसनों को अनायास ही छोड़ देने का सुअवसर मिल गया। जुआ, सट्टा, चोरी, बेईमानी, रिश्वत,

मिलावट आदि के द्वारा भारी कमाई करने वाले लोगों में से कितनों ने ही इन बुराइयों को सर्वांश में अथवा बहुत अंशों में परित्याग कर दिया और गरीबी एवं सादगी का जीवन बिताते हुये कम खर्च में मितव्ययितापूर्वक हँसी-खुशी एवं सन्तोष का जीवन बिताने लगे। गायत्री को माता-माता पुकारते रहने पर कितने ही व्यक्तियों की भावनाओं का ऐसा विकास हुआ कि उन्हें नारी मात्र में माता की प्रतिमा घूमती हुई दिखाई देने लगी और पहले जो व्यभिचार और दुराचार की दिशा में मन दौड़ा करता था वह मार्ग बिल्कुल ही अवरुद्ध हो गया। अश्लील साहित्य पढ़ने, गन्दे चित्र देखने, गन्दी आदतों में अपना शरीर निचोड़ने की जिन्हें बुरी लतें लगी हुई थीं उनकी यह बुराइयाँ गायत्री उपासना के प्रभाव से बड़ी सरलतापूर्वक छूटती देखी गई हैं। चढ़ते खून के किशोर और नवयुवकों में ऐसे विचार बहुत करके देखे जाते हैं। हमारा सुनिश्चित मत है कि उनकी मानसिक स्थिति स्वच्छ करने में गायत्री उपासना जादू जैसा काम करती है।

स्नेह सौजन्य की अभिवृद्धि

जिन घरों में द्वेष, क्लेश, कलह और संघर्ष का वातावरण बना रहता था, परिवार के हर सदस्य को मन-मुटाव की स्थिति में देखा जाता था, उन घरों में गायत्री का प्रवेश हुआ, सब लोग थोड़ी-थोड़ी उपासना करने लगे, तो कुछ ही दिनों में परिस्थितियाँ ही बदल गईं। द्वेष का स्थान प्रेम ने ले लिया और सब लोग स्नेह सहयोगपूर्वक मिल-जुलकर रहने लगे। कितने ही ऐसे लोगों को हम जानते हैं जो आये दिन बीमार रखे रहते थे, कोई न कोई रोग उन्हें घेरे ही रहता था। शारीरिक कष्ट, अशक्तता, उपार्जन में असमर्थता और दवादारू में बढ़ते हुये खर्च के कारण उन्हें निरन्तर चिन्ता घेरे रहती थी, पर जब उन्होंने गायत्री उपासना आरम्भ की तो वह दवा उन सबसे अधिक अचूक सिद्ध हुई जो उनने बहुत पैसा खर्च करके खरीदी थीं। किसी भी अनुभवी डॉक्टर की अपेक्षा यह उपासना क्रम उनके लिये अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। कारण स्पष्ट है, गायत्री की उपासना से व्यक्ति के अन्तःकरण में सात्विकता और सद्बुद्धि का जो विकास होता है उससे आहार-विहार, आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान सभी कुछ बदलता है और उस परिवर्तन का प्रभाव शरीर, मन, धन, व्यवसाय, परिवार, समाज सभी पर पड़ता है। अपना व्यवहार नम्र, मधुर और सज्जनतापूर्ण हो जाने से लोगों के साथ बिगड़े हुये सम्बन्ध सुधरते हैं और शत्रुओं को मित्रों एवं सहायक के रूप में बदला हुआ पाया जाता है। अपना सुधार होने पर दूसरों का सुधरा हुआ व्यवहार उपलब्ध होना निश्चित ही रहता है।

अभाव एवं आपदाओं का समाधान

आर्थिक कठिनाई, सन्तान का अभाव, बीमारी, मुकद्दमा, शत्रुओं का प्रकोप, कुसमय, स्वजनों से मनोमालिन्य, प्रयत्नों में असफलता, आकस्मिक दुःख, द्वेष, दुर्भाव, चिन्ता, निराशा, शोक-संतापों में ग्रसित व्यक्तियों को गायत्री उपासना की सलाह मान लेने के लिये यदि कभी तैयार कर लिया गया है तो उसका परिणाम आशाजनक ही निकला है। प्रस्तुत कठिनाइयों का किसी न किसी मार्ग से आशा-जनक समाधान हुआ है। श्रद्धा, भावना की दृष्टि से विचार करने वाले इसे मन्त्रशक्ति या माता की कृपा मानते हैं, पर वास्तविकता यह है कि उनके अपने विचार व्यवहार में ऐसा हेर-फेर हो गया होता है जिसके कारण गुत्थियों के सुलझने और कठिनाइयों के हल होने का उपाय सहज ही बन पड़ता है। अशान्त और उद्विग्न मन रहने पर अपने विचार और कार्य अस्त-व्यस्त रहते हैं, उत्तेजित और असंतुलित मन यह सोच नहीं पाता कि प्रस्तुत कठिनाइयों का सही हल क्या हो सकता है। गायत्री उपासना के प्रभाव से जब आत्मबल बढ़ता है, सद्बुद्धि का प्रकाश अन्तःकरण में उत्पन्न होता है तो कठिनई को पार करने का उचित मार्ग सूझ पड़ता है। इतना ही नहीं उस पर चलने का साहस भी उत्पन्न होता है। उचित मार्ग अपनाकर मनुष्य संसार की बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को पार कर सकता है, बड़ी से बड़ी उलझनें सुलझा सकता है। फिर

छोटी-मोटी समस्याओं का हल होना तो कठिन ही क्या है ?

दिव्य विभूति की दिव्य-अनुभूति

सद्बुद्धि को कल्पलता कहा गया है। जिस मस्तिष्क में उसे स्थान मिल जायेगा, वहाँ पुष्प वाटिका जैसी महक उठती रहेगी और चित्त को आल्हादित करने वाली धारा प्रवाहित होती रहेगी। चन्दन का वृक्ष अपने आस-पास के पौधों को सुगन्धित बना लेता है। सन्तुलित मस्तिष्क चन्दन वृक्ष से बढ़कर है वह स्वयं तो शान्ति की सुगन्ध प्राप्त करता ही है, अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य अगणित मस्तिष्कों को भी सन्मार्गगामी बना देता है। गायत्री उपासना का प्रभाव मनः क्षेत्र को शान्त, स्वस्थ और प्रगतिशील बनाने में वही काम करता है जो वनस्पतियों के लिये वर्षा का जल किया करता है। कहते हैं कि 'नाग दमन' बूँटी की गन्ध पाकर वहाँ से साँप बहुत दूर भाग जाते हैं। कुविचारों और दुर्भावनाओं के साँपों को दूर भगाने के लिये गायत्री उपासना को एक उच्च कोटि की 'नाग दमन' बूटी कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। अनुपयुक्त कामनाओं को हटाकर चित्त को तृष्णा और वासना से रहित बना देना या सन्तोष उत्पन्न करने वाला वातावरण, जहाँ गायत्री उपासना उत्पन्न करती है वहाँ उचित आवश्यकताओं को पूर्ण करने योग्य आवश्यक साहस, प्रतिभा एवं सूझ-बूझ भी उसके द्वारा-उत्पन्न होती है। इस प्रकार अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति कुछ कठिन नहीं रह जाती। गायत्री को कामधेनु इसीलिये कहा गया है। इसका श्रद्धापूर्वक पयपान करने के उपरान्त कोई अतृप्ति शेष नहीं रह जाती।

आन्तरिक दुर्बलताओं और त्रुटियों के कारण ही मनुष्य का सांसारिक जीवन अभावग्रस्त, अविकसित एवं अशान्त रहता है। भीतर की कमजोरी ही बाहर दीनता और हीनता के रूप से दृष्टिगोचर होती है। आत्मघाती लोग ही इस संसार में तिरस्कृत, लांछित, घृणित, उपेक्षित और असफल रहते हैं। जिसके भीतर आत्मबल भरा होगा, जिसके अन्तर में प्रकाश उठ रहा होगा उसके बाह्य जीवन का प्रत्येक क्षेत्र आशा, उत्साह, स्फूर्ति, तेजस्विता और पुरुषार्थ से परिपूर्ण दिखाई देगा। भीतरी बल की आभा को बाहर प्रकट होने से कोई आवरण रोक नहीं सकता। गरीबी, अस्वस्थता एवं विपन्न परिस्थितियों में पड़े हुये होने पर भी मनस्वी व्यक्ति अपनी महानता की प्रभा फैलाते रहते हैं। ऐसे लोगों की दुर्दशा क्षणिक ही हो सकती है, चिरस्थायी नहीं। व्यक्ति का विकसित व्यक्तित्व ही वस्तुतः उसकी सच्ची सम्पत्ति सिद्ध होती है। यह सम्पत्ति जिसके पास मौजूद है उसे न तो दरिद्र कहा जा सकता है और न असफल। बादलों के टुकड़े चन्द्रमा को देर तक कहाँ छिपाये रहते हैं ? विपन्नता किसी मनस्वी व्यक्ति को दुर्दशाग्रस्त स्थिति में देर तक कहाँ पड़ा रख सकती है ? जहाँ आत्मबल होगा वहाँ कोई भी अभाव, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सांसारिक, अधिक समय तक टिक नहीं सकेगा। गायत्री उपासना मनुष्य के व्यक्तित्व, आन्तरिक स्तर और आत्मबल को बढ़ाती है, जिससे उसकी सुख-शान्ति और समृद्धि का मार्ग हर दिशा में प्रशस्त होता है।

उपासना एक आवश्यक धर्म कर्तव्य

हमारे नित्य-कर्म में जिस प्रकार स्नान, भोजन, श्रम-विश्राम आवश्यक हैं, उसी प्रकार गायत्री उपासना के लिये एक छोटा समय भाग नियत रहना चाहिये। सद्बुद्धि से बढ़कर और कोई सम्पत्ति इस संसार में नहीं। जब कि साधारण मूल्य वाली वस्तुओं के उपार्जन के लिये हम इतना श्रम करते हैं तो क्या हमें इस धरती की सबसे श्रेष्ठ-सम्पदा का उपार्जन करने के लिये कुछ भी समय न लगाने की हठ पर ही अड़ा रहना उचित है ? गायत्री के प्रथम स्तर जिसमें जप, अनुष्ठानों, बीज मन्त्रों और अमुक विधि-विधानों की आवश्यकता होती है। सर्वसाधारण के लिये सरल हैं। इनमें कोई भूल रहने पर भी हानि की सम्भावना नहीं रहती। थोड़ा करने या विधि-विधान की पूरी जानकारी न होने पर लाभ भले ही थोड़ा मिले पर हानि या प्रतिकूल फल की तो किसी भी दशा में

कोई आशंका नहीं रहती। मानव प्राणी में मानवता की विशेषता को बढ़ाने वाली इस अध्यात्म-विज्ञान सम्मत परम श्रेयस्कर प्रक्रिया को हममें से प्रत्येक को किसी न किसी रूप में अपनाना ही चाहिये। दैनिक जीवन का एक आवश्यक धर्म-कर्तव्य समझकर उसे अपने नित्य-कर्म में उचित स्थान देना ही चाहिये।

सकारोपासना के पक्ष में कुछ दलीलें

ईश्वर-उपासना दो रूपों में प्रचलित है—साकार तथा निराकार। निराकारवादी प्रायः साकार उपासना या मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं, पर वे यह भूल जाते हैं कि ऋषि-मनीषियों ने दोनों उपासना पद्धतियों का निर्माण मनुष्य के बौद्धिक स्तर की अनुकूलता के अनुरूप किया है। जिस व्यक्ति का बौद्धिक स्तर जितना ऊँचा है, उसे उसी ढंग की उपासना पद्धति का निर्देश गुरुजन देते हैं। जिस व्यक्ति का बौद्धिक विकास मध्य श्रेणी का है, शास्त्रों के स्वाध्याय से भी वह वंचित है, उसे यदि निराकार उपासना की दीक्षा दी जाय, तो उसे उस उपासना से कोई लाभ न होगा, क्योंकि उसकी अन्तःचेतना का इतना विकास नहीं हुआ है कि ईश्वर के वास्तविक निराकार तत्व को समझ सके। यदि एक निर्बल बौद्धिक स्तर वाले व्यक्ति से यह कहा जाये कि ईश्वर सर्वव्यापक है, परन्तु वह इन स्थूल नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होता, उसका कोई रंग-रूप नहीं है तो निश्चित रूप से उसकी बुद्धि ईश्वर के अस्तित्व को ही मानने से इन्कार कर देगी।

चूकि सामान्य बौद्धिक स्तर वाले व्यक्तियों के लिये अध्यात्म के सूक्ष्म तथ्यों पर ध्यानावस्थित होना कठिन होता है, इसलिये मानव-मनोविज्ञान के ज्ञाता ऋषियों ने प्रतीक पूजा की—मूर्ति-पूजा की प्रथा चलाई ताकि उस मूर्ति को माध्यम बनाकर वह उस अनन्त को साकार रूप में अपने सामने देख सकें। निराकार ब्रह्म का मानस चित्र बनाना सबके लिये सम्भव नहीं। यदि प्रतीकवाद या मूर्ति पूजा का आरम्भ न होता, तो आज विश्व की अधिकांश जनसंख्या नास्तिक होती, क्योंकि अशिक्षित और पिछड़े स्तर के जनमानस में ईश्वर के निराकार तत्व पर विश्वास ही न होता। केवल ईश्वर उपासना थोड़े से उच्चकोटि के विचारकों, तत्ववेत्ताओं और योगियों तक ही सीमित रह जाती और मानव जाति का आत्मिक विकास रुक जाता, धार्मिक सम्प्रदायों का निर्माण न होता और धर्म के व्यापक विस्तार के बिना समाज में घोर अनास्था और अव्यवस्था फैली होती।

देव प्रतिमा से, प्रतीक से साधक को यह विश्वास हो जाता है कि जिन गुणों से सम्पन्न ईश्वर को वह पाना चाहता है, अथवा जिन गुणों को अपने में विकसित करना चाहता है, वह मूर्ति उसके समक्ष उपस्थित है। ध्यान-धारणा के माध्यम से वह उसे अपनी अन्तःचेतना में बिठाकर एकाकार हो जाता है। ध्यान की परिपक्वता में पहुँचने पर उसे सब ओर उसी की छाया दिखायी देती है, वह अणु-अणु में समाया हुआ मिलता है, उसे अपने इष्ट के अतिरिक्त और कुछ दिखायी नहीं देता। यह वह अवस्था है जब प्रतीक पूजा के माध्यम से साधक का आत्मिक स्तर विकसित होने लगता है और वह सब प्राणियों में अपने प्रभु का ही दर्शन करता है और अपने में सबको पाता है। इस स्थिति तक पहुँचना ही उसका उद्देश्य होता है। यहाँ आकर उसकी प्रारम्भिक मूर्ति उपासना छूट जाती है और वह समस्त चलती-फिरती प्रतिमाओं को अपने ईश्वर का ही रूप मानने लगता है। जब उपासना का स्तर स्थूल से सूक्ष्म हो जाता है, तब वह निराकार तत्व की उपासना के योग्य होता है, क्योंकि स्तर की अनुकूलता में ही शक्ति के विकास का रहस्य निहित है। स्तर की प्रतिकूलता में अच्छे परिणामों की आशा करना असम्भव है। यह भी ठीक है, कि प्रतिमा पूजा से अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव नहीं, क्योंकि ईश्वर सूक्ष्म है और सूक्ष्म को प्राप्त करने के लिये, उससे एकाकार होने के लिये अपनी अन्तः चेतना को उतना ही सूक्ष्म बनाना होगा जितना कि वह है, अन्यथा अपने लक्ष्य में निराशा ही होगी।

वस्तुतः मूर्तिपूजा ईश्वर उपासना का आरम्भिक शिक्षा सत्र है। यह चित्त शुद्धि का, मानसिक परिष्कार का सरल साधन है। इसमें अपने इष्टदेव का ध्यान सुविधाजनक होता है। निराकार उपासना कष्टसाध्य है जैसा कि कृष्ण भगवान ने गीता १५/५-६ में निर्देश दिया है, कि जो सबके मूल, अचल, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य और नित्य अक्षर-ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोककर सर्वत्रसम बुद्धि रखते हुये करते हैं, वे भी मुझे ही पाते हैं। परन्तु उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनको क्लेश अधिक होते हैं, क्योंकि अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि साधक सब इन्द्रियों को जीतकर और सभी प्राणियों के प्रति सम बुद्धि को व्यावहारिक भावना बनाकर ही उस निराकार उपासना का अधिकारी बनता है। यदि आरम्भिक साधक के लिये सूक्ष्म और असीम की उपासना निर्धारित कर दी जाय तो वह अन्धकार में ही टटोलता रहेगा और भटक जायेगा। क्योंकि केनोपनिषद १/३ के अनुसार वहाँ न तो चक्षु पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है और न मन ही पहुँच सकता है। वह ज्ञात पदार्थों से भिन्न है और अज्ञात से भी परे है। ऐसी स्थिति में तत्ववेत्ता ऋषियों ने निश्चय किया कि सीमित बुद्धि वाले साधक सीधे असीम की उपासना नहीं कर सकते, वे सीमित मूर्तियों-प्रतीकों की उपासना करने से ही असीम तक पहुँच पायेंगे। ईश्वर या देव प्रतिमायें आस्था की, श्रद्धा-भावना कीं उन्नायक मानी गयी हैं और वे साधक की पवित्र भावनाओं को तद्देव तक पहुँचाती भी हैं। श्रद्धासिक्त भावना के उन्नयन से आत्मा का सम्बन्ध उस चैतन्य सत्ता से हो जाता है जो अणु-अणु में व्याप्त है।

इस तथ्य की पुष्टि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी की है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि रिलीजंस एटीच्यूड'' में मूर्धन्य मनीषी वुडवर्न ने लिखा है, कि मूर्ति का यथार्थ महत्त्व प्रतीकात्मक होता है और इसका प्रभाव विशेषतः ऐसे व्यक्तियों की चेतना पर पड़ता है जिन्होंने मानसिक प्रतिभाओं का प्रयोग करना नहीं सीखा है। अर्थात्— जिसका मासिक स्तर पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नाइट ने भी अपनी कृति "सिम्बॉलिकल लैंग्वेज ऑफ एनशियेण्ट आर्ट एण्ड माइथोलॉजी'' में कहा है कि मूर्ति-पूजकों का यह विश्वास था कि दैवी-सत्य, प्रतीक में छिपा रहता है, पहेली और कल्पित आख्यायिकाओं में प्रच्छन्न रहता है। यह निर्बल मानवीयता को समयानुकूल रखता है, बशर्ते कि यह ज्ञान और मूल दर्शन में प्रदर्शित हो।' इससे स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान भी इस मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि सामान्य मानसिक स्तर वाले व्यक्तियों के लिये प्रार्थना व पूजा के लिये कोई दृश्य चित्र या प्रतिमा की आवश्यकता अनिवार्य है।

मनोवेत्ताओं का कहना है कि जड़-पूजा तो मनुष्य का प्रकृति प्रदत्त स्वभाव है। जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा को वेदों में देवता कहा है, क्योंकि वह निरन्तर अपनी शक्तियों से हमें लाभान्वित करते रहते हैं। उनके बिना हमारा जीवन असम्भव है, इसलिये जड़ होते हुये भी हम उनकी पूजा, उपासना करते हैं। इन जड़ पदार्थों में स्वयमेव कोई शक्ति नहीं है। उस आद्यशक्ति के कारण ही इनमें प्राणप्रद गुणों का समावेश हो पाया है। ईश्वर निराकार है। वह स्थूल नेत्रों से दिखाई नहीं देता। उसके अनेकों दिव्य गुण हैं। वह गुणों का समुच्चय है और तद्नुरूप ही उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों के अनुसार आचार्यों ने उसे साकार रूप में ढाल लिया है। मूर्ति पर फूल चढ़ाते हुये यह कोई नहीं सोचता कि वह पत्थर की पूजा कर रहा है, वरन् यह भाव रहता है कि इसमें व्याप्त जो चैतन्य शक्ति है वह भी हमारी श्रद्धा की पात्र है। प्रतिमा की उपासना करने वाला जानता है कि वह उस सर्वव्यापी ईश्वर की ही उपासना कर रहा है। श्रद्धासिक्त इस पवित्र भावना से उसकी आत्मा का सम्बन्ध सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता से हो जाता है। मूर्ति साधक के विश्वास को बढ़ाती है कि यही ईश्वर है। विश्वास की पूर्णता ही उसे आदि विद्युतधारा से मिला देती है। इस मिलन से साधक को जो अपार

आनन्द की अनुभूति होती है, वही ईश्वर प्राप्ति की ओर बढ़ने का चिन्ह माना जाता है। सूक्ष्म तक स्थूल की सीधी पहुँच नहीं है। स्थूल को स्थूल का ही अवलम्बन लेना पड़ता है। अतः मूर्तिपूजा स्वाभाविक व प्राकृतिक है।

वेद स्वयं स्थूल उपासना का प्रतिपादन करते हैं। अग्नि उपासना से सम्बन्धित उनमें सैंकड़ों मन्त्र उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के श्लोक १/१४/४ एवं ४/४५/१ में उल्लेख है कि "अग्नि से परमात्मा प्रसन्न होते हैं। अग्नि उपासना के बिना मुक्ति की प्राप्ति असम्भव है।" इसी तरह अथर्ववेद ६/६५ में कहा गया है—'अग्नि उपासक के हृदय में परमात्मा का तेज प्रकाशित होता है। अन्य शास्त्रों में अग्नि को ब्रह्मरूप कहा गया है, परन्तु अग्नि तो जड़ है। उसके माध्यम से चैतन्य की प्रसन्नता प्राप्त करने में साधक कैसे सफल हो सकता है। अग्नि स्थूल पदार्थों को सूक्ष्म बनाकर देवताओं को अर्पण करती है। मूर्ति-पूजा भी साधक की पवित्र भावनाओं को उदात्त बनाकर इष्टदेव तक पहुँचाती है। इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि अग्नि उपासना वैदिक है तो मूर्तिपूजा भी वैदिक माननी पड़ेगी। वेद स्वयं मूर्तिपूजा का प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि उन्हें ईश्वर प्रदत्त माना जाता है। अनेक वेद-मन्त्र इसकी साक्षी देते हैं। अथर्ववेद ३/१०/३ में उल्लेख है—

"संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज।।"

अर्थात् "हे रात्रे ! संवत्सर की प्रतिमा। हम तुहारी उपासना करते हैं। तुम हमारे पुत्र-पौत्रादि को चिर आयुष्य बनाओ और पशुओं से हमको सम्पन्न करो।"

अथर्ववेद २/१३/४ में प्रार्थना है "हे भगवान ! आइये और इस पत्थर की बनी मूर्ति में अधिष्ठित होइये। आपका यह शरीर पत्थर की बनी मूर्ति हो जाय।"

प्रतिमा में शक्ति का अधिष्ठान किया जाता है। प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। सामवेद के ३६वें ब्राह्मण में उल्लेख है—

"देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति।

रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति।।

अर्थात्—देवस्थान काँपते हैं, देवमूर्ति हँसती, रोती और नृत्य करती है, किसी अंग में स्फुटित हो जाती है, वह पसीजती है, अपनी आँखों को खोलती और बन्द भी करती है।

'कपिल तन्त्र' में इस भाव की पुष्टि करते हुये कहा गया है—"जिस तरह गाय के सारे शरीर में उत्पन्न होने वाला दुग्ध केवल उसके स्तनों के द्वारा ही बाहर निकलता है, इसी तरह परमात्मा की सर्वव्यापक शक्ति का अधिष्ठान मूर्ति में होता है। इस तरह से साधक यह विचार करता है कि वह उस पत्थर निर्मित मूर्ति की उपासना नहीं कर रहा है, वरन् वह उस अनन्त शक्ति की पूजा कर रहा है जो उस मूर्ति में विद्यमान है। बाह्य दृष्टि से दिखाई देता है कि वह प्रतिमा की पूजा कर रहा है परन्तु वास्तव में तो वह उस सर्वव्यापी शक्ति की उपासना कर रहा होता है।

आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है। साधक के भक्ति, विश्वास और पूजा की शक्ति को यदि विषम-शक्ति मानें और ईश्वर की शक्ति को सम तो निश्चय रूप से साधक की विषमशक्ति परमात्मा की समशक्ति को मूर्ति के माध्यम से आकर्षित कर लेती है। विषम और सम शक्तियों के मिलन से ही विद्युतधारा का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है और प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इसी तरह से साधक की अन्तः चेतना भी जगमगा उठती है।

मूर्तिपूजा-प्रतीक उपासना के पीछे एक सुदृढ़ मनोविज्ञान काम करता है। मनोविज्ञानी भी मूर्ति की आवश्यकता को अनुभव करते हैं और मानते हैं कि असीम ही सीमित होकर प्रदर्शित होता है। सुविख्यात मनोविज्ञानी कार्लाइल के अनुसार वास्तविक प्रतीक में जिसे ऐसा सम्बोधन किया जाता है, सदैव स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से असीम का रहस्योद्घाटन होता है। इसमें निराकार का संयोजन साकार में होता है जिससे वह दृष्टिगत हो सके और

प्राप्त हो सके। विद्वान अर्बन ने भी अपनी कृति—"लैंग्वेज एण्ड रियलिटी" में प्रतिमा उपासना के लाभों का विवेचन करते हुये लिखा है कि धार्मिक प्रतीक या प्रतिमायें सीमित और अन्तरदृष्ट्यात्मक सम्बन्धों से उद्भूत की गयी हैं। इनसे ऐसे तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है जो अधिक सार्वभौम और आदर्श सम्बन्धों के लिये हैं, जिनकी अभिव्यक्ति विस्तार अधिक होने से और आदर्शवादिता के कारण सीधे नहीं की जा सकती। अन्यान्य मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुये लिखा है—भारतीय मन्दिरों में शिव, विष्णु, बुद्ध, महावीर आदि की मूर्तियाँ आदर्श को स्थूल रूप देनें के उद्देश्य से स्थापित की गयी हैं। सूक्ष्म रूप में बिना दृश्य वस्तु के, जो इनका प्रतिरूप है, कल्पना करने पर आदर्श, अस्पष्ट रह जाता है। उदाहरण के लिये जैन धर्म में २४ तीर्थकरों का पूजन मूर्ति रूप में इस कारण प्रचलित नहीं है कि यह मूर्तियाँ ईश्वर के रूप में हैं, क्योंकि जैनधर्म में ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है। वस्तुतः वे आदर्श की प्रतीक हैं, जहाँ पहुँचना व्यक्ति का लक्ष्य होता है। स्थूल प्रतीक की यही महत्ता है।

मनोवैज्ञानिकों का दृढ़ मत है कि मूर्ति पूजन की प्रथा इसलिये चली कि इनसे प्रेरणा मिलती है और उस प्रेरणा के साथ शक्ति और विश्वास छिपा रहता है। जिस किसी अवतार, देवता या महापुरुष की साधक पूजा करता है, उसके साथ उसके जीवन की महानतायें या तत्सम्बन्धी कथायें अवश्य जुड़ी रहती हैं। प्रतिमा के सामने आते ही वह सभी दृश्य नेत्रों के सामने तैरने लगते हैं और साधक उस महान् विभूति से अपने को संबन्धित करके उसकी महानताओं और विशेषताओं से अपने मन-मन्दिर को जगमगाता सा अनुभव करता है। तादात्म्य हो जाने पर अपनी अन्तरात्मा को वह परमात्मा चेतना से एकाकार कर देता है। साधक का तद्रूप बनना उसकी भावना पर निर्भर करता है। मूर्तिपूजा से जीवन-निर्माण की सूक्ष्म प्रक्रिया आरम्भ होती है, जो साधक को उच्च कक्षा में ले जाती है। इस तरह प्रतीक पूजा लाभप्रद ही नहीं, बुद्धिसंगत भी है।

ईश्वर को साथी बनाकर सफल जीवन जियें

सच्चा साथी प्यार करता है, सलाह देता है तथा सुख-दुख में सहयोग भी देता है। इसके अलावा वह शक्ति और सुरक्षा भी दे और प्रत्युपकार की जरा भी अपेक्षा न रखे तो वह सोने में सुहागा हो जायेगा। ईश्वर ऐसा ही साथी है।

ईश्वर को जिसने जीवन का सहचर बनाया उसे सन्त ज्ञानेश्वर की तरह पूरा विश्व अपना ही घर लगता है। सामान्य मानव संकट में, विफलता में कहता है कि दुनियाँ में राम कहीं नहीं है। परन्तु ईश्वर को मित्र बनाने वाले को लगता है कि दुनियाँ में राम के अलावा कुछ भी नहीं है। उसे इस बात का विश्वास होता है कि विश्व का सारा ऐश्वर्य उस परमात्मा के नाम मंगलसूत्र के रूप में विश्व ने धारण किया है। यह धारणा मन में दृढ़ हुई तो उसको ईश्वर के साथ मित्रता का पूर्ण लाभ मिलता है।

किसी के घर के आँगन में धन गढ़ा हो परन्तु उसको इस बात का पता ही न हो तो वह गरीबी का ही अनुभव करता रहेगा और चिन्ता, उलझनों में डूबकर समस्याओं का सामना करने में जिन्दगी बिताता रहेगा। यदि एक बार उसको उस धन का पता लग जाय तो मन में आत्मविश्वास जागृत होगा। सघनता का, समृद्धि का यह विश्वास और सहारा उसके जीवन के दृष्टिकोण को ही बदल देगा। ईश्वर उस गढ़े हुये धन की तरह है। उसके सान्निध्य का अनुभव आदमी की जिन्दगी की दिशा ही बदल देता है।

मित्र माँ की तरह होता है। बालक के सामने से माता ओझल हुई तो वह सशंक, भयभीत नजर से इधर-उधर देखता है, परन्तु माता के नजदीक होने का विश्वास मन में

आते ही वह प्रसन्नता से खिलता है, स्वयं को सुरक्षित अनुभव करने लगता है। जिसने ईश्वर को साथी माना वह इसी विश्वास से चलता रहता है। उसमें साहस जागृत होता है, फिर विजयश्री कैसे दूर रह सकेगी ? **'साहसे श्रीः प्रतिवसति ।'**

जो ईश्वर को भूलता है उसे हमेशा अकेलापन अनुभव होता है। जिन्दगी का सारा बोझ अपने ही कन्धे पर उठाकर थकावट आने लगती है, साहस जबाव देने लगता है। आशा और विश्वास क्षीण होने लगते हैं और आपत्तियाँ सामने आने पर भय और आशंकाओं से पैर लड़खड़ाने लगते हैं। ऐसी अवस्था में भी यदि उसने अनन्य भाव से ईश्वर को पुकारा तो वह निरपेक्ष मित्र सहायता के लिये आ पहुँचता है। तो फिर क्यों न अर्जुन की तरह अपने उस परम मित्र और हितचिन्तक के हाथ में अपने जीवन-रथ की बागडोर दी जाय ?

ईश्वर को साथी बनाने में अनन्त लाभ हैं। अपना बल, साधना यदि कम पड़ने लगें तो अपने साथ अनन्त शक्ति एवं साधनों का भण्डार है, यह विश्वास बड़ा ही प्रेरणादायक होता है। इससे उमंग और उत्साह बढ़ जाते हैं और निराशा का कभी अनुभव ही नहीं होता। ईश्वर को अपना चिरसाथी मानने से दुर्जन परिस्थितियों में भी मन डगमगाता नहीं। राणा ने इतना विरोध किया, विष का प्याला भी दिया तो भी मीरा जरा भी विचलित नहीं हुई।

जीवन एक संग्राम है और विगत-ज्वर होकर ही उसका डटकर सामना करना पड़ता है। यह भावना तभी दृढ़ होती है जब ईश्वर की मित्रता का मन में विश्वास होता है। फिर थकावट नहीं लगती और मन को विश्राम मिलता है। रेलगाड़ी में स्थान सुरक्षित करने पर सफर में विश्राम किया तो भी मंजिल पर पहुँचने का अटल भरोसा रहता है क्योंकि चलाने वाले की कुशलता तथा सम्पूर्ण सहयोग पर अपना दृढ़ विश्वास रहता है। परन्तु स्वयं अपने पर ही सब जिम्मेदारी लेकर, अपनी ही कार में अकेला बैठकर पूरा बोझ उठाया तो थकावट आने लगती है और 'कोई कुशल साथी होता तो कितना अच्छा होता' यह विचार बार-बार मन में आता है।

ईश्वर को अपना निकटतम साथी बनाने में एक और लाभ है। कभी रास्ता भूलकर भटक जाने का सवाल ही नहीं उठता। जिसे कोई बताने वाला ही नहीं होता या हो भी तो बताने वाले की बात पर विश्वास नहीं होता, वही भटक सकता है। योग्यायोग्य विवेक के रूप में अपने अन्तरात्मा में सदैव निवास करने वाला यह निजी दोस्त हमेशा प्रेरणा देता रहता है और **"यतो देवस्ततो जयः।"**

जो ईश्वर को साक्षी मानकर अच्छे-बुरे का विवेक करता है वह निर्भय बनता है। डर उसके पास भी नहीं आता। उसे इस बात का पता होता है कि यह संसार एक पुण्य उपवन है। यहाँ तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भरा है। महाराष्ट्र के पुण्य पावन तीर्थ स्थान पंढरपुर में विट्ठल की मूर्ति कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़ी है। इसका मतलब बताते हुये तुकाराम महाराज कहते हैं कि ईश्वर यह विश्वास दे रहा है—"जो उस पर दृढ़ श्रद्धा रखेगा और उसको अपना परम साथी मानेगा उसके लिये यह भवसागर केवल कमर तक ही गहरा है। उसको डरने का कोई कारण नहीं।

इतनी दृढ़ श्रद्धा रखने वाला सुख और दुख दोनों में अपना सन्तुलन बनाये रखता है। यह ईश्वर की मित्रता का एक और लाभ है। जिस तरह पूर्व दिशा में सूरज उगते समय तथा डूबते समय भी लाली दिखती है उसी तरह सुख-दुःख में, जय-पराजय में, आशा-निराशा में ईश्वर का स्नेह एकरूप ही रहता है। उसकी हिम्मत कभी हारती ही नहीं।

ईश्वर को कोई मित्र मानें या न मानें वह तो सबके प्रति स्नेह की भावना रखता है। वह हारे की हिम्मत है, टूटे की ताकत है, बिगड़े हुये का श्रृंगार है और पापी की पुकार भी है। रोने वाले के आँसू भी वही है और गाने वाले

की तान भी वही है। ऐसे महान् को अपना परम मित्र मानकर, सूर्य की किरणों की तरह वह अपने जीवन में पूर्णतया छाया है, इस अनुभूति का आनन्द लेने से ही उसका पता लग सकता है।

ईश्वर की उपेक्षा करने से, जीवन की सन्ध्या में 'बार-बार तू आया, पर मैंने पहचान न पाया' ऐसे उद्‌गार निकालने से बचना हो तो इस मित्र को अपनाने में ही बुद्धिमत्ता है। उसका मित्रता का हाथ हमेशा ही आगे है, उस हाथ में अपना हाथ दिया तो यश और श्री के होने में तिल मात्र भी सन्देह कैसा ? स्वर्ग-मुक्ति का परम लाभ भी इस समर्पण वृति के साथ ही जुड़ा हुआ है।

आत्म साक्षात्कार के लिये जप भी, तप भी

एम० ए० की परीक्षा देने के लिये यह आवश्यक है कि पढ़ाई का प्रारम्भ कक्षा 'एक' से हो। वर्णमाला सीखे बिना अगली कक्षाओं में प्रवेश पाना कठिन होता है। एम० ए० पास छात्र को यह आवश्यकता भले ही न हो किन्तु यह निश्चित है कि पूर्व में क, ख, ग, का अभ्यास किये बिना कोई अन्तिम श्रेणी तक नहीं पहुँच सकता है।

रेल का ड्राइवर पहले प्रशिक्षण केन्द्र में रहकर गाड़ी चलाना सीखता है। हवा में उड़ने वाले पाइलट पहले धरती में जहाज चलाना सीखते हैं फिर क्रमशः ऊँची उड़ानों के लिये तैनात किये जाते हैं। कच्चा सिपाही जब तक युद्ध कला का भली भाँति प्रशिक्षण प्राप्त नहीं कर लेता तब तक 'रंगरूट कहलाता है। सिपाही बनने का सौभाग्य प्रारम्भिक स्थिति को कुशलता- पूर्वक पार करने और आगे की स्थिति का सही अनुभव मिल जाने पर ही उपलब्ध होता है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रमिक विकास का सिद्धान्त कार्य करता है। ऐसा नहीं होता कि कोई मनुष्य पहले, बुड्‌ढा होकर जन्म ले फिर बालक बन जाय और अन्तिम अवस्था में नवयुवक हो जाय। उदय से अस्त तक एक क्रमिक ढलान होती है। उसके अनुसार बर्ताव करने पर ही सुविधापूर्वक किसी लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

माता-पिता बालक को पहले घुटनों चलना सिखाते हैं। फिर उसकी एक उँगली पकड़कर चलाते हैं। जब बच्चा इस योग्य हो जाता है कि वह स्वतन्त्र होकर चल-फिर सके तभी माता-पिता उसे बाहर जाने की अनुमति देते हैं। इसके पूर्व तो उसकी यात्रा गोद में, या किसी अन्य वाहन के माध्यम से ही होती है।

विद्यार्थी को प्रारम्भ में ही बी० ए०, एम० ए० की पुस्तकें सौंप दी जायें, तो वह उन्हें केवल खेलने की वस्तु समझेगा। ड्राइवर को किसी पूर्व प्रशिक्षण के बिना मोटर चलाने को दे दी जाय तो वह एक ही दिन में सैंकड़ों दुर्घटनायें कर बैठेगा। बच्चे को जन्म के एक साल बाद ही एक मील की यात्रा सौंप दी जाये, तो वह बालक के बूते पूरी न हो सकेगी। प्रारम्भिक भार से कितनी ही सरल साधना क्यों न हो, वह कर्त्ता को दबा देगी, ऊँचे उठाने के बजाय नीचे गिरा देंगी।

आत्म-साक्षात्कार की साधना का अभ्यास भी क्रमिक पद्धति से होता है। सर्वप्रथम पूजा में जप करना बताया जाता है। कई व्यक्ति इसे अनावश्यक, उपहासास्पद एवं काल्पनिक मानते हैं किन्तु आत्म-साक्षात्कार के लिये जप प्रारम्भिक शर्त है। उसके बिना ऊँची कक्षा में प्रवेश पाना कठिन पड़ता है।

जप साधना की पूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रिया है। शुरू-शुरू में यह बताया जाता है, कि अमुक चित्र का, गायत्री माता या भगवान राम के चित्र का दोनों भौहों के बीच ध्यान किया करो। उस ध्यान में इष्ट का साक्षात्कार भले ही न होता हो पर आत्म-विवेचन की, विचार-मन्थन क्रिया उसी समय से प्रारम्भ हो जाती है। जापक का मन पहले-पहल इधर-उधर दौड़ता है तो मन में विचित्र स्थिति उत्पन्न होती है। वह एक वस्तु को संदिग्ध रूप से

देखने लगता है। हर वस्तु पर विचार की स्थिति का उदय होता है। यह वृक्ष कैसे उगा, पहाड़ कैसे बन गये, नक्षत्र क्या है, सूर्य क्या है, शरीर कैसे बना, इसका उद्देश्य क्या हैं, भावनायें कहाँ से उठती हैं, भोगों की इच्छा क्यों होती है—आदि अनेकों प्रकार के भाव-भ्रमर मस्तिष्क में उठते हैं और वस्तुस्थिति जानने की आकुलता पैदा करते हैं। इस प्रकार की जिज्ञासा का जन्म होना कक्षा एक की पढ़ाई है। आत्म-साक्षात्कार की भूमिका वस्तु और संसार के प्रति कौतूहल का भाव पैदा होना होता है। जप इस प्रथम कक्षा के लिये उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है।

आत्मा की अनेक शक्तियों में मन का बल सबसे अधिक है। मन इन्द्रियों का शासनकर्त्ता है। प्राण-वेधन और आत्म-साक्षात्कार की साधनायें मन को पकड़कर ही की जाती हैं इसलिये ध्यान की प्रक्रिया अत्यन्त आवश्यक है। ध्यान से मन की एकाग्रता बढ़ती है और मनुष्य लक्ष्यवेध के लिये तैयार होता है।

निग्रहीत मन में वह शक्ति और क्षमता होती है कि उसे जिस कार्य में प्रयुक्त किया जाय उसके अनेक गुण-दोष अपने आप स्पष्ट होने लगते हैं और जिस दिशा में उसे मोड़ दिया जाता है उसका और उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार का ज्ञान ऐसे उपलब्ध करा देता है जैसे कोई दैवी शक्ति अन्तःकरण में संकेत द्वारा सारी स्थिति स्पष्ट करती चलती हो।

जप का अर्थ है कि मनुष्य विभिन्न दिशाओं में भटकते हुये मन को एक स्थान में एकाग्र करे और उसकी शक्ति को समेटकर रखे ताकि आगे का प्रयोजन सफलतापूर्वक पूरा होता चला जाय। यह ऐसे ही है जैसे रेलगाड़ी चलाने के पूर्व ड्राइवर उसमें भाप की पर्याप्त मात्रा पैदा कर लेते हैं। आत्म-साक्षात्कार की यात्रा के लिये भी निग्रहीत मन की शक्ति जरूरी है और उसकी एकमात्र प्रक्रिया ध्यान भी इस दृष्टि से परम आवश्यक है।

जप से किसी वस्तु को गहरी दृष्टि से देखने का अभ्यास होता है। हम प्रतिदिन अनेकों ऐसे दृश्य देखते हैं जो मनुष्य जीवन पर विचार करने की तीव्र प्रेरणा देते हैं। चूँकि घटनाओं के प्रति मनुष्य की दृष्टि बिलकुल उथली होती है इसलिये यह घटनायें भी किसी उपयोग में नहीं आतीं पर जप का साधक प्रत्येक वस्तु को बड़े ध्यान से देखता है और 'ऐसा क्यों हुआ ?'' यह प्रश्न कर स्वयं ही उसका उत्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस जानकारी के लिये तीव्र बेचैनी उत्पन्न करना वस्तुतः जप द्वारा तपाये मन का ही कार्य होता है।

उदाहरणार्थ, एक मनुष्य का शव देखकर वह सोचता है यह मनुष्य क्यों मरा, कैसे मरा ? मर कर इसका क्या हुआ, मुझे भी जब मृत्यु आयेगी तो मेरी कैसी स्थिति होगी ? आदि-आदि। इस दीर्घ दृष्टि के उदय होने पर तीव्र बेचैनी उत्पन्न होती है। सांसारिक भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने का यह प्रमुख साधन है। बुराईयों से हटकर ज्ञान की खोज का यह असामान्य तरीका है।

आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में दुष्प्रवृत्तियाँ सबसे अधिक बाधक हैं। तपश्चर्या का उद्देश्य मनुष्य को शील स्वभाव, सहृदय और सद्प्रवृत्तियों में रुचि लेने वाला बनाना होता है। इच्छाओं का स्वेच्छापूर्वक दमन करना सीख जाय तो पग-पग पर आने वाले इन्द्रिय प्रलोभनों से वह बच सकता है। तपश्चर्या से इन्द्रियाँ वशवर्ती होती हैं और विषयों पर मनुष्य का स्वामित्व होता है। आत्म-कल्याण के लिये यह स्थिति बहुत जरूरी है।

मनुष्य के जीवन में तप शक्ति का स्रोत माना जाता है। तपश्चर्या द्वारा मनोनिग्रह के साथ ही साथ शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल बढ़ता है। शक्ति का संचय जितनी द्रुतगति से होगा, आत्म-विकास की प्रक्रिया भी उतनी ही शीघ्रगामी होगी।

शास्त्रकार ने कहा है **''दिव्य मारुहत तपसा तपस्वी।''** अर्थात् तप करो, बिना तप किये हुये आत्म-दर्शन नहीं हो सकता है। तप का महत्त्व भारतीय संस्कृति में इसीलिये अत्यधिक है कि उससे सुषुप्त शक्तियों का विकास होता है।

जप और तप की महिमा का शास्त्रों में भंडार भरा पड़ा है। दोनों का महत्त्व एक-दूसरे में बढ़-चढ़कर बताया गया है। दोनों ही आत्म-साक्षात्कार के दो आवश्यक अंग है। यह यज्ञ के समान बताये गये हैं और आत्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इनका अभ्यास आवश्यक बताया गया है।

जप मनोनिग्रह के उद्देश्य के लिये और तप शक्तियों के जागरण के लिये। इस प्रकार की स्थिति बन जाय तो आत्म-कल्याण की उच्च कक्षाओं में अग्रसर होना आसान हो जाता है। साधना की बढ़ती हुई कठिनता के अनुरूप शक्ति और सामर्थ्य, जप और तप द्वारा पूरी होती है। साधना की इस वैज्ञानिक पद्धति को छोड़कर कोई भी व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकता।

इसलिये यह नहीं मानना चाहिये, कि जप और तप व्यर्थ की बातें हैं, वरन् उनका प्रभाव मनुष्य जीवन पर तत्काल परिलक्षित होता है और उस प्रभाव के क्रमिक विकास द्वारा वह आत्म-साक्षात्कार की स्थिति तक जा पहुँचता है।

इस क्रम में और भी अनेकों प्रकार की साधनायें प्रयुक्त होती हैं, किन्तु उनका मूल जप और तप है। इन दो पहियों के सहारे ही आत्म-विकास की यात्रा पूरी होती है इन्हें लक्ष्य वेध का मुख्य अंग मानकर अपनाना चाहिये।

आत्मिक प्रगति की तीन अविच्छिन्न साधनायें

आत्मिक प्रगति के त्रिविध कार्यक्रमों में (१) उपासना (२) साधना (३) आराधना तीनों का समान महत्त्व है। कारण शरीर-अन्तःकरण की भावश्रद्धा उभारने के लिये उपासना की अनिवार्य आवश्यकता है। सूक्ष्म शरीर में गुण, कर्म, स्वभाव की चिन्तनपरक उत्कृष्टता का अभिवर्धन जिस आधार पर होता है, उसे सुसंस्कारिता की साधना कहते हैं। आराधना वह है जिसमें श्रम-समय को व्यवस्थित दिनचर्या के अन्तर्गत इस प्रकार ढाला जाता है जिसमें शरीर यात्रा परिवार व्यवस्था के अतिरिक्त लोक-मंगल के लिए अनुदान प्रस्तुत करने की भी कहने लायक समावेश हो। प्रज्ञा परिजन उत्कर्ष की सर्वतोमुखी आवश्यकता पूर्ण करने के लिये इन तीनों को ही समान महत्त्व देंगे और इस प्रकार की जीवनचर्या निर्धारित करेंगे, जिसमें आत्मकल्याण का स्वार्थ और लोकमंगल का परमार्थ दोनों ही समान रूप से संधते रहें। अन्न-जल और वायु जिस प्रकार शरीर को जीवित रखने के लिये आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मा को बलिष्ठ बनाने, आत्मबल संग्रह करने के लिये इस त्रिविध प्रयोजनों की पूर्ति समूचा मनोयोग और प्रयास नियोजित करते हुये की जानी चाहिये।

उपासना के क्षेत्र में नैष्ठिकता अपनाने पर जोर दिया जाता रहा है। युग संधि महापुरश्चरण के अन्तर्गत अदृश्य वातावरण के परिशोधन का अभूतपूर्व धर्मानुष्ठान पिछले दिनों से विधिवत् चल रहा है। उसमें जो लोग अभी तक कारणवश सम्मिलित नहीं हो सके हैं, उन्हें अब उसमें भागीदार बन जाना चाहिये। अब तक पाँच माला गायत्री जप, गुरुवार को दो घंटे का मौन, अस्वाद व्रत, ब्रह्मचर्य, मासिक यज्ञ का अनुबन्ध चलता आ रहा है। उसमें अधिक लोगों को भागीदार बनाने की दृष्टि से कुछ और सरलतायें कर दी गई हैं। न्यूनतम पाँच माला के स्थान पर अब थोड़ी और ढील देकर तीन माला करने वालों को भी उस भागीदारी में सम्मिलित करने का निश्चय किया गया। साप्ताहिक तप-साधना में गुरुवार के ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता तो यथावत् रहेगी पर उपवास में इतनी ढील और छोड़ दी जायेगी कि जो अस्वाद व्रत न निभा सकें वे एक समय भोजन का अर्ध उपवास कर लिया करें। शाम को निराहार रह सकना न बन पड़े तो शाकाहार, दूध, छाछ लेकर मन का बोझ हल्का कर लिया करें। मौन न रखा जा सके तो उसे छोड़ा भी जा सकता है। हर महीने यज्ञ न बन पड़े तो दोनों नवरात्रि, बसन्त पर्व, गायत्री जयन्ती, गुरुपूर्णिमा के युग पर्वों पर हवन में सम्मिलित होने से भी काम चल सकता है। युगसन्धि महापुरश्चरण के भागीदारों

की संख्या बढ़ाने की दृष्टि से यह सरलतायें उत्पन्न की गई हैं।

नैष्ठिक साधना का संकल्प पूरे बीस वर्ष का था। अब उसमें नई छूट यह है कि एक वर्ष का निर्धारण किया जा सकता है। उसके बाद दूसरे साल उसे छोड़ा या यथावत् बनाये रहा जो सकता है। साधना वर्ष बसन्त पर्व से आरम्भ होता है यह तो सर्वविदित है ही।

जो महापुरश्चरण में सम्मिलित नहीं हैं, वे अपनी गायत्री उपासना का जो भी न्यूनतम रूप बना सकें जितना भी कुछ सम्भव हो सके बना लें पर उसे नियमित अवश्य रखें। साधनात्मक अनुशासन में जकड़ने पर अनगढ़ मनुष्य भी सुगढ़ और सुसंस्कृत बनता चला जाता है।

युग निर्माण योजना के अन्तर्गत व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण कार्यक्रमों की चर्चा होती रही है। यह तीनों ही परस्पर सम्बद्ध हैं। इनका क्रम एक के बाद एक का नहीं, वरन् एक साथ चलने वाला है। बच्चे बोलना, चलना और खेलना एक साथ ही सीखते रहते हैं। इन्हें एक को पूरा कर लेने के बाद दूसरे पर हाथ डालना पड़े ऐसी बात नहीं है। प्रज्ञा परिजन जहाँ समाज निर्माण को प्रमुखता देंगे। वहाँ आत्म-निर्माण और परिवार-निर्माण से भी विमुख नहीं रहेंगे। उन्हें भी साथ-साथ ही देखते सम्भालते रहेंगे।

परिवार निर्माण और आत्म-निर्माण यों कहने- सुनने में दो दीखते हैं पर वस्तुतः हैं, एक ही प्रक्रिया के दो अंग अवयव ! आत्म-निर्माण में गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता अपनानी होती है। पर उस प्रयास का अभ्यास कहाँ हो ? सिद्धान्त को आदत में बदलने के लिये कहीं न कहीं अभ्यास तो करना ही होगा। बलिष्ठता के लिये व्यायामशाला, विद्वता के लिये पाठशाला, धनाढ्य बनने के लिये उद्योगशाला का आश्रय लेना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्मनिर्माण के लिये व्यक्तित्व में जिन सतप्रवृत्तियों के समावेश की आवश्यकता पड़ती है, उसके लिये कोई न कोई कार्यक्षेत्र तो चाहिये ही। समझा जाना चाहिये कि इस स्तर का नियमित, निरन्तर, दीर्घकालीन अभ्यास चलाने रहने के लिये एक सुनियोजित प्रयोगशाला का कार्य परिवार के वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। पशु-जीवन में जिन उत्कृष्टताओं से कोई वास्ता न पड़ा था, उसे मनुष्य जीवन में अपनाना पड़ता है। यह कार्य पठन, श्रवण में सम्भव नहीं। प्रवृत्तियाँ दीर्घकालीन अभ्यास से स्वभाव का अंग बनती हैं। परिवार में पग-पग पर हर सदस्य को मर्यादा पालन, अनुशासन, सहकार, आत्मभाव एवं उदार व्यवहार का अभ्यास करना पड़ता है। लगता है इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया गया है। उस सामाजिकता का अभ्यास करने के लिये परिवार की छोटी प्रयोगशाला का संचालन सौंपा गया है। इसमें दुहरा लाभ है। इसमें आत्मिक सद्गुणों का अभ्यास तथा एक छोटे उद्यान को सुविकसित बनाकर सृष्टि सौन्दर्य बढ़ाने, सृष्टा का मनोरथ पूरा करने वाला उपक्रम है। यह पारिवारिकता ही है जो आत्म विकास का उद्देश्य पूरा करती है और समुन्नत होते-होते "वसुधैव कुटुम्बकम्" विश्व परिवार की युग-साधना सम्पन्न करती है।

उपासना साधना के अतिरिक्त तीसरा कार्यक्रम है—आराधना। आराधना अर्थात् विराट ब्रह्म की, विश्व मानव की सेवा-संलग्नता। हर भगवद्भक्त को भजन एवं एवं जीवन परिष्कार के साथ-साथ इस विश्व उद्यान को सुन्दर, समुन्नत बनाने के लिये किसी न किसी रूप में अपने श्रम, समय और साधन का एक अंश नियमित रूप से लगाना पड़ा है। साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ, परिव्राजक स्तर के सभी धर्मप्रेमी किसी न किसी रूप में लोक मंगल के लिये सार भरे अनुदान प्रस्तुत करते रहते हैं। इसके अभाव में आध्यात्मिक प्रगति का लाभ किसी को भी नहीं मिला। भूमि-शोधन तथा बीजारोपण की उपासना, साधना कहा जा सकता है। पर फसल इतने से ही नहीं काटी जा सकती। इसके लिये आराधना अर्थात् लोक सेवा रूपी खाद-पानी का प्रबन्ध करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। भजन शब्द भज सेवायाम्' धातु से बना है। ऐसा भजन जिसमें पूजा-उपचार तो बहुत हो किन्तु जनमंगल के लिये अनुदान

प्रस्तुत करने में कृपणता अपनाई गई हो, कभी सार्थक नहीं हो सकता।

युग सन्धि में सर्वोत्तम लोक साधना एक ही है—लोक का परिष्कार। इसके लिये जनसम्पर्क साधने और धन-जन को युगान्तरीय चेतना से परिचित अनुप्राणित करनाा प्रमुख एवं प्रधान कार्य है। व्यक्ति-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण के बहुमुखी कार्यक्रम इन दिनों इसी निमित्त चल रहे हैं। प्रज्ञा-संस्थानों का निर्माण तथा प्रज्ञा अभियान का संचालन जिन उद्देश्यों को सामने रखकर अग्रसर हो रहा है उसे लोक-सेवा की सामयिक एवं सर्वोत्तम प्रक्रिया कहना चाहिये। इसी में सम्मिलित होकर, सहभागी बनकर आराधना का उद्देश्य पूरा होता है। सभी प्रज्ञा परिजनों को अपनी आत्मबल सम्पादन प्रक्रिया में उपासना और आराधना का समावेश करना चाहिये।

प्रतीकोपासना एवं ध्यान प्रक्रिया की पृष्ठभूमि

प्रतीकोपासना एवं ध्यान धारणा को समझने के पूर्व आस्तिकता के उस स्वरूप को पहले आत्मसात् करना होगा, जो स्तर के अनुरूप मनोभूमि बनाता है और हर साधक के लिये अलग-अलग निर्धारण करता है। इस पूर्व भूमिका के विभिन्न पक्षों की जानकारी लिये बिना ध्यान साधना की सीढ़ियाँ चढ़ना सम्भव नहीं हो पाता।

यह मानना ही होगा कि अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति योग्य सामर्थ्य हर जीवधारी में ईश्वरीय अनुदान के रूप में विद्यमान है। जैसा जिसका स्तर होता है, वैसी ही उसकी जरूरतें भी होती हैं। सभी ईश्वर के अंश होने के नाते अपने निर्वाह के सामान्य क्रम को पूरा करने योग्य अनुदान तो सतत् परमपिता से पाते ही रहते हैं। मात्र मनुष्य की ही यह विशेषता है कि वह इस निर्वाह क्रम से ऊँचा उठता है, प्रगति करता है तथा अपने चेतनात्मक पुरुषार्थ के बलबूते आत्मशोधन का पथ प्रशस्त करता है।

साधना-उपासना उसी पुरुषार्थ का नाम है जो मनुष्य को हर जीवधारी की तुलना में अतिरिक्त रूप से अनुदान रूप में सहज प्राप्त है, जिसे सम्पादित कर स्थूल रूप में भौतिक समृद्धि तथा थोड़ा और ऊँचे उठने पर सूक्ष्म स्वरूप में आत्मिक विभूतियों को करतलगत करना सबके लिये सम्भव है। मनुष्य-मनुष्य में जो अन्तर पाया जाता है वह इन तीन स्तरों के कारण ही होता है। कुछ तो भौतिक व आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में पिछड़े होते हैं व अन्य प्राणियों से कुछ श्रेष्ठ तो कुछ गतिविधियों के क्षेत्र में उनसे भी हेय होते हैं। दूसरा स्तर स्थूल साधना का है। व्यायाम, अध्ययन, अनुभव, शिल्प, कला, वाणिज्य जैसे विषयों में कुशलता अर्जित कर ऐसे व्यक्ति अपना लौकिक जीवन सफल बनाते हैं, वैभव को प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्म साधना उपासना यह स्तर है जिसमें मनुष्य और भी ऊँचा उठकर अपने गुण, कर्म, स्वभाव, दृष्टिकोण परिष्कृत करता है—प्रसुप्त सामर्थ्यों को जगाता है। व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं, मान्यताओं एवं भावनाओं को उच्चस्तरीय बनाता है। इस सूक्ष्म उपासना को सम्पादित करने वाला अपना ही नहीं, अपने सम्पर्क क्षेत्र के अनेकानेक व्यक्तियों का हित कर जाता है।

पंचतत्वों की काया वाले मनुष्य के निर्वाह तथा प्रशिक्षण हेतु भौतिक उपादान ही काम में आने योग्य हैं। मस्तिष्क को सुविकसित तथा शरीर को बलिष्ठ बनाकर स्थूल साधना के माध्यम से भौतिक क्षेत्र में प्रगति करते हम नित्य अनेकों व्यक्तियों को देखते हैं। पर यह तो अध्यात्म का पहला चरण है। इससे अन्तरात्मा के उत्थान की बात नहीं बनती। वह लक्ष्य तो सूक्ष्म साधना उपासना से ही पूरा होता है। भौतिक स्तर की स्थूल साधना जहाँ लोक व्यवहार की एक सामान्य प्रक्रिया है, वहाँ आत्मिक प्रगति की सूक्ष्म साधना वह पुरुषार्थ है जिसमें साधक को अपना अन्तः का स्तर ऊँचा उठाता होता है। इन प्रयासों को ही अध्यात्म साधना कहते हैं। इसके लिये प्रधान अवलम्बन,

ईश्वर को बनाना होता है। चेतना की उच्चस्तरीय संवेदना को ही प्रकारान्तर से ईश्वर कहते हैं। उपासना-प्रक्रिया में इसी महत् सत्ता से अपना सम्पर्क जोड़कर अपनी जीव सत्ता को तद्‌रूप बनाया जाता है।

परन्तु मुख्य उलझन तब आती है, जब ईश्वर का स्वरूप समझने व उसके अनुरूप बनने के लिये प्रयास किये जाते हैं। महत् तत्व को अनेकानेक नाम दिये जाने के कारण प्रारम्भिक स्थिति के साधक को यह कठिनाई होना स्वाभाविक भी है। ध्यान-प्रक्रिया सम्बन्धी सारे ऊहापोह इसी ताने-बाने को लेकर चले हैं कि ईश्वर के तो विभिन्न रूप हैं, प्रतीक हैं। अपनी आत्मिक उन्नति के लिये उनमें से कौन-सा चुना जाय व ध्यान की प्रक्रिया क्या हो ? इसी का समाधान करने के लिये मनीषियों—तत्व दृष्टाओं ने साधक की मनःस्थिति के अनुरूप ही ध्यान प्रक्रिया का निर्धारण किया है।

मूर्ति अथवा प्रतीक पूजा तथा इष्ट के साकार ध्यान की दो विद्यालय स्तर की कक्षायें हैं। मूर्ति पूजा को प्राथमिक तथा इष्ट के ध्यान को माध्यमिक स्तर का कह सकते हैं। भक्ति-भावना उत्पन्न करने, चेतना को चेतना के साथ घनिष्ठता के सूत्रों में बाँधने के लिये तथा निष्ठा की परिपक्वता के लिये कल्पित देव-प्रतिमाओं को यथार्थ मानने की मनःस्थिति प्रतीक पूजा में बनायी जाती है। इष्ट का साकार ध्यान इससे उच्चस्तर की सूक्ष्म प्रतीक पूजा है जिसमें श्रद्धा, समीपता की वैसी ही भावना की जाती है जैसी मूर्तिपूजा में स्थूल प्रतिमा की। यह एक प्रकार की मानस पूजा है एवं प्रारम्भिक अभ्यास तथा श्रद्धा-समर्पण के भाव परिपक्व करने के लिये आवश्यक मानी जाती है।

इन दोनों से आगे स्नातक स्तर की कक्षा आरम्भ होती है, जिसे निराकार ध्यान साधना कह सकते हैं। भगवान की इसमें मनुष्य रूप में, देवी-देवता विशेष के रूप में कल्पना नहीं की जाती और न ही उसके स्वागत सत्कार का प्रबन्ध ही करना होता है। कर्मकाण्ड जिस उद्देश्य से बनाये गये हैं, वे मात्र श्रद्धा, भावना को परिपक्व करने के लिये ही हैं। संग्रहीत श्रद्धा को परिपुष्ट करने के लिये उच्चस्तरीय कक्षा में पहुँचे साधक भी नित्य कर्म में प्रतीक पूजा को छोड़ते नहीं—सतत् अपनाये रहते हैं।

निराकार ध्यान में भगवान व्यक्ति नहीं, शक्ति बन जाता है। उसे किस रूप में अपने मानस-पटल पर लाया जाये, सम्पर्क जोड़ा जाये—इस विधा का ही अष्टांग योग की 'ध्यान' नामक स्थिति विशेष में विवेचन किया जाता है। परब्रह्म, सृष्टा, भगवान, ईश्वर, परमात्मा आदि अनेकानेक नामों से उस महत् तत्व की विवेचना की जाती रही है। ब्राह्मी चेतना के इस विशाल सागर का स्वरूप इतना बड़ा है कि "ससीम" बुद्धि वाले मानव के लिये उसकी जानकारी प्राप्त कर सम्पर्क जोड़ पाना सम्भव नहीं। "नेति नेति" कहकर वेदान्त दर्शन में इसीलिये उसे अचिन्त्य, अनिवर्चनीय, अगम्य बताया गया है। फिर उसका ध्यान किया कैसे जाय ? इसी का समाधान करते हुये मनीषी निर्देश देते हैं कि जीवसत्ता की अन्तरात्मा को स्पर्श करने वाले ब्राह्मी अंश को ही पहचाना व अपनाया जाये। यही उपास्य देव, इष्टदेव, परमेश्वर है। अनुग्रह—वरदान इसी से मिलते हैं। हलचलों से भरे महत् सागर की अनेकानेक तरंगों में से एक यह परमात्म सत्ता भी है जो मानवी काय-कलेवर में भावनाओं की उत्कृष्टता के रूप में विद्यमान है। इसी स्थिति को प्राप्त कर अनेकानेक साधकों ने चमत्कारी सफलतायें पायी हैं। यह तथ्य इसी सत्य का उद्घाटन करता है कि देवताओं का स्वतन्त्र अस्तित्व बल एवं उपासनात्मक विधि-विधान नहीं, साधक के व्यक्तित्व का परिष्कार, अन्तः की निश्छलता-पवित्रता एवं उपास्य अन्तराल के प्रति गहन श्रद्धा ही सारे चमत्कारों-आत्मिक सफलताओं के मूल कारण हैं। ध्यान-साधना से इसी प्रयोजन को पूरा किया जाता है।

उपासना मूलतः भाव विज्ञान की उच्चस्तरीय स्थिति है, जिसमें मनःस्थिति के अनुरूप साधक को अपना माध्यम चुनना होता है। सतत्

परिष्कृति एवं प्रगति के सोपानों पर चढ़ते हुये साधक ऐसी स्थिति विशेष में जा पहुँचता है, जहाँ उसे फिर किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रतीकोपासना, इष्ट के साकार ध्यान की प्राथमिक सीढ़ियों को पार कर वह जब निराकार ध्यान की स्थिति में पहुँचता है तो परम सत्ता को सम्वेदनाओं की श्रेष्ठता के रूप में अनुभव करता है। यह सद्भाव भरी स्थिति, आतुरता ही ध्यान की पराकाष्ठा है। ईश्वर निराकार भी है, साकार भी। इस समय ब्रह्म का दर्शन न तो सम्भव है, न आवश्यक, न ही उपयोगी। यदि इसका दर्शन करना ही हो तो ज्ञान और इच्छा शक्ति के रूप में उसे हर जीवधारी में संव्याप्त देखा जा सकता है और भी स्पष्ट उत्कृष्टतम स्वरूप उसका ऋतुम्भरा प्रज्ञा, निःस्वार्थ आत्मीयता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के रूप में विद्यमान है। जहाँ कहीं भी जितने अंशों में यह उत्कृष्टता विद्यमान है, वहाँ उतने ही अधिक प्रखर परमेश्वर का—उसके अंश का दर्शन किया जा सकता है। अवतारों की कलाओं का अन्तर यही बताता है कि उन अवतारी आत्माओं में श्रेष्ठता की ऊर्जा कितनी ऊँची थी ? जब साधक अपने अन्दर भी इस प्रकाश की मात्रा बढ़ते देखता है तो समझना चाहिये कि उतने अनुपात में वह परमेश्वर का अंश बन गया।

निराकार ईश्वर की प्रेरणायें अपने अन्दर किस मात्रा में प्रवेश कर रही हैं, इसका 'मीटर' एक ही है। अपने को अधिकाधिक परिष्कृत एवं उदार बनाने की आकांक्षाओं का जागना और इसके लिये तीव्र आतुरता का विकसित होना। इस प्रेरणा के द्विमुखी प्रभाव साधक के अन्दर परिलक्षित होते हैं। एक दुष्प्रवृत्तियों से जूझने का सत्साहस, दूसरे उत्कृष्टता सम्वर्धन के लिये व्यग्रता का विकास। ईश्वर का अवतार जब भी मानवी काया में होता है—इन्हीं दो प्रयोजनों के लिये। व्यक्ति के अन्तः में इन दो हल चल-प्रवाहों को उभरते देखकर यह कहा जा सकता है कि इस साधक में ईश्वर अवतरण की प्रक्रिया चल रही है। संक्षेप में इसे कहना हो तो आदर्शवादी जीवन के लिये उठती हुई उत्कृष्ट अभिलाषा एवं प्रबल पुरुषार्थ परायणता के रूप में ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन इसे समझा जा सकता है।

आँखें जड़ तत्वों से बनी हैं। उनसे मात्र जड़ पदार्थों को ही देखा जा सकता है। चेतना जड़ नहीं है। परमेश्वर के स्वरूप की इसी कारण कल्पना भर की जा सकती है। देखना नेत्रों का गुण है और अनुभव करना चेतना का। जीव, चूँकि ईश्वर का अंश है, इसलिये वह ईश्वरीय अनुभूति मात्र कर सकता है। इस अनुभूति के लिये ही ध्यान साधना का आश्रय लिया जाता है। मोटे तौर से विश्वास किसी बात पर तभी होता है, जब उसे देखा या सुना गया हो। पंच कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से यही किया जाता है। ईश्वर-दर्शन चाहे चर्म चक्षु से साकार उपासना के रूप में कल्पित किया जाय अथवा ज्ञान चक्षु के माध्यम से निराकार रूप में—उद्देश्य दोनों का एक ही है।

साकारोपासना के लिये प्रतीक मूर्ति को आधार बनाया जाता है तो निराकारवादी मत में ध्यान में प्रकाश ज्योति, सविता देवता इत्यादि का सहारा लेते हैं। पर यह स्पष्ट ध्यान रखा जाना चाहिये कि ध्यान विग्रह के लिये स्थापित ईश्वर प्रतीक के पीछे कोई चरित्र विशेष न जोड़ा जाये वरन् उसे सद्गुण-सम्पन्न पूर्ण मानव का स्वरूप भर माना जाये। प्रतीकों की आकृति में अन्तर हो सकता है, पर अन्तिम स्वरूप तो सबका एक ही है। दैववाद सम्बन्धी सारी भ्रान्तियाँ मिटाकर यथार्थता को जानना चाहिये कि एक व्यापक ब्रह्म की विभिन्न देव शक्तियों को ही देव संज्ञा दी गयी है। उपासना का उच्च स्तरीय दर्शन है "विराट् स्वरूप" से साक्षात्कार। साकार व निराकार दोनों ही उपासना में आदर्शवादी उत्कृष्टता से सम्बन्ध दृढ़ बनाकर उस विराट् की ही साधना की जाती है।

जब साधक यह मानकर चलता है कि समस्त विश्व ब्रह्माण्ड ईश्वर की साकार प्रतिमा है तो अनायास ही लोक-मंगल की, जनसेवा की, सारी जगती के हित की आकांक्षा उभरकर आती है। अर्जुन ने ईश्वर दर्शन किये पर दिव्य चक्षु-ज्ञान नेत्रों से ही तथा विराट् ब्रह्माण्ड के रूप में। कौशल्या तथा काकभुशुण्डि ने राम के तथा यशोदा ने कृष्ण के दर्शन उनके साकार व्यक्ति स्वरूप में नहीं—विराट् के रूप में ही किये थे। इस समस्त विश्व को

परमेश्वर की झाँकी मानने की प्रतिक्रिया यही होती है कि जड़-चेतन के प्रत्येक घटक के प्रति हमें उच्चस्तरीय मान्यता रखनी चाहिये और सदैव अपने व्यवहार में उदार आत्मीयता का समावेश करना चाहिये। विराट् ब्रह्म की उपासना करने वाला अपने को विश्व नागरिक मानता है और सृष्टा के इस उद्यान को और अधिक सुन्दर, सुविकसित बताने का प्रयास करता है। उपासना का सच्चा स्वरूप, आस्तिकता की 'विराट् दर्शन' वाली मान्यता ही है। यदि इस आस्तिकता को अन्तरात्मा में स्थान मिल सके तो उपासना सार्थक हुई समझी जाती है। आत्मानुशासन की रस्सी से बँधा, देव मर्यादाओं का पालन करने वाला व्यक्ति ही आस्तिक है और ऐसा व्यक्ति ही विराट् का दर्शन करने का सच्चा अधिकारी है। इस स्वरूप को भली-भाँति समझने वाला व्यर्थ के प्रपंच में न पड़कर अध्यात्म पथ पर बढ़ चलता है तथा सामान्य से असामान्य बन जाता है। ईश्वर अंश जीव को तद्रूप बनने के लिये उपासना के जिस तत्वदर्शन को आत्मसात् करना अति अनिवार्य है, उसी का विवेचन साधना विज्ञान के ज्ञाता करते रहे हैं।

परमेश्वर की प्राप्ति के लिये प्रतीकोपासना आवश्यक है

केवल कुछ थोड़े से धर्मों को छोड़कर प्रत्येक धर्म, सगुण परमेश्वर की उपासना ने स्थान पा लिया है। शायद जैन और बौद्धों को छोड़कर प्रत्येक धर्म में सगुण परमेश्वर की कल्पना स्वीकार की जैन और बौद्ध भी, यद्यपि वे सगुण परमेश्वर को नहीं मानते, तथापि अपने धर्म संस्थापकों की ठीक वैसा ही करते हैं, जिस प्रकार अन्य धर्मोपासक सगुण परमेश्वर की। किसी एक ऐसे उन्नततम व्यक्ति की पूजा और उपासना, जो मनुष्य को उसके प्रेम का बदला दे सके, सर्वत्र दिखाई देती है। विभिन्न धर्मों में यह प्रेम और भक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में विभिन्न परिणाम में प्रकट होती आई है। सबसे पहली अवस्था है "बाह्य उपचार'। इस अवस्था में सूक्ष्म वस्तु की कल्पना कर सकना प्रायः असम्भव होता है। इसलिये उन सूक्ष्म कल्पनाओं को स्थूल रूप में परिणित किया जाता है। फलस्वरूप मनुष्य अनेक प्रकार की मूर्तियाँ मानने लगा और उसके साथ अनेकों प्रतीकों का उदय हुआ। सम्पूर्ण विश्व का इतिहास यही दिखलाता है कि इन मूर्त विचारों तथा प्रतीकों द्वारा ही मनुष्यों ने निर्गुण को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। घण्टे, स्तुति, पोथी, मन्त्र-तन्त्र, मूर्तियाँ और धर्म के अन्य बाह्य अनुष्ठान, ये सब इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य कोई भी वस्तु तथा निर्गुण की कल्पना सुगमता से करा देने वाली कोई भी स्थूल आकृति इस काल में पूजा का विषय बन जाती है।

प्रत्येक धर्म में ऐसे धर्मोपदेशक सदैव जन्म लेते आये हैं, जिन्होंने प्रतीकों और बाह्य अनुष्ठानों के विरुद्ध कमर कसी है। किन्तु उनकी चेष्टा सफल न हो सकी, क्योंकि मनुष्य जब तक मनुष्य है, अधिकांश जन-समाज कोई ऐसा ठोस स्थूल प्रतीक अवश्य चाहेगा, जिसका वह आश्रय ले सके, जिसको केन्द्र मानकर अपने मन के विचारों को गूँथ सके।

मुसलमानों और प्रोटेस्टेन्ट पंथ के ईसाइयों ने बाह्य अनुष्ठानों के हटाने में काफी शक्ति खर्च की है, परन्तु इतना होते हुये भी ये बातें उनके पंथों में भी घुस पड़ी हैं। बाह्य-विधियाँ नष्ट नहीं हो सकतीं, बहुत प्रयास के बाद केवल इतना ही हो जाता है कि जन-समाज एक प्रतीक को छोड़कर दूसरा प्रतीक ग्रहण कर लेता है। वही मुसलमान, जो 'काफिर' की मूर्तिपूजा को पाप बतलाता है, जब काबे की मस्जिद में जाता है तो इस प्रकार नहीं सोचता और बड़ी श्रद्धा से दीवाल में लगे काले पत्थर को चूमता है। प्रोटेस्टेन्ट पंथ वाले गिरजाघर को अन्य सब स्थानों से पवित्र और पूजनीय मानते हैं और इस प्रकार गिरजाघर का मकान ही उनके लिये पूजा का प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार वे बाइबिल को भी परम पवित्र मानते हैं और वह अन्य धर्म के धार्मिक प्रतीकों की तरह ही काम देती है।

इसलिये मूर्तिपूजा या प्रतीकोपासना के विरुद्ध उपदेश देना व्यर्थ है। मनुष्य उन्हें इसलिये काम में लाते हैं कि वे कुछ विशिष्ट भावों के संकेत स्वरूप होते हैं। यदि विचार किया जाये तो यह सम्पूर्ण विश्व ही किसी व्यक्ति अव्यक्त शक्ति का एक एक विशाल प्रतीक है। इसलिये मूर्तियाँ, घण्टे, मोमबत्तियाँ, ग्रंथ, गिरजाघर, मन्दिर और अन्यान्य पवित्र प्रतीक बहुत अच्छे हैं और अध्यात्मरूपी पौधे की बाढ़ के लिये बहुत उपयोगी हैं। लेकिन इनका उपयोग बस यहीं तक है, इससे अधिक नहीं। अधिकांश लोगों की सीमा इन प्रतीकों तक ही रहती है, जिससे इस पौधे की बाढ़ नहीं हो पाती। ठाकुरद्वारे में जन्म लेना एक बहुत अच्छी बात है, पर मन्दिर में ही मर जाना दुर्भाग्य है। अध्यात्मरूपी पौधे की बाढ़ में मदद पहुँचाने वाली इन उपासना विधियों का अभ्यास करना अच्छा है, पर आजन्म उसी उपासना पद्धति में पड़े रहना और मर जाना यह प्रकट करता है कि उसकी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई।

इन बाह्य-अनुष्ठानों में कल्पना मुख्य है, जो दूसरी सब कल्पनाओं से श्रेष्ठ है। वह है नाम की उपासना। यह उपासना पद्धति प्रायः सभी धर्मों में पाई जाती है। नाम अत्यन्त पवित्र माना जाता है और ईश्वर का नाम सबसे अधिक पवित्र है। ईश्वर के नाम की महिमा अतुलनीय मानी गई है और ऐसा माना गया है कि यह पवित्र नाम ही परमेश्वर है और यह सत्य भी है, क्योंकि यह विश्व नाम और रूप के अतिरिक्त और है ही क्या ? क्या शब्दों के बिना तुम सोच सकते हो ? शब्द और विचार एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। जब कभी तुम सोचते हो तो शब्द-आकृतियों द्वारा ही। एक के साथ दूसरा आता ही है, नाम रूप की याद दिलाता है और रूप से नाम का स्मरण होता है। यह सम्पूर्ण विश्व मानो परमेश्वर का स्थूल प्रतीक है, और उसके पीछे है उसका महिमान्वित नाम। इसीलिये नाम का इतना माहात्म्य है और दुनियाँ में वह सब जगह पूजा जाता है—चाहे जान-बूझकर और चाहे अनजाने मनुष्य को नाम की महिमा मालूम हो ही गई है।

हम यह भी देखते हैं कि भिन्न-भिन्न धर्मों में पवित्र पुरुषों की पूजा होती आई है। कोई कृष्ण की पूजा करता है, कोई ईसा की और कोई बुद्ध की और कोई अन्य विभूतियों की। इस तरह लोग सन्तों की पूजा करते आ रहे हैं और सैकड़ों साधु-सन्त आज संसार में पूजे जा रहे हैं, और वे क्यों न पूजे जायें ? परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान है वह घर-घर में प्रकट हो रहा है, लेकिन मनुष्य को वह मनुष्य में ही दिखलाई पड़ सकता है। जब उसकी ज्योति, उसका अस्तित्व उसका ईशत्व मानवीय मुखमण्डल पर प्रकट होता है, तभी मनुष्य उसे पहिचान सकता है। इस तरह मनुष्य सर्वदा मानव रूप में परमेश्वर की पूजा करता आ रहा है और जब तक मनुष्य, मनुष्य रहेगा, वह ऐसा करता ही जायेगा।

इस प्रकार प्रत्येक धर्म में हम तीन मुख्य बातें देखते हैं, जिनके द्वारा परमेश्वर की पूजा की जाती है। वे हैं—(१) प्रतिमायें या प्रतीक (२) नाम और (३) अवतारी पुरुष। प्रत्येक धर्म में ये बातें हैं, फिर भी लोग धर्म के नाम पर एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं। प्रत्येक दूसरों से कहता है—'यदि संसार में कोई प्रतिमा सच्ची है, तो वह मेरे धर्म की, कोई नाम सच्चा है, तो मेरे धर्म का, कोई अवतारी पुरुष है तो मेरे ही धर्म का। तुम्हारी तो केवल पौराणिक कथायें हैं। इस तरह का भाव किसी एक राष्ट्र या जाति में नहीं पाया जाता। सभी लोग यही सोचते हैं कि वे जो कुछ करते आये हैं, वही सच है और अन्य लोगों को भी वैसा ही आचरण करना चाहिये।

पर ये तो उपासना के बाहरी अंग हैं, जिनमें होकर मनुष्यों को गुजरना पड़ता है। ये मन्दिर और गिरजा, पोथी और पूजा—ये धर्म के केवल प्राथमिक उपकरण मात्र हैं, जिनसे मानव की अध्यात्म-शक्ति बलवती होती है, जिससे वह आध्यात्मिकता की उच्चतर सीढ़ियों पर पैर रखने में समर्थ होता है। यदि उसकी इच्छा है कि उसकी धर्म में प्रगति हो तो ये पहली सीढ़ियाँ आवश्यक हैं।

पर आजकल के मनुष्य धर्म के बारे में केवल बड़ी-बड़ी बातें ही करना चाहते हैं, पर

इसे पाना नहीं चाहते और न उसका प्रत्यक्ष अनुभव लेना चाहते हैं। क्या तुम यह कहने का साहस कर सकते हो कि दुनियाँ के लोग परमेश्वर को चाहते हैं पर उसे पा नहीं सकते ? असम्भव ! दुनियाँ में ऐसी कौन सी इच्छा है जिसकी पूर्ति का साधन मौजूद नहीं है। मनुष्य चाहता है कि साँस ले और वह देखता है कि उसके साँस लेने को हवा विद्यमान है। मनुष्य खाने की इच्छा करता है और वह देखता है कि खाने के पदार्थ उसके सामने मौजूद हैं। इच्छायें क्यों उत्पन्न होती हैं ? इसलिये कि उनके विषय बाहर विद्यमान है। प्रकाश विद्यमान था, इसलिये आँखों ने जन्म लिया और शब्द विद्यमान का इसलिये कानों का जन्म हुआ। इस तरह मनुष्य की प्रत्येक इच्छा किसी न किसी बाह्य विद्यमान वस्तु के कारण ही उत्पन्न हुई है। तो फिर पूर्ण विकास की इच्छा, अन्तिम ध्येय पर पहुँचने की इच्छा तथा प्रकृति से परे जाने की इच्छा, यह स्वयं ही—बिना आधार के ही क्यों कर उत्पन्न हो सकती हैं ? ऐसी कोई वस्तु होनी ही चाहिये जिसने इस इच्छा को मनुष्य के हृदय में उत्पन्न किया है। इसलिये जिस व्यक्ति में यह इच्छा उत्पन्न हुई है वह अवश्य ही अपने ध्येय तक पहुँच जायेगा और इसकी आरम्भिक सीढ़ी सदैव यही प्रतीकोपासना ही रहेगी।

प्रतीकोपासना का मनोविज्ञान

प्रतीकोपासना को भारतीय चिन्तकों ने अपनी साधना पद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। विभिन्न प्रतीकों के अपनाये जाने के पीछे कुछ मनोविज्ञान के सूत्र, सिद्धान्त सन्निहित रहे हैं। शिक्षण की व्यावहारिक विधियाँ रही हैं। इस तत्व को भली-भाँति न समझ पाने के कारण ही तथाकथित उपासक खाली रहते देखे जाते हैं। चिन्तन, चरित्र, व्यवहार एवं गुण, कर्म, स्वभाव में कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता।

वर्तमान में मनोविज्ञान के बढ़ते कदमों ने इसको बहुत कुछ समझने का प्रयास किया है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के प्रवर्तक कार्लयुग के अनुसार इन प्रतीकों के द्वारा उस सत्य को प्राप्त करना होता है, जिसकी ओर ये संकेत करते हैं। मनोवैज्ञानिक अर्बन के अनुसार धार्मिक प्रतीकवाद सदैव सार्वभौम सत्य, आस्था और सार्वभौम सौन्दर्य के प्रसंग में प्रयोग किया गया है। उनके अनुसार प्रतीकों की वास्तविक और महत्त्वपूर्ण उपयोगिता सत्य के शिक्षण के लिये है। अध्यात्म शिक्षण की यह एक सर्वसुलभ प्रक्रिया है। इसी कारण उपनिषदों ने इसे 'पराविद्या' कहा है। जहाँ सामान्य शिक्षण अर्थात् "अपरविद्या" से मनुष्य का बौद्धिक एवम् मानसिक विकास होता है वहीं आध्यात्मिक शिक्षण की जरूरत आत्मिक विकास हेतु है। उपासना इसी की व्यावहारिक प्रणाली है।

सामान्य शिक्षण पद्धति में बालकों को सिखाने के लिये विभिन्न प्रतीकों की आवश्यकता को शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकारा है। विभिन्न खिलौनों, गोलियों, चित्रों के द्वारा इसी जरूरत की पूर्ति की जाती है। उद्देश्य खिलौने अथवा चित्र नहीं हैं। लेकिन इनके द्वारा दो काम होते हैं। पहला बालक की समूची मानसिक वृत्तियाँ उस पर एकाग्र हो जाती हैं। इस एकाग्रता के बाद उसे उस चित्र खिलौने के द्वारा गिनती अथवा वर्णमाला के किसी अंश का बोध कराया जाता है। इस विधि से वह अंश सहज ही हृदयंगम हो जाता है।

ठीक यही बात आध्यात्मिक शिक्षण में है। विभिन्न खिलौनों, चित्रों की तरह इसमें भी अनेक तरह के प्रतीकों को व्यवहार में लाया जाता है, इनकी भिन्नता रुचि अथवा मनोभूमि की भिन्नता के आधार पर है। जिस प्रकार कोई बालक कबूतर वाली 'क' को जानता है तो कोई कलम वाली 'क' को। बात कबूतर और कलम की नहीं है। ये तो सिर्फ माध्यम है। इनके स्थान पर ककड़ी, करेला को भी चुना जा सकता है। उद्देश्य 'क' शब्द का बोध कराना है। प्रत्येक की रुचि मनोभूमि को ध्यान में रखकर उसे सत्य का बोध करा दिया जाये, यही प्रतीक की उपयोगिता है।

मन का एक स्वभाव है। जिससे वह अनुराग करता है उसे साक्षात् देखना चाहता है। मानव की सबसे प्रबल वृत्ति रागात्मिका वृत्ति है। इसकी विशेषता यही है कि यह व्यक्त आधार चाहती है। यही कारण है कि विश्व के जो धर्म

सम्प्रदाय प्रतीक पूजा का निषेध करते हैं, उनमें भी किस न किसी तरह प्रतीकोपासना आ गई है।

ईसाई जानते हैं कि क्रास का चिन्ह सिर्फ लोहे का प्रतीक भर है। ठीक इसी तरह ईसा का चित्र भी। पर इसके प्रति आदर ईसामसीह के प्रति आदर माना गया है। जीव की अपनी कोई आकृति नहीं पर सारे शरीरों में वही है, अतएव उसी की ये सब आकृतियाँ हैं। उसके न रहने पर इनका रहना भी मुश्किल है। जब ईश्वर के अंश जीव के ये सब रूप हैं तो उसके अंशी की ये सब आकृतियाँ क्यों नहीं हो सकती हैं ? आखिर ये सभी आकृतियाँ प्रतीक ही तो हैं। ये सब किसी न किसी तरह उस सत्य की ओर इंगित करती हैं। जिस तरह अग्नि की तमाम चिनगारियों के आकार-प्रकार भिन्न होते हैं। हो सकता है इनकी बाहरी रचना में कोई ताल-मेल न हो। व्यापक अग्नि की कोई आकृति नहीं। पर किसी भी चिनगारी को पा लेने से व्यापक अग्नि के सभी गुण-प्रभाव आदि की जानकारी होना स्वाभाविक है।

मानव स्वयं साकार है। वह अपने आप में विभिन्न गुणों, वृत्तियों के समुच्चय तथा एक विशिष्ट अवस्था का प्रतीक है। साकार वृत्तियों को ग्रहण करना मानवीय हृदय की विशेषता है। ज्योति का ध्यान, शब्द का ध्यान भी एक प्रकार के प्रतीक का ही ध्यान है। जब एक प्रकार के खुद के मनोनुकूल प्रतीक को सहज मान लिया जाता है, तो दूसरे प्रकार जो किसी दूसरे के मनोनुकूल हैं, मान लेने में आपत्ति क्यों ?

सभी जगह व्याप्त तत्व तो प्रत्येक आकार में है। यदि किसी आकार में सुविधाजनक रीति से मन को तल्लीन किया जा सके तो हृदय की एकाग्रता में उसकी प्राप्ति हो जायेगी। किसी को अग्नि के बारे में बताने के लिये पंच महाभूतों में से एक सर्वत्र व्याप्त निराकार का उपदेश झाड़ने की जगह उसके सामने एक दहकता अंगारा रख देना ज्यादा उत्तम है। इस तरह अग्नि के प्रकाश, ताप आदि का भाव समझ लेने पर उसके निराकार रूप की भी धारणा हो जायेगी। इसी तरह जो ईश्वर को मन की एकाग्रता में किसी भी आकार में साक्षात् कर लेगा, उसे उसके निराकार रूप को समझने में कोई बाधा न होगी।

इस बात को साधना की वैज्ञानिक प्रणाली बताने वाले महर्षि पातंजलि ने भी स्वीकारा है। उनके सूत्र "यथाभिमतध्यानाद्वा" अर्थात्—अभीष्ट ध्यान चित्त की एकाग्रता को पूर्ण कर देता है। इससे स्पष्ट है कि उपासना की साकार विधि बाहर मूर्ति के रूप में होती है। कारण कि अनुराग के लिये बाहरी प्रतीक की जरूरत है। विभिन्न देशों के झण्डे, महापुरुषों के चित्र इसी मानवीय स्वभाव के द्योतक हैं। बिना प्रतीक के भावाभिव्यक्ति किस आधार पर हो ?

संसार में हम पाते हैं कि व्यक्त आधार के बगैर न तो अव्यक्त की प्राप्ति होती है और न ही उसके प्रति भाव व्यक्त किया जा सकता है। अव्यक्त अग्नि की प्राप्ति लकड़ी आदि व्यक्त माध्यमों से होती है। ध्वनि-तरंगें भी पशु-मनुष्य, वाद्य, रेडियो आदि व्यक्त आधारों से ही मिलती हैं। हम अपने माता-पिता गुरुजनों की सेवा करते हैं। सभी को मालूम है कि शरीर जड़ तत्वों का बना है। इन जड़ तत्वों की सेवा हम करना नहीं चाहते। उसमें जो चेतन है उसके प्रति भावों को व्यक्त करने उसकी सेवा करने का आधार इस शरीर के अलावा और क्या है ? सभी स्वीकारते हैं कि माँ-बाप एवं गुरुजनों की सेवा करनी चाहिये। उनसे यदि सवाल किया जाये कि सेवा किसी शरीर की या जीव की ? इसका एक ही जवाब होगा शरीर में निहित चेतन तत्व की। शरीर की भक्ति करनी हो तो मरने के बाद जलाने-दफनाने की क्या जरूरत ? इस सवाल का जवाब कोई आलोचक नहीं दे सकता है कि शरीर और उसकी आकृति को छोड़कर किसी पितृ भक्त के मन में किसी और चीज का उदय हुआ है या हो सकता है फिर पिता की सेवा के लिये शरीर सेवा के अलावा और क्या है ?

उपासना मार्ग में इसी कारण प्रतीकों को स्वीकारा गया है। इन्हें मुख्यतः तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम, शब्द प्रतीक

जैसे—ओम् आदि। द्वितीय, विभिन्न आकृतियाँ जैसे—स्वस्तिक, क्रास, तालाब में स्थिर कमल तीसरे प्रकार के प्रतीक विभिन्न मानवीय मूर्तियों के रूप में होते हैं।

पहले प्रकार के शब्द प्रतीक समूचे ध्वनि समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इतना ही नहीं शब्द को आकाश का गुण माना गया है। अतएव इन सभी का संकेत विशालता-व्यापकता की ओर है। विभिन्न आकृतियों जैसे—स्वस्तिक के चारों कोने जीवन विकास की चार अवस्थाओं जन्म, जीवन, मृत्यु और अमरत्व को प्रदर्शित करते हैं। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने इसे चार आधारभूत मानसिक प्रक्रियाओं संवेदना, भाव, विचार और अन्तर्दृष्टि का भी प्रतीक माना है। इसी तरह क्रास की चार नोकों में तीन पिता, पुत्र, पवित्रात्मा की प्रतीक और चौथा व्यक्तित्व का छाया भाव है। बौद्ध धर्म में तालाब में शान्त स्थिर कमल, जिस पर जल स्वयं फिसल जाता है और रात में अपनी पंखुड़ियाँ समेट लेता है, मन की उस अवस्था का द्योतक है, जिसमें मानव के मानसिक जीवन के तीनों स्तर समन्वित होते हैं।

तीसरे प्रकार की प्रतीक मूर्तियाँ हैं। सी. जी. युंग ने, "साइकोलोजी एण्ड रिलीजन" में इन्हें "अज्ञान मन की दैव भाव प्रतिमा" बताया है। उसके अनुसार ये अन्य प्रकार के प्रतीकों की अपेक्षा अत्यधिक शक्तिशाली हैं। इसकी अनुभूति में देवत्व सम्बन्धी गुण आ जाता है। उनके अनुसार यह जन्मजात अज्ञान मन की भाव प्रतिमा बड़ी शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक है। ईश्वर हमसे अलग नहीं है, अभ्यन्तर में है। जो अभ्यन्तर में है व्यक्ति उससे विमुख नहीं हो सकता न ही बहिष्कृत कर सकता है। प्रतिमा के द्वारा अज्ञांत मन के इस क्षेत्र तक पहुँचा जाता है, उन गुण और शक्तियों को जाग्रत किया जाता है। यह जागरण ही प्रतिमा जागरण है। प्रतीकोपासना का उद्देश्य यही है। इसका मनोविज्ञान मूलतः यही है।

उपासना बनाम योग साधना

आत्मतत्व का प्रकाश प्राप्त करने के लिये या किसी सूक्ष्म विषय को समझने के लिये एकाग्र-बुद्धि से उस पर ध्यानस्थ होना पड़ता है और यह कार्य जिस प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होता है, उसे उपासना और योग के नाम से जाना जाता है। इस उपचार, उपक्रम द्वारा परमात्मा के जितने ही समीप हम पहुँचते हैं उतनी ही श्रेष्ठतायें हमारे अन्तःकरण में उपजती तथा बहती हैं। उसी अनुपात से आन्तरिक शान्ति की भी उपलब्धि होती चलती है। जिस तरह हिमालय की ठंडी-हवायें उन लोगों को अधिक शीतलता प्रदान करती हैं जो उस क्षेत्र में रहते हैं। इसी प्रकार आग की भट्टियों के समीप काम करने वालों को अधिक गर्मी अनुभव होती है। जीव भी ज्यों-ज्यों परमात्मा के निकट पहुँचता जाता है उससे घनिष्ठता के साथ जुड़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे उन विभूतियों का अपने में अनुभव होने लगता है जो उस परम प्रभु में ओत-प्रोत हैं।

उपासना का अर्थ है—पास बैठना, निकट होना (उप् = निकट, अस = होना, रहना) परमात्मा के पास बैठने से ही उपासना हो सकती है। साधारण वस्तुयें तक अपनी विशेषताओं की छाप दूसरों पर छोड़ती हैं, तो परमात्मा के समीप बैठने वालों पर उन दैवी विशेषताओं का प्रभाव क्यों न पड़ेगा ? जब पुष्पवाटिका में जाते ही फूलों की सुगंध से चित्त प्रसन्न हो उठता है। चन्दन के वृक्ष अपने समीपवर्ती वृक्षों को सुगन्धित बनाते हैं। सज्जनों के सत्संग से साधारण व्यक्तियों की मनोभावनायें सुधरती हैं, फिर परमात्मा अपनी महत्ता की छाप उन लोगों पर क्यों न छोड़ेगा जो उसकी समीपता के लिये प्रयत्नशील हैं।

आत्मा को परमात्मा के निकट पहुँचने पर वही बात बनती है जो गरम लोहे और ठंडे लोहे के एक साथ बाँधने पर होती है। गरम लोहे की गर्मी ठंडे में जाने लगती है और थोड़ी देर में दोनों का तापमान एक सरीखा हो जाता है। दो तालाब जब तक अलग-अलग रहते हैं, तब तक उनके पानी का स्तर नीचा-ऊँचा बना

रहता है। पर जब बीच में नाली निकालकर उन दोनों को आपस में सम्बन्धित कर दिया जाता है तो अधिक भरे हुये तालाब का पानी दूसरे कम पानी वाले तालाब में चलने लगता है और यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है, जब तक कि दोनों का जल-स्तर समान नहीं हो जाता।

दो जलाशयों का मिलना या गरम-ठंडे लोहे का परस्पर मिलना जिस प्रकार एकरूपता की स्थिति उत्पन्न करता है, उसी प्रकार उपासना या योग द्वारा आत्मा और परमात्मा का मिलन होने पर गुँथ जाने पर जीव में दैवी गुणों की तीव्रगति से अभिवृद्धि होने लगती है।

योग साधना का प्रयोजन भी अपनी ससीमता को असीमता के साथ जोड़ देना है। इस प्रयोजन में जितनी ही सफलता मिलती जाती है, उतनी ही मात्रा में मनुष्य उस वैभव पर आधिपत्य जमाता जाता है, जिसके प्रभाव को हम जड़-चेतन जगत में अपने चारों ओर फैला हुआ देखते हैं। सीमाबद्ध स्थिति में हम तुच्छ और दरिद्र होते हैं, पर असीम के साथ जुड़ जाने पर महानता प्राप्त करने में कोई कमी नहीं रह जाती है। सिद्ध पुरुषों में देखी गयी विशिष्ट क्षमतायें और कुछ नहीं, विराट् के साथ उनकी घनिष्टता का आरम्भिक उपहार भर हैं। बढ़ी-चढ़ी स्थिति तो ऐसी बन जाती है, जिसमें आत्मा और परमात्मा के बीच कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं रह जाता, दोनों समतुल्य ही दीखते हैं।

योग एवं सच्ची उपासना दोनों का ही अर्थ है, आत्मा को परमात्मा से जोड़ देना। इससे परमात्मा की विशेषतायें मनुष्य में प्रवाहित होने लगती हैं, किन्तु दोनों के बीच में यदि कोई व्यवधान रख दिया जाय तो प्रवाह रुक जायेगा और मनुष्य को श्रेष्ठता प्राप्त नहीं होगी। जिस प्रकार आग के पास आने पर ठण्डा लोहा ऊष्मा प्राप्त करता है, पर यदि आग और उसके बीच लकड़ी का एका पटला रख दिया जाये तो लोहा आग की गरमी से वंचित रह जायेगा। उसी प्रकार जब उपासना की विधि में आत्मा और परमात्मा के बीच कामनाओं का व्यवधान डाल दिया जाता है तो साधक परमात्मा को ग्रहण करने से वंचित रह जाता है। जिन उपासकों में परमात्मा के लक्षण संकलित होते दिखाई न दें, समझ लेना चाहिये कि उसकी आत्मा और परमात्मा के बीच कामनाओं, वांछनाओं तथा वासनाओं का व्यवधान पड़ा हुआ है और जब तक यह व्यवधान हटाया नहीं जायेगा, उपासना का वास्तविक फल प्राप्त होना सम्भव नहीं। अधिकांश पूजा-पाठ तथा चन्दन-वंदन करने वाले उपासना नहीं उपासना का आडम्बर ही किया करते हैं। या तो उसके आधार पर उन्हें अपना महत्त्व प्रदर्शन करने का भाव घेरे रहता है अथवा उनकी उपासना का लक्ष्य किसी कामना की पूर्ति रहता है, परमात्म तत्व की प्राप्ति नहीं। यही कारण है कि एक पुजारी आजीवन तक मन्दिर में पूजा-आरती करता रहता है, किन्तु उसे वह फल नहीं मिलता जो उपासना के परिणामस्वरूप मिलना चाहिये।

उपासना का प्रतिफल है—श्रेष्ठताओं की वृद्धि। चूँकि परमात्मा समस्त श्रेष्ठताओं का केन्द्र है, उसका सान्निध्य आत्मा को दिन-दिन उत्कृष्ट बनाता चलता है। भक्त को अपना भगवान सब में दिखाई पड़ता है इसलिये वह हर किसी की अच्छाइयाँ देखता है और उनकी चर्चा एवं विचारणा करते हुये अपने आनन्द और दूसरों के सद्भाव को बढ़ाता है। निन्दा और ईर्ष्या असुरता के दो प्रधान अस्त्र हैं। इनका प्रयोग उसी पर किया जा सकता है जिसके प्रति परायेपन का, शत्रुता का भाव रहे। जब सब अपने हैं तो अपनों की निन्दा कैसे ? अपनों से ईर्ष्या कैसे ?

प्रेम, करुणा, आत्मीयता और सौजन्य की अजस्र धारायें परमात्मा से प्रवाहित होती हैं। प्राणि मात्र का पोषण-अभिवर्धन इन्हीं विशेषताओं के द्वारा तो वह करता है। ऐसे ईश्वर के समीप बैठने वाले में, उपासना या योग साधना करने वाले में यही विशेषतायें अवतरित होती हैं। अपने भाई-बहिनों के प्रति—प्राणिमात्र के प्रति अनंत करुणा और आत्मीयता की भावनायें उपासक के अन्तःकरण में उद्भूत होती हैं। सम्पूर्ण विश्व ही उसे अपने आत्म-स्वरूप में दिखाई देने लगता है। उनकी चरितार्थ करके वह अपने जीवन को यशस्वी बनाता है और अपने अन्तःकरण में धारण किये रहकर अनन्त शान्ति का अनुभव करता है। ऋद्धि-सिद्धियाँ भी उसकी अनुगामिनी बनकर रहती हैं।

पंचसूत्री साधना पद्धति

पंचसूत्री साधना पद्धति अति सरल है, उसमें कोई ऐसी कठिनाई नहीं है, जो किसी को भारभूत प्रतीत हो या जिसे करने में असमर्थता प्रकट करनी पड़े अति सरल होते हुये भी वह अति प्रभावशाली है। उसे यदि श्रद्धा, तत्परता, और नियमिततापूर्वक कार्यान्वित किया जाता रहे तो थोड़े ही समय में यह दिखाई पड़ने लगेगा कि अपने भीतर कितनी अधिक उत्कृष्टता का, कितनी तेजी से अभिवर्धन हो रहा है। यह अनुभूत प्रक्रिया है। अपने व्यक्तिगत जीवन में हम देर से इन्हीं प्रयोगों को चला रहे हैं। अतएव चिर-संचित अनुभव के आधार पर यह कह सकते हैं कि इस दिशा में उठाया हुआ प्रत्येक कदम आशाजनक सफलता उपस्थित करता है।

हम तीन शरीर धारण किये हुये हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन तीनों के परिष्कार का राजमार्ग कर्म-योग, ज्ञान योग और भक्ति ही अनादिकाल से प्रचलित है। अन्य साधनों में किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों को ही सफलता मिलती हैं पर यह त्रियोग साधन पद्धति सर्व-साधारण के लिये है। हर आयु का, हर स्थिति का, हर व्यक्ति समान रूप से इसका लाभ उठा सकता है। इसलिये परिजनों को कहा गया है कि वे उसे अपनायें। हम उनकी भरपूर सहायता करेंगे और उस सफलता के समीप तक पहुँचाने की चेष्टा करेंगे जहाँ वे अपने भीतर नवजीवन, नव प्रकाश एवम् नव-उल्लास का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकें।

(१) कर्मयोग की साधना का गुरु मन्त्र है—"हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत"। प्रातःकाल उठते ही कल्पना करें कि हमें आज का नया जन्म मिलेगा और उसे भावना तथा व्यवहार दोनों स्तरों पर आदर्श एवं उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करेंगे। दिनभर की ऐसी दिनचर्या चारपाई पर पड़े-पड़े ही तैयार कर ली जाय, जिसमें एक क्षण भी बर्वाद करने की गुंजायश न हो, आलस्य और प्रमाद के लिए कोई अवसर न हो और उस दिनचर्या की पूरी सावधानी एवम् पूरी कड़ाई के साथ दिन भर ठीक तरह से चलते रहने की तत्परता बरती जाये। इसी प्रकार सबेरे ही सोच लिया जाय कि आज दिन में किस अवसर पर किस प्रकार की दुर्भावना मन में उठने की गुंजायश है ? उन अवसर पर किन उच्च विचारों से उन दुर्भावनाओं का समाधान किया जाये इसकी मानसिक रूपरेखा भी बना ली जाये। इस प्रकार सारा दिन परिपूर्ण पवित्रता और कर्त्तव्यपरायणता के साथ निर्धारित कार्य-पद्धति के अनुसार व्यतीत किया जाये। रात को सोते समय अपनी हर सम्पदा, हर प्रिय वस्तु एवम् हर स्वजन सम्बन्धी को, भगवान् की धरोहर मात्र समझकर उस पर से ममता हटाते हुये वैराग्य भाव से निद्रादेवी की गोद में—भगवती माता के अंचल में अपनी चेतना को लय कर दिया जाये। इसे उस आदर्श दिन की आदर्श-मृत्यु माना जाये।

देखने-सुनने में यह साधारण-सी बात है, पर इस प्रयोग को नित्य नियमित रूप से सतर्कता एवम् तत्परता के साथ जारी रखा जाये तो थोड़े ही दिनों में अपनी मनोभूमि में आशाजनक परिवर्तन होता है और लगता है कि महामानवों जैसी अन्तःचेतना अपने भीतर उत्पन्न एवम् विकसित हो रही है। कलुषित एवम् गया-गुजरा जीवनक्रम तेजी से बदल जाता है और ऐसा अनुभव होता है मानों आन्तरिक काया-कल्प ही हो चला, यही स्थिति सच्चे अध्यात्मबादी की होती है। इस स्थिति में कितना सन्तोष, आनन्द एवं उल्लास बढ़ता चलता है, इसे कोई भी साधक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

(२) ज्ञानयोग की साधना के अन्तर्गत दो कार्यक्रम हैं, एक जन्मदिन मनाना, दूसरा स्वाध्याय-सम्वर्धन। नियत जन्म तिथि पर एक छोटा उत्सव आयोजन हर साधक करे और उस दिन अपने जीवन का स्वरूप, उद्देश्य एवम् उपयोग के बारे में बार-बार गम्भीर विचार किया जाये।

जन्मोत्सव तो एक दिन का होता है, दो घण्टे में उत्सव समारोह और एक दिन में उत्साह आनन्द समाप्त हो जाता है। पर जन्म दिन की स्मृति में अपने आप से तीन प्रश्न हर दिन या जब भी अवसर मिले पूछते रहा जायें। (i) भगवान् को सभी प्राणी समान रूप से प्रिय

हैं, फिर मनुष्य को ही बोलने, सोचने-लिखने एवम् असंख्य सुविधायें उपलब्ध रखने का अनुदान क्यों मिला ? मनुष्य को हर दृष्टि से उत्कृष्ट स्तर का प्राणी बनाने में उतना श्रम क्यों किया ? (ii) जो सुविधायें, विभूतियाँ, सम्पदायें हमें उपलब्ध हैं उनका लाभ यदि हम अकेले ही उठाते हैं तो क्या यह उचित है ? (iii) क्या इस सुर दुर्लभ मानव शरीर का यही सदुपयोग है जो हम कर रहे हैं ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर सहज ही अन्तःकरण में इस प्रकार उठेगा। (i) अपने उद्यान, इस संसार को अधिक सुन्दर और अधिक सुव्यवस्थित बनाने के लिये परमेश्वर को साथी सहचरों की जरूरत पड़ी, फलतः अपनी क्षमताओं से सुसज्जित एक सर्वांगपूर्ण प्राणी—मनुष्य इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये बनाया। उसे विशेष साधन सुविधायें इसलिये दीं कि उनके द्वारा ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में वह ठीक तरह समर्थ हो सकें। (ii) अन्य प्राणियों के अतिरिक्त जितनी बौद्धिक, आर्थिक, प्रतिभा, साधन अथवा विशेषतायें हैं, वे सब विश्व-मानव की ही पवित्र अमानत हैं। इनका उपयोग लोक-मंगल के लिये ही किया जाना चाहिये। शरीर रक्षा भर के आवश्यक उपकरण मात्र लेकर शेष साधनों का उपयोग विश्व कल्याण के लिये ही किया जाना चाहिये। (iii) हम सदाचारी, संयमी, परिश्रमी, उदार, सज्जन, हँसमुख, सेवा-भावी बने बिना मानव जीवन को सार्थक नहीं बना सकते। इसलिये इन सद्‌गुणों का अभ्यास बढ़ाने के लिये जीवन या मन की रीति-नीति में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का—सभ्यता और सज्जनता का—पुरुषार्थ और साहस का—समुचित समावेश अवश्य करना चाहिये।

मानव-जन्म का यह दर्शन, आदर्श और उद्देश्य पूरे साल भर तक हर दिन, हर घड़ी, हमारी दृष्टि में घूमता रहे ऐसी, प्रेरणा जन्म-दिन के अवसर पर ग्रहण करनी चाहिये।

(३) ज्ञानयोग का दूसरा पक्ष है स्वाध्याय संवर्धन। आज व्यक्ति और समाज को बुरी तरह अज्ञान ने—विपरीत धारणाओं ने जकड़ रखा है। इस अन्धकार का निराकरण और विवेक-सम्मत विचारणा प्रदान करने वाले प्रकाश की आज महती आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति किये बिना दुःखद परिस्थितियों से—शोक-सन्तापों से छुटकारा न मिल सकेगा। इसलिये हमें ऐसी प्रखर विचारणा एवम् प्रेरणा उपलब्ध करनी चाहिये जो मनोभूमि को झकझोरकर रख दे और उल्टे मार्ग पर चलने से रोककर सन्मार्ग पर चलने का साहस प्रदान करे। ऐसी विचार पद्धति युग-निर्माण योजना के अन्तर्गत सत्साहित्य के रूप में सृजन की जा रही है। सो हमें 'अखण्ड ज्योति' तथा 'युग निर्माण पत्रिका' और छोटे ट्रैक्ट मनोयोगपूर्वक स्वयं पढ़ने चाहिये, अपने परिवार के हर शिक्षित को पढ़ाने और अशिक्षित को सुनाने चाहिये तथा परिचितों से सम्पर्क बनाकर इसे पढ़ने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

हर घर में एक छोटा ज्ञान मन्दिर—युगनिर्माण पुस्तकालय रहना चाहिये। यही किसी परिवार की वास्तविक सम्पदा है। इस श्रेय साधन के लिये हर व्यक्ति दस पैसा और एक घण्टा समय अनिवार्य रूप से निकाले। ज्ञान यज्ञ की इस साधना को, युग परिवर्तन की आधारशिला समझकर पूरी श्रद्धा और तत्परता से सम्पन्न करता रहे। झोला पुस्तकालय, इस युग की सबसे बड़ी लोक-सेवा है। ज्ञान का प्रसाद बाँटने से बढ़कर और कोई परमार्थ नहीं हो सकता। इसलिये हर कोई झिझक छोड़कर विचार क्रान्ति के लिये, लोक-मानस निर्माण करने के लिये इस पुण्य-प्रक्रिया में उत्साहपूर्वक भाग ले।

(४) भक्तियोग में दो साधना हैं—औचित्य एवम् विवेक को स्वीकार एवं कार्यान्वित करने का भावनात्मक साहस और प्रेम तत्व का अन्तःकरण में अभिवर्धन।

भक्त साहसी और शूरवीर होता है, वह प्रलाभनों एवं भयों के आगे झुकता नहीं। जो उचित है, जो सत्य है, उसी का समर्थन करता है। उस पर दृढ़ बना रहता है और उसी को अपनाने में दुनियादारों की सम्मति की परवाह न करते हुये जो विवेक-सम्मत है उसी पर अड़ा रहता है। सत् प्रवृत्तियों को अभ्यास में लाते समय अपनी बुरी आदतों से जो संघर्ष करना पड़ता है, उसे वीर योद्धा की तरह करता है। अभावग्रस्त और कष्टग्रस्त जीवन जीकर भी वह

आदर्शवादिता की रक्षा करता है, इसलिये वह तपस्वी कहलाता है। भक्त को ऐसा अनिवार्य रूप से तपस्वी बनना पड़ता है और वह खुशी-खुशी ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने का यह मूल्य चुकाता भी है।

अपने अन्तःकरण और बाह्य जीवन में आये दिन ऐसे संघर्ष आते रहते हैं, जिनमें विवेक को मूढ़ता और सत्य को स्वार्थपरता परास्त करना चाहती है। ऐसे अवसर जब भी आवें हम शूरवीर, साहसी और संघर्षशील अर्जुन की भूमिका प्रस्तुत करना ईश्वरीय सन्देश समझें।

(५) भक्तियोग की दूसरी साधना प्रेमतत्व का भावनात्मक क्षेत्र में अभिवर्धन है। हम चिरकाल से ईश्वर के नाम का उच्चारण और स्वरूप का दर्शन एवम् ध्यान मात्र करते रहे हैं। अब हमें उसे एक अभिन्न सहचर और अनन्य प्रेमी के रूप में देखना होगा। इस एकता और आत्मीयता से अन्तःकरण में प्रेम भावना बढ़ेगी। प्रेम ही परमेश्वर है। सच्चे प्रेम की अनुभूति ही ईश्वर की वास्तविक झाँकी है। दीपक पर पतंगा जलकर जैसे द्वैत को अद्वैत में बदलता है एवम् जिस प्रकार दो अबोध बालक एक-दूसरे के गले लिपटकर समीपवर्ती बनते हैं उसी प्रकार हमें ईश्वर को अपनी अनन्य श्रद्धा प्रदान करनी चाहिये और बदले में उत्कृष्ट जीवन जीने के लिये आवश्यक प्रेरणा से भरा प्रकाश पाने की अनुभूति करनी चाहिये। हम ईश्वर की श्रद्धा समन्वित आत्म-समर्पण करें, वह हमें प्रकाश प्रदान कर रोम-रोम प्रकाशित करे यह ध्यान बहुत ही उच्च स्थिति का है। सखा, सहचर और मित्र ही नहीं ईश्वर को हर घड़ी का साथी और सहयोगी समझें, निर्भय रहें और पवित्र बनें। ऐसी ध्यान भूमिका किसी भी साधक के मन में असाधारण उल्लास उत्पन्न कर सकती है।

ईश्वर के माध्यम से उत्पन्न और अभिवर्धन किया हुआ यह प्रेम तत्व हमारे जीवन के हर क्षेत्र में विकसित हो। हम दयालु, सहृदय, स्नेही, उदार और उपकारी बनें। जो भी अपने सम्पर्क में आवे उससे भावना भरी सज्जनता का व्यवहार करें तो हम सच्चे ईश्वरभक्त और भक्तियोग के मर्मज्ञ कहला सकते हैं।

उपासना के समय अथवा जब भी अवसर हो, भगवान का ऐसा भावपूर्ण ध्यान करना चाहिये। उपासना में भावना का समावेश जितना-जितना होता जायेगा उतनी ही एकाग्रता तन्मयता बढ़ती जायेगी और आत्मा में अनिवर्चनीय आनन्द का अनुभव होने लगेगा।

यह पंचसूत्री साधना क्रम गत दिसम्बर अंक में बताया जा चुका है। यह उसी का सार है। उपासना और साधना दोनों का इसमें समन्वय है। पूजा और अर्चा यह दो साधना के पक्ष हैं। एक में भगवान् के सान्निध्य का क्रम किसी निर्धारित समय पर चलाया जाता है। दूसरे में जीवन-शोधन और लोक-मंगल के लिये तपश्चर्या का परिचय दिया जाता है। जब तक यह उभयपक्षीय पूजा अर्चा-एकत्रित नहीं होती तब तक बिजली के दोनों तार मिले बिना प्रकाश न होने की तरह अन्तःकरण में अँधेरा ही बना रहता है। इसलिये अखण्ड-ज्योति परिवार के परिजनों को यह समन्वित साधना प्रक्रिया बताई गई है।

आत्म-कल्याण के लिये बहुत लेख पढ़े जा चुके और बहुत प्रवचन सुने जा चुके हैं। यदि कुछ वास्तविक लाभ प्राप्त करना है तो इस राजमार्ग पर चलने का साहस करना चाहिये जिस पर चलते हुये हम जीवन का अधिकांश भाग लगा चुके। इसी प्रयास ने हमें सन्तोषजनक और उल्लासपूर्ण उपलब्धियाँ प्रदान की हैं।

योगत्रयी का मर्म एवं विधि व्यवस्था

यह विश्व प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। इसका कुछ अंश दृश्यमान है कुछ अदृश्य। पेड़-पौधे, जीव-जन्तु पदार्थ हमें प्रत्यक्ष दीखते या माध्यमों की सहायता से अनुभव में आते हैं। पर कुछ ऐसे हैं, जिन्हें देखा नहीं जा सकता उनके प्रभाव को देखकर ही मूल सत्ता का अनुमान लगाया जाता है। परमाणु के सूक्ष्म घटक, रेडियो कम्पन प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होते। उनकी हलचलों, प्रतिक्रियाओं को देखते हुये वस्तुस्थिति का

अनुमान लगाया जा सकता है। आत्मा और परमात्मा तक का स्वरूप वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर वास्तविक सिद्ध नहीं हो सका है। फिर भी प्रायः सभी बुद्धिजीवी यह विश्वास करते हैं कि बिना किसी बनाने वाले के इतना बड़ा और सुनियोजित ब्रह्माण्ड नहीं बन सकता है, उसकी गतिविधियाँ, ऐसा क्रमबद्ध तारतम्य नहीं रह सकता। जब घर के थोड़े से बर्तन हमेशा आपस में टकराते और आवाज करते रहते हैं तो इतने ग्रह नक्षत्र अपनी धुरी और कक्षाओं में नियमित गति और रीति में किस प्रकार चलते घूमते रह सकते हैं ? अनुमान, तर्क, तथ्य और प्रमाण के आधार पर भी विश्वास तक पहुँचा जा सकता है। वह प्रत्यक्ष की भूमिका निभा सकता है।

प्रत्यक्ष विश्व से सम्बन्धित अध्यात्म का विवेचन और निरूपण सरल पड़ते हैं किन्तु अप्रत्यक्ष अदृश्य के सम्बन्ध में दर्शनशास्त्र का आश्रय लेने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। इस क्षेत्र में प्रवेश करने पर क्रियायोग और ध्यान योग की शारीरिक-मानसिक विधि-व्यवस्था काम नहीं आती। इस निश्चय पर पहुँचने के उपरान्त तीन प्रयोगों की विधि-व्यवस्था अपनाई होती है। इनमें एक है ज्ञानयोग, दूसरा है कर्मयोग, तीसरा भक्तियोग। इन तीनों में से कोई भी एक अकेला ऐसा नहीं जो पूर्णता की उपलब्धि करा सके। ऐसा भी नहीं हो सकता कि इनमें से किसी एक को छोड़ा जा सके। एक या दो के अवलम्बन से काम चल सके।

ज्ञानयोग का तात्पर्य अनेक जानकारियों का संग्रह करके विद्वता या बुद्धि बढ़ा लेना नहीं, वरन् यह है कि 'स्व' के स्वरूप, उद्देश्य एवं दायित्व की अनुभूति अन्तरंग को होने लगे। मनुष्य शरीर नहीं अविनाशी आत्मा है। शरीर तो उसका आवरण-आच्छादन है, जबकि भ्रमवश अपने आपको काया ही समझा जाता है और उसी की इच्छायें पूरी करने के लिये वासना, तृष्णा और अहंता में निरत रहा जाता है। लोभ मोह और अहंकार के निमित्त चिन्तन और कर्म में निरत रहा जाता है। होना यह चाहिये कि आत्मबोध, आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की योजनायें बनें। आत्म-उत्कर्ष को आत्म-परिष्कार को, आत्म कल्याण को शरीरगत लिप्सा लालसा की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाये। चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में अन्तर्मुखी होकर जिया जाये।

कर्म-योग का अर्थ है मानवी गरिमा के अनुरूप ही कर्त्तव्य को समझा जाय और मर्यादाओं का अनुशासन पाला जाये। वर्जनाओं का उल्लंघन तो नहीं हो रहा इसका ध्यान रखा जाये। अन्य प्राणी नीति नियमों में बँधे हुये नहीं हैं। वे किसी का भी खेत चर सकते हैं। किसी भी मादा से पत्नीव्रत यौनाचार कर सकते हैं। भले ही वह माता, भगिनी या पुत्री ही क्यों न हो। उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान भी नहीं होता, न जिम्मेदारी की अनुभूति। इन्द्रिय प्रेरणा ही उनका मार्ग-दर्शन करती है। भय के अतिरिक्त वे स्वेच्छापूर्वक किसी प्रकार का ऐसा अनुशासन नहीं बरतते जो मनुष्यता की परिधि में प्रवेश करते ही अनिवार्य रूप में आवश्यक हो जाता है।

मनुष्य यों स्वतन्त्र है। उसे न तो रस्सों में बाँधा जाता है और न लगाम, नकेल, अंकुश आदि बंधनों से जकड़ा जाता है फिर भी वह वैयक्तिक गरिमा, परिवारगत सहकार, समाज के अनुबन्धों में जकड़ा हुआ है। देश, धर्म, समाज और संस्कृति के प्रति अति प्रभावी और नीति सदाचार के प्रति वफादार रहना पड़ता है। अनुबन्धों को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ता है। यही कर्मयोग है। जिम्मेदारियों को कड़ाई से प्रतिपालन करते हुये सन्तुष्ट और प्रसन्न रहा जाता है। भले ही प्रयत्नों का इच्छित परिणाम उपलब्ध हो या न हो।

भक्तियोग में स्वभाव, स्नेह, सद्भाव से सना हुआ रखना पड़ता है। भक्ति ईश्वर की या देवता की करते लोग देखे जाते हैं पर यह नहीं समझ पाते कि ईश्वर या देवता की भक्ति का वास्तविक स्वरूप क्या है ? प्रत्यक्ष ब्रह्म यह विराट् विश्व ही है। उसी की सेवा-साधना से भक्ति चरितार्थ हो सकती है। देवता प्रतिमा को नहीं देवत्व को कहते हैं। प्रतिमा तो उसका प्रतीक चिन्ह मात्र है। उसे धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प चढ़ा देने भर से देवत्व का

परिपोषण कहाँ हुआ ? वह तो सत्प्रवृत्तियों के परिपोषण अभिवर्धन में बन पड़ता है।

भक्ति का अर्थ है—सेवा। भजन 'भज' धातु से बनता है, उसका अर्थ पुण्य-परमार्थ ही हो सकता है। इस निमित्त मन को ढालने के लिये जप, कीर्तन सहायक हो सकते हैं। किन्तु इतने भर से ही देवता की अनुकम्पा नहीं मिल सकती और न अन्तःकरण में आनन्द-उल्लास का उद्‌भव हो सकता है। भक्ति की नवधा क्रिया पद्धति में प्रतिमा का पूजा अर्चा के लिये मनुहार, उपहार भर पर्याप्त नहीं। देवत्व आत्मा है और देव प्रतिमा उसका प्रतीक चिन्ह। प्रतीक बालबोध के निमित्त विनिर्मित किये जाते हैं। उन्हें देखकर मूल तत्व का स्मरण उसी प्रकार किया जाता है जैसे कि चित्र को देखकर किसी हितैषी सम्बन्धी का स्मरण हो आता है। चित्र देखकर उल्लसित होने में मूल व्यक्ति के प्रति अपनी स्मृतियों में समाविष्ट सद्‌भावना को सजीव करना है। देवता कोई व्यक्ति नहीं है। आदर्शों को ही देव कहते हैं, जो उत्कृष्ट आदर्शवादिता का परिपालन करता है, वही देव उपासक है। जिसके मन में यह भ्रम समाया हुआ है कि अमुक प्रतिमा का दर्शन पूजन करने भर से उचित-अनुचित मनोकामनायें पूर्ण होती हैं, वे नितान्त भ्रम में हैं। ऐसी कल्पना करना तो देवता को चापलूसी और रिश्वत का भुक्कड़ ठहराया जायेगा और उसे पक्षपाती कहा जायेगा। देवता न्याय, विवेक और औचित्य को ध्यान में रखकर ही किसी पर प्रसन्न होते और अनुकम्पा करते हैं। वे पूजा-उपचार के आधार पर किसी से नाता नहीं जोड़ते और न अनुग्रह करते हैं।

भक्ति का सीधा अर्थ है—स्नेह, सद्‌भाव। वह सर्वप्रथम अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों में किया जाता है। इसके अतिरिक्त लोक-मंगल और सत्प्रवृत्ति-संवर्धन को ध्यान में रखा जाता है। इन प्रसंगों में किया गया पुण्य-परमार्थ ही वास्तविक भक्ति है। इन प्रयोजनों के लिये शौर्य, पराक्रम, साहस का भी प्रदर्शन करना पड़ता है और आवश्यकता पड़ने पर अनीतियों, कुरीतियों से संघर्ष भी करना पड़ सकता है। भक्ति का दायरा इतना ही विस्तृत है। मात्र भावावेश या चापलूसी अपनाने से उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। छुट-पुट उपहार प्रस्तुत करना भी भक्ति नहीं है। उसके लिये आत्म-परिष्कार और लोक-मंगल के लिये उदारता और सेवा-साधना करने की आवश्यकता पड़ती है।

विशिष्ट गायत्री उपासना का सुयोग-सुअवसर !

त्रिपदा गायत्री की समन्वित साधना का सामान्य पक्ष नित्यकर्म में त्रिकाल संध्या के रूप में आरम्भ कराया जाता है—प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल। आस्तिकता, आध्यात्मिकता, धार्मिकता के त्रिविधि सिद्धान्तों को जीवन-क्रम में सम्मिलित करने के लिये इस उपासना पद्धति का निर्धारण किया गया है। देव पूजन—जप—ध्यान पर आधारित सामान्य साधनायें सभी अध्यात्म-प्रेमियों को कराई जाती हैं ताकि उनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में सतोगुणी तत्वों का क्रमशः अधिक मात्रा में प्रवेश सम्वर्धन होता चले।

नित्य कर्म में नियमित उपासना को इसी दृष्टि से सम्मिलित किया जाता है। शरीर की स्वच्छता के लिये जिस प्रकार शौच, स्नान, दन्त धावन आदि कृत्य करने पड़ते हैं। कपड़े धोना, बुहारी लगाना, बर्तन माँजना जिस प्रकार दैनिक स्वच्छता के अंग माने जाते हैं। उसी प्रकार अन्तरंग की स्वच्छता के लिये यह दैनिक साधना क्रम चलता है।

इसका अगला दूसरा चरण है—योग और तप के तत्वों का समावेश करते हुये विशिष्ट साधनाओं का अनुष्ठान और पुरश्चरण इसी वर्ग में आते हैं, इनमें अधिक समय तक अधिक अनुशासनपूर्वक, अधिक संयम साधना सहित नियत साधना करनी होती है। साथ ही सत्प्रयोजनों के लिये विशेष साहस करना पड़ता है। अनुष्ठानों के अन्त में नियत आहुतियाँ देने—ब्रह्मभोज या कन्याभोज कराने का विधान है। मात्र जप कर लेने से अनुष्ठान पूरा नहीं होता, उनके साथ परामर्श परायण की दृष्टि से अधिक उदार बनना पड़ता है। अंशदान का अधिक साहस करना पड़ता है। हवन, ब्रह्मभोज इसी उदार परमार्थपरायणता के प्रतीक हैं। वस्तुतः अनुष्ठानकर्त्ताओं को आत्म-संयम से कर्मठतापूर्वक

अपनाई गई तपश्चर्या तो पूरी करनी ही होती है साथ ही यह भी सिद्ध करना पड़ता है कि उस तपश्चर्या की गर्मी से अन्तःकरण में कोमलता, करुणा और सद्‌भावना बढ़ी है।

दान में सेवा की अभिव्यक्ति है। श्रमदान, समयदान-साधन दान आदि सभी अंशदान हैं। लोक-मंगल के लिये भी मनुष्य को उतना ही निष्ठावान् होना चाहिये, जितना कि देवोपासना के प्रति अपनी तत्परता दिखाने और साधनापरक कर्मकाण्ड पूरा करने में व्यक्त की गयी थी। कृपणता, स्वार्थपरता, अनुदारता यथावत् बनी रहे। साधक परमार्थ की दृष्टि से कुछ भी न करे—मात्र भजन-पूजन की टन्ट-घन्ट करने से सन्तुष्ट बना रहे तो समझना चाहिये कि सब कुछ अधूरा ही रह रहा है। कृपणों पर देवता की अनुकम्पा प्रायः नहीं ही बरसती। अनुदारों के प्रति देवता भी अनुदार ही बने रहते हैं। मध्यवर्ती अनुष्ठान साधना में आत्म-संयम और उदार अंशदान के तत्व मिलते हैं तो वहीं गायत्री मन्त्र अधिक चमत्कारी सत्परिणाम प्रस्तुत करता है।

कहा जा चुका है कि सामान्य नित्य कर्म साधना में दैनिक जप-पूजन संध्यावन्दन, स्तर के नित्य नियम का विधान है। मध्यवर्ती साधना से समय-समय पर अनुष्ठान करने के लिये साहस जुटाया जाता है। उससे ऊँची तीसरी कक्षा है उच्चस्तरीय साधनाओं की। इनमें कई तरह के अधिक साधन जुटाने, अनुशासन निभाने और परमार्थ की दिशा में अधिक साहसपूर्ण कदम उठाने पड़ते हैं। अरण्यक साधना इसी प्रयोजन के लिये की जाती है।

प्राचीनकाल में किशोरों और युवकों के लिये गुरुकुल प्रशिक्षण की व्यवस्था थी और प्रौढ़ों के लिये आरण्यकों की। आरण्यकों में मात्र साधना और शिक्षा ही पर्याप्त नहीं समझी जाती थी वरन् सबसे अधिक इस तथ्य पर ध्यान दिया जाता था कि साधक को परोक्ष वातावरण का अनायास ही लाभ मिलता रहे। अतएव आरण्यक ऐसे स्थानों पर बनाये जाते थे, जिनमें तीर्थ तत्वों की परम्परागत विशिष्टता सहज ही उपलब्ध होती रहे। दूसरा ध्यान यह रखा जाता था कि वहाँ प्राणवान् ऊर्जा से सुसम्पन्न व्यक्तित्वों का सान्निध्य उपलब्ध रहे। तीसरा यह कि वहाँ अन्य प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियों की खटपट से उत्पन्न होने वाले विक्षेपों का सामना न करना पड़े। इन आरम्भिक विशेषताओं के रहने पर किसी आध्यात्मिक साधना केन्द्रों को आरण्यक वर्ग में गिने जाने का श्रेय मिलता है। इसके बाद सुनियोजित तप-साधन एवं तत्वदर्शी प्रशिक्षण की व्यवस्था बनती है।

उच्चस्तरीय साधनायें घर-परिवार के अस्त-व्यस्त वातावरण में—सांसारिक व्यस्तताओं में फँसे रहने पर वैसी प्रभावोत्पादक नहीं बन पड़तीं जैसी कि विशिष्ट प्रतिफल के लिये आवश्यक हैं। इसके लिये प्राचीन परम्परा में आरण्यकों में जाकर रहने और उसी प्राणवान वातावरण में रहकर सच्चे अर्थों में सच्ची साधना करने और उसके तद्‌नुरूप सत्परिणाम प्राप्त करने में सफल होते थे।

आज कितनी ही पुण्य परम्परायें लुप्त हो गईं और उनके सत्परिणामों से वंचित रहकर मानव जाति को अतिशय क्षति उठानी पड़ रही है। ऐसी ही लुप्त परम्पराओं में आरण्यकों का तिरोधान भी एक है। यह क्षति इतनी बड़ी है, जिसकी पूर्ति अन्य किसी प्रकार होती दिखाई नहीं पड़ती। शरीरबल के लिये व्यायामशाला—बुद्धिबल के लिये पाठशालायें—धन बल के लिये उद्योगशालायें मौजूद हैं। कलाकार बनने वाले साधन-सम्पन्न कलाकेन्द्रों में प्रवेश पाते हैं। सैन्य शिक्षा के लिये उचित प्रशिक्षण की सुविधा है। शिल्प-संस्थानों की कमी नहीं। द्वार तो उनके लिये बन्द हैं, जो आत्मबल सम्पादन के लिये उपयुक्त वातावरण, साधन एवं अवलम्बन चाहते हैं। तथाकथित योगाश्रमों की कमी नहीं। पुराने असंख्यों मौजूद हैं और नये आये दिन बनकर खड़े होते जाते हैं। इन पर बारीकी से दृष्टि डाली जाये और समीक्षा की जाय कि समर्थ साधना के लिये जिस वातावरण, शिक्षण एवं सान्निध्य की आवश्यकता है, वह वहाँ उपलब्ध है या नहीं ? तो समीक्षक को निराशा ही हाथ लगेगी। भोले-भावुक तो कहीं भी बहकते और बहकाये जाते रहते हैं।

ब्रह्मवर्चस आरण्यक को ऐसे ही वातावरण से भरपूर बनाया गया है। जहाँ थोड़े समय में रहने वाले को भी वैसा ही लाभ मिल सके जैसा साधन-सम्पन्न सैनेटोरियमों से रुग्ण दुर्बल व्यक्तियों को मिलता है। अच्छे अस्पतालों में भर्ती होकर चिकित्सा की जो सुविधा मिलती है, वह घर रहकर इलाज कराने वाले प्रायः पा नहीं सकते। गुरुकुल में रहकर आश्रम जीवन का प्रभाव ग्रहण करने और घर पर मास्टर को बुलाकर कुछ पढ़ लेने के मध्य कितना अन्तर होता है, इसका प्रत्यक्ष परिचय कहीं भी प्राप्त किया जा सकता है ? आत्मिक प्रगति की साधना के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है।

हरिद्वार के ब्रह्मवर्चस को उन सभी सुविधाओं और विशेषताओं से सम्पन्न बनाया गया है, जिनमें रहकर साधक को निजी तप-साधना और प्रदत्त अनुदान का दुहरा लाभ मिलता रहे। गंगा की गोद, हिमालय की छाया और सप्त ऋषियों की तपभूमि वाली त्रिविधि विशेषतायें ऐसी हैं, जो अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। गंगा-हिमालय की पवित्रता और समीपता का महात्म्य सर्वविदित है। सप्त ऋषियों ने जिस एक ही स्थान पर तप किया हो और गंगा को उनके लिये स्वयं को सातधाराओं में विभक्त करके सम्मान देना पड़ा हो—ऐसा ऐतिहासिक स्थान अन्यत्र कहीं भी नहीं है। ऋषि विशिष्टता के तत्व इस भूमि में अभी भी इतनी बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं जितने अन्यत्र कदाचित ही मिल सकें। ब्रह्मवर्चस् ठीक गंगातट पर बनाया गया है, जहाँ भगवती जाह्नवी का सान्निध्य निरन्तर उपलब्ध रहता है, साधकों को स्नान एवं गंगाजल पीने पर ही निर्भर रहना पड़ता है। आहार के सम्बन्ध में ऐसी विशेष व्यवस्था है कि उस पर निर्भर रहने का प्रतिफल कषाय-कल्मषों से भरी आधि-व्याधियों के निराकरण में प्रभावी औषधि उपचार जैसा रामबाण सिद्ध होता है। गायत्री माता का अंचल और यज्ञ पिता का आश्रय यहाँ निरन्तर उपलब्ध है।

अतिरिक्त विशेषतायें इस आरण्यक की कुछ और भी हैं, जिन्हें अनुपम, अद्भुत, अपूर्व और असाधारण कहने में किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं समझी जा सकती। गायत्री शक्तिपीठ के रूप में गायत्री महाशक्ति की चौबीसों शक्ति धाराओं की प्राण प्रतिष्ठापना की गई है। महामन्त्र के २४ अक्षरों से सम्बन्धित २४ देव गायत्रियों का उल्लेख उपासना ग्रन्थों में तो मिलता है पर उन सभी की प्रतिमायें प्राण-प्रतिष्ठायुक्त होकर कहीं भी स्थापित नहीं हुईं।

अपने समय में युगान्तरीय चेतना का प्रज्ञावतार युग शक्ति गायत्री के रूप में ही सम्पन्न होने जा रहा है। ऋतम्भरा का आलोक ही जनमानस का परिष्कार करेगा। मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण इसी ज्ञान गरिमा की प्रखरता द्वारा सम्पन्न होगा। भगवती ऋतम्भरा का यह अद्वितीय तीर्थ है, जिसमें उसकी चौबीसों कला, चौबीसों देव गायत्रियों के रूप में मूर्तिमान् की गई हैं। इनके सान्निध्य में साधक अपनी विशिष्ट क्षमताओं के अनुरूप, विशेष साधनायें करके विशेष सफलतायें प्राप्त कर सकते हैं। इन विग्रहों में वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही पक्ष हैं। दक्षिणमार्गी सरस्वती और वाममार्गी दुर्गा के दोनों ही साधना उपक्रम इसमें सम्मिलित हैं। ब्रह्मवर्चस में ज्ञान और विज्ञान के आत्मिक और भौतिक जीवन को प्रभावित करने वाले दोनों पक्षों को सुविकसित करने की क्रिया-प्रक्रिया अपनाई गई है।

शोध-संस्थानों में यज्ञ चिकित्सा विज्ञान तथा साधना के प्रत्यक्ष प्रतिफल पर बहुमूल्य यन्त्रों द्वारा कितने ही प्रयोग, उपचार किये जाते हैं। इसके लिये आवश्यक परीक्षण ब्रह्मवर्चस के साधकों पर ही किये जाते रहेंगे। रोगियों के निरोग करने की अस्पताल जैसी पद्धति का निर्माण वर्तमान परिस्थितियों में सम्भव नहीं था। वह साधन साध्य है। उपयुक्त यह लगा कि क्षमताओं के सम्वर्धन पर ध्यान केन्द्रित किया जाये। अस्पताल अपनी जगह पर आवश्यक है और क्षमता सम्वर्धन के लिये बनाये गये संस्थानों की अपनी उपयोगिता है। ब्रह्मवर्चस में रोग निवारण को नहीं, शक्ति संवर्धन को प्राथमिकता दी गई है।

शोध-संस्थानों के प्रथम चरण में यही कार्य हाथ में लिया है। इस दृष्टि से ब्रह्मवर्चस ने साधक न केवल शक्तिपीठ में अपने लिये. उपयुक्त शक्तियों की साधना कर सकते हैं, वरन् शोध-संस्थानों के बहुमूल्य उपचार से प्रगति पथ पर अग्रसर होने का अतिरिक्त लाभ भी उठा सकते हैं।

गायत्री उपासना कभी भी—कहीं भी की जाये, उसके परिणाम सुनिश्चित हैं किन्तु उसमें विशेष समय, विशेष परिस्थितियों का और स्थान का महत्त्व भी विशिष्ट रहता है। यह सारी विशिष्टतायें ब्रह्मवर्चस में उपलब्ध हैं। यह एक प्राणवान् तीर्थ है, जहाँ आकर गायत्री उपासना के लाभ कोई भी प्राप्त कर सकता है। भविष्य में ऐसे तीर्थ, ऐसी शक्तिपीठें सारे भारत में बनने जा रही हैं, जिससे सारे देश को विशिष्ट वातावरण में की गई गायत्री की विशेष साधनाओं का लाभ मिलता रह सके।

जप की महिमा

जप को शास्त्रकारों ने श्रेष्ठ कर्मकाण्ड बताया है। उसे यज्ञ बताया है और अन्य श्रेष्ठ कर्मों की भाँति जप से भी आत्मकल्याण होने का प्रतिपादन किया है। किसी भावना को बार-बार मन में दुहराने, लगातार उसकी प्रतिष्ठा मन में करने से मन का निर्माण उसी प्रकार होता है और अन्ततः व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। कुओं पर रखी हुई शिलायें बार-बार रस्सी की रगड़ होने से घिस जाती हैं और उन पर निशान पड़ जाता है। पत्थर जैसी कड़ी वस्तु का रस्सी जैसी कोमल वस्तु से घिस जाना और उसमें गड्ढे पड़ जाना इस बात का प्रमाण है कि किसी कार्य को बार-बार बहुत समय तक किया जाता रहे तो कठोर से कठोर वस्तु पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

हमारा मन चाहे कैसा ही उच्छृंखल क्यों न हो, पर जब उसको बार-बार किसी भावना पर केन्द्रित किया जाता रहेगा तो कोई कारण नहीं कि वह कालान्तर में उसी प्रकार का न बनने लगे। लगातार प्रयत्न करके सरकस में खेल दिखाने वाले बन्दर, सिंह, बाघ, रीछ जैसे उद्दण्ड जानवर मालिक की मनमर्जी के काम करने लगते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं तो कोई कारण नहीं कि चंचल और कुमार्गगामी मन को वश में करके इच्छानुवर्ती न बनाया जा सके।

पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी नियत मर्यादा की गिनती में दंड, बैठक आदि करते हैं। उनकी इस क्रिया-पद्धति से उनका शरीर दिन-दिन हृष्ट-पुष्ट होता जाता है और एक दिन वे अच्छे पहलवान बन जाते हैं नित्य का जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है तथा एक प्रकार की आन्तरिक दंड बैठक है, जिसे आत्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ बनाने में, सूक्ष्म शरीर को पहलवान बनाने में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

एक-एक बूँद जमा करने से घड़ा भर जाता है, चींटी एक-एक दाना ले जाकर अपने बिलों में मनों अनाज जमा कर लेती हैं, एक एक अक्षर पाठ करने से विद्या प्राप्त हो जाती है, एक-एक कदम चलने से लम्बी मंजिलें पार हो जाती हैं, एक-एक पैसा जोड़ने से खजाने जमा हो जाते हैं, एक-एक तिनका मिलने से मजबूत रस्सी बन जाती है, जप में भी यही होता है। माला का एक-एक दाना फेरते रहने से धीरे धीरे बहुत कुछ जमा हो जाता है और इतना जमा हो जाता है जिससे आत्मा का कल्याण हो सकता है। इसलिये योग ग्रन्थों में जप को यज्ञ बताया है, उसकी बड़ी महिमा गाई है और आत्म-मार्ग पर चलने की इच्छा करने वाले पथिकों को जप करने का आदेश किया है।

जप की महिमा बताने वाले कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञान्नं जपयज्ञोस्मि स्थावराणां हिमालया।।

—गीता अ. १०-२५

मैं महर्षियों में भृगु और और वाणियों में ओंकार, यज्ञों में जप यज्ञ तथा स्थावरों में हिमालय हूँ।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञः समन्वितः।
सर्वे ते जप यज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

मनु-२-८६

होम, बलिकर्म, नित्य श्राद्ध, अतिथि भोजन आदि पाक यज्ञ और विधि यज्ञ दर्शपौर्णमासादि

ये समस्त मिलकर भी जप यज्ञ की सोलहवीं कला के समान नहीं हैं।

समस्तसप्ततन्तुभ्यो जपयज्ञ परःस्मृतः।
हिंसान्ये प्रवर्तन्ते जपयज्ञो न हिंसया।।
यावन्तः कर्म यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च।
ते सर्वे जप यज्ञस्य नार्हति षोडशींकलां।।
जपने देवता नित्यं स्तूयमाना प्रसीदति।
प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्यतीम्।।
यक्ष राक्षस वैताल, भूत प्रेतपिशाचकाः।
जपाश्रयीं द्विजं दृष्ट्वा, दूरन्ते यान्ति भीतिज्ञः।।
तस्माज्जपः सदा श्रेष्ठः सर्वस्मत्पुण्यसाधनात्।
इत्येवं सर्वथा ज्ञात्वा विप्रो जपपरो भवेत्।।

—भारद्वाज गायत्री व्याख्या

समस्त यज्ञों से जप अधिक श्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में तो हिंसा होती है, जप यज्ञ हिंसा से नहीं होता है। जितनी भी कर्म, यज्ञ, दान, तप हैं, वे समस्त जप यज्ञ की सोलहवीं कला के समान भी नहीं होते हैं। जप द्वारा स्तुति किये गये देवता प्रसन्न होकर बड़े-बड़े भोगों को तथा अक्षय शक्ति को प्रदान करते हैं। जप करने वाले द्विज को दूर से देखते ही यक्ष, राक्षस, बैताल भूत, प्रेत, पिशाच आदि भय से भयभीत हो भाग जाते हैं। इस कारण से समस्त पुण्य-साधनों में, जप सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार जानकर ब्राह्मण को सर्वथा जप-परायण होना चाहिये।

जप कैसे करें ?

गीता के उपरोक्त श्लोक में भगवान कृष्ण ने सब कार्यों को विधिपूर्वक करने का आदेश किया है, क्योंकि अविधिपूर्वक कार्य करने से अभीष्ट सफलता नहीं मिलती। सफलता के लिये किसी नियमित व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जप की नियमित व्यवस्था क्या है, इसका कुछ आभास नीचे के श्लोकों से मिलेगा।

यो शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं परमां गतिम्।।

—गीता

जो मनुष्य शास्त्र निर्धारित विधि को त्यागकर स्वच्छन्दता-पूर्वक आचरण करता है, उसको न तो सिद्धि ही प्राप्त होती है न सुख और न परमगति ही प्राप्त होती है।

दर्भेष्वसीनो दर्भान् धारयमाण सोदकेन।
पाणिना प्रत्यङ्मुखः सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेत्।।

—बौधा. स्मृ २।४।५

कुशासन पर बैठ, पूर्वाभिमुख हो जल सहित कुशाओं को धारण कर, हजार बार गायत्री का जप करे।

मनः संहृत्य विषयान् मन्त्रार्थगतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बं च जपेन्मौक्तिक पंक्तिवत्।।

विषयों से मन को हटाकर मन्त्र के अर्थ में मन को लगाकर न अत्यन्त शीघ्रता से न अत्यन्त विलम्बतापूर्वक किन्तु मोती के दाने गिनने के सदृश समानता से जप करे।

प्रातर्नाभिसमं कुर्यान्मध्यान्हे हृदये तथा।
सायान्हे नासिकामूले जप लक्षणमीरितम्।।

—सन्ध्या भाष्यः

प्रातःकाल में हाथ को नाभि के बराबर करके जप करे।

सायंकाल को तारागण दर्शन से प्रथम ही सावित्री का जप करें और प्रातःकाल सूर्य दर्शन तक करे।

कुशासने समासीनो गायत्री जपमाचरेत्।
अतारकोदयात्सायंमर्धास्तमित भास्करात्।।

—सन्ध्या भाष्यः

कुशासन स्थित हो सायंकाल में तारागण उदय होने से पूर्व सूर्यदेव का अर्ध भाग अस्त होने पर गायत्री जप करे।

आवाह्य पंञ्चगायत्रीमायात्वित्यनुवाकतः।
ऋषिच्छन्दो देवताश्च स्मृत्वा सम्यग्जपेद्बुधः।।

—सन्ध्या भाष्यः

अनुवाकपूर्वक गायत्री देवी का आवाहन कर ऋषि, देवताओं को स्मरण कर बुद्धिमान मनुष्य जप करे।

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणपानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।

बाहर के सम्बन्धों को त्याग, दोनों भौहों के मध्य में दृष्टि लगा, नासिका में चलने वाली प्राण और अपान वायु की गति को समान कर जप करे।

वाचिकश्च तथोपांशुप्रानसश्च जपस्त्रिघा।
उत्तरोत्तर उत्कृष्ट सर्वपाप प्रणाशनः।।

—सन्ध्या भाष्यः

जप, वाचिक, उपांशु, मानस, भेदों से तीन प्रकार का है, ये क्रमशः उत्कृष्ट फलदायक हैं।

स्वरत्रय समायुक्तो वर्णव्यक्ति परोजपः।
स वाचिक इति ख्यातो स्वाक्षरोच्चरितोनृपः।।

—सन्ध्या भाष्यः

उच्च, मध्य, निम्न स्वर से प्रत्येक वर्ण को उच्चारण करके किये गये जप को वाचिक कहते हैं।

ईषदुच्चरितो राजकिंचिदोष्टौ प्रचाल्य च।
स उपांशुरिति ख्यातः किंचिच्छब्दयुतोनृप ! ।।

—सन्ध्या भाष्यः

हे नृप ! ओठों को चलाकर थोड़े शब्द से उच्चारण कर किये गये जप को उपांशु कहते हैं।

मानसो मनसा चिन्त्यो ध्यानमस्तकवर्णनात्।

—सन्ध्या भाष्यः

मस्तक पर ध्यान लगा मन में किया जप मानस कहलाता है।

वाचिकस्त्वहमेव स्वादुपांशु शममुच्यते।
सहस्रं मानसं प्रोक्तं त्रिविधं जप लक्षणम्।।

जप तीन प्रकार का होता है वाचिक, उपांशु तथा मानस। वाचिक से सौ गुना उपांशु और सहस्र गुणा मानसिक कहा जाता है।

बिना वस्त्रं प्रकुर्वीत गायत्री निष्फला भवेत्।
वस्त्रप्रच्छं न जानाति वृथा तस्य परिश्रमः।।

वस्त्र से अनावृत किया हुआ जप निष्फल होता है। इस प्रकार के जप में किया हुआ परिश्रम निष्फल होता है।

प्रणवं पूर्णमुद्धत्य भूर्भुवः स्वस्तथैवच।
तुर्य सहैव गायत्री जप एव मुदाहृतम्।।

प्रथम प्रणव का उच्चारण कर फिर भूर्भुवः स्वः के साथ गायत्री का जप करना चाहिये।

वस्त्रेणाच्छाद्यतुकरे दक्षिणे यः सदा जपेत्।
तस्यतत्सफलं जाप्यंतद्धीनमफलं स्मृतम्।। मनु

दाहिने हाथ को वस्त्र से छिपाकर जप करना चाहिये। छिपाकर करने से ही सफलता होती है न छिपाने से विफलता।

ॐकारः पुरुषोज्ञेयो गायत्री स्त्री तु कथ्यते।
तयोर्मिलापकश्चैव वस्त्रेणाऽऽच्छाद्यते करः।।

ॐकार पुरुष है गायत्री स्त्री। उनका मिलाप होने के कारण उसे ढँककर ही जप करना चाहिये।

कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादं श्रृंगार कौतुकम्।
मिथ्या निद्रा स्त्री प्रसंगान् मन्त्रार्थे वर्जयेद् दश।।

मन्त्र को जपते समय काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, श्रृंगार, कौतुक, मिथ्या, निद्रा तथा स्त्री प्रसंग को छोड़ देना चाहिये।

वाचिकश्चाप्युपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः।
त्रयाणां जप यज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः।।

नृसिंहे

वाचक, उपांशु तथा मानस जप तीन प्रकार का होता है। वे तीनों ही जप यज्ञों में उत्तरोत्तर श्रेयस्कर है।

गायत्रीं संम्मरेद्धीमान्हृदि वा सूर्य मण्डले।
कल्पोक्त लक्षणेनैवध्यात्वाऽभ्यर्च्य ततो जपेत्।।

बुद्धिमानों को हृदय अथवा सूर्यमण्डल में गायत्री का स्मरण करना चाहिये जैसाकि कल्प में लक्षण हैं उसके बाद, ध्यान, अर्चना तथा जप करना चाहिये।

अथ गायत्र्युच्चारण धर्मः कथ्येतेः—

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्ततः परम्।
गायत्रीं प्रणवं चान्ते जप एव उदाहृतः।।

प्रणव को पहले बोले, फिर भूःर्भुवः स्वः बोले फिर गायत्री अन्त में इस प्रकार इस मन्त्र का जप करे।

वाचिकाख्य उपांशुश्च मानस्त्रिविधः स्मृतः।
त्रयाणां जप यज्ञानां श्रेष्ठः स्यादुत्तरोत्तरः।।
पदुच्चनीच स्वरितैः शब्दैः स्पर्शाद्यदाऽक्षरैः।
मन्त्रमुच्चार्ययेद्वाचा जप यज्ञः स वाचिकः।।

वाचिक उपांशु तथा मानसिक में जप के तीन प्रकार हैं, जो कि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। ऊँचा, नीचा और स्वरित् शब्द को स्पर्श करता हुआ अक्षर वाणी से मन्त्र का उच्चारण करना वाचिक जप है।

शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमन्दमोष्ठौ प्रचालयेत्।

उपरैरश्रुतः किंचित्स उपांशु जपः स्मृतः।।

धीरे-धीरे मन्त्र का उच्चारण करना, धीरे-धीरे ओठ चलाना, दूसरा कोई थोड़ा भी न सुन सके उसे उपांशु जप कहते हैं।

विधाय चाक्षर श्रेण्यां वर्णाद्वर्णं परात्परम्।

शब्दार्थ चिन्तितं भूयः कथ्यते मानसो जपः।।

अक्षरों की श्रेणी में तो आ जाये और वर्ण अलग-अलग मालूम पड़े, शब्दार्थ का चिन्तन भी होता चले उसे मानस जप कहते हैं।

वाचिकस्त्वेक एव स्यादुपांशुः शतमुच्यते।

सहस्रं मानसः प्रोक्तौ मन्वत्रि भृगु नारदै।।

वाचिक का एक गुण, उपांशु का सौगुना तथा मानस का सहस्र गुणा फल मिलता है ऐसा मनु, अत्रि, भृगु, नारद कहते हैं।

नियत संख्या में जप करना चाहिये

जप को नियत संख्या में करने के सम्बन्ध में अधिक जोर दिया गया है। बिना गिने चाहे जितना न्यूनाधिक जप करना उचित नहीं बताया गया। कारण यह है कि उससे अनिश्चितता रहती है। कभी ऐसा भी हो सकता है कि न्यून मात्रा में जप किया गया हो और ऐसा मालूम होने लगे कि हमने बहुत जप कर लिया। कभी यह भी हो सकता है कि अधिक जप कर लेने पर भी यह सन्देह रहे कि कहीं बहुत कम जप तो नहीं हुआ। इस अनिश्चितता को दूर करने और शक्ति को नियत परिमाण में एक दिशा में नियोजित करने के लाभों को ध्यान में रखते हुये एक नियत संख्या में जप करने का विधान किया गया है। इसके कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

जप संख्या तु कर्त्तव्या नासंख्यानं जपेत्सुधीः।

जप संख्या से करना चाहिये, विद्वान् अनियमित संख्या वाला जप न करे।

अनध्यायेऽष्टाविंशति प्रदोषे दशैव जपेदिति कारिकायाम्। —कारिका

अनध्याय में २८ बार जप करें और प्रदोष में १० बार जप करे।

अष्टाशतं चतुः पंचाशत् सप्तविंशतिर्वा मालामणयः। —धर्मसिन्धुः

माला १०८ दानों की अथवा ५४ अथवा २७ दानों की होनी चाहिये।

सहस्रं ह्युत्तमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।

सदैवैतत्प्रमाणेन गायत्री जपमाचरेत्।।

—आन्हिक पंचाशिका।

हजार बार जाप करना उत्तम है, सौ बार मध्यम तथा दस बार जपना निम्नकोटि का है। सदैव इसी प्रमाण से जप करे।

त्रिंशत्प्रदोषे गायत्रीमथवा दश संख्यकाम्।

अनध्यायेषुसर्वेषु ह्यष्टाविंशति संख्यकाम्।।

इतिकैश्चित्स्मृतं देशे दश संख्यां जपेद्बुधः।।

—आन्हिक पंचाशिका

प्रदोष विधि में गायत्री का जप तीस बार अथवा दस बार करे और सम्पूर्ण अनध्यायों में २८ बार। किन्हीं आचार्यों का मत है कि अनध्यायों में केवल दस बार जप करे।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत्।

वानप्रस्थश्च सन्यस्तो द्विसहस्राधिकं जपेत्।। मनु.

ब्रह्मचारी तथा गृहस्थी मानव को गायत्री का जप १०८ बार करना चाहिये, वानप्रस्थ और सन्यासी को दो हजार से अधिक जप करना चाहिये।

अष्टोत्तरशतं नित्यमष्टाविंशतिमेव वा।

विधिना दशकं वापि त्रिकालेषु जपेद्द्विजः।।

—व्यासः।

विधिपूर्वक नित्य द्विज जाति मात्र को १०८ बार अथवा २८ बार अथवा १० बार गायत्री मन्त्र का जप अवश्य करना चाहिये।

श्राद्धे प्रदोषे दर्शे च गायत्री दश संख्यया।

अष्टाविंशत्यनध्याये त्रयोदश्यां तु मानसम्।।

—सन्ध्याभाष्यः।

श्राद्ध में प्रदोष, दर्श, त्रयोदशी में अनध्याय में गायत्री का जप २८ बार करे।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत्।
कालत्रयेऽयशक्तश्वेदष्टाविंशतिमेव वा।।

—लघ्वायनस्मृति अ. २

ब्रह्मचारी और गृहस्थ तीनों काल में गायत्री का एक हजार बार जप करे अशक्त होने पर २८ बार ही जप करे।

अपनी मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुये अधिक संख्या में जितना जप हो सके उतना उत्तम है। यह उत्तमता इस बात पर निर्भर है कि जप करने वाले का चित्त उसमें उत्साहपूर्वक लगा हो, श्रद्धा और भक्ति भावना में शिथिलता न आवे। शिथिल मन से किया हुआ जप अधिक आशाजनक फल उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये जितनी अधिक देर मन बिना थके, बिना ऊबे, बिना शिथिल हुये रुचि-पूर्वक लगा रह सके उतनी अधिक देर जप करना उत्तम है। ऐसी स्थिति जितनी अधिक देर रह सके उसे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

पर साथ ही न्यूनातिन्यून की मर्यादा का भी ध्यान रखना चाहिये। कम से कम २८ जप करने तो आवश्यक है ही। इतने से भी कम में काम नहीं चल सकता। जिसका पेट जितना बड़ा हो उसे उतना भोजन चाहिये पर न्यूनातिन्यून भी एक मात्रा होती है, जितने से कम में जीवन धारण भी नहीं हो सकता, इसी प्रकार गायत्री की न्यूनातिन्यून मात्रा २८ है, चाहे कितना ही आवश्यक कार्य क्यों न हो इतना जप तो प्रत्येक दशा में करना ही चाहिये।

जप काल में यह न कीजिये

जप काल एक विशेष काल है। उसमें कुछ विधि निषेधों का पालन करना होता है। जब किसी अंश का आपरेशन होता है तो उस अंग को एक नियत स्थिति में रखा जाता है। यदि उस नियत विधि से वह विचलित हो तो आपरेशन खराब होने की आशंका रहती है। माता जब बालक को प्रसव करती है तो उस समय एक नियत विधि निषेध का पालन करती है, यदि उसका पालन न करे तो माता के ऊपर अथवा बालक के ऊपर संकट आ सकता है। साधना काल ऐसा ही विशेष काल है, उसके लिये कुछ मर्यादायें नियत की गई हैं। साधक को इनका ध्यान रखना चाहिये।

जप काले न भाषेत् नांगानि चालयेत्तथा।
न कम्पयेच्छिरो ग्रीवां दन्तान्नैवप्रकाशयेत्।।
गुह्यका राक्षसाः सिद्धाः हरन्ति प्रसभं हितत्।
एकान्ते तु शचौ देशे तस्माज्जप्यं समाचरेत्।
चाण्डालाशुद्धपतिताम् दृष्ट्वाचम्य पुनर्जपेत्।।

—लघुव्यास संहिता

जप करते समय वार्तालाप न करे, अंगों को इधर-उधर न चलावे, सिर तथा गर्दन को न हिलावे, हंसे नहीं। अपवित्र स्थान में बैठकर जप करने से राक्षस गुह्यक सिद्ध जप के फल को बलपूर्वक नष्ट कर देते हैं, अतः एकान्त पवित्र स्थान में बैठकर जप करे। चाण्डाल, अपवित्र नीच पुरुषों के दृष्टिगोचर होने पर आचमन करके पुनः जप करे।

पादेन पादमावुम्य जपं नैव तु कारयेत्।
शिरः प्रावृत्य वस्त्रेण ध्यानं नैव प्रशायते।।

—व्यासः गायत्री व्याख्या

पैर के ऊपर पैर रखकर जप नहीं करना चाहिये, सिर पर वस्त्र डालकर जप अथवा ध्यान करना श्रेष्ठ नहीं है।

न पाणिपादचपलो न नेत्र चपलो द्विजः।
न च वाक् चपलश्चैव, जपन्सिद्धिमवाप्नुयात्।।

—व्यासः गायत्री व्याख्या

हाथ-पैर को चलाने वाला, नेत्र चलाने वाला, बातचीत अधिक करने वाला द्विज जप करता हुआ सिद्धि को नहीं प्राप्त होता है।

अरण्ये बुद्धिनाशाय, पुत्रनाशाय मैथुने।
दन्तादौ वित्तविनाशाय, प्रस्ताये रोगपीड़ितं।।
स्नानं तेज नाशाय, जुहुयन् च श्रियं हरेत्।
भुज्जतो मृत्युमाप्नोति, जाप्येत्, निष्फलं भवेत्।।

—प्रपत्ति वैभव

वन में मौन न रहने से बुद्धि का नाश, और स्त्री समागम में मौन न रहने से पुत्र का नाश और दतौन में बोलने से सम्पत्ति का नाश, पेशाब करने में बोलने से रोग उत्पन्न होता है। स्नान में बोलने से तेज का, हवन में बोलने से लक्ष्मी का नाश होता है। भोजन में बोलने से मृत्यु की आशंका तथा जप में बोलने से जप निष्फल होता है।

गायत्रीं न जपेत्तोयेऽनाच्छादितकरस्तथा।

अंगुष्ठाग्रेरु वा मेरु लङ्घनेनाप्यसंख्यया।।

प्रलपन्न शुचौ देशे न जपेच्छिद्र दर्शने।

—आन्हिक पञ्चाशिका।

गायत्री का जप जल में तथा ढँककर न करें। अँगूठे के अग्रभाग से तथा सुमेरु (आठवाँ पोरुआ) उल्लंघन करके जप न करे, अशुद्ध प्रदेश में तथा बोलता हुआ या पर दोषों को देखता हुआ जप न करे।

कदाचिदपि नो विद्वान् गायत्रीमुदके जपेत्।

गायत्र्यग्निमुखी प्रोक्ता तस्मादुत्थाय तां जपेत्।।

—गोभिक्तः

विद्वान् कभी भी गायत्री का जप जल में नहीं करे क्योंकि गायत्री अग्निमुखी है। अतः जल से बाहर जप करें।

यज्जले शुष्कवस्त्रेण स्थले चैवार्द्र वाससा।

जपो होमस्तथा दानं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।।

जल में सूखे वस्त्र से तथा थल में गीले वस्त्र से किया गया जप, हवन, दान समस्त निष्फल होते हैं।

वस्त्रेणाच्छाद्य तु करं दक्षिणं यः सदा जपेत्।

तस्य तस्फलं जप्यं दद्धीनं निष्फलं मतम्।।

—व्यास

जो पुरुष सदा दाहिने हाथ को वस्त्र से ढककर जप करता है, उसका जप सफल होता है, न ढकने से जप निष्फल होता है, किन्तु दोनों हाथों को न ढकना चाहिये।

असंख्यमासुरं यस्मत्तस्मात्तद् गण्येद् ध्रुवम्।

—वृहत् पाराशर संहिता

बिना गिने जप असुर भाव को प्राप्त हो जाता है। अतः जप की गणना अवश्य करनी चाहिये।

न जल्पन्न हसेन्नक्षेन्नशब्दस्पर्शयन्नृप।

न संचरन्न चाक्रम्य नचान्यानवलोकयन्।।

न चलासन माकम्य ना पवित्र करद्वयः।

उदये प्राङ्मुखस्तिष्ठन्संख्ययैवं जपेद्बुधः।।

—सन्ध्या भाष्यः

वार्तालाप करते हुये, हँसते हुये, शब्द करते हुये, किसी को स्पर्श करते हुये, चलते हुये, दूसरों को देखते हुये जप न करना चाहिये। आसन को बदलकर बिना हाथ धोये जप न करना चाहिये, सूर्योदय काल में पूर्वाभिमुख हो संख्यानुसार जप करना चाहिये।

असंख्योतोऽपवित्रश्च जपो निष्फला तामियात्।

पर्वभिर्गण्येत्संख्यां नाक्षमाललदिभिर्नृप।।

असंख्यों से तथा अपवित्रता से किया जप निष्फल है और गणना रुद्रामाला से न करें, उँगलियों के पर्वों से करें।

गायत्री के चौबीस अक्षर

गायत्री मन्त्र के २४ अक्षरों के साथ अनेक कारण जुड़े हैं। इसके साथ कई चौबीस रहस्यों का सम्मिलन है। नीचे कुछ ऐसे ही चौबीस अक्षरों के हेतु बताये जाते हैं—

(१) संसार की समस्त विद्याओं के भण्डार २४ महाग्रन्थ हैं। ४ वेद, ४ उपवेद, ४ ब्राह्मण, ६ दर्शन और ६ वेदांग इस प्रकार चौबीस हुये। तत्वज्ञों का ऐसा भी मत है कि गायत्री के एक-एक अक्षर से यह एक-एक ग्रन्थ बना है। गायत्री के गर्भ में इन २४ ग्रन्थों का मर्म छिपा हुआ है। गायत्री का मर्म इन २४ ग्रन्थों में वर्णित है, जो गायत्री का विस्तृत रहस्य जानना चाहें वे इन २४ महाग्रन्थों को पढ़कर उसका मर्म समझ सकते हैं।

(२) हृदय-जीवन का और ब्रह्मरन्ध्र, ईश्वर का स्थान है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र २४ अंगुल दूर है। एक-एक अक्षर से एक-एक अंगुल की दूरी को करके जीव गायत्री द्वारा ब्रह्म में लीन हो सकता है ऐसा योगी लोग कहते हैं। गायत्री के

२४ अक्षर यह संकेत करते हैं कि ईश्वर जीव से, हृदय मस्तिष्क से २४ अंगुल दूर है। हृदय में ईश्वर रहता है और मस्तिष्क में मन। अपने मन को ईश्वर को अर्पण कर दो तो कल्याण की प्राप्ति हो जायेगी।

(३) गायत्री के तीन विराम होते हैं, शरीर के भी तीन भाग हैं। प्रत्येक भाग के अन्तर्गत आठ अंग होते हैं। इस प्रकार शरीर रूपी गायत्री के २४ अक्षर हो जाते हैं। (अ) सिर, नेत्र, कर्ण, प्राण = ८ अक्षर (ब) मुख, हाथ, पैर, नाक = ८ अक्षर (स) कण्ठ, त्वचा, गुदा, शिश्न = ८ अक्षर। यह सब मिलकर २४ हुये। गायत्री के दो-दो अक्षरों से इन बारह प्रमुख अंगों की रचना हुई है। यह स्वभावतः पवित्र हैं। इन्हें सदा पवित्र ही रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

(४) शरीर की सुषुम्ना नाड़ी में २४ कशेरुकायें हैं (ग्रीवा में ७, पीठ में १२, कमर में ५ = २४) ये कशेरुकायें प्राणों का, मातृकाओं का ग्रन्थियों का और चक्रों का पोषण करने वाली हैं। यह पोषण गायत्री कहा जाता है और इन २४ कशेरुकाओं को २४ अक्षर कहते हैं।

(५) शरीर में प्राण सूत्र २४ हैं। गायत्री में २४ अक्षर हैं। गायत्री का एक-एक अक्षर सूक्ष्म शरीर के लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि स्थूल शरीर के लिये ये २४ प्राणसूत्र हैं।

(६) शरीर में ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ प्राणतन्त्र और ४ अन्तःकरण हैं। इन २४ के द्वारा ही शरीर जीवित रहता है। हमारे आध्यात्मिक शरीर में गायत्री की २४ शक्तियाँ इसी प्रकार ओत-प्रोत हैं।

(७) गायत्री साधना से अष्टसिद्धि, नवनिद्धि और सात शुभ गतियों की प्राप्ति होती है। यह २४ महान् लाभ गायत्री के अन्तर्गत हैं।

(८) इस मन्त्र में २४ ऋषियों और २४ देवताओं की शक्तियों की शक्तियाँ सन्निहित हैं (देखिये—गायत्री योग)

(९) सांख्य दर्शन में वर्णित २४ तत्वों से सृष्टि का क्रम चलता है। उन २४ का प्रतिनिधित्व गायत्री के २४ अक्षर करते हैं।

शरीर में प्रधानतः २४ अंग हैं। उसके प्रत्येक तृतीयांश में भी २४-२४ टुकड़े हैं। शरीर के तीन भाग हैं—सिर, धड़ और पैर। इन तीनों भागों में से प्रत्येक में २४-२४ अवयव हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में २४ तत्व हैं। इन दोनों शरीर के अवयवों की सृष्टि २४ अक्षर वाली गायत्री से होती है। ब्रह्मपुरुष के शरीर के २४ भाग गायत्री के अक्षर हैं।

इस प्रकार के और भी अनेकों कारण हैं जो गायत्री के २४ अक्षरों को हेतु है। प्रत्येक अक्षर के पीछे बड़े-बड़े महान् तत्व हैं।

चतुर्विंशत्यक्षरां तु गायत्रीं प्रजपेन्द्धदि'

इसके अनुसार २४ अक्षर का गायत्री छन्द प्रसिद्ध है। स्वर और अक्षर पर्यायवाची हैं, यहाँ २३ स्वर (अक्षर) हैं, २४ नहीं हैं तथापि **'इत्यादि पूरणः** (पिंगल सूत्र, ३।२)' इस सूत्र से 'इय' आदेश करके ण्यम् यहाँ पर 'णियम्' की ऐसी भावना करके चौबीस अक्षर समझने चाहिये। 'ण्यम्' में 'णि' की भावना करनी चाहिये, उच्चारण नहीं। उच्चारण तो जप काल में 'ण्यम्' ऐसा होता है, गायत्र्युपदेश काल में 'ण्यम्' का ही उपदेश होता है, यथोपदिष्ट जपादि होना उचित है। इसी आशय को लेकर 'संस्कार रत्नमाला' में भी लिखा है—

चतुर्विंशत्यक्षरां तु गायत्रीं प्रजपन्द्धदि।
सर्वान्वर्णनभिध्यायेद्देवतामर्थमेव च।।

अक्षरशब्दः स्वरेषु वर्तते। तत्र यद्यपि स्वरस्त्रयो विंशतिरेव गायत्री मन्त्रे वर्तन्ते तथापि ण्यमित्यत्र भावनया णियमिति स्वरद्वयं श्रेयम्। उक्तच्च पिंगले—

'इत्यादि पूरणः।' इति।

पाद इत्यनुवर्तते। इयादिःपूरणो यस्य स इयादिपूरणः। आदि शब्देनोवायो गृह्यन्ते। तत्रायमर्थः—यत्र गायत्र्यादौ छन्दसि पादस्याक्षरसंख्या न पूर्यते तत्रेयादिभिः सा पूरयितव्या। यथा तत्सवितुर्वरेणियम्, दिवं गच्छ सुवः पतेत्येव मादय इति हलायुधेन व्याख्यातम्।'

अतः सिद्ध हुआ कि उपदेश में और जप में 'ण्यम्' यही ठीक पाठ है। छन्दों के विचार में केवल 'णियम्' ऐसी भावना करके चौबीस अक्षर हैं।

गायत्री के २४ अक्षर असाधारण महत्त्व के हैं। उनके पीछे आध्यात्मिक और भौतिक रहस्यों

के भारी भण्डार छिपे हैं। तन्त्र विद्या के द्वारा उन भंण्डारों में से कुछ रत्न निकल आ जाते हैं, जिनकी महत्ता देखकर लोगों को चकित रह जाना पड़ता है। गायत्री के २४ अक्षर एक प्रकार के दैवी शस्त्र हैं, जिनका उपयोग आत्म-सुरक्षा और विघ्न विदारण के लिये भली प्रकार किया जाता है।

दशऋत होकर नाम जपिये

नाम जप करने वालों के लिये शास्त्रकारों ने दश नामापराध बताये हैं और उनसे बचे रहने का कठोर आदेश किया है। जैसे औषधि सेवन के साथ-साथ परहेज से रहना भी आवश्यक है, उसी प्रकार नाम जप करने वालों को दस नामापराधों से बचना भी आवश्यक है। परहेज बिगाड़ने से, कुपथ्य करने से, अच्छी औषधि का सेवन भी निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार नामापराध करने से नाम जप भी निष्फल चला जाता है। दशऋतों से—दश नामापराधों से—बचकर नाम जपने से कोटि यज्ञों का फल प्राप्त होता है। वे दश ऋत यह हैं—

सान्निन्दासति नामवैभव कथा श्रीशेशयोर्भेदधी—
रश्रद्धा गुरु शास्त्र वेद वचने नाम्नयर्थवादभ्रमः
नामास्तीतिनिषिद्ध वृत्ति विहित त्यागौहि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश।

(१) सन्निन्दा (२) असति नाम वैभव कथा (३) श्रीशेशयोर्भेदधीः (४) अश्रद्धा गुरु वचने (५) शास्त्रवचने (४) वेदवचने (७) नान्यर्थवाद भ्रमः (८) नामास्तीति निषिद्ध वृत्ति (६) विहित त्याग (१०) धर्मान्तरे साम्यम् यह दश नामापराध या ऋत हैं। इनको त्यागने से नाम जप का कोटि यज्ञ फल प्राप्त होता है। इन दसों का खुलासा नीचे किया जाता है।

(१) सत् निन्दा

सत्पुरुषों की, सज्जनों की, सत्य की, सच्चे कार्यों की, सत् सिद्धान्तों की, किसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर निन्दा करना। सत्य पर चलने की सत् सिद्धान्तों को अपनाने का किसी लोभ या भय से साहस न होना हो तो लोग अपनी कमजोरी छिपाने के लिये सत्य बातों का या सत् पुरुषों का ही किसी मिथ्या आधार पर विरोध करने लगते हैं, यह 'सन्निन्दा' है। शत्रु में भी सत्यता हो तो उस सत्यता की तो प्रशंसा ही करनी चाहिये।

(२) असति नाम वैभव कथा

असत्य के आधार पर बढ़े हुये व्यक्तियों या सिद्धान्तों के नाम या वैभव की प्रशंसा करना। कितने ही झूठे, पाखण्डी, अत्याचारी व्यक्ति अपनी धूर्तता का आधार पर बड़े कहलाने लगते हैं। उनकी चमक-दमक से आकर्षित होकर, उनकी प्रशंसा करना या उनके वैभव का लुभावना वर्णन करना त्याज्य है। असत्य की सदा निन्दा ही की जानी चाहिये। झूठे आधार पर मिली हुई सफलताओं को इस प्रकार समझना या समझाना कि उसका अनुकरण करने का लोभ पैदा है, नामापराध है।

(३) श्रीशेशयोर्भेदधीः

विष्णु, महादेव आदि देवताओं में भेद बुद्धि रखना, उन्हें अलग-अलग मानना। एक ही सर्वव्यापक सत्ता की विभिन्न शक्तियों के नाम ही देवता कहलाते हैं। वस्तुतः परमात्मा ही एक देव है। अनेक देवों के अस्तित्व के भ्रम में पड़ना-नाम जप करने वाले के लिये उचित नहीं।

(४) अश्रद्धा गुरु वचने

सद्‌गुरु, धर्मविद्, तत्वदर्शी, निस्पृह, आप्तपुरुषों के सद् वचनों में अश्रद्धा रखना। विरोध न करते हुये भी उदासीन रहना अश्रद्धा कहलाती है। सद्‌गुरुओं के लोक हितकारी सद्‌वचनों में श्रद्धा रखनी चाहिये।

(५) अश्रद्धा शास्त्र वचने

शास्त्र के वचनों में अश्रद्धा रखना, यों तो कितनी ही पुस्तकें साम्प्रदायिक परस्पर विरोधी और असंगत बातों से भरी रहने पर भी शास्त्र कहलाती हैं पर बास्तविक शास्त्र वह है, जो सत्यता, लोकहित, कर्त्तव्य-परायणता और सदाचार का समर्थन करता हो। इस कसौटी पर जो ज्ञान खरे सोने के समान ठीक उतरता हो वह शास्त्र है। ऐसे शास्त्रों के वचनों पर अश्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

(६) अश्रद्धा वेद वचने

अर्थात् वेद वाक्य में अश्रद्धा रखना। वेद-ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान-पूर्ण, विवेक-पूर्ण, सद्बुद्धि-सम्मत वचनों में अश्रद्धा नहीं करनी चाहिये। वेद, सत्य ज्ञान के आधार होने के कारण श्रद्धा करने योग्य हैं।

(७) नाम्न्यर्थवाद भ्रमः

नाम के अर्थ वाद में भ्रम करना। ईश्वर के अनेक नामों के अर्थ में जो भिन्नता है, उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। गोपाल, मुरलीधर, यशोदानन्दन, राम, रघुनाथ, दीनबन्धु, अल्लाह, गौड आदि नामों के शब्दार्थ पृथक्-पृथक् हैं। इन अर्थों से तत्व के अलग-अलग होने का भ्रम होता है, यह ठीक नहीं। सब नाम उस एक परमात्मा के हैं। इसलिये परमात्मा के सम्बन्ध में किसी पृथकता के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

(८) नामास्तीति निषिद्धवृत्ति

नाम तो है ही। फिर अन्य बातों की क्या जरूरत ऐसी निषिद्ध वृत्ति। ईश्वर का नाम उच्चारण करने मात्र से सब पाप कट जावेंगे, इसलिये पाप करने में कुछ हर्ज नहीं, ऐसा कितने ही लोग सोचते हैं। दिन-रात कुविचारों में और कुकर्मों में लगे रहते हैं, उनके फल से बचने का सहज नुस्खा ढूँढ़ते हैं कि दो-चार बार राम नाम जबान में कह दिया बस बेड़ा पार हो गया। सारे पाप नष्ट हो गये। यह भारी अज्ञान है। परमात्मा निष्पक्ष, सच्चा न्यायाधीश है। वह खुशामद करने वाले के न तो पाप माफ करता है और न बिना खुशामद करने वाले के पुण्यों को रद्द करता है। कर्मों का यथायोग्य फल देना उसका सुदृढ़ नियम है। इसलिये आत्मबल वृद्धि के लिये नाम स्मरण करते हुये भी यही आशा करनी चाहिये कि परमात्मा हमारे भले-बुरे कर्मों का यथायोग्य फल अवश्य देगा। जो पापनाश की आशा लगाये बैठे रहते हैं और कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न नहीं करते वे नामापराध करते हैं।

(९) विहित त्याग

विहित कर्मों का त्याग, उत्तरदायित्व को छोड़ना, कर्त्तव्य धर्म से मुँह मोड़ना नामापराध है। कितने ही मनुष्य "संसार मिथ्या है, दुनियाँ झूठी है।" आदि महावाक्यों का सच्चा रहस्यमय अर्थ न समझकर अपने कर्त्तव्य, धर्म एवं उत्तरदायित्व को छोड़कर घर से भाग जाते हैं, इधर-उधर आवारागर्दी में दुर्व्यसनियों के कुसंग में मारे-मारे फिरते हैं। यह अनुचित है। ईश्वर प्रदत्त उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्य धर्मों को पूरी सावधानी और ईमानदारी से पूरा करते हुये भगवान का नाम स्मरण करना चाहिये।

(१०) धर्मान्तरैः साम्यम्

धर्म से इतर, धर्म विरुद्ध बातों को भी धर्म की समता में रखना। अनेक सामाजिक कुरीतियाँ ऐसी हैं, जो धर्म-विरुद्ध होते हुये भी धर्म में स्थान पाती हैं जैसे—पशु बलि एवं स्त्री और शूद्रों के साथ होने वाले असमानता तथा अन्याय के व्यवहार धर्म के नाम पर प्रचलित हैं पर वास्तव में वे अधर्म हैं। ऐसे अधर्मों का धर्म में जोड़ना, धर्म की समता में रखना नामापराध है। कर्त्तव्य कर्म ही धर्म कहलाते हैं। अकर्त्तव्यों को रूढ़िवाद के कारण धर्म साम्य नहीं बनाना चाहिये।

इन दशऋतों से शुद्ध होकर इन्हें त्याग कर, दसों इन्द्रियों को संयम में रखकर, सत्य और धर्म से जीवन को ओत-प्रोत बनाते हुये जो लोग नाम जप करते हैं, भगवान का नामोच्चार करते हैं, उन्हीं की आत्मा पवित्र होती है और वे ही कोटि यज्ञ फल के भागी होते हैं।

उपासना की सफलता का मर्म

उपासना शरीर है—साधना प्राण। उपासना चिनगारी है—साधना ईंधन। उपासना संकल्प है—साधना साहस। उपासना ज्ञान है—साधना कर्म। उपासना उपकरण है—साधना कौशल। उपासना बाण है—साधना धनुष। एक के बिना दूसरे को प्रखर और फलित होने का अवसर नहीं मिलता।

उपासना थोड़े श्रम और थोड़े समय में सम्पन्न हो जाती है, किन्तु साधना के लिये

चिन्तन और चरित्र के क्षेत्र में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों से जूझने और हटाने का एक काम ही नहीं करना पड़ता, उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों को जमाने का उससे भी अधिक कष्टसाध्य कार्य भी करना पड़ता है। इस उन्मूलन और आरोपण के दुहरे प्रयोजन को पूरा करना प्रायः वैसा ही है जैसा भगवान् परशुराम के फरसा और फावड़ा चलाने के दुहरे पराक्रम का परिचय देना। उन्होंने झंखाड़ काटे और उद्यान लगाये थे। इसी पराक्रम का परिचय हर साधक को अपने जीवन-क्षेत्र में देना पड़ता है। इससे कम में काम चलता नहीं और इससे अधिक और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। साधना, स्वास्थ्य है और उपासना सज्जा। स्वास्थ्य सही होना अनिवार्य है। सज्जा को ऐच्छिक भी माना जा सकता है, उसे आवश्यक समझ लेने से काम चल जायेगा किन्तु साधना के बिना तो आत्मिक प्रगति की गाड़ी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। लाखों पूजा-परायण इस तथ्य के साक्षी हैं कि साधना से विरत रहने के कारण उन्हें निराशा ही हाथ लगी है।

सिद्धियाँ सुनिश्चित हैं। वे साधकों के लिये सुरक्षित हैं। अनादिकाल से लेकर अब तक के सभी सच्चे साधकों द्वारा सिद्धियाँ पाने की सच्चाई का पर्यवेक्षण करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा है कि उपासनाओं का विधान और प्रकार भिन्न-भिन्न रहने पर भी सभी साधकों को अपने चिन्तन को उदात्त और चरित्र को उदार बनाना पड़ा है। व्यक्तित्व के परिष्कार और उदार लोक-मंगल को अपनी प्रधान आकांक्षा मानकर चलने वाले और इसके लिये प्रबल पुरुषार्थ करने वाले ही अपनी पात्रता उस स्तर तक पहुँचा सके हैं, जिस पर अन्तरिक्ष से अनायास ही दिव्य अनुदान बरसते हैं।

ऊँचे पर्वत-शिखरों पर बर्फ जमती है, खाई-खड्डों में नहीं। वर्षा का जल नदी-सरोवरों में भरता है, टीलों पर जमा होने का उपक्रम बनता ही नहीं। मन्त्र सिद्धि के लिये योगी जैसी मनोभूमि और तपस्वी जैसी कार्य-पद्धति अपनानी होती है, दुष्ट चिन्तन और भ्रष्ट चरित्र का भारी लदान लादकर आत्मिक प्रगति की लम्बी छलाँग लगा सकना कठिन है। कौतूहल करना और जादू दिखाना ही अभीष्ट हो तो मूर्खों को बहकाने वाले धूर्तों की सर्वत्र भर मार पाई जा सकती है। छुट-पुट पूजा विधानों में लम्बे-चौड़े चमत्कार बताने वालों की कमी नहीं। सस्ती लूट के लालची वहाँ भीड़ लगाये भी रहते हैं। जब तक संसार में सस्ते मोल में बहुत पाने की लिप्सा जीवित रहेगी, तब तक यह गोरख धन्धा भी चलता रहेगा। जो इन दिनों आध्यात्मिक क्षेत्र पर कुहासे की भाँति बेतरह छाया हुआ है, इस स्थिति में केवल विडम्बना ही पलती-पनपती रह सकेगी। कोई ठोस उपलब्धि किसी के हाथ लगेगी नहीं। फलतः अध्यात्म का क्षेत्र अप्रामाणिक और उपहासास्पद बनता चला जायेगा।

इस दुःखद दलदल में से आस्तिकता को उबारने की आवश्यकता है। यह तथ्य उजागर किया जाना चाहिये कि तत्वज्ञान और साधना विधान का समन्वय ही उन सत्परिणामों को प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हो सकता है, जिसमें अन्तरंग को स्वर्ग मुक्ति का आनन्द और बहिरंग की ऋद्धि-सिद्धि का वैभव उपलब्ध होता है। बहुमूल्य उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिये उसका उचित मूल्य समझने और जुटाने का प्रयत्न करना ही होगा।

सस्ते शार्टकट का कोई तरीका न इस लोक में है न परलोक में। सस्तेपन की तलाश अनैतिक है। उचित से मम मूल्य में प्राप्त की गई वस्तुयें चोरी की समझी जाती हैं और पता चलने पर पुलिस खरीदार की खींच-कढ़ेर कर सकती है। जुआ इसलिये अपराध माना गया है कि उसमें कम देकर अधिक पाने की दुरभि-सन्धि को प्रश्रय मिलता है। अध्यात्म तत्वज्ञान का सुनियोजित विज्ञान किन्हें समुचित उपहार प्रदान करता है ? इसे सिद्ध पुरुषों के द्वारा अपनाये ऋषि जीवन को देखकर भली प्रकार जाना जा सकता है। सन्त-भक्तों को जो दैवी अनुदान प्राप्त होते रहे हैं, उसमें उनकी औपचारिक भावुकता को स्वल्प परिणाम में ही श्रेय दिया जा सकता है। सफलता का मूल आधार तो उनका प्रखर व्यक्तित्व और परमार्थ परायण क्रियाकलाप ही रहा है। लोभ और मोह की कीचड़ में एडी से चोटी तक डूबे हुये यदि उन ऋषि कल्प लाभों को छुट-पुट टंट-घंटों के

सहारे प्राप्त करने का मनोरथ रचते हैं तो उसे विज्ञजनों की दृष्टि में अनाधिकार चेष्टा ही कहा जावेगा। ऐसे प्रयास कदाचित् ही कभी सफल होते हैं। अनैतिक उपार्जन में किसी को किसी प्रकार सफलता मिल सके तो भी उसके परिणाम कालान्तर में कष्टकारक ही सिद्ध होते है।

आत्मशक्ति का उपार्जन व्यक्ति के लिये भी श्रेयस्कर है और समाज के लिये भी मंगलमय। सच्ची सम्पदा आत्मशक्ति ही है। शरीर शक्ति, बुद्धि शक्ति, धन शक्ति, संघ शक्ति के प्रतिफल सीमित हैं, साथ ही क्षणिक भी। चिरस्थाई व्यापक और प्रचण्ड परिणाम आत्मशक्ति के ही हैं। इसलिये उसका उपार्जन चरम पुरुषार्थ कहा जाता है। छोटे व्यक्ति छोटी वस्तु ढूँढ़ते, बड़े बड़ी। छोटों की दृष्टि तात्कालिक लाभ पर केन्द्रित रहती है। बड़े दूर की सोचते हैं। आत्म-विकास का यही लक्षण है कि उद्देश्य ऊँचा रखा जाये—इस दृष्टि से आत्मशक्ति का उपार्जन और उसका परमार्थ प्रयोजनों में उपयोग करना ही सर्वोत्तम बुद्धिमत्ता कही जा सकती है। विभूतियों का उपार्जन ही सच्चा वैभव है।

इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिये उपासना क क्षेत्र में गायत्री की महत्ता अनुपम-अद्भुत और अद्वितीय है। उसके माहात्म्य से शास्त्रों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है। ऋषियों ने अपने अनुभव से उसकी महिमा को ऐसा बताया है, जिसकी तुलना में अन्य सभी उपार्जन हल्के बैठते हैं। जिनने इस कल्पवृक्ष के नीचे आश्रय लिया है—जिनने इस कामधेनु का दूध पिया है, उन सभी ने अपना अनुभव यही बताया है कि इस अवलम्बन को पकड़ने से बढ़कर श्रेय सौभाग्य का और कोई आधार नहीं हो सकता।

इतने पर भी एक बात दर्पण की तरह स्पष्ट है कि उपासना का साधना के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। साधना के बिना उपासना का कोई चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसलिये अनुष्ठान उपचार का महत्त्व स्वीकार करते हुये भी इस आवश्यकता को भी समझा जाना चाहिये कि आत्मिक प्रगति के लिये उपासनात्मक उपचारों से भी अधिक महत्त्व साधक के चिन्तन और चरित्र में उत्कृष्टता का समावेश होने का है। साधना इसी को कहते हैं। जो साधक है, उसकी उपासना फलवती हुये बिना रह नहीं सकती। इसके विपरीत जिनके जीवनक्रम में निकृष्टता और दुष्टता भरी पड़ी है। जिन्हें छल-छद्म ही रुचते हैं, जिन्हें लोभ और मोह से आगे की कोई बात सूझती ही नहीं, जिनके लिये वासना और तृष्णा ही सब कुछ है—इन्हीं प्रयोजनों के लिये अपना श्रम, समय और मनोयोग लगाये रहते हैं, इन्हीं के लिये पूजा-पाठ का ढोंग रचते हैं—ऐसे व्यक्ति निष्प्राण उपासना का प्रतिफल भी निराशा के रूप में ही पाते हैं। साधना से सिद्धि का सिद्धान्त समझने वाले जानते हैं कि आस्तिकता की सफलता के साथ आध्यात्मिकता और धार्मिकता का समावेश होने की शर्त भी जुड़ी हुई है।

भोजन और भजन का सम्बन्ध

मनुष्य जीवन का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है क्योंकि जीवात्मा उस परमात्मा का ही एक अंश है और अंश तब तक शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है, जब तक वह अपने अंशों में न मिल जावे। जैसे पानी का उद्गम स्थान समुद्र है। इसलिये वह इधर-उधर नदी नालों में भटकता हुआ अपनी जल समाधि की तलाश में छटपटाता रहता है और अपने पिता समुद्र की गोद में पहुँचकर ही शान्ति की साँस लेता है। इसी प्रकार अग्नि की उत्पत्ति सूर्य से होने के कारण उसकी लपटें सदैव अपने प्रियतम से मिलने को ऊपर को लपलपाती रहती है चाहे उसे कितना ही नीचे झुकाया जाय। पानी और अग्नि की तरह तोता, मैना, कौवा, गाय, भैंस आदि पशु-पक्षी तथा मनुष्य भी सभी अपने-अपने समूह में पहुँचकर चैन लेते हैं क्योंकि तोता, तोते से और मनुष्य, मनुष्य से उत्पन्न होने के कारण वह उसी के पास सुखी रहता है। कोई भी तोता पिंजरे में बढ़िया दूध रोटी खाते हुये भी वहाँ सुख का अनुभव नहीं करता है जितना अपने स्वजातीय तोतों में। इसी प्रकार जीवात्मा इंस संसार के नाना प्रकार के भोग साधनों को प्राप्त करके भी उतना सुख प्राप्त नहीं करता है, जितना कि अपने परम पिता परमात्मा से मिलने में अनुभव करता है।

उस परम पिता परमात्मा से मिलने के लिये जीवात्मा छटपटाती रहती है और उसका निरन्तर स्मरण करके ही शान्ति का अनुभव करता है। जब जीव परमात्मा का स्मरण, ध्यान एवं नाम उच्चारण करता है तो उसके गुणों का भी चिन्तन करता है और उनसे आकर्षित होकर उससे मिलने के लिये तड़पने लगता है। इस जप, तप, पूजा उपासना से अन्तरात्मा में एक दिव्य घर्षण होता है। इस घर्षण की वैज्ञानिक प्रक्रिया से अन्तःकरण में एक आध्यात्मिक विद्युत उत्पन्न होती है, जिसमें एक चैतन्य चुम्बकत्व सन्निहित रहता है। कुतुबनुमा की सुई पर चुम्बक होने से उत्तरी ध्रुव की तरफ की धारायें उस सुई को अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं। जब तक यह चुम्बक उस सुई पर रहता है तब तक ही उत्तरी धारा उसे अपनी ओर खींचती रहती है। इसी प्रकार जीवात्मा में परमात्मा के पूजन, भजन से उत्पन्न आकर्षण शक्ति से जो चुम्बक उत्पन्न होता रहता है, उससे प्रभावित व्यक्ति को वह परमात्मा भी अपनी ओर आकर्षित करता है, अपनी गोद में बिठाता है और अपने दिव्य गुणों से उसे भर देता है। अनेक दिव्य तत्व स्वयमेव जीवात्मा में एकत्रित होते रहते हैं और परमात्मा तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। इसलिये प्रत्येक जीवात्मा को अपने परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति, उसका पूजन, भजन, उसके गुणों को, मनन-चिन्तन की वैज्ञानिक क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिये जब तक उन्नति की सीमा तक न पहुँच जावे।

प्रत्येक वस्तु के विकास की एक सीमा होती है। उस सीमा तक उन्नति के लिये निरन्तर उपाय ही धीर पुरुषों का कार्य रहा है। जीवात्मा के विकास की चरम सीमा परमात्मा का साक्षात्कार करना, अपने अन्तःकरण में परम तत्वों को धारण करना है। जिस प्रकार 'अणु' का अन्तिम विकास 'विष्णु' में मिलना, 'अंड' का 'ब्रह्माण्ड' बनना है, उसी प्रकार जीवात्मा को अपनी पूजा-उपासना द्वारा अपना विकास महात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा बन जाता है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिये उस प्यारे प्रभु के गुणों का चिन्तन और मनन निरन्तर चलते रहना आवश्यक है। 'भृंग कीट' के उदाहरण में जब कीड़ा निरन्तर भृंग का ध्यान करता है तो वह शरीर समेत भृंग ही बन जाता है, इसी प्रकार मनुष्य भी भगवान के स्वरूप और गुणों का चिन्तन करता हुआ उसी जैसा बन जाता है।

वह परम पिता परमात्मा सर्वव्यापक और न्यायकारी है। जब जीवात्मा उसकी पूजा-उपासना करता है तो उसे उस सर्वव्यापी सत्ता का बोध होने लगता है कि वह अन्तर्यामी प्रभु सारे जड़, चेतन पदार्थों में रमा हुआ है और हमारे अच्छे-बुरे कर्मों का निरीक्षण कर रहा है। इस प्रकार उसकी सत्ता पर विश्वास होने लगता है कि वह सहस्रों नेत्रों से हमारे प्रत्येक के पाप-पुण्य को देख रहा है। उसके विशाल नेत्रों से कोई बात छिपाई नहीं जा सकती है। जैसे कोतवाल के समक्ष चोर-चोरी करने का साहस नहीं कर सकता, उसी प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा को सर्वत्र देखकर पूजा-उपासना करने वाला भी कोई पाप कर्म नहीं कर पाता। वह बुराईयों से बचने लगता है और अच्छाइयों को ग्रहण करने लगता है। ऐसे अच्छे गुणों के ग्रहण करते रहने से वह व्यक्ति समाजोपयोगी बन जाता है। समाज में ऐसे उत्तम नागरिक ही उसकी व्यवस्था ठीक रख पाते हैं। समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिये उत्तम व्यक्ति आवश्यक हैं और उनके निर्माण के लिये परमात्मा की पूजा-उपासना का प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में स्थान होना आवश्यक है।

इस प्रकार परमात्मा के गुणों का मनन-चिन्तन करते रहने से और उसके उपकारों के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुकाने से नम्रता, मधुरता और सहिष्णुता आदि सद्गुण स्वयमेव उत्पन्न होने लगते हैं। उसके अन्तःकरण में सेवा की वृत्ति जागृत होने लगती है। वह सबको प्यार करने लगता है और सब उसको प्यार करने लगते हैं। इस प्रकार के सद्व्यवहार से वह इस लोक में यशस्वी बनकर जीवन व्यतीत करता है और मरने पर सद्गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार लौकिक व्यवहार के लिये जो गुण आवश्यक हैं वे भी भगवान की पूजा-उपासना से उत्पन्न होने लगते हैं। इसके लिये भी पूजा-उपासना का जीवन में स्थान होना आवश्यक है।

शारीरिक विकास के लिये भोजन, पानी और हवा पर्याप्त मात्रा में मिलना आवश्यक है।

इनके बिना शरीर का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इसी प्रकार मन का पूर्ण भोजन उत्तम विचार है। इनके अभाव में मनुष्य का मन कुंठित हो जाता है स्वाध्याय, सत्संग, शिक्षण, चिन्तन आदि के बिना मनुष्य का मस्तिष्क पशु श्रेणी में ही बना रहता है। जिस प्रकार शरीर के लिये सन्तुलित भोजन, मन के लिये उत्तम विचार आवश्यक हैं, उसी प्रकार जीवात्मा को स्वस्थ रखने, बलवान बनाने और विकसित करने के लिये नित्यप्रति भगवत साधना का सन्तुलित भोजन आवश्यक है। जैसे भोजन के अभाव में शरीर का विकास रुक जाता है और उत्तम विचारों के न मिलने पर मन कुंठित हो जाता है, उसी प्रकार भगवान की पूजा-उपासना न करने से भी जीवात्मा की शुभ कर्म की प्रेरक शक्ति कुंठित हो जाती है और अपने पूर्ण विकास की स्थिति परमात्मा की प्राप्ति से वंचित रह जाती है।

जीवात्मा को निर्मल बनाने पर ही दिव्य तत्वों का आभास होता है। इसलिये जिस प्रकार घर की सफाई के लिये बुहारी लगाना, कपड़ों की सफाई के लिये साबुन लगाना, शरीर शुद्धि के लिये स्नान करना आवश्यक है उसी प्रकार संसार की दुष्प्रवृत्तियों के प्रभाव से जीवात्मा पर जमा होते रहने वाले कुसंस्कारों एवं मल विक्षेपों को हटाते रहने के लिये परमात्मा के पवित्र नामों का उच्चारण और उस के गुणों का चिन्तन करना आवश्यक है। इसके बिना अन्तःकरण में जमे हुये कुसंस्कार नष्ट नहीं होते हैं। जिस प्रकार बिना चौका लगाये भोजन करना उचित नहीं है इसी प्रकार बिना परमात्मा के भजन के दैनिक जीवन प्रारम्भ करना अशुद्ध ही रहता है।

जिस परम पिता परमात्मा ने यह अमूल्य मानव देह प्रदान किया है, उसके प्रति नित्य कृतज्ञता के भाव प्रकट करना हमारा परम कर्त्तव्य है। कृतज्ञता मनुष्य जीवन में एक आवश्यक गुण है। इसके अभाव में मानव ही दानव बन जाता है। जो जीव अपने पर किये गये उपकारों का बदला नहीं चुकाता और उपकारियों का कृतज्ञ नहीं रहता वह तो पशुओं से भी गिरा समझा जाता है। बहुत-से पशु, नेवला, गाय, भैंस, घोड़ा कुत्ता आदि में भी यह गुण न्यूनाधिक मात्रा में सन्निहित रहने से वे मनुष्य को प्यारे हैं। कुत्ता अपने मालिक के उपकारों के बदले में नित्य प्रति पूँछ हिलाकर, पैर चाटकर अपने कृतज्ञता के भाव प्रकट करता रहता है। जो अपने ऊपर किये उपकारों को भूल जाता है, उपकारी के प्रति प्रत्युपकार की भावना नहीं रखता, वह कृतघ्न कहलाता है। ऐसे लोगों की, कृतघ्नियों की शास्त्रकारों ने भरसक निन्दा की है। यहाँ तक कहा है कि "कृतघ्न का मांस राक्षस भी नहीं खाते हैं।" जहाँ कृतज्ञता एक उच्च कोटि का गुण है, वहाँ वह कृतघ्नता निकृष्ट कोटि का अवगुण है इसी कृतज्ञता तत्व के विकास के लिये हमारे धर्म में तो चूल्हा, चक्की, कुआँ, तालाब पेड़, बैल, हल, यहाँ तक कि कूड़े के घूरे तक का पूजन करने का विधान बताया है और समय-समय पर वह सब किया भी जाता है। माता पिता और गुरुजन जिन्होंने इस शरीर के उत्पन्न करने और पालन करने में उपकार किये हैं, उनको नित्यप्रति चरण स्पर्श करके, प्रणाम करके हम अपने कृतज्ञता के भाव प्रकट करते हैं। जो पितृ और ऋषि शरीर त्याग चुके हैं, उनके उपकारों के प्रति श्राद्ध करके हम कृतज्ञता के भाव प्रकट करते हैं। युग पुरुष महात्मा गांधी के निधन दिवस पर सभी मनुष्य उनके उपकारों के लिये उनकी दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करके यही भाव प्रकट करते हैं। तो फिर जिस परम पिता ने यह बहुमूल्य मानव शरीर प्रदान किया और नाना प्रकार के उत्तम पदार्थ दिये हैं, उसके प्रति नित्यप्रति उसकी पूजा उपासना द्वारा कृतज्ञता न प्रकट करने पर हम कर्त्तव्यच्युत एवं कृतघ्न बन जाते हैं।

वैसे तो उस परमात्मा की कृपा सभी प्राणियों को समान रूप से प्राप्त रहती है परन्तु जिस प्रकार जो बच्चा माता की अधिक याद करता रहता है, अधिक प्यार करता है, अधिक मचलता है, उसके मिलने के लिये व्याकुलता प्रकट करता है। माता उस बालक से जल्दी मिलती है। इसी **प्रकार परमात्मा** से मिलने के लिये जो जीवात्मा विशेष प्रयत्नपूर्वक लालायित हो उठता है, वह उसकी समीपता तथा कृपा जल्दी प्राप्त कर लेता है। जो बछड़ा अपनी माता गाय के स्तन सहलाता है, उसे ही प्यार से वह दूध

पिलाती है, उसी प्रकार उस परमपिता परमात्मा का अनुग्रह अमरत्व उसे ही प्राप्त हो पाता है, जो उसकी नित्य पूजा, उपासना करता है, उसके कार्य करने के लिये हनुमान की तरह, अर्जुन, प्रहलाद की तरह तत्पर रहता है।

नित्य जीवन में नियमित रूप से सर्वव्यापी परमात्मा का पूजन-भजन करने से जीवात्मा में सद्‌गुणों का विकास आरम्भ होने लगता है, वह बुराईयों से बचने लगता है, उसके व्यवहार में सात्विकता बढ़ जाने से सब सन्तुष्ट होने लगते हैं, वह सेवाभावी बनने लगता है। फलस्वरूप उसे संसार में समुचित श्रेय एवं सम्मान भी प्राप्त होता है। कहने का सारांश यह है कि उसका समस्त जीवन पुण्यमय बनने लगता है, जिसका परिणाम है सुख-शांति एवं स्वर्ग, मुक्ति। इसलिये उस परमात्मा की पूजा-उपासना करके अपनी आत्मा में दिव्यतत्वों का विकास करना ही इस मानव जीवन का लक्ष्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आत्मा का भोजन-भजन करने के पश्चात् ही शरीर का भोजन करना सार्थक है। इसीलिये तत्वदर्शियों की एक महत्त्वपूर्ण उक्ति ध्यान रखने ही योग्य है कि—'भोजन उसी को करना चाहिये जो भजन करता है।''

जीवन देवता की आराधना और सिद्धि उपलब्धि

जीवन को मूर्तिमान देवता कह सकते हैं। यही परमेश्वर का प्रतीक प्रतिनिधि है। ईश्वर उपासना के साथ जुड़े हुये क्रिया-कलापों का उद्देश्य जीवन देवता की आराधना करना और उसके अधिपति अन्तरात्मा को प्रसन्न करके अभीष्ट वरदान प्राप्त करना ही है।

जीवन देवता की गरिमा का गुणगान अमृत, कल्पवृक्ष एवं पारस के रूप में किया गया है। इस अलंकारिक वर्णन में यह बताया गया है इस जीवन देव को सिद्ध कर लेने पर अन्तःकरण में अमृतोपम शान्ति-मनःक्षेत्र में कल्पवृक्ष जैसी उपलब्धियाँ और व्यवहार सम्पर्क में पारस के सहारे मिलने वाली स्वर्ण सफलतायें निरन्तर मिलती रहती हैं।

उपासना के समस्त क्रिया-कलाप, विधि-विधान, इस उद्देश्य के लिये विनिर्मित हुये हैं कि उनमें निर्दिष्ट संकेतों का अनुसरण करके मनुष्य अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक पवित्र परिष्कृत बनाते चलें और उदारता की अभिवृद्धि के लिये लोक-मंगल के लिये बढ़े-चढ़े अनुदान प्रस्तुत करें। पात्रता के अनुरूप ही समाज का सम्मान सहयोग मिलता है। उसी के अनुरूप आत्म-सन्तोष एवं ईश्वरीय अनुग्रह का अनुदान उपलब्ध होता है। स्वर्ग परिष्कृत दृष्टिकोण का नाम है। वह जिसके पास भी होगा वह गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि में धरती का देवता बनता चला जायेगा और अपनी गरिमा से सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करके स्वर्गीय वातावरण का सृजन करेगा। मुक्ति को अध्यात्म साधनाओं का चरम प्रतिफल बताया गया है। भव-बन्धनों से मुक्ति का तात्पर्य है—बहिरंग कल्मष और अन्तरंग कषायों से छुटकारा पाना। दूसरे शब्दों में इसे संकीर्ण स्वार्थपरता एवं निर्मम निष्ठुरता की, लोभ-मोह की, हथकड़ी-बेड़ियों को काट डालना, कुत्साओं और कुंठाओं की, दुष्प्रवृत्तियों की जड़ें उखाड़ फेंकना, इसी को मुक्ति पुरुषार्थ की साधना कहते हैं। समाधि की चर्चा-साधना की सफलता के रूप में होती रहती है। मूर्छित समाधि एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग है। वह किसी-किसी के लिये ही सम्भव है। जागृत समाधि सर्वसुलभ है। समाधि का अर्थ है, बौद्धिक और भावनात्मक प्रवाहों को सन्तुलित एवं विवेकयुक्त बना लेना। सुसंस्कृत चिन्तन पद्धति हाथ लगने पर समस्याओं का स्वरूप और समाधान उपलब्ध हो जाता है। ऐसी दशा में जो गहरी आत्म-तुष्टि और अनवरत् प्रफुल्लता बनी रहती है, उसी का नाम समाधि है। आत्म-स्वरूप का, आत्मिक गरिमा का अनुभव होने लगे तो शरीर और मन की स्थिति स्वामी की नहीं सेवक की बन जाती है। यही आत्म-साक्षात्कार है। आदर्शवादी उत्कृष्टता के रंग में हर घड़ी रंगे रहना—अपने आपको, आत्मीयता को—व्यापक, विस्तृत बना डालना ही ईश्वर प्राप्ति है। यह समस्त उपलब्धियाँ आत्म-परिष्कार के अनुपात से मिलती चली जाती है।

आत्म-परिष्कार में जिसने जितनी सफलता पाई वह उसी स्तर का सन्त, ऋषि, महामानव, देवता एवं अवतार कहा जाता है। सामान्य लोगों

की स्थिति भूतल पर रहने वाले प्राणियों की मांनी जाये तो इन परिष्कृत महामानवों को ब्रह्मलोक के निवासी कहा जायेगा। यह अन्तर सचमुच आश्चर्यजनक एवं चमत्कारी है। लौकिक सफलताओं को समृद्धि कहते हैं किन्तु आत्मोकर्ष की अलौकिक उपलब्धियाँ, विभूतियाँ एवं सिद्धियाँ कहलाती हैं। सिद्ध पुरुषों के चमत्कारी कर्तृत्व ही संसार भर के महामानवों को ऐतिहासिक श्रेय- सम्मान प्रदान करते हैं। उनकी गतिविधियाँ एवं सफलतायें असाधारण होती हैं इसलिये उन्हें चमत्कारी भी कहा जाता है। यह चमत्कारी बाजीगरों की जादूगरी जैसे बाल-विनोद के लिये दिखाये जाने वाले कौतुक-कौतूहलों जैसे तो नहीं होते; पर ऐसे आवश्यक प्रतीत होते हैं कि भव-बन्धनों में जकड़े हुये दीन-दयनीय जीवधारियों के लिये जो सम्भव नहीं था, वह उनसे सामान्य परिस्थितियों और स्वल्प साधनों से ही किस प्रकार आश्चर्यजनक ढंग से कर दिखाया। साधना से सिद्धि मिलने और सिद्धि के चमत्कारी होने की मान्यता का यही सुनिश्चित और ठोस आधार है।

उपासना पद्धति की तत्व विवेचना में जितनी गहराई तक उतरा जाये यही तथ्य उभरता चलेगा कि यह समस्त विधि-विधान पशु प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने और देव संस्कृति के अनुरूप सद्भावना, सज्जनता, सहृदयता विकसित करने के लिये ही इन प्रयोगों का आविर्भाव हुआ है। पवित्रीकरण, आचमन प्राणायाम, न्यास आदि की आरम्भिक उपासना विधियाँ स्पष्टतः गुण, कर्म, स्वभाव में घुसे हुये दोष-दुर्गुणों को उखाड़ने और सुसंस्कारी सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बना लेने की प्रेरणा देने के लिये ही विनिर्मित हुई हैं। संकेतों को जो जिस सीमा तक व्यवहार में उतार सके, समझना चाहिये कि उसकी साधना उसी सीमा तक सार्थक हो गई।

इष्ट देव के विभिन्न नाम रूप, वाहन, आयुध किस निमित्त गढ़े गये इसकी गम्भीर विवेचना करने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उन संकेतों के अनुरूप हमें अपने जीवन का ढाँचा खड़ा करना एवं स्वरूप गढ़ना है। राम, कृष्ण, शिव, हनुमान आदि जो भी इष्ट चुना गया हो, उन्हें साँचा मानकर अपने को तदनुरूप ढालने का ही लक्ष्य बनाया जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, पूर्ण पुरुष कृष्ण, श्रेय समुच्चय शिव, श्रेष्ठता के लिये समर्पित आत्मदानी हनुमान, विवेक के प्रतिक गणेश, समर्थ संघ शक्ति दुर्गा, ज्ञान की देवी सरस्वती, सुरुचि सृजन और उत्पादन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी, प्रकाश और वर्चस के देव संहिता आदि देवी-देवताओं को इष्ट मानने का तात्पर्य है हम अपने व्यक्तित्व एवं भविष्य को महानता के अमुक ढाँचे में ढालना चाहते हैं। इष्ट निर्धारण किसी देवता को फुसलाना, उसकी पार्टी कम्पनी में भर्ती होना नहीं, वरन् यह है कि हम जीवन का अमुक लक्ष्य निश्चित करते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये उपयुक्त उपायों का प्राणप्रण से प्रयत्न करेंगे। देव पूजा के उपचारों और विधि-विधानों में आदर्शवादिता से अपनी आस्था को अधिकाधिक गहरी बनाते जाने का तथ्य सन्निहित होता है।

जीवन ईश्वर प्रदत्त बहुमूल्य उपहार है। इससे बड़ा अनुदान ईश्वर के भण्डार में और कोई भी नहीं है। इसमें असीम सरसतायें और दिव्य सम्भावनायें भरी पड़ी हैं। शरीर और मन की समताओं के सहारे उच्चस्तरीय समृद्धियाँ तथा सफलतायें उपलब्ध हो सकती हैं। इन उपकरणों का यदि सही उपयोग आता हो तो इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं, जिसे मनुष्य प्राप्त न कर सके। रहस्यमय एवं अतीन्द्रिय शक्तियों का तो कहना ही क्या ? वे प्रसुप्त स्थिति में बीज रूप से अविज्ञात शक्ति संस्थानों में छिपी रहती हैं, यदि उन्हें जगाया-उभारा जा सके तो निश्चय ही इसका प्रतिफल ऐसा हो सकता है जिसे अद्भुत एवं अलौकिक कहा जा सके। महामानव, अतिमानव एवं देव-मानव बन सकने की सम्भावनायें इसी काय-कलेवर में भरी पड़ी हैं। उनसे अनजान बनकर रहा जाय और इन रक्त भाण्डागारों को उपेक्षित रखा जाये तो बात दूसरी है अन्यथा इस सत्ता को गढ़ा इस प्रकार गया है, जिसमें सब कुछ चमत्कारी ही चमत्कारी भरा हुआ देखा-पाया जा सकता है।

जीवन का आनन्द लेने के लिये कुछ थोड़े से ही सूत्र हैं। पर उन्हें जान लेने मात्र से काम नहीं चल सकता। वे अपना चमत्कार तभी

दिखाते हैं, जब व्यवहार में उतारा जाये और गुण, कर्म, स्वभाव का अंग बना लिया जाये।

हम कर्मयोगी बनें। कर्त्तव्य-पालन को प्रधानाता दें। शरीर को भगवान की अमानत समझें और श्रम एवं संयम के सहारे उसे प्रखर बनाये रहें। अच्छे से अच्छे की आशा करें और बुरे से बुरे के लिये तैयार रहें। अपनी प्रसन्नता कर्त्तव्य-पालन के केन्द्र से जुड़ी रखें। मालिक किसी के न बनें। माली की तरह अपने सम्पर्क क्षेत्र के हर पदार्थ, प्राणी और सम्बन्धी को परिष्कृत करने भर को दृष्टिकोण रखें। उपयोग की आतुरता को खतरा समझें। साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग क्या हो सकता है, इसका विचार और प्रयास करते रहें। ऐसा कुछ न करें जिस पर पीछे पश्चाताप करना पड़े, आत्मा धिक्कारे और बाहर से तिरस्कार बरसे। लोभ का आकर्षण, सम्बन्धियों का आग्रह तथा जोखिम का भय इन तीनों का सामना करने का साहस जुटा सकने वाला ही सच्चा शूरवीर है। कर्मयोगी उच्चकोटि के योद्धा होते हैं। जीवन-संग्राम में अवांछनीयता के शत्रुओं से पग-पग पर जूझना पड़ता है। ईमानदारी, तत्परता और तन्मयता के साथ जब कर्म किया जाता है और उसकी उत्कृष्टता एवं समग्रता को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया जाता है, तो ऐसे ही सत्कर्म ईश्वर की श्रेष्ठतम उपासना एवं जीवन साधना के अति महत्त्वपूर्ण अंग बन जाते हैं। जीवन की सार्थकता का प्रथम सूत्र यह कर्मयोग ही है।

दूसरा सूत्र है—ज्ञान योग। ज्ञान का अर्थ जीविकोपार्जन एवं लोक व्यवहार में काम आने वाली कुशलता नहीं, वरन् वह दूरदर्शी विवेक-बुद्धि है जो जीवन की भौतिक समस्याओं का समाधान करने और आत्मा को परम लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग बताती और उत्साह भरती है। खीज और असन्तोष में कुकल्पनाओं और मनोविकारों में नष्ट होती रहने वाली विचार शक्ति को बचा सकना और उसे शालीनता भरे सृजनात्मक प्रयोज़नों में लगाये रख सकना दूरदर्शी विवेक-बुद्धि के सहारे ही सम्भव होता है। अपनी उपलब्धियों को देखें—गुणग्राही बनें, दूसरों के उपकारों और सहयोग को स्मरण करें, तो वर्तमान स्थिति के प्रति जो असन्तोष है वह देखते-देखते नष्ट हो जायेगा और लगेगा कि हम आनन्ददायक सुविधाओं से भरा-पूरा जीवन जी रहे हैं। मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जननी है, यह समझ लिया जाये तो परिस्थितियाँ अनुकूल बनाने के लिये जितना प्रयत्न किया जाता है उससे भी अधिक चेष्टा मनःक्षेत्र पर छाये हुये कुसंस्कारों और भ्रम-जंजालों को निरस्त करने के लिये कदम बढ़ाना होगा। ज्ञानयोग ही भव-बन्धनों से, कुविचारों एवं कुसंस्कारों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है। ज्ञान से ही मुक्ति मिलने का सिद्धान्त अक्षरशः सही है। यदि इस तथ्य को हृदयंगम कर लिया जाये कि अपने उत्थान और पतन की, भाग्य एवं भविष्य निर्माण की कुंजी अपनी ही जेब में है तो फिर दूसरों को दोष देने या आसरा तकने की आवश्यकता न रहेगी। आत्मशोधन और आत्म-परिष्कार के लिये—आत्मबल और आत्म-गौरव सम्वर्धन के लिये आकुलता एवं साहसिकता उत्पन्न करने वाली प्रज्ञा ही गायत्री है। ज्ञानयोग के रूप में जागृत दूरदर्शिता एवं विवेकशीलता के सहारे ही आत्मिक प्रगति की योजना बनती है और सर्वतोमुखी प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने की—समृद्धियों और विभूतियों से सुसम्पन्न बनाने की—आकांक्षा फलवती होती है।

जीवन की सार्थकता का तीसरा सूत्र है भक्तियोग। भक्ति अर्थात् ईश्वर विश्वास और ईश्वर प्रेम। सर्वविदित है कि ईश्वर की अनुकम्पा भक्त की सत्पात्रता के आधार पर बरसाती है। चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा के सहारे सत्पात्रता निखरती है और उस निखार के अनुरूप ही ईश्वरीय विशेष करुणा का विशेष लाभ मिलता है। ईश्वर प्रेम का अर्थ है ईश्वरीय आदेशों का सच्चे मन से शिरोधार्य करना और आदर्शवादी गतिविधियों को जीवन में उतारना। ईश्वर विश्वास की वास्तविकता, कर्मफल की सुनिश्चिता को विश्वासपूर्वक स्वीकार करना। सत्कर्मों और दुष्कर्मों का भला-बुरा प्रतिफल आज नहीं तो कल मिलकर ही रहेगा। इस मान्यता को हृदयंगम करने वाला व्यक्ति सर्वव्यापी ईश्वर की दृष्टि से बचने का कोई स्थान नहीं देखता और दुष्कर्मों से आग, विष, सर्प, सिंह आदि घातक तत्वों की तरह ही बचता है।

ईश्वर प्रेम का व्यावहारिक रूप है—उसकी दुनिया से प्रेम करना। प्रेम की यथार्थता प्रेमी को अधिक से अधिक देने के रूप में ही प्रकट होती है। विश्व-उद्यान को सुरम्य बनाने का समस्त क्रिया-कलाप ईश्वर पूजा का प्रत्यक्ष रूप है। इस पवित्रता एवं उदारता की सत्पात्रता को जगाने के लिये ही तो उपासना-प्रक्रिया का सुविस्तृत आधार खड़ा किया है। श्रद्धा का तात्पर्य है—श्रेष्ठता से असीम प्यार। भक्ति कहते हैं—करुणा, उदारता एवं सेवा को। श्रद्धा और भक्ति की इन्हीं सत्प्रवृत्तियों के सहारे आत्म-चेतना में ईश्वर का अवतरण होता है। भगवान दो उद्देश्य लेकर अवतरित होते हैं—एक धर्म का संस्थापक साधुता का अभिवर्धन दूसरा, अधर्म का विनाश, अनीति का उन्मूलन। ईश्वर भक्त में यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ दिन-दिन प्रचण्ड होती चली जाती हैं। उसकी अन्तःचेतना, क्रिया-पद्धति, एवं साधन-सामग्री इन्हीं दो प्रयोजनों में संलग्न रहती है। उपासना का बीज सद्भावना—सम्वेदना, सहानुभूति, सहिष्णुता जैसी कोमलताओं से अन्तःकरण को निरन्तर दैवी सरसता से ओत-प्रोत किये रहता है।

ईश्वरमय जीवन—सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों से भरा पूरा जीवन यही है—दिव्य जीवन या देव जीवन। ऐसा व्यक्ति नाभि में बसी कस्तूरी की गन्ध से उल्लसित रहने वाले कस्तूरी मृग की तरह प्रसन्न रहते, प्रसन्न करते हँसते-हँसते, खिलते-खिलाते आनन्द भरा हल्का-फुलका जीवन जीता है। पुष्प की तरह श्रेय और सम्मान पाता है। सज्जन के ऊपर सम्मान और सहयोग की अजस्र वर्षा होती है।

अन्य किसी देवता की साधना के प्रतिफल के बारे में सन्देह भी किया जा सकता है पर जीवन देवता की आराधना साधना करने वाला भौतिक समृद्धियों और आत्मिक विभूतियों से भरता ही चला जाता है। उसे स्वर्ग खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके इर्द-गिर्द ही स्वर्गीय वातावरण बनता है। विश्व की सुख शान्ति और मानवी भविष्य के उज्ज्वल होने की सम्भावना ऐसे ही दिव्य वातावरण के साथ जुड़ी हुई है जो जीवन साधना के आधार पर विनिर्मित एवं अवतरित होता है।

आध्यात्मिक साधना का त्रिविध मार्ग

अधिकांश लोगों के लिये आध्यात्मिक साधना का स्वरूप अपने-अपने धर्मों द्वारा निर्दिष्ट क्रिया-कलाप का बाह्य अनुष्ठान ही होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस अनुष्ठान का भी एक महत्त्व होता है, क्योंकि इससे आत्मशुद्धि और मनोनिग्रह में सहायता मिलती है। पर बाद में साधक को ऊपरी नियमों के पालन की अवस्था से ऊँचा उठकर आध्यात्मिक साधना के गम्भीर स्तरों में प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमिका में पहुँच जाता है तब धर्म का बाह्य रूप उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रुचि धर्म के उन मूल तत्वों की ओर हो जाती है, जो सभी बड़े-बड़े मजहबों में व्यक्त हुये हैं। सच्ची आध्यात्मिकता उस जीवन को कहते हैं जिसके मूल में आध्यात्मिक बोध और उसका व्यवहार रहता है।

जैसा कि अनेक साधारण व्यक्ति समझते हैं, साधना का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य कठोर नियमों के बन्धन में बँधा रहे। कोई एक अटल नियम ऐसा नहीं हो सकता जिसको अनिवार्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति पर लागू किया जाये। आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना के अनेक भेद हो सकते हैं। प्रत्येक साधक के लिये उसके संस्कारों और मनोवृत्ति के अनुकूल साधना-प्रणाली में कुछ अन्तर किया जा सकता है। इस प्रकार सबका साधना-ध्येय एक होने पर भी विशेष साधक का साधन भिन्न हो सकता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना अवश्य ही भौतिक क्षेत्र की साधना से भिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र का ध्येय भी भौतिक क्षेत्र के ध्येय से भिन्न प्रकार का होता है। भौतिक क्षेत्र का ध्येय एक ऐसा पदार्थ है जिसका काल की दृष्टि से आदि और अन्त होता है और जिसका उद्देश्य किसी अन्य वस्तु का प्राप्त करना होता है। किन्तु आध्यात्मिक साधना का ध्येय ऐसी वस्तु की प्राप्ति होता है जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी हमारे ही अन्तर में मौजूद है।

जीवन के आध्यात्मिक ध्येय को जीवन के भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये, जीवन के बाहर नहीं। इसलिये आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना ऐसी होनी चाहिये कि वह हमारे जीवन को उस जीवन के अधिकाधिक निकट ले जाये जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक साधना का ध्येय किसी सीमित अभीष्ट की प्राप्ति करना नहीं होता, जो कुछ दिन स्थिर रहकर फिर मिट जाये। वरन् उसका उद्देश्य जीवन का ऐसा आमूल परिवर्तन होता है जिससे कि वह सदा के लिये चिरस्थायी महान् सत्य को प्राप्त कर सके। कोई साधना तभी सफल समझी जा सकती है, जब वह साधक के जीवन को ईश्वरीय उद्देश्य के अनुकूल बनाने में समर्थ होती है और वह उद्देश्य होता है जीव-मात्र को ब्रह्म-भाव की आनन्दमय अनुभूति कराना। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने साधन को इस ध्येय के स्वरूप के सर्वथा अनुकूल बनावें।

आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना के प्रत्येक अंग का ध्येय जीवन के सभी स्तरों में ईश्वरत्व की प्राप्ति होनी चाहिये। इस दृष्टि से आध्यात्मिक नधास के विभिन्न स्तर आध्यात्मिक पूर्णता की स्थिति के निकट पहुँचने की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। साधना उतने ही अंश में पूर्ण होती है जितने अंश में वह इस आध्यात्मिक आदर्श को व्यक्त करती है अर्थात् जितने अंश में वह पूर्ण जीवन के सदृश्य होती है। इस प्रकार साधन और साध्य में जितना ही कम अन्तर होता है, साधना उतनी ही पूर्ण होती है और जब साधना पूर्ण हो जाती है तब साधना आध्यात्मिक साध्य में जाकर मिल जाती है और इस प्रकार साधना और साध्य का भेद अखण्ड सत्ता की अविकल पूर्णता में लीन हो जाता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति की साधना

साधना के गम्भीर स्तरों में साधना का अर्थ होता है—(१) ज्ञान-मार्ग, (२) कर्म-मार्ग, (३) भक्ति मार्ग का अनुसरण। ज्ञान के साधन का स्वरूप होता है (क) यथार्थ बोध से उत्पन्न होने वाले वैराग्य का अभ्यास और (ख) ध्यान की भिन्न-भिन्न प्रक्रियायें और अन्तःप्रज्ञा का निरन्तर उपयोग।

१—वैराग्य जीव इस जगत के जाल में फँसकर यह भूल गया है कि वह ईश्वर की ही सत्ता का एक अंश है। यह मूल अज्ञान ही जीव का बन्धन है और इस बन्धन से छूट जाना ही आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य होता है। इस दृष्टि से मोक्ष के साधनों में सांसारिक विषयों के बाहरी त्याग की गणना की जाती है। यद्यपि इस बाह्य त्याग का भी कुछ महत्त्व है, तथापि वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। वास्तव में आवश्यकता है सांसारिक विषयों की स्पृहा या आकांक्षा के भीतरी त्याग की। जब इस स्पृहा का त्याग हो जाता है, तब इस संसार के पदार्थों का त्याग गौण हो जाता है।

२—ध्यान-ध्यान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं समझना चाहिये कि वह पर्वत-कन्दराओं में रहने वाले मुनियों के ही करने की कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपने को किसी न किसी वस्तु का ध्यान करते पाता है। इस प्रकार स्वाभाविक ध्यान और साधक के ध्यान में अन्तर यही है कि साधक का ध्यान क्रमबद्ध और नियमित रूप से होता है और वह ऐसी वस्तुओं का ध्यान करता है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होती हैं। साधन रूप में किया जाने वाले ध्यान किसी आकार या मूर्ति पर भी हो सकता है और निराकार भी।

३—अन्तःप्रज्ञा—ज्ञान का साधन तब तक अधूरा रहता है, जब तक साधक निरन्तर विवेक का अभ्यास नहीं करता। ईश्वर का साक्षात्कार उसी साधक को होता है, जो सत्य एवं नित्य वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनी अन्तःप्रज्ञा और विवेक से काम लेता है।

कर्म-मार्ग—ज्ञान के साधन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक अवस्था में तदनुकूल कर्म के साथ हो। दैनिक जीवन में विवेक के अनुसार चलना आवश्यक है और उसमें ऊँची से ऊँची अन्तःप्रज्ञा की प्रेरणा होनी चाहिये। बिना किसी भय अथवा शंका के हृदय को सर्वोत्तम प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करना ही कर्मयोग अथवा कर्ममार्ग का स्वरूप है। साधन में आचरण की ही प्रधानता है, केवल विचार की

नहीं। इस दृष्टि से जो मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं है किन्तु जो सच्चे मन से भगवान का नाम लेता है और अपने छोटे से छोटे कर्त्तव्य का पूरे मन से पालन करता है, वह उस मनुष्य की अपेक्षा भगवान के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनियाँ भर का दार्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारों का उसके दैनिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

साधन-क्षेत्र में विचार की अपेक्षा आचरण का कितना अधिक महत्त्व है, यह बात एक गधे के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाती है। एक गधे को, जो बड़ी देर से चल रहा था, बड़ी भूख लगी, थोड़ी देर बाद उसे घास की दो ढेरियाँ दिखलाई पड़ीं, जिनमें से एक रास्ते के दाहिनी ओर और दूसरी बायीं ओर थी। गधे ने सोचा कि इन ढेरियों में से किसी एक के पास जाने से पहले यह निश्चय कर लेना उचित है कि दोनों में से कौन-सी उत्तम है ? उसने फासले की, छोटी-बड़ी की, घास के घटिया-बढ़िया होने की—अनेक दृष्टियों से विचार किया। पर सब तरह से उसे दोनों ढेरियाँ एक-सी ही जान पड़ीं। देर तक इसी उधेड़बुन में पड़ा रहा और अन्त में किसी निश्चय पर न पहुँच सकने के कारण भूखा और थका हुआ ही आगे चला गया। इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हमारे पास उस मार्ग का पूरा नक्शा ही मौजूद हो। आध्यात्मिक जीवन के रहस्य उन्हीं के सामने प्रकट होते हैं, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपने को परीक्षा में डालते हैं।

भक्ति-मार्ग—ज्ञान अथवा कर्म के साधन की अपेक्षा भक्ति अथवा प्रेम का साधन और भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रेम ही के लिये किया जाता है। वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे सहायक की अपेक्षा नहीं रखता। संसार में बड़े-बड़े सन्त हो गये हैं, जिन्होंने किसी वस्तु की कामना न करके भगवत् प्रेम में ही सन्तोष माना था। वह प्रेम, प्रेम ही नहीं, जो किसी आशा से किया जाता है। भगवत् प्रेम की अधिकता में प्रेमी प्रियतम भगवान के साथ हो जाता है। प्रेम से बढ़कर कोई साधन नहीं है, प्रेम से ऊँचा कोई नियम नहीं है, प्रेम से परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, क्योंकि भगवत्-प्रेम, भगवत्-स्वरूप हो जाने पर अनन्त हो जाता है। ईश्वरीय प्रेम और भगवान एक ही वस्तु है, जिसमें ईश्वरीय प्रेम का उदय हो गया, उसे भगवान की प्राप्ति हो चुकी।

प्रेम को साधन और साध्य दोनों का ही अंग माना जा सकता है, परन्तु प्रेम का महत्त्व इतना अधिक स्पष्ट है कि बहुधा इसे किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति का साधन मानना भूल समझा जाता है। प्रेम के मार्ग में भगवान के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधन में नहीं होता। जहाँ प्रेम ही हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वहाँ सत्य की ओर ले जाने वाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है। साधारणतः साधना में प्रयत्न रहता ही है और कभी-कभी तो घोर प्रयत्न करना पड़ता है—उदाहरणतः उस साधक को जो प्रलोभनों के रहते वैराग्य के लिये चेष्टा करता है। परन्तु प्रेम में प्रयत्न का भाव नहीं रहता, क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्ची ईश्वर प्राप्ति का स्वरूप है। ज्ञान की सबसे ऊँची अवस्था को, जिसमें चित्त सर्वथा तत्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं—जिसमें स्वरूप का ज्ञान अबाधित रहता है। आध्यात्मिक साधना में एक विलक्षण बात यह है कि साधक का सारा प्रयत्न सहजसिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये होता है। अन्त में वह जान जाता है कि समस्त साधनाओं का एकमात्र लक्ष्य अपने स्वरूप का ज्ञान ही है। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने पर वह अपने सीमित व्यष्टि-भाव को त्यागकर यह अनुभव करता है कि वह वास्तव में परमात्मा से अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थों में विद्यमान है।

क्रिया विचारणा और भावना का संगम समन्वय !

गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। उसकी छन्द-रचना में आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण हैं। इन तीनों पादों में सत्-चित्-आनन्द—सत्य-शिव-सुन्दर—भक्ति-ज्ञान-कर्म—स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरों के द्वारा इस आद्य शक्ति की

समन्वित साधना हो सकती है। जप, पूजन शारीरिक—ध्यान-धारणा मानसिक और अद्वैत की अनुभूति आत्मिक साधना है। तीनों का समन्वय ही साधना—संगम है। इसी त्रिवेणी का अवगाहन करने से सच्ची तीर्थयात्रा का ऋद्धि-सिद्धियों भरा-पूरा प्रतिफल मिलता है।

दैनिक साधना का स्थान, समय, मन्त्र संख्या का नियम निर्धारित किया जाये। कोई अपरिहार्य कारण हो तो बात दूसरी है अन्यथा आलस्य, प्रमाद को इस नियम पालन में बाधक न बनने दिया जाये। स्नान, भोजन की ही तरह उपासना को भी दैनिक जीवन का आवश्यक एवं अनिवार्य कार्य माना जाये। समय भले ही थोड़ा हो, पर क्रम को निष्ठापूर्वक नियमित चलाया जाये। भोजन या शयन से उपासना को सम्बद्ध कर लिया जाय। उपासना करके ही भोजन या शयन करेंगे ऐसा प्रतिबन्ध अपने ऊपर लगा लेने से प्रमादवश साधना के टूटने का व्यवधान नहीं पड़ता। संकल्प को अटूट बनाये रहने से मनोबल बढ़ता है। अनियमितता अश्रद्धा का चिन्ह है। स्मरण रखा जाय कि साधना कृत्य कलेवर है और श्रद्धा उसका प्राणतत्व। उपासना लकीर पीटने जैसी निष्प्राण नहीं वरन् भावभरी प्राणवान् होनी चाहिये।

शरीर, वस्त्र, स्नान, आसन, पूजा-उपकरण स्वच्छ हों। वातावरण शुद्ध वायु का हो। पूजा वेदी पर गायत्री माता का चित्र, छोटा जल कलश, अगरबत्ती तथा पूजा उपचार के साधन अक्षत, पुष्प, जल, कुंकुम, नैवेद्य प्रस्तुत रहें।

पालथी मारकर बैठें। पवित्रीकरण, तीन आचमन, शिखा-बन्धन, प्राणायाम, न्यास, पृथ्वी पूजन के षटकर्म, शरीर और मन को देवपूजन के उपयुक्त बनाने के लिये सर्वप्रथम सम्पन्न करें।

पूजा के पाँचों उपचार—जल, अक्षत, पुष्प, कुंकुम, नैवेद्य, चित्र-प्रतिमा के सम्मुख अर्पित करें। जल कलश और अग्निपात्र (धूपदानी) का कुंकुम लगाकर अभिवन्दन करें। पूजावेदी पर देव सत्ता की उपस्थिति अनुभव करें। श्रद्धा, जागरूकता और भक्ति-भावना के साथ उपासना कृत्य पूरा करें।

उपासना के लिये न्यूनतम आधा घण्टा लगे। इतने में पाँच माला हो जाती हैं। माला के स्थान पर घड़ी से काम चल सकता है। ओठ, कंठ, जीभ हिलते रहें। उच्चारण इतना धीमा हो कि समीप बैठा व्यक्ति भी उसे स्पष्ट रूप से न सुन सके। गति ऐसी होनी चाहिये कि पाँच-छैः मिनट में १०८ मन्त्र जपे जा सकें।

मुखतन्त्र से गायत्री जप चले। दाहिने हाथ से माला फेरें। पैरों की पालथी—कमर सीधी—आँखें अधखुली—यह जप-मुद्रा है। एक ॐ, तीन व्याहृति, चौबीस अक्षर—इतना ही गायत्री मन्त्र है। इसमें घटाया-बढ़ाया न जाय। यह काय-साधना हुई।

उपासना के तीन पक्ष हैं क्योंकि वह मानवी सत्ता के तीनों स्तर मिलाने पर ही परिपूर्ण एवं फलित होती है। अन्न, जल और वायु का सम्मिश्रित आहार मनुष्य को जीवित रखता है। इनमें से किसी एक को पर्याप्त माना जाये और अन्य दो की उपेक्षा की जाय तो काम चलेगा नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का समन्वय ही जीवन है। स्थूल शरीर कर्म करता है—सूक्ष्म से विचारणा होती है—कारण से भाव सम्वेदना की आकांक्षा एवं श्रद्धा-संचार चलता है। पशु मात्र कार्य करते हैं। मनुष्य में विचार और कर्म का समन्वय रहने से उसके किये हुये कर्मों का स्वरूप, मूल्य और महत्त्व बढ़ जाता है। विकसित आत्मायें कर्म और ज्ञान के साथ आदर्शवादी श्रद्धा संवेदना का—भक्ति भावना का—गहरा पुट भी लगाये रहती हैं। अतएव उनके कृत्य साधारण कृत्य न रहकर कर्मयोग बन जाते हैं और स्व-पर कल्याण का आधार उत्पन्न करते हैं।

उपासना मात्र कृत्य नहीं। मात्र शरीर के माध्यम से किये जाने वाले कर्मकाण्ड अधूरे रहते हैं। विचारणा और भावना का समन्वय न होने पर वे एकांगी बनकर रह जाते और फलित नहीं होते। बीजारोपण आवश्यक तो है पर साथ ही उपयुक्त भूमि और खाद-पानी की भी आवश्यकता रहती है। भोजन पकाते में अन्न, अग्नि और उपले आदि चाहिये। तीनों में एक की भी कमी रहेगी तो पाक-प्रयोजन अधूरा रह जायेगा। इसी प्रकार उपासना में कर्मकाण्ड

आवश्यक तो है, पर पर्याप्त नहीं। जो स्थूल शरीर का परिश्रम और पूजा-साधनों का उपयोग करने भर से साधना की पूर्णता मान लेते हैं, वे भ्रम में हैं। समग्र उपासना के लिये निर्धारित विधि-विधान पूरा करने के साथ-साथ विचारणा और भावना का समन्वय भी रहना चाहिये। स्थूल शरीर का श्रम, सूक्ष्म का चिन्तन और कारण का भक्तिभाव भी उसमें पूरी तरह मिला रहे तो ही साधना से उच्चस्तरीय सिद्धि प्राप्त होने की सम्भावना रहती है।

प्रत्येक उपासना कृत्य के साथ कुछ विचारणायें एवं प्रेरणायें जुड़ी रहती हैं। विधि-विधानों की जानकारी के साथ-साथ यह भी जानना चाहिये कि इस क्रिया के माध्यम से अन्तःकरण को क्या उद्‌बोधन मिलना चाहिये। जो शिक्षा ज़िस कृत्य के साथ जुड़ी हुई है, उसे भी कर्मकाण्ड के समय मस्तिष्क में सँजोये रहना चाहिये। इसके बिना पूजा-कृत्यों का महत्त्व मात्र शारीरिक परिश्रम जितना रह जाता है और उसका प्रतिफल नगण्य जितना ही रहता है। कृत्य के अभ्यास से स्वभाव बन जाता है। विचारविहीन पूजा का इतना ही लाभ है कि अन्य नित्यकर्मों की तरह मन उसे दैनिक कृत्यों की एक आवश्यकता माना जाता है और उसे करने में अनख नहीं मानता। क्रिया-कृत्यों के साथ उनसे जुड़े हुये प्रयोजन को भी गम्भीरता-पूर्वक विचारते रहना चाहिये।

षट्‌कर्मों में प्रत्येक की कुछ प्रेरणा और पृष्ठभूमि है। शरीर, वस्त्र, स्थान, उपकरण शुद्ध करके बैठने का नियम यह बताता है कि साधक के साधनों और व्यवहार में स्वच्छता का समुचित समावेश रहना चाहिये। पवित्रीकरण अर्थात् बौद्धिक पवित्रता—चिन्तन की निर्मलता। तीन आचमन—मन-वचन-कर्म को शुद्ध करने के लिये। शिखा-बन्धन-मस्तक पर आदर्शों का अंकुश रखने के लिये। प्राणायाम—अपने लघु प्राण को महा प्राण के साथ जोड़कर महान् दृष्टिकोण अपनाने के लिये। न्यास-ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की सत्प्रवृत्तियों के अनुरूप आचरण करने के लिये सधाया जाता है। संक्षेप में यह आत्मसत्ता का सर्वतोमुखी परिष्कार करने की स्वसंवेदना है। इस निर्मलता के षट्‌कर्म उपचारों के सहारे मनोभूमि पर भली प्रकार जमाने और व्यक्तित्व को तदनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

देवों में प्राथमिकता धरती की है। इसलिये इष्टदेव का पूजन करने से भी पहले—साधना का नियत विधान हाथ में लेने से भी पूर्व पृथ्वी पूजन किया जाता है। इसके साथ दृष्टिकोण को सार्वभौम और व्यक्तित्व को सार्वजनिक बनाने की शिक्षा है। "वसुधैव कुटुम्बकम्", का आदर्श यही है। विश्व-मानव, विश्व-परिवार, विश्व-हित की उदात्त भावना से पृथ्वी में पूजन विश्व-विराट का विराट ब्रह्म का ही पूजन करना है। अर्जुन, यशोदा, कौशल्या, काक-भुसुण्डि को भगवान का दर्शन विराट के रूप में हुआ था, "सियाराम मय सब जग जानी" का तत्व दर्शन यही है। व्यष्टि का समष्टि में समर्पण ही, देशभक्ति, विश्व भक्ति, आत्मविस्तार, शरणागति है। विश्व की पदार्थ-सम्पदा का सदुयोग और प्राणी जगत के साथ आत्मीयता भरी और सौजन्यपूर्ण अभिव्यक्ति पृथ्वी पूजन के क्रिया-कृत्य के साथ जुड़ी हुई है।

गायत्री माता की प्रतीक प्रतिमा के निर्धारण में भी उच्चस्तरीय आस्था-तत्व, जुड़े हुये हैं। विश्व चेतना का मातृवत् स्नेहासिक्त आदर किया गया है। माता के अनुराग के प्रति कृतज्ञता और मातृऋण चुकाने की सद्‌भावना भी उसके साथ जुड़ी हुई है। नारी मात्र में गायत्री माता का देवत्व झाँकने का दिव्य-दर्शन किया जाये। पवित्रता, करुणा, उदारता, सहकारिता की प्रतिमूर्ति नारी है। प्रकारान्तर से इन्हीं सत्प्रवृत्तियों का सम्मुचय नारी अथवा देवी है। गायत्री माता की प्रतिमा को इसी रूप में देखा जाये। उसके एक हाथ में कमण्डल प्रेम अनुदान का, दूसरे हाथ में पुस्तक (ग्रन्थ) सद्‌ज्ञान, सद्‌व्यवहार का प्रतीक चिन्ह है। गायत्री माता का अवतरण जहाँ भी होगा वहाँ ये विशिष्टतायें सुनिश्चित रूप से प्रकट होंगी। गायत्री का वाहन हंस है। हंस नीर-क्षीर विवेक का—उचित अनुचित के भेद का प्रतीक है। चिन्तन, व्यवहार में मोती चुगने—कीड़े-मकोड़े न खाने की आन है। अर्थात् वही करना जो उत्कृष्ट हो। निकृष्टता को किसी भी रूप में न अपनाना, चाहे इसें मरण ही सम्मुख उपस्थित हो। इस विचारणा के साथ गायत्री माता की

छवि को निहारा जाये और उसका नमन-वन्दन किया जाये।

श्रद्धाभिव्यक्ति, समर्पण का उद्घोष, वर्चस्व की स्वीकृति, अनुशासन का अवधारण जैसी आस्थायें देवता और मनुष्य के बीच की कड़ी को जोड़ती हैं और दोनों के मध्य आदान-प्रदान का द्वार खोलती हैं। इस स्थिति को मनःक्षेत्र पर अंकित करने के लिये पंचोपचार पूजन का विधान है। जल, अक्षत, पुष्प, चन्दन, नैवेद्य—यह पाँच पूजा उपचार हैं। जल में श्रमदान का, अक्षत में उपार्जन के अंशदान का, पुष्प में पवित्र कोमलता का, चन्दन में यशस्वी अनुदान का, नैवेद्य में सर्वतोमुखी मधुरता का भाव है। इन वस्तुओं को देवता के सम्मुख समर्पित करते हुये अपने व्यक्तित्व को इन पाँच विभूतियों से भरते जाने का संकल्प करते रहा जाये। अगरबत्ती अथवा दीपक में अन्तःकरण को स्नेहासिक्त रखने, ज्योतिर्मान रहने और अपनी आभा से समीपवर्ती क्षेत्र को आलोकमय बनाने की प्रेरणा है। जल कलश को जीवन का—सम्पदा का प्रतीक माना गया है। इसमें समस्त देवताओं का आह्वान-प्रतिष्ठापन किया जाता है। जीवन प्रत्यक्ष देव है, उसकी गरिमा देवोपम ही रखी जाये यही भावना पूजा वेदी पर कलश स्थापना की है। दीपक अथवा अगरबत्ती जीवन में तेजस्विता भरने और जल कलश के माध्यम से पवित्र सरसता को उभारने की प्रेरणा देते हैं।

जप कृत्य में पुनरावृत्ति की प्रक्रिया है। उसमें एक भाव सतप्रेरणाओं को कठोर कुसंस्कारी मनः स्तर पर बार-बार रगड़ने का है। रगड़ने से मलीनता घटती है। स्नान में, कपड़े धोने में, दाँत माँजने में, झाड़ू लगाने में, बर्तन माँजने में सदैव पुनरावृत्ति ही करनी पड़ती है। आत्मसत्ता के भीतर कषायों के रूप में और बाहर कल्मषों के रूप में जो दुष्प्रवृत्तियाँ छायी हुई हैं, घिस-घिसकर उनका निवारण करना आवश्यक है। रेती से लोहे को, आरी से लकड़ी को काटकर उपयोगी बनाया जाता है। जप में इसी प्रकार अपने आपको रगड़ने का—संयमपूर्वक तप का भाव है। पत्थर पर रस्सी की रगड़ से निशान बन जाते हैं तो पशु-प्रवृत्तियों की शिक्षा पर भी सुसंस्कारिता का भाव पड़ सकता है।

जप के पीछे दूसरा भाव है चमकाने—परिष्कृत करने का। औजारों पर धार रखने में, उपकरणों को चमकाने में, पत्थर को चिकना बनाने में रगड़ने का उपचार ही अपनाना पड़ता है। हीरे पर चमक घिसाई से आती है। जूतों से लेकर बर्तनों तक पर पालिश, कलई करने में रगड़ने की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है। संगीत, फौजी कवायद आदि में अभ्यास को बार-बार दुहराना पड़ता है। जप में भगवान के नाम की पुनरावृत्ति करते रहने में भी आत्म-परिष्कार के ऐसे ही भावभरे प्रयास का उद्बोधन अथवा मार्गदर्शन है। ग्राह से जकड़े हुये गज ने बार-बार भगवान को पुकारा था, द्रौपदी ने भी लाज बचाने के लिये पुकार लगाई थी। माता से बिछुड़ा बालक रोकर माता को बार-बार पुकारता है। भगवान की ऐसी पुकार पुनरावृत्ति जप-प्रक्रिया के साथ जुड़ी हुई है। प्रार्थना और पुकार एक ही बात है।

जप के साथ ध्यान की नितान्त आवश्यकता है। जिव्हा से शब्दों का उच्चारण एवं अन्यान्य अंगों का पूजा उपचारों में जो प्रयोग होता है वह श्रम कृत्य है। उसके साथ मन को भी इसी प्रयोजन में नियोजित रखा जाता है—यही ध्यान है। कोई काम देने पर मन का इधर-उधर भागना स्वाभाविक है। शरीर और मन का संयोग न होने पर किसी भी काम में उत्कृष्टता उत्पन्न नहीं हो सकती। विशेषतया उपासना का जीवन्त रहना तो बन ही नहीं पड़ता। ध्यान में मन को बाह्य जगत से हटाकर अन्तर्जगत में विचरण करने और उस क्षेत्र को समुन्नत बनाने में नियोजित किया जाता है। साकार ध्यान में गायत्री माता के आँचल में बैठने, उनके प्रति असीम श्रद्धा रखने और अनुशासन मानने की भावना है। निराकार ध्यान में प्रातःकालीन स्वर्णिम सूर्य-सविता की दिव्य किरणों के अपने तीनों शरीरों में प्रवेश करने की आस्था जमाई जाती है। यह किरणें शरीर में संयम, मस्तिष्क में

विवेक और अन्तःकरण में श्रद्धा की अभिव्यक्ति करती हैं। उस प्रवेश अनुदान से व्यक्तित्व में ओजस्-तेजस-वर्चस की—निष्ठा-प्रज्ञा-श्रद्धा की त्रिवेणी अन्तःक्षेत्र में प्रवाहित होती है और व्यक्तित्व प्रखरता, प्रतिभा और पवित्रता से भरता चला जाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों में सर्वतोमुखी उत्कृष्टता भरने के प्रति अरुणाभ सविता का—उसके तेज का आत्म-सत्ता के कण-कण में समाहित होने की धारणा की जाती है। यही 'ध्यान योग'' है। इसमें एकाग्रता एवं तन्मयता बढ़ाने का अभ्यास है। मनोबल बढ़ाने के लिये इस अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है। जप और ध्यान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गायत्री उपासना में साथ-साथ चलाया जाता है। अभ्यास बढ़ने पर इसी संकल्प शक्ति से अन्तःक्षेत्र में दबी हुई अनेकानेक विशेषताओं को जगाने की साधना की जाती है। समस्त योग-साधनाओं में ध्यान की प्रखरता ही दिव्य सफलतायें—विभूतियाँ—ऋद्धि-सिद्धियाँ उपलब्ध कराती है।

जप की नियत मात्रा पूरी होने का पता माला या घड़ी से लगता है। निर्धारित समय पर नियत संख्या में जप करने से उस नियमितता का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसके साथ में ध्यान जुड़ा रहना आवश्यक है। जप के अन्त में पूजा की वेदी पर प्रतिष्ठित छोटे जल कलश को सूर्य के सम्मुख लेकर अर्घ्य चढ़ाना चाहिये। कलश आत्मसत्ता—जल भरा हुआ—वैभव—इसे संकीर्ण स्वार्थपरता के लिये सीमाबद्ध न रखकर भगवान को समर्पित करने और उसके द्वारा वातावरण में आर्द्रता की वृद्धि होने की भावना ही सूर्यार्घ्य दान है। इसे जप यज्ञ की पूर्णाहुति, वसोधारा भी कह सकते हैं।

स्थूल शरीर से कर्मकाण्ड, सूक्ष्म शरीर से विचारणा के अतिरिक्त तीसरा चरण भावना से समन्वित है। यह कार्य कारण शरीर से सम्भव होता है। भावना में सदुद्देश्यों के प्रति श्रद्धा की सघनता का संवर्धन ही लक्ष्य है। ईश्वर आदर्शों का समुच्चय है। ध्यान-धारणा के लिये उसी की कई प्रतिमायें—देवताओं या अवतारों की तरह बना ली जाती हैं। भक्ति ही भावना है। देव आकृति के प्रति सघन भक्ति-भावना स्थापित करने के लिये कई प्रकार के भजन-कीर्तन जैसे उपचार किये जाते हैं। यह श्रद्धा संवर्द्धन है। आदर्शों के प्रति सघन आस्था होने पर ही मनुष्य उन्हें चरितार्थ करने के लिये त्याग, बलिदान के वे कदम उठा सकता है, जिनके कारण महानता का द्वार खुलता है। आत्म-सन्तोष, जन सहयोग एवं दैवी अनुग्रह—तीनों ही विभूतियाँ समग्र उपासना के फलस्वरूप उपलब्ध होती हैं। समग्र का तात्पर्य है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों का साधना-प्रयोजन में एकनिष्ठ उपयोग।

भगवान को विभु और जीव को अणु माना गया है। ईश्वर सिन्धु और जीव बिन्दु है। बिन्दु का सिन्धु में समर्पण, विसर्जन, विलयन—यही है पूर्णता की प्राप्ति। संकीर्ण स्वार्थपरता के बन्धनों से मुक्त होकर आत्मसत्ता को विराट अनुभव करना—प्रवृत्तियों को विश्वचेतना को सुसंस्कृत बनाने के लिये प्रयत्न करना, यही मुक्ति है। भव-बन्धनों से छूटना ही मोक्ष है। भव-बन्धनों में वासना, तृष्णा, अहंता ही मुख्य है। वे ही हथकड़ी, बेड़ी और तौक की तरह जीवात्मा को जकड़ती हैं और जकड़े हुये बन्दी को मिलने वाले त्रासों की तरह संत्रस्त करती हैं। कारण शरीर को उपासना के समय श्रद्धा, सद्भावना से रससिक्त रखा जाय। आदर्शों के समुच्चय भगवान में असीम श्रद्धा-विराट में लघु का विसर्जन—व्यष्टि का समष्टि में विलयन-स्वार्थ का परमार्थ में समापन—इसी भाव-सम्वेदना को 'भक्ति' कहते हैं। भजन के समय अन्तःकरण को भावमग्न रहना चाहिये। मैं ईश्वर का ईश्वर मेरा—यह आदर्श ही "अयमात्माब्रह्म'' 'तत्वमसि'' "शिवोऽहम्'' आदि वेदान्त वाक्यों में व्यक्त हुआ है। द्वैत को अद्वैत में परिणत करना ही ईश्वर प्राप्ति है। बूँद समुद्र में, नाला नदी में, चीनी दूध में, नमक पानी में, पतंगा दीपक में जिस प्रकार अपने को विसर्जित करता और तद्रूप बनता है, उसी प्रकार उपासना के समय आदर्शों के समुच्चय से भगवान को अपना प्राणप्रिय मानने तथा उसमें तदाकार होने के लिये क्षुद्रता के समस्त बन्धनों को तोड़ फेंकने की भावना उस समय अन्तःकरण में उमगती रहती है।

इस प्रकार उपासना की अनुशासन की क्रिया-प्रक्रिया, उन कृत्यों के साथ सन्निहित आत्म शिक्षण की विचारणा के साथ, आदर्शों के साथ, विराट् के साथ अपने को घुला देने की भावना का त्रिविध समन्वय रहने से उपासना का स्वरूप समग्र एवं जीवन्त बन जाता है। उसमें मन लगता है, आनन्द आता है और विकसित व्यक्तित्व के साथ जुड़े हुये उज्ज्वल भविष्य का प्रत्यक्ष आभास अनुभव मिलने लगता है। मात्र शरीरगत जप-पाठ जैसे कर्मकाण्डों तक सीमित उपासना अधूरी रहने के कारण फलित नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वर को व्यक्ति विशेष मानकर उसको मनुहार करने से भी काम नहीं चलता। क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ने वाला उत्कृष्ट चिन्तन ही योगाभ्यास है। व्यक्तित्व को परिष्कृत करने के लिये आत्मशोधन के उद्देश्य से किया गया प्रयास तप-साधन है। योग और तप के तत्व ज्ञान का जिसमें समुचित समावेश होगा वही उपासना समग्र होगी। उसी की प्रतिक्रिया सुनिश्चित रूप से बढ़े-चढ़े दिव्य अनुदान उत्पन्न करेगी।

पात्रता के विकास के त्रिविध आधार

अन्य सभी प्रगति प्रयासों की तरह आध्यात्मिक प्रगति के भी दो पक्ष हैं। एक है पात्रता का सम्पादन-योग्यता का विकास। दूसरा है तदनुरूप उत्तरदायित्वों की-अधिकारों की उपलब्धि और उनका निर्वाह। बिना योग्यता के कहीं, कोई, किसी को बहुमूल्य सम्पदायें प्रदान नहीं करता। भला अपनी बेटी कोई किसी कुपात्र के हाथों कैसे सौंप देगा ? किसी के हाथ अपने कारखाने की अर्थव्यवस्था क्यों कर सुपुर्द करेगा ?

बादल सर्वत्र बरसते हैं पर उस पानी को जमा करना छोटे या बड़े बर्तनों के हिसाब से ही सम्भव होता है। छोटे गड्ढे या बड़े सरोवर में उनके विस्तार के अनुरूप ही पानी जमा हो पाता है। प्रतियोगिताओं में जीतने वाले ही पुरस्कृत होते हैं। पद उन्हें ही सौंपे जाते हैं, जो उनका निर्वाह कर सकने की क्षमता को खरी सिद्ध करके दिखाते हैं। सोने का मूल्यांकन उसे कसौटी पर घिसने और आग में तपाने के आधार पर किया जाता है। यही पात्रता है जो आध्यात्मिक प्रगति की पहली सीढ़ी है।

ईश्वर का प्यार और अनुदान उसकी हर सन्तान के लिये प्रचुर परिमाणों में विद्यमान है। पर उसकी उपलब्धि पात्रता के अनुरूप ही होती है। किसी के लिये चपरासी बनना भी सौभाग्य है और किसी को जिस श्रेणी का अफसर बनाया गया है, उसे उससे भी बड़ी पदोन्नति जल्दी ही मिल जाती है। इसमें भेदभाव या पक्षपात जैसा कोई अन्याय नहीं। ऊँची श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाले ही पुरस्कृत होते और छात्रवृत्ति पाते हैं।

दैवी अनुग्रह और अनुदान प्राप्त करने के लिये यह प्रमाणित करना पड़ता है कि प्रार्थी ने उसके लिये उपयुक्त प्रामाणिकता अर्जित कर ली है। इतना कर चुकने के उपरान्त योग्यता का मूल्य प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं आती। किन्तु यदि इससे बचकर नियुक्तिकर्त्ता की मनुहार कर छुटपुट उपहारों के सहारे फुसलाने का प्रयास करे और अपना उल्लू सीधा करने के लिये स्वामी-भक्ति की दुहाई दे तो उसका सफल होना कहाँ तक सम्भव है ? बैंक में ढेरों रुपया होने पर भी किसी का उतना बड़ा ही चेक स्वीकारा जाता है जितनी उसकी अमानत जमा है। कर्ज भी वापस किये जाने की गारन्टी पर ही मिलता है। इन मर्यादाओं की उपेक्षा करके कोई मैनेजर का स्तवन, अभिवादन या पुष्प अक्षत भेंट करके मनचाही राशि प्राप्त नहीं कर सकता। इस विश्व-व्यवस्था का कण-कण नियम मर्यादाओं में बँधा है, ईश्वर भी। उससे कोई नाक रगड़कर, गिड़गिड़ाकर कुछ ऐसा प्राप्त नहीं कर सकता जो शानदार हो और आकांक्षाओं के अनुरूप हो। ईश्वर से बहुत कुछ पाया जा सकता है किन्तु नियत मर्यादाओं के अनुरूप ही।

४.७१ ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

जिन आध्यात्मिक अनुदानों की पात्रता के अनुरूप हमें उच्च स्तरीय ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलती हैं, उन्हें व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता और प्रखरता कहा जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में उन्हें चिन्तन और चरित्र की प्रामाणिकता भी कहा जा सकता है। सर्वप्रथम साधक को इसी के लिये प्रयत्न करना होता है। अगली उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाला पक्ष अति सरल है। रंगाई से पहले धुलाई आवश्यक है। बोने से पहले खेत जोतना पड़ता है। ईश्वर की अनुकम्पा पाने के लिये भी यही करना पड़ता है।

जुताई, बुवाई, सिंचाई का प्रबन्ध बन पड़ने पर ही फसल लहराती है और कोठा भरने जितनी उपज देती है। अध्यात्म क्षेत्र में इन्हीं तीन प्रयासों को उपासना, साधना और आराधना कहते हैं। उपासना ईश्वर की, साधना अपनी और आराधना समाज की। इन्हीं तीनों का मिलन गंगा, यमुना और सरस्वती का मिलन त्रिवेणी संगम कहलाता है और उसका अवगाहन करने वाला हर दृष्टि से कृतकृत्य बनता है।

उपासना कहते हैं—भगवान के समीप बैठने को। महान तत्वों की समीपता भी असाधारण लाभ प्रस्तुत करती है। स्वाति बूँद सीपी में पड़कर मोती बनती है और बाँस के संयोग से बंसलोचन। चन्दन के निकट उगे हुये झाड़-झंखाड़ भी महकने लगते हैं। फूलों पर बैठने वाली मधुमक्खी शहद एकत्रित कर लेती है। राजा के चपरासी की भी इज्जत होती है।

ईश्वर के पास बैठना अर्थात् उपासना कैसे हो ? उसका उपाय है उसके साथ अपने आपको जोड़ देना। इसमें अपनी हस्ती, अपनी इच्छा मिटाकर ईश्वर को, निज को समर्पित करना पड़ता है। नाला नदी में मिलता है, बेल पेड़ पर चढ़ती है, ईंधन आग में पड़ता है और तद्रूप बन जाता है। पत्नी अपना व्यक्तित्व अलग न रखकर पति में घुला देती है। फलस्वरूप वह विवाह होते ही पति की सम्पदा में साझीदार हो जाती है और उत्तराधिकार की दावेदार बनती है। यह लाभ वैश्या को नहीं मिल सकता यद्यपि वह पत्नी से भी बढ़कर रिझाने वाले उत्तेजक उपचार करती है। महत्त्व क्रियाओं का नहीं, भावनाओं का है। किसकी उपासना सच्ची किसकी झूठी है इसकी एक ही परख है कि अपनी मर्जी के अनुरूप इष्टदेव को चलाना या उसकी मर्जी के अनुरूप स्वयं चलकर अपनी स्वामिभक्ति और वफादारी का परिचय देना। कठपुतली की तरह हम अपने आपको बाजीगर की उँगलियों में बँधा लेते हैं और उसके इशारों पर नाचना आरम्भ कर देते हैं तो तमाशा इतना मजेदार होता है कि दर्शकों की तालियाँ बजने लगती हैं। कठपुतली बाजीगर को अपनी मर्जी पर नचाना चाहे तो बात समझ में आने योग्य भी नहीं रह जाती। हमें ईश्वर के दरबार में भिखारी बनकर—कामनाग्रस्त होकर नहीं जाना चाहिये वरन् यह देखना चाहिये कि उसकी इच्छा हमारे लिये क्या है ?

मनुष्य जीवन का अनुपम उपहार देकर स्रष्टा ने हमसे यह आशा की है कि उसकी सृष्टि को अधिक सुन्दर, अधिक समुन्नत बनाने का प्रयत्न करें। इसके लिये जितने भी प्रयास किये जाते हैं, वे सभी ईश्वर उपासना के अंग माने जाते हैं। जप, तप, भजन, पूजन का मतलब ईश्वर को रिझाना नहीं, वरन् यह है कि मानवी गरिमा का निर्वाह सतर्कता-पूर्वक करें और उसे कलंकित न होने दें, यह स्मरण नाम रट के आधार पर बारम्बार किया जाता रहे। अपने आपको रामनाम का साबुन—रगड़कर शुद्ध-स्वच्छ बनाया जाये।

सिद्धान्त को समझ लेने के उपरान्त पूजा-उपासना का कर्मकाण्ड सरल पड़ता है। उसे अपनी पूर्व मान्यताओं के अनुरूप बहुत या थोड़ी देर अपनी रुचि एवं सुविधा के अनुरूप किया जाता है। ऋषियों तथा महापुरुषों का निजी जीवन गायत्री उपासना के आधार पर ही असाधारण बनकर रहा है। शास्त्रों और ऋषियों ने गायत्री को देवमाता, वेदमाता और विश्वमाता कहा है। उसे आद्यशक्ति और उपासना विज्ञान का सारतत्व बताया है। हम उसी का जप और

प्रकाशपुंज सविता का ध्यान करें, पर यह भी नितान्त अनिवार्य नहीं है। जिन्हें यह न रुचे, वे अपनी मर्जी के अनुरूप अन्य साधनायें कर सकते हैं, पर होना चाहिये उन सब में समर्पण भाव की प्रधानता। भिक्षुक या दरिद्र बनकर हम परमात्मा के दरबार में सम्मान नहीं प्राप्त कर सकते। कुछ छुट-पुट अनुग्रह पाकर खाली हाथ न आने का मिथ्या सन्तोष भर भले ही प्राप्त कर सकें।

उपासना भले ही थोड़ी हो पर नियत, समयपूर्वक, नियमपूर्वक और भाव भरी होनी चाहिये। वह हमारी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने में बहुत हद तक सफल रहेगी। बिजली के ट्रान्सफार्मर के साथ तार जोड़ लेने पर पंखे, बल्ब, हीटर, कूलर आदि यन्त्र गतिशील हो उठते हैं। पानी की टंकी या लाइन के साथ जुड़े हुये नल यथेष्ठ पानी देते रहते हैं। छोटे बैंक बड़े बैंकों के साथ जुड़कर उसकी शक्तियों का अनुभव अपने भीतर करने लगते हैं। बूँद समुद्र में गिरकर अपना अस्तित्व खोती नहीं वरन् अपना आकार उतना ही विस्तृत कर लेती है। ईश्वर की आत्म-समर्पण की उपासना करके हम अहंता खोते हैं। बदले में उतने ही समर्थ हो जाते हैं, जितना कि ईश्वर स्वयं है।

उपासना के उपरान्त दूसरा चरण साधना का है। साधना अर्थात् अपने अन्तरंग और बहिरंग जीवन को पवित्र, प्रखर एवं प्रामाणिक बना लेना। मनुष्य वस्तुतः एक प्रकार का पशु है। जन्म-जन्मान्तरों से उसके संचित संस्कार इस जन्म में भी चिपके रहते हैं और हमारे अधिकांश आचरण नर-पशुओं जैसे होते हैं। अनगढ़, उच्छृंखल, असभ्य और मानवी गरिमा की दृष्टि से गये बीते। इन्हें सुधारना और सुसंस्कृत बनाने का संकल्पपूर्वक कठोर प्रयास करना, यही अपने को साधना है। बिखराव को, चंचलता को, उद्दण्डता, को केन्द्रीभूत करना और मर्यादा के बन्धनों में अपने को बाँध लेना ही साधना है।

अनगढ़ साँप, बिच्छू, रीछ, बन्दर आदि को सधाकर ग्रामीण मदारी अपनी आजीविका चलाते हैं। सरकस के रिंग मास्टर शेरों, हाथियों, घोड़ों को सधाकर ऐसे करतब कराते हैं, जिन्हें देखकर दर्शक दंग हो सकें और संयोजक की जेब भरें। माली पौधों को काट-छाँट कर, कलमें लगाकर इतना सुन्दर बनाता और फल-फूलों की अनेकानेक प्रजातियाँ उत्पन्न करता है, ऐसे माली प्रशंसा प्राप्त करते हैं। हमें भी जीवन-क्षेत्र का ऐसा ही कलाकार, क्षेत्रज्ञ बनना चाहिये, ताकि हम जीवन के अन्तराल में प्रसुप्त पड़ी हुई अनेकानेक विभूतियों को सजग और सक्षम बना सकें और सन्त, सज्जन, ऋषि और देवात्मा कहा सकें। इसके लिये संयम अपनाना होता है। इन्द्रियों का संयम, समय का संयम, अर्थ का संयम और विचारों का संयम, इसी नियमन को अध्यात्म की भाषा में तप-साधना कहते हैं। तप का अर्थ है तपाना—गरम करना। संचित कुसंस्कारों और आदतों से लड़ पड़ना और उन्हें अनगढ़ धातु को गलाकर उपयोगी उपकरण के रूप में ढाल लेना। संस्कृत कोयला ही हीरा बनता है। तपाने से कच्ची मिट्टी के बर्तन बनते हैं और पानी को उबालने से शक्तिशाली भाप बनती है। अनुपयुक्त चिन्तन, रुझान एवं आदतों को बदलने और उनके स्थान पर उच्चस्तरीय प्रवृत्तियों से अपने आपका कायाकल्प कर लेने को दूसरा जन्म होने, द्विजत्व प्राप्त करने जैसे शब्दों से उपमा दी जाती है। यही तपश्चर्या है। उपवास, ब्रह्मचर्य आदि में यही भीतरी महाभारत लड़ना पड़ता है। जो जितना निर्मल, पवित्र बन सका—चिन्तन और चरित्र की मर्यादाओं के शिकंजे में कस सका, कुम्हार के आँवे की तरह पक सका, समझना चाहिये कि वह घर में रहने वाला तपस्वी है। अच्छा हो तपोवन में घर बनाने की अपेक्षा घर में ही तपोवन बनायें और अपने सज्जनतापूर्ण सृजन कार्यक्रम से न केवल अपने को वरन् समूचे परिवार को इसी सुसंस्कारिता के तप-साधना के ढाँचे में ढाल सकें।

पात्रता का विकास—अन्तरात्मा का परिष्कार—पात्रता का अभिवर्धन करने के लिये हमें साधना करनी चाहिये। "सादा जीवन, उच्च विचार" की नीति अपनानी चाहिये। औसत

नागरिक स्तर का निर्वाह करना चाहिये तथा जो समय, धन, श्रम, चिन्तन आदि की बचत हो सके, उस कटौती को विश्व के कल्याण के, लोक-मंगल के कार्यों के निमित्त लगाना चाहिये। इसी को पुण्य, इसी को परमार्थ, इसी को आराधना कहते हैं। पात्रता विकसित करने का यह तीसरा व अन्तिम अवलम्बन है।

भगवान का निराकार स्वरूप वह है कि जो कण-कण में समाया हुआ है। जो नियम-अनुशासन मात्र है। हम उसके कायदे, कानूनों पर चलकर उसके प्रिय-अप्रिय, भक्त-अभक्त बन सकते हैं। भगवान का प्रकट प्रत्यक्ष स्वरूप है, यह विराट ब्रह्म प्रत्यक्ष संसार। इसे सुखी-समुन्नत बनाने के लिये अपनी क्षमताओं का नियोजन करना आराधना है। इसमें पिछड़ों की सहायता करने और दिग्भ्रान्तों को सही राह बताने वाले प्रकाश की व्यवस्था बनाने के कार्यों को सम्मिलित किया जाता है। यों धार्मिक कर्मकाण्डों में लगने वाले श्रम साधन और पुराहितों को दान-सम्मान प्रदान करना भी इसी प्रचलन में आता है। पर उसका औचित्य तभी है, जब अदृश्य देवताओं को प्रसन्न करने की अपेक्षा उस दान प्रयोजन का उपयोग बुद्धि-संगत और भावनाओं को उमगाने वाला हो।

आराधना अर्थात् पुण्य-परमार्थ प्रत्येक के लिये आवश्यक है। हम जो बोते हैं, वही काटते हैं। संसार के साथ भलाई करना प्रकारान्तर से अपनी ही भलाई करना है। पिछड़ों को उठाना कालान्तर से स्वयं को भी ऊँचा उठाने वाली अदृश्य व्यवस्था का आव्हान करना है। पुण्य का प्रतिफल अगले जन्मों में भी मिल सकता है। भाग्योदय भी बन सकता है पर प्रत्यक्ष लाभ भी उसके कम नहीं हैं। आत्म-सन्तोष, यश और बदले में प्रकारान्तर से अनेकानेक प्रकार की उपलब्धियाँ हस्तगत होना ऐसा सत्परिणाम है, जिसमें गँवाने जैसी कोई बात नहीं है। वह बोने-काटने जैसे व्यवसायगत सिद्धान्तों के अनुरूप भी है और ईश्वर जो प्रसन्न करने वाला एक सर्वोत्तम साधन भी।

संसार के महामानवों का इतिहास एक ही राजमार्ग पर चला है। उनने जनता की हित कामना से सत्प्रवृत्तियों का लक्ष्य पूरा करने की दृष्टि से कष्ट सहे, त्याग किये। इसका प्रतिफल निरर्थक नहीं गया, जनता ने उन्हें सिर-आँखों पर बिठाया और उस पद तक पहुँचाया जिसके लिये असंख्यों तरसते हैं।

संसार से हमने बहुत कुछ पाया है। जीवनोपयोगी अधिकांश वस्तुयें लोगों के परिश्रम से बनी हैं। उनके बुद्धि-कौशल का अनुग्रह लाभ उठाकर हम उस स्थिति में पहुँचे हैं, जिसमें हम आज हैं। यदि किसी सहयोग न मिला होता तो कदाचित हम जीवित भी न रह पाते, सुसम्पन्न होना तो दूर। ऐसी दशा में आवश्यक है कि उसे बगीचे को सींचे जिसकी छाया में बैठते और फलों से गुजारा करते हैं। ऋण-मुक्ति का सही तरीका इस विश्व-वसुधा को सुखी, समुन्नत बनाना ही है। इसे किये बिना कोई जीवन-मुक्त नहीं हो सकता।

उपासना, साधना, आराधना के उपरोक्त तीन माध्यमों को अपनाकर हम अपनी पात्रता को इस स्तर तक विस्तृत कर सकते हैं, जिसमें देवताओं के अनुग्रह आकाश से होने वाली पुष्प-वर्षा की तरह हम पर बरसें।

आत्मनिर्माण मानव जीवन की सर्वोपरि सफलता

जड़ें जमीन में भीतर होती हैं, वे दीखती नहीं, पर पेड़ दीखता है, क्योंकि वह ऊपर है और प्रत्यक्ष भी। जीवन का बहिरंग स्वरूप ही समझ में आता है, उसके साथ जुड़ी हुई स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शिक्षा, कला, कुशलता, प्रतिभा आदि का परिचय मिलता है। वैभव एवं पद से भी स्तर का पता चलता है। इतना सब होते हुये भी व्यक्ति की जड़ें उसके अन्तःक्षेत्र में ही रहती हैं। पेड़ कितना विस्तृत, सुदृढ़ एवं दीर्घजीवी होता है यह इस बात पर निर्भर है कि उसकी जड़ें कितनी मोटी, मजबूत और गहरी हैं। पोषण तो जड़ों से ही मिलता है। वे

पतली और उथली होंगी तो पेड़ छोटा ही रहेगा, कम फल-फूल देगा, पल्लवों की हरियाली छितरी और रूखी रहेगी साथ ही उसका जीवन काल भी स्वल्प रहेगा। इसके विपरीत बरगद जैसे पेड़ों की जड़ें गहरी होती हैं, जो नई शाखाओं से नई जड़ें निकालते और जमीन में उन्हें प्रवेश करके नई खुराक प्राप्त करते हैं, वे फैलते, बढ़ते चले जाते हैं और दीर्घजीवी रहते हैं।

वृक्षों का बुढ़ापा उनकी जड़ों से आरम्भ होता है। आदमी जरा-जीर्ण तब होता है, जब भीतरी नस-नाड़ियाँ कठोर और कमजोर होती चली जाती हैं। चेहरे की झुर्री, बालों की सफेदी, इन्द्रिय शक्ति में क्षीणता जैसे बाह्य लक्षण तो मीटर को देखकर मशीन की भीतरी स्थिति का पता लगाने की तरह है। वस्तुतः मनुष्य भीतर से खोखला और क्षीण हो चलता है। वृद्धावस्था के बाहरी लक्षण उस खोखलेपन का परिचय मात्र देते हैं। यदि भीतरी अवयव सुदृढ़ हों तो मनुष्य चिकाल तक अपनी बलिष्ठता, प्रतिभा और सक्रियता अक्षुण्ण रह सकता है।

चतुर माली देख-भाल तो पत्र-पल्लवों की ओर भी रखता है, पर बगीचे को हरा-भरा और फला-फूला देखने के लिये उसका अधिक प्रयास जड़ों की स्थिति सुधारने पर ही केन्द्रित रहता है। निराई, गुड़ाई, खाद, पानी आदि की विधि-व्यवस्था बनाने में ही उसकी बुद्धि का अधिकांश भाग लगा रहता है। इसी प्रयोजन में उसकी शक्ति लगती है। साधनों का उपयोग भी इसी प्रयास में नियोजित रहता है। वह जानता है कि जड़ों की आवश्यकता यदि ठीक तरह पूरी हो सकी तो उद्यान की हरितिमा अपने आप ही बनी रहेगी। फल-फूल यथासमय और उत्साहवर्धक मात्रा में उत्पन्न होते रहेंगे। इसके लिये उसे न तो चिन्ता करनी होती है और न चेष्टा। 'जो तू सींचे मूल को फूलै फलै अघाय'' की उक्ति पर उसका पूर्ण विश्वास होता है। जड़ों को दीमक तथा दूसरे हानिकारक कीड़ों से बचाने की उसकी सुरक्षा दृष्टि भी निरन्तर पैनी रहती है।

जीवन का सफल, समुन्नत एवं परिष्कृत रूप अनायास ही विनिर्मित नहीं होता। बाहरी अनुग्रह से किसी को कुछ मिल भी जाये तो वह विजातीय द्रव्य की तरह न तो रुचता है और न पचता है। पौधे के ऊपर पानी छिड़कते रहा जाये किन्तु जड़ें सूखने लगें तो फिर उनकी रक्षा नहीं हो सकती। देवता, मन्त्र, सिद्ध पुरुष आदि समर्थ सत्ताओं द्वारा जब भी जिसे भी कोई वरदान मिले हैं, तब उसके पीछे साधक की व्यक्तिगत उत्कृष्टता ही शक्तिशाली चुम्बक का काम करती रही है। मात्र पूजा, प्रार्थना से प्रसन्न होकर कोई देवता किसी पर अनुग्रह बरसा दें, ऐसा कभी देखा नहीं गया। वे साधक के व्यक्तित्व को परखते हैं और उसकी पात्रता प्रामाणिकता को परखकर उसी अनुपात से अनुदान प्रदान करते हैं।

देव अनुग्रह की बात जाने दें तो भी प्रगति की किसी भी दिशा में बढ़ने और सफलता पाने की बात मनुष्य के व्यक्तित्व के साथ ही अविच्छिन्न रूप से जुड़ी होती है। शक्ति का उद्गम स्रोत भीतर है। वहीं जब सक्षम होती है तो बाह्य जीवन में अनेकानेक विशेषतायें और विभूतियाँ उत्पन्न करती हैं। गुण, कर्म, स्वभाव का स्तर बढ़ता है। इसी अभिवृद्धि की प्रतिक्रिया अनेकानेक सफलताओं और सम्पदाओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है, वह उसके व्यक्तित्व की कीमत अथवा प्रतिक्रिया भर होती है। ओछे व्यक्ति दूसरों की दृष्टि में घृणास्पद एवं उपेक्षणीय रहते हैं, अस्तु उन्हें न तो किसी को सच्चा सहयोग मिल पाता है और न हार्दिक सम्मान। इस अभाव के कारण वे एकाकी असहाय उपेक्षित स्थिति में पड़े रहते हैं और मात्र निजी पुरुषार्थ के बल पर नगण्य जितनी सुख-सामग्री एवं प्रगति उपलब्ध कर पाते हैं। इसके विपरीत सद्गुणों के आधार पर जिनने दूसरों का हृदय जीता है उन्हें यथोचित सहयोग मिलता रहता है। फलतः अपने साथ अनेकों की सामर्थ्य जुड़ जाने से वे पग-पग पर सफलतायें प्राप्त करते और प्रगति-पथ पर आगे बढ़ते चले जाते हैं।

अन्तरंग जितना ही निर्मल, निष्पाप होगा, अन्तर्द्वन्द्वों के कारण नष्ट होने वाली मेधा उसी परिमाण में बची रह सकेगी और उस निर्द्वन्द्व निश्चिन्त मनःस्थिति में अनेकानेक प्रतिभायें उभरती रहेंगी। प्रसुप्त दिव्य क्षमताओं के जागरण का सुयोग बनेगा। यही है वह सार-तत्त्व जिसके आधार पर प्रतिभा दिन-दिन तीक्ष्ण बनती जाती है और उसके फलस्वरूप जो भी लक्ष्य हों उसमें द्रुतगति से सफलता का पथ-प्रशस्त होता जाता है।

सांसारिक सफलताओं का पर्वत और व्यक्तिगत उत्कृष्टता का तिल यदि तराजू पर रखकर तोले जायें तो दोनों में से वह तिल ही भारी बैठेगा क्योंकि ज्यों-त्यों करके मिली उपलब्धियाँ बचेंगी नहीं। छोटा बालक या रोगी पेट की कमजोरी के कारण गरिष्ठ पकवान हजम नहीं कर सकते। फलतः वे उनके लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं। कुपात्रों के हाथ लगी सफलता या सम्पदा देर तक ठहरती नहीं। वह बेतुके उद्धत प्रयोजनों में खर्च हो जाती है अथवा कोई धूर्त छल-बल से एवं आक्रमण से अपहरण कर लेता है। देखा गया है कि कुपात्र वैभववानों की सम्पदा उनमें अनेकानेक दुर्व्यसन बढ़ाती है, अहंकारी बनाती है और उद्धत कर्म करने के लिये प्रेरित करती है। कुमार्गगमन की प्रतिक्रिया स्पष्ट है। आज नहीं तो कल उसका दुष्परिणाम भुगतना ही पड़ता है। तब वह वैभव वस्तुतः घाटे का सौदा ही सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में मूर्ख और दरिद्र उस सुसम्पन्न की तुलना में भाग्यवान प्रतीत होते हैं, जो पात्रता न होने पर भी विभूतियाँ अनायास ही प्राप्त कर लेने के कारण दुर्गतिग्रस्त हुये और बेतरह मारे गये।

प्रगति, समृद्धि की पगडण्डी कोई नहीं—केवल एक ही राजमार्ग है कि अपने व्यक्तित्व को समग्र रूप से सुविकसित किया जाये। 'धूर्तता से सफलता' का भौंड़ा खेल सदा से असफल होता रहा है और जब तक ईश्वर की विधि-व्यवस्था इस संसार में कायम है, तब तक यह क्रम बना रहेगा कि धूर्तता कुछ दिन का चमत्कार दिखाकर अन्ततः औंधे मुँह गिरे और अपनी दुष्टता का असहनीय दण्ड भुगते। अनादिकाल से चले आ रहे इतिहास-चक्र का यदि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होगा कि काठ की हाँडी एक बार तो चूल्हे पर चढ़ जाती है, पर दूसरी बार उसे उस प्रकार का अवसर फिर कभी नहीं मिलता। छल, छद्म का आश्रय लेकर भी कई व्यक्ति कुछ समय के लिये कई सफलतायें पाते और सम्पत्ति संग्रह करते देखे गये हैं, पर उन्हें वैसे अवसर बार-बार नहीं मिलते। आरम्भ में जो लोग वस्तुस्थिति नहीं समझ सके थे, उनकी जानकारी में भी यह तथ्य आ जाता है, तब वे भविष्य के खतरे को समझते हुये स्वयमेव सतर्क हो जाते हैं और बच निकलने का प्रयत्न करते हैं। अनाचारियों के गठ-बन्धन होते और टूटते रहते हैं। डाकुओं के गिरोह उन्हीं में फूट पड़ जाने के कारण पकड़े जाते हैं। अनैतिकता के आधार पर खड़ी हुई मैत्री बालू की दीवार की तरह ढह जाती है। स्थिर और सघन आत्मीयता के लिये आदर्शवादिता के आधार पर मैत्री को पनपना चाहिये। अन्यथा जिस दुष्टता का—दुष्ट लोग मिल-जुलकर दूसरों के विरुद्ध प्रयोग करते थे, उसी हथियार का आपस में भी महज प्रयोग कर सकते हैं। आमतौर से होता भी यही है। कुचक्र रचने में समवेत होने वाले घटक अन्ततः आपस में ही टकरा जाते हैं। दुरभिसंधियाँ वे दूसरों के विरुद्ध ही नहीं रचते परस्पर एक दूसरे पर भी उनका प्रयोग करते हैं। ऐसे ही अनेक कारण हैं जिनके फलस्वरूप अब तक कोई भी कुचक्रों के आधार पर स्थिर सम्पदा एवं महत्त्वपूर्ण सफलता का अधिकारी नहीं बन सका। यदि ऐसा न हो तो अपनी बौद्धिक प्रखरता और व्यवहारकुशलता के कारण दुष्ट-दुरात्माओं ने न जाने कितनी सफलतायें प्राप्त कर ली होतीं और न जाने कितने ऊँचे उन्नति के सिंहासन पर विराजमान होते।

सांसारिक उन्नति का स्थिर, सुदृढ़ और सुनिश्चित आधार—व्यक्तित्व का सुविकसित एवं सुसंस्कृत बनना पुरुषार्थ पर अवलम्बित है। इस मार्ग पर चलने का दुहरा लाभ है। सांसारिक सफलतायें, समृद्धियाँ, प्रतिष्ठाएँ जैसे गौरवास्पद अवसर तो उससे मिलते ही हैं साथ ही अनवरत् अभ्यास से अपनी अन्तःविभूतियों को निरन्तर जागृत एवं समुन्नत बनाते चलने का

ऐसा लाभ भी है जिसकी तुलना में भौतिक सफलताओं का सारा वैभव तुच्छ पड़ जाता है। सर्वविदित है कि विभूतिवान व्यक्ति कहीं भी, कभी भी, किसी भी स्थिति में रहते हुये भी अपनी विशेषताओं के कारण प्रतिकूल वातावरण को अनुकूलता में बदल रहा होगा। जीवन का सबसे बड़ा आनन्द 'आत्म-सन्तोष' उसके चरणों पर लोट रहा होगा। चरित्रवान् और उदार प्रकृति के मनुष्य ही महामानवों की पंक्ति में बैठते और इतिहास-प्रसिद्ध बनते हैं, अजर-अमर देवताओं की श्रेणी में उन्हीं की गणना होती है। उनके सम्पर्क और प्रभाव परिचय में आने वाले व्यक्ति प्रकाश प्राप्त करते और ऊँचे उठते हैं। चन्दन के वृक्ष की समीपता से उस क्षेत्र में उसे झाड़-झंखाड़ों का सुगन्धित हो जाना तो किम्वदन्ती के रूप में ही प्रचलित है, पर सज्जनों के सम्पर्क में आने वालों ने किस प्रकार अपने जीवन बदले और किस तरह ऊँचे चढ़े, इसके उदाहरण पग-पग पर मिल सकते हैं। जिस पर सारा सम्पर्क क्षेत्र श्रद्धा के भाव भरे पुष्प अनवरत् रूप से बरसाता हो, उसे स्वर्गलोक का निवासी देवता नहीं तो और क्या कहा जायेगा ? ऐसी देवोपम मनःस्थिति के लोगों के साथ कुटिलतापूर्वक बढ़ा-चढ़ा वैभव कमा लेने की सम्पन्न परिस्थिति वालों से तुलना की जाये तो प्रतीत होगा कि एक कल्पवृक्ष के नीचे आनन्द ले रहा है और दूसरा इत्र के खौलते कढ़ाव में उबल रहा है।

तात्विक दृष्टि से मनुष्य की मूलसत्ता उसकी अन्तःचेतना-आत्मा ही है। शरीर उसका कलेवर है। परिवार उसका आवरण है। वैभव उसका श्रृंगार है। श्रृंगार, आवरण एवं कलेवर जैसे उपकरण तो सुसज्जापूर्ण हों, पर अन्तःचेतना विकृतियों और निकृष्टताओं के कारण रुग्ण कुरूप बन रही हों तो समझना चाहिये कि आँखों से दीख पड़ने वाला चकमक वैभव पूर्णतया खोखला है। निष्प्राण लाश को कितना ही पुष्पहारों से सजाया जाय, उसमें शान्ति नहीं आ सकती। मृत शरीर को सड़न से नहीं बचाया जा सकता। अन्तरात्मा विकृतियों के दबाव से मूर्छाग्रस्त पड़ा तो फिर जीवन में प्रफुल्लता का दर्शन न हो सकेगा। खीज, झुंझलाहट, अशान्ति, उद्विग्नता, निराशा जैसी विभिन्न धातुओं की बनी गरम सलाखों से क्षण-क्षण में झुलसने-भुनने जैसी पीड़ा का कभी अन्त न हो सकेगा। आन्तरिक विकृतियों का दण्ड इससे कम है ही नहीं। 'गम गलत करने' के लिये शराबखानों और चकलों का चक्कर काटने पर भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बेहोशी की दवा खा लेने से कष्ट का अनुभव होना भर बटता है। प्राणघातक रोग तो तब भी अपने स्थान पर बना ही रहता है और अपनी विनाशलीला तो यथावत् चलाता ही रहता है।

मोटी बुद्धि तो वासना, तृष्णा की पूर्ति को ही सब कुछ मानती रहती है। पशु-प्रवृत्ति का समाधान पेट और प्रजनन की समस्या का समाधान हो जाने भर से हो जाता है। नर-वानरों के लिये लोभ, मोह के कच्चे अमरूद पर्याप्त हैं। किन्तु भगवान् ने यदि गहराई तक उतर सकने वाली विवेक-बुद्धि दी हो तो उसका प्रथम निरीक्षण यही होगा कि आखिर हम हैं क्या ? और हमारी क्षमताओं का आधार क्या है ? प्रगति की बात सोचने और उपलब्धियों का आनन्द उठाने की योजना बनाने से पूर्व सोचना यह होगा कि प्रगति आखिर होती किस आधार पर है ? और प्रगति का रसास्वादन कर सकने वाली सत्ता है कौन ? यह प्रश्न अनभ्यस्त है। प्रायः कभी भी इस पर गम्भीरता से विचार नहीं किया गया होता। कहने को तो तथाकथित अध्यात्म की चर्चा आये दिन होती रहती है। जीभ से बहुत कुछ बोला और कान से बहुत कुछ सुना जाता है। स्वाध्याय, सत्संग, कथा-कीर्तन, भजन-पूजन आदि की लकीर तो पिटती रहती है, पर यह सब आखिर हो किस-लिये रहा है, उसका ध्यान ही नहीं आता। पूजा-परक, धार्मिक कर्मकाण्डों की चमत्कारी फल श्रुतियों ने बुद्धि पर ऐसा आच्छादन लपेट दिया होता है कि इस घिसे को घिसते रहने से ही आत्मिक और भौतिक क्षेत्र में सस्ती ऋद्धि-सिद्धियों की अपेक्षा की जाने लगती है। स्पष्ट है कि उस मृग-मरीचिका में किसी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। मात्र कर्मकाण्डों से आत्मोत्कर्ष का एक भी आधार खड़ा नहीं होता।

तत्व-दर्शन का अवलम्बन लेकर जब आत्म-चेतना की मूलसत्ता और उसके विकास, विस्तार के सम्बन्ध में गम्भीर विचार करते हैं,

तो प्रतीत होता है कि परिस्थितियों का वृक्ष—मनःस्थिति की जड़ों के सहारे पोषण प्राप्त करता और फैलता-फूलता, फलता दिखाई पड़ता है। मनःस्थिति भी स्वतन्त्र नहीं, उसका प्रेरणा स्रोत अन्तःकरण का अभिलाषा केन्द्र है। आकांक्षायें उठती हैं—तो उसके साधन जुटाने के लिये बुद्धि दौड़ती है—बुद्धि दौड़ती है तो साधन जुटते और अवसर मिलते हैं। शरीर और मन का संयोग सफलताओं का सृजन करता है। यही है वह चक्र जिस पर आरूढ़ होकर लोग ऊँचे उठते और नीचे गिरते हैं।

बात तो जरा-सी है, पर है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय। ब्रह्म-विद्या का—अध्यात्म विज्ञान का विशालकाय सरंजाम इस छोटे से तथ्य को हृदयंगम करने के लिये खड़ा किया गया है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद प्रतिद्वन्द्वी इस अर्थ में हैं कि एकाकी मान्यता में साधन सामग्री की विपुलता के आधार पर तृप्ति मिलने की बात कही जाती है और दूसरा प्रतिपादन आन्तरिक विभूतियों के आधार पर वैभव उपलब्ध होने के तथ्य को प्रमुखता देता है। यों दोनों ही मान्यतायें आत्मिक और भौतिक प्रगति के समन्वय की अनिवार्यता स्वीकार करती हैं। कसौटी पर भौतिकवादी प्रमुखता गलत सिद्ध हुई है क्योंकि दुर्गुणी सम्पत्तिवानों के प्रसन्नता नहीं उद्विग्नता ही पल्ले बँधती देखी जाती है, इसके विपरीत सद्भाव, सम्पन्न, सज्जनता के रहते स्वल्प साधनों में भी आनन्द और उल्लास भरा जीवन जिया जा सकना स्पष्टतः सम्भव दीखता है। संसार के प्रायः सभी मानव इस तथ्य की साक्षी में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

आत्म-सत्ता को सुविकसित एवं सुसंस्कृत बनाने का तथ्य यदि समझा जा सके तो उस प्रयास के फलस्वरूप निश्चित रूप से सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुल सकता है। इस प्रयोजन के लिये चार प्रयास करने पड़ते हैं— (१) आत्म-समीक्षा (२) आत्म-सुधार (३) आत्म-निर्माण (४) आत्म-विकास। अपने क्रिया-कलापों में, गतिविधियों में आलस्य, प्रमाद, व्यसन, दुष्ट आदतों के रूप में जो अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियाँ घुसी बैठी हैं, उन्हें देखना, समझना आत्म समीक्षा है। निदान जाने बिना चिकित्सा कैसी ? अवनति के क्या-क्या कारण अपने गुण, कर्म, स्वभाव के रूप में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में घुसे बैठे हैं, इसका कठोर आत्म-समीक्षा के आधार पर ही पता लगाया जा सकता है। आमतौर से दूसरों के दोष ढूँढ़ने का ही अभ्यास हर किसी को होता है। आत्म-निरीक्षण तो अति कठिन है क्योंकि अपने साथ पक्षपात करने की आदत आरम्भ से ही बनी होती है। दूसरा कोई वस्तुस्थिति समझता नहीं। हम स्वयं ही अपनी वास्तविक स्थिति समझ सकते हैं किन्तु आत्म-निरीक्षण की आदत न होने से सब कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है। बुराई तो दूसरों में दीखती है, अपने में तो जो कुछ भी है वह अच्छा ही अच्छा लगता है। कोई दूसरा समीक्षा करे तो उस पर क्रोध आता है, द्वेष उभरता है। ऐसी दशा में आत्म-निरीक्षण का कठिन कार्य स्वयं ही अपने कन्धों पर उठाना पड़ता है। इसके लिये अपने भीतर एक समीक्षक मार्ग-दर्शक गुरु का विकास करना होता है, उसी के संरक्षण से आत्म-चिन्तन का अभ्यास किया जाता है। वह क्षमता विकसित हो जाती है तो प्रतीत होता है कि आत्मसत्ता को दुर्बल बनाने वाली और प्रगति की सम्भावनाओं को कुण्ठित करने वाली विकृतियाँ अपने ऊपर किस हद तक कब्जा जमाये हुये हैं।

इतना बन पड़ने पर आत्मात्कर्ष का दूसरा चरण यह होता है कि प्रस्तुत कषाय-कल्मषों में लड़ने के लिये महाभारत खड़ा कर दिया जाये। देवासुर-संग्राम की कथा, उप-कथाओं से पुराण साहित्य भरा पड़ा है। उनमें अन्तःक्षेत्र में होने वाले दैवी और आसुरी तत्वों के बीच होने वाली दुःखद किन्तु अनिवार्य टक्कर का अलंकारिक वर्णन है। साधना को 'समर' कहा गया है। भगवान् के चौबीसों अवतार स्वयं संघर्षरत रहे हैं और अपने अनुचरों को उसी युद्धक्षेत्र में घसीट ले गये हैं। लंकाकाण्ड में रीछ, वानरों की सेना को अड़ा देने के पीछे भगवान का यही प्रयोजन रहा है कि असुरता को निरस्त करने में देवत्व को संघर्षरत होना चाहिये। साधनों की दृष्टि से कौन बड़ा है, अधिकार कितना जमा लिया, इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। सत्य देखने में दुर्बल लगता हो तो भी अन्ततः विजय उसी की होती है। सत्य में हजार हाथी के

बराबर बल होता है। इस प्रतिपादन में यही कहा गया है कि अन्तरंग अथवा बहिरंग जीवन में अवांछनीयता ने कितनी ही गहराई तक जड़ जमा ली हो तो भी उन्हें उखाड़ा जा सकता है। आत्मिक प्रगति का प्रथम चरण आन्तरिक दोष, दुर्गुणों को तीखी दृष्टि से ढूँढ़ निकालना और दूसरा चरण जो अनुचित है उसके उन्मूलन में साहसपूर्वक जुट जाना है।

तीसरे चरण में सद्भावनाओं को स्वभाव में तथा सत्प्रवृत्तियों को व्यवहार में उतारना है। यह कार्य एक दिन में—कल्पना मात्र से यकायक नहीं हो जाता है, वरन् उठने से लेकर सोने तक के पूरे समय को कर्म तथा विचार की दृष्टि से पूरी तरह इस प्रकार सुनियोजित रखना है, जिसमें शरीर एवं मस्तिष्क में कहीं भी अनौचित्य को प्रश्रय मिलने की गुंजायश न रहे। हर क्रिया को कर्मयोग स्तर की और हर विचारणा को ज्ञानयोग स्तर की बनने का अवसर मिले। इसके लिये सतर्कतापूर्वक प्रयत्न करना होता है। सज्जनोचित गुणों में से अपना कौन-सा क़म है, प्रखर व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये हमें अपने में किन विशेषताओं की अभिवृद्धि करनी है, यह सोच लिया तो उनके अभ्यास में उतारने के अवसर अपने सामान्य जीवन-क्रम में ही मिलते रह सकते हैं। निर्वाह की दृष्टि से यदि नैतिक आजीविका या कार्य-पद्धति अपनाई गई है तो उसी के साथ आसानी से जीवन-साधना जुड़ सकती है। गृहस्थ की योग-साधना स्तर पर निबाहा जा सकता है। परिवार सद्उद्देश्यों की प्रयोगशाला बन सकता है। तपोवन में घर बना लेना सरल है, पर घर को तपोवन में बदल देने के लिये ऐसी कुशलता की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी चर्चा करते हुये गीताकार ने 'योग कर्मषु कौशलम्' कर्म-कौशल को योग के नाम से पुकारा है।

आत्मोत्कर्ष का चौथा चरण है—आत्म-विकास। अहंता को—स्वार्थपरता को अधिकाधिक सुविस्तृत करते जाना ही आत्म-विकास की प्रक्रिया है। संकीर्ण मनुष्य अपने शरीर को ही सब कुछ मानता है। अपने स्वार्थ के सामने स्त्री-बच्चों तक के हित का ध्यान नहीं रखता। परिवार के लोगों से लाभ तो उठाना चाहता है, पर उनके लिये त्याग करने का अवसर आता है तो कन्नी काटने लगता है। स्वार्थी मनुष्य अपने थोड़े-से लाभ के लिये दूसरों का बड़े से बड़ा अहित कर सकता है। जीभ के स्वाद के लिये दूसरे प्राणियों का प्राण हरण कर लेना उसके लिये बाँये हाथ का खेल होता है। क्रूर-कर्म करने वाले फलतः निकृष्ट स्तर के स्वार्थी ही होते हैं। आत्म-विकास में इस प्रकार की संकीर्णता को छोड़ना पड़ता है और उदार आत्मीयता की प्रवृत्ति पनपानी पड़ती है। अपनी सुविधायें बाँट देने और दूसरों के दुःख बँटा लेने को जी मचलता रहता है। थोड़े-से परिजनों तक सीमित रहने वाले मोह को परिष्कृत करके निःस्वार्थ प्रेम में परिणित करना होता है। सभी अपने लगते हैं और प्रत्येक पिछड़े को ऊँचा उठाने के लिये करुणा उमड़ती है। ऐसे व्यक्तियों को लोक-कल्याण के लिये अपना आपा समर्पित करना पड़ता है। देश, धर्म, समाज, संस्कृति के प्रति सदुद्देश्यों के प्रति उनकी इतनी प्रगाढ़ निष्ठा होती है कि श्रम, समय, चिन्तन एवं साधनों की अपनी सम्पदा उसी निमित्त नियोजित करने से कम में चैन नहीं पड़ता। विलासिता, संग्रह और तृष्णा के उभार शान्त हो जाते हैं और पेट भरने, तन ढकने जैसे स्वल्प निर्वाह आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त फिर कोई अनावश्यक तृष्णा, ऐषणा पास भी नहीं फटकने पाती। 'सादा जीवन, उच्च विचार' की ब्राह्मण परम्परा उसके रोम-रोम में बस जाती है। फलतः स्वार्थ में नियोजित साधनों का उपयोग परमार्थ में होने लगता है। विराट् ब्रह्म और विशाल विश्व की एकता का भान होने पर फिर सत्कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करते हुये ही जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत होता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की मान्यता जब परिपक्व निष्ठा का रूप धारण कर लेती है तो फिर मनुष्य किसी परिवार विशेष की सम्पदा न रहकर विश्व नागरिक बन जाता है और अपनी सामर्थ्यों का उपयोग मोहग्रस्तों की तरह नहीं, विवेकशील महामानवों की तरह करता है। लोक-सेवा ही उसका व्रत और जन-कल्याण ही उसका लक्ष्य होता है। साधु और ब्राह्मणों की यही रीति-नीति रही है। आत्म-विकास की कक्षा में पहुँचे हुये व्यक्ति इसी स्तर का जीवनयापन करते हैं। सेवा, करुणा, उदारता जैसी दैवी

विभूतियाँ उनके मन, वचन, कर्म में झलकती, छलकती दृष्टिगोचर होती है।

कहा जा चुका है कि आत्मोकर्ष के चार चरण हैं—आत्म-समीक्षा, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास। इन चारों के लिये क्रमिक किन्तु अनवरत् प्रयास करना होता है। हर घड़ी सतर्क और संघर्षरत रहना पड़ता है। पशु-प्रवृत्तियाँ सहज ही हार नहीं मानतीं। वे सत्प्रयत्नों को बार-बार असफल बनाने के लिये उभरती हैं। सुधार के प्रयास करते रहने पर भी कुसंस्कारों के उभार जब-तब आवेश बनकर ऊपर आ जाते हैं और व्रत नियम के प्रयास को तोड़-मरोड़कर रख देते हैं। इस प्रकार के अवसर आते रहने पर अधीर लोग हिम्मत हार बैठते हैं। व्रत टूटते हैं, संयम निभता नहीं, जो सुधार चाहा था वह हो नहीं सका, यह देखकर सोच लिया जाता है कि—"यह मार्ग अति कठिन है। इस पर कोई योगी तपस्वी ही चल सकते हैं। सामान्यजनों का यह काम नहीं, अस्तु पुराने ढर्रे को ही अपनाये रहा जाये, सुधार का प्रयत्न छोड़ दिया जाये।" इस प्रकार की अधीरता से बचना चाहिये और सोचना चाहिये कि असंख्य जन्मों की संग्रहीत पशु-प्रवृत्तियाँ यदि पूरी तरह छूटने में थोड़ा समय लेती हैं तो कोई हर्ज नहीं। हिम्मत न हारी जाये और प्रयत्न जारी रखा जाये। पत्थर पर रस्सी की रगड़ से नेशान बन सकता है तो अपने स्वभाव में सतोगुणी सुधार परिवर्तन क्यों नहीं हो सकता ?

बच्चा धीरे-धीरे चलना सीखता है। वह बार-बार गिरता, उठता है। छात्रों से आये दिन भूलें होती हैं और अध्यापक उन्हें बार-बार सुधारते हैं। कपड़ा मैला होता है और उसे रोज धोया जाता है, कोई हताश नहीं होता कि बार-बार सुधार करने पर भी फिर गड़बड़ी क्यों हो जाती है ? यह संघर्ष समयसाध्य और श्रमसाध्य है। बन्दूक का निशाना लगाने से लेकर साइकिल सवारी सीखने तक के अभ्यास और शिल्पकला आदि की कुशलता थोड़ा समय ले जाती है। आरम्भ में भूलें भी होती हैं और उन्हें सुधारना भी पड़ता है। यही बात आत्म-निर्माण जैसा सेतुबन्ध बनाने में भी लागू होती है। संचित कुसंस्कार यदि बार-बार उभरें तो उन्हें दबाने के प्रयास में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिये और न मन छोटा करना चाहिये। अन्ततः विजय प्राप्त करके रहने का संकल्प देर-सबेर में आत्मोत्कर्ष का लक्ष्य भी पूरा कर ही देता है।

पुरुषार्थ किसी भी क्षेत्र में किया जाये अपना परिणाम उत्पन्न करके ही रहता है। पूरी प्रत्यक्ष एवं मनचाही सफलता न भी मिले तो भी पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं जाता। उससे जो क्रिया-कुशलता बढ़ती है, वह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है। संसार के समस्त पुरुषार्थों में आत्म-निर्माण की दिशा में किया गया प्रयास सर्वोपरि बुद्धिमत्ता का परिचायक है। उससे जीवन की जड़ें मजबूत होती हैं। यह सुदृढ़ता समूचे व्यक्तित्व को निखारती है। मानवी प्रखरता का दिव्य चुम्बकत्व शक्तिशाली बनता है। उसकी बढ़ी हुई सामर्थ्य भौतिक जगत् से समृद्धि को—प्राणिजगत से सद्भावना को और दिव्य-लोक ईश्वरीय अनुकम्पा को इतनी अधिक मात्रा में खींच लाती है कि आत्म-निर्माण की साधना में निरत मनुष्य जीवन को हर दृष्टि से सार्थक बनाता है।

सूक्ष्मीकरण साधना में सहभागी बनने हेतु तीन अनिवार्य चरण

मनुष्य दो हिस्सों में बँटा हुआ एक काया, दूसरा चेतना। काया को वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और चेतना को चिन्तन की। काया भौतिक है और चेतना अध्यात्म। दोनों की अपनी-अपनी आवश्यकतायें हैं। शरीर को अन्न, जलवायु की—भोजन, वस्त्र निवास की—आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार चेतना का निर्वाह एवं कार्यक्षेत्र चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार पर अवलम्बित है। शरीर को सुविधायें उपयुक्त मिलेंगी तो वह सुदृढ़ एवं दीर्घजीवी रहेगा। इसी प्रकार आत्मा के सम्मुख यदि चिन्तनपरक परिस्थितियाँ उच्चस्तरीय रहें तो उन्हें समुन्नत होने का अवसर मिलेगा।

काय चेतना की परिष्कृति एवं विकास हेतु चेतना के तीनों ही स्तर ऊँचे उठाने होते हैं। साधना, उपासना, आराधना का त्रिविधि उपक्रम अपनाकर प्रज्ञा परिजन पूज्य गुरुदेव की सूक्ष्मीकरण साधना, जो युग धर्म की माँग पूरी करने हेतु उन्होंने प्रचण्ड तप पुरुषार्थ के रूप में आरम्भ की है, के अंग बन सहज ही श्रेयाधिकारी बन सकते हैं।

आत्मिक उत्कर्ष के लिये इन त्रिविधि सुयोगों की व्यवस्था रखी होती है। भावना—विचारणा एवं तत्परता को—गुण, कर्म, स्वभाव के नाम से जाना जाता है। इन्हें ही आस्तिकता—आध्यात्मिकता और धार्मिकता कहते हैं। उन्हें परिष्कृत करने की दार्शनिक विधि-व्यवस्था को कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग कहा गया है। शरीर को कर्मयोग, मन को ज्ञानयोग और अन्तःकरण को—भक्तियोग द्वारा परिष्कृत किया जाता है। इन्हीं तीन वर्गीकरणों को स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की संज्ञा दी गई है। प्रकृति, जीव और ईश्वर के तीन भेदों में भी तत्वदर्शी इसी ब्रह्माण्ड की व्याख्या करते रहे हैं। भावना को परिष्कृत करने के लिये श्रद्धा—विचारणा को प्रज्ञा और तत्परता को निष्ठा द्वारा उच्चस्तरीय बनाया जाता है। दार्शनिक क्षेत्रों में इसी प्रकार के ऊहापोह, चेतनात्मक विश्लेषण के सन्दर्भ में होते रहते हैं जिनके पास अधिक समय है, जिनकी विचारणा अधिक तीव्र है। वे अनेक दार्शनिक प्रचलनों के अनुसार इन प्रतिपादनों पर विस्तृत विचार, विनिमय करते रहते हैं। बुद्धि विलास की दृष्टि से यह उपयोगी भी है और आकर्षक भी। जिन्हें अध्यात्म विज्ञान के सन्दर्भ में अधिक अभिरुचि है। वे इन सभी प्रसंगों पर विस्तारपूर्वक पठन, श्रवण, चिन्तन मनन एवं ऊहापोह करते रह सकते हैं।

जिन्हें कामचलाऊ सार संक्षेप भर जानना हो, उनके लिये इतना समझने भर से काम चल जायेगा कि चेतना के तीन स्तर हैं। तीनों परस्पर गुँथे हुये हैं। तीनों को ही साथ-साथ विकसित करना होता है।

उपरोक्त तीनों क्षेत्रों को परिष्कृत करने के लिये जो विधा प्रचलित है, उसके तीन भाग हैं—(१) उपासना (२) साधना (३) आराधना। उपासना से भाव क्षेत्र को, साधना से चरित्र को और आराधना से व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश किया जाता है। यह तीनों साथ-साथ चलती हैं। जिस प्रकार, अन्न, जल और वायु का साथ-साथ सेवन-क्रम चलता रहता है, उसी प्रकार आत्मिक प्रगति के लिये हर किसी को अपने-अपने ढंग से उपासना, साधना और आराधना की विधा अपनानी पड़ती है।

अन्तःकरण में श्रद्धा का अभिवर्धन करने के लिये उपासना की जाती है। क्षुद्र को महान् में—जीव को ब्रह्म में—परिवर्तित करने का यही उपाय है। उपासना करने से साधक तद्रूप बनता है। भगवान के गुण, भक्त में बढ़ना आरम्भ हो जाते हैं। समर्पण भावना से एकात्मता स्थापित होती है और अद्वैत स्थिति बनती है। इसके लिये बिन्दु-सिन्धु जैसा, ईंधन-आग जैसा, पतंगें-दीपक जैसा, बेल-पेड़ जैसा, पतंग उड़ाने वाले जैसा ध्यान करने में, नदी-सरोवर के मिलन में यही भाव हैं, सीमित स्व' को विराट् 'त्वम्' में विसर्जित करने से क्षुद्रता मिटती और महानता प्रकट होती है।

सभी प्रज्ञा परिजनों को नियमित उपासना करनी चाहिये। स्नान बन पड़े तो प्रातःकाल नियम से बैठकर न्यूनतम पन्द्रह मिनट आद्यशक्ति युग शक्ति गायत्री की उपासना करनी चाहिये। जिनसे इतना न बन पड़े वे आँख खुलते ही बिस्तर ही पर बैठे गायत्री का जप एवं सविता का ध्यान करते रह सकते हैं।

उपासना के माध्यम से आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा सघन सम्बन्ध सूत्र जुड़ता है, जिससे दोनों के बीच आदान-प्रदान का तारतम्य जुड़ सके। वह वस्तुतः भावना क्षेत्र है। इसमें भक्ति की—रस सम्वेदना की उमंगें काम करती हैं। एकता और एकात्मकता के लिये आत्मीयता आवश्यक है। एकता और आत्मीयता दोनों एक साथ रहती हैं। परमात्मा के साथ आत्मा को जोड़ना एकात्मकता के सहारे ही सम्भव है। दोनों के बीच इस आधार पर जितनी घनिष्ठता उत्पन्न कर ली जायेगी, उतना ही आदान-प्रदान चल पड़ेगा।

ईश्वर महान् है—जीव इसका अंशधर होते हुये भी स्वल्प। स्वल्प में जितना अंश महानता का बढ़ता या भरता जाता है, उतना ही वह पूर्ण एवं समर्थ बनता जाता है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उपासना का अवलम्बन लिया जाता है।

उपासना का अर्थ है—समीप बैठना। समीप बैठने से अधिक प्रभावशाली के गुण, कम प्रभावशाली में आना आरम्भ कर देते हैं। चन्दन के समीप उगी हुई झाड़ियों में भी सुगन्ध आने लगती है। स्वाति बूँद पड़ने से सीप में मोती, बाँस में वंसलोचन, केला में कपूर उत्पन्न होने की किम्बदन्ती है। पारस छूने से लोहा सोना बनता है। सत्संग और कुसंग की अपनी-अपनी महिमा है। टिड्डे हरी घास पर रहते हैं तो हरे रंग के होते हैं पर जब घास सूखकर पीली पड़ जाती है तो उनका रंग भी बदलकर पीला हो जाता है। भगवान की समीपता का—उपासना का—भी वैसा ही प्रतिफल होना चाहिये। दो सरोवरों के बीच में यदि एक नाली बना दी जाय तो पानी ऊँची का नीची में चलता रहेगा और तब तक बहेगा, जब तक दोनों का जब लेबिल एक नहीं हो जाता। उपासना यदि सच्चे मन से की जाय तो उसका भी ऐसा ही प्रतिफल होना चाहिये। भक्त में भगवान की विशेषतायें छलकनी चाहिये। हमने अपने उपासना क्रम में सदैव इन भाव तरंगों को अपने मानस पर आरोपित कर ऐसी ही अनुभूति की है एवं स्वयं को समग्र रूपेण इष्ट में घुला देने का प्रयास किया है।

भगवान को सद्गुणों का समुच्चय कहा गया है। मनुष्य के लिये इतना ही अंश उपास्य है, जो श्रेष्ठतम विशेषताओं से भरा-पूरा है। उसको निकट बुलाने की, निकट पहुँचने की धारणा उपासना में की जाती है। इसके लिये नाम जप या रूप ध्यान का आश्रय लिया जाता है। भगवान यों सर्वव्यापी होने के कारण निराकार है। इसलिये उनका नाम रूप तो नहीं हो सकता पर हमारे मन की बनावट ऐसी है, जिसके अनुसार बिना नाम रूप से परिकल्पना एवं ध्यान धारणा नहीं हो सकती। इसके बिना उपासना का योगाभ्यास नहीं बन पड़ता। इसलिये अध्यात्म विज्ञान के मनीषियों ने भगवान के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये कोई नाम रूप वाला 'इष्टदेव' स्थापित करने का निर्देशन दिया है। इस प्रतिमा के साथ समर्पण की एकात्म भावना स्थापित की जाती है और द्विधा का भेद मिटाकर एकात्म स्थिति का ध्यान किया जाता है। नाम भी बार-बार इसीलिये लिया जाता है कि इष्टदेव की स्मृति निरन्तर बनी रहे।

आत्मिक प्रगति का दूसरा चरण है—साधना। पूरा नाम है जीवन साधना। जीवनचर्या को मानवी गरिमा के अनुरूप गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सुसंस्कारी बनाना। संक्षेप में यही है—साधना का उद्देश्य। जन्म-जन्मान्तरों के संचित कुसंस्कारों को निरन्तर काटते रहने पर ही वह मानवी गरिमा के ढाँचे में ढलता है। अन्यथा नर-पशु जैसा अनगढ़ कुसंस्कारी ही बना रहता है। आत्म-परिशोधन की, आत्म-परिष्कार की प्रक्रिया जीवन साधना कहलाती है।

मदारी रीछ, बन्दरों को सिखाकर नाच दिखाने योग्य साध लेते हैं। सपेरे साँपों को अभ्यस्त करके उनसे पेट पालता है। सरकस वाले सिंह आदि बड़े-बड़े जानवरों से आश्चर्यजनक कौतूहल दिखाते हैं। बिना सिखाये तो बैल, घोड़े, ऊँट तक अपने-अपने उपयुक्त काम करना नहीं सीख पाते। फिर नर-पशु के देव मानव बनने की आशा कैसे की जाये ? इसके लिये ही आत्म-परिष्कार की जीवन-साधना करनी होती है।

इसके लिये दो बार तो नियत उपासना के लिये चिन्तन-मनन के लिये बैठना पड़ता है। एक बार (१) आत्म-समीक्षा (२) आत्म-सुधार (३) आत्म-निर्माण और (४) आत्म-विकास के सम्बन्ध में अपनी जाँच-पड़ताल करने के लिये। दूसरी बार अपने गुण, कर्म, स्वभाव में संयमशीलता का कितना समावेश हो रहा है ? यह परखने के लिये। चार संयम ही, चार तप कहलाते हैं। इन्हें अपने में बढ़ाने के निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। (१) इन्द्रिय-संयम (२) अर्थ-संयम (३) समय संयम (४) विचार-संयम। इन चार कसौटियों पर अपने को कसते रहना चाहिये। जो भूलें होती हैं, कमियाँ रहती हैं, उन्हें सुधारने का

प्रयत्न करते रहना चाहिये। एक साथ सारे दोष-दुर्गुण दूर न हो पाते हों तो भी निरन्तर यह प्रयत्न चलना चाहिये कि तुलनात्मकी दृष्टि से विगत कल की अपेक्षा आज सुधरा हुआ है और आज की अपेक्षा अगला कल अधिक पवित्र और प्रखर रहे। आत्म-सुधार के लिये स्वयं प्रयत्नरत रहने का प्रयास ही जीवन-साधना है। इसके लिये समय-समय पर अपने से अधिक समुन्नत लोगों से परामर्श भी लेते रहा जा सकता है। साधना के विषय में विस्तृत ऊहापोह पिछले अंक में विस्तार से किया गया है अतः उन्हें दुहराना अनिवार्य नहीं।

उपासना अर्थात्—चिन्तन। साधना अर्थात्—चरित्र। इन दो की चर्चा हो चुकी। अब तीसरी अध्यात्म परिष्कार प्रक्रिया है—आराधना। आराधना किसकी ? विराट् ब्रह्म की। यह विराट् विश्व ही दृश्यमान भगवान का स्वरूप है। कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को—राम ने कौशल्या और काकभुसुण्डि को अपने इसी विराट् रूप का दर्शन कराया था। रामायण में उसी की अभिव्यक्ति 'सियाराम मय सब जग जानी' वाली चौपाई में की है।

समाज के प्रति मनुष्य के जो कर्त्तव्य हैं—उनमें उदारतापूर्वक परिपालन ही 'आराधना' है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उनका जीवनयापन असंख्यों की सहायता से ही चल पाता है। अस्तु उसका भी कर्त्तव्य है कि ऋण-मुक्ति के लिये लोकसेवा के कार्यक्रमों में निरत रहे। भगवान ने मनुष्य जन्म जैसा सर्वश्रेष्ठ उपहार इसीलिये दिया है कि वह उस धरोहर का सही प्रयोजन के लिये सही प्रयोग करे। विश्व-उद्यान को श्रेष्ठ समुन्नत बनाने के लिये ही यह जन्म मिला है। जो इस अमानत का सही उपयोग करते हैं। वे महामानव, ऋषि और देवमानव के उच्च पद प्राप्त करते हुये पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचते हैं। जो इस ओर से उपेक्षा बरतते हैं, सब अपने ही संकीर्ण स्वार्थ साधन में—पेट प्रजनन में निरत रहते हैं। इन पर जीवन-सम्पदा के दुरुपयोग का दोष लगता है। कर्त्तव्यच्युत होने का पाप वहन करते हैं।

आराधना ठीक प्रकार बन पड़े इसके लिये दो उपाय बरतने पड़ते हैं एक है—सादा जीवन, उच्च विचार। न्यूनतम में निर्वाह। परिवार को सीमित रखना और स्वावलम्बी बनना। दूसरा उपाय है बचत का अधिकांश भाग सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में नियोजित करना। इस प्रकार बहुत उपार्जित करने वाला अपना पुरुषार्थ तो भरपूर करता है, जो कमाता है उसका अधिकांश भाग लोग-मंगल में खर्च कर देता है। सम्पदा जमा करते रहने से अनेक दुर्गुण, दुर्व्यसन उत्पन्न करती है। ईर्ष्या का उत्पादन करती और अपव्यय प्रचलन बढ़ाकर अनेकों को कुमार्गगामी बनाती है। स्वास्थ्य, धन, ज्ञान, प्रभाव यह सभी धन-वैभव में सम्मिलित किये जाते हैं। इन सबका अधिकाधिक मात्रा में होना तो उचित है, पर संकीर्ण स्वार्थपरता के लिये विलास, संग्रह, अपव्यय एवं दुष्प्रयोजनों के लिये व्यय नहीं होना चाहिये। आराधना का यही सिद्धान्त है।

शरीर यात्रा के लिये जिस प्रकार अन्न, वस्त्र, निवास आदि का प्रबन्ध किया जाता है। उसी प्रकार आत्मिक समर्थता के लिये उपासना, साधना और आराधना को जीवनचर्या में नित्यकर्म की तरह स्थान देना चाहिये। आत्मशोधन और आत्म-परिष्कार के दोनों प्रयोजन इसी आधार पर बन पड़ते हैं।

शरीर की आवश्यकतायें पूरी न की जायें तो वह दुर्बल रहेगा और बीमार पड़ेगा। इसी प्रकार आत्मा की उपरोक्त तीनों आवश्यकताएँ पूरी न की जा सकें तो फिर मनुष्य आत्मिक दृष्टि से निरन्तर गलता-घुलता चला जाता है और अपनी वरिष्ठता खो बैठता है।

उपरोक्त तीन उपचार ही ऐसे हैं, जिन्हें समग्र साधना कहा जा सकता है। इनके अन्तराल में समस्त सिद्धियाँ भरी पड़ी हैं। उपासना से दैवी अनुग्रह बरसता है और अदृश्य जगत की अतीन्द्रिय क्षमताओं का लाभ मिलता है।

जीवन साधना से व्यक्तित्व निखरता है। ऐसे व्यक्ति पवित्र, प्रखर और प्रमाणित होते हैं। इस कारण उन्हें सर्वत्र भरपूर सम्मान और सहयोग मिलता है। विभिन्न प्रयोजनों में जो भी ऊँचे उठे और आगे बढ़े हैं, उन्हें प्रमुख सहायता जन सम्मान से मिली है। यह मात्र प्रामाणिक व्यक्तियों के लिये ही सुरक्षित है।

आतंकवादी अपनी धूर्तता से आरम्भ में जो कमा लेते हैं उससे अनेक गुना घाटा वस्तुस्थिति प्रकट होते ही उठाने लगते हैं।

आराधना तो बीज बोकर सौ गुना काटने के समान है। यह समाज भगवान का खेत है। इसमें सत्प्रयोजनों के लिये भी अपना समय, श्रम, ज्ञान, वैभव, प्रभाव बोना है, वह असंख्य गुना होकर वापस लौटता है। महामानवों के जीवन वृत्तान्त इस लक्ष्य की परिपुष्ट में पग-पग पर असंख्यों के लिये प्रमाण उपस्थित करते हैं। दूसरों की सहायता कर वे वस्तुतः अपनी ही सहायता करते हैं दूसरों के लिये बादल बरसते हैं पर खाली नहीं होते। पेड़ से फल टूटते हैं, पर हर बार नये सिरे से आते हैं। ऊन कटती है, नई उगती है। शरीर के अवयव कमाते, पेट को देते और वहाँ से नये रक्त के रूप में नई जीवनी शक्ति प्राप्त करते हैं।

यह बात स्पष्ट समझ ली जानी चाहिये कि भगवान यदि बड़ा है तो भक्त उससे भी बड़ा है। भगवान निरन्तर अन्तरात्मा में बैठकर जीवन अनुदान का चरम अनुदान प्राप्त करने के लिये पुकारता रहता है पर भक्त बहरे कानों से भी नहीं सुनता। दूसरी ओर भगवान है जो सच्चे मन से सच्चे उद्देश्य के लिये पुकारने पर तत्काल दौड़ा आता है। गज-ग्रह, द्रौपदी-दुशासन, प्रहलाद-हिरण्यकश्यप की कथायें जिनने सुनी हैं, उन्हें भक्त-वत्सलता पर विश्वास होना चाहिये। सुदामा के पैर धोये और भृगु की उनने लात खाई थी। गोपियों की छाछ और शबरी की झूठन खाने पहुँचे थे। पर भक्त होने, भक्त चाहिये, ठग नहीं। भक्ति की पहचान जीवनचर्या से आदर्शों के समावेश से होती है पूजापाठ से नहीं। उपासना, साधना और आराधना की कसौटी पर कसकर यह जाना जा सकता है, किसकी भक्ति सच्ची है किसकी झूठी ?

शरीर का ही नहीं-आत्मा का भी ध्यान रखें

इस बात से जरा भी इनकार नहीं किया जा सकता कि मानव जीवन में शरीर का महत्त्व कम नहीं है। शरीर की सहायता से ही संसार यात्रा सम्भव होती है। शरीर द्वारा ही हम उपार्जन करते हैं और उसी के द्वारा सारी क्रियायें सम्पन्न करते हैं। यदि मनुष्य को शरीर प्राप्त न हो तो वह तत्व रूप से कुछ भी करने में समर्थ न हो।

यदि एक बार मानव-शरीर के इस महत्त्व को गौण भी मान लिया जाये, तब भी शरीर का यह महत्त्व तो प्रमुख है ही कि आत्मा का निवास उसी में होता है। उसे पाने के लिये किये जाने वाले सब प्रयत्न उसी के द्वारा सम्पादित होते हैं। सारे आध्यात्मिक कर्म जो आत्मा को पाने, उसे विकसित करने और बन्धन मुक्त करने के लिये अपेक्षित होते हैं, शरीर की सहायता से ही सम्पन्न होते हैं। अतः शरीर का अपरिहार्य महत्त्व है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

शरीर का महत्त्व बहुत है। तथापि, जब इसको आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया जाता है, तब यही शरीर जो संसार-बन्धन से मुक्त होने में हमारी एक मित्र की तरह सहायता करता है, हमारा शत्रु बन जाता है। अधिकार से अधिक शरीर की परवाह करने और उसकी इन्द्रियों की सेवा करते रहने से, शरीर और उसके विषयों के सिवाय और कुछ भी याद न रखने से वह हमें हर ओर से विभोर बनाकर अपना दास बना लेता है और दिन-रात अपनी ही सेवा में तत्पर रखने के लिये दबाव में आ जाने वाला—व्यक्ति कमाने-खाने और विषयों को भोगने के सिवाय—इससे आगे की कोई बात सोच ही नहीं पाता। उसका सारा ध्यान शरीर और उसकी आवश्यकताओं तक ही केन्द्रित हो जाता है। वह शरीर और इन्द्रियों की दासता में बँधकर अपनी सारी शक्ति जिसका उपयोग महत्तर कार्यों में किया जा सकता है, शरीर की सेवा में समाप्त कर देता है। इस प्रकार उसका जीवन व्यर्थ चला जाता है और उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसके हृदय में एक पश्चात्ताप रह जाता है, जिसके लिये यह बहुमूल्य मानव-जीवन प्राप्त हुआ है। इसलिये मनुष्य को इस विषय में पूरी तरह से सावधान रहने की आवश्यकता है कि शरीर का कितना महत्त्व है

और अपनी सेवा पाने का उसे कितना अधिकार है ?

शरीर की सेवा तक सीमित हो जाने की भूल मनुष्य से प्रायः तब होती है, जब वह शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है। सत्य बात यह है कि मनुष्य शरीर नहीं, आत्मा है। शरीर तो साधन मात्र है, साध्य केवल आत्मा ही है इसलिये प्रधान महत्त्व शरीर को नहीं, आत्मा को ही देना चाहिये। आत्मा स्वामी है और शरीर सेवक। इस शरीर को ही आत्मा की सेवा में नियोजित करना चाहिये न कि आत्मा को शरीर के अधीन कर देना चाहिये। जो इस नियम एवं अनुशासन का उल्लंघन करते हैं, वे आत्मा की हित-हानि करने वाले की भयानक भूल करते हैं, जो निश्चित रूप से शोक, खेद और पश्चाताप का विषय है।

शारीरिक स्वार्थ का महत्त्व है, लेकिन एक सीमा तक। उसी सीमा तक जहाँ तक वह स्वस्थ, सशक्त और सक्षम बना रहे। वह अशक्यता तथा अल्पायु से बचा रहे। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपार्जन करना है और सुख-सुविधा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था भी। किन्तु सच्चा स्वार्थ आत्मा का ही है, उसी की पूर्ति और उसी का हित-साधन करने को प्रधानता दी जानी चाहिये क्योंकि मानव-जीवन का उद्देश्य यहीं है और इसी के लिये यह अनुग्रह भी किया गया है।

आवश्यकता से अधिक शरीर की सेवा में लगा रहने से शरीर पुष्ट हो जाता है। उसकी जड़ता प्रबल हो जाती है, आवश्यकतायें वितृष्णा के स्तर पर पहुँच जाती हैं और तब मनुष्य मोह-लोभ-मद-मत्सर आदि ऐसे विकारों से ग्रसित हो जाता है, जो स्पष्टतः आत्मा के शत्रु माने गये हैं। यह विकार अपना अस्तित्व पाकर मानव-जीवन को पतन की ओर ही प्रेरित करते हैं, उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही है। मनुष्य को पतन की ओर ले जाना विकारों का सहज धर्म है इसके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। दोषी तो वास्तव में वह मनुष्य है, जो इनसे अपनी रक्षा का प्रबन्ध नहीं करता। बिच्छू का धर्म है डंक मारना। यदि वह किसी के डंक मारता है तो इसके लिये बिच्छू को दोष नहीं दिया जा सकता। दोष तो उस व्यक्ति को ही आयेगा, जिसने उस कुटिल कीट को कष्ट पहुँचाने का अवसर अपने प्रमाद के कारण दिया। एकमात्र शरीर की सेवा में निरत रहने से उक्त विकार जन्मेंगे, पनपेंगे और अपना अस्तित्व पाकर मनुष्य को धर्मतः पतन की ओर खींचेंगे। अस्तु अपनी रक्षा के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह प्रधानता शरीर को नहीं आत्मा को दे और उसी के हित साधन में निरत होकर उसी कल्याण सम्पादन का प्रयत्न करे।

शरीर को अपेक्षित अधिकार देकर जो बुद्धिमान व्यक्ति शेष समय तथा रुचियाँ आत्मा के स्वार्थ हेतु, उसकी सेवा करने में लगाते हैं, वे लोक में सुख और परलोक में श्रेय के अधिकारी बनते हैं। शरीर की सेवा जहाँ मनुष्य को पतन के गर्त में गिराकर रोग-शोक, सन्ताप, पश्चाताप आदि की यातना दिलाकर भव-पाशों में लपेटती जाती है, वहाँ आत्मा की सेवा में मनुष्य अलौकिक, सुख, हर्ष-उल्लास, आनन्द आदि के साथ मोक्ष एवं मुक्ति का पुरस्कार पाता है। अवश्य ही शरीर की उपेक्षा मत कीजिये। कमाइये खाइये, गृहस्थी बसाइये, सुख और सम्पत्ति के अधिकारी बनिये लेकिन उसमें इस सीमा तक न डूब जाइये कि इसके सिवाय और कुछ सूझ ही न पड़े। शरीर और संसार में उतना ही समय, श्रम और मनोयोग लगाना चाहिये, जितना आवश्यक है और जिससे जीवन की गाड़ी सुविधापूर्वक चलती रहे। शेष का सारा समय, श्रम तथा मनोयोग आत्मा का हित-साधन करने में लगना चाहिये, जिससे स्वार्थ के साथ परमार्थ और लोक के साथ परलोक बनता चले। इसी में जीवन की सार्थकता है।

आत्मिक कल्याण आवश्यक होने के साथ-साथ थोड़ा कठिन भी है। कठिन इसलिये कि मनुष्य प्रायः जन्म-जन्म के संस्कार अपने साथ लाता है। वे संस्कार प्रायः भौतिक अथवा शारीरिक ही होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब मनुष्य का देहाभिमान नष्ट हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। उसे शरीर धारण करने की लाचारी नहीं रहती। चूँकि सभी मनुष्यों की अभिव्यक्ति शरीर में हुई, इसलिये यह सिद्ध है

कि उसमें अभी शारीरिक संस्कार बने हुये हैं। पूर्व संस्कारों पर विजय पाकर उन्हें आधुनिक रूप में मोड़ लेना—या यों कह लिया जाय कि शारीरिक संस्कारों का आत्मिक संस्कारों से स्थानापन्न कर लेना सहज नहीं होता। संस्कार बड़े प्रबल व शक्तिशाली होते हैं। इन दैहिक संस्कारों को बदलने का सरल-सा उपाय यह है कि जिस प्रकार सांसारिक कार्यों और शारीरिक आवश्यकताओं की चिन्ता की जाती है, उसी प्रकार आत्म-कल्याण की चिन्ता की जाये। जिस प्रकार सांसारिक सफलताओं के लिये निर्धारित एवं सुनियोजित कायक्रम बनाकर प्रयत्न तथा पुरुषार्थ किया जाता है, उसी प्रकार मनोयोगपूर्वक आध्यात्मिक कार्यक्रम बनाये और प्रयत्नपूर्वक पूरे किये जाते रहें। इस प्रकार यदि मनुष्य अपने विचारकोण के साथ-साथ पुरुषार्थ की धारा बदल डाले तो निश्चय ही उसके संस्कार परिवर्तित हो जायेंगे और वह शरीर की ओर से मुड़कर आत्मा की ओर चल पड़ेगा।

संस्कार बदलने का प्रयत्न करने के साथ-साथ यह भी देखते चलना आवश्यक है कि संस्कारों में अपेक्षित परिवर्तन घटित हो भी रहा है या नहीं। इसकी पहचान यह है कि जब आप देखें कि आत्म-कल्याण के कार्यक्रमों की सफलता के लिये वैसी ही चिन्ता रहती है, जैसी कि घर-गृहस्थी के कामों और आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने की, तब समझ लें कि संस्कारों में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया है। यदि भौतिक सफलता की चिन्ता की तरह आध्यात्मिक सफलता की चिन्ता नहीं होती तो समझ लेना चाहिये कि उस दिशा में उचित प्रगति नहीं हो रही है। आप जो कुछ भी आध्यात्मिक प्रयत्न कर रहे हैं, वह सब यों ही एक बेगार अथवा मनोरंजन के लिये कर रहे हैं। उसमें आपका पूरा-पूरा मानसिक योग नहीं है और आपने उत्तरदायित्व के रूप में उक्त प्रयत्न का मूल्यांकन नहीं किया है।

संस्कारों में परिवर्तन लाने के लिये इस प्रकार के हल्के-फुलके दिखाऊ प्रयत्न करने से काम न चलेगा, इस कर्त्तव्य को जीवन लक्ष्य के उत्तरदायित्व की भावना से ही करना होगा। बहुत से लोग आवेश में आकर जोश-खरोश के साथ संस्कार बदल डालने में सहसा जुट पड़ते हैं। इस प्रकार का असात्विक प्रयत्न भी वांछित सफलता सम्पादित करने में कृतकृत्य न होगा। ज्वार की तरह उठा हुआ कोई भी जोश कुछ ही दिनों में ठण्डा पड़ जाता है। संस्कारों में वांछित परिवर्तन लाने के लिये सात्विकी निष्ठा के साथ आध्यात्मिक कार्यक्रम अपनाकर और उत्तरदायित्व के साथ उन्हें पूरा करना होगा। प्रगति यदि कम भी है, लेकिन गति में एक दृढ़ता है तो चिन्ता की बात नहीं है। कभी न कभी वह काम पूरा हो जायेगा। किन्तु यदि प्रगति के चरण तो लम्बे-चौड़े दीखते हैं और गति में दृढ़ता नहीं है तो निश्चय ही शीघ्र ही थकान घेर लेगी और उदासीनता गतिहीन हो जाने के लिये विवश कर देगी। संस्कारों में परिवर्तन लाने की योजना तभी सफल होगी, जब स्थिति के अनुसार व्यावहारिक कार्यक्रम बनाया जाय और दृढ़तापूर्वक एक-एक कदम बढ़ाया जाये। ऐसा करने से ही संस्कारों में परिवर्तन सम्भव है अन्यथा नहीं। जिस दिन अध्यात्म विषयक कार्यक्रमों की अपेक्षा अधिक आनन्द और उत्साह अनुभव होने लगे और शरीर की अपेक्षा आत्मा की चिन्ता अधिक रहने लगे, समझना चाहिये कि संस्कार बदल गये हैं और अब शीघ्र ही हमारा जीवन-यान भवसागर के उस तट की ओर चल पड़ा है, जिस पर कल्याण-कुसुमों से सुशोभित वनस्पति लहलहा रही है।

मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है। उसे चाहिये कि वह शरीर की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्त्व दे। आत्मा का स्वार्थ ही सच्चा स्वार्थ है जिसे परमार्थ के नाम से भी पुकारा जाता है। परमार्थ पथ पर अग्रसर होने के लिये आवश्यक है कि दैहिक-संस्कारों के स्थान पर आत्मिक संस्कारों की स्थापना की जाये। इसके लिये आध्यात्मिक कार्यक्रमों को निर्धारित कर उनकी सफलता के लिये चिन्तापूर्वक उसी प्रकार प्रयत्न करना होगा, जिस प्रकार भोजन, वस्त्र और घर-गृहस्थी की चिन्ता की जाती है।

मानव-जीवन का लक्ष्य आत्म-कल्याण है। इस लक्ष्य को पाने के लिये आवश्यक है कि आत्मा को शरीर के ऊपर प्रधानता दी जाये। यह क्रिया, विचारकोण बदल देने से सहज में पूरी हो सकती है। हम मनुष्य हैं, शरीर ही सब कुछ है। इसकी सेवा करना हमारा कर्त्तव्य है, इस प्रकार के दैहिक विचारों के स्थान पर इन विचारों को स्थापित करना होगा—हम आत्मा हैं। शरीर तो साधन मात्र है। आत्मा का कल्याण करना ही हमारा परम धर्म है, जिसका निर्वाह हर मूल्य पर करना ही है। इस प्रकार मनुष्य शारीरिक दासता से बचकर आत्मा की सेवा में समर्पित हो जायेगा, जिससे उसे यह पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं रहेगा कि—"हाय ! मैंने अज्ञान के वशीभूत होकर अमर आत्मा की उपेक्षा कर दी और अपना सारा जीवन उस शरीर की सेवा में लगा दिया, जो नश्वर है और जिसकी दासता पतनकारी विकार देने के सिवाय और कुछ नहीं दे पाती।

अमर हो तुम, अमरत्व को पहचानो

पिता के वंश, ऐश्वर्य, गुण शक्ति और सामर्थ्य के अनुरूप बालक अपने जीवन स्तर का निर्माण प्रारम्भ करता है। उसके स्वाभिमान, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा में पिता की आत्म-स्थिति का अधिकांश प्रभाव होता है। धनी पिता का पुत्र सुन्दर वस्त्र पहनता है, अच्छा खाना खाता है, चलने, यात्रा करने में उसकी शान-शौकत अन्यों से भिन्न होती है। जैसा बाप करता है प्रायः उसी का अनुकरण बेटे किया करते हैं।

भिखारी के बेटे की स्थिति भिखारी जैसी होती है। फटे कपड़े, अस्त-व्यस्त बाल, रूखा शरीर सब कुछ ठीक भिखारियों जैसा। इससे अधिक शान का जीवन बिताना भला वह भिखारी का बालक क्या जान सकता है जिसने जीवन में न अच्छा भोजन देखा हो, न अच्छे वस्त्र पहने हों और न आलीशान मकान में रहने का सौभाग्य ही मिला हो। शील, गुण और आचरण अधिकांश व्यक्तियों को पैतृक सम्पत्ति के रूप में ही मिला करते हैं।

यह उत्तराधिकार मनुष्य को भी ठीक इसी रूप में मिला है। परमात्मा का पुत्र होने के नाते उसे वे सारी निधियाँ मिली हैं, जिनसे वह सांसारिक जीवन सुख, सुविधा और शान के साथ बिता सकता है। परमात्मा के जो गुण और शक्तियाँ बताई जाती हैं, वह मनुष्य में—आत्मा में ठीक उसी तरह सन्निहित हैं। ऐसे कोई अधिकार शेष नहीं जो ईश्वर ने अपने युवराज को न दिये हों। वह अपने बेटों को निराश्रित, निरीह और निर्बल कैसे देख सकता था ? अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का अनुदान उसने अपने बेटे—मनुष्य को दिया ताकि वह इस संसार में उल्लास का जीवन जी सके। स्वयं सुख भोगकर आने वालों को भी वैसा ही उत्तराधिकार सौंपता हुआ जा सके।

आत्मदर्शी ऋषियों की लेखनी आत्मा की महत्ता प्रतिपादित करते हुये थक गई पर कथानक पूरा न हो पाया। शक्तियों की सीमा को "नेति-नेति" कहकर पुकारना पड़ा क्योंकि वे वर्णन भी कब तक करते। १०० वर्षों के जीवन में यही हजार, दो हजार पुस्तकों में आत्म-सत्ता की महत्ता लिख जाते इससे अधिक और हो भी क्या सकता था ? अनन्त शक्ति-सम्पन्न आत्मा का गुणानुवाद कब तक गाया जाता ?

किन्तु आज के मनुष्य की दीन-हीन स्थिति देखकर लगता है शास्त्राकार अतिशयोक्ति कर गये हैं, कुछ का कुछ लिख गये हैं। परमात्मा पूर्ण वैभव सम्पन्न है पर मनुष्य के पास पेट भरने के और सुख से रहने के भी साधन नहीं। परमात्मा विश्वदर्शी है, पर मनुष्य अपने आपको भी नहीं जानता। परमात्मा असीम शक्तिशाली है पर मनुष्य को छोटे-छोटे कार्यों के लिये भी औरों का मुँह ताकता है। किसी भी गुण राशि में तो उसका और परमात्मा का मेल नहीं खाता, फिर विश्वास कैसे किया जाय कि मनुष्य परमात्मा का पुत्र है, अमृत-पुत्र का उत्तराधिकारी युवराज है।

वस्तुतः आपकी शक्ति अपार है, आपके गुण अनन्त हैं, आपकी क्षमता असीम है पर यह है उत्तराधिकार रूप में ही। परमात्मा सम्पूर्ण विश्व

का पालनकर्त्ता, सर्व-रक्षक, सबका भरण-पोषण करने वाला है इसलिये उसे भी यह सतर्कता बरतनी पड़ी कि वह अपनी शक्तियाँ योग्य हाथों में सौंपे और उसे भले कार्यों में प्रयुक्त हुआ देखे। जब कोई ऐसा उत्तराधिकारी व्यक्ति उसे दिखाई दे जाता है तो अपनी तिजोरी की चाबी भी उसे सौंप देता है। अयोग्य व्यक्तियों को वह अपनी शक्तियाँ देकर उनका दुरुपयोग होता कैसे देख सकता था ? उत्तराधिकार तो किसी अच्छे व्यक्ति को ही दिया जाता है।

एक पिता की कई सन्तानें होती हैं कोई कपटी, कोई चोर, कोई लवार कोई उनमें से शील स्वभाव, गुणवान् और आज्ञाकारी भी होते हैं। पिता बड़ी सावधानी से उन सबका निरीक्षण करता रहता है और जिसे योग्य समझता है उसे गृहस्थी का भार सौंपने, सारा धन दे जाने में प्रसन्नता अनुभव करता है। जो उसकी शान, ऐश्वर्य और वंश परम्परा से विमुख होकर अकृत्य करता है, उसे देता तो कुछ नहीं, उल्टे उसे दण्ड और भुगतना पड़ता है।

साधारण मनुष्यों की जब यह दशा होती है तो परमात्मा को अधिक सावधानी रखनी आवश्यक थी, क्योंकि उसका कार्य-क्षेत्र भी तो बहुत बड़ा है सारे संसार में उसी के बेटे तो तो विचरण कर रहे हैं।

साधारण मनुष्य का बेटा जब अपने पिता की सम्पत्ति का स्वामित्व पाता है तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। सबके सामने अकड़कर शान के साथ चलता है। न उसे किसी का भय होता है और न कोई अभाव। तो फिर जिसे परमात्मा का उत्तराधिकार मिल जाये तो उसकी प्रसन्नता, निर्भयता, वैभव तथा ऐश्वर्य का तो कहना ही क्या। वह चाहे तो सारे संसार के सामने ऐंठकर-अकड़कर चल सकता है। उसे भय और अभाव हो भी कहाँ सकता है ?

मनुष्य स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है इस दृष्टि से यह नियन्त्रण रखना जरूरी भी था। पर ईश्वर न्यायकारी भी है, उसने आत्म-कल्याण का मार्ग किसी के लिये भी अवरुद्ध नहीं किया। वह साधन सबको समान रूप से मिले, जिनके माध्यम से मनुष्य अपने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के उद्देश्य पूरे कर लेता।

वायु, जल, प्रकाश, मेघ अति का उपभोग सब समान रूप से करते हैं। विचार, अनुभव, स्मृति, दर्शन, श्रवण आदि के साधन भी प्रायः सभी को एक समान ही मिले हैं। इनके द्वारा मनुष्य आदि चाहता तो आत्म-विकास कर सकता था, पर उसने किया कहाँ ? सब कुछ देखते हुये भी मनुष्य अज्ञान बना रहा। घटनायें कई बार घटी, घटती रहती हैं पर उसने कभी विचार करना नहीं चाहा। इसी कारण वह अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर उठ भी नहीं सका।

लोग कहा करते हैं कि जीव जब माता के गर्भ में बन्दी की—सी स्थिति में पड़ा होता है तब वह परमात्मा से अनेक प्रकार की विनती करता है। वह चाहता है कि इस जन्म-मरण के फन्द से जितनी जल्दी छुटकारा मिले, बन्धन मुक्ति मिले उतना ही अच्छा है! इसके लिये वह तरह-तरह की प्रार्थनायें करता है। किन्तु जन्म लेने के बाद इस संसार की हवा लगते ही वह सब भूल जाता है और फिर वही शिश्नोदर परायण जीवन जीने में लग जाता है।

लोगों की भूल यह है कि वे अपने आप को ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार करना नहीं चाहते। विज्ञान का सहारा लेकर लोग प्रत्यक्षवाद की दुहाई देते हैं किन्तु यह खुला हुआ संसार क्या कम प्रत्यक्ष है, मृत्यु जन्म की घटनायें कम प्रत्यक्ष हैं ? जन्म, जरा, यौवन का पाना और खो देना भी किसी को विचार प्रदान नहीं कर सकता क्या ?

ईश्वर का पुत्र होने के नाते मनुष्य असीम आध्यात्मिक शक्तियों और दैवी सम्पदाओं का स्वामी बन सकता है किन्तु वह अपने को इस स्थिति वाला मानता कब है ? अपनी इस धृष्टता के कारण वह मनुष्योचित आधार से भी पतित होकर दुष्कर्म करता है। अपने स्वार्थ के लिये औरों के अधिकारों का अपहरण करता है। खुद का पेट भरे ठूँस के, दूसरा चाहे भूख से मर जाय। अपना घर भर जाये दूसरे चाहे कानी कौड़ी के लिये तरसते रहें। इतना ही नहीं वह अपने से गई गुजरी स्थिति वाली के साथ पैशाचिक उत्पीड़न करता है, दूसरों का खून

पीता और अट्टहास करता है। ऐसे दुष्ट पुत्र को परमात्मा अपनी शक्तियाँ देता कैसे ! उसे तो दण्ड ही मिलना चाहिये था और वही मिलता भी है।

स्वार्थ और संकीर्णता की दुष्प्रवृत्तियों के रहते हुये मनुष्य परमात्मा का उत्तराधिकारी कैसे बन सकता है ? उसे चाहिये था कि वह पैतृक गुणों को आधार मानकर चलता और अपने आप को ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार कर ईश्वरीय आदेशों का पालन करता। ईश्वर शक्ति का स्रोत है, उससे सम्बन्ध स्थापित करता तो मनुष्य का जीवन शक्ति-सम्पन्न हो जाता। परमात्मा की विशेषतायें उसमें भी परिलक्षित होतीं।

हमारा शाश्वत स्वरूप पीछे पड़ गया है और हम अपने आपको मनुष्य का शरीर मान बैठे हैं इसीलिये शारीरिक सुखों तक ही सीमित भी हैं। शरीर में इन्द्रियों के सुख हैं सो मनुष्य उन्हें ही भोगने का हर घड़ी इच्छुक बना रहता है। सुख की इस इच्छा में वह अपने विज्ञानमय स्वरूप को भूल जाता है। जब तक शरीर रूपी साधन अपनी प्रौढ़ अवस्था में रहता है, तब तक भोगों की आसक्ति में पड़े रहते हैं और इस बीच अपनी असफलता का दोष औरों के मत्थे मढ़ना सीख जाते हैं और इस तरह सन्तोष करना चाहते हैं। पर शाश्वत नियम कभी बदलते नहीं। समय पर वृद्धावस्था आनी ही थी, शरीर दुर्बल पड़ना ही था, मौत को आना ही था, उस समय न किसी को दोष देते बनता है न कुछ किये होता है। दुःख की स्थिति में, अज्ञान की स्थिति में, अज्ञान की स्थिति में वह मर जाता है और बार-बार इसी चक्कर में पड़ा दुःख भोगता रहता है।

परमात्मा की सृष्टि में सुख ही सुख है। दुःख की स्थिति का नाम भी नहीं है पर सारे फसाद की जड़ यह है कि लोग अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना नहीं चाहते। बेटा अपने धनी बाप से बिछुड़ गया है और अपने आप को निर्धन की-सी स्थिति में पड़ा हुआ अनुभव करता है। उसका शरीर, प्राण और मन सब अस्त-व्यस्त हैं क्योंकि वह जानता भी नहीं कि उसका बाप कितना व्यवस्थित, कितना विकसित और कितना विशाल है ? अपने अमर स्वरूप को मनुष्य पहचान जाय तो यह विशेषतायें उसमें भी तत्काल परिलक्षित होने लगें।

दुधारू गाय की बछिया भी होती है। मीठे आम की नस्ल में उत्पन्न किया हुआ आम भी उसी गुण वाला होता है। सन्तरे के पेड़ में नीबू के फल नहीं लगते। अपने अमर स्वरूप में ईश्वरीय गुणों से ओत-प्रोत हैं किन्तु उसकी यह महानता अज्ञानता के अन्धकार में छिपी हुई है। मनुष्य अपने पिता परमात्मा के गुण, ऐश्वर्य और वैभव के अनुरूप अपना जीवन-क्रम बनाता तो उसकी शक्तियाँ भी छिपी हुई न रहतीं और वह भी अपने आप को अपने पिता के सदृश ही सत्-चित् और आनन्द रूप में पाता।

आप अपने आपको रक्त, माँस, अस्थि, मज्जा, मेद आदि से बना हुआ क्षुद्र शरीर मत मानिये। आप आत्मा हैं। इस तथ्य को भली-भाँति समझ लें। आत्मा अपने अमरत्व को पहचानने के लिये ही मनुष्य शरीर में अवतरित हुई है। उसे इस उद्देश्य को पूरा करना ही चाहिये। अमरत्व का आनन्द लूटना ही चाहिये। इस उद्देश्य के लिये वह अग्रसर हों तो सचमुच उसका यह अलभ्य अवसर पाना भी सार्थक हो जाय।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ

इस संसार, परिस्थितियों और पदार्थों के रूप बड़ी तेजी से परिवर्तित होते हैं। आज जो दृश्य दिखाई दे रहा है कल वह कुछ परिवर्तित रूप लिये हुये होगा। कुछ दिन के बाद तो वह सारी स्थिति इस तरह बिगड़ जाती है जैसे उसका कोई अस्तित्व ही न था। कभी वन-वृक्षों, लता, बेलों में बसन्त-बहार छा जाती है तो पतझड़ आ जाने पर वह समस्त सुषमा यों लुट जाती है जैसे वह कभी थी ही नहीं। पतझड़ की नीरवता और उसका उजाड़पन भी वर्षा की छटा में न जाने कहाँ खो जाता है ? नाट्यशाला की तरह रंग और दृश्य प्रतिक्षण बदलते हैं, एक आता है दूसरा जाता है पर सब कुछ इतने स्थिर भाव से चल रहा है मानो कोई निश्चित विधान, कुशल नट कहीं एकान्त में

बैठा हुआ इस परिवर्तनशील जगत् का संचालन कर रहा है। सचमुच यह संसार बड़ा रहस्यमय है और उतना ही रहस्यमय वह है, जिसने इसकी रचना की है।

यह दृश्य परिवर्तन कभी मनुष्य को यह प्रेरणा भी देते हैं कि वह इस अनन्त रहस्य का ज्ञान प्राप्त करे अथवा इन परिवर्तनों के फलस्वरूप जो उसे भय, शोक, कातरता, विरह, असन्तोष आदि दुःख परेशान करते रहते हैं, उनसे मुक्ति पाये और एक ऐसा आनन्द उपलब्ध करे, जो कभी कम न हो, कभी समाप्त न हो।

दूसरे शब्दों में, इसे ही ईश्वर प्राप्ति की अभिलाषा, स्वर्ग या मोक्ष का उत्तराधिकार मान सकते हैं। दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो पर उन सब का सार यही है कि मनुष्य चिर सुख प्राप्त करने का अभिलाषी है। पर यह सुख इतना सरल नहीं है जो हर किसी को यों ही मिल जाया करे। जब छोटे-छोटे सुखों की प्राप्ति के लिये बड़े प्रयत्न, बड़ी शक्ति, श्रम और साधन जुटाने पड़ते हैं तो ईश्वर जैसी अनन्त सुख-प्रदायक वस्तु भला यों ही कैसे मिलने लगी ? बड़ी वस्तु का मोल भी बड़ा होता है और वह मिलती भी बडी कठिनता से ही है। गहराई में बैठकर उसे खोजने का जो प्रयत्न करते हैं, वही उसे प्राप्त कर पाते हैं। किनारे या उथले जल में गोता लगाने वाले तो अपना समय ही नष्ट करते हैं, अपने साधन ही गँवाते हैं। उन्हें न तो इस लोक के सुख ही मिल पाते हैं और न परलौकिक आकांक्षाओं की ही तृप्ति होती है।

यह सृष्टि मूलतः दो भागों में विभक्त है। आकार और गुण दोनों ही दृष्टियों से उनमें पृथक्ता है। (१) रूप जड़ है जो स्वयं क्रियाशील नहीं पर है स्थूल अर्थात् सांसारिक दृष्टि से उसका अधिक महत्त्व है। संसार की जितनी भोग-वासनायें हैं, वह सब जड़ पदार्थों के द्वारा ही विरचित हुई हैं। इनके मूल में (२) चैतन्य सत्ता काम कर रही है। चेतना की अभिव्यक्ति से जड़ पदार्थ भी मोहक जान पड़ते हैं पर दरअसल जड़ पदार्थ अपने आप में हमें कुछ देने की सामर्थ्य नहीं रखते।

इस प्रकार पाँच भौतिक प्रकृति और प्राणी की चेतना के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में क्रियाशीलता दृष्टिगोचर हो रही है पर चूँकि मनुष्य भी उसका सम्मिश्रित प्रयोग है अतः वह भी प्रायः अपने विषय से विभ्रमित ही रहता है। शरीर की स्थूल पांचभौतिक प्रकृति और प्राण की पृथक्ता उसे सहज में ही समझ में नहीं आती। पर संसार के परिवर्तनों और घटना-चक्रों, जन्म-मरण, उत्पत्ति, विनाश के दृश्य जब भी उसे देखने को मिलते हैं, विश्व-व्यवस्था का रहस्य और सृष्टि नियन्ता का ज्ञान प्राप्त करने की उसे तीव्र अभिलाषा भी होती है। इस प्रकार की बुद्धि किसी को मिल जाये तो उसे अपने पूर्व जन्मों का संस्कार अथवा परमात्मा की कृपा ही समझना चाहिये। जब तक यह विवेक पैदा नहीं होता, सत्य को जानने की मनुष्य को बहुत कम इच्छा होती है। उसके सांसारिक विषय ही इतने अधिक होते हैं कि उसे उन्हीं से कठिनाई से अवकाश मिल पाता है।

मनुष्य विश्व चेतना का सर्वोपरि, सर्वांगपूर्ण जीव है। चौरासी लाख योनियों में ऐसा सौभाग्य किसी भी जीव को नहीं मिला। सिंह शक्तिशाली ही हो पर उस बेचारे को विचार शक्ति कहाँ ? बन्दर पेड़ों पर चढ़कर सुन्दर फल प्राप्त कर सकते हैं पर सरदी से बचने के लिये उन्हें वस्त्र तक प्राप्त नहीं हो सकते। देखने, सुनने, सूँघने, चलने, फिरने, खाने, पीने, सुखोपयोग करने के जितने अधिक अवसर और सुविधायें मनुष्य को मिली हैं, उतनी किसी जीव को उपलब्ध नहीं। पर यह शक्तियाँ निश्चय ही उद्देश्यपूर्ण हैं किसी विशेष लक्ष्य प्राप्ति के लिये वरदान स्वरूप मिली हुई है। यह बात विचार क्षेत्र में उतारने और अपना जीवन उद्देश्य प्राप्त करने में ही मनुष्य का आत्म-कल्याण छिपा हुआ है।

यह कोई कठिन बात नहीं है कि मनुष्य को ऐसी सूझ समझ न आये। ऐसे अवसर, ऐसी घटनायें प्रायः हर व्यक्ति के जीवन में आती हैं, पर सामान्य श्रेणी के लोगों के लिये उनका कोई महत्व नहीं होता सौभाग्य से यदि उन्हें ऐसे साधन उपलब्ध भी हो जाये तो वे आत्मकल्याण के कठिन मार्ग में देर तक टिक नहीं पाते। सांसारिक पदार्थों में गजब का आकर्षण और तीव्र मोहकता होती है। लोग साधना की

कठिनाईयों से बड़ी जल्दी अपने को थका हुआ-सा अनुभव करने लगते हैं और जल्दी ही प्रयत्नच्युत होकर पुनः अपने उसी पूर्ववत् जीवन-क्रम में लुढ़कने लगते हैं। साधना वस्तुतः मनुष्य जीवन को सफल बनाने वाला महत्त्वपूर्ण साधन है। पर उस पर साहसी व्यक्ति ही अग्रसर हो सकते हैं। कायरों की वहाँ दाल नहीं गलती। पग-पग पर जिसके निश्चय और विचार बदलने वाले हों वे कठिनाइयों का संवरण देर तक नहीं कर सकते हैं और जल्दी ही उसे छोड़ बैठते हैं।

साधनायें ब्रह्म-ज्ञान या आत्म-वैवर्त्त के लिये अत्यावश्यक हैं। जीवात्मा पर चढ़े जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार ऐसे ही होते हैं जैसे लोहे में जंग लग जाती है। जंग छुड़ाने वाली प्रक्रिया निस्सन्देह काफी कठिन है, वह मेहनत से ही पूरी हो सकती है। लोहे को कभी कूटा जाता है, कभी इसे आग में डाल दिया जाता है, फिर पीटते हैं, फिर पानी में डुबाते हैं। चारों तरफ आघात पर आघात, तपाई पर तपाई देने के बाद वही जंग लगा लोहा सुन्दर इस्पात के रूप में निकल आता है फिर उससे किसी भी तरह का औजार, कोई भी अस्त्र-शस्त्र बनाना सरल हो जाता है। जीव को सांसारिक वासनाओं से छुड़ाकर उसको शाश्वत स्वरूप में लाने के लिये भी लोहे के तपाने जैसी क्रियायें अनिवार्य हैं। जो इस आग में जल सकता है, अध्यात्मिक जीवन अथवा ईश्वर उपासना का वहीं सच्चा और पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकता है।

जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने की ऐसी अभिलाषा उठते ही मन को बुद्धि के अनुशासन में ले आने की बड़ी आवश्यकता है। दरअसल मनोनिग्रह की कठिनाई ही ईश्वर प्राप्ति की प्रमुख कठिनाई है। मन मनुष्य जीवन का संचालन और महत्तर शक्ति वाला है पर उसमें एक बुराई भी है। बिगड़े हुये घोड़ों की तरह यदि वह स्वेच्छाचारी हो जाये तो न रथ की खैर रहती है न सारथी की। मनुष्य का मन स्वभावतः अधोगामी है। नीचे गिर जाना सरल बात है। कठिनाई तो उसे ऊँचे उठाने में आती है पर वह तभी सम्भव है, जब मन पर बुद्धि का नियन्त्रण-पहरा रहे। बुद्धि मन को उर्ध्वगामी बनाती है और कुसंस्कारों को नष्ट करती है। अतः साधननिष्ठ व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह मन की स्वेच्छाचारिता पर बौद्धिक विवेक का अंकुश बनाये रहे।

मन प्रायः यह शासन मानने के लिये तैयार नहीं होता। प्रकृति उसे बार-बार भोग-वासनाओं के लिये आकर्षित करती है। वह समझता है कि इन भोगों से विमुख होने पर हमारी हानि हो रही है। यही माया या अविद्या उसे आत्म-कल्याण के मार्ग से गिरा देने वाला विचार है और उसके बचने का एक ही उपाय है प्रकृति-जय। मानवीय दुर्बलताओं पर कठोरता-पूर्वक संयम किये बिना इस अविद्या से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले प्रत्येक जिज्ञासु को यह बात निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिये।

कठिनाइयों से किसी प्रकार समझौता नहीं हो सकता। लोहे की जंग पानी से धोकर नहीं छुटाई जा सकती। जलती हुई आग में काबू पाने के लिये उससे अधिक मात्रा में जल की अपेक्षा होती है। मन जितना ऊधमी हो संयम की उतनी ही कठोरता की आवश्यकता है। पुराने संस्कारों की मलिनता के परिष्कार की गति धीमी हो तो काम चल सकता है पर उसमें उत्तरोत्तर दृढ़ता और कठोरता आवश्यक है। परिस्थितियों के साथ दोस्ती साधनानिष्ठ मनोबल को गिरा सकती है।

मनुष्य जीवन जैसी अमूल्य निधि फिर मिलेगी, इसकी कोई निश्चित सुविधा नहीं है। इसी जीवन में दिन रहते कुछ काम बना किया जाये तो इसी में बुद्धिमानी है। पचास-साठ अथवा सौ वर्ष के जीवन को भोग और कामनाओं की पूर्ति में ही लगाये रखा जाये तो उसमें मानव जीवन की क्या सफलता, शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा ? भोग, वासनायें दुःख का कारण मानी गई हैं। अन्य जन्मों में उनके दुष्परिणाम होते हों या न होते हों, इसे चाहे कोई माने या न माने पर वासनायें इसी जीवन में मनुष्य को तंग करती हैं। दुःख और मुसीबतें पैदा करती हैं अतः इन्हें कदापि उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह मनुष्य जीवन को भ्रष्ट करने वाली हैं। यह बात बहुत गहराई तक विचार लेनी चाहिये। एक बार अवसर निकल जाने के बाद में फिर पछतावा ही शेष रहता है। परिस्थितियाँ बदल जाने के बाद बहुमूल्य वस्तुयें भी कोई लाभ नहीं दे पातीं अतः

बुद्धिमान् लोग समय रहते ही अपने लक्ष्य को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

ईश्वर सब जगह विद्यमान है। उसे ढूँढ़ने में कठिनाई नहीं, कठिनाई तो सिर्फ अपना अहंकार मारने में है। अपने आपको साथ लिया जाय, व्रत, संयम और तपश्चर्या की आग में अपना अहंकार विगलित कर दिया जाय तो सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर दिखाई देने लगता है।

जब तक मन में मैल है, ईश्वर का प्रकाश कैसे दिखाई देगा ? जब तक अपने स्वार्थ से ही छुटकारा नहीं मिलता, तब तक परमात्मा की याद कैसे आ सकती है ? इस संसार में पाने के लिये पहले अपना सब कुछ खोना पड़ता है। आत्मा में ईश्वर की प्रतिष्ठा के लिये भी अपना अहंकार नष्ट करना पड़ता है। परिष्कृत आत्मा को ईश्वर-प्राप्ति का सुख मिलते देर नहीं लगती। बीच में मलिनता वाली खाई को दूर कर दिया जाये तो जीवन-लक्ष्य की सिद्धि भी कोई कठिन बात नहीं है।

आत्मविकास के लिये व्रत पालन की आवश्यकता

आत्म-ज्ञान या शाश्वत जीवन का बोध व्रताचरण के द्वारा होता है। ऊपर चढ़ने की जरूरत पड़ती है तो सीढ़ी लगाते हैं। एक डंडे को हाथ से पकड़कर दूसरे पर पैर रखते हुये ऊपर आसानी से चढ़ जाते हैं। जीवन में क्रमिक रूप से छोटे-छोटे व्रतों से प्रारम्भ करके अन्त में उन्नत-व्रत की परिधि प्राप्त करना अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक सरल है। शास्त्रकार का कथन है—

व्रतेन प्राप्यते दीक्षा दक्षिणा दीक्षप्राप्यते।
तया च प्राप्यते श्रद्धा श्रद्धाया सत्यमाप्यते।।

अर्थात्—उन्नत जीवन की योग्यता मनुष्य को व्रत से प्राप्त होती है। इसे दीक्षा कहते हैं। दीक्षा से दक्षिणा अर्थात् जो कुछ कर रहे हैं, उसके सफल परिणाम मिलते हैं। सफ़लता के द्वारा आदर्श और अनुष्ठान के प्रति श्रद्धा जागृत होती है और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।" सत्य का अर्थ मनुष्य के जीवन-लक्ष्य से है। यह एक क्रमिक विकास की पद्धति है। व्रत जिसका प्रारम्भ और सत्य प्राप्ति ही जिसका अन्तिम निष्कर्ष है।

व्रत का आध्यात्मिक अर्थ उन आचरणों से है, जो शुद्ध, सरल और सात्विक हों और उनका पालन विशेष मनोयोगपूर्वक किया गया हो। यह देखा गया है कि व्यवहारिक जीवन में सभी लोग अधिकांश सत्य बोलते हैं और सत्य का ही आचरण भी करते हैं किन्तु कुछ क्षण ऐसे आ जाते हैं, जब सच बोल देना स्वार्थ और इच्छापूर्ति में बाधा उत्पन्न करता है, उस समय लोग झूठ बोल देते हैं या असत्य आचरण कर डालते हैं। निजी स्वार्थ के लिये सत्य की अवहेलना कर देने का तात्पर्य यह हुआ कि आपकी निष्ठा उस आचरण में नहीं है। इसे ही यों कहेंगे कि व्रतशील नहीं हैं।

बात अपने हित की हो अथवा दूसरे की जो शुद्ध और न्यायपूर्ण हो उसका निष्ठापूर्वक पालन करना ही व्रत कहलाता है। संक्षेप में आचरण शुद्धता को कठिन परिस्थितियों में भी न छोड़ना व्रत कहलाता है। संकल्प का छोटा रूप व्रत है। संकल्प की शक्ति व्यापक होती है और व्रत उसका एक अध्याय होता है। वस्तुतः व्रत और संकल्प दोनों एक ही समान हैं।

विपरीत परिस्थितियों में भी हँसी-खुशी का जीवन बिताने का अभ्यास व्रत कहलाता है। इससे मनुष्य में श्रेष्ठ कर्मों के सम्पादन की योग्यता आती है। थोड़ी-सी कठिनाइयों में कर्म-विमुख होना मनुष्य की अल्प-शक्ति का बोधक है। जो कठिनाइयों में आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहे, ऐसी शक्ति व्रत में होती हैं।

नियम-पालन से मनुष्य में आत्म-विश्वास और अनुशासन की भावना आती है। जीवन के उत्थान और विकास के लिये यह दोनों शक्तियाँ अनिवार्य हैं। आत्मशक्ति या आत्म-विश्वास के अभाव में मनुष्य छोटे-छोटे भौतिक प्रयोजनों में ही लगा रहता है। अनुशासन के बिना जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। शक्ति और चेष्टाओं का केन्द्रीकरण न हो पाने के कारण कोई महत्त्वपूर्ण सफलता नहीं बन पाती। आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करना और उन्हें मनयोगपूर्वक जीवन-ध्येय की ओर लगाये रखना आचरण में नियमबद्धता से ही हो पाता है। नियमितता व्यवस्थित जीवन का प्रमुख आधार है। आत्म-शोधन की प्रक्रिया इसी से पूरी होती है। आत्म-वादी पुरुष का कथन है—

उत्तरोत्तर मुत्कर्षं जीवने लब्धुमुत्सुकः।
प्रतिजाने चरिष्यामि व्रतमात्मविशुद्धये।।

मैं जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखता हूँ। यह कार्य पवित्र आचरण या आत्मा को शुद्ध बनाने से ही पूरा होता है, इसलिये मैं व्रताचरण की प्रतिज्ञा लेता हूँ।

व्रत-पालन से आत्मविश्वास के साथ संयम की वृत्ति भी आती है। आत्म-विश्वास शक्तियों का संचय बढ़ाता है और संयम से शक्तियों से कोष भर जाता है तो आत्मा अपने आप प्रकट हो जाती है। शक्ति के बिना आत्मा को धारण करने की क्षमता नहीं आती। व्रत शक्ति का स्रोत है इसलिये—आत्म-शोधन की वह प्रमुख आवश्यकता है; अपनी शक्ति और स्वरूप का ज्ञान मनुष्य को न हो तो वह जीवन में किसी तरह का उत्थान नहीं कर सकता है। शक्ति आती है, तभी आत्म-विश्वास की भावना का उदय होता है और मनुष्य विकास की ओर तेजी से बढ़ता चलता है।

ऊँचे उठने की आकांक्षा मनुष्य की आध्यात्मिक प्रतिक्रिया है। पूर्णता प्राप्त करने की कामना मनुष्य का प्राकृतिक गुण है। किन्तु हम जीवन को अस्त-व्यस्त बनाकर लक्ष्य-विमुख हो जाते हैं। हर कार्य की शुरूआत छोटी कक्षा से होती है, तब कहीं श्रेष्ठता की ओर बढ़ पाते हैं। आत्म-ज्ञान के महान् लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रारम्भिक कक्षा व्रत-पालन ही है, इसी से हम मनुष्य जीवन को सार्थक बना सकते हैं। व्रताचरण से ही मनुष्य महान् बनता है, यह पाठ जितनी जल्दी सीख लें उतना ही श्रेयस्कर है।

हम प्रकाश की ओर ही चलें

दुःख का एक कारण है अज्ञान। अज्ञान—अर्थात् किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानना। वास्तविकता का ज्ञान न होने से ही मनुष्य गलती करता है और दण्ड पाता है। यही दुःख का स्वरूप है अन्यथा परमात्मा न किसी को दुःख देता न सुख। वह निर्विकार है, उसकी किसी से शत्रुता नहीं जो किसी को कष्ट दे, दण्ड दे।

प्रकाश ज्ञान का प्रतीक है इसीलिये वह उपासनीय है। परमात्मा प्रकाश रूप में, ज्ञान रूप में ही सर्वत्र व्याप्त है। जो उसे इस रूप में जानते और भजन करते हैं उनका अज्ञान दूर होता है। अज्ञान दूर होने से मनोविकार मिटते हैं। दोषपूर्ण कार्य नहीं होते, फलस्वरूप उन्हें किसी प्रकार की यातना भी नहीं भुगतनी पड़ती। ज्ञानवान् परमात्मा की सृष्टि को मंगलमय रूप में देखता है। उसके लिये इस सृष्टि में आनन्द ही आनन्द होता है।

भारतीय-संस्कृति में दीपक का जो असाधारण महत्त्व है वह इसी दृष्टि से है। दीपक जीवन के ऊर्ध्वगामी होने, ऊँचे उठने और अन्धकार को मिटा डालने की प्रेरणा देता है इसलिये वह प्रत्येक मंगल कार्य में प्रतिष्ठित होता है। भावार्थ यह है कि मनुष्य प्रकाश की व्याख्या को समझे। संसार में जो अन्तर्निहित ज्ञान है, उसे अपने हृदय में प्रवेश होने दें। जब तक मनुष्य के लिये यह सत्य प्रकट नहीं होता तब तक उसके जीवन का कुछ मूल्य नहीं होता। दीपक कहता है कि तुम्हारे अन्दर जो प्राण जलता है, जो सत्, चित् और आनन्दमय है तुम उसे ढूँढ़ो, जानो और अपने जीवन के अभावों को दूर कर लो। प्रकाश में सब कुछ साफ और स्पष्ट दिखाई देता है। भय नहीं लगता। ज्ञान से मनोविकार शान्त होते हैं और सांसारिक शूल मिटते हैं। इसलिये जब यह कहा जाता है कि दीपक की उपासना करो तो उसका संकेत ज्ञान की उपासना ही होती है। ज्ञान—अर्थात् प्रकाश ही परमात्मा का दिग्दर्शन स्वरूप है इसलिये प्रकाश की पूजा परमात्मा की ही पूजा हुई।

प्रकाश ही एक तत्व है जो विभक्त होकर दृश्य और द्रष्टा बन गया है। वह परमात्मा भी है और मनुष्य शरीर में प्रतिष्ठित आत्म-चेतना भी। ऋग्वेद का मन्त्र दृष्टा लिखता है—

अयं कविरकविषु प्रचेता—मर्त्येष्वाग्निरमृतो नि धायि।

समानो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम।।

—ऋग्वेद ७।४।४

अर्थात्—हे प्रकाश रूप परमात्मन् ! तुम अकवियों में कवि होकर, मृत्यों में अमृत बनकर निवास करते हो। हे प्रकाश स्वरूप ! तुम से हमारा यह जीवन दुःख न पाये। हम सदैव सुखी बने रहें।

विश्व में व्याप्त परम-तेज की गाथा ऋषि दार्शनिकों ने पग-पग पर की है। माण्डूक्य उपनिषद् में सृष्टि और तेज दोनों को कार्य और कारण माना है। सृष्टि फल है तो प्रकाश उसका बीज। दोनों एक-दूसरे में लिपटे हुये हैं। न प्रकाश से संसार विलग है न संसार से प्रकाश अलग है। दोनों प्रेम और परमात्मा की तरह ही दिखाई देते हुये भी एकरूप हैं।

पर हम उस पूर्ण प्रकाश को देख नहीं पाते, क्यों ? इसलिये कि हमारा गमन अन्धकार की ओर है। अन्धकार अज्ञान का वैसा ही प्रतीक है जैसा ज्ञान का प्रकाश। बाह्य जीवन में बुरी तरह भटके होने का नाम अज्ञान है। आन्तरिक सत्य को ढूँढ़कर भौतिक सुखों से चिपटे हुये हैं। उन्हें छोड़ने का जी नहीं करता। वह अन्धकार की ओर बढ़ना हुआ। अधियारे में साफ नहीं सूझता। कहीं पत्थर से टकरा जाते हैं, कहीं ऊँचे-नीचे में लड़खड़ा जाते हैं। पाँव को काँटा चुभ जाता है तो कहीं फिसलकर गिर पड़ते हैं। अन्धकार के गर्भ में दुःख ही दुःख भरा हैं इसलिये वह अवांछनीय है, घृणित और त्याग देने योग्य है।

अग्नि में वह शक्ति है कि वह लोहे के किसी भी टुकड़े को पिघलाकर टुकड़ा कर दे या अनेक टुकड़ों को जोड़कर एक कर दे। कण-कण में जीवन बिखेरने या उन्हें समेटकर एक कर देने का कार्य प्रकाश द्वारा होता है। इस प्रकाश की प्राप्ति ही हमारा जीवनोद्देश्य है।

सूर्य की विपरीत दिशा में छाया की ओर बढ़ने पर न तो छाया ही हाथ आती है और सूर्य भी दूर हटता जाता है। पर जब सूर्य की ओर बढ़ते हैं तो रास्ता भी साफ दिखाई देता है, सूर्य की समीपता अनुभव करते हैं और भोग-रूपी छाया भी पीछे-पीछे चलने लगती है। जिस प्रकाश के न होने से मार्ग-भ्रष्ट हो जाता है वह यह आत्मज्ञान या ईश्वर प्राप्ति ही है। इसलिये प्रार्थना की जाती है—

तव त्रिधातु पृथिवी उतद्यौर्वैश्वानर व्रतमग्ने सचन्त।

त्वम् भासा रोदसी अततन्थाजस्रेण शोचिषा शोशुचानः।

—ऋग्वेद ७।५।४

अर्थात्—"हे वैश्वानर देव ! वह पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक तुम्हारा ही अनुशासन मानते हैं। तुम प्रकाश द्वारा व्यक्त होकर सर्वत्र व्याप्त हो। तुम्हारा तेज ही सर्वत्र उद्भासित हो रहा है, हम तुम्हें कभी न भूलें।"

प्रकाश की अन्तःचेतना में सत्य और चेतना के साथ सौन्दर्य भी है। अज्ञान अन्धा और कुरूप है, उस पर सदैव प्रकाश शासन किया करता है। व्यावहारिक जीवन में भी ज्ञानवान् ही अज्ञानियों पर विजयी होते हैं। ज्ञान का ही सर्वत्र आदर होता है, वह इसी रूप में है। सौन्दर्य सबको मधुर और प्यारा लगता है। सब उसकी ओर आकर्षित होते हैं और उसके समीप कुछ क्षण बिताने का जी करते हैं। अपने इस रूप में वह लौकिक सुखों का दाता बन जाता है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि अन्धकार की ओर न जाकर प्रकाश की ओर गमन करें। तब यह प्रकाश ही जीवन में आनन्द बनकर ओत-प्रोत हो जाता है।

अपूर्णता से पूर्णता की ओर

यह सब कुछ अपूर्ण है। विश्व का कण-कण अपूर्णता से पूर्णता की ओर चल रहा है। प्रकृति अपूर्ण है इसलिये उसके परमाणु गतिशील, चंचल होकर पूर्णता की खोज में दौड़ रहे हैं। मानव समाज अपूर्ण है, उसे जो कुछ मिला है, उससे उसे अपना काम चलता नहीं दीखता, उसमें उसे सन्तोष नहीं। अपूर्णता में सन्तोष हो भी कैसे सकता है ? इसलिये वह अधिक मात्रा में, अधिक उत्कृष्ट वस्तुयें

परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिये सचेष्ट है। आत्मा अपूर्ण है। वह परमात्मा का एक अणु मात्र ही तो है। इतने भर से उसे सन्तोष कैसे हो ? वह अन्य सजातीयों के साथ मिलकर एक बड़ी सत्ता बनना चाहता है इसलिये दूसरों को प्रेम करता है। प्रेम के, आत्मीयता के आधार पर ही दूसरों को अपने में मिलाकर अधिक विस्तार की अनुभूति हो सकती है। आत्मा की भूख निरन्तर प्रेम की है। वह प्रेम चाहता है, अधिक विस्तार में, अधिक उच्चकोटि का प्रेम उपलब्ध किस प्रकार हो, यह प्यास उसे निरन्तर लगी रहती है और इस तृष्णा को बुझाने के लिये उससे जो कुछ बन पड़ता है वह निरन्तर करता रहता है।

उपनिषदों में परमात्मा को तीन भागों में विभक्त बताया है। एक जगत में, एक मानव समाज में, एक आत्मा में। उसे शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम् कहा गया है। इसे प्राप्त करने के लिये ही विश्वव्यापी प्रक्रिया चल रही है। जगत् में जो अशान्ति है, चंचलता है, गतिशीलता है वह इसलिये है कि इस मंजिल को पार करके शान्ति रूपी प्रकाश उपलब्ध हो। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, अणु, परमाणु सभी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं। यह कहाँ जाना चाहते हैं ? इनकी यात्रा का लक्ष्य क्या है ? निश्चय ही यह अशान्ति—शान्ति की तलाश में चल रही है, जब सृष्टि का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है तो प्रत्येक अणुपिण्ड शान्त होकर परब्रह्म में लीन होकर अनन्त शान्ति का अनुभव करने लगता है। प्रलय काल में यह जगत ऐसी ही शान्ति का अनुभव करता है।

मानव समाज का लक्ष्य शिवम् है। शिव अर्थात् कल्याण। मानव समाज का—मानव मनो-भूमि का गठन इस प्रकार का है कि इसमें अनेक अभाव, दोष, अमंगल, कष्ट एवं दुःख भरे दीखते हैं। हर मनुष्य अपनी किसी न किसी समस्या को लेकर दुःखी और असन्तुष्ट है इन अभावों और असन्तोषों की निवृत्ति के लिये ही वह अपनी मति के अनुसार नाना प्रकार के प्रयत्न करता है। उसे सुख चाहिये। अधिक मात्रा में अधिक अच्छा, अधिक टिकाऊ सुख की उपलब्धि के लिये समाज में असाधारण हलचल होती रहती है, उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनाश की समस्यायें उलझी रहती हैं, उन्हें सुलझाने के लिये प्रिय और अप्रिय कर्म और अकर्म होते रहते हैं। शिव के रूप में, कल्याण के रूप में, ईश्वरीय प्रकाश समाज में मौजूद है। उसे जब उपलब्ध कर लिया जाता है, तब स्वर्गीय परिस्थितियों का भान होता है, उन्हें पाकर मनुष्य अपने आपको देवता के रूप में अनुभव करता है।

आत्मा के लिये जो प्रकाश प्राप्त करने योग्य है, वह है एकता का, अद्वैत का। जो आत्मा जितना ही अपने-पराये, मेरे-तेरे के फेर में है, दूसरों को अपने से जितना ही भिन्न मानता है वह उतना ही दुःखी है। उसे उतना ही दूसरों के प्रति भय और संदेह बना रहता है। प्रेम का मिलन जितना-जितना बढ़ता जाता है, उतना ही वह द्वैत समाप्त होने लगता है, जो अनेक प्रकार की आशंकाओं और उद्वेगों का मूल है। माँ और बेटे में जब आत्मीयता पैदा हो जाती है तो दोनों में से किसी को भय नहीं रहता कि दूसरा मेरा कोई अनिष्ट करेगा वरन् एक को देखकर दूसरे को प्रसन्नता होती है, हिम्मत बँधती है, सन्तोष और सुख प्राप्त होता है। पति यदि अपनी जेब में छुरी या पिस्तौल रखे हुये हो तो उसकी पत्नी को उससे जरा भी भय नहीं लगता। कसाई दिन भर जीवों की हत्या करते हैं पर उनके बच्चे उनके हाथ में छुरा लिये रहने पर भी नहीं डरते क्योंकि प्रेम का प्रकाश जहाँ फैलता है, वहाँ अविश्वास और भय का अन्धकार ठहर ही कहाँ सकता है।

प्रेम का नाम अद्वैत है। इसे ही भक्ति कहते हैं। ईश्वर को अवलम्ब बनाकर जो भक्ति की जाती है, वह उस ईश्वर तक सीमित नहीं रह सकती, जो उपासना की सुविधा के लिये एक प्रतिमा या प्रतीक के रूप में कल्पित की गई थी। पहलवान मुग्दर की सहायता से अपनी भुजाओं का बल बढ़ाता है। वह भुजबल जीवन के विस्तृत क्षेत्र में अनेकों प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त होता है। ऐसा नहीं है कि वह भुजबल केवल मुग्दर उठाने तक ही सीमित रहे। यदि कोई पहलवान भारी

मुग्दर तो उठा लेता हो पर उसकी भुजायें और कुछ पराक्रम करने में असमर्थ हों तो लोग उसे पहलवान नहीं कहेंगे। वरन् कोई जादूगर समझकर उस मुग्दर उठाने वाले की क्रिया में कोई चालाकी होने का सन्देह करने लगेंगे। यही बात प्रेम के सम्बन्ध में भी है। ईश्वर-भक्त अपने प्रेम-भाव को बढ़ाने के अभ्यास के रूप में भक्ति की साधना करता है। इसमें जितनी ही सफलता मिलती जाती है, उसी अनुपात में आत्मा का प्रेम प्रकाश प्राणी मात्र के ऊपर फैलना आरम्भ हो जाता है। उसे सब कोई अपने प्रेमी ही दीखते हैं। प्रेमी भी नहीं—आत्मीय ही लगते हैं। फिर उसे सब कुछ अपना ही, अपने में ओत-प्रोत ही दीखने लगता है। यही अद्वैतभाव है। वेदान्त सिद्धान्त में आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के आधार पर इसी आत्मीयता और एकता का शिक्षण किया है, मुक्ति का यही उपाय है। तुच्छता के, संकीर्णता के, अनुदारता के वासना और तृष्णा के, लोभ और मोह के, बन्धन जितने ही शिथिल होते जायेंगे उतनी ही मुक्ति समीप आती जायेगी। द्वैत में ही बन्धन और अद्वैत में ही मुक्ति है। प्रेम को परमात्मा कहा गया है—रसा वै सः—वह परमात्मा प्रेम स्वरूप है, अपने अन्तःकरण को यदि आत्मा स्वार्थ और मोह से ऊपर उठकर सच्चे प्रेम को अपना ले तो उसके लिये परमात्मा प्रत्यक्ष ही है। उसकी मुक्ति उसके साथ ही है।

जिस प्रकार द्वैत को घटा या मिटाकर आत्मा अद्वैत तत्व की, प्रेमास्पद परमात्मा की—समीपता का असीम आनन्द इसी जीवन में अनुभव कर सकता है और जीवन-मुक्ति के सुख को प्रत्यक्ष कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य के लिये यह भी सरल है कि वह स्वर्गीय भूमिका में विचरण करने वाले देवत्व से अपने आप को ओत-प्रोत अनुभव करे। दुखों और अभावों से उत्पन्न होने वाली खिन्नता पर विजय प्राप्त करके ही जीवनयापन क्रम की परेशानी एवं नीरसता को हटाया जा सकता है।

हमें यह मानकर चलना होगा कि दुःख भी मानव-जीवन का एक तथ्य है, उससे रहित होकर जी सकना किसी के लिये सम्भव नहीं। वह अनिवार्य ही नहीं, उपयोगी एवं आवश्यक भी है। सुख की ही तरह वह भी जीवन के विकासक्रम में सहायक होता है। केवल सुख ही सुख प्राप्त हो, तो वह उसकी उपयोगिता भी न समझ सकेगा और वह एक भार मात्र बनकर रह जायेगा। पकवान एवं मिष्ठान्न का आनन्द उसे आता है, जिसे रूखी-सूखी रोटियों से भी पाला पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति सदा मिठाई और पकवान ही खाता रहे तो उसके लिये उनमें क्या रस हो सकता है ? गरीबी की अनुभूति के साथ धन लाभ का सुख सम्बन्धित है। यदि कोई बालक ऐसे घर में जन्मे जहाँ सोना-चाँदी के ढेर जमा रहते हों तो उसे थोड़ा और धन लाभ होने पर क्या प्रसन्नता होगी ? यदि धन प्राप्ति के सुख का आस्वादन करना, हो तो गरीब की परस्थितियों से गुजरना आवश्यक है।

सफलता में, विजय में, उन्नति में आनन्द उपलब्ध हो सके, इसके लिये असफलता, पराजय, अवनति के झकझोरे आवश्यक हैं। स्वास्थ्य भी परमात्मा की कोई देन है। इसे रोगी होने पर ही कोई व्यक्ति भली प्रकार समझ सकता है, अन्यथा एक बलवान आदमी तो अपने निरोग शरीर का कोई मूल्य क्या समझेगा ? उसके लिये तो वह एक साधारण-सी अनायास प्राप्त हुई तुच्छ-सी चीज। दुःख एक कसौटी है जिस पर कसकर सुखों के मूल्य को समझ सकना सम्भव होता है।

यदि हमारे हाथ में दुःख का पात्र न होता तो परमात्मा की दया भिक्षा हम किसमें प्राप्त करते ? अपूर्णता यदि न होती, अभाव यदि न रहते तो पराक्रम और पुरुषार्थ के जागृत होने का अवसर ही न आता और उसके बिना जीव की उन्नति का क्रम ही रुक जाता। इस विश्व में स्वर्गीय पदार्थों एवं परिस्थितियों की कमी नहीं पर वे प्राप्त उन्हीं को होती हैं, जो उनका मूल्य कष्ट सहन करके चुकाने को तैयार होते हैं। साधना के द्वारा—तपस्या के द्वारा ही ईश्वर को प्राप्त

किया जाता है। विद्या पढ़ने, धन कमाने, बलवान बनने, सुसंस्कृत होने के लिये हर किसी को कष्टसाध्य उपायों का अवलम्बन करना होता है, जो इससे बचना चाहते हैं वे अपनी पात्रता को सिद्ध नहीं कर पाते और उन दिव्य उपहारों से वंचित रह जाते हैं, जो केवल पराक्रमी विजेताओं के लिये ही सुरक्षित रखे रहते हैं।

अभावों और कष्टों को एक प्रेरक शक्ति एवं उद्दीपक अग्नि के रूप में अपने पुरुषार्थ के लिये उपस्थित हुई चुनौती के रूप में स्वीकार करने की अपेक्षा जो लोग निराश, खिन्न एवं व्यग्र हो जाते हैं, मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं और अपने आपको अभागा मानने लगते हैं, वे दुःख के देवता का अपमान करते हैं। सुख बुखार के दैत्य की तरह है, जो जब उतरता है तो देह थकी मान्दी-सी लगती है। पर दुःख उस राजा की तरह है, जो जहाँ ठहरता है वहीं कुछ न कुछ उपहार देकर जाता है। संसार के जितने भी महापुरुष हुये हैं, जिनने भी इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम छोड़ा है, उनमें से हर एक को दुखों की अग्नि में तपना पड़ा है। योगीजन इसे स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करते हैं। अपरिग्रह, तितीक्षा और तपस्या की अग्नि में अपने को तपा-तपाकर अधिक उज्ज्वल और प्रकाशवान बनाते चलते हैं। यदि वे इस मार्ग पर न चलें, विलासी और ऐश आराम का जीवन व्यतीत करें तो निश्चय ही उन्हें उन आध्यात्मिक लाभों से वंचित रहना पड़ेगा, जो तपस्वी और योगियों को प्राप्त होते हैं।

ईश्वरीय प्रकाश को तीनों दिशाओं से हमें ग्रहण करना होगा। अद्वैत भावना का—प्रेम तत्व का विस्तार करके आत्मा को परमात्मा की प्राप्ति होगी। समाजव्यापी अभावों और दुःखों को, पराजयों और असफलताओं को, हानि लाभ, मान, अपमान, राग द्वेष आदि द्वन्द्वों को एक कटु आवश्यकता के रूप में स्वीकार करना चाहिये। उनसे खिन्न होने की उपेक्षा अपने मानसिक एवं बाह्य क्षेत्र में अधिक सावधान होने की प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये। यदि हम दुःखों को भी सुख के समान ही जीवन का एक आवश्यक एवं उपयोगी तत्व मान लें और उससे मन को गिरने देने की भूल न करें तो हमारा सामाजिक जीवन स्वर्गीय आनन्द से परिपूर्ण हो सकता है।

प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ अपनी अपूर्णता दूर करके पूर्णता प्राप्त करने के लिये तीर की तरह दौड़ा जाता है। ऐसी दशा में किसी पदार्थ की यहाँ तक कि शरीर की भी एक स्थिति में, एक अधिपत्य में रहने की आशा कैसे की जा सकती है ? यह सभी कुछ दौड़ रहा है, यह सभी कुछ चंचल है। लक्ष्मी को चंचला कहा गया है। रूप, विवेक, धन, यश, ऐश्वर्य, सत्ता, बुद्धि चातुर्य यह सभी चंचला लक्ष्मी के अंग हैं। परिवार के परिजन, मित्र और कुटुम्बी, स्त्री और पुत्र, स्वजन और सम्बन्धी इसमें से किसका शरीर, किसका मन कब तक अपने को प्रिय लगने की, स्थिर रहने की स्थिति में रहेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। फिर इस दौड़ती हुई रेल के पीछे गले में रस्सी बाँधकर घिसटते चलने से क्या लाभ ?

इन तीनों तथ्यों को यदि समझ लिया जाये तो जगत में अशांत, चंचल स्वभाव से परिचित होकर मोह-बन्धनों से छूट सकना हमारे लिये सम्भव हो सकता है। दुःखों के डर से जो नारकीय यातनायें उठानी पड़ती हैं, उन्हें स्वर्गीय परिस्थिति में बदला जा सकता है द्वैत भावना से उत्पन्न परोयेपन का अज्ञान जो जीव को ईर्ष्या, द्वेष एवं पाप, ताप से जलाता रहता है उससे भी निवृत्ति हो सकती है।

ईश्वरीय प्रकाश शान्त, शिवम् और अद्वैत है यदि हम चाहें तो उसे प्राप्त कर सकते हैं और मानव जीवन को धन्य बना सकते हैं।

सामूहिक चेतना का विकास अनिवार्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में सुख-शान्ति का वातावरण होने पर ही वैयक्तिक सुखशान्ति अक्षुण्ण रह सकती है। अपने को अपने तक सीमित रखने की प्रवृत्ति जहाँ भी, जिस भी समाज में पनप रही होगी, वहाँ व्यक्ति पारस्परिक स्नेह, सद्भाव की सहानुभूति को खो रहा होगा और उसके कारण उन सभी लाभों से वंचित रहेगा, जो सामाजिक

जीवन में पारस्परिक सहयोग, सहकार पर टिके हुये हैं। एक-दूसरे की संकट में सहायता करना, अन्याय के विरुद्ध लड़ना, लोकहित के कामों में हिस्सा बँटाना, उदारता भरा संयमी जीवन जीना आदि यों तत्काल तो घाटे का सौदा प्रतीत हो सकते हैं, पर बदले में अनेकों की श्रद्धा, मित्रता एवं सहायता के जो हाथ बढ़ते हैं, उसे देखते हुये यही कहा जा सकता है कि जो गँवाया जाता है, उससे अनेक गुना वापस लौटता है। महामानवों के प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँचने का अवसर इसी आधार पर मिलता है। स्वार्थियों के लिये यह द्वार सदा बन्द रहते हैं।

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री आर. डेवी ने अपनी कृति "डेवलपमेण्ट ऑफ ह्यूमन बिहेवियर" में कहा है कि जब व्यक्ति सामाजिक जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगता है और अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह करता है, तब उसकी सामाजिक अभिरुचियों का समुचित विकास होता है, उसमें सामाजिक भावना पैदा होती है, वह अपने साथियों के प्रति सहानुभूति रखता है और उसकी परमार्थ चेतना जाग्रत हो जाती है। व्यक्ति में सामाजिक अभिरुचि जन्मजात होती है। जिस प्रकार व्यक्ति श्रेष्ठता एवं पूर्णता प्राप्त करने के लिये प्रयास करता है, उसी प्रकार वह अपनी जीवन-शैली को विकसित करने के लिये अपनी प्रसुप्त अभिरुचियाँ जाग्रत करता है। सामाजिक अभिरुचियों को जाग्रत एवं सक्रिय बनाने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति सामाजिक जीवन में भाग ले और यथाशक्ति उन कार्यों में लगा रहे, जिनसे लोकहित सधता हो। इस तरह के गुणों के बीज वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रसुप्त रूप में सन्निहित होते हैं और प्रयास करने पर अथवा अनुकूल वातावरण पाकर वे प्रस्फुटित हो उठते हैं।

डेवी ने सामाजिक चेतना के विकास को ही आत्म-विस्तार कहा है। उनके अनुसार 'सुपर व्यक्तित्व' के प्रेरणा केन्द्र सामूहिक चेतना के पूर्ण विकसित स्वरूप को ही 'सोशल सेन्स' अर्थात् सामाजिक वृत्ति कहते हैं। जिस भी समाज में यह वृत्ति जितनी अधिक विकसित होगी, वहाँ के व्यक्ति उतने ही श्रेष्ठ एवं महानता से युक्त होंगे। अनेकानेक मानवी समस्याओं को सुलझाने एवं मनुष्य को देवोपम बनाने के लिये इस 'सोशल सेन्स' का होना परमावश्यक है। उत्कृष्ट व्यक्तित्व उसे ही कहा जाता है, जिसमें सम्पूर्ण निहित शक्तियों का सर्वांगीण विकास हो चुका हो। स्पष्ट है कि इन शक्तियों के विकास में मानव की शक्ति, लालसा एवं सामूहिक चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति आवश्यक है। दोनों के सामंजस्य से बना हुआ व्यक्तित्व ही श्रेष्ठ कहा जाता है।

सामूहिक चेतना के विकास का एक अर्थ विस्तार भी है। नैतिक क्षेत्र में यही व्याख्या अधिक उपयुक्त पड़ती है। सीमित 'स्व' ही वस्तुतः तुच्छ है और विकसित वर्ग में हेय समझा जाता है। बौने अपनी बिरादरी में भले ही बढ़-चढ़कर बातें करें पर लम्बे-तगड़े पहलवानों के आगे उनकी घिग्घी बँधने लगती और उपाहास के भाजन बनते हैं। जीवनक्रम में क्षुद्रता वह है, जिसमें व्यक्ति अपने निजी लाभ की ही बात सोचता है और स्वार्थपरता की दुनियाँ में ही खोया रहता है। विकसित व्यक्तियों का 'स्व' अन्य जनों को भी अपनी परिधि में लपेट लेता है और अपने सुख-दुःख की तरह दूसरों की प्रगति अवगति में भी प्रसन्नता-खिन्नता की अनुभूति करने लगता है। ऐसा व्यक्ति समूह को, समाज को अपना ही अंग-अवयव मानकर उनका पिछड़ापन दूर करने के लिये भी वैसा ही प्रयास करता है, जैसा कि अपनी दरिद्रता, रुग्णता अथवा कठिनाई के निवारण में किया जाता है।

यह सामूहिक चेतना ही आगे बढ़ते-बढ़ते विश्व परिवार के रूप में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में विकसित होती है और सबको अपना-अपने को सबका मानने लगती है। जहाँ भी यह प्रवृत्ति पनप रही होगी, वहाँ सहज ही ऐसे सद्गुणों, ऐसे सत्प्रयोजनों-सत्प्रयासों का बाहुल्य पाया जायेगा, जो मनुष्य को सच्चे अर्थों में विकासवान-प्रगतिवान बनाते हैं। आज मानव समुदाय को इसी सामूहिक चेतना की अनिवार्य आवश्यकता है।

सामूहिक उत्कर्ष के लिये सामूहिक साधना

व्यक्ति समूह का एक अविच्छिन्न घटक है। उसकी सत्ता का वास्तविक विकास तभी संभव है, जब वह समाज-निष्ठ होकर रहे। घड़ी का एक पुर्जा अलग अपनी अहंता प्रगट करे तो वह समय की सूचना दे सकने वाले समर्थ यन्त्र का अंग नहीं बना रह सकेगा। हाथ, पाँव, आँख, नाक, हृदय, मस्तिष्क आदि अंग अपने अलग-अलग क्रियाकलापों में लगे रहने पर बल दें, तो शरीर का चल पाना ही कठिन हो जाय। कोई महत्त्वपूर्ण कार्य शरीर द्वारा कर पाना तो असम्भव ही हो जाय।

किसी भी क्षेत्र में सामूहिक विकास के लिये सामूहिक प्रयास आवश्यक होते हैं। विज्ञान हो या उद्योग, शिक्षा हो यां चिकित्सा, राजनीति हो या समाज-सेवा, सामूहिक गतिविधियों के तालमेल के बिना इनकी स्थिति और प्रगति सम्भव नहीं। निस्सन्देह इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति की निजी परिकल्पनाओं-विचारों की उथल-पुथल भी योग देती है। पर वह योग सामूहिक. प्रयास का अंग बनकर ही दिया जा सकता है। आइन्स्टाइन की निजी परिकल्पना उस समय तक के सामूहिक वैज्ञानिक शोध प्रयासों के परिणामों का लाभ उठाये बिना सापेक्षतावाद का सिद्धान्त न बन पाती, फिर, उसे सार्वत्रिक स्वीकृति तो वैज्ञानिकों के समूह द्वारा परखे जाने पर ही मिली। तभी वैज्ञानिक चिन्तन एवं शोध की दिशा में उसका उपयोग सम्भव हुआ। गाँधी जी का अहिंसा और सत्याग्रह का विचार सामाजिक साधना के बिना न तो राजनैतिक स्वाधीनता दिखाने का आधार बन सकता था, न ही सामाजिक जागरण था।

साधना के उपासना वाले अंग के बारे में भारतीयों में यह भ्रान्त धारणा बैठ चुकी है कि वह सिर्फ अलग-थलग ही होनी चाहिये। लेकिन इसका न तो शास्त्रीय आधार है, न ही व्यावहारिक कसौटी पर वह मान्यता प्रामाणिक ठहरती है। एकांत भजन और उपासना की भी सार्थकता यही है कि वह व्यक्ति इस यथार्थ बोध तक पहुँचा दे कि वह विराट सर्वव्यापी चेतना का ही एक अंश है अनन्त चेतना समुद्र की असंख्य मछलियों में से एक है। इस सामूहिकता के बोध के बिना उपासना को कभी भी सार्थक नहीं माना जाता। आज तक किसी भी सच्चे साधक ने यह कभी नहीं कहा कि परमात्मा से कोई निजी सौदेबाजी, गुपचुप अपना काम करा लेने और बस अपना ही रिश्ता बना लेने की आकांक्षा और उद्यम साधना का अंग है। उल्टे उसे विकृति ही कहा जाता है।

उपासना सम्बन्धी विकृतियों का बड़ा रूप उसे पूरी तरह निजी मान बैठता है। व्यक्ति की पूर्णतः निजी सत्ता जैसी कोई चीज है ही नहीं। तब पूर्णतः निजी उपासना कैसे हो सकती है ?

उपासना का उद्देश्य चेतना का विस्तार, आनन्द की उपलब्धि, शक्ति का अर्जन और मनोयोग को उत्कृष्टताओं से जोड़ना है। इनमें से कुछ भी अकेले-अकेले सम्भव नहीं है। चेतना का विस्तार संकीर्णता की परिधि में सिमटे रहकर कैसे हो सकता है ? यदि परम सत्ता का ही मन एकाकी नहीं रमा, उसने एकाकीपन से ऊबकर मनुष्य समेत यह सृष्टि रची, तब उस सृष्टि का एक अंश मनुष्य एकांकी कैसे आनन्द पा लेगा ? शक्ति का अर्जन और शक्ति की उपयोगिता दोनों ही समूह के बीच ही सार्थक हो सकते हैं। मन को उत्कृष्टताओं से जोड़ने का समाज—निरपेक्ष अर्थ कुछ हो नहीं सकता। जहाँ समूह नहीं, समाज नहीं, वहाँ आचरण की उत्कृष्टता या निकृष्टता का प्रश्न ही नहीं। निर्जन स्थान में, जहाँ व्यवहार के लिये और कोई है ही नहीं, सिवाय ईश्वर के वहाँ कोई भी व्यक्ति क्या आदर्श आचरण करेगा और क्या मक्कारी—बदमाशी करेगा ? उपासना का समूह सन्दर्भ में ही कोई अर्थ और प्रयोजन हो सकता है।

जहाँ तक परम्परा की बात है, यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि प्राचीनकाल में साधना के सामूहिक स्वरूप से अलग हटकर किसी अन्य स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जाती थी। थोड़े से समय के लिये एकान्त उपासना का अर्थ सामूहिक साधना से विरत होना नहीं, उससे जुड़ना ही है। वेदों में सामूहिक उपासना सम्बन्धी

उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। वैदिक साहित्य में उपासना—साधना और अनुभूति के किसी भी प्रसंग के वर्णन-क्रम में एक ही तारतम्य में वचनों का प्रयोग बदलता रहता है। अभी एकवचन क्रिया है, अगली पंक्ति में वह बहुवचन हो गई। ऊषा के स्तुति-गान में कहीं उसका दृष्टा स्रोता एक है, कहीं अनेक। सोमपान के प्रसंगों में भी एकवचन और बहुवचन क्रियायें परस्पर घुली-मिली-सी देखी जा सकती हैं। प्रार्थना, उल्लास और आनन्द की अधिकांश अभिव्यक्तियाँ सामूहिक हैं—"आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'—अर्थात् विश्व भर से श्रेष्ठ विचार हमारे भीतर आयें। प्रार्थना और साधना का सर्वोत्कृष्ट मन्त्र, वेदों का सारभूत गायत्री मन्त्र सामूहिकता से जुड़ा है। साधक अकेले अपनी नहीं, पूरे समूह की बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना सविता देवता से करता है। ईशोपनिषद् में जहाँ साधना में डूबा साधक निजी अनुभूति करता है—

"तेजो यत् ते रूपं कल्याणातम् तत् ते पश्यामि।

योऽसावसौ पुरुषः, सोऽहमस्मि।।"

अर्थात्—'हे प्रकाशपुंज ! मैं आपके परम कल्याणकारी तेजोमय स्वरूप को देख रहा हूँ। वह मैं स्वयं हूँ।" वहीं उसके बाद के एक श्लोक के बाद, वह प्रार्थना करता है—"अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्' अर्थात् हे तेजपुंज ! हम सबको सन्मार्ग की ओर खींचिये।"

इस स्वच्छन्द क्रिया—परिवर्तन का क्या अर्थ है ? क्या तत्वदृष्टा ऋषियों को साहित्य और व्याकरण के नियम नहीं ज्ञात थे ? तब इतने श्रेष्ठ साहित्य का सृजन कैसे सम्भव हुआ ? विचार करने पर यही तथ्य स्पष्ट होता है कि हमारे पूर्वज सामूहिक साधना करते थे। तादात्म्य की चरम सीमा में एक ओर जहाँ उनकी निजी अनुभूति मुक्त रूप में फूट पड़ती थी, वहीं अपनी साधना के सामूहिक स्वरूप का भी उन्हें सर्वदा स्मरण रहता था। वैदिक साहित्य और उपनिषदों के अध्ययन के ऐसे स्थल बार-बार आते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि अभी-अभी साधक परम सत्ता से तल्लीनता की अनुभूति कर आनन्दोल्लास से भर उठा है और उसके कण्ठ से वह अनुभूति फूट रही है। जिसे पहले वह एकवचन में कह रहा है, पर तत्काल ही बहुवचन में कहने लगता है। इसका अर्थ है कि एकवचन में व्यक्त अनुभूतियाँ प्रत्येक साधक की एक-सी निजी अनुभूतियाँ हैं, जो अगले चरण में सामूहिक खण्डों में दुहराई गई हैं।

अकेले व्यक्ति के कल्याण के लिये वैदिक ऋषि प्रार्थना करते थे। वे तो मनुष्य का यही कर्त्तव्य मानते थे कि—"पुमानपुमासं परिपातु विश्वतः।" अर्थात्—मनुष्य, मनुष्य की रक्षा करे। उनकी यही प्रार्थना होती थी कि सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी कल्याण की उपलब्धि करें और कोई दुःखदग्ध न हो।

ऋग्वेद और अथर्ववेद सांमनस्य सूक्तों में सामूहिक अनुभूति और सामूहिक कामनायें ही व्यक्त हुई हैं। जैसे—

"सं गच्छध्वं, सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते।।"

अर्थात्—हम सब साथ-साथ चलें, साथ-साथ बात-चीत, विचार-विमर्श करें और एक-से मनोभावों से युक्त रहें।

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति।।"

अर्थात्—हमारी चित्तवृत्तियाँ समान हों, हृदय और मन समान हों, जिससे सौहार्द्र से रह सकें।

सामूहिक साधना की अनिवार्यता ही इन पंक्तियों में प्रकट हुई हैं। समान चित्तवृत्ति तभी होगी, जब समान साधना की जायेगी। एक-सी विचार-तरंगें और भाव-तरंगें एक-सी चित्तवृत्ति को जन्म देती हैं। एकाग्रता का यही अर्थ है। उपासना के लिये आवश्यक एकाग्रता को अन्धकार और अज्ञानता के युग में बहुत गलत समझ लिया गया, एकाग्रता का अर्थ मन की पूर्ण नीरवता नहीं। मन का एक ही दिशाधारा में दौड़ना है। चारों तरफ एक साथ चित्त न दौड़े। निर्दिष्ट क्षेत्र में ही उसकी सारी शक्ति लगे, यही एकाग्रता है। यों, शरीर के सभी कोषाणु अपनी सामान्य गतिविधि उस समय भी चलाते रहते हैं। वे सब कहीं दूर चले जायें, तब मन चुपचाप उपासना करे, ऐसा आग्रह कोई नहीं करता। उपासना का वैसा आधार ही नहीं सम्भव होगा। जो स्थिति शरीर में कोशाणुओं की है,

वही समाज में व्यक्तियों की। सब व्यक्ति चले जायें, दूर हटें तब मैं उपासना करूँ, यह आग्रह उतना ही गलत है, जितना यह कि सब चाहे जैसी गतिविधि करते रहें, मैं उन्हीं के बीच बैठा, गोमुखी में हाथ डाले माला सरकाता जाऊँगा और मेरी उपासना हो जायेगी। दोनों ही अज्ञानता-जन्य अतियाँ हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव अलग-अलग हरकतें करते रहें तो मन एकाग्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपासना की एकाग्रता अन्य व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न विक्षेपों के बीच नहीं सध सकती। शरीर भर में फैले हुये ज्ञान-तन्तु और संवेदन-तन्तु उपासना की प्रतिष्ठा में संलग्न हो जायें, उसी विचार और भावना से ओत-प्रोत हो जायें, तो सच्ची एवं प्रगाढ़ उपासना होती है। इसी प्रकार व्यक्तियों का समुदाय एक ही भावधारा को एक साथ अपनाये, तो ध्यान-धारणा प्रगाढ़ होती है, उससे एकाग्रता बलवती होती है, खण्डित नहीं।

सामूहिक साधना ही हमारी समृद्ध-परम्परा का अंग है। पतन-काल में व्यक्तिवादी बिखराव आ गया, तो उसे उपासना का अनिवार्य अंग नहीं मान लेना चाहिये। सामूहिक उत्कर्ष के प्रयास सामूहिक साधना द्वारा ही सम्भव हुये हैं। जब-जब सामूहिक साधना से भारतीय विरत हुये हैं, तब-तब व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियाँ पनपी-बढ़ी हैं और समाज की अवनति हुई है। इस अवनति से उबरने के जितने भी प्रयास हुये हैं, उनमें सामूहिक साधना पर सदा बल दिया गया है। समुद्र-मन्थन एक साधना ही थी, जो देवों और असुरों की सम्मिलित उपासना द्वारा पूरी हो सकी तथा चौदह सिद्धियों की उपलब्धि सम्भव हुई। आध्यात्मिक दृष्टि से रावण-विजय एक साधना ही है। तुलसीदास ने इसीलिये अपने ग्रन्थ को रामचरित-मानस नाम दिया। अध्यात्म-रामायण में तो उस पूरे कथा-प्रसंग का आध्यात्मिक विश्लेषण ही प्रधान है। सीता रूपी सिद्धि को पाने के लिये रीछ-वानरों समेत सामूहिक साधना आवश्यक हुई। श्रीकृष्ण द्वारा सोलह हजार गोपियों के साथ रचा गया महारास भागवत्-तत्व के सभी ज्ञाताओं द्वारा सामूहिक साधना ही माना जाता है। बुद्ध ने सामूहिक साधना के विशाल आयोजनों द्वारा ही लोक-जागृति की। अंग्रेजों की दासता से स्वदेश को मुक्त कराने के लिये गांधीजी ने सामूहिक प्रार्थना सभाओं को भी आवश्यक माना और उसके द्वारा सामूहिक जागृति फैला सके।

समान आकृति यानी समान चित्तवृत्ति समान हृदय और समान मन के बिना समूह में सौहार्द्रभाव स्थायी नहीं हो सकता और वैसा हुये बिना सुमति, सौमनस्य और अन्तर्बाह्य समृद्धि सम्भव नहीं। अतः सामूहिक साधना की महत्ता समझना और उसे अपनाना आज की युगीन आवश्यकता है। वही प्रगति के आधार जुटा सकती है।

युग-मनीषा ही नहीं युग-साधना भी

पेड़ ऊपर से भी खुराक लेता है और नीचे से भी खींचता है। जड़ें जमीन में दूर-दूर तक फैलती हैं और वहाँ से खाद, पानी समेट-कर वृक्ष के अंग अवयवों तक पहुँचाती हैं पर बात पूरी इतने से ही नहीं हो जाती। ऊपर से सूरज की रोशनी, उपयुक्त हवा, मौसम की अनुकूलता आदि बहुमूल्य जीवन-तत्व बरसते हैं। दोनों ओर से अभीष्ट अनुदान प्राप्त करते रहने की सुविधा पाकर ही पेड़ पनपता और फलता-फूलता है। यदि इनमें से एक पक्ष भी कम पड़े तो फिर पेड़ का अस्तित्व ही संकट में पड़ेगा। प्रगति होने की बात तो दूर रही।

मनुष्य के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात कही जा सकती है। उसे अन्तराल, मनःसंस्थान एवं अंग-अवयवों के साथ जुड़ी हुई जीवनी शक्ति, प्राण विद्युत, रासायनिक विलक्षणता जैसी अगणित विशेषताओं के माध्यम से समुन्नत बनने का अवसर मिलता है। स्थूल शरीर की संरचना से भी बढ़कर सूक्ष्म शरीर की विशिष्टता है। तीसरा कारण शरीर तो अदृश्य जगत के साथ जुड़ा रहने के कारण और भी अद्‌भुत है। उसे दिव्य लोकवासी कहा जाता है। षट्‌चक्र, उपत्यिकायें, ग्रन्थियाँ, अतीन्द्रिय क्षमता केन्द्र आदि की आन्तरिक संरचना एवं विभूति भण्डार को देखते हुये मनुष्य उससे कहीं अधिक महान् प्रतीत होता है जैसा कि उसके बहिरंग को देखने पर—बड़प्पन का मूल्यांकन करने पर—दृष्टिगोचर होता है। यह ईश्वर प्रदत्त

भाण्डागार सुनियोजित रूप से अन्तराल भरा-पूरा तो है, पर है प्रसुप्त स्थिति में। प्रयत्न करने पर ही उसे जगाया जा सकता है। बीज के भीतर समूचे वृक्ष की समग्र सत्ता सन्निहित होती है। शुक्राणु में एक परिपूर्ण व्यक्तित्व की सत्ता विद्यमान रहती है, पर अनायास ही बिना प्रयत्न के न बीज से वृक्ष फूट पड़ता है और न शुक्राणु को तोड़कर कोई मनुष्य चहलकदमी करता है। प्रगति प्रयत्न साध्य है। इसी विधि-विधान के सहारे बीज और शुक्राणु अपनी प्रसुप्त सत्ता को प्रकट करते हैं। मानवी अन्तराल के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। उसका प्रकटीकरण श्रमसाध्य है। इसी प्रयास को साधना कहते हैं। यह जड़ से उपलब्ध होने वाला अदृश्य जीवन रस है। पेड़ की तरह मनुष्य भी प्रधानतः इसी के सहारे ऊपर उठता, अंकुरित होता और फलता-फूलता है।

दूसरा पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बाहर से जो बरसता उपलब्ध, हस्तगत होता है, उसे नगण्य नहीं कहा जा सकता है। सभी जानते हैं शीत ऋतु में पौधे बढ़ना तो दूर उलटे पत्ते पीले पड़ने, झड़ने के कारण ठूँठ हो जाते हैं। गरम लू चलने पर भी वे झुलस जाते हैं। हरियाली बढ़ोत्तरी तभी होती है, जब मौसम की अनुकूलता है। वर्षा होते ही उनकी शोभा-सुषमा किस तरह उल्लसित होती है यह देखते ही बनता है। बसन्ती-प्रवाह जिन दिनों बहता है उन दिनों तो ठूँठ हरियाते और फूलों से लदे हुये दूल्हा जैसे सज-धजकर बैठते हैं। इसके अतिरिक्त हवा वातावरण का भी योगदान होता है। प्रान्तों और क्षेत्रों की भिन्नता के कारण एक ही जाति के पेड़-पौधों—मनुष्य पशुओं में कितना अन्तर पाया जाता है यह सभी ने देखा है। बंगाली और पेशावरी की काया का अन्तर देखते ही बनता है। रायपुर और हरियाना के बैलों में कितना अन्तर होता है इसे सभी जानते हैं। मैसूर का चन्दन महकता है वैसा राजस्थान में सम्भव नहीं, हिमालय के देवदारु आन्ध्र में उगाये जायें तो वे बढ़ेंगे नहीं, छोटे-छोटे ही बने रहेंगे। यह वातावरण का प्रभाव हुआ। मनुष्य भी इससे कम प्रभावित नहीं होता।

कहा जा चुका है कि शिक्षा, सान्निध्य, अभ्यास, परामर्श, अनुकरण आदि के माध्यम से बहुत कुछ सीखता है। सुसंस्कृत समुदाय और वनवासियों के स्तर में जो अन्तर पाया जाता है, उसे वातावरणजन्य ही कहा जायेगा। परिस्थितियाँ मनुष्य को कितनी बदलती-बनाती हैं, इसे सभी जानते हैं। सभ्यता और संस्कृति का सीधा सम्बन्ध निकटवर्ती परिस्थितियों से है। परिवार की पाठशाला में ही व्यक्तित्व की ढलाई का अधिकांश काम पूरा हो जाता है। जो बाकी रहता है, उसकी पूर्ति शिक्षा, सान्निध्य, अनुभव, अभ्यास परामर्श आदि के माध्यम से होती है। वातावरण इसी को कहते हैं।

युग-मनीषा को लोक-मानस के परिष्कृत करने के लिये जिसे गलाने, ढालने वाली भट्टी को गरम करने के लिये कहा गया है उस विचारक्रान्ति का तात्पर्य इतना ही है कि मनुष्य को नये सिरे से सोचने के लिये समुचित विचार सामग्री प्रस्तुत की जाये। अभ्यास में से अवांछनीयता को हटाने और स्वभाव में औचित्य की प्रतिष्ठापना करने के लिये क्या-क्या करना चाहिये, अक्टूबर अंक में इसी की चर्चा है। युग धर्म, ज्ञानयज्ञ, लोक-शिक्षण आदि नामों से इसी का ऊहापोह हुआ है। प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत अब तक क्या हो चुका और अगले दिनों क्या होने जा रहा है, इस सन्दर्भ में इस अंक के अन्तिम लेखों में विवरण एवं आभास दिया गया है। यह महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में राज्य सत्ता की इच्छा आवश्यकता के अनुरूप 'ब्रेन वाशिंग' अभिनव पद्धति का आविष्कार हुआ है। बन्दी शत्रु सैनिकों को किस प्रकार अपना पथ समर्थक सहयोगी बना सकता है, इसकी एक सुविस्तृत प्रक्रिया है।

अपने देशवासियों की मान्यता, आकांक्षा, विचारणा में किस प्रकार मनचाहा हेर-फेर किया जा सकता है, उसका प्रयोग किस प्रकार किया गया, इसकी जानकारी तानाशाह और साम्यवादी देशों में हुये इस सम्बन्ध के प्रयासों को आश्चर्यचकित करने वाले जाल-जंजाल को पढ़कर समझी जा सकती है। मनुष्य मूलतः कोरे कागज, स्वच्छ दर्पण और गीली मिट्टी की तरह माना

जाता है और कहा जाता है कि उसे दबाव देकर एक से दूसरे ढाँचे में बदला जा सकता है। समस्त समस्याओं के एकमात्र निमित्त कारण आस्था संकट से जूझने के लिये समर्थ मनीषियों को क्या करना चाहिये, कैसे करना चाहिये इसकी रूपरेखा बताते हुये तथ्यतः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि सभी सम्भव उपायों से मानवी दृष्टिकोण, स्वभाव एवं अभ्यास में दूरदर्शी विवेकशीलता एवं संयमसिक्त समाज निष्ठा का सभी सम्भव उपायों से समावेश करने का प्राणपण से प्रयत्न किया जाये।

यह प्रक्रिया कितनी ही महत्त्वपूर्ण, समय, को देखते हुये कितनी ही आवश्यक अनिवार्य क्यों न हो पर साथ ही एक-दूसरी बात भी ध्यान रखनी है कि वह एकांगी है। मात्र एक ही पक्ष का समाधान करती है। दूसरा पक्ष भी अपने स्थान पर कायम है, उसे झुठलाया नहीं जा सकता। कल न सही परसों उनका भी मर्म और महत्त्व समझना होगा और समग्र युग निर्माण के लिये—व्यक्ति निर्माण के लिये उसे भी कार्यान्वित करना होगा। यह पक्ष है अन्तराल की उच्चस्तरीय किन्तु प्रसुप्त क्षमताओं को जगाना। अतीन्द्रिय क्षमता के नाम से इन दिनों परामनोवैज्ञान के क्षेत्र में कौतूहलवर्धक चर्चायें चलती और योजनायें बनती रहती हैं। आकल्ट-मैटाफिजिक्स आदि नामों से उसका कुछ स्वरूप निर्धारण भी हुआ है। पुरातन काल का साधना विज्ञान पूर्णतया इसी क्षेत्र का वैज्ञानिक प्रयोग है।

वस्तुतः मानवी व्यक्तित्व की मूलभूत सत्ता उसके गहन अन्तराल में निवास करती है। मनोविज्ञानी इसकी कुरेद वीन अचेतन, सुपर चेतन आदि में वर्गीकृत करते हैं और आशा करते हैं कि यदि इस मर्मस्थल की चाबी हाथ लग सके तो मानवी सत्ता को अब की अपेक्षा अगले दिनों सहस्रों गुनी अधिक समर्थ बनाया जा सकता है। अध्यात्मशास्त्री भी बहुत पहले से अनुभवजन्य सुनिश्चित घोषणा उच्चस्तर से करते रहे हैं कि—"मनुष्य से श्रेष्ठ समग्र इस संसार में और कुछ नहीं है।" यह प्रतिपादन काय-कलेवर, बुद्धि चातुर्य या वैभव-साधन को देखकर नहीं वरन् अन्तःक्षेत्र की प्रसुप्त शक्तियों की विशिष्टता को लक्ष्य रखकर किया गया है।

बरगद जैसे विशालकाय, दीर्घजीवी वृक्षों की जड़ें—जमीन में प्रायः उतनी ही दूरी और गहराई में फैली होती हैं, जितना कि उसको दृश्यमान कलेवर होता है। जिनकी जड़ें उथली होती हैं वे न तो बहुत ऊँचे उठने में ही समर्थ होते हैं और न अधिक समय तक जीवित ही रहते हैं। यह जड़ों की गहराई, मजबूती पर निर्भर है कि कोई पेड़ कितना बढ़े, कितना फैले, फूले और दीर्घजीवी रहे। वातावरण की अनुकूलता से उसकी प्रगति में सहायता तो मिलती है इतने पर भी जड़ों का महत्त्व कम नहीं आँका जा सकता है। जिस क्षेत्र में, जिस मौसम में गहरी जड़ों वाले पौधे प्रकृति अनुकूलता का लाभ लेकर समुन्नत-परिपुष्ट देखे जाते हैं उसी से कमजोर छोटी जड़ों वाले किसी प्रकार दिन गुजारते और उकड़ू-झुकड़ू सिर झुकाये बैठे रहते हैं। यहाँ वातावरण की महत्ता, जड़ों की सुदृढ़ता से बढ़कर नहीं अपेक्षाकृत कम ही सिद्ध होती है।

विचार-शक्ति का अपना महत्त्व है, उसके सुसम्पन्न होने एवं सही मार्ग पर चलने के जितने भी लाभ गिनाये जायँ, कम हैं। इतने पर भी यह तथ्य यथावत् बना रहेगा कि व्यक्तित्व की अन्तर्निहित सत्ता का स्तर भी उच्चस्तरीय प्रेरणाओं को हजम और क्रियान्वित कर सकने में समर्थ होता है।

यहाँ मनुष्य के अन्तःक्षेत्र की चर्चा हो रही है और यह कहा जा रहा है कि मनुष्य का अन्तरंग प्रखर करना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि बहिरंग का कलात्मक सुनियोजन करना। अन्तरंग को प्रखर करने से तात्पर्य है प्रसुप्त को जगाना। प्रसुप्त से तात्पर्य है—"ईश्वर प्रदत्त उन क्षमताओं का भाण्डागार जो सृष्टा ने उत्तराधिकार में अजस्र मात्रा में दिया है, किन्तु उसके विकसित होने की सम्भावना व्यक्ति के निजी प्रयत्नों पर पूरी तरह छोड़ दी है" यह प्रसुप्त का जागरण ही उच्चस्तरीय पुरुषार्थ है। इस क्षेत्र की अद्भुत उपलब्धियों के सामने संसार भर में बिखरी सम्पन्नता भी हेटी पड़ती है।

सभ्यता व्यवहारगत शिष्टता से सम्बन्धित है। सुसंस्कारिता चिन्तन को कहा जाता है। इन दोनों से आगे चलकर—ऊँचा उठकर—अध्यात्म का विभूति क्षेत्र आता है। उसे खोदने, कुरेदने, बीनने, बटोरने के लिये एक वरिष्ठ तन्त्र खड़ा करना पड़ता है, जिसे एक शब्द में साधना कहा जा सकता है। साधना के अन्तर्गत वे सभी प्रयास आते हैं, जिनमें अन्तरंग के विशिष्ट शक्ति-केन्द्रों को समझा, झकझोरा और सशक्त, सक्रिय बनाया जाता है। इस दिशा में मिलने वाली सफलतायें उच्चस्तरीय व्यक्तित्व की संरचना करती हैं। बुद्ध, गान्धी जैसे महामानव वस्तुतः व्यक्तित्व के धनी थे। प्रतिभा और कुशलता की दृष्टि से उन्हीं अन्यान्यों की तरह सामान्य ही पाया गया है। जिस प्रकार भौतिक क्षेत्र में सुडौल, कुशल एवं सम्पन्न होना प्रशंसनीय माना जाता है। उसी प्रकार अध्यात्म क्षेत्र की वरिष्ठता ओजस्वी, तेजस्वी और मनस्वी लोगों में उभरती-उछलती पाई जाती है।

प्राचीनकाल में अध्यात्म क्षेत्र की दो प्रतिभायें होती थीं एक को मुनि, दूसरी को ऋषि कहा जाता था। मुनि वे जो मनन-चिन्तन को उभारते थे—स्वाध्याय सत्संग की योजना बनाते और जन-मानस के परिष्कार को ध्यान में रखते हुये लोक-शिक्षण में लगे रहते थे। ऋषि उन्हें कहा जाता था, जो काय-सत्ता को चेतना क्षेत्र की एक सर्व संम्पन्न प्रयोगशाला मानते थे और उसमें मूर्धन्य वैज्ञानिकों की तरह शोध अनुसन्धान-प्रयोग-परीक्षण में लगे रहते थे। वे व्यक्तित्व की प्रसुप्त क्षमताओं को जगाने के क्षेत्र में गहरी डुबकी लगाते और बहुमूल्य मणि-मुक्तक बीनकर लाते थे। जबकि मुनियों का प्रयास दूरदर्शी विवेकशीलता—सभ्य सुसंस्कारिता को लोक प्रचलन में समाविष्ट किये रहने के प्रयत्नों में निरत रहना होता था। लेखनी और वाणी की शक्ति वे इसी निमित्त करते थे। शासन संरचना, कथा सत्संग, धर्मानुष्ठान, गुरुकुल, आरण्यक, तीर्थ परिभ्रमण जैसे अनेकों कार्यक्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये सम्पन्न होते थे। ऋषियों के उपक्रम में साधना प्रधान थी। वे योग और तप ने परिधि में आने वाली अनेकानेक साधनाओं में निरत रहते और अपने सहचर अनुचरों को संलग्न रखते थे। सर्व-साधारण को भी इस प्रयोजन में लगाये रहते थे। मुनियों और ऋषियों के समन्वित प्रयास ही दो पहियों की भूमिका निभाते और प्रगति-पथ को संयुक्त प्रयास से आगे बढ़ाते थे।

यही आज भी होना चाहिये। युग-मनीषा को मुनि स्तर की भूमिका निभानी चाहिये। युग साधना में—ऋषि प्रयोजन में निरत रहकर तपश्चर्या की शक्ति को सम्पन्नता की तुलना में वरिष्ठ सिद्ध करने के लिये अन्तःक्षेत्र के प्रचण्ड पुरुषार्थ अपनाने चाहिये। पेड़ का तना और कलेवर सुरम्य रहे, इसके लिये वातावरण की उपयुक्तता जितनी आवश्यक मानी जाती है, उसी प्रकार उसकी जड़ें गहरी और सुदृढ़, समुन्नत हों, इसकी साधना-प्रक्रिया भी अग्रगामी रहनी चाहिये।

युग साधना का अभिनव निर्धारण

पंच तत्वों से शरीर बना है और पंच प्राणों से चेतन। तत्व जड़ है और प्राण चेतन। तत्व प्रत्यक्ष है और प्राण परोक्ष। प्रत्यक्षवादी मान्यतायें पंच तत्वों के दृश्यमान स्वरूप तक उलझकर रह जाती हैं। उनकी रुचि उन्हीं तक सीमित रहती है। जिन्हें सुविधा भर चाहिये उनका पदार्थ के साथ ही तादात्म्य होना स्वाभाविक है। इन दिनों अपनाये गये उथले दृष्टिकोण ने शोध, अनुसंधान का उपार्जन उपयोग का क्षेत्र पदार्थ तक ही सीमाबद्ध कर लिया है। इस एकांगी प्रगति का लाभ-वैभव की वृद्धि में तो हुआ है, पर उन उपलब्धियों का सदुपयोग निर्देशन कर सकने वाली दूरदर्शी विवेकशीलता के अभाव में अपव्यय ही होता रहा। फलतः प्रगति से अधिक अवगति पल्ले बँधी। इस भूल की जब चौंकाने वाली परिणति सामने आई, तब पता चला कि एक टाँग की दौड़ कितनी थकान भरी, निराशाजनक और कष्टकारक होती है।

पुरातन काल के तत्वदर्शी महामनीषियों ने चेतना की वरिष्ठता मानी थी और उसके साथ जुड़े हुये पाँच प्राणों को, पाँच प्रमुख देवताओं को संज्ञा देकर, उनकी साधना में अपना ध्यान और पुरुषार्थ केन्द्रित किया था। निर्वाह की

साधन-सामग्री की अपेक्षा तो उनने भी नहीं की थी, पर इतना अवश्य ध्यान रखा था कि उचित आवश्यकता पूर्ति के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही कमाया, जुटाया जाये। अनावश्यक संचय और उद्धत उपयोग में वैभव सुखद नहीं रहता वरन् बिना पके भोजन की तरह उलटा सिरदर्द बनता है। अकारण भार लादने में उपेक्षा दिखाने पर ही यह बन पड़ा कि अपना ध्यान और पुरुषार्थ अन्तःक्षेत्र की विभूतियाँ अर्जित करने में लगा सके। व्यतित्व के धनी कभी अभावग्रस्त नहीं रहते, कारणवश कुछ कठिनाइयों का सामना भी करने पड़े तो वे उसका साहसपूर्वक प्रतिकार करते हैं अथवा विवशता होने पर उसे धैर्यपूर्वक हँसते-हँसते सह भी लेते हैं। यही मनोभूमि और दिशाधारा रही है अपने महान् पूर्वजों की। फलतः उनने पाया बहुत और गँवाया कम। जबकि आज सब कुछ गँवाया जा रहा है। पाने के नाम पर तो बाल-विनोद के लिये विनिर्मित चमकीले गुब्बारों जैसा ही अधूरा उथला हाथ लग रहा है।

यों अनुसन्धान हर क्षेत्र का अपेक्षित है, पर भौतिक और आत्मिक क्षेत्रों की कनिष्ठता, वरिष्ठता का पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि सम्पदाओं की तुलना में विभूतियों का महत्त्व अत्यधिक है। अन्तःप्रतिभा के आधार पर श्रेय और प्रेय दोनों ही हस्तगत किये जा सकते हैं, जबकि पदार्थ सम्पदा विवेकरहित होने पर उलटे विनाश का कारण बनती है। वैसा न हो तो भी वह मन का धन किसी बड़े काम नहीं आता। पेट भरने, तन ढकने की तनिक-सी आवश्यकता भर उससे पूरी होती है शेष तो दुर्व्यसनों और कुपात्रों की भेंट चढ़ता है। अविवेकों के पास कुबेर जैसा वैभव हो तो भी वह उसे सत्प्रयोजनों में प्रयुक्त करने की उदारता दिखा नहीं सकेगा। ऐसी दशा में सच्चे अर्थों में बुद्धिमान उन्हीं को कहा जायेगा जो गुण, कर्म, स्वभाव की, आत्मिक गौरव-गरिमा की, विभूत सम्पदा की उपलब्धि में प्रयत्नरत रहते और कहने योग्य सफलतायें प्राप्त करते हैं।

चेतना का अपना क्षेत्र है। उसे प्रकृति पक्ष से कम विस्तृत समर्थ, सुखद नहीं कहा जा सकता। अपरिचित के लिये तो हीरों का ढेर भी काँच के टुकड़ों जैसा है, पर पारखी जानते हैं कि बहुमूल्य रत्न राशि का हाथ लगना कितना बड़ा सौभाग्य होता है ? चेतना, उसकी परिधि एवं विभूति सम्पदा का कोई बारापार नहीं। जिन दिनों चेतना को विशिष्टतायें खोजने और उन्हें हस्तगत करने के प्रयत्न चलते थे, उन दिनों इस देश के नागरिक हर्षोल्लास भरा जीवन जीते थे। उद्योग और उपार्जन के उतने साधन न होने पर भी सम्पदा से भरे-पूरे थे। वह वैभव संसार भर में विख्यात था। लालच भरी दृष्टि लेकर कोलम्बस इसी का पता लगाने निकला था कि रास्ता भूलकर अमेरिका जा पहुँचा और बहुत दिन तक उसी को इण्डिया—वहाँ के निवासियों को "रेड इण्डियन" कहता रहा। सामान्य जीवन में इस देश के महामानव अपने को हर दृष्टि से प्रसन्न और सन्तुष्ट कहते थे। शिक्षा, उद्योग, चिकित्सा, व्यवस्था आदि में वे इतने प्रवीण पारंगत थे कि उन विभूतियों को उन्हें अन्यत्र पहुँचाने की आवश्यकता पड़ी और विश्व के कोने-कोने में उनको वितरित करने के लिये परिभ्रमण करते रहे। इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें जगद्गुरु, चक्रवर्ती, स्वर्ग सम्पदाओं के स्वामी एवं देवमानव कहा जाता था।

मानवेत्तर, उच्चस्तरीय शक्तियाँ भी उनने कम अर्जित नहीं की थीं। ऋद्धि-सिद्धियों के भण्डार उनके कोश में भरे पड़े थे। पौराणिक इतिहास का पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उन्हें इन्द्रियातीत क्षमतायें प्राप्त थीं। दिव्य अस्त्रों का वे प्रयोग करते थे। लोक-लोकान्तरों की यात्रा उनके लिये सरल थी। शाप, वरदान की शब्द शक्ति का आश्चर्यजनक प्रयोग करना उन्हें आता था और भी बहुत कुछ ऐसा था, जिसे आज तो अत्युक्ति भी समझा जा सकता है। यह उपार्जन उन्होंने अन्तराल की अदृश्य, अविज्ञात प्रसुप्त शक्तियों को जागृत करके उपलब्ध किया था। अध्यात्म, चेतना का विज्ञान है। उस क्षेत्र की विभूतियों को, भौतिक सम्पदा की तुलना में असंख्यों गुना समर्थ एवं महत्त्वपूर्ण कहा जायेगा।

आज का विज्ञान भी शरीर तन्त्र और मनः संस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में आश्चर्यजनक शक्तियों को खोजता और उन्हें अद्भुत बताता

हुआ आगे बढ़ रहा है। ऐंजाइम, हारमोन, जीन्स, सैल्स, अपने भीतर न जाने क्या-क्या अद्भुत छिपाये बैठे हैं। उनकी क्षमता का एक छोटा अंश ही शरीर मात्रा में प्रयुक्त होता है। जिसका इच्छित प्रयोग अभी नहीं हो पाया। वह इतना विशाल एवं विराट् है कि उनके सहारे सामान्य शरीरधारी दैत्य जैसा असामान्य हो सकता है। मनुष्य शरीर एक अच्छा-खासा बिजलीघर है। उसके अगणित ज्ञान तन्तु उसी के सहारे समस्त शरीर को गतिशील बनाते, स्फूर्ति एवं ऊर्जा प्रदान करते हैं। यह मानवी विद्युत भण्डार का नगण्य-सा उपयोग है। जो प्रसुप्त पड़ा है उसको यदि सक्षम किया जा सके तो सिद्ध होगा कि कोई विशालकाय अणु-ऊर्जा-संस्थान अपने ही भीतर विद्यमान है। अणु विस्फोटों से उत्पन्न ऊर्जा विकिरण की चर्चा सभी पढ़ते रहते हैं यदि चेतन जीवाणु के मचल पड़ने का अनुमान लगाया जा सके तो प्रतीत होगा कि जड़ की तुलना में चेतन जितना समर्थ है, उसी अनुदान से परमाणु और जीवाणु की तुलना करते हुये वरिष्ठता-कनिष्ठता का मूल्यांकन किया जा सकता है।

विश्व ब्रह्माण्ड को सूक्ष्म-वैभव को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है। इनका प्रतिनिधित्व मानवी सत्ता में अन्तर्हित स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर करते हैं। इस प्रकार इस विराट् को सात आयामों में विभक्त किया गया है। यही सात लोक हैं। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई के तीन आयाम सर्वविदित हैं। आइन्स्टीन के अनुसार टाइम, स्पेश और कांजेशन भी तीन आयाम हैं। सातवाँ वह है जिसमें दृश्य लोक और अदृश्य लोक परस्पर आदान-प्रदान के लिये खुल जाते हैं। स्थूल, सूक्ष्म में प्रवेश कर सकता है और सूक्ष्म को स्थूल में परिणित कर सकना शक्य होता है। यह आज के सात आयाम पुरातन के सात लोक हैं। इनके साथ सम्बन्ध सूत्र जोड़ लेने वाले को टाइम, स्पेश और कांजेशन सम्बन्धी व्यवधानों का सामना नहीं करना पड़ता। वह वर्तमान की ही तरह भूतकाल को भी प्रत्यक्ष देख सकता है। इसी प्रकार भावी सम्भावनाओं का पूर्व आभास प्राप्त कर लेने में भी उसे कठिनाई नहीं रहती। स्पेस के आयाम में प्रवेश करने वालों के लिये दूरी नाम की कोई कठिनाई नहीं रहती। वह प्रकाश की गति से भी आत्म-सत्ता को यहाँ से वहाँ जा पहुँचने के लिये प्रशिक्षित कर लेता है।

उपेक्षा और अवज्ञा से कोई भी वस्तु हाथ से चली जाती है। अध्यात्म विज्ञान की पुरातन विधायें अब उपलब्ध नहीं रहीं। प्रयोग अभ्यास के अभाव में उनका प्रयोग ही नहीं, दर्शन भी लुप्त हो गया। अब हमें गिनती भूल जाने पर नये सिरे से गिनने जैसी पुनरावृत्ति करनी होगी। लुप्त का तो कुछ लँगड़ा, लूला अता-पता भी अध्यात्म ग्रन्थों में संकेत रूप से मिल जाता है। उस आधार पर उस भूली कड़ी को जोड़ते समय एक नई कठिनाई और बन गई है कि अध्यात्म विज्ञान वाले सतयुग के आज के कलियुग के बीच इतना लम्बा समय गुजर गया, इतनी तेजी से परिवर्तन हुआ कि शरीर बहिरंग ही उस समय वालों की आकृति से मिलता जुलता है। संरचना में प्रयुक्त हुई रसायन सम्पदा तथा ऊर्जा का स्तर का कुछ से कुछ हो गया। सभी जानते हैं कि आणविक विकिरण की चपेट में आने वालों की रासायनिक स्थिति में भारी परिवर्तन होता है और मनुष्य बाहर से सही दीखने पर भी भीतर से विषाक्तता का पिटारा बन जाता है। विषैली, नशीली वस्तुयें खाते रहने पर भी शरीर विषकन्याओं जैसा बन जाता है, जिनके सम्पर्क में आने भर से उपभोक्ता काल की गति में चला जाता था। कितनी ही औषधियों के हानिकारक तत्व पीढ़ियों को अपंग, विकृत बना देते देखे गये हैं। कुछ ऐसा ही माहौल पिछले दिनों बना है। वायु-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, कोलाहल कीटनाशक, रासायनिक खाद आदि कारणों से समूचा धरातल, वनस्पति जगत, जल भण्डार बुरी तरह प्रभावित हुआ है। इन्हीं के सहारे मनुष्य जीता है। यदि वे विषाक्त विकृत होने लगें तो अनायास ही मानवी काया पर उसका अवांछनीय प्रभाव पड़ेगा। ऐसी दशा में वे प्रयोग उस रूप में फलप्रद नहीं हो सकते जिस प्रकार कि प्राचीनकाल के निर्मल और प्राणपुंज वातावरण में सफल होते थे। यह बात औषधियों के सम्बन्ध में भी जितनी सही बैठती है, उतनी ही अध्यात्म प्रयोग उपचारों और साधना उपक्रमों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

अब दोनों ही क्षेत्र नई खोज की अपेक्षा करते हैं।

जिन जड़ी-बूटियों के जो गुण शास्त्रों में लिखे हैं, वे अब उस रूप में नहीं मिलते । च्यवनप्राशावलेह से वृद्ध च्यवन ऋषि का युवा होना या तो मिथ्या कथानक है अथवा फिर उन बूटियों में वे गुण नहीं रहे। दूसरी बात ही नहीं है। भूमि की उर्वरता, बादलों की वर्षा, वायु के प्राणतत्व में कुछ ऐसी गिरावट आदि और उलट-पुलट हुई है कि नाम और आकृति में वनस्पति वर्ग का कलेवर पूर्ववत् रहते हुये भी भीतर ही भीतर सब कुछ खोखला हो गया है। फिर उनका उपयोग भी वैसा परिणाम कहाँ उत्पन्न कर सकेगा जैसा कि कभी किया करता था। आज द्रव्य गुण विधान की नये सिरे से शोध करने की आवश्यकता है।

तथ्यों को देखते हुये आयुर्वेद की वहीं से शोध आरम्भ होनी चाहिये, जहाँ से महर्षि चरक, सुश्रुत, वागभट्ट आदि ने की थी। जब काया की सूक्ष्म संरचना में भारी उलट-पुलट हो गई। जब वनस्पतियाँ अपने पुरातन गुण धर्म गँवाकर कुछ से कुछ हो गईं तो फिर उनके उपयोग एवं प्रभाव के सम्बन्ध में क्या उस समय जैसी आशा की जा सकती है। आज उस क्षेत्र में नये सिरे से अनुसंधान अपेक्षित है। यज्ञ चिकित्सा के परिप्रक्ष्य में यही नीति अपनाई गई है और हवन-द्रव्यों में प्रयुक्त होने वाली सामग्री तथा समिधाओं के सम्बन्ध में नये सिरे से अनुसन्धान निर्धारण किये जा रहे हैं।

ऊपर चिकित्सा क्षेत्र के एक व्यवधान एवं समाधान का उदाहरण इसलिये दिया गया है कि अध्यात्म साधनाओं के पुरातन स्वरूप का नये परिप्रेक्ष्य में वैसा प्रभाव उत्पन्न न करने की कठिनाई का रहस्य समझा जा सके। एक तो यही बाधा कम नहीं थी कि अध्यात्म विज्ञान के दर्शन और प्रयोग का सही एवं सुविस्तृत रूप उपलब्ध नहीं होता। जो मिलता है, उससे समग्रता नहीं बनती। कुछ अनुमान आभास जैसा ही हस्तगत होता है। समय-प्रक्रिया किसी भी प्रयोग की सन्तोषजनक बाल बोध रूप में नहीं मिलती। संकेतों के सहारे इतने गहरे और खतरे से भरे क्षेत्र में कैसे प्रवेश किया जाये ? यह असमंजस तब और भी दूना हो जाता है जब वातावरण और काम संस्थान में अप्रत्याशित उथल-पुथल का तथ्य भी सामने है।

गिनती-गिनना भूलने पर नये सिरे से गिनना होता है। वनस्पति औषधियों के सम्बन्ध में ही नहीं, अध्यात्म विज्ञान के आधे-अधूरे प्रयोग प्रतिपादनों का भी नये सिरे से अनुसंधान निर्धारण करना होगा। युग के अनुरूप—परिस्थिति से सम्बद्ध साधना ही अभीष्ट फलदायक सिद्ध हो सकती है। इस प्रक्रिया को 'युग साधना' नाम देना अधिक उपयुक्त होगा।

❑ ❑

ईश्वर-विश्वास क्यों ? किसलिए ?

ईश्वर पर विश्वास अनिवार्य किसलिए

ईश्वर विश्वास की इसलिए आवश्यकता है कि उसके सहारे हम जीवन का स्वरूप, लक्ष्य एवं उपयोग समझने में समर्थ होते हैं। यदि ईश्वरीय विधान को अमान्य ठहरा दिया जाय तो फिर मत्स्यन्याय का ही बोलबाला रहेगा। आन्तरिक नियन्त्रण के अभाव में बाह्य नियन्त्रण मनुष्य जैसे चतुर प्राणी के लिए कुछ बहुत अधिक कारगर सिद्ध नहीं हो सकता। नियन्त्रण के अभाव में सब कुछ अनिश्चित और अविश्वस्त बन जायेगा। ऐसी दशा में हमें आदिमकाल की वन्य स्थिति में वापिस लौटना पड़ेगा और शरीर निर्वाह करते रहने के लिए पेट प्रजनन एवं सुरक्षा जैसे पशु प्रयत्नों तक सीमित रहना पड़ेगा। ईश्वर विश्वास ने आत्म-नियन्त्रण का पथ प्रशस्त किया है और उसी आधार पर मानवी सभ्यता का, आचार संहिता का, स्नेह-सहयोग एवं विकास परिष्कार का पथ प्रशस्त किया है। यदि मान्यता क्षेत्र से ईश्वरीय सत्ता को हटा दिया जाय तो फिर संयम और उदारता जैसी मानवी विशेषताओं को बनाए रखने का कोई दार्शनिक आधार शेष न रह जायेगा। तब चिन्तन क्षेत्र में जो कुछ उच्छृंखलता प्रवेश करेगी उसके दुष्परिणाम वैसे ही होंगे जैसे कि कथा-गाथाओं में असुरों के नृशंस क्रिया-कलाप का वर्णन पढ़ने-सुनने को मिलता है।

ईश्वर अन्धविश्वास नहीं एक तथ्य है। विश्व की व्यवस्था सुनियन्त्रित है, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी का उदय-अस्त क्रम अपने ढर्रे पर ठीक तरह चल रहा है, प्रत्येक प्राणी अपने ही जैसी सन्तान उत्पन्न करता है और हर बीज अपनी ही जाति के पौधे उत्पन्न करता है। अणु-परमाणुओं से लेकर समुद्र-पर्वतों तक की उत्पादन वृद्धि एवं मरण का क्रिया-कलाप अपने ढंग से ठीक प्रकार चल रहा है। शरीर और मस्तिष्क की संरचना और कार्यशैली देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इतनी सुव्यवस्थित कार्य-पद्धति बिना किसी चेतना के अनायास ही नहीं चल सकती। उस नियन्ता का अस्तित्व जड़ और चेतन के दोनों क्षेत्रों में प्रत्यक्ष और परोक्ष की दोनों कसौटियों पर पूर्णतया खरा सिद्ध होता है। वह समय चला गया जब अधकचरे विज्ञान के नाम पर संसार क्रम को स्वसंचालित और प्राणी को चलता-फिरता पौधा मात्र ठहराया गया था। अब पदार्थ विज्ञान और चेतन विज्ञान में इतनी प्रौढ़ता आ गई है कि वे नियामक चेतना शक्ति के अस्तित्व को बिना किसी आना-कानी के स्वीकार कर सकें।

कर्मफल की व्यवस्था भी उसी नियन्त्रण के अन्तर्गत आती है। समाज और शासन द्वारा दण्ड, पुरस्कार की व्यवस्था है। ईश्वरीय न्याय में भी सत्कर्मों के लिए समुचित दंण्ड और पुरस्कार का विधान है। देर तो मुकदमा का फैसला होने में भी लगती है और बीज बोने के बाद फसल काटने में भी। इस व्यवस्था को स्थूल बुद्धि समझ नहीं पाती। सत्कर्मों का फल तत्काल न मिलने पर लोग अधीर होने लगते हैं और दुष्कर्मों का तात्कालिक लाभ देखकर उनके लिए आतुरता प्रकट करते हैं। इन भूलभुलैयों में भटका व्यक्ति अपना और समाज का भविष्य अन्धकारमय बनाता है और वर्तमान को अवांछनीयताओं से भर देता है। इस गड़बड़ी की रोकथाम में ईश्वर विश्वास से भारी सहायता मिलती है और व्यक्तिगत चरित्र-निष्ठा एवं समाज गत सुव्यवस्था का आधार सुदृढ़ बना रहता है। इन्हीं सब दूरगामी परिणामों को देखते हुए तत्वज्ञानियों ने ईश्वर विश्वास को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने के लिए जन-साधारण को विशेष प्रेरणा दी है। वह आधार दुर्बल न होने पाये, हर रोज स्मृतिपटल पर जमा रहे, इसलिए साधना, उपासना के धर्म-कृत्यों को सुविस्तृत

विधि-विधान विनिर्मित किया है। इन्हें अपनाकर मनुष्य दिव्यसत्ता को अपने भीतर-बाहर विद्यमान देखता है और कुमार्ग पर चलने का अधिक उत्साह के साथ प्रयत्न करता है। ईश्वर विश्वास के फलस्वरूप पशु-प्रवृत्तियों के नियन्त्रण में भारी सहायता मिलती है और व्यक्ति तथा समाज का स्तर सन्तुलित बनाए रहने का प्रयोजन बहुत अंशों तक पूरा होता है। नास्तिकता अपनाकर विश्व-शान्ति का—मानवी उत्कृष्टता का आधार ही डगमगाने लगेगा, इसलिए तत्वदर्शियों ने आध्यात्मिक अनास्था की—नास्तिकता की कठोर शब्दों में भर्त्सना की है।

जीवन-दर्शन को ईश्वर विश्वास से उच्चस्तरीय प्रेरणा मिलती है। संसार के सभी प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं। कोई न्यायप्रिय, निष्पक्ष पिता अपनी सभी सन्तानों को लगभग समान अनुदान देने का प्रयत्न करता है। ईश्वर ने अन्य प्राणियों को मात्र शरीर निर्वाह जितनी बुद्धि और सुविधा दी तथा मनुष्य को बोलने, सोचने, पढ़ने, कमाने, बनाने आदि की अनेकों विभूतियाँ दी हैं। अन्य प्राणियों की और मनुष्यों की स्थिति की तुलना करने पर जमीन-आसमान जैसा अन्तर दिखाई पड़ता है। इसमें पक्षपात और अनीति का आक्षेप ईश्वर पर लगता है। जब सामान्य प्राणी अपनी सन्तान को समान स्नेह, सहयोग देते हैं तो फिर ईश्वर ने इतना अन्तर किसलिए रखा ? एक को इतना नीचा कैसे रखा ? विभेद को समझने में प्रत्येक विवेक सम्पन्न व्यक्ति को भारी उलझन का सामना करना पड़ता है।

तत्वदर्शी विवेक बुद्धि इस विभेद के अन्तर का कारण भली प्रकार स्पष्ट कर देती है। मनुष्य को अपने वरिष्ठ सहकारी ज्येष्ठ पुत्र के रूप में सृजा गया है। उसके कन्धों पर सृष्टि को अधिक सुन्दर, समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। इसके लिए उसे विशिष्ट साधन उसी प्रयोजन के लिए अमानत के रूप में दिए गए हैं। मिनिस्टरों को सामान्य कर्मचारियों की तुलना में सरकार अधिक सुविधा साधन इसलिए देती है कि उसकी सहायता से वे अपने विशिष्ट उत्तरदायित्वों का निर्वाह सुविधा-पूर्वक कर सकें। यह सुविधाएँ उनके व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं वरन् जन सेवा के लिए दी जाती हैं बैंक के खजान्ची के हाथ में बहुत-सा पैसा रहता है यह उसके निजी उपभोग के लिए नहीं बैंक प्रयोजन के लिए अमानत रूप में रहता है। निजी प्रयोजंन के लिए तो क्या मिनिस्टर, क्या खजान्ची सभी को सीमित सुविधा मिलती है। अत्यधिक साधन जो उनके हाथ में रहते हैं उन्हें वे निर्दिष्ट कार्यों में ही खर्च कर सकते हैं। मानवी कार्यों में उपभोग करने लगें तो यह दण्डनीय अपराध होगा।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य के पास सामान्य प्राणियों को उपलब्ध शरीर निर्वाह भर के साधनों से अतिरिक्त जो कुछ भी श्रम, समय, बुद्धि, वैभव, धन, प्रभाव, प्रतिभा आदि की विभूतियाँ मिली हैं, वह सभी लोकोपयोगी प्रयोजनों के लिए मिली हुई सार्वजनिक सम्पत्ति है। शरीर रक्षा एवं पारिवारिक उत्तरदायित्वों के लिए औसत नागरिक स्तर का निर्वाह कर लेने के अतिरिक्त मनुष्य के पास जो कुछ बचता है, उसकी एक-एक बूँद उसे लोक कल्याण के लिए नियोजित करनी चाहिए। इसी में ईश्वरीय अनुदान और मानवी गरिमा की सार्थकता है। प्रत्येक आस्तिक को सुरदुर्लभ मनुष्य जीवन की गरिमा और जिम्मेदारी समझनी चाहिए तथा उसी के अनुरूप अपने चिन्तन तथा कर्त्तव्य का निर्धारण करना चाहिए। अपनी विशेषताओं का उपयोग इसी महान् प्रयोजन के लिए करना चाहिए।

जीवन-दर्शन की यह उत्कृष्ट प्रेरणा ईश्वर विश्वास के आधार पर ही मिलती है। जीवन क्या है, क्यों है उसका लक्ष्य एवं उपयोग क्या है ? इन प्रश्नों का समाधान मात्र आस्तिकता के साथ जुड़ी हुई दिव्य दूरदर्शिता के आधार पर ही मिलता है। इसी प्रेरणा से प्रेरित मनुष्य संकीर्ण स्वार्थपरता से—वासना, तृष्णा के भव-बन्धनों से छुटकारा पाकर आत्म-निर्माण की ओर—आत्म-विस्तार की ओर, आत्म-विकास की ओर अग्रसर होता है और ऐतिहासिक महामानवों जैसी देव भूमिका अपनाने के लिए अग्रसर होता है। व्यक्ति और समाज के कल्याण के महान् आधार खड़े करने वाली यह एक बहुत बड़ी दार्शनिक उपलब्धि है। यदि आस्तिकता का सही स्वरूप समझा जा सके और जीवन-दर्शन के साथ उसे ठीक प्रकार जोड़ा जा सके तो

५.३ ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

निश्चय ही मनुष्य में देवत्व का उदय और इसी धरती पर स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सकता है। यही तो ईश्वर द्वारा मनुष्य सृजन का एकमात्र उद्देश्य है।

सृष्टि के सभी प्राणी एक पिता के पुत्र होने के नाते सहोदर भाई हैं और वे परस्पर एक दूसरे का स्नेह, सहयोग पाने के अधिकारी हैं। आस्तिकता की यही मान्यता अपनाने के लिए प्रत्येक विचारशील को प्रेरणा देती है। इसका अनुकरण करके प्राणिमात्र के बीच आत्मीयता की भावना विकसित होती है और उसके आधार पर एक-दूसरे के दुःख-दर्द को अपना समझने एवं उदार व्यवहार करने की आकांक्षा प्रबल हो सकती है। विश्व-कल्याण की दृष्टि में इस प्रकार की भावनात्मक स्थापनाएँ अतीव श्रेयस्कर परिणाम प्रस्तुत कर सकती हैं। कहना न होगा कि यह दृष्टिकोण हर दृष्टि से—हर क्षेत्रों से उज्ज्वल भविष्य की भूमिका प्रस्तुत कर सकने वाला सिद्ध हो सकता है।

ईश्वर विश्वास के कल्पवृक्ष पर तीन फल लगते बताये गए हैं—(१) सिद्धि (२) स्वर्ग (३) मुक्ति। सिद्धि का अर्थ है प्रतिभावान, परिष्कृत व्यक्तित्व एवं उसके आधार पर बन पड़ने वाले प्रबल पुरुषार्थ की प्रतिक्रिया अनेकानेक भौतिक सफलताओं के रूप में प्राप्त होना। स्पष्ट है कि चिरस्थाई और प्रशंसनीय सफलतायें गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता के फलस्वरूप ही उपलब्ध होती हैं। मनुष्य को दुष्प्रवृत्तियों से विरत करने और सत्प्रवृत्तियों को अपनाने के लिए उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व अपनाना पड़ता है। यह सभी आधार आस्तिकतावादी दर्शन में कूट-कूटकर भरे हैं। आज का विकृत आध्यात्म-दर्शन तो मनुष्य को उलटे भ्रम-जंजालों में फँसाकर सामान्य व्यक्तियों से भी गई-गुजरी स्थिति में धकेलता है, पर यदि उसका यथार्थ स्वरूप विदित हो तो उसे अपनाने का साहस बन पड़े तथा निश्चित रूप से परिष्कृत व्यक्तित्व का लाभ मिलेगा। यहाँ यह सफलता मिली तो अन्य सफलताएँ हाथ बाँधकर सामने खड़ी दिखाई पड़ेंगी। महामानवों द्वारा प्रस्तुत किये गए चमत्कारी क्रिया-कलाप इसी तथ्य की साक्षी देते हैं। इसी को सिद्धि कहते हैं। आध्यात्मवादी आस्तिक व्यक्ति चमत्कारी सिद्धियों से भरे-पूरे हैं। इस मान्यता को उपरोक्त आधार पर अक्षरशः सही ठहराया जा सकता है। किन्तु यदि सिद्धि का मतलब-बाजीगरी जैसी अचम्भे में डालने वाली करामातें समझा जाय तो यही कहा जायेगा कि वैसा दिखाने वाले धूर्त और देखने के लिए लालायित व्यक्ति मूर्ख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

आस्तिकता के कल्पवृक्ष पर लगने वाला दूसरा फल है—स्वर्ग। स्वर्ग का अर्थ है—परिष्कृत गुणग्राही विधायक दृष्टिकोण। परिष्कृत दृष्टिकोण होने पर अभावग्रस्त और दरिद्र नहीं रह सकता क्योंकि मनुष्य जीवन अपने आप में इतना पूर्ण है कि उसे संसार की किसी भी सम्पदा की तुलना में अधिक भारी माना जा सकता है। शरीर यात्रा के अनिवार्य साधन प्रायः हर किसी को मिले होते हैं, अभाव तृष्णाओं की तुलना में उपलब्धियों को कम आँकने के कारण ही प्रतीत होता है। अभावों की, कठिनाइयों की, विरोधियों की लिस्ट फाड़ फेंकी जाय और उपलब्धियों, सहयोगियों की सूची नये सिरे से बनाई जाय तो प्रतीत होगा कि कायाकल्प जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। दरिद्रता चली गई, उसके स्थान पर वैभव आ विराजा। छिद्रान्वेषण की आदत हटकार गुणग्राहकता अपनाई जाय तो प्रतीत होगा कि इस संसार में ईश्वरीय उद्यान की—नन्दन वन की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। स्वर्ग इसी विधायक दृष्टिकोण का नाम है, जिसे अपनाकर अपनी सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की देव सम्पदा को हर घड़ी प्रसन्न रहने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है।

आस्तिकता का तीसरा प्रतिफल है—मुक्ति। मुक्ति का अर्थ है—अवांछनीय भव-बन्धनों से छूटना। अपनी दुष्प्रवृत्ति, मूढ़ मान्यताएँ एवं विकृत आकांक्षाएँ ही वस्तुतः सर्वनाश करने वाली पिंशाचिनी है। काम, क्रोध लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, छल, चिन्ता, भय, दैन्य जैसे मनोविकार ही व्यक्तित्व को गिराते-गलाते, जलाते रहते हैं। आधि और व्याधि इन्हीं के आमन्त्रण पर आक्रमण करती हैं। आस्तिकता इन्हीं दुर्बलताओं से जूझने की प्रेरणा भरती है। सारा साधना शास्त्र इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ने,

खदेड़ने की पृष्ठभूमि विनिर्मित करने के लिए खड़ा किया गया है। इनसे छुटकारा पाने पर देवत्व द्रुतगति से उभरता है और अपनी स्वतन्त्रता का उल्लास भरा अनुभव होता है।

मनुष्य कितने ही दुराग्रहों, पूर्वाग्रहों, पक्षपातों, प्रचलनों, अनुकरणों से घिरा बँधा कंटकाकीर्ण राह पर घिसटता रहता है। स्वतन्त्र चिन्तन की विवेक दृष्टि उसे कदाचित ही मिल पाती है। यदि वह मिली होती तो निश्चय ही औचित्य को प्रश्रय दिया गया होता और तथाकथित मित्र—परिचित क्या कहते हैं ? इसकी पूर्ण उपेक्षा करके विवेक की तलाश में कदम बढ़ाने का साहस सँजोया होता। महामानव इसी सत्साहस के बल पर स्वयं धन्य बने हैं और अपने युग को—क्षेत्र को धन्य बनाया है। जीवन-मुक्त पुरुष अवांछनीय चिन्तन से मुक्त होते हैं और आत्मिक स्वतन्त्रता का आनन्द लेते हैं। स्पष्ट है कि ईश्वर भक्तों को संयमी, स्वार्थपरता से रहित, लोकोपयोगी ब्राह्मण और साधु स्तर का जीवन जीना पड़ा है। इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है। ईश्वर विश्वास अपनाकर हम जीवन लक्ष्य प्राप्त करने की ओर अग्रसर होते हैं और उसे पाकर रहते हैं।

आस्तिकता के सिद्धि, स्वर्ग, मुक्तिरूपी तीन फलितार्थों के शास्त्रीय स्वरूप पर किसी को आपत्ति हो तो इसी जीवन में चरितार्थ होने वाली उन परिणतियों के सम्बन्ध में कभी भी दो मत नहीं हो सकते, जिनकी कि चर्चा ऊपर की गई है। नास्तिकता के प्रतिपादन इसी सम्बन्ध में ऊहापोह करते हैं व शास्त्रार्थ करते देखे गये हैं। वस्तुतः ईश्वर विश्वास एक ऐसा दर्शन है, जो किसी भी धर्म सम्प्रदाय के अनुयायी द्वारा अपनाये जाने पर आत्मबल-विवेक दृष्टि के रूप में विकसित होता व उनके जीवन को सफल बनाता है। सफल महामानवों के प्रसंग इस सम्बन्ध में देखे जा सकते हैं। उन्होंने आत्म-विश्वास के रूप में चहुँ ओर फैले व्यवस्थायी अनुशासन के रूप में, सिद्धान्तवादिता नीतिमत्ता के चमत्कारों के रूप में ईश्वर को देखा और आस्तिकता को अपनाया। यही वह दर्शन है, जिसे जीवन में उतारकर कोई भी अपना मनुष्य जन्म धन्य करता है।

धर्म और ईश्वर-निष्ठा की महान् आवश्यकता

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक होने का अर्थ इतना ही नहीं कि उसे समाज में रहने का अभ्यास है। सामजिकता की परिभाषा इससे भी विशद् है। सामान्य जीवन क्रम में उसे बहुतों के सहयोग की अपेक्षा होती है। कितनों का उत्तरदायित्व भी उसे निभाना पड़ता है। परिवार, कुटुम्ब, जाति देश और सम्पूर्ण जगत से जीवन-रस, ज्ञान और विविध साधन लेकर वह अनेक प्रकार के सुखोपभोग प्राप्त करता है। मनुष्य की सामाजिकता का अर्थ है कि उसे जिन-जिन से उपकार मिला है, वह उनके प्रति उपेक्षा या उदासीनता की वृत्ति न रखे। स्वार्थ के साथ परमार्थ का भी उसे पूरा ध्यान रहे।

अपने शरीर के सीमित दायरे में बहुत सारे सुखों का उपलब्ध कर लेना बड़ी आसान बात है। मनुष्य जैसी अपार क्षमता वाले प्राणी के लिये कोई बड़प्पन की बात भी नहीं है कि अपनी तृष्णा, अपनी वासना की पूर्ति में लगा रहे। नीचे आने का क्रम बड़ा आसान है, पानी को नीचे बहाना हो तो यह कोई कठिन कार्य नहीं है, ऊँचे से नीचे उतरने के लिये कोई भी फिसल सकता है, पर यदि ऊँचे कुछ उठकर श्रेष्ठतर कार्य करने हो, तो बड़े साहस और बड़ी कर्तव्यनिष्ठा की आवश्यकता होगी। मनुष्य की स्वार्थपरता इसके लिये पर्याप्त न होगी, उसे परमार्थ का भी उतना ही ध्यान रखना पड़ेगा। समाज की सुख-शान्ति और समुन्नति इन कर्त्तव्यों का समुचित पालन करने से ही हो सकती है। स्वार्थ और परमार्थ में समन्वय और सन्तुलन रखे बिना मनुष्य सामाजिक प्राणी होने की कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं होता।

ऋषियों ने मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का बड़ी गहराई तक अध्ययन किया। उससे सम्बन्धित अनेकों तात्विक, मनोवैज्ञानिक सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक तथ्यों की खोज की। उन्होंने मनुष्य को दो रूपों में विभक्त किया। एक उसका सांसारिक रूप था और दूसरा आध्यात्मिक। यहीं से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्वज इस बात को

समझते थे कि मनुष्य की आत्मा अनेक जन्मों के कुसंस्कारों का मलावरण अज्ञान और अपने आप में चढ़ाये हुये होती है और वह इस मनुष्य रूप में प्रकट होने पर सांसारिकता में बड़ी जल्दी ग्रास हो जाता है और चौरासी-लाख योनियों वाले जीवों की तरह के कार्यों में ही इसे काम लेने लग जाता है। भोगों की अतृप्त आकांक्षा उसे बार-बार उधर घसीटती है।

इन दिनों निजी स्वार्थ बहुत बढ़ गये हैं उनमें कोई किसी प्रकार की कमी नहीं करना चाहता। कहने को कुछ लोग जप-तप, दान-दक्षिणा, तीर्थ-व्रत आदि भी करते हैं किन्तु आज यह सब उन स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने वाली प्रवंचना मात्र बनकर रह गई। उससे मानवजीवन में जो सत्कर्मों दया, क्षमा, उदारता, सेवा सहिष्णुता का विकास होना था वह जरा भी नहीं हो पाता वरन् इससे सामाजिक स्थिति और भी खराब, भ्रमपूर्ण और कष्टदायक हो जाती है।

इन बुराइयों से मनुष्य को सावधान रखने और मनुष्य जीवन जैसी सर्व-दुर्लभ वस्तु का सदुपयोग करने के लिए ऋषियों ने मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक पहलू का बड़ी तत्परता के साथ पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से विकास किया। धर्म की मान्यतायें काल्पनिक नहीं हैं, उनके पीछे पूर्वजनों के कठिन परिश्रम, गहन-शोधों के सत्परिणाम संयुक्त हैं। इसीलिये वे इतनी सुन्दर बन गई हैं कि उनसे एक व्यक्ति का भी भला होता है और सामाजिक वातावरण भी स्वर्गीय बनता है।

भारतवर्ष में किसी जमाने में आध्यात्मिकता का बहुत अधिक विकास हुआ था। इतिहास साक्षी है कि उस समय यहाँ के लोग कितने सुखी, सम्पन्न और समुन्नत थे। यहाँ किसी बात का अभाव न था। यहाँ का समाज देव-समाज कहलाता था। दुष्प्रवृत्तियों का कहीं नामो-निशान तक न था यही कारण था कि यह देश स्वर्ग की-सी गरिमाओं से विभूषित था और जीवनमुक्त आत्मायें भी यहाँ बार-बार लौट-लौट कर जीवन धारण करने के लिए आतुर रहा करती थीं।

धर्म मनुष्य समाज को सुव्यवस्थित, सुनियन्त्रित एवं सुविकसित रखने में सर्वप्रथम और शक्तिशाली सिद्ध हुआ है। पर खेद है कि आज उसे वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं जो होनी चाहिए थी। समाज यद्यपि इसका दोषी नहीं है। कुछ अर्थों में तो वह इसके लिये प्रशंसा का पात्र ही समझा जाना चाहिये कि उसने अपने विवेक के द्वारा आज के तथाकथित मिथ्यावादी धर्म का भंडाफोड़ किया और उसमें उच्छृंखल तत्वों की दाल न गलने दी। किन्तु अपने सच्चे और स्वाभाविक रूप में धर्म और अध्यात्म ही ऐसा है, जो मनुष्य की प्रत्येक गुत्थी को सुधार सकता है। धर्म मनुष्य को सुसंस्कृत और सुसंस्कारित बनाने वाली सर्वांगपूर्ण प्रक्रिया का नाम है। उसे धारण करने से ही मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी सार्थक होना सम्भव है।

स्मृतियों में धर्म के जो लक्षण बताये गये हैं, उनमें त्याग, क्षमा दया, समता, सेवा, परोपकार को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह गुण जहाँ व्यक्तिगत जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रदान करने वाले हैं, वहाँ इनका आचरण भी समाज में ही हो सकता है फलस्वरूप सामाजिक जीवन में भी वैसे ही सत्परिणामों का दिखलाई देना स्वाभाविक है।

मनुष्य के भौतिकवादी दृष्टिकोण पर नियन्त्रण रखने के लिये आध्यात्मिक तत्व बड़े आवश्यक हैं। शरीर को ही सर्वप्रमुख वस्तु समझते की भूल ने मनुष्य को बड़ा धोखा दिया है अपने मूल कलेवर आत्मा का वेधन और ज्ञान किये बिना मनुष्य की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियाँ कम नहीं होतीं, पर जब उसे यह मालूम पड़ता है कि मनुष्य एक विज्ञान है ओर वह विश्वव्यापी प्राण तत्व परमात्मा से निर्गत हुआ अत्यन्त अल्प क्षमता वाला प्राणी है तो उसका सारा अहंभाव नष्ट हो जाता है। विराट जगत की कल्पना या ईश्वर के अस्तित्व को मान लेने के बाद दूसरे को सताने या छल-कपट, द्वेष, पाखण्ड, दम्भ और दुराचार का व्यवहार करने में प्रायः हर किसी को भय लगता है। यह भय है। यही सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों से हर क्षण, हर घड़ी सजग रखता है। ऐसी व्यवस्था न तो कानून में है न किन्हीं स्थानीय प्रतिबन्धों में। जब तक मनुष्य कण-कण में विद्यमान आत्मतत्व के

भाव को हृदयंगम न कर लेगा, कानूनी व्यवस्थायें चाहे कितनी ही कठोर क्यों न कर दी जायँ, बुराइयाँ कभी कम नहीं हो सकतीं। ऐसे अवसर बराबर आते हैं, जब मनुष्य कानून की पकड़ से बच सकता है या उसे धोखा दे सकता है। जब तक दंड से बच निकलने का विश्वास बना रहेगा तब तक कोई भी व्यक्ति पाप या दुराचरण से न डरेगा। उजागर न सही पर छिपे तौर पर तो बुराइयाँ वह करेगा ही। रिश्वत लेगा, मिलावट करेगा, कम तौलेगा और भी तरह-तरह के कपटपूर्ण कार्य करेगा फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में गड़बड़ी भी अवश्य फैलेगी।

आस्तिकता मनुष्य के आत्मभाव को विकसित कर उसे सबकी कुशलता में अपनी कुशलता अनुभव करने की प्रेरणा देती है। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में कोई भी व्यक्ति किसी के साथ प्रकट या अप्रकट कोई अभद्र व्यवहार न करेगा। यह बात सबके अन्दर आ जाय तो निस्सन्देह मनुष्य समाज का स्तर बहुत ऊँचा उठ जाय।

ईश्वर पर विश्वास करने और आत्मा की सर्वज्ञता अनुभव करने के अनेक आधार हैं अतः इसे व्यवस्था से सहायक केवल मनोवैज्ञानिक उपचार मात्र नहीं किया जा सकता। यह संसार कर्ता और कर्म के अडिग सिद्धान्त पर टिका हुआ है। प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई जन्मदाता भी अवश्य है। फिर इस विराट जगत का भी तो नियन्ता होना चाहिये अन्यथा इतने सूक्ष्म गणित के सिद्धान्त पर फैली हुई सांसारिक व्यवस्था न मालूम कब की अस्त-व्यस्त हो गई होती। जहाँ मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुँच पाती, जहाँ उसकी कोई योजना कार्य नहीं कर सकती, वहाँ भी प्रकाश है, वहाँ भी गतिविधियाँ जारी हैं, यह सब किसी प्रकार नियन्त्रित होनी चाहिये और यह भी स्पष्ट है कि इस कार्य को कोई भगवान् जितना शक्तिशाली तत्व ही पूरा करता होगा। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में जो व्यापक अनुसन्धान हुआ है, वह सम्पूर्ण विश्व के लिये कल्याण का साधन है।

परमात्मा की अनन्त अनुकम्पा

भगवान् सदा सभी के साथ है, वह घट-घट वासी और सर्वव्यापक होने के कारण जहाँ भी हम रहते हैं, वहाँ हमारे साथ ओत-प्रोत रहा हुआ होता है। इस विश्व में तिलभर भी ऐसा नहीं जहाँ भगवान न हो। हमारी हर साँस के साथ वह भीतर जाता और बाहर निकलता है। रक्त की हर तरंग के साथ वह अंग-प्रत्यंगों में प्रतिक्षण दौड़ता है, हृदय की हर धड़कन के साथ उसका ताल-वाद्य बजता रहता है। जब हम सो जाते हैं, तब भी हमारी चौकसी के लिये जागता रहता है। माता की गोदी की तरह निद्रा की चादर से ढककर वह हमें अपनी छाती से चिपकाकर सुलाया करता है। जब सब ओर से जीव अशान्त और क्लान्त होकर थका हुआ चकनाचूर होता है तो निद्रा के रूप में परमात्मा की गोदी ही उसे विश्रान्ति प्रदान करती है। असमर्थ जीव को चिरनिद्रा में सुलाकर क्लोरोफार्म देकर आपरेशन करने वाले और सड़ा अंग काटकर उसकी जगह नया अंग लगा देने वाले कुशल डाक्टर की तरह वही पुनर्जन्म की व्यवस्था करता है। मृत्यु और कुछ नहीं, एक गहरी चिरनिद्रा मात्र होती है।

प्रभु की अनन्त अनुकम्पा को हर घड़ी अनुभव किया जा सकता है। उसके इतने अनन्त अनुदान अपने को प्राप्त हैं कि एक-एक पर विचार करने से ऐसा लगता है मानो सृष्टि की सारी विभूति उसने अपने ही लिये बनाकर रख दी है और हर वस्तु का मनमाना उपभोग करने की पूरी-पूरी छूट दी हुई है। इठलाकर बहती नदियाँ, शान्ति के किलकते हुये सरोवर, मधुर मुस्काते हुये पुष्प, चहकते हुये पक्षी, उमड़-घुमड़ कर गरजत-बरसते बादल, लहलहाती हरियाली, आकाश चूमने वाले पर्व जिधर भी दृष्टि डाली जाय उधर ही प्रकृति का अनन्त-सौन्दर्य बिखरा पड़ा है और हर कोई मनचाही मात्रा में उनका पूरा-पूरा निर्बाध रसास्वादन करने में स्वतन्त्र है।

५.७ ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

जो शरीर हमें मिला है उसका एक-एक कल-पुर्जा ऐसा कीमती है कि विज्ञान की उन्नति के इस युग में भी वैज्ञानिक लोग करोड़ों रुपया खर्च करके भी ऐसे कल-पुर्जे नहीं बना सकते जैसे इस देह में लगे हैं। आँखें जैसा स्पष्ट देखती हैं वैसा कैमरा कोई अब तक नहीं बना सका। मस्तिष्क की रचना ऐसी विलक्षण है कि उसके सूक्ष्म विद्युत संस्थान की छोटी-छोटी गतिविधियों को समझने का प्रयत्न करने मात्र में मानव बुद्धि थक जाती है। हाथ, पाँव, पाचन संस्थान, श्वाँस संस्थान, रक्त संस्थान, मल विसर्जन संस्थान की रचना और उपयोगिता ऐसी आश्चर्यजनक है कि उस वैज्ञानिक की, उस कलाकार की कृति को निहारते-निहारते यही लगता है कि इस रचनाकार की मानव में की हुई अद्भुत रचना प्रक्रिया को समझ सकना भी कठिन है। समझने की आवश्यकता भी नहीं है।

इस मानवशरीर में जो सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं उन्हीं का विश्लेषण करें और अन्य जीव-जन्तुओं की तुलना में उनकी श्रेष्ठता का अनुभव करें तो हृदय कृतज्ञता से भर जाता है। परमात्मा का अनन्त अनुदान इतना बड़ा है कि एक-एक उपलब्धि का वह अनुभव करे, उस पर सन्तोष व्यक्त करे और प्रभु का आभार माने तो यह सारा जीवन इस एक कार्य को पूरा करने में भी पर्याप्त नहीं हो सकता। बाह्य जीवन में जो उपलब्धियाँ हमें प्राप्त हैं, वे अद्भुत हैं। बोलने की, लिखने की, पढ़ने की, सोचने की जो विशेषता जितना मात्रा में किसी भी जीव को नहीं मिल सकी वह हमें प्राप्त है। परिवार की रचना उसकी कैसी मंगलमय व्यवस्था है कि उसके सहारे हँसते-खेलते जिन्दगी कट जाती है और जो पुण्य-परमार्थ प्राप्त करना लक्ष्य था वह भी उस छोटी बगीची के सींचने में पूरा हो जाता है। आनन्द और उल्लास का कितना श्रेष्ठ समन्वय परिवार रचना के साथ सम्बन्धित है, उस पर विचार करते हैं तो लगता है पूरी आनन्दानुभूति का एक बहुत ही मनोरम व्यवस्थाक्रम बनाकर हमारे साथ जोड़ दिया गया है। मनोरंजन की परिपूर्ण व्यवस्था रख दी गई है और कर्त्तव्य एवं आत्म-विकास का भरपूर अवसर उसमें मौजूद है।

संसार की बाह्य परिस्थितियों में भगवान का कैसा कडुआ, मीठा स्वाद सन्निहित किया हुआ है कि एक के सम्बन्ध में दूसरे की महत्ता बढ़ती है। रात का अंधकार दिन के प्रकाश का महत्व बढ़ाता है और दिन का प्रकाश रात्रि के अन्धकार को श्रेय प्रदान करता है। गरीबी की उपस्थिति से अमीरी का गौरव टिका हुआ है और अमीरी से खिन्न हुए लोग गरीबी—संन्यास की शरण में शांति खोजते हैं। रोग से आरोग्य का महत्व समझ में आता है, पाप को देखकर पुण्य की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। दुरात्माओं की उपस्थिति से महात्माओं का सम्मान होता है। यदि सब कुछ एक-सा रहा होता—व्यक्तियों और परिस्थितियों में अन्तर न रहता तो मनुष्य की सूझ-बूझ का ही कोई महत्व न रहता ? वह कुंठित पड़ी रहती और जो हलचल चारों ओर दिखाई पड़ती है, उसके स्थान पर सन्नाटा छाया होता। जिन बातों को हम परमात्मा की भूल, अकृपा एवं अव्यवस्था समझते हैं, उसमें वस्तुतः उसकी सुव्यवस्था सन्निहित रहती है।

जो परिस्थितियाँ हमें अपने लिये प्रतिकूल, अप्रिय, अखरने वाली, कष्टकारक लगती हैं उनमें भी परमात्मा का सत्प्रयत्न और सदुद्देश्य छिपा रहता है। पढ़ने के लिये ताड़ना करने वाला अध्यापक, सड़े अंग का आपरेशन करने वाला डाक्टर, उद्दण्डता के लिये क्रोध प्रकट करने वाला पिता, अपराध के लिये दण्ड देने वाला न्यायाधीश उन्हें बुरे लगते हैं, जिन्हें उनके व्यवहार से कष्ट पहुँचता है। पर कष्ट पहुँचाना सदा अकृपा में ही नहीं होता। माता को प्रजनन का कष्ट भुगतना पड़ता है और क्या यह किसी से क्रोध या दुर्भाव का प्रतिफल होता है ? ईश्वर का प्रेम और अनुग्रह कई बार माता के दूध पिलाने की तरह मधुर और कई बार कान ऐंठने की तरह कड़ुआ होता है। बालक नहीं, माता ही जानती है कि इन दोनों में केवल बालक के कल्याण और सुख का ही ध्यान रखा गया है।

वह परमात्मा हमारे प्रतिक्षण साथ रहता है पर उसकी उपस्थिति से जो लाभ मिलना चाहिए उसे कोई विरले ही उठा पाते हैं। घर की जमीन में गढ़ा धन, यदि अपनी जानकारी में न

हो तो उससे क्या लाभ मिलेगा ? गले में पड़े हुए हीरे के कण्ठा को यदि हमने काँच जितना ही समझ लिया हो तो उससे क्या लाभ अपने को प्रतीत होगा ? परमात्मा की अपार और अत्यन्त शक्ति एवं अनुकम्पा हर घड़ी अपने साथ है पर उसका परिपूर्ण लाभ उठा सकना अनजानों के लिये कठिन है। जिस जानकारी के आधार पर परमात्मा के सहचर होने का समुचित सत्परिणाम प्राप्त किया जा सकता है, उसे ही सद्ज्ञान या अध्यात्म कहते हैं।

कपड़े के झीने पर्दे की आड़ में बैठे हुये दो व्यक्ति एक-दूसरे को देख नहीं सकते यद्यपि यह अनुभव करते हैं कि कोई पर्दे के उधर बैठा है। हम यह तो जानते हैं कि परमात्मा हमारे समीप है, भीतर ही है पर उसकी उपस्थिति से वह आनन्द और लाभ नहीं उठा पाते, जो सान्निध्य सहचरत्व से मिलना चाहिये। राजा, रईस, अमीर, अधिकारी, योद्धा, विद्वान, कलाकार आदि श्रेष्ठ लोगों की मित्रता और समीपता से जब लोग बहुत लाभ उठा लेते हैं तो इतने उदार और अनुग्रही परमात्मा के निरन्तर साथ रहते हुये भी कुछ लाभ न उठा सकें तो यह अपना दुर्भाग्य ही कहा जायेगा।

अज्ञान का आवरण उस पर्दे के समान है जो पास बैठे हुये व्यक्तियों को भी दूरस्थ स्थिति में बनाये रहता है। जमीन में गढ़ा धन और गले में पड़ा कण्ठा अज्ञान के कारण ही उपयोग में नहीं आता। अज्ञान इस संसार का एक बड़ा अभाव और दुर्भाग्य है, उसे हटाने के लिये समुचित प्रयत्न किया ही जाना चाहिए।

तृष्णा और वासना के वशीभूत होकर मनुष्य परमात्मा की आज्ञाओं, मर्यादाओं और इच्छाओं का उल्लंघन करता है और सोचता है कि इस प्रकार वह अधिक जल्दी अधिक मात्रा में सुख-साधन प्राप्त कर लेगा। अज्ञान का यह सबसे बड़ा लक्षण है। सुख का एकमात्र उपाय है पुण्य, दुःख का एकमात्र कारण है पाप। पापों के प्रतिफल से परमात्मा ही दुःख और पुण्य के फलस्वरूप सुख की व्यवस्था करता है। जो महत्वपूर्ण उपकरण सर्वसाधारण को मिले हैं, वे इतने पर्याप्त हैं कि उनके आधार पर आनन्दमय जीवन व्यतीत किया जा सकता है। हमें क्या सोचना और क्या करना चाहिए, इसकी सुनिश्चित धर्म मर्यादायें बनी हुई हैं। सद्विचार और सत् आचरण का पालन करते हुए परमात्मा के अनुग्रह को अधिकाधिक अनुभव किया जा सकता है। प्रभु की समीपता का श्रेष्ठ उपाय है यह है कि उसे सर्वव्यापक मानकर अपने विचारों और आचरणों को इस योग्य बनावें कि प्रभु की प्रसन्नता और अनुकम्पा निर्बाध गति से प्राप्त होने लगे। सूर्य की धूप, गर्मी और रोशनी उन्हें प्राप्त होती है, जो खुले आकाश के नीचे बैठते हैं। छाया में बैठने वाले को धूप से वंचित रहना पड़ता है। पाप और कुविचारों की छाया में बैठा हुआ मनुष्य भी दिन में सूर्य की धूप से वंचित रहने वाले की तरह परमात्मा की उस विशेष कृपा से वंचित रह जाता है, जिससे आत्मिक, प्रगति, श्रेष्ठता, देवत्व जीवनमुक्ति और ब्रह्मानन्द का महान् लाभ कहते हैं। पाप, स्वार्थ और संकीर्णता का आवरण हमें निकटवर्ती परमात्मा से दूरवर्ती बनाये रहता है।

जीवन की वास्तविक आवश्यकतायें वस्तुतः इतनी कम हैं कि कम बुद्धि और स्वल्प योग्यता वाले व्यक्ति भी अपना निर्वाह बड़े सन्तोष और आनन्दपूर्वक कर सकते हैं। मनुष्य की अपेक्षा कई गुना आहार करने वाले और बुद्धि एवं क्षमता में, साधन और सुविधा में बहुत पिछड़े होने पर भी जब पशुओं तक को अपने निर्वाह में कुछ असुविधा नहीं होती तो मनुष्य को जरा-सा आहार, जरा-सा निवास, जरा-सा कपड़ा चाहिये, वह कहाँ कम पड़ने वाला है ? तृष्णा और वासनाओं की हवस ही उसे न जाने कितना जोड़ने, न जाने कितना भोगने की लिप्सा उत्पन्न करती है और उसी अतृप्ति में भटकता हुआ लोभ, मोह में ग्रस्त प्राणी उतावली में अकर्म करने पर उतारू हो जाता है। यह स्थिति परमात्मा से विमुख करने वाली है। परमात्मा की इच्छा और आज्ञा की अवज्ञा करते रहना और पूजा के नाम पर चावल, (अक्षत) छोड़ते रहना, विडम्बना मात्र ही है।

उपासना की निस्संदेह बड़ी आवश्यकता है। उसकी उपयोगिता, महत्ता, शक्ति और सम्भावना बहुत है पर उस मार्ग में सफलता केवल उन्हें ही मिलती है जो परमात्मा से विमुख नहीं हैं,

उसके बताये हुये मार्ग का उल्लंघन नहीं करते। गुलाब के बगीचे के पास रहने वाले सुगन्धित वायु का रसास्वादन करते हैं और दुर्गन्धित गन्दे नाले की समीपता से बदबू और बीमारी के शिकार होते हैं। वायु एक ही है पर वह सुगन्धित और दुर्गन्धित पदार्थों के संसर्ग से हमारे लिये लाभदायक और हानिकारक बनती है। सद्विचारों और सत्कर्मों को छूकर परमात्मा की जो कृपा वायु हमारे समीप आती है उसमें सुख-शान्ति का भण्डार भरा होता है, किन्तु हमारे पाप और दुर्भावों को छूकर प्रभु की दृष्टि टेढ़ी, दुर्गन्धपूर्ण बन जाती है, उसमें अभिशाप, क्रोध और नरक का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। शीतल वायु के समान परमात्मा की निरन्तर बरसती रहने वाली स्वास्थ्यवर्धक शीतल कृपा भी हमारे पाप और अज्ञान के कारण विकारों, निमोनियाँ, कफ, खाँसी आदि के समान कष्टकारक प्रतिक्रिया उपस्थित करने लगती है।

परमात्मा को हम अपने समीप देखें तो वह हमारे बिलकुल पास, रोम-रोम में ओत-प्रोत दीखेगा। जिधर भी दृष्टि दौड़ाई जाय, उधर ही उसका महान दान बिखरा पड़ा दृष्टिगोचर होगा। पर जब हम उसकी ओर से विमुख होकर तृष्णा और वासना के पीछे, माया के पीछे दौड़ने लगते हैं तो लगता है कि परमात्मा सो गया, कुपित है, अन्याय कर रहा है, सुनता नहीं, निष्ठुर है। जब अपनी चाल सीधी हो जाती है तो प्रस्तुत कठिनाइयों के पीछे भी आशाजनक भविष्य निर्माण की मंगलमयी व्यवस्था दीखती है और वर्तमान कष्ट प्रसव-वेदना के समान अगले ही क्षण मंगलमय परिणाम प्रस्तुत करने वाले लगते हैं।

प्रेम और विश्वास के आधार पर प्रभु को प्राप्त कर सकना हर किसी के लिये सरल है। वे सच्ची भावना से की गई थोड़ी उपासना से भी प्रसन्न हो जाते हैं, जब कि आडम्बर की तरह बहुत तोता-रटंत का भी कोई विशेष परिणाम नहीं निकलता। हमारी भक्ति भावनापूर्ण होनी चाहिये। भजन के साथ कर्त्तव्य-पालन जुड़ा रहना चाहिये। पूजन के साथ आत्मशोधन की प्रक्रिया भी सम्मिलित रहे। आरती के साथ अन्तर्दीप्ति भी प्रकाशित हो। नैवेद्य (प्रसाद) चढ़ाने के साथ यह भी ध्यान रहे कि मानव जीवन की सार्थकता परमार्थ में है। व्रत के साथ इन्द्रिय संयम का होना जरूरी है। भक्ति का, पूजा का बाह्य कलेवर भावनापूर्ण हो पर साथ ही भीतरी शुद्धता की प्रक्रिया चलती रहे। अज्ञान और पाप का पर्दा जितना भी फटता जायेगा परमात्मा का दर्शन और उनका अनुग्रह उतना ही सरल होता जायेगा।

स्थाई सुख शान्ति का आधार

केवल राज-दण्ड और राज-नियमों के आधार पर समाज में कोई सुख-शांति की आशा कभी पूरी नहीं हो सकती। यदि ऐसा सम्भव होता तो संसार के सारे देशों में राज नियम लागू हैं और राज-दण्ड की व्यवस्था है, तब भी संसार का एक भी ऐसा देश नहीं है, जिसमें पूर्ण शान्ति के लक्षण दिखाई दें। सभी देशों और सभी समाजों में अपराध और पाप होते हैं, जिनके कारण लोग अशान्त और दुःखी रहते हैं।

समाजों में स्थाई सुख-शान्ति तो तभी सम्भव है, जब जन-जन अपना उत्तरदायित्व समझे, पाप और अपराधों से बिना किसी दबाव के डरे और नैतिकता का मूल्य माने, स्वयम् आत्म-प्रेरणा से दुष्कर्मों से विमुख रहे। सामाजिक एवं राजकीय नियम तथा प्रतिबन्ध एक अल्प-सीमा तक ही जन साधारण को कुमार्गगामी होने से रोक सकते हैं। उनकी क्षमता में केवल इतना ही होता है कि जिनने कोई दुष्कर्म किया है, उसकी निन्दा, भर्त्सना कर लें या दण्ड दिलवा दें। यह तो कुकर्म का परिणाम है, इससे उसकी प्रवृत्ति कहाँ रुकी ?

बहुत बार तो लोग इतने निर्लज्ज हो जाते हैं कि बार-बार दण्ड पाते हैं और बार-बार अपराध करते रहते हैं। उन्हें समाज में निन्दा अथवा लांछन का भी कोई भय नहीं रहता। इतना ही क्यों बहुत बार तो अपराधी अपनी चतुरता, साधनों अथवा परिस्थितियों का लाभ उठाकर दण्ड व्यवस्था से भी बच निकलते हैं और तब उनकी वह प्रवृत्ति और भी उत्साहित हो उठती है।

पाप प्रवृत्ति का दमन बाह्य प्रतिबन्धों अथवा भयों से नहीं हो सकता। उसका दमन तो मनुष्य

की स्वयं की अन्तःप्रेरणा से ही सम्भव है। इस अन्तःप्रेरणा का आधार पूर्ण आस्तिकता ही हो सकती है। जब मनुष्य को यह निश्चय हो जायेगा कि ईश्वर सर्वव्यापक है, न्यायशील तथा सर्वशक्तिमान है, सबसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, अच्छे-बुरे कामों का साक्षी है, देखने और जानने वाला है, तो वह पाप-कर्म करते डरेगा। उसे विश्वास रहेगा कि वह जो कुछ करेगा, उसको ईश्वर अवश्य देखेगा और उसके अनुसार पूरा-पूरा दण्ड देगा। ईश्वर के अस्तित्व, उसकी सर्वव्यापकता और न्यायशीलता में निश्चय हुए बिना मनुष्य के लिए सहज सम्भव नहीं कि वह अज्ञानवश सुन्दर, सुखकर तथा लाभकर दिखलाई देने वाले पापों के आकर्षण से बचा रह सके। पापों में बड़ा भयानक प्रलोभन होता है, जो मनुष्य को हठात् अपनी ओर खींच ही लेता है। इसकी रक्षा का एकमात्र उपाय सच्ची और सम्पूर्ण आस्तिकता ही है।

पाप का बीज विचारों में रहता है और उसकी परिणिति कर्मों में होती है। अन्तःकरण में कुविचार उठते ही मस्तिष्क भी उसके अनुसार योजना रचने लगता है, जिसे शरीर इन्द्रियों की सहायता से अनायास ही कार्यान्वित कर डालता है। यद्यपि इस प्रक्रिया के बीच-बीच में राज-दण्ड और समाज का भय भी काम करता रहता है, किन्तु निर्बल नैतिकता के कारण वह कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाता। कुविचार के सहायक दुःसाहस के बल पर लोग उस कल्याणकारी भय की उपेक्षा कर देते हैं। निष्पाप नैतिकता के विकास और उसकी प्रबलता के लिए विचारों का निर्विकार होना बहुत आवश्यक है।

ईश्वर की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता और निष्पक्ष न्यायशीलता का निश्चय हुए बिना अनैतिक विचारों को नहीं रोका जा सकता। कुविचारों पर अंकुश रखना तभी सम्भव होगा, जब कर्मफल, स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक-पुनर्जन्म और अधम योनियों में विश्वास पैदा हो। इन सत्यों का विश्वासी निश्चय ही कुमार्ग पर पैर रखते डरेगा। उसका यह विश्वास तुरन्त ही पाप पथ की ओर बढ़ते हुए उसके पैरों में जंजीर डाल देगा। इस प्रकार का कल्याणकारी भय किसी आस्तिक के हृदय में ही उत्पन्न हो सकता है, नास्तिक के हृदय में नहीं।

आज के घोर भौतिकवादी युग में आध्यात्मिक विचारधारा यदि पूरी तरह मिट नहीं गई है तो कम अवश्य हो गई है। इसी कारण आज आस्तिकता के भाव भी ज्यादा दिखलाई नहीं देते। ईश्वर के प्रति यथार्थ निष्ठा में कमी आ जाने का ही तो यह परिणाम है कि आज संसार में चारों ओर आशंका का वातावरण दिखलाई देता है। सम्पन्न से सम्पन्न और समुन्नत समाज व राष्ट्र, सुख-शान्ति के लिए तरस रहे हैं। आस्तिकता की कमी के कारण कुकर्म बढ़ गये हैं और आज की सर्वव्यापी अशान्ति उन्हीं कुकर्मों का ही तो फल है। भौतिकवाद की प्रबलता के कारण जो आज परस्पर राग-द्वेष और छीना-झपटी की अनीतिपूर्ण प्रक्रिया चल रही है, वही आज कष्टों, क्लेशों और शोक-सन्तापों के रूप में फलीभूत होकर जन-समुदाय को चैन की साँस नहीं लेने दे रही है। राग-द्वेष, स्वार्थ और संघर्ष का जन्मदाता माना गया है। लोगों में स्वयं के प्रति इतना स्वार्थ और राग बढ़ गया है कि वह समष्टि के प्रति एक प्रकार से अन्धे हो गये हैं। सब कुछ अपने लिए चाहने वाले और दूसरों के हितों एवं अधिकारों के प्रति द्वेष रखने वाले समाज में अशान्ति तथा असुख की परिस्थितियों के लिए विशेष उत्तरदायी हैं। स्वार्थी को यदि सौ नास्तिकों का एक नास्तिक मान लिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

संसार में व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत जितने प्रकार के जो कष्ट-क्लेश दिखलाई देते हैं, वह सब तदननुसार कुकर्मों का ही फल है। ऐसा नहीं कि कुकर्म करने वाले को ही केवल अपने किए का फल भोगना होता हो, उसे तो भोगना ही होता है, लेकिन उसका प्रभाव दूसरे लोगों के माध्यम से समाज पर भी पड़ता है। व्यक्ति के साथ समाज को भी दुःख का भाग भोगना पड़ता है। शरीर के अंगों की तरह व्यक्ति भी समाज के एक अंग होते हैं। जिस प्रकार शरीर का कोई भी अंग यदि दूषित हो जाता है तो उसका थोड़ा बहुत प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। उसी प्रकार व्यक्ति की बुराई से भी समाज

सर्वथा बचा नहीं रह सकता। जिस समाज में जितने ही दूषित, बुरे और कुकर्मी व्यक्ति बढ़ते जाते हैं, उसमें उसी अनुपात से दुःख और कष्टों की वृद्धि होती जाती है।

इसीलिए व्यक्ति की बुराई से समाज को बचाने के लिए पूर्वकाल में पापी के बहिष्कार अथवा सार्वजनिक निन्दा की एक प्रथा प्रचलित थी। राजदण्ड की तरह यह सामाजिक दण्ड भी अपरिहार्य माना जाता था। समाज द्वारा दिया जाने वाला यह बहिष्कार व सार्वजनिक घृणा का दण्ड, मृत्यु-दण्ड से भी अधिक भयानक होता था। इसके डर से लोग किसी हद तक बुराई से बचे रहने का प्रयत्न करते थे।

अब संसार के लगभग सभी समाजों से यह व्यवस्था उठ गई है। जिन समाजों में इसका कुछ अवशेष दिखालाई भी देता है, हुक्का-पानी अथवा रोटी-बेटी तक ही दिखलाई देता है और उसका कारण भी कोई सामाजिक मान्यता अथवा रूढ़ि का उल्लंघन करना ही होता है। असत्य, बेईमानी, शोषण, चोरी, जुआ अथवा अनीतिपूर्ण कार्यों के लिए, जिनका कि कुप्रभाव सारे समाज की शान्ति और व्यवस्था पर पड़ता है, सामाजिक बहिष्कार की प्रथा अब कहीं भी दिखलाई नहीं देती।

अपितु, आज तो इसका उल्टा रूप दिखलाई देता है। बहुधा ऐसे कुकर्मियों से लोग डरकर अथवा किसी प्रकार के लाभ के लोभ से उनका समर्थन तक करने लगते हैं। ऐसी विपरीत दशा में समाज की सुख-शान्ति को क्षति पहुँचना स्वाभाविक है। प्राचीन काल में प्रथम तो नास्तिक कदाचित् ही होते थे और यदि यदा-कदा किसी में उसके लक्षण दिखाई भी देते थे तो उसका सामाजिक बहिष्कार होते देर नहीं लगती थी। लोग उससे बोलना, बात करना, उसका संग करना अथवा किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करते थे। नास्तिक व्यक्ति को बड़ा पापी माना जाता था। उसका कारण था कि नास्तिक की लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक अथवा पुनर्जन्म और कर्मफलों में अनास्थावान माना जाता था। प्रायः नास्तिक होते भी ऐसी ही विचारधारा के। जिन्हें कर्मफलों का भय ही नहीं, वह कोई भी कर्म-कुकर्म करते संकोच भी क्यों करेगा। केवल भोगवादी होने के कारण इन्द्रिय-सुख में ही उसकी लिप्सा बनी रहने से उसका अनैतिक हो जाना कोई असम्भाव्य बात नहीं होती। अनैतिक व्यक्ति का समाज के लिए दुःखदायी होना स्वाभाविक ही है। अस्तु, समाज नास्तिक में इन सब दोषों को मनोनीत मानता था और सार्वजनिक सुख-शान्ति की रक्षा के लिए शीघ्र ही उसका बहिष्कार करने का प्रयत्न करता था।

आज ऐसा कोई भय रह नहीं गया है। इसलिए लोग वास्तविक आस्तिकता से विमुख होते संकोच नहीं करते। आज के युग में बहुत से लोग आस्तिकता को ढकोसला तक कहने लगे हैं। ईश्वर को मनुष्य की कल्पना और धर्म अथवा नैतिकता को अप्राकृतिक प्रतिबन्ध तक मानने लगे हैं। ऐसी ही निरंकुश मनोवृत्ति वाले लोग अपने स्वार्थ के लिए सामाजिक हितों पर ध्यान नहीं देते और मनमाने ढंग से जीवन चलाते हुए असुख एवं अशान्ति की परिस्थितियाँ पैदा करते हैं।

आज सामाजिक बहिष्कार की प्रथा है नहीं और राज-दण्ड अनैतिकता, अपराधों को रोक सकने में पूर्णतया सफल नहीं हो पा रहा है। सफल हो भी किस प्रकार ? पुलिस और गुप्तचरों की इतनी पर्याप्त संख्या हो सकना सम्भव नहीं कि वह इतने विशाल जनसमूह पर पहरा दे सकें अथवा हर जगह गुप्त प्रकट स्थानों पर जाकर अपराधों एवं अनैतिकताओं का पता लगा सके। जो अपराधी पकड़े जाते हैं, उन पर आरोप सिद्ध करने के लिए गवाही, शहादत और सबूत पर्याप्त मात्रा में जुट सकना कठिन होता है। फिर बहुत से अपराधी इन सब व्यवस्थाओं के बावजूद भी छूट जाते हैं। साधन सम्पन्न और धन व्यय कर सकने वालों को तो ऊँचे से ऊँचे वकीलों की योग्यतओं के आधार पर बच जाने की और भी सुविधा रहती है। ऐसी दशा में केवल एक ही सफल उपाय रह जाता है, और वह है मनुष्यों की मनोभूमि का सुधार, जिससे कि उसमें न तो कुविचार ही आयें और न अनैतिक भावना का जन्म हो। मनुष्य की अन्तःप्रेरणा सत्कर्मों की ओर अग्रसर हो।

इस पावन स्थिति को चरितार्थ करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्यों में अधिक से अधिक आस्तिकता का विकास किया जाये। उसकी शिथिल होती हुई आस्थाओं को बल प्रदान किया जाय। जिस दिन मनुष्य में वास्तविक आस्तिकता का विकास हो जायेगा—उनकी अन्तःप्रेरणा सदोन्मुखी हो चलेगी। ज्यों-ज्यों इस दिशा में प्रगति होती जायेगी, त्यों-त्यों समाज में अशान्ति एवं असुख की परिस्थितियाँ कम होती जायेंगी। जिस प्रकार नास्तिकता सारे अनैतिक कर्मों की जड़ है, उसी प्रकार आस्तिकता सत्कर्मों की मूल आधार है। अस्तु, हम सबको स्वयं को आस्तिक बनाना ही चाहिए, साथ ही इस परमात्म-भाव की आस्था अन्य लोगों में भी उत्पन्न करते रहना चाहिए। इस मार्ग से समाज और संसार में स्वार्थी सुख-शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार

"मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है"—इस घोषणा के पीछे कोई सत्य भी है या नहीं, इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का आधार यही तो माना जाता है कि उसमें बुद्धि एवं विवेक का तत्व विशेष है। उसमें कर्त्तव्य-परायणता, परोपकार, प्रेम, सहयोग, सहृदयता तथा सम्वेदनशील के गुण पाये जाते हैं। किन्तु इस आधार पर वह सर्वश्रेष्ठ तभी माना जा सकता है जब सृष्टि के अन्य प्राणियों में इन गुणों का सर्वथा अभाव हो और मनुष्य इन गुणों को पूर्ण रूप से क्रियात्मक रूप से प्रतिपादित करे। यदि इन गुणों का अस्तित्व अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है और वे इसका प्रतिपादन भी करते हैं तो फिर मनुष्य को सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानने के अहंकार का क्या अर्थ रह जाता है।

आइये, पहले शारीरिक तथा बौद्धिक विशेषताओं की तुलना कर ली जाये। शेर, हाथी, गैंडा, चीता, बैल, भैंस, गीध, शतुरमुर्ग, मगर, मत्स्य आदि न जाने ऐसे कितने थलचर, नभचर और जलचर जीव परमात्मा की इस सृष्टि में पाये जाते हैं जो मनुष्य से सैकड़ों गुना अधिक शक्ति रखते हैं। मछली जल में जीवन भर तैर सकती है, पक्षी दिन-दिन भर आकाश में उड़ते रहते हैं क्या मनुष्य इस विषय में उनकी तुलना कर सकता है ? परिश्रम-शीलता के सन्दर्भ में हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल, भैंस आदि उपयोगी तथा घरेलू जानवर जितना परिश्रम करते और उपयोगी सिद्ध होते हैं, उतना शायद मनुष्य नहीं हो सकता। जबकि इन पशुओं तथा मनुष्य के भोजन में बहुत बड़ा अन्तर होता है।

पशु-पक्षियों के समान स्वावलम्बी तथा शिल्पी तो मनुष्य हो ही नहीं सकता। पशु-पक्षी अपने जीवन तथा जीवनोपयोगी सामग्री के लिए किसी पर कभी भी निर्भर नहीं रहते। वे जंगलों, पर्वतों, गुफाओं तथा पानी में अपना आहार आप खोज लेते हैं। उन्हें न किसी पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता पड़ती है और न किसी संकेतक की। पशु-पक्षी स्वयं एक दूसरे पर भी इस सम्बन्ध में निर्भर नहीं रहते। अपनी रक्षा तथा आरोग्यता के उपाय भी बिना किसी से पूछे ही कर लिया करते हैं। जीवन के किसी भी क्षेत्र में पशु-पक्षियों जैसा स्वावलम्बन मनुष्य में कहाँ पाया जाता है। यहाँ तो मनुष्य एक दूसरे पर इतना निर्भर है कि यदि वे एक दूसरे की सहायता न करते रहें तो जीना ही कठिन हो जाये।

मनुष्य शिल्प, शिक्षा, अनुकरण तथा उपकरणों पर निर्भर रहता है। वह कोई भी वस्तु अथवा स्थान का निर्माण बिना किसी से सीखे, देखे अथवा औजारों के अभाव में नहीं कर सकता। जबकि पशु-पक्षी अपना निवास स्वयं अपनी अन्तःप्रेरणा से बना लिया करते हैं। न तो वे उसके लिए किसी के पास शिक्षा लेने जाते हैं और न उन्हें किसी उपकरणों की आवश्यकता होती है। लोमड़ी, बिलाव तथा श्रृंगालों आदि के निवास कक्ष देखते ही बनते हैं। वे अपनी मादों तथा विवरों में सब प्रकार की सुविधा का समावेश कर लेते हैं। पक्षियों के घोंसले तथा कोटर तो उनकी निर्माण कला के जीते-जागते नमूने ही होते हैं। वया का घोंसला, मधुमक्खी का छत्ता, मकड़ी का जाल तथा चींटी का विवर देखकर तो यही कहना पड़ता है कि परमात्मा

ने इन क्षुद्र समझे जाने वाले जीवों को गजब की निर्माण बुद्धि दी है। उनका वह सूक्ष्म शिल्प देखकर मनुय का मन ईर्ष्या कर उठता है।

पशु-पक्षी अपनी घ्राण तथा दृष्टि शक्ति से ऋतुओं तथा आपत्तियों का ज्ञान इतना शीघ्र सच्चा और यथार्थ रूप से कर लेते हैं कि मनुष्य के बनाये वैज्ञानिक बैरोमीटर आदि यन्त्र भी नहीं कर सकते। लोग पक्षियों एवं पशुओं की गतिविधियाँ देखकर ऋतु तथा संभाव्य के सम्बन्ध में बड़े-बड़े निर्णय कर लेते रहे हैं और उस सम्बन्ध में उन्हें कभी भी धोखा नहीं हुआ है। आजकल के प्रशिक्षित कुत्तों ने तो अपराधों की खोज में चतुर से चतुर जासूसों को मात दे दी है। पशु-पक्षी किसी भी ज्योतिषी से बढ़कर आकाश की गतिविधियों का अध्ययन कर लेते हैं उन्हें उनकी तरह किसी वेधशाला की आवश्यकता नहीं होती उनकी वेधशाला नासिका तथा आँखों में ही बनी हुई है। पशु-पक्षियों से अधिक मार्ग का ज्ञान मनुष्यों के लिए किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। एक स्थान के पक्षी को किसी भी स्थान पर ले जाकर क्यों न छोड़ दिया जाये वह बिना किसी भूल अथवा भ्रम के अपने स्थान पर लौट आयेगा। इसी विशेषता के कारण बहुत समय तक कबूतर तथा हंस आदि पक्षी पत्र-वाहक का उत्तरदायित्व निर्वाह करते रहे हैं।

वनस्पतियों का ज्ञान पशु-पक्षियों से अधिक एक आयुर्वेदाचार्य भी नहीं रखता। वे देखते अथवा सूँघते ही पहचान लेते हैं कि अमुक वनस्पति विषैली अथवा स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है, जबकि मनुष्य उन्हें बड़े-बड़े प्रयोगों के आधार पर ही पहचान पाता है। यदि ऐसा न हो तो बीहड़ जंगलों में, जहाँ हितकर तथा अहितकर वनस्पतियाँ एक दूसरे के पास ही नहीं एक दूसरे के निकट लिपट-चिपटकर आती हैं, वे अपनी गुजर कैसे कर सकें। शीघ्र ही अज्ञानवश कोई विषैली वनस्पति खाकर जीवन खोते रहते, जबकि न तो उनके लिए कोई मेडिकल कालिज ही खुले हैं और न कोई आयुर्वेदाचार्य उन्हें इस ज्ञान की शिक्षा देने जाता है। इस प्रकार इन साधारण बातों में देख सकते हैं कि पशु-पक्षी, बल, बुद्धि, विद्या, परिश्रम तथा शिल्प आदि में मनुष्यों से कहीं आगे हैं। तब इस आधार पर अपने को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानना कहाँ तक न्यायसंगत है।

कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भी मनुष्य, पशु-पक्षी की तुलना में कहाँ आते हैं। परमात्मा ने उन्हें जो भी थोड़ा-बहुत, बड़े-छोटे कर्तव्य सौंपे हैं उनका वे पूरी तरह से उत्साहपूर्वक निर्वाह करते हैं। वे नित्य नियम से प्रातःकाल जागते, अपनी-अपनी भाषा में परमात्मा का गुण-गान करते, दिनभर अपनी जीविका के लिये दौड़ते, घूमते तथा परिश्रम करते और संध्या समय नियत समय पर अपने-अपने निवासों पर लौट आते हैं। वे अपनी आजीविका आप तलाश करते हैं। न किसी की चीज पर निर्भर रहते और न चुराने का प्रयत्न करते हैं। प्रकृति के विशाल प्रांगण से अपना आहार चुग आते हैं। न तो संग्रह करने की कोशिश करते हैं और न कुछ चुराने अथवा छीन लाने की। हजारों पशु अपने नियत स्थान पर और न जाने कितने पक्षी एक ही पेड़, खेत अथवा मैदान में साथ-साथ खाते और मौज करते रहते हैं। न तो कोई किसी को भगाता है और न खाने से मना करता है। किसने कितना खाना खा लिंया इस ओर तो उनका कभी ध्यान ही नहीं आता। यदि एक जाति के पक्षियों के बीच विजातीय पक्षियों का झुण्ड आ जाता है तो वे उन्हें भी आहार करने का पूरा अवसर तथा स्वतन्त्रता देते हैं।

कभी भी देखा जा सकता है कि जब कोई पशु-पक्षी कहीं आहार का संग्रह देख लेता है तो चुपचाप चोर की तरह खाने नहीं लगता, वह सबसे पहले अपनी भाषा में अपने सहचरों को बुला लेता है और तब उसके साथ मिलकर खाया करता है। आप कभी भी किसी स्थान पर दाने डालकर देख सकते हैं कि जहाँ एक पक्षी ने देखा कि उसने दूसरों को पुकारना शुरू किया और थोड़ी ही देर में पंडुक, गौरैया, तोते आदि न जाने कितने पक्षी वहाँ पर जमा हो जायेंगे। लोग ब्न्दरों को चने अथवा गेहूँ डालते हैं। वहाँ एक बन्दर ने देखा नहीं कि उसने ऊह-ऊंह करके आवाज देना शुरू किया और क्षेत्र के सारे छोटे बड़े बन्दर आकर उसका लाभ उठाते हैं। खाते समय भी कोई सबल

कदाचित् ही किसी निर्बल को भगाता हो। नर एवं मादा का भी उनमें कोई अन्तर नहीं देखा जाता।

अपने नीड़ में सुरक्षित ही क्यों न बैठा हो किन्तु खतरा देखते ही कोई भी पक्षी तत्काल चीख-चीखकर सबको उस खतरे के प्रति सावधान कर देता है। कभी भी देखा जा सकता है कि किसी विशाल अथवा बाज को कोई ऐसा पक्षी देख ले जो उनकी आँखों से ओट में बैठा अथवा उनकी पहुँच से परे हो, और उनका खतरा किसी अन्य पक्षी को ही क्यों न हो तथापि यह विचार किये बिना कि बाज या बिलाव उसे देख लेगा, वह चीख-चीखकर अपने साथियों को सजग कर देता है। गिलहरी, बिल्ली को देखते ही किर-किर करती हुई तब तक पेड़ पर दौड़ती रहती है जब तक बिल्ली ही न भाग जाये अथवा सारी गिलहरियों के साथ पक्षी तक सजग एवं सतर्क नहीं हो जाते। किसी कारण से अभी लड़ चुकने पर भी पक्षी अथवा पशु खतरे से अपने उस द्वेषी को भी सावधान करने के अपने कर्तव्य से नहीं चूकता। पशु-पक्षी एक दूसरे को, खुजलाते, सहलाते, चाटते तथा रोमों को कीट बीनते कभी भी देखे जा सकते हैं। यह सब देखकर स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि सहायता, सहयोग तथा पारस्परिकता के आधार पर मनुष्य पशु-पक्षियों से किसी भी दशा में आगे नहीं है।

मज़बूरी के कारण हिंस्र जीवों को छोड़कर अन्य कोई भी पशु-पक्षी मनुष्य को कभी भी कोई क्षति नहीं पहुँचाता। बल्कि मनुष्य ही उल्टा अपने मनोरंजन के लिये पिंजड़ों में बन्दी कर लेता है, स्वाद के लिये मारकर खा जाता है। काम के लिये अपने अधीन बना लेता है। चमड़ा, हड्डी तथा चरबी के लिये उनका वध करता रहता है। मनुष्य पशु-पक्षियों को क्षुद्र तथा अपने से ही हीन मानता है किन्तु यह नहीं देखता कि पशु-पंक्षी उसे कितना क्षुद्र तथा अविश्वासी मानते हैं। जंगली हिरन गायों के बीच जा सकता है, भैंसों-बैलों तथा अन्य तृण जीवी पशुओं के बीच चर सकता है, उनके साथ उठ बैठ सकता है किन्तु मनुष्य की छाया से घृणा करता है, उसे देखते ही दूर भाग जाता है। एक पक्षी बैल के सींग पर बैठ सकता है, उसकी आँख, नाक में लगी चीजों की निर्भयता-पूर्वक अपनी चोंच से खा सकता है। शेर तक की पीठ पर बैठकर उसके रोओं के कीटाणु चुन सकता है किन्तु मनुष्य पर भूलकर भी विश्वास नहीं करता। दूर से ही इस अपने को दिव्य प्राणी कहने वाले को देखकर 'फुर' से उड़ जाते हैं। इस तुलना में तो सच पूछा जाय तो मनुष्य पशु-पक्षियों से गया बीता ही है।

कृतज्ञता तथा वफादारी में मनुष्य पशु-पक्षियों की तुलना ही नहीं कर सकता। आप किसी कुत्ते के बच्चे को पालिये, उसका प्रेमपूर्वक पालन कीजिये तो वह होश सँभालते ही रात-रात भर आपके घर की चौकसी करता रहेगा। जरा-सा खटका होते भूँक-भूँककर आपको सजग कर देगा। आपत्ति के समय प्राण देकर भी आपकी रक्षा करेगा। आपके आक्रमणकारी पर आपसे पहले ही जा पहुँचेगा। फिर भी इसके लिए वह आप पर कोई एहसान न दिखालायेगा आपसे कोई विशेष सुविधा अथवा अच्छा भोजन न माँगेगा। आप जो कुछ जूठा, सीठा, ताजा, वासी दे देंगे, खाकर सन्तुष्ट रहेगा और कृतज्ञता पूर्वक आपके चारों ओर दुम हिलाता घूमेगा, आपके पैरों में प्रेम से लिपटेगा। न जाने कितने चेतक आदि स्वामी भक्त घोड़ों और हाथियों ने अपने पालनकर्ता की जान बचाने में अपनी जान गँवा दी है और आज भी गँवा देते होंगे। कितने मनुष्यों के ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिन्होंने अपने उपकारी पशु के लिए खतरा झेल लिया हो, उसकी रक्षा में जान खोई अथवा क्षति उठाई हो। इन सब बातों के होते हुए भी यदि मनुष्य अपने आपको पशु-पक्षियों से ऊँचा और सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानता है तो यह उसका दम्भ ही कहा जायेगा।

हाँ, मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी तब माना जा सकता है जब वह इन पशु-पक्षियों की विशेषताओं तथा गुणों से आगे, बहुत आगे निकल जाये। उसमें इतने प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा तथा उदारता एवं सम्वेदना का विकास हो जाये कि परस्पर संघर्ष तथा सहयोग, द्वेष, ईर्ष्या आदि के विचार तो दूर ही हो जायें साथ ही संसार के अन्य पशु-पक्षियों तक पर भी

उसका प्रभाव पड़े। वे मनुष्य को देखते ही प्रेम-विभोर होकर अपनी-अपनी बोली में 'हमारा जेष्ठ एवं श्रेष्ठ आ गया" कहते हुए उसका स्वागत करने लगें और चारों ओर घेरकर स्नेह तथा श्रद्धा व्यक्त करने लगें। अभी वह दिन दूर है जब मनुष्य अपने को संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाने के योग्य सिद्ध होगा।

मनुष्य अपनी तुच्छता भी जाने

भगवान कृष्ण ने मोहित-चित्त अर्जुन को उपदेश देना प्रारम्भ किया। एक-एक आध्यात्मिक तत्व की विशद और गूढ़ विवेचना को उन्होंने संसार की नश्वरता, अनाशक्ति, ज्ञान, अज्ञान, श्रद्धा, संकल्प, विचार, विवेक, तप, साधना, राग, वैराग्य, निष्काम कर्मयोग और आत्मा-परमात्मा की प्रमाण युक्त विवेचना करने पर भी अर्जुन का मोह-भाव समाप्त न हुआ, आसक्ति न गई, अहंकार न मिटा, तो भगवान को अपना अन्तिम अस्त्र उठाना पड़ा। अपने विराट् रूप का प्रदर्शन किया भगवान ने। उनके विकराल-रूप का दर्शन कर अर्जुन काँपने लगा। उसने आश्चर्य से देखा—वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्रमा सब उसी विराट के नन्हें-नन्हें टुकड़े हैं। सारा संसार उन्हीं में समाया हुआ है। उनके भय से मृत्यु काँपती है ग्रह-नक्षत्र एक स्थान पर रुकने से भय खाते हैं, दिक्पाल उनकी स्तुति करते हैं, उनका काल-उदर सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों को भक्षण करता चला जा रहा है। एक तिनका भी उनकी मर्जी के बिना हिलने-डुलने तक में असमर्थ है।

परमात्मा के विराट् रूप का दर्शन करने पर अर्जुन को अपनी लघुता का ज्ञान हुआ। उसने समझ लिया यह संसार पंचतत्वों के निर्माण और विनाश का खेल मात्र है, बादलों से बनते हुए विविध चित्रों के समान इस संसार का भी रूप परिवर्तित होता रहता है। शरीर, सुख, भोग, तृष्णायें, आकाँक्षायें सब तुच्छ और क्षणिक हैं। सत्य तो केवल परमात्मा है। उसकी अभिन्न सत्ता होने के नाते आत्मा भी चिरनन्त, अजर, अमर, अक्षर और अविनाशी है। उसे ही जानने का प्रयत्न करना चाहिए। जो बात भगवान कृष्ण के उपदेश से अर्जुन की समझ में नहीं आई उसे परमात्मा के विश्व-रूप ने उसे समझा दिया। विशाल ब्रह्माण्ड के साथ अपनी तुलना करने पर अपनी लघुता का, शारीरिक नश्वरता का, पार्थिव सुखों की अनित्यता का बोध हो जाता है। मनुष्य को अपने जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

रामायण में भी ऐसा ही एक प्रसंग आता है। वह घटना काकभुसुण्डि के संमोह की है। तब भगवान राम ने अपने विराट् रूप की झाँकी दी थी। परमात्मा के उदर में ही अगणित विशालकाय ब्रह्माण्डों को, उनमें स्थित नदी, पहाड़, समुद्र आदि को देखकर ही उन्हें अनुमान हुआ था कि मनुष्य कितना असमर्थ, अशक्त और छोटा-सा जीव है उसमें यदि कुछ शक्ति विशेषता और अमरता है तो वह उसके प्राण, मन और आत्मा के कारण ही है। उनमें कुछ प्राणियों से भिन्न विशेषतायें न रही होतीं तो इस विराट-विश्व में उसका अस्तित्व कीड़े-मकोड़ों, भुनगों, मक्खियों, मच्छरों जैसा ही रहा होता। करोड़ों मन की तुलना में जो स्थान एक रत्ती का हो सकता है, विश्व की तुलना में मनुष्य उससे भी करोड़ों गुना छोटा ही है।

अर्जुन और काकभुसुण्डि की तरह कौशिल्या और यशोदा ने भी भगवान के उस स्वरूप का दर्शन पाया है ऐसी कथायें रामायण, भागवत, आदि में आती हैं। इन कथानकों द्वारा मनुष्य के वास्तविक रूप का दिग्दर्शन कराने का कवियों, शास्त्रकारों ने बड़ा ही कलापूर्ण सच्चा और उद्देश्यपूर्ण विवेचन किया है। इससे उनकी बुद्धि की सूक्ष्म ग्रहणशीलता का ही पता चलता है। पर यह घटना केवल इन्हीं दो-चार व्यक्तियों के साथ घटित हुई हो, अन्यों को ईश्वर के इस विराट रूप के दर्शन न हुये हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस विराट ब्रह्माण्ड की झाँकी हर क्षण, प्रत्येक मनुष्य को होती रहती है किन्तु वह बाह्य जगत में, भौतिकता में, कामनाओं, तृष्णाओं और भोग

विलास में इस तरह ग्रस्त है कि अर्जुन, काकभुसुण्डि, नारद, गरुड़, यशोदा और कौशिल्या की तरह उनकी विवेक वाली आँख खुलती नहीं। लोग देखकर भी अनदेखी करते हैं। विराट् स्वरूप पर चिन्तन, मनन और उसके प्रभाव आदि पर कुछ भी ध्यान न देकर केवल भोगों की काम-क्रीड़ा में लगे रहते हैं।

यह धरती इतनी बड़ी है कि यदि कोई इस पर चलना प्रारम्भ करे तो सम्भवतः जीवन समाप्त हो जाय और वह इसका ओर-छोर न पा सके। यह पृथ्वी विराट सौर-मण्डल का एक अंश मानी गई है। सौर-मण्डल के दो खरब नक्षत्रों में अकेला सूर्य ही पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा है, 'अण्टलारि' तारे के सम्बन्ध में कहा जाता है उसमें २१००० लाख पृथ्वियाँ समा जाएँ फिर भी काफी जगह बाकी बची रहे। शुक्र में लोगों ने जीवन होने की कल्पना की है। मंगल ग्रह की यात्रा की तैयारियाँ रूस और अमरीका में चल रही हैं, इस यात्रा में चन्द्रमा एक स्टेशन के रूप में प्रयुक्त होगा। यह पृथ्वी के आस-पास के ग्रहों का एक छोटा-सा रूप है। इससे भी विशद विश्व अन्यत्र विद्यमान है, जिसकी कल्पना भी मनुष्य के वश की बात नहीं है।

मनुष्य की आँखों में जो लेन्स लगा है उसकी शक्ति इतनी बड़ी नहीं कि आकाश में दिखाई देने वाले प्रत्येक नक्षत्र को उतना ही बड़ा देख सके, जितने बड़े वे हैं। उनका बिलकुल छोटा-सा रूप इस पृथ्वी पर दिखाई देता है किन्तु बुद्धि बल और गणित के द्वारा जो आँकड़े प्राप्त होते हैं उनसे इन नक्षत्रों के पूरे परिमाण का पता चलता है। एक-एक ग्रह-नक्षत्र इतना बड़ा है कि इनकी नाप, तौल, दूरी, लम्बाई और चौड़ाई जानना तो कठिन ही है। इस दिशा में वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किये और 'त्रिकोण पद्धति" द्वारा पदार्थों की दूरी निकालना आसान हो गया। पर अमल में यह सिद्धान्त भी कठिन निकला। चन्द्रमा की दूरी निकालनी हो तो चार हजार मील की आधार रेखा चाहिये, तारों की दूरी के पड़ताल करने के लिये साढ़े अठारह करोड़ मील की आधार रेखा की जरूरत पड़ेगी जो इस धरती में किसी तरह भी सम्भव न होगी। पृथ्वी जिस कक्ष में सूर्य की परिक्रमा करती है उसके आमने-सामने के दो बिन्दुओं की दूरी अठारह करोड़ मील होती है। इन दूरियों के औसत आदि निकालकर विभिन्न शक्तियों की दुरबीनों और खगोल यन्त्रों द्वारा यह कठिनाई दूर कर ली गई है किन्तु यह दूरियाँ इतनी बड़ी हैं कि उनको अंकित करने के लिये गिनती भी थक जाय। बताया जाता है कि सूर्य के बाद जो दूसरा तारा पृथ्वी से सबसे नजदीक है उसकी दूरी २,५०,०००००००००० मील दूर है। इससे आगे के नक्षत्रों की दूरी निकालनी हो तो असंख्य शून्य लगते चले जायेंगे पर यह समस्या फिर भी हल न होगी।

आकाश गंगा में जितने ग्रह, नक्षत्र और नीहारिकायें अपना स्थान घेरे हुये हैं वह सिर्फ १ प्रतिशत स्थान में हैं शेष ९९ प्रतिशत स्थान शून्य है और साधारणतया एक तारे से दूसरे की दूरी कम से कम २,५०,०००००००००० मील होती है। इनमें से कई नक्षत्र जोड़ी बनाकर, कई ५-५ ६-६ के गुच्छकों में रहते हैं और सम्मिलित परिभ्रमण करते हैं। एक ऐसे "काले तारे" की खोज हुई है जिसका व्यास २,३०,००००००० मील बताया जाता है। यह सूर्य से भी २० गुना बड़ा है।

इन आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्रों के जीवन पर दृष्टि दौड़ाते हैं तो बुद्धि लड़खड़ाने लगती है। उसकी विशालता का अनुमान तक करने की शक्ति नहीं रह जाती है। भारतीय अध्यात्म ग्रन्थों में जो ब्रह्माण्ड का उल्लेख मिलता है वह और भी अधिक विस्मय पैदा करने वाला है। शास्त्रों के अनुसार सूर्य अपने उपग्रहों को लेकर कृतिका की ओर बढ़ रहा है, 'कृतिका' इसी तरह अभिजित की ओर, इस तरह यह विशाल ब्रह्माण्ड व्यापी प्रक्रिया चल रही है जिसकी कल्पना अर्जुन व काकभुसुण्डि की तरह ही डरा देने वाली है। मनुष्य का मन इन विलक्षणताओं को देखकर विस्मय से भर जाता है। तब उसे ज्ञान होता है कि वह सृष्टि की तुलना में कितना छोटा है, तुच्छ है।

जितना विलक्षण यह संसार है, मनुष्य उससे कम नहीं है। पर उसकी सारी विशेषता आत्म-तत्व के कारण ही है। शरीर की दृष्टि से तो वह बिलकुल तुच्छ, दीन-हीन और पतित है। शक्ति का स्वरूप उसकी आत्मा है, इसे ही जानने का प्रयत्न करना चाहिये। इसकी सत्यता का अनुमान अपनी तुलना इस विराट जगत के साथ करने में सहज ही हो जाता है।

ईश्वर विश्वास से ही सदाचार सम्भव है

प्रत्येक प्राणी के हृदय में एक आकांक्षा यह पाई जाती है कि वह दुःख और सत्यं से बचा रहे। अगर विचारपूर्वक देखा जाय तो आज तक मनुष्य ने जित्ने प्रयत्न किये हैं उन सबका उद्देश्य इन्हीं दो बातों की पूर्ति करना था। मनुष्य ने समाज की रचना ही इसलिये की कि एक दूसरे के सहयोग से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक उत्तम ढंग से होने लगे और बड़े समुदाय बनाकर रहने से आपत्तियों और संकटों का सामना अच्छी तरह किया जा सके। नगर और ग्रामों का निर्माण, शासन व्यवस्था, फौज और पुलिस का संगठन, चिकित्सालय, न्यायालय, आदि का कायम करना सभी कार्यों का उद्देश्य यही होता है कि मनुष्य के कष्टों, अभावों को दूर किया जा सके। पर यह सब होने पर भी आज हम देख रहे हैं कि मनुष्यों के दुःखों और मृत्यु में विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर वेद में कहा गया है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसस्पुरतात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थः विद्यतेऽयनाय।।

इसका आशय यह है कि "मनुष्य को उचित है कि वह उस महान ज्योतिस्वरूप तथा अन्धकार रहित ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करे, जिसके जानने से ही वह मृत्यु से बच सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय इससे बचने का नहीं है।" इस पर बहुत से लोग यह तर्क करते हैं कि हम ईश्वर को जानने की कोशिश क्यों करें ? क्या उसके बिना हमारा जीवन सुखी नहीं बन सकता ? क्या जो लोग ईश्वर को नहीं मानते वे आनन्द के साथ नहीं रहते ? हमको तो दुनियाँ में प्रायः यह दिखलाई पड़ता है कि गुण्डे, बदमाश इच्छानुकूल ढंग से पापकर्म करते हुये मस्त रहते हैं, मृत्यु की भी बहुत कम परवाह करते हैं और पापों से डरने वाले प्रायः गरीबी और अभावों में जीवन बिताते हैं। इस प्रकार की शंकायें उठाकर ये लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मनुष्य को यथा-सम्भव इसी प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि "हम क्या करें, कैसे करें ?" इसके बजाय जो लोग विचार करते हैं कि 'मैं कौन हूँ" "ईश्वर क्या है, कहाँ है, कैसा है ?" वे अपना समय व्यर्थ गवाते हैं।

पर जब हम गम्भीरतार्वूक विचार करते हैं तो हमको स्पष्ट मालूम होता है कि जब तक हम इस प्रश्न को न समझे लेंगे कि "हम कौन हैं, तब तक दूसरे का कि "हमको क्या करना चाहिये" समाधान ही हो नहीं सकता। मनुष्य ने अपने सुख के लिए जो विभिन्न व्यवस्थायें बनाई हैं वे ठीक भी हों तो भी जब तक हम आस्तिक बनकर और ईश्वर में विश्वास रखकर कार्य न करें तब तक न तो दुःखों से छुटकारा मिल सकता है, न शांति प्राप्त हो सकती है। इस सम्बन्ध में आस्तिकता की विवेचना करते हुए एक विद्वान ने लिखा है—

"ईश्वर का विश्वास मनुष्य को उस समय सत्यमार्ग पर दृढ़ होने के लिए बल देता है जब संसार के अनेक प्रलोभन और भय उसे झूँठ बोलने की प्रेरणा करते हैं। ईश्वर विश्वासी मनुष्य फाँसी पाने से भी नहीं डरता और हर्षपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता है, क्योंकि वह समझता है कि मृत्यु के समय भी ईश्वर का करुणामय हाथ उसके ऊपर रहेगा। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को सच्ची क्षमा सिखाता है। ईश्वर विश्वास मनुष्य को दम, शम तथा इन्द्रिय निग्रह के अभ्यास में सहायता देता है। ईश्वर

विश्वास उसे पापाचरण से रोकता है। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो ईश्वर विश्वास एक ऐसा पारसमणि है जिसको छूने से मनुष्य का जीवन कुछ का कुछ बन जाता है।

"लोग कहेंगे कि क्या बिना ईश्वर विश्वास के हम इन गुणों को धारण नहीं कर सकते? मैं कहता हूँ "नहीं, कदापि नहीं।" हमको इतिहास और जीवन चरित्रों का जो ज्ञान है उससे यह बात सिद्ध नहीं होती। सच्ची बात यह है कि सृष्टि के आदि से अब तक ईश्वर विश्वास किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा है। इसी के आधार पर लोगों ने आचार शास्त्र की नींव रक्खी है और इसी के आश्रय से वे नियम संसार के वायुमंडल में व्याप्त हो रहे हैं। उनका येनकेन प्रकारेण प्रत्येक मनुष्य के ऊपर प्रभाव है। इसलिए यदि कोई मनुष्य ईश्वर पर विश्वास नहीं भी करता, तो भी ये नियम उसे एक सीमा तक सदाचार के नियमों का उल्लंघन नहीं करने देते और इस प्रकार पाप एक सीमा से बाहर जाने नहीं पाता। अब यदि नास्तिक लोग ऐसे स्थान पर पहुँच सकें जहाँ ईश्वर विश्वास का लवलेश भी नहीं है और वह अपने पुराने संस्कारों को पूरी तरह से धो डालें, तब शायद इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि ईश्वर विश्वास के बिना मनुष्य सदाचारी रह सकता है या नहीं ? परन्तु यह कैसे होगा ?

सदाचार का अर्थ प्रायः यही लिया जाता है कि मनुष्य झूँठ न बोले, किसी को कष्ट न दे, चोरी न करे आदि। थोड़ी देर के लिए हम यह मान भी लें कि केवल सामाजिक आवश्यकताओं से मनुष्य को इन नियमों के पालन की प्रेरणा मिल सकती है परन्तु वह प्रेरणा आयेगी तो बाहर से ही और इस सदाचार की एक सीमा भी होगी जो अधिक विस्तृत नहीं हो सकती। पर यदि सदाचार के लिये आत्म-शान्ति भी आवश्यक है तो उसकी प्राप्ति ऊपरी बातों से न होगी। जिसे हम परम सुख या परमानन्द कहते हैं उससे मनुष्य उस समय तक वंचित ही रहेगा, जब तक अपने भीतर एक महती सत्ता का प्रकाश नहीं देखता। चेतन मनुष्य जड़ वस्तुओं द्वारा केवल शारीरिक दुःखों से बच सकता है और शारीरिक सुखों की ही प्राप्ति कर सकता है। परन्तु हम भली प्रकार जानते हैं कि शारीरिक सुख कितने क्षण-भंगुर हैं। अधिकांश भोगों के विषय में तो यह दिखलाई पड़ता है कि उनसे हमारी तृप्ति होने के बजाय उनकी अग्नि दिन पर दिन प्रचण्ड होती जाती है और जिसे मनुष्य सुख समझकर करता है वह दो दिन बाद जी का जंजाल बन जाता है। वास्तव में देखा जाय तो बाहरी सुख हमारी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं। भूख लगे तो खाना खा लो, जिससे शरीर काम करने योग्य बना रहे। परन्तु जिस मनुष्य ने खाने को ही जीवन का मुख्य सुख और उद्देश्य बना दिया हो तो उसे खाने से बहुत जल्दी रोगी बनकर कष्ट भोगना पड़ता है।"

सारांश यही है कि जिन लोगों ने कभी आत्मा की तरफ ध्यान नहीं दिया और शरीर को ही सब-कुछ समझकर इसी के पालन पोषण में लगे रहे, वे ईश्वर की बात को नहीं समझ सके और न उनको ईश्वर के मानने में किसी प्रकार का लाभ दिखलाई पड़ता। पर सच पूछा जाय तो उनका जीवन पशुओं से कुछ भी अच्छा नहीं कहा जा सकता। खाना, पीना, सोना, विषय-भोग के लिए पशु भी प्रयत्नशील रहते हैं और अनेकों अमीरों के यहाँ पाले हुये पशुओं की अपेक्षा भी उत्तम भोज्य सामग्री प्राप्त हो जाती है। राजा-रईसों के प्रिय घोड़ों को दूध, मलाई, वादाम, मक्खन, जलेबी आदि नित्य खिलाये जाते हैं। विलायती कुत्तों को गर्मी से बचने के लिए खस की टट्टी और बिजली के पंखे लगाये जाते हैं। पर इन सब बातों के आधार पर उनको सुखी या श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। श्रेष्ठता का चिन्ह तो ज्ञान ही है और ज्ञान उसी को कहा जा सकता है जिसके द्वारा मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप और कर्तव्य को पहिचाने। पर यह बात तभी हो सकती है जब मनुष्य इस विश्व के मूल स्रोत परमात्मा की तरफ ध्यान दे। इसी से मानव-जीवन की सफलता की प्राप्ति हो सकती है।

ईश्वर है या नहीं ?

नास्तिकवाद का कथन यह है कि—"इस संसार में ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं। क्योंकि उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष उपकरणों से सिद्ध नहीं होता।" अनीश्वरवादियों की मान्यता है कि जो कुछ प्रत्यक्ष है, जो कुछ विज्ञान-सम्मत है केवल वही सत्य है। चूँकि वैज्ञानिक आधार पर ईश्वर की सत्ता का प्रमाण नहीं मिलता इसलिए उसे क्यों मानें ?

इस प्रतिपादन पर विचार करते हुए हमें यह सोचना होगा कि अब तक जितना वैज्ञानिक विकास हुआ है क्या वह पूर्ण है ? क्या उसने सृष्टि के समस्त रहस्यों का पता लगा लिया है ? यदि विज्ञान को पूर्णता प्राप्त हो गई होती तो शोध कार्यों में दिन-रात माथापच्ची करने की वैज्ञानिकों को क्या आवश्यकता रह गई होती ?

सच बात यह है कि विज्ञान का अभी अत्यल्प विकास हुआ है। उसे अभी बहुत कुछ जानना बाकी है। कुछ समय पहले तक भाप, बिजली, पेट्रोल, एटम, ईथर आदि की शक्तियों को कौन जानता था, पर जैसे-जैसे विज्ञान में प्रौढ़ता आती गई यह शक्तियाँ खोज निकाली गईं। यह जड़ जगत् की खोज हैं। चेतन जगत् सम्बन्धी खोज तो अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। बाह्य मन और अन्तर्मन की गति-विधियों को शोध से ही अभी आगे बढ़ सकना सम्भव नहीं है। यदि हम अधीर न हों तो आगे चलकर जब चेतन जगत् के मूल-तत्वों पर विचार कर सकने की क्षमता मिलेगी तो आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व भी प्रमाणित होगा। ईश्वर अप्रमाणित नहीं है। हमारे साधन ही स्वल्प हैं जिनके आधार पर अभी उस तत्व का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं हो पा रहा है।

पचास वर्ष पूर्व जब साम्यवादी विचारधारा का जन्म हुआ था तब वैज्ञानिक विकास बहुत स्वल्प मात्रा में हो पाया था। उन दिनों सृष्टि के अन्तराल में काम करने वाली चेतना सत्ता का प्रमाण पा सकना अविकसित विज्ञान के लिए कठिन था। पर अब तो बादल बहुत कुछ साफ हो गये हैं। वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ मनीषियों के लिए चेतन-सत्ता का प्रतिपादन कुछ कठिन नहीं रहा है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता ऐसी संभावना प्रकट करने लगे हैं कि निकट भविष्य में ईश्वर का अस्तित्व वैज्ञानिक आधार पर भी प्रमाणित हो सकेगा। जो आधार विज्ञान को अभी प्राप्त हो सके हैं वे अपनी अपूर्णता के कारण आज ईश्वर का प्रतिपादन कर सकने में समर्थ भले ही न हों पर उनकी सम्भावना से इन्कार कर सकना उनके लिए भी शक्य नहीं है।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक रिचार्डसन ने लिखा है—"विश्व की अगणित समस्यायें तथा मानव की मानसिक प्रतिक्रियाएँ वैज्ञानिक साधनों, गणित तथा यन्त्रों के आधार पर हल नहीं होतीं। भौतिक विज्ञान से बाहर भी एक अत्यन्त विशाल दुरूह अज्ञात क्षेत्र रह जाता है जिसे खोजने के लिए कोई दूसरा साधन प्रयुक्त करना पड़ेगा। भले ही उसे अध्यात्म कहा जाय या कुछ और।"

वैज्ञानिक मैकब्राइट का कथन है—इस विश्व के परोक्ष में किसी ऐसी सत्ता के होने की पूरी सम्भावना है जो ज्ञान और इच्छायुक्त हो। विज्ञान की वर्तमान इस मान्यता को बदलने के लिए हमें जल्दी ही बाध्य होना पड़ेगा कि—"विश्व की गतिविधि अनियंत्रित और अनिश्चित रूप से स्वयमेव चल रही है।"

विज्ञानवेत्ता डा. मोर्डेल ने लिखा है—"विभिन्न धर्म, सम्प्रदायों में ईश्वर का जैसा चित्रण किया गया है, वैसा तो विज्ञान नहीं मानता। पर ऐसी सम्भावना अवश्य है कि अणु-जगत् के पीछे कोई चिंतन शक्ति काम कर रही है। अणु-शक्ति के पीछे उसे चलाने वाली एक प्रेरणा शक्ति का अस्तित्व प्रतीत होता है। इस सम्भावना के सत्य सिद्ध होने से ईश्वर का अस्तित्व भी प्रमाणित हो सकता है।

विख्यात विज्ञानी इंगोल्ड का कथन है कि—"जो चेतना इस सृष्टि में काम कर रही है उसका वास्तविक स्वरूप समझने में अभी हम असमर्थ हैं। इस सम्बन्ध में हमारी वर्तमान मान्यताएँ अधूरी, अप्रामाणिक और असन्तोष-जनक हैं। अचेतन अणुओं के अमुक प्रकार मिश्रण से चेतन प्राणियों में काम करने वाली चेतना उत्पन्न हो जाती है यह मान्यता संदेहास्पद ही रहेगी।"

विज्ञान अब धीरे-धीरे ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने की स्थिति में पहुँचता जा रहा है। जान स्टुअर्ट मिल का कथन सचाई के बहुत निकट है कि—"विश्व की रचना में प्रयुक्त हुई नियमबद्धता और बुद्धिमत्ता को देखते हुए ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जा सकती है।" कान्ट, मिल, हेल्स, होल्टज, लॉग, हक्सले, कम्टे आदि वैज्ञानिकों ने ईश्वर की असिद्धि के बारे में जो कुछ लिखा है वह अब बहुत पुराना हो गया, उनकी वे युक्तियाँ जिनके आधार पर ईश्वर का खण्डन किया जाया करता था अब असामयिक होती जाती हैं। डा. पिलन्ट ने अपनी पुस्तक 'थीइज्म' में इन युक्तियों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण में ही खण्डन करके रख दिया है।

भौतिक विज्ञान का विकास आज आशाजनक मात्रा में हो चुका है। यदि विज्ञान की यह मान्यता सत्य होती कि—"अमुक प्रकार के अणुओं के अमुक मात्रा में मिलने से चेतना उत्पन्न होती है।" तो उसे प्रयोग-शालाओं में प्रमाणित किया गया होता। कोई कृत्रिम चेतन प्राणी अवश्य पैदा कर लिया गया होता अथवा मृत शरीरों को जीवित कर लिया गया होता। यदि वस्तुतः अणुओं के सम्मिश्रण पर ही चेतना का आधार रहा होता तो मृत्यु पर नियन्त्रण करना मनुष्य के वश से बाहर की बात न होती। शरीरों में अमुक प्रकार के अणुओं का प्रवेश कर देना तो विज्ञान के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। यदि नया शरीर न भी बन सके तो जीवित शरीरों को मरने से बचा सकना तो अणु विशेषज्ञों के लिए सरल होना ही चाहिए था ?

विज्ञान का क्रमिक विकास हो रहा है। उसे अपनी मान्यताओं को समय-समय पर बदलना पड़ता है। कुछ दिन पहले तक वैज्ञानिक लोग पृथ्वी की आयु केवल सात लाख वर्ष मानते थे और भारतीय ज्योर्तिविदों की उस उक्ति का उपहास उड़ाते थे जिसके अनुसार पृथ्वी की आयु एक अरब ६७ करोड़ वर्ष मानी गई है। अब रेडियम धातु तथा यूरेनियम नामक पदार्थ के आधार पर जो शोध हुई है उससे पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष सिद्ध हो रही है और वैज्ञानिकों को अपनी पूर्व मान्यताओं को बदलना पड़ रहा है।

विज्ञान ने सृष्टि के कुछ क्रिया-कलापों का पता लगा लिया है। क्या हो रहा है इसकी कुछ जानकारी उन्हें मिली है। पर कैसे हो रहा है ? यह रहस्य अभी भी अज्ञात बना हुआ है। प्रकृति के कुछ परमाणुओं के मिलने से प्रोटोप्लाज्म-जीवन तत्व बनता ही है, पर इस बनने के पीछे कौन नियम काम करते हैं इसका पता नहीं चल पा रहा है। इस असमर्थता की खोज को यह कहकर आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि—इस संसार में चेतन सत्ता कुछ नहीं है।

जार्ज डार्विन ने कहा है—"जीवन की पहेली आज भी उतनी ही रहस्यम है जितनी पहले कभी थी।" प्रोफेसर जे. ए. टामसन ने लिखा है—"हमें यह नहीं मालूम कि मनुष्य कहाँ से आया ? कैसे आया ? और क्यों आया ? और क्यों गया ? इसके प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं होते और न यह आशा ही है कि विज्ञान इस सम्बन्ध में किसी निश्चयात्मक परिणाम पर पहुँच सकेगा।"

"आन दी नेचर, आफ दी फिजीकल वर्ल्ड" नामक ग्रन्थ में वैज्ञानिक एडिंगटन ने लिखा है—"हम इस भौतिक जगत से परे किसी सत्ता के बारे में ठीक तरह कुछ जान नहीं पाये हैं पर इतना अवश्य है कि इस जगत् से बाहर भी कोई अज्ञात सत्ता कुछ रहस्यमय कार्य करती रहती है।"

विज्ञानवादी इतना कह सकते हैं कि जो स्वल्प साधन अभी उन्हें प्राप्त हैं उनके आधार पर ईश्वर की सत्ता का परिचय वे प्राप्त नहीं कर सके पर इतना तो उन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है कि जितना जाना जा सकता है उससे असंख्य गुना रहस्य अभी छिपा पड़ा है। उसी रहस्य में एक ईश्वर की सत्ता भी है। नवीनतम वैज्ञानिक उसकी सम्भावना स्वीकार करते हैं। वह दिन भी दूर नहीं जब उन्हें उस रहस्य के उद्घाटन का अवसर भी मिलेगा। अध्यात्म भी विज्ञान का ही अंग है और उसके आधार पर आत्मा-परमात्मा तथा अन्य अनेकों अज्ञात व्यक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकना भी सम्भव होगा।

ईश्वर दिखाई नहीं देता इसलिए उसे न माना जाय यह कोई युक्ति नहीं है। अनेकों

वस्तुएँ ऐसी हैं जो आँख से नहीं दिखतीं फिर भी उन्हें आधारों से अनुभव करते और मानते हैं। कोई वस्तु बहुत दूर होने से दिखाई नहीं पड़ती, पक्षी जब आकाश में बहुत ऊँचा उड़ जाता है तो दीखता नहीं। कोई वस्तु नेत्रों के बहुत समीप हो तो भी वह नहीं दीखती। अपने पलक या आँखों में लगा हुआ काजल अपने को कहाँ दीखता है ? यह नेत्र न हों, कोई व्यक्ति अन्धा हो तो भी उसे वस्तुएँ नहीं दीखेंगी, इसका अर्थ यह नहीं कि वे वस्तुएँ हैं ही नहीं। चित्त उद्विग्न हो, मन कहीं दूसरी जगह पड़ा हो, किसी समस्या के चिन्तन में लगा हो तो आँख के आगे से कोई चीज गुजर जाने पर भी वह दिखाई नहीं देती। बहुत सूक्ष्म वस्तुएँ भी कहाँ दिखाई देती हैं ? परमाणु या रोग कीटाणु बिना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के दीखते नहीं। किसी पर्दे की आड़ में रखी हुई, जमीन में गढ़ी हुई वस्तुओं को भी आँख कहाँ देख पाती है ? सूर्य के प्रकाश के कारण दिन में तारे नहीं दीखते। पानी में नमक घुल जाता है तो फिर नमक दीखता नहीं, फिर भी पानी में उसका अस्तित्व तो रहता ही है।

जो वस्तु दिखाई न दे वह है ही नहीं यह मान्यता किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराई जा सकती। केवल आँखें ही किसी वस्तु के अस्तित्व को प्रमाणित करने का एकमात्र साधन नहीं हैं।

ईश्वर के अस्तित्व से केवल इस कारण इन्कार करना कि वह इस आज के अविकसित विज्ञान या बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, कोई ठोस कारण नहीं है। प्रत्यक्ष के आधार पर तो यह भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि हमारा पिता वस्तुतः कौन है। माता की साक्षी को ही इसके लिये पर्याप्त प्रमाण मान लिया जाता है। मानव-जीवन की अनेकों महत्वपूर्ण अवस्थायें उस विज्ञान के आधार पर निर्भर हैं जिसे अध्यात्म विज्ञान कहते हैं। पदार्थ विज्ञान से नहीं, अध्यात्म-विज्ञान से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

ईश्वर का अवलम्बन करके ही मानव-जाति की अब तक की प्रगति सम्भव हुई है। प्रेम, करुणा, उदारता, दान, संयम, सदाचार, पुण्य, परमार्थ जैसे सद्‌गुणों का विकास आस्तिकता के आधार पर ही सम्भव हो सका है और इन्हीं गुणों के द्वारा सामाजिकता की प्रवृत्ति बढ़ी है। यदि इस महान् आदर्श का परित्याग कर दिया जाय तो व्यक्ति का आन्तरिक स्तर इस प्रकार का ही बनेगा जिससे द्वेष, घृणा, संघर्ष और आतंक का मार्ग अपनाने के लिए मन चलने लगे। हमारे पड़ौसी देश चीन का उदाहरण सामने है। वहाँ की जनता का कैसा नृशंस उत्पीड़न साम्यवादी सरकार ने किया है, पड़ौसी देशों के साथ कैसी आक्रमणात्मक नीति अपनाई है, आदर्शवाद से नितान्त पतित छल-छिद्र भरी कूट-नीति का सहारा लिया है। प्रचार में कितना सफेद झूँठ अपनाया है, यह किसी से छिपा नहीं है। आदर्शवादिता का ही दूसरा नाम आस्तिकता है। जो आस्तिकता छोड़ चुका उसके लिये छल, असत्य, आक्रमण, उत्पीड़न आदि नाम की भी कोई वस्तु नहीं रह जाती। पार्टी की नीति ही उसके लिये सब कुछ है भले ही वह कितनी गलत क्यों न हो। नैतिक प्रवृत्तियों से रहित विचारधारा कितनी भयावह होती है, इसका अनुभव पग-पग पर होता रहता है। नैतिकता का बाँध आस्तिकता की चट्टानों से ही बनता है। यदि वह बाँध तोड़ दिया गया तो फिर व्यक्ति या सरकार अपनी-अपनी सनकें पूरी करने के लिये कुछ कर गुजरेंगे और शान्तिप्रिय लोगों के लिये जीवन धारण कर सकना भी एक समस्या बन जायेगा।

आस्तिकता मानव जीवन की आधारशिला है, उसका परित्याग करना एक प्रकार से नैतिकता की व्यवस्था को ही चौपट कर डालने जैसी विपत्ति खड़ी करना होगा। मानव-जाति के भविष्य को खतरे में डालने वाली इस विभीषिका से हम जितनी जल्दी सावधान हो जावें, उतना ही उत्तम है।

हमारी समस्त समस्याएँ ईश्वर भक्ति से हल होंगी

आग के समीप रहने पर शीत कष्ट चला जाता है। सर्दी तभी तो लगेगी जब गर्मी का अभाव होगा। इसी प्रकार आन्तरिक विक्षोभ और बाह्य संकट तभी सामने आते हैं जब मनुष्य परमात्मा से दूर रहता है। ईश्वर अनन्त सुखशान्ति का स्रोत है। निर्मल शीतल जल के झरने के पास रहने वाला प्यासा क्यों रहेगा ?

जलती हुई अग्नि के समीप बैठा हुआ व्यक्ति ठण्ड से क्यों थर-थरायेगा ? जलाशय से दूर रहने पर प्यास का और अग्नि से दूर रहने पर शीत का कष्ट सहना पड़ता है। इसी प्रकार जो ईश्वर से जितना दूर होगा, उसे उतनी ही आन्तरिक अशान्ति विक्षुब्ध करेगी और उसे ही बाह्य जीवन में दुख-दरिद्र, कष्ट, कलह एवं शोक-सन्ताप सता रहे होंगे।

इस विशाल विश्व को विराट् ब्रह्म की मूर्तिमान प्रतिमा समझकर जो इसकी श्रेष्ठता, सुन्दरता और सम्पन्नता का अवलोकन करता है, उसे अपने चारों ओर आनन्द का समुद्र लहलहाता दीखता है। ईश्वरीय दृष्टिकोण विकसित कर लेने पर इस जगत में शोभा और सौन्दर्य के अतिरिक्त और कुछ दीख ही नहीं पड़ता। जो कुरूपता और विकृतियाँ हैं, वह तो सिर्फ इसिलए बनी हुई हैं कि उन्हें हटाने और सुधारने की तत्परता प्रदर्शित करने और उस बहाने अपनी आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त करने का अवसर हमें मिलता रहे। ईश्वर चाहता तो इस संसार की निर्दोष रचना भी कर सकता था, पर ऐसी दशा में हमारे पुरुषार्थ, साहस, धैर्य और पराक्रम जैसे वैभवों की उपलब्धि का द्वार ही बन्द हो जाता। मन्दिर में प्रतिमा-पूजा के समय दैनिक स्वच्छता की व्याख्या बनाते हुए पुजारी अपना सौभाग्य ही अनुभव करता है। इस श्रेष्ठता-सम्पन्न विराट विश्व की शोभा और महानता का अनुभव करते हुए उसकी विकृतियाँ हटाने के लिए प्रयत्न करते हुए भी हम अपने आपको पुजारी की तरह ही सौभाग्यशाली क्यों न मानें। यह कार्य झुँझलाकर और विक्षोभपूर्वक करने की अपेक्षा प्रसन्नता और पराक्रमर्पूक क्यों न करें ?

आस्तिकता का अर्थ है—सब में एक ही श्रेष्ठ तत्व को ओत-प्रोत देखना। हर वस्तु की मूल सत्ता का सम्मान करना। इस प्रकार की आस्तिक दृष्टि रखने वाला प्रत्येक मनुष्य का सम्मान ही कर सकता है और उसके साथ सद्-व्यवहार की सज्जनता ही प्रदर्शित कर सकता है। दूसरों के साथ दुर्व्यहार करना, घृणा करना या छोटा मानना केवल उन्हीं के लिए सम्भव है जो मनुष्य मात्र में समाये हुए आत्म-तत्व की उत्कृष्टता पर विश्वास नहीं करते।

आज की विचारशीलता 'समता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। उसने मनुष्य मात्र के नागरिक अधिकारों को समान माना है और हर किसी को विकास के समान अवसर एवं समृद्धि के समान वितरण की माँग की है। यह उचित है। ईश्वरीय दृष्टि इससे भी एक कदम आगे बढ़कर है। वह समता से भी ऊँची स्थिति 'श्रेष्ठता' का प्रतिपादन करती है और कहती है—हम दूसरों को अपने समान ही नहीं वरन् अपने से श्रेष्ठ भी समझकर सामाजिक न्याय के अनुसार उचित व्यवहार करके ही सन्तुष्ट न हों वरन् उदारता, सेवा, सहानुभूति, करुणा, सहृदयता आदि कोमल भावनाओं से अभिभूत होकर वैसा व्यवहार करें जिसे आदर्श, अनुकरणीय एवं देवोचित कहा जा सके।

ईश्वरीय दृष्टि केवल मानव प्राणी तक सीमित नहीं रह सकती। उसमें प्राणी मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव भरा रहता है। मनुष्य हमारी जाति का है, इससे क्या हुआ, आत्मा तो सब में एक है और प्रत्येक प्राणी अपने में ईश्वरीय श्रेष्ठता धारण किये हुए हैं। ऐसी दशा में किसी से दुर्व्यवहार कैसे किया जा सकेगा ? हमें सेवा का अधिकार मिला है, सताने का नहीं। बड़ा भाई छोटे भाइयों को अधिक प्यार करता है, उनकी अधिक सहायता करता है। जो अपने बड़प्पन का उपयोग छोटों के उत्पीड़ने में करे, उसकी क्या बड़ाई ? ईश्वरीय दृष्टि हमें सिखाती है कि मनुष्येत्तर छोटे प्राणियों के प्रति हमारी ममता और करुणा का स्रोत अपेक्षाकृत और अधिक बहते रहना चाहिये।

ईश्वर को प्राप्त करना अर्थात् ईश्वरीय दृष्टिकोण को पा लेना है। ऐसा दर्शन, ऐसा साक्षात्कार हर मनुष्य कर सकता है। किसी ध्यान कल्पना के विनिर्मित स्वरूप या प्रतिमा को स्वप्न या जागृत अवस्था में देख लेना एक मानसिक उचंग मात्र है। ऐसा कौतूहल तो हिप्नोटिज्म के आधार पर कभी भी देखा जा सकता है। ईश्वर-दर्शन तो वह है जिसमें ईश्वरीय दृष्टि प्राप्त करके मनुष्य इस विशाल विश्व को विराट् ब्रह्म के रूप में देखता है और

अपने विचार एवं कर्मों को वैसा बनाता है, जैसा प्रत्यक्ष रूप में परमात्मा के साथ कोई ईश्वर-भक्त कर सकता है।

सच्ची ईश्वर-भक्ति से ही हमारे शोक-सन्ताप, अभाव और कष्ट कटते हैं। इस मार्ग पर चलने वाले को न तो आन्तरिक विक्षोभों का कष्ट उठाना पड़ता है और न बाह्य जीवन में कष्ट सहने पड़ते हैं। वह हर परिस्थिति को हंसी-खेल समझता हुआ, अपने सद्गुणों और सद्भावों के सहारे अपने जीवन को आनन्दमय बनाये रहता है और इसी जीवन में प्रतिक्षण स्वर्गीय सुख की अनुभूति करता रहता है। हमारी समस्त सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्यों का हल सच्ची ईश्वर-भक्ति में ही सन्निहित है।

सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् और उसकी विवेचना

महामनीषियों, ऋषियों और तत्ववेताओं ने मानव-जीवन का जो सार खोज निकाला है, वह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की त्रिपुटी में सन्निहित है। जिस मनुष्य के जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की अवतारणा हो गई वह हर प्रकार से धन्य ही माना जायेगा। क्या लोक, क्या परलोक उसके लिए हर प्रकार से सार्थक तथा सुखदायक बन जाते हैं।

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अनुभूति प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। जीवात्मा जिस अनन्त एवं अक्षय के लिए छटपटाता रहता है वह त्रितत्वों के अधीन रहता है। इनको पा लने का अर्थ है आनन्द पा लेना।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के क्रम में जिस प्रकार धर्म प्रथम है उसी प्रकार सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के क्रम में सत्य का प्रथम स्थान है। इन क्रमों में प्राथमिकता का अर्थ है प्रधानता। बिना धर्म के अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है और बिना सत्य के शिवम् एवं सुन्दरम् का कोई अस्तित्व नहीं है। जो सत्य है वही शिव और सुन्दर है और जो शिव तथा सुन्दर है उसको सत्य होना चाहिए। शिव एवं सुन्दरम् को सत्य का ही परिणाम मानना चाहिये। जो सत्य का उपासक है, उसे शिवम् तथा सुन्दरम् की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। अस्तु, जीवन की सफलता तथा सार्थकता के लिए मनुष्य को सत्य की खोज और उसकी उपासना में ही संलग्न होना चाहिये।

सत्य क्या है, उसका निवास कहाँ है, और उसे किस प्रकार पाया जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर है कि सत्य किसी भी वस्तु-विषय का वह अन्तिम स्वरूप है जिसमें किसी विकार अथवा परिवर्तन का अवसर न हो। सत्य का निवास संसार के प्रत्येक अणु में है और वह विश्वासपूर्ण जिज्ञासा के बल पर पाया जा सकता है।

इस सम्पूर्ण सृष्टि में जो कुछ प्रत्यक्ष रूप में दिखाई दे रहा है वह चिरन्तन सत्य नहीं है। क्योंकि वह किसी विषय का विकृत स्वरूप है और प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है। सत्य की खोज करने के लिये किसी विषय के बाह्य स्वरूप से हटकर उसके अन्तः रूप की ओर दृष्टि डालनी होगी। उसके आदि तथा अन्तिम रूप को खोज निकालना होगा। हम जो कुछ भी चर-अचर एवं जड़ चेतन प्रत्यक्ष रूप में देख रहे हैं वह सृजन है, निर्माण है जो किसी तत्व विशेष द्वारा निर्मित हुआ है। किसी भी वस्तु का वह आदि तत्व ही चिरन्तन सत्य है जो अन्त में पुनः अपने आदि स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो क्या मनुष्य, क्या वनस्पति, क्या पशु, क्या पक्षी अपने वर्तमान रूप में सत्य नहीं हैं। इनका सत्य स्वरूप उस तत्व में निहित है जिसकी सहायता से इन सबका सृजन हुआ है और वह तत्व एकमात्र परमात्मा ही है। परमात्मा की उपासना सत्य की उपासना है और सत्य की उपासना परमात्मा की उपासना है।

उपर्युक्त सत्य की जो विवेचना की गई है वह तात्विक दृष्टि से चरम सत्य की विवेचना है। किन्तु यही चरम सत्य संसार में जब व्यावहारिकता का रूप धारण करता है तब इसका स्वरूप उसी प्रकार से कुछ बदल जाता है जिस प्रकार ईश्वर रूप होते हुए भी मनुष्य-विग्रह में उसकी उपाधि मनुष्य ही है। मनुष्य ईश्वर का व्यावहारिक रूप है जो सृष्टि

की सहायता से आत्म-स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये ही सारे व्यवहार करता है। मनुष्य का सारा क्रिया-कलाप अपने सत्य स्वरूप को ही प्राप्त करने का उपक्रम मात्र है।

इस विविधतापूर्ण संसार में सत्य के विविधि रूप हैं, जिनका व्यवहार करते हुए मनुष्य एक दूसरे को आत्मस्वरूप की ओर अग्रसर होने में सहयोग करते हैं।

संसार में जो भी व्यवहार, व्यापार अथवा आचार किया जाय वह सत्य ही होना चाहिए। क्योंकि सत्य से शून्य कोई भी आचार व्यवहार मनुष्य को प्रतिकूल दिशा की ओर ले जाता है जिससे वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के स्थान पर आत्म-विस्मृत के अन्धकार में फँस जाता है ! यही धारणा है कि तत्ववेत्ताओं ने मिथ्याचार को हर स्थिति में सर्वथा वर्जित ही बताया है।

मनुष्य का वह प्रत्येक कार्य मिथ्याचार ही है जो किसी भी काल में उसको अथवा किसी दूसरे को दुःखदायी होता है। व्यवहार जगत में ऐसे अनेक अवसर आ जाया करते हैं जब सत्य, असत्य के और असत्य, सत्य के रूप-अर्थ में लिया जा सकता है। मानिये कोई आततायी किसी को मारने के लिये उसका पीछा करता हुआ आता है, और वह आदमी आपके देखते एक स्थान पर छिप जाता है। आततायी आकर आपसे पूछता है कि क्या आपने देखा है कि वह आदमी कहाँ छिप गया है। आप ठीक-ठीक जानते हुए कि वह कहाँ छिपा हुआ है—आततायी को क्या उत्तर देंगे ? यदि आप उस आदमी का ठीक-ठाक पता बतला देते हैं तो वह आदमी मारा जायेगा और आप हत्या के भागीदार बनेंगे और यदि आप ठीक-ठाक पता नहीं बतलाते तो झूँठ बोलते हैं। ऐसे अवसर पर कोई भी करणीय अथवा अकरणीय के असमंजस में पड़ जायेगा।

इस प्रकार के असमंजस के समय आपको निर्णय करने से पहले यह विचार करना होगा, कि आप उस समय व्यवहार में बर्त रहे हैं अथवा अध्यात्म जगत में। यदि अध्यात्म जगत में बर्त रहे हैं तो निर्लिप्त भाव होने से 'हाँ' और 'न' दोनों स्थितियों में आप पाप के भागी न बनेंगे। उस समय आपका वही उत्तर सत्य होगा जो सहसा प्रथम बार—आपके अन्तःकरण में प्रतिध्वनित होगा। 'हाँ' अथवा 'न' कोई भी उत्तर देने के बाद यदि आपके अन्तःकरण में कोई द्वन्द्व नहीं घटता और तत्काल उस घटना को भूलकर आत्मस्थ हो जाते हैं तो आपका कोई भी उत्तर निष्फल होगा जिसका परिणाम न पाप होगा और न पुण्य !

यदि आप उस समय व्यवहार जगत में चेष्टावान हैं तो आपको अपने कथन की उपयोगिता एवं परिणाम देखकर उत्तर देना होगा जिसमें अधिक से अधिक मानवीय हित का समावेश हो आपका वही उत्तर उचित होगा।

उपरोक्त स्थिति विशेष में आपका निषेधात्मक उत्तर ही ठीक है क्योंकि उस प्रकार किसी एक निरपराध की जीवन-रक्षा होगी और आततायी तात्कालिक हत्या के पाप से बच जायेगा और इस प्रकार आप एक सामयिक सत्य की रक्षा करेंगे।

इसके अतिरिक्त यदि आप आततायी से भबभीत होकर प्रच्छन्न व्यक्ति का पता बतला देते हैं और यह सोच लेते हैं कि वह व्यक्ति मारा जायेगा, तो मारा जाये, मैंने तो सत्य ही बोला है तो आपका वह सत्य घोर असत्य है, जिसके लिये आप पाप के भागी होंगे।

इसी प्रकार की एक अन्य स्थिति में यदि कोई अपराधी आपकी जानकारी में छिपा हुआ है और उसकी तलाश में पुलिस आप से पूछती है तो आपका यह सोचकर न बतलाना कि बेचारा पुलिस के फंदे में फँसकर दण्ड पायेगा—तो आप की वह दया एक घोर असत्य ही है। निरपराधी तथा अपराधी की रक्षा में समानता नहीं हो सकती। फिर चाहे एक में आपको असत्य और दूसरे में सत्य कथन का सहारा ही क्यों न लेना पड़ा हो।

जिस व्यवहार जगत में हम बर्तते हैं उसमें कथन की हितकारिता ही सत्य का स्वरूप है और यही 'सत्य' के साथ 'शिव' का समावेश है। किन्तु कथन की हितकारिता में किसी स्वार्थ, भय, क्रोध अथवा मोह का पुट नहीं होना चाहिये।

जिस प्रकार सत्यम् के साथ हितकारिता के रूप में 'शिवम्' आवश्यक है उसी प्रकार

'सुन्दरम्' अर्थात् मृदुता एवं मधुरता भी सत्य का एक अभिन्न अंग है। सत्य के इस अंश 'सुन्दरम्' का सम्बन्ध भाषा तथा अभिव्यक्ति से है। किसी सत्य को विकृति, अतिरेकता, आवेश, कटुता अथवा उपहासात्मक व्यंग के साथ सामने रखना अथवा स्वयं समझना भी एक प्रकार से असत्य की ही सेवा है। किसी नग्न सत्य को भी शिष्टता का जामा पहनाकर ही सामने लाना ठीक है अन्यथा कटुता के कारण किसी को अनावश्यक कष्ट देने वाला सत्य भी असत्य का ही रूप है। इस प्रकार सत्य का स्वरूप तभी पूर्ण होता है जब वह शिवम् एवं 'सुन्दरम्' के साथ ही हो।

सर्वशक्तिमान परमेश्वर और उसका सान्निध्य

प्रत्येक कर्म का कोई अधिष्ठाता जरूर होता है। परिवार के वयोवृद्ध मुखिया के हाथ सारी गृहस्थी का नियन्त्रण होता है, मिलों—कारखानों की देखरेख के लिये मैनेजर होते हैं, राज्यपाल—प्रान्त के शासन की बागडोर सँभालते हैं, राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वामी होता है जिसके हाथ में जैसी विधि-व्यवस्था होती है उसी के अनुरूप उसे अधिकार भी मिले होते हैं। अपराधियों की दण्ड व्यवस्था, सम्पूर्ण प्रजा के पालन-पोषण और न्याय के लिये उन्हें उसी अनुपात से वैधानिक या सैद्धान्तिक अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकार न दिये जायें तो लोग स्वेच्छाचारित, छल-कपट और निर्दयता का व्यवहार करने लगें। न्याय व्यवस्था के लिये शक्ति और सत्तावान होना उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है।

इतना बड़ा संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक-ठिकाने चल रहा है। सूरज प्रतिदिन ठीक समय से निकल आता है, चन्द्रमा की क्या औकात जो अपनी माहवारी ड्यूटी में रत्ती भर फरक डाल दे, ऋतुयें अपना समय आते ही आती और लौट जाती हैं, आम का बौर बसन्त में ही आता है, टेसू गर्मी में ही फूलते हैं, वर्षा तभी होती है जब समुद्र से मानसून बनता है। सारी प्रकृति, सम्पूर्ण संसार ठीक व्यवस्था से चल रहा है, जो जरा सा इधर-उधर हुआ कि उसने मार खाई। अपनी कक्षा से जरा डाँवाडोल हुये कि एक तारे को दूसरा खा गया। जीवन-क्रम में थोड़ी भूल हुई कि रोग-शोक, बीमारी और अकाल-मृत्यु ने झपट्टा मारा। इतने बड़े संसार का नियामक परमात्मा समचुच बड़ा शक्तिशाली है। सत्तावान न होता तो कौन उसकी बात सुनता। दण्ड देने में उसने चूक की होती तो अनियमितता, अस्त-व्यवस्तता ही रही होती। उसकी दृष्टि से कोई भी छुपकर पाप और अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा कठोर है वह। दुष्ट को कभी क्षमा नहीं करता। इसलिये वेद ने आग्रह किया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येवाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मैदेवाय हविषाविधेम।। ऋ. वेद १०।१२।४

हे मनुष्यो ! बर्फ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं। दिशायें जिसकी भुजायें हैं हम उस विराट् विश्व पुरुष परमात्मा को कभी न भूलें।

गीता के "येन सर्वमिदं ततम्" अर्थात् "यह जो कुछ है परमात्मा से व्याप्त है" की विशद व्याख्या करते हुये योगीराज अरविन्द ने लिखा है—

"यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा की ही सावरण अभिव्यंजना है। जीव की पूर्णता या मुक्ति और कुछ नहीं, भगवान् के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा, प्रेम और आध्यात्मिक सुख में एकता प्राप्त करना तथा भगवती शक्ति के कार्य सम्पादन में अज्ञान, पापआदि से मुक्त होकर सहयोग देना है। यह स्थिति उसे तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक आत्मा अहंकार के पिजरे में कैद है, अज्ञान में आवृत है तथा उसे आध्यात्मिक शक्तियों की सत्यता पर विश्वास नहीं होता। अहंकार का जाल, मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार, सुख और दुःख के संघर्ष, पाप, पुण्य, अपना, पराया आदि के जटिल प्रपंच, सभी मनुष्य में स्थित एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति के बाह्य और अपूर्ण रूपमात्र हैं। महत्ता इसी शक्ति की है, मनुष्य की नहीं जो प्रच्छन्न रूप से आत्मा में अधिगत है।"

योगिराज के इस निबन्ध से तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्त होते हैं। (१) यह जो संसार है परमात्मा से व्याप्त है उसके अतिरिक्त और सब मिथ्या है माया है, भ्रम है, स्वप्न है। (२) मनुष्य को उसकी इच्छानुसार सृष्टि-संचालन के लिये कार्य करते रहना चाहिये। (३) मनुष्य में जो श्रेष्ठता, शक्ति या सौन्दर्य है वह उसके दैवी गुणों के विकास पर ही है।

मनुष्य जीवन के सुख और शान्ति के लिये इन तीनों सिद्धान्तों का पालन ऐसा ही पुण्य फलदायक है जैसा त्रिवेणी स्नान करना। मनुष्य दुष्कर्म अहंकार से प्रेरित होकर करता है पर वह क्षुद्र प्राणी है, जब परमात्मा की मार उस पर पड़ती है तो बेहाल होकर रोता-चिल्लाता है। सुख तो उसकी इच्छाओं के अनुकूल सात्विक दिशा में चलने में, प्राकृतिक नियमों के पालन करने में ही है। अपनी क्षणिक शक्ति, घमण्ड में आया हुआ मनुष्य कभी सही मार्ग पर नहीं चलता इसलिये उसे सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। परमात्मा ने यह व्यवस्था इतनी शानदार बनाई है कि यदि सभी मनुष्य इसका पालन करने लगें तो इस संसार में एक भी प्राणी दुःखी और अभावग्रस्त न रहे।

ईश्वर उपासना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। नदियाँ जब तक समुद्र में नहीं मिल जाती हैं, अस्थिर और बैचेन बनी रहती हैं। मनुष्य की असीमता भी अपने आपको मनुष्य मान लेने की भावना से ढकी हुई है। उपासना विकास की प्रक्रिया है। संकुचित को सीमारहित करना, स्वार्थ को छोड़कर परमार्थ की ओर अग्रसर होना, "मैं" और मेरा छुड़ाकर "हम" और हमारे की आदत डालना ही मनुष्य के आत्म-तत्व की और विकास की परम्परा है, पर यह तभी असम्भव है जब सर्वशक्तिमान परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करलें, उसकी शरणागति को प्राप्ति हो जायँ। मनुष्य रहते हुये मानवता की सीमा को भेदकर उसे देवस्वरूप में विकसित कर देना ईश्वर की शक्ति का कार्य है। उपासना का अर्थ परमात्मा से उस शक्ति को प्राप्त करना ही है।

जान-बूझकर या अकारण परमात्मा कभी किसी को दण्ड नहीं देता। प्रकृति की स्वच्छन्द प्रगति में ही सबका हित नियंत्रित है। जो इस प्राकृतिक नियम से टकराता है वह बार-बार दुःख भोगता है और तब तक चैन नहीं पाता जब तक वापस लौटकर फिर उस सही मार्ग पर नहीं चलने लगता है। भगवान् भक्त की भावनाओं का फल तो देते हैं किन्तु उनका विधान सभी संसार के लिये एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी जब तक अपने पाप की सीमायें नहीं पार कर लेता, तब तक अटूट विश्वास, दृढ़ निश्चय रखते हुए भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। अपने से विमुख प्राणियों को भी वे दुःख-दण्ड नहीं देते। दुःख-देने की शक्ति तो उनके विधान में ही है। मनुष्य का विधान तो देश, काल और परिस्थितियों वश बदलता भी रहता है किन्तु उसका विधान सदैव एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी उसकी चाहें कितनी ही उपासना करे-सांसारिक कर्तव्यों की अवहेलना कर या दैवी विधान का उल्लंघन कर कभी सुखी नहीं रह सकते। जैसा कर्म बीज, वैसा ही फल—यह उसका निश्चित नियम है। दूसरों का तिरस्कार करने वाला कई गुना तिरस्कार पाता है। परमार्थ उसी तरह लौटकर असंख्य गुने सुख पैदाकर मनुष्य को तृप्त कर देता है। सुख और दुःख, बन्धन और मुक्ति मनुष्य के कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। दुष्कर्मों का फल भोगने से मनुष्य बच नहीं सकता। इस विधान में कहीं राई रत्ती भर भी गुन्जाइश नहीं है।

अशुभ कर्मों का सम्पादन और देह का जड़ अभिमान ही मनुष्य की छोटा बनाये हुए हैं। शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता न होने पर भी आत्मा मोहवश होकर दुख भोगती है। "मैं देह हूँ" "मुझे सारे अधिकार मिलने ही चाहिये" यह मान लेने से जीव स्वयं कर्ता-भोक्ता बन जाता है और इसी कारण वह "जीव" कहलाता है। जब तक वह इतनी-सी सीमा में रहता है तब तक उसकी शक्ति भी उतनी ही तुच्छ और संकुचित बनी रहती है। जब वह भ्रम रूप देहाध्यान का परित्याग कर देता है तो वह शिवस्वरूप, ईश्वर-स्वरूप हो जाता है। उसकी शक्तियाँ विस्तीर्ण हो जाती हैं और वह अपने आपको अनन्त शक्तिशाली, अनन्त आनन्द में लीन हुआ अनुभव करने लगता है।

५.२७ ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

अपने तुच्छ सत्ता को परमात्मा की शरणागति में ले जाने से मनुष्य अनेकों कष्ट-कठिनाइयों से बच जाता है और संसार के अनक सुखों का उपभोग करता है। गृहपति की अवज्ञा करके जिस तरह घर का कोई भी सदस्य सुखी नहीं रह सकता, उसी प्रकार परमात्मा का विरोधी भी कभी सुख या सन्तुष्ट नहीं रह सकता। परमात्मा की अपमानता का अर्थ है उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन न करना। अपने स्वार्थ, अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिये कोई भी अनुचित कार्य परमात्मा को प्रिय नहीं। इस तरह की क्षुद्र बुद्धि का व्यक्ति ही उसके कोप का भाजन बनता है। पर जो विश्व-कल्याण की कामना में ही अपना कल्याण मानते और तनदुनसार आचरण करते हैं, ईश्वर से अनुदान उन्हें उसी तरह प्राप्त होते हैं जैसे कोई पिता अपने सदाचारी, आज्ञापालक और सेवा भावी पुत्र को ही अपनी सुख-सुविधाओं का अधिकांश भाग सौंपता है।

पापों का नाश हुये बिना, इन्द्रियों का दमन किये बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। संसार में रहते हुये मनुष्य कर्मों से भी छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। अतः निष्काम कर्मयोग परमात्मा की प्राप्ति और सांसारिक सुखोपभोग का सबसे सुन्दर और समन्वय युक्त धर्म है। निष्काम भावनाओं में पाप नहीं होता वरन् दूसरों के हित की, कल्याण की और सबको ऊँचे उठाने की विशालता होती है जिससे अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती है और सुख मिलता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को संसार समर योद्धा बनकर ही जीवन-यापन करना चाहिये। वह साहस, वह गम्भीरता और वह कार्य करने की भावना मनुष्य ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म सान्निध्यता में ही प्राप्त करता है।

ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर सांसारिक संयोग-वियोग से उत्पन्न होने वाले सुख-सुख मनुष्य को बन्धन में नहीं बाँध पाते। यह कल्पित संसार जीवन की अपनी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। इससें घट-बढ़ हुआ ही करती है और इसमें जीव की ममता होने के कारण इसमें बढ़ती होने पर वह प्रसन्न होता है और कमी होने पर दुःखी होता है। उदाहरण के लिये—जब परिवार में कोई बच्चा पैदा होता है तो लोग खुशी मनाते हैं पर इससे परमात्मा की सृष्टि में कोई कमी नहीं आई। जीव तो अमर है जैसे पहले था, वैसे ही अब भी है, केवल पंचभौतिक तत्वों का एक शरीर के रूप में संयोग हुआ। इसी प्रकार कोई मर जाता है तो दुःख मानते हैं पर पहली स्थिति की तरह इस बार भी परमात्मा की दृष्टि में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। पंच भौतिक शरीर का वियोग मात्र हुआ। जीव तो अपने मूल-रूप में अब भी विद्यमान है। इस गूढ़ रहस्य को न जानने के कारण ही मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बँधकर तरह-तरह के दुःख भोगता है। अतः कल्याणकामी पुरुष के लिये बादल के समान क्षण-क्षण रंग बदलने वाले विनाशशील व्यवहारिक जगत में मोह का सम्बन्ध बाँधकर अविनाशी और अचल परसत्ता में चित्त को जोड़ देने और लोक-कल्याण के लिये निष्काम कर्म करने में ही इस जीवन की सार्थकता है।

सद्-प्रेरणायें प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में छिपी रहती हैं। दुष्प्रवृतियाँ भी उसी के अन्दर होती हैं। अब यह उसकी अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और विवेक पर निर्भर है कि वह अपना मत देकर जिसे चाहे उसे विजयी बना दे। चित्त का मूल स्वभाव शान्त है, आत्मा आनन्दमय है जो इस अपनी मूल प्रवृत्ति को डिगाता नहीं अर्थात् सद्प्रेरणाओं में स्थिर रहता है, जगत में वही योद्धा अजेय है। जिसका स्वभाव किसी भी प्राणी पदार्थ में स्वभाव से अपने शान्त स्थिर चित्त को चलायमान नहीं होने देता। जगत के प्राणी और पदार्थों में इन्द्रियों के द्वारा जिसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है वह निर्बल है। उसे अपनी निर्बलता का दण्ड भी भोगना ही पड़ता है। सुख का उपभोग तो यहाँ शक्तिमान सूरमा ही करते है।

परमात्मा जितना कृपालु है, कठोर भी उससे कम नहीं है। उसकी एक शिव शक्ति भी है जो निरन्तर ध्वंस किया करती है। जो ईश्वर की अज्ञाओं की जान-बूझकर अवज्ञा करता है उसे परमात्मा की कठोरता का दण्ड भुगतना ही पड़ता है। संसार की व्यवस्था, गृह समाज, राज्य या राष्ट्र से भी सर्वोपरि है। अतः गृहपति,

राज्यपाल या राष्ट्रपति की तुलना में उसके पास शक्तियाँ भी अतुल होती हैं। विश्व नियम का प्रजा में पालन कराने वाला परमात्मा बहुत बड़ा है, बड़ा कठोर, बड़ा शक्तिशाली है। गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है—मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस इस समय इन लोगों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिये हे अर्जुन ! जो यह प्रति पक्षी सेना है वह तेरे न मारने पर भी जीवित नहीं बचेंगे। बिना युद्ध के भी इनका नाश हो जायेगा।"

—गीता ११।३२

वह परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली, बड़ा बलवान् है। उसकी अवज्ञा करके कोई बच नहीं सकता। अतः उसी के होकर रहें, उसी की आज्ञाओं का पालन करें, इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण है।

सुख के आधार वे स्वयं हैं

मृत्यु के आखिरी क्षण तक मनुष्य की एक ही कामना होती है कि उसे सुख मिले। सुख को स्थूल रूप में देखे तो सुन्दर, स्वाद-युक्त भोजन, धन, भोग की पूर्ति, सुन्दर मकान, सौन्दर्यवान स्त्री इन्हें ही सुख कहेंगे। पर यह देखा गया है कि मनोवांछित वस्तुयें, भोग की सामग्रियाँ होते हुए भी मनुष्य सुखी दिखाई नहीं देता। हेनरीफोर्ड के पास अतुलित धन था पर उसे सुख नहीं मिला, डकैत दिन-रात सुन्दर दृश्यों वाले वनों-पर्वतों और एकान्त-शान्त स्थलों में घूमते रहते हैं पर उन्हें शान्ति नहीं होती सौन्दर्य को विवशता के हाथों परेशान होते देखा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि साधन और सामग्रियों में सुख का अभाव है। बाहर से दिखाई देने वाला सुख, सुख नहीं कल्पना मात्र है।

एक ही परिस्थिति में मनःस्थिति के परिवर्तन से सुख और दुःख बदलते रहते हैं। दो मनुष्य हैं दोनों के पास बेटे हैं, बहुएँ भी हैं एक-सी परिस्थितियाँ दोनों को प्राप्त हैं, किन्तु एक गृह-कलह से परेशान है दूसरे के पास धन का अभाव है। इसी तरह दो धनियों में एक के पास भले मित्र और अच्छे कर्मचारी नहीं है दूसरे को कोई बालक नहीं हुआ। संत प्रत्येक परिस्थिति को पूर्व जन्मों का संस्कार या परमात्मा की इच्छा मान लेते हैं, इससे उनका दुःख भाव मिट जाता है। सुख-दुख इसलिए कल्पित हैं कि वे एक ही मनोवृत्ति के घटने और बढ़ने में आपस में रूप-परिवर्तन करते रहते हैं, कभी दुःख, सुख में बदल जाता है, सुख भी दूसरे क्षण दुःख देने लगता है। अतः इन दोनों में से किसी को भी जीवन का साध्य नहीं मान सकते, परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव हैं, आते हैं और चले जाते हैं।

संकल्प-पूर्ति को वस्तुतः सुख माना गया है किन्तु इसका सदैव रहना असम्भव है। मनुष्य श्रम, योग्यता और पुरुषार्थ से अपने संकल्पों का अंश पूरा कर भी सकता है किन्तु संकल्पों की पूर्ति में परिस्थितियों की अनुकूलता भी अपेक्षित है। इस प्राकृतिक विधान को मनुष्य बदल नहीं सकता इसलिए प्रत्येक परिस्थिति में संतोष का भाव बनाये रखना ही श्रयेस्कर लगता है। ऐसा न किया जाय तो मनुष्य के जीवन में निरे दुःख ही दुःख, अभाव और विपदाओं के अम्बारं ही बने रहेंगे।

संतोष करने का अर्थ है कि आपने प्रकृति के साथ मित्रता कर ली है। कुछ दिन इस तरह का अभ्यास डाल लेने से सुख और दुःख दोनों का स्तर समान हो जायेगा। तब केवल अपना ध्येय जीवन-लक्ष्य प्राप्त करना ही शेष रहेगा, इसलिये समझना पड़ता है कि दुःख-सुख इनमें से किसी के प्रभाव में न पड़ो, दोनों का मिला-जुला जीवन ही मनुय को लक्ष्य तक पहुँचाता है। जीवन-लक्ष्य का प्रादुर्भाव दुःख और सुख के सम्मिलन से होता है।

संकल्प-पूर्ति के बाद जो जीवन में जड़ता आ जाती है उसके कारण सुख सार्थक नहीं है। सुख का सदुपयोग अपनी उदारता जागृत करने के लिये है। सभी को अपनाकर, मिले सुख को वितरित कर, आत्मा-भाव को फैलाने का वह माध्यम है। इससे मनुष्य के सद्गुण जागृत होते हैं। यदि केवल सुखों का प्रयोग अपने ही भोग के बन्धनों में सीमित हो जाय तो वह सुख तत्काल दुःख में बदल जाता है। स्वार्थ की प्रवृत्ति को इसी से हानिकारी मानते हैं कि उसमें सामूहिकता अथवा आत्म-भावना

का अन्त हो जाता है। भेदभाव की यही नीति मनुष्य के दुःख और उसके पतन का भी कारण बन जाती है।

जीवन की समस्याओं का हल उदारता में है, प्रेम में है। पर उदारता अपने जीवन में तभी आती है जब सुख और दुःख को अवस्था मानते हैं, जीवन नहीं। हरिश्चन्द, कर्ण, भीष्म आदि ने यदि वही दृष्टिकोण न बनाया होता तो उन्हें अमरत्व का सौभाग्य कदाचित् न मिला होता। यश और अपयश पीछे की बातें हैं पर मनुष्य जो यशस्वी बनते हैं उनके मूल में उनकी उदारता की वृत्ति ही क्रियाशील रहती है। प्राप्त सुखों को विश्वहित और विश्व-सुख के लिये होम कर देने से ही चिर सुख का विकास होता है। इसके लिये सांसारिक सुख और दुःख से बँधकर नहीं रहना चाहिये। दोनों का ही सहर्ष स्वागत करना उचित है।

इन उभय परिस्थितियों की आशा परित्याग कर देना ही निर्भयता प्राप्त करना है। चित्त सुख की आकांक्षा में जब तक डाँवाडोल रहेगा तब तक कायर, डरपोक और भयभीत बने रहेंगे। सारा ध्यान, सारी मनःशक्तियाँ एक ही दिशा में लगी रहेंगी। फल यह होगा कि न तो आन्तरिक विकास संभव होगा और न ही निर्भयता प्राप्त होगी। सुख का मूल है निर्भयता, दुःख का कारण है अधैर्य। इन दोनों को उचित मात्रा में प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का क्रम है। इसके लिए सुख की आकाक्षांओं का दमन और दुख के क्षणों का स्वागत करना भी होगा। इसके सिवाय निराकरण का मार्ग मनुष्य के लिये कुछ भी नहीं है।

क्या अपने सुखों से बँधे हैं ? यदि आप इन्द्रियों के पराधीन होंगे, साधनों के लिये घूम रहे होंगे तो आपके जीवन में निर्द्वन्द्वता बिलकुल भी न होगी। अब सोचिये सुख के पीछे दौड़ने में आपको सुख मिला ? नहीं आप दुखों से घबराते हैं, परिस्थितियों की विपन्नता से डरते हैं, इससे आपकी कठिनाइयाँ हल न होंगी। आने वाली समस्या आपको बिना प्रभावित किये नहीं छोड़ सकती। प्राकृतिक विधान सबके लिये एक-सा है। उसी के अनुकूल चलने से ही धैर्य और निर्द्वन्द्वता प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा न हुआ तो आप के जीवन में कोई मस्ती न होगी, कोई सजीवता न होगी, आप अपने ही सूनेपन से बेखबर और परेशान हो रहे होंगे।

पराधीनता मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं है, मुक्त बनने की अभिलाषा मनुष्य की नहीं, मूक पक्षियों तक में होती है। यह एक अपराध ही है यदि मनुष्य इतनी शक्तियों से सम्पन्न होकर भी दीन-हीन जीवन बिताता है। थोड़े से जीवन में सुखों के पीछे दौड़ लगाने और दुःखों से डरने, काँपने और पछताने से मनुष्य की समस्याओं का समाधान नहीं होता। मनुष्य और अधिक जटिलताओं के निविड़ में भटक जाता है। जिस राह उसे जाना था उससे हटकर वह दुनियावी झंझटों में फँसकर मनुष्य जीवन की अमूल्य निधि को बरबाद करता है। सारा जीवन व्यर्थ गया और सुख नहीं मिले तो क्यों इन मायावियों के पीछे पड़ें।

सत्य को प्राप्त करने की जिज्ञासा पैदा करने वाले क्षण प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आते हैं। श्मशान घाट की ओर जाते हुये शव सभी ने देखे होंगे। वृद्धावस्था की यातनायें जिन्होंने अभी नहीं उठाई, वे भी इसका व्यावहारिक अनुमान लगा सकते हैं। पर क्या कारण है कि हम गौतम बुद्ध की तरह, शुकदेव और शंकराचार्य की तरह इन पर विचार नहीं कर पाते। एक ही उत्तर है भौतिक सुखों की आसक्ति और सांसारिक दुःखों से कातरता। इस संसार को ही सब कुछ समझने की भूल का यदि सुधार कर सकें तो हमारी प्रशस्ति का द्वार भी खुला हुआ मिलेगा।

यह बुद्धि जब जागृत होने लगती है तो मनुष्य का दृष्टिकोण भी परिवर्तित होने लगता, भौतिक आकांक्षाओं में तब असंतोष दिखाई देने लगता और आध्यात्मिक रसानुभूति मिलने लगती है। जब भी इस प्रकार का असन्तोष मानव-अन्तकरण में उठा है तब-तब उसने अपने जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं।

सुखों-दुखों के कारण प्रभावित होने वाली आन्तरिक चेतना को मोड़कर उसने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर लगाया है। इसलिये हमें देखना है कि कहीं हमारा जीवन एकांगी दृष्टिकोण का नहीं होता। किसी भी व्यवस्था में इन परिस्थितियों से बच नहीं सकते। इसलिये इन्हें जीवन की सामान्य गतिविधियों में ही सम्मिलित कर लेना चाहिये। महाकवि कालिदास ने लिखा है—

कस्यात्यन्त सुखमुपन्तं दुखमेकान्ततो वा।

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।।

अर्थात् किसी को न तो सुख ही सुख मिलते हैं और न ही एकमात्र दुःख ही मिलते हैं। रथ के पहिये की भाँति सुख और दुःख आते जाते रहते हैं।

सुख का मूल है परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करना। आग के पास बैठते हैं तो उसकी गर्मी का असर शरीर पर होता है। परमात्मा के समीप बैठने से जीवन का परिहार होता है, व्यावहारिक जीवन में शुद्धता आती है, इससे आत्मिक सुख की अनुभूति होने लगती है। परमात्मा की उपासना से आन्तरिक दिव्यता प्रबुद्ध होकर व्यक्ति के सद्‌गुणों को जगाती है। यह अवस्था सर्वथा न तो सुखमय ही होती है न दुःखमय। इसमें एक अलौकिक आनन्द होता है, प्रेम की गुदगुदी से अन्तरात्मा विभोर रहती है। जिसे इस सुख का क्षणिक आभास भी मिल जाता है उसका मनुष्य जीवन धन्य हो जाता है।

सत्य को खोजें और उसे ही प्राप्त करें

मनुष्य हर समय कुछ खोजता रहता है। पर वह उसे पा नहीं रहा है। उसकी दिन-रात की दौड़-धूप, पुरुषार्थ, सब बेकार जा रहा है। वह जो कुछ खोज रहा है, वह निश्चय ही उसे मिल नहीं रहा है।

यदि मनुष्य से यह पूछा जाये कि वह क्या खोज रहा है तो शायद वह इसका ठीक उत्तर भी न दे पाये क्योंकि उसे स्वयं ही पता नहीं है कि वह किस चीज की तलाश में है। वह क्या चाहता है ? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक लोग अनेक बातें कहेंगे। कोई कहेगा वह रोजी तलाश कर रहा है, कोई धन-दौलत के लिये अपने को व्यस्त बतलायेगा तो कोई प्रेम की खोज करता रहेगा। उत्तर अलग-अलग होने पर भी सारे मनुष्यों की खोज का लक्ष्य एक ही है, जिसे वे स्वयं ही नहीं जानते।

निश्चय ही सारे मनुष्यों की खोज का लक्ष्य एक ऐसी शांति ही है जो उनके जीवन में स्थिरता एवं आनन्द का समावेश कर सके। एकमात्र इसी स्थायी सुख-शांति की खोज ही मनुष्यों का लक्ष्य बना हुआ है। किन्तु वे इसे जानते नहीं और इसी अज्ञता के कारण वे उसे पा नहीं रहे हैं।

मनुष्य अज्ञता के कारण अपने लक्ष्य की खोज भौतिक पदार्थों तथा साधनों में कर रहा है जहाँ कि उसका मिल सकना असम्भव है। मनुष्य की सुख-शान्ति का लक्ष्य बाह्य पदार्थों में नहीं है। उसकी स्थायी सुख-शान्ति का निवास उसकी आत्मा में है। अस्तु, मनुष्य को सुख-शांति की खोज अपनी आत्मा में ही करनी चाहिये। जब तक वह बाह्य से अन्तराभिमुख होकर आत्मा की ओर उन्मुख नहीं होगा, अपने लक्ष्य में सफल न हो सकेगा। उसका बहुमूल्य मानव-जीवन यों ही अटकने-भटकने में समाप्त हो जायेगा।

परमात्मा का प्रतिबिम्ब-उसका अंश होने के कारण आत्मा शाश्वत है, सत्य है। सत्य का आधार लिये बिना कोई भी आत्मा तक नहीं पहुँच सकता। आत्म-साक्षात्कार करने के लिये मनुष्य को जीवन में सत्य की स्थापना करनी होगी। अपने चारों ओर अन्दर-बाहर बिखरे पड़े सत्य की खोज करनी होगी, उसे पाना होगा। सत्य का दर्शन ही एक प्रकार से आत्मा का दर्शन है।

सत्य क्या है यह जाने बिना उसकी खोज का ठीक प्रयत्न ही कैसे किया जा सकता है ? सत्य के स्वरूप के विषय में हर मनुष्य अपनी एक अलग धारणा रखता है। पर उसके विषय में भी वह पूरी तरह से आश्वस्त एवं निश्चित नहीं होता। उसकी यः

अनिश्चितता ही इस बात का प्रमाण है कि उसने सत्य के विषय में जो धारणा बनाई है अथवा जिस बात को सत्य समझ रहा है वह वास्तविक सत्य नहीं है।

सत्य के लिए कोई अध्ययन करता है, गुरु एवं उपदेशक के पास जाता है, मनन एवं चिन्तन करता है किन्तु किसी प्रकार से सत्य के दर्शन नहीं कर पाता। अज्ञानतावश वह किसी भी मनभाई अथवा जी में जम जाने वाली बात को ही सत्य समझ लेता है। किन्तु कुछ समय बाद उससे भी अधिक जमने वाली बात उसके पूर्व सत्य को उखाड़कर फेंक देती है और उसके स्थान पर अपना अधिकार जमा लेती है। इस प्रकार जीवन भर मनुष्य अपने निर्धारित सत्यों में परिवर्तन करता रहता है। वह सत्य हो ही नहीं सकता, जिसमें परिवर्तन सम्भव हो सके। सत्य सदा अटल तथा एकरूप ही रहता है।

अनिश्चय के साथ मनुष्य में सत्य स्वीकार करने का साहस भी नहीं होता। वह सत्य को उसी रूप में स्वीकार करना चाहता है जिस रूप में वह उसे प्रिय हो। अपने अल्पज्ञान के आधार पर वह सत्य का जो चित्र बनाना चाहता है। अथवा बनाया करता है उसके अतिरिक्त वह सत्य को और किसी रूप में स्वीकार करने को कदापि तैयार न होगा।

यदि मनुष्य से कहा जाये कि स्त्री-पुत्र, धन-दौलत आदि में मिलने वाला सुख असत्य है, उसे त्याग देने पर शाश्वत सत्य के दर्शन हो जायेंगे तो वह शायद ही इसे मानने और इसके अतिरिक्त किसी सुख को स्वीकार करने को तैयार हो सके। मनुष्य अच्छी तरह जानता है और अनुभव भी करता रहता है कि भौतिक वस्तुओं में वह जिस सत्य, जिस सुख का आभास पा रहा है वह निश्चय ही अवास्तविक है किन्तु फिर भी वह उसको त्यागने अथवा उसके विषय में अपना भ्रम दूर करने के लिए तैयार न होगा। उसे यह भय रहता है कि किसी शाश्वत सत्य की स्वीकृति में कहीं उसका यह अवास्तविक सत्य भी न चला जाये और तब वह बिलकुल खाली हाथ रह जाये। इस प्रकार का भय एवं अवास्तविक सत्य के प्रति मोह रखने वाला कभी शाश्वत सत्य दर्शन कर सके यह असम्भव है।

यदि किसी से ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मोह आदि विकारों को त्याग देने के लिये कहा जाये तो वह यही कहेगा कि यह सब मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिक्रियायें हैं जो कि परिस्थितियों से जन्म लेती हैं। मनुष्य इन सामयिक सत्यों से मुक्त नहीं हो सकता। ऐसे सत्य-विरोधी विकारों में विश्वास रखने वाला मनुष्य भला उस शाश्वत सत्य को कैसे पा सकता है जिससे उसकी लक्ष्य-सिद्धि हो सके और वह एक स्थिर सुख-शान्त की उपलब्धि कर सके ?

सत्य के प्रति भयभीत अथवा अनिश्चित रहने वाला कभी सत्य को नहीं पा सकता। सत्य भय एवं अनिश्चय से सर्वदा परे है। मस्तिष्क में ईर्ष्या, द्वेष, भय तथा मोह की विकृति लेकर अथवा यह सत्य है वह सत्य नहीं है, यह सत्य है वह सत्य नहीं था, आदि की भ्रान्त धारणाओं में भटकने वाला सत्य की खोज में यों ही भटकता-भटकता जीवन समाप्त कर देगा और सत्य की छायामात्र भी नहीं पा सकता।

वास्तविक सत्य की खोज के लिये आन्तरिक एवं बाह्य सारी बिडम्बनाओं को त्यागना होगा। सत्य के लिये हृदय में सदा सजग, उत्सुकता को उत्पन्न करना होगा और सत्य कड़ुआ हो अथवा मधुर, उसे स्वीकार करने का साहस सन्चय करना होगा। धर्म अथवा धर्म-गुरुओं के आधार पर जिस सत्य की धारणा बना रक्खी है उसे बदलने के लिए तैयार रहना होगा। एक कुम्भकार जिस प्रकार मिट्टी से मनमानी आकृतियों की रचना करता रहता है उसी प्रकार सत्य का स्वरूप स्वयं गढ़ लेने से सत्य को नहीं पाया जा सकता। नित्य, महान्, विस्तृत तथा देशकाल की सीमा से परे सत्य को मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर निर्धारित नहीं कर सकता। ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दुर्गुणों से विकृत हृदयों में सत्य की ज्योति न जल सकती है और न जलाई जा सकती है। सत्यान्वेषण के लिए मस्तिष्क को निर्द्वन्द्व एवं निर्विकार बनाना ही होगा।

सत्य की खोज के लिये लोग पुस्तकों का सहारा लेते हैं, उपदेशकों तथा धर्म गुरुओं पर निर्भर होकर आशा करते हैं कि उन्हें सत्य का साक्षात्कार करा देंगे। ऐसी आशा करने वाले अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकते। ग्रन्थ एवं धर्म गुरु सत्यान्वेषण का मार्ग निर्देश तो कर सकते हैं किन्तु सत्य को हथेली पर नहीं रख सकते। उसे पाने के लिये तो मनुष्य को स्वयं ही प्रयत्न एवं साहस करना होगा। सत्य की प्राप्ति आत्म-प्रयासों से ही की जा सकती है। दूसरों के आधार पर सत्य पा लेने की आशा करने वाले जिन्दगी भर मरु-मरीचिका में ही भटकते रहते हैं। जो स्वयं ही साहस एवं श्रम नहीं कर सकता, उसे सत्यान्वेषण की इच्छा अपने मस्तिष्क से निकाल ही देनी चाहिये। पूर्ण न हो सकने वाली आकांक्षाओं को पालना अपने जीवन को कंटकाकीर्ण बनाना है।

यदि किसी में सत्यान्वेषण की सच्ची जिज्ञासा है तो अपने जीवन की सारी विकृतियों को दूर करना ही होगा। सत्य पाने के लिये सत्य की तरह ही निर्मल एवं निर्द्वन्द्व बसना पड़ेगा। सत्य परमात्मा स्वरूप और परमात्मा सत्य स्वरूप है। सत्य तथा परमात्मा एक ही परमतत्व के दो परिचायक शब्द हैं। सत्य एवं परमात्मा के बीच कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। उस परम तत्व को पाने के लिए उसी की तरह विस्तृत एवं विशाल बनना होगा। क्षुद्र स्वार्थ की सीमाएँ तोड़कर अपने को व्यापक बनाना होगा। जिस प्रकार सचराचर जगत में परमात्मा का प्रेम समान रूप से तरंगित होता है, सत्यान्वेषी को भी अपने प्रेम का प्रसार उस सीमा तक करना होगा। जिस दिन मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्ण परिधि से निकलकर सत्य की तरह ही व्यापक हो जायेगा, उसी दिन से शाश्वत सत्य के दर्शन पा लेगा जो उसके ध्येय, सच्ची सुख-शान्ति का एकांकी तथा अविचल आधार है।

यदि मनुष्य सत्य की तरह निर्मल एवं निर्विकार होना चाहता है तो उसे अपनी आत्मा के मुक्त होने में सहायक बनना होगा जो बन्धन तोड़कर अपने अंशी परमात्मा की तरह व्यापक एवं विस्तृत होने का प्रयत्न कर रही है। मनुष्य का विस्तार उसकी आत्मा की मुक्ति तथा विस्तार के अनुपात से होता है। जितनी जिसकी आत्मा बन्धनरहित तथा विस्तृत होती जायेगी वह स्वयं भी उसी अनुपात से विस्तार पाता जायेगा। भ्रमवश अपने को शरीर समझने वाला मनुष्य यथार्थ से आत्मा ही है। अपने सत्यस्वरूप आत्मा पर अपना ध्यान तथा सत्यान्वेषण का प्रयास केन्द्रित कर देने से सत्य का रहस्य उद्घाटित होने लगता है।

आत्मा आप से केवल इतनी अपेक्षा करती है कि आप उसके प्रति श्रद्धालु एवं आस्थावान बने रहें। अन्य अनित्य वस्तुओं की तुलना में उसका अपमान अथवा अवहेलना न करें। मनुष्य मन, प्राण अथवा शरीर की तुलना में जब आत्मा को हेय समझने लगता है तब वह दुःखी हो जाती है और उसकी मुक्ति का प्रयास मन्द पड़ जाता है। अपने प्रति श्रद्धालु एवं आस्थावान व्यक्तियों को आत्मा शीघ्र ही दर्शन दिया करती है।

संसार में बर्तते हुये भी अन्दर से उसे विरक्त एवं निर्मोही रहकर जो व्यक्ति मुख्य रूप से आत्मा तक ही केन्द्रित हो जाते हैं वे उससे एकता प्राप्त कर शान्त, गम्भीर एवं उपद्रवरहित हो जाते हैं। मनुष्य की निर्द्वन्द्व एवं उपद्रवरहित स्थिति ही वह शाश्वत सत्य है जिसकी खोज में मनुष्य भटक रहा है और जो उसके लक्ष्य सुख-शान्ति का अविचल आधार है।

आत्मा तक केन्द्रित होने का अर्थ ठीक से समझ लेना होगा नहीं तो आत्मा में लीनता के भ्रम में मनुष्य घोर स्वार्थी बन सकता है। आत्मा तक केन्द्रित होने का यही अर्थ है कि मनुष्य, मन, प्राण एवं शरीर से परे अपने स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करे जो व्यापक, विस्तृत एवं निरुपद्रव है। अपने प्राण तथा शरीर के पोषण में लगा रहना ही आत्मा के प्रति केन्द्रीयता मानना भारी भूल होगी।

मनुष्य सत्य की खोज कर रहा है और वह सत्य परमात्माओं के अंश आत्मा में निहित है और जो मनुष्य एवं शाश्वत स्वरूप है। निरुपद्रव आत्मा का साक्षात्कार ही सत्य है और उसी सत्य में मनुष्य का लक्ष्य, सच्ची सुख-शान्ति निहित है।

प्रभु दर्शन और उसकी आकांक्षा

कठोपनिषद की भृगु बल्ली में यम और नचिकेता का संवाद आता है। यम जानना चाहते हैं कि राजकुमार की जिज्ञासा कहीं कामनावश तो नहीं है ? किन्तु जो आकांक्षा नचिकेता ने व्यक्त की थी वह सचमुच उसे ब्रह्म विद्या का अधिकारी सिद्ध करने में समर्थ हुई। समर्थ गुरु यमाचार्य से प्राप्त करने योग्य एक ही वस्तु थी उसके लिये नचिकेता ने कहा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यभास्मात्कृताकृतात्।

अन्यंत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद् वद्।।

अर्थात्—हे भगवान् ! जो धर्म-अधर्म, कृत-अकृत और कार्य-कारण के बन्धन से रहित है भूत, भविष्यत् और वर्तमान की काल सीमायें जिसे बाँधने में समर्थ नहीं है, उस ब्रह्म-तत्व का उपदेश मुझे दीजिये।

ईश्वर-दर्श की आकांक्षा मनुष्य की सम्पूर्ण कामनाओं की साधक है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है किन्तु यह आकांक्षा इतनी प्रबल हो कि उसके समक्ष सांसारिक प्रलोभनों का प्रभाव मिट जाय। सच्ची जिज्ञासा से ही भगवान् मिलते हैं। इस आन्तरिक भूख, आत्म तत्व की प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा की परीक्षा यमाचार्य ने इस तरह की—

एततुल्यम् यदि मन्यसे वरं

वृशीष्व वित्तं चिरजीविकां च।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि

कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।

"हे नचिकेता ! धन-वैभव और चिर काल तक जीवन आदि जो कुछ चाहो इस आत्म-ज्ञान सम्बन्धी वर के बदले में माँग लो। तुम इस भूलोक में महान् ऐश्वर्यशाली बनो। मैं तुम्हें सम्पूर्ण भोगों को भोगने में समर्थ बनाये देता हूँ।

यह परीक्षा हर ईश्वरनिष्ठ के समक्ष आती है। पग-पग पर प्रलोभन और आकर्षण अपनी ओर खीचंते हैं। मनुष्य काम-वासना की ओर धन-वैभव और वस्तु-साधनों के उपभोग के सुख प्राप्त करने के लोभ में अपने जीवन-लक्ष्य से गिर जाता है। ईश्वर प्राप्ति की आकांक्षा प्रबल न हुई तो सांसारिक प्रलोभनों के आगे मनुष्य एक पल भी टिक नहीं सकेगा। हमारी ब्रह्म-दर्शन की आकांक्षा इतनी प्रबल हो कि यमाचार्य के रूप में मौत की छाया हर क्षण आँखों के आगे घूमती रहे और जब भी कोई सांसारिक वासना जागृत हो तो उस मृत्यु से हमारे अन्तःकरण का नचिकेता यह कह सके—"यत्तपश्यसि तद्वद"—हे मृत्य ! जिससे देखती हो, मुझे उसका ही उपदेश ही दो अर्थात् मृत्यु को ध्यान में रखकर उस परम अविनाशी तत्व को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहें।

क्षणिक सुख के लिये अपने जीवनलक्ष्य को भूल जाना बुद्धिमानी नहीं मान सकते। सांसारिक कामनायें अमृत-तत्व की प्राप्ति नहीं करा सकतीं। उनका प्राप्त कर लेना किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी मूल सत्ता के बिछुड़ जाने के कारण दुःखी है। चिरन्तन शान्ति के लिये उस परमात्मा की ही शरण लेनी होगी।

शरीर के भीतर ही प्रकाश स्वरूप परमात्म अवस्थित है। सत्य-भाषण, तप, ब्रह्मचर्य और यथार्थ ज्ञान से उसकी प्राप्ति सम्भव है। सब तरह के दोषों से विमुक्त होकर ही मनुष्य उसे प्राप्त कर सकते हैं। यह धारणा गहराई तक हमारे हृदय में प्रविष्ट हो। आकांक्षा जिस क्षण शिथिल हो जाती है उसी समय वासनाओं के तीखे आघात मनुष्य को परेशान करने लगते हैं। शक्ति का मुकाबला शक्ति से किया जाता है। लोहे को काटने के लिए लोहे की ही छैनी बनानी पड़ती है। कुटिल विचारों और कुत्सित कर्मों को मार भगाने के लिए प्रबल-अकांक्षा की गदा हर समय तैयार रहनी चाहिए।

भगवान् कृष्ण का आदेश है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थचलं ध्रुवम्।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।

त प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रतः।।

अर्थात्—इन्द्रियों के विषयों को वश में रखकर, सर्वत्र समत्व का पालन करते हुए जो दृढ़, अचल और अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अवर्णनीय और अविनाशी स्वरूप की उपासना करते हैं, वे

सब प्राणियों के हित में लगे हुए मुझे ही पाते हैं।" यहाँ ईश्वर के प्रति निष्ठा और परोपकार का समन्वय किया गया है। निष्काम-कर्म का यही स्वरूप है कि मनुष्य उस परमात्मा पर अटल विश्वास रखकर वासनारहित कर्म करे।

कर्म करते हुए मनुष्य से अज्ञान-वश त्रुटियाँ हो सकती हैं किन्तु निष्काम भावना के कारण उसके सात्विक लक्ष्य पर किसी तरह का आक्षेप नहीं आता। लक्ष्य की स्थिरता ईश्वर के प्रति अनन्य भाव रखने से आती है। दोषों, त्रुटियों और भूलों से बचाव करना भी ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाश में ही सम्भव है।

सांसारिक आघातों से विकल होकर जब मनुष्य परमात्मा की शरणागति प्राप्त करता है तब हृदय की भावनाओं में परमात्मा की प्रेरणायें और उसके निर्देश प्राप्त होने लगते हैं। समर्पण या शरणागति का भाव जितना सजीव होगा परमात्मा की अनुभूति भी उतनी ही प्रखर होगी। संसार की पीड़ा और विपत्तियों से सकुशल बचे रहने के लिए परमात्मा की शरण अनिवार्य है। पर इतने से ही जीवन-लक्ष्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। अभी भावनाओं में उसका आवागमन होना बाकी है। आप देखते रहें कि मलिनतायें आपकी आकांक्षाओं को कहीं दबाती तो नहीं ? सुख की इच्छा और भोगों की कामनायें उठने लगेंगी तो आप किसी भी क्षण अपने लक्ष्य से भटक जायेंगे। यह सावधानी मनुष्य को पूर्णता की प्राप्ति तक रखनी पड़ती है।

कोतवाल के साथ रहने पर जिस तरह चोरों का भय नहीं सताता, उसी प्रकार सांसारिक भव-बन्धनों से वही निवृत्त रह सकता है जिसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश ओत-प्रोत हो रहा है। वह ब्रह्म ही सम्पूर्ण शक्तियों का स्वामी, सृष्टि का नियामक और कारण स्वरूप है।

आत्मा चेतन पदार्थ तो है किन्तु सत्तामात्र होने के कारण स्वतः क्रियाशील नहीं है। किन्तु आत्म-ज्ञान से मनुष्य अपने आपको परमात्मा में मिला देना सीख जाता है। ईश्वर की सत्ता में अपने आपको विलीन कर देने से मनुष्य को ईश्वरीय शक्तियों का अनुभव होने लगता है। उस समय उसके सारे विकार मिट जाते हैं और अनिवर्चनीय आनन्द की सुखानुभूति होने लगती है। जो कुछ भी शक्ति, सामर्थ्य और सम्पन्नता है वह परमात्मा में है। उसके पास बैठने के कारण ही यह श्रेष्ठतायें मनुष्य में भी आ जाती हैं। इस नियम को भूल जाने के कारण ही जीव क्षुद्र बन जाता है। परमात्मा की याद बार-बार न करते रहें, उसे अपने जीवन का अंग न बना लें तो यह जड़ता आ जाना संभव है।

संसार में रहकर मनुष्य तरह-तरह की कामनायें किया करता है। जिधर उसे सौन्दर्य, सुख और सन्तोष दिखाई देता है उधर ही वह चल पड़ता है। किन्तु विवेक की कसौटी यह है कि जो कुछ सत्य है वही ग्रहणीय है, जिससे अन्तःकरण की मलिनतायें मिट जाती हों वही अभीष्ट है। वह तत्व आत्म-तत्व ही हो सकता है। विचार के द्वारा इस आवश्यकता को समझ तो सकते हैं, एक क्षीण-सी जिज्ञासा भी उठती हैं इसके लिए किन्तु सुखों की प्रतिद्वन्द्विता में आत्म-ज्ञान की आकांक्षा मूर्छित रह जाती है। किसी एक लक्ष्य को प्रधान बनाये बिना काम चलता नहीं। इसलिए यह बात भली प्रकार विचार कर लेने की है कि आपका लक्ष्य क्या है। फिर उस पर दृढ़तापूर्वक चलते रहना चाहिये।

ईश्वर को प्राप्त करना और अपने अन्तःकरण में ईश्वरीय प्रकाश जागृत करना ही मनुष्य जीवन का ध्येय है। इस मार्ग में विघ्न-बाधायें आती हैं किन्तु जिनके विचारों में निष्ठा होती है, जो प्रबल जिज्ञासा रखते हैं और जिनकी आकांक्षायें इतनी बलवान होती हैं कि दुनियावी-कठिनाइयों से सहज ही मुकाबला कर सकें वे अपना जीवन-ध्येय पूरा कर लेते हैं। परमात्मा बहुत दूर नहीं है, वह हमारे समीप, हमारी साँस में समाया हुआ है उसे प्राप्त किया जा सकता है पर इसके लिए साधक की आकांक्षा अत्यन्त प्रबल होनी चाहिए।

लक्ष्य सिद्धि के लिए धैर्य आवश्यक है

स्वर्ग या अत्यधिक सुख की प्राप्ति की कामना से संसार के सब प्राणी नाना प्रकार की योजनायें बनाया करते हैं। इस दृष्टि से मनष्यों

को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—(१) नास्तिक और (२) आस्तिक। नास्तिक उन्हें कहते हैं—जो "विश्व का संचालन तथा नियमन करने वाली भी कोई शक्ति है।" इस बात को नहीं मानते। उनकी दृष्टि में संसार एक रसायनशाला है, जहाँ सब कुछ आप बनता है, अपने आप बिगड़ जाता है। नास्तिक व्यक्ति अपनी भौतिकवादी मान्यता तक ही सीमित रहें, तब तक उससे कोई हानि नहीं, किन्तु जब किसी नियन्त्रण करने वाली शक्ति के अस्तित्व को भुला दिया जाता है, तो मनुष्य वैसी ही स्वच्छन्दता बरतने लगता है, जैसे अँधेरी रात में चोर। इस स्थिति में मनुष्य की स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रमुख होती हैं। अतः यदि उनकी मान्यता सच भी हो जाय तो भी नास्तिकता कष्ट, कलह और विनाश के ही दृश्य उपस्थित करती है, इसलिए नास्तिकता की निन्दा की जाती है, उसे मनुष्य के लिए अहितकर बताया जाता है।

दूसरे व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जन्म-मरण को मानते हैं। यह अपेक्षाकृत विवेकी वर्ग है। विज्ञान की कमी ऐसे व्यक्तियों में भले ही हो, पर उनका वह सामान्य ज्ञान भी सापेक्ष है, जिसके द्वारा वे संसार की नियम-व्यवस्था को बनाये रखने में कुछ न कुछ योग देते रहते हैं। यदि वे किसी का भला नहीं कर सकते तो किसी का बुरा भी नहीं करते।

धर्म ऐसे ही व्यक्तियों से किसी तरह की कुछ आशा रखता है। नास्तिकों की वह उपेक्षा करता है और आस्तिक व्यक्तियों का मार्ग-दर्शन करता है। फिर भी धर्म और ईश्वर-विश्वास का जो प्रतिफल मनुष्य को मिलना चाहिये वह नहीं मिलता, उल्टे नास्तिक अपनी चतुराई और धूर्तता के कारण भौतिक सुख अधिक मात्रा में उपलब्ध कर लेते हैं। यह देखकर ऐसा समझ में आता है—धर्म में कहीं कोई भूल है, जिसे लोग नहीं समझ पा रहे। अन्यथा इसी धर्म-निष्ठा के कारण भारतवर्ष पहले इतना अधिक सुखी और समृद्ध था, पर अब साधन और विकास की अधिक परिस्थितियाँ होते हुये भी धार्मिक व्यक्तियों को असफल ही देखा जाता है। उसके जीवन में परमात्मा का प्रकाश हिलोरें मारता दिखाई नहीं देता। उनके जीवन में वह शक्ति, शौर्य, शान्ति, सुख और सन्तोष दिखाई नहीं देता, जो उन्हें मिलना ही चाहिए था।

लोगों की मान्यताओं का विकृत होना एक कारण है। किसी भी बात पर मानवीय दृष्टि से विचार किया जाता है। परमात्मा की कल्पना—दो हाथ, दो पाँव, नाक, मुँह, आँख, कान, पेट वाले मनुष्य के रूप में की जाती है। स्वर्ग एक विशेष स्थान माना जाता है, ठीक ऐसा ही जैसी पृथ्वी और वहाँ भी स्थूल भोग होने का मत पुष्ट किया जाता है। स्वर्ग और भगवान के ऐसे अलंकारिक चित्रणों में सम्भव है कुछ शिक्षायें हों, कुछ गूढ़ रहस्य या मनोवैज्ञानिक तथ्य सन्निहित हों, पर वे वास्तविक नहीं हैं। परमात्मा शरीरधारी मनुष्य नहीं और न उसे इस रूप में देखा ही जा सकता है। यदि कोई ऐसा कहता है तो यह भ्रम है। इसी प्रकार स्वर्ग किसी लोक या स्थान विशेष का नाम नहीं है। स्वर्ग का अर्थ है—सुख का स्थान और नरक का अर्थ—दुःख का स्थान। जहाँ सुख है, वहीं स्वर्ग है। जहाँ दुःख है, वहीं नरक है। फिर यह स्थान पृथ्वी भी हो सकती है। सूर्य, चन्द्र, मंगल या कोई अन्य ग्रह भी हो सकते हैं।

सुख की प्राप्ति दरअसल एक साधना है, जो अनवरत् श्रम, अटूट लगन, धैर्य और विश्वास से ही मिल सकती है। विद्यार्थी वर्षों तक विद्याध्ययन की साधना करते हैं, तब उन्हें विद्वान कहलाने का गौरव प्राप्त होता है। पहलवान बहुत दिन तक व्यायाम करने, पौष्टिक आहार जुटाने आदि की साधनाा के उपरान्त कसदार शरीर प्राप्त करते हैं। सेनाओं के अभ्यास शान्ति-काल में भी बराबर चलते रहते हैं, तब कहीं वे दुश्मनों से लड़ पाते हैं। वास्तव में सुख प्राप्ति के लिये जो शक्ति चाहिए, वह साधना से ही उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

धन कमाना हो तो धन की साधना की जाती है। कोई रोजगार तलाश कर पूँजी लगाते हैं, माल मँगाते हैं, दिन भर दुकान पर बैठते हैं, किफायत करते हैं, आवश्यकताएँ घटाते हैं, तब कहीं धन इकट्ठा हो पाता है। वायुयान चालक अन्तरिक्ष में जाने से पूर्व पृथ्वी पर ऊपर उड़ने

की साधना करते हैं। किसान सालभर खेतों में जुटे रहते हैं। तब कहीं अन्न की पैदाइश हो पाती है। संसार में हर तरह की उपलब्धि के लिए साधना करने का एक निश्चित विधान है। इस विधान से देव, दनुज, मनुज आदि सभी बँधे हैं, इस नियम का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

स्वर्ग और सुख की प्राप्ति के लिए भी यह साधना परमावश्यक है। साधना का अर्थ है—कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए प्रयास जारी रखना। उपासना, जप, यज्ञ आदि भी अध्यात्म की मुख्य प्रतिक्रियाओं में हैं, किन्तु यह सर्वांगपूर्ण नहीं हैं, यह भी साधना का ही एक अंग है। साधना एक प्रकार की परीक्षा है। यह साधनाशील जीवन का कठोर किन्तु कल्याणकारी प्रसंग है। परीक्षा पर परीक्षा ली जाती है, तब कहीं उत्तीर्ण होने का सौभाग्य मिलता है। साधना पथ से विचलित हो जाने वाले इन परीक्षाओं को पार नहीं कर पात, बीच में ही फेल हो जाते हैं। जो कठिनाइयों, संघर्षों, आपदाओं, मुसीबतों, विपरीत परिस्थितियों से भी नहीं घबड़ाते, अन्ततः साधना की सफलता का सौभाग्य उन्हीं को मिलता है। इस सीढ़ी को वही पार करते हैं—जो "प्रभो ! पग-पग पर मेरी परीक्षा लेने की भावना रखते हैं। ध्रुवता के साथ साधना-पक्ष पर आरूढ़ रहने वाले ही संसिद्धि प्राप्त करते हैं।

मनुष्य बड़ा उतावला प्राणी है। तत्काल लाभ प्राप्त करने की उसकी बड़ी इच्छा होती है। सफलता के परिपाक के लिए जितने घड़ी-घन्टे अभीष्ट होते हैं, वह उन्हें लाँघना चाहता है, पर ऐसी आशा दुराशा मात्र है। हथेली में सरसों जमाने की बात कल्पना कभी फलवती नहीं होती। नौ माह गर्भ में पकने वाला बालक एक दो माह में पैदा हो जाना कठिन नहीं, असम्भव भी है। सफलता की अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है। इसके लिए धैर्य चाहिए, ध्रुव-धैर्य चाहिए। एक-एक सीढ़ी चढ़ने से सैकड़ों सीढ़ियाँ चढ़ी जा सकती है। एक ही छलाँग में कोई १००-२०० फुट की ऊँचाई नहीं लाँघ सकता। उतावलापन एक कमजोरी है, जल्दबाजी में धोखा होता है, उसमें कभी भी विश्वास नहीं किया जाना चाहिये।

कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व एक बात मन में बिठा लेनी चाहिये। हम इसे अन्त तक, सफलता मिल जाने तक पालन करेंगे। मनुष्य जीवन में दृढ़ता और अडिगता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अपने जीवन को किसी और पर आधारित रखकर स्वयं उसे साधना-सँभालना तथा बहुत देर तक प्रतीक्षा करने में अधिक सरसता है। साधना एक प्रकार का आनन्द है, जिसे थोड़ी देर भोगने से तृप्ति नहीं होती, वरन चिरकाल तक उस रस को लूटा जाता है। भार की तरह ढोने के लिए साधना नहीं, वह तो पुरुषार्थी को आनन्द देने वाली होती है।

अधिक बड़े संघर्ष न पैदा हों, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि आपका साधन छोटा हो। साइकिल, साइकिल से टकरायेगी तो क्षति कम होगी। रेल, रेल से टकरायेगी तो बड़ी हानि होगी। छोटे साधन सरल होते हैं, बड़ों में असफलता के क्षण अधिक आते हैं। अपनी योजनायें छोटी हों तो उससे भी बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। धीमी गति में स्थिरता और स्थायित्व होता है।

साधना सिद्धि और लक्ष्य सिद्धि के यह शाश्वत नियम हैं। इन्हें कोई साधारण भले ही समझें पर इनकी वास्तविकता में राई-रत्ती गुंजाइश नहीं। लक्ष्य चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा—स्वर्ग और मुक्ति की कामना हो, यश, धन अथवा कीर्ति की, मनुष्य को सन्तुलन रखकर मन्द-गति से, लगन के साथ धैर्यपूर्वक साधना करनी पड़ती है। कहा भी गया है—

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सीचें सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।।

ऐ मेरे मन ! धीरे-धीरे चल, इसमें तुझे सब कुछ मिल जायगा। माली चाहे सौ घड़ों से ही वृक्ष को क्यों न सींचें, फल तो मौसम में ही लगते हैं।

भाव उत्कृष्टता से पूर्णता की प्राप्ति

भावना के आधार पर पत्थर में भगवान प्रकट होते हैं। इस जड़ जगत में चेतन का साधारण स्वरूप तो वह है जिसके अनुसार जीव जन्मते-मरते, सोते-खाते और अपनी शरीर यात्रा पूरी करते हैं, पर विशिष्ट स्वरूप भावना में ही सन्निहित है। बाहर से देखने में मनुष्य, देवता और असुर एक-सी ही शक्ल-सूरत के होते हैं पर उनका भीतरी स्वरूप एक-दूसरे से सर्वथा विभिन्न होने के कारण उनका आचरण एवं व्यक्तित्व उसी के अनुसार ढल जाता है।

बाह्य जीवन में मनुष्य जैसा भी कुछ दीखता है वस्तुतः वह उसके आन्तरिक स्वरूप का प्रतिबिम्ब मात्र ही होता है। मोटर किस दिशा में दौड़ रही है इसमें श्रेय मोटर का नहीं ड्राइवर की इच्छा का है। वह चाहे तो क्षण भर में उसे मोड़कर विपरीत दिशा में वापिस भी लौटा सकता है। इसी प्रकार जीवन का बाहरी ढर्रा आज जिस प्रकार चल रहा है कल उसमें भारी परिवर्तन भी हो सकता है और वह परिवर्तन इतना बड़ा होना भी सम्भव है कि उसे आश्चर्य जैसा देखा या माना जाय।

वाल्मीकि और अंगुलिमाल जैसे भयंकर डाकू क्षण-भर में परिवर्तित होकर इतिहास-प्रसिद्ध सन्त बन गये। गणिका और अम्बपाली जैसी वारांगनाओं को सती साध्वी का प्रातः स्मरणीय स्वरूप ग्रहण करते देर न लगी। विश्वामित्र और भर्तृहरि जैसे विलासी राजा उच्चकोटि के योगी बन गये। नृशंस अशोक बुद्ध धर्म का महान् प्रचारक बना। तुलसीदास और सूरदास की कामुकता का भक्ति भावना में परिणित हो जाना प्रसिद्ध है। विशिष्ट लोगों के इस प्रकार के असंख्य चरित्र इतिहास के पृष्ठों पर पढ़े जा सकते हैं। छोटी श्रेणी के लोगों में छोटे-मोटे आश्चर्यजनक परिवर्तन नित्य ही देखने को मिल सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि जीवन का बाहरी ढर्रा जो चिर प्रयत्न से बना हुआ होता है, विचारों में—भावनाओं में परिवर्तन आते ही बदल जाता है।

मित्रों को शत्रु बनते, शत्रु को मित्र रूप में परिणित होते, दुष्ट को सन्त बनते, सन्त को दुष्टता पर उतरते, कंजूस को उदार, उदार को कंजूस, विषयी को तपस्वी, तपस्वी को विषयी बनते देर नहीं लगती। आलसी उद्योगी बनते हैं और उद्योगी आलस्यग्रस्त होकर दिन बिताते हैं। दुर्गणियों में सद्‌गुण बढ़ते—और सद्‌गुणी में दुर्गुण उपजते देर नहीं लगती। यह जादू जैसे हेर-फेर आये दिनों मनुष्यों के जीवन में होते रहते हैं। इसका एकमात्र कारण इतना ही है कि उनकी विचारधारा बदल गई, भावनाओं में परिवर्तन हो गया। भीतरी आस्थाओं, विश्वासों, मान्यताओं एवं आकांक्षाओं में यदि थोड़ा भी हेर-फेर होता है तो उसकी छाया बाह्य जीवन में तुरन्त दिखाई देने लगती है।

संसार का जो भी भला-बुरा स्वरूप हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, समाज में जो कुछ भी शुभ-अशुभ दिखाई पड़ रहा है, व्यक्ति के जीवन में जो कुछ उत्कृष्ट-निकृष्ट है उसका मूल कारण उसकी अन्तःस्थिति ही होती है। धनी निर्धन, स्वस्थ-निरोग, अकाल मृत्यु-दीर्घ जीवन, सन्त-असन्त, मूर्ख विद्वान, घृणित-प्रतिष्ठित, सफल असफल का बाहरी अन्तर देखकर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है। पर लोग यह भूल जाते हैं कि यह बाहरी भली-बुरी परिस्थितियाँ और कुछ नहीं मनुष्य के मनोबल, आस्था और अन्तःप्रेरणाओं की प्रतीक हैं। भाग्य भी यदि कभी कुछ करता होगा तो निश्चय ही उसे पहले मनुष्य की मनोरुचि में ही प्रवेश करना पड़ता होगा। जिसकी अन्तः गतिविधियाँ सही दिशा में चलने लगीं उसके लिये अभीष्ट दिशा में सफलता ही मिलने वाली है किन्तु जिसका मानसिक स्तर चन्चलता, अवसाद, अविश्वास, आलस, आवेश, दैन्य आदि दोषों से दूषित हो रहा है, उसके लिये अच्छी परिस्थितियाँ और अच्छे साधन उपलब्ध होने पर भी दुर्गति का ही सामना करना पड़ेगा।

सौभाग्य और दुर्भाग्य यों दैवी अनुग्रह एवं कोप का, प्रारब्ध भोगों का परिणाम दिखाई पड़ता है, पर गम्भीरता से विचार करने पर इसी

परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि यह तत्व केवल हमारी आन्तरिक उत्कृष्ट और निकृष्ट परिस्थितियों का ही परिणाम है। यदा-कदा अपवादस्वरूप कभी-कभी इसमें ऐसे विपरीत उदाहरण भी देखे जाते हैं जब सुव्यवस्थित व्यक्तित्व वाले व्यक्ति भी आपत्तियों में फँसते और अस्त-व्यस्त लोग मौज मारते रहते हैं। इसमें भी उनका कोई गुप्त गुण-दोष ही कारण रहता है। अच्छे-समझे जाने वाले व्यक्ति, अधिकांश अच्छाइयों के होते हुए भी कुछ दोष अपने में छिपाये रहते हैं, वे दोष भी अपनी विकृतियाँ तो उत्पन्न करेंगे ही। समझा यह जाता है कि यह आपत्ति अच्छाइयों के कारण आई पर वस्तुतः वह उनकी किन्हीं भूलों एवं त्रुटियों का ही परिणाम होता है। इसी प्रकार कई बुरे समझे जाने वाले व्यक्ति भी कुछ लाभ एवं सफलताएँ उठाते हैं। वह भी उनकी किन्हीं अच्छाइयों का ही प्रतिफल होता है।

सत्यवादी और ब्रह्मचारी व्यक्ति यदि क्रोधी स्वभाव का है तो उसके प्रति लोग विरोध एवं द्वेष भाव रख रहे होंगे। सत्यवादिता को इसके लिए दोष नहीं दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार कोई डाकू लूट का माल लें आता है तो इसमें उनके साहस को ही श्रेय मिलेगा। सत्यवादिता का शुभ और डकैती का अशुभ फल तो समयानुसार उन्हें मिलेगा ही। पर सज्जन में जो छोटा दोष और दुर्जन में जो थोड़ा गुण था उसका भी तो बुरा-भला फल उन्हें मिलना चाहिए। यह कहना उचित नहीं कि डकैती में धन मिलता है। डकैती तो समाज में घृणा, परलोक में नरक और राजदण्ड में जेल का ही परिणाम उत्पन्न कर सकती है। जो लाभ मिला वह तो उसके निरोग शरीर, मनोबल, दुस्साहस, सतर्कता, मुस्तैदी, निशानेबाजी, चतुरता आदि अनेक गुणों का ही प्रतिफल मात्र था।

यह कहना उचित नहीं कि इस कलियुग में सज्जन घाटे में और दुर्जन लाभ में रहते हैं। सनातन नियमों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। सत्य और तथ्य देश-काल पात्र का अन्तर किये बिना सदा सुस्थिर और अक्षुण्ण ही रहते हैं। सन्मार्ग पर चलने वाले की सद्‌गति और कुमार्ग पर चलने वाले की दुर्गति होने की सचाई में कभी भी किसी प्रकार भी अन्तर नहीं आ सकता। कलियुग-सतयुग की कोई बाधा इन सत्यों को झुठला नहीं सकती। सूर्य सदा से गर्मी और प्रकाश का केन्द्र रहा है। जल सदा ही प्रवाही और शीतल माना जाता है। परिस्थिति-वश थोड़ा अन्तर कभी पड़ जाय यह बात दूसरी है पर उनके मूल स्वरूप में स्थाई अन्तर नहीं आ सकता। इसी प्रकार श्रेष्ठता के सत्परिणाम और दुष्टता के दुष्परिणामों के अतिरिक्त और किसी भिन्नता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह अटल तथ्य सूर्य और चन्द्रमा की तरह अपने-अपने स्थान पर आदिम ही बने रहेंगे।

अध्यात्म का मूल्यांकन किसी कर्मकाण्ड, आवरण, आडम्बर या दृश्य से नहीं किया जा सकता। वह तो विशुद्ध रूप से एक आन्तरिक स्थिति है, जिसकी विचारणा और मान्यता उच्च आदर्शों पर अवलम्बित है। वस्तुतः वही अध्यात्मवादी है जो स्वार्थ, लालच, वासना और विलास को पृथक रखकर सोचता है। बाह्य परिस्थितियाँ इससे भिन्न प्रकार की भी देखी जाती हैं। कई ढोंगी धर्म-ध्वजी लोग दूसरों को ठगने के लिए धर्मात्मा का आडम्बर ओढ़ बैठे रहते हैं और उसी प्रदर्शन से भोले लोगों को ठगते-खाते रहते हैं। साधु का भेष धारण किये कितना ही दुरात्मा लोग धन और माल की लूट मचाते रहते हैं। बेचारे सरल स्वभाव व्यक्ति उनके आडम्बर को ही साधुता का प्रमाण मानकर अपनी गाँठ कटाते रहते हैं।

इसी तरह ऐसा भी देखा जाता है कि साधारण गृहस्थ जैसा कार्यक्रम अपनाये हुए सादा और सरल जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति अत्यन्त उच्च कोटि की भूमिका में जार्गत रहते हुए सन्त, ऋषि, महामानव, देवदूत जीवन-मुक्त एवं नर-नारायण जैसा व्यक्तित्व बनाये रहने में समर्थ होते हैं। कई व्यक्तियों को छोटी-सी सरल पूजाविधि उत्कृष्ट भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण महान तपश्चर्या जैसा लाभ देती है। और कई कष्ट साध्य योगाभ्यास करने वाले विरक्त वनवासी भी भावना के अभाव में केवल लकीर ही पीटते रहते हैं। भूसी कूटने की तरह उनके हाथ लगता कुछ नहीं। कर्मकांड की उपयोगिता

तभी है जब उसके साथ भावना का समुचित सम्मिश्रण हो। इसके बिना वह सारा क्रिया-कलाप बिडम्बना मात्र बनकर रह जाता है।

गुरुजनों के श्रद्धापूर्वक चरण-स्पर्श और लकीर पीटने की तरह पैर छू देने की क्रिया समान होते हुए भी उसका प्रतिफल आकाश पाताल जैसा भिन्न होता है। गंगा स्थान, देव पूजन, श्रद्धा, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, जप-तप, हवन, तर्पण, त्यौहार, संस्कार आदि धर्म कृत्यों के साथ जितनी उच्चस्तरीय भावना जुड़ी होगी उसी अनुपात से उनका शुभ संस्कार अन्तःकरण पर जमेगा और आस्तिक विकास से यह क्रियाऐं उतनी सहायक होंगी। यदि बेगार भुगतने की तरह एवं क्रीड़ा-कौतुक या चिन्ह पूजा की भाँति इन्हें निपटाया जाय तो दूसरों को दृष्टि से धर्मात्मा समझे जाने के मिथ्या सन्तोष का लाभ भले ही मिल जाय वस्तुतः इनसे कोई आध्यात्मिक प्रयोजन सिद्ध न होगा।

'अध्यात्म' की एक शब्द में यदि व्याख्या की जाय तो उसे 'उत्कृष्ट भावना' कहा जा सकता है। जिसके मस्तिष्क, मन, अन्तःकरण में उच्च आदर्शवादी भावनाएँ उठती रहती हैं, जो अपनी जीवन आदर्श की दिशा में मोड़ रहा है उसे अध्यात्मवादी कहा जा सकता है। शुभ कर्म इसके लिए एक श्रेष्ठ साधन हैं। उनके माध्यम से वे भावनाएँ कार्यान्वित होने पर संस्कार का रूप धारण करती हैं और स्वभाव से सम्मिलित होकर मनोभूमि में परिपक्वता एवं स्थिरता का रूप ग्रहण करती हैं। इसलिए शुभ कर्म अध्यात्म की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक अंग माने गये हैं। धर्मकृत्यों की प्रशंसा एवं उपयोगिता इसी दृष्टि से है। पर यदि कोई शुभ कर्म परम्परा की पूर्ति या भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया जाय तो वह आध्यात्मिक प्रगति में विशेष सहायक न हो सकेगा। यों शुभकर्मों के सहारे ही आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग खुलता है पर यह स्मरणीय है कि भावनाओं के जागरण की अपेक्षा की गई, उनका अभाव बना रहा तो फिर बड़े-से-बड़े कर्मकांड भी जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ विशेष सहायक न हो सकेंगे।

भक्ति का तात्पर्य कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति ही है। यों आज ईश्वर की पूजा, अर्चना, ध्यान कीर्तन को ही भक्ति कहा जाता है पर हमें जानना चाहिये कि वह तो विशाल भक्ति भावना का एक कणमात्र है। समग्र भक्ति वह है जो मानव मात्र में, प्राणि मात्र में, जड़-चेतन में, सर्वत्र महान एवं उत्कृष्ट ही देखती है और अपनी कोमल भावनाओं से इस जगती में कण-कण को आच्छादित करके उसे प्रेम के अमृत में सराबोर कर देती है। उसी अनुभूति में मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है और साथ ही जीवन को सार्थक हुआ भी अनुभव करता है। उपासनात्मक कर्मकाण्ड में भक्ति भावना का समन्वय होना, आरम्भिक अभ्यास की दृष्टि से उपयोगी है पर उसे उसे ही 'पूर्णता' मान बैठना भारी भूल कही जायेगी। जो लोग ईश्वर पूजा में तो भक्त दिखाई पड़ते हैं पर व्यावहारिक जीवन में संकीर्णता, स्वार्थपरता, निष्ठुरता धारण किये रहते हैं उनको सच्चा भक्त किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है। संकीर्ण दायरे तक में ही सीमित पूजा-वन्दना के छोटे दायरे में बँधी हुई भक्ति प्रारम्भिक अभ्यास का एक अंकिचन साधन भले ही हो उससे वास्तविक प्रयोजन किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता।

हमें समग्र अध्यात्म की साधना करनी होगी क्योंकि उसे अपनाये बिना जीवन की सार्थकता का मार्ग अवरुद्ध ही बना पड़ा रहेगा। भावना को आदर्शवाद की दिशा में तरंगति करने और उन्हें कार्य रूप में परिणत करते हुए परिपक्व होने देने के प्रयोजन से शुभ कार्य करते रहने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ेगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमारी विचारधारा यदि आदर्शवादी परम्पराओं का अवलम्बन करके अग्रसर हो, व्यावहारिक जीवन में उतरे और जीवन-क्रम को ओत-प्रोत करे तो समझना चाहिए कि अब हम सचमुच अध्यात्मवादी बने और उस महान जीवन लाभ को पाने के अधिकारी बने जिसे प्राप्त करके मनुष्य धन्य बन जाता है। अमृतत्व का अनुभव करते हुए अक्षय आनन्द में निमग्न रहता है और पूर्णता एवं जीवनमुक्ति का परम लाभ प्राप्त करता है।

जीवन में साहचर्य और एकान्त का समन्वय हो

कुछ वस्तुयें इस जगत में ऐसी हैं जो अत्यधिक सुखद, आकर्षक और प्रिय होती है, कुछ ऐसी हैं जिन्हें मनुष्य पसन्द नहीं करता। किन्तु उपयोग की दृष्टि से प्रिय-अप्रिय दोनों ही परिस्थितियाँ आवश्यक हैं। दिन भर काम करने के उपरान्त मनुष्य जब थककर चकनाचूर हो जाता है तो उसे निद्रादेवी की गोद में विश्रान्ति मिलती है। सोने में सुख मिला है, पर किया क्या जाय उसे भी त्यागना पड़ता है और पुनः कर्म में जुटना पड़ता है। स्वादयुक्त भोजन, सुखद स्पर्श, प्रिय-मिलन, आदि की ओर मनुष्य की स्वाभाविक रुचि होती हे किन्तु उसे यह भी सर्वदा उपलब्ध नहीं। मिल भी जायें तो जीवन अधिक दिन तक ठहर नहीं सकता। सुखवादी व्यक्तियों का दृष्टिकोण प्रायः ऐसा स्थूल होता है किन्तु इससे वे जीवन के एक पक्ष, ब्रह्म भाग को ही देख पाते हैं। आन्तरिक दृष्टि, सच्ची दृष्टि के लिए मनुष्य को संयोग और वियोग, सुख और दुःख-सुविधाओं और कठिनाइयों की संगति परमावश्यक है। यह स्थिति बनाये रखना निष्काम कर्मयोग की आवश्यक शर्त है।

अन्य परिस्थितियों की तरह मनुष्य के सामाजिक जीवन में भी यह उभयनिष्ठ स्थिति आवश्यक है। जीवन-विकास और जीवन के कार्यक्रम साथ-साथ चलें तभी मनुष्य जीवन की सार्थकता है। सदैव सामाजिक जीवन, प्रिय परिजनों में ही लिप्त-आसक्त रहने में स्थूल दृष्टि से सुख अधिक है किन्तु साहचर्य आत्मा के लिए कभी सर्वाधिक प्रेरणादायक होता है, और कभी-कभी आत्म-कल्याण की सर्वाधिक प्रेरणा एकान्त में रहने से मिलती है। अतएव मनुष्य का जीवन इस तरह का होना चाहिए कि वह अपने कर्तव्यों का पालन साहचर्य में रहकर करता रहे किन्तु आत्म-चिन्तन के लिये कुछ एकान्त की भी व्यवस्था बनाये रखे ताकि वह जीवन साफल्य के अनावश्यक प्रश्नों पर गहराई से छानबीन कर सके।

ऋषियों का जीवन हमारे लिये अनुकरणीय है। सब की तरह वे भी गृहस्थ थे। पारिवारिक जीवन में रहते हुए भी जो उन्होंने आत्म-तत्व की विशद व्याख्या की है, उसका कारण यही था कि वे एकान्त-चिन्तन और आत्म-शोधन के लिए भी पर्याप्त समय निकालते थे। वह उत्तर जो हमें भी आन्तरिक शान्ति दे सकता है उसे बाह्य वस्तुओं में पाया जाना असम्भव है। आत्म-जगत, परमात्मा और स्वर्ग को अधिक समीप देखने के लिए कोलाहलपूर्ण वातावरण नहीं, एकान्त चाहिए, जहाँ मनुष्य निर्विघ्न, तल्लीनतापूर्वक प्रश्न की गहराइयों में डूब जाय और विचारों के उमड़ते हुए समुद्र में से सत्य की सीपी ढूँढ़कर बाहर निकाल लाये। आने वाली रात को सुन्दर बनाने वाले तारागणों की, ग्रह-नक्षत्र और उल्काओं की वैज्ञानिक शोध हमारे ऋषियों ने घाटियों, पहाड़ियों की निस्तब्ध निर्जनता में ही की थी।

भावनात्मक विकास के लिए नितान्त एकान्त भी अच्छा नहीं है। संगति और साहचर्य भी मनुष्य के विचारों को विशाल बनाने के लिए आवश्यक हैं। आत्मतत्व की खोज भले ही एकान्त में हो सकती हो किन्तु मानवोचित सद्‌गुणों का परिष्कार तभी सम्भव है जब वह समाज में रहकर अपनी भावनाओं को व्यवहारिकता प्रदान करे। प्रेम ईश्वर निष्ठा के लिए चाहिए पर प्रेम की सीख एकान्त में कैसे हो सकती है। उसके लिए कुछ आधार भी तो चाहिए। स्नेह, उदारता, आत्मीयता, सहिष्णुता, सौमनस्यता आदि का विकास साहचर्य में सम्भव है। सेवा-सहानुभूति, दान-दया के मंगलदायक सत्कर्म समाज में रहकर ही संभव हैं। अतः साहचर्य और एकान्त में एक प्रकार का ताल-मेल होना चाहिए। दोनों के समन्वय से ही सच्ची जीवन-सिद्धि की कल्पना की जा सकती है।

तप और तितीक्षा के औचित्य से जहाँ इन्कार नहीं किया जा सकता है वहाँ यह भी कहना गलत नहीं है कि सुख और भोग निरर्थक हैं। दोनों अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण स्थितियाँ हैं इन्हें स्वाभाविक और स्वस्थ साधनों से ही शांत किया जाना चाहिए। बलपूर्वक किसी कार्य में रुचि नहीं पैदा की जा

सकती। भोग की इच्छा चल रही है तो उस समय तप नहीं किया जा सकता। इसी तरह आन्तरिक प्रेरणाओं को निरस्त कर भोगवादी दृष्टिकोण रखना भी उचित नहीं है।

अवसर का उपयोग मनुष्य के हाथ की बात और उसकी सबसे बड़ी चतुराई है। मनुष्य को नियन्त्रण का कार्य करना चाहिये। उसे आत्मा की आवश्यकता के अनुरूप ही जीवन को गति देना चाहिए। जीवन निर्माण का अनुभव इतना ठोस नहीं है। अनुभव साथियों, सहचरों की संगति में ही प्राप्त किये जा सकते हैं। परीक्षा के प्रश्न-पत्र हल करने के लिए जिस तरह विद्यार्थी एक वर्ष तक पढ़ता है और फिर उसे तीन घन्टों में व्यक्त करते हुए अपनी सफलता या असफलता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करता है उसी तरह एकान्त में आत्म-विवेचन और जीवन शोध के लिए सामाजिक जीवन का अनुभव और अध्ययन जरूरी है। इसी के आधार पर आत्म-शोध और ईश्वर प्राप्ति की पात्रता प्राप्त कर पाता है।

जीवन के प्रति एक स्वस्थ, स्वाभाविक व सामान्य दृष्टिकोण स्त्री-पुरुषों के साहचर्य से निकलकर आता है। एक साथ रहने और परस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया जारी रखने से सच्ची गंभीरता एवं पवित्रता आती है। आत्म-प्रेरणाओं की अधिक मात्रा एकत्र कर उनसे विधिवत् लाभ प्राप्त करने के लिए साहचर्य जरूरी है। बिलकुल एकान्त में रहकर मनुष्य अपनी इच्छायें भले ही शान्त कर ले किन्तु वासनाओं का पूर्ण दमन इस तरह संभव नहीं है। अनुरूप परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर योगियों की चित्तवृत्तियाँ तक स्खलित हो जाती हैं पर पारिवारिक जीवन में ऐसी कोई आंशका नहीं रहती। विषयों में अनुरक्त न हो और थोड़ा-थोड़ा समय एकान्त चिन्तन के लिए भी मिलता रहे तो आत्म-ज्ञान की उच्च कक्षा मनुष्य स्वाभाविक तौर पर उत्तीर्ण कर सकता है।

साहचर्य पर इतना बल देने का तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य का जीवन पूर्णतया आसक्त और भोगी बन जाय। छूट और स्वाधीनता, साहस और शक्ति की परीक्षा के लिये है जिनमें उत्तीर्ण होने का विश्वास मनुष्य कुछ क्षण एकान्त में व्यतीत करने से ही प्राप्त कर सकता है। उस समय यदि स्थिर चित्त रहकर आत्मा के विषयों को मनन कर सकें। काम, क्रोध, लोभ और मोह के रागात्मक भाव यदि मन में न आयें तो ही यह मानना चाहिये कि हम ईश्वर प्राप्ति या जीवन-लक्ष्य सिद्धि के अधिकारी हैं। किन्तु यदि मन उस व्यवस्था में जाकर भी विचलित हो तो केवल एकान्त में रहना छल मात्र है। इस स्थिति का सुधार पुनः व्यापारिक जीवन में आकर भावनाओं के परिष्कार द्वारा ही किया जा सकता है।

इस प्रकार का अनुभव मस्तिष्क और चरित्र के विकास के लिये नितान्त आवश्यक है। व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से उसको प्राप्त प्रेरणाओं पर ही निर्भर है इसलिये एक अत्यन्त स्वस्थ, सुदृढ़ तथा विवेकपूर्ण सामाजिक स्थिति की तो जरूरत है पर पूर्ण रूप में असामाजिक रहकर सच्चे विकास की उतनी सुविधायें प्राप्त नहीं होतीं। प्ररेणाएँ सहवास से मिलती हैं। संगति से मनुष्य का जीवन निर्मित होता है अतः उसे भले लोगों का साहचर्य प्रत्येक अवस्था में चाहिये ही। इसके बिना मनुष्य का सर्वतोन्मुखी विकास कठिन रहेगा।

साहचर्य में इच्छाओं की मधुरता का आनन्द मिलता है, पर इच्छायें अपने आप में अतृप्त हैं उनमें एक स्वाभाविक कमी यह भी है कि वे क्रमिक रूप से बढ़ती जाती हैं सम्भवतः इसीलिये उनसे आंशिक सुख का ही अनुभव हो पाता है। इस अवस्था में यदि मनुष्य का दिमागी सन्तुलन बिगड़ जाय तो उसका पतन बहुत ही दुःखद स्थिति में होता है। भौतिक सुखों की लालसा को ही बढ़ाते जाना आध्यात्मिक भूख का उपचार न करने का परिणाम दुःख और विपत्तियों के रूप में प्रकट होता है। आत्मा को वास्तविक सुख और सच्ची शान्ति आध्यात्मिकता में ही मिलती है। इसके लिये इच्छाओं के माधुर्य का परित्याग कर भावनाओं की उच्च स्थिति प्राप्त करना जरूरी है। आन्तरिक प्रसन्नता, विचार एवं पारस्परिक मेल-मिलाप या क्रिया-संघर्ष से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिए एकान्त भी चाहिये। यह आवश्यकता शरीर को निद्रा द्वारा स्वस्थ बनाने के समान ही है। एकान्त में

विचारों को एक ही स्थिति में छोड़ देने से मानसिक संघर्ष रुकता है जिससे मनुष्य को हलकापन महसूस होता है। अतः आध्यात्मिक जीवन को नियमित रखने के लिये एकान्त भी बहुत आवश्यक है।

स्वास्थ्य की सुरक्षा का समान्य नियम है कि शक्ति सम्वर्धन के लिये आहार भी ग्रहण करें और भीतरी अवयवों की सफाई के लिये कभी-कभी आहार का परित्याग भी करते रहें। दोनों प्रक्रियायें समान रूप से आवश्यक हैं। जिसे छोड़ेंगे उधर ही गड़बड़ी पैदा होगी। आध्यात्मिक जीवन को नियमित रखने के लिये गुण-विकास की क्रिया साहचर्य में रहकर पूरी की जाती है। आत्मचिन्तन के नितान्त आन्तरिक, आरम्भिक और अलौकिक सत्य तक पहुँचने के लिये कुछ समय एकान्त में भी बिताना चाहिये। इसी तरह के जीवन-क्रम से अपनी पवित्रता और शान्ति को स्थायी रख सकना सम्भव है।

मनुष्य की जिन्दगी उमंगों का एक दरिया है। नदी की बाढ़ की तरह भावनाओं में उत्तेजना भी आना स्वाभाविक है पर इन भावनाओं को नियन्त्रण में न रखा जाय और आन्तरिक पवित्रता को अक्षुण्ण न रखा जाय तो व्यक्तिगत जीवन में अनेकों बुराइयाँ पैदा होंगी। भावनाओं को धारावाहिक रूप देने के लिए और अपवित्रताओं से संघर्ष करने के लिये मनुष्य के जीवन में अच्छी-बुरी दोनों परिस्थितियों का समन्वय जरूरी है। हम सुख भोगों पर दुःखों का सहर्ष स्वागत करने के लिये तैयार रहें, सुविधायें प्राप्त करें पर कठिनाइयों से जूझने की हिम्मत भी रखें। समाज और साहचर्य में रहकर जीवन को शुद्ध और पवित्र बनाने का क्रम जारी रहे और एकान्त में आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण की साधना भी चलती रहे तो मनुष्य स्वस्थ और स्वाभाविक जीवन जीते हुये भी अपना जन्म उद्देश्य पूरा कर सकता है, शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकता है।

भावातिरेकता बढ़ने न दें

भावुकता जहाँ एक गुण है वहाँ भावातिरेकता एक कमजोरी है। यदि आप अपने को भावुक अथवा सम्वेदनशील समझते हैं, वहाँ पर यह अवश्य देख समझ लें कि जिसे आप अपनी भावुकता मान रहे हैं वह भावातिरेकता का दोष तो नहीं है। यह दोष आपको बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ही पता चल पायेगा, क्योंकि अपना दोष अपने को जल्दी दृष्टिगोचर नहीं होता और अपनी वह कमी तो एक प्रकार से पता ही नहीं चल पाती जो गुण के घाट नहाती हुई अपना मिश्रित अस्तित्व स्थापित करती है।

भावुकता एक विशेषता है। यह मनुष्य को लेखक, चित्रकार, कवि, दूरदर्शी, कल्पनाशील, सहानुभावक, भक्त, प्रेमी, सेवक आदि बनाकर एक अनिर्वचनीय अनुभूति प्रदान करती है। जो लेखक अथवा कवि जितना अधिक भावुक होता है उसके लेख अथवा कवितायें उतनी ही अधिक मार्मिक तथा प्रेरक होती हैं। इस गुण से सम्पन्न चित्रकार का आलेखन अधिक आकर्षक तथा लोकप्रिय होता है। भावुक भक्ति ही भगवान् का दर्शन जल्दी पाता है। भावुक व्यक्ति की सहानुभूति जल्दी ही दूसरों की अभिभूत कर लेती है। भावुक वक्ता तो अपने श्रोताओं को अपने शब्दों के साथ रुलाता भी चलता है। सच्ची भावुकता भगवान का प्रसाद ही है जो कि मनुष्य को देवत्व की ओर बहुत दूर तक बढ़ा देता है। किन्तु जब यह गुण अपनी वांछित सीमा के पार निकलकर भावातिरेकता में बदल जाता है तब दोष बन जाता है।

भावातिरेकी जल्दी ही किसी बात, व्यक्ति अथवा घटना से प्रभावित हो जाता है। एक साधारण सी भी मनोनुकूल बात से इतना प्रभावित हो जाता है मानो वह सुनी हुई बात उसके हृदय से ही निकली हो। जल्दी ही किसी व्यक्ति की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अनायास ही विश्वास कर लेता है। उसके सामने हृदय खोलकर रख देता है और आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करते देर नहीं लगाता है।

आत्मीयता अच्छी बात है, विश्वास बुरी चीज नहीं है। तथापि यह दोनों वस्तुयें काफी मूल्यवान् हैं और यों ही गली-कूँचे लुटाने बरसाने वाली चीजें नहीं हैं। यह मानवीय रत्न उन्हीं सत्पात्रों को सौंपना चाहिये जो वास्तव में इसके योग्य हों। यह संसार सदैव से बड़ा विचित्र रहा है और आज तो और भी विचित्र हो गया है।

इसमें विश्वास तथा आत्मीयता का शोषण करने की कला बहुत बढ़ गई है। लोग विश्वास पाकर ही धोखा देते हैं, आत्मीयता जगाकर ही उल्लू सीधा करते हैं। कमजोरी पकड़कर ही लाभ उठाते हैं। भावातिरेकी पात्र कुपात्र देखे बिना ही, उनको जाँचे और परखे बिना अपनी दुर्बलता के कारण ही अपने यह बहुमूल्य रत्न किसी को भी सौंप देते हैं। जिसके फलस्वरूप कटु अनुभव के बाद खिन्नता तथा पश्चाताप के भागी बनते हैं।

इसके विपरीत भी भावातिरेकी जिसके प्रति घृणा अथवा द्वेष की भावना बना लेता है फिर उसे जल्दी बदलता ही नहीं ! उसके लिये वह भावना पत्थर की लीक हो जाती है फिर चाहे उसका यह भाव किसी भ्रम अथवा भूल से ही क्यों न बन गया हो। अपने द्वेष अथवा घृणापात्र के प्रति उसका विरोधी इस सीमा तक बढ़ जाता है कि उसकी चर्चा, उसका नाम तक विष की तरह अखरने लगता है और यहाँ तक कि जहाँ उसकी चर्चा होती है वहाँ या तो ठहरता ही नहीं अथवा चर्चा करने वाले से भी घृणा करने लगता है।

भावातिरेकी हर बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखता है। तनिक सी कठिनाई, जरा सी अप्रियता अथवा साधारण सी प्रतिकूलता आने पर वह इतना वेदना-विभोर हो उठता है मानो संसार का सारा कष्ट, क्लेश उन्हीं पर आ टूटा हो। दिन-रात चिंता तथा कुन्ठा में गला करता है। अभाव की एक अभिव्यक्ति पर ही इतना तड़प उठता है कि संसार का निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी उसे अपने से सुखी तथा सम्पन्न दीखता है। आपत्ति का एक झोंका इन्हें सूखे पत्ते की तरह उड़ा देता है और वे निराशा के अन्धकार में आकण्ड मग्न हो जाते हैं। सारा संसार उन्हें सूना और जिन्दगी नीरस तथा निःसार दीखने लगती है।

भावातिरेक के वशीभूत होकर कोई विद्यार्थी परीक्षा में असफल होने पर आत्महत्या तक कर लेता है। अपनी इस अनुचित भाव प्रखरता के कारण वह इतना कल्पक बन जाता है कि उसे अपने साथी हँसते और उपहास उड़ाते दीखते हैं, दुनियाँ का धिक्कार उसके कानों में प्रतिध्वनित होने लगता है। अभिभावकों का आक्रोश तथा घृणा उसकी कल्पना में साकार हो उठती है। उसे ऐसा लगता है मानो उसकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गई है और वह लांछन तथा तिरस्कार का केन्द्र बन गया है। इसी अपनी अशिव तथा भयावह कल्पना से प्रेरित होकर वह धैर्य तथा विवेक को तिलांजलि देकर आत्महत्या कर लेता है अथवा दर-दर की ठोकरें खाने के लिए भाग जाता है जो कि एक मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार के भावातिरेकी न जाने कितने कर्मचारी जरा सी प्रतिकूलता अथवा अधिकारी की साधारण सी भर्त्सना से विचलित होकर और आगा-पीछा सोचे बिना ही त्याग-पत्र दे दिया करते हैं। और जब वह आवेग उतरता है तब फिर प्रार्थना-पत्र लिये हुये दफ्तरों-कार्यालयों में दौड़ने लगते हैं। समाचार के आवश्यकता स्तम्भों पर लालचभरी दृष्टि डालने लगते हैं। न जाने कितने भावातिरेकी व्यापारी अपने सौदे बिगाड़ते और व्यापार को हानि पहुँचाते रहते हैं। और जब उन्हें अपनी दुर्बलता के कारण मैदान से असफल होकर हटना पड़ता है तब या तो आत्महत्या की सोचने लगते हैं अथवा साधु-संन्यासी हो जाने की।

भावातिरेकी व्यक्ति न केवल आत्महत्या ही बल्कि हत्यायें तक करते देखे जाते हैं। मौलिक रूप में हिंसक अथवा अपराधी न होने पर भी भावावेश में वे यन्त्र की तरह वैसा अनुचित कार्य कर डालते हैं।

भावातिरेकी व्यक्ति कभी-कभी अपनी स्थिति बड़ी ही दयनीय तथा उपहासास्पद बना लिया करते हैं। जहाँ पर भी उनके सम्मुख कोई कारुणिक दृश्य आ जाता है तो वे वहीं पर खड़े-खड़े आँसू बहाते रहते हैं। उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि आँसुओं के माध्यम से उनकी भावातिरेकता प्रकट होकर उन्हें विचित्रता में बदल रही है। लोगों की दृष्टि प्रधान कारण से हटकर उन पर टिक जाती है और लोग जल्दी यह समझ नहीं पाते कि आखिर यह व्यक्ति, यह अच्छा-खासा सभ्य दीखने वाला प्रौढ़ आदमी इस प्रकार सार्वजनिक रूप से रो क्यों रहा है। कौन सी ऐसी विपत्ति इस पर आ पड़ी है जिसके कारण इसके एक के बाद एक आँसू बहते चले जा रहे हैं। इस प्रकार का व्यक्ति

अपने साथ अन्यों को भी एक अजीब सी मानसिक परेशानी में डाल देता है।

सिनेमा अथवा कोई नाटक देखते समय तो भाव प्रवण व्यक्ति स्वयं एक कौतुक बन जाता है। ज्यों ही नायक अथवा नायिका पर कोई विपत्ति आई अथवा कोई ऐसा पात्र किसी मार्मिक स्थल पर पहुँचा, जिसके साथ उनकी सहानुभूति चल रही हो, कि टपाटप उनके आँसू बहने लगते हैं। लोग खेल देखने के स्थान पर उसकी ओर उपहास अथवा दयनीयतापूर्ण दृष्टि से देखने लगते हैं। इतनी सम्वेदना, सहानुभूति तथा भावुकता होने पर भी यथार्थ रूप में भावावेशी व्यक्ति न तो किसी की सहायता कर सकता है और न सेवा-सुश्रूषा। उसकी यह क्षणिक अतिरेकता अथवा आवेश कुछ आँसू बहाकर अथवा पीड़ा अनुभव कर सन्तुष्ट हो जाती है जिससे वे सक्रिय होकर अपनी इस प्रवणता को न तो सार्थक कर पाते हैं और चरितार्थ। इस प्रकार की निष्क्रिय भाव प्रवणता एक दोष अथवा दुर्गुण ही मानी गई है।

भावातिरेकी व्यक्ति को क्षिप्र कल्पनायें एक क्षण में आकाश-पाताल एक कर देती हैं। अपनी कामनाओं की पूर्ति वह पुरुषार्थ में नहीं, कल्पना में देखा करता है। शेख-चिल्ली की तरह एक अण्डे से घर-बार तक बना-बसा लेने में उसे देर नहीं लगती। जिस समय उसकी भाव-प्रवणता साहस तथा हौसले को जगाती है तब उसे पहाड़ उखाड़ डालना, समुद्र मथ डालना, तारे तोड़ डालना तक सरल काम मालूम होता है। और इसके विपरीत जब वह कठिनता के मूड़ में आता है तब तिनके जैसी कठिनता उसे पहाड़ जैसी दुरूहता अनुभव होती है।

भावातिरेकी व्यक्ति इतना सुकुमार, कल्पनाशील होता है कि यथार्थ के कठोर धरातल पर पैर रखते ही उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अपनी कोमल कल्पनाओं तथा यथार्थ की कठिनता में इतना अन्तर अनुभव होता है कि यदि उसे कभी मजबूरन उतरना भी पड़े तो वह अपने को बड़ा असहाय, अपरिचित, अयोग्य तथा विदेशी जैसा अनुभव करता है और जल्दी से जल्दी अपने प्यारे कल्पना लोक में भाग जाने का प्रयत्न करने लगता है। यथार्थ का धरातल कठोर है और उन्नति तथा सफलता के स्वप्न इसी कठोर भूमि पर ही पूरे होते हैं। संघर्ष, सन्तुलन तथा सहिष्णुता का अभाव होने से भावप्रवण कोई भी व्यक्ति आज तक कोई बड़ी उन्नति करते नहीं देखा गया है।

भावातिरेकी व्यक्ति इतना भोला होता है कि उसकी भावुकता में गति जाग्रत कर जल्दी ही ठगा जा सकता है। करुणा तथा दया के मार्मिक स्थल पर जल्दी ही द्रवित किया जा सकता है। साथ ही उसके आँसू, उसकी करुणा और उसकी सम्वेदना इतनी क्षणिक तथा अनुर्वर होती है कि वह किसी के लिये वास्तविक एवं स्थायी सेवा सहायता के फल नहीं ला सकती। भावातिरेकी व्यक्ति दानी अथवा उदार हो सकता है किन्तु यह गुण भी उसकी भाव तरंग के साथ ही आते और चले जाते हैं। उस समय, जब उसकी अतिरेकता ज्वाराधीन हो उससे उसका सर्वस्व लिया जा सकता है किन्तु ज्वार उतर जाने के बाद वह नीरस एवं शुष्क हो जाता है।

भावातिरेकी व्यक्ति जहाँ काम करता है अथवा जिस क्षेत्र में बरतता है वहाँ या तो अपने विरोधी बना लेगा या किन्हीं से दूध-पानी जैसी घनिष्ठता स्थापित कर लेगा। तटस्थ रहना अथवा तटस्थ व्यक्तियों से कोई सरोकार रखना उसके व्यवहार शास्त्र में होता ही नहीं। यह अस्तिमित्थम् की स्थिति इस बढ़ी-चढ़ी तथा अभावपूर्ण दुनिया में कोई सत्फल लाने की स्थान पर कटुता-कुण्ठा तथा विरोध ही अधिक उत्पन्न करती है। भावातिरेकी व्यक्ति एक छोटी सी बात को लेकर यदि उसकी उधेड़-बुन में लग जाता है तो समझिये हफ्ते, महीने दो महीने यहाँ तक कभी-कभी वर्षों तक की फुरसत कर लेता है। दिन रात खाते-पीते, उठते बैठते अथवा काम करते समय तक उसके मस्तिष्क को उक्त उधेड़-बुन से फुरसत नहीं मिलती। इन्हीं सब अतिरेकताओं के कारण भावप्रवण व्यक्ति अधिकतर करुण, उदास, खिन्न अथवा अप्रसन्न ही देखे जाते हैं।

अपनी भावुकता, सम्वेदना, सहानुभूति तथा मार्मिकता की अच्छी तरह परीक्षा कर देखिये और समझ लीजिए कि वह आपकी भावातिरेकता

का ही तो प्रच्छन्न स्वरूप नहीं है। यदि ऐसा हो तो तुरन्त अपना सुधार कर डालिए। अन्यथा इसके बढ़ जाने अथवा स्थाई हो जाने से आप मानसिक रोगी बनकर रह जायेंगे। इस बात की मोटी सी पहचान यह है कि यदि आपकी जगी हुई भावुकता, करुणा अथवा सहानुभूति कारण का परिर्माजन करने के लिए भी सक्रिय हो सकती है तो वह वास्तविक गुण है और यदि यह आह भरकर, आँसू बहाकर अपने को त्रस्त, खिन्न, अथवा करुण बनाकर ही रह जाती है तो निश्चय ही मानसिक दुर्बलता ही है जो किसी प्रकार वांछनीय-सराहनीय नहीं है।

श्रेय और प्रेय पथ के परिणाम

अनेक बार समझदार लोग भी यह कहते सुने जाते हैं, कि यह जानते हुए भी कि संसार में लिप्त रहने से कष्ट-कलेश ही मिलते हैं, भगवान की ओर से विमुखता सी बनी रहती है और सारा जीवन जाल-जंजालों में फँसा हुआ नष्ट हो जाता है, तथापि मन उसी की ओर, संसार के जाल-जंजालों की ओर दौड़ता रहता है। भगवान की माया ही कुछ ऐसी प्रबल है कि न चाहते हुए भी उसके वशीभूत हुए, संसार में ही मरते-खपते रहते हैं।

लोगों की यह बात सुनकर ऐसा लगता है कि यह लोग माया को भगवान की कोई ऐसी शक्ति मानते हैं, जो मनुष्य को संसार के जाल-जंजालों में फँसाये रखने के लिए नियुक्त की गई है और वह भगवान की आज्ञा-पालन का अपना कर्त्तव्य बड़ी तत्परता से करती रहती है। भला भगवान की इस आज्ञाकारिणी शक्ति माया के सम्मुख मनुष्य की बिसात ही क्या ? माया एक यन्त्र की तरह उसे खींचकर जाल-जंजाल में डाल देती है और मनुष्य न चाहते हुए भी उसमें फँस जाता है।

किन्तु विचार करने की बात है कि क्या करुणा-सिन्धु, दीन-बन्धु भगवान मनुष्य के साथ ऐसा छल कर सकता है ? क्या अपने अंश, अपने पुत्रों, मनुष्यों को जिनको कि उसने उत्पन्न किया है, किसी ऐसी शक्ति का बन्दी बना सकता है, जो उन्हें कष्ट-कलेशों, शोक-सन्तापों अथवा अशान्ति-असन्तोष के कंटकाकीर्ण मार्गों पर खींचती रहे। क्या उसको अपनी सन्तानों का दुःख देखकर सुख मिल सकता है ? भगवान ऐसा क्रूर हो यह सम्भव नहीं।

वास्तविकता यह है कि परमात्मा ने जीवों और मुख्यतः मनुष्यों को संसार में इस उद्देश्य से उत्पन्न किया है कि वहाँ आनन्दपूर्वक रहें और अन्त में अपनी बुद्धिमत्ता तथा प्रयत्नों के बल पर उसकी परमानन्दमयी गोद में आ जायें—उसका स्वरूप बन जायें। इस सदाशय की पूर्ति के लिए उसने मनुष्यों को हर प्रकार की शक्ति तथा साधन भी दिये हैं। भगवान अपनी माया शक्ति द्वारा मनुष्यों को भुलाता, भटकाता है, ऐसा कहना उस परमपिता की न्यायशीलता, करुणा तथा कृपालुता पर लांछन लगाना है, जो किसी प्रकार उचित नहीं।

तथापि अनुभव बतलाता है कि कोई ऐसी बात है अवश्य कि मनुष्य जिसके कारण इच्छा न रखते हुए भी, परिणाम जानते हुए और मन में सोच संकोच व लज्जा रहते हुए भी उन मार्गों पर चला जाता है, जहाँ दुःख, कष्ट-क्लेश आदि के दारुण आघातों को सहना पड़ता है। इसी को अधिकांश लोग अज्ञानवश भगवान की माया बतलाया करते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि मनुष्य के भटकाव सम्बन्धी रहस्य से भगवान का कोई सम्बन्ध नहीं। इसके लिये उसे दोष लगाना या अपने कष्ट-कलेशों के कारण का दायित्व उसके कन्धों पर डालना सर्वथा अनुचित एवं अशोभनीय है।

धर्म-ग्रन्थों में जिसको माया कहकर पुकारा गया है और जिसकी भूरि-भूरि भर्त्सना की गई है और मनुष्यों को उससे बचे रहने के लिए पग-पग पर चेतावनी तथा उपदेश दिया गया गया है, वह और कुछ नहीं, मनुष्य की अपनी त्रुटि, दुर्बलता, अविद्या, मूर्खता अथवा अदूरदर्शिता ही है। किन्तु खेद है कि मनुष्य अपनी कमी का दायित्व भगवान पर डालता रहता है। अपना दोष दूसरों पर थोपने का स्वभाव स्वयं एक विडम्बना हैं, जिससे सत्य-असत्य, वास्तविकता-अवास्तविकता का बोध नहीं हो पाता। मनुष्य अपने को निर्दोष कल्पना किये रहता है, जिसके फलस्वरूप अपने सुधार से विरत रहकर दंड भोगा करता है।

संसार में मनुष्य जीवन की दो ही गतियाँ मानी गई हैं। एक उत्थान, दूसरी पतन। मनुष्य इनमें कोई भी एक उत्थान अथवा पतन की गति अपने लिए निर्धारित कर सकता है। वह चाहे तो मानवता का पूर्ण विकास कर सकता है। वह चाहे तो मानवता का पूर्ण विकासकर उसकी आदर्शन महानताओं को अपनाकर देवत्व तक उठा जाये और स्वर्गीय सुख की परिस्थितियों का आनन्द प्राप्त करे अथवा उसके विपरीत मनुष्यता को त्यागकर पशुत्व को अपनाने और असुरता की स्थिति में गिरकर अशान्ति, असन्तोष अथवा शोक सन्तापों की नारकीय परिस्थिति में विविध यातनायें भोगे। ऐसा करने के लिए कोई भी एक स्थिति चुनने के लिए, वह पूर्ण स्वतन्त्र है। यह सर्वथा उसके विवेक विचार पर निर्भर है कि वह अपने लिए स्वर्ग का निर्माण करता है अथवा नरक भोगने की योजना कार्यान्वित करता है।

संसार में कदाचित् ही कोई हतबुद्धि मनुष्य मिले जो जान-बूझकर नरक भोगने की इच्छा करता हो, अन्यथा वृद्ध, स्त्री-पुरुष अपने लिए स्वर्गीय सुख की कामना करते हैं। किन्तु यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता है कि अधिकांश लोग नरक की ओर ही बढ़ते और पड़ते दिखाई देते हैं।

इन दिनों विपरीत अवस्थाओं के दो मार्ग परस्पर विपरीत दिशाओं में ही जाते हैं, जिन पर चलकर मनुष्य स्वर्गीय अथवा नारकीय परिस्थितियों अथवा उत्थान-पतन की अवस्था में पहुँचता है। उन दोनों में से एक स्वार्थ का और दूसरा परमार्थ का मार्ग है, इन्हीं को शास्त्रीय भाषा में 'प्रेय' अथवा 'श्रेय' पथ भी कहा गया है। इनमें से स्वार्थ अथवा प्रेय मार्ग मनुष्य को पतन की ओर और परमार्थ अथवा श्रेय मार्ग उत्थान की ओर ले जाता है।

प्रेय पथ के पथिक की दृष्टि बड़ी ही संकुचित और विचार बहुत ही संकीर्ण होते हैं। उसकी दृष्टि सदैव तात्कालिक लाभ की ओर ही लगी रहती है। फिर वह लाभ कितना ही छोटा, ओछा और भविष्य के लिए कितना ही भयप्रद क्यों न हो, उसके संकीर्ण विचार उसे त्यागकर भविष्य के बड़े और ऊँचे लाभ के लिये प्रतीक्षा करने में विश्वास नहीं रखते। संसार के छोटे-छोटे प्रलोभनों पर वह पग-पग फिसलता रहता है। उसमें उस किसान जैसा धैर्य नहीं होता है जो प्राप्त थोड़े से बीजों को तत्काल खा-पीकर बराबर न करके उन्हें खेतों में बो देता है और एक लम्बे समय खून-पसीना एक करके उनका पोषण करता है—भविष्य में समय आने पर उनका सैकड़ों गुना लाभ उठाकर एक बड़ी फसल काटता है—इस प्रकार एक स्थाई लाभ की व्यवस्था कर लेता है। उसमें उस माली जैसी बुद्धिमत्ता नहीं होती, जो अपने पौधों की, एक लम्बे समय तक सेवा करता रहता है और जिसके फलस्वरूप फल-फूलों का प्रचुर लाभ उठाया करता है। उसमें उस विद्यार्थी जैसी कष्ट सहिष्णुता एवं दूरदर्शिता नहीं होती, जो दसवीं कक्षा के बाद ही मिलती है, छोटी-सी नौकरी के प्रलोभन में न आकर एम. ए. तक शिक्षा प्राप्त करता है आगे चलकर किसी उच्च एवं सन्तोषप्रद पद का अधिकारी बन जाता है। तात्कालिक लाभ के लोलुप और दूर के उन्नत एवं उज्ज्वल भविष्य की ओर न देखने वाले प्रेयपथ के ही पथिक हुआ करते हैं, जो पग-पग पर फिसलते, गिरते हुए जीवन समाप्त कर देते हैं और किसी प्रकार की उन्नति के अधिकारी नहीं बन पाते।

श्रेयपथ के पथिक दूरदृष्टि से काम लेते हैं, वे वर्तमान में वही करते और वही अपनाते हैं, जो उनके भविष्य को अधिकाधिक उन्नत एवं उज्ज्वल बनाने में उपयोगी होता है। वर्तमान के तात्कालिक लाभ का लोभ उन्हें विचलित नहीं कर पाता। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वर्तमान का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, वह तो केवल भविष्य की भूमिका, उसकी आधारशिला मात्र है। वर्तमान में जो कुछ किया जाता है, उसका परिणाम भविष्य में ही प्राप्त होता है।

वर्तमान का परिश्रम तत्काल कोई लाभ नहीं देता। उसका लाभ भविष्य में ही प्राप्त होता है। वर्तमान भोग, तत्काल किसी प्रकार की हानि प्रदर्शित नहीं करता। उसकी सारी हानियाँ भविष्य

में ही सामने आती हैं। जवानी का संयम तथा संचय किया स्वास्थ्य भविष्य का सम्बल बनता है। श्रेयकामी व्यक्ति आरम्भ में तप, त्याग, परिश्रम, पुरुषार्थ का कष्ठ उठाते हैं, वे इनका विनिमय छोटे-छोटे लाभों से नहीं करते चलते, वे छोटे-छोटे लाभों को त्यागकर भविष्य का कोई बड़ा लाभ, कोई उच्च श्रेय प्राप्त करने के लिये पर्याप्त धैर्य तथा सहिष्णुता रखते हैं। उन्हें सुख भोगने, सुख पाने और लाभ उठाने की कोई शीघ्रता नहीं होती।

प्रेय प्रधान पुरुष शरीर तथा पदार्थों को उपभोग की वस्तु समझता है और लगे हाथ उन्हें भोगता हुआ क्षीण करता चलता है और अन्त में जाकर खाली हाथ हो जाता है, बिना कुछ किए काल-कवल बनकर संसार से चला जाता है। जहाँ प्रेयवादी शरीर और विषयों के संयोग से क्षणिक सुखों की आराधना करता है, वहाँ श्रेय का श्रद्धालु उनके संयोग से योग की साधना में तत्पर रहता है। वह शरीर तथा वस्तुओं के सम्पर्क से तपपूर्ण कर्मों की योजना करता है और उनके फल को अक्षय परिपाक के लिए बिना भोगे, छोड़ता चलता है। वह संसार के विषय से लेकर उपासना तक के सारे कर्त्तव्य अभोगी वृत्ति से करता हुआ भविष्य के स्वर्ग का निर्माण करता चलता है। वह न तो इतना लोलुप होता है और न अधैर्यवान कि तुरन्त के छोटे-छोटे लाभों तथा सुखों को भोग लिए बिना चैन से न रह सके।

श्रेय साधक बड़ा ही सूक्ष्म, दूरदर्शी, स्पष्ट तथा यथार्थदर्शी होता है। वह संस्कार की जादू नगरी में चारों ओर फैले प्रलोभनों, छलनाओं तथा मरीचिकाओं से सदा सजग तथा सावधान रहता है। वह अपनी वृत्तियों को विवेक बल से पूरी तरह वश में रखता है। उन्हें इतनी छूट ही नहीं देता कि वे अबोध मृग की भाँति मरीचिका में अथवा लुब्ध मछली की भाँति चारा देखकर मछुये के काँटे में फँसकर मृत्यु की मेहमान बन जायें। वह अच्छी तरह जानता है कि संसार में यह जो मनमोह, रूप, श्रृंगार और सौन्दर्य दिखलाई देता है, यह सब धोखा है। इसके पीछे यथार्थ का कोई तत्व नहीं है। इन पर मूढ़-पतंगे की भाँति प्राण निछावर कर देना, आत्म-प्रवन्चना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह हाड़-माँस, गन्दगी-गलीज के पन्जर पर चमकदार पत्री भर चढ़ी हुई है, जो कुछ ही समय में उतर जायेगी और फिर उसकी उपासना त्याग एवं सारे श्रेयों के लिए पश्चात्ताप के अतिरक्त कुछ भी प्राप्त न होगा।

वह सोने-चाँदी और धन-दौलत की असलियत से अच्छी तरह परिचित होता है। इसलिए इनका चमत्कार भी उसे भुला-भटका नहीं पाता। उसे पता रहता है कि धन का आवश्यकतानुसार उपार्जन और उनका सीमान्त सदुपयोग ही उसका उचित मूल्य एवं महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इसका संचय अथवा अपव्यय दोनों ही व्यर्थ विडम्बनायें हैं, जिसमें फँसकर मनुष्य, मनुष्य न रहकर न जाने क्या से क्या बन जाता है। इससे अपव्ययी, अपकारी, व्यसनी, व्यभिचारी, अत्याचारी आदि कुछ भी बन सकता है। इसका सन्चयी शोषक, क्रूर, धूर्त, अन्यायी, भ्रष्टाचारी आदि किसी भी कुरूप को धारण कर सकता है। इसके अपव्ययी जहाँ आगे चलकर अभाव अथवा अकाल की मौत मरते हैं, पाई-पाई के लिए हाथ फैलाते और रिरियाते हैं, वहाँ सन्चयी जाते समय हसरत भरी निगाह से इसे टुकर-टुकर देखा करते हैं और जमा की हुई उनकी दौलत अपनी प्रभा में मुस्कराती हुई कहा करती है, तुम्हारे जैसे न जाने कितने मूर्ख यों ही मुझे हसरत भरी निगाह से टुकुर-टुकर कर देखते हुये, इस संसार से कूँच कर गये और मैं इसी संसार में इसी जादुई नगरी में एक के बाद एक उत्तराधिकारियों के हाथों खेलती और उनकी प्रेम व पूजा की अधिकारिणी बनती रही और आगे भी बनती रहूँगी। मेरा जादू सच्चा जादू है। मैंने तुम्हारे जैसे न जाने कितने अदूरदर्शी पथिकों को श्रेय पथ से विचलित कर पतन के मार्ग पर डाल दिया है और जो असावधान होकर चलेगा, उसे डालती ही रहूँगी।

श्रेयवादी इतना दृढ़, धीर, वीर और साहसी होता है कि संसार का कोई भी जादू उस पर

कारगर नहीं होता। उसका सम्बन्ध स्वार्थ से नहीं, परमार्थ से होता है। भोग से नहीं, योग से रहता है। वह शरीर को भोग की वस्तु नहीं पर-सेवा का साधन समझता है। सम्पत्ति का उसकी दृष्टि में इतना ही महत्त्व होता है कि उससे अपनी सामान्य आवश्यकतायें पूरी कर ली जायें और शेष को परोपकार, दान-पुण्य और लोकरंजन में लगा दिया जाय। वह लोक नहीं, परलोक संग्रह में विश्वास करता है। जिसके फलस्वरूप वह लोक में यश और परलोक में सद्‌गति का अधिकारी होता है। उसकी आत्मा दिन-दिन उन्नत होकर देवत्व की सीमा में पहुँच जाती है और वह युग-युग तक लोक में सुख-सन्तोष का, स्वर्ग का आनन्द-पद भोगता है। जबकि प्रेय पथ का अबोध पथिक छोटे-छोटे भोगों, नगण्य सुखों और तुच्छ स्वार्थों की शंख-सीपियाँ सन्चय करता हुआ, इसी भवसागर में घड़ियालों तथा मगरमच्छ जैसे भयानक प्रलोभनों के बीच मरता-खपता और डूबता उतराता रहा करता है।

भगवान की दया और करुणा

मनुष्य एक बार जब धर्मपथ पर चल देता है तो उसके जीवन के तार झनझना उठते हैं। हलचल मच जाती है। विचार मन्थन उठ पड़ता है। विचारों, संकल्पों, कभी आशा, कभी निराशा, आशंका और विश्वास के थपेड़ों में झूलता हुआ मनुष्य अपने आपको कुछ उसी तरह का असहाय अनुभव करने लगता है, जिस तरह घनघोर जंगल में अँधेरी रात को भटका हुआ पथिक असहाय अनुभव करता है।

तत्व जिज्ञासु उस स्थिति में यह अनुभव करता है कि मैं अनाम हूँ, नाम मेरी देह का है, देह नष्ट होने के साथ-साथ नाम भी समाप्त हो जायेगा, मेरे गुण-विद्यायें, कलायें और क्षमतायें जिनसे अनेक बन्धु-बान्धवों की कुछ अपेक्षा है, वह भी शरीर के ही विशेषण हैं। जिन्हें हम अपने पुत्र, पति माता-पिता, पत्नी, मित्र, सुहृद, सखा मानते हैं, वह भी शरीर के ही नाते रिश्ते हैं। मेरे अन्दर जो चेतना काम कर रही है, न उसका कोई भाई है, न बन्धु, माता-पिता, साले-बहनोई, श्वसुर- दामाद, ताऊ, चाचा सब काल के गाल में समा जाने वाली देहें थीं। उन सबका मुझ चेतन के साथ संकल्प-सम्बन्ध होने पर भी कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं नितान्त अकेला एक निर्गुण निराकार हूँ ऐसी मान्यता परिपुष्ट होती चली जाती है, उसकी जो अपने जीवन का दृष्टिकोण भौतिक जगत से हटाकर आध्यात्मिक संस्मरणों से जोड़ लेता है।

भीतर की यथार्थता का प्रकट होना और उस घुमड़ती हुई द्वन्द्वपूर्ण स्थिति से संसार के साथ ताल-मेल बैठा लेना दोनों विरोधी बातें हैं, दोनों में टक्कर अवश्य होती है। इसे ही आध्यात्मिक भाषा में अग्नि परीक्षा कहा जाता है। जिसने भी भगवान् के नाम पर अपना कदम आगे बढ़ाया उसके पैरों में काँटे अवश्य चुभे। अपनी मोह-माया, वासना, क्रध आदि से ही टक्कर नहीं लेनी पड़ी वरन् उन सब का विरोध भी अवश्य सहन करना पड़ा जिनके स्वार्थ अपने से टकराते थे।

पिता का स्नेह इसलिए था कि बच्चा बड़ा होकर कुछ कमायेगा, प्रतिष्ठा अर्जित करेगा, उससे अपने परिवार की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति होगी। सुख-सौभाग्य बढ़ेगा पर जब वह यह देखता है कि वही पुत्र आत्मा, परमात्मा, समाज-सेवा आदि की बातें करता है तो उसे अपना ही पुत्र शत्रु जैसा दीखता है। संसार में ऐसे पिता थोड़े हुए हैं, ऐसी मातायें नगण्य हुई हैं, जिन्होंने अपने पुत्र को तिलक लगाकर यह कहा हो—"वत्स, जो तूने जिस पथ पर पाँव बढ़ाया है वह जीवन का परम पुरुषार्थ है, तू उस पर निष्ठापूर्वक बढ़कर और ऐश्वर्य प्राप्त कर, तेरा स्मरण करते हुए हम भी संसार सागर से उन्मुक्त हो जायेंगे।"

अधिकांश तो हिरण्यकश्यप और राणा कुम्भाराव ही हुए हैं, जिन्होंने अपने बेटों को, पत्नी को मारा-पीटा, सताया, विष दिया और उस पुण्य-पथ से खींचकर दैन्य और दुर्भाग्य के फर्श पर ला पटका। बाहुल्य ऐसे ही लोगों का रहा है, अन्यथा आज संसार जिस अनात्म आस्थाओं पर झुलस रहा है, वह स्थिति पैदा न हुई होती। भगवान की शरण लेने वाले हर लोक-सेवी को लोगों की भर्त्सना ही उपलब्ध हुई है, यह संसार का नियम-सा बन गया है।

देखने में ऐसा लगता है कि यह भगवान् की अकृपा है, किन्तु यदि गहराई तक देखें तो इससे बढ़कर परमात्मा का और कोई अनुग्रह हो नहीं सकता। अपने पुत्र को तरसते, तड़पते, मार खाते देखकर भी धैर्यपूर्वक तटस्थ बने रहने का साहस भी परमात्मा ही कर सकता है कोई और कमजोर व्यक्ति नहीं। भगवान् उसकी सहायता के लिए तत्पर न रहते हों, सो बात नहीं, उन्हें तो कभी-कभी वाहन-विहीन दौड़ना पड़ा। वे अनेक बार नंगे पावों भागे हैं और भक्त को बचाया है। पर ऐसा अपवाद ही है अधिकांश तो वे अपने भक्त को परीक्षा की अग्नि में झुलसते हुए देखते रहे, बोले कुछ नहीं।

इसमें जीव के पुरुषार्थ को जाग्रत करना ही भगवान् का उद्देश्य होता है। जीव को आन्तरिक गरिमा और सर्वव्यापकता की अनुभूति कराना भी उसका लक्ष्य रहता है। मीरा के अन्तःकरण से वह संगीत कहाँ से आता, यदि उसे मारा-पीटा और तड़पाया न गया होता, सूरदास की पीड़ायें न उठतीं तो प्रेम और वात्सल्य की मार्मिक अनुभूति जो उनके प्रत्येक पाठक को रोमांचित कर देती है, कहाँ से प्रवाहित होती। भक्त नरसी, प्रहलाद, निमाई पण्डित को वह तेज कहाँ से मिलता, जिसने बार-बार भारतीय जीवन में आस्तिकता और ईश्वर परायणता के भावों को पुनर्जीवित किया है।

भगवान् आकर सहायता कर जाता तो भक्त को प्रेम का आनन्द न मिलता वरन् उसे अहंकार और आसक्ति ने घेरा डालकर पुनः संसार चक्र में खीच लिया होता। जीव की तड़प और उसकी आधिभौतिक व्यथायें और उस अवधि में भगवान् का चुप रहना तो भक्त के कल्याण का ही कारण है। उस कठिन घड़ी में ही आत्मज्ञान का प्रकाश फूटता है। मैं कौन और मेरी साधना क्या है, ऐसी कल्याणकारक जिज्ञासाओं की पृष्ठभूमि न परिपक्व होती, यदि जीव को तड़पाया, पीड़ित और परेशान न किया गया होता। जल-जलकर ही तो उसकी ईश्वर-निष्ठा प्रगाढ़ होती है और तभी वह करुणा का उद्गार फूटता है—'हे प्रभु ! सब तुम्हारी ही इच्छा की पूर्ति है। मेरे प्रियतम देव ! मेरा स्वरूप और मेरा ज्ञान सब तुम्हारे ही सुस्नेह की तो सुगन्ध है। तुम्हीं मेरे प्रेमाधार हो, तुम्हारे बिना अब मैं रह कैसे सकता हूँ। दर्शन किये बिना मैं सुखी कैसे हो सकता हूँ ?

बेटे को दन्ड दिया जाता है तो वह अपने नन्हें-नन्हें हाथ जोड़कर पिता से क्षमा-याचना ही तो करता है। वह यही तो कहता है—"पिताजी अब मैं यह भूल नहीं करूँगा, मैं तुम्हारी शरण हूँ अब मुझे मत मारो" पिता दण्ड भी देता और हृदय से रोता भी जाता है। दण्ड इसलिये देता है कि पाप-वासना और बुराई का मैल छूट जाय, रोता इसलिये है कि उसे पता है कि यह चोट पुत्र पर नहीं उसी पर हो रही है। बेटा कोई और तो नहीं है वह तो मेरे ही अन्तःकरण से निकला हुआ टुकड़ा है। उसकी देह, उसका मन, उसके प्राण सब मुझसे ही निर्गत हैं, इतनी दया और करुणा होते भी दण्ड प्रक्रिया बन्द नहीं करता। जीव के, पुत्र के कल्याण के लिये हृदय को कठोर बनाकर कष्ट देने वाले भगवान् के साहस की सराहना की जाय। उस पीड़ा और विवशता को तो वही जानता है।

कष्ट पाकर दूसरे के कष्टों की अनुभूति होती है, उस स्थिति में भक्त के हृदय में भी प्रतिशोध की नहीं करुणा और दया की निर्झरिणी फूटती है। उनको संसार में सब कुछ अपना ही स्वरूप दिखाई देने लगता है और उससे अपना अहंकार समाप्त होने लगता है। अहंकार ही तो आसक्ति, आसक्ति ही तो बन्धन, बन्धन ही तो दुःख का कारण था, जब अहंकार ही न रहा तो कैसी ईर्ष्या, कैसा द्वेष, मोह और कैसी ममता सब कुछ भगवान को अर्पण हो गया। जब अपनी ममता ही समाप्त हो गई तो सारा विश्व ही अपना हो गया, सब अपने ही आत्म-स्वरूप प्रिय परिजन से जान पड़ने लगे। अपना मोह समाप्त होते ही सम्पूर्ण जगत् के प्रति प्रेम का निर्झर प्रवाह फूट पड़ता है।

भगवान् के प्रति प्रेम का ही दूसरा स्वरूप विश्व-प्रेम है। मन में तस्वीर उसे प्यारे की ही होती है, जिसमें सौन्दर्य ही सौन्दर्य, शिव ही शिव और सत्य ही सत्य है। शिव, सत्य और सुन्दरता ही तो विश्व के कण-कण में व्याप्त है तो वही अन्तःकरण वाली तस्वीर बाहर झलकने लगती है। सबमें सौन्दर्य, सत्य और शिव के

दर्शन करने का आनन्द वही प्रेमी जानता है, जो भगवान को सच्चे हृदय से प्यार करता है। उसे भगवान को ढूँढ़ने के लिये और कहीं नहीं जाना पड़ता, जब चाहे किसी भी पीड़ित हृदय, निराश अन्तःकरण और दुःखी आत्मा से अपनी आत्मा को मिलाकर वह उस अक्षय सौन्दर्य स्रोत का पान करता है।

पाने और सब कुछ पाने की पुकार करने वाला भक्त जब यह देखता है कि भगवान की शक्तियाँ देती हैं निरन्तर देती ही रहती हैं, तब उसे देने के सुख का पता चलता है। भूमि को सींचते हुये मेघों की व्यापकता, विश्व-भुवन को प्रकाश से भरते हुए भगवान सूर्य की व्यापकता, संसार को जल देने के लिए जलने वाले समुद्र की व्यापकता को देखकर भक्त की अपनी तुच्छता और संकीर्णता का मैल धुल जाता है, तब उसे अपने प्रति किया गया सांसारिक छल अपकार उपकार जैसा ही दीखता है। वह यह अनुभव करता है कि संसार में सब कुछ करुणा ही करुणा, दया ही दया रही होती तो सम्भवतः उसे अपने अहंकार से छुट्टी न मिलती। वह उन कष्टों की पीड़ाओं को भगवान् का वरदान मान लेता है, जिसने उसे भगवान् को प्रेम भरी भावनाओं से पुकारने का अवसर प्रदान किया। भगवान् के लिये जब तक वैसी पुकार अन्तःकरण से नहीं फूटती जैसी प्रेमिका को अपनी प्रेमी के मिलन की इच्छा, तब तक जीवात्मा के बन्धन मुक्त नहीं होते।

इसलिये कष्ट और पीड़ाओं से भरे संसार में यदि सहारे के लिये, पुकारने के लिये कोई सुहृदय मित्र है, पिता है तो वह परमात्मा ही है, वही हर जन की पुकार सुनता है, वही हर व्यक्ति के कष्ट दूर करता है। मन्त्र द्रष्टा ने जब ऐसी ही पुकार लगाई थी, तभी परमात्मा ने उस पर अपने प्रेम की शीतल छाया आच्छादित कर दी थी।

परमात्मा का आशीर्वाद और प्यार—केवल सत्पात्रों को

भगवान् का भण्डार सभी सम्पदाओं, सिद्धियों तथा विभूतियों से भरा-पूरा है। ऐसा कोई भी अभाव वहाँ पर नहीं है, जिसकी त्रिकाल अथवा त्रिलोक में कल्पना की जा सकती है। ऐसे किसी भी ऐश्वर्य की कोई भी कल्पना नहीं कर सकता, जो उसके भण्डार में न हो और किसी भी विभव का वह परिणाम भी कल्पित नहीं किया जा सकता, जिसकी उस भण्डार में पूर्णतः पूर्ति न हो सके।

भगवान के इस भरपूर भण्डार के सारे सुख, सारे वैभव और ऐश्वर्य मनुष्य मात्र के लिये ही हैं। उसे स्वयंभू एवं पूर्णकाम परमात्मा को किसी वैभव की आवश्यकता नहीं है। वे तो उसे अपनी सन्तान-मनुष्यों को बाँटने के लिये रख छोड़े हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह फिर उन सब सम्पदाओं को सबमें बाँट क्यों नहीं देता, जिससे सबके दुःख दूर हो जायें और संसार में सर्वत्र सुख, सन्तोष तथा शांति की त्रिविधि समीर बहने लगे। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी जिज्ञासुओं को विश्वविद्यालय स्नातक का प्रमाण-पत्र क्यों नहीं दे देता ? क्यों हर सुवर्ण धातु को कुन्दन का महत्व नहीं मिल जाता, और क्यों नहीं हर सर्व-साधारण को महात्मा अथवा महापुरुष मानकर पूजा जाता है।

उत्तर अथवा कारण स्पष्ट है। जिसने क्रम-क्रम से अध्ययन द्वारा बी. ए. तक की परीक्षायें उत्तीर्ण नहीं की हैं, उसको स्नातक की उपाधि नहीं दी जा सकती। जिसने आग में तप कर अपनी सच्चाई तथा शुद्धता का प्रमाण नहीं दिया है वह सुवर्ण धातु कुन्दन के मूल्य की अधिकारिणी नहीं हो सकती और जिसने तप, त्यागमय जीवन अपनाकर जन-सेवा एवं आत्मा के साक्षात्कार का प्रयास नहीं किया, वह महात्मा अथवा महापुरुष किस आधार पर माना और पूजा जा सकता है ? यही बात भगवान के भण्डार में रक्खे पुरस्कारों के विषय में भी है। जिसने उनके लिये अपनी पात्रता सिद्ध की वह उनका अधिकारी बना और इसी आधार पर आगे भी बनता रहेगा और जो पात्रता सिद्ध नहीं कर पाया अथवा नहीं कर पा रहा है, वह वंचित ही रहा, आगे भी रहेगा। इस निष्पक्ष न्याय में किसी को शिकायत करने का मौका ही नहीं है।

अपनी पात्रता प्रमाणित करने के लिए हर व्यक्ति को कठिनाइयों तथा असुविधाओं की अग्नि परीक्षा देनी होती है, तप-त्यागमय पथ पर चलकर अपनी पारमार्थिक दृढ़ता का परिचय देना होता है। जो विवेकी पुरुष अभावों एवं आवश्यकताओं के दबाव में भी नीति का मार्ग नहीं छोड़ता, प्रलोभनों के बीच भी स्खलित नहीं होता, किसी भय, शंका अथवा अन्य कारणों से सन्मार्ग का त्याग नहीं करता, वस्तुतः वह ही ऐसा नर रत्न होता है, जो ईश्वरीय भण्डार की विभूतियों से विभूषित किया जाता है। जो लोभी, स्वार्थी, असयंमी अथवा इन्द्रिय लोलुप है, वह ईश्वरीय प्रसादों का उसी प्रकार अनधिकारी है, जिस प्रकार कौआ यज्ञ भाग का।

ईश्वरीय पुरस्कारों की पात्रता श्रेष्ठता में निहित रहती है। पुण्य-परमार्थ, धार्मिकता एवं आस्तिकता के श्रेय-पथ पर चलकर यह श्रेष्ठता सहज ही प्राप्त की जा सकती है। जिस दिन मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ समष्टिगत स्वार्थ में मिल जायेगा, उसकी निजी सीमायें बढ़कर समाज तथा संसार तक पहुँच जायेंगी, उस दिन से वह श्रेष्ठता की परिधि में प्रवेश करने लगेगा। मनुष्य की भावना उस दिन इस प्रकार की बन जायेगी कि संसार में जो कुछ सुख-सुविधायें दिखलाई देती हैं, उनका निर्माण सबके सहयोग से ही सम्भव हो सका है।

हमारे पास जो कुछ इस समय वर्तमान है, जिन सुख-सुविधाओं का हम उपभोग कर रहे हैं, वह अकेले हमारे एक के ही पुरुषार्थ का फल नहीं है। इसमें सभी समाज यहाँ तक सम्पूर्ण संसार का किसी-न-किसी रूप में सहयोग संम्मिलित है। अतः इसमें कुछ-न-कुछ भाग शामिल है। और हमें उनके उचित भाग का, अपनी स्वार्थ सीमा से त्याग कर ही देना चाहिये। यहाँ तक कि हमारा यह शरीर, यह जीवन भी एक हमारा ही नहीं है। इसके निर्माण तथा पालन-पोषण, उन्नत एवं विकसित होने में भी दूसरों का सहयोग सम्मिलित है। इसलिये सेवा द्वारा दूसरों का उपकार, शोधन करते रहना हमारा महान् मानवीय कर्तव्य है, जिसे हमें निभाते ही चलना चाहिये, उसी दिन मनुष्य का विकास श्रेष्ठता में प्रारम्भ होने लगेगा।

जो संकीर्ण व्यक्ति स्वार्थवश दिन-रात अपनी व्यक्तिगत कामना, वासनाओं की पूर्ति में लगे रहते हैं और उस प्रमाद में दूसरों के हितों, स्वार्थों, अधिकारों तथा सीमाओं की उपेक्षा करते रहते हैं, उनका श्रेष्ठ बनना तो दूर उल्टे वे उस स्थान से भी नीचे गिर जाते हैं, जहाँ पर वे खड़े होते हैं। व्यक्तिगत कामनाओं की लिप्सा मनुष्य के जीवन-क्रम तथा चेष्टाओं में असन्तुलन पैदा कर देती है। मनुष्य इतना अभिमानी बन जाता है कि वह किन्हीं उपायों से अपनी कामना पूर्ति को अधिकार समझने लगता है। और जब कोई व्यवधान, फिर चाहे वह स्वाभाविक अथवा उचित ही क्यों न हो, आता है तो वह अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो, क्रोध से उन्मत्त होकर करने न करने योग्य काम करने पर उतर आता है। क्रोध से बुद्धि भ्रमित हो जाती है, विवेक नष्ट हो जाता है, तब ऐसी दशा में उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह ऐसे काम न करेगा, जो समाज के लिये अहितकर सिद्ध न हों। ऐसा स्वार्थी, अविवेकी अथवा उन्मत्त बुद्धि व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर न श्रेष्ठ बन सकता है और न भगवान् के भण्डार में भरी विभूतियों का अधिकारी ही। उसे तो यों ही संसार में अभाव, असन्तोष तथा अशांति की दैन्य पूर्ण स्थिति में जलते-मरते जीवन के दिन पूरे करने होंगे।

स्वार्थपूर्ण कामनाओं के दास अपने मानवीय उत्तरदायित्वों पर जरा भी ध्यान नहीं देते और इन्द्रियों की वासना वृद्धि को ही जीवन का ध्येय बना लेते हैं। वे समाज, व्यक्तिगत स्वास्थ्य तथा प्रकृति की मर्यादाओं का विचार नहीं रखते। अन्त में उनकी मदान्धता विविध रूपों में आकर उन्हें घेरने, सताने लगती है। आन्तरिक अशांति, क्लेश, कुण्ठा तथा अनेक बीमारियाँ, विकार एवं निर्बलतायें, जो उसके दुःख-शोकों का कारण बनती हैं, सब वासना-मूलक मदान्धता का ही तो परिपाक हुआ करती हैं। इतने दैन्य एवं दीनता से घिरा मनुष्य उन ईश्वरीय उपहारों का अधिकारी किस प्रकार बन सकता है, जिसके अधिकारी तपोव्रतधारी शुद्ध-बुद्ध तथा आत्म-निष्ठ श्रेष्ठ पुरुष ही हो सकते हैं ?

अपने महान् भन्डार के रत्न गढ़ने में परमेश्वर पक्षपाती अथवा अन्यायी नहीं है, तथापि वह इतना अज्ञानी अथवा अबोध भी नहीं है, जो ऐसे मनुष्यों के बहकावे में आ जावे जो कभी-कभी पूजा-पाठ, जप-तप तो करते हैं किन्तु न तो अपनी आत्मा में श्रेष्ठता का विकास करते हैं और न ऐसे परोपकारपूर्ण कार्य ही करते हैं, जिनके पुण्य प्रकाश से उनका दूषित अन्तःकरण शुद्ध हो सके। संसार में ऐसे धूर्तों की भी कमी नहीं है, जो ऊँची सिद्धियों, ईश्वरीय भण्डार में सुरक्षित चिरन्तन सुख-शान्ति के उपहारों को प्राप्त करने के लिये घंटों पूजा पाठ करते रहते हैं। किन्तु जब वर्षों तक यह कार्यक्रम चलता रहने पर भी उनकी शान्त स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता तब वे उस सबको जंजाल, व्यर्थ का टंट-घंट बताकर छोड़ देते हैं और या तो ईश्वर की कृपा में अविश्वास करने लगते हैं अथवा नास्तिक होने तक पर उतारू हो जाते हैं। किन्तु यदि उनसे पूछा जाये कि आपने इन सबके साथ कोई पारमार्थिक कार्यक्रम भी चलाया है, जनसेवा का कभी व्रत लेकर उसे पूरा करने की चेष्टा की है, क्या कभी ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध, लोभ आदि के विकारों से आत्मा को मुक्त करने का पुरुषार्थ किये हैं ? तो इसका उत्तर मौन में देंगे। तब ऐसी स्थिति में यह आशा रखना कि वह महान् न्यायी ईश्वर उनके निःसार टंट-घंट से प्रसन्न होकर भन्डार का द्वार उनके लिये खोल देगा, दुराशा के अतिरक्त और क्या हो सकती है ? झूठे धार्मिक आधार पर ईश्वर को छल सकने का दम्भ एक विडम्बना है, आत्म प्रवंचना है।

श्रेष्ठता की परीक्षा इसी कसौटी पर होती है कि मनुष्य ने कितना स्वार्थ त्यागा है, और कितना परमार्थ अपनाया है। भजन-पूजन आदि यदि सच्चा हो तो निश्चय ही उसका प्रतिफल आंतरिक सुख-शान्ति के रूप में मिलना ही चाहिये। तृष्णा एवं वासनाओं से प्रेरित उपासना का कोई वांछित फलदायिनी नहीं होती। जैसे-जैसे मनुष्य स्वार्थ छोड़ता और परमार्थ अपना भी चलता है, वैसे-वैसे उसका मानसिक स्तर ऊँचा होता जाता है और उसमें सेवा तथा संयम के सक्रिय संकल्प बलवत्तर होने लगते हैं। उसकी वृत्ति संचय से विमुख होकर त्याग की ओर उन्मुख हो उठती है और यह सोचने के स्थान पर कि हमारी वासनायें कैसे पूरी हों, यह सोचने लगता है कि वह कौन-सा कार्यक्रम तथा विचार धारा अपनाई जाये, जिससे व्यक्तिगत इच्छायें, सार्वजनिक आवश्यकताओं में तिरोहित हो जावें। ऐस स्थिति में आकर मनुष्य की आत्मा प्रकाशित हो उठती है और वह मनुष्यता से देवत्व की ओर उठकर, ईश्वरीय भण्डार में से मनोवांछित उपहारों का अधिकारी बन जाता है।

दूसरों के हित में अपना हित, दूसरों के लाभ में अपना लाभ और दूसरों के कल्याण में अपना कल्याण समझने वाले, सबसे प्रेम और अनुराग रखने वाले, सर्वात्मा में रमण करने वाले, दूसरों का दुःख-सुख अपना समझने वाले और जनता जनार्दन के लिये सब कुछ उत्सर्ग कर देने का उत्साह रखने वाले मनुष्य ही महापुरुष, महात्मा एवं महानुभावों की श्रेणी में आकर उस श्रेष्ठता को ही सिद्ध कर लेते हैं, जिससे अनन्त आन्तरिक शान्ति, सन्तोष तथा सुख के रूप में ईश्वरीय अनुग्रह के अधिकारी बनते हैं।

श्रेष्ठता का क्रम अपनी आत्मा से प्रारम्भ होकर पत्नी, बच्चों, परिवार, सम्बन्धी, पडौसी, देश, जाति की सेवा में होता हुआ अन्त में विराट् विश्व अथवा विश्वात्मा की अनन्तता में तल्लीन हो जाता है। जिसमें ऐसा विराट्, ऐसा उन्नत, ऐसा श्रेष्ठ बनने का साहस हो, निकृष्ट स्वार्थ को जीत कर परमार्थ में सर्वस्व अर्पण कर देने की क्षमता हो वह तो उस महान् परम तथा निर्द्वन्द्व भण्डारी, भगवान के कोष में सुरक्षित अक्षय शान्ति, अनन्त सन्तोष और अप्रतिहत आनन्द के रत्न पाने की कामना करे अन्यथा अपने अनौचित्यों तथा स्वार्थपूर्ण वासनाओं का दंड भोगता हुआ असन्तोष, अशान्ति एवं दुःख-द्वन्द्वों के नरक में चुपचाप पड़ा रहे।

ईश्वर-भक्ति और जीवन-विकास

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह सुख पूर्वक जीवन जिये। सबका प्रेम और स्नेह प्राप्त करे। शक्ति और समृद्धि के पथ पर आगे बढ़ने की इच्छा किसकी नहीं होती। सर्वज्ञता की

अभिलाषा भी ऐसी ही सब को होती है। यह दूसरी बात है कि यह सम्पूर्ण सौभाग्य किसी को मिलें या न मिलें। मिलें भी तो न्यूनाधिक मात्रा में, जिससे किसी को सन्तोष हो, किसी को न हो।

परमात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्य का अधिष्ठाता माना गया है। वह सर्वशक्तिमान है। वेद उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी बताते हैं। यह उसके गुण हैं अथवा शक्तियाँ। सांसारिक जीवन में उन्नति और विकास के लिए भी इन्हीं तत्वों की आवश्यकता होती है। बुद्धिमान, शक्तिमान और ऐश्वर्यमान व्यक्ति बाजी मार ले जाते हैं शेष अपने पिछड़ेपन, अभाव और दुर्दैव का रोना रोया करते हैं।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन तीन तत्वों का विकास मनुष्य ईश्वर भक्ति से बड़ी सरलता से प्राप्त कर लेता है। कबीर निरक्षर थे किन्तु ईश्वर उपासना से उनकी सूक्ष्म बुद्धि का विकास हुआ था। विचार और चिन्तन के कारण उनमें वह शक्ति अविर्भूत हुई जो बड़े-बड़े विद्यालयों के छात्रों, शिक्षकों को भी नहीं नसीब होती। कबीर अक्षर लिखना नहीं जानते थे किन्तु वह पंडितों के भी पण्डित हो गये।

ध्रुव वेद ज्ञानी न थे, प्रहलाद ब्रह्मोपदेशक न थे, नानक की बौद्धिक मन्दता सर्वविदित है। सूर और तुलसी जब तक साधारण व्यक्ति के तरीकों से रहे तब तक उनमें कोई विशेषता नहीं रही, किन्तु जैसे ही उनमें भक्ति रूपी ज्योति का अवतरण हुआ अविद्या रूपी आवरण का अपसरण हो गया और काव्य की, विचार की ऐसी अविरल धारा बही कि काव्याकाश में 'सूर-सूर और तुलसी चन्द्रमा हो गये।''

जिन लोगों में ऐसी विलक्षणतायें पाई जाती हैं, वह सब ईश्वर चिन्तन का ही प्रभाव होती हैं चाहे वह ज्ञान और भक्ति पूर्व जन्मों की ही अथवा इस वर्तमान जीवन की।

उपासना से चित्त-शुचिता, सन्तुलन, भावनाओं में शक्ति और पंचकोषों में सौमनस्य प्राप्त होता है। वह बौद्धिक क्षमताओं के प्रसार से अतिरिक्त है। यह सभी बुद्धि, गुण और विवेक का परिर्माजन करते हैं। दूर-दर्शन की प्रतिभा का विकास करते हैं। प्रारम्भ में वह केवल किसी वातावरण में घटित होने वाली स्थूल परिस्थितियों का ही अनुमान कर पाते हैं किन्तु जब भक्ति प्रवाह प्रगाढ़ होने लगती है तो उनकी बुद्धि भी इतनी सूक्ष्म और जागृत हो जाती है कि घटनाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग उन्हें ऐसे विदित हो जाते हैं जैसे कोई व्यक्ति कानों में सब कुछ चुपचाप बता गया हो।

ईश्वर भक्ति की प्रगाढ़ आस्था भ्रमर और कीट जैसी होती है। भ्रमर कहीं से कीट को पकड़ लाता है फिर उसके सामने विचित्र गुन्जार करता है। कीट उसमें मुग्ध होकर आकार परिवर्तन करने लगता है और स्वयं ही भ्रमर बन जाता है। ईश्वर उपासना में भी वह अचिन्त्य शक्ति है जो उपासक को उपास्य देवता से तदाकार करा देती है। गीता के ११ वें अध्याय श्लोक ५४ में भगवान कृष्ण ने स्वयं इस बात की पुष्टि करते हुये लिखा है—''अनन्य भक्ति से ही मुझे लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। भक्ति से ही मैं बुद्धि प्रवेश करने योग्य बनता हूँ।''

ईश्वर-मुखी आत्माओं में जहाँ सूक्ष्म बुद्धि का विकास होता है और वे सांसारिक परिस्थितियों को साफ-साफ देखने लगते हैं वहाँ सर्वात्म-भाव भी जागृत होता है। इन्द्रियों से प्रतिक्षण उठने वाले विषयों के आकर्षणों में आनन्द की क्षणिक अनुभूति निरर्थक साबित हो जाती है जिससे शारीरिक शक्तियों का अपव्यय रुक जाता है। रुकी हुई शक्ति को आत्म-कल्याण के किसी भी प्रयोजन में लगाकर उससे मनोवांछित सफलतायें पाई जा सकती हैं। जिन लोगों ने संसार में बड़ी सफलतायें पाई हैं विश्वास के रूप में परमात्मा ने ही उन्हें वह मार्ग दिखाया और सुझाया है। निष्काम कर्म में प्रत्येक कर्म परमात्मा को समर्पित करना बताया जाता है उसमें भी यही तथ्य काम करता है कि मनुष्य प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य में परमात्मा का अनुग्रह और अनुकम्पा प्राप्त करे। ईश्वर-निष्ठ व्यक्ति के अन्तःकरण में उसकी सफलता का विश्वास अपने आप पर बनता है और इस तरह वैभव-विकास की परिस्थितियाँ भी अपने आप बनती चली जाती हैं। भूल दरअसल यह हुई कि कुछ लोगों ने सांसारिक कर्तव्य-पालन को तिलांजलि देकर आत्म-कल्याण के लिए पलायनवाद का एक नया रास्ता खड़ा कर दिया।

इससे लोगों में मतिभ्रम हुआ अन्यथा परमात्मा स्वयं अनन्य ऐश्वर्य से सम्पन्न है वह भला अपने उपासक को क्यों उससे विमुख करने लगा ? ईश्वर उपासना से बौद्धिक सूक्ष्मदर्शिता की तरह अनवरत क्रियाशीलता का भी उदय होता है। परिश्रम की आदत पड़ती है। पुरुषार्थ जगता है। इन वीरोचित गुणों के रहते हुये अभाव का नाम भी नहीं रह सकता। परमात्मा अपने भक्त को क्रियाशील बनाकर उसे संसार के अनेक सुख, ऐश्वर्य और भोग प्रदान करता है। मनुष्य स्वयं बेवकूफी न करे तो वह चिरकाल तक उनका सुखोपभोग करता हुआ भी आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा कर सकता है।

प्राचीन काल में एक साधारण गृहस्थ से लेकर राजे-महाराजे सभी ईश्वर-निष्ठ हुआ करते थे। इतिहास साक्षी है कि उस समय इस देश में आर्थिक या भौतिक सम्पत्ति की संकीर्णता नाम मात्र को न थी। ईश्वर-भक्ति के साथ उन लोगों ने परमात्मा की क्रिया-शक्ति को भी धारण किया हुआ था। फलस्वरूप अभाव का कहीं नामो निशान नहीं था। एक राजा जितना सुखी और सन्तुष्ट हो सकता था, प्रजा भी उतनी सुखी और सम्पन्न होती थी। आत्म-कल्याण के लिए उन लोगों ने एक अवधि आयु निर्धारित कर ली थी। तभी उसके लिये प्रस्थान करते थे। उसके पूर्व तक सांसारिक सम्पदाओं, सुख और ऐश्वर्य का पूर्ण उपभोग भी किया करते थे। यह स्थिति रहने तक हमारे देश में किसी भी तरह की सम्पन्नता कम नहीं रही।

जीव या मनुष्यता परमात्मा का ही दुर्बल और विकृत भाव है। दरअसल जीव कोई वस्तु नहीं परमात्मा ही अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहा है। जब तक हमारी कल्पना जीव भाव में रहती है तब तक अपनी शक्ति और सामर्थ्य भी वैसी ही तुच्छ और कमजोर दिखाई देती है। ईश्वर-भक्ति से कीट के रंग परिवर्तन जैसा प्रारम्भिक कष्ट तो अवश्यम्भावी है किंतु जीव का विकास सुनिश्चित है। प्रारम्भ में वह स्वार्थ, परमार्थ, माया, ब्रह्म, लोक और परलोक की मोह ममता में परेशान रहता है। कीट जिस तरह भ्रमर का गुंजन पसन्द करता है किन्तु वह अहमभाव छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता, उसी प्रकार जीव का अहंभाव में बने रहना प्रारम्भिक स्थिति है, उसके लिए जिद करना, मचलना साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। उसे पार कर लेने पर जब वह नितान्त ब्राह्मी स्थिति अर्थात् तदाकार में बदलता जाता है तो उसका अहंभाव एक विशाल शक्तिमान रूप में परिणत हो जाता है। वह अपने को ही ब्रह्म के रूप में देखने लगता है। "मैं ही ब्रह्म हूँ" यह स्थिति ऐसी है जिस में जीव की शक्तियाँ विस्तीर्ण होकर ईश्वरीय शक्तियों में बदल जाती हैं।

और संसार में सुख स्वामित्व और विकास के लिए तीसरी वस्तु जो आवश्यक है वह शक्ति भी उसे मिलती है। शक्ति, बुद्धि और साधन पाकर जीव दिनोंदिन उन्नति की ओर बढ़ता जाता है। यह सही हैं कि परमात्माभाव अपने निश्चित समय में ही पकता है, इसलिए फल देखने के लिए मनुष्य को भी निर्धारित नियमों और समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, किन्तु यह निश्चित है कि मनोवांछित सफलता और जीवन विकास का अधिष्ठाता परमात्मा ही है। उसकी भक्ति के बिना वह सब उपलब्ध नहीं हो सकता जिसकी हम इस जीवन में कामना करते हैं।

भक्त का मार्ग परमात्मा प्रकाशित करता है

आ-जानाय द्रुहणे पार्थिवानि।

दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।। ऋग्वेद ६।२२।८

करुणा, जय और अनुग्रह प्राप्ति समर्पण की सहजात क्रियाएँ हैं। भोला-भाला बालक यद्यपि सांसारिकता से नितान्त अनभिज्ञ होता है, किसी बच्चे को वन में अकेला छोड़ दिया जाये तो उसका जीवन तक संकट में पड़ सकता है, पर वह अपनी माँ के प्रति पूर्ण समर्पित होने के कारण इस बात की कभी कल्पना भी नहीं करता। माँ भी बच्चे के विश्वास की रक्षा हर प्रकार से भूखी, प्यासी, निरालस करती है, कभी आवश्यकता पड़ जाये तो वह सप्ताहों बिना निद्रा रह लेगी पर बच्चे के विश्वास को कभी धोखा नहीं देगी।

अपनी शक्तियों को तुच्छ मानकर शिष्य गुरु वरण करता है। शिक्षा, कला, उद्योग कोई भी क्षेत्र क्यों न हो मार्ग-दर्शक की आवश्यकता सभी

को पड़ती है पर गुरुजन अपनी समस्त विद्यायें और क्षमतायें उँड़ेलते हैं। केवल श्रद्धा और निष्ठा में सुदृढ़ और अपने आपको उनके प्रति समर्पित शिष्यों पर। समर्पण-सरलता मनमोहक गुण हैं, वे किसी के प्रति उन्मुख होते हैं उसके अन्तःकरण में करुणा और वात्सल्य उभारे बिना नहीं रहते।

पंच तत्वों को समर्पित प्रकृति का हर कण सौन्दर्य-सुषमा से ओत-प्रोत मिलेगा। उसमें उनका असीम अनुग्रह ही वृक्षों में हरियाली रंग-बिरंगे फूलों और सुन्दर, सुगन्ध के रूप में फूटता है। निसर्ग सौन्दर्य का अनन्त और अदृश्य भाण्डागार है, पर वह हर किसी को नहीं मिलता। यह विशेषतायें, सिद्धियाँ और सामर्थ तो उन्हीं को मिलती हैं जो अपनी आत्मा को शुद्ध बनाकर पन्च महाभूतों के आँचल में समर्पित कर देते हैं। प्रकृति देवी को समर्पित जीवन शुद्ध, स्वस्थ, सौन्दर्यशील और सुवासित हो उठता है। समर्पण की महिमा को जितना गाया जाये, कम है।

अपराध किये लोग कई बार यह अनुभव करते हैं कि जाने या अनजाने में उनसे भूल हुयी तो वह अपने को कानून के न्यायाधीश के हवाले कर देते हैं। न्यायाधीश यद्यपि विधान के अनुसार दन्ड देने के लिये विवश होता है, सजा न दे तो विधान नष्ट होता है, अतएव सजा तो कुछ न कुछ भोगनी पड़ती है पर न्यायाधीश का अन्तःस्नेह अपराधी के पक्ष में हुये बिना रहता नहीं, तब वह कुछ सजा भी कम कर देता है। कुछ उसकी दया अपराधी को शक्ति देती है तो शीर्ष शेष दन्ड भी सहनीय बन जाता है।

जघन्य अपराधी तक जब समर्पण के फलस्वरूप न्यायाधीश की दया के पात्र बन सकते हैं तो सारे विश्व की नियामक—दयासागर सत्ता भला अपने भक्त के प्रति अनन्य वत्सल न बने ऐसा कैसे हो सकता है। लवाई गाय का बछड़ा अपनी माँ के लिये केवल टेर करता है और माँ उससे दुगुने वेग से रम्भाती भी है और आतुरतापूर्वक हाँफती हुई बच्चे को प्यार पयपान कराने के लिए भागती भी है। सामान्य पशु में यह भाव हो तो जो विशुद्ध भावों से ही बने भगवान के अन्तःकरण से कितना वात्सल्य छलक सकता है इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। हम जितने वेग से आत्मसमर्पण करते हैं भगवान उससे हजार गुना अधिक शक्तिशाली प्रेम और अनुग्रह-प्रदान करता है।

विश्वासपात्र और संरक्षक संसार में बहुत हैं पर उन सब में कोई न कोई स्वार्थ भी हो सकता है किन्तु परमात्मा जो कि सृष्टि मात्र का पिता है, उससे सुदृढ संरक्षक और विश्वासपात्र दूसरा कोई हो नहीं सकता। जो अपने अन्तःकरण के द्वारा खोलकर परमात्मा को अपने भीतर प्रवाहित होने देना चाहता है। परमात्मा उसे अपनी समस्त शक्तियों और प्रतिभाओं से ओत-प्रोत कर देता है। यही नहीं अपने भक्त के जीवन मंगल का समस्त उत्तरदायित्व भी पूरा करने का उसने संकल्प लिया हुआ है। गीता में भी अपने इसी वचन का दोहराते हुये भगवान कृष्ण ने कहा—

"तेषां सतत् युक्तनां योग क्षेमं वहाम्यहम्"।

अर्थात्—हे अर्जुन ! अनन्य भाव से समर्पित अपने भक्त की कुशल-क्षेम का वहन मैं स्वयं करता हूँ।

संसार बड़ा विविध और विराट है, उसमें कुछ ऐसी जटिलता उत्पन्न हो गई है कि कई बार तो हित और अनहित की पहचान भी नहीं हो पाती, पदार्थों का आकर्षण, इन्द्रियों की वासनायें, अपनों के स्वार्थ, औरों के संघर्ष सभी मिलकर सुख-सुविधाओं का प्रतिरोध करते हैं मनुष्य अपने आपको ऐसी परिस्थितियों में बड़ा अशान्त और असहाय अनुभव करता है। कई बार तो परिस्थितियाँ इतनी विषम हो जाती हैं कि मन चिन्ताओं से, क्षोभ और शोक-संवेदना से पूरी तरह घिर जाता है। ऐसे अवसरों पर मानवीय प्रयत्न काम नहीं देते, तब अदृश्य सहयोग की हर किसी को अपेक्षा होने लगती है। ऐसा लगने लगता है कि बिना ईश्वरीय अनुग्रह के जीवन रथ आगे बढ़ नहीं पायेगा।

तब परमात्मा ही उसे प्रेरणा देता है और अपनी शक्तियों से उसके टूटे हुए जीवन में नव चेतना का संचार करता है। हारे, थके जीवन यात्री को दे जाती है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब इस माया या अज्ञानान्धकार का विच्छेदन करना अपनी सामर्थ्य से बाहर है तो फिर क्यों उसके पीछे पड़ा जाय और सांसारिक सुखों को भी तिलांजलि दे दी जाय।

साधक का मार्गदर्शन कमजोर हो तो यह स्थिति मनुष्य को आत्मकल्याण के मार्ग में देर तक टिकने नहीं दे सकती। साधक की श्रद्धा कमजोर हो तो भी यही बात होती है।

किन्तु यदि विचारमन्थन द्वारा इस बात को पूरी तौर पर समझ लिया गया है कि संसार निःसन्देह एक बहुत बड़ा रहस्य है और उसमें अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त किये बिना कल्याण नहीं हो सकता तो फिर सांसारिक बाधायें रास्ता नहीं रोक सकतीं।

विश्वास अटल हो तो अन्त में विचार करते-करते मनुष्य इसी स्थिति पर पहुँचेगा कि इस अखिल सृष्टि का संचालन करने वाली कोई अतीन्द्रिय, व्यापक और विशाल चेतन-सत्ता विद्यमान है। उस तक अपने विचार पहुँचाये जा सकते हैं और उसका आशीर्वाद प्राप्त किया जा सकता है। उसके समक्ष अपनी इच्छायें पहुँचाई जा सकती हैं और उनका जवाब पाया जा सकता है। ऐसे ईश्वर-परायण व्यक्ति को यह भी मालूम पड़ जाता है कि वह परम-पिता सर्वज्ञ ही नहीं नियामक और न्यायकर्ता भी है। उसे लिए सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। किसी को छोटा या बड़ा समझने की असावधानी उसके दरबार में नहीं होती। संसार उसकी एक नियमित व्यवस्था में चल रहा है।

विश्वव्यापी सत्ता का विचार बोध हो जाने से ही पूर्णता की स्थिति वन जाती हो ऐसा नहीं सोचना चाहिए। यह एक प्रकार से विश्वास की परिपक्वता है जहाँ साधक पीछे की ओर नहीं लौटता। क्योंकि तब तक उसका अन्तःकरण पूरी तरह से मथ चुका होता है और वह यह भली-भाँति समझ लेता है कि सुख भौतिक न होकर ब्रह्म में, आत्मा में विद्यमान है, उसकी खोज किए बिना पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। उस समय उसे सांसारिक भोगों से तृप्ति नहीं होती वरन् वह जितना अधिक उनमें रस लेने का प्रयत्न करता है उतना ही अधिक उसके मन और मस्तिष्क में तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा होता है।

अब मनुष्य के लिए एक ही रास्ता शेष रहता है—आत्म-समर्पण। वह जितना अधिक तादात्म का अनुभव करता है उतना ही सुख पाता है। इसका अभ्यास करते हुए वह परमात्मा में जितना अधिक घुलता जाता है उतना ही अधिक उसकी आन्तरिक विशालता का परिष्कार होता जाता है और मनोवृत्तियाँ निर्मल होती चलती हैं। यही स्थिति एक दिन आत्म-सिद्धि या पूर्णता को स्थिति तक पहुँचा देती है। ईश्वर प्राप्ति की यह साधना यौगिक क्रियाओं की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है।

आत्म-समर्पण की परिभाषा को समझ लेना यहाँ जरूरी है। अल्पबुद्धि के व्यक्ति आत्म-समर्पण का अर्थ छोड़कर भाग खड़े होना लगाते हैं। उनका कहना होता है कि अब उन्हें कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रहा। पर यह बात भ्रामक है। कर्म के बिना तो मनुष्य घर छोड़ देने के बाद भी नहीं रह सकता। खाने-पीने, चलने, उठने, बैठने की क्रियायें तो वह करेगा ही। मानसिक वृत्तियों का शमन न हुआ हो तो वह इच्छायें भी करेगा और तब यह संभव नहीं कि वह कुछ करे सही ही हो। इच्छायें पापपूर्ण भी तो हो सकती हैं, भोगवादी भी हो सकती हैं। जब कि यह ईश्वरनिष्ठा से विपरीत आचरण है उसे आत्म-समर्पण की कोटि में कैसे लाया जा सकता है। आत्म-समर्पण का अर्थ गृह-त्याग या कर्म से सन्यास ले लेना नहीं, उसका सम्बन्ध मनुष्य की आन्तरिक स्थिति से है।

मर्सबिन ने कहा था—"हे प्रभु ! मेरी इच्छायें, मेरी सम्पत्ति और व्यक्तित्व सब कुछ तेरा है।" इन तीन बातों में ही आत्म-समर्पण का सारा रहस्य समाया हुआ है। इन तीन बन्धनों को खोलकर ही मनुष्य परमात्मा का सानिध्य सुख प्राप्त कर सकता है।

इच्छायें समर्पित कर देने से मनुष्य कामना रहित हो जाता है। जब तक कामनायें शेष रहती हैं, तब तक मनुष्य फल की आशा रखता है और यदि वह न मिले तो दुःखी होता है। कामनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ न हुईं तो वह कैसे पूरी हो सकती हैं ? अल्प विद्या वाला व्यक्ति कोई उच्च पद प्राप्त करना चाहे तो वह कहाँ सम्भव है ? ऐसी स्थिति में असन्तोष, निराशा, विक्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। फिर यदि कामनायें पूरी हो भी जायें तो उनका उपभोग शरीर तक ही तो सीमित है जबकि जीवात्मा शरीर नहीं प्रकाश है। अमर-तत्व परिवर्तित नहीं हो सकता तो उनकी मूलभूत आवश्यकतायें ही कैसे बदल जायेंगी। इसलिए कहा जाता है कि ऐ मनुष्य !

तू इच्छायें न कर। इच्छाओं से कभी तृप्ति नहीं होती। इन्हें परमात्मा को सौंप दे अर्थात् जैसी भी स्थिति हो उसी में सन्तोष अनुभव करना चाहिए।

सम्पत्ति—मनुष्य को स्थूल सुखों से बाँधने वाली दूसरी वस्तु है, जबकि आत्म-देश तक पहुँचने वाली केवल भावनायें होती हैं, ईश्वरनिष्ठ को धन का भी मोह नहीं होना चाहिए। धन का खेल-खेलना चाहिए। आत्मा के उत्थान के लिए उसे एक साधन के रूप में देखना चाहिए। धन को परमात्मा की वस्तु समझकर सीमित और आवश्यक मात्रा में ही उपभोग करना चाहिए। निर्जीव वस्तु के लिए चेतन का सुख ठुकरा देना बुद्धिमानी नहीं हो सकती। आत्म-साक्षात्कार के लिए धन को भी परमात्मा को सौंप देते हैं अर्थात् उसका मोह त्याग देते हैं।

धन और कामनाओं का त्याग कर देने के बाद भी मनुष्य को व्यक्तित्व का मोह हो सकता है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं विद्वान हूँ, ऐसी मिथ्या धारणायें ज्ञानी पुरुषों को भी हो जाया करती हैं। मन में किसी प्रकार का अंहकार लाना बन्धन का ही कारण हो सकता है। जीवात्मा का शरीर-गत विशेषताओं से उतना ही सम्बन्ध है जितना मनुष्य का उसके निवास स्थान से। आध्यात्मिक गुण ही व्यक्तित्व को सजा सकते हैं और उन्हीं से जीवात्मा को शाश्वत लाभ हो सकता है। शारीरिक विशेषताओं की ओर ध्यान रखते हुए सूक्ष्म आत्मिक गुणों का प्राप्त करना कठिन हो जाता है इसलिए अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं को भी परमात्मा को सौंप देते हैं।

जब आत्मा का कोई भी विकार शेष नहीं रहता तो वह पूरी तरह से परमात्मा को आच्छादित कर लेती है। जीव ब्रह्ममय हो जाता है। उसकी आध्यात्मिक शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं।

मनुष्य अपने आप में पूर्ण नहीं है। साधन करते हुए वह गलतियाँ कर सकता है। मुक्ति का सीधा और सरल पथ आत्म-समर्पण है अपने आपको पूर्णरूप से परमात्मा को सौंप देने के बाद आत्म-कल्याण की सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और भगवान उसका कुशल-क्षेम स्वयं वहन करने लगते हैं। गीता में भगवान ने यही बात संक्षेप में इस तरह कही है—

सर्व धर्मान्यरित्यंज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्ष्यामि मा शुचः।।

अर्थात्—हे मनुष्यो ! तुम सब धर्मों का परित्याग कर केवल मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सारे पाप-बन्धनों से मुक्त कर दूँगा।

निष्काम भक्ति में दुहरा लाभ

इस विश्व में सबसे बड़ा रस प्रेम का है। इसकी एक-एक बूँद के लिए आत्मा तरसती है और जहाँ कही उसे मधुर-मधु की एक बूँद भी उपलब्ध हो जाती है वहीं वह उसकी बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हो जाती है। बालक में प्रेम भाव की मान्यता करके माता उस पर अपना न्यौछावर करती है और कुरूप एवं गुण रहित होते हुये भी उसे सुन्दर एवं गुणवान मानती है। पतिव्रता को अपना पति प्राण-प्रिय होता है और पत्नीवृती पति अपनी धर्मपत्नी पर प्राण निछावर करता है। हो सकता है कि इसमें स्वार्थ का भी कुछ अंश मिला हुआ हो पर प्रधानता प्रेम की होती है। प्रेम रहित स्वार्थ के लिए एक सीमा तक ही मनुष्य त्याग कर सकता है। पर सच्चा प्रेम जहाँ है वहाँ प्रेमी की आत्मा उसका महान मूल्य स्वयमेव जान लेती है और उसके लिए बड़े से बड़ा बलिदान करना भी सहज हो जाता है।

सुख और शान्ति के स्थल तलाश करने के लिए लोग जगह-जगह भटकते रहते हैं। कोई एकान्त में, कोई नदी पहाड़ों के प्राकृतिक दृश्यों में, कोई तीर्थ पुरियों में प्रसन्नता एवं शान्ति प्रदान करने वाली परिस्थितियाँ ढूँढ़ते हैं पर वस्तुतः आनन्द का स्थान वहीं है जहाँ प्रेमी जन बसते हैं। अपने से प्रेम करने वाले, सुहानुभूति रखने वाले, सानिध्य से प्रसन्नता अनुभव करने वाले स्वजन जहाँ रहते हैं वहाँ मनुष्य दौड-दौड़कर जाता है। परेदश में प्रचुर जीविका एवं सुख सुविधा होते हुए भी कितने ही व्यवसायी अपनी जन्मभूमि के छोटे से गाँव में पहुँचने को लालायित रहते हैं। अपने प्रियजन जहाँ रहते हैं वस्तुतः वह स्वर्ग के साधन के समान ही आनन्ददायक लगता है "जननी जन्मभूमि को स्वर्गादपि गरीयसी" कहा गया है। इस आस्था में प्रेम-भावना ही एकमात्र आधार है।

आत्मा की सबसे बड़ी श्रेष्ठता प्रेम भावना है। उच्चस्तर पर जिनका अन्तःकरण पहुँच चुका है उन्हें सभी अपने लगते हैं, सभी के प्रति ममता एवं आत्मीयता होती है। सभी के प्रति प्यार उमड़ता है। सेवा, दया, करुणा, सहायता, सहयोग, क्षमा, उदारता, दान-शीलता जैसी अगणित सत्प्रवृत्तियाँ प्रेम भावना की छाया मात्र हैं। जिस अन्तःकरण में दूसरों के प्रति प्रेम उमगेगा, जिसे दूसरे लोग भी अपने आत्मीय लगेंगे, वही तो किसी के साथ उपकार जैसा आचरण कर सकेगा, प्रेम के अभाव में दिखाऊ उदारता या तो किसी को ठगने के लिये होती है या यश प्राप्त करने के लिए। यह दोनों प्रयोजन जहाँ पूरे न होते होंगे वहाँ झूँठा प्रेम तुरन्त बदल जायेगा। किन्तु जहाँ प्रेम का निवास ही है उस अन्तःकरण में से सौजन्य की सुगन्धि निरन्तर स्वयमेव उड़ती रहेगी।

महान् व्यक्ति केवल प्रेमी ही हो सकता है। उसी में उच्च गुणों का सुस्थिर स्थायित्व रह सकता है। दूसरे लोग शिष्टाचार की सज्जनता से, मोर जैसी मधुरता से दूसरों को मोहित कर सकते हैं पर परीक्षा की घड़ियों में उनकी कलई तुरन्त खुल जाती है। कठिन अवसरों पर मनुष्य के पैरों को डगमगाने से बचाने और उच्च आदर्शों पर जमाये रखने की शक्ति केवल प्रेम में है। आदर्शों के प्रति, मानवता के प्रति, धर्म के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने वाला ही अपने आपको खतरे में डालकर अपनी मूल्यवान प्रेम भावनाओं को सुरक्षित रख सकता है। नीरस और स्वार्थी व्यक्ति दूसरों की पीर क्या जान सकते हैं ? और किसी के कष्ट में आँसू बहाने लायक सरलता उनके कठोर मानस में कहाँ से आ सकती हैं ?

उपनिषदों ने इस विश्व में प्रेम के रूप में परमात्मा के दर्शन किये हैं। "रसो वैस" की घोषणा करते हुए शास्त्रों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम ही परमात्मा है। परमात्मा का सजीव मूर्तिमान निवास यदि कहीं देखना हो तो प्रेमी का हृदय ही इसका स्थान हो सकता है। आत्मा का कायाकल्प प्रेम भावनाओं की रसायन सेवन करने से ही होता है। वह इसे ही पी-पीकर परमात्मा बन जाता है। स्वाँति की बूँद सीप के गर्भ में जाकर जब मोती बन जाती है। आत्मा रूपी सीप में जब प्रेम की स्वाँति बूँद प्रवेश करती है। वहाँ थोड़े ही समय में परमात्मा रूपी मोती का दर्शन होता है। धूप की गर्मी पाते ही कली खिल कर फूल के रूप में परिणत हो जाती है आत्मा पर प्रेम का प्रकाश पड़ने से वह परमात्मा के रूप में, महात्मा के रूप में, विश्वात्मा के रूप में विकसित हुई दृष्टिगोचर होने लगती है। आत्म-विकास का आधार आखिर प्रेम ही तो है।

परमात्मा को पकड़ने का, वश में करने का, प्रेम के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। भक्ति का अर्थ है प्रेम। भक्त और प्रेमी दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है। इस संसार का यह प्रकट रहस्य है कि जिस वस्तु को हम प्रेम करते हैं वह मिल जाती है। विद्या, धन, स्वास्थ्य, कीर्ति, वासना, विलासिता आदि जो कुछ हमें प्यारा है उसके लिए प्रयत्न किए जाते हैं और उन प्रयत्नों के पीछे जितना उत्साह, विवेक, श्रम एवं मनोयोग लगता है उतनी उसमें सफलता भी मिलती है। अध्यात्म जगत में ही यही नियम काम करता है आत्म-कल्याण में, परमात्मा की प्राप्ति में यदि हमारी प्रीति और प्रतीति सच्ची होगी तो उस लक्ष्य की प्राप्ति भी सुनिश्चित ही हो जायेगी।

सकाम उपासना से लाभ नहीं होता ऐसी बात नहीं है। जब सभी को मजदूरी मिलती है तो भगवान किसी भजन करने वाले की मजदूरी क्यों न देंगे ? जब भौतिक पुरुषार्थों का लाभ मिलता है तो आध्यात्मिक पुरुषार्थ क्यों निष्फल जायगा ? जितना भजन होगा जिस श्रेणी का हमारा भाव होगा उसके अनुरूप हिसाब चुकाने में भगवान के यहाँ अन्याय नहीं होता। पर यहाँ ध्यान रखने की बात है कि व्यापार बुद्धि से किया हुआ भजन अपने अनुपात से ही लाभ उत्पन्न कर सकता है।

निष्काम भाव से आत्म-दान करने वाली पत्नी विवाह के बाद ही पति की विशाल सम्पत्ति की अधिकारिणी बन जाती है। पर वैश्या को यह लाभ कहाँ मिलता है ? वह अपने शरीर का इतने समय का इतना मूल्य ठहरा लेती है, फिर उसे उतना ही मिलता है। सारे जीवन अनेक पुरुषों को शरीर बेचते रहने पर भी वह उतना नहीं कमा सकती जितना धर्मपत्नी का एक दिन ही पति के कमाये हुए पर उत्तराधिकार मिल जाता है। फिर वैश्या का आदर भी किसी की दृष्टि में क्या है ? पत्नी के बीमार होने पर पति उसकी चिकित्सा पर अपनी सारी कमाई खर्च कर सकता है, अपना रक्त भी दे सकता है पर वैश्या के बीमार होने पर कौन व्यभिचारी उसके लिए कुछ भी त्याग करने को इच्छुक होगा ? भक्ति का वैश्यावृत्ति की तरह नहीं पतिव्रता की तरह प्रयोग करना चाहिए। भक्ति भावना का, ईश्वर उपासना का मुख्य लाभ भौतिक सम्पदायें जुटाना नहीं, आत्म-कल्याण ही है। भक्ति का उद्देश्य मानव अन्तःकरण में प्रेम भावना की अभिवृद्धि करना है, जिससे वह महान मानव बनकर अपने चारों ओर सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् से परिपूर्ण एक दिव्य वातावरण उत्पन्न कर सके।

निष्काम उपासना में दुहरा लाभ है। घट-घटवासी, सर्वव्यापी भगवान यह भली प्रकार जानते हैं कि मेरे किस पुत्र को क्या कष्ट है ? वे करुणा के सागर अनन्त वात्सल्य से ओतप्रोत हैं, प्राणिमात्र का निरन्तर हित साधन करते हैं तो फिर अपने भक्तों का क्यों न करेंगे ? हम स्वयं नहीं जानते कि हमारा हित किसमें और अहित किसमें है ? रोगी को क्या पता है कि उसके लिये क्या आहार पथ्य और क्या कुपथ्य है ? इसे वैद्य ही जानता है। जो कुछ हमारे लिए आवश्यक है वह मिलने ही वाला है। उस उपलब्धि को हम परमात्मा पर ही क्यों न छोड़ दें। अपना कर्त्तव्य पालन करने की जिम्मेदारी निबाहते हुए फल का निर्णय उस करुणानिधान पर ही क्यों न छोड़ दें जो अपनी सहज उदारता से हमें निरन्तर बहुत कुछ देता ही रहता है।

सच्चा प्रेम निष्काम भावना की अपेक्षा करता है। स्वार्थपूर्ण प्रेम न संसार में सफल होता है और न आत्मिक क्षेत्र में। उससे सब कोई मनुष्य अपना बनता और न परमात्मा। आत्मा का स्वरूप ही निस्वार्थ है। परमात्मा से स्वार्थपूर्ण कामना मिश्रित नकली प्रेम कहाँ तक निभ सकेगा ! जैसे मतलब की दोस्ती जरा सी बात पर टूट जाती है वैसे ही सकाम कामना वाली भक्ति में भी स्थायित्व कहाँ होता है ? मतलब सिद्ध हो गया तो फिर भक्ति से क्या प्रयोजन ? और मतलब न निकला तो फिर पूजा-पाठ में सिर मारने से क्या लाभ ? इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में स्वार्थपूर्ण भक्ति-टूटती है। उसका अन्त असफलता में ही होता है।

हमारी साधना आत्म-कल्याण के लिए निष्काम और निस्वार्थ भाव से होनी चाहिए। सच्चे प्रेम की सच्ची भक्ति का विकास ही साधना का लक्ष्य है इससे आत्म-कल्याण और लौकिक सुख-शान्ति का दुहरा लाभ है। हमारे लिये यही श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर है।

गुत्थियों का हल करना अपने भीतर है

परमात्मा का प्रकाश मनुष्य की आत्मा में मौजूद है जो यदि आलोकित होने लगे तो वह अपने प्रकाश क्षेत्र को स्वर्गीय बना सकता है। स्वर्ग और नरक कोई स्थान नहीं, वरन् दृष्टिकोण हैं। जब मनुष्य तमोगुणी, तुच्छ, हीन, पतित, पाप दृष्टि अपनाकर अपने सोचने और काम करने का ढंग दूषित कर लेता है तो उसे अपने भीतर जलती हुई चिता जैसी जलन अनुभव होती है और बाहरी जगत में संघर्ष, क्लेश, द्वेष, रोग, शोक, दारिद्र, चिन्ता, भय, पीड़ा, त्रास की परिस्थितियाँ बिखरी हुई दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु यदि दृष्टिकोण उच्चस्तरीय हो, उसमें सात्विकता, प्रेम, दया, करुणा, मैत्री, सेवा, उदारता, क्षमा, आत्मीयता जैसे आदर्शों का

समन्वय हो तो व्यक्ति का अन्तःकरण हर घड़ी सन्तोष, उल्लास, सुख एवं शान्ति से भरा रहता है। ऐसे व्यक्ति को अपने बाहरी जीवन में सर्वत्र स्नेह, सद्भाव, सहयोग एवं सत्कर्मों का वातावरण ही फैला दीखता है। यों यह दुनियाँ तीन गुणों से बनी है। इसमें भला-बुरा सभी कुछ है। पाप और पुण्य का, देवत्व और असुरता का, दुख सुख का, उचित और अनुचित का अस्तित्व यहीं है फिर भी व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही परिस्थितियाँ प्राप्त कर लेता है। भौंरे के लिए इस बगीचे में फूलों की और गुबरीले कीड़े को गोबर की प्राप्ति हो ही जाती है। संसार बुरा भी है और भला भी। यहाँ न दुष्टों की कमी है और न सज्जनों की। पर यह सब होते हुए भी हमारे दृष्टिकोण का चुम्बकत्व अपने आप में एक ऐसा शक्तिशाली तत्व है जो अपने आकर्षण से अपनी जाति की वस्तुओं, आत्माओं एवं परिस्थितियों को खींचकर समीप जमा कर लेता है।

मकड़ी अपना जाला आप बुनती है और उसी में फँसी पड़ी रहती है। हम भी अपनी परिस्थितियों की सृष्टि आप करते हैं और उसी में सुख-दुःख का अनुभव करते हुए जीवन को हँसते-रोते व्यतीत करते रहते हैं। आमतौर से ऐसा समझा जा रहा है कि हमारी वर्तमान परिस्थितियों के निर्माता कोई और हैं। जब विपरीत या कष्टकारक कोई अवसर सामने आते हैं और उनके निदान के कारण की ढूँढ़ खोज करनी आवश्यक होती है तब हम यह खोज- बीन अपने भीतर न करके, अपने दोषों पर विचार न करके बाहरी कारणों पर दोषारोपण करते हैं और यह प्रयत्न करते हैं कि दोषी कोई और सिद्ध हो जाय और हम अपने आपको निर्दोष मानकर सन्तोष कर लेने का कोई बहाना ढूँढ़ निकालें। हममें से अधिकांश के प्रयत्न ऐसे ही होते हैं, मानवीय बुद्धि भी जादू की पिटारी है, इसे जिधर को लगा दिया जाय उधर ही अपनी मान्यता के समर्थन में कुछ न कुछ तर्क, प्रमाण कारण गढ़कर सामने प्रस्तुत कर देती है। फूंस का भेड़िया बनाकर खड़ा कर देने की विद्या में यह जादूगरनी परम-प्रवीण है। भीतरी मन जिस बात की आकांक्षा करे उसके समर्थन में वह कल्पना का एक पूरा महल नहीं, नगर नहीं, संसार ही गढ़ सकती है और छोटे बच्चे की तरह मन को इस प्रकार झुठला सकती है मानो चन्दा मामा को आकाश से उतारकर हथेली पर ही रख दिया हो।

हममें से अधिकांश को इसी भ्रम में भटकना पड़ता है। अपनी गुत्थियों के समाधान का हल खोजते हैं पर वह मिले कैसे ? भूल- भुलैया में भटकने वाले दिग्भ्रान्त मनुष्य की तरह हम वस्तुस्थिति को समझ कहाँ पाते हैं ? जो अपनी कठिनाइयों के कारण को समझें और उसका सही उपाय जानकर उसी के लिये सचेष्ट हों। हमारी मान्यता यह होती है कि हम स्वयं लिर्दोष हैं, हम न तो गलती करते हैं और न गलत सोचते हैं, न हमारे अन्दर दोष है न दुर्गुण, न हमें अपने को सुधारने की आवश्यकता है न सँभालने की। जो कुछ खराबी है, सब बाहर बालों में हैं। वे प्रत्येक कठिनाई के जिम्मेदार हो सकते हैं। इस मान्यता के स्थिर होते ही, कुशाग्र बुद्धि वाले वकील की तरह मन अपना काम करना आरम्भ कर देता है और मुकद्मा चाहे झूठा ही क्यों न हो उसे जिताने के लिये आकाश-पाताल के कुलावे मिलाना आरम्भ कर देता है। देखते-देखते इतने तर्क, इतने प्रमाण, इतने कारण सामने प्रस्तुत हो जाते हैं कि मनुष्य उन्हें ही सत्य मानने लगता है और किसी प्रकार अपनी निर्दोषिता पर आत्म-सन्तोष करता हुआ थोड़ा चैन पा लेता है।

अनेक व्यक्ति सोचते हैं कि उन्हें सताया गया है। सताने वाले जो व्यक्ति समझ में आते हैं उनके प्रति क्रोध, द्वेष और प्रतिहिंसा के भाव उठना स्वाभाविक ही है। एक नई जलन अपने कष्टों के साथ और जुड़ जाती है और जले पर नमक छिड़कने की तरह दुख देती है। कई बार और भी सरल तरीका समझ में आ जाता है। व्यक्तियों को दोषी न समझकर भाग्य, प्रारब्ध, विधाता, ईश्वर, गृह, नक्षत्र, भूत, पलीत आदि को कारण मानकर सन्तोष कर

लेने की भी पद्धति का प्रचार हो चला है। कारण यह है कि इन विश्वासों के आधार पर मनुष्य को अपनी विवशता स्वीकार करने और द्वेष एवं प्रतिहिंसा से बचने का अवसर मिल जाता है। द्वेष से, भाग्य से, ग्रह नक्षत्रों से द्वेष करने से भला क्या लाभ ? यह सोचकर दुर्बल मानस वाले व्यक्ति भी अपना गम गलत कर सकते हैं।

वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। मनुष्य का आन्तरिक प्रदेश जिस घटिया या बढ़िया स्तर का होता है उसे अपने अनुरूप व्यक्तियों, वस्तुओं एवं परिस्थितियों को प्राप्त करने में देर नहीं लगती। भीतरी प्रतिभा जब विकसित होती है तो उसके प्रकाश से बाहर सब कुछ जगमगाने लगता है। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि अधिकांश महापुरुष ऐसी अभावग्रस्त एवं हीन परिस्थितियों में उत्पन्न हुये थे जहाँ स्वाभाविक विकास की गुन्जाइश बहुत कम थी। यदि उनकी अन्तरात्मा प्रबल मनस्वी न रही होती तो उन्हें भी इस संसार के अनेक दीन-हीन व्यक्तियों की तरह भाग्य का रोना रोते हुए जिन्दगी के दिन पूरे करने पड़ते। पर हुआ इससे सर्वथा विपरीत। उनने अपनी आन्तरिक प्रतिभा के बल पर आगे को कदम बढ़ाये। बढ़ते हुए कदमों को प्रोत्साहित करने वाला दैवी नियम इस संसार आदि से ही बना हुआ है। कहते हैं कि—"ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता करते हैं।" पुरुषार्थी के आत्मविश्वासी कदम जिस राह पर बढ़ते है, उसके रोड़े हटते चले जाते हैं। हिमालय से निकली हुई गंगा की समुद्र से मिलने की प्रदीप्त भावना को हजारों मील भूमि पर बिखरे हुए असंख्यों अवरोध कहाँ रोक सके ? गंगा की धड़धड़ाती हुई धारा समस्त प्रतिरोधों को कुचलकर समुद्र तक जा पहुँचती है। प्रगति के पथ पर बढ़ती हुई आत्मा भी क्यों कर रुकेगी। उसे कौन रोकेगा ? हिमालय जैसा उच्च आन्तरिक स्तर जिसका होगा, और समुद्र जैसे विशाल लक्ष्य की आकांक्षा होगी उसका मार्ग गंगा की तरह ही प्रशस्त है। उसकी लक्ष्यपूर्ति सर्वथा सुनिश्चित है।

इस संसार में कोई बुराई नहीं है, कोई प्रतिकूलता नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा रहा है और न ही यह प्रेरणा दी जा रही है कि बाह्य जगत में जो बुराइयाँ एवं त्रुटियाँ हैं उन्हें सुधारा या बदला न जाय। यह तो करना ही चाहिए पर साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सारे संसार को सुधार लेना, इच्छानुकूल बना लेना सम्भव नहीं है। सारी पृथ्वी पर फैले हुए काँटे नहीं बीने जा सकते, पर अपने पैरों में जूते पहने जा सकते हैं, जिससे काँटों का प्रभाव समाप्त हो जाय। अपना सुधार करना, अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित करना जूते पहन कर काँटों से निश्चित होने के समान ही है। बाह्य जगत की बुराइयों को सुधारने के लिए भी अपनी उत्कृष्टता आवश्यक है। गरम लोहे को गरम लोहे से नहीं, ठण्डे लोहे से ही काटा जा सकता है। कीचड़ को कीचड़ से नहीं, शुद्ध जल से ही धोया जा सकता है। क्रोध को क्रोध से नहीं, शान्ति से परास्त किया जा सकता है। यदि हम स्वयं मलीन होंगे, बुराइयों से सने होंगे तो दूसरों का सुधार कैसे कर सकेंगे ? यदि हमारी भीतरी उलझनों का जाल इतना है तो बाहर की गुत्थियों को सुलझाया जा सकना किस प्रकार सम्भव होगा ?

इस संसार में अगणित कठिनाइयाँ मौजूद हैं। इस मानव जीवन की अगणित गुत्थियाँ उलझी पड़ी हैं, उनका सुलझाया जाना नितान्त आवश्यक है। उलझनों के बीच, कठिनाइयों के बीच चैन कैसे मिल सकता है ? पर इन पहेलियों को सुलझाते हुए हम यह न भूलें कि अधिकांश समस्याओं की जड़ हमारे भीतर है, उनका समाधान भी हमारे अपने ही अन्दर मौजूद है। अपने को सुधारना, अपने को बनाना, अपने को बढ़ाना ही वह उपाय है जिससे दुनियाँ सुधर सकती है। अपनी आकांक्षाओं की दुनियाँ साकार हो सकती है और उन्नति के उस उच्च शिखर पर पहुँचा जा सकता है जहाँ पूर्णता ही पूर्णता है, जहाँ अभाव का, शोक, भय का, दुःख का, एक कण भी शेष नहीं रहता है।

परमात्म-सत्ता से सम्बंद्ध होने का माध्यम-उपासना

जो मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसका सम्बन्ध परमात्मा-तत्व से स्पष्ट और प्रकट हो जाता है, जिनकी अभिव्यक्ति उच्च शक्तियों के रूप में होकर संसार को प्रभावित करने लगती है और उस व्यक्ति को अवतार, पैगम्बर, ऋषि, योगी आदि मानकर पूजने और मनन करने लगते हैं। वह एक दिव्य पुरुष बन जाता है।

परमात्म-तत्व वह अनन्त जीवन, वह सर्वव्यापी चैतन्य और वह सर्वोपरि सत्ता है जो इस जगत के पीछे अदृश्य रूप से काम करती है, इसका नियमन और नियन्त्रण करती है और जिससे दृश्यमान जीवन आता है और सदा-सर्वदा आता रहेगा। इसी अनन्त, असीम और अनादि ज्ञान और शक्ति के भण्डार से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से साधारण मनुष्य असाधारण बनकर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता हो जाता है।

अणु-अणु का मूलाधार वह परमात्म-तत्व ही है। सब कुछ उसी से बनता और उसी चेतन-शक्ति से गतिशील होता है। आकार-प्रकार में भिन्न दीखते हुये भी प्रयेक पदार्थ एवं प्राणी एक उसी तत्व के अंश हैं। जिस प्रकार समुद्र से उठाया हुआ एक जल-बिन्दु दीखता हुआ भी मूलतः उसी का संक्षिप्त स्वरूप होता है। और समुद्र की सारी विशेषतायें उसमें होती हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन और समष्टिगत जीवन सीमित और असीमित के मिथ्या भेद के साथ तत्वतः एक ही है। जो जीवात्मा है वही परमात्मा और जो परमात्मा है वही जीवात्मा। इस सत्य को जान लेना ही आत्म-ज्ञान कहा गया है। जिन-जिन महापुरुषों ने आत्म-प्रकाश की प्राप्ति कर ली है, उन्होंने अपना अनुभव प्रकट करते हुए, इस सत्य की इस प्रकार पुष्टि की है कि हम अपना जीवन परमात्मा-तत्व से एक दिव्य प्रवाह के रूप में पाते हैं अथवा हमारे जीवन का उस परमात्म-तत्व से ऐक्य है। हममें और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। हम और हमारा ईश्वर एक सत्य के ही दो नाम और दो रूप हैं। यही ज्ञान अथवा अनुभव, आत्मानुभूति, आत्म-प्रतीति अथवा आत्म-ज्ञान के अर्थ में मानी गई है।

प्रतीति के साथ शक्ति का अटूट सम्बन्ध है। जिसे अपने प्रति सर्वशक्तिमान की प्रतीति होती है, वह सर्वशक्तिमान और जिनको अपने प्रति निर्बलता की प्रतीति होती है वह निर्बल बन जाता है, और उसी के अनुसार उसका जीवन व्यक्त अथवा प्रकट होता है। अपने प्रति इस प्रतीति की स्थापना करने का प्रयास ही आत्म-ज्ञान की ओर अग्रसर होना है। जिसका उपाय आत्म-चिन्तन के सिवाय क्या हो सकता है ? जब यह चिन्तन अभ्यास पाते-पाते अविचल असंदिग्ध, अतर्क और अविकल्प हो जाती है, तभी मनुष्य में आत्मज्ञान का दिव्य प्रकाश आपसे-आप विकीर्ण हो जाता है, दिव्य शक्तियाँ स्वयं आकर उसका वरण करने लगती और वह साधारण से असाधारण, सामान्य से दिव्य और व्यष्टि से समष्टि रूप होकर संसार के लिए आश्चर्य, योगी, अवतार अथवा सिद्धि रूप हो जाता है।

आत्म-ज्ञान ही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। जिसने इस लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिया, भौतिक विभूतियों के लोभ में इसकी उपेक्षा कर दी, उसने मानो मानव-जीवन क सारा मूल्य गँवा दिया। जो अवसर परमात्मा से सम्बन्धित स्थापित करने और उससे बहने वाले दिव्य प्रकाश को ग्रहण करने की योग्यता उपार्जित करने के लिए मिला था, उसे अज्ञान के अन्धकार में अटकते-भटकते रह कर खो दिया। यह भूल मनुष्य जैसे विवेकशील प्राणी के लिये अनुचित और अवांछनीय है। इस अविवेक को त्यागकर हर भटकते हुए व्यक्ति को शीघ्र-से-शीघ्र सत्य-मार्ग पर आ ही जाना चाहिये।

जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य और अलभ्य है, एक बार बीत जाने पर दुबारा नहीं मिलता। इसलिए भूल सुधारने में जितनी शीघ्रता की जायेगी, उतना ही हितकर होगा। मनुष्य की महत्ता इस एक जीवन में ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लेने की है। नहीं तो इतना

तो कर ही लेना बुद्धिमानी है कि जो जीवन शेष है, अभी अपने अधिकार में है, उसको सत्य पथ पर नियोजित कर जितना जो कुछ बढ़ा जा सके बढ़ चला जाये। इसे अपेक्षित अभियान का तारतम्य आगामी जीवन में बना रहेगा और तब वह उसी निर्धारित सत्य मार्ग पर प्रारम्भ से ही चल पड़ेगा।

प्रायः लोगों में यह भ्रान्त-धारणा काम करती है कि शरीर छूट जाने के बाद उसके साथ जुड़ी हुई हर बात यहीं छूट जाती है। किन्तु सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। शरीर छूट जाने पर भी जीवन का अन्त नहीं होता। जीवन तो एक अनन्त एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, जो सदा-सर्वदा एक तारतम्यता के साथ प्रवाहित होता रहता है। जीवन अमर है। इसका कभी नाश नहीं होता। जीवात्मा इस स्थूल लोक को त्यागकर इसके पश्चात् आने वाले लोक के नये आकार में जीवनक्रम को पूर्ववत् चालू रखता है। जीवात्मा का परमात्मा की ओर अग्रसर होने का यही विधान है। वह कूदकर अथवा छलांग लगाकर पूरे पथ को पार नहीं करता वरन् क्रम-क्रम से सोपान-अनुसोपान पर पैर रखता हुआ ऊपर चढ़ता है। एक जीवन की सारी बातें दूसरे जीवन में उसके साथ यथावत् सूक्ष्म संस्कारों के रूप में जाती हैं और अपनी गतिविधि निर्धारित करती हैं। इसलिए यह सोचना कि अब तो जीवन का बहुत भाग बेकार चला गया, अब हो भी क्या सकता है, ठीक नहीं। शेष जीवन में जो सत्प्रयास प्रारम्भ कर दिया जायेगा वह भी अपने पूरे परिणाम के साथ आगामी जीवन का प्रारम्भ बनेगा।

हमारा वर्तमान जीवन, वर्तमान की ही वस्तु है, ऐसा मानना समीचीन नहीं है। हमारा जीवन पहले भी था और आगे भी रहेगा। जीवन का वास्तविक अदृश्य जगत में ही रहता है। यही नहीं संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ, जिसे हम देख रहे हैं, देख चुके हैं, अथवा आगे देखेंगे वह आज ही उत्पन्न नहीं हुई है। उसका अस्तित्व पहले से ही सूक्ष्म अथवा अदृश्य जगत में वर्तमान था। मनुष्य का प्रत्यक्ष जीवन स्थूल-लोक से प्रारम्भ होता दीखता अवश्य है, किन्तु वह वस्तुतः पहले से चला आता होता है। स्थूल शरीर जिसके छूट जाने को हम जीवन का अन्त मान लेते हैं, वास्तविक शरीर जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं, का ऊपरी आवरण अथवा कलेवर मात्र है।

यह जो कुछ क्रिया-कलाप करता दीखता है, वह उस सूक्ष्म शरीर की ही क्रिया होती है, जो इसके आधार पर प्रकट हुआ करती है। अपने इसी कलेवर के भीतर वह वास्तविक और शाश्वत सूक्ष्म शरीर बृद्धि करता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता रहता है। जिस प्रकार छिलके के भीतर अनाज का दाना धीरे-धीरे विकसित होकर पकता रहता है और जब वह पूरी तरह पक जाता है तो बाहर निकल जाता है, जिससे ऊपर का छिलका बेकाम हो जाता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के पूर्ण विकसित हो जाने पर अथवा परमात्मा तत्व को आत्मसात् करने लेने पर स्थूल शरीर बेकार और व्यर्थ हो गिर जाता है। अन्तर केवल इतना है कि अन्न का दाना अपने एक ही आवरण में पूरी तरह पक जाता है और सूक्ष्म शरीर अथवा जीवात्मा को पूर्ण विकास पाने के लिये अनेक बार स्थूल शरीर का कलेवर धारण करना पड़ता है, जिस दिन वह आत्म-प्रतीति की स्थिति में पहुँच जाता है, उसके बाद उसे फिर शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, वह अपने अनादि एवं अनन्त जीवन प्रवाह में स्रोत की तरह मिल कर तदरूप हो जाता है।

यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाये तो पता चलेगा कि हमारा जीवन स्थूल शरीर नहीं, सूक्ष्म शरीर ही है। हम जो कुछ करते हैं, उसी रूप में करते हैं और जो कुछ आगे करेंगे, उसी रूप में। हमारा यह बाह्याकार कितना ही बंदलता रहे किन्तु उसमें रहने वाला जीवात्मा कभी नहीं बदलता हमारा जीवन अपरिवर्तनशील और अमर है और यही रहस्य संसार का सबसे बड़ा सत्य है।

हमारा यह वास्तविक जीवन अथवा सूक्ष्म स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर होगा 'विचार'। विचार अपने मूर्तिमान् होते हुए भी सूक्ष्म सत्ता होने के कारण कभी स्पष्ट दिखलाई नहीं देते। उनकी मूर्तिसत्ता कार्यों के रूप में ही प्रकट होकर सामने आती है। हमारे आस-पास की दुनियाँ में दिखाई देने वाली हर वस्तु का सर्वप्रथम स्रोत-विचार ही होता है। कोई भी वस्तु अथवा पदार्थ सर्वप्रथम विचार रूप में जन्म लेकर ही स्थूल रूप में प्रकट होता है। हम स्वयं अपना जन्म विचारों में ही धारण करते हैं। उन्ही में पलते, बढ़ते और व्यक्त होते हैं। हम जीवन रूप में विचार स्वरूप हैं। हम आज जो कुछ दिखलाई दे रहे हैं अथवा आगे दिखलाई देंगे, वह हमारे विचार के सिवाय और कुछ न होगा। अपने जीवन को सत्य पथ पर नियोजित करने का अर्थ विचारों को उस दिशा में उन्मुख करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

विचार ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है उसे केवल कोरी कल्पना अथवा हवाई उड़ान मानकर महत्त्व न देने वाले अपने सत्य स्वरूप की ओर से आँख बन्द कर लेते हैं। शाश्वत शक्ति से सम्बन्धित होने के विचारों को संसार की वास्तविक, प्रबल, सूक्ष्म और महान् शक्ति माना गया है। विचारों के कारण ही मनुष्य उत्कृष्ट और निकृष्ट बनता है।

परमात्मा के जितने ही समीप हम पहुँचते हैं, उतनी ही श्रेष्ठताएँ हमारे अन्तःकरण में उपजती तथा बढ़ती हैं। उसी अनुपात से आन्तरिक शान्ति की भी उपलब्धि होती चलती है। इसी को उपासना कहा जाता है।

आत्मा को परमात्मा के निकट पहुँचने पर वही बात बनती है जो गरम लोहे और ठण्डे लोहे को एक साथ बाँधने पर होती है। गरम लोहे की गर्मी ठण्डे में जाने लगती है और थोड़ी देर में दोनों का तापमान एक सरीखा हो जाता है। दो तालाब जब तक अलग-अलग रहते हैं तब उनके पानी का स्तर नीचा-ऊँचा रहता है। पर जब बीच में नाली निकालकर उन दोनों को आपस में मिला दिया जाता है तो अधिक भरे हुए तालाब का पानी दूसरे कम पानी वाले तालाब में चलने लगता है और यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कि दोनों का जल स्तर समान नहीं हो जाता।

किसी व्यक्ति की उपासना सच्ची है या झूठी है एक ही परीक्षा है कि साधक की अन्तरात्मा में सन्तोष, प्रफुल्लता, आशा, विश्वास और सद्भावना का कितनी मात्रा में अवतरण हुआ। यदि यह गुण नहीं आये हैं और हीन प्रवृत्तियाँ उसे घेरे हुए हैं तो समझना चाहिए कि यह व्यक्ति पूजा-पाठ कितना ही करता हो किन्तु उपासना से अभी दूर ही है।

पूजा-पाठ अलग बात है, उपासना अलग। उपासना के लिए पूजा-पाठ से कर्मकाण्ड की चिन्ह-पूजा करते रहने मात्र से उपासना का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकता। जीवन को जीवन धारण करने के लिये शरीर की आवश्यकता होती है पर शरीर ही जीवन नहीं है। जीव-विहीन शरीर देखा तो जा सकता है पर उसका कोई लाभ नहीं। इस प्रकार उपासना विहीन पूजा होती तो है पर उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्मा जब परमात्मा की गोदी में बैठती है तो उसे प्रभु की सहज करुणा और अनुकम्पा का लाभ मिलता है। उसे तुरन्त ही निर्भयता और निश्चिन्तता की प्राप्ति होती है। हानि, घाटा, रोग, शोक, बिछोह, चिन्ता, असफलता और विरोध की विपन्न स्थितियों में भी उसे विचलित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे इन प्रतिकूलताओं में अपने हित-साधन का कोई विधान छिपा दिखाई पड़ता है। वस्तुतः विपन्नता हमारी त्रुटियों का शोधन करने और पुरुषार्थ को बढ़ाने के लिए ही आती है। आलस्य और प्रमाद को, अहंकार और मत्सर को मनोभूमि से हटाना ही प्रतिकूलताओं का उद्देश्य होता है। सच्चे आस्तिक को अपने प्रिय परमेश्वर पर सच्ची आस्था होती है और वह अनुकूलताओं की तरह प्रतिकूलताओं का भी खुले हृदय से स्वागत करता है।

अपनी कठिनाइयों को हल करने मात्र के लिए, अपनी सुविधायें बढ़ाने की लालसा मात्र से जो प्रार्थना पूजा करते हैं वे उपासना के तत्वज्ञान से अभी बहुत पीछे हैं। उन्हें उन बालकों में गिना जाना चाहिए जो प्रसाद के

लालच से मन्दिर जाया करते हैं। ऐसे बच्चे वह आनन्द कहाँ पाते हैं जो भक्तिरस में निमग्न एक भावनाशील आस्तिक को प्रभु के सम्मुख हृदय खोलने और मस्तक झुकाने में आता है। प्रभु के चरणों पर अपनी अन्तरात्मा को समर्पण करने वाले भावविभोर भक्त और प्रसाद की मिठाई लेने के उद्देश्य में खड़े हुए भिखमंगे में जो अन्तर होता है वही सच्चे और झूठे उपासकों में होता है। एक का उद्देश्य परमार्थ है दूसरे का स्वार्थ। स्वार्थी को कहीं भी सम्मान नहीं मिलता। परमात्मा की दृष्टि में भी ऐसे लोगों का क्या कुछ मूल्य होगा ?

विपन्नताओं की स्थिति में धैर्य न छोड़ना, मानसिक सन्तुलन नष्ट न होने देना, आशा और पुरुषार्थ को न छोड़ना आस्तिकता का प्रथम चिन्ह है। जिसे परमात्मा जैसी अनन्त सामर्थ्यवान सत्ता के साथ बैठने का सौभाग्य प्राप्त है वह किसी भी व्यक्ति या परिस्थिति से क्यों डरेगा ? क्यों अधीर होगा ? क्यों निराशा और कातरता प्रकट करेगा ? धैर्य और साहस की अजस्त्र धारा उसके मनःक्षेत्र में से उठती ही रहनी चाहिये।

जो आस्तिक है उसकी आशा कभी क्षीण नहीं हो सकती। वह केवल उज्ज्वल भविष्य पर ही विश्वास रख सकता है। अन्धकार अनात्म तत्व है। आत्म-परायण व्यक्ति के चारों ओर प्रकाश—केवल प्रकाश रहना चाहिए। उसे झुझलाने और खिन्न होने की की आवश्यकता क्यों पड़ेगी ? आस्तिकता माने-आत्म-विश्वास करने वाले को अपना भविष्य सदा उज्ज्वल एवं प्रकाशवान ही दिखाई देगा।

उपासना का दूसरा प्रतिफल है श्रेष्ठताओं की वृद्धि। चूँकि परमात्मा समस्त श्रेष्ठताओं का केन्द्र है, उसका सान्निध्य आत्मा को दिन-दिन उत्कृष्ट बनाता चलता है। भक्त को अपना भगवान सबमें दिखलाई पड़ता है इसलिए वह हर किसी की अच्छाइयाँ देखता है और उसकी चर्चा एवं विचारणा करते हुये अपने आनन्द और दूसरों के सद्‌भाव को बढ़ाता है। निन्दा और ईर्ष्या असुरता के दो प्रधान अस्त्र हैं। इनका प्रयोग उसी पर किया जा सकता है जिसके प्रति परायेपन का, शत्रुता का भाव रहे। जब सब अपने हैं तो अपनों की निन्दा कैसी ? अपनों से ईर्ष्या कैसी ?

बुराई को तोड़ने के लिये नहीं, अच्छाई को बढ़ाने के लिए उसके प्रयत्न होते हैं। अच्छाई को बढ़ाना ही वस्तुतः बुराई को तोड़ना है। बुराई तोड़ दी जाय और उसके स्थान पर अच्छाई की स्थापना न हो तो टूटी हुई बुराई फिर उपज आती है। आस्तिकता का दृष्टिकोण अच्छाई को बढ़ाना होता है ताकि बुराई के लिये कोई गुंजाइश ही न रहे। वह सदा अच्छाई की चर्चा करेगा। प्रेम से दुष्टता को परास्त करेगा। दुष्टता करके प्रेम के अंकुरों को जला देना असज्जनों का काम है। आस्तिक असज्जन नहीं हो सकता। प्रेम, करुणा, आत्मीयता और सौजन्य की अजस्त्र धारायें परमात्मा से प्रवाहित होती रहती हैं। प्राणि-मात्र का पोषण, संरक्षण एवं अभिवर्धन इन्हीं विशेषताओं के द्वारा तो वह करता है। ऐसे प्रभु के समीप बैठने वाले में, उपासना करने वाले में—यह विशेषतायें अवतरित होती हैं। अपने भाई बहिनों के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति, अनन्त करुणा और आत्मीयता की भावनायें उपासक के अन्तःकरण में उद्‌भूत होती हैं। इनको चरितार्थ करके वह अपने जीवन को यशस्वी बनाता है और मनःक्षेत्र धारण किये रहकर अनन्त का अनुभव करता है।

परमात्मा की उपासना का प्रतिफल पाने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कई व्यक्ति पुरुषार्थ के मूल्य पर मिलने वाली भौतिक सम्पदाओं की तरह बैठे रहते हैं। जिन्हें प्रेम और उत्सर्ग की उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर प्रभु के चरणों में बैठने की आकांक्षा है उन्हें अपने प्रियतम का प्रेम प्रतिपादित करने के लिए क्षण-भर की भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। उपासना वासना की आग को बुझाती है, तृष्ण को हटाती है, जो मानव-जीवन को निरन्तर अशान्त बनाये रहती है। उपासना और आत्मशान्ति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। आत्मा अपनी उद्‌गम सत्ता परमात्मा की ओर उन्मुख होगी तो निश्चय ही उसे प्रकाश मिलेगा। परमात्मा का प्रकाश पड़ने पर आत्मा भी अपने सत्-चित्त आनन्दमय स्वरूप के साथ प्रकाशवान दीखता है। ऐसे प्रकाशवान जीवन में नर से नारायण की, पुरुष से

पुरुषोत्तम की, आत्मा से परमात्मा की प्रत्यक्ष परिणति दृष्टिगोचर होती है। इसलिए उपासना को मानव-जीवन की सर्वोपरि बुद्धिमता माना गया है।

अपने जीवन को साधनामय बनाइये

मानव-जीवन ईश्वर की एक अनमोल अमानत है। इसे आदर्श एवं उत्कृष्ट बनाना ही अपनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचय देना है। भगवान ने हमारी पात्रता की कसौटी के रूप में यह मनुष्य शरीर दिया है। और यह परखा है कि हम इसका उत्तरदायित्व सम्भालने की स्थिति में हैं या नहीं ? यदि इस कसौटी पर खरे उतरे तो ऋषित्व एवं देवत्व जैसे उच्च उत्तरदायित्व प्रदान कर अन्ततः अपना ही अंग बना लेता है, पर यदि मनुष्यत्व जैसी परीक्षा में सफल न हो सके, इतना छोटा उत्तरदायित्व भी सम्भाल न सके तो जिस स्तर के हम हैं उसी निम्न योनि में पड़े रहने के लिए वापिस भेज देता है।

अस्तु, प्रयत्न यह होना चाहिए कि मानव के महान् उत्तरदायित्त्व को वहन करने के लिए हम पग-पग पर सर्तकता बरतें। निम्न योनियों के संचित कुसंस्कारों को हटावें और मानवोचित गुण, कर्म, स्वभाव को सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि करें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब हर घड़ी अपने आपके ऊपर चौकसी रखी जाय। अपने सम्बन्ध में असावधान रहने, उसी ढर्रे पर अपनी गाड़ी भी लुढ़कने लगती है, जिससे आस-पास घिरे हुए निकम्मे लोगों का जीवन फूहड़पन के साथ बर्बाद होता चला जा रहा है। आवश्यकता ऐसी विवेकशीलता की है जो अपने सम्बन्ध में सर्तकता बरतने और दूसरे गन्दे लोगों का अनुकरण न करके अपना मार्ग स्वतः निर्धारित करने का साहस प्रदान कर सके।

ऐसा साहस ही अध्यात्म है—जो आदर्श जीवन जीने की गतिविधियों का निर्माण करे और उसी रास्ते पर उत्साहवर्धक घसीट ले चले। जिन लोगों के बीच हमारा रहना है, उनमें से अधिकांश बड़े स्वार्थी, संकीर्ण, ओछे, गन्दे लोग हैं, इनकी कोशिश अपने ही ढर्रे पर साथियों को भी घसीट ले चलने की होती है। वे उत्कृष्ट जीवन जीने वालों का मजाक बनाते हैं। निन्दा और विरोध करते हैं और तरह-तरह की अड़चनें खड़ी करते हैं। जो इनसे डर गया, वह गन्दा जीवन जीने के लिए विवश होगा, पर जिसने साहस करके अपना पथ स्वयं निर्धारण करने का संकल्प कर लिया और पड़ौसियों की उपेक्षा करके उत्कृष्टता की गतिविधियाँ अपनाने के लिए दृढ़तापूर्वक चल पड़ा, वही जीवनोद्देश्य की प्राप्ति में सफल होता है। अध्यात्म साहसी शूरवीरों का आदर्शवादी और उत्कृष्ट लोगों का मार्ग है।

देवी-देवताओं को मन्त्र-तन्त्र से सिद्ध कर उनसे तरह-तरह की मनोकामनायें सहज ही प्राप्त कर लेने के सपने देखने वाले, थोड़ी सी टण्ट-घण्टे के बदले स्वर्ग-मुक्ति लूट ले जाने वाले धूर्त, अपना मन सस्ते सपने देखने में बहलाते रहते हैं, पर रहना उन्हें खाली हाथ ही पड़ता है। जो जीवन-शोधन का पुरुषार्थ कर सकने का साहस नहीं कर सकते, उन्हें आत्मिक प्रगति, ईश्वर की प्रसन्नता और उन दिव्य विभूतियों की आशा नहीं करनी चाहिए, जिन्हें पाकर मनुष्य-जीवन धन्य और सार्थक बनता है। कीमती वस्तुएँ उचित मूल्य देकर ही खरीदी जा सकती हैं। आध्यामिक विभूतियाँ और दैवी सम्पदायें जीवन-शोधन से कम मूल्य पर आज तक न कोई खरीद सका है और न भविष्य में कोई खरीद सकेगा। सस्ते मूल्य पर आत्मिक सफलताएँ मिलने के प्रलोभन बिडम्बना भरे हैं। उनसे हर विवेकशील को अपना पिंड शीघ्र ही छुड़ा लेना चाहिए और साहसपूर्वक जीवन-शोधन के उस राज-मार्ग पर चल पड़ना चाहिये, जिस पर चले बिना कल्याण का लक्ष्य प्राप्त कर सकना किसी के लिये भी सम्भव नहीं हो सकता।

यह कार्य एक निर्धारित समय पर थोड़ी पूजा-उपासना जैसी प्रक्रिया अपना कर सम्पन्न किया जा सकता है। हर घड़ी आत्म-निरीक्षण की दृष्टि अपने ऊपर रखने से ही यह प्रयोजन सिद्ध होता है। साधना के प्रथम चरण द्वारा अपने शरीर और मन पर, कार्य और विचारों पर,

बारीकी से तीखी नजर रखकर यह देखना होता है कि मनुष्यता को गिराने वाले-पशु स्तर के, कुसंस्कार अपने में कितने समाये हुए हैं ? गुण, कर्म, स्वभाव में किन पशु प्रवृत्तियों का समावेश है ? उन्हें धीरे-धीरे, एक-एक करके छोड़ने का संकल्प करना चाहिए। अपने कुसंस्कारों से लड़ना चाहिए। उनकी हानियों पर विचार करना चाहिये और एक-एक करके अपने दोष, दुर्गुणों को छोड़ते चलना चाहिए।

आहार-विहार सम्बन्धी कितनी ही कुटेव अपने अन्दर हो सकती हैं। नशे, व्यसन, व्यभिचार, आलस्य, कटु-भाषण, क्रोध, आवेश, असंयम, मलीनता, लापरवाही, आशंका, चिन्ता, भय, कायरता, निराशा, उच्छ्रंखलता जैसे छोटे-मोटे स्वभावजन्य दोष ऐसे होते हैं, जो देखने में मामूली से लगते हैं, पर प्रगति के पथ पर भारी अवरोध उत्पन्न करते हैं। चोरी, हत्या, धोखा, बेईमानी, बलात्कार जैसे बड़े पाप तो कोई बिरले ही करते हैं, उनके लिए कानून दंड व्यवस्था भी है पर छोटे दुर्गुणों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। असल में पतन की जड़ यही होते हैं और आगे चलकर उन्हीं की वृद्धि होती चलने से व्यक्ति क्रूर-कुकर्मी, नर-पिशाच बन जाता है। इसलिए इन विष वृक्षों के छोटे-मोटे पौधे भी अपने जीवन क्षेत्र में उग रहे हों तो उन्हें एक-एक करके फेंकते चलने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अपने दैनिक क्रिया-कलाप और उनके साथ जुड़े हुए विचारों एवं उद्देश्यों को परखते रहना चाहिए कि निकृष्ट स्तर के, नर पशुओं के स्तर पर तो नहीं चल रहे हैं। यदि इनमें दोष पाये जायें तो तुरन्त उसके स्थान पर सुधरी हुई रूप-रेखा उपस्थित करनी चाहिए और दोष के स्थान पर गुण को-अनुपयुक्त के स्थान पर उपयुक्त को प्रतिष्ठित करना चाहिए। जो गलत किया जा रहा है, उसके स्थान पर सही क्या हो सकता है, यह निर्णय करने के लिए पक्षपातरहित विवेक की आवश्यकता है।

आमतौर से हर मनुष्य अपने साथ रियायत और पक्षपात करता है। यह भूल सुधारनी चाहिए। जैसे गलत विचार या गलत काम करते हैं, यदि वैसे ही कोई दूसरा करे और पूछने आवे कि मुझे इन्हें कैसे छोड़ना चाहिये ? और इनके स्थान पर क्या रीति-नीति अपनानी चाहिये ? तो इसके उत्तर में हम निश्चय ही बहुत कुछ उपदेश और परामर्श दे सकते हैं। वही उपदेश और परामर्श अपने को देना चाहिए। अपने भीतर एक नया न्यायाधीश, उपदेशक, गुरु, भगवान विकसित कर लेना चाहिये। वही अपना सुधार और मार्गदर्शन कर सकता है। इसी के परामर्श पर चलना चाहिए। एक-एक करके इसी प्रकार अपने दोष दुर्गुणों का अन्त होगा। आत्म-शोधन को एक महान साधन मानकर उसमें निरन्तर संलग्न रहने से ही हम निर्मल, निर्दोष निष्पाप और निष्पक्ष, सद्विवेकी महामानव बन सकेंगे। आध्यात्मिक प्रगति के लिये यही राज-मार्ग है।

□ □

ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

ईश्वर है या नहीं ?

विश्व ब्रह्माण्ड की आश्चर्यजनक गतिविधियों और प्राणी जगत् में विलक्षण क्रिया-कलापों को देखकर यह विचार उठना स्वाभाविक है कि इस अद्‌भुत विलक्षण संसार की निर्मात्री, नियन्ता और पोषक कोई न कोई सर्व-समर्थ विचारवान सत्ता अवश्य है। अपने आसपास के विलक्षण जगत को देखकर ही मनीषियों के मन में उसके कर्ता, स्वामी के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। चिन्तन, मनन, शोध और साधना द्वारा उन्हें ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति हुई। न केवल अनुभूति हुई वरन् उस सर्वशक्तिमान् सत्ता के संघर्ष सान्निध्य से लाभ उठाने की सम्भावना भी साकार हुई।

जिन महर्षि-मनीषियों ने ईश्वर सान्निध्य का लाभ और आनन्द उठाया, उनके अलावा ऐसे व्यक्ति भी थे जिन्हें प्रत्यक्ष जगत के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता का अस्तित्व ही कल्पना प्रसूत लगता था। यहीं से आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के दो परस्पर विरोधी दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। नास्तिकों का कथन है, ईश्वर में विश्वास रखना अन्धविश्वास मात्र है। जब विज्ञान द्वारा ईश्वरीय सत्ता सिद्ध ही नहीं होती तो उसे माना ही क्यों जाए ? परन्तु एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या हम केवल उन्हीं बातों पर विश्वास करते हैं कि जो विज्ञान की कसौटी पर प्रामाणिकता पा चुकी हैं ? उत्तर मिलता है नहीं। जीवन के कितने ही आदर्श ऐसे हैं जिनकी पुष्टि विज्ञान से नहीं अपितु अन्तरात्मा से होती है। नीतिशास्त्र भी ऐसा ही है विषय है जो विज्ञान की दृष्टि से निरर्थक ठहरता है। वस्तुतः जिसे विज्ञान कहा जाता है वह पदार्थ-विज्ञान है। इस पदार्थ-विज्ञान द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म ईश्वरीय तत्वों तक कैसे पहुँचा जा सकता है ?

अनेकों बातें ऐसी हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थहीन हैं परन्तु सामाजिक अभ्युन्नति के लिए वे मेरुदण्ड के समान हैं। उदाहरणार्थ, विज्ञान की दृष्टि में नर और मादा का यौन सम्पर्क अत्यन्त स्वाभाविक है। पशु-पक्षी भी ऐसा करते हैं। उनमें माता, बहिन या पुत्री के सम्बन्धों का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। लेकिन मानव-समाज में माता, बहिन या पुत्री के साथ यौनाचार नितान्त पापाचार है। परन्तु यदि विज्ञान की कसौटी पर यौन-सदाचार व्यर्थ सिद्ध होता है तो क्या हम इसकी व्यर्थता को मानकर माता, बहिन या पुत्री की मर्यादा को छोड़ देंगे ?

विज्ञान के अनुसार जीव, जीव का भोजन है। प्रत्येक प्राणी के लिए अपने स्वार्थ की पूर्ति, पेट और प्रजनन परक जीवन ही प्रधान है। स्वार्थपरता तथा चार्वाकों जैसे स्वच्छन्द भोगवाद का विरोध विज्ञान के आधार पर नहीं किया जा सकता। हाँ, समर्थन अवश्य हो सकता है। परन्तु यदि परोपकार, करुणा, सहानुभूति, त्याग, सेवा, सहिष्णुता जैसी सत्प्रवृत्तियों को मानव जीवन से बहिष्कृत कर दिया जाये तो सामाजिक सुख-शान्ति स्वप्नमात्र ही रह जायेंगी।

विज्ञान के अनुसार मृत्यु से डरना प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक धर्म है। यदि मनुष्य को भी इस स्वाभाविक धर्म से आबद्ध मान लिया जाय तो मातृभूमि की बलिवेदी पर हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान देने वाले वीर सैनिक प्रकृति विरोधी एवं महामूर्ख ही कहे जायेंगे। वे जान-बूझकर मृत्युपाश को गले क्यों लगाते हैं, इनका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि अनेक प्रश्नों के उत्तर विज्ञान के पास नहीं हैं और इसी प्रकार ईश्वर की सिद्धि-असिद्धि में भी वह नितान्त असमर्थ है।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर जिस वस्तु की सत्ता सिद्ध हो, उसे ही माना जाय। क्योंकि प्रत्यक्ष के आधार पर ईश्वरीय सत्ता सिद्ध नहीं होती अतएव उसे मानना रुढ़ि या परम्परा मात्र है। परन्तु यह तर्क

भी उचित नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर प्रत्येक वस्तु को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके द्वारा तो यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि हमारा पिता कौन है, परन्तु माता की साक्षी को ही इसके लिए पर्याप्त मान लिया जाता है।

ईश्वर दिखलाई नहीं देता इसलिए उसे माना न जाय, यह तर्क नितान्त सारहीन है। अनेकों वस्तुयें ऐसी हैं जो दिखलाई नहीं पड़तीं परन्तु फिर भी उन्हें अनुभव किया तथा माना जाता है। उदाहरणतः अपने नेत्र में अंजन अपने को ही कहाँ दिखाई पड़ता है ? सरोवर में बादलों के क्रोड़ से गिरे जल-बिन्दुओं को कोई देख पाता है ? यद्यपि तारकगणों की सत्ता दिन में भी होती है परन्तु सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण वे कहाँ दृष्टिगत आते हैं ? बहुत सूक्ष्म वस्तु भी कहाँ दिखाई देती है ? आकाश में छाये जलकण दिखलाई देते हैं, दूध में यद्यपि मक्खन की सत्ता होती है परन्तु वह दिखाई नहीं पड़ता। जल में नमक घुल जाता है तो दिखलाई नहीं पड़ता। परन्तु जल में उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा नहीं कहा सकता। मित्र के घर जाने पर यदि वहाँ मित्र नहीं मिलता तो हम उसका अभाव नहीं मानते। इसी प्रकार वस्तु के प्रत्यक्षतः प्राप्त न होने से ही उस का सर्वथा अभाव नहीं मानना चाहिये।

ईश्वर के अस्तित्व से केवल इसलिए मना करना कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण तथा आज के अविकसित विज्ञान के आधार पर सिद्ध नहीं होता, कोई महत्वपूर्ण कारण नहीं है। मानव-जीवन से सम्बन्धित अनेकों प्रश्नों का उत्तर पदार्थ-विज्ञान से नहीं अपितु उस अध्यात्म-विज्ञान से सुलझता है, जिसे आज हम पदार्थवादी बनकर विस्मृत करते जा रहे हैं। ईश्वर का अस्तित्व भी अध्यात्म-विज्ञान से ही सिद्ध होता है। तपःपूत ऋषिजन अपनी दिव्य दृष्टि से उस दिव्य तत्व की अनुभूति करते हैं।

इस नाना नाम रूपात्मक सृष्टि को बनाने वाला परमपिता परमेश्वर है। बिना कर्त्ता के क्रिया हो ही नहीं सकती। रंग, ब्रुश आदि सभी उपकरण उपस्थित रहने पर भी क्या बिना चित्रकार के चित्र बनेगा ? सृष्टि के जड़ पदार्थों में चेतना करने वाला तथा कोटि-कोटि जीवों को बनाने वाला यह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली कारीगर ही है। सारी प्रकृति उससे व्याप्त है। प्राणियों की चेतना उस विशाल चेतना का ही अंश है। विश्व की सुन्दरता और सौम्यता उसकी ही सुन्दरता और सौम्यता है। सृष्टि के कण-कण में वह किसी न किसी रूप में विद्यमान है। जिस प्रकार रजकण और पृथ्वी में कोई विभेद नहीं होता, वह उसका ही अंश होता है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं। आत्मा, परमात्मा का ही अंश है। परन्तु जिस प्रकार बादल दल से सूरज का प्रकाश अप्रतिहत हो जाता है उसी प्रकार अज्ञान से अप्रतिहत होने के कारण हम आत्मतत्व को, अपने आपको भूल जाते हैं और लक्ष्य विमुख होकर भटकते रहते हैं।

संसार में हम देखते हैं कि कोई प्राणी तो स्वर्गोपम जीवन व्यतीत करता है परन्तु कोई नारकीय यन्त्रणाओं में फँसा तिलमिलाता है। सुख प्राप्ति की प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा होती है परन्तु ईश्वर ही उसे दुःख भोगने को विवश करता है। समाज की आँखों में, पुलिस की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है परन्तु उस घट-घटवासी परेश्वर की दृष्टि से हमारा कोई कार्य छिप नहीं सकता। हमारे कर्मों का अच्छा या बुरा फल वह हमें असम्भाव्य रूप से देता है। कर्मफल के आधार पर भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

तपोनिष्ठ आर्य मुनियों ने मानव-जीवन में आस्तिकता को जो महत्वपूर्ण स्थान दिया है, वह उनकी दूरदर्शिता का परिचायक है। उनकी सूक्ष्म ग्राहिणी बुद्धि ने यह अनुमान लगा लिया था कि मनुष्य एक दिन अपनी बुद्धि एवं प्रकृति का दुरुपयोग कर कुमार्गगामी बन सकता है तथा शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए खतरा बन सकता है। इस पथ-भ्रष्टता से बचाने के लिए ही उन्होंने आस्तिकता को जीवन का प्रथम आधार बनाया। ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, उसकी दृष्टि से हमारा कोई भी कार्य छिप नहीं सकता, उसकी न्याय-व्यवस्था हर किसी के लिए समान है, ये मान्यतायें पापों से बचाती हैं तथा सदाचार और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन में सहायक बनती हैं।

ईश्वरीय नियमों में विश्वास रखकर ही अब तक की मानव जाति की प्रगति सम्भव हुई है।

'विश्वासं फलदायकम्'

श्री रमेशचन्द्र के पास कुछ रुपये हैं। उनका ३ लड़कों उमेश, दिनेश और सुशील में बँटवारा करना है। उमेश को कुल धन का १/२ और दिनेश को १/३ देने के बाद सुशील के लिए कुल सौ रुपये बचे तो बताओ श्री रमेशचन्द्र के पास कुल कितने रुपये थे ?

कल्पना मात्र से यह एक पेचीदा प्रश्न है। आप अपनी बुद्धि से इस प्रश्न को निकालना चाहें तो बहुत कठिन हो जायेगा। क्योंकि आपको उत्तर निकालने के लिए सैकड़ों संख्याओं की कल्पना करनी पड़ेगी और वह सब तब तक गलत होंगी जब तक ठीक वही संख्या अपने आप कल्पना में न आयेगी भले ही वह संख्या एक दिन एक सप्ताह, एक महीने भर या साल भर में आये। कल्पना तो आखिर कल्पना ही है।

इन दिक्कतों से बचने के लिए गणितज्ञों ने कुछ सूत्र ढूँढ़े हैं उसका आधार 'माना कि उत्तर अमुक है' एक विश्वास है और जब उस विश्वास को प्रयोग में लाते हैं तो वह फलितार्थ शत-प्रतिशत सत्य निकालते हैं इसलिए हमारा विश्वास करना सार्थक हो जाता है।

आइये विश्वास के आधार पर ऊपर के प्रश्न को हल करें—

माना यह धन १ रुपया है। १ का १/२ = १/२ भाग उमेश को दिया गया। १ का १/३ = १/३ भाग दिनेश को दिया गया। कुल १/२ + १/३ = १/६ भाग २ भाइयों में बाँट दिया गया। अब १ — ५/६ = १/६ भाग शेष रहा। यही हिस्सा सुशील को दिया गया जो सौ रुपये के बराबर था। ऐकिक नियम के अनुसार चूँकि १/६ = १०० के। इसलिए १ बराबर ६०० रुपये के। यही उत्तर है और सही भी है जबकि सारी दुनियाँ में एक छः सौ के बराबर कभी हो ही नहीं सकता। असम्भव तरीके से सम्भव की खोज का नाम विश्वास है। वह एक समर्थ सूत्र है जिसके आधार पर ही परमात्मा की खोज की जा सकती है। विज्ञान का रास्ता कल्पना और भटकाव का है। उससे संसार के सृजन, विकास और संहार वाली शक्तियों का पता चलेगा तो सही किन्तु भीषण, संघर्ष, ध्वंस और हिंसा से भरा हुआ ये लम्बा रास्ता बड़ा अशान्ति और असन्तोष से पार होगा और आद्यशक्ति तक पहुँचना कठिनाई से ही सम्भव होगा।

ईश्वर पर विश्वास कर लेने में जहाँ अनेक व्यक्तिगत लाभ हैं वहाँ विश्व-शान्ति के लिए एक सुदृढ़ आधार पर गणित के उत्तर निकाले जा सकते हैं। उसी तरह संसार में प्राणियों का अविर्भाव क्यों और कहाँ से हुआ है ? अनेक योगियों में बिखरी प्राणसत्ता का रहस्य क्या है ? जीवन का उद्देश्य क्या है और उसे किस तरह प्राप्त किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है। वह स्थूल का ही अध्ययन और प्रतिपादन कर सकता है जबकि मनुष्य शरीर की आधी शक्तियाँ भावनामय, विचारमय, संकल्पमय हैं। शारीरिक इन्द्रियों की तरह भावनायें भी तृप्ति माँगती हैं और उन का अपना अलग क्षेत्र है। जब ईश्वर को मानवीय चेतना की तरह की ही कोई सत्ता मान लेते हैं तो जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। हमारी भावनात्मक शक्ति का विकास होने लगता है।

तमाम रेखागणित (ज्योमेट्री) एक बिन्दु (पौइन्ट) से विकसित होती है। रेखा अनेक बिन्दुओं से बनी एक दूरी है जिसमें लम्बाई है किन्तु चौड़ाई नहीं। बिन्दु वह वस्तु है जिसमें न तो लम्बाई है, न मोटाई और चौड़ाई। ऐसी वस्तु को कोई अस्तित्व ही नहीं होना चाहिये। कोई भी बिन्दु अंकित किया जायेगा भले ही दशमलव के आगे कई शून्यों के बाद उसका व्यास आये पर मोटाई होगी अवश्य। यदि मोटाई हो जाती है तो वह बिन्दु नहीं रहता और रहता है तो परिभाषा गलत है। अस्तित्वहीन वस्तु केवल विश्वास है, उसी पर सम्पूर्ण रेखागणित का धरातल टिका हुआ है और उसके माध्यम से जो भी अर्थ और निष्कर्ष निकाले जाते हैं एक और एक सही निकलते हैं। यह है विश्वास का प्रतिफल। उसी प्रकार ईश्वरीय सत्ता को मान लेने पर व्यक्तिगत कल्याण, समाज और विश्वास के हित के परिणाम सही उतरने लगते हैं। दृश्य न होने पर भी उसकी कल्पना बिन्दु की तरह

एक शक्तिशाली सिद्धान्त है। परमात्मा को भी हम उसी रूप में ले लें तो इसमें भी मानवता का कल्याण ही सन्निहित है।

मनुष्य समाज की अधिकांश व्यवस्था विश्वास पर ही आधारित है और उसी से हम सुखी हैं। भाई-भाई में, पति-पत्नी में, पिता-पुत्र, डाक्टर-मरीज, दुकानदार-खरीददार, सरकार और ठेकेदार सब का काम विश्वास पर ही चल रहा है। विश्वास प्राप्त करके ही एक साधारण व्यक्ति पार्लियामेन्ट का सदस्य और प्रधानमन्त्री बन जाता है। हमारे विश्वास में इतनी जबर्दस्त शक्ति है कि वह सामान्य सी परिस्थितियों को कुछ का कुछ बना सकती है। जो केवल दूसरों पर अविश्वास ही अविश्वास करते हैं तो दूसरे चाहे कैसे ही हों, पर अविश्वास करने वाला अपने आप ही दुखी, अशान्त और अव्यवस्थित बना रहता है। विश्वास की शक्ति पर ही संसार टिका हुआ है। हमारे लिये उसके अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं कि ईश्वरीय शक्तियों पर ही विश्वास करें और यह देखें कि उसके फलितार्थ हमारे जीवन में उसी प्रकार सही उतरते हैं या नहीं, जिस प्रकार पत्नी, पिता, माता, भाई-भतीजों पर विश्वास करके परस्पर हँसी-खुशी, प्रेम और आनन्द का जीवन जी लेते हैं।

रेखागणित की एक स्वयं सिद्ध साध (एक्सियम) यह है—'अ' व 'ब' एक सरल रेखा है। 'उ' पर एक दूसरी सरल रेखा 'स' 'द' उसे काटती है। इस प्रकार 'उ' बिन्दु पर बने हुए दोनों कोणों का योग बराबर दो समकोण होता है। यह एक विश्वास है, उसकी सत्यता का कोई आधार नहीं है। हम चाहें तो उसके टुकड़े (ग्रेजुएशन) ऐसे करें कि वह १८० न होकर २७६ हो जायें या कुल ३१ ही रखें। १८० डिग्री एक विश्वास की गई संख्या मात्र है और संसार में अब तक जितनी भी रेखागणित विकसित हुई है सभी त्रिभुजीय (ट्रेंग्युलर) प्रमेय-निर्मेयों का आधार केवल यह प्रारम्भिक विश्वास है और यह विश्वास इतना सही उतरता है कि हम पृथ्वी में बैठे-बैठे सूर्य, चन्द्रमा, बुध, हर्शल प्लूटो, एन्टलारि आदि विस्तृत तारा-मण्डल (गेलेक्सी) की दूरी नाप लेते हैं। एक सरल रेखा पर दूसरी सरल रेखा खड़ी होकर दो समकोण बनाती है। इस विश्वास के द्वारा ही अन्तरिक्ष यान चन्द्रमा तक, मंगल तक, शुक्र तक चला जाता है। यह उस विश्वास का ही फलितार्थ है जो बहुत हल्का बिल्कुल छोटा वाला निर्जीव विश्वास है। जबकि ईश्वर एक समर्थ विश्वास है, कीट-पतंगों के जीवन से लेकर वृक्ष-वनस्पतियों के अस्तित्व तक का भेदन इसी शक्ति के द्वारा किया और आध्यात्मिक रहस्यों का पता लगाया जा सकता है।

सारी खगोल विद्या की जानकारी वृत्त-सिद्धान्तों पर आधारित है। एक विश्वास या स्वयंसिद्ध प्रतिज्ञा (एनन्सियेश) है—तुल्य चापों (ईक्वल आर्क्स) पर आधारित कोण तुल्य (ईक्वल) होते हैं। एक गोलाकार वृत्त (सर्किल) में कहीं भी 'अ ब' और 'स द' दो समान के चाप (आर्क) लीजिये। अब चाप (आर्क) 'अ ब' को उस वृत्त के किसी भी बिन्दु 'य' से मिलाइये, चाप 'स द' को भी उसी प्रकार किसी बिन्दु 'र' से मिलाइये। इस तरह बिन्दु 'य' और 'र' पर बने कोण बराबर होते हैं। यह एक स्वयंसिद्ध साध्य है उस पर सारी ग्रह रेखागणित टिकी हुई है, यदि कोई अविश्वास करे कि हम यह बात नहीं मानेंगे तो उसके लिये शेष सारे अभ्यास गलत हो जाते हैं। पर यह स्वयंसिद्ध साध्य फलित होती है तो उसके आधार पर सारे विश्व में भ्रमण कर आना उसी तरह सम्भव हो जाता है जिस प्रकार हम अपने किसी जाने-माने शहर तक घूम आते हैं। मान्यता पर चलने वाली गणित जब ऐसे ठोस और सत्य फलितार्थ प्रस्तुत कर सकती है तो हम ईश्वर पर विश्वास करके क्या विश्व के रहस्यों का मूल्यांकन नहीं कर सकते ? ऐसी एक विचारधारा ऋषि के अन्तरंग में उठी थी और उन्होंने प्रश्न करके सृष्टि के सब तत्वों को खोज डाला। परन्तु वेदों में सन्निहित वही विज्ञान है जिसको पाने के लिए आज पाश्चात्य वैज्ञानिक भारी असन्तुलन, यन्त्रीकरण, हिंसा और असामाजिकता पैदा कर रहे हैं। फिर भी वंस्तुस्थिति की खोज नहीं कर पा रहे हैं। सिद्धान्त बनते हैं। अगले वाला वैज्ञानिक उस सिद्धान्त में या तो संशोधन कर देता है या काटकर रख देता है। संशोधनकर्ता भी अपने आपको पूर्ण विश्वस्त नहीं मानता। उसे तब भी

यह आंशका बनी रहती है कि कहीं उसी के रहते हुए ही उसका सिद्धान्त काट न दिया जाय। अनेक नोबल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों के धुर्रे उड़ गये। तब यही मानना पड़ता है कि पाश्चात्य जगत् जिस विज्ञान पर ऐंठा हुआ बैठा है उसकी सत्यता निरपेक्ष नहीं है।

विशाल ब्रह्माण्ड के रहस्यों, पृथ्वी पर होने वाली पुनर्जन्म की घटनाओं, अति मानसिक शक्ति, बौद्धिक क्षमता, आत्मशक्ति के करतबों, दूरदर्शन, पूर्णानुभूतियों, स्वानुभूतियों, भविष्य के ज्ञान आदि के प्रति हमारे मस्तिष्क में रचनात्मक और उपयोगी दृष्टिकोण ईश्वर को मान लेने पर ही बनता है।

जब समस्त सृष्टि के निर्माण और विभिन्न परिस्थितियों में होकर प्राणियों के विकास पर विचार करते हैं तो हमें ईश्वरीय योजना में कोई दोष लगाने का कारण प्रतीत नहीं होता। उस प्रकार का दोषारोपण दो ही प्रकार के व्यक्ति करते हैं। एक तो वे जो विद्या का अहंकार करने वाले हैं, जिन्होंने अभी वास्तविक ज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण नहीं किया है और विश्व रचना और व्यवस्था जैसी विशाल समस्या सर्वांगपूर्ण तरीके से विचार कर सकना जिनके लिए असम्भव है।

ऐसे व्यक्तियों की भर्त्सना करते हुए 'थियोसोफी समाज' की स्थापनकर्ता मैडम ब्लैवटस्की ने बहुत जोरदार शब्दों में कहा है—

ईश्वर भी नहीं, जीवन भी नहीं ? कैसी विनाशकारी कल्पना है। (नो गोड, नो सोल ? ड्रैडफुल एनिहिलेशन) यह एक ऐसे उन्मत्त (नास्तिक) का प्रलाप है, जो अपनी दूषित कल्पना के आधार पर विश्व रचना की सामग्री की चिनगारियों की एक निरन्तर श्रृंखला तो देखता रहता है और उसका कर्ता किसी को नहीं मानता। वह कहता है कि वह सामग्री स्वयं ही प्रकट हुई है, स्वयं ही स्थित है, स्वयं ही विकसित होती है। वह कहता है यह समस्त सृष्टि चलती जा रही है पर इसका कोई स्रोत नहीं है। इसका कोई कारण भी नहीं है। इस प्रकार उसकी सृष्टि में यह 'अनन्त-चक्र' अन्धा, निष्क्रिय और अकारण है।

ईश्वर तथा धर्म पर अविश्वास रखने वाले प्रायः यह प्रश्न उठाया करते हैं कि 'जब ईश्वर दयालु और कल्याणकारी है तो संसार में और दुःख की अधिकता क्यों ? आस्तिक लोग स्वयं भी कहते हैं कि संसार में धर्मात्मा कम और धर्मविमुख ज्यादा हैं। ईमानदारों की अपेक्षा बेईमानों की संख्या अधिक है।' ऐसी स्थिति में इस बात पर कैसे विश्वास किया जाय कि एक महान् चैतन्य सत्ता इस सृष्टि की रचियता और संचालक है ? यदि वास्तव में इसकी रचना किसी बुद्धि-भण्डार शक्ति द्वारा हुई होती तो संसार में सर्वत्र सुख, आनन्द और पुण्य कर्मों का ही प्रसार देखने में आना चाहिए था।

वास्तव में एक टेढ़ा प्रश्न है और इसका उत्तर देने में बहुत से आस्तिक लड़खड़ा जाते हैं। जिन योरोपियन ईश्वरवादियों ने इस का उत्तर दिया है, उन्होंने कहीं-कहीं अपनी असमर्थता भी स्वीकार की है। 'थीइज्म' (आस्तिकवाद) के लेखक श्री फ्लिन्ट ने इसका उत्तर देते हुये कहा है 'यदि तुम पूछो कि ईश्वर ने सबको धर्मात्मा क्यों नहीं बनाया तो इसका मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर हो ही नहीं सकता और न उससे कुछ लाभ है। यदि तुम कहो कि ईश्वर ने मनुष्य को देवताओं की तरह क्यों नहीं बनाया तो तुम यह भी प्रश्न कर सकोगे कि उसने देवताओं से भी बहुत ऊँचे दर्जे के प्राणी क्यों नहीं बनाये। इस प्रकार 'अव्यवस्था-दोष' उत्पन्न होता है।'

फ्लिण्ट को इस प्रकार का समाधान इस कारण करना पड़ा कि उनका ईश्वर पर विश्वास ईसाई धर्मानुकूल है, जिसका कहना है कि पहले ईश्वर ही अकेला था, वह एकमात्र अनादि है। उसी ने जीव और अन्य समस्त सांसारिक पदार्थों की रचना की है। इस प्रकार की मान्यता के विरुद्ध ही नास्तिकों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि ईश्वर को ऐसी सृष्टि बनाने की क्या आवश्यकता थी, जिसमें सदैव पाप और वैमनस्य की वृद्धि होती रहे ? पर भारतीय धर्म की मान्यता में ऐसी त्रुटियाँ नहीं हैं। उनके अनुसार ईश्वर जीवों को बनाता नहीं, वरन् उनका अस्तित्व स्वयमेव है और उनकी भलाई के लिए सृष्टि के पदार्थों की रचना करता है। पर उसने जीव को परतन्त्र अथवा दास की तरह नहीं बनाया है, जैसा अन्य कई धर्मों में विचार किया जाता है। हमारी मान्यता यह है कि ईश्वर जीवों की उन्नति के लिये तरह-तरह के साधन उपस्थित करता है। उनको सत्कर्मों के

लिये प्रेरणा भी देता है। पर उसने कर्म करने में उनको स्वतन्त्र ही रखा है। पाप या पुण्य करना उनकी रुचि और मनोवृत्ति पर ही आधारित है। जव वे पुण्य कर्म करते हैं तो उसके बदले में वे शुभफल, सुख पाते हैं और जब पाप करने पर उतारू हो जाते हैं तब उनको दण्ड मिलता है। पर यह शुभ परिणाम और दण्ड भी स्वयं ईश्वर नहीं देता वरन् उसने ऐसे व्यवस्था बना दी है कि प्रकृति स्वयं ही यह कार्य पूरा कर लेती है। भारतीय धर्म के अधिकांश विचारकों ने प्रकृति को ईश्वर की सहचरी या अनुचरी माना है इसलिये वह जो कुछ करती है उसका कर्त्ता ईश्वर ही समझा जाता है।

जिस प्रकार का आक्षेप लोग पाप के विषय में करते हैं वैसा ही भाव दुःख के विषय में भी प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि जब ईश्वर सर्वशक्तिमान है और जीवों का भला भी चाहता है तो उसने ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं कि संसार में दुःख का नाम ही नहीं रहता ? इस शंका का उत्तर देते हुए आलफ्रेड रसन वालेस ने अपने ग्रन्थ 'द वर्ल्ड आफ लाइफ' (जीवन जगत) में लिखा है—

'कुछ आलोचकों को संसार के दुःख देखकर प्रायः घृणा हो जाती है और वे कहने लगते हैं कि यह सृष्टि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और दयालु सत्ता की बनाई नहीं हो सकती। पर इन लेखकों (अर्थात् आक्षेप करने वालों) और विकासवादियों ने कभी दुःख की जड़ तक पहुँचने का यत्न नहीं किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि दुःख या कष्ट विकास के लिये बड़ी आवश्यक वस्तु है। स्वयं डारविन ने इस नियम पर बड़ा बल दिया है कि कोई इन्द्रिय, शक्ति या वेदना किसी प्राणी में उस समय तक नहीं उत्पन्न होती, जब तक उसका उसकी जाति के लिये उपयोग न हो। इस नियम पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर प्रत्येक प्राणि-वर्ग में उतना ही दुख उत्पन्न करता है, जितने की उसके लिये आवश्यकता है।

फ्लिण्ट महोदय ने अपनी 'थीइज्म' में इसका समाधान कुछ भिन्न शब्दों में किया है—

'दुःख परिश्रम के लिये प्रेरणा करता है और परिश्रम द्वारा ही हमारा जीवन, हमारी शक्तियाँ नियमित और विकसित हो सकती हैं। इच्छा आवश्यकता का अनुभव कराती है और आवश्यकता का अनुभव ही दुःख माना जाता है। परन्तु यदि जीवों में इच्छायें न हों और इन इच्छाओं द्वारा उत्पन्न हुए प्रयत्न न हों तो फिर जीव रहेंगे ही क्या ? क्या वह ऐसे ही सुन्दर और विशाल होंगे, जैसे अब हैं ? यदि खरगोश को भय न हो तो क्या वह तीव्रगामी होगा, जैसा अब है ? यदि शेर को भूख न लगे तो क्या वह उतना ही बलिष्ठ होगा, जितना कि अब है ? यदि मनुष्य को समय-समय पर संघर्ष न करना पड़े तो क्या वह ऐसा प्रयत्नशील, ऐसा बुद्धिमान, ऐसा चतुर, शिक्षित होगा जैसा अब है ? इस प्रकार आवश्यकता से उत्पन्न दुःख प्राणियों की प्रगति और पूर्णता का साधन है अर्थात् चाहे आरम्भ में यह बुरा जान पड़े, इसका परिणाम अच्छा होता है। पूर्णता स्वयं भी एक महत्वपूर्ण वस्तु है और उसमें हमें आनन्द भी प्राप्त हो तो वह एक उच्चकोटि का साध्य (प्रयोजन) मानी जायेगी। इसलिए जो 'दुःख, इस प्रयोजन की पूर्ति करता है, उसे बुरा कैसे कह सकते हैं।

'दूसरी बात यह भी है कि दुःख पूर्णता का ही साधन नहीं है वरन् वही सुख का साधन भी है। शायद प्राणियों के शरीर ही ऐसे बने हैं कि यदि वह दुःख का अनुभव न करते तो सुख का अनुभव भी नहीं कर पाते। चाहे यह बात बिल्कुल ठीक हो या न हो परन्तु एक बात तो स्पष्ट ही है कि समस्त जीवन जगत् में वह 'दुःख' वास्तव में आनन्द का साधन होता है, जो प्राणियों को परिश्रम के लिये उत्तेजित करता है। दुःख की उपयोगिता छोटे प्राणियों में मिलती है। दुःख का महत्व जितना शारीरिक बातों में है उनसे कहीं अधिक मानसिक बातों में मिलता है। यह दुःख आत्मा को शुद्ध बनाने और शिक्षा देने में परम सहायक है। दुःख से हृदय की कठोरता कम हो जाती है, दुःख से अभिमान का दमन होता है, दुःख से साहस और धैर्य बढ़ता है, दुःख से सहानुभूति का आधिक्य होता है, दुःख से धर्म पर श्रद्धा होती है। ऐसी व्यवस्था में कोई भी संसार में दुःखों को देखकर उसके लिये परमात्मा को दोषी बनाने के बजाय धन्यवाद ही देगा।'

जो बात फ्लिण्ट ने आज कही है वह बात हमारे धर्मग्रन्थ 'महाभारत' में हजारों वर्ष पूर्व कह दी गई थी। जब भगवान् कृष्ण ने वनवास के पश्चात् कुन्ती से अभिलाषित वर माँगने को कहा तो उसने अपनी भावना इन शब्दों में प्रकट की कि, 'हे भगवान् ! आप हमको दुःख की अवस्था में रखा करें, क्योंकि उस दशा में तो हमको आपका स्मरण और प्रेम बना रहता है, पर जब हम सुखों में पड़ जाते है तो आपको भूल जाते हैं। इस प्रकार संसार में सच्चा सुख ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखते हुए पूर्ण परिश्रम के साथ अपना-कर्त्तव्य-पालन करने में ही है।

विश्वास एक उत्पादक शक्ति है जो सृष्टि के गहन अन्तराल से ज्ञान के हीरे-मोती खोज-खोजकर हमारे ज्ञान-बुद्धि और वर्चस्व को महान् बना देता है। वैज्ञानिक फलितार्थों से यह निश्चय हो चुका है कि ईश्वर एक प्रकार की पूर्ण शक्ति है और उस पूर्णता का कितना भी अंश निकाल लेने पर पूर्णता ही शेष रहती है। बात कुछ अटपटी लगती है पर है सत्य। एक चुम्बक पत्थर को कागज में रखकर उसकी शक्ति का चार्ट तैयार कर लें। अब उस चुम्बक को लोहे से स्पर्श करायें। लोहा भी चुम्बक बन जाता है। चुम्बक को हटाकर फिर उसका चार्ट तैयार करें तो पता चलेगा कि उसके आवेश का काफी अंश में लोंहे में खिंच जाने के बाद भी उसकी मूल शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। उसी प्रकार केवल विश्वास के आधार पर अपनी चेतना का विश्व चेतना के साथ सम्बन्ध जोड़कर हम उन शक्तियों को विकसित और व्यवस्थित कर सकते हैं जिन्हें ईश्वरीय वैभव के रूप में जाना जाता हैं और जिनसे हमारे जीवन का वास्तविक अर्थ फलित होता है।

अंकगणित में कुल दस अक्षर हैं। १ से लेकर ६ तक पहुँचने के बाद वैज्ञानिकों ने देखा कि इस तरह कितनी ही संख्या कल्पित करते चले तो उनका अंत नहीं हो सकता इसलिये उन्हीं ६ अंकों से आगे की संख्यायें बनाई गईं और पूर्णता के लिए एक ऐसी संख्या की कल्पना की गई जिससे संख्याओं की इकाई, दहाई या सैकड़े की किसी भी दौड़ को विश्राम दिया जा सके। उस संख्या का नाम है शून्य (जीरो)। इस शून्य पर अंकगणित की लम्बी-लम्बी गणनायें टिकी हुई हैं वह सत्य भी निकलती हैं पर शून्य अपने आप में क्या है, थोड़ा इस पर भी दृष्टि डालें। ३/४ का अर्थ है किसी वस्तु के चार चुकड़े किये जायें और उनसे ३ टुकड़े लिये जायँ तो वह ३/४ कहलायेगा। दो भागों में १ टुकड़ा लें तो वह १/२ कहलायेगा। भिन्न गणित इन टुकड़ों (पार्टीशन्स) पर ही आधारित है और उससे बड़े लम्बे प्रश्नों को सीमित करना सम्भव हो गया है। पर यदि किसी वस्तु के शून्य टुकड़े करें और उसमें से एक टुकड़ा लें तब १/० और एक बटा शून्य का क्या अर्थ—अनन्त (इनफिनिट)। दो, चार, छः, दस किन्हीं संख्याओं के शून्य, टुकड़े करें उत्तर वही अनन्त आता है जिसका कुछ भी अर्थ नहीं है। अनन्त कोई संख्या ही नहीं है जबकि शून्य को एक संख्या माना गया है। उसे हटा दें तो तमाम गणित फेल हो जाये। किसी वस्तु के चार बराबर-बराबर भाग करें और उसमें शून्य भाग लें तो उत्तर शून्य (शून्य नहीं)। शून्य में शून्य घटाने का फलितार्थ शून्य और अनन्त यह कोई बात नहीं हुई, पर उन्हें निकाला नहीं जा सकता क्योंकि उस पर सारा अंकगणित का आधार बना हुआ है। विश्व की सार्थकता को समझाने में लिए वैसे ही हमें भी अनिवार्यतः एक बिन्दु की कल्पना करनी पड़ती है। उसे ईश्वर मानना पड़ता है। यदि उसे मान लेते हैं तो निश्चित है कि समाज और देश अनुशासित, व्यवस्थित और मैत्रीपूर्वक रह सकते हैं।

ईश्वर के अस्तित्व को केवल विश्वास के आधार पर ही प्रमाणित किया गया नहीं मानना चाहिए। विश्वास की आवश्यकता तो इसलिए है कि उस सर्वसमर्थ सत्ता के सम्पर्क सान्निध्य से लाभान्वित हुआ जा सके। अन्यर्था ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में ढेरों आधार अपने आसपास के संसार में सदा-सदैव देखे जा सकते हैं। सूक्ष्मदृष्टि से यदि चारों ओर बिखरे हुए संसार को देखा जाय तो ईश्वर के अस्तित्व को न मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देगा। ईश्वर कौन, कहाँ है, कैसा है ? इन प्रश्नों का उत्तर वही पा सकता है जो यह जाने का गहराई से प्रयास करे कि प्रश्नकर्त्ता कौन है

कहाँ है, क्या है, कैसा है ? क्योंकि ईश्वर तो चारों ओर विद्यमान है, प्रश्नकर्ता अपने भीतर-बाहर चारों ओर फैले संसार को जितना अधिक जानेगा, ईश्वर के उतना ही समीप पहुँचेगा।

परमसत्ता की सुनिश्चितता

बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से हमें विश्व ब्रह्माण्ड का थोड़ा परिचय प्राप्त होता है। यह ज्ञान बहुत ही स्वल्प है। इसके अतिरिक्त भी अनेक ब्रह्मण्ड ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में हम भूलोकवासी मनुष्य प्राणियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है। समस्त सृष्टि इतनी विस्तीर्ण है कि बुद्धि की वहाँ तक पहुँच नहीं हो पाती। यह महान रचना किसी न किसी निर्माता की कृति है। बिना व्यवस्था के तो हमारे छोटे-मोटे काम भी नहीं चलते फिर इतनी बड़ी सृष्टि का कार्य बिना किसी संचालक के किस प्रकार चल सकता है ? हमारे शरीर के कल-पुर्जे बड़ी भारी आश्चर्यजनक उत्तमता के साथ बने हुए हैं। इतना उत्तम यंत्र बनाने में कोई विधानवादी अब तक समर्थ नहीं हुआ। इसे चलाने वाले जीव के निकल जाने पर यह बेशकीमती यन्त्र भी बेकार हो जाता है इसका एक भी कल-पुर्जा अपना काम नहीं कर पाता, फिर संसार का सारा कार्य जो बिलकुल नियमपूर्वक हो रहा है क्या बिना किसी संचालक के संभव है ? सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, इतने नियमबद्ध हैं कि इनकी नियमितता में कभी एक सैकिण्ड का भी फर्क नहीं पड़ता, दिन के बाद रात होने की शृंखला कभी टूटने नहीं पाती। बचपन के बाद जवानी, फिर बुढ़ापा आता है। पेड़ों में फूल के बाद फल निकलते हैं, गेहूँ के बीज से गेहूँ ही उत्पन्न होता है, ऐसा कभी नहीं होता कि गेहूँ से चना पैदा हो या पहले फल आता हो पीछे फूल निकलता हो, न कभी ऐसा ही होता है कि बच्चा पहले बूढ़ा हो जाय फिर जवान हो, सारे काम बिलकुल ठीक नियम से चल रहे हैं। कभी-कभी भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अन्तवृष्टि आदि अनियमितताएँ दिखाई पड़ती हैं पर यह सब भी एक विशेष नियम के आधार पर ही होता है। उन मूल नियमों को समझाने वाले तत्वज्ञानी विवेकवानों को समस्त सृष्टि में एक रंचमात्र भी अव्यवस्था दृष्टिगोचर नही होती। इसलिए निःसंन्देह इस सुव्यवस्थापूर्वक चलती हुई सृष्टि का चलाने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। संसार एक यन्त्र है। इसका संचालन करने वाली शक्ति को ईश्वर कहते हैं। मोटर, जहाज या रेल को चलाने वाला कोई विवेकवान् मनुष्य होता है इस सृष्टि को बनाने और चलाने वाली शक्ति ही ईश्वर है।

यह ठीक है कि ईश्वर को हम इन्द्रियों से अनुभव नहीं करते तो भी यह कहना उचित न होगा कि ईश्वर नहीं है। बहुत वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते तो भी अनुमान के आधार पर उनका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस समय हम जिस कलम को हाथ में पकड़कर वह पंक्तियाँ लिख रहे हैं उसका कोई बनाने वाला है, यह बात हम इन्द्रियों की सहायता से नहीं जान सकते। आँखों से यह दिखाई नहीं पड़ता है तो भी यह अनुमान हो सकता है कि उसका बनाने वाला अवश्य रहा होगा। ईश्वर को छुआ या देखा नहीं जाता तो भी उसकी कृतियाँ पुकार-पुकार कर साक्षी दे रही हैं कि इनका रचयिता कोई न कोई अवश्य है।

भौतिक विज्ञान इस शक्ति का नाम 'प्रकृति' बताते हैं। अध्यात्मवादी इसी को 'ईश्वर' कहते हैं। जिन्हें आज अनीश्वरवादी कहा जाता है, असल में वे भी ईश्वर को स्वीकार करते हैं। मतभेद ईश्वर के गुण-कर्म और स्वभाव के सम्बन्ध में है। ऐसे मतभेद तो हर सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायों के साथ रखता है परन्तु वह अनीश्वरवादी नहीं कहा जाता फिर भौतिक विज्ञानवादियों को नास्तिक कहना उचित न होगा। सृष्टि का निर्माण और संचालन करने वाला एक अदृश्य तत्व मौजूद है, इस महान सत्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता।

ईश्वर तत्व केवल निर्माण करने वाला और संचालन करने वाला ही हो सो बात नहीं है, वरन् उसमें अनेक गुण हैं जैसे सूर्य की असंख्य किरणें अनेक प्रकार की हैं और उनमें अनेक गुण हैं। ईश्वर की निर्माण करने वाली शक्तियों को पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-पंचभूत नाम

से पुकारते हैं। इन पंच भूतों से जड़ पदार्थ का, विवेकरहित वस्तुओं का बनना-बिगड़ना होता है।

निर्जीव रचना के अतिरिक्त सजीव रचना है जिसे 'प्राणी जगत' कहते हैं। जड़ और चेतन इन दो नामों से सृष्टि विभक्त है। चेतन प्राणियों में जीवन बनाये रहना, उन्नति करना तथा आनन्द भोगना, यह तीन गुण हैं। चेतन सृष्टि के इन तीन तत्वों को सत्‌चित आनन्द नाम से पुकारते हैं। जड़ जगत की रचना पंचभूतों की क्रियाशीलता है। वैसे ही चेतन जगत की मूल प्रकृति सत्‌चित् आनन्द, तत्वों के कारण से है। और जड़ चेतन दोनों ही पक्षों की रचना करने वाले यह पृथक-पृथक तत्व मूलतः एक ही आद्य शक्ति की धाराऐं हैं, एक ही सूर्य की किरणें हैं।

कुछ दिन पहले विज्ञानवादी ऐसा समझते थे कि केवल पंच भूतों की एक विशेष प्रकार की रचना में अपने आप चैतन्यता आ जाती है पर अब साइंसवादी अपनी भूल स्वीकार करते जाते हैं। उन्हें यह मानना पड़ रहा है कि जड़ तत्व ही सृष्टिकर्ता नहीं है वरन् यह पंचभूत भी एक आद्यशक्ति की धारा है। वह आद्यशक्ति अन्धी, निर्बुद्धि या जड़ नहीं है वरन् विवेकवान, फलवान्, व्यवस्था रखने वाली, संशोधित करने वाली, संतुलन को बनाये रहने वाली भी है। सृष्टि को कार्यक्षम रखने वाले इलेक्ट्रोन परमाणुओं को सूक्ष्म निरीक्षण यन्त्रों की सहायता से मालूम कर लिया गया है पर वे विद्युत परमाणु पच्चीस हजार मील प्रतिक्षण की द्रुतगति से अपनी धुरी पर कैसे घूम रहे हैं ? इस संदेह का समाधान आद्यशक्ति को माने बिना और किसी प्रकार नहीं होता।

जैसे अग्नि, वायु आदि स्थूल तत्व सर्वत्र अदृश्य रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार वह आद्य शक्ति इन जड़ पंचभूतों तथा अन्य चैतन्य तत्वों के भीतर अत्यन्त सूक्ष्म होकर विराज रही है। बल्ब को जलाने वाली सूक्ष्म विद्युत शक्ति तार में रहती है, इस विद्युत की बनाने वाली सूक्ष्म शक्ति चुम्बक में रहती है, चुम्बक में क्रियाशीलता विश्वव्यापक अग्नि तत्व से आती है। एक शक्ति का निर्माण दूसरी सूक्ष्म बीज शक्ति से होता है। पंच तत्वों की भी एक बीज शक्ति है। उस बीज शक्ति के बिना वे भी बेचारे अपना काम करने में समर्थ नहीं हो सकते। अग्नि में गर्मी कायम रखने वाली भी कोई सत्ता है। उस बीज शक्ति को ईश्वर कहते हैं, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है किन्तु इसी के द्वारा बने हुए पदार्थ हमारे चारों ओर फैले पड़े हैं इसलिए उसे स्थूल से स्थूल भी कहा जा सकता है।

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी वह उतनी ही व्यापक होगी। पंचभूतों में पृथ्वी से जल, जल से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से आकाश सूक्ष्म है, इसलिए एक दूसरे से अधिक व्यापक है। आकाश—ईथर तत्व हर जगह व्याप्त है। पर ईश्वर की सूक्ष्मता सर्वोपरि है इसलिये इसकी व्यापकता भी अधिक है। विश्व में रंचमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। अणु-अणु में उसकी महत्ता व्याप्त हो रही है। स्थान विशेष में ईश्वर की न्यूनाधिकता हो सकती है। जैसे कि चूल्हे के आस-पास गर्मी अधिक होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उस स्थान पर अग्नि तत्व की विशेषता है, इसी प्रकार जलाशयों के समीप शीतल स्थान में अग्नि तत्व की न्यूनता कही जायेगी। जहाँ सत्य का, विवेक का, आचरण अधिक है वहाँ ईश्वर की विशेष कलाएँ विद्यमान हैं। जहाँ आलस्य, प्रमाद, पशुता, अज्ञान है वहाँ उस की न्यूनता कही जायेगी। सम्पूर्ण शरीर में जीव व्याप्त है, जीव के कारण ही शरीर की स्थिति और वृद्धि होती है परन्तु उनमें भी स्थान विशेष पर जीव की न्यूनाधिकता देखी जाती है। हृदय, मस्तिष्क, पेट और मर्म स्थानों पर तीव्र आघात लगने से मृत्यु हो जाती है परन्तु हाथ, पाँव, कान, नाक, नितंब आदि स्थानों पर उससे भी अधिक आघात सहन हो जाता है। बाल और पके हुए नाखून जीव की सत्ता से ही बढ़ते हैं पर उन्हें काट देने से जीव को कुछ हानि नहीं होती। संसार में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है। ईश्वर की शक्ति से ही सब कार्य होते हैं। परन्तु सत्य और धर्म के कामों में ईश्वरत्व की अधिकता है इसी प्रकार पाप प्रवृत्तियों में ईश्वरी तत्व की न्यूनता समझनी चाहिए। धर्मात्मा, मनस्वी, उपकारी, विवेकवान् और तेजस्वी महापुरुषों को 'अवतार' कहा जाता है क्योंकि उनकी सत्यनिष्ठा के आकर्षण से ईश्वर की मात्रा उनके अन्तर्गत अधिक होती है। अन्य पशुओं की अपेक्षा गौ में तथा अन्य जातियों की

अपेक्षा ब्राह्मण में ईश्वर का अंश अधिक माना गया है क्योंकि उनका सत्यनिष्ठ उपकारी स्वभाव ईश्वरभक्ति को बलपूर्वक अपने अन्दर अधिक मात्रा में खींचकर धारण कर लेता है।

उपरोक्त पंक्तियों में बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण जड़-चेतन सृष्टि का निर्माण नियन्त्रण, संचालन और व्यवस्था करने वाली आद्य बीज शक्ति को ईश्वर कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व के तिल-तिल स्थान में व्याप्त है। परन्तु सत्य की, विवेक की, कर्तव्य की जहाँ अधिकता है वहाँ ईश्वरीय अंश अधिक है। जिन स्थानों में अधर्म का जितने अंशों में समावेश है वहाँ उतने ही अंश में ईश्वरीय दिव्य सत्ता की न्यूनता है—ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर उपरोक्त पंक्तियों में मिल जाता है अब तक एक प्रश्न रह जाता है "ईश्वर कैसा है ?" नीचे की पंक्तियों में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा।

सृष्टि के निर्माण में ईश्वर का क्या उद्देश्य है ? इसका ठीक-ठीक कारण जान लेना मानव बुद्धि के लिए अभी तक शक्य नहीं हुआ। शास्त्रकारों ने अनेक अटकलें इस सम्बन्ध में लगाई हैं पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिससे पूरा संतोष हो सके। सृष्टि रचना में ईश्वर का उद्देश्य अभी तक अक्षय बना हुआ है। भारतीय अध्यात्मवेत्ता इसे ईश्वर की 'लीला' कहते हैं। खेल-खेल में उसने इच्छा की कि 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँगा' इसलिये उस अदृश्य शक्ति ने दृश्य संसार की रचना कर डाली। 'एकोऽहं बहुभ्याम' की उक्ति पर अभी हमें सन्तोष करना होगा। संभव है भविष्य में इस सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त की जा सके पर आज तो उस अज्ञेय मर्म के सम्बन्ध में बेचारी मानव बुद्धि केवल 'लीलाधर की लीला' ही कहने में समर्थ है।

चैतन्य सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वर की क्या इच्छा है ? इस सम्बन्ध में विकासवाद की खोज के पश्चात् बहुत कुछ पता चल जाता है। हम देखते हैं कि तुच्छातितुच्छ जीव भी विकाश करता हुआ आगे बढ़ता चला आ रहा है। हर एक प्राणी उन्नति के लिये प्रयत्नशील है। उत्थान की आन्तरिक प्रेरणा, जो जीव मात्र में प्राप्त होती है, ईश्वर की इच्छा समझी जा सकती है। तुच्छता से महानता की ओर, लघुता से महत्व की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर चलते हुए जीव पूर्णता को प्राप्त हो। बन्धन से छुटकारा पाकर मुक्त आत्मा परम पद को प्राप्त कर परमात्मा बन जावे। चैतन्य सृष्टि के लिए यही ईश्वरीय आदेश प्रतीत होता है। यह आदेश ठीक प्रकार पालन किया जा सके। इसलिए उसने अपने को निर्लिप्त और सूक्ष्मदर्शी रखा है। किसी जीव की स्वतन्त्र कार्यकारिणी शक्ति में वह जरा भी हस्तक्षेप नहीं करता, और न किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात करता है। उसने सृष्टि बनाई है और बनाकर नियम सूत्रों से इस प्रकार बाँध दिया कि सर्वकार्य यथावत् चलता रहता है। घड़ी बनाने वाला कुछ विशेष नियमों के आधार पर घड़ी के पुर्जे ठीक कर लेता है फिर वह घड़ी अपने आप चलती रहती है। घड़ी और संसार के उदाहरण में इतना ही अन्तर है कि घड़ी बनाने वाले का पीछे उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु ईश्वर और संसार का सम्बन्ध ऐसा नहीं है। ईश्वर सृष्टि में व्यापक है और अपने निर्धारित नियमों के अनुसार चलती हुई सृष्टि को निर्लिप्त होकर साक्षी भाव से देखता रहता है। जीवों को कार्य करने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता उसने दी है और साथ ही उसके पीछे चित्रगुप्त देवता बाँध दिया है जो यथावत् कर्मफल देता चले। गायें चराने वाले ग्वाले लोग किन्हीं गायों के गले में लकड़ी बाँध देते हैं। अगर गाय अनुचित रूप से भागदौड़ करती है तो गले में बँधी हुई लकड़ी उसके घुटनों में तड़ातड़ अपने आप लगती है, कर्म का फल अपने आप मिलता रहता है और चराने वाला ग्वाला वृक्ष की छाया में बैठा हुआ यह सब दृश्य देखता रहता है। ईश्वर भी जीवों के साथ ऐसा ही व्यवहार करता है। उसने हर जीव के लिए व्यवस्था बना दी है। उस व्यवस्था को स्वभावतः सब जानते हैं, कहीं बाहर जाकर सीखने की आवश्यकता नहीं होती। 'अन्तःकरण की पुकार' एक निर्दोष धर्मशास्त्र है जिसे हर जीव अपने साथ जन्म से ही पाता है। धर्माचरण करने वाले अपनी यात्रा आनन्दपूर्वक जारी करते हुए परमपद् तक पहुँच जाते हैं। बदमाशी करने वालों के यथावत् कर्म फल, उनके साथ रहने

वाला चित्रगुप्त देवता देता चलता है। दौड़ने वाली गाय अपने गले में बँधी हुई लकड़ी से अपने आप अपने पैर घायल करती रहती है। यह बात भली प्रकार स्मरण रखने की है कि ईश्वर ने सर्वोत्तम शक्तियाँ देकर शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों से सुसज्जित करके जीव को जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये भेजा है। साथ ही पूरी-पूरी स्वतन्त्रता भी प्रदान की है। ईश्वर कर्म करने के स्वतन्त्र अधिकार से किसी को रत्ती भर भी वंचित नहीं करता है और न कर्म-फल के लिए चित्रगुप्त की जो व्यवस्था है उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता है। इस प्रकार ईश्वर कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में उसे समदर्शी, निष्पक्ष और निर्लिप्त कहा जाता है।

उस आद्य बीज शक्ति परमात्मा की अनेकानेक सूक्ष्म शक्तियों को प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक विज्ञान के तत्ववेत्ताओं ने साधन मार्ग का आविष्कार दिया। साधना में ध्यान योग प्रधान है। ध्यान उसी वस्तु का हो सकता है जो स्थूल हो, इन्द्रियों से अनुभव की जा सकती हो। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में ध्यान के लिए रूप का स्थान सर्वोपरि है। ध्यान के लिये रूप की कल्पना आवश्यक प्रतीत हुई -इसलिये आचार्यो ने मनोविज्ञान मर्म का ध्यान रखते हुए ईश्वर के रूप की कल्पना की। आमतौर से मनुष्य ने ईश्वर के लिए उन्नतिशील मनुष्य के ही रूप की कल्पना की है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी आदि मनुष्य रूपधारी ईश्वर की प्रतिमाएँ बनाई गई हैं। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं हैं। उस आद्य शक्ति को मनुष्य रूपधारिणी माना जाय और पशु, पक्षी, कीट, पतंगा, वृक्ष, वनस्पति रूप में न माना जाय तो यह अनुचित है। ईश्वर यदि मनुष्य है तो पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष भी अवश्य है। या फिर एक भी रूप उसका नहीं है। ईश्वर के नाम पर कागज की छपी हुई तस्वीरें, धातु पत्थर की बनी हुई मूर्तियाँ तथा ध्यान योगियों के मानसिक कल्पना, प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे सचमुच ही ईश्वर नहीं हैं क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक तत्व यहाँ एकत्रित मूर्ति रूप नहीं हो सकता। यदि अग्नि तत्व को एक मूर्ति बनाकर कहा जाय कि यही पूर्ण अग्नि देवता है। तो यह बात असत्य समझी जायेगी क्योंकि यदि एक ही स्थान पर अग्नि एकत्रित हो गई तो अन्य स्थानों पर उसका होना कैसे संभव है ? यदि क्षीरसागर में शयन करने वाले विष्णु ही ईश्वर हैं तो फिर क्षीरसागर से बाहर की व्यवस्था कौन करता है ? इस प्रश्न की ठीक समाधान न होने से 'अनेक ईश्वरवाद' का मत चल पड़ा। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश आदि करोड़ों अलग-अलग ईश्वर समझे जाने लगे। इस सम्बन्ध में पाठकों को निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि ईश्वर तत्व के सूक्ष्म रूप की कल्पना नहीं हो सकती। स्थूल रूप की एक कल्पना वह हो सकती है जिसे 'विराट् रूप' कहते हैं। अन्य प्रतिमाएँ या तो किन्हीं महानुभावों की हैं या ध्यान योग के लिए बनाई गई उच्च आदर्शमयी मानसिक मूर्ति हैं। मूर्तिपूजा आवश्यक है पर इसका उपयोग ध्यान साधना द्वारा मानसिक उन्नति के लिए है। तत्व ज्ञान के जिस रूप को यत्र-तत्र दिखाई पड़ने वाली कागज की तस्वीरों या धातु पत्थरों की मूर्तियों को ईश्वर मान लेने के लिये नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उस आद्य बीज शक्ति को, ईश्वर तत्व को, विद्युत, अग्नि, एवं वायु के समान निराकार कहा जाता है।

एक शब्द में ईश्वर को सृष्टि का निर्माण, नियन्त्रण तथा संचालन करने वाला दाता, सूक्ष्मदर्शी, निष्पक्ष, निर्लिप्त तथा निराकार कहा जा सकता है। वह किसी से प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होता। निन्दा-स्तुति उसके लिए समान हैं। सम्राट शासक स्वयं किसी चोर को पकड़ने नहीं जाते और न राज भक्तों को पुरस्कार बाँटते फिरते हैं। उनकी शासन व्यवस्था इस ढंग से बनी हुई है कि कानून के अनुसार लोग अपने कर्मों का दण्ड पुरस्कार पाते रहते हैं। अविनाशी ईश्वर के शासन का कार्यतन्त्र, नियम धर्म की धुरी पर घूमती रहता है और परमात्मा साक्षी रूप से निर्लिप्त होकर उसका अवलोकन करता है।

ईश्वरीय शासन से धर्म रक्षा

धर्म का अभाव होने में अव्यवस्था को प्रधान कारण माना गया है। संगठन, निरीक्षण, अनुशासन रखने से समाज का सारा काम

विधिपूर्वक चलता रहता है, पर जब इसमें गड़बड़ी होती है तब उसका प्रभाव धर्म के तत्कालीन स्वरूप पर भी अवश्य ही पड़ता है। मनुष्य क्रमशः उन्नति करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत, शान्तिप्रिय, उदार और सामाजिक प्राणी बना है, फिर भी उसकी पाशविक वृत्तियाँ मरी नहीं हैं यदि मनमानी स्वच्छंदता करने का अवसर प्राप्त हो, किसी नियन्त्रण का भय न हो तो वह पीछे की ओर लौट पड़ता है और नंगा नाच नाचने लगता है। बग्घी में जुते हुये घोड़े को यदि यो हीं छोड़ दिया जाय तो वह बिना भगा पीछा, हानि लाभ सोचे सीधा अपने अस्तबल की ओर चल पड़ेगा और पीछे दुबारा दूनी मेहनत करके बहुत सा समय गंवाकर उसी बग्घी में जुतना पड़ेगा, मालिक नाराज होगा, पहुँचने में बिलम्ब होगा, यात्रा पूरी करने के लिए अधिक तेजी से दौड़ना पड़ेगा। इन सब बातों की ओर घोड़े का ध्यान नहीं होता, इसकी पुरानी आदत ऐसी है कि पीछ के स्थान को, पुराने अस्तबल को अधिक पसन्द करता है। मनुष्य भी स्वच्छन्दता प्राप्त होने पर वैसा ही आचरण करता है क्योंकि वह भी तो आखिर एक पशु ही है। नियन्त्रण या अंकुश के अभाव में वह ऐसे मार्ग पर चलेगा जो दूसरे के लिए, देश जाति के लिये, उपयोगी हो, यह आशा करना व्यर्थ है। निरंकुश सांड चाहे जिसके खेत में चरने पहुँच जाता है, दूसरों के हानि-लाभ से उसे कुछ वास्ता नहीं, उसे अधिक से अधिक, सुस्वादु हरा चारा मिले उसका दृष्टि बिन्दु यही एक होता है। खेत न चरकर घास चरो अपने लाभ के साथ, दूसर की हानि का भी ध्यान रखो, इस बात को शिक्षा देने वाला व्यवहारिक गुरु 'डन्डा'' ही हो सकता है। विनय, शास्त्र चर्चा, उपदेश, कंठी माला, पद प्रतिष्ठा से काम नहीं चलता। नियन्त्रण न होने पर भी कोई व्यक्ति सात्विक धर्म का पालन करे यह बहुत ही कठिन है। यदि कोई भय न हो और सुन्दर भोजन का थाल रखा हुआ मिल जाय तो यह संभव नहीं कि मनुष्य उसका धर्म समझकर न चरले। विश्वामित्र, व्यास सरीखे ऋषि मुनि एकान्त स्थान में सुन्दर स्त्रियाँ पाकर अपने ब्रह्मचर्य को सुस्थिर न रख सके। यदि किसी को सोने की खान का पता लग जाय तो यह समझकर भला कौन निर्लोभ रहा आवेगा कि यह पराई भूमि की वस्तु है। रास्ते में पड़े हुए पैसे मिल जायें तो धर्म- पूर्वक उन्हें राज्य कोष में जमा कर देना चाहिए, पर व्यवहार से वैसा आचरण करते हुए कितने देखे जाते हैं ?

"स्वच्छन्दता'' प्राप्त होते ही मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों की ओर लौट पड़ता है, स्वार्थ ही उसका प्रधान उद्देश्य बन जाता है। अपनी थोड़ी सी सुविधाओं के ऊपर यह दूसरों के बड़े-से-बड़े सुख का नष्ट करने के लिए तैयार हो जाता है।'' इस कड़ुवे सत्य को सभ्यता के आरम्भ काल से ही अनुभव किया जाता रहा है और ऐसे उपाय ढूँढ़ने का प्रयास होता जा रहा है जिससे व्यक्तिगत लालसाओं पर, पाशविक वृत्तियों पर नियन्त्रण रखा जाय और व्यक्तिगत इच्छाओं को इतना न बढ़ने दिया जाय कि वह समाज के लिए घातक हो जायें। बड़ी मछली छोटी मछली का भक्षण करके अपनी क्षुधा तृप्त करती है, सर्पिणी अपनी भूख को शान्त करने के लिए अपने ही बच्चों को उदरस्थ कर जाती है। बड़ा पेड़ अपने आस-पास के पौधें की खुराक छीनकर खुद खा जाता है, यह देखने में आता है, परन्तु यदि वही व्यवस्था मानवजाति में निरंकुश रूप धारण करले तो निस्संदेह हमारी सामाजिकता नष्ट हो जायेगी और आदमयुग की भाँति नंग-धड़ंग पर्वतों की गुफाओं में रहकर माँसाहार की चिन्ता में इधर-उधर फिरना, एक दूसरे से कुत्तों के समान युद्ध करना, यही दृश्य फिर उपस्थित हो जायेंगे जिसे कि अब हममें से कोई पसन्द न करेगा। यदि आदम युग की ओर नहीं लौटना है और सुख शान्तिपूर्वक सामाजिक जीवन बिताना है तो इस गुत्थी को सुलझाना आवश्यक है कि मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों पर, निजी सुख-समृद्धि पर, नियन्त्रण, रखे, स्वार्थ के लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाये।

प्रतीत होता है कि ब्रह्मा जी ने वेदों का आरम्भ इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए किया। वेदों में ईश्वर की बड़ी प्रशंसा है। लिखा है कि ईश्वर ही मनुष्यों को जन्म देता है, पालन करता है, मारता है, स्वर्ग-नरक देता है, धन, सन्तान, आरोग्यता आदि लौकिक सुख देता है, हमारे गुप्त-प्रकट सब कामों को देखता है। 'ईश्वरवाद' का आरम्भ मनुष्य की मानसिक भूमिका पर एक अदृश्य शासन स्थापित करने के लिए हुआ। उस समय सामाजिक व्यवस्था एवं शासन-तन्त्र का निर्माण न हुआ था यदि हुआ था तो वह बहुत ढीला था, हर व्यक्ति को उसकी मूल इच्छाओं के विपरीत कठोर नियन्त्रण में रखा जाना कठिन था, ऐसी दशा में ईश्वर-वाद बहुत ही उपयोगी था। इस सिद्धान्त पर विश्वास करने वाले आस्तिक ईश्वरवादी स्वभावतः अपने ऊपर एक शक्तिशाली शासन की सत्ता स्वीकार कर लेते थे।

धर्मशास्त्र के निर्माता मनु ने वैदिक सिद्धान्तों का अधिक स्पष्ट वर्णन किया। अनेक योनियों में भ्रमण करते समय जो पाशविक वृत्ति संस्कार रूप में मनुष्य ने एकत्रित करके अपनी गुप्त चेतना में प्रकट कर ली हैं, उन आदतों को अधर्म या पाप ठहराया गया है। जहाँ कहीं भी अधिक स्वादिष्ट हरियाली मिलती है पशु उसे चर लेता है, पर मनुष्य में आई हुई इस वृत्ति पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो गया, इसलिये यह नियम बना कि अपनी कमाई हुई वस्तु का ही उपयोग किया जाय, दूसरों की उपार्जित वस्तु का उपयोग दूसरे को नहीं करना चाहिए। "चोरी मत करो" धर्मशास्त्र ने यह आज्ञा घोषित कर दी। पशुओं में पति-पत्नी प्रथा पर कुछ प्रतिबन्ध नहीं है। एक बलवान हिरन के झुण्ड में अनेक हिरनियाँ रहती हैं आदमयुग में भी ऐसी ही स्वेच्छा वातावरण था, गाय, भैंस की तरह अपनी पराई का भेद न था। इससे समाज में गड़बड़ी मचती थी, बने घर उजड़ जाते थे, बलवान, स्वरूपवान्, संपत्तिवान, स्त्री, पुरुष विपरीत पक्ष को अधिक आकर्षित कर सकते थे। इससे परिवारों का स्थायित्व बड़ा डाँवाडोल रहता था। आज एक घर में पति-पत्नी साथ-साथ रहते हैं कल न जाने किसका जी उलट जाय, दूसरे को झमेले में डालकर खुद अलग हो जाये। इस गड़बड़ी को रोकने के लिए धर्मशास्त्र ने आदेश किया 'व्यभिचार पाप है' मनुष्य को अपनी ही स्त्री से संतोष करना चाहिए। इस प्रकार छल, कपट, झूठ, हिंसा, कटुवचन, कृतघ्नता, लूट सताना, अपहरण, चुगली, छिन्द्रान्वेषण, क्रोध, लोभ, मोह, क्रूरता आदि को पाप घोषित किया गया। पाप का अर्थ है त्याज्य कर्म, निंदित कर्म, जो कर्म पाप बताये जाते हैं असल में वे मनुष्य की पूर्व संचित पाशविक कृतियाँ हैं, जो हर घड़ी पुराने अस्तबल से भाग जाने के लिए रस्सा तुड़ाती रहती हैं। यदि उन्हें जरा भी अवसर, निर्भयता एवं स्वच्छन्दता प्राप्त हो तो वे बिना आगा-पीछा देखे मनुष्य की सामाजिकता को नष्ट करके उसे पुनः पशु स्वभाव वाला अधार्मिक बना देती हैं।

अब पाठक समझे होंगे कि धर्मशास्त्र का मुख्य प्रयोजन क्या है ? सारे धर्मशास्त्रों का मथंन कर डालिए, उनकी अनेक प्रथाओं का उद्देश्य यह है कि लोग अपने स्वार्थ को दबाये रहें, अपनी लालसाओं को अत्यन्त समग्र न होनें दें, पशु संस्कारों को नंगा होकर प्रकट न होने दें क्योंकि इसके बिना समाज में सुखशान्ति नहीं रह सकती। धर्माचरण के बिना सारा समाज क्लेशों, उपद्रवों, अत्याचारी, पीड़ाओं का घर बन जायेगा, कोई भी चैन से न बैठ सकेगा।

प्राचीन समय के व्यवस्थाकार बड़े सूक्ष्म-दर्शी थे। उन्होंने धर्मशास्त्रों की रचना की, नियम बनाये, आज्ञा-पत्र घोषित किये, पर साथ ही यह भी अनुभव किया कि यह शास्त्राचार बिना किसी नियन्त्रण के चिरस्थायी न रहेगा। वासनाओं की प्रबलता के सामने यह सब धर्म-तन्त्र आँधी के पत्ते के समान झड़ जायेगा। पुस्तक में लिखा है, मनु महाराज ने कहा है, इतने मात्र से संतोष कर लेने वाले व्यक्ति इस सृष्टि पर बहुत ही कम प्राप्त किये जा सकते हैं। शासन तो दण्ड और लोभ द्वारा ही संभव है। पशु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना हो तो दो ही उपाय हैं या तो उसके मुँह के आगे दाना रखते जाइये। और लोभ दिखाकर चाहे जहाँ ले जाइये या फिर लाठी फटकारते हुए चलाइये। रुचिकर स्थान से अरुचिकर स्थान को ले जाने का इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

लोभ या भय के कारण ही अरुचिकर कार्य किये जा सकते हैं। चाहे जहाँ से लेकर खा लेने का रुचिकर कार्य छोड़कर यदि चोरी न करने के नियत्रण में चलने को कहा जाये तो मनुष्य के लिए भी लोभ और भय दो ही मार्ग रह जाते हैं सम्भवतः इन्हीं मनोवैज्ञानिक रहस्यों को भली-भाँति समझकर ब्रह्मा जी ने ईश्वरवाद की स्थापना के लिएए वेदों का महत्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना आरम्भ किया था।

ईश्वरवाद का विश्लेषण

वैदिक ईश्वरवाद का विश्लेषण करने पर हम उसमें अन्तर्गत निम्न तत्वों का समावेश पाते हैं। (१) "ईश्वर हमारे गुप्त कार्यों और विचारों को भी जानता है, वह बहुत बल वाला है। (२) ईश्वर प्रसन्न होने पर भौतिक सुख सामग्रियाँ और परलोक में स्वर्ग एवं मोक्ष देता है। (३) वह नाराज होने पर दैविक, दैहिक और भौतिक कष्ट देता है। (४) धर्माचरण और उपासना से वह प्रसन्न होता है, पापी और नास्तिक पर अप्रसन्न रहता है।" अनेकानेक मन्त्र, सूत्र, श्लोक इन्हीं चार धारणाओं के आस-पास चक्कर लगाते हैं अर्थात् नाना प्रकार से इन्हीं चार बातों का प्रतिपादन उपदेश करते हैं। अब हमें विचार करना चाहिए कि कैसी बुद्धिमतापूर्वक मानसिक शासन स्थापित करने की यह व्यवस्था है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से हमारे सब कामों को देखता है। यह शासन की अत्यन्त व्यापकता के लिए है देखा गया है कि पुलिस थाने के पास तो चोर लोग उपद्रव नहीं मचाते पर जहाँ पुलिस की पहुँच कम और देर में होती है, वहाँ चोरियाँ, डकैतियाँ अधिक होती हैं। भरी हुई चलने वाली सड़कों पर तो लूट नहीं पर निर्जन स्थानों में लुटेरों की खूब घात लगती है। प्रकाश की अपेक्षा-अन्धकार में अपराध अधिक होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दुष्टता भरे काम की अधिकता एवं न्यूनता इस बात पर निर्भर है कि चोर को कोई देखता है या नहीं ? देखने वाला पहलवान है या नहीं ? बन्दर किसी छोटे बच्चे को कमजोर समझकर उसके हाथ से रोटी छीन ले जाता है पर बड़े आदमी की ओर बढ़ने में उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। क्योंकि बन्दर जानता है कि बलवान आदमी सहज में रोटी न छीनने देगा और डंडे से हड्डी-पसली तोड़कर रख देगा। ईश्वर अनन्त बल वाला है, सर्वव्यापक है और पाप से अप्रसन्न होता है। इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हो सकता है कि कोई हाथी जैसे बल वाला पुलिस का खुफिया सिपाही हाथ में संगीन और हथकड़ी लिये अदृश्य रूप से हमारी निगरानी के लिये हर वक्त सिर के ऊपर उड़ता फिरता है। यह विश्वास जितना ही अधिक सच्चा, स्पष्ट और बलवान् होता है उतना ही मनुष्य धर्मप्रिय बनता जाता है, उपरोक्त विश्वास जितना ही ही संशयात्मक, अस्पष्ट, धुँधला और निर्बल होता है उतना ही स्वच्छन्दता एवं दाम्भिकता बढ़ती जाती है। अपराधी मनोवृत्ति उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। ईश्वरीय शासन नहीं है, संदेहात्मक है एवं निर्बल है ऐसी मान्यता बढ़ने से मानसिक अराजकता फैलती है। जब गदर होता है तब उपद्रवी लोग पूरी तरह स्वार्थ साधन करते हैं क्योंकि उनका विश्वास होता है कि राजसत्ता नष्ट या निर्बल हो गई है वह हमें दण्ड नहीं दे सकती। हम देखते हैं कि ईश्वरभक्त कहाने वाले लोग भी बड़े-बड़े पाप करते हैं। इसका मनोवैज्ञानिक हेतु यह है कि पाखंड की तरह लोगों को भुलावे में डालने के लिए सस्ती वाहवाही लूटने के निमित्त वे लम्बे-चौड़े तिलक लगाते हैं, कंठी माला धारण करते हैं, रामधुन लगाते हैं पर मानसिक भूमिका के अन्तर्गत ईश्वर की अत्यन्त ही धुँधली सत्ता धारण किये रहते हैं। ऊपर की पंक्तियों में अदृश्य रूप से चौकीदारी करते हुए सिर पर उड़ने वाले पुलिसमैन के समतुल्य जिस कल्पना का उल्लेख किया गया है वह चित्र तो उनके मन में बहुत ही धुंधला होता है इसलिए मानसिक अराजकता के अंधेरे में उनकी पशुवृत्तियाँ मनमानी करती रहती हैं।

ईश्वरवाद का वह प्रथम सिद्धान्त ही आधारभूत है। ऐसी घड़ी किस काम की ? जिसमें सुईयाँ न हों। बे-पेंदी का लोटा भला किसी की प्यास बुझा सकता है ? वेद के जितने मंत्रों में ईश्वर सम्बन्धी वर्णन हैं उनका अधिक भाग ईश्वर के महानतासूचक गुणों का गान है। उन गुणों में भी सर्वव्यापकता और बल शालीनता का उल्लेखता अधिक किया है।

प्रयोजन यह है कि मनुष्यों के मस्तिष्क में यह चित्र बहुत साफ और सुदृढ़ बन जाय कि वह अनन्त बल वाला, शंख, चक्र, गदा जैसे कठोर दन्ड शास्त्रों से सुसज्जित ईश्वर, पाप से बहुत कुढ़ता है और हमारी चौकीदारी के लिए अदृश्य रूप से हर घड़ी साथ रहता है, जिसके मन में यह कल्पनाचित्र जितना अधिक गहरा और श्रद्धा-विश्वासमय है, वह उतना ही बड़ी आस्तिक है। जिसके अन्तःकरण में यह विश्वास जितना निर्बल है वह उतने ही अंशों में नास्तिक है।

चार सिद्धान्तों में ऊपर कहा हुआ सर्व-व्यापकता का सिद्धान्त प्रमुख है। शेष तीन उसकी पूर्ति के लिए हैं। "प्रसन्न प्रलोभन का तत्व मौजूद है। जो पशु स्वभाव को ललचाने के लिए आवश्यक है। धर्म-ग्रन्थों का बहुत बड़ा अंश "महात्म्य" के वर्णन में लिखा हुआ है। गंगा स्नान से पाप कट जाते हैं, सत्य नारायण की कथा सुनने से धन प्राप्त होता है, शंकर जी औघड़दानी हैं, वे खुश हो जायँ तो मालामाल कर देते हैं, हनुमान जी रोगों, भूत-पिशाचों को मार भगाते हैं, तुलसी पूजन से लड़की को अच्छा दूल्हा एवं लड़का को गुड़िया सी बहू मिलती है, ब्रह्मकुण्ड में स्नान करने से सन्तान होती है। हर एक तीर्थ का, व्रत उपवास का, पुस्तक सुनने का, पढ़ने का, सत्संग का, निदान छोटे से बड़े तक सभी उत्तम कामों का हिन्दू धर्मग्रन्थों में खूब बड़े चढ़े महात्म्य लिखे मिलते हैं, वह सब मनुष्य के पशु स्वभाव को ललचाने के लिए हैं। बैल को घास के तृण दिखाते ले जाइये वह आपके पीछे-पीछे चला चलेगा। छोटी मानस चेतना वालों के लिए प्रलोभन आवश्यक समझकर महात्म्यों का उल्लेख करना धर्माचार्यों के लिये अत्यन्त आवश्यक था, इसके बिना वह कार्य आगे न बढ़ता और गाड़ी रुक जाती। ईश्वर के सम्बन्ध में भी उन्हें इसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा।

तार्किक लोग अक्सर यह बात कहते सुने जाते हैं कि—भजन का कुछ महात्म्य नहीं, भजन करने वालों को कोई ऐसी सम्पदा नहीं मिलती जो भजन न करने वालों को न मिलती हो। यदि मिलती है तो उसमें उनका कर्तव्य हेतु होता है, भजन नहीं।" ऐसे महानुभावों से हमारा निवेदन है कि वे हर बात में तर्क न करें। "दूध पीने से चोटी बढ़ जायेगी।" ऐसे उपदेश माताएँ अपने पुत्रों को अधिक दूध पिलाने के लिये करती हैं। "अमुक काम कर लावेगा तो तू राजा बेटा हो जायेगा।" ऐसे-ऐसे प्रलोभनों द्वारा माताएँ अपने बालकों को आज्ञानुवर्ती बनाती हैं यदि माताऐं इस मार्ग को छोड़कर अधिक दूध पिलाने के लिए बच्चों को समझावें कि "दूध में अच्छे विटामिन, कैल्शियम, फास्फोरस, प्रोटीन आदि ऐसे तत्व हैं जो रक्त के श्वेत कीटाणुओं की वृद्धि करते हैं" तो यह उपदेश सत्य होने पर भी निरर्थक होगा। आज्ञानुवर्ती बनाने के लिये यदि वे राजा बेटा होने का प्रलोभन छोड़ दें और मनुस्मृति के श्लोक खोलकर धर्मोपदेश सुनावें एवं बच्चों को अल्पज्ञ होने के कारण माता की आज्ञा मानने से ही अधिक मानसिक विकास होता है, ऐसा उपदेश करें तो यह निरर्थक होगा। तार्किक कह सकते हैं कि माता झूठ बोलती है, चोटी बढ़ने और राजा बेटा होने का प्रलोभन असत्य है। परन्तु इतना कहने से ही काम न चलेगा उन्हें वास्तविकता की पेचीदगी तक पहुँचना होगा। छोट बच्चे का अविकसित मस्तिष्क लोभ के अतिरिक्त और किसी ढंग से प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्माचार्यों ने भी धर्म मार्ग में बाल बुद्धि, स्वल्प ज्ञान रखने वालों के लिये नाना प्रलोभनों से युक्त महात्म्यों की रचना की। और कोई मार्ग भी तो उनके पास न था। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से भौतिक सुख-सम्पत्ति एवं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होने का प्रलोभन रखा गया है तो कुछ अनुचित नहीं। कर्म करने से ही सुख मिल सकता है, ऐसी मान्यता रखने वालों से हमारा कुछ विरोध नहीं है। शास्त्र में ईश्वर शब्द बहुत अर्थ वाचक है। कहीं-कहीं उसका अर्थ कर्म भी होता है। कर्तव्यवादी इस स्थल पर ईश्वर शब्द का अर्थ कर्म करते हों तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसके बाद भय का नम्बर आता है। अप्रसन्न होने पर ईश्वर नाना प्रकार के दंड देता है। यह प्रलोभन वाले उपरोक्त भाग का दूसरा पहलू है। किसी पदार्थ के दो पहलू होते हैं एक उजेला दूसरा अंधेरा। ब्रह्मचर्य रखने से बलवान बनोगे यह वीर्य रक्षा का उजेला पहलू

है। वीर्य नाश करने से रोगों से ग्रसित हो जाओगे। यह उसी एक सिद्धान्त का अंधेरा पहलू है। विद्या पढ़ने से कितने सुख मिलेंगे जब यह बताया जाता है तो यह भी कहा जाता है कि न पढ़ने से बहुत अभावग्रस्त एवं दुखी जीवन बिताना पड़ेगा। इसी प्रकार जहाँ ईश्वर का प्रसन्नता से सुख मिलना कहा गया है, वहाँ उसका अंधेरा पहलू यह भी बताया गया है कि ईश्वर नाराज होने से दुख और कष्ट मिलते हैं। लोभ को उजला पहलू कहा जाता है, भय उसका अंधेरा पहलू है। लोभ से भी आगे न चलने वाले पशु स्वभाव के लिए अन्तिम मार्ग भय ही बच रहता है। धर्म आज्ञाओं पर न चलोगे तो ईश्वर नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से व्यथित कर डालेगा। यह भावना अधर्म पर चलने से रोकती है। यदि गहरा विश्वास जम जाय तो निस्संदेह जीवन की सारी क्रिया उसी के अनुकूल होने लगती है। पानी में डूबने से मृत्यु हो जाती है यह विश्वास सदैव गहरे पानी में जाने से सावधान करता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से डूबकर मरने का अनुभव अपने को चाहे जीवन भर न हुआ तो पर विश्वास अनुभव से भी अधिक प्रबल होता है। अनुभव को भूला जा सकता है पर विश्वास का विस्मरण नहीं होता। भूतों का विश्वास अधिकांश में कल्पित होता है। पर उस अन्ध-विश्वास से ही अगणित व्यक्ति सुख-दुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कितने ही तो उसी में उलझकर मर तक जाते हैं। निस्संदेह विश्वास बड़ी प्रबल शक्ति है। ईश्वर पाप का दंड देता है यदि इस बात का पूर्ण निश्चय हो जाय तो संगीन के पहरे में हथकड़ी लगा हुआ कैदी जैसे भलमनसाहत के साथ चलता है वैसा ही आचरण ईश्वरवादी को करना पड़ेगा।

चौथा तत्व यह है कि 'धर्माचरण और उपासना से ईश्वर प्रसन्न होता है इसके विपरीत से अप्रसन्न।' धर्माचरण की बात हम उपरोक्त पंक्तियों में विस्तारपूर्वक समझा चुके हैं कि तुच्छ पदार्थ से, पशुवृत्ति से, सामाजिक जीवन की ओर बढ़ने के लिये धर्म का सारा विधान है और उस विधान की रक्षा के लिये ईश्वरीय शासन की स्थापना है। इसलिए यह बात तो समझ आती है कि धर्माचरण से ईश्वर प्रसन्न होता है। हर उपासना से प्रसन्न और निन्दा से असफल होने की बात सामने आने पर भारी संदेह उठ खड़ा होता है, क्योंकि इससे तो ईश्वर भी चापलूसी पसन्द, पक्षपाती, नवाब प्रकृति का सिद्ध होता है। उसकी अलिप्तता समदर्शीपन, निस्पृहता पर स्पष्ट आक्षेप आता है और वह भी साधारण मनोविकारी मनुष्य की सीमा में आ जाता है। इस सन्देह का समाधान करने के लिए केवल शुष्क वाद-विवाद से काम न चलेगा वरन् हमें गहराई में उतरकर उस निमित्त का पता लगाना होगा जिनके कारण ईश्वर को उपासनाप्रिय स्वभाव वाला माना गया है। डाक्टर हण्टर ने अपने अनुसंधानों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि मूल वृत्तियों के विरुद्ध यदि कोई नवीन मार्ग निकालना हो तो उसके लिए बार-बार लगातार और कठोर प्रयत्न द्वारा नई आदत डालनी पड़ती है, इस पर भी वह आदत इतनी निर्बल होती है कि कुछ दिनों उसकी ओर से उदासीनता धारण कर ली जाय तो वह मिट जाती है। इसलिए ऐसी आदतों को सुरक्षित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है।' यह अनादि सत्य वैदिक ऋषियों को भी ज्ञात था। उन्होंने सोचा कि ईश्वरीय शासन की सर्वांगीण व्यवस्था बना देने पर भी यह पशु वृत्तियों के मुकाबले में हलकी रहेगी और जरा भी ढील देने पर कठिनाई बढ़ जायेगी। इसलिए नित्य कई-कई बार विशेष प्रेम एवं मुक्ति के साथ मूर्ति-पूजा के सहारे ध्यान में मग्न होकर नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डों द्वारा ईश्वर की पूजा उपासना करते रहने का आदेश किया। पतंग बनाई जाय, उसमें डोरी बाँधी जाय, हवा में उड़ाई जाय फिर डोरी को हाथ में से छोड़ दिया जाय तो सारा प्रयत्न निरर्थक हो जाय। जब तक पतंग को हवा में उड़ाना है तब तक डोरी को हाथ में रखना चाहिए, उसकी गति-विधि का संचालन करना चाहिए। फौजी सिपाहियों को नित्य परेड करनी पड़ती है ताकि वह उस शिक्षा को भूल न जावें वरन् अभ्यस्त बने रहें। धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर का शासन बनाया गया, पर बिना नियमितता के वह शासन विधान कैसे चलेगा ? चूँकि ईश्वरवाद नया शिक्षण है, स्वार्थों को जीव जानता है पर ईश्वर के बारे में उसको मनुष्य योनि में ही ज्ञान मिलता है।

पुरानी आदत के मुकाबले में नयी, निश्चय ही कमजोर होती है। जंगली सुग्गा बेर, जामुन खाया करता है पर सोने के पिंजड़े में दाल, अंगूर खाने का नया सुख ग्रहण करने के लिए पकड़ा जाना पसन्द नहीं करता। पिंजड़े में उत्तम रहन-सहन मिलने पर भी वह फिर से उड़ जाने का यत्न किया करता है, पिंजड़े की तीलियों से लड़ते हुए भागन का उसका यह यत्न नित्य ही देखा जा सकता है। यदि पिंजड़ा कमजोर हो तो संभव है कि नई सुव्यवस्था को ठुकराकर सुग्गा उड़ जाय, चाहे उसे जंगल में कष्ट ही क्यों न सहना पड़े। यही देवासुर संग्राम मनुष्य के मन में नित्य होता है। आगे बढ़ने और पीछे हटने की रस्साकसी ही खिंची रहती है। ढील पढ़ते ही गुड़गोबर हो सकता है। इसलिए ईश्वर-वाद के आचार्यों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि ईश्वर की नित्य उपासना करनी चाहिए इसके बिना ईश्वरीय शासन पर विश्वास करने का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यही लाभ प्राप्त करना ईश्वर की प्रसन्नता एवं उसे न प्राप्त करना उसकी अप्रसन्नता के अर्थों में कहा गया है।

हम मानते हैं कि ईश्वर निस्पृह है उसे निन्दा-स्तुति की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य की उपासना किये बिना ईश्वरीय शासन का विश्वास मन में दृढ़ बनाये रखना कठिन है। प्रसन्नता-अप्रसन्नता को आलंकारिक शब्दों में यहाँ इसी प्रयोजन से प्रयोग किया गया है। प्रसन्न होना-सुख देना, अप्रसन्न होना-दुख देना ईश्वर के इस कार्यक्रम पर हम मोटी दृष्टि से वाद विबाद करके किसी ठीक निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। यदि हम आज इसका भावार्थ यों समझें कि ईश्वर उपासना में मनुष्य अपने पशु स्वभाव को दबाये रहकर सुख-शान्तिमय जीवन बिताता रह सकता है, तो यह अर्थ ठीक शास्त्रकार की आन्तरिक इच्छा के ही अनुकूल होगा। महात्म्यों का वर्णन करते समय प्रलोभनों का समावेश जिस दृष्टि से हुआ है उसी दृष्टि से, उपासना से ईश्वर के प्रसन्न होने और सुख देने का वर्णन है। मूल तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वरीय विश्वासों को दृढ़ रखने का निरन्तर अभ्यास रखना आवश्यक है। जिस धर्माचरण के लिये हमारे पूज्य पूर्वजों ने जो गूढ़ मानसिक रहस्यों के आधार पर ईश्वरवाद की महत्वपूर्ण व्यवस्था बनाई है वह सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रहे।

नास्तिक भी उपासना करें

गणना की जाय तो संसार में इस समय एक तिहाई से भी अधिक जनसंख्या ऐसी होगी जो ईश्वर का अस्तित्व समझने से ही इन्कार करती है। विज्ञान कहता है कि—"कसौटी पर वर्तमान ईश्वर का ढाँचा खरा नहीं उतरा। विभिन्न सम्प्रदायों, पैगम्बरों और भक्तजनों ने ईश्वर का जैसा वर्णन किया है, वह परीक्षा के समय अवास्तविक प्रमाणित हुआ। ईश्वरीय चमत्कारों की अनेक गाथायें, जो विभिन्न देश-जातियों में प्रचलित हैं, वे अति रन्जित, अलंकारिक एवं काल्पनिक ठहराई जा चुकी हैं। भजन-मगन सज्जनों का शारीरिक और मानसिक परीक्षण करने पर उनमें कोई विशेषता, महत्ता, उपलब्ध नहीं हुई है। जिसके आधार पर भजन-मगन होने की उपयोगिता स्वीकार की जा सके।"

वर्तमान युग के भौतिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विधान को ही ऐसी आशंका हुई हो, सो बात नहीं है। यह सन्देह बहुत प्राचीनकाल से विद्यमान है। श्रुति, शेष, शारदा, ऋषि, मुनि सब ने ईश्वर का यथासम्भव वर्णन किया है पर अन्त मे वे 'नेति नेति' कहकर चुप हो गये। इतना ही नहीं अभी और है, इस स्वीकारोक्ति का भाव यह है कि हमें उसकी पूरी जानकारी नहीं। हमारा जो ज्ञान है वह अधूरा है। मन, वाणी, बुद्धि से अतीत, अगम, अगोचर अवेद्य बताकर शास्त्रकार अपनी मर्यादा को निष्कपट भाव से प्रकट कर देते हैं। प्रचण्ड तार्किक 'न्याय कुसुमान्जलि' कार ने ईश्वर को तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर उसने भी यह स्वीकार कर लिया है कि 'इस बहाने कुछ हरिचर्चा कर रहे हैं, ईश्वर को सिद्ध करने का

हमारा दावा नहीं है। सांख्यकौर ने भी स्वीकार किया है—'ईश्वरासिद्धे' अर्थात् ईश्वर साबित नहीं हो सकता। देवताओं के गुरु वृहस्पति के मत से जो परिचित हैं, वे जानते हैं कि अपने युग के वे अद्वितीय विद्वान नास्तिक थे। चार्वाक मत उन्हीं की प्रेरणा से प्रचलित होने की चर्चा पुराणों में उपलब्ध होती है।

आज इस तर्क युग में जबकी बुद्धिसंगत तत्वों को ही आश्रय मिल रहा है, हर पल विचारवान् व्यक्ति इस सोच विचार में पड़ा हुआ है कि सचमुच ईश्वर कुछ है भी या यों ही एक हौआ बना रखा है। ऐसी देशा में हम किसी व्यक्ति को "नाना वाक्यं प्रमाणम्' मानकर सन्तोष कर लेने के लिए नहीं कहते। ईश्वर है या नहीं ? है तो कौन है ? कहां है ? कैसा है ? इस सम्बन्ध में तर्क और प्रमाणों से परिपूर्ण चर्चा पाठक इसी पुस्तक के अन्तर्गत अगले पृष्ठों में पढ़ेंगे। इस समय तो हमें केवल यही बताना है कि इस पेचीदगी के होते हुए भी शास्त्रकार ईश्वर उपासना को आवश्यक क्यों बताते हैं। जब एक वस्तु के होने में ही संदेह हैं, तो उसकी उपासना की बात करना किस प्रकार युक्तिसंगत हो सकता है ?

शास्त्रों में ईश्वर उपासना का आदेश मनुष्य मात्र के लिए है। मनुष्य मात्र में अनीश्वरवादी भी आ जाते हैं, फिर सार्वभौम व्यवस्था तो वही हो सकती है जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करें। इसलिए हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसकी विवेचना करनी होगी, जिसे अनीश्वरवादी भी स्वीकार करते हों। असल में यह आदेश उन्हीं लोगों के लिए है जो उपासना नहीं करते। करने वाले तो करते ही हैं, उसके लिए तो कहना ही कुछ नहीं है। 'पढ़ने जाना चाहिए' यह उपदेश उन्हीं बालकों के लिए है जो पढ़ने नहीं जाते। जो परिश्रम से पढ़ रहे हैं, उनके लिए तो यह शिक्षा कुछ विशेष महत्व नहीं रखती, क्योंकि वे तो पहले से ही उस पर अमल कर रहे हैं। अनीश्वरवादियों को उन्हीं के दृष्टिकोण से उपासना की उपयोगिता बताना यहाँ अधिक उपयुक्त होगा।

ईश्वर उपासना का मानसिक विश्लेषण करते हुए मन.शास्त्र के विशेषज्ञ डाक्टर एटकिम्सन ने लिखा है कि "भक्त के मन में भगवान के सम्बन्ध में अपनी मनोभूमि के अनुसर एक दिव्य कल्पपनाचित्र होता है, उस चित्र में तन्मय होने के प्रयत्न को उपासना कहते हैं। यह कल्पना चित्र हर व्यक्ति के पृथक् होते हैं इसलिए श्री विवेकानन्द जी महाराज कहा करते थे, व्यक्ति का एक अलग ईश्वर है। आधुनिक विद्वान देवताओं का अर्थ सन्त पुरुष नहीं करते। उनका कहना है कि पुराने समय में भारत की आबादी जब तेतीस करोड़ थी, हर व्यक्ति के मन में ईश्वर सम्बन्धी धारणा एक दूसरे से कुछ न कुछ भिन्नता लिये होती थी। इसलिए किसी कवि ने तेतीस करोड़ स्वतन्त्र देवताओं की बात कहकर इसी आधार पर उनका अलंकारपूर्ण विस्तृत वर्णन कर दिया था, तभी से हिन्दू जाति में तेतीस करोड़ देवताओं की मान्यता को आश्रय मिला।

आइये, कुछ ईश्वरभक्तों को बुलावें और उनकी मानसिक स्थिति को जाँचें। एक हिन्दू को लीजिये, भारतीय वेश-भूषा में सुसज्जित, पूर्ण स्वस्थ, सद्गुणी, दयालु, न्यायी, सर्व-शक्तिमान देवता की मूर्ति का मन ही मन ध्यान करता है। कृष्ण, राम, विष्णु, शंकर आदि सुन्दर चित्र जो बाजार में बिकते हैं, उन्हीं से मिलती-जुलती किसी मूर्ति की रचना उसने अपने मस्तिष्क के अन्तर्गत कर रखी है। अब एक मुसलमान लीजिए उसके मन में खुदाबन्द करीम का ऐसा चित्र है जो चौथे आसमान में फरिस्तों के कन्धों पर रखे हुये तख्त पर बैठा है, लम्बी सफेद दाढ़ी, सुथना, टर्की टोपी, अचकन या ऐसी ही कुछ पोशाक है, गुणों में, हिन्दू के राम के समान ये भी सर्वशक्तिमान हैं। एक ईसाई को लीजिए, उसका गौड पूरा साहब बहादुर है, रंग का गोरा चिट्टा, कोट पतलून पहने हुए है। इसी प्रकार हब्शियों का ईश्वर नंग-धड़ंग, काला-कलूटा, मोटे होठ वाला होगा। यदि बैल ईश्वर का ध्यान करता हो तो उसका ईश्वर एक अच्छे साँड़ जैसा होगा इसी प्रकार यदि अन्य पशु-पक्षी ईश्वर का ध्यान करने में समर्थ होंगे, तो वे अपनी ही विचार मर्यादा के अन्तर्गत ईश्वर की रचना करते होंगे।

एक वैज्ञानिक इन सब मानस चित्रों की विभिन्नता पर विचार करता है, तो वह उलझ जाता है कि सब चित्र वास्तविक ईश्वर के नहीं हैं, क्योंकि सभी लोग उसे एक और सर्वव्यापक मानते हैं, तो यह आकृति भेद क्यों हैं ? या तो सभी के ध्यान में दाढ़ी और टर्की टोपा वाला ईश्वर होना चाहिये या फिर वंशी बजाने वाला हो। पृथकता इस बात की घोषणा करती है कि यह रचना मानवीय कृति है। इसकी पुष्टि इसलिए भी हो जाती है कि गुण, कर्म, स्वभाव और विश्वास भी इन ईश्वरों के अलग-अलग पाये जाते हैं। खुदाबन्द करीम कुर्बानी की गायों को चट कर जाते हैं, पर भगवान कृष्ण गौ वध से अत्यन्त दुखी और नाराज हो जायेंगे। हबशी का खुदा पीली चिड़िया का अण्डा पाकर आर्शीवाद देता है पर बौद्धों का उपास्य देव इसे स्वीकार न करेगा। ईश्वरीय धर्म पुस्तकें वेद, कुरान, बाईबिल तौरैत, धम्मपद, जिन्दाबस्ता में जो धर्मोपदेश हैं वे एक दूसरे से बहुत अंशों में विरुद्ध पड़ते हैं। यह सब प्रमाण इस बात के हैं कि भक्तों का उपास्यदेव एक कल्पित प्रतिमा है, जिसका निर्माण यह अपने ज्ञान, मर्यादा, आवश्यकता, इच्छा और कामना के आधार पर करता है। हाँ, एक बात में ये सब ईश्वर समान हैं, कि वे भक्त से अधिक सशक्त हैं और उन ईश्वरों में से सब योग्यतायें मौजूद हैं, जिसकी कामाना भक्त अपने लिए करता है।

इस मनोविश्लेषण के उपरान्त यह जानना आसान हो जाता है कि यह वस्तु क्या है। बीमारी के लक्षण मालूम हो जाने पर उसके कारण का परिचय प्राप्त करना कुछ विशेष कठिन नहीं रह जाता। लार्ड टाटनहम का मत है कि—"भक्त भगवान् के जिस रूप का ध्यान करता है, वास्तव में वह उसका आदर्श है, मनुष्य क्या बनने का प्रयत्न कर रहा है, यह उसके उपास्यदेव की आकृति, स्वभाव और शक्ति के आधार पर से जानना चाहिए। इष्टदेव से जितना अधिक प्रेम होगा, प्रगति उसी गति से होगी।" उनका तात्पर्य यह बताने का है कि जाने या अनजाने में जिस मूर्ति की उपासना मनुष्य करने लगता है, उसकी मानसिक चेतना उसी साँचे में ढलती चली जाती है। गीता का भी यही मत है—"प्रेतों को भजने वाले प्रेतों को, देवताओं को भजने वाले देवताओं को और मुझे भजने वाले मुझे प्राप्त होते हैं।" यह कथन भी उसी भाव का द्योतक है।

जो व्यक्ति जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है पहले उसका एक नक्शा बनाकर तैयार करता है। इसी नियम पर कोई बड़ी इमारत बनाते हैं तो इसका एक मौडल बनाते हैं, व्यापारी नया व्यापार करते समय उसकी रूपरेखा बनाता है, सरकारें विधान बनाती हैं, बजट पास करती हैं, नेता योजना बनाते हैं, तब उनके अनुसार काम होता है। विद्यार्थी जब निश्चय कर लेता है कि मुझे वैद्य बनना है। तब वह आयुर्वेद की पुस्तकें लाकर पढ़ना आरम्भ करता है। यदि वह निश्चय न करे कि मुझे क्या बनाना है और यों ही आज आर्युवेद, कल मुनीमी, परसों लुहारी, अगले दिन सुनारी सीखे। जब तो मन में आये वह करे, तो उसका प्रयत्न निष्फल चला जायेगा और कुछ भी लक्ष्य प्राप्त न कर सकेगा। यात्री आज पूरब, कल पश्चिम, परसों दक्षिण को नहीं चलता, वरन् एक लक्ष्य बनाकर उसी पर कदम बढ़ाता है और निर्धारित योजना के अनुसार आगे बढ़ता जाता है।

ध्यानावस्था में जिस ईश्वर का प्रेमपूर्वक ध्यान करके उसमें तन्मय होने की भावना की जाती है, उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है कि भक्त वैसा ही बनना चाहता है। जैसा कि भगवान की प्रतिमा उसके मस्तिष्क में है। श्रीकृष्णचन्द्र का हथौड़ों से गढ़ा हुआ शरीर, कामदेव को लज्जित करने वाला सौन्दर्य, कुवलियापीड, हाथी को पछाड़ने वाला बल, असाधारण बुद्धि, योगेश्वर पदवी का तत्वज्ञान, सब कुछ करने में समर्थ, यही सब योग्यताएँ उस ध्यान चित्र के अन्तराल में निहित होती हैं, जिसका ध्यान करने वाला भी धीरे-धीरे वैसा ही बनता है। गीता कहती हैं—"जो जैसा चिन्तन करता है, वह वैसा ही होता जाता है।" सर स्काट ने कहा—"यदि मुझे यह मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति की भावना क्या है, तो मैं बता दूँगा कि आगे चलकर वह क्या होगा।" भृंग के सत्संग से कीड़े का भृंग बन जाने की जो किंवदन्ती प्रचलित है, वह कहाँ तक ठीक है अभी यह नहीं जाना जा

सकता, पर शत-शत मुखों से मनः शास्त्र के पण्डितों ने यह स्वीकार किया है कि जो जैसा ध्यान करता है, वह वैसा ही होता जाता है। दिव्य गुणों से सम्पन्न कृष्ण का तीव्र संवेदना के साथ ध्यान करने वालों की योग्यताएँ उसी प्रकार की बनने लगेंगी यह एक असंदिग्ध मनोवैज्ञानिक सच्चाई है, जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। अनीश्वरवादी अपना विश्वास न बदलते हुए भी ईश्वर उपासना से किसी प्रकार आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त कर सकते हैं, इसकी चर्चा हम अगले पृष्ठों में करेंगे।

ध्यान योग का मर्म

यह बताया जा चुका है कि ईश्वर की जिस मूर्ति का भक्त लोग ध्यान करते हैं, वह अवश्य ही ध्यान करने वाले की योग्यताओं से अधिक सुसम्पन्न होती है। इष्टदेव चाहे अलग-अलग क्यों न हों, पर वे सभी ईश्वर मनुष्य की अपेक्षा शारीरिक, मानसिक तथा सांसारिक दृष्टि से बहुत बलवान होते हैं। भगवान कृष्ण का कोई असली फोटो इस समय प्राप्त नहीं होता, इसलिए ध्यान करने के लिए जिन तत्वों की मानसिक स्थापना की जाती है वह कल्पित ही मानने पड़ेंगे एक ही देवता के अनेक भक्त अपने में देवता का ध्यान करते हैं पर सबकी ध्यान मूर्ति में कुछ न कुछ अन्तर होता है। इससे भी प्रकट है कि ये ध्यान चित्र कल्पित हैं, यदि वे असली होते तो सभी भक्त एक ही समान मूर्ति का ध्यान करते।

अनीश्वरवादी महानुभाव यह न समझें कि इन कल्पित चित्रों का ध्यान करने से कुछ फायदा नहीं है। ईश्वर के नाम से जो बिदकते हैं, उन्हें इन ध्यान मूर्तियों को 'ध्येय प्रतिमा' नाम दे लेना चाहिए। मनुष्य उन्नति करना चाहता है। हर किसी की इच्छा होती है कि मैं सुन्दर, स्वरूपवान, स्वस्थ, बलवान, विद्वान, तेजस्वी, प्रतापी, ऐश्वर्यवान, असाधारण शक्तियाँ रखने वाला बनूँ। अब सोचना चाहिए कि सर्वतोमुखी उन्नति के मार्ग पर बढ़ने का कार्य किस प्रकार आरम्भ किया जा सकता है। कोई भी कार्यकर्त्ता तभी कार्य आरम्भ कर सकता है, जब अपने ध्येय की एक तस्वीर मन में खड़ी कर ले। सुनार एक साँचा तैयार करता है, चाँदी पिघलाकर उसमें डाल देता है, तब वैसा ही गहना बन जाता है। बिना साँचा बनाये रुपया ढालने की टकसाल का काम कैसे चले ? इसलिये मनुष्य जैसा बनना चाहता है, अपने को वैसा ढालने के लिए उसे एक साँचा तैयार करना पड़ेगा। यह 'ध्येय प्रतिमा' या ईश्वरीय ध्यान मूर्ति-वह साँचा ही तो है।

शब्द के पीछे एक चित्र होता है। जैसा वर्णमाला का अक्षर 'ह' उस पर आ की मात्रा, हाथ, अक्षर पर ई की मात्रा भी—हाथी। यह दो अक्षर अपने आप कुछ अर्थ नहीं रखते। किसी हिन्दी न जानने वाले रूसी के सामने हाथी शब्द कहा जाय तो वह कुछ न समझेगा। पर हमारी मनोभूमि को यह पता है कि हाथी शब्द के पीछे एक विशालकाय जन्तु विशेष का चित्र जुड़ा हुआ है। इस लिए हाथी शब्द को कहते ही वह विशालकाय जन्तु स्मरण हो आता है। यदि यह चित्र सामने न आवे तो वह शब्द निरर्थक है। मनुष्य चाहता है कि मैं सुन्दर, सुडौल, ज्ञानवान, बुद्धिमान आदि बनूँ, इन इच्छित चित्रों के साथ भी एक-एक चित्र जुड़ा है। 'सुन्दर' शब्द कहते ही गोरा रंग, भरा हुआ गुलाबी चेहरा, रतनारे नयन, पतली नाक, मोती से दाँत स्मरण हो आते हैं। अर्थात् 'सुन्दर' शब्द के साथ जो चित्र जुड़ा हुआ है, वह दिव्य नेत्रों के सामने नाचने लगता है। आप अपने में जो उन्नति देखना चाहते हैं, जिन-जिन विशेषताओं की इच्छा करते हैं, उन सबका एक सम्मिलित चित्र अवश्य बन जायेगा। यदि इच्छा निर्बल हुई तो वह चित्र भी धुँधला, निर्बल, अस्थिर और उदासीन होगा। उन्नति की इच्छा जितनी ही प्रबल होगी उतना ही चित्र अधिक स्पष्ट, सतेज, प्रकाशवान, स्थिर एवं उत्सुकतापूर्ण होगा। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के बिछोह में है। वह प्रेमिका को अपने पास देखना चाहता है, उसकी यह इच्छा जितनी ही प्रबल होगी उतना ही उसे प्रेमिका का ध्यान अधिक आवेगा। प्रेयसी की सलौनी मूर्ति आँखों के आगे ही खड़ी रहेगी। सच्ची लगन से ही किसी वस्तु की प्राप्ति होती है। मनुष्य यदि उन्नत दशा को प्राप्त होना चाहता है, तो यह कार्य यों ही लस्टम-पस्टम उदासीनता के साथ पूरा न होगा। वरन् दृढ़ विश्वास, सच्ची लगन,

प्रेममय उत्सुकता के साथ एक 'ध्येय प्रतिमा' बनानी होगी। आकांक्षा उस देह को प्राप्त करने की लगन में लगी रहे और तनमन से उसकी प्राप्ति का कर्त्तव्य करता रहे। कोलम्बस की आकांक्षा भारतभूमि को तलाश करने के लिये व्याकुल हो रही थी और सर्वस्व की बाजी लगाकर उसका तन-मन जहाज का संचालन कर रहा था। तब कहीं वह एक स्वर्णभूमि को ढूँढ़ पाया। यदि यों ही बिना किसी तीव्र आकांक्षा के, बिना किसी ध्येय प्रतिमा के समुद्र में जहाज चला देता, तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकता था।

हमारे पूर्वजों ने अत्यन्त गहरे मानसिक तत्व ज्ञान के आधार पर ईश्वर की सुन्दर मूर्ति का ध्यान करने का पूजा-विधान बनाया है। अपनी नाना प्रकार की उन्नति का बोध कराने वाली एक मनमोहक प्रतिमा का ध्यान करना आवश्यक है। इस प्रतिमा के साथ ईश्वर का पवित्र नाम जोड़ देने से यह विशेषता हो जाती है कि वह प्रतिमा केवल भौतिक, सांसारिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रहती वरन् आध्यात्मिकता के साथ सतोगुणी दिव्य वृत्तियों के साथ भी सम्बंधित हो जाती है। वह साँचा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों उन्नतियों से युक्त हमारे भविष्य की रचना करता है। मनुष्य की मूलभूत प्रकृति उन्नति की ओर अग्रसर होने की है। कोई भी व्यक्ति उन्नति की इच्छा किये बिना रह नहीं सकता। इसलिए उन्नत भविष्य की एक रूपरेखा बनाना भी नितान्त अनिवार्य है। विष्णुलोक, गौलोक, स्वर्ग वहिस्त, हेविन आदि स्थान सम्बन्धी कल्पना हैं। तथा मुक्ति प्राप्ति अवस्था सम्बन्धी कल्पनायें उसी ध्येय अवस्था की बोधक हैं, जिसकी कि प्रायः हर व्यक्ति इच्छा किया करता है।

ईश्वर को निराकार मानने वाले जो सज्जन परमात्मा का एक विशेष मूर्ति में ही होना स्वीकार नहीं करते, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे अपने मत को बदले बिना भी 'ध्येय प्रतिमा' का ध्यान करने के लाभों के सम्बन्ध में विचार करें और उसके अन्दर जो बड़ा भारी लाभ छिपा हुआ है, उसे ग्रहण करें। अनीश्वरवादी महानुभाव कहा करते हैं कि हम पेशेवर धर्मध्वजी दुकानदारों के रिश्वती और खुशामदी खुदा को नहीं मानते। अच्छा बाबा उसे मत मानो। पर अपना उत्तम भविष्य ढालने वाले सांचे को तो मानो। अच्छा ठहरो, कृष्ण को छोड़ो, हम तुम्हें ही कृष्ण बनाये देते हैं। शरीर ढीला करके, आँखें बन्द करके, पालती मार के एकान्त स्थान में बैठ जाओ। अपनी सूरत तो दर्पण में देखी ही होगी, उसका दिव्य नेत्रों से ध्यान करो। उसे उत्तम सांसारिक और आध्यात्मिक गुणों से सजा डालो। वर्तमान शरीर की सभी कमियों को हटाकर अपने लिए जैसा उत्तम शरीर चाहते हो, जैसे गुण चाहते हो, जैसी शक्तियाँ चाहत हो, उन सबसे अपनी तस्वीर की सजावट कर डालो, बस, ईश्वर की तस्वीर हो गई, इसी का ध्यान किया करो। इस मूर्ति से तुम्हारा जितना प्रेम होगा, उतना ही तुम भृंग, कीट की तरह इस आदर्श प्रतिमा में तल्लीन होते जाओगे और वह आध्यात्मिक तल्लीनता इनती महत्वपूर्ण सिद्ध होगी कि अहत अंश में तो वे इच्छाएँ इसी जन्म में पूरी हो जायेंगी। मजाक की बात नहीं है, यह आध्यात्मिक ध्रुव सत्य है। हिरन के बच्चे में अधिक प्रेम होने पर जड़भरत के दूसरे जन्म में हिरन होने की कथा महाभारत में मौजूद है। तुम्हारी आकांक्षा जिस स्थिति में प्राप्त करने में पूरी तत्परता से जुड़ी हुई है कोई कारण नहीं कि एक दो जन्मों में ही वह पूर्णता प्राप्त न हो जाय। ध्यान प्रतिमा की भक्ति का संतुलित प्रताप है। इस महान सत्य को विज्ञान की कसौटी पर जितना-जितना अधिक कसा जाता है उतना ही वह अधिक खरा साबित होता जाता है।

केवल ध्यान करने में कुछ नहीं होता, यह समझना भूल है। ध्यान आरम्भिक सीढ़ी है। आदर्श का निर्माण होते ही शरीर, और मन सारी शक्तियों से उसे प्राप्त करने लग जाते हैं और दृश्य लोकों से सफलता के लिए ऐसे-ऐसे विचित्र साधन सूक्ष्म तत्वों की सहायता से जुटाने लगता है, कभी-कभी तो वे सहायताएँ चमत्कार जैसी मालूम पड़ती हैं। कई बार भगत लोग बड़े आलसी, दरिद्र, अकर्मण्य, दुर्गुणी तथा अवनति की ओर गिरते देखे जाते हैं। यह भगत लोग असल में भक्ति की झूँठी बिडम्बना करते हैं, उनका भगतपना पेट पालने का या सस्ती

वाहवाही लूटने का एक जरिया है। सच्चा ध्यान योगी ईश्वर की पवित्र मूर्ति में अपने को तल्लीन कर देता है, अथवा यों कहिए कि आत्मोन्नति की जो सबसे ऊँची, सर्वगुण-सम्पन्न 'ध्येय प्रतिमा' बनाई है, उसके साथ तदाकार होने के लिये प्रेम पूर्वक विव्हल हो जाता है, भक्ति का सच्चा तत्व यही है। भक्ति का महा विज्ञान इतना सत्य है कि उसके प्रत्यक्ष परिणाम को चाहे जो अनुभव कर सकता है। आप कैसे बढ़ना चाहते हैं ? उसका एक मजबूत नक्शा बनाकर उसमें सफल होने के लिये प्राण-प्रण से तल्लीन हो जाइए। फिर कुछ ही दिनों में भक्ति का जादू देखिए, आपकी कायापलट हो जायेगी। काफिला कहीं का कहीं पहुँच जायेगा। आपकी जीवन दशा में आश्चर्यजनक लौट-पलट हो जायेगी। भक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ आत्मोन्नतिकारी प्रचण्ड विद्युत प्रवाह नस-नस में दौड़ने लगेगा। लालटेन के ऊपर जिस रंग का काँच लगा दिया जाय उसी रंग की रोशनी होने लगती है। जैसा जीवन-ध्येय निश्चित हो जाता है। उसी के अनुरूप शरीर के कार्य और मन के कार्य दिखाई देने लगते हैं।

पेशेवर भगत लोग भक्ति का कैसा विकृत और नाशकारी रूप बनाये बैठे हैं, इस सम्बन्ध में पाठक स्वयं ही सब कुछ जानते हैं, उस गढ़ी हुई दुर्गन्धि को उखाड़कर बदबू उड़ाने की इस समय हमारी इच्छा नहीं। इन पंक्तियों में तो हमने भक्ति, सच्चे तत्व ज्ञान, ध्यान योग के गुप्त रहस्य पर प्रकाश डालते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने लिए निर्धारित किये हुए उच्च आदर्श एवं उन्नत भविष्य की ध्येय प्रतिमा बनाई, मानसिक चित्र निर्माण करना आवश्यक है। ईश्वर के मानने वाले या न मानने वाले सभी व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि ध्येय प्रतिमा का ध्यान किया करें। मनोविज्ञान शास्त्र की दृष्टि से यह व्यवहार कल्पवृक्ष के समान मनोवांछाऐं पूरी करने वाला सिद्ध होगा।

पूजा का मर्म

यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि पूजा का, उपासना का प्रयोजन ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं वरन् अपनी उन्नति करना है। ईश्वर निन्दा-स्तुति से प्रभावित नहीं होता। पूजा उपासना की जो वेदियाँ बनी हुई हैं वह ईश्वर को खुश करने के लिए नहीं वरन् उन उपासना वेदियों के आधार पर आत्मोन्नति की एक सुन्दर व्यवस्था बनाई गई है।

देव मन्दिरों का निर्माण हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों ने एक सार्वजनिक धर्म-संस्था के रूप में किया था। आजकल जनता की सुख-शान्ति के लिए सरकारी, अर्धसरकारी, गैर सरकारी अनेक संस्थाएँ स्थान-स्थान पर होती हैं। चिकित्सालय, पुस्तकालय, पाठशाला, व्यायामशाला, पूजाग्रह, सत्संग, गीत वाद्य मनोरंजन आदि के लिए अलग-अलग संस्थाएँ बनाई जाती हैं और उनके लिए स्थान का, पैसे का पृथक्-पृथक् प्रबन्ध होता है प्राचीनकाल से यह सब व्यवस्थाएँ एक ही स्थान पर होती थीं। मंदिर संस्था का निर्माण बहुत सुदृढ़ आधार पर होता था। इसलिए वह स्थानीय जनता का अनेक सार्वजनिक आवयकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध कर लेती थी। धर्म और ईश्वर का सम्बन्ध मंदिर संस्था के स्थापित कर देने से पुण्य, लाभ होने की भावना बना देने से, आर्थिक, व्यवस्था अपने आप हो जाती थीं। आजकल की तरह सार्वजनिक कार्यों के लिए घर-घर चंदा मागने की आवश्यकता न होती थी वरन् वहाँ के निवासी अपनी मंदिर संस्था के लिए स्वयं ही दान दिया करते थे। विवाह, पुत्र जन्म, व्यापार, लाभ आदि खुशी के अवसरों पर मंदिरों को भरपूर दान दिया जाता था, व्रतोत्सवों के समय भी मन्दिरों में विशेष दान देने की प्रथा थी। साधारण अवसरों पर भी कुछ न कुछ दिया ही जाया करता था। इस तरह मन्दिरों के पास स्वेच्छा और श्रद्धा से आया हुआ धन पर्याप्त मात्रा में जमा रहता था। सुरक्षित पूँजी को मूर्ति के जेवरों के रूप में रख दिया जाता था।

पवित्र एवं सार्वजनिक जीवन के लिए अत्युपयोगी मन्दिर संस्था का कार्य संचालन यों ही किसी ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे नौकर के हाथ में नहीं सौंप दिया जाता था, वरन् विद्वान, सदाचारी, धर्मवान, सुयोग्य ब्राह्मण को मन्दिर संस्था का संचालक नियुक्त किया जाता था। महन्त जी या पुजारी जी का पद अत्यन्त ऊँचे गौरव का था।

इस महान् उत्तरदायित्व को बहुत ही सुयोग्य **धर्मसेवी** सज्जन ग्रहण करते थे। उनकी **अन्न-वस्त्र** सम्बन्धी जीविका मन्दिर में आये हुए **दान** के कुछ भाग से चल जाती थी। **जीविकोपार्जन** की चिन्ता से मुक्त होकर वे अपने **यजमानों** की शारीरिक और मानसिक उन्नति के **लिए** निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। एक भी **यजमान** का अशिक्षित, रोगी, अधर्मी, अविवेकी **होना** पुजारीजी, पुरोहितजी के लिए लज्जा की **बात** थी। पाप-पुण्य में पुरोहित दशवें अंश का **साझी** माना गया है। क्योंकि यजमान तो **पुण्यावरण** करता है परन्तु उससे ऐसी सद्बुद्धि **उत्पन्न** करने के लिए तो पुरोहित ने ही बहुत **समय** तक परिश्रम किया था इसलिए दशवें अंश **का** पुण्य पुरोहित को मिलना आवश्यक है। यदि **यजमान** पाप करता है तो इसमें पुरोहित की **कर्तव्यहीनता**, अयोग्यता, निर्बलता सिद्ध होती है। **उत्तरदायत्वि** अपने ऊपर लेकर उसे पूरा न **करना** भी तो अपराध है, इस दृष्टि से यजमान **के** पापों में पुजारी जी को भी दशवें भाग का **भागीदार** बनना पड़ता था। पुरोहित, पंडित, **पुजारी**, गुरु आदि कई श्रेणियाँ आजकल दिखाई **देती** हैं, पूर्वकाल में यह सब एक ही तत्व था। **जहाँ** कार्य बहुत अधिक बढ़ जाता था वहाँ कई **व्यक्तियों** को अलग-अलग काम सौंप दिये जाते **थे**, जहाँ थोड़ा काम होता था वहाँ एक ही **सज्जन** सब काम पूरा करते रहते थे।

संस्था के संचालन में स्थायी कर्मचारी तथा आर्थिक आय की आवश्यकता होती है। मन्दिर का भवन, महन्त एवं सेवा-कार्यों के खर्च की आवश्यकता पूरा करने के लिए चढ़ावा (दान) के रूप में उपरोक्त तीनों ही व्यवस्थाओं का सुन्दर समन्वय हुआ है। नगरों में, मुहल्लों में, कस्बों में, हम मन्दिरों का अस्तित्व पाते हैं। मानव जीवन को सुख-शान्ति के ढाँचे में डालने वाली इन संस्थाओं को अत्यन्त उपयोगी समझकर विववेकशील धर्म पुरुषों ने इनको अधिक से अधिक संख्या में विस्तृत किया था। 'पाठशालाओं की वृद्धि हो' इस आवश्यकता को इस समय हर समझदार व्यक्ति ही अनुभव करता है। उस समय यह आवश्यकता अनुभव की जाती थी कि अक्षर ज्ञान के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक उन्नति की क्रियात्मक सुदृढ़ शिक्षा देने वाली मन्दिर संस्थाओं की वृद्धि हो। इसलिए मन्दिर बनाना, बनवाना उच्च कोटि का धर्म-कार्य गिना गया है। सचमुच ऐसे उपादेय, आदर्श एवं जनता का पथ-प्रदर्शन करने वाली धर्म-संस्था का निर्माण करना ऊँचे दर्जे का सात्विक पुण्यकार्य ही कहा जाना चाहिए।

मन्दिर संस्था के अन्तराल में मूल उद्देश्य जनता की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए जबरदस्त पथ-प्रदर्शन करना था। उसका स्थानीय रूप ऐसा बनाया गया था कि जनता की अटूट श्रद्धा उन पर बनी रहे। पूजनीय अवतारी महापुरुषों की मूर्तियाँ, ईश्वरीय शक्तियों की तस्वीरें, मानव जीवन के उच्च आदर्श की ध्येय-प्रतिमाएँ, उन मन्दिरों में पधराई जाती थीं जिन्हें देखते ही दर्शकों के अन्तःकरण में श्रद्धा का संचार हो। "महन्तजी के अन्नदाता हम हैं।" ऐसा अहंकार किसी यजमान के मन में न आने पावे, और "मैं दूसरों के दिये टुकड़ों से पेट पालता हूँ।" ऐसी लज्जा पुजारी जी अनुभव न करें इसलिए एक मध्यवर्ती मार्ग निकाला गया, वह था—मूर्तियों को भोग लगाना।' देख लिया जाता था कि मन्दिर में कार्य करने वाले कितने व्यक्ति हैं, उनकी आवश्यंकता पूर्ति के योग्य भोजन सामग्री मूर्तियों के भोग के लिए तैयार होता था और प्रसाद के रूप में महन्तजी उन्हें ग्रहण करते थे। यजमान समझते थे ईश्वर को भोग लगाया जा रहा है, महन्तजी समझते थे ईश्वर का प्रसाद खाते हैं। इस प्रकार उस अंहकार एवं लज्जा की जड़ को ही काट दिया गया। जब अन्न समाप्त होने को हो तो पुजारी जी भी बिना संकोच के कह सकते थे कि भाई अब ईश्वर के भोग के लिए अन्न चाहिए। यजमान भी चिन्ता करते थे कि कहीं ऐसा न हो कि ईश्वर की मूर्ति भूखी रह जाय। इस प्रकार ईश्वर को मध्यस्थ बनाकर महन्तजी के जीवन-निर्वाह का उत्तम प्रबन्ध किया गया था, "भोग लगाना" इस प्रक्रिया के अन्तर्गत संचालन की निर्वाह व्यवस्था छिपी हुई है।

उस समय आज की सी घड़ियाँ नहीं थीं। धूप घड़ी, जल घड़ी, बालू घड़ी आदि का प्रबन्ध मन्दिरों में रहता था। आज-कल बड़े नगरों में सरकारी घंटाघर बने हुए हैं, जहाँ जनता की जानकारी के लिए घंटा बजाया जाता है। प्राचीन समय में प्रातःकाल उठ बैठने, दोपहर को भोजन करने, रात को काम बन्द करने तथा समय पर

मन्दिरों में आरती आदि का घंटा बजता था। उसे सुनकर सब लोग सहज ही समय जान लेते थे। पत्थर की मूर्ति को जागने के लिए घंटा नहीं बजता था वरन् शंख, झालर, बजाने का उद्देश्य जनता को समय की जानकारी करा देना होता था। श्रद्धा-भावना जाग्रत रखने के लिए एवं रुचि बढ़ाने के लिए कभी मूर्तियों की कुछ पूजा अर्चा भी आवश्यक समझी जाती थी तो पुष्पांजलि दीपदान, श्रृंगार आदि की भी थोड़ी बहुत व्यवस्था हो जाती थी। इस तरह मन्दिरों में लोक-सेवा के साथ-साथ कुछ स्थायी आकर्षण सजाव श्रृंगार भी होता रहता था।

भारतीय मनोवृत्ति सदा से अलंकारप्रिय रही है। छायावादी, रहस्यवादी, विचारधारा को पसन्द किया गया है। सत्य को रूखे और नंगे रूप में रखने की अपेक्षा उसे शिव और सुन्दर बनाने पर विशेष जोर दिया गया है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् यहाँ की प्रधान अभिरुचि रही है। शारीरिक और मानसिक उन्नति के सीधे-सीधे नियमों में भी रहस्यवाद को सम्मिलित करके उन्हें अधिक सुन्दर एवं आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया गया है। स्नान करने से शरीर का मैल छूट जाता है और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है यह सीधी सी बात है परन्तु उसे भारतीय धर्मवेत्ताओं ने इस रूप से रखा है कि स्नान से धर्म लाभ होता है। उपवास करना उदर शुद्धि के लिये उत्तम नियम है यह सर्वविदित बात है। इसी को आचार्यों ने इस तरह कहा है कि उपवास से स्वर्ग लाभ होता है। ईश्वर को प्रसन्न करने के नाम पर तीर्थ यात्रा, हवन, यज्ञ, दान, तप, आदि शुभ कर्मों का महात्म्य वर्णन किया गया है। तत्व ज्ञानी लोग यह मानते रह सकते हैं कि इन सब कर्मों का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो अपने लाभ की बातें हैं। परन्तु इससे तीर्थयात्रा आदि शुभ कर्मों के महात्म्य में कमी नहीं आती। आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि सौ योजन पैदल चलने से जंघाओं के स्नायु सुदृढ़ हो जाते हैं और प्रमेह रोग अच्छा हो जाता है। तीर्थयात्रा में जाने से स्नायुओं की दृढ़ता, रोग की निवृत्ति, स्वास्थ्यकर स्थानों में विश्राम, तीर्थवासी विद्वान् धर्म-प्रचारकों का सत्संग, यह सब क्या कम लाभ की बातें हैं। इतने लाभ को ईश्वर की प्रसन्नता का फल कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के नाम पर जो भी उत्तमोत्तम सिद्धान्त प्रचलित किये गये हैं वे सभी हमारे प्रत्यक्ष लाभ के लिए हैं। कथा पुराण कहने-सुनने से ईश्वर प्रसन्न होता है। सदुपदेशों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करना इतना महत्वपूर्ण है कि उससे जीवन में असाधारण परिवर्तन हो सकता है, क्या इतने बड़े लाभ को ईश्वर की प्रसन्नता नहीं कहा जा सकता ?

रहस्यवादी अलंकारिक ढंग से शरीर और मन की उन्नति करने वाले कार्यों को ईश्वर को प्रसन्न करने वाला बताया गया है। इसका तत्व अर्थ यह है कि इन कार्यों से मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रत्यक्ष लाभ होता है। ईश्वर निस्पृह है उसे निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवाह नहीं है। अग्नि तत्व न तो किसी पर प्रसन्न होता है न किसी से नाराज। जो व्यक्ति अग्नि सम्बन्धी नियमों को ठीक तरह जानते हैं और उनका ठीक उपयोग करते हैं वे अग्नि की सहायता से अनेक लाभ उठाते हैं। जो अग्नि के नियमों को भंग करते हैं वे जल जाते हैं या अन्य प्रकार से हानि उठाते हैं। जो अग्नि के नियमों से लाभ उठाता है वह दूसरे शब्दों में यों कह सकता है कि अग्नि की कृपा मुझ पर है, जो अग्नि के नियमों को तोड़कर जल मरता है वह समझता है कि अग्नि का मेरे ऊपर प्रकोप है। असल में अग्नि किसी पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं है, निन्दा-स्तुति से वह प्रभावित नहीं होती। ईश्वर भी ऐसा ही समदर्शी और निर्विकार है। उसकी विशेष प्रसन्नता या अप्रसन्नता किसी पर भी नहीं होती। ईश्वरीय नियमों का पालन करने और तोड़ने वाले अपने आप उस कृपा-अकृपा को अपने ऊपर खींच बुलाते हैं।

मन्दिरों, मठों, तीर्थों को ईश्वर का निवास-स्थान कहा जाता है क्योंकि इन स्थानों के द्वारा वह कार्य होते हैं जिनसे जन-सेवा हो, जन समाज के सुख सौभाग्य से अभिवृद्धि हो। सत्य की ओर चलना, सात्विकी उन्नति की तरह अग्रसर होना जीव का धर्म है। धर्म का पालन करने से ईश्वर प्रसन्न होता है। पूजा-उपासना का तात्पर्य यह है कि हम स्वयं अधिक तीव्र

गति से उन्नति पथ पर कदम बढ़ावें और दूसरों को उत्थान पथ पर अग्रसर करें। सारे धार्मिक कर्मकाण्ड एवं ईश्वर पूजा के उपकरण उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही बनाये हैं। निर्विकारी, समदर्शी, निर्लिप्त, निष्पक्ष ईश्वर के साथ पूजा प्रार्थना के सम्बन्ध जोड़कर भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं ने एक बड़ी ही मनोवैज्ञानिक चातुरी का परिचय दिया है। हम लोगों को इस अद्भुत समन्वय के लिए उन सूक्ष्मदर्शी आचार्यों की बुद्धि पर गर्व करना चाहिए।

पूजा का मर्म

ईश्वर है, उसे न मानने की अपेक्षा मानने में अधिक लाभ है। हमारी प्रत्यक्ष उन्नति में ईश्वर की मान्यता रखने से पर्याप्त सहायता मिलती है। मानसिक उन्नति की दृष्टि से ईश्वर को मानना उतना ही उपयोगी है जितनी शारीरिक उन्नति के लिए उत्तम आहार-विहार का सेवन करना। ईश्वर को मध्यस्थ बनाकर सामाजिक व्यवस्था को सुख-शान्तिमय, मानव जीवन को धर्मयुक्त एवं मानसिक विकास को अधिकाधिक उन्नतिशील बनाने का बहुत ही सुन्दर प्रयत्न किया गया है। यह सब बातें पिछले पृष्ठों पर पाठक पढ़ चुके हैं। अब हमें तात्विक दृष्टि से ईश्वर और आत्मा के सम्बन्धों पर विचार करना है और यह देखना है कि आत्मा की परमात्मा को समानता प्राप्त होने से क्या लाभ होता है ?

यह बताया जा चुका है कि आद्यबीज शक्ति ईश्वर की अनेक उप शक्तियाँ हैं। जड़ जगत की रचना के लिए ईश्वर की जो शक्ति काम करती है उसे प्रकृति कहते हैं और चैतन्य जगत की रचना करने वाली शक्ति को जीव कहते हैं। इस प्रकार आद्यशक्ति का कार्य प्रकृति और जीव इन दो उपशक्तियों द्वारा आरम्भ होता है। ईश्वर मानो एक शरीर है जीव और प्रकृति उनके दो हाथ हैं। इन हाथों से उंगलियाँ निकली हैं। प्रकृति शक्ति, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तत्वों में बँट जाती है फिर इनमें से एक-एक में से अनेक-अनेक उपशाखाएँ बँटी हैं और उनके सबके संयोग-वियोग से सांसारिक पदार्थों का जन्म-मरण होता रहता है। इसी प्रकार जीव, शक्ति-मन बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चार उपभेद में बँटती हैं और फिर एक-एक में से अनेक शाखा और प्रशाखाएँ उत्पन्न होती हैं। उन सब के कार्य-कलाप से चैतन्य जगत के दृश्य-अदृश्य, निर्बल-सबल प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। संक्षेप में यो कह सकते हैं कि सम्पूर्ण जड़-चेतन सृष्टि का कार्य-कलाप ईश्वरीय शक्ति की शाखा-उपशाखाएँ उनका संयोग-वियोग मात्र है। दोनों हाथ, एक ही शरीर के दो भाग हैं। उसी प्रकार जीव और प्रकृति दोनों ही ईश्वर तत्व के दो अंश हैं। संभव है कि ऐसे अंश तत्व और भी हों, पर इस समय तक मानव बुद्धि इन दो ही प्रधान तत्वों का पता चला सकी है।

इन पंक्तियों में हमें प्रकृति शक्ति के सम्बन्ध में विवेचन नहीं करना है उसके लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ चाहिए, यहाँ तो हमें जीवन और ईश्वर के सम्बन्धों पर ही कुछ विचार करना है। पाठकों को जानना चाहिए कि सूर्य और उसकी किरणों में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध ईश्वर और जीव में है। किरणों की शक्ति सूर्य से ही है। गर्मी के दिनों में सूर्य पृथ्वी के निकट होता है इसलिए उसकी किरणें प्रचण्ड हो जाती हैं। आध्यात्म तत्व के जिज्ञासु जिस ईश्वर की उपासना करते हैं असल में वह उपासनीय ईश्वर अखिल आद्यशक्ति का सतोगुणी अंश है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से सत, रज, तम तीनों गुणों वाला भी कहा जायेगा। तम की उपासना करने वाले वैसा ही फल भी पाते हैं। रावण ने ईश्वर के तमोगुण की तपस्या करके वैसी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। एक चोर या डाकू मनोयोग के साथ डकैती की साधना करे तो वह उसमें भी प्रवीण हो सकता है परन्तु वह साधना तमोगुणी होने के कारण मनुष्य जीवन की आवश्यकता से विपरीत है। अतएव अन्त में हानिकारक सिद्ध होती है। इसलिए ईश्वर के सत् तत्व की उपासना का शास्त्रकारों ने आदेश किया है।

जीव अपने अन्दर प्रचंड आकर्षण शक्ति धारण किये हुए है। प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और अभ्यास द्वारा अदृश्य लोक में से चाहे जिस प्रकार की शक्तियों को खींचकर अपने में प्रचुर मात्रा में भर सकता है। इसी प्रयत्न को

उपासना कहा जाता है। अदृश्य अग्नि तत्व को प्रकट करने के लिए दियासलाई, ईंधन, हवा की जरूरत होती है। ईंधन जितना अधिक होग अग्नि उतनी ही प्रचण्ड होती जावेगी। ईश्वर क सत्व गुण अदृश्य रूप से हमारे निकट ही वर्तमान है। उसे अधिक मात्रा में खींचकर अपने अंदर भर लेने के लिए प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और अभ्यास की जरूरत होती है इन्हीं चारों के समन्वय को 'उपासना' कहा जाता है। उपासना जितनी ही प्रबल होगी आकर्षण भी वैसा ही सशक्त होगा और उसके अनुसार उपास्थ देव तत्व की प्राप्ति होगी। प्रेम, दया, करुणा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, समता, न्याय आदि सद्गुणों का निष्ठापूर्वक जितना अधिक चिन्तन किया जाता है, उतनी ही अधिक उनकी प्राप्ति होती है। उन्नति का क्रम तम से सत की ओर चलता है। जिसने जितना ही सद्गुण अपने में धारण कर लिया आध्यात्मिक़ दृष्टि से वह उतना ही उन्नतिशील कहा जायगा।

ईश्वर को दयालु, करुणानिधान, दाता, समदर्शी, न्यायकारी, पतित-पावन, उद्धारक, सहायक, सत्यनारायण, क्षमासिंधु प्रेमधन आदि नामों से सम्बोधन किया जाता है। यद्यपि हत्या, व्यभिचार, प्रभृति तामसी कृत्यों के मूल में भी ईश्वर की शक्तियाँ ही हैं परन्तु उसे हत्यारा, व्यभिचारी, इन शब्दों से कोई नहीं पुकारता। कारण स्पष्ट है। मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए सत्व गुणों की आवश्यकता है। तम की मंजिल तो वह पार कर चुका उसे तो वह छोड़ रहा है। जिस अन्न जल का अमाशय ने रस निकाल लिया वह तो मल-मूत्र के रूप में त्याग दिया जायेगा। शरीर पोषण के लिये तो नवीन अन्न की आवश्यकता होगी। तमोगुण तो मनुष्य जीवन में विष्टा है। नीची योनियों से जिस शिक्षा को ग्रहण किया था उसे अब मनुष्य जीवन में तामसी, समझकर विष्टा के रूप में अलग किया जा रहा है। मानवीय उन्नति तो तत्वगुणों से हो सकती है। इसलिए उन उच्च गुणों की एक मानसिक प्रतिमा बनाकर उपासना करने का विधान किया गया है। सिद्धान्त है कि "जहाँ चाह वहाँ राह" इच्छा से मार्ग मिलता है, "जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तिहि मिलत न कछु संदेहू।" सच्चा प्रेम इच्छित वस्तु की प्राप्ति करा ही देता है। यदि एक भक्त सत् तत्व की उपासना करता है तो कोई कारण नहीं कि उसे वह वस्तु प्राप्त न हो जाय। स्मरण रखिये ईश्वर की उपासना का तात्पर्य उसके 'दिव्य सत् तत्व' की आराधना है। श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, अभ्यास, जप, तप, धारणा, ध्यान आदि प्रकारों से जीव को ईश्वरीय सत् तत्व में सरोबार किया जाता है। उस सराबोर होने में जो आनन्दजन्य विह्लता आती है उसे समाधि अवस्था कहते हैं। नाना विधि विधानों से, अनेकानेक कर्मकाण्डों से संसार में ईश्वर की पूजा उपासना होती हुई दिखाई देती है उन सबका यही एक मर्म है कि जीव को ईश्वरीय सत् सत्व की अधिक से अधिक सामीप्य कराके अन्त में वैसा ही बना दिया जाय। जीव जब ईश्वरीय सत्ता की सर्वोच्च श्रेणी, तत्व-अवस्था में सराबोर हो जाता है तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती। अनन्त आनन्द में उसकी चेतना तल्लीन हो जाती है। सत्वगुण की इसी परिपूर्णता को ईश्वर की प्राप्ति कहते हैं।

'सोऽहं' साधना

ईश्वर की उपासना के लिए आचार्यों ने 'सोऽहं साधन'' को अत्युत्तम माना है। आप अपने लिए एक 'ध्येय प्रतिमा' निर्धारित कर लीजिए। पुरानी भाषा में इसे ये कह सकते हैं कि एक 'इष्टदेव' चुन लीजिए। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, आदि सुन्दर-सुन्दर तस्वीरें बाजार में बिकती हैं। इनमें से अपनी रुचि के अनुसार कोई सर्वोत्तम चित्र छाँट लीजिए। यही आपका इष्टदेव है। इस चित्र को ऐसे स्थान पर रखिये जहाँ बार-बार आपकी दृष्टि पड़ती हो। साधना के समय प्रातः-सायं इस चित्र को सामने रखकर बड़े ध्यान-पूर्वक उसके एक-एक अंग को बहुत देर तक देखते रहा करिए। बीच-बीच में नेत्र बन्द करके उस चित्र को आँखों से देखना फिर आँख बन्द करके उसका ध्यान। इस क्रम को एक घंटा तक नित्य जारी रखिए। कुछ दिन में ऐसा अभ्यास हो जायेगा कि नेत्र बन्द करते ही वह चित्र मानस नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष खड़ा हो जायेगा अर्थात् ध्यान में वह तस्वीर ऐसी साफ दिखाई देने लगेगी कि मानो खुली हुई आँखों के

सामने रखे हुए चित्र को ही देख रहे हैं। आरम्भ काल में ध्यान प्रतिमा धुँधली होती है पर प्रयत्न करने से वह धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट होती जाती है।

इस चित्र में ईश्वरीय प्राण प्रतिष्ठा कीजिए अर्थात् ऐसी भावना कीजिए कि वह जड़ तस्वीर नहीं वरन् सजीव देवता है। उसके अन्दर शरीर और मन सम्बन्धी सभी योग्यताएँ एक जीवित मनुष्य की भाँति मौजूद हैं। वह प्रतिमा सब कुछ सुनती है, जानती है और अनुभव करती है। उस मानस चित्र को जीवित देवता मान लेने के उपरान्त अब उसमें गुणों, योग्यताओं और शक्तियों की स्थापना कीजिए। मनुष्य चाहता है कि मेरा शरीर सुदृढ़, गठीला, रक्त-माँस से भरा हुआ, गौर वर्ण हो। बड़े नेत्र, लम्बी नाक, भरा हुआ गुलाबी चेहरा, पतले होठ, सुन्दर दाँत इस प्रकार जितनी ऊँची सौन्दर्य की कल्पना आप करते सकते हैं और स्वस्थ सुगठित शरीर की उत्तम भावना जितनी आप स्थिर कर सकें उतनी उस चित्र में सम्मिलित कर दें। शारीरिक दृष्टि से वे सब ऊँची कल्पनाएँ अपने इष्टदेव के साथ जोड दीजिए, जिन्हें प्राप्त करने की आप इच्छा करते हैं। और भी खुलासा इस बात को यों समझिए कि कोई देवता प्रसन्न होकर आपको यह वरदान माँगने के लिए कहे कि तुम जैसा अच्छा शरीर अपने लिये चाहे माँगलो। निस्संदेह उस समय तुम अपनी कल्पना को जितनी ऊँची दौड़ाकर स्वस्थ सुन्दर शरीर का होना सोच सकते हो, वैसा शरीर चाहो। अपने इष्टदेव का ठीक ऐसा ही शरीर ध्यान करने का प्रयत्न करो। उसके एक अंश में मनमोहक सौन्दर्य की भावना करो।

अब उस प्रतिमा में मानसिक गुणों की प्राण प्रतिष्ठा करनी है। तामसी और राजसी गुणों को आप छोड़ दीजिए। क्योंकि उस मंजिल को तो आप पार कर चुके या बहुत जल्द करने वाले हैं। सत्वगुण अभी प्राप्त करना शेष है। इसलिए इष्टदेव में केवल सत्तत्वों की ही स्थापना कीजिए। प्रेम, दया, श्रम, सहायता, सेवा, उदारता, त्याग, करुणा, प्रसन्नता, परमार्थ आदि सात्विक गुणों का समन्वय इष्टदेव में होना चाहिए। देवताओं में मनुष्य की अपेक्षा बहुत ऊँचे सात्विक गुण होते हैं वे अत्यन्त परमार्थी होते हैं, सेवा और सहायता उनके प्रधान कर्म होते हैं। इष्टदेव में इन सभी सद्वृत्तियों की प्रचुरता आपको माननी चाहिए ? स्मरण रखिए एक भी तामसी गुण की मान्यता इष्टदेव में न हो जाय वरना वे दुर्गुण भी आपको मिलेंगे। जो लोग अपने इष्टदेवों में चोरी, व्यभिचार, छल, मद्यपान, निर्दयता आदि दुष्टताओं का होना भी जोड़ लेते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं। लालटेन में रंगीन काँच लगा होने पर जैसे रोशनी भी लाल ही होती है वैसे ही देवता में तामसी गुण जोड़ देने पर उसकी भक्ति से भी वही गुण प्रसाद रूप में मिलते हैं। इसलिए यदि आप इष्टदेव की राम, कृष्ण की आदि महापुरुषों के रूप में मान रहे हैं तो उनके चरित्र में जो दोष थे उन्हें अपनी इष्ट प्रतिमा में भूलकर भी न आने दीजिए। अन्यथा बड़ी भयंकर हानि होगी। कहते हैं कि उलटा मन्त्र जपने से जप करने वाले को हानि होती है। इष्टदेव में तामसी गुण आरोपित कर देने पर अत्यन्त ही घातक परिणाम उपस्थित होता है। कल्पित प्रतिमा भी कल्पना की हुई इष्टदेव की प्रतिमा निरर्थक नहीं है वरन् भक्ति उपासना द्वारा उससे मनोवांछित लाभ उठाया जा सकता है।

'सोऽहं' साधना

साधना के लिए प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व प्रातःकाल अथवा दिन छिपे बाद संध्या का समय बहुत उत्तम है। फिर भी यह कोई प्रतिबन्ध नहीं है, यदि किसी अन्य समय में. शान्तिदायक एकान्त समय मिलता हो तो वह भी ठीक है। किसी एकान्त और निर्विघ्न स्थान में आसन जमाइए। नेत्रों को बन्द करिए और दोनों हाथों को गोदी में रख लीजिए। शरीर को इस तरह बिल्कुल ढीला कर दीजिए कि किसी अंग पर अनावश्यक दबाव न रहे। सीधी-साधी स्थिति में शान्त चित्त से बैठकर इष्टदेव को अपने मस्तिष्क प्रदेश में, ब्रह्माण्ड में ध्यान कीजिए। जब ध्यान प्रतिमा मानस नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष हो जावे तब साँस की चाल पर मानसिक नियन्त्रण आरम्भ कीजिए। साँस लेने और छोड़ने का ध्यान नासिका रखे। आध्यात्मवेत्ता जानते हैं कि नासिका, द्वारा वायु जब भीतर जाती है तो

'सो' शब्द सीटी के समान बजता है और जब वायु बाहर निकलती है तो 'हं' ध्वनि होती है। हर साँस के साथ 'सोऽहं' जप होता रहता है। कानों को नियुक्त करना चाहिए कि वे शब्दों को सुनें। जिव्हा श्वाँस-प्रश्वाँस के साथ-साथ 'सोऽहं' शब्दों का उच्चारण करती रहे। इष्टदेव का नेत्रों का देखना और 'सोऽहं' ध्वनि का नाक का अनुभव करना, कान का सुनना, जिव्हा का उच्चारण करना, यह सब मन ही मन होना चाहिए। बाह्य इन्द्रियाँ तो अपना कार्य बन्द किये रहें पर सूक्ष्म इन्द्रियाँ उपरोक्त साधना में लगी रहें।

अब स्पर्शेन्द्रिय का काम शेष है 'सो' ध्वनि के साथ इष्टदेव की प्रतिमा को ईश्वर मानना चाहिए और 'हं' ध्वनि के साथ अपने जीव को उस प्रतिमा में अपने को प्रवेश कर देना चाहिए। जब तक 'सो' ध्वनि के साथ वायु नासिका द्वारा भीतर प्रवेश करे तब तक तो इष्टदेव में ईश्वर की मान्यता करनी चाहिए। किन्तु साँस छोड़ते समय 'ह' ध्वनि के साथ ऐसी भावना करनी चाहिए कि वर्तमान शरीर को छोड़कर जीव ध्येय प्रतिमा के शरीर में 'हं' व्याप्त हो गया, नये जन्म का वही शरीर जीव को प्राप्त होता है।

उपरोक्त साधना से सूक्ष्म शरीर की पाँचों इन्द्रियाँ एवं मन काम में लग जाता है इसलिए वह एक ही स्थान पर आसानी से बना रहता है। अन्य साधनों में सूक्ष्म शरीर की इन्द्रियाँ छुट्टल रहने के कारण मन को बार-बार उचटा कर ध्यान भंग कर देती हैं पर इस अभ्यास में उन सबके लिए कार्य नियुक्त हैं। इसलिए मन का उचटने का अवसर बहुत कम आता है। मन को वश में करने का, एकाग्रता संपादन करने का यह बहुत ही उत्तम साधन है। विघ्नों को रोकने की प्रत्याहार क्रिया इसके साथ अपने आप ही जुड़ गई है।

धारणा और ध्यान की विधियाँ ऊपर बता दी गईं। ईष्टदेव की स्थापना, उनमें सत् तत्वों की प्राण प्रतिष्ठा करना यह धारणा हुई। सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा 'सोऽहं' जप के साथ इष्टदेव का स्मरण करना और उनके साथ अपने को सम्बन्धित करने का प्रयत्न ध्यान कहाँ जायेगा। एक ही मूर्ति को कुछ समय ईश्वर, कुछ समय अपना आत्मभाव, अनुभव करने से तदावारता, तल्लीनता एवं समीपता बढ़ती है। मानसलोक में उस उन्नत अवस्था को प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह साधना आश्चर्यजनक लाभप्रद होती है।

इस साधना से आत्मा स्वर्गीय आनन्द से निमग्न हो उठती है और अनिर्वचनीय आनन्द प्रवाह में कुछ समय के लिए चेतना बह सी जाती है। इस प्रवाह-बेहोशी आत्म विस्मरण, तल्लीनता को ही समाधि सुख कहते हैं। साधकों को अपने अभ्यास के अनुसार 'सोऽहं' साधना द्वारा यह समाधि सुख प्राप्त होता रहता है।

❑ ❑
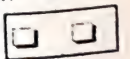
विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वर का अस्तित्व एक ऐसा विवादास्पद प्रश्न है जिसके पक्ष और विपक्ष में एक से एक जोरदार तर्क-वितर्क दिये जा सकते हैं। तर्क से सिद्ध हो जाने पर न किसी का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है और 'सिद्ध' न होने पर भी न कोई अस्तित्व अप्रमाणित बन जाता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास, उसकी नियम व्यवस्था के प्रति निष्ठा और आदर्शों के प्रति आस्था में फलित होता है उसी का नाम आस्तिकता है। यों कई लोग स्वयं को ईश्वर विश्वासी मानते बताते हैं, फिर भी उनमें आदर्शों व नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव होता है। ऐसी छद्म आस्तिकता के कारण ही ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लगता है। नास्तिकतावादी दर्शन द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिये जो तर्क दिये व सिद्धान्त प्रतिपादित किये जाते हैं वे इसी छद्म नास्तिकता पर आधारित हैं।

आस्तिकवाद मात्र पूजा-उपासना की क्रिया-प्रक्रिया नहीं है, उसके पीछे एक प्रबल दर्शन भी जुड़ा हुआ है जो मनुष्य की आकांक्षा, चिन्तन प्रक्रिया और कर्म-पद्धति को प्रभावित करता है। समाज, संस्कृति, चरित्र, संयम, सेवा पुण्य, परमार्थ आदि सत्प्रवृत्तियों को अपनाने से व्यक्ति की भौतिक सुख-सुविधाओं में निश्चित रूप से कमी आती है, भले ही उस बचत का उपयोग लोक-कल्याण में कितनी ही अच्छाई के साथ क्यों न होता हो। आदर्शवादिता के मार्ग पर चलते हुये जो प्रत्यक्ष क्षति होती है उसकी पूर्ति ईश्वरवादी स्वर्ग, मुक्ति, ईश्वरीय प्रसन्नता आदि विश्वासों के आधार पर कर लेता है। इसी प्रकार अनैतिक कार्य करने के आकर्षण सामने आने पर वह ईश्वर के दण्ड से डरता है। नास्तिकतावादी के लिये न तो पाप के दण्ड से डरने की जरूरत रह जाती और न पुण्य-परमार्थ का कुछ आकर्षण रहता है। आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करने और शरीर की मृत्यु के साथ आत्यन्तिक मृत्यु हो जाने की मान्यता उसे यही प्रेरणा देती है कि जब तक जीना हो अधिकाधिक मौज-मजा उड़ाना चाहिये। यही जीवन का लाभ और लक्ष्य होना चाहिये।

उपासना से भक्त को अथवा भगवान को क्या लाभ होता है यह प्रश्न पीछे का है। प्रधान तथ्य यह है कि आत्मा और परमात्मा की मान्यता मनुष्य के चिन्तन और कर्तृत्व को एक नीति नियम के अन्तर्गत बहुत हद तक जकड़े रहने में सफल होती है। इन दार्शनिक बन्धनों को उठा लिया जाय तो मनुष्य की पशुता कितनी उद्धत हो सकती है और उसका दुष्परिणाम किस प्रकार समस्त संसार को भुगतना पड़ सकता है, इसकी कल्पना भी कँपा देने वाली है।

निस्सन्देह इस युग के महान् दार्शनिकों में से रूसो और मार्क्स की भाँति ही फ्रैडरिक नीत्से की भी गणना की जाय। इन तीनों ने ही समय की विकृतियों को और उनके उत्पन्न होने वाली व्यथा-वेदनाओं को सहानुभूति के साथ समझने का प्रयत्न किया है। अपनी मनःस्थिति के अनुरूप उपाय भी सुझाये हैं। अपूर्ण मानव के सुझाव भी अपूर्ण ही हो सकते हैं। कल्पना और व्यवहार में जो अन्तर रहता है उसे अनुभव के आधार पर क्रमशः सुधारा जाता है। यही उपरोक्त प्रतिपादनों के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होना चाहिये, हो भी रहा है।

शासनतन्त्र पिछले दिनों निरंकुश राजाओं और सामन्तों के हाथ चल रहा था। उनके स्वेच्छाचार का दुष्परिणाम निरीह प्रजा को भुगतना पड़ता था, प्रजातन्त्र का, तदुपरान्त साम्य तन्त्र का विकल्प सामने आया। बौद्धिक जगत में ईश्वर की मान्यता सबसे पुरानी और सबसे सबल और लोक-समर्थित होने के कारण बहुत प्रभावशाली रही थी। वह मानव तन्त्र को दिशा देने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करती है किन्तु दुर्भाग्य यह है कि ईश्वरवाद के नाम

७.२ ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

पर भ्रान्तियों का इतना बड़ा जाल-जंजाल खड़ा कर दिया गया है जिससे आस्तिकतावादी दर्शन का मूल प्रयोजन ही नष्ट हो गया। निहित स्वार्थों ने भावुक जनता का शोषण करने में कोई कसर न रखी। इतना ही नहीं अनैतिक और अवांछनीय कार्यों को भी ईश्वर की प्रसन्नता के लिये करने के विधान बन गये। राजतन्त्र की दुर्गति ने जिस प्रकार रूसो और मार्क्स को उत्तेजित किया ठीक वैसी ही चोट ईश्वरवाद के नाम पर चल रही विकृतियों ने नीत्से को पहुँचाई।

उसने अनीश्वरवाद का नारा बुलन्द किया और जनमानस पर से ईश्वरवाद की छाया उतार फेंकने के लिये तर्कशास्त्र और भावुकता का खुलकर प्रयोग किया। उसने जन-चेतना को उद्‌बोधन करते हुये कहा—'ईश्वर की सत्ता मर गई, उसे दिमाग से निकाल फेंको, नहीं तो शरीर पूरी तरह गल जायेगा। स्वयं को ईश्वर के अभाव में जीवित रखने का अभ्यास डालो। अपने पैरों पर खड़े होओ। अपनी उन्नति आप करो और अपनी समस्याओं का समाधान आप ढूँढो। अपने 'सत्' को अपनी इच्छाशक्ति से स्वयं जमाओ और उसे ईश्वर की सत्ता के समकक्ष प्रतिद्वन्दी के रूप में प्रस्तुत करो। अति मानव बनने की दिशा में बढ़ो पर जमीन से पाँव उखाड़कर आसमान में मत उड़ो। वस्तु स्थिति की अपेक्षा कर कल्पना के आकाश में उड़ोगे तो तुम्हारा भी वही हस्न होगा जो ईश्वर का हुआ है।'

जहाँ तक घोषणा की बात थी, वह मनुष्य की विपर्ययवादी मनोवृत्ति को बहुत भाई और उनके प्रतिपादन खूब पढ़े गये। उन पर घर-घर में, चौराहे-चौराहे पर चर्चा हुई। किसी ने भला कहा, किसी ने बुरा माना। जो हो, इस प्रतिपादन ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी। सर्वत्र उसमें पूछा जाने लगा—"यदि ईश्वर नहीं रहा तो उसका स्थानापन्न कौन बनेगा ? जीवन का लक्ष्य क्या रहेगा ? संस्कृति किस आधार पर टिकेगी ? मर्यादाओं की रक्षा कैसे होगी ? समाज का बिखराव कैसे रुकेगा ? धर्म और नीति को किसका आश्रय मिलेगा ? प्रेम परमार्थ में किसे क्यों रुचि रहेगी ?" यही प्रश्न भीतर से भी उभरे। कुछ दिन तो हेकड़ी से वह यही कहता रहा—"जो सत्य है वह असत्य नहीं हो सकता। समस्याओं की आशंका से यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता। ईश्वर तो मर ही गया है अब अपनी समस्यायें स्वयं सुलझाओ।"

नीत्से की विचारकता क्रमशः अधिकाधिक गम्भीरतापूर्वक यह स्वीकार करती ही चली गई कि ईश्वर भले ही मर गया हो, पर स्थान रिक्त होने से जो शून्यता उत्पन्न होगी उसे सहज ही न भरा जा सकेगा। उद्देश्य, आदर्श और नियन्त्रण हट जाने से मनुष्य जो कर गुजरेगा वह ईश्वरवादी भ्रान्तियों की अपेक्षा अधिक दुखदायी ही सिद्ध होगा।

नीत्से ने उसका समाधान कारक उत्तर 'अतिमानव' का लक्ष्य सामने प्रस्तुत करके दिया है। मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति इतनी प्रखर बनानी चाहिये जो उसके व्यक्तित्व को अति मानव स्तर का बना सके। यह निखरा हुआ व्यक्ति इतना प्रचण्ड होना चाहिये कि जन-प्रवाह के साथ बहती हुई विकृतियों पर नियन्त्रण स्थापित करने के साधन जुटा सके। मनुष्य जीवन का लक्ष्य 'अतिमानव' के रूप में विकसित होना चाहिये। व्यक्तिगत जीवन में उसे इतनी इच्छाशक्ति उत्पन्न करनी चाहिये जो संकल्पों के मार्ग में आने वाले हर प्रतिरोध का निराकरण कर सके। सामाजिक जीवन में उसे इतना प्रतिभाशाली और साधन-सम्पन्न होना चाहिये कि प्रचलित अवांछनीयताओं पर नियन्त्रण कर सकने की क्षमता का अभाव अखरे नहीं।

अनीश्वरवाद का पूरक अति मानववाद दशाब्दियों तक बहुचर्चित रहा। इस उभय-पक्षी प्रतिपादन ने एक रिक्तता पूरी कर दी और नीत्से का अनीश्वरवादी दर्शन विधि-निषेध की उभय-पक्षी आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाला समझा गया। उसे विचारकों ने समग्र की उपमा दी

अनीश्वरवाद का पृष्ठ पोषण भौतिक विज्ञान ने यह कहकर किया कि ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व का ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जो प्रकृति के प्रचलित नियमों से आगे तक जाता हो। इस उभय-पक्षी पुष्टि ने मनुष्य की उच्छृंखल अनैतिकता पर और भी अधिक गहरा रंग चढ़ा

दिया तद्नुसार वह मान्यता एक बार तो ऐसी लगने लगी कि "आस्थाओं का अन्त' वाला समय अब निकट ही आ पहुँचा। 'अति मानववाद' के अर्थ का भी अनर्थ हुआ और योरोप में हिटलर, मुसोलिनी जैसे लोगों के नेतृत्व में नृशंस 'अति मानवों' की एक ऐसी सेना खड़ी हो गई जिसने समस्त संसार को अपने पैरों तले दबोच लेने की हुंकारें भरना आरम्भ कर दिया।

खोट, प्रजातन्त्र और साम्यतन्त्र की तरह अनीश्वरवाद में भी है। इसका उचित समाधान बहुत दिन पहले वेदान्त के रूप में ढूँढ़ लिया गया है। तत्वमसि, सोहंऽस्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानब्रह्म—सूत्रों के अन्तर्गत आत्मा की परिष्कृत स्थिति को ही परमात्मा माना गया है। इतना ही नहीं इच्छा शक्ति को—मनोबल और आत्मबल को—प्रचण्ड करने के लिये तप साधना का उपाय भी प्रस्तुत किया गया है। वेदान्त अति मानव के सृजन पर पूरा जोर देता है। मनोबल प्रखर करने की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। ईश्वरवाद का खण्डन किसी विज्ञ जीव को ईश्वर स्तर तक पहुँचा देने की वेदान्त मान्यता बिना रिक्तता उत्पन्न किये—बिना अनावश्यक उथल-पुथल किये वह प्रयोजन पूरा कर देती है, जिसमें ईश्वरवाद के नाम पर प्रचलित विडम्बनाओं का निराकरण हुये अध्यात्म मूल्यों की रक्षा की जा सके।

बुद्धिवाद अगले दिनों वेदान्त दर्शन की परिष्कृत अध्यात्म के रूप में प्रस्तुत करेगा। तब 'अतिमानव' की कथित दार्शनिक मान्यतायें अपूर्ण लगेंगी और प्रतीत होगा कि इस स्तर का प्रौढ़ और परिपूर्ण चिन्तन बहुत पहले ही पूर्णता के स्तर तक पहुँच चुका है।

विराट का प्रतिनिधि जीव

जिस चेतना को विराट् विश्व-ब्रह्माण्ड व्यापी माना जाता है जीव उसी का एक अंश एक घटक है। जीवात्मा का, परमात्मा का स्वरूप क्या है, आत्मा परमात्मा का प्रतीक अंश किस प्रकार है, इन प्रश्नों का समाधान करते हुये केनोपनिषद् में ऋषि ने एक मार्मिक बात कही है। जिज्ञासु पूछता है—

केनेषितं पतितं प्रेषितं मनः।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?

चक्षु श्रोत्रं क उ देवोयुनक्ति।

अर्थात्—मन किसकी प्रेरणा से दौड़ाया हुआ दौड़ता है ? किसके द्वारा प्रथम प्राण संचार सम्भव हुआ ? किसकी चाही हुई वाणी मुख बोलता है ? कौन देवता देखने और सुनने की व्यवस्था बनाता है ?

मन अपने आप कहाँ दौड़ता है। आन्तरिक आकांक्षायें ही उसे जो दिशा देती हैं, उधर ही वह चलता है, दौड़ता है और वापिस लौट आता है। यदि मन स्वतन्त्र चिन्तन में समर्थ होता तो उसकी दिशा एक ही रहती। सबका सोचना एक ही तरह होता, सदा सर्वदा एक ही तरह का चिन्तन बन पड़ता, पर लगता है पतंग की तरह मन का उड़ाने वाला भी कोई और है, उसकी आकांक्षा बदलते ही मस्तिष्क की सारी चिन्तन प्रक्रिया उलट जाती है। मन एक पराधीन उपकरण है—वह किसी दिशा में स्वेच्छापूर्वक दौड़ नहीं सकता। उसके दौड़ाने वाली सत्ता जिस स्थिति में रह रही होगी, चिन्तन की धारा उसी दिशा में बहेगी। मन को दिशा देने वाली मूल सत्ता का नाम 'आत्मा' है।

दूसरे प्रश्न में जिज्ञासा है कि माता के गर्भ में पहुँचने पर प्रथम प्राण कौन स्थापित करता है ? उसमें जीवन संचार के रूप में हलचलें कैसे उत्पन्न होती हैं। रक्त-माँस तो जड़ है। जड़ में चेतना कैसे उत्पन्न हुई ? यहाँ भी उत्तर वही है—यह आत्मा का कर्तृत्व है भ्रूण जो अपने आप में कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं। माता-पिता की इच्छानुसार सन्तान कहाँ होती है ? पुत्र चाहने पर कन्या गर्भ में आ जाती है। जिस आकृति-प्रकृति की अपेक्षा की, उससे भिन्न प्रकार का सन्तान जन्म लेती है। इसमें माता-पिता का प्रयास भी कहाँ सफल हुआ। तब भ्रूण को चेतना प्रदान करने का कार्य कौन करता है ? उपनिषदकार इस प्रश्न के उत्तर में आत्मा के अस्तित्व को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता है।

मृत शरीर में प्राण संचार न रहने से उसके भीतर वायु भरी होने पर भी साँस को बाहर निकालने की सामर्थ्य नहीं होती। श्वाँस-

प्रश्वाँस प्रणाली यथावत् रहने पर भी प्राण स्पन्दन नहीं होता। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान प्राणों द्वारा शरीर और मन के विभिन्न क्रिया-कलाप संचालित होते हैं, पर महाप्राण के न रहने पर शरीर में उनका स्थान और कार्य सुनिश्चित होते हुये भी सब कुछ निश्चल हो जाता है। अंगों की स्थिति यथावत् रहते हुये भी जिस कारण मृत शरीर जड़वत्, निःचेष्ट हो जाता है वह महाप्राण का प्रेरणा-क्रम रुक जाना ही है। इस सूत्र संचालक महाप्राण को ही 'आत्मा' कहते हैं।

तीसरा प्रश्न उत्पन्न होता है किसकी चाही हुई वाणी मनुष्य बोलते हैं। निःसन्देह यह कार्य मुख का नहीं है। शरीर और इन्द्रियों का भी नहीं है। यदि ऐसा होता तो भूखा होने पर पात्र-कुपात्र के आगे समय-कुसमय का ध्यान रखे बिना भोजन याचना की जाती। कामुक आवश्यकता की पूर्ति के लिये किसी शील संकोच को आड़े न आने दिया गया होता। पर शरीर और मन की आवश्यकताओं को बहुधा रोककर रखा जाता है। अन्तःकरण क्षुब्ध होने पर मुख से कटु वचन निकलते हैं और उत्कृष्ट स्थिति में अमृतोपम वाणी निसृत होती है। यदि वाणी स्वतन्त्र होती तो वह तोता की तरह अभ्यस्त शब्दों का ही उच्चारण करती रहती। वाणी से विष और अमृत, ज्ञान और अज्ञान निसृत करने वाली अन्तःचेतना उससे पृथक और स्वतन्त्र है—उसी का नाम 'आत्मा' है।

आँखें किसकी प्रेरणा से देखती हैं, कान किसकी इच्छनुसार सुनते हैं ? यह प्रश्न उपस्थित करते हुये यह देखा जा सकता है कि क्या आँखों में देखने की या कानों में सुनने की स्वतन्त्र शक्ति है। निश्चित रूप से वह नहीं ही है। यदि होती तो मृतक या मूर्छित स्थिति में भी आँखें देखतीं और कान सुनते। ध्यानमग्न होने की स्थिति में आँखों के आगे से गुजरने वाले दृश्य भी परिलक्षित नहीं होते और कानों के समीप ही बात-चीत होते रहने पर भी कुछ सुना नहीं जाता। अनेक दृश्यों में से आँखें अपने प्रिय विषय पर ही टिकती हैं। कई तरह की आवाजें होते रहने पर भी कान उन्हीं पर केन्द्रित होते हैं जो अपने को प्रिय हैं। इन ज्ञान प्रधान कान और चक्षु इन्द्रियों में अपनी निज की क्रियाशीलता नहीं है, जिसकी प्रेरणा से वे सक्रिय रहते हैं वह सत्ता 'आत्मा' की ही है।

यथार्थ ज्ञान के शोधकर्त्ता इन्द्रिय ज्ञान से ऊपर उठकर आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं और फिर उससे ऊँची परमात्म सत्ता में अपने आपको विलीन करते हुये ऊपर उठते हैं और अमृत को प्राप्त करते हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुये उपनिषदकार कहता है—

'अतिमुच्य धीरा प्रैत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'

अर्थात्—आत्म-ज्ञानी, धीर पुरुष इन्द्रियों के प्रेरक जीवात्मा का अतिक्रमण करके इस लोक से अर्थात् जन-साधारण के द्वारा अपनाये गये निकृष्ट स्तर से ऊपर उठकर अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

यहाँ अमृतत्व का अर्थ है अनन्त जीवन की मान्यता और तदनुरूप दृष्टिकोण अपनाकर तदनुरूप चिन्तन एवं कर्तृत्व का निर्धारण। लोग अपने को मरण धर्मा मानते हैं, तात्कालिक लाभों को अवांछनीय होते हुये भी उन्हें ही सब कुछ समझकर टूट पड़ते हैं और भविष्य को भूलकर उसे अन्धकारमय बनाते हैं। खाओ, पियो, मौज उड़ाओ। कर्ज लेकर मद्यपान करते रहो, की नीति अपनाकर लोभ, मोह में ग्रसित वासना, तृष्णा के लिये आतुर मनुष्यों का दृष्टिकोण मरण-धर्मा है। उसे अपनाने वाले जीवित मृतक हैं। इसके विपरीत जो अनन्त जीवन का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिये आज कष्ट उठाने की तपश्चर्या का स्वागत करते हैं वे दूरदर्शी विवेकवान् अमर कहलाते हैं। अमृतत्व का प्राप्त होना इसी परिष्कृत दृष्टिकोण को अपनाने के साथ जुड़ा हुआ है।

हम हैं और इन्द्रियों को प्रेरणा देने वाले हैं—इन्द्रियों के कारण हम चेतन्य नहीं, वरन् हमारे कारण इन्द्रियों में चेतना है, यह जान लेने पर आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा पर मल आवरण विक्षेप के कषाय कल्मष चढ़ जाने से वह मलीन बनता है और दीन, दयनीय दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति में पड़ा-जकड़ा दुख भोगता है। मलीनता की इन आवरण परतों को उतार फेंकने पर उसका निर्मल स्वरूप प्रकट होने लगता है। दर्पण पर जमी हुई धूलि हटा देने

से उसमें अपना प्रतिविम्ब सहज ही देखा जा सकता है।

आत्म-साक्षात्कार इसी का नाम है—इसे ही परमात्मा का दर्शन एवं परब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं। आँखों से किसी देवावतार के स्वरूप को देखने की लालसा एक भ्रान्ति मात्र है—जिसका पूरा हो सकना सम्भव नहीं। ईश्वर को चर्म चक्षुओं से नहीं, ज्ञान चक्षुओं से ही देखा जा सकता है।

आत्मा का परिष्कृत रूप ही परमात्मा है। जीवात्मा, वह जो लोभ, मोह से—वासना, तृष्णा से प्रभावित होकर स्वार्थ-परता एवं संकीर्णता के बन्धनों में जकड़ा पड़ा है। अपना चिन्तन, कर्तृत्व शरीर और कुटुम्ब के भौतिक लाभों तक सीमित रखने वाला भव-बन्धनों में जकड़ा जीव है। मुक्त उसे कहा जायेगा जिसने अपनेपन की, आत्मभाव की परिधि को अधिकाधिक विस्तृत बना लिया है। जिसके लिये समस्त विश्व अपना परिवार है। समस्त प्राणी जिसके अपने कुटुम्बी हैं। औरों के दुख को अपना दुख मानकर जो उसके निराकरण का प्रयास करता है। औरों को सुख देकर सुख होता है। अपने और औरों के बीच की दीवार तोड़कर सर्वत्र एक ही आत्मा का विस्तार देखता है वह दिव्यदर्शी ही दूसरे शब्दों में परमात्मदर्शी कहा जाता है। परमात्म स्तर आत्मा का परिष्कृत एवं विकसित रूप ही परमात्मा है। प्राप्त करना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

आत्मा परमात्मा से कैसे मिले ?

मनुष्य की चेतन सत्ता में मूलतः वह क्षमता मौजूद है, जिसके सहारे वह अपने, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का समुचित उपयोग कर सके। यह क्षमता उसने खो दी है। वह प्रसुप्त, विस्मृत एवं उपेक्षित गर्त में पड़ी रहती है। किसी काम नहीं आती। इसके बिना प्रगति रथ किसी भी दिशा में महत्त्वपूर्ण यात्रा कर नहीं पाता। मात्र जीवन निर्वाह क्रम पूरा होते रहने भर का लाभ उस क्षमता से उठा सकना संभव होता है। यह उसे प्रचण्ड क्षमता का एक अत्यन्त स्वल्प अंश है। विपुल रत्न भण्डार के अधिपति को मात्र पेट भरने और तन ढकने जितने साधन उपलब्ध हो सकें तो यह उसके लिये दुर्भाग्य की ही बात है। इस स्थिति का अन्त करके स्वसम्पदा का ज्ञान और उपयोग कर सकना आत्म-विज्ञान की सहायता से सम्भव होता है। योगाभ्यास की टार्च और तपश्चर्या की कुदाली लेकर अपनी इसी पैतृक सम्पदा को उपलब्ध करने का प्रयास किया जाता है।

व्यामोह ही भव-बन्धन है। भव-बन्धनों में पड़ा हुआ प्राणी कराहता रहता है और हाथ-पैर बँधे होने के कारण प्रगति-पथ पर बढ़ सकने में असमर्थ रहता है। व्यामोह को माया कहते हैं। माया का अर्थ है नशे जैसी खुमारी जिसमें एक विशेष प्रकार की मस्ती होती है। साथ ही अपनी मूल स्थिति की विस्मृति भी जुड़ी रहती है। संक्षेप में विस्मृति और मस्ती के समन्वय को नशे की पीनक कहा जा सकता है, चेतना की इसी विचित्र स्थिति को माया, मूढ़ता, अविद्या, भव-बन्धन आदि नामों से पुकारा जाता है।

शरीर के साथ जीव का अत्यधिक तादात्म्य बन जाना ही आसक्ति एवं माया है। होना यह चाहिये कि आत्मा और शरीर के साथ स्वामी सेवक का—शिल्पी उपकरण का भाव बना रहे। जीव समझता रहे कि मेरी स्वतन्त्र सत्ता है। शरीर के वाहन, साधन, प्रगति यात्रा की सुविधा भर के लिये मिले हैं। साधन की सुरक्षा उचित है। किन्तु शिल्पी अपने को, अपने सृजन प्रयोजन को भूलकर—उपकरणों से खिलवाड़ करते रहने में सारी सुधि-बुधि खोकर तल्लीन बन जाये तो यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण ही होगी। तीनों शरीर तीन बन्धनों में बँधते हैं। स्थूल शरीर इन्द्रिय लिप्सा में, वासना में। सूक्ष्म शरीर (मस्तिष्क) सम्बन्धियों तथा सम्पदा के व्यामोह में। कारण शरीर अहंता के आतंक फैलाने वाले उद्धत प्रदर्शनों में। इस प्रकार तीनों शरीर-तीन बन्धनों में बँधते हैं और आत्मा उन्हीं में तन्मय रहने की स्थिति में स्वयं ही भवबन्धनों में बँध जाती है। यह लिप्सा लालसायें इतनी मादक होती हैं कि जीव उन्हें छोड़कर अपने स्वरूप एवं लक्ष्य को ही विस्मृति के गर्त में फेंक देता है। वेणुनाद पर मोहित होने वाले मृग वधिक के हाथों पड़ते हैं। पराग

लोलुप भ्रमर कमल में कैद होकर दम घुटने का कष्ट सहता है। दीपक की चमक से आकर्षित पतंगे की जो दुर्गति होती है वह सर्वविदित है। लगभग ऐसी ही स्थिति व्यामोह ग्रसित जीव की भी होती है। उसे इस बात की न तो इच्छा उठती है और न फुरसत होती है कि अपने स्वरूप लक्ष्य को पहचाने। उत्कर्ष के लिये आवश्यक संकल्प शक्ति जगाई जा सकती तो इन महान प्रयोजन के लिये मिली हुई विशिष्ट क्षमताओं को भी खोजा जागाया जा सकता था। किन्तु उसके लिये प्रयत्न कौन करे ? क्यों करे ? जब विषयानन्द की ललक ही मदिरा की तरह नस-नस पर छाई हुई है तो ब्रह्मानन्द की बात कौन सोचे ? क्यों सोचे ?

इस दुर्गति में पड़े रहने से आज का समय किसी प्रकार कट भी सकता है, पर भविष्य तो अन्धकार से ही भरा रहेगा। विवेक की एक किरण भी कभी चमक सके तो उसकी प्रक्रिया परिवर्तन के लिये तड़पन उठने के रूप में होगी। प्रस्तुत दुर्दशा की विडम्बना और उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना का तुलनात्मक विवेचन करने पर निश्चित रूप से यही उमंग उभरेगी कि परिवर्तन के लिये साहस जुटाया जाय। इसी उभार के द्वारा अध्यात्म जीवन में प्रवेश और साधना प्रयोजनों का अवलम्बन आरम्भ होता है।

परिवर्तन का प्रथम चरण है, बन्धनों का शिथिल करना। आकर्षणों के अवरोधों से विमुख होना। आसक्ति को वैराग्य की मनःस्थिति में बदला। इसके लिये कई तरह के समय परक उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। साधना रुचि परिवर्तन की प्रवृत्ति को उकसाने से आरम्भ होती है। इस सन्दर्भ में महर्षि पातञ्जलि का कथन है।

बन्धकारण शैथिल्यात्प्राचार सम्वेदनस्य।
चित्तस्य पर शारीरावेशः।। —योग दर्शन ३-३८

बन्धनों के कारण ढीले हो जाने पर चित्त की सीमा, परिधि और सम्वेदना व्यापक हो जाती है।

सब में सर्वत्र एक ही परमात्म सत्ता की झाँकी करने पर, सर्वत्र एक ही चेतना व्याप्त दिखाई देने पर स्वाभाविक ही व्यक्ति का हृदय विकसित होगा। वह सबको अपना और स्वयं को सबका मानेगा, समझेगा। ऐसी स्थिति में कई संकीर्ण स्वार्थों के लिये क्यों कर कोई अनुचित आचरण करेगा और क्यों संकीर्ण स्वार्थ की परिधियों में अपने को संकुचित-सीमित करने के लिये तैयार होगा ? आस्तिकवाद का ईश्वरवाद का यही वास्तविक और असली परिणाम तथा आवश्यकता है। इसके बिना शान्ति, सुव्यवस्था और सच्ची प्रगति सम्भव नहीं हो सकती।

ईश्वरीय सत्ता के प्रमाण व विधान

भगवान् मनु ने कहा है—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानसिसृक्षया।

—मनु. १।७४-७५

सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अपनी इच्छाशक्ति से मन (जीवों) को उत्पन्न किया।

सृष्टि की हलचल की ओर ध्यान जमाकर देखें तो यह सत्य ही प्रतीत होगा कि इच्छाओं के कारण ही लोग या जीव क्रियाशील हैं। यह इच्छायें अनेक भागों में बँटी हुई हैं—(१) दीर्घ-जीवन की इच्छा, (२) कामेच्छा, (३) धन की इच्छा, (४) मान की इच्छा (५) ज्ञान की इच्छा (६) न्याय की इच्छा और (७) अमरत्व या आनन्द प्राप्ति की चिर तृप्ति या मोक्ष। इन सात जीवन धाराओं में ही संसार का अविरल प्रवाह चलता चला आ रहा है। इन्हीं की खटपट, दौड़-धूप, ऊहापोह में दुनियाँ भर की हलचल मची हुई है, इच्छायें न हों तो संसार में कुछ भी न रहे।

इन इच्छाओं की शक्ति से ही सूर्य, अग्नि और आकाश की रचना हुई है। देखने और सुनने में यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जब हम शोक, क्रोध, काम या प्रेम आदि किसी भी स्थिति में होते हैं तो शारीरिक परमाणुओं में अपनी-अपनी विशेषता वाली गति उत्पन्न होती है। परमाणु जो एक ही पदार्थ या चेतना की अविभाज्य स्थिति में होते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पंदित होते रहते हैं, इससे स्पष्ट है कि शरीर की हलचल इच्छाओं पर आधारित है।

अभी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या मूल चेतना में अपने आप इच्छायें व्यक्त करने की शक्ति है। इस बात को वर्तमान वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। जिन्होंने विज्ञान का थोड़ा भी अध्ययन किया होगा, उन्हें ज्ञात होगा कि जड़ पदार्थ (मैटर) को शक्ति (एनर्जी) अथवा विद्युत (इलेक्ट्रिसिटी) में बदल दिया जाता है। हम जानते हैं कि पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। परमाणु भी अन्तिम स्थिति न होकर उनमें भी इलेक्ट्रान तथा 'प्रोटान' आवेश होते हैं। प्रोट्रोन परमाणु का केन्द्र है और इलेक्ट्रान उस केन्द्र के चारों ओर घूमते रहते हैं। यह दोनों अंश छोटे-छोटे टुकड़े नहीं हैं वरन् यह धन और ऋण आवेश (इलेक्ट्रिसिटी) है, दोनों की सम्मिलित प्रक्रिया का नाम ही परमाणु है। इस दृष्टि से देखें तो यह पता चलेगा कि संसार में जड़ कुछ है ही नहीं। जगत् का मूल तत्व विद्युत् है और उसी के प्रकम्पन (वाइब्रीशन्स) द्वारा स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव होता है। छोटे-छोटे पौधों, वृक्ष एवं वनस्पति से लेकर पहाड़, समुद्र, पशु-पक्षी रंग-रूप और अग्नि-वायु, शीत,ग्रीष्म आदि सब विद्युत् चेतना के ही कार्य हैं। एक ही शक्ति सब पदार्थों के मूल में है। सृष्टि से आविर्भाव से पूर्व एक ही तत्व था, यह बात इतने से ही साबित हो जाती है।

कृषि विज्ञान के बहुत से पण्डितों ने पदार्थों के अन्दर पाये जाने वाले गुणसूत्रों (क्रोमोसोम) में परिवर्तन करके उनकी नस्लों में भारी परिवर्तन करने में सफलता पाई है। दिल्ली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. जी. आर. राव ने मकोय के गुण सूत्रों पर 'कोल्चीसाइन' क्रिया के द्वारा प्रभाव डालकर उसे टमाटर की सी नस्ल में परिवर्तित कर दिया। शंकर से हीरा बनाया गया है पर वह वास्तविक हीरे से महँगा पड़ता है। इससे भी यही जान पड़ता है कि पदार्थ की मौलिक चेतना विघटित और संगठित होकर नये-नये पदार्थों का निर्माण कर लेती है। यहाँ वह लगेगा कि यह प्रयोग मानव कृत है, फिर मूल-तत्व की अपनी इच्छा का क्या महत्त्व रहा ?

वैज्ञानिक यह बताते हैं कि परमाणु में इलेक्ट्रान चक्कर लगाते-लगाते एकाएक अपना स्थान बदल देता है, जिसका कोई कारण नहीं होता उसका यह स्थान परित्याग कार्यकरण सिद्धान्त (ला आफ काजेशन) से परे होता है। अर्थात् विद्युत् जहाँ एक बद्ध-तत्व है, वहाँ उसकी अपनी इच्छा और चेतनता भी है, भले ही वह विद्युत तत्व से कोई सूक्ष्मतर स्थिति हो और अभी उसका अध्ययन एवं जानकारी वैज्ञानिकों को नहीं हो पाई हो। इस औलिक स्वाधीनता को 'ला आफ इनडिटरमिनेसी' के नाम से पुकारा जाता है और उसी के आधार पर अब वैज्ञानिक भी कहने लगे हैं कि विश्व की सभी वस्तुयें एक दूसरे से सम्बद्ध, परस्पर अवलम्बित और एक ही संगठन में पिरोई हुई हैं। प्रकृति में पूर्ण व्यवस्था और नियम-बद्धता है और वह सब किसी विश्वव्यापी, स्वेच्छाचारी शक्ति के ही अधीन है।

हम उसका स्वरूप भले ही समझ न पाते हों पर उस सत्ता के अस्तित्व को इनकार नहीं कर सकते। उसी ने अपनी इच्छा से धरती में पुरुष तत्व को पैदा किया। जब अनेक इच्छायें जीवधारियों के रूप में उत्पन्न हुईं तो उसमें शक्ति और इच्छा-बल के कारण परस्पर संघर्ष हुआ। एक जीव दूसरे को खाने और सताने लगा। उससे थोड़े ही दिन में सृष्टि का अन्त दिखलाई देने पर ईश्वरीय सत्ता को किसी सर्वशक्ति-सम्पन्न जीवधारी के उत्पन्न करने की कल्पना-सूझी होगी। मनुष्य का आविर्भाव उसी इच्छा का परिणाम लगता है। मनुष्य में ही वह क्षमता है जो उपरोक्त सातों इच्छाओं के क्रम और अनुशासन, न्याय एवं व्यवस्था बनाये रख सकता है, क्योंकि उसके लिये प्रत्येक उचित शक्ति भगवान् ने उसे दी है, जो और किसी भी प्राणी को नहीं दी। यदि मनुष्य इस बात को भावनाओं की गम्भीरता में उतरकर समझता नहीं और स्वयं भी पाशविक आचरण करता है, उसे उस योनि में जाने का दण्ड विधान अनुचित नहीं है। उत्तराधिकार में पाये हुये साम्राज्य और शक्तियों को मनुष्य जैसा विवेकशील प्राणी अपने स्वार्थ में लगाये और विश्व-व्यवस्था या ईश्वरीय आदेश का पालन न करे तो यह दण्ड मिलना उचित ही है।

विश्व व्यवस्था, प्रकृति मर्यादा को ही ईश्वरीय विधान कहा जाता है ? अब तो विज्ञान भी इस नियम-विधान की पुष्टि करने लगा है।

ईश्वर एक व्यवस्था नियम

विज्ञान क्षेत्र के 'युग ऋषि आइन्स्टीन ने ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुये एक भेंटकर्त्ता में कहा था—"मेरी दृष्टि में ईश्वर इस संसार में संव्याप्त एक महान नियम है। मेरी मान्यता के अनुसार ईश्वरीय सत्य-अन्तिम सत्य है। यों उसका स्पष्ट रूप निर्धारित कर सकना आज की स्थिति में अत्यन्त कठिन है। इसकी खोज जारी है। अन्तिम सत्य की खोज ही विज्ञान का परम लक्ष्य है। अपने मार्ग पर चलते हुये विज्ञान ने जो तथ्य ढूँढ़े और सत्य स्वीकार किये हैं उन्हें देखते हुये भविष्य में और भी बड़े सत्यों का रहस्योद्घाटन होता रहेगा। यह कार्य वैज्ञानिक शोध-पद्धति से ही सम्भव है।

'सिद्धान्तों, यन्त्रों और आविष्कारों में विज्ञान झाँकता भर दिखाई देता है। उन्हें उसकी उपलब्धियाँ भर कह सकते हैं। वस्तुतः विज्ञान एक जीवान्त प्रवृत्ति है जो सत्य की शोध को अपना लक्ष्य मानती है। भले ही इसके फलस्वरूप पूर्ण मान्यताओं पर आँच आती हो अथवा किसी वर्ग विशेष का हित-अनहित होता हो। सत्य को सत्य ही रहना चाहिये। विज्ञान की दृष्टि में ईश्वर 'सत्य' है। उसकी साधना को सत्य की खोज कह सकते हैं। इस प्रकार विज्ञान को अपने ढंग का 'आस्तिक' और उसकी शोध साधना को ईश्वर उपासना कहा जा सकता है।'

आइन्स्टाइन के मतानुसार पदार्थ एवं जीवन का स्वरूप समझना ही नहीं उनका दूरदर्शितापूर्ण सदुपोग करने का उपाय सोचना भी विज्ञान क्षेत्र में आता है। तत्व-दर्शन को विज्ञान की एक शाखा मानते हैं और जीवन-क्षेत्र में रुचि रखने वालों को परामर्श देते हैं— 'जिज्ञासा को जीवन्त रखो और सोचो कि तुम क्या कर रहे हो ? श्रेष्ठ व्यक्ति बनने का प्रयत्न करो। बिना दिये पाने का प्रयत्न मत करो। श्रेष्ठ व्यक्ति जीवन से अथवा व्यक्तियों से जितना लेता है उनसे अनेक गुणा उन्हें वापिस करने के प्रयत्न में लगा रहता है।"

केनोपनिषद् के ऋषि ने परब्रह्म की व्याख्या आइन्स्टाइन से मिलती-जुलती ही की है। उसका प्रतिपादन है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं सिद्धि तेदं यदिदमुपासते।।
यच्चक्षुषां न पश्यति येन चक्षुषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि तेदं यविदभुषासते।।
यच्छोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोतमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि तेदं यदिदभुषासते।।
यत्प्राणेन न प्राहिणति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्मत्वं सिद्धि तेदं यदिदमुपासते।।

अर्थात् परब्रह्म ऐसा कोई विचारणीय पदार्थ नहीं जिसे मन द्वारा ग्रहण किया जा सके। वह तो ऐसा तथ्य है जिसके आधार पर मन को मनन शक्ति प्राप्त होती है। उस परम तत्व की सामर्थ्य से ही मन को मनन कर सकने की क्षमता प्राप्त होती है। वह परब्रह्म ही नेत्रों को देखने की, कानों को सुनने की, प्राणों को जीने की शक्ति प्रदान करता है। परब्रह्म ऐसा नहीं है जिसे इन्द्रियों से देखना और मन से समझना सम्भव हो सके। वह सर्वान्तर्यामी और निरपेक्ष है। वह कोई देवता नहीं है और न वैसा है जिसकी परब्रह्म नाम से उपासना की जाती है।

मुण्डकोपनिषद् के ऋषि का अभिनव भी इसी से मिलता-जुलता है। उनका कथन है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा-
नान्यैदेवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु ते
पश्यते निष्फलं ध्यायमानः।।

अर्थात् आँखों से, जीभ से अथवा अन्य इन्द्रियों से उसे जाना नहीं जा सकता। मात्र तप और कर्मकाण्ड भी उसकी अनुभूति नहीं कराते। जिसका मन पवित्र और शान्त है वह निर्मल ज्ञान की सहायता से गम्भीर ध्यान का आश्रय लेकर उसकी प्रतीति कर सकता है।

ज्ञान और ज्ञानार्जन के अन्तर एवं कार्य क्षेत्र सम्बन्धी पूछे गये एक प्रश्न के उत्तर में आइन्स्टाइन ने कहा था—'ज्ञान आवश्यक है।

उसी के सहारे दैनिक क्रिया-कलापों का संचालन और निर्णयों का निर्धारण होता है। फिर भी अन्तर्ज्ञान का अपना क्षेत्र और अस्तित्व है।"

हमारा मस्तिष्क मात्र वहीं तक सहारा देता है जहाँ तक कि उसकी जानकारी है अथवा तर्क की उड़ान उड़ती है। लेकिन एक स्थिति ऐसी भी आती है जहाँ चेतना उछलकर किसी ऐसे स्थान पर जा पहुँचती है जहाँ मस्तिष्क के सहारे पहुँच सकना कठिन है। संसार के महान् आविष्कार इसी रहस्यमयी अन्तःप्रज्ञा के आधार पर सम्भव हुये हैं। वहाँ से उनको प्रकाश मिला है। प्रमाणित करने वाले अन्वेषण का कार्य तो यह प्रकाश मिलने के उपरान्त आरम्भ होता है।

ज्ञान उपलब्धि के तीन प्रसंग हैं—एक वह जो माता की गोदी से लेकर परिवार एवं सम्पर्क क्षेत्र की गतिविधियों के आधार पर संचित होता है और स्वभाव का अंग बनता है। दूसरा वह जो स्कूली तथा व्यवहार क्षेत्र में अनेकों अध्यापकों द्वारा प्रशिक्षण के रूप में प्राप्त होता रहता है। तीसरा अन्तिम चरण वह है जिसमें आत्मबोध होता है। जीवन का स्वरूप, उद्देश्य एवं उपयोग मस्तिष्क की जानकारी तक सीमित न रहकर जब आस्था बनकर परिपुष्ट होता है तब उसे आत्मबोध कहते हैं। यह वह उपलब्धि है जिसे पाकर एक सामान्य-सा राजकुमार बुद्ध के रूप में साक्षात् भगवान बन गया था। इस तत्व की छोटी मात्रा मनुष्य को अपने साथियों की तुलना में कहीं अधिक ऊँचा और कहीं अधिक सफल बनाती है। ज्ञान की भूमिका का यह तीसरा चरण आत्म-साक्षात्कार एवं इश्वर दर्श के रूप में माना गया है। आत्मा का एकाकी अस्तित्व आदर्शविहीन और नीरस ही रह जाता है, उसमें सरसता का संचार ईश्वर समन्वय से ही सम्भव होता है। आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान को एक ही तथ्य का उद्बोधक माना गया है। ईश्वर विश्वास के साथ जुड़ा हुआ आत्म-विश्वास जब विकसित होता है तो उस पर उच्चस्तरीय आदर्शवादिता छाई रहती है। यह आच्छादन सामान्य दृष्टि से भले ही नगण्य सा प्रतीत होता हो पर उसका प्रतिफल क्रमशः अधिकाधिक फलदायक सिद्धि होता चला जाता है।

जीवन की हर परिस्थिति में ईश्वर विश्वास सहायक होता है। वह असन्तुलन को सन्तुलन में बदलता है। निराशा के क्षणों में उसकी वह ज्योति चमकती है जिसे दीनबन्धु, भक्त-वत्सल, अशरण-शरण आदि नामों से पुकारते हैं। और मातृ तुल्य वात्सल्य प्रदान करने की, अंचल में आश्रय देने की कल्पना करते हैं। सफलताओं के साथ-साथ एक उन्मादी अहंकार आता है जिनमें स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति पनपती है और मर्यादाओं की, नीति-नियमों की चिन्ता न करते हुये स्वार्थ साधना एवं अहमन्यता की पूर्ति के लिये कुछ भी कर गुजरने की उच्छृंखलता अपनाता है तो उसे आस्तिकता की भावना ही डराती है। वह कहती है यहाँ स्वेच्छाचार की किसी को भी छूट नहीं है। सबके ऊपर एक नियामक शक्ति मौजूद है और कर्मफल की दण्ड व्यवस्था भी मौजूद है जो इतनी कठोर है कि मर्यादा तोड़ने वाले को भली प्रकार सबक सिखा सकती है। भगवान की भयानकता से डर कर उच्छृंखलता पर बहुत कुछ नियन्त्रण होता रहता है। आस्तिकता में ईश्वर के गुणानुवादों का कथन, श्रवण, मनन, चिन्तन जुड़ा हुआ है। ईश्वर सद्गुणों का पुंज है, पवित्रता, करुणा, ममता, उदारता जैसी सद्भावनायें ईश्वरीय अनुकम्पा के फलस्वरूप उपलब्ध होने वाली विभूतियाँ हैं। इस मान्यता से ईश्वर सान्निध्य के लिये—उपासना आदि प्रयास करते हुये मनुष्य अधिकाधिक चरित्र-निष्ठ और समाज-निष्ठ बनने का प्रयत्न करता है। समाज-निष्ठा को धार्मिकता और सभ्यता कहते हैं। चरित्र-निष्ठा का दर्शन अध्यात्म कहलाता है। उसी का दूसरा नाम संस्कृति भी है। इन्हीं के आधार पर मनुष्य प्रामाणिक और पराक्रमी बनता है। प्रगति के यही दो चरण हैं जिनके सहारे लोग भौतिक एवं आत्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं। ईश्वर की मान्यता का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में सदाशयता और शालीनता की अभिवृद्धि में ही दृष्टिगोचर होता है। यों बुराइयाँ तो आस्तिकों में भी पाई जाती हैं, पर नास्तिकता अपना लेने पर तो मनुष्य उन मर्यादा का उल्लंघन के सम्बन्ध में और भी अधिक निर्भय हो जाता है। सम्भावनाओं की दृष्टि से देखा जाय तो आस्तिक की तुलना में नास्तिक के अनाचार मार्ग पर चल पड़ने की सम्भावना

हैं। श्रेष्ठ मार्ग पर कदम बढ़ाने वाले के लिये ईश्वर विश्वास एक सुयोग्य एवं सुसम्पन्न साथी की तरह सहायक सिद्ध होता है, वह सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रोत्साहन ही नहीं, वरन् सहायता के आश्वासन भी देता है। इन दोनों आन्तरिक उपलब्धियों के सहारे चलने वाले का साहस प्रतिकूलताओं के बीच भी अविचल बना रहता है। नास्तिक ऐसी किसी सहायता की आशा नहीं करता, साथ ही अपनी दुर्बलताओं एवं कठिनाइयों को देखता रहता है। ऐसी दशा में उसे ऐसी अन्तःस्फुरणा का लाभ नहीं मिलता जो अग्रगमन के लिये अनुकूल साधनों से भी अधिक मूल्यवान होती है।

बुद्धि की एक सीमा है। प्रत्येक प्राणी को वह उसकी आवश्यकता के अनुरूप ही मिली है। उसके आधार पर चेतना के परतों को समझना तो दूर पदार्थ के प्रत्यक्ष दर्शन से आगे की—उसकी सूक्ष्म क्षमताओं तक की पूरी जानकारी नहीं हो सकी। प्रकृति के अनेक रहस्यों को जानने में मनुष्य ने आश्चर्यजनक सफलता पाई है पर अभी जो जाना गया उसकी तुलना में अविज्ञात का विस्तार अत्यधिक है। प्रकृति के नये-नये रहस्यों का उद्घाटन आये दिन होता रहता है। यह क्रम आगे भी चलता रहेगा किन्तु इस भौतिक जगत की सूक्ष्मतम परिस्थितियों को पूर्णतया जान सकना कभी भी सम्भव न हो सकेगा क्योंकि प्रकृति के विस्तार की तुलना में मानवी बुद्धि की एक सीमा और मर्यादा है। उससे आगे बढ़ सकना उसके लिये सम्भव नहीं है।

इस सन्दर्भ में दार्शनिक विज्ञानवेत्ता हिटक ने अपनी पुस्तक 'साइन्टिफिक रोमांसेज' में प्रणियों की बुद्धि सीमाबन्धन के कितने ही उदाहरण दिये हैं। वे आँख से न दीख सकने वाले एक जीव "माइक्रोव" का उल्लेख करते हुये बताते हैं कि उसे केवल लम्बाई-चौड़ाई की दो दिशाओं का ही ज्ञान है। ऊँचाई से वह परिचित नहीं है। उसे समतल फर्श पर रखा जाय तो वह चलता ही रहेगा किन्तु यदि आगे कोई तख्ती खड़ी कर दी जाय तो रुक भर जायेगा उसका कारण न समझ सकेगा और न उससे बच निकलने का कोई उपाय ही करेगा। यदि तख्ती हटा दी जाये तो फिर चलने लगेगा किन्तु उस अवरोध के खड़े होने या हटने से उसकी गति पर क्यों प्रभाव पड़ा इसका कुछ भी कारण न समझ सकेगा। तख्ती खड़ी होने या हटने के क्रिया-कलाप के सम्बन्ध में कोई कल्पना तक कर सकना उसके लिये सम्भव न होगा। इतने पर भी माइक्रोव के अतिरिक्त अन्य प्राणी यह तो स्वीकार नहीं ही करेंगे कि ऊँचाई का कोई आयाम नहीं होता। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई के तीन आयाम सर्वविदित हैं। चौथा आयाम बुद्धि का भी है। बुद्धि की भी एक सीमा मर्यादा है। वह न तो असीम है न ही सर्वज्ञ है। हर प्राणी की आवश्यकता को देखते हुये प्रकृति ने उसे कामचलाऊ मात्रा में उस उपहार से सुसज्जित किया है। उसमें घट-बढ़ एक सीमित मात्रा में ही हो सकती है। मानसिक अपंगों की बात दूसरी है।

कर्मफल न चाहते हुये भी मिलते हैं। कोई नहीं चाहता कि उसे अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दण्ड मिले। कोई नहीं चाहता कि पुरुषार्थ के अनुपात से ही सफलता मिले। हर कोई दुःख से बचना और सुख का अधिकाधिक लाभ पाना चाहता है। पर यह इच्छा कहाँ पूरी होती है ? नियामक शक्ति द्वारा पदार्थों की तरह ही प्राणियों पर भी अंकुश रखा जाता है और जहाँ भी वे आलस्य-प्रमाद बरतते हैं वहीं असफलताओं की पिछड़ेपन की हानि उठाते हैं। व्यवस्था तोड़ते ही ठोकर खाते और दण्ड पाते हैं। विष खाना और पानी में कूदना अपने हाथ की बात है, पर उसके दुष्परिणामों से बच सकना कभी-कभी संयोगवश ही होता है। अपनी ही चेतना की सूक्ष्म परतों में ऐसी व्यवस्था 'फिट' है कि वह कुविचारों, कुकर्मों का प्रतिफल स्वसंचालित पद्धति में अपने आप ही प्रस्तुत करती रहती हैं। इसे झुठलाना या इससे बच निकलना भी किसी के हाथ में नहीं। देर तो होती है पर अन्धेर की तनिक भी गुंजायश नहीं है। आज के कर्मों का फल कल मिले इसमें देरी तो हो सकती है किन्तु कुछ भी करते रहने और मन चाहे प्रतिफल पाने की छूट किसी को भी नहीं है। उत्पादन, अभिवर्धन और परिवर्तन की प्रक्रिया से सभी को असुविधा अनुभव होती हैं। सभी सुविधाजनक स्थिति में स्थिर रहना चाहते हैं, पर

सृष्टि क्रम के आगे किसी की मर्जी नहीं चलती। इस व्यवस्था प्रवाह को ईश्वर समझा जा सकता है।

अन्तःकरण में एक ऐसी शक्ति काम करती है जो सन्मार्ग पर चलने से प्रसन्न, सन्तुष्ट हुई दिखाई पड़ती है और कुपंथ अपनाने पर खिन्नता, उद्विग्नता का अनुभव करती है। अन्तरात्मा की इसी परत में ईश्वर झाँकता हुआ देखा जा सकता है।

मानव जीवन में समता, सहयोग, शिक्षा, चरित्र और सुरक्षा जैसे उच्चस्तरीय तत्वों के अभिवर्धन की आवश्यकता है। यह मनन स्थितियाँ भी हैं और परिस्थिति भी। इन्हें आस्थाओं की गहराई में प्रवेश करने के लिये जिस दर्शन की आवश्यकता है वह आस्तिकता का ही हो सकता है। निजी और तात्कालिक संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाकर ही सामाजिक और आदर्शवादी मूल्यों का परिपोषण हो सकता है। प्रत्यक्षवाद का दबाव यह रहता है कि अपना सामयिक स्वार्थ सिद्ध किया जाय भले ही उसके फलस्वरूप भविष्य में अपने को ही हानि उठानी पड़े अथवा सार्वजनिक अहित करना पड़े। इस पशु प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने से ही मानवी आदर्शों की नींव रखी जा सकती है। इस स्तर की आस्थायें उत्पन्न करने में आस्तिकतावादी दर्शन से बढ़कर और कोई मनोवैज्ञानिक स्थापना नहीं हो सकेगी। देश-भक्ति, समाजनिष्ठा अति मानव आदि के कितने ही विकल्प इसके लिये रखे गये और प्रयुक्त होते रहे हैं, पर उनमें बौद्धिकता अधिक और आध्यात्मिकता स्वल्प रहने से आस्था न बन सकी और नीति के रूप में जो जाना माना गया था वह संचित कुसंस्कारों की पशु प्रवृत्ति के सामने ठहर न सका। मानव जीवन की गरिमा और सामाजिक सुव्यवस्था के लिये साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आस्थाओं की। आस्तिकता का मूलभूत आधार उसी स्तर की आस्थायें उत्पन्न करना है।

ईश्वर का प्रेम किनके लिये ?

आस्तिकता के इस मूलभूत आधार को जिन्होंने अपनी जीवन-शैली बनाया, उनके जीवन व क्रियाकलापों को परमार्थ निष्ठा का आदर्श कहा जा सकता है। परमार्थ का अर्थ ही यह है कि जिससे सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन की पूर्ति होती हो। इसी कारण परमार्थ परायणता को आस्तिकता का आधार दर्शन कहा जा सकता है।

परमार्थ बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है, जिस किसी के लिये भी किया जाता है वह लौटकर उस करने वाले के पास ही पहुँचता है। तुम्हारी यह आकांक्षा वस्तुतः अपने आपको प्यार करने, श्रेष्ठ मानने और आत्मा के सामने आत्म-समर्पण करने के रूप में ही विकसित होगी। दर्पण में सुन्दर छवि देखने की प्रसन्नत—वस्तुतः अपनी ही सुसज्जा की अभिव्यक्ति है। दूसरों के सामने अपनी श्रेष्ठता प्रकट करना उसी के लिये सम्भव है जो भीतर से श्रेष्ठ है। प्रभु की राह पर बढ़ाया गया हर कदम अपनी आत्मिक प्रगति के लिये किया गया प्रयास ही है। जो कुछ औरों के लिये किया जाता है वस्तुतः वह अपने लिये किया हुआ कर्म ही है। दूसरों के साथ अन्याय करना अपने साथ ही अन्याय करना है। हम अपने अतिरिक्त और किसी को नहीं ठग सकते। दूसरों के प्रति असज्जनता बरत कर अपने आपके साथ ही दुष्ट दुर्व्यवहार किया जाता है।

दूसरों को प्रसन्न करना अपने आप को प्रसन्न करने का ही क्रिया-कलाप है। गेंद को उछालना अपनी माँसपेशियों को बलिष्ठ बनाने के अतिरिक्त और क्या है। गेंद को उछालकर हम उस पर कोई एहसान नहीं करते। इसके बिना उसका कुछ हर्ज नहीं होगा। यदि खेलना बन्द कर दिया जाये तो उन क्रीड़ा का उपकरणों की क्या क्षति हो सकती है ? अपने को ही बलिष्ठता के आनन्द से वंचित रहना पड़ेगा।

ईश्वर रूठा हुआ नहीं है कि उसे मनाने की मनुहार करनी पड़े। रूठा तो अपना स्वभाव और कर्म है। मनाना उसी को चाहिये, अपने आप से ही प्रार्थना करें कि कुचाल छोड़ें। मन को मना लिया—आत्मा को उठा लिया तो समझना चाहिये ईश्वर की प्रार्थना सफल हो गई और उसका अनुग्रह उपलब्ध हो गया।

गिरे हुओं को उठाना, पिछड़े हुओं को आगे बढ़ाना, भूले को राह बताना और जो अशान्त हो रहा है उसे शान्तिदायक स्थान पर पहुँचा देना। यह वस्तुतः ईश्वर की सेवा ही है। जब हम दुःख और दरिद्र को देखकर व्यथित होते हैं और मलीनता को स्वच्छता में बदलने के लिये बढ़ते हैं तो समझना चाहिये यह कृत्य ईश्वर के लिये—उसकी प्रसन्नता के लिये ही किये जा रहे हैं। दूसरों की सेवा, सहायता अपनी ही सेवा, सहायता है।

प्रार्थना उसी की सार्थक है जो आत्मा को परमात्मा में घुला देने के लिये व्याकुलता लिये हुये हो। जो अपने को परमात्मा जैसा महान् बनाने के लिये तड़पता है—जो प्रभु को जीवन के कण-कण में घुला लेने के लिये बेचैन है। जो उसी का होकर जीना चाहता है उसी को भक्त कहना चाहिये। दूसरे तो विदूषक हैं। लेने के लिये किया हुआ भजन वस्तुतः प्रभु प्रेम का निर्मम उपहास है। भक्ति में तो आत्म-समर्पण के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। वहाँ देने की ही बात सूझती है, लेने की इच्छा ही कहाँ रहती है

ईश्वर का विश्वास, सत्कर्मों की कसौटी पर ही परखा जा सकता है। जो भगवान पर भरोसा करेगा वह उसके विधान और निर्देश को भी अंगीकार करेगा, भक्ति और अवज्ञा का ताल-मेल बैठता कहाँ है ?

हम अपने आपको प्यार करें, ताकि ईश्वर से प्यार कर सकने योग्य बन सकें। हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें ताकि ईश्वर के निकट बैठ सकने की पात्रता प्राप्त कर सकें। जिसने अपने अन्तःकरण को प्यार से ओत-प्रोत कर लिया, जिसके चिन्तन और कर्तृत्व में प्यार बिखरा पड़ता है। ईश्वर का प्यार केवल उसी को मिलेगा, जो दीपक की तरह जलकर प्रकाश उत्पन्न करने को तैयार है, प्रभु की ज्योति का अवतरण उसी पर होगा। ईश्वर का अस्तित्व विवाद का नहीं अनुभव का विषय है। जो उस अस्तित्व का जितना अधिक अनुभव करेगा, उतना ही प्रकाशपूर्ण उसका जीवन होता जायेगा।

अन्तः चेतना से उद्भूत सुव्यवस्था

मनुष्य शरीर 'परमात्मा की' अनुपम और अद्वितीय अद्भुत कलाकृति है। इस कलाकृति की संरचना का अध्ययन किया जाय तो सहज ही यह विदित हो जायेगा कि मनुष्य शरीर कितना जटिल, सुव्यवस्थित और सुनियोजित कार्यप्रणाली पर निर्भर है। इतनी जटिल संरचना और उससे अधिक कार्यप्रणाली बिना किसी बाहरी नियन्त्रणकर्त्ता नियामक के अपने आप सुचारु रूप से सम्पन्न होती रहती है। मनुष्य का स्वास्थ्य, शरीर आरोग्य, आहार-विहार पर निर्भर करता है। स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने वाला निरोग रहता है और असंयम बरतने वाले, अखाद्य खाने वाले बीमार पड़ते हैं। बीमारियों के कारण रोग कीटाणुओं के रूप में ऋतु प्रभाव या धातुओं तत्वों के हेर-फेर में ढूँढ़े जाते हैं और उसी आधार पर चिकित्सा की जाती है। पर कई बार इन मान्यताओं को झुठलाते हुये ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि अप्रत्याशित रूप से शरीर के किन्हीं अवयवों का या प्रवृत्तियों का यकायक घटना-बढ़ना शुरू हो जाता है। कारण ढूँढ़ते हैं तो समझ में नहीं आता, अंधेरे में ढेला फेंकने की तरह कुछ उपचार किया जाता है तो उसका कुछ परिणाम नहीं निकलता।

ऐसी परिस्थितियाँ प्रायः हारमोन ग्रन्थियों में गड़बड़ी आ जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। शरीर के सामान्य अवयवों की संरचना और उसकी कार्यपद्धति का ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता आया है इसलिये रोगों के कारण और निवारण के सम्बन्ध में काफी प्रगति भी हुई है। पर यह अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की आश्चर्यचकित करने वाली हरकतें जबसे सामने आई हैं तब से चिकित्सा विज्ञानी स्तब्ध रह गये हैं, प्रत्यक्षतः शरीरगत क्रिया-कलाप में इनका कोई सीधा उपयोग नहीं है। वे किसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति नहीं करतीं, चुपचाप एक कोने में पड़ी रहती हैं और वहीं से तनिक सा स्राव बहा देती हैं। वह स्राव

नी पाचन अंगों द्वारा नहीं सीधा रक्त से जा मिलता है और अपना जादू जैसा प्रभाव छोड़ता है।

हारमोन, शरीर और मन पर कितने ही प्रकार के प्रभाव डालते और परिवर्तन करते हैं। उनमें से एक परिवर्तन कामवासना का मानसिक जागरण और यौन अंगों की प्रजनन क्षमता भी सम्मिलित है।

छोटी उम्र के लड़की और लड़के लगभग एक जैसे लगते हैं। कपड़ों से उनकी भिन्नता पहचानी जा सकती है अन्यथा वे साथ-साथ हँसते, खेलते-खाते हैं। कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं पड़ता पर जब बारह वर्ष से आयु ऊपर उठती है तो दोनों में काफी अन्तर अनायास ही उत्पन्न होने लगता है। लड़के की आवाज भारी होने लगती है। होंठों के बाल काले होने लगते हैं और कोमल अंग कठोर होने लगते हैं। लड़कियाँ शरमाने लगती हैं। उनके कुछ अंगों में उभार आने लगता है और नये किस्म की इच्छायें तथा कल्पनायें मन में घुमड़ने लगती हैं।

यह 'हारमोन' स्रावों की करतूत है। वे समय-समय पर ऐसे उठते जगते हैं मानो किसी घड़ी में अलार्म लगाकर रख दिया हो अथवा टाइम बम को समय के काँटे के साथ फिट करके रखा हो। यौवन उभार के सम्बन्ध में इन्हीं के द्वारा सारा खेल रचा जाता है। अन्य सारा शरीर अपने ढंग से ठीक काम करता रहे पर यदि इन हारमोन ग्रन्थियों का स्राव न्यून हो तो यौवन अंग ही विकसित न होंगे और यदि किसी प्रकार विकसित हो भी जायें तो उनमें वासना का उभार नहीं होगा, न कामेच्छा जागृत होगी, न उस क्रिया में रुचि होगी। सन्तानोत्पादन तो होगा ही कैसे ?

साधारणतया कामोत्तेजना का प्रसंग १५-१६ वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर ६० वर्ष पर जाकर लगभग समाप्त हो जाता है। स्त्रियों का मासिक धर्म बन्द हो जाने पर लगभग पचास वर्ष की आयु में उनकी वासनात्मक शारीरिक क्षमता और मानसिक आकांक्षा दोनों ही समाप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार साठ वर्ष पर पहुँचते पहुँचते पुरुष की इन्द्रियाँ एवं आकांक्षायें भी शिथिल और समाप्त हो जाती हैं। यह सामान्य क्रम है। पर कई बार हारमोनों की प्रबलता इस सन्दर्भ में आश्चर्यजनक अपवाद प्रस्तुत करती है। बहुत छोटी आयु के बच्चे भी न केवल पूर्ण मैथुन में वरन् सफल प्रजनन में भी समर्थ देखे गये हैं। उसी प्रकार शताधिक आयु होने जाने पर भी वृद्ध व्यक्तियों में इस प्रकार की युवावस्था जैसी परिपूर्ण क्षमता पाई गई है।

लिंग भेद से सम्बन्धित हारमोनों में गड़बड़ी पड़ जाये तो नारी की मूँछें निकल सकती हैं। पुरुष बिना मूँछ का हो सकता है तथा दोनों की प्रवृत्तियाँ भिन्न लिंग जैसी हो सकती हैं। नारी पुरुष की तरह कठोर व्यवहार करने वाली और नर जनखों जैसे स्त्री स्वभाव का हो सकता है। यौन आकांक्षायें भी विपरीत वर्ग जैसी हो सकती हैं। इतना ही नहीं कई बार तो इन हारमोनों का उत्पात ऐसा हो सकता है कि प्रजनन अंगों की बनावट ही बदल जाये। ऐसे अनेक आपरेशनों के समाचार समय-समय पर सुनने को मिलते रहते हैं जिनमें नर से नारी की और नारी से नर की जननेन्द्रियों का विकास हुआ और फिर शल्य क्रिया द्वारा उसे तब तक के जीवन की अपेक्षा भिन्न लिंग का घोषित किया गया। इस नई परिस्थिति के अनुसार उनने साथी ढूँढ़े, विवाह किये और गृहस्थ बनाये।

हिप्पोक्रेटस् ने इस तरह की विपरीत वर्गीय कुछ घटनायें देखी थीं और उनका कारण समझाने का प्रयत्न किया था। चिकित्सक प्लिनी ने एक ऐसे सात वर्ष के लड़के का वर्णन लिखा है जो लैंगिक दृष्टि से पूर्ण विकसित हो गया था।

८ जनवरी सन् १६१० को दो चीनी बच्चों ने सामान्य बालकों को जन्म दिया। जिसमें माता की उम्र ८ वर्ष और पिता की ६ वर्ष की थी। संसार में यह सबसे छोटे माता-पिता हैं। अमोय फूकेन प्रान्त का यह कृषक परिवार साद' नाम से पुकारा जाता है। इस परिवार में ऐसे ही बाल प्रजनन के और भी उदाहरण हैं।

कलावार (अफ्रीका) में भी कुछ समय पूर्व ऐसी ही घटना घटित हुई थी। वहाँ एक्क्री

नामक एक नीग्रो की आठ वर्षीय पत्नी ने आठ वर्ष चार मास की आयु में ही प्रसव किया और एक बालिका को जन्म दिया, आश्चर्य यह और देखिये कि वह बच्ची भी अपनी माँ की तरह आठ वर्ष की आयु में ही माँ बन गई। इस प्रकार उमजी को १७ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते दादी बनने का अवसर प्राप्त हो गया।

सूडान में अभी इसी वर्ष एक नौ वर्ष की लड़की माँ बनी है उसका पति १० वर्ष का है। यह समाचार कुछ ही दिन पूर्व प्रायः सभी समाचार-पत्रों में छपा था।

जौरा आगा नामक टर्की के एक दीर्घजीवी वृद्ध पुरुष की आयु १६२७ में १५३ वर्ष की थी। उस समय उसने अपना ग्यारहवाँ विवाह किया था। उससे पूर्व १० स्त्रियों और २७ बच्चों को वह अपने हाथों कब्र में सुला चुका था। उसके जीवित बच्चे ७० से ऊपर थे।

लिंग परिवर्तन की घटनाओं में यही होता है। मनुष्य की आकांक्षायें और अभिरुचियाँ जिधर गतिशील होती हैं उसी तरह की लिंग मनोभूमि बनती चली जाती है। कोई नारी यदि नर के प्रति अत्यधिक आसक्त होती है, उसी के सान्निध्य एवं चिन्तन में निरत रहती है तो उसका अन्तःकरण उसी ढाँचे में ढलता और तादात्म्य होता चला जायेगा। कालान्तर में वह आकांक्षा उसे स्वयं नर के रूप में परिणत कर सकती है। इसी प्रकार कोई न कोई नर यदि नारी के चिन्तन और सान्निध्य में अतिशय रुचि लेता है तो उसकी चेतना नारी वर्ग में परिणत होने लगेगी और वह उस प्रवृत्ति की तीव्रता के अनुरूप देर में जल्दी लिंग परिवर्तन कर लेगा। इसमें एकाध जन्म की देरी भी हो सकती है। लिंग परिवर्तन की ऐसी घटनाओं में जिनमें नारी नर के रूप में या नर नारी के रूप में परिणत किये गये उनमें शारीरिक या मानसिक कारण नहीं होते वरन् अन्तःचेतना का गहन स्तर—कारण शरीर ही इस प्रकार की पृष्ठभूमि विनिर्मित करता है। नपुसंक वर्ग भी ऐसी ही स्थिति में है। इसे परिवर्तन का मध्य स्थल कह सकते हैं।

समलिंगी आकर्षण से लेकर सहवास तक की अनेक घटनायें देखने-सुनने में आती रहती हैं। इसमें भी वह अतृप्त आन्तरिक आकांक्षा ही उभरती है। दो नारी यदि नर रूप में विकसित हो रही होंगी तो उनमें नर के प्रति आकर्षण की विद्यमान मात्रा स्त्री रति की अपेक्षा पुरुष रति में रस एवं तृप्ति अनुभव करेगी और उसमें परस्पर घनिष्ठता बढ़ती जायेगी। इसी प्रकार दो नर यदि नारी रूप में विकसित हुये हैं तो उनका पूर्वाभ्यास नारी के प्रति आकर्षण बनाये रहेगा और वे दो नारियाँ परस्पर मिलन का अधिक आनन्द अनुभव करेंगी। यह विपर्यय दोनों कारणों से हो सकता है। विकसित होती हुई आकांक्षा भी अपनी अतृप्ति का समाधान कर सकती है। इसी प्रकार विकास आगे चल पड़ा है। शरीर बदल गये हैं पर पूर्व मनोवृत्ति में भिन्न लिंग के संस्कार अभी भी प्रबल हैं तो वे भी बार-बार वैसी ही उमंगें उठाकर समलिंगी सम्पर्क में अधिक आकर्षण अनुभव कर सकते हैं।

गत वर्ष योरोप में ऐसे विवाहों को अदालत द्वारा भी मान्यता मिल चुकी है जिनमें पति-पत्नी दोनों या तो नर ही थे या नारी ही नारी। यों ऐसे प्रसंग निजी और अप्रकट रूप से चलते तो रहते हैं पर पिछली न्यायिक परम्परायें तोड़कर जिन्हें कानूनी मान्यता मिली हो ऐसे विवाह गत वर्ष ही सर्व-साधारण के सामने आये हैं।

काम-वासना को ही लें, पुराने जमाने में भस्में तथा रसायनें खिलाकर मृत या स्वल्प कामेच्छा को पुनर्जागृत करने का प्रयत्न किया जाता था। वह प्रयास भी नशे से उत्पन्न क्षणिक उत्तेजना जैसा ही सिद्ध हुआ। जब से हारमोन प्रक्रिया का ज्ञान हुआ है तब से यौन ग्रन्थियों के रसों को पहुँचाने से लेकर बन्दर एवं कुत्ते की ग्रन्थियों का आरोपण करने तक का क्रम बराबर चल रहा है। आरम्भ में उससे तत्काल लाभ दीखता है पर वह बाहर का आरोपण देर तक नहीं ठहरता। भयंकर आपरेशनों के समय रोगी को अन्य व्यक्ति का रक्त दिया जाता है। वह शरीर में ३-४ दिन से अधिक नहीं ठहरता। शरीर यदि नया रक्त स्वयं बनाने लगे तो ही

फिर आगे की गाड़ी चलती है। इसी प्रकार आरोपित स्राव अथवा रस ग्रन्थियाँ तत्काल ही लाभ दिखावेंगी। यदि उस उत्तेजना से अपनी ग्रन्थियाँ जागृत होकर स्वतः काम करने लगें तो ही कुछ काम चलेगा अन्यथा वह बाहरी आरोपण की फुलझड़ी थोड़ी देर चमक दिखाकर बुझ जायेगी। अब तक के बाहरी आरोपण के सारे प्रयास निष्फल हो गये हैं। कुछ सप्ताह का चमत्कार देख लेने के अतिरिक्त उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध न हुआ।

सन् १८७६ में एक वृद्ध डाक्टर ब्राउन सेक्वार्ड ने घोषणा की कि उसने कुत्ते का वृषण रस अपने शरीर में पहुँचाकर पुनः यौवन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करली है। ७२ वर्षीय इस डाक्टर की ओर अनेक चिकित्सा-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने उनकी घोषणा को सच पाया, लेकिन यह सफलता स्थिर न रह सकी वे कुछ दिन बाद पुनः पुरानी स्थिति में आ गये।

इंग्लैण्ड के डाक्टर मूरे ने थामरेक्सिन का प्रयोग एक थायरायड विकारग्रस्त रोगिणी पर किया। दवा का असर बहुत थोड़े समय तक रहता था। कुछ वर्ष जीवित रखने के लिये एक-एक करके ८७० भेड़ों की ग्रन्थियाँ निचोड़-कर उसे आये दिन लगानी पड़ती थीं। इस पर धक्का-मुक्की करके ही उसकी गाड़ी कुछ दिन और आगे धकेली जा सकी।

शरीरशास्त्रियों ने इस अद्‌भुत निरंकुश को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया तो उनकी पकड़ में अन्तःस्राव ग्रन्थियाँ आ गईं। इनमें कुछ प्रधान हैं, कई उपप्रधान हैं। इनमें तनिक-तनिक से रस स्रावित होते रहते हैं और वे रेंगकर रक्त में जा मिलते हैं। जिन्हें हारमोन कहते हैं। इनके भी कई भेद-उपभेद ढूँढ़े गये हैं। इतना सब होते हुये भी यह आश्चर्य का विषय है कि इनमें आखिर ऐसा क्या जादू है जो शरीर की सामान्य व्यवस्था में इतनी भयानक उलट-पुलट वे करके रख देते हैं। स्वास्थ्य के साधारण नियमोपनियम एक ओर और इनकी मनमानी एक ओर, तथा इस रस्साकशी में सामान्य व्यवस्था लड़खड़ा जाती है और हारमोनों की मनमानी जीतती है। इन स्रावों का रासायनिक विश्लेषण करने पर वे सामान्य स्तर के ही सिद्ध होते हैं। उनमें कुछ ऐसी अनहोनी मिश्रित नहीं दीखती जिससे ऐसे उथल-पुथल भरे परिणाम होने चाहिये। पर 'चाहिये' को ताक पर रखकर जब 'होता' है, सामने आता है, तो बुद्धि चकरा जाती है और इस अन्धाधुन्धी में हाथ पर हाथ डालकर बैठना पड़ता है।

जहाँ तक खोज का विषय है उन अन्तःस्राव ग्रन्थियों का, उनसे प्रवाहित होने वाले रसों का स्वरूप समझ लिया गया है और उनका रासायनिक विश्लेषण कर लिया गया है। पर उनकी असाधारण महत्ता और असाधारण हरकत का कुछ कारण नहीं जाना जा सका। इतना ही नहीं उनके नियन्त्रण का भी कोई उपाय हाथ नहीं लगा है। यह मोटा और भोंड़ा तरीका है कि उसी स्तर के रसायन बाहर से पहुँचाकर उन स्रावों की कमी-वेशी के परिणामों को रोकने का प्रयत्न किया जाये। इतना ही बन पड़ा है सो किया भी गया है। अन्य जीवों से प्राप्त करके—अथवा रासायनिक पद्धति से विनिर्मित करके उन रसों को व्यक्ति के शरीर में पहुँचाकर यह प्रयत्न किया जाता है कि विकृतियों पर नियन्त्रण किया जाय, उसका लाभ होता तो है पर रहता क्षणिक ही है। भीतर का उपार्जन बन्द हो जाये तो बाहर से पहुँचाई मदद कब तक काम देगी। इसी प्रकार जमीन फोड़कर स्रोत निकल रहा हो तो उसे एक जगह से बन्द करने पर दूसरे छेद से फूटेगा। यह तो तात्कालिक या क्षणिक उपचार हुआ। बात तब बनती है जब उत्पादन के केन्द्र स्वतः ही अपने स्रावों को घटा या बढ़ा लें। उपचार का उद्देश्य तो तभी पूरा हो सकता है, पर यह स्थिति हाथ नहीं आ रही है। शरीर-शास्त्रियों के सारे प्रयत्न अब तक निष्फल ही रहे हैं, और आगे भी इनकी अद्‌भुत संरचना और कार्य पद्धति को देखते हुये कुछ अधिक आशा नहीं बँधती।

ओछी भावनायें अन्तरात्मा में जमी हों और छोटा बनाने वालों पर बड़प्पन के संस्कार जम जायें तो शरीर को ही नहीं, मस्तिष्क को भी बड़ा बनाने वाला हारमोन उत्पन्न होंगे। इन्द्रिय

भोगों में आसक्त अन्तः भूमिका अपनी तृप्ति के लिये कामोत्तेजक अन्तःस्रावों की मात्रा बढ़ाती है। विवेक जागृत हो और विषय भोगों की निरर्थकता एवं उनकी हानियों को गहराई से समझ लिया जाय तो इन हारमोनों का प्रवाह सहज ही कुण्ठित हो जाता है। इसी प्रकार वियोग, विश्वास घात, अपमान जैसे आघात अन्तःकरण की गहराई तक चोट पहुँचा दें तो युवावस्था में भी भले-चंगे हारमोन स्रोत सूख सकते हैं। इसके विपरीत यदि रसिकता की लहरें लहराती रहें तो वृद्धावस्था में भी वे यथावत् गतिशील रह सकते हैं। जन्मान्तरों की रसानुभूति बाल्यावस्था में भी प्रबल होकर उस स्तर की उत्तेजना समय से पूर्व ही उत्पन्न कर सकती है।

काम क्रीड़ा शरीर द्वारा होती है, कामेच्छा मन में उत्पन्न होती है! पर इन हारमोनों की जटिल प्रक्रिया न शरीर से प्रभावित होती है और न मन से। उसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की अन्तःचेतना से है, इसे आत्मिक स्तर कह सकते हैं। जीवात्मा में जमे काम बीज जिस स्तर के होते हैं तदनुरूप शरीर और मन का ढाँचा ढलता और बनता-बिगड़ता है। हारमोनों को भी प्रेरणा-उत्तेजना वहीं से मिलती है।

धान के दाने की बराबर धूसर रंग की इस छोटी-सी ग्रन्थि में आश्चर्य ही आश्चर्य भरे पड़े हैं। जिन चूहों में दूसरें चूहों की पीनियल ग्रन्थि का रस भरा गया है वे साधारण समय की अपेक्षा आधे दिनों में ही यौन रूप में विकसित हो गये और जल्दी बच्चे पैदा करने लगे। समय से पूर्व उनके अन्य अंग भी विकसित हो गये पर इस विकास में जल्दी भर रही, मजबूती नहीं आयी। काम दहन की शिवजी की कथा की इन हारमोन से संगति अवश्य बैठती है पर अन्तःकरण का रुझान जिस स्तर का होगा, शरीर और मन को ढालने के लिये हारमोनों का प्रवाह उसी दिशा में बहने लगेगा।

हारमोन ग्रन्थियों के चमत्कार

इन ग्रन्थियों की कार्य-प्रणाली को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति ने इनका निर्माण उद्देश्यपूर्ण प्रयोजन से किया है तथा ये उसी परम्परा की कुशलतापूर्वक निर्वाह भी रही हैं, छोटी सी आकार के गेहूँ के दाने के बराबर वाली इन ग्रन्थियों का अपना निजी स्वार्थ लाभ क्या हो सकता है ? वस्तुतः ये प्रकृति व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सामर्थ्य भर योगदान देने के उद्देश्य से ही सक्रिय रहती दिखाई देती हैं।

इन ग्रन्थियों की हल-चल, शरीर संस्थान में उनकी भूमिका पर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया है। अवयवों की प्रत्यक्ष हलचलें ही शरीर विज्ञान की शोध का विषय रही हैं। अब तक जो शोधें हुई हैं उनमें यह प्रत्यक्ष ही मूलभूत आधार है। इसलिये समझा जाता है कि पंच तत्वों से बना हुआ यह काया मात्र ही शरीर है। लेकिन शरीरगत अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिन पर रहस्य का पर्दा ही पड़ा हुआ है।

स्थूल शरीर पर सूक्ष्म-सत्ता का नियन्त्रण हमें इन्हीं हलचलों के पीछे झाँकता हुआ दीखता है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ—वंशानुक्रम प्रक्रिया-भ्रूणावस्था में जीव का अत्यन्तिक उग्र विकास क्रम, जीवकोषों की अद्भुत क्षमता, अचेतन मन की रहस्यमय गतिविधियाँ भाव, सम्वेदना से उत्पन्न अदम्य प्रेरणा, अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ, जीवाणुओं की स्वसंचालित जीवन पद्धति, प्रभावशाली तेजोवलय जैसे अनेकानेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिनका शरीर की सामान्य संरचना के साथ कोई ताल-मेल नहीं बैठता। रासायनिक पदार्थों के अपने गुण-धर्म होते हैं। सम्मिश्रण से उनमें भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें भी होती हैं किन्तु ऐसे रहस्य उत्पन्न नहीं होते जैसे कि अनुबूझ पहेलियों के रूप में सामने आते रहते हैं। इनके भौतिक समाधान अभी तक नहीं मिले हैं और न भविष्य में मिलने की सम्भावना है। इनके कारण हमें सूक्ष्म शरीर में ही खोजने होंगे।

अन्नमय कोश का वर्णन अपेक्षाकृत सूक्ष्म संस्थानों के अन्तर्गत आता है। इसमें रासायनिक हलचलों की उत्पन्न क्रिया-प्रक्रिया स्थूल शरीर के क्षेत्र में आती है। शरीर-शास्त्रियों की खोजबीन यहीं तक सीमित है। स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिये, चिकित्सा उपचार के लिये जो क्रिया-कलाप चलते हैं, उन्हें भौतिक क्षेत्र की मर्यादा माना जाता है। ऐसे अद्भुत रहस्य जिनका ताल-मेल रासायनिक हलचलों से नहीं बैठता, उन्हें सूक्ष्म शरीर की

शक्ति सत्ता का प्रभाव कहा जा सकता है। यह क्षेत्र अत्यन्त सुविस्तृत है। उसका थोड़ा-सा परिचय जिन प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर प्राप्त हो सकता है, उनमें अन्तःस्रावी हारमोन ग्रन्थियों की भी गणना की जा सकती है। उनसे निकलने वाले राई-रत्ती स्राव शरीर में कितनी अद्‌भुत गतिविधियाँ सम्पन्न करते हैं, उन्हें देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

शरीर-विज्ञान की अन्तरंग शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि हृदय, आमाशय, आँख, कान, त्वचा आदि तो यन्त्र हैं। इन यन्त्रों के संचालक सूक्ष्म अवयव अन्य ही होते हैं और उन संचालक तत्वों या अवयवों के स्वरूप पर ही हमारे स्वास्थ्य का बहुत कुछ आधार निर्भर रहता है। इन सूक्ष्म अवयवों में हारमोनों का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी सक्रियता-निष्क्रियता का हमारी शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों पर भारी प्रभाव पड़ता है। शरीर की आकृति कैसी भी हो, उसकी प्रकृति का निर्माण तो मुख्यतः इन हारमोन रसों से ही प्रभावित होता है। यद्यपि आकृति पर भी इन जीवनरस-स्रावों का प्रभाव पड़ता ही है। कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि विशेष मनःस्थिति के कारण किन्हीं युवतियों का रूप लावण्य तब तक बना रहा, जिस आयु में सामान्य रूप से शरीर पर वृद्धता के चिन्ह उभर आते हैं। उनके बने रहने का रहस्य-सूत्र भी निश्चय ही इन हारमोन-स्रावों में छिपा हुआ माना जाता है। यद्यपि औषधि विद्या और शल्य प्रक्रिया की पहुँच अभी वहाँ तक नहीं हो पाई है, पर उनके स्वरूप की कुछ-कुछ जानकारी तो आधुनिक शरीरशास्त्र को हो ही गई है।

हारमोन स्रावों के विशेष अनुसन्धानकर्त्ता डा. क्रुकशेक ने इन स्रावों की आधार ग्रन्थियों को 'जादुई ग्रन्थियाँ' कहा है और बताया है कि व्यक्ति की वास्तविक स्थिति को जानने के लिये इन स्रावों के सन्तुलन और क्रियाकलाप का परीक्षण करके ही यह जाना जा सकता है कि उसका स्तर एवं व्यक्तित्व सचुमुच क्या है ?

हारमोन वे रासायनिक तत्व या रहस्यमय जीवन रस हैं, जो अन्तःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा स्रवित होते हैं।

ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) बहिस्रावी ग्रन्थियाँ या प्रणालीयुक्त ग्रन्थियाँ (डक्ट या एम्सोक्राइन ग्लैण्डस्) (२) अन्तःस्रावी या प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ (इन्डोक्राइन या डक्टलैस ग्लैण्डस्)।

(१) बहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ

इन ग्रन्थियों से प्रत्येक के साथ नलिका मिली होती है। नलिका द्वारा ग्रन्थियों का रस स्राव शरीर के रक्त प्रवाह में न मिलकर शरीर की ऊपरी सतह पर चला जाता है। इन रसों के द्वारा शरीर की अनेक जरुरतें पूरी की जाती हैं। प्रमुख बहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ तीन हैं—(१) अश्रु ग्रन्थियाँ (टियर ग्लैण्ड्स) (२) प्रस्वेद ग्रन्थियाँ (स्वीट ग्लैण्ड्स) (३) लार ग्रन्थियाँ (सेलिह्वरी ग्लैण्ड्स)

(२) अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ

इन दोनों क्रोमोसम्स तथा वंशानुक्रम की चर्चायें व्यापक रूप से उठा करती हैं। इन प्रक्रियाओं के मूल में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव कुछ विशिष्ट हारमोन्स ही हैं। अब तक की शोधों के आधार पर अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के—केन्द्र माने जाते हैं। यह शरीर के विभिन्न अंगों में अवस्थित हैं। जैसे—सिर में (१) पीनियलवाडी (२) पिट्यूटरी ग्लैण्ड है। गले में (३) पैराथाइराइड और (४) थाइराइड ग्लैण्ड होते हैं। वक्षस्थल के ऊपरी भाग में (५) थाइमस ग्लैण्ड स्थित है। उदर प्रदेश में (६) एड्रीनल ग्लैण्डस् और (७) पैक्रियाज ग्रन्थियाँ है। पेडू- क्षेत्र में (८) गोनड्स ग्रन्थियों का स्थान है।

इन ग्रन्थियों की अद्‌भुत क्षमता के सम्बन्ध में अभी वैज्ञानिकों को पूरी जानकारी नहीं है। उनके बारे में सांकेतिक जानकारी ही प्राप्त हो सकी है। फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि यदि इनके अभाव को जाना और नियन्त्रित किया जा सके तो मनुष्य अपने अन्दर आश्चर्य जनक परिवर्तन ला सकता है।

उदाहरण के लिये गोनड्स ग्रन्थियों को ही लिया जाये ये कामवासना सम्बन्धी ग्रन्थियाँ होती हैं। इन्हें हम प्रजनन ग्रन्थियाँ भी कह सकते हैं। पुरुष की प्रजनन ग्रन्थियाँ शुक्र ग्रन्थियाँ या वृषण तथा स्त्रियों की प्रजनन ग्रन्थियाँ, डिम्बग्रन्थियाँ या अण्डाशय कहलाती हैं पुरुष सेक्स हारमोन की उत्पादिका वृषण-ग्रन्थि नर में होती है। उसी से उसका पुरुषत्व जगता है। पुरुष आकृति को नारी से भिन्न करने वाले दाढ़ी-मूँछ आदि लक्षण प्रकट होते हैं। नारी में डिम्बग्रन्थियाँ गर्भाशय के दोनों छोरों पर होती हैं। इन स्त्री-मोनड्स से अनेक स्राव निकलते हैं। जिनमें मुख्य हैं दो—(१) एस्ट्रोजेन्स (२) प्रोजेस्ट्रोन।

शारीरिक विकास की दृष्टि से ये स्राव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियोचित कोमलता तथा गर्भ धारण की क्षमता इन्हीं स्रावों से सम्बन्धित है। लिंग परिवर्तन की जो घटनायें घटित होती रहती हैं, वह इसी ग्रन्थि के स्रावों की उल्टी-पुल्टी के परिणामस्वरूप होती हैं।

गोनड्स (जनन ग्रन्थियाँ) जननेन्द्रिय हलचलों की क्षमता को तथा प्रजनन-शक्ति को नियन्त्रित करती हैं। पुरुष यौवन और नारी यौवन का—विशेषतया प्रजनन सम्बन्धी यौवन का इसी ग्रन्थि से सम्बन्ध रहता है। वृद्धावस्था में आमतौर से शरीर बहुत शिथिल हो जाता है और इन्द्रियाँ जवाब दे जाती हैं। फिर भी कई बार यह आश्चर्य देखा गया है कि शताधिक आयु वाले व्यक्ति भी नवयुवकों की तरह प्रजनन क्रिया सरलतापूर्वक सम्पन्न करते रहते हैं। यह गौनड्स ग्रन्थियों के सशक्त बने रहने और समुचित यौन-हारमोन्स स्रवित होते रहने का ही परिणाम है।

मनःशास्त्री एडलर ने काम-प्रवृत्ति की शोध करते हुये पाया कि बाहर से अतीव सुन्दर, आकर्षक और कमनीय दिखाई देने वाली अनेक महिलायें काम-शक्ति से सर्वथा रहित हैं। उनमें न तो रमणी प्रवृत्ति थी, न नारी सुलभ उमंग। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि यौन-हारमोन्स के स्रोत ही इन विशेषताओं को आधार हैं।

एडलर ने अपनी खोज के दौरान देखा कि कितने ही युवकों की शारीरिक स्थिति सामान्य थी, ऊपर से उनमें मर्दानगी भरी ही दिखाई देती थी, पर थे वे वस्तुतः नपुंसक। न तो उनके मन में काम उमंग थी, न जननेन्द्रिय में उत्तेजना। कारण तलाश करने पर उनमें सेक्स-हारमोनों का अभाव पाया गया। इसके विपरीत उन्हें ऐसे नर-नारी भी मिले जो अल्पवयस्क अथवा वयोवृद्ध होते हुये भी काम-पीड़ित रहते थे।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों और उनसे उत्पन्न हारमानों के आश्चर्यजनक प्रभाव के ढेरों प्रमाण अध्ययनकर्त्ताओं को मिले हैं। 'बीथोवेन जैसे बहरे का प्रखर संगीतज्ञ बनना' डीसास्थनीज जैसे हकलाने वाले का धुरन्धर वक्ता हो सकना, डेनियलबोर्न जैसे मन्द दृष्टि का—सुन्दर दृश्यों का अंकन करने वाला कुशल चित्रकार बन पाना इन्हीं हारमोनों के स्राव की मात्रा पर निर्भर रहा है।

'एस्ट्रालोजिकल कोरिलेशन्स विथ द डक्टलैस ग्लैण्ड्स नामक ग्रन्थ में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की चर्चा आन्तरिक ग्रहों के रूप में की गई है। जिस प्रकार सौर-मण्डल के विविध ग्रह परस्पर सन्तुलन स्थिति बनाये हैं, वैसे ही ये अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ शारीरिक, मानसिक सन्तुलन साधे रहती हैं।

इस तुलना-क्रम में सूर्य की पीनियलबॉडी से, चन्द्र की पिच्यूटरी से, मंगल की पैराथाइराइड से, बुध की थोइराइड से, बृहस्पति की एड्रीनल से तथा शुक्र की थाइमस से तुलना की गई है, "आकल्ट एनाटामी" के लेखक ने इन ग्रन्थियों का उल्लेख 'ईथर सेन्टर्स" के रूप में किया है तथा उनके उद्दीपन को अन्तर्ग्रही चेतना के साथ जोड़ा है। प्रतीत होता है कि अविज्ञात चेतना केन्द्रों से इन ग्रन्थियों के माध्यम से मनुष्य को कुछ असाधारण अनुदान मिलता रहता है।

उपरोक्त कथनानुसार अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड चेतना से—सूक्ष्म जगत से बनता है। वे विश्व शक्तियों के साथ आदान-प्रदान का काम करती हैं। शरीर-शास्त्र के अनुसार उनका प्रभाव काय-कलेवर के अन्तर्गत शरीर और मस्तिष्क को प्रभावित करता है। इसका अर्थ हुआ कि यह ग्रन्थियाँ भीतर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ती हैं

उनका प्रभाव व्यक्तित्व की विविध-विधि क्षमतायें उभारने में असाधारण रूप से होता है। यद्यपि इन ग्रन्थियों को नियन्त्रण से बाहर माना जाता है और समझा जाता है कि इनकी प्रकृति एवम् क्रिया पद्धति बदलना अपने हाथ की बात नहीं है किन्तु ऐसा है नहीं।

साधना विज्ञान का गहन अध्ययन किया जाये तो यह प्रतीत होता कि भारतीय मनीषियों द्वारा साधना, तप, आत्मिक विकास के लिये अपनाये जाने वाले विविध उपचार इन ग्रन्थियों की स्थिति बदलने में पूर्णतया सफल और सक्षम रहे हैं। सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करने वाले साधनात्मक प्रयत्नों से इन ग्रन्थियों की स्थिति बदली जा सकती है और अनावश्यक हारमोनों का उत्पादन घटाकर जो उपयोगी है, उन्हें बढ़ाया जा सकता है।

जो भी हो अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की स्वनियोजित कार्यप्रणाली इस बात का प्रतीक तो हो ही कि वे एक नियम व्यवस्था के अनुसार काम करती है, जब जिस हारमोन की आवश्यकता पड़ती है, उसका सृजन कर अपना कर्त्तव्य निबाहती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव इकाइयों में भी इतनी व्यवस्था और नियमबद्धता है, वह उसे संचालित करने वाली चेतन सत्ता का प्रमाण तो है ही।

भाव सम्वेदनाओं में व्यक्त विश्वात्मा

किस आधार पर यह माना जाय कि सभी प्राणियों में एक ही परमसत्ता का आवास है ? सबमें एक ही ईश्वरीय प्रकाश प्रतिविम्बित होता है, इसे स्थूल रूप में किस प्रकार देखा अनुभव किया जाये ? ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति उसका प्रत्यक्ष अनुभव तो उच्चस्तरीय साधनाओं द्वारा ही किया जा सकता है, पर विवेक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो भावनात्मक अभिव्यक्तियों की विभिन्न घटनायें यह दर्शाती हैं कि जीव मात्र में विद्यमान भावनायें उनका पारस्परिक आकर्षण, लगाव, रुझान किसी ऐसे तत्व की विद्यमानता प्रमाणित करती हैं, जो सभी प्राणियों में समान रूप से उपस्थित है।

मनुष्य अपने पास भी विभिन्न तरह की सम्पत्तियाँ एकत्रित करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। उनमें सफलता भी प्राप्त करता है। लेकिन इन सम्पदाओं को सर्वोत्तम नहीं कहा जाता, न समझा ही जाता है। मनुष्य के पास यदि कोई सर्वोत्तम सम्पत्ति हो सकती है तो वह भावनायें ही हैं, इनसे ही व्यक्तित्व की परख होती है और मान-सम्मान मिलता है। सम्वेदना परमात्मा से जोड़े रहने वाला एक ऐसा तत्व है कि वह जिस भी हृदय में रहता है, उसी को आत्मिक सन्तोष और गरिमा प्रदान किये रहता है।

जंगल में आग लगती है तो नष्ट जीव जन्तु ही नहीं होते, वृक्ष, वनस्पति, वहाँ बसने वाले गाँव सभी उजड़ जाते हैं। इन दिनों भौतिकता की जो भयंकर दावाग्नि लगी हुई है उसने न केवल सांसारिक यथार्थ सौन्दर्य को नष्ट किया, अपितु सम्वेदनाओं को भी मटियामेट कर दिया है, इससे लगता है मनुष्य जड़-पत्थरों का बना पिशाच है, जो न किसी का दर्द समझता है न दुःख, न किसी के प्रति दया बरतता है न करुणा। उससे तो पशु-पक्षी ही अच्छे जिन्होंने अपनी भावनाओं को तिलांजलि नहीं दी अपितु उन्हें विकसित ही किया है।

हिरनी का वात्सल्य सर्वविदित है। एकबार दिल्ली के सुल्तान सुबुक्तगीण जंगल में शिकार खेलने गये। वहाँ उन्हें हिरन का एक नन्हा बच्चा मिल गया। सुलतान उसे घोड़े की पीठ पर लादकर वापस लौटे तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि बच्चे की ममता के वशीभूत हिरनी मृत्य भय को तिलांजलि देकर पीछे-पीछे चली आ रही है। यह दृश्य देखकर सुल्तान का हृदय उमड़ने लगा। उन्होंने करुणावश बच्चे को छोड़ दिया। हिरणी बड़ी देर तक खड़ी अपने बच्चे को चाटती और कृतज्ञता भरी दृष्टि से सुल्तान को देखती रही।

जीवों की सम्वेदना सजातियों तक ही सीमित नहीं रहती अपितु उनका हृदय औरों के प्रति भी सदय होता है, इस तरह के उदाहरण सामने आते हैं तो मनुष्य की स्वार्थपरता स्वयं अपना ही धिक्कार करने लगती है। जंगल के जीवन में ऐसे उदाहरण बहुतायात से मिलते हैं।

बात उन दिनों की है जब भारत-पाकिस्तान में गृह युद्ध की स्थिति थी। हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के प्राणों के प्यासे घूम रहे थे। एबटाबाद (अब पाकिस्तान में) भी उससे अछूता नहीं था। एक पालतू बँदरिया बुजो जिसका अपना बच्चा मौत की नींद सो गया था, दुःखी बैठी थी। उधर सड़क पर एक कुतिया अपने नवजात पिल्ले को दूध पिला रही थी। तभी उधर से एक ट्रक गुजरा। कुतिया ने भागने की कोशिश की, पर शीघ्रता में वह ट्रक की चपेट में आकर अपनी जान गँवा बैठी, पिल्ला किसी तरह बच गया, पर भूख से तड़फड़ाता वह इधर-उधर अपनी माँ को खोज रहा था। यह दृश्य देखकर बुजो की करुणा छलक उठी वह पेड़ से उतरी और पिल्ले को छाती से चिपटाकर भाग गई। लोगों ने पिल्ले को बचाने के लिये उसका पीछा किया, पर जब वे मकान की उस छत पर पहुँचे तो देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि बुजो लेटी हुई है और पिल्ले को अपना दूध पिला रही है। वह उसके सिर और पीठ पर हाथ भी फेरती जा रही थी, उसका वात्सल्य साफ झलक रहा था। यह दृश्य देखकर लोगों का हृदय भर आया। मजहब के नाम पर रक्तपात करने वाली इन्सानियत शर्म से पानी-पानी हो उठी। यह चर्चा बिजली की तरह सारे नगर में फैल गई। एबटाबाद, पाकिस्तान में चला आया, पर इस घटना के बाद वहाँ फिर कोई रक्तपात नहीं हुआ।

शहबाजपुर के निकट कलड़ी गाँव में बाज ने तोते पर झपट्टा मारा। वह लेकर उड़ तो न सका, पर उसके खरोंच काफी लगी। रक्त प्रवाहित होने लगा। बाज काफी देर तक आकाश में मँड़राता रहा। यह दृश्य पास के वृक्ष पर बैठे कुछ बन्दर देख रहे थे। इनमें से एक मोटा बन्दर तोते के पास आया। तोता समझ गया कि जीवित बचना बहुत कठिन है। वह भयभीत होकर चें-चें करने लगा।

बन्दर ने दया भाव से उस तोते को धीरे से पकड़ लिया। अपने सीने से लगाया। अब उसका भय दूर हो गया। अपने को सुरक्षित जान उसने चिल्लाना भी बन्द कर दिया। अन्य बन्दरों के मन में भी सहानुभूति जाग उठी वे पके बेर तोड़ लाये और प्रेम से तोते को खिलाने लगे। स्वास्थ्य लाभ कर कुछ घण्टों के पश्चात् तोता उड़ गया।

सन् १८०८ ई. में कच्छ में भयानक अकाल पड़ा उस समय वहाँ के सेनापति फतह मुहम्मद थे। अकाल के कारण चारे के अभाव में प्रतिदिन सैकड़ों पशु मर जाते। एक दिन एक छोटा-सा बछड़ा सेनापति के अस्तबल में घुस आया। करुणावश सईसों ने उसे वहीं पाल लिया। बछड़े की घोड़ों के साथ एक परिवार जैसी दोस्ती हो गई।

कुछ दिन बात फतह मुहम्मद ने जामनगर रियासत पर चढ़ाई कर दी। घोड़े बाहर निकाल लिये गये बछड़े को भीतर ही बन्द कर दिया गया वह इस स्थिति को सहन नहीं कर सका। लातों से पीट पीटकर उसने दरवाजा तोड़ डाला आखिर उसे भी साथ लेना पड़ा।

युद्ध के दौरान सेनापति की एक तोप दल-दल में फँस गई। सारे घोड़े जोत दिये गये, पर तोप टस से मस न हुई। किसी सैनिक ने कहा यदि बछड़े को इसमें जोता जाये और घोड़ों को आगे बढ़ा दिया जाये तो सम्भव है वह इसे निकाल दे क्यों बछड़े को सभी कुछ बर्दाश्त था अपने मित्रों का बिछोह नहीं।

यही किया गया। उसे तोप में जोतकर जैसे ही घोड़े आगे को बढ़ाये गये उसने सम्पूर्ण शक्ति लगा दी आगे बढ़ने के लिये और सच ही तोप बाहर आ गई, किन्तु उस बछड़े के प्राण लेकर। फतह मुहम्मद ने यह सुना तो उनका हृदय करुणा से उमड़ पड़ा, उन्होंने युद्ध बन्द करा दिया और पशु-हृदय की इस मूक अभिव्यक्ति को साकार करने के लिये उन्होंने वहाँ बछड़े की सुन्दर समाधि बनवाई।

जीवों का जीवों से प्यार हो और मनुष्य मनुष्य से घृणा करे तो पशु अपने से अच्छे माने जायेंगे। पशु-पक्षी मनुष्य जाति के साथ उपकार करें और मनुष्य उनके प्रति नृशंसता का आचरण करें तो इसे मनुष्य का अपराधपूर्ण कृत्य माना जायेगा। मानव के प्रति जीवों की उदारता से कई बार मन अभिभूत हो उठता है।

सन् १९७४ में वाराणासी के समीप मघई पुल पर ट्रेन दुर्घटना हुई, उस समय सात

कबूतरों की मानवीय सम्वेदना से लोगों को अश्रुपूरित कर दिया। यह सात कबूतर गोरखपुर के एक कारखाने के कर्मचारी के थे, जिन्हें वह एक टोकरी में अपने साथ ले जा रहा था। सातों कबूतर सात घण्टे तक अपने मालिक के आस-पास मंडराते रहे। अधिकारीगण जब उसकी लाश निकालने लगे तो उन्होंने अनुभव किया कि उनके मालिक को कष्ट दे रहे हैं। कबूतर तो एक अनाक्रमणकारी पक्षी है, उन्होंने भी तब अपने मालिक की रक्षा के लिये उन अधिकारियों पर बार-बार आक्रमण कर विलक्षण दृश्य प्रस्तुत कर दिया। इतने समय तक जब तक शव वहाँ से हटा नहीं दिया गया, कबूतर भूखे-प्यासे पहरेदारी करते रहे अपने स्थान से टस से मस न हुये।

२६ जून १६७१ के बम्बई से छपने वाले नवभारत टाइम्स में एक समाचार में बताया गया है कि सिवनी जिले के हरई ग्राम में मल्लू नामक एक ग्वाला अपनी गायें चरा रहा था तभी उस पर एक शेर ने आक्रमण कर दिया, जबकि उसके साथी भयभीत होकर भाग खड़े हुये उसकी दो गायों ने शेर पर हमला कर दिया। सींगों की चपेट न सहन कर पाने के कारण शेर भाग खड़ा हुआ और इस तरह गायों ने अपने मालिक मल्लू की रक्षा कर ली।

केरल के मौपला विद्रोह के समय सर्पों ने डकैतों के एक समूचे दल पर आक्रमण कर जिस घर में वे निवास करते थे, उसके मालिक की रक्षा की थी। इस तरह यह जीव यह शिक्षा देते हैं कि जब तुच्छ प्राणी भी भावनाओं से रिक्त नहीं तो मनुष्य सम्वेदना शून्य हो जाये यह उचित नहीं है।

प्रेम की प्यास पशु-पक्षियों के भी पास

अल्बर्ट श्वाइत्जर जहाँ रहते थे, उसके समीप ही बन्दरों का एक दल रहता था। दल के एक बन्दर और बन्दरिया में गहरी मित्रता हो गई। दोनों जहाँ जाते साथ-साथ जाते, एक कुछ खाने को पाता तो यही प्रयत्न करता कि उसका अधिकांश उसका साथी खाये। कोई भी वस्तु उनमें से एक ने भी कभी अकेले न खाई। उनकी इस प्रेम भावना ने अल्बर्ट श्वाइत्जर को बहुत प्रभावित किया। वे प्रायः प्रतिदिन इन मित्रों की प्रणय-लीला देखने जाते और एकान्त स्थान में बैठकर घण्टों उनके दृश्य देखा करते। कैसे भी संकट में उनमें से एक ने भी स्वार्थ का परिचय न दिया। अपने मित्र के लिये वे प्राणोत्सर्ग तक के लिये तैयार रहते, ऐसी थी उनकी अविचल प्रेम-निष्ठा।

विधि की विडम्बना

बन्दरिया कुछ दिन पीछे बीमार पड़ी बन्दर ने उसकी दिन-दिन भर भूखे-प्यासे पास रहकर सेवा-सुश्रूषा की, पर बन्दरिया बच न सकी, मर गई। बन्दर का जीवन में मानो वज्रापात हो गया। वह गुमसुम जीवन बिताने लगा।

इधर प्राणियों में विधुर-विवाह पर प्रायः किसी में भी प्रतिबन्ध नहीं है। एक साथी के न रहने पर नर हो या मादा अपने दूसरे साथी का चुनाव खुशी-खुशी कर लेते हैं। इस बन्दर दल में एक से एक अच्छी बन्दरियायें थीं, बन्दर हृष्ट-पुष्ट था किसी भी नई बन्दरिया को मित्र चुन सकता था, पर उसके अन्तःकरण का प्रेम तथाकथित मानवीय प्रेम की तरह स्वार्थ और कपटपूर्ण नहीं था, पता नहीं उसे आत्मा के अमरत्व, परलोक और पुनर्जन्म पर विश्वास था इसीलिये उसने फिर किसी बन्दरिया से विवाह नहीं किया।

पर आत्मा जिस धातु से बना है वह प्रेम के प्रकाश से ही जीवित रहता है, प्रेम विहीन जीवन तो जीवित नरक समान लगता है, बन्दर ने अपनी निष्ठा पर आँच न आने देने का संकल्प कर लिया होगा तभी तो उसने दूसरा विवाह नहीं किया, पर प्रेम की प्यास कैसे बुझे ? यह प्रश्न उसके अन्तःकरण में उठा अवश्य होगा तभी तो उसके कुछ दिन पीछे हीं अपने जीवन की दिशा दूसरी ओर मोड़ दी और प्रेम को सेवा का रूप दे दिया।

बन्दर एक स्थान पर बैठा रहता। अपने कबीले या दूसरे कबीले का—कोई अनाथ बन्दर मिल जाता तो वह उसे प्यार करता। खाना खिलाता, भटक गये बच्चे को ठीक उसकी माँ

के पास पहुँचाकर आता, लड़ने वाले बन्दरों को अलग-अलग कर देता, इसमें तो वह कई बार अति उग्र पक्ष को मार भी देता था, पर तब तक चैन न लेता जब तक उनमें मेल-जोल नहीं करा देता। उसने कितने ही वृद्ध, अपाहिज बन्दरों को पाला, कितनों ही का बोझ उठाया। बन्दर की इस निष्ठा ने ही अल्वर्ट, श्वाइत्जर को एकान्तवादी जीवन से हटाकर सेवा भावी जीवन बिताने के लिये अफ्रीका जाने की प्रेरणा दी। श्वाइत्जर बन्दर की इस आत्म-निष्ठा को जीवन भर नहीं भूले।

सेन्टियागो की धनाड्य महिला श्रीमती एनन ने पारिवारिक-कलह से ऊबकर जी बहलाने के लिये एक भारतीय मैना पाल ली। मैना जब से आई तभी से उदास रहती थी। एनन की बुद्धि ने प्रेरणा दी सम्भव है उसे भी अकेलापन कष्ट दे रहा हो। सो दूसरे दिन तोता मोल ले लिया। तोता और मैना भिन्न-भिन्न जाति के दो पक्षी भी पास आ जाने पर परस्पर ऐसे घुल-मिल गये कि एक के बिना दूसरे को चैन ही न पड़ता।

प्रातःकाल बिना चूक मैना तोता को 'नमस्ते' कहती। तोता बड़ी ही मीठी वाणी में उसके अभिवादन का कुछ कहकर उत्तर देता। पिंजड़े पास-पास कर दिये जाते फिर दोनों की वार्तायें छिड़तीं, न जाने क्या मैना कहती न जाने क्या तोता कहता पर उनको देखकर लगता यह दोनों बहुत खुश हैं। दोनों का प्रेम प्रतिदिन प्रगाढ़ होता चला गया। चोंच से दबाकर अपनी चीजें बाँटकर खाते।

कुछ ऐसा हुआ कि श्रीमती एनन की एक रिश्तेदार को तोता भा गया वे जिद करके उसे माँग ले गईं ठीक उसी दिन मैना बीमार पड़ गई और चौथे दिन सायंकाल ५ बजे उसने अपनी नश्वर देह त्याग दी। तोता कृतघ्न नहीं था। वह बन्दी था चला तो गया, पर आत्मा को बन्दी बनाना किसके लिये सम्भव है, वह भी मैना की याद में बीमार पड़ गया और ठीक चौथे दिन सायंकाल ५ बजे उसने भी अपने प्राण त्याग दिये। पता नहीं दोनों की आत्मायें परलोक में कहीं मिलीं या नहीं पर इस घटना ने श्रीमती एनन का स्वभाव ही बदल दिया। अब उनके स्वभाव में सेवा और मधुरता का ऐसा प्रवाह फूटा कि वर्षों से पारिवारिक-कलह से जलता हुआ दाम्पत्य सुख फिर खिल उठा। पति-पत्नी में कुछ ऐसी घनिष्ठता हुई कि मानों उनके अन्तःकरण में तोता और मैना की आत्मा ही साक्षात् उतर आई हों। उसकी मृत्यु भी वियोगजन्य परिस्थितियों में एक ही दिन एक ही समय हुई।

तोता, मैना, बन्दर छोटे-छोटे सौम्य स्वभाव जीवों की कौन कहे प्रेम की प्यास तो भयंकर खूंख्वार जानवरों के हृदय में भी होती है। एक कुवियर के एक मित्र को भेड़िया का पालने की सूझी। कहीं से एक बच्चा भेड़िया मिल गया। उसे वह अपने साथ रखने लगे। भेड़िया कुछ दिनों में उनसे ऐसा घुल मिल गया मानो उनकी मैत्री इस जन्म की ही नहीं कई जन्मों की है।

कुछ ऐसा हुआ कि एक बार उन सज्जन को किसी काम से बाहर जाना पड़ गया। वह भेड़िया एक चिड़ियाघर को दे गये। भेड़िया चिड़ियाघर तो आ गया, पर अपने मित्र की याद में दुःखी रहने लगा। मनुष्य का जन्मजात बैरी मनुष्य के प्रेम के लिये पीड़ित हो यह देखकर चिड़ियाघर के कर्मचारी बड़े विस्मित हुये। कोई भारतीय दार्शनिक उनके पास होता और आत्मा की सार्वभौमिक एकता का तत्व दर्शन उन्हें समझता तो सम्भव था। ये भी जीवन को एक नई आध्यात्मिक दिशा में मोड़ने में समर्थ होते उनका विस्मय चर्चा का विषय भर बनकर रह गया।

भेड़िये ने अपनी प्रेम की पीड़ा शान्त करने के लिये दूसरे जीवों की ओर दृष्टि डाली। कुत्ता—भेड़िये का नम्बर एक का शत्रु होता है, पर आत्मा क़िसका मित्र किसका शत्रु—क्या तो वह कुत्ता क्या भेड़िया—कर्मवश भ्रमित अग-जग आत्मा से एक हैं यदि यह तथ्य संसार जान जाये तो फिर क्यों लोगों में झगड़ें हों, क्यों मन-मुटाव, दंगे-फसाद, भेद-भाव, उत्पीड़न और एक दूसरे से घृणा हो। विपरीत परिस्थितियों में भी प्रेम जैसी स्वर्गीय सुख की अनुभूति आत्मदर्शी के लिये ही सम्भव है। इस घटना का सार-संक्षेप भी यही है। भेड़िया अब कुत्ते का प्रेमी बन गया उसके बीमार जीवन में भी एक नयी चेतना आ गई। प्रेम की शक्ति कितनी वरदायक है कि वह निर्बल और अशक्तों में भी प्राण की गंगोत्री पैदा कर देती है।

दो वर्ष पीछे मालिक लौटा। घर आकर वह चिड़ियाघर गया अभी वहाँ के अधिकारी से बातचीत कर ही रहा था कि उसका स्वर सुनकर भेड़िया भगा चला आया और उसके शरीर से शरीर जोड़कर खूब प्यार जताता रहा। कुछ दिन फिर ऐसे ही मैत्रीपूर्ण जीवन बीता।

कुछ दिन बाद उसे फिर जाना पड़ा। भेड़िये के जीवन में लगता है भटकाव ही लिखा था फिर उस कुत्ते के पास जाकर उसने अपनी पीड़ा शान्त की। इस बार मालिक थोड़ा जल्दी आ गया। भेड़िया इस बार उससे दूने उत्साह से मिला, पर उसका स्वर शिकायत भरा था बेचारे को क्या पता था कि मनुष्य ने अपनी जिन्दगी ऐसी व्यस्त जटिल सांसारिकता से जकड़ दी है कि उसे आत्मीय भावनाओं की ओर दृष्टिपात और हृदयंगम करने की कभी सूझती ही नहीं। मनुष्य की यह कमजोरी दूर हो गई होती तो आज संसार कितना सुखी और स्वर्गीय परिस्थितियों से आच्छादित दिखाई देता।

कुछ दिन दोनों बहुत प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहे। एक-दूसरे को चाटते, थपथपाते, हिलते-मिलते, खाते-पीते रहे और इसी बीच एक दिन उसके मालिक को फिर बाहर जाना पड़ा। इस बार भेड़िये ने किसी से न दोस्ती की न कुछ खाया पीया। उस दिन से बीमार पड़ गया और प्रेम के लिये तड़प-तड़प कर अपनी इहलीला समाप्त कर दी। उसके समीपवर्ती लोगों के लिये भेड़िया उदाहरण बन गया। वे जब कभी अमानवीय कार्य करते भेड़िये की याद आती और उनके सिर लाज से झुक जाते।

बर्लिन की एक सर्कस कम्पनी में एक बाघ था। नीरो उसका नाम था। इस बाघ को लीरिजग के एक चिड़िया घर से खरीदा गया था। जिन दिनों बाघ चिड़ियाघर में था उसकी मैत्री चिड़ियाघर के एक नौकर से हो गई। बाघ उस मैत्री के कारण अपने हिंसक स्वभाव तक को भूल गया।

पीछे वह क्लारा इलियट नामक एक हिंसक जीवों की प्रशिक्षिका को सोंप दिया गया। एक दिन बाघ प्रदर्शन से लौट रहा था, तभी एक व्यक्ति निहत्था आगे बढ़ा—बाघ ने उसे देखा और घेरा तोड़कर भाग निकला। भयभीत दर्शक और सर्कस वाले इधर-उधर भागने लगे, पर स्वयं क्लारा इलियट तक यह देखकर दंग रह गई कि बाघ अपने पुराने मित्र के पास पहुँच कर उसे चाट रहा और प्रेम जता रहा है। उस मानव-मित्र ने उसकी पीठ खूब थपथपायी, प्यार किया और कहा अब जाओ समय हो गया। बाघ चाहता तो उसे खा जाता भाग निकलता, पर प्रेम के बन्धनों में जकड़ा हुआ बेचारा बाघ अपने मित्र की बात मानने को बाध्य हो गया। लोग कहने लगे सचमुच प्रेम की ही शक्ति ऐसी है कि हिंसक को भी मृदु, शत्रु को भी मित्र और सन्ताप से जलते हुये संसार सागर को हिम खण्ड की तरह शीतल और पवित्र कर सकती है।

भावनाओं में अभिव्यक्त विश्वात्मा

अमरीका के सैनडिगो चिड़ियाघर में एकबार एक बन्दर दम्पत्ति ने एक बच्चे को जन्म दिया। मादा के खूब स्नेह और प्यार पूर्वक बच्चे का पालन-पोषण किया। बच्चा अभी २० महीने का ही हुआ था कि मादा ने एक नये बच्चे को जन्म दिया। यद्यपि पहला बच्चा माँ का दूध पीना छोड़ चुका था तथापि संसार के जीव मात्र को भावनाओं की न जाने क्या अध्यात्मिक भूख है उसे अपनी माँ पर और किसी का अधिकार पसन्द न आया। उसने अपने छोटे भाई को हाथ से पकड़कर खींच लिया और खुद जाकर माँ के स्तनों से चिपका।

स्वार्थ एक सामाजिक दोष है और अपराध का कारण भी। इसलिये उसकी सभ्य और भावनाशील समाज में निन्दा की जाती है। पर यहाँ स्वार्थ की अपेक्षा भावुकता की मात्रा अधिक थी। भाव तो वह शक्ति है जो स्वार्थ को भी क्षम्य कर देता है और नियम वृद्धता का भी उल्लंघन कर देता है। इससे लगता है भाव मनुष्य जीवन की मूल आवश्यकता है। हम उस आवश्यकता के कारण की शोध कर पायें तो जीवन विज्ञान के अदृश्य सत्य को खोज निकलने में सफल हो सकता है।

मादा ने अनुचित पर ध्यान नहीं दिया। उसने बड़े बच्चे को भावनापूर्वक अपनी छाती से लगा लिया और उसे दूध पिलाने के लिये इन्कार नहीं किया जबकि अधिकार उसका नहीं छोटे बच्चे का ही था। दो-तीन दिन में ही छोटा बच्चा कमजोर पड़ने लगा। चिड़ियाघर की निर्देशिका बेले. जे. बेनेशली के आदेश से बड़े बच्चे को वहाँ से निकालकर अलग कर दिया गया। अभी उसे अलग किये एक दिन ही हुआ था, वहाँ उसे अच्छी खुराक भी दी जा रही थी किन्तु जीव मात्र की ऐसी अभिव्यक्तियाँ बताती हैं कि आत्मा की वास्तविक भूख, भौतिक सम्पत्ति और पदार्थ की उतनी अधिक नहीं जितनी कि उसे भावनाओं की प्यास होती है। भावनायें न मिलने पर अच्छे और शिक्षित लोग भी खूँख्वार हो जाते हैं जबकि सद्‌भावनाओं की छाया में पलने वाले अभावग्रस्त लोग भी स्वर्गीय सुख का रसास्वादन करते रहते हैं। बड़ा बच्चा बहुत कमजोर हो गया जितनी देर उसका संरक्षक उसके साथ खेलता उतनी देर तो वह कुछ प्रसन्न दीखता पर पीछे वह किसी प्रकार की चेष्टा भी नहीं करता चुपचाप बैठा रहता; उसकी आँखें लाल हो जातीं, मुँह उदास हो जाता स्पष्ट लगता है।

गिरते हुये स्वास्थ्य को देखकर उसे फिर से उसके माता-पिता के पास कर दिया गया। वह सबसे पहले अपनी माँ के पास गया पर उसकी गोद में था छोटा भाई, फिर वही प्रेम की प्रतिद्वन्द्विता। उसने अपने छोटा भाई के साथ फिर रूखा और शत्रुतापूर्ण व्यवहार किया। इस बार माँ ने छोटे बच्चे का पक्ष लिया और बड़े को झिड़ककर अलग कर दिया मानो यह बताना चाहती हो कि भावनाओं की भूख उचित तो है पर औरों को इच्छा का भी अनुशासन-पूर्वक आदर करना चाहिये। दण्ड पाकर बड़ा बच्चा ठीक हो गया अब उसने अपनी भावनाओं की—परितृप्ति का दूसरा और उचित तरीका अपनाया। वह माँ के पास उसके शरीर से सटकर बैठ गया। माँ ने भावनाओं की सदाशयता को समझा और अपने उद्धत बच्चे के प्रति स्नेह जताया उससे उसका भी उद्वेग दूर हो गया। थोड़ देर में वह अपने पिता के कन्धों पर जा बैठा। कुछ दिन के पीछे तो उसने समझ लिया कि स्नेह-सेवा, दया, मैत्री, करुणा, उदारता, त्याग सब प्रेम के ही रूप हैं, सो अब उसने अपने छोटे भाई से भी मित्रता कर ली। इस तरह एक पारिवारिक विग्रह फिर से हँसी-खुशी के वातावरण में बदल गया। छोटे कहे जाने वाले इन नन्हे-नन्हे जीवों से यदि मनुष्य कुछ सीख पाता तो उसका आज का जलता हुआ व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन भी कैसी भी परिस्थितियों में स्वर्गीय सुख और सन्तोष का रसास्वादन कर रहा होता।

आज का मनुष्य भावनाओं के अभाव में ही इतनी दुराग्रही, स्वार्थी और उच्छृंखल हो गया है। यदि कुत्ते और बन्दर परस्पर प्रेम और मैत्री-भावना का निर्वाह कर सकते हैं तो विचारशील मनुष्य क्यों ऐसा नहीं कर सकता। यह कोई अत्युक्ति नहीं। पिछले दिनों अलीगढ़ जिले के कस्बा जवाँ में एक बन्दर और कुत्ते में मैत्री लोगों के लिये चुनौती बनी हुई थी। विरोधी स्वभाव के जीव परस्पर साथ-साथ खेलते और साथ-साथ रहते थे। बन्दर अपने मित्र के जुँयें साफ करता, कुत्ता बन्दर के तलुए सहलाता। दोनों की मैत्री एक अव्यक्त सत्य का प्रतिपादन करते हुये कहतीं है कि भिन्न-भिन्न शरीर है तो क्या आकांक्षाओं, इच्छाओं, भावनाओं वाली आत्मिक चेतना तो एक ही है। कर्मवश भिन्न शरीरों भिन्न देश जाति और वर्णों में जन्म लेने वाले अपने को दूसरा क्यों समझें, सब लोग अपने आपको विश्वात्मा की एक इकाई मानकर ही परस्पर व्यवहार करें तो संसार कितना सुखी. हो जावे ?

निसर्ग में यह आदर्श पग-पग पर देखने को मिलते हैं कैफनी एस. सी. में स्टीव एण्ड स्किनर के पास एक मुर्गी थी। एक बार उसके सद्य प्रसूत बच्चों को बाज ने पकड़कर खा लिया। उसके थोड़ी देर बाद मुर्गी ने एक बिल्ली का पीछा किया लोगों ने समझा मुर्गी के प्रतिशोध का भाव जाग गया है किन्तु यह धारणा कुछ देर में मिथ्या हो गई जबकि मुर्गी ने बिल्ली को पकड़ लिया। उसके पास आ जाने से उसके चारों बच्चे भी पास आगे मुर्गी ने चारों बच्चे स्वयं पाले और इस तरह अपनी

भावना की भूख को बिल्ली के बच्चे से प्यार करके पूरा किया।

डा. साहवर्ट ने जंगल जीवन की व्याख्या करते हुये एक गिलहरी और गौरैया में प्रगाढ़ मैत्री का वर्णन किया है। गिलहरी यद्यपि अपने बच्चों की देख-रेख करती और अपने सामाजिक नियमों के अनुसार अन्य गिलहरियों से मेल-मुलाकात भी करती पर वह दिन के कम से कम चार घन्टे गौरेया के पास आकर अवश्य रहती दोनों घन्टों खेला करते। दोनों ने एक दूसरे को कई बार आकस्मिक संकटों से बचाया और जीवन रक्षा की। गिलहरी आती तब अपने साथ कोई पका हुआ बेर गौरैया के लिये अवश्य लाया करती। गौरैया उस बेर को गिलहरी के चले जाने के बाद खाया करती।

भावनाओं की प्यास सृष्टि के हर जीव को है यही एकात्मता का प्रमाण है। प्यार तो खूँख्वार जानवर तक चाहते हैं। रूसी पशु प्रशिक्षक एडर वोरिस की मित्रता क्रीमिया नामक एक शेर से हो गई। दिन भर वे कहीं भी रहते पर यदि एक बार भी मिल न लेते तो उनका मन उदास रहता। मिलते तो ऐसे जैसे दो सगे बिछुड़े भाई वर्षों के बाद मिले हों। एक बार एक सरकस का प्रदर्शन करते हुये बोरिस के शेर भड़क उठे और वे उसे चबा जाने को दौड़े किन्तु तभी पीछे से जहाँ क्रीमिया जा पहुँचा उसने शेरों को घुड़ककर हटा दिया वोरिस बाल-बाल बच गया।

स्वामी दयानन्द एकबार बूढ़े केदार के रास्ते पर एक स्थान में ध्यान मग्न बैठे प्रकृति की शोभा का आनन्द पान कर रहे थे। उस समय एक साधु भी वहाँ पहुँच गये। साधु ने महर्षि को पहचानकर उन्हें प्रणाम किया ही था कि उन्हें एक शेर की दहाड़ सुनाई दी, शेर उधर ही चला आ रहा था। यह देखते ही वह महात्मा काँपने लगे। दयानन्द ने हँसकर कहा—बाबा डरो नहीं शेर खूँख्वार जानवर है तो क्या हुआ मनुष्य के पास दिव्य प्रेम की आत्म-भावना की ऐसी जबर्दस्त शक्ति है कि एक शेर तो क्या सैंकड़ों शेरों को गुलाम बना सकती है। सचमुच शेर वहाँ तक आया। साधु भयवश कुटिया के अन्दर चले गये पर महर्षि वहीं बैठे रहे। शेर स्वामी जी के पास तक चला आया। उन्होंने बड़े स्नेह से उसकी गर्दन सिर पर हाथ फेरा वह भी वहीं बैठ गया। उसकी आँखों की चमक कह रही थी कि जीवन की वास्तविक प्यास और अभिलाषा तो आंतरिक प्रेम की है। वह कुछ देर वहाँ बैठकर चला गया।

सारी पृथ्वी में—प्रकृति ने अपनी रचनाओं में जो विलक्षणता वैषम्यता प्रस्तुत कर रखी है वह तो ठीक है। वह हमारी दृष्टि में भले ही तुच्छ जान पड़े तो अध्ययन यह बताता है कि वह सब एक ही आत्म चेतना की विलक्षण और रहस्यपूर्ण परिणति है। एक ही चेतना अपनी इच्छा आकांक्षाओं के रूप में अनेक शरीर धारण करती रहती है। प्रकृति निर्जीव नहीं जीवित क्रियाशील है। उसके गुण और जीवन पद्धति उतनी ही विलक्षण है जितना कि इच्छा और वासनाओं वाला यह संसार रहस्यपूर्ण है।

विलक्षण यह प्राणी संसार

जीव जगत् की विलक्षणताओं का अध्ययन करने के लिये किये गये प्रयासों के कई ऐसे उदाहरण जीवों को देखने में आये हैं। उत्तरी अमेरिका में अलास्का से बाजा केलीफोर्निया तक समुद्र में ६० फुट से १८०० फुट तक की गहराई में "हैगफिश"। कोई कल्पना नहीं कर सकता कि कई इन्जनों वाले जेट विमान के समान इस मछली के ४ हृदय होते हैं, पेट होता ही नहीं और नथुना भी केवल एक ही होता है, दाँत जीभ में होते हैं। अपने शरीर को रस्सी की-सी गाँठ लगाकर यह किसी भरे हुये जीव के शरीर में घुस जाती है और उसका सारा शरीर चटकर जाती है पर आश्चर्य है कि भोजन न मिले तो भी वह वर्षों तक जीवित बनी रह सकती है।

हैगफिश किस जीव का विकास है ? आज का विज्ञान जगत भी प्रकृति के इस रहस्य को सुलझा सकने में असहाय अनुभव कर रहा है। सन् १८६४ में कोपन हेगन की साइन्स एकेडेमी ने घोषित किया कि जो वैज्ञानिक यह खोज कर लेगा कि हैगफिश को प्रजनन विधि क्या है, उसे भारी पुरस्कार दिया जायेगा पर आज तक भी

यह पुरस्कार कोई वैज्ञानिक प्राप्त नहीं कर सका।

जिस प्रकार "हैगफिश" की प्रजनन विधि ज्ञान नहीं हो सकी, उसी प्रकार वैज्ञानिक सर्वत्र पाये जाने वाले तिलचिट्टे (कॉक्रोच) की पृथ्वी पर आयु निर्धारित करने में असफल रहे हैं। अनुमान है कि करोड़ों वर्ष पूर्व पृथ्वी में देनोसारस श्रेणी के जीवों का आविर्भाव हुआ, तब तिलचिटटा पृथ्वी में विद्यमान था। इसकी सम्भावित आयु ३५ करोड़ वर्ष बताई जाती है। इतनी अवधि पार कर लेने पर भी कठोर से कठोर और भयंकर से भयंकर प्राकृतिक परिवर्तन झेल लेने पर भी इसकी शारीरिक रचना में न तो कोई अन्तर आया न विकास हुआ तब फिर जीव-जगत को नियमित और प्राकृतिक परिवर्तनों के अनुरूप विकास की संज्ञा कैसे दी जा सकती है।

तेज से तेज गर्मी, वर्ष भर बर्फ जमी रहने वाले ग्लेशियार पहाड़ और मैदान सब जगह यह तिलचिट्टे पाये जाते हैं। महीने भर तक भोजन पानी नहीं मिले तो भी उसका काम चल सकता है। दो महीने तक केवल पानी पर उपवास करके दिखा सकता है कि भोजन शरीर की आवश्यकता नहीं, तो ५ महीने तक वह सूखा भोजन ही लेता रहकर यह सिद्ध कर देता है कि मनुष्य पानी के बिना भी शरीर धारण करने में समर्थ हो सकता है। यह सब चेतना के आन्तरिक गुणों पर आधारित रहस्य हैं, जिन्हें केवल शारीरिक अध्ययन द्वारा नहीं जाना जा सकता उसे समझने के लिये आत्म-चेतना के विज्ञान का एक नया अध्याय खोलना आवश्यक है। यह अध्याय जीव के शरीर धारण की प्रक्रिया से सम्बन्धित और आध्यात्मिक तथ्यों व तत्व दर्शन का अध्याय होगा, जिसके लिये हमारे पूर्वजों ने कठोर से कठोर तप किया था और उन सनातन सत्यों का प्रतिपादन किया था, जो धार्मिक विरासत के रूप में अभी भी हमारे पास विद्यमान हैं।

तिलचिट्टे की भूख भी भयंकर होती है आहार प्रारम्भ कर देता है तो अपने अण्डे-बच्चे भी नहीं छोड़ता। मादा अपने बच्चों से बड़ा स्नेह रखती है प्रायः हर दो दिन में यह एक अण्डा दे देती है। एक रूसी जीव-शास्त्री ने एक बार पौने पाँच लाख तिलचिट्टों के ऐसे शव ढूँढ़ निकाले जो एक ही तिलचिट्टे दम्पति के सन्तान थे। नर-कॉक्रोच बड़ा सफाई व सौन्दर्य-पसन्द जीव है वह घण्टों अपने शरीर और मूछों की सफाई में लगाता और उन्हें सुन्दर ढंग से सँवारता है। इसकी मूँछें लम्बी होती है और एरियल का काम देती हैं। मूँछों की मदद से वह अंधेरे में भी अपना रास्ता आसानी से तय कर लेता है। विज्ञान के लिये यह खुली चुनौतियाँ हैं। आज जो खोजें मनुष्य ने कर ली हैं, प्रकृति उसका ज्ञान आदि काल से अपने गर्भ में छिपाये हुये हैं। सृष्टि के वह विलक्षण जीव प्रकृति चेतना के ही प्रमाण हैं, वह इस बात के साक्षी भी हैं कि प्रकृति एक "परिपूर्ण वैज्ञानिक" है। विज्ञान की पूर्ण शोध और जानकारी का लाभ किसी प्रकृतिस्थ को ही उपलब्ध हो सकता है।

तिलचिट्टे की विलक्षणतायें और भी हैं। उसके बच्चे सप्ताहों भूखे रह सकते हैं। वह स्वयं बर्फ की चट्टान में दब जाता है, बर्फ पिघलकर उधर निकलती है और यह उधर उठकर चल देता है, इसका बाहरी आवरण इतना कठोर होता है कि पाँव से दब जाने पर भी यह मरता नहीं है। दौड़ने में यह किसी सुन्दर विमान से कम नहीं, यह सब गुण ही हैं, जिन्होंने वैज्ञानिकों का ध्यान इसकी शोध के लिये आकर्षित किया। पर बेचारे जीव शास्त्री उसकी इस शारीरिक विलक्षणता पर ही उलझे रहे और मानसिक रहस्यमयता का एक भी पर्दा उघाड़ न सके।

उष्ण कटिबन्धीय समुद्र में एक ट्रिगर फिश (वह मछली जिनके शरीर में काँटे होते हैं) पाई जाती है, इसका नाम 'हुमुहुमु-नुकुनुकु' जैसा विलक्षण नाम वैसा ही विलक्षण स्वयं भी। इसकी पूँछ पीठ, और सिर पर कुछ काँटे होते हैं, जिन्हें यह अपनी इच्छा और नाड़ियों के द्वारा जब चाहती है तरेरकर सीधा और तीक्ष्ण कर देती है। फलस्वरूप किसी भी दुश्मन की इन पर घात नहीं लग पाती। इसके दाँतों की बनावट विचित्र होती है दोनों जबड़ों में बाहर आठ-आठ दाँतों के अतिरिक्त ऊपर के जबड़े में

एक प्लेट की शक्ल में ६ दाँतों की भीतरी पंक्ति भी होती है ऐसा किस सुविधा के लिये यह वही जानती है क्योंकि प्रकृति की कोई भी रचना निरर्थक नहीं। भले ही मनुष्य सारगर्भित कल्पनाओं के स्थान पर वह क्रिया-कलाप और रचनायें गढ़ता रहे, जो उसे लाभ पहुँचाने के स्थान पर हानिकारक होती हों।

जीवों की यह तरह-तरह की आकृति और प्रकृति देखते-देखते शास्त्रकार की जैविक व्याख्या अनायास ही याद आ जाती है—

अनारतं प्रतिदशं देशे देशे जले स्थले।
जायन्ते वा म्रिय ते वा बुदबुदा इव वारिणि।।

—योग वशिष्ठ ४।४५।१-२

एवं जीवाश्रितो भावा भव भावन योहिता।
ब्राह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः।।
असंख्यताः पुरा जाता जायन्ते चापि वाद्यभो।
उत्पत्तिष्यन्ति चैवाम्बुकणौघा इव निर्झरात्।।

—योग वशिष्ठ ४।४३।३।२

हे राम ! जिस प्रकार जल में अनेक बुल-बुले बनते और बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार सब देश और सभी कालों में यह चेतना ही अनेक जीवों के रूप में उत्पन्न और नष्ट होती रहती है यह सब चित्त के रूपान्तर का फल है। जीव अपनी इच्छा और कल्पना के द्वारा लाखों और करोड़ों की संख्या में तीनों कालों में उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे झरने के जल-कण।

भारतीय दर्शन की यह मान्यतायें कितनी सत्य और स्पष्ट हैं, उसे समझने के लिये साधना, शोध और अपने आत्मिक स्तर के विकास को उसे ऊँचा उठाने की आवश्यकता है। उपरोक्त घटनाओं और विचारणाओं से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणी में विद्यमान विलक्षणतायें सार्वभौम सर्वव्यापी चेतना की ही एक शक्ति है और सबमें उसका अस्तित्व भाव संवेदना, करुणा, ममता, वात्सल्य मैत्री और दया की भाव सम्पदा के रूप में प्रकट होती है।

सभी सन्तानों से समान प्यार

मनुष्य अपने को सब बातों में अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ और विकसित मानता है। कुछ अर्थों में वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है भी। उदाहरण के लिये उसका मस्तिष्क अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इसलिये वह अनेक दिशाओं में, पक्ष-विपक्ष की बातें सोच सकता है और अनेक निष्कर्ष निकाल सकता है। उसे हँसने की, बोलने की, लिखने-पढ़ने की विशेषतायें भी मिली हैं। कृषि, पशु-पालन, शिल्प, व्यवसाय, सवार जैसे साधन उसने सीखे और विकसित किये। विज्ञान क्षेत्र, अर्थ, क्षेत्र युद्ध-क्षेत्र आदि में उसकी उपलब्धियाँ अन्य प्राणियों से अधिक हैं। किन्तु उसका यह दावा करना गलत है कि सभी बातों में बढ़ा-चढ़ा है।

प्रकृति को अपनी सभी सन्तानों से समान प्यार है और उसने सबको आवश्यकतानुसार विभूतियाँ प्रदान की हैं। यह बात और है कि मनुष्य के हिस्से में बुद्धि तत्व अधिक आया और इसके बल पर वह अनेक क्षेत्रों में विकास कर सका। लेकिन इसी आधार पर मनुष्य को अहमन्य नहीं मानना चाहिये। उसकी यह अहमन्यता एक सीमा तक ही नहीं है। छोटे-छोटे जीव जिन्हें आमतौर पर तुच्छ और नगण्य समझा जाता है, वे कई क्षेत्रों में अपनी विशेषताओं के कारण मनुष्य से आगे हैं।

मनुष्यों को गर्व हो सकता है कि वे दुनिया भर में छाये हुये हैं और उनकी संख्या ४०० करोड़ है। इस अहंकार को टिड्डी दल चुनौती दे सकता है और कह सकता है कि हमारी संख्या एवं शक्ति इतनी अधिक है जिसका सामना मनुष्यों की बुद्धि और सामर्थ्य नहीं कर सकती। युद्ध कौशल और आत्मरक्षा के प्रयत्नों में छिपकली मनुष्य जाति के बड़े-बड़े सेनापतियों और छापामारों की चुनौती देती है। समय पड़ने पर वह प्रबल शत्रु को ऐसा चमका देती है कि प्रस्तुत प्राण संकट से वह सहज ही बच निकले।

छिपकली की पूँछ दुधारे शस्त्र का काम करती है। गोह गिरगिट जाति की बड़ी छिपकलियाँ अपनी पूँछ का ऐसा प्रहार करती हैं जैसा कि गधे, घोड़े दुलत्ती झाड़ते हैं। उसकी करारी चोट खाकर शत्रु तिलमिलला उठता है और उसे भागते ही बनता है।

छोटी छिपकलियाँ जब किसी बलवान शत्रु से घिर जाती हैं तो अपनी पूँछ फटकार कर उसे तोड़कर अलग कर देती हैं। तेजी से

हिलती हुई उस कटी पूँछ को ही शत्रु पूरी छिपकली समझ लेता है और उसी से गुँथ जाता है, उसी बीच छिपकली भाग खड़ी होती है और अपनी प्राण रक्षा कर लेती है। आश्चर्य यह है कि उस कटी पूँछ के स्थान पर फिर नई पूँछ उग आती है और कुछ ही दिन में पहले जैसे बन जाती है।

शत्रुओं से निपटने के लिये मनुष्य युद्ध सामग्री सैन्य-सज्जा के अनेकानेक अस्त्र-शस्त्र का निर्माण कर रहा है, जिनमें विषाक्त गैसें और अणु आयुध भी सम्मिलित हैं। एक देश दूसरे को अपना शत्रु मानता है, उसका अस्तित्व मिटा देने के लिये बढ़े-चढ़े दावे पेश करता है क्या यह धमकियाँ सफल हो सकती हैं यह पूछने के लिये चूहा चुनौती देता है और अँगूठा दिखाता है कि तुम प्राणी मुझे अपन शत्रु मानते हो और मेरी हस्ती दुनिया से मिटा देने के लिये पीढ़ियों से सिर तोड़ प्रयत्न कर रहे हो पर इसमें कितनी सफलता मिली ? यदि तुम मुझ साधनहीन चूहे का कुछ नहीं बिगाड़ सकते तो शत्रु देशों का क्या कर लोगे ? तुम्हीं सब कुछ तो नहीं हो—मारने वाले से बचाने वाला ईश्वर बड़ा है, यह क्यों भूल जाते हो।

चूहों से कैसे निपटा जाये यह बड़ा पेचीदा प्रश्न है, इस दिशा में मनुष्य का बुद्धि-कौशल लगातार मात खाता चला आता है। चूहेदान पिंजड़े दो चार दिन काम करते हैं। अपने साथियों की दुर्गति देखकर वास्तविकता समझने में उन्हें देर नहीं लगती। पीछे पिंजड़े में कुछ भी रखते रहिये एक भी उसमें नहीं फटकेगा। जो उधर ललचा रहा होगा उसे भी साथी लोग सावधान कर देते हैं। अजनबी घर में पहुँचकर बिल्ली उन्हें दबोच सकती है पर जब वह उसी घर में रहने लगती है तो चूहे वे दाव पेंच निकाल लेते हैं, जिनसे उन पर कोई विपत्ति न आये। कहीं-कहीं तो मजबूत चूहे मिलकर कमजोर बिल्ली पर आक्रमण, तक कर बैठे हैं। साधारणतया अभ्यस्त चूहे बिल्ली से डरते नहीं वरन् अँगूठा दिखाते हुये आँख-मिचौनी खेलते रहते हैं। गोदामों की सुरक्षा के लिये नेवले-साँप, बीज़ल, फेरेट पाले गये ताकि वे चूहों से निपट सकें, पर इसका भी कोई बहुत अच्छा परिणाम न निकला।

चूहों से फैलने वाली बीमारी पिछले दिनों प्लेग ही मानी जाती थी पर अब पता चला है कि वे टाइफसट्रिक्रिता-सेप्टोस्पा इरोसिस सरीखे अन्य कई भयानक रोग भी पैदा करते हैं। चूहों को मारने के लिये पिछले दिनों कई विष प्रयुक्त होते रहे हैं। स्ट्रिक्लीन-जिंक फास्फाइड वार्स्फैरिन आदि का प्रयोग किया जाता रहा है। इन्हें उपयुक्त मात्रा में खा लेने पर तो वे मर जाते हैं पर यदि थोड़ी मात्रा में ही खायें तो उनका शरीर इन विष रसायनों से आत्मरक्षा करने में अभ्यस्त हो जाता है। फिर वे मजे से उसे खाते रहते हैं। उनकी पीढ़ियाँ इस प्रकार की बन जाती हैं कि इन घातक विषों का भी उन पर कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

धरती केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं बनाई गई है उस पर रहने का और निर्वाह साधन प्राप्त करने का अन्य प्राणियों को भी अधिकार है। मनुष्य चाहता है कि उसे ही धरती की सारी उपलब्धियाँ मिल जायें, अन्य प्राणी जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह उनसे छीन लिया जाये। इस दृष्टि से उसने चूहों को अपना प्रतिद्वन्द्वी हानिकारक शत्रु माना और उनके विनाश के लिये जो कुछ सम्भव हुआ वह सब कुछ किया। पर प्रकृति उसके मनोरथ पूरे नहीं होने दे सकती। उसे मनुष्य की ही तरह अन्य प्राणियों के अस्तित्व की भी रक्षा करनी है। इसलिये उनकी सुरक्षा के लिये भी कुछ न कुछ व्यवस्था जुटा ही देती हैं।

चुहिया छः महीने में वयस्क हो जाती है और बच्चे देने लगती है। वह एक बार में प्रायः एक दर्जन बच्चे देती है। यदि यह सब जीवित रहें तो एक चुहिया के बच्चे दस वर्ष के भीतर संसार के कोने-कोने में भरे हुये दिखाई पड़ सकते हैं।

प्रकृति मनुष्य से कहती है तुम्हारे और बिल्ली, उल्लू आदि मांसाहारी जीवों के प्रयत्नों को निष्फल बनाने के लिये मैंने चुहिया को पर्याप्त प्रजनन शक्ति दे रखी है, उसके रहते तुम कभी भी उस छोटे प्राणी का अस्तित्व समाप्त न कर सकोगे।

अच्छा होता मनुष्य अपने को संसार के जीव परिवार का एक छोटा सदस्य मानता और सर्वोपरि सर्वाधिकारी का दावा न करके इस तरह रहता, जिससे पारिवारिक सन्तुलन की सुन्दरता बनी रहती।

जीव-जन्तुओं की विशिष्ट क्षमतायें

बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में कहीं आगे है। यह ठीक है। बुद्धि, वैभव से उसने परिवार, समाज, शासन का संगठन बनाया है। विज्ञान बुद्धिबल की ही देन है। एक-एक सीढ़ी ऊँची बढ़ते हुये मनुष्य जाति उस स्थान पर पहुँच पाई है, जहाँ उसे प्रकृति-सम्पदा के स्वत्वाधिकारी माना जाता है। पर इतने मात्र से वह नहीं समझना चाहिये कि सृष्टि के अन्य प्राणी मात्र मरने तक का नीरस जीवन जीते हैं। उनके पास आनन्द एवं सुविधा सम्वर्धन के लिये कोई विशेष चेतना नहीं है। वास्तविकत्ता यह है कि अपनी जीवनचर्या को सुखद और सरल बनाने के लिये उन्हें ऐसी दिव्य क्षमतायें प्राप्त हैं, जिनसे मनुष्य एक प्रकार से वंचित ही है। जिस अनुपात से छोटे जीवों को विशेष क्षमतायें प्रकृति ने प्रदान की हैं यदि वही सब मनुष्य को भी मिल सकी होतीं तो वह-देव-दानवों की स्थिति में रह रहा होता। भगवान् न अपने न्याय वितरण में जहाँ मनुष्य को बुद्धि दी है, वहाँ अन्य प्राणियों को भी बहुत कुछ दिया है, जिसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

पशु-पक्षियों की अपनी सांकेतिक भाषा है। उसके आधार पर वे एक-दूसरे से विचार विंनिमय करते हैं। प्रेरणा देते और ग्रहण करते हैं। उनका बोलना, चहचहाना निरर्थक नहीं होता वरन् उसमें अभिव्यंजनाओं की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न आवाजों के आधार पर होती है। इस प्रकार के उच्चारण से वे अपना जी हल्का करते और प्राथियों को अपनी स्थिति से अवगत कराते हैं। इससे वे सचेत होते, लाभ उठाते और संकट से बच निकलने का उपाय खोजते हैं। मनुष्येत्तर प्राणियों की आवाज टैप करके उसे उनके साथियों को सुनाया गया तो पाया गया कि वे उससे प्रभावित होते हैं और आवाजों के अनुरूप अपनी हलचलें प्रस्तुत करते हैं।

वन-जातियों एवं शिकारियों का अनुभव है कि साधारण रीति से बिना छल, कपट का मनुष्य आसानी से वन-जातियों के बीच आ जा सकता है। इसमें उन्हें कोई विशेष उद्विग्नता नहीं होती। किन्तु यदि आखेट के उद्देश्य से कोई उनके समीप पहुँचता है तो मनोभाव ताड़ने में उन्हें देर नहीं लगती। हड़बड़ाकर वे आत्म-रक्षा के लिये दूर भागने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य द्वारा बन्दूक आदि कपड़ों में छिपाकर ले जाने से भी उन्हें संकट को पहचानने में देर नहीं लगती। मनुष्य में मनोभाव ताड़ने की यदि ऐसी क्षमता होती तो उसे अपने स्वजन, साथियों द्वारा बार-बार ठगे जाने की स्थिति क्यों आती ?

भूखे सिंह की आकृति देखकर ही आस-पास चरने वाले वन्य-पशु जान बचाकर भाग खड़े होते हैं। इसके विपरीत जब उसका पेट भरा होता है तो आँखों से सिंह दिखाई पड़ते रहने पर भी जंगली पशु निर्भयतापूर्वक आस-पास ही चरते रहते हैं। इतना ही नहीं भय होने पर वे भयाक्रान्त वाणी बोलकर अन्य साथियों को भी खतरे से सचेत कर देते हैं।

शिकार के समय अथवा अन्य किसी प्रतिद्वन्द्वी से उलझते समय सिंहनी अपने बच्चों को किसी सुरक्षित स्थान पर छिपा देती है। बच्चे भी वस्तुस्थिति समझ लेते हैं और दम साधकर बिना हिले-जुले चुपचाप लुके रहते हैं। खतरा समाप्त होने का संकेत पाते ही वे दौड़कर उछलते-कूदते माँ के पास जा पहुँचते हैं। मात्र माँ की मनःस्थिति के सहारे परिस्थितियों को समझ लेना और अपनी बाल-चंचलता को बुद्धिमत्तापूर्वक दबाये रहना इन शावकों की अनोखी समझदारी कही जा सकती है।

पक्षियों में एक तरह की अन्तर्दृष्टि भी होती है और गुप्त चेतावनी-व्यवस्था भी। मनुष्य अपने शत्रु-मित्र की पहचान में अक्सर भूलें करता है, पर पक्षियों में इस विषय में जन्म-जात क्षमता पाई गई है। एक वैज्ञानिक प्रयोग में एक कागज के एक ओर हंस का-सा और दूसरी ओर बाज जैसा आकार दिया गया तथा मुर्गी के नन्हें-नन्हें बच्चों के एक पिंजड़े के चारों तरफ इस नकली दो मुँहे पक्षी को घुमाया गया। यह देखा गया कि जब उन बच्चों के सामने हंस

का आकार आता, तो वे सहज रहते, पर जब बाज़ जैसी आकृति दिखती, उनमें भय और खलबली दौड़ जाती। उन बच्चों को बाज के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल पाई थी, न ही बाज उन्होंने कभी देखा था। तो भी वे शत्रु-मित्र की पहचान कर सके।

प्रख्यात पक्षी वैज्ञानिक डा. ज्योमैफ्रेथ्यूस का कहना है कि पक्षियों के भीतर एक 'जीव वैज्ञानिक तथा समय व दिशासूचक यन्त्र' होता है, जिससे वे सूर्य और नक्षत्रों की स्थिति जानते हैं तथा सहस्रों मील लम्बी यात्रायें करते व समुद्र को सही दिशा में उड़कर पार करते हैं।

यह भी देखा गया है कि पिंजड़े में बन्दी वे पक्षी, जिनकी लम्बी उड़ानों की ऋतुयें निश्चित होती हैं, उस ऋतु के आगमन पर उदास हो जाते हैं क्योंकि उन्हें उड़ने को नहीं मिलता।

सोलोमन व डालफिन मछली प्रजनन के समय अपने जन्म-स्थल पर पहुँचती है। इसके लिये उन्हें सैकड़ों मील की यात्रा करनी होती है।

ईल नामक सर्पमीन बिना रडार या कुतुबनुमा के ही यूरोप की नदियों से सागर तट तक निश्चित स्थानों पर हजारों मील चलकर पहुँच जाती है। मादा ईल योरोप की मीठे पानी वाली नदियों में रहती है और नर ईल अतल समुद्र में। ८-१० वर्ष की होने पर मादा ईलें जुलाई, अगस्त में योरोप की इन नदियों से समुद्र की ओर कूच कर देती हैं। बिना किसी दिशा सूचक यन्त्र या घड़ी के ये निश्चित समय पर समुद्री मुहानों तक पहुँच जाती हैं, जहाँ नर ईल अपना भूरा कलेवर बदलकर रजतवर्णी आभा और सतरंगी आकांक्षाओं के साथ प्रतीक्षा करते रहते हैं। जैसे ही मादा ईलें समुद्री मुहानों पर पहुँचती हैं और अपने-अपने प्रियतम को देखती हैं। उनकी गुलाबी भावनायें वेगवती हो उठती हैं और दोनों एक-दूसरे से लिपट जाते हैं तथा प्रणय केलि करते गहरे समुद्र में पहुँच जाते हैं वहीं डुबकी लगाकर ३ सौ से १५ सौ मीटर तक की गहराई में मादा ईलें अण्डा देती हैं। उन पर नर ईल अपने शुक्राणु डालते जाते हैं। यही गभाधान की क्रिया है। पर प्रसव के बाद ही मादा और उसके साथ ही नर ईल देह त्याग कर देते हैं। सम्भवतः कर्त्तव्य-सम्पादन की संतुष्टि उनको दीर्घ विश्राम की प्रेरणा देती है। नन्हें बच्चों का पालन प्रकृति करती है। बड़े होने पर ये बच्चे समुद्र की सतह पर आ जाते हैं। जीवाणु और घास खाते तथा धूप सेवन करते हैं। एक वर्ष में वह तीन इंच लम्बे हो जाते हैं, मुहाने पर पहुँचते हैं। ईल-किशोरियों की देह समुद्री मुहाने पर पहुँचते ही गुलाबी हो उठती है।

वसन्त ऋतु में वे उन्हीं मीठे पानी वाली नदियों की ओर चल पड़ती हैं। नर-ईल वहीं रह जाते हैं! ८-१० वर्ष बाद यही मादा-ईल सहसा प्रणयाकांक्षा से भरकर चल देती हैं, समुद्री मुहाने की ओर।

विशालकाय (व्हेल) मछलियाँ भी अनुकूल वातावरण की खोज में समुद्र में हजारों मील दूर तक चली जाती हैं और भटकती कदापि नहीं।

वैज्ञानिक अनुसन्धानों से पता चला है कि कीड़े-मकोड़े और छोटे जीव-जन्तु भिन्न-भिन्न भाँति के सन्देशों को सम्प्रेषित करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की अत्यन्त हलकी गन्ध प्रसारित करते हैं, जिसे मनुष्य नहीं सूँघ सकता, लेकिन सम्बद्ध जाति के कीड़े-मकोड़ों में उसकी सम्वेदनात्मक प्रतिक्रिया होती है।

उदाहरणार्थ—प्रत्येक वर्ग की चींटियों के नवजात शिशु (जो अण्डे से शिशु रूप ग्रहण करती है) में एक विशेष गन्ध होती है, जो सिर्फ उसी कुनबे की चींटियों में वात्सल्य भाव तथा मातृत्व की भावना जगाती है।

खोजों से ही पता चला है कि चींटियों समेत अनेक कीड़ों में कई-कई तरह के गन्ध-प्रसारण या कि गन्ध-रसायन अलग-अलग प्रभाव पैदा करते हैं। एक गन्ध ऐसी होती है, जिनके सहारे कीड़ों का दल अपने मुखिया का सही अनुमान करता है--रास्ते में भूलता-भटकता नहीं। एक गन्ध ऐसी होती है, जिसे सूंघकर नर मादा की गर्भ धारणा की सम्भावना की समझकर, उससे सहवास करता है। ये सभी गन्ध रसायन "फेरोमोन" कहे जाते हैं।

एक 'फेरोमोन' ऐसा होता है, जिसके द्वारा मादा नर को आकर्षित करती है। एक अन्य

फेरोमीन के द्वारा वह अपने वांछित नर का दूसरी सभी मादाओं के प्रति आकर्षण कम करती है।

एक "फेरोमोन" ऐसा होता है, जिसके द्वारा नर, अपनी प्रिय मादा से, दूसरे सभी नरों को दूर रखता है।

अमरीका में कपास के ढोढे को कीड़ों से बचाने के लिये फेरोमोन का उपयोग होता है। फसलों की कीड़ों से रक्षा के लिये भी इनके उपयोग की दिशा में काम चल रहा है। जिस वर्ग के कीड़ों को मारना हो, उसके लिये आकर्षित करने वाला फेरोमोन तैयार कर खेत से दूर एक पिंजड़े में उसे रख दिया जाय, तो उस वर्ग के समस्त कीड़े उस पिंजरे में खिंचे चले आयेंगे। फिर उनको मारा जा सकता है।

इससे कीटाणुनाशक दवाओं से होने वाली हानि नहीं हो पायेगी क्योंकि कीटनाशक दवायें सिर्फ फसल को नुकसान करने वाले कीड़े ही नहीं मारतीं, अक्सर उपयोगी कीड़े भी मार डालती हैं। साथ ही ये कीटनाशक पानी के साथ बहकर नदी-नाले में पहुँचकर वहाँ जल-जीवों को भी क्षति पहुँचाते हैं। फेरोमोन से ये सब नुकसान नहीं होंगे, बस मन चाहे कीड़ों को आकर्षित कर उनका काम तमाम किया जा सकता है।

यद्यपि कृत्रिम फेरोमोन का निर्माण है कठिन, पर उस दिशा में तेजी से कार्य जारी है।

ऋतु परिवर्तन की पूर्व सूचना देने वाले पक्षियों तथा कीड़ों से किसान लोग सहज ही यह जान लेते हैं कि निकट भविष्य में ऋतुओं सम्बन्धी क्या हेर-फेर होने जा रहा है। किसी मकान के गिरने की सम्भावना हो तो बिल्ली अपने बच्चों को वहाँ से पहले ही उठा ले जाती है। भूकम्प आदि प्राकृतिक दुर्घटनाओं की पूर्व सूचना भी कई पशुओं की विचित्र हलचलें देखकर प्राप्त की जा सकती हैं। रात को कुत्ते अधिक रोते हों तो समझा जाता है कि कहीं मरण का कुचक्र घूम रहा है। कुत्तों की घ्राण शक्ति इतनी सधी हुई होती है कि वे जिस मार्ग से बहुत दूर तक ले जाये गये थे, उसी से उलटे पाँवों लौट आते हैं। यह कार्य वे उस रास्ते में पिछली बार छूटी हुई अपने ही पैरों की गन्ध सूँघकर सम्पन्न करते हैं। कुत्तों द्वारा चोरी का पता लगाने की पुलिस व्यवस्था में उनकी घ्राण शक्ति का ही प्रयोग होता है।

तैरने वाले, घूमने वाले, उड़ने वाले प्राणियों की सामान्य हलचलें ऐसे ही बेंसिलसिले की तथा अटपटी दिखाई पड़ती हैं, पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मकड़ी, मधु-मक्खी, चींटी दीमक जैसे तुच्छ प्राणियों की विलक्षण बुद्धि को देखकर चकित रह जाना पड़ता है, वे अपने साधनहीन और पिछड़े समझे जाने वाले जीवन क्रम को सरल एवं आनन्दित बनाये रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान ने हर प्राणी को उसकी स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप ऐसे साधन दिये हैं, जिसमें किसी के साथ पक्षपात या अन्याय हुआ न कहा जा सके।

खाली हाथ अन्य जीव भी नहीं

ईश्वर ने एक किस्म के खिलौने मनुष्य को दिये हैं तो दूसरी किस्म के खिलौने भगवान ने अपने इन छोटे बच्चों को—अन्य जीवों को भी दे रखे हैं और खाली हाथ उन्हें भी नहीं रहने दिया गया है।

दीमक और चींटियाँ परस्पर अंग स्पर्श करके—एक दूसरे—साथी को अपनी बात बताती और उसकी सुनती हैं। इस पारस्परिक जानकारी के आधार पर उन्हें अपना भावी कार्यक्रम बनाने में बड़ी सहायता मिलती है।

तितलियाँ और पतंगे अपने शरीर से समय-समय पर भिन्न प्रकार की गन्ध छोड़ते हैं, उस गन्ध के आधार पर उस जाति के दूसरे पतंगे अपने साथियों की स्थिति से अवगत होते हैं और उपयोगी सूचनायें संग्रह करते हैं। किस दिशा में उपयोगी किस में अनुपयोगी परिस्थितियाँ हैं, उसका ज्ञान वे साथी पतंगों के शरीर से निकलने वाली गन्ध से ही प्राप्त करते हैं। उनकी दृष्टि दुर्बल होती है। आँखें उनकी इतनी सहायता नहीं करती जितनी कि नाक।

बहुत पतंगे एक-दूसरे के विभिन्न अंगों का स्पर्श करके अपने विचार उन तक पहुँचाने और

उनके जानने की प्रक्रिया पूरी करते हैं। मनुष्य का सम्भाषण वाणी से अथवा भाव-भंगिमा के माध्यम से सम्पन्न होता है। पतंगे यही कार्य परस्पर अंग स्पर्श से करते हैं। जीभ से उच्चारण न कर सकने पर भी वे एक-दूसरे की शारीरिक और मानसिक स्थिति जान लेते हैं। इस प्रकार उनका पारस्परिक सम्पर्क एक-दूसरे के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। मधुमक्खियों के पैर बहुत संवेदनशील होते हैं, वे उन्हें रगड़कर एक प्रकार का प्रवाह उत्पन्न करती हैं। उससे न केवल ध्वनि ही होती है वरन् ऐसी संवेदना भी रहती है, जिसे उसी वर्ग की मक्खियाँ समझ सकें और उपयागी मानसिक आदान-प्रदान से लाभान्वित हो सकें।

टिड्डे और झींगुर अपने पिछले पैर और पंख रगड़ कर अनेक चढ़ाव-उतार सम्पन्न ध्वनि प्रवाह उत्पन्न करते हैं। सितार-सारंगी या वेला के तारों का घर्षण जिस प्रकार कई तरह की स्वर लहरी पैदा करता है, उसी तरह टिड्डे तथा झींगुरों के पैरों तथा पंखों के माध्यम से प्रस्स्फुटित होने वाला स्वर प्रवाह अनेक प्रकार का होता है और अनेक प्रकार के भाव तथा संकेत छिपे रहते हैं।

जीव विज्ञानी जर्मन वैज्ञानिक डाक्टर फैवर ने योरोप भर में घूमकर विभिन्न जातियों के टिड्डे, झींगुरों की ध्वनियों का टैप संकलन किया है। उनने ४०० प्रकार के शब्द पाये जो निरर्थक नहीं सार्थक थे और सुरुचि पैदा करते थे। उन्होंने १४ प्रकार के प्रणय गीत भी इकट्ठे किये, जिनमें प्रणय निवेदन के उतार-चढ़ाव आग्रह, अनुरोध, आकर्षण, निषेध, मनुहार, प्रलोभन, सहमति, असहमति की मनःस्थिति की जानकारी सन्निहित थी। इसके अतिरिक्त वे अन्य मनोभाव अपने वर्ग तक पहुँचाने के लिये—अपने अन्तः अभिव्यक्ति के लिये यह ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न करते हैं, इसका विस्तृत विश्लेषण और विवरण डाक्टर फैथर ने तैयार किया है। ग्रइलस, कम्पोस्टिस, ग्राइवो, मेक्यूलेटस जाति के झींगुरों की शब्दावली और भी अधिक विकसित पाई गई।

मधु-मक्खियाँ जब घर लौटती हैं तो अपनी दैनिक उपलब्धियों की जानकारी छत्ते की अन्य मक्खियों को देती हैं, इसके लिये उसका माध्यम नृत्य होता है स्थिति की भिन्नता को सूचित करने के लिये उनकी अनेक नृत्य पद्धतियाँ निर्धारित हैं। इसी परिसंवाद से वे परस्पर एक-दूसरे की उपलब्धियों से पराजित होती हैं और अगले दिन के लिये अपना क्रम परिवर्तन निश्चित करती हैं। कार्लवाल फ्रज्च का मधुमक्खियों सम्बन्धी अध्ययन अति विशाल है। रानी मधुमक्खी जब ऋतुमय होती है, तो उसके शरीर से निकलने वाले आक्सोइका और ड्रेनोइक द्रव हवा में उड़कर नरों तक सन्देश और आमन्त्रण पहुँचाते हैं।

कुछ लघुकाय कीटपतंग केवल अपने नेत्र संचालन और मुख मुद्रा में थोड़ा हेर-फेर करके अपनी मनःस्थिति से साथियों को अवगत करते हैं। प्रो. राबर्ट हिण्डे ने कितनी ही चिड़ियों को केवल नेत्र संकेतों से वार्तालाप करते देखा है। एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की आवश्यकता के आँखों में रहने वाली संवेदना से कर लिया करती हैं, जुगनू अपने मनोभाव पूँछ में से प्रकाश चमकाकर प्रकट करते हैं। प्रकाश के जलने-बुझने का क्रम उस वर्ग के दूसरे जुगनुओं के चमकते हुये प्रकाश के माध्यम से पारस्परिक परिचय तथा एक-दूसरे की स्थिति समझने का अवसर मिलता है।

मेंढकों का टर्राना एक स्वर से नहीं होता और न निरर्थक। वे अपनी स्थिति की सूचना इस टर्राहट के द्वारा साथियों तक पहुँचाते हैं। इसलिये इस टर्राने में कितने ही प्रकार के उतार-चढ़ाव पाये जाते हैं। पक्षियों में कौए की भाषा अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत है। वे अपने वर्ग की ही बात नहीं समझते वरन् आस-पास रहने वाले अन्य पक्षियों की भाषा भी बहुत हद तक समझ लेते हैं और उस जानकारी के आधार पर चतुरतापूर्वक लाभ उठाते हैं।

आमतौर से छोटे जीव-जन्तुओं के पारस्परिक संवाद के विषय होते हैं, सहायता की पुकार, खतरे की सूचना, क्रोध की अभिव्यक्ति हर्षोल्लास का गीत-राग, व्यथा वेदना का क्रन्दन, ढूंढ़ तलाश। इन प्रयोजनों के लिये उन्हें अपने वर्ग के साथ सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। ऐच्छिक या अनैच्छिक कुछ भी हो यह विचार विनिमय उनके लिये उपयोगी ही सिद्ध

होता है। यदि इतना भी वे न कर पाते तो सामाजिक जीवन का सर्वथा अभाव, नितान्त एकाकीपन उन्हें और भी अधिक कष्टमय स्थिति में धकेलता है।

नीलकण्ठ पक्षी द्वारा मछली का शिकार देखते ही बनता है। वह पेड़ की डाली पर बैठा हुआ घात लगाये रहता है और जहाँ मछली दिखाई पड़ी कि बिजली की तरह टूटता है और पानी में गोता लगाकर मछली पकड़ लाता है। आश्चर्य इस बात का है कि जिस डाली पर से—जिस स्थान से वह कूदा था लौटकर ठीक वहीं वापिस आता है और वहीं बैठता है—यह स्प्रिंग पद्धति का क्रिया-कलाप है। दीवार पर फेंककर मारी गई गेंद लौटकर फेंकने के स्थान पर ही आती है। नीलकण्ठ प्रकृति के उसी सिद्धान्त का जीता जागता नमूना है।

तोता, मैना, बुलबुल, रोबिन, चटक, कनारी कुलम जैसे कितने ही पक्षी मनुष्य की बोली की नकल उतारने में सक्षम होते हैं। पढ़ाये हुये तोता, मैना--राधा, कृष्ण, सीताराम कौन हैं, क्यों आये आदि कितने ही शब्द याद कर लेते हैं और समय-समय पर उन्हें दुहराते रहते हैं। 'अमेजन' जाति का तोता तो १०० शब्दों तक की नकल उतार सकता है। आस्ट्रेलियाई तोते १० तक गिनती गिन ही न लेते वरन् उन संख्या को पहचान भी लेते हैं।

कबूतरों की सन्देशवाहक के रूप में करने की क्षमता प्रसिद्ध है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने और वापिस लौटने में उन्हें सिखाया सधाया जा सकता है। डाक-तार की सुविधा से पूर्व वे सन्देशवाहक का काम खूबी के साथ निबाहते थे। पैरों में पत्र बाँध दिया जाता था, निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचते थे और उत्तर को दूसरा पत्र उसी पैर बँधवाकर वापिस अपने स्थान को लौट आते थे।

शिकारी जानवरों के दाँत साफ करने के लिये कितने ही पक्षी अभ्यस्त रहते हैं। मगर, बाघ आदि अपने दाँतों की सफाई कराने के लिये मुँह फाड़कर पड़े रहते हैं और वे चिड़ियाँ अपने शरीर का बहुत-सा हिस्सा उनके जबड़े में डालकर दाँतों की सफाई करती रहती हैं। उन्हें जरा भी डर नहीं लगता कि वे हिंसक पशु यदि चाहें तो जबड़ा बन्द करके उनका कचूमर बना सकते हैं। यह चिड़ियाँ निर्भय ही नहीं वरन् उनकी सहायता भी करती हैं। जहाँ शिकार होती हैं, वहाँ चहचहाकर उनका मार्गदर्शन और प्रोत्साहन भी करती हैं।

चमगादड़ अपनी श्रवणेन्द्रिय के आधार पर आकाश में गतिशील विविध कम्पनों का अनुभव करती हैं और नेत्रों का प्रायः बहुत-सा काम उसी से चला लेती हैं।

हाथी की दृष्टि बहुत मन्द होती है; प्राणियों के समीप में उपस्थित वह गन्ध के आधार पर ही भाँपता है। कुत्ता अपने प्रिय या परिचित व्यक्ति की ढूँढ़ खोज गन्ध के आधार पर करता है। हवा का रुख विपरीत हो और गन्ध का प्रवाह उल्टा हो जाये तो सौ गज दूर खड़े मालिक को पहचानना भी उसके लिये कठिन होगा। पक्षियो की पहचान रंगों पर निर्भर है। उनके नेत्र रंगों के बहुत छोटे आवागमन की राह निर्धारित करते हैं।

सील मछली अपने बच्चे की नन्हीं-सी आवाज हजारों अन्य मछलियों के कोलाहल में से पहचान लेती है। मोटेतौर से उस समूह में एक ही शकल के अनेकों शिशु वयस्क होते हैं, पर सील अपने बच्चे की पुकार सुनते ही तीर की तरह उसी पर जा पहुँचती है। बीच के व्यवधान को हटाने में—अपने पराये की ठीक पहचान करने में उससे जरा-भी भूल नहीं होती।

वया पक्षी का घोंसला कितना सुन्दर और व्यवस्थित होता है, घोर वर्षा होते रहने पर भी उसमें पानी की एक बूँद भी नहीं जाती। आंधी तूफान आते रहते हैं पर वे घोंसले टहनियों पर मजबूती के साथ टंगे रहते हैं। वया अपने बच्चों सहित उसमें मोद मनाती रहती है, जबकि ऋतु प्रतिकूलता के कारण अन्य जीवधारी कई तरह के कष्ट उठाते रहते हैं।

जीवधारियों की इन विशेषताओं को देखते हुये यही मानना पड़ता है कि वे मनुष्य की तरह ही भगवान को प्रिय है और उन्हें भी कितनी ही तरह की विशेषतायें, विभूतियाँ दी गयी हैं। अपने उन छोटे भाइयों के प्रति न तुच्छता का भाव रखा जाना उचित है और न उन्हें सृष्टि का निरर्थक प्राणी समझना चाहिये। मनुष्य जिस प्रकार अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है वैसे ही अन्य जीव-जन्तु भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अपने लिये वे उतने ही श्रेष्ठ व महान् हैं जितना कि मनुष्य अपने को स्वयं को मानता है। इन प्राणियों का जीवन और विलक्षणतायें इस बात की प्रतीक भी हैं कि परमपिता परमात्मा को अपनी सभी सन्तानें समान रूप से प्यारी हैं। उसकी दृष्टि में न कोई बड़ा है और न छोटा।

प्राणि जगत की अतृप्त प्यास-प्रेम

सृष्टि का हर प्राणी हर जीव-जन्तु स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न है। कुछ अच्छे, कुछ बुरे गुण सब में पाये जाते हैं, पर प्रेम के प्रति सद्भावना और प्रेम की प्यास से वंचित कोई एक भी जीव सृष्टि में दिखाई नहीं देता। मनुष्य जीवन का तो सम्पूर्ण सुख और स्वर्ग ही प्रेम है। प्रेम जैसी सत्ता को पाकर भी मनुष्य अपने को दीन-हीन अनुभव करे तो यही मानना पड़ता है कि मनुष्य ने जीवन के यथार्थ अर्थ को जाना नहीं।

अमरीका के मध्य भाग में पाई जाने वाली एक छिपकली के सिर पर अनेक सींग होते हैं। यह मांसाहारी जन्तु क्रोध की स्थिति में होता तो उसकी आंखों में रक्त उतर आता है, फिर वह शत्रु पर कैसा भी भयंकर आक्रमण करने से नहीं चुकती। इसका सारा जीवन ही चींटियों, गिराड़ों को मारने खाने में बीतता है, पर अपनी प्रेयसी के प्रति उसकी करुणा भी देखते ही बनती है, उसके लिये तो वह गिलहरी और खरगोश की तरह दीन बन जाती है।

बिच्छू बड़ा क्षुद्र जन्तु है किन्तु प्रेम की प्यास से मुक्त वह भी नहीं। वह अपने बच्चों से इतना प्यार करती है कि उन्हें, जब तक वे पूर्ण समर्थ नहीं हो जाते अपनी पीठ पर चढ़ाये घूमती है। भालू खुंख्वार जानवर है, वह भूखा नहीं रह सकता, पर जब कभी मादा भालू बच्चे देगी तो जब तक बच्चों की आँखें नहीं खुल जायेंगी वह उनके पास ही बैठी भूख-प्यास भूलकर उन्हें चूमती-चाटती रहेगी।

चींटियों के जीवन में सामान्यतः मजदूर चींटियों में कोई विलक्षणता नहीं होती, उनमें अपनी बुद्धि अपनी निजी कोई इच्छा भी नहीं होती है, एक नियम व्यवस्था के अन्तर्गत जीती रहती हैं तथापि प्रेम की आकांक्षा उनमें भी होती है और वे अपने उस कोमल भाव को दबा नहीं सकतीं, इस अन्तरंग भाव की पूर्ति वे किसी और तरह से करती हैं। वह तितली के बच्चे से ही प्रेम करके अपनी आन्तरिक प्यास बुझाती हैं। यद्यपि यह सब एक प्राकृतिक प्रेरणा जैसा लगता है पर मूलभूत भावना का उभार स्पष्ट समझ में आता है। तितलियाँ फलों का मधु चूसती रहती हैं, उससे उनके जो बच्चे होते हैं उनकी देह भी मीठी होती है। माता-पिता के स्थूल शारीरिक गुण बच्चे पर आते हैं यह एक प्राकृतिक नियम है, तितली के नन्हे बच्चे, जिसे लार्वा कहते हैं, मजदूर चींटियाँ सावधानी से उठा ले जाती हैं, उसके शरीर के मीठ वाले अंग को चाट-चाट कर चींटी अपने परिवार के लिये मधु एकत्र कर लेती पर ऐसा करते हुये स्पष्ट-सा पता चलता रहता है कि यह एक स्वार्थपूर्ण कार्य है इससे नन्हें से लार्वे को कष्ट पहुँचता है। इसलिये वह थोड़ी मिठास एकत्र कर लेने के तुरन्त बाद उस बच्चे को परिचर्या भवन में ले जाती हैं और उसकी तब तक सेवा-सुश्रूषा करती रहती हैं, जब तक लार्वा बढ़कर एक अच्छी तितली नहीं बन जाता। तितली बन जाने पर चींटी उसे हार्दिक स्वागत के साथ घर से विदा कर देती है। जीवशास्त्रियों के लिये चींटी और तितली को यह प्रगाढ़ मैत्री गूढ़ रहस्य बनी हुई है। उसकी मूल्य प्रेरणा अन्तरंग का वह प्यार ही है, जिनके लिये आत्मायें जीवन-भर प्यासी इधर-उधर भटकती रहती हैं।

आस्ट्रेलिया में फैलेन्जर्स नामक गिलहरी की शक्ल का एक जीव पाया जाता है। इसे सुगर स्क्वैरेल भी कहते हैं। यह एक लड़ाकू और उग्र स्वभाव वाला जीव है, तो भी उसकी अपने बच्चों और पारिवारिक जनों के प्रति ममता देखते बनती हैं। वह जहाँ भी जाती है अपनी एक विशेष थैली में बच्चों को टिकाये रहती है और थोड़ी-थोड़ी देर में उन्हें चाटती और सहलाती रहा करती है। मानो वह अपने अन्तःकरण की प्रेम भावनाओं के उद्वेग को सम्भाल सकने में असमर्थ हो जाती हो। जीव-जन्तुओं का यह प्रेम-प्रदर्शन यद्यपि एक छोटी सीमा तक अपने बच्चों और कुटुम्ब तक ही सीमित रहता है तथापि वह इस बात का प्रमाण है कि प्रेम जीव मात्र की अन्तरंग आकांक्षा है। मनुष्य अपने प्रेम की परिधि अधिक विस्तृत कर सकता है। इसलिये कि वह अधिक सम्वेदनशील और कोमल भावनाओं वाला है। अन्य जीवों का प्यार पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हो पाता इसलिये वे अपेक्षाकृत अधिक कठोर, स्वार्थी और खूंख्वार से जान पड़ते हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि यदि उनके अन्तःकरण में छिपे प्रेमभाव से तादात्म्य किया जा सके तो उन हिंसक व मूर्ख जन्तुओं में भी प्रकृति का अगाध सौन्दर्य देखने को मिल सकता है। भगवान शिव सर्पों को गले से लटकाये रहते हैं, महर्षि रमण के आश्रम में बन्दर, मोर और गिलहरी ही नहीं सर्प, भेड़िये आदि तक अपने पारिवारिक झगड़े तय कराने आया करते थे। सारा 'अरुणाचलम्' पर्वत उनका घर था और उसमें निवास करने वाले सभी जीव-जन्तु उनके बन्धु-बान्धव, सुहृद सखा पड़ौसी थे। स्वामी रामतीर्थ हिमालय में जहाँ रहते वहाँ शेर, चीते प्रायः उनके दर्शनों को आया करते और उसके समीप बैठकर घंटों विश्राम किया करते थे। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हमारा प्रेमभाव विस्तृत हो सके तो हम अपने को विराट् विश्व परिवार के सदस्य होने का गौरव प्राप्त कर एक ऐसी आनन्द निर्झरिणी में प्रवाहित होने का आनन्द लूट सकते हैं, जिनके आगे संसार के सारे सुख-वैभव फीके पड़ जायें।

६०० वर्ष पूर्व की घटना है रोम में एक महिला अपने बच्चे से खेल रही थी। वह कभी उसे कपड़े पहनाती कभी दूध पिलाती, इधर-उधर के काम करके फिर बच्चे के पास आकर उसे चूमती-चाटती और अपने काम में चली जाती। प्रेम-भावनाओं से जीवन की थकान मिटती है। लगता है अपने काम की थकावट दूर करने के लिये उसे बार-बार से प्यार जताना आवश्यक हो जाता था। घर के सामने एक ऊँचा टावर था, उसमें बैठा हुआ एक बन्दर वह सब बड़ी देर से, बड़े ध्यान से देख रहा था। स्त्री जैसे ही कुछ क्षण के लिये अलग हुई कि बन्दर लपका और उस बच्चे को उठा ले गया। लोगों ने भाग-दौड़ मचायी तब तक बन्दर सावधानी के साथ बच्चे को लेकर उसी टावर पर चढ़ गया।

जैसे-जैसे उसने माँ को बच्चे से प्यार करते देखा था स्वयं भी बच्चे के साथ वैसे ही व्यवहार करने लगा। कभी उसे चूमता-चाटता तो कभी उसके कपड़े उतारकर फिर से पहनाता। इधर वह अपनी प्रेम की प्यास बुझा रहा था उधर उसकी माँ और घर वाले तड़प रहे थे, बिलख-बिलख कर रो रहे थे। बच्चे की माँ तो एकटक उसी टावर की ओर देखती हुई बुरी तरह चीखकर रो रही थी।

बन्दर ने यह सब देखा। सम्भवतः उसने सारी स्थिति भी समझ ली इसीलिये एक हाथ से बच्चे को छाती से चिपका लिया शेष तीन हाथ-पाँव की मदद से वह बड़ी सावधानी से नीचे उतरा और बिना किसी भय अथवा संकोच के उस स्त्री के पास तक गया और बच्चे को उसके हाथों में सोंप दिया। यह कौतुक लोग स्तब्ध खड़े देख रहे थे। साथ-साथ एक कटु सत्य, किस तरह बन्दर जैसा चंचल प्राणी प्रेम के प्रति इस तरह गम्भीर और आस्थावान हो सकता है। माँ के हाथ में बच्चा पहुँचा सब लोग देखने लगे उसे कहीं कोई चोट तो नहीं आई। इस बीच में बन्दर वहाँ से कहाँ गया, किधर चला गया यह आज तक किसी ने नहीं जाना।

पीछे जब लोगों का ध्यान उधर गया तो सबने यह माना कि बन्दर या तो कोई दैवी शक्ति थी, जो प्रेम की वात्सल्य महत्ता दर्शाने आई थी अथवा वह प्रेम से बिछड़ी हुई कोई आत्मा थी, जो अपनी प्यास को एक क्षणिक तृप्ति देने आई थी। उस बन्दर की याद में एक

अखण्ड-दीप जलाकर उसी टावर में रखा गया। इस टावर का नाम भी उसकी यादगार में बन्दर टावर (मंकी टावर) रखा गया। कहते हैं ६०० वर्ष हुये यह दीपक आज भी जल रहा है। दीपक के ६०० वर्ष से चमत्कारिक रूप से जलते रहने में कितनी सत्यता है, हम नहीं जानते, पर यह सत्य है कि बन्दर के अन्तःकरण में बच्चे के प्रति प्रसुप्त प्यार का प्रकाश जब तक यह टावर खड़ा रहेगा, लाखों लोगों का ध्यान मानव जीवन की इस परम उदात्त ईश्वरीय प्रेरणा की ओर आकर्षित करता रहेगा।

प्रेम की यह आशा और प्यास केवल जीवधारियों तक—जिन्हें हम जीवित समझते हैं उन जानवरों तक ही सीमित नहीं है बल्कि पेड़ पौधे भी प्राणवान होते हैं और वे भी प्रेम, स्नेह, सहानुभूति की अपेक्षा रखते हैं।

पेड़-पौधों में भी प्राण हैं

पेड़-पौधों में भी प्राण और जीवन है इसका प्रमाण छोटे-छोटे प्रयोगों द्वारा भी मिल जाता है। कोई नाक और मुँह बन्द कर दे तो मनुष्य मर जाता है। पौधे के किसी पत्ते में छेदकर दिया जाये या उसके दोनों तरफ कागज चिपका दिया जाय तो पत्ता कुछ ही समय में पीला पड़कर गिर जायेगा। यदि तमाम पत्ते न होते तो सम्भवतः पेड़ ही नष्ट हो जाते। मानना चाहिये कि प्रकृति की हर रचना परमात्मा की कृपा और सृष्टि व्यवसथा का अंग है। कोई ऊबड़-खाबड़ बनावट मात्र नहीं। कुछ पौधे जो जल के भीतर रहते हैं, उनके लिये भी साँस आवश्यक है। योरोप के तालाबों में एक पौधा पाया जाता है, जिनके पत्तें में झिल्ली नहीं होती। उसके लिये मछलियाँ पानी में मिली हुई वायु के कण अलग कर देती हैं, इसी से वह अपना जीवन चलाता रहता है, पर श्वाँस के बिना जीवित वह भी नहीं रह सकता, वृक्षों के जीवन के यह अकाट्य तर्क हैं।

आत्मा वृक्षों और वनस्पतियों में भी है, इसलिये अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अनुसार उनके साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिये, वृक्षों को लगाना, उसका पोषण करना एक पुण्य माना गया है, उसी प्रकार उन्हें काटना और बढ़ने न देना पाप कहा गया है। वृक्ष हमें प्राण-वायु, जीवन-तत्व, हरीतिमा, छाया लकड़ी, पुष्प-फल आदि बहुत कुछ देते हैं, ऐसे उपकारी प्राणियों से, वृक्षों से हमें बहुत कुछ सीखना है और उनके जैसा उपकारी बनना है।

यह प्रश्न हो सकता है कि वृक्ष जड़ हैं, उनमें किसी तरह की चेतन संवेदनशीलता नहीं है, इसलिये उनके साथ जड़ जैसा बर्ताव करना पाप या अनुचित कर्म नहीं। इस सम्बन्ध में वैदिक मान्यतायें स्पष्ट ही इस पक्ष में हैं कि वृक्षों में जीवन है, अब उक्त कथन को वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा भी सिद्ध करना सम्भव हो गया है। सर जगदीशचन्द्र बोस का तो जीवन ही इसी बात में लग गया, उन्होंने वृक्षों की संवेदनशीलता के अनेक प्रयोग किये थे। सांस और स्पन्दन की गति की नाप और जहरीले पदार्थों का प्रयोग करके, यहाँ तक सिद्ध कर दिखाया था कि जिस तरह और प्राणियों के शरीर में विष का प्रभाव होता है, वृक्षों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। हरे-भरे होना वृक्षों का जीवन है तो उनका सूख जाना ही मृत्यु। मनुष्यों की तरह आहार पर जीवित रहने, साँस लेने, सूर्य रश्मियों से जीवन ग्रहण करने, काम-क्रीड़ायें आदि विभिन्न क्रियायें वृक्ष-वनस्पति भी करते हैं, इसलिये उन्हें प्राणिजगत् का ही अंग मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

"केतकीयम' भारतीय शब्द भी इसी मान्यता का प्रतिपादक है कि प्रत्येक वृक्ष के फूलों में नर और मादा किस्में होती हैं और उन दोनों के संयोग से ही उनकी वंशावली का विकास होता है। कई बार यह माध्यम पशु-पक्षियों और हवा आदि के द्वारा भी बनता है पर वह संयोग प्रत्येक दशा में आवश्यक है। बीजकाण्ड में फल का विकास गर्भ-कोष में पड़े वीर्य से बच्चे के विकास जैसा ही होता है।

वृक्षों में जीवन के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण उसका विश्लेषण है, जिस प्रकार जीवित प्राणी प्रोटाप्लाज्मा नामक तन्त्र से बना होता है उसका सबसे सूक्ष्म कण सेल कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पति के सबसे छोटे अणु का नाम जीवाणु (बैक्टीरिया) है। इन्हें एक कोशिका वाले

पौधे कहा जा सकता है और वह इतने सूक्ष्म होते हैं कि माइक्रोस्कोप की सहायता के बिना देखे नहीं जा सकते हैं और सेल्यूलोज वाले भाग को पचाने का काम करते हैं। जीवाणु कोशिका की लम्बाई ०.५ माइक्रोन तक हाती है। यह तीन प्रकार के होते है, गोलाणु (कोकस), दण्डाणु (वैसिलस) और सर्पिलाणु (स्पिरिलस)।

कोशिका जिस तरह प्रोटीन के आवरण में बन्द होती है और उसके भीतर केन्द्रक (न्यूक्लियस) काम किया करता है, उसी प्रकार जीवाणु कोशिका एक लिसलिसी श्लैष्मपरत (कैपसूल) में बन्द (रैजिस्ट) होती हैं। कोशिका भित्ति की सुरक्षा के लिये प्लैज्मा झिल्ली (प्लैज्मा मैम्बरेन) होती है। किन्तु किन्हीं जीवाणु कोशिकाओं में केन्द्रक नहीं भी होते हैं तो भी उनमें केन्द्रकीय पदार्थ (क्रोमिटिंन) अवश्य होता है। यह जीवाणु भी अलैंगिक रीति से स्वयं ही बढ़ने की क्षमता रखते हैं, जैसे कि 'प्रोटोप्लाज्मा' केन्द्रक।

एक कोशिका से विभाजन प्रारम्भ होता है तो १५ घन्टे बाद उसी तरह की एक अरब सन्तति कोशिकायें (डाटर सेल्प) जन्म ले लेती हैं। ३६ घण्टे बाद इनकी तादाद इतनी हो जाती है कि उससे सौ ट्रक भरे जा सकते हैं, यह गति यदि निर्बाध चलती रहे तो ४८ घन्टे बाद एक कोशिका से बने अन्य कोशिकाओं का भार पृथ्वी के भार से चौगुना अधिक हो जायेगा, किन्तु उनकी देह से निकले विषैले पदार्थ इस वृद्धि को रोक देते हैं और यह गति रुक जाती है। वस्तुतः यह बाढ़ मानव जाति के हित में ही है।

जीवाणु सर्वत्र विद्यमान् रहकर मनुष्य जाति की बड़ी सेवा करते हैं, एक प्रतिशत जीवाणु ही मनुष्य के लिये हानिकारक है। अन्यथा पौधों और जन्तुओं के हानिकारक तत्वों और मृत अवशेषों का विघटन यह जीवाणु ही करते हैं। प्रतिवर्ष प्रति पौधा २०० अरब टन कार्बन डाईआक्साइड गैस लेकर, प्रकाश-किरणों द्वारा उसे जैव पदार्थ में बदल लेता है। यह कार्बन जीवों द्वारा पैदा की जाती है, यदि जीवाणु यह क्रिया सम्पन्न न करें तो सात वांयु मण्डल कार्बन डाईआक्साइड से आच्छादित हो जाये और मनुष्य का धरती पर रहना कठिन हो जाये।

जीवाणु की क्रिया और प्रोटोप्लाज्मा की कोशिका (सेल) की क्रिया का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों में एक जैसी चेतना ही दिखाई देती है, जैसा की ऊपर बताया जा चुका है, आकृति और कार्य प्रणाली में थोड़ा अन्तर है, जो मनुष्य के हित में पूरक ही है। यदि यह पूरक क्रिया सम्पन्न न हो तो मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जाये। विश्व चेतना का यह अंश मनुष्य के उपयोग में आता है पर उसका यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिये कि उनमें आत्मा नहीं है। यदि मनुष्य की प्रजनन प्रणाली, खाद्य प्रणाली, मल विसर्जन आदि की क्रियायें और उसकी पारमाणविक रचना में वृक्ष वनस्पतियों की क्रिया प्रणाली में साम्य पाया जाता है तो उसे विश्व-व्यापी चेतना का स्वरूप ही मानना चाहिये। यदि विज्ञान की इन उपलब्धियों से भी मनुष्य यह मानने को तैयार नहीं होता तो उसे हठधर्मी ही कहा जायेगा।

वृक्ष दीखते और समझे भर जड़ जाते हैं, वस्तुतः वे चेतन हैं। एक ही चेतन आत्मा सर्वत्र सब में विद्यमान् है। यह अनुभव करते हुये हमें विराट ब्रह्म की असीम चेतना अपने चारों ओर फैली हुई देखनी चाहिये और सबके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये। वृक्षों को भी क्षति न पहुँचाये, यह उचित है।

शास्त्रकार का कथन है—

खं वायुमग्निं सलिलं मही च,
ज्योतींषि सत्वानि दिशोद्रुमादीन।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं,
यत्किञ्चित भूतं प्रणमेदनन्यः।।

भक्ति सूक्त २६

तात् ! आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीव-जन्तु दिशायें वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूत जात है, वह सब परमात्मा का ही शरीर है। अतएव सबको अनन्य भाव से प्रणाम करें।

उपरोक्त सूक्त में आचार्य संकेत करते हैं कि एक ही चेतन आत्मा सब में विद्यमान है। यह अनुभव करते हुये हमें विराट् ब्रह्म की

अखण्ड-दीप जलाकर उसी टावर में रखा गया। इस टावर का नाम भी उसकी यादगार में बन्दर टावर (मंकी टावर) रखा गया। कहते हैं ६०० वर्ष हुये यह दीपक आज भी जल रहा है। दीपक के ६०० वर्ष से चमत्कारिक रूप से जलते रहने में कितनी सत्यता है, हम नहीं जानते, पर यह सत्य है कि बन्दर के अन्तःकरण में बच्चे के प्रति प्रसुप्त प्यार का प्रकाश जब तक यह टावर खड़ा रहेगा, लाखों लोगों का ध्यान मानव जीवन की इस परम उदात्त ईश्वरीय प्रेरणा की ओर आकर्षित करता रहेगा।

प्रेम की यह आशा और प्यास केवल जीवधारियों तक—जिन्हें हम जीवित समझते हैं उन जानवरों तक ही सीमित नहीं है बल्कि पेड़ पौधे भी प्राणवान होते हैं और वे भी प्रेम, स्नेह, सहानुभूति की अपेक्षा रखते हैं।

पेड़-पौधों में भी प्राण हैं

पेड़-पौधों में भी प्राण और जीवन है इसका प्रमाण छोटे-छोटे प्रयोगों द्वारा भी मिल जाता है। कोई नाक और मुँह बन्द कर दे तो मनुष्य मर जाता है। पौधे के किसी पत्ते में छेदकर दिया जाये या उसके दोनों तरफ कागज चिपका दिया जाय तो पत्ता कुछ ही समय में पीला पड़कर गिर जायेगा। यदि तमाम पत्ते न होते तो सम्भवतः पेड़ ही नष्ट हो जाते। मानना चाहिये कि प्रकृति की हर रचना परमात्मा की कृपा और सृष्टि व्यवसथा का अंग है। कोई ऊबड़-खाबड़ बनावट मात्र नहीं। कुछ पौधे जो जल के भीतर रहते हैं, उनके लिये भी साँस आवश्यक है। योरोप के तालाबों में एक पौधा पाया जाता है, जिनके पत्तें में झिल्ली नहीं होती। उसके लिये मछलियाँ पानी में मिली हुई वायु के कण अलग कर देती हैं, इसी से वह अपना जीवन चलाता रहता है, पर श्वाँस के बिना जीवित वह भी नहीं रह सकता, वृक्षों के जीवन के यह अकाट्य तर्क हैं।

आत्मा वृक्षों और वनस्पतियों में भी है, इसलिये अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के अनुसार उनके साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिये, वृक्षों को लगाना, उसका पोषण करना एक पुण्य माना गया है, उसी प्रकार उन्हें काटना और बढ़ने न देना पाप कहा गया है। वृक्ष हमें प्राण-वायु, जीवन-तत्व, हरीतिमा, छाया लकड़ी, पुष्प-फल आदि बहुत कुछ देते हैं, ऐसे उपकारी प्राणियों से, वृक्षों से हमें बहुत कुछ सीखना है और उनके जैसा उपकारी बनना है।

यह प्रश्न हो सकता है कि वृक्ष जड़ हैं, उनमें किसी तरह की चेतन संवेदनशीलता नहीं है, इसलिये उनके साथ जड़ जैसा बर्ताव करना पाप या अनुचित कर्म नहीं। इस सम्बन्ध में वैदिक मान्यतायें स्पष्ट ही इस पक्ष में हैं कि वृक्षों में जीवन है, अब उक्त कथन को वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा भी सिद्ध करना सम्भव हो गया है। सर जगदीशचन्द्र बोस का तो जीवन ही इसी बात में लग गया, उन्होंने वृक्षों की संवेदनशीलता के अनेक प्रयोग किये थे। सांस और स्पन्दन की गति की नाप और जहरीले पदार्थों का प्रयोग करके, यहाँ तक सिद्ध कर दिखाया था कि जिस तरह और प्राणियों के शरीर में विष का प्रभाव होता है, वृक्षों पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। हरे-भरे होना वृक्षों का जीवन है तो उनका सूख जाना ही मृत्यु। मनुष्यों की तरह आहार पर जीवित रहने, साँस लेने, सूर्य रश्मियों से जीवन ग्रहण करने, काम-क्रीड़ायें आदि विभिन्न क्रियायें वृक्ष-वनस्पति भी करते हैं, इसलिये उन्हें प्राणिजगत् का ही अंग मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

"केतकीयम' भारतीय शब्द भी इसी मान्यता का प्रतिपादक है कि प्रत्येक वृक्ष के फूलों में नर और मादा किस्में होती हैं और उन दोनों के संयोग से ही उनकी वंशावली का विकास होता है। कई बार यह माध्यम पशु-पक्षियों और हवा आदि के द्वारा भी बनता है पर वह संयोग प्रत्येक दशा में आवश्यक है। बीजकाण्ड में फल का विकास गर्भ-कोष में पड़े वीर्य से बच्चे के विकास जैसा ही होता है।

वृक्षों में जीवन के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण उसका विश्लेषण है, जिस प्रकार जीवित प्राणी प्रोटाप्लाज्मा नामक तन्त्र से बना होता है उसका सबसे सूक्ष्म कण सेल कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पति के सबसे छोटे अणु का नाम जीवाणु (बैक्टीरिया) है। इन्हें एक कोशिका वाले

पौधे कहा जा सकता है और वह इतने सूक्ष्म होते हैं कि माइक्रोस्कोप की सहायता के बिना देखे नहीं जा सकते हैं और सेल्यूलोज वाले भाग को पचाने का काम करते हैं। जीवाणु कोशिका की लम्बाई ०.५ माइक्रोन तक होती है। यह तीन प्रकार के होते है, गोलाणु (कोकस), दण्डाणु (वैसिलस) और सर्पिलाणु (स्पिरिलस)।

कोशिका जिस तरह प्रोटीन के आवरण में बन्द होती है और उसके भीतर केन्द्रक (न्यूक्लियस) काम किया करता है, उसी प्रकार जीवाणु कोशिका एक लिसलिसी श्लैष्मपरत (कैपसूल) में बन्द (रैजिस्ट) होती हैं। कोशिका भित्ति की सुरक्षा के लिये प्लैज्मा झिल्ली (प्लैज्मा मैम्बरेन) होती है। किन्तु किन्हीं जीवाणु कोशिकाओं में केन्द्रक नहीं भी होते हैं तो भी उनमें केन्द्रकीय पदार्थ (क्रोमिटिंन) अवश्य होता है। यह जीवाणु भी अलैंगिक रीति से स्वयं ही बढ़ने की क्षमता रखते हैं, जैसे कि 'प्रोटोप्लाज्मा' केन्द्रक।

एक कोशिका से विभाजन प्रारम्भ होता है तो १५ घन्टे बाद उसी तरह की एक अरब सन्तति कोशिकायें (डाटर सेल्स) जन्म ले लेती हैं। ३६ घण्टे बाद इनकी तादाद इतनी हो जाती है कि उससे सौ ट्रक भरे जा सकते हैं, यह गति यदि निर्बाध चलती रहे तो ४८ घन्टे बाद एक कोशिका से बने अन्य कोशिकाओं का भार पृथ्वी के भार से चौगुना अधिक हो जायेगा, किन्तु उनकी देह से निकले विषैले पदार्थ इस वृद्धि को रोक देते हैं और यह गति रुक जाती है। वस्तुतः यह बाढ़ मानव जाति के हित में ही है।

जीवाणु सर्वत्र विद्यमान् रहकर मनुष्य जाति की बड़ी सेवा करते हैं, एक प्रतिशत जीवाणु ही मनुष्य के लिये हानिकारक है। अन्यथा पौधों और जन्तुओं के हानिकारक तत्वों और मृत अवशेषों का विघटन यह जीवाणु ही करते हैं। प्रतिवर्ष प्रति पौधा २०० अरब टन कार्बन डाईआक्साइड गैस लेकर, प्रकाश-किरणों द्वारा उसे जैव पदार्थ में बदल लेता है। यह कार्बन जीवों द्वारा पैदा की जाती है, यदि जीवाणु यह क्रिया सम्पन्न न करें तो सात वांयु मण्डल कार्बन डाईआक्साइड से आच्छादित हो जाये और मनुष्य का धरती पर रहना कठिन हो जाये।

जीवाणु की क्रिया और प्रोटोप्लाज्मा की कोशिका (सेल) की क्रिया का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों में एक जैसी चेतना ही दिखाई देती है, जैसा की ऊपर बताया जा चुका है, आकृति और कार्य प्रणाली में थोड़ा अन्तर है, जो मनुष्य के हित में पूरक ही है। यदि यह पूरक क्रिया सम्पन्न न हो तो मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ जाये। विश्व चेतना का यह अंश मनुष्य के उपयोग में आता है पर उसका यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिये कि उनमें आत्मा नहीं है। यदि मनुष्य की प्रजनन प्रणाली, खाद्य प्रणाली, मल विसर्जन आदि की क्रियायें और उसकी पारमाणविक रचना में वृक्ष वनस्पतियों की क्रिया प्रणाली में साम्य पाया जाता है तो उसे विश्व-व्यापी चेतना का स्वरूप ही मानना चाहिये। यदि विज्ञान की इन उपलब्धियों से भी मनुष्य यह मानने को तैयार नहीं होता तो उसे हठधर्मी ही कहा जायेगा।

वृक्ष दीखते और समझे भर जड़ जाते हैं, वस्तुतः वे चेतन हैं। एक ही चेतन आत्मा सर्वत्र सब में विद्यमान् है। यह अनुभव करते हुये हमें विराट ब्रह्म की असीम चेतना अपने चारों ओर फैली हुई देखनी चाहिये और सबके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये। वृक्षों को भी क्षति न पहुँचाये, यह उचित है।

शास्त्रकार का कथन है—

खं वायुमग्निं सलिलं मही च,
ज्योतींषि सत्वानि दिशोद्रुमादीन।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं,
यत्किञ्चित भूतं प्रणमेदनन्यः।।

भक्ति सूक्त २६

तात् ! आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीव-जन्तु दिशायें वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूत जात है, वह सब परमात्मा का ही शरीर है। अतएव सबको अनन्य भाव से प्रणाम करें।

उपरोक्त सूक्त में आचार्य संकेत करते हैं कि एक ही चेतन आत्मा सब में विद्यमान है। यह अनुभव करते हुये हमें विराट् ब्रह्म की

असीम चेतना अपने चारों ओर फैली देखनी चाहिये और सबके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

स्थूल दृष्टि से यह बात कुछ असंगत-सी प्रतीत होती है कि जड़ को भी चेतन माना जाये। नदियाँ, पहाड़, दिशायें, नक्षत्र भी जीवन धारा हो सकते हैं, इन्हें थोड़ा जटिल कहा जा सकता है पर वृक्ष वनस्पति के बारे में तो अब विज्ञान को भी इस बात का सन्देह नहीं रहा कि उनमें जीवन नहीं है। जीवधारियों के सारे लक्षण उनमें पाये जाते हैं।

श्वाँस-क्रिया गति और जीवन का प्रथम लक्षण है। कुछ दशाब्दी पूर्व तक इस सम्बन्ध में विज्ञान जगत पूर्ण अन्धकार में था किन्तु जब उन्होंने पौधों के शरीर जीवन-स्पन्दन की पुष्टि की तो इस दशा में वैज्ञानिक तेजी से आकृष्ट हुये और नये-नये आविष्कार अनुसंधान हुये जिन्होंने पुष्ट किया कि सचमुच यदि अन्तःचेतना का विश्लेषण करके देखा जाये तो शक नहीं वृक्ष-वनस्पति में भी मानवीय चेतना का अस्तित्व स्पष्ट देखा जा सकता है। अगर यह लिखा जाये कि वृक्षों में श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और शक्तिदायक है, तो उसे आश्चर्यजनक नहीं माना जाना चाहिये। स्थूल दृष्टि से पौधों में नाक नहीं होती, फेंफड़े भी नहीं होते पर यदि सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) से देखें तो पौधे के पत्ते-पत्ते में श्वांस छिद्र देखे जा सकते हैं। इन छिद्रों से ही वे श्वाँस लेते हैं यह अलग बात है कि प्राकृतिक सन्तुलन बनाये रखने के लिये पौधे मनुष्य और अन्य जीवधारियों द्वारा छोड़ी हुई दूषित वायु कार्बन डाई ऑक्साइड ग्रहण करते हैं आर एवज में उनके लिये अमृत-तुल्य ऑक्सीजन निकालते हैं। कार्बन डाई ऑक्साइड मूर्छित और अर्द्ध-चेतन रखने वाली गैस है, इसी का प्रभाव है कि वृक्ष संधियोनि में अचेत और मूर्छित पड़े रहते हैं। यदि प्रकृति ने ऐसा नहीं किया होता तो वृक्षों के पास कोई जाता, अपशब्द बकता या उन्हें काटता तो अपने डाल रूप हाथ से वे जोर से तमाचा मार देते। ऐसा न कर प्रकृति ने किसी कर्मवश उन्हें अन्य जीवधारयों का पोषक बनाया। कर्मफल का सिद्धान्त परमात्मा की न्याय व्यवस्था का अटल नियम है। वृक्ष वनस्पतियों के रूप में विद्यमान जीवात्मायें सम्भवतः उसी व्यवस्था के अन्तर्गत अपने किन्हीं कर्मों के कारण एक ही स्थान पर स्थिर रहने, हिलने-डुलने की क्षमता से वंचित कर दी गयी हों।

मनुष्यों में भी इस प्रकार कई कोटियाँ देखने में आती हैं। कई मनुष्य क्रोधी और क्रूर स्वभाव के देखे जाते हैं तो कईयों में संतों के गुण और विशेषतायें देखी जाती हैं। वृक्षों में भी यह गुण विद्यमान होते हैं। इन गुणों की विद्यमानता देखकर पता चलता है कि वे भी कर्म-बन्धनों से बँधे जीव हैं, उनकी प्रकृति कैसी भी क्यों न होती हो ? ऐसे क्रूरकर्त्ता एक वृक्ष का वृतान्त लिखते हुये मेडागास्कर द्वीप की यात्रा करने वाले प्रसिद्ध फ्रांसीसी खोजी डा. नेल्सन ने वहाँ पाये जाने वाले मनुष्य-भक्षी वृक्ष का उल्लेख किया है। नेल्सन ने लिखा है कि २५ से ३० फुट तक ऊँचे इन वृक्षों में थाली जितना एक बड़ा आकर्षक फूल होता है, दुष्ट और पापी लोग भोले-भाले सज्जनों को एक मिथ्या आकर्षण में बाँधकर ही तो लूटते हैं। इन वृक्षों का सुन्दर फूल देखकर जो भी पक्षी या मनुष्य वहाँ पहुँच जाता है। वृक्ष एक-एक फीट से भी बड़े काँटे उनके शरीर में चुभाकर उनका रक्त चूसता है और उसके निर्जीव शरीर को फेंक देता है। रक्त चूसने के कुछ समय बाद तक वह फूल आकार में बढ़े हुये रहते हैं। धीरे-धीरे रक्त शरीर में पच जाता है, तब ये सामान्य स्थिति में आ जाते हैं। आस्ट्रेलिया, मलाया, श्रीलंका और भारतवर्ष के असम बंगाल क्षेत्र में 'घटपर्णी नामक वृक्ष भी ऐसा ही होता है। इसके फल में एक प्रकार का चिपचिपा तरल द्रव लगा रहता है। कीड़े-मकोड़े, पक्षी उसे खाने बैठते हैं तो फल अपना मुँह बन्द कर लेता है और उसे दबाये हुये पक्षी या कीड़े को चूस डालता है। इस तरह के राक्षस वृक्ष संसार के और भी दूसरे भागों में पाये जाते हैं, पर इनका उल्लेख कोई आवश्यक नहीं है। दुष्टतायें तो मनुष्य जाति में ही बहुत हैं, उन्हें ठीक किया जाना चाहिये।

पौधों में जीवन के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है, वे पौधे जिन्हें विज्ञान कभी तो पौधे कहता है, और कभी जीव-जन्तु। हायड्रा एक ऐसा जन्तु है, जो देखने में सूखी लकड़ी-सा लगता है, इसके कई मुँह होते हैं हर मुँह में कई-कई बाल होते हैं, यह अपना आकार घटा बढ़ा भी लेता है, इसके मुँह में यह बाल ही इसके लिये हाथ और पैरों का काम दे जाते हैं।

शरीर से वृक्ष किन्तु प्रकृति और स्वभाव से जन्तु कहे जाने वाले इन पौधों में वेस्टइण्डीज, फ्लोरिडो तथा कैलीफोर्निया में पाया जाने वाला पौधा कैरोपहालिया, एस्पेरिया आपसिस, पत्थरों में रहने वाला एल्कोनियम तथा बैरियर रीफ (आस्ट्रेलिया) में पाये जाने वाले एक्टीनेरिया उल्लेखनीय हैं, इनकी आकृति किसी भी गुलाब के फूल जैसी होती है तो किसी की सुन्दर झाड़ फानूस-सी ऊपर से नितान्त पौधे दिखने वाले यह जीव यदि स्वभाव से भिन्न नहीं होते तो उन्हें वृक्ष-योनि से अलग करना कठिन हो जाता।

समुद्र में पाया जाने वाला एक कोशीय जीव—'डायटन' किस श्रेणी में रखा जाये यह अभी तक भी वैज्ञानिकों के विवाद का विषय बना हुआ है। यह अमीबा की तरह भोजन भी ग्रहण कर सकता और वृक्षों की तरह प्रकाश संश्लेषण द्वारा भी अपनी जीवनी शक्ति का विकास करता है। इसीलिये इसे उभयनिष्ठ माना गया है। भारतीय तत्वदर्शियों ने इस सारे गूढ़ ज्ञान के आधार पर वृक्षों को संधियोनि कहा तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं हमें उनके सिद्धान्त को समझना चाहिये। अथर्ववेद में कहा है।

इदं कल्याण्य जरा मृर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृताशये स यश्चकार जंजार सः।।

अर्थात्—यह आत्मा जो कल्याण करने वाला है अविनाशी तत्व है। मृर्त्यप्राणी के घर शरीर में रहता है, जिसे आत्मतत्व का बोध हो जाता है, वह सुख प्राप्त करता है, जो उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है, वही सब प्रकार से आदरणीय और सम्मानास्पद होता है।

प्रकृति ने जीवधारियों को कर्मवश संधियोनि में जन्म और जीवन दिया है। इनमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि वे इस कारण सम्मान और सद्व्यवहार के पात्र नहीं हैं। जीव-जन्तु कर्मवश इस योनि को प्राप्त हुये हैं। लेकिन मनुष्यों तथा जीवधारियों पर उनके अनन्त उपकार हैं। उनके प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता न रखी जाये यह मनुष्य के लिये शोभाजनक नहीं है, इससे मानवीय बुद्धि का पतन ही होता है। वृक्ष वनस्पति के प्रति श्रद्धा और पूज्य भाव की परम्परा को बनाये रखने में मनुष्य की भाव प्रवणता झलकती है न कि अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता। यह भाव-प्रवणता केवल अपने सहचर स्वजनों के प्रति ही नहीं सभी वस्तुओं के प्रति व्यक्त की जानी चाहिये। पश्चिमी देशों में वृक्ष वनस्पतियों के साथ सहृदयता और सद्भाव व्यक्त कर उन पर होने वाले प्रभावों के बारे में काफी प्रयोग किये गये हैं।

पेड़-पौधों से प्यार

इन प्रयोगों द्वारा बिना काँटों के गुलाब पैदा करने तथा अन्य वृक्षों में समय से पहले ही फल लगने के आश्चर्यजनक प्रयोग किये गये हैं, जिनमें सफलता भी मिली है। सम्भव है संसार के किसी और भाग में भी अब ऐसे गुलाब के पौधे हों जिनमें काँटे न हों, बेर हों पर उनमें भी काँटे न हों, कुमुदनी हो पर दिन में भी खिलती हो, अखरोट के वृक्ष हों, जो ३२ वर्ष की अपेक्षा १६ वर्ष में ही अपनी सामान्य ऊँचाई से भी बड़े होकर अच्छे फल देने लगते हों पर वे होंगे अमेरिका के केलिफोर्निया में विशेष रूप से तैयार किये गये पौधों की ही सन्तान। केलिफोर्निया में यह पौधे किसी वनस्पतिशास्त्री या किसी ऐसे शोध-संस्थान के द्वारा तैयार नहीं किये गये उसका श्रेय एक अमेरिकन सन्त लूथर बरबैंक को है, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में प्रेम योग का अभ्यास किया और यह सिद्ध कर दिया कि प्रेम से प्रकृति के अटल सिद्धान्तों को भी परिवर्तित किया जा सकता है। यह पौधे और केलिफोर्निया का लूथर बरबैंक का यह बगीचा उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

एक बार एक सज्जन इस बाग से एक बिना काँटों वाला 'सेहुँड' लेने गये ताकि वे उसे अपने खेत के किनारे-किनारे थूहड़ के रूप में रोप सकें। अमेरिका क्या सारी दुनिया भर में सम्भवतः यही वह स्थान जा, जहाँ सेहुँड बिना काँटों के थे। बाग का माली खुरपी लेकर डाल काटने चला तो दूर से ही लूथर बरबैंक ने मना किया, बोले—आपसे काटते नहीं बनेगा। लाओ मैं काट देता हूँ। यह कहकर खुरपी उन्होंने अपने हाथ में ले ली और बोले—माना कि यह पौधे हैं, इनमें जीवन के लक्षण प्रतीत नहीं होते तथापि यह भी आत्मा है और प्रत्येक आत्मा प्रेम की प्यासी, भावनाओं की भूखी होती है।

बरबैंक सेहुँड के पास बैठकर खुरपी से सेहुँड की डाल काटते जाते थे, पर उनकी इस क्रिया में भी कितनी आत्मीयता और ममत्व झलकता था यह देखते ही बनता था, जैसे कोई माँ अपने बच्चे को कई बार दण्ड भी देती है पर परोक्ष में उसका हित और मंगल भाव ही उसके हृदय में भरा रहता है, वैसे ही श्री बरबैंक सेहुँड को काटते जाते थे और भावनाओं का एक सशक्त स्पन्दन भी प्रवाहित करते जाते थे—ऐ पौधे ! तुम यह न समझना कि तुम्हें काटकर अलग कर रहे हैं। हम तो तुम्हारे और अधिक विस्तार की कामना से विदा कर रहे हैं। यहाँ से चले जाने के बाद भी तुम मुझ से अलग नहीं होंगे। तुम मेरे नाम के साथ जुड़े हो, तुम मेरी आत्मा के अंग हो। माना लोक-कल्याण के लिये तुम्हें यहाँ से दूर जाना पड़ा रहा है, पर तुम मेरे जीवन का अभिन्न अंग हो। जहाँ भी रहोगे हम तुम्हें अपने समीप ही अनुभव करेंगे—ऐसी भावनाओं के साथ बरबैंक ने सेहुँड़ की दो-तीन डालें काट दी और आगन्तुक को दे दीं, आगन्तुक उन्हें ले गया। इस तरह इस बाग की सैकड़ों पौध सारी दुनिया में फैली और बरबैंक के नाम से विख्यात हो गईं।

यह कोई गल्प कथा नहीं वरन् एक ऐसा तथ्य है, जिससे सारे योरोप के वैज्ञानिकों को यह सोचने के लिये विवश कर दिया कि क्या सचमुच ही भावनाओं के द्वारा पदार्थ के वैज्ञानिक नियम भी परिवर्तित हो सकते हैं ?

जिस तरह भारतवर्ष में इन दिनों नेहरू, गुलाब, शास्त्री गेहूँ आदि नाम से पौधों, अन्न की विशेष नस्लें कृषि विशेषज्ञ वैज्ञानिक अनुसन्धान से तैयार कर रहे हैं, उसी प्रकार बरबैंक रोज, पोटेटो (आलू), बरबैंक स्क्वैश, बरबैंक चेरी, बरबैक वालनट (अखरोट) आदि सैंकड़ों पौधों, फलों, सब्जियों तथा अन्नों की नस्लें बरबैंक के नाम से प्रचलित हैं, इन्हें बरबैंक ने तैयार किया यह सत्य है पर किसी वैज्ञानिक पद्धति से नहीं, यह उससे भी अधिक सत्य है। यह सब किस तरह सम्भव हुआ ? उसका वर्णन स्वयं लूथर ने अपने शब्दों में 'दि ट्रेनिंग ऑफ ह्यूमन प्लाण्ट' नामक पुस्तक में निम्न प्रकार लिखा है। यह पुस्तक न्यूयार्क की सैंचुरी कम्पनी से १६२२ में प्रकाशित हुई है। लूथर लिखते हैं—

'आत्म-चेतना के विकास के साथ मैंने अनुभव किया कि संसार का प्रत्येक परमाणु आत्मामय है। जीव-जन्तु ही नहीं वृक्ष वनस्पतियों में भी वही एक आत्मा प्रभावित हो रहा है—यह जानकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मैं वृक्षों की प्रकृति पर विचार करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इनमें जो काँटे हैं, वह इनके क्रोध और रुक्षता के संस्कार हैं। सम्भव है लोगों ने इन्हें सताया, कष्ट दिया, इनकी आकांक्षाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिये ये इतने सुन्दर फूल-फल देने के साथ ही काँटे वाले भी हो गये।

यदि ऐसा है तो क्या इन्हें प्रेम और दुललार देकर सुधारा भी जा सकता है ? ऐसा एक कौतूहल मेरे मन में जागृत हुआ। मैं देखता हूँ कि सारा संसार ही प्रेम का प्यासा है। प्रेम के माध्यम से किसी के भी जीवन में परिवर्तन और अच्छाइयाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, तो यह प्रयोग मैंने पौधों पर आरम्भ किया।

गुलाब का एक छोटा पौधा लगाया तब उसमें एक भी काँटा नहीं था। मैं उसके पास जा बैठता मेरे अन्तःकरण से भावनाओं की सशक्त तरंगें उठतीं और मेरे पास के वातावरण में विचरण करने लगतीं। मैं कहता—मेरे प्यारे बच्चे, मेरे गुलाब ! लोग फल लेने इस दृष्टि से नहीं आते कि तुम्हें कष्ट दें। वह तो तुम्हारे

सौन्दर्य से प्रेरित होकर आते हैं। वैसे भी तो तुम्हारा सौन्दर्य, तुम्हारी सुवास विश्व-कल्याण के लिये ही है। जब दान और संसार की प्रसन्नता के लिये उत्सर्ग ही तुम्हारा श्रेय है तो फिर यह काँटे तुम क्यों उगाते हो ? तुम अपने काँटे निकालना और लोगों को अकारण कष्ट देना भी छोड़ दो, तो फिर देखना कि संसार तुम्हारा कितना सम्मान करता है ? अपने स्वभाव की इस मलिनता और कठोरता को निकालकर एक बार देखो तो सही, कि यह सारा संसार ही तुम्हें हाथों ही हाथों उठाने के लिये तैयार है या नहीं।

गुलाब से मेरी ऐसी बातचीत प्रतिदिन होती। भावनायें अन्तःकरण से निकलें और वह खाली चली जायें तो फिर संसार में ईश्वरीय अस्तित्व को मानता ही कौन ? गुलाब धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसमें सुडौल डालियाँ फूटीं, चोड़े-चौड़े पत्ते निकले और पाव-पाव भर हँसते-इठलाते फूल भी निकलने लगे, पर उसमें क्या मजाल कि एक भी काँटा आया हो। आत्मा को आत्मा प्यार से कुछ कहे और वह उसे ठुकरा दे—ऐसा संसार में कहीं हुआ नहीं, फिर भला बेचारा नन्हा-सा पौधा ही अपवाद क्यों बनता ? उसने मेरी बात सहर्ष मान ली और मुझे सन्तोष हुआ कि मेरे बाग का गुलाब बिना काँटों का था।

अखरोट का धीरे-धीरे बढ़ना मुझे अच्छा नहीं लग रहा था मैंने उसे पानी उतना ही दिया, खाद उतनी ही दी, निराई और गुड़ाई में भी कोई अन्तर नहीं आने दिया, फिर ऐसी क्या भूल हो गई, जो अखरोट ३२ वर्ष में ही बढ़ने की हट ठान बैठा। मैंने समझा इसे भी किसी ने प्यार नहीं दिया।

मैंने उसे सम्बोधित कर रहा—मेरे बच्चे ! तुम्हारे लिये हमने सब जुटाया, क्या उस कर्त्तव्यपरायणता में जो तुम्हारे प्रति असीम प्यार भरा था, उसे तुम समझ नहीं सकते। तुम मेरे बच्चे के समान हो, तुम्हें मैं अलग अस्तित्व दूँ ही कैसे ? हम तुम एक ही तो हैं। आज माना कि दो रूपों में खड़े हैं, पर एक दिन तो यह अन्तर मिटेगा ही। क्या हम उस आत्मीयता को अभी भी स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकते ? तुम उगो और जल्दी उगो, ताकि संसार में अपने ही तरह की और जो आत्मायें हैं, उनकी कुछ सेवा कर सकें।

अखरोट बढ़ने लगा और १६ वर्ष की आधी आयु में ही अच्छे-अच्छे फल देने लगा। इसी तरह कद्दू, आडू, नेक्टारीनेस, बेरीज, पापीज आदि सैकड़ों पौधों पर प्रयोग कर श्री बरबैंक ने उन्हें प्रकृति के समान गुणों से पृथक् गुणों वाले पौधों के रूप में विकसित कर यह दिखा दिया ही प्रेम की आत्मा की सच्ची प्यास है। जिस प्रकार हम स्वयं औरों से प्रेम चाहते हैं वैसे ही बिना किसी आकांक्षा के दूसरों को प्रेम लुटाने का अभ्यास कर सके होते, तो आज सारा संसार ही सुधरा हुआ दिखाई देता। प्रेम का सिद्धान्त ही एक मात्र वह साधन है, जिससे छोटे-छोटे बच्चों से लेकर पारिवारिक जीवन और पास-पड़ौस के लोगों से लेकर सारे समाज, राष्ट्र और विश्व को भी वैसे ही सुधारा और सँवारा जा सकता है जैसे बरबैंक ने पेड़-पौधों को विलक्षण रूप से सँवार कर दिखा दिया।

श्री बरबैंक ने श्री योगानन्द नामक भारतीय योगी से क्रिया योग की दीक्षा ली थी। उनका निधन १९२६ में हुआ, तब लोगों के मुख से एक ही शब्द निकला था प्रेम-प्रयोगी का निधन सारे विश्व की क्षति है, वह कभी पूरी नहीं हो सकती।

श्री बरबैंक तत्वदृष्टा थे। प्रेम का अभ्यास उन्होंने पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों तक से करके ही आत्मानुभूति प्राप्त की। उसी से वे सिद्ध हो गये थे। उनकी भविष्यवाणियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण होती थीं। लन्दन से प्रकाशित होने वाली 'ईस्ट और वेस्ट' पत्रिका में उन्होंने 'साइन्स एण्ड सिवलाइजेशन' नाम से लेख प्रकाशित किया। उसमें लिखा था—

संसार को सुधारने की शक्ति पूर्व में केवल भारत वर्ष के पास है। पश्चिमी देशों को वहाँ की योग-क्रिया और प्राणायाम की विधियाँ सीखने के साथ प्रेम, दया, करुणा, उदारता, क्षमा, मैत्री के भाव भी सीखने और आत्मसात करने चाहिये। मैं देख रहा हूँ कि भारतवर्ष उसके लिये अपने आपको तैयार कर रहा है और एक दिन सारे संसार को ही उसके कदमों में झुककर जीवन जीने की शुद्ध पद्धति और

"आत्म विज्ञान सीखना पड़ेगा, इससे ही संसार का कुछ वास्तविक भला होगा।

१९८४ में लन्दन के एसोसियोटेड प्रेम में पत्रकारों के सामने भावनाओं के महत्त्व पर प्रकाश डाला था और कहा था—ईश्वर की ओर से मनुष्य को यदि कोई सर्वोपरि मूल्यवान् उपहार दिया गया है तो वह उपहार भाव सम्पदा ही है। एक-दूसरे के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति, व्यक्त की जाने वाली भावनाओं के माध्यम से ही हम यह जान सकते हैं कि कोई व्यक्ति ईश्वर के दिये इस अनुदान का मूल्य कितना क्या समझता है तथा इसका किस प्रकार सदुपयोग करता है ? इन भावनाओं के विकास, उनके सदुपयोग तथा परिष्कारपूर्वक ही कोई व्यक्ति समस्याओं और जटिलताओं से भरे संसार में सुख शांतिपूर्वक रह सकता है।

सद्भाव सम्पन्नता विकसित चेतना का प्रमाण

सर्वत्र सब प्राणियों में व्याप्त ईश्वरीय सत्ता के दर्श स्थूल नेत्रों से नहीं किये जा सकते, उसका दर्शन और आनन्द पाने तथा लाभ उठाने के लिये तो अपनी ही अन्तःचेतना को विकसित करना होगा। अतः चेतना को विकसित करने का आधार अपने स्वार्थों की संकीर्ण सीमा तोड़कर समष्टि चेतना तक अपनी भाव की परिधि व्यापक बनाना है। अपने ही समान आत्मा है, सबमें एक ही परमात्मा का वास है—आस्थाओं का विकास जब इस स्तर तक कर लिया जाता है तो व्यक्ति ईश्वर सामीप्य की आनन्दानुभूति करने योग्य बन जाता है।

यदि स्वार्थों और क्षुद्र वासनाओं के कारण दिग्भ्रान्त न हुआ जाये तो व्यक्ति का मूल स्वभाव सबके साथ तादात्म्य स्थापित करने का है। लेकिन स्वार्थ और वासनाओं के कारण ही व्यक्तिवाद, मोह, स्वजनों से आसक्ति आदि के दोष उत्पन्न होते हैं। पिछले दिनों दर्शन क्षेत्र में इसी आधार पर उपयोगितावादी विचारधारा की प्रतिष्ठापित की गयी।

उपयोगितावादी (यूटिलिटेरियनिज्म) दर्शन के विश्वविख्यात प्रवर्त्तक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये लिखा है 'संसार में सबको सुख या आनन्द की खोज है। सुख जीवन का लक्ष्य है और यह स्वाभाविक है कि मनुष्य आजीवन उसकी खोज करे। कई बार ऐसी परिस्थिति आती है, जब हमें एक सुख दूसरे से अधिक अच्छा लगे तो हमारे लिये वही इष्ट हो जाता है, भले ही उसको प्राप्त करने में अशान्ति का सामना करना पड़े। मनुष्य सुख चाहता है, वस्तुयें चूँकि उन सुखों की माध्यम हैं, इसलिये हम वस्तुओं का संग्रह करते समय भी केवल सुख प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्द मनुष्य जीवन में प्रमुख है आचरण अप्रमुख।'

अर्थात् यदि माँस खाने के सुख की वृद्धि हो सकती है तो माँस खाना बुरा नहीं। यदि काम वासना की अधिक तृप्ति के लिये सामाजिक मर्यादायें तोड़ी जा सकती हैं। तो वैसा करना पाप नहीं। धन अधिक और अधिक सुख देने में सहायक है, इसलिये अधिकाधिक धन कमाने में यदि प्रत्यक्ष किसी पर दबाव न पड़ता हो तो वैसा किया जा सकता है, अर्थात् झूठ बोलकर, कम तोलकर, मिलावट आदि जितने भी व्यापार के भ्रष्ट नियम हैं, वह पाप नहीं हैं, यदि हमारे सुख की मात्रा उससे बढ़ती हो। बड़ी बलवान् शक्तियों द्वारा कमजोर छोटी शक्तियों का शोषण इस सिद्धान्त का ही समर्थित व्यवहार है। जान स्टुअर्ट और उनके सब अनुयायी इसके लिये प्रकृति को प्रत्यक्ष स्वायम्भू उदाहरण देते हैं और कहते हैं, बड़ी मछली छोटी को खाकर अपनी शक्ति बढ़ाती है। बड़ा वृक्ष छोटे वृक्ष की भी खुराक हड़पकर लेता है आदि। इन सब बातों को देखकर मनुष्य के लिये भी उपयोगितावादी सिद्धान्त का समर्थन होता है।

जहाँ तक सुख की चाह का प्रश्न है, जान स्टुअर्ट के सिद्धान्त का कोई भी विचारशील व्यक्ति खण्डन नहीं करेगा। हम दिन रात आनन्द के लिये भटकते हैं पर हमने शुद्ध आनन्द की व्याख्या और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न किये कहाँ ? दुःख के प्रमुख कारण हैं—(१) अशक्ति (२) अज्ञान और (३) अभाव। यदि सम्पूर्ण जीवन को इकाई मानकर देखें और इन तीनों कारणों को दूर करने के प्रयत्नों पर

विचार करें, तो संयम, स्वाध्याय आदि के द्वारा ज्ञान वृद्धि और श्रम एवं क्रमिक विकास ही वह उपयुक्त साधन दिखाई देते हैं, जिनके अभ्यास से उन्हें दूर किया जा सकता है और आनन्द प्राप्ति की अपनी क्षमताओं का विकास किया जा सकता है।

आनन्द वृद्धि के लिये उपयोगितावादी सिद्धान्त हमें निरन्तर भौतिकता की ओ अग्रसर करते हैं और हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताओं को उस तरह भुलावा देते हैं, जैसे रेगिस्तान के शुतुर्मुर्ग शिकारी को देखकर अपना मुख बालू में छिपाकर अपनी सुरक्षा अनुभव करते हैं। आज के संसार में बढ़ रही अशांति और असुरक्षा इस सिद्धान्त की ही देन है।

प्रकृति में बड़ी शक्तियों द्वारा छोटी शक्तियों के शोषण के सिद्धान्त अपवाद मात्र हैं। अधिकांश संसार तो सहयोग और सामूहिकता के सिद्धान्त पर जीवित है। उस क्षण की कल्पना करें, जब सारे संसार के लोग बुद्धि-भ्रष्ट हो जायें और परस्पर शोषण पर उतर आये तो सृष्टि का विनाश एक क्षण में हो जाये। हम प्रकृति को सूक्ष्मता से देखें तो पायेंगे कि उसका अन्तर्जीवन कितना करुणाशील है। छोटे-छोटे जीव-जन्तु, वृक्ष वनस्पतियाँ भी किस प्रकार परस्पर सहयोग और मैत्री का जीवन-यापन कर रहे हैं ? मानवीय सभ्यता तो जीवित ही इसलिये है कि इतने भौतिक विकास के बाद भी हम मनुष्य-मनुष्य के प्रति प्रेम, दया, करुणा, उदारता, सहयोग और सामूहिकता के सम्बन्ध को तोड़ नहीं सकते।

गाँवों के किसानों से कोई पूछे कि वे एक खेत में कई फसलें मिलाकर क्यों बोते हैं ? तो उपयोगितावाद के सिद्धान्त का खण्डन करने वाले तथ्य ही सामने आयेंगे। ज्वार और अरहर साथ-साथ बोई जाती हैं। मूँग, उड़द और लोबिया आदि दालें भी ज्वार के साथ बोई जाती हैं। ज्वार का पौधा बड़ा होता है, यदि उपयोगितावाद प्रकृतिगत या ईश्वरीय नियम होता तो वह इन दालों को पनपने न देता। होता यह है कि दालों को ज्वार के पौधों में बढ़ने और हृष्ट-पुष्ट होने में सहायता मिलती है। उधर ज्वार को नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है, सो वह काम अरहर पूरा करती है। वह वायु-मण्डल से नाइट्रोजन खींचकर कुछ अपने लिये रख लेती है, शेष ज्वार को दे देती है, जिससे वह भी बढ़ती और अच्छा दाना पैदा करने की शक्ति ग्रहण करती रहती है। हमारे देश का सामाजिक ढाँचा इसी दृष्टि से बनाया गया था। वर्ग बँटे थे। लुहार अपना काम करता था, बढ़ई अपना, नाई, तेली, मोची, जाटव सब अपना-अपना काम करते थे और अपने जीवन-यापन के साधनों को परस्पर विनिमय के द्वारा बाँट लेते थे।

इस तरह परस्पर स्नेह, आत्मीयता और प्रेम-भाव बना रहता था। तब मुद्राओं का ऐसा प्रचलन न था। आज मुद्रा स्वयं ही एक समस्या बन गई है और इस प्रकार का सहयोग न होने से आर्थिक खींचा-तानी पैदा हो रही है। साम्यवाद और पूँजीवाद और संघर्ष परस्पर सहयोग के सिद्धान्त की अवहेलना के फलस्वरूप ही है।

बेल वृक्षों के सहारे ही बड़े अच्छे ढंग से बढ़ती है उसे किसी घने वृक्ष की छाया न मिले तो बेचारी का जीवन ही संकट में पड़ जाये। यहाँ बड़ा छोटे के हितों की रक्षा करता है। अमर बेल बेचारी जड़हीन होने से स्वयं सीधे आहार नहीं ले सकती, इसके लिये उसे बड़े वृक्षों का ही संरक्षण मिलता है। जिनके पास भी साधन और सम्पत्तियाँ हैं, वे उसे अपनी ही न समझकर समस्त वसुधा की समझकर आवश्यकतानुसार उदारतापूर्वक अल्पविकसितों को बाँटते रहें तो विषमता उत्पन्न ही क्यों हो ? आर्थिक साधन ही नहीं, विद्या, बुद्धि, कला-कौशल, स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि मानवीय विशेषतायें भी एकत्र नहीं होनी चाहिये, हमारे पास जो भी योग्यता हो उसे पिछड़े वर्ग के विकास में स्वेच्छापूर्वक दान करना चाहिये।

बड़ी शक्तियाँ छोटी शक्तियों का शोषण करें यह प्राकृतिक नियम नहीं है। प्रकृति आश्रित को जीवन देने और उसके विकास में सहायता करने का कार्य करती है। 'छोटी पीपल' महत्त्वपूर्ण औषधि है, वह अपना विकास किसी घने छायादार वृक्ष के नीचे ही कर सकती है। इलायची नारियल के वृक्ष की छाया में बढ़ती है।

बड़ा पेड़ अपने नीचे के छोटे पेड़ों को खा ही जाये यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है।

एक गाँव में एक अन्धा रहता था, दूसरा लंगड़ा। एक दिन अकस्मात् गाँव में आग लग गई। समर्थ लोग अपना-अपना सामान लेकर सुरक्षित भाग निकले। लंगड़ा और अन्धा दो व्यक्ति ही ऐसे रहे, जिन बेचारों के लिये बाहर निकलना सम्भव न था। एकाएक अन्धे को एक उपाय सूझा। उसने लंगड़े से कहा—यदि आप मुझे रास्ता बताते चलें तो मैं आपको कन्धे पर बैठाकर यहाँ से निकल सकता हूँ और इस तरह हम दोनों ही यहाँ से सुरक्षित बच सकते हैं। लँगड़े की योजना पसन्द आ गई। अंधे ने उसे कन्धों पर बैठाया। लंगड़ा उसे दिशा दिखाता चला और इस तरह दोनों एक रास्ते से आग की लपटों से बचकर बाहर आ गये।

अन्धे और लंगड़े की यह कहानी मनुष्य समाज की सुरक्षा और सुख के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रभाण है। यहाँ कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं, सब अपूर्ण हैं। डाक्टर औषधिशास्त्र का पण्डित हो सकता है, कानून-शास्त्र का नहीं। इन्जीनियर मशीनों का ज्ञाता होकर भी व्यापार शास्त्र की दृष्टि से निरा बालक रहता है। वैज्ञानिक के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ही बच्चों का शिक्षण आप कर लें उसके लिये, उसे प्रशिक्षित अध्यापकों वाले कालेज का ही सहयोग लेना पड़ेगा। अपूर्णताओं वाले संसार में यदि उपयोगितावाद को खुला समर्थन दिया जाने लगे तो सबके सब अपने को उपयोगी मानकर छल-कपट, शोषण और अत्याचार करने लगें, ऐसी स्थिति में अशिक्षित किन्तु स्वस्थ और बलिष्ठ भी अपने शरीर की उपयोगिता सिद्ध करना चाहेगा। वह चोरी, डकैती और दूसरी तरह के अपराध करेगा क्योंकि उसे न्याय और नियन्त्रण में रखने वाली बौद्धिक शक्ति स्वयं पंगु हो चुकी होती है। यदि सब उदारतापूर्वक एक-दूसरे से सहयोग का मार्ग अपना लें तो हर कोई स्वयं साधनों में भी आनन्द की उपलब्धि कर ले। आज की स्थिति जो गड़बड़ है, उसका दोष इस उपयोगितावाद को ही दिया जा सकता है।

समुद्र में शंख पाया जाता है। उसका कीड़ा निकल जाता है, तब 'आर्थोपोडा वर्ग' का हरमिट क्रेव' नामक जल-जन्तु उसमें जा बैठता है सोचता तो वह यह था कि यहाँ वह सुरक्षित रहेगा, किन्तु यहाँ भी उसे शत्रु का भय बना रहता है। मछलियाँ उसे कभी भी पकड़कर खा जाती हैं। यदि उपयोगितावाद का सिद्धान्त ही सत्य और व्यावहारिक रहा होता तो इस कीड़े की वंशावली ही समाप्त हो गई होती।

पर प्रकृति ने उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध भी किया है। कहीं पर 'फाइसेलिया' नामक एक जानवर पड़ा होता है। बेचारा अपने आहार के लिये चल-फिर नहीं सकता। आर्थोपोडा उसे अपने शंख की पीठ पर बैठा लेता है और उसे यहाँ से वहाँ घुमाता रहता है। प्रत्युपकार में फाइसेलिया उस आर्थोपोडा की रक्षा का भार स्वयं वहन करता है। फाइसेलिया अपने शरीर से काई की तरह का एक दुर्गन्धित पदार्थ निकालता रहता है, फलस्वरूप वह जहाँ भी रहता है मछलियाँ भयभीत होकर पास नहीं आतीं यही द्रव छोटे-छोटे जन्तुओं के मारने के काम आता है तथा इस 'फाइसेलिया' और 'हरमिट क्रेव' दोनों को भोजन भी मिल जाता है और इस तरह आर्थोपोडा का जीवन सुरक्षित बना रहता है। इससे यह मालूम पड़ता है कि प्रकृति ने यदि सहयोग और सद्‌भाव की प्रेरणा अन्तरंग से न दी होती तो सृष्टि के सम्पूर्ण प्रणियों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

एक कोषीय जीवों को प्रोटोजोन्स कहते हैं। इनके हाथ-पैर, मूल आदि कुछ नहीं होते। एक नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और उसके आस-पास 'साइटोप्लाज्म'। अमीवा एक ऐसा ही प्रोटोजोन है। इसी की जाति का 'पैरामीसियम' नामक जीव जब थक जाता है और जीवन शक्ति बहुत कम पड़ती जाती है या बुढ़ापा अनुभव करता है, तब दो पैरामीसियम मिलकर एक-दूसरे से साइटोप्लाज्म (एक प्रकार का द्रव सा होता है, जिसमें पानी के अतिरिक्त गैस, खनिज-धातुयें, लवण, पोटेसियम, फास्फोरस आदि विभिन्न तत्व होते हैं) अदल-बदल लेते हैं, इससे उनमें पुनः एक नई शक्ति आ जाती है, जबकि मनुष्य समाज अपने माता-पिता और बुजुर्गों का केवल इसीलिये तिरस्कार करते रहते हैं, क्योंकि

वे शक्ति और आजीविका की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाते हैं।

उपयोगी के प्रति आसक्ति और रुझान तथा अनुपयोगी अनावश्यक के प्रति उपेक्षा तिरस्कार की वृत्ति प्रकृति व्यवस्था के विरुद्ध है। प्रकृति मनुष्य को इस बुराई के विरुद्ध चेतावनी देती है और यह बताती है कि यदि मनुष्य स्वयं औरों से सहयोग, सहानुभूति प्राप्त करे तथा उनके प्रति भी वैसा भी सद्भाव रखें। उपयोगी जीवों के प्रति सेवा भाव रखना और अनुपयोगी के प्रति उपेक्षा तथा अनुदारता का भाव रखना—मानवीय कृपणता के अतिरिक्त कुछ नहीं। जिस तरह परस्पर व्यवहार में छोटों के प्रति सम्मान और कृतज्ञता की भावना रखते हैं। उसी प्रकार सभ्यता और प्रगतिशीलता का मापदण्ड यह है कि हम अनुपयोगी जीवों के प्रति भी वैसी ही उदारता की भावना रखें।

वैसे भी प्रकृति के सन्तुलन की दृष्टि से हर जीव उतना ही उपयोगी जितने कि गाय, बैल, भैंस घोड़े और गधे। चील, कौवे सड़े-गले मांस को ठिकाने न लगायें तो सारा वातावरण दूषित हो जाये। अनेक बैक्टरिया कृषि उपज के लिये अत्यधिक लाभदायक होते हैं। कई जीव जन्तुओं से बहुमूल्य चमड़ा और समूर मिलता है तो अनेक परस्पर एक-दूसरे को खाकर ही एक-दूसरे की असह्य बाढ़ को नियन्त्रित कर अन्ततः मानव जीवन के लिये उपयोगिता सिद्ध करते हैं। इस दृष्टि से सृष्टि का हर जीव उपयोगी और आवश्यक है। उनकी दुष्टता के प्रति ताड़ना का दृष्टिकोण रखा जाय यहाँ तक उचित है। किन्तु उनके प्रति दुष्टता का व्यवहार मनुष्य जैसे भावनाशील प्राणी के लिये कदापि उचित नहीं हो सकता। हमारी बुद्धि प्राणी मात्र के प्रति दया और करुणा की आत्मीयतापूर्ण सम्वेदना से ओत-प्रोत रहे यही मनुष्यता है। मात्र मनुष्य जाति के प्रति विनम्र और कृपालु रहना अपर्याप्त है।

आज देखने में यह आ रहा है कि मनुष्य जाति अपनी बढ़ती हुई मांसभोजी प्रवृत्ति के कारण वन्य-जीवों के अन्धाधुन्ध वध पर तुल गयी है। बहुत-से लोग तो शौकिया भी शिकार करते और वन-सौन्दर्य को उजाड़ने में अपनी शान समझते हैं। यह मानवीय आदर्शों का अपमान नहीं तो और क्या है कि मनुष्य स्वार्थ के लिये दूसरे जीवों का वध करें।

वन्य-जीवों का शिकार प्रकृति के सन्तुलन को नष्ट-भ्रष्ट करने का एक अघन्य कृत्य ही नहीं हिंसापूर्ण अपराध भी है। 'फ्रान्सीसी' दार्शनिक लीवृनित्स कहा करते थे पृथ्वी-पर जीवन की तीन अभिव्यक्तियाँ हैं। मनुष्य रूप में जीवन जागता है, प्राणियों में जीवन स्वप्न देखता है और पेड़-पौधों में सोता है। हिंसा चाहे वह सोते व्यक्ति की जाये या जागृत की एक ही बात है। सुप्त, तुरीय और जागृत चेतना जीवन की विलक्षण गति और महा रहस्य है, उसे उगते चलते, उड़ते निहारने का आनन्द ही कुछ और है। हिंसा से तो दर्द ही पैदा होता है, जिसमें समान रूप से मनुष्य को भागीदार होना ही पड़ता है। साधु वास्वानी का कथन है—हर जीव प्रकृति संगीत का स्वर है, हर प्राणी जगज्जननी प्रकृति का प्राणप्रिय पुत्र है, उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिये जीवों को प्यार न करना परमात्मा से प्यार न करने के बराबर है। कोई भी देश सच्चे अर्थों में तब तक स्वतन्त्र नहीं जब तक मनुष्य के छोटे भाई मूक पशु स्वतन्त्र और सुखी न हों।

व्यावहारिकता इससे विपरीत देखकर दुःख होना स्वाभाविक है। अन्य जीवधारियों की तुलना में बुद्धिमान और शक्तिशाली होने के कारण सम्भवतः उसे यह भ्रम हो गया है कि मानवेत्तर जीव उसके अनुचर और उपयोग के लिये हैं इसी से वह उनका निरन्तर उत्पीड़न करने पर तुल गया। आज स्थिति यह है कि अनेक सुन्दर और उपयोगी जीव-जन्तुओं की जातियाँ तो विलुप्त हो गईं अनेक लुप्त प्राय स्थिति में हैं। गत शताब्दी तक पिनयूनस इम्पैर्निस नामक ओक ग्रीसलैण्ड सैंट लारेंस ग्रेट ब्रिटेन से आइसलैण्ड तक उन्मुक्त विचरण करता था। यह एक अच्छा तैराक पक्षी था दक्षिण स्पेन से लेकर फ्लोरिडा तक का क्षेत्र इसकी क्रीड़ास्थली था। किन्तु न्यूफाउण्डलैण्डवासियों ने इसका तीन शताब्दियों तक जघन्य वध किया। १८४५ में इसका एक जोड़ा आइसलैण्ड में बचा था, उसे भी सर्वभक्षी मानव ने मारकर उदरस्थ कर इसके जीवनदीप को ही बुझा दिया जब मात्र उसके कंकाल ही संग्रहालयों में शेष रहे हैं।

५ क्विंटल वजन का टाइटन जो २५० वर्ष पूर्ण मेडागास्कर का निवासी था अब दुनिया से पूरी तरह उठ गया। लेब्रोडोर में पाई जाने वाली बतख लोगों ने मार-मारकर खा डाली। हरे खाकी रंग का शक्तिशाली टकाहा (नोटोर्निस-मेन्टी) अपनी सुन्दरता के लिये विश्व विख्यात था उसे न्यूजीलैण्ड वालों ने मारकर वंशविहीन कर दिया। कोरिया का क्रस्टेड पहाड़ी बतख इसी शताब्दी में धरती से उठ गया। एक्टो पिस्टस कबूतर जो कभी पूर्वी अमेरिका में झुण्ड के झुण्ड उड़ा करते थे। आसानी से शिकार हो जाने के कारण अब समूल नष्ट हो गये अन्तिम नमूने की मादा मार्था ने १६१४ में सिनसिनाही चिड़ियाघर में अन्तिम विदा ले ली, पर मानवीय पिपासा फिर भी शान्त न हुई। आज योरोपवासी इन्हें देखने के लिये तरसते और मात्र उसी के लिये भारतवर्ष तथा अफ्रीकी देशों में पर्यटन करते हैं। इससे प्रतिवर्ष लाखों डालर की राष्ट्रीय आय होती है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी तरह से जीव जगत हमारा प्राकृतिक सहोदर है, उसकी रक्षा अपनी जाति अपने वंश के रूप में ही करने की आवश्यकता है।

हमारी शिक्षा, हमारे संस्कारों में प्राचीन काल से ही इन तथ्यों का समावेश रहा है। प्राचीनकाल में राजकुमारों तक के लिये प्रकृति सान्निध्य में शिक्षा की व्यवस्था थी उसका अर्थ ही यह था कि उस वातावरण में वे प्रकृति की विशालता को अनुभव करें और अपने को उसी के एक अंग के रूप में देखें। इसी से उस समय को साधना में मानवीयता कि उन गुणों का प्रचुर विकास होता था। तब वन्य जीवन राजकीय संरक्षित सम्पदा मानी जाती थी। कौटिल्य ने उनके वध को अपराध मानकर दण्ड की व्यवस्था की थी।

न केवल मनुष्य अपितु मनुष्येतर जीव भी प्रकृति की सृजन चेतना के अंग हैं भावनात्मक दृष्टि में भी दोनों समान हैं कबीर की यह उक्ति निःसन्देह सच है—

साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।
का पर दाया कीजिये कापर निर्दय होय।।

कीड़े हाथी सभी जीवन के अंग हैं। यह सब दया के पात्र हैं निर्दयता के नहीं। किन्तु व्यवहार में आज हम भारतीय ही कितने पीछे हैं। यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि आज भी नागालैण्ड में प्रतिदिन औसतन ६ शेर मारे जाते हैं। आसाम के गोपालपुरा जंगल में ३० वायसन निरर्थक मार दिये जाते हैं तो राजस्थान में १ हजार सैंड ग्राउज का शिकार होता है। लोमड़ियाँ, खरगोश, सियारों की प्रतिदिन की शिकार संख्या लाखों में है। मोर प्रतिवर्ष १० हजार तक मार दिये जाते हैं। वन्य-पशुओं का यह विनाश न केवल शर्मनाक अपितु मनुष्य के लिये कलंक की बात है।

इसे सन्तोष की बात भी कह सकते हैं गौरव की भी। पक्षियों की संख्या विश्व की किसी भी देश की तुलना में भारत में अधिक हैं। गिद्ध, चील, कौवे आदि कुछ गिने-चुने पक्षियों को छोड़ देश में अनुमानतः ३३०० तरह के शाकाहारी पक्षी हैं। धार्मिक भावना के कारण इनका वध न किये जाने के कारण ही अब तक इस सम्पदा को बचाये रहना सम्भव है। आज यह विदेशी मुद्रा कमाने का एक साधन बन गये हैं। आस्ट्रेलिया, डेनमार्क, बेल्जियम, पश्चिमी जर्मनी, जापान, स्वीडन आदि देशों में भारतीय पक्षियों की बहुत माँग है। योरोप और अमेरिका के लोग भारत के राष्ट्रीय पक्षी मोर को प्राप्त करने के लिये बड़ी से बड़ी रकम देने को तैयार रहते हैं। प्रसन्नता की बात है कि भारतीय सरकार ने इनका निर्यात रोक दिया है।

किन्तु तथाकथित आधुनिक सभ्यता और मांसाहार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण यहाँ भी इनका शिकार होने लगा है। इस निर्दयता के फलस्वरूप योरोपीय नहीं अनेक भारतीय जीव-जन्तु भी अब लुप्त प्रायः हो चले। म. प्र. में जहाँ के जंगलों में हजारों की संख्या में शेर, बारहसिंगे और जंगली भैंसे विचरण किया करते थे। अब केवल ४५० शेर बचे हैं। बारहसिंगे मात्र कान्हा राष्ट्रीय उद्यान में बचे हैं। जंगली भैंसा अब केवल बस्तर जिले में बचा है। काला हिरण अमावस का चन्द्रमा हो गया। गीर सहित शेष देश में कुल १३०० शेर बचे हैं। सोहन चिड़िया जो फसलों के लिये वरदान थी, कीड़े-मकोड़े खाकर फसल की रक्षा करती थी अब लुप्त-प्रायः हो चली है।

१८४६ में उत्तरी पश्चिमी हिमालय में भूरे रंग का बटेर बहुतायत से पाया जाता था किन्तु उसके बाद जो इस की हिंसा प्रारम्भ हुई तो १८७६ तक यह लुप्त प्रायः हो चला। मेजर जी. कराविथन ने तब इसके नैनीताल में होने का प्रमाण दिया था, उसके बाद से एक भी भूरा बटेर जो अपनी लम्बी पूँछ, लाल चोंच के कारण दर्शनीय पक्षी था, आज तक मिला ही नहीं। इसी तरह गोदावरी तट से आन्ध्र प्रदेश के पेन्नार तक पाये जाने वाले कोर्सन १८०० के बाद आज तक नहीं दिखाई दिये उसके अन्तिम दर्शन डा. कैम्पबैल ने अनन्तपुर में किये। हिमालय की तराई में पाये जाने वाले गुलाबी सिर वाले बतख १९३५ तक ही जीवित रह सके। अब तो इसके मात्र १३ चमड़े राष्ट्रीय संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। वे अपने नैसर्गिक रूप में होते तो धरती कितनी सुन्दर लगती, मनुष्य कितने प्रसन्न होते उन्हें देख-देखकर।

एक समय था जब धरती पर मनुष्य नहीं था तब १२० फुट लम्बाई वाले १०२० मन वजन के विशाल डाइनोसोरों से पृथ्वी शोभायमान थी। लाल शरीर के १२-१३ फीट वाले मैमथ हाथी उन्मुक्त विचरण करते थे। मनुष्य का आविर्भाव होवे उससे पूर्व ही प्रकृति के गोद में समा गये और मनुष्यों के लिये धरती खाली कर दी। कौन जाने आज की मानव-वंश वृद्धि ३५०० मन वाली ११३ फीट लम्बी नीली व्हेलों और १६ फुट के जिरैफों को ही विलुप्त न कर दे फिर तो जीवन के अद्‌भुत रहस्य, कहानियों की वस्तु रह जायेंगे, उसमें मानव मन को प्रेरणायें तो मिलेंगी ही कहाँ से ?

इन दिनों 'इकोलोजी'' नामक एक नये विज्ञान का विकास हो रहा है, उसके अनुसार मनुष्येतर प्राकृतिक जीवों को भी समष्टि चेतना का ही अंग माना गया है। आज वन्य-जीवों के विनाश से उत्पन्न हो रही समस्याओं को "एकोलोजिकल बैलेन्स डिस्टर्ब'' की संज्ञा देकर समय रहते उसे सुधारने की चेतावनी दी गई है। इसमें न केवल वृक्ष वनस्पति अपितु जीवों को भी समान रूप से महत्त्व दिया गया है। वास्तव में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं दोनों अन्योन्याश्रित हैं एक के बिना दूसरे की न तो शोभा न अस्तित्व। इसलिये इस सम्पदा के संरक्षण की सब प्रकार से आवश्यकता है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध जीवशास्त्री डा. फ्रैंक हिवन ने अपने कुछ साथियों के सहयोग से लुप्त प्रायः जीवों के संरक्षण का एक अभियान प्रारम्भ किया है। यह कार्य न्यू मैक्सिको विश्वविद्यालय के तत्वावधान में चल रहा है। अफ्रीका की बारबारी भेड़ें तथा एण्टीलोप, साइबेरिया के आवेक्स कुदू ईरान से गैजिल. लाल एल्बुर्ज शिप तथा भारतीय मारखोर यहाँ रखे गये हैं। उनकी सुरक्षा और विकाश के सभी प्रबन्ध किये गये है। यही सभी जीव यहाँ न केवल भली प्रकार पल रहे हैं अपितु उन्होंने इस तथ्य को भी झुठला दिया कि जो वस्तु जहाँ की है वहीं रह सकती है। अफ्रीका से यहाँ कुल ५० भेड़ें आई थीं आज उनकी संख्या ५ हजार से भी ऊपर हो गई। प्रकृति के इस सौन्दर्य को यदि लुप्त होने से बचाया जा सके तो मनुष्य को उसके सर्वांगीण लाभ निश्चित रूप से मिल सकते हैं। इस तरह के प्रयास चलें तो अच्छी बात है, पर शिकार और मांसाहार के लिये तो जीव-वध कभी भी नहीं करना चाहिये तभी इस वन्य सम्पदा की सुरक्षा और प्राकृतिक सन्तुलन बना रह सकता है।

जीव दया को अब योरोपीय देशों में अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसके दो जीते जागते उदाहरण हैं। कनाडा के नगर विक्टोरिया के रामन कैथोलिक चर्च की मदर सिसीलिया ने एक दिन अपने अहाते में तीन बकरियाँ देखीं उन्हें जब वे भगाने लगीं तो देखा कि बार-बार दीवार से टकरा जाती हैं बाहर निकलने का दरवाजा उन्हें नहीं मिल रहा था। मदर सिसीलिया ने समीप जाकर देखा तो यह देखकर कि तीनों बकरियाँ अन्धी होने के कारण ठोकरें खा रही हैं, उनकी आन्तरिक करुणा उमड़ पड़ी। उन्होंने बकरियों को बाड़े में ही रखकर उनके दाने-चारे का प्रबन्ध कर दिया। चर्च अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की तो वे बोली—'क्या ईसामसीह ने एक नन्हें भेड़ के बच्चे को गोद में उठाकर यह नहीं कहा था, जो जितना असहाय है वह उतना ही करुणा का

पात्र है ?" चर्च के अधिकारी इस बात का प्रतिवाद न कर सके उल्टे मदर सिसीलिया की करुणा से वे भी अत्यधिक प्रभावित हो उठे। सिसीलिया को इसके लिये न केवल समूचे कनाड़ा अपितु सम्पूर्ण योरोप से असीम सराहना, श्रद्धा मिली। इसके लिये लोगों ने स्वयं ही कोष स्थापित करने का सुझाव दिया। देखते ही देखते एक बड़ी स्थिर पूँजी जमा हो गई जिसके सहारे अब वहाँ न केवल बकरियाँ अपितु अपंग घोड़ों, अपाहिज बिल्लियों और अनाश्रित कत्तों का एक ऐसा परिवार एकत्र हो गया है, जिससे लोगों को जीव दया की प्रेरणा मिलती है। यह दया की भावना का विकास मनुष्य को उसकी देहासक्ति बुद्धि से आत्मीय गुणों और संस्कार की ओर ले जाता है, जो इस युग की एक अदम्य आकांक्षा है।

इसी तरह का एक उदाहरण उत्तरी वेल्स (ब्रटेन) की कोलविन खाड़ी में बनी अल्फ्रेड होरोविन की पशुशाला है, जिसमें विभिन्न जाति के लगभग ५० जीवों को आश्रय मिला है। आल्फ्रेड न केवल उनके लिये भोजन का प्रबन्ध करते हैं अपितु उन्हें अपनी सन्तान की तरह स्नेह और प्यार भी प्रदान करते हैं।

भारतवर्ष में ऋषिकेश के समीप गान्धी जी की शिष्या मीरा बहिन का स्थापित पशुलोक भी इसी श्रेणी का एक जीव दया का उदाहरण है किन्तु यह अपवाद जैसे हैं। गौतम, गान्धी और भगवान महावीर का यह देश इससे व्यापक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता है, जिसमें मानव और अन्य प्राणी एक जीव-समुदाय के रूप में बसर न करें तो न सही किन्तु उनका शोषण और उत्पीड़न तो नहीं ही किया जाना चाहिये। यह सभ्यता के नाम पर कलंक है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये इन निरीह प्राणियों का वध करे, उनसे अधिक काम ले तथा अनुपयोगी समझ कर उनकी अपेक्षा करे।

करुणा में प्रकाश की तरह की उत्पादकता है। प्रकाश से हमें वस्तु के यथार्थ और अयथार्थ का अन्तर समझ में आता है तो चेतन जगत में जो कुछ भी सुन्दर और सुसज्जित है। वह जब प्रकाश-कणों की देन है। इसी तरह जहाँ भी करुणा के दृश्य उदय होंगे, वहाँ स्वार्थ और हिंसा के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष समझ में आने लगेंगे। साथ ही मनुष्य जीवन की सुन्दरता और सुसज्जा मुखरित होगी, जो मानवीय प्रसन्नता के प्रधान आधार है। करुणा सदा छोटों के प्रति अपने भावनाशील व्यवहार से अभिव्यक्त होती है अतएव यह आवश्यक है कि उनका अभ्यास जीव जगत से प्रारम्भ करें तो उसका प्रतिफल उत्पादकता के सिद्धान्त पर मानव समुदाय में स्वयं परिलक्षित होने लगेगा।

परमात्मा का प्रकाश मानवी अन्तःकरण में करुणा, दया और सहृदयता सद्भाव के रूप में ही हुआ है। प्रकाश से हमें वस्तु के यथार्थ और अयथार्थ का अन्तर समझ में आता है। चेतन-जगत के क्षेत्र में जो कुछ भी सुन्दर और सुसज्जित है। वह सब परमात्मा की देन है। जहाँ भी करुणा, दया, प्रेम, सहृदयता और सद्भावना के दृश्य दिखाई देंगे वहाँ ईश्वरीय विधान की न्यायपूर्ण व्यवस्था के अनुसार उसके सत्य परिणाम भी मिलते हैं। करुणा, सहृदयता, सद्भावना का—उदारता, परमार्थ और भावना का विकास मनुष्य को ईश्वर के निकट लाता चलता है और उसका प्रतिफल मनुष्य जीवन में सुन्दरता तथा सुसज्जा मुखरित होने के रूप में मिलता है। अतएव सद्भाव सम्पदा के अभिवर्धन का अभ्यास जीवजगत से आरम्भ करना चाहिये। यह अभ्यास न केवल व्यक्तिगत रूप से वरन् समष्टिगत रूप से भी आनन्द सुख व शान्ति की अभिवृद्धि करने में सफल हो सकेगा। आवश्यकता ईश्वर के सम्बन्ध में अर्थहीन विवादों की नहीं, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अनुभूति के अभ्यास की है जिससे जीवन धन्य होता जाता है।

ईश्वर प्राप्ति का सच्चा मार्ग

ईश्वर की सच्ची आराधना

नहीं दृशे संवननं त्रिशुलोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा चवाक्।। १२।।

—म० भा० आदि० आ० ८

परमेश्वर का वशीकरण ऐसा तीनों लोकों में नहीं जैसाकि दुःखियों पर दया करना, बराबर वालों से मित्रता उदारता और मीठी वाणी, नीलकण्ठ टीकाकार ने लिखा है कि—"संवननं संभजनं परमेश्वर स्याराधनन्" अर्थात् इस वचन में 'संवननमं' का अर्थ परमेश्वर का आराधन है।

तप्यन्ते लोक तापेन प्रायशः साधवोजनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्या खिलात्मनः।। ४४।।

—भा० ८। ७

प्रायः करके सज्जन पुरुष लोक ताप से तप जाते हैं अर्थात् मनुष्यों पर विपत्ति देख उसको दूर करने के लिये दुःख उठाते हैं और यही (दूसरों का दुःख दूर करना) भगवान की परम आराधना है।

दयया सर्वभूतेषु संतुष्टया येनकेन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्याच तुष्यत्याशु जनार्दनः।। १६।।

—मा० ४। ३१

सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने से अनायास से मिले पदार्थ से प्रसन्न रहने से और इन्द्रियों से निग्रह से भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं।

तितिक्षया करुणया मैत्र्याचाखिलजन्तुषु।
समत्वे न च सर्वात्मा भगवान् सं प्रसीदति।। १३।।

—भा० ४। ११

सहनशीलता, करुणा सम्पूर्ण प्राणियों में मित्रता और सबके साथ समता (पक्षपात न करना) का व्यवहार करने से भगवान प्रसन्न होते हैं।

पर पत्नी पर दृव्य पर हिंसा सुयोमतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः।। १३।।
परापवादं पैशून्यमनृतं च न भाषते।
अन्तोद्वेग करंचापि तोष्यते तेन केशवः।। १४।।
देव द्विज गुरूणां यो शुश्रषं सु सदोल्यतः।
तोष्यते तेन गोविंदः पुरुषेण नरेश्वरः।। १५।।
यथात्मनि च पुत्रेच सर्व भूतेषुपस्तथा।
हित कामो हरिस्ततेन सर्वदा तोष्यते सुखम्।। १६।।
यस्य रागादि दोषेण न दुष्टं नृप मानसम्।
विशुद्ध चेतसा विष्णुस्तोष्यते तेन सर्वदा।। १७।।

—विष्णु पु० ३। ८

ये वचन महामुनि और्व ने राजा सागर के प्रति कहे हैं, जिनका मर्मानुवाद यह है कि—

पराई निन्दा, चुगलखोरी, असत्य, पीड़ा जनक वचन, पर पत्नी, पर दृव्य और हिंसा से जो बचा है। देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरु की सेवा करता है अपने तथा पुत्र के समान सब भला चाहता है और हृदय राग, द्वेष, ईर्ष्या, छल कपट से मैला नहीं है अर्थात् शुद्ध चित्त है उससे भगवान् सदा प्रसन्न रहते हैं।

यो दयावान् द्विज श्रेष्ठ सर्वभूतेषु सर्वदा।
अहंकार विहीनश्च तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा।। ८७।।

—पद्य पु. ७ वां खण्ड अ० १६

किसी एक ब्राह्मण से श्री भगवान् कहते हैं कि हे द्विज श्रेष्ठ ! जो सब काल में सब प्राणियों पर दया करता है और अहंकार से रहित है तिस पर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ।

सर्व भूत शरीरस्थं योमां जानाति मानवः।
पर हिंसा विहीनो यस्तस्य तुष्टोऽम्यहं सदा।। ६०।।

जो पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों से शरीर में मुझे जानकर दूसरे की हिंसा से बचा हुआ है तिस पर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ।

कर्माणि कुरुते यस्तु सुविचार्य पुनः-पुनः।
गो ब्राह्मण हितैषी यस्तस्य तुष्टोऽमहं सदा।। ६१।।

जो पुरुष बार-बार विचार कर कार्य करता है गौ और ब्राह्मण का हितैषी है, उस पर मैं हमेशा प्रसन्न रहता हूँ।

स्वयं निरुक्त वचनं यत्नादयः परिपालयेत्।

प्रपन्नं पातियत्नाद् यस्तस्य तुष्टोऽमहं सदा।।६२।।

अपने मुख से निकले हुए वचन का जो पालन करता है अर्थात् कहकर नहीं लौटता और शरणागत की रक्षा करता है, उस पर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ।

ददात्य नुपकारिण्यो द्विज सत्तम।

मयि चितं सदा यस्य तस्य तुष्टोऽस्महं सदा।।६३।।

जो अनुपकारी (जिससे अपना कुछ स्वार्थ नहीं) के लिये दान देता है, मेरे में सदा चित रखता है उस पर मैं प्रसन्न रहता हूँ।

अहिंसा सत्य मस्तेयं ब्रह्मचर्या परिग्रहौ।

वर्तते यस्य तस्ययेवं तुष्टयते जगतां पतिः।।२०।।

सर्व भूत दया युक्तो विप्र पूजा परायणाः।

तस्य तुष्टो जगन्नाथो मधु कैटभ मर्दनः।।२१।।

—नारद पु० अ० १४

अहिंसा, सत्य चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी पदार्थ में आशक्ति का न रहना) इनके पालन करने वाले पर भगवान् प्रसन्न रहते हैं।। २०।।

सब जीवों पर दया और ब्राह्मण का आदर करता है उस पर भगवान प्रसन्न रहते हैं।। २१।।

सत्कथायां रमते सत्कथांच करोतियः।

सत्संगो निरहंकारस्तस्य प्रीती रमापतिः।। २२।।

जो श्रेष्ठ चर्चा में मन लगाता है, अपनी जवान से ये सुन्दर बात निकालता है, सज्जन पुरुषों का संग करता है अहंकार से रहित है ऐसे पुरुष पर भगवान प्रसन्न रहते हैं।

नाम संकीर्तन विष्णोः क्षुत् तृट् प्रस्खलितादिषु।

करोति सततं यस्तु तस्य प्रीतो ह्यधोक्षजः।।२३।।

जो भूख-प्यास आदि दशा में विष्णु भगवान का नाम संकीर्तन करता है, उस पर भगवान प्रसन्न रहते हैं।

या तु नारी पतिप्राणा पतिपूजापरायणा।

तस्यास्तुष्टो जगन्नाथो ददाति स्वपदं मुने।।२४।।

जो स्त्री अपने पति को प्राण समान मानती है और पति का आदर करती है उस स्त्री पर भगवान् प्रसन्न होकर अपना पद देते हैं।

असूयारहिता ये तु ह्यहंकारविवर्जिताः।

दैवपूजापराश्चैव तेषां तुष्यति केशवः।। २५।।

असूया (गुणी के गुणों में छिद्र देखना, अपने गुणों का अपने आप कहना, ओरों के दोषों से प्रसन्न होना) और अहंकार से जो पुरुष रहित हैं इष्टदेव को पूजा करने वाले हैं, उन पर भगवान् प्रसन्न रहते हैं।

येन-केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।

संतोषं जनयेत् प्राज्ञस्तदंवेश्वरपूजनम्।।

—सुभाषित रत्न भांडागार

जिस किसी तरह जिस किसी प्राणी को सुख पहुँचावे यही ईश्वर का पूजन है।

पररंध्रेषु जात्यन्धाः परदारेष्वपुंसकः।

परापवादे ये मूकास्ते तीवदयिता मम।।

—स्मृति रत्नाकर

पराये छिद्र देखने वाले नहीं, पर स्त्री त्यागी, निंदा से बचे ऐसे पुरुष मुझे अधिक प्यारे हैं।

रागाद्यपेतंहृदयं वागदुष्टानृतादिभिः।

हिंसादिशून्यकायश्च ह्येतदीश्वरपूजनम्।।

—सूत संहिता १४।। ११ भविष्त १। ११२। १३

दर्शनोपनिषद् २/८

राग द्वेषादि से रहित हृदय, मिथ्या, कठोर भाषण, चुगलखोरी आदि से रहित वाणी, हिंसा चोरी और व्यभिचार से रहित शरीर इस प्रकार का बर्ताव ही ईश्वर का पूजन है अर्थात् मन वाणी शरीर के मुख्य-मुख्य दस पापों से भगवान की पूजा है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र करुण एवच।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। १३।।

—भ. गी. अ. १२

जो किसी से द्वेष से नहीं करता, सबका हितैषी, सब भूतों पर दया परायण है ममता और अहंकार से रहित है अर्थात् मैं मेरी को त्यागे हुए हैं जी सम्पत्ति विपत्ति में एकरस रहता है

क्षमाशील है अर्थात् सामर्थ्य रहते हुए दूसरे के अपराध को सह लेता है।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमे भक्तः स मे प्रियः।। १४।।

जो अनायास मिल गया उसी में प्रसन्न है परमात्मा में लगा हुआ है, मन काबू में करने वाला, जिसका निश्चय दृढ़ है, जिसने मन बुद्धि मुझ में अर्पण कर दी है, ऐसा जो भक्त है वह मेरा प्यारा है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजमते च यः।
हर्षामर्षभयाद्वेगेमुक्तो यः स च मे प्रिय।। १५।।

जिससे लोगों को कोई शंका नहीं और जिसको लोगों से कोई शंका नहीं, जो हर्ष, भय क्रोध और उद्वेग से छूटा हुआ है, वह मेरा प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनौ गत व्यथ।
सर्वारंभ परित्यागी यो मद्भक्त समेप्रियः।। १६।।

बे परवाह, पवित्र, चतुर उदासीन (पक्षपात रहित) मन की व्यथा से शून्य काम्य कर्मों का त्यागी जो मेरा भक्त है वह मेरा है।। १६।।

योन हृष्यति नद्वेष्टि न शोचति कांक्षांति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमानयः समेप्रियः।। १७।।

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न इच्छा करता है, शुभ-अशुभ दोनों का परित्यागी है, ऐसे लक्षण वाला मेरा भक्त मुझको प्यारा है।। १७।।

समः शत्रौच मित्रैच तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः संगविवर्जितः।। १८।।
तुल्या निंदा स्तुतिमौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतःस्थिरमतिभक्तिमान्मे प्रियोनर।। १९।।

जो शत्रु मित्र में एक रूप है, मान अपमान में हर्ष-विषाद से रहित है सरदी-गर्मी सुख-दुःख में सम है, आसक्ति से रहित है।। १८।। जिसको निन्दा स्तुति बराबर है मियभाषी है जो कुछ मिल जाय इसी में संतुष्ट है, नियत घर नहीं स्थिर बुद्धि वाला है, ऐसा भक्तिमान पुरुष मुझे प्यारा है।। १९।।

श्री शंकर जी परशुराम से कहते हैं कि—

अहिंसा सत्य वचनं दयाभूतेप्वनुग्रहम्।
यस्यै तानिसदाराम तस्यतुष्यति केशवः।। १।।

—विष्णु धर्मोत्तर पु० अ० ५८

माता पितृ गुरुणां च यः सम्यगिह वर्तते।
वर्जकी मधुमाँ सस्य तुष्यति केशवः।। २।।

अहिंसा, सत्यभाषण, दया, प्राणियों पर कृपा, जिसके ऐसे लक्षण हैं हे राम ? उस पर भगवान प्रसन्न रहते हैं। माता. पिता गुरु, इनके साथ जिसका सुन्दर बर्ताव है मद्य और माँस से बचा हुआ है भगवान उस पर प्रसन्न रहते हैं।। १२।।

वराह मत्स्य माँसानि योनात्ति भृगुनन्दन।
वि तो मद्यपानाश्च तस्य तुष्यति केशव।। ३।।

सूकर मछली के माँस को जो नहीं खाता, शराब से बचा हुआ है, उस पर भगवान् प्रसन्न रहते हैं।। ३।।

पर पीड़ा करं कर्म यस्यनास्ति महात्मनः।
संविभागी च भूतानां तस्य तुष्यति केशवः।। ७।।

जिस महात्मा के दूसरे को पीड़ादायक कर्म नहीं है और दूसरों को बाँटकर खाता है, उस पर भगवान प्रसन्न रहते हैं।। ७।।

सच्चा ईश्वर भक्त कौन है ?

काम क्रोध विहीनाये हिंसादंभ विवर्जिताः।
लोभ मोह विहीनाश्च ज्ञेयास्ते वैष्णवाजना।। ८३।।

—पद्म पु० ७।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा और दंभ (पाखंड) से जो रहित हैं उनको वैष्णव जानना चाहिये।। ८३।।

अमत्सरा दया युक्तां सर्व भूत हितैषिणः।
सत्योक्ति भाषिणश्चैव विज्ञेयास्तेच वैष्णवाः।। ८४।।

ईर्ष्या (जलन) में रहित, दयाशील, सबके हितैषी और सत्यवादी पुरुषों को वैष्णव जानना चाहिये।। ८४।।

धर्मोपदेशिनश्चैव धर्माचार धरास्तथा।
गुरु शुश्रुषिणश्चैव विज्ञेया स्तेच वैष्णवाः।। ८५।।

धर्म का उपदेश देने वाले, धर्माचार को धारण करने वाले और माता-पिता की सेवा करने वाले वैष्णव होते हैं।। ८५।।

समानंयेच पश्यन्ति त्वांच मांच महेश्वरम्।
कुर्वन्ति पूजामतिथेर्ज्ञेयास्ते वैष्णवाजनाः।। ८६।।

श्री भगवान् कहते हैं, कि हे ब्रह्मा जी ? तुमको, मुझको और शिवजी को समान दृष्टि भेद बुद्धि रहित) से देखते हैं और अतिथि सत्कार करते हैं, उनको वैष्णव जानना चाहिये।। ८६।। आजकल के वैष्णव इस वचन पर ध्यान देंवें।

वेद विद्या निरुक्ताये विप्रभक्तिरताः सदा।
नपुंसकाः पर स्त्रीषुज्ञेयास्ते वैष्णवाजनाः।। ८७।।

वेद विद्या के प्रेमी, ब्राह्मणों से प्रेम करने वाले और पर स्त्री के त्यागी, ऐसे पुरुष को वेष्णव जानना चाहिये।। ८७।।

अभयं ये च यच्छन्ति भीरुभ्यश्चतुराननः।
विद्या दानं च विप्रेभ्योज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः।। ६७।।

जो भीरु को अभय दान देते हैं और ब्राह्मणों को विद्या दान देते हैं, वे वैष्णव जानने चाहिये।। ६७।।

मत्पाद सलिलेर्येषां सिक्तानि नस्तिकानिच।
मम नैवेद्यमश्नन्ति ज्ञेयास्ते वैष्णवा जनाः।। ६८।।

मेरे चरणोदक को शिर पर धारण करते हैं, मेरे भोग को पाते हैं, वे पुरुष वैष्णव जानने चाहिये।। ६८।।

क्षुत् तृट् प्रपीडितेभ्यश्च ये यच्छन्त्यन्न मम्बुच।
कुर्युये योग शुश्रूषां ज्ञेयास्ते वेष्णवा जनाः।। ६६।।

भूखे और प्यासे के लिये जो अन्न, जल देते हैं, अष्टांग योग धारण करते हैं, उनको वैष्णव जानना चाहिये।। ६६।।

आराम कारिणी येचपिप्पला रोपिणोऽपिच।
गोसेवांयेच कुर्वन्ति ज्ञेयास्ते वैष्णवाजनाः।। १००।।

जो पुरुष बगीचा और पीपल का वृक्ष लगाते हैं, गौ की सेवा करते हैं, उनको वैष्णव जानना चाहिये।। १०२।।

सेवन्ते ज्येष्ठ भगिनी भ्रातरमेवच।
पर निन्दां कुर्वन्ति ज्ञेयास्ते वैष्णवाजनाः।। १०३।।

बड़ी बहिन और बड़े भाई का जो आदर करते हैं और पराई निन्दा नहीं करते उनको वैष्णव जानना चाहिये।। १०३।।

देवस्वं ब्राह्मण दृव्यं परस्वंच चतुर्मुख।
पश्यन्ति विषवद् येच ज्ञेयास्ते वैष्णवाजनाः।। १०६।।

देव धन, (मन्दिर आदि का) विप्र धन और भी दूसरे के दृव्य को हे ब्रह्मा जी ! जो विष समान देखते हैं उनको वैष्णव जानना चाहिये।। १०६।।

पार्वत्युवाच—

वैष्णवा नां लक्ष्णंच कीदृशं प्रतिपादितम्।
महिमा कीदृशश्चैव वदविश्वेश्वर प्रभो।। १।।

—पद्म पु० ६। ८२

पार्वती कहने लगीं कि हे विश्वेश्वर प्रभो ? वैष्णवों के लक्षण और महिमा कैसी है ? सो कहिये।। १।।

महादेव उवाच—

शौच सत्यक्षान्ति युक्तो रागद्वेष विवर्जितः।
वेदविद्या विचारज्ञो यः स वैष्णवउच्यते।। ४।।

पवित्रता, सत्य और क्षमा से युक्त, राग द्वेष से रहित वेद का जानकार वैष्णव कहलाता है।

अग्निहोत्र रतोनित्यं नित्यं चातिथि पूजकः।
पितृभक्तो मातृभक्तो यः स वैष्णव उच्यते।। ५।।

अग्निहोत्र करने वाला, अतिथि पूजक और माता-पिता के भक्त वैष्णव कहाता है।

दयाधर्मेण संयुक्तस्तथा पापपराङ्मुखः।
शंखचक्रांकितो योवै सवै वैष्णव उच्यते।। ६।।

दया,शील, पाप वर्जित, शंख चक्र से चिन्हित वैष्णव कहाता है।

द्विविधं वैष्णवंप्रोक्तं वाह्य माभ्यन्तरं तथा।
शंखचक्रादिभिर्वाह्यमान्तरं वीतरागता।। ७६।।

—पद्म पु० ६। २२४

वैष्णव दो तरह के होते हैं—एक बाहरी, दूसरे भीतरी। शंख चक्रादि से युक्त बाहरी और राग (विषयों में आसक्ति) द्वेष से रहित भीतरी वैष्णव हैं।

हिंसादभ काम क्रोधैंवर्जिताश्चैवयेनराः।
लोभ मोह परित्यक्ता ज्ञेयास्ते वैष्णवा द्विजा।। २१।।

—पद्म पु० ४। १

हिंसा, दंभ (पाखंड) काम (शास्त्र विरुद्ध शब्दादि विषयों के भोगने की इच्छा) क्रोध, लोभ और मोह से जो रहित है, वे वैष्णव हैं।

पितृभक्तादयायुक्ताः सर्वप्राणि हितेरताः।
अमत्सरा वैष्णवाये विज्ञेयाः सत्यभाषिणः।। २२।।

माता-पिता के भक्त, दयाशील सबके हितकारी, ईर्ष्या से रहित और सत्यवादी ऐसे पुरुषों को वैष्णव जानना चाहिये।

सत्यं वदंतियेदेवि नासूयन्तिपरान् क्वचित्।
पर निन्दांनकुर्वन्ति परस्वं नहरन्तिच।। ५६।।

—स्कंद पु० २। १। ६

सत्य बोलते हैं, दूसरे के गुणों में दोष नहीं ढूँढ़ते, किसी की निन्दा नहीं करते, दूसरे के धन को नहीं चुराते।

न स्मरन्ति न पश्यन्ति न स्पृशन्ति कदाचन।
परदारान् सुरूपांश्चयेचतान् विद्धवैष्णवान्।।५७।।

सुन्दर पर स्त्री को स्मरण हैं, न देखते हैं और न स्पर्श करते हैं ऐसे पुरुषों को वैष्णव जानना चाहिये।

सर्वेभूत दयावन्तः सर्वभूत हितेरना।
सदा गयन्ति देवेश मेतान् भक्तान वेहिवै।। ५८।।

दयाशील सबके हितकारी, भगवान् के सद गुण गान करने वाले, ऐसे पुरुषों को भगवद्भक्त समझना चाहिये।

येन-केन च संतुष्टाः स्वदार निरताश्चये।
बीतराग भय क्रोधास्तान् भक्तान् विद्धि वैष्णवान्।। ५६।।

अनायास मिले पदार्थों में संतुष्ट, अपनी ही स्त्री से प्रेम, राग, भय, क्रोध, छूटा हुआ ऐसे पुरुष को वैष्णव जानना चाहिये।

जीवितं यस्य धमार्थे धर्मा हर्यर्थ मेवच।
अहोरात्राणि पुण्यार्थं तं मन्ये वैष्णवंभुवि।। ८८।।

—पद्म पु० पातालखड ४। ८८

धर्म के लिये जिसका जीवन, भगवान् के निमित्त जिसका धर्म दिन-रात पुण्य कार्य करने वाले ऐसे पुरुषों को मैं पृथ्वी पर वैष्णव मानता हूँ।

ये श्रृणवन्ति कथां विष्णोः सदाभुवन पावनीम्।
तैवे मनुष्यलोकेस्मिन् विष्णुभक्ता भर्वतिहि।। २५।।

—स्कदं पु० २। १। १७

लोकों को पवित्र करने वाली विष्णु भगवान् की कथा को जो नित्य सुनते हैं, वे इस मनुष्य लोक में विष्णु भक्त हैं।

दृषदि परधने च लोष्ठखंडे परवनितासुच कूटशाल्मलीषु।
सखिरिपुसहजेषुवंधुबर्गे सम्मतयः खलुवैष्णवाः प्रसिद्धः।।

—स्कंद पु० २। २। १०

पत्थर, दूसरे का धन, मिट्टी के ढेले, पर स्त्री, काँटे, मित्र, बैरी और सहौदर इन सब को जो एक दृष्टि से देखता है वह निश्चय करके वैष्णव हैं।

नचलति निजवर्ण धर्मतोयः सममतिरात्मसुहृदविपक्षपक्षे।
नहरतिनचंहतिकिंचिदुच्चैः स्थितमनसंतमबेहि विष्णुभक्तम्।।

—विष्णु पु० ३। ७

अपने वर्ण धर्म से जो चलायमान नहीं होता, शत्रु मित्र में एक दृष्टि रखता है, किसी की वस्तु नहीं चुराता, हिंसा नहीं करता और मन नहीं डुलाता उसो विष्णु भक्त समझो।

विमलमतिरमत्सरःप्रशान्तःशुचिचरितोऽखिलसत्व-मित्रभूत।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायोवसतिसदाहृदितस्य-वासुदेवः।। २४।।

निर्मल बुद्धि, ईर्ष्या (डाह-जलन) रहित, शान्त स्वभाव, शुद्धाचरण, सम्पूर्ण प्राणियों के मित्र, प्रिय और हितकारी वचन बोलने वाला, मान तथा कपट से हित ऐसे पुरुष के हृदय में वासुदेव भगवान का निवास रहता है।

कनकमपिरहस्यवेक्ष्यबुद्धया तृणमिव यस्समवैतिवैपरस्वम्।
भवतिचभगवत्यनन्यचेताःपुरुषवरंतमवेहिविष्णु-भक्तम्।। २५।।

एकान्त में पड़े दूसरे के सुवर्ण को भी तृण के समान समझते हैं, भगवान् में जिनका अनन्य प्रेम है, ऐसे पुरुष को विष्णु भक्त समझो।

येहिताः सर्व जन्तूनां गतासूया विमत्सराः।
ज्ञानिनो निस्पृहाःशान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः।। ४०।।

—स्कन्द पु० २। १। २१

सबके हितकारी, किसी के गुणों में दोष ढूँढ़ने वाले नहीं ईर्ष्यारहित, ज्ञानी, कामनारहित और शांत चित्त (कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? इत्यादि घबड़ाहट से रहित) ऐसे पुरुष भगवद् भक्तों में उत्तम हैं।

कर्मण मनसा वाचा परपीडां न कुर्वते।
अपरिग्रह शोलाश्च ते वै भागवतोत्तमाः।। ४१।।

मन, वाणी और शरीर से जो किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते शरीर निर्वाह मात्र से जो अधिक संग्रह नहीं करते ऐसे पुरुष भगवद्भक्तों में उत्तम हैं।

सत्कथा श्रवणे येषां वर्तते सात्विकी मतिः।
मत्पादाम्बुज भक्ताये ते वै भागवतोत्तमाः।। ४२।।

भगवान् कहते हैं कि जिनकी सात्विकी बुद्धि श्रेष्ठ कथा (भगवत् सम्बन्धी या परोपकारी सम्बन्धी) में लगती है और मेरे चरण-कमलों में जिनका प्रेम है वे भगवद् भक्त हैं।

वर्णा नांच यतीनांच परिचर्या पराश्यते।
परनिन्दाम कुर्वाणास्ते वै भागवतोत्तमाः।। ४४।।

ब्रह्मचारी और संन्यासी की सेवा करते हैं और पर निन्दा से बचे हुए हैं, ऐसे पुरुष भगवद्भक्त हैं।

सर्वेषां हितवाक्यानि येवदन्ति नरोत्तमाः।
ये गुण ग्राहिणो लोकेत वै भागवतोत्तमाः।। ४५।।

जो उत्तम पुरुष सबके हित के वचन कहते हैं और जो गुणग्राही हैं, वे भगवद्भक्त हैं।

आत्मवत्सर्वभूतानि ये पश्यन्ति नरोत्तमाः।
तुल्या शत्रुषुमित्रेषु ते वै भागवतोत्तमाः।। ४६।।

अपने समान (जिस व्यवहार से इसको दुःख होना है, उसी व्यवहार से हमको होगा) सब प्राणियों को जो देखते हैं शत्रु, मित्र जिनके बराबर हैं अर्थात् न कोई शत्रु है न कोई मित्र है ऐसे पुरुष भगवद्भक्त हैं।

धर्मशास्त्र प्रवत्कारः सत्यवाक्यरताश्चये।
तेषां शुश्रूषवो येच ते वै भागवतोत्तमाः।। ४७।।

धर्मशास्त्र के वक्ता, सत्यवादी, पुरुषों की जो सेवा करते हैं, वे पुरुष भगवद्भक्त हैं।

ये गो ब्राह्मण शुश्रूषां कुर्वन्ति सतत् नराः।
तीर्थयात्रा परायेच ते वै भगवतोत्तमाः।। ४६।।

जो निरन्तर, गौ, ब्राह्मण की सेवा करते हैं तीर्थ यात्रा के प्रेमी हैं, वे भगवान के भक्त हैं।

अन्येषामुदयं दृष्टवा येऽमिनंदति मानवाः।
हरिनाम परायेचते वे भागवतोत्तमाः ।। ५०।।

जो औरों की बढ़ती देखकर प्रसन्न होते हैं भगवान का नाम जपते हैं वे भगवान् भक्त हैं।

आरामरोपण रतारतटाकोपरि रक्षकाः।
कासार कूप कर्त्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः।। ५१।।

बाग-बगीचे लगाने वाले तालाब के संभारने वाले, तालाब और कूप के बनाने वाले भगवान के भक्त होते हैं।

ये वैतटाक कर्त्तारोदेव सभ्दानि कुर्वते।
गायत्री निरतायेंच तैवे भागवतोत्तमाः।। ५२।।

जो तालाब और देव मन्दिर बनवाते हैं गायत्री का जप करते हैं, वे भगवान् के भक्त हैं।

स्वाश्रमाचार निरतास्तथैवातिथि पूजकाः।
येच वेदार्थ वक्तारस्तेवै भागवतोत्तमाः।। ५६।।

अपने वर्णाश्रम सम्बन्धी नित्य नैमितिक आचार-विचार के प्रेमी हैं अतिथि के सेवक, वेद के अर्थ के वक्ता हैं वे भगवद् भक्त हैं।

विदिता निवशास्त्राणि परार्थ प्रवदन्तिये।
सर्वत्रगुण भाजो यतेवै भागवतोत्तमाः।। ५७।।

परोपकारार्थ शास्त्रोपदेश करते हैं, सब जगह से गुणकारी हैं, वे भगवान के भक्त हैं।

बहुनात्रकिमुक्तेन संक्षेपात्ते ब्रवीम्यहम्।
सद्गुणाय प्रवर्तन्ते ते वै भागवतोत्तमाः।। ६१।।

इस भगवद्भक्त विषय में अधिक कहने से क्या है मैं तेरे से संक्षेप में सारांश कहता हूँ कि—सद्गुण के लिये जो प्रवृत्त होते हैं या सद्गुण जिनमें हैं वे भागवतोत्तम हैं।

सदाचारिता येच सर्वेषां मुपकारकाः।
सदैव ममताहीना स्तेवै भागवतोत्तमाः।। ६१।।

—स्कंद पु० वे० ख वै० मा० अ० २

सदाचार के प्रेमी सबके उपकार करने वाले हमेशा मैं मेरी से रहित ऐसे पुरुष भगवद्भक्त हैं।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् योनद्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् सवै भागवतोत्तमाः।। ४८।।

—श्री० भ० ११। २

जो इस संसार को विष्णु भगवान् की माया देखता हुआ अनायास प्राप्त शास्त्रानुकूल विषयों को ग्रहण करके दुःख-सुख नहीं मानता वह भगवान् का भक्त है।

न यस्यस्वः पर इति वित्तेष्वामनिबा भिदा।
सर्वभूत समः शान्तः सर्वे भागवतोत्तमाः।। ५२।।

जो अपने पराये भेद नहीं मानता अर्थात् अधिक उदारचित्त है। सबके साथ समता का व्यवहार करता है तथा शान्त चित्त है वह भगवान का भक्त है।

अलोलजिव्हसमुपस्थितो धृतिनिधाय चक्षुर्युगमात्रमेवतत्।
मनश्चवार्चच निगह्यचंचलं भयान्निवत्ते मम भक्तउच्यते।। —म० भ० आश्व० अ० ३१। ११३

श्रीकष्णचन्द्र कहते हैं—

जिसकी जीभ चपल नहीं अर्थात् व्यर्थ का बकबाद नहीं करता, भोजन में आसक्त नहीं। धीरज, धारण करने वाला है अर्थात् विपरीत सम्पति में एक रस रहता है, चलते समय जो चार हाथ दृष्टि डालकर चलता है (चारों ओर को व्यर्थ नहीं देखता) चंचल मन वाणी को नियम में रखकर (मन में बुरे विचार नहीं लाता, वाणी में असत्यादि भाषण नहीं करता।) कर्त्तव्य कर्म पालन में निर्भर रहता है, वह मेरा भक्त कहलाता है।

का क्रोधं रसास्वादं जित्वा मानं च मत्सरम्।
निर्दम्भविष्णु भक्ता ये तं संतं साधयोमताः।। ३०।।

—स्कंद पु० २३। २०

काम, क्रोध, रसास्वाद (जिव्हा की लोलुपता) मान, मत्सर (डाह) को त्यागकर जो भीतर से (न कि दिखावे के लिये) विष्णु भगवान् के भक्त हैं वे सन्त कहे जाते हैं।। ३०।।

ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मोंहीः श्रीर्धतिः क्षमा।
यत्र-तत्र रमेनिन्यं महं सत्येन ते शये।। ३०।।

—भ० म० द्रोणपर्व अ० १८१

वेदादि का जहाँ पठन-पाठन है, सत्य व्यवहार, दम (मन मैं बुरी वासना न आना) शौच (इन्द्रियों को शास्त्रानुकूल विषयों में लगाना, ईमानदारी से पैसा पैदा करना) धर्म (कर्त्तव्य सम्बन्धी) ही—लज्जा (बुरे कर्मों से बचना, श्री (शोभाकांति, धृति (आपत्ति सम्पत्ति में चित्त का एक रस रहना) और क्षमा ये बातें जहाँ पर हैं तेरी शपथ (श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुन से कहते हैं,) पूर्वक कहता हूँ वहाँ मेरा निवास है।। ३०।।

याऽन्यदुःखानि विज्ञाय साधुवाक्येः प्रबोधयेत्।
स एवं विष्णु सत्वस्थो यतः परहिते स्थितः।। ६८।।
अन्य दुःखेन यो दुःखी योऽन्य हर्षेण हर्षितः।
सएव जगतामीशो नर रूप धरो हरिः।। ६६।।

—नारद पु० पूर्वखण्ड अ० ७

जो अन्य के दुःख को जानकर उपदेश भरे वाक्यों से समझाता है, वह विष्णु भगवान् के बराबर है क्योंकि वह परहित में लगा हुआ है।। ६८।। अन्य के दुःख से जो दुःखी है, अन्य के हर्ष से हर्षित है, वह जगत का ईश नर रूप धारी भगवान् हैं।

पुण्योपदेशी सदयः कैतवैश्च विवर्जितः
पाप मार्ग विरोधी चत्वारः केशवोपमाः।। १७।।

—पद्म पु० ७।६।१२६

मन, वचन और कर्म से सच्चा धर्मोपदेशक, दयावान् छल-कपट से शून्य और पाप मार्ग के विरोधी ये चार भगवान् के तुल्य हैं।। १७।।

द्वयं यस्य वशे भूयात् स एवस्यात् जनार्दनः। २६।।

—वैशाख मा० २२

शिश्न और जिव्हा ये दो इन्द्रिय जिसके वश में हैं वह भगवान् हैं। इत्यादि वचनों से हिन्दू शास्त्र भरा पड़ा है और ऐसे वचन १६ आने सत्य हैं। इनके यथार्थ मानने में समझदार का विरोध नहीं।

भगवान् की पूजा के पुष्प

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थ क्षांतिरेवच।। ५७।।
शमस्तु पंचम पुष्पं दमः षष्ठं च सप्तम्।
ध्यानं सत्यं चाष्टमंच ह्यतैस्तुष्यति केशवः।। ५८।।
पुष्पान्तराणि सन्त्येव वाह्यनि नृपसत्तम।
आन्तरैरेवतुष्येत यतोभक्ति प्रियोऽच्युतः।। ५६।।

—पद्म पु० ५।८४

अहिंसा प्रथम पुष्प, इन्द्रिय निग्रह दूसरा पुष्प, प्राणियों पर दया तीसरा पुष्प क्षमा चौथा पुष्प, शम (शान्ति) पाँचवां पुष्प, दम (मन का निग्रह) छटवाँ पुष्प, ध्यान सातवाँ पुष्प, सत्य आठवाँ पुष्प है।

बाहिरी (गुलाब आदि के) और भी पुष्प हैं परन्तु भगवान् तो भीतरी (अहिंसा आदि) पुष्पों से ही अधिक प्रसन्न होता हैं।। ५७, ५६।। तात्पर्य यह है कि देव पूजक के पास प्रथम अहिंसा आदि ये पुष्प होने चाहिये। इनके बिना गुलाब आदि के पुष्प व्यर्थ हैं।

भगवान का निवास कहाँ हैं ?

श्री भगवानुवाच—

रागद्वेष विहीना ये मद्‌भक्ता सत्यपरायणाः।

वहति सततंतेमां गतासूयाअदांभिका।। ५७।।

—नारद पु० पूर्वखण्ड अ० ११

पतिव्रताः पतिप्राणा पतिभक्ति परायणा।

बहन्ति सततंदेविस्त्रयोपित्यक्त मत्सराः।। ५६।।

माता पित्रोश्च शुश्रूषुर्गरु भक्तोऽतिथि प्रियः।

हितकृद् ब्राह्मणानांयः समावहति सर्वदा।। ६०।।

पुन्यतीर्थरता नित्यं सत्संग निरतास्तथा।

लोकानुग्रह शीलाश्च सततं ते वहिंतामाम्।। ६१।।

परोपकारनिरता परदृव्य पराङ्मुखाः।।

पपुंसको परस्त्रीषुते वहंति च मां सदा।। ६२।।

प्रतिग्रह निवृत्ता ये परान्न चिमुखास्तथा।

अन्नोदक प्रदातारो वहन्ति सततं हिमाम्।। ६४।।

अर्थ—राग, द्वेष असूया (गुणों में दोष दृष्टि रखने वाले) दंभ (पाखण्ड) से रहित मेरे भक्त मुझे निरन्तर हृदय में धारण करते हैं।। ५७।। जलन से हीन, पतिप्राणा, पतिव्रता स्त्री भी मुझे हृदय में निरन्तर धारण किये रहती हैं।। ५६।। माता-पिता गुरु तथा अतिथि की सेवा करने वाले और ब्राह्मणों के हितकारी पुरुष मुझ निरन्तर हृदय में धारण किये रहते हैं।। ६०।। पुण्य तीर्थ तथा सत्संग के प्रेमी और लोकोपवादी पुरुष निरन्तर मुझे हृदय में धारण किये रहते हैं।।। ६१।। पर धन, पर स्त्री से बचे हुए परोपकारी पुरुष निरन्तर मुझे हृदय में धारण कियें रहती हैं।। ६२।। दान और दूसरे के अन्न से बचे हुए, अन्न और जल का दान करने वाले निरन्तर मुझे धारण किये रहते हैं।। ६४।।

दुराचारी से भगवान् अप्रसन्न रहते हैं

पूर्व लेख में भगवान् के प्रसन्न रहने के हेतुओं की चर्चा हुई है। अब यह देखना यह है कि भगवान् किन कर्मों से अप्रसन्न रहते हैं ? किसी एक ब्राह्मण से भगवान् ने कहा है कि—

कर्मणायेन तुष्टोऽस्मि निरुक्तं तत्समासतः।

रुष्टोऽस्मि कर्मणायेन विप्रवच्मिश्रणुष्वतम्।। ६४।।

—पद्‌म पु० ७ वो क्रिया खंड अ० १६

पर हिसारतो यस्तु निर्दयः सर्व जन्तुषु।

अहंयुः सर्वदा क्रुद्ध समानयति चत्रुताम्।। ६५।।

जो पराई हिंसा में संलग्न, सब प्राणियों में निर्दयी, अभिमानी और सदा लोतन रहता है वह मेरी शत्रुता को प्राप्त होता है अर्थात् मैं उस पर रुष्ट रहता हूँ।। ६५।।

असत्यभाषी क्रूरश्च पर निन्दा परस्तुयः।

कविवर्तन विध्वंसी स मां नयनि शत्रुताम्।। ६६।।

मिथ्यावादी, क्रूर, पर-निन्दक, विद्वानों के मार्ग को नष्ट करने वाला मुझको शत्रुता को प्राप्त करता है।। ६६।।

अदृष्ट दोषौ स्त्री भ्रातृ भगिनीस्तथा।

मोहात्त्वजति यो मूढ़ स माँ नयति शत्रुताम्।। ६७।।

निर्दोष माता, पिता, स्त्री, भाई, बहिन को जो मूर्ख मोह से त्यागता है, वह मुझको शत्रुता को प्राप्त होता है।। ६७।।

पिनृभिर्भर्त्सनं यस्तु कुरुते मूढधीनरः।

गुर्बवज्ञा करो विप्र स मां नयति शत्रुताम्।। ६८।।

जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य पिता आदि के साथ झगड़ा करता है और गुरु का अपमान करता है, वह मनुष्य मुझसे शत्रुता करता है।। ६८।।

आराम छेदिनोये च जलाशय विलायिनः।

ग्रामनाश कराये तेमां नयति शत्रुताम्।। ६६।।

जो बगीचे के काटने वाले, जलाशय के नष्ट-भष्ट करने वाले जो गाँव के नाश करने वाले हैं वे मुझसे शत्रुता करने वाले हैं।। ६६।।

पर स्त्रियं समालोक्य विषादयान्ति ये जनाः।
श्रृणपवति पा पर्चचां च तेषां रुष्ठोऽस्म्यहं सदा।। १००।।

पर स्त्री को देखकर जो पुरुष काम के वशीभूत होते हैं और पाप की चर्चा सुनते हैं तिनके ऊपर मैं सदैव रुष्ट रहता हूँ।। १००।।

ब्रह्म विष्णु महेशानां मध्ये ये भेदकारिणः।
पर दारातिरक्ता ये तेषां रुष्टोस्म्यहं सदा।।

जो ब्रह्म, विष्णु महेश के बीच भेद करने वाले हैं और जो पराई स्त्री में आसक्त हैं तिनके ऊपर मैं सदैव रुष्ट रहता हूँ।। १०३।। इत्यादि आगे और भी वचन हैं, जिनका सारांश यही है कि दुराचारी से भगवान् रुष्ट रहते हैं। विष्णु पुराण (३। ७। २८-३०) में भी इसी के अनुकूल हैं।

सदाचारी के लिये भगवान् भी प्रणाम करते हैं।

निरपेक्षं मुनि शान्तं निर्वेरं समदर्शनम्।
अनुब्रजाम्यहं नित्यं पूये येत्यघ्रिरेणुभिः।। १६।।

—श्री० भाग० ११। १४

जिसको कुछ परवाह नहीं, मननशील, शान्त चित्त, बैररहित, समदृष्टि (राग-द्वेषरहित) ऐसे पुरुष के (श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं) मैं पीछे-पीछे चलता हूँ कि ऐसे की चरण रेणु से मैं पवित्र हो जाऊँ।। १६।।

विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान्।
निरहंकारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसाऽसकृत्।। २०।।

—श्री० भा० १०। ५२

अनायास प्राप्त हुए में संतोष करने वाले, साधु, (पर कार्य को साधन वाले) सब प्राणियों के प्यारे अहंकाररहित, और शान्तचित्त ऐसे ब्राह्मणों के लिये मैं (श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं) बार-बार प्रणाम करता हूँ।। ३।।

एक समय श्रीकष्णचन्द्रजी ने नारदजी से पूछा कि तुम किन-किन के लिये प्रणाम करते हो, नारदजी बोले—

अभुक्तवा देवकर्माणि क्रर्वह्येऽविकत्थनाः।
संतुष्टरश्च क्षमा युक्तास्तान्नमस्याम्यहं विभो।। ६।।

—म० भा० अनु० ३१

जो पुरुष भोजन से पूर्व देव कार्य करते हैं, अपनी प्रशंसा नहीं करते, अनायास मिले में संतोष करने वाले तथा जो क्षमाशील हैं हे विभो ! उनको मैं सदा प्रणाम करता हूँ।। ६।।

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्म चारिणः।
याजनाध्यापनेयुक्ता नित्यंतान् पूजयाम्हम्।। १३।।

जो वेद का अध्ययन कर तेजस्वी हो जाते हैं, धर्मोपदेश में अच्छे वक्ता होते हैं, ब्रह्मचर्य पालते हैं, यज्ञ और अध्ययन कराते हैं, उनकी मैं सदा पूजा करता हूँ।। १३।।

प्रसन्न हृदयाश्चैव सर्व सत्वेष नित्यशः।
आपृष्ठतापात्स्वाध्याये युक्तास्तानू-पूजयाम्यहम्।। १४।।

जो सदा मन में सब प्राणियों पर प्रसन्न रहते हैं और मध्यान्ह काल तक धर्म-ग्रन्थों का स्वांध्यसाय करते हैं, उनकी मैं सदा पूजा करता हूँ।। १४।।

अहिंसा निरताये च ये सत्यव्रता नराः।
दान्ताः शमपराश्चैव तान्नतस्यामि केशवः।। १६।।

अहिंसाशील, सत्यावादी, मन को कब्जे में रखने वाले, शान्तचित्त हैं उनको मैं प्रणाम करता हूँ।। १६।।

येषांत्रिवर्गः कृत्येषु वर्ततेनो पहीयते।
शिष्टाचार प्रवृत्ताश्चतान्नमत्याम्यहं सदा।। २१।।

जो पुरुष कर्त्तव्य कर्मों में धर्म, अर्थ काम इस त्रिवर्ग का ध्यान रखते हैं अर्थात् किसी को नष्ट नहीं होने देते शिष्ट पुरुषों के आचरण के अनुसार बर्ताव करते हैं उनको मैं सदा प्रणाम करता हूँ।। २१।।

स एवं नैपकृप्यन्ते नलुभ्यन्ति तृणेष्वपि।
स एब नः पूजातमा ये चापि प्रियवादिनः।। २२।।

—म० भा० अनु० ५६

भीष्मजी कहते हैं कि हे राजन् युधिष्ठर ! जो ब्राह्मण क्रोध नहीं करते, निर्लोभ हैं प्रियवादी हैं वे हमारे पूजने योग्य हैं।। २२।।

सदाचारी धर्मराज के यहाँ आराम से जाता है

ये च सत्यं जल्पन्ति पहिरंतश्च निर्मलाः।
तेपि यान्त्यमर प्रख्याविमानैर्यभ मंदिरम्।। ६।।

—ब्रह्म पु० अं० १०६

बाहर भीतर से निर्मल (स्नानादि से बारी शुद्धि, ईर्ष्या द्वेष, छल कपट के त्यागने से भीतरी शुद्धि) सत्यवादी पुरुष देवताओं के जैसे विमानों में बैठकर धर्मराज के यहाँ जाते हैं।। ६।।

पर पीडामकुर्वन्तो मृत्यानां भरणादिकम्।
कुर्वन्ति ते सुखं यॉंति विमानैः कनकोज्वलैः।। ४४।।

दूसरे को पीड़ा न देने वाले, भृत्यों को पालन करने वाले पुरुष सुवर्ण की कांति वाले विमानों के द्वारा धर्मराज के यहाँ जाते हैं।। ४४।।

यत्राता सर्वभूतेषु प्राणिनामन्तर प्रद।
क्रोध मोह विनिर्मुक्तः सर्वदा संयतेन्द्रियः।। ४५।।
पूर्णचन्द्र प्रकाशेन विमानेन महापमः।
याति वैवस्वत पुरं देव गन्धर्व सेवितः।। ४६।।

जीवों के रक्षक, इन्द्रियजीत, मोह और क्रोध से छूटे हुए पुरुष देव गंधर्वों से सेवितपूर्ण चन्द्र समान कांति वाले विमान से वैवस्वतपुर (धर्मराज के यहाँ) को आते हैं।। ४५-४६।।

सदाचारी स्वर्ग जाता है

उमोवाच—

केन शीलेन वृत्तेन कर्मणा कीदृशेन वा।
समाचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्ग यां तीह मानवाः।। ३।।

—म० भा० अनुशासन पर्व अ० १३४

पार्वती कहने लगी कि कैसे स्वभाव, कैसे कर्म और कैसे गुणों से मनुष्य स्वर्ग जाता है ?

महेश्वर उवाच—

देवि धर्मार्थ तत्वज्ञे धर्म नित्य दमेरते।
सर्व प्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धि वर्धवा।। ४।।

हे देवि ! तुम धर्म के तत्व को जानने वाल, सदा धर्माचरण करती रहती हो तुम्हारा प्रश्न बुद्धिवर्द्धक सब प्राणियों के हित करने वाला है, उसके उत्तर को तुम सुनो।। ४।।

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्म बंधनैः।
कर्मणामनसा वाचा येन हिंसन्ति किंचन।। ७।।

जो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त नहीं, मन वाणी शरीर में से किसी को हिंसा नहीं करते वे कर्म बंधन से छूट जाते हैं।। ७।।

सर्व भूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वभूतेषु।
स्वक्तहिंसा समाचारा स्ते नराः स्वर्ग नाभिनः।। ६।।

सब प्राणियों पर दया न करने वाले, सबके विश्वासपात्र हिंसामय आचरणों को त्यागने वाले पुरुष स्वर्ग आते हैं।। ६।।

परस्वे निर्ममानित्यं पर दार विवर्जकाः।
धर्म लब्धान्न भौक्तार स्ते नराः स्वर्ग गामिनः।। १०।।

पराये धन में आसक्ति न रखने वाले, पर स्त्री, त्यागी, धर्म से प्राप्त अन्न को खाने वाले पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। १०।।

मातृवत् स्वसृ वच्चेव नित्य दुहितृ बच्चये।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्ग गामिनः।। ११।।

जो पराई स्त्रियों में सदा माता बहिन पुत्री की समान व्यवहार करते हैं, वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ११।।

स्तन्यान् निवृत्ताः सततं संतुष्टाः स्वधनेन च।
स्वभाग्यान्युष जीवन्ति ते नरा स्वर्गगामिनः।। १२।।

जो मनुष्य चोरी से बचे हैं अर्थात् अन्याय से दृव्य नहीं कमाते, अपने भाग्य पर आजीविका चलाते हैं (दूसरों के भरोसे नहीं रहते) अपने धन से संतुष्ट रहते हैं अर्थात् पराये धन पर दृष्टि नहीं डालते वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। १२।।

परदारेषु ये नित्यं चरित्रा वृतलोचनाः।
यतेन्द्रियाः शील परास्ते नराः स्वर्गगामिनः।। १३।।

जो पुरुष पर स्त्रियों के विषद में अपने नेत्रों को सदा बंद कर लेते हैं, इन्द्रियों का निग्रह करते हैं तथा जो शील सत्स्वभाव परायण हैं वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। १३।।

उमोवाच—

वाचातु वध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः।
तानि कर्माणि मे देव वद भूत पतेऽनघ।। १८।।

हे निर्दोषदेव ! भूतपते ! कैसी वाणी बोलने से मनुष्य बन्धन में फँस जाता है और कैसी वाणी बोलने से छूट जाता है अर्थात् पुण्य प्राप्त करता है, उस वाणी को मुझसे वर्णन कीजिये।

महेश्वर उवाच—

आत्महेतो परार्थे वा नपर्म हास्या श्रयात्तथा।
ये सृषा न वदंतीह ते नराः स्वर्ग गामिनः।। १६।।

जो पुरुष अपने लिये या पराये लिये कटाक्ष, या हास्य करते समय भी असत्य भाषण नहीं करते वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। १६।।

श्लक्ष्णां वाणीं निरा बाधां मधुरा पाप वर्जिताम्।
स्वागते नाभि भाषन्ते ते नराः स्वर्ग गामिनः।। २१।।

जो पुरुष कोमलता से भरी, किसी को दुःखित न करने वाली और पापमय विचारों से रहित, मधुर वाणी से मनुष्यों का सत्कार करते हैं वे पुरुष स्वर्ग में जाते हैं।। २३।।

पुरुषं येन भाषन्ते कटुकं निष्ठरंतथा।
अपैशुन्य रताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः।। २२।।

जो पुरुष कठोर, कटु, निष्ठुर भाषण नहीं करते और चुगलखोरी से बचे हुए हैं, वे सत्पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। २२।।

न कोपाद् व्याहरन्ते ये वाचं हृदय दारिणीम्।
साप्वं वदन्ति क्रुद्धापि ते नराः स्वर्ग गामिनः।। २६।।

जो पुरुष क्रोध में भरकर हृदय को विदीर्ण करने वाली वाणी नहीं बोलते, क्रोध का कारण होने पर भी साम (नर्मी) के वचन कहते हैं वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। २६।।

अरण्ये विजनेन्यस्तं दृश्यते यदा।
मनसापि नहिंसति तै नराः स्वर्गगामिनः।। ३१।।

निर्जन वन में अथवा एकान्त में दूसरे का दृव्य पड़ा दीखता हो तो भी जो पुरुष मन नहीं डुलाते वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ३१।।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसापि नहिंसति ते नराः स्वर्ग गामिन।। ३३।।

इसी प्रकार जो पुरुष कामातुर और एकान्त में प्रार्थना करती हुई पर स्त्रियों की मन से भी इच्छा नहीं करते वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ३३।।

शत्रु मित्रं च ये नित्य तुल्ये न मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्ग गामिनः।। ३४।।

जो पुरुष शत्रु, मित्र से एक मन से मिलते हैं, वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ३४।।

श्रुतवन्तो दयावंतः शुचयः सत्य संगराः।
स्वे र्थे परिसंतुष्टा स्ते नराः स्वर्गगामिनः।। ३५।।

जो पुरुष शास्त्र का अभ्यास करते हैं, दयालु हैं, पवित्र हैं, सत्य प्रतिज्ञा वाले हैं और अपने धन से सन्तुष्ट हैं वे स्वर्ग जाते हैं।। ३५।।

अवेरायेत्वना यासा मैत्री चित्तरताः सदा।
सर्वभूत दया वंतस्ते नराः स्वर्ग गामिनः।। ३६।।

किसी से बैर नहीं करते, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते, जिनके चित्त में मित्रता के भाव रहते हैं और दयालु हैं वे स्वर्ग जाते हैं।। ३६।।

श्रद्धावंतो दयावंत श्चाचाश्चोक्ष जन प्रियाः।
धर्मा धर्म विदो नित्यं ते नरा स्वर्ग गामिनः।। ३७।।

जो पुरुष श्रद्धालु और दयालु हैं स्वच्छ रहते हैं और स्वच्छ जनों से प्रेम करते हैं धर्मा धर्म को जानते हैं वे स्वर्ग में जाते हैं।। ३७।।

पाठक वृन्द ! आगे पद्म पुराण में भी इसी प्रकार के वचन हैं—

आढयाश्च रूपवंतश्च यौवनस्थाश्च भारत।
येवे जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्ग गामिन।। ३०।।

—प० पु० भूमिखंड २ अ० ६६

धनवान्, रूपवान, युवावस्था वाले होते हुए भी जो पुरुष इन्द्रियजीत हैं वे स्वर्ग जाते हैं।। ३०।।

द्विषता मपिये दोषान् नवदन्तिकदाचन।
कीर्तयन्ति गुणान्येवते नराः स्वर्ग गामिनः।। ३४।।

बैरियों के भी दोष जो कभी नहीं कहते और गुणों का वर्णन करते हैं वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ३४।।

ये नराणां वचोवक्तुं न जानन्तिहि विप्रयाम्।
प्रिय वाक्ये कवि ज्ञातास्वे नराः स्वर्ग गामिनः।। ३७।।

जो पुरुष कठोर बोलना नहीं जानते, प्रिय वचन बोलना जिनका स्वभाव है, वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ३७।।

असत्येष्वपिये सत्या ऋजवोऽनार्जवेष्वपि।
रिषुवपि हिताये च ते नराः स्वर्ग गामिनः।। ४०।।

असत्यवादी के भी साथ सत्यता, कठोर के भी साथ कोमलता और बैरी का जो भी हित करते हैं, वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।। ४०।।

निंदितानि न कुर्वन्ति कुर्वन्ति विहितानि च।
आत्मशक्ति विजानन्ति ते नराः स्वर्ग गामिनः।। ५०।।

बुरे कर्मों को जो नहीं करते, शास्त्रोक्त कर्म करते हैं और अपनी शक्ति को जानते हैं वे पुरुष स्वर्ग जाते हैं।

नराः परेषां प्रतिकूलमाचरन् प्रयातिघोरं नरकं सुदारुणम्।

सदानुकूलस्य नरस्य जीवनं सुखा वहा मुक्तिरदूर संस्थिता।। ५२।।

मनुष्य दूसरे के प्रतिकूल आचरण करता हुआ नरक को प्राप्त होता है और अनुकूल आचरण करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है।। ५२।।

अन्यान्य पुराणों में इसी प्रकार के वचन मिलते हैं।

सदाचारी का कलियुग क्या करेगा ?

सदयं हृदयं यस्य भाषित सत्य भूषितम्।

कायःपर हितेयस्य कलिस्तस्य करोतिकिम्।।

—सुभाषित रत्न भाण्डागार

हृदय दया से भरा है, सत्यवादी है शरीर परोपकार में लगा हुआ है ऐसे पुरुष का कलियुग क्या करेगा ?

सदाचारी मोक्ष का अधिकारी है

जितेन्द्रिया महात्मानो ध्यान शून्या अपिद्विजाः

प्रयान्ति परमं ब्रह्म पुनरावृत्ति दुर्लभम्।। १३०।।

—नारद पु-० अ० ३३

जो महात्मा जितेन्द्रिय हैं चाहे वे ध्यान से शून्य हैं वे परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, वहाँ से फिर आना नहीं होता।। १३०।।

बंध इन्द्रिय विक्षेपो मोक्षयेषां च संयमः।। २२।।

—भा० ११। १८

इन्द्रियों का विषयों में अधिक आसक्त होना ही बन्धन है और संयम (अनुचित भोगों से विराग) मोक्ष है।। २२।।

नैष ज्ञानवता शक्यस्तपसा नैव चेज्यया।

सम्प्राप्तु मिन्द्रियाणान्तु संयमे नैवे शक्यते।। ६।।

—म० आ० शां० अ० २८०

परमात्मा केवल शास्त्र ज्ञान, तपस्या व यज्ञ से नहीं मिल सकते, हाँ इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को अनुचित विषयों में न जाने देना) से मिल सकते हैं।। ६।।

सर्व जिह्मं मृत्युपद मार्जवं ब्राह्मणः पदम्।

एतवान् ज्ञान विषय किं प्रलापः करष्यिति।। ४।।

—म० भा० आश्वमेधिक पर्व ११

जिह्म (कुटिलता, छल, कपट) मौत का स्थान है आर्जव (सरलता-निष्कपट व्यवहार) ब्रह्म को स्थान है अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति का साधन है इतना ही ज्ञान का विषय है बाकी प्रलाप मात्र हैं।। ४।।

पुंसोऽय संसृतर्हेतु रसंतोषोऽर्थ कामयोः।

यदृच्छयो पन्नेन संतोषी मुक्तये स्मृतः।। २५।।

—भागवत् ८। १६

अर्थ और काम में आसक्त होना संसार में आवागमन का कारण है। शास्त्रानुकूल अनायास प्राप्त हुए अर्थ काम से जो संतोष है वह मुक्ति के लिये हैं।। २५।।

निर्मा न मोहाजितसंग दोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वै विमुक्ताः सुख-दुःख संगैर्गच्छंत्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।। —भ० गीता १५। ५

अहंकार और अविवेक से रहित जिन्होंने आसक्ति दोष को जीत लिया है, जो अध्यात्म ज्ञान में सदा स्थिर है, जो निष्काम हैं सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से छूटे हुए हैं, ऐसे विवेकी पुरुष उस अविनाशी पद को पहुँच जाते हैं।। ५।।

सदाचाररतः प्राज्ञो विद्या विनय शिक्षितः।

पापेऽप्य पापः परुषेह्यभिधत्ते प्रियाणि यः।

मैत्री द्रवान्तः करणस्तन्य मुक्तिः करे स्थिता।। ८४।। —विष्णु पु० ३। १२

जो विद्या विनय से सम्पन्न, सदाचारी, प्राज्ञ, पापी के भी प्रति पाप मय व्यवहार नहीं करता, कठोरभाषियों के प्रति प्रिय वचन बोलता है, जिसका हृदय मैत्री से द्रवीभूत हो रहा है ऐसे पुरुष के हाथ में मुक्ति हैं।।। ८४।।

संतुष्टोयेन केनापि सदाचार परायणः।

पराधीनो द्विजो नन्यात् सतरेद् भवसागरम्।।

—लघु आश्वलयन

संतोषी, सदाचारी और पराधीन न हो ऐसा ब्राह्मण संसार समुद्र से पार हो जाता है।

मुक्ति मिच्छसि चेत्तत विषपान् विषवत्यज।

क्षमार्जवदया शौच सत्यं पीयूष हत् विष।।

—चाणक्य नीति अष्टावक्र गीता

हे तात ! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान त्याग दे और क्षमा सरलता, दया, पवित्रता और सत्य इनको अमृत के समान पी अर्थात् सेवन कर।

स्वकर्म धर्मार्जिति जीवितानां स्वेष्वे वदारेषु सदारतानाम्। जितेन्द्रियाणामतिथ प्रयाणां गृहेपि गोक्षः पुरुषोत्तमानामा।। ४३।।

—म० भा० भु० पू० ख० आ० १०६

अपने धर्म कर्म से आजीविका करने वाले, सदा अपनी ही स्त्री में आसक्त, जितेन्द्रिय, अतिथि सत्कार करने वाले ऐसे उत्तम पुरुषों को गृह में रहने पर भी मोक्ष होगा।। ४३।।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेष क्षयेण च।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।।

—मन० ।। ६०।।

इन्द्रियों के जीतने से, राग, द्वेष के छूटने से जीवों को पीड़ा देने से मनुष्य मोक्ष के योग्य होता है।। ६०।।

सर्वसाम्य मनायासः सत्य वाक्ये च भारत।

निर्वेदश्वा विभित्सा च यस्य स्यात स सुखी नरः।। २।।

एतान्येव पदान्याहुपंच वृद्धाः प्रशातये।

एव स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुहामं मतम्।। ३।।

—म० भा० शांति अ० १७७

सर्वसाम्य (समभाव रखना—लाभ-हानि मान-अपमान में एकसा रहना) अनायास (सहज में प्राप्ति धनादि से काम चलाना) सत्य भाषण, अनासक्ति (लौकिक कार्यों में आसक्त न होना) विभित्सा (किसी कार्य को सिद्ध न कर लेने की इच्छा न करना ये पाँच साधन वृद्धों ने मोक्ष के लिये कहे हैं, इन्हीं को स्वर्ग, धर्म और अनतुम सुख कहा है।। २-३।।

यदानकुरुते भावं सर्व भूतेषु पापकर्म।

कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।५६।।

—म० भा० शां- अ० १७४

जब पुरुष मन वाणी शरीर से किसी के प्रति बुरा भाव नहीं करता तब ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।। ५६।।

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।

वृद्ध शुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत्।। ३।।

—म० भा० श० २२२

प्रहलाद कहते हैं कि—हे इन्द्र ! सरलता से, धर्म कार्य में सावधानी से, आत्मा के निर्मल पाने से, जितेन्द्रिय रहने से और वृद्ध पुरुषों की सेवा से मोक्ष प्राप्त होती है।। ३४।।

यतेन्द्रियो नरोराजन् क्रोध लोभ निरा कृतः।

सन्तुष्टः सत्यवादी यः सशान्ति मधि गच्छति।। १८।। —म० भा० स्त्री पर्व अ० ७

हे राजन् ! जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभ से शून्य संतोषी और सत्यवादी पुरुष मोक्ष पाता है।। १८।।

यस्मान्मैत्रंसमात्थाय शल मापद्य भारत।।

दमस्त्यागोऽपमादश्च तेत्र यौ ब्रह्मो हयाः।। २३।।

इसलिये हे भरतवंशी राजन् ! पुरुष को दयाधारण करके शीलवान् होना चाहिये और दम (इन्द्रिय निग्रह) दान और प्रमाद (कर्तव्य कर्म में सावधान) ये तीन परमात्मा के घोड़े हैं अर्थात् ब्रह्मलोक को पहुँचाने के साधन हैं।। २३।।

शील रश्मि समायुक्तः स्थितोयो मानसे रथे।

त्यक्तवा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं संगच्छिति।। २४।।

जो पुरुष इन घोड़ों से जुते मन से रथ में बैठकर शीलरूपी लगाम को पकड़े रहता है। (अर्थात् शील-चरित्र से नहीं गिरता) वह पुरुष मृत्यु के भय से छूटकर ब्रह्मलोक में जाता है।। २४।।

असभंसर्व भृतेभ्यो यो ददाति महीपते।

स गच्छति संर स्थानं विष्णोः पद मना भयम्।। २५।।

जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान देता है, वह विष्णु के अविनाशी परमपद को प्राप्त होता है।। २५।।

अनाढया मानुषे वित्ते आढयास वेदेषु ये द्विजाः।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मथस्तनुम्।।। ३६।। —म० भा० उद्योग० ४३

जो द्विज मानुषी धन (स्त्री पुरुष सुवर्ण) के धनी नहीं हैं और वैदिक धन कहिये अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय शम, दम आदि के धनी (इनसे युक्त) होते हैं। वे विवेकियों के मत में ब्रह्म के शरीर हैं, श्री शंकराचार्य जी ने इस वचन के भाष्य में लिखा है—

'वेदेषु वेद प्रतिपाद्य हिंसा सत्याप्तरे ब्रह्मचर्य शमादि साधनेषु।

अर्थात् वेद में कहे अहिंसा, सत्य आदि में लगा हुआ है।

त्रिविधं नरक स्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभ स्तस्मादेतत त्रयं त्यजेत।।

—भ० गी १६। २१

अपने को नष्ट करने वाला काम, क्रोध लोभ यह तीन प्रकार का नरक का दरवाजा है इसलिये इन तनों को त्याग दे।। २१।।

एतैविमुक्तः कौन्तेय तमो द्वारै स्त्रिनिर्भरः।
आचारत्यात्मनः श्रेयन्ततो याति परांगतिम।। २२।।

हे कुन्ती के पुत्र ! इन तीन प्रकार के नरक दरवाजों से छटा हुआ पुरुष हित का आचरण करता है, जिससे मुक्ति को प्राप्त होता है।। २२।।

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम।
तानि सत्य मुखन्याहु ब्रह्मिणा ये मनीषिणाः।। २२।।

—म० भा० उद्योग० ४३

दम, दान, अत्रमाद इनमें अमृत भरा है अर्थात् ये तीन मुक्ति के आधार हैं। विवेकी ब्राह्मण इनको सत्य का मुख कहते हैं।। २२।।

आनृशंस्यं क्षमा शांन्तिरहिंसा सत्य मार्जवम।
अद्रोहो नाभिमानश्च ही स्तितिक्षा शमस्तथा।
पथां नो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोतिम यत्परम्।। ४०।। —म० भर० शां० २७०

दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, किसी से बैर न करना, निरभिमानता, बुरे कर्मों से बचना, सहनशीलता, शम (धीरे-धीरे सांसारिक कर्मों से उपराम) ये ब्रह्म प्राप्त के उपाय हैं। ज्ञानी इन उपायों से परब्रह्म को प्राप्त होता है।। ४०।।

नित्य स्वाध्याय शीलंः स्यानिन्नत्यं यज्ञोपवीतवान्।
सत्यवादी जित क्रोधो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। २१।।

—कूर्म पु० उ० अ० १५

अपने धर्म-ग्रन्थों को प्रेमी, यज्ञोपवीतधारी, सत्यवादी और अक्रोधी पुरुष मोक्ष का अधिकारी है।। २१।।

सत्येन लभ्य स्तपसाह्येष आत्मा सम्यगृज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रा यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।। --मुंडक खं ३।१।५

सचाई, तप सत्य, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा सदा पाया जाता है जो शरीर के अन्दर शुद्ध ज्योतिर्मय है, जिसको वे यदि देखते हैं जिनके दोष क्षीण हो गये हैं।। ५।।

तेषा मेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्य येषु सत्यं प्रतिष्ठतम्।। —प्रश्नोपनिषद् १। १।५

यह ब्रह्मलोक उन्हीं के लिये हैं, जिनका तप, ब्रह्मचर्य रहा है और जिनमें सचाई है।।

सेपामसौ विरोजो ब्रह्मलोकोनयेषु जिहमनृतं न माया।। १६।।

उनके लिये शुद्ध ब्रह्मलोक है, जिसमें कूटिलता, झूँठ, छल कपट नहीं है।

पर दुःखेनयो दुःखी सुखोयश्व परश्रिया।
संसारेऽस्मिन् स विज्ञेयः साक्षादेवहरि स्वयम्।। १२६।। —पद्म पु० ७। ६

दूसरे के दुःख से जो दुःखी होता है और दूसरे की बढ़ती से प्रसन्न रहता है। इस संसार में ऐसे पुरुष को साक्षात् हरि भगवान् समझना चाहिये।। १२६।।

मोःक्षद्वारे द्वारापालश्चत्वारः परिकीर्तितः।
शमोविचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः।। ५६।।

—योग वसिष्ठ मुमुक्षु प्रकरण ११

शम, विचार, संतोष और संग, ये मोक्ष के दरवाजे के चार द्वारपाल हैं, इनसे मित्रता करने से मोक्ष के दरवाजे पर पहुँच जाता है।

संतोषः साधु संगश्च विचारोऽथ शमस्तथा।
एतएव भवोघावुपायास्तरणो नृणाम्।। १८।।

—योगवासिष्ठ मु० प्र० ६। १६

संतोष, साधु संग, विचार और शम ये ही चार संसार सुमद्र के पार होने के उपाय हैं।। १८।।

सदाचारी ब्रह्म के पद को प्राप्त होता है

स्वाश्रमा चारनिरताः सर्वभूतहितेरताः।

अदांभिका गतासूयाः प्रयांति ब्रह्मणः पदम्।। ११३।। —नारद० पु० अ० १३

अपने आश्रम धर्म के प्रेमी, सबके हितकारी, लोक दिखावे के लिये कर्म करने वाले नहीं, ऐसे पुरुष ब्रह्म के पद को प्राप्त होते हैं।। १३३।।

परोपदेशनिरताः वीतरागागा विमत्सराः।

हरि पदार्चनरताः प्रयान्ति सदनं हरेः।। ११४।।

दूसरे को उपदेश करने वाले विषयों में अनासक्त ईर्ष्यारहित और हरि के चरण कमल के पूजक भगवान् के पद को प्राप्त होते हैं।। ११४।।

सत्संगहलाद निरताः सत्कर्म सुसदोद्यताः।

परापवाद विमुखाः प्रयांति हरि मन्दिरम्।। ११५।।

सत्संग के प्रेमी, सत्कर्म में सदा लगने वाले, पर निंद्रा से विमुख, ऐसे पुरुष भगवान् के मन्दिर को जाते हैं।। ११५।।

नित्यं हित करायेतु ब्रह्मणेषुचगोषुच।

पर स्त्री संग विमुख न पश्यन्ति यमालयम्।। ११६।।

ब्राह्मण और गौ के भक्त, पर स्त्री से विमुख, यम के स्थान को नहीं देखते।। ११६।।

जितेन्द्रिया जिताहारा गोषु क्षान्ताः सुशीलिनः।

ब्राह्मणेष च क्षमाशेली प्रयान्ति भवनं हरेः।। ११७।।

जितेन्द्रिय, मितभोजा, (अन्दाजन का भोजन करने वाले) गौ और ब्राह्मणों में क्षमशील सुन्दर स्वभाव वाले, पुरुष हरि के मन्दिर को जाते हैं।। ११७।।

अग्नि शुश्रू पवश्चैव गुरु शुश्रू षकस्तथा।

पति शुश्र षणारवानवै संसृति मानिनः।। ११८।।

अग्निहोत्री, गुरु की सेवा करने वाले और पति की सेवा करने वाला स्त्रियाँ से संसार में फिर नहीं आते अर्थात् मोक्ष हो जाती है।। ११८।।

सदादेवार्चनरता हरिनाम परायणाः।

प्रतिग्रह निवृत्ताश्च प्रयान्ति परमं पदम्।। ११६।।

दान लेने से बचे हुए, सदा भगवान के पूजक, हरिनाम के प्रेम ऐसे पुरुष परमपद को प्राप्त होते हैं।। ११६।।

जितेन्द्रिया जित क्रोधा गुरु शुश्रूषणेरताः।

प्रयान्ति ब्रह्मसनमितिशास्त्रेषु निश्चयः।। ३३।।

—नारद पु० अ० ६

जितेन्द्रिय, जित क्रोध, गुरु सेवक ऐसे पुरुष ब्रह्मसदन को प्राप्त होते हैं, यह शास्त्र में निश्चय है।। ३३।।

शान्ताः प्राणि हितात्मानो दयावन्तो जितेन्द्रियाः।

निःसंगाः शुचयश्चैव ब्रह्मसायुज्यगाः स्मृता।। ८८।।

—ब्रह्माण्ड पु० ४। २

शान्तचित्त (कहा जाऊँ कहा करूँ ऐसी घबराहट से रहित) प्राणियों के हितकारी, दयाशील, जितेन्द्रिय, कुसंग से रहित पवित्र पुरुष ब्रह्मा को प्राप्त होते हैं।। ८८।।

दुराचारी नरक को जाता है

सुबाहुरुवाच—

कीदृशैः कर्मभिः प्रेत्य गच्छन्ति नरकं नराः।

स्वर्ग तु कीदृशैः प्रेत्य तन्म त्व वक्तु गर्हसि।। १।।

—पद् पु० २ अ० ६६

सुबाहू नाम के राजा कहने लगे कि किन कर्मों के द्वारा मनष्य नरक को जाता है और किन कर्मों के द्वारा स्वर्ग को जाता है सो मुझसे कहने योग्य हो।। १।।

जैमिनीरुवाच—

ब्राह्मण्यं पुण्यमुत्सृज्य ये द्विजा मोहिता।

कुकर्माण्युप जीवन्ति तै वे निरय गामिनः।। २।।

जो ब्राह्मण लोभ मोह में आकार ब्राह्मण पनको त्यागकर कुकर्मों से आजीविका करते हैं वे नरकगामी होते हैं।। २।।

नास्तिका भिन्न मर्यादाः कन्दर्प विषयोन्मुखाः।

दांभिकाश्च कृतघ्नाश्च, तेवैनिरयगामिनः।। ३।।

नास्तिक (परलोक को न माने वाले) परम्परा की मर्यादा तोड़ने वाले, कामो, पाखण्डी, कृतघ्नी (किये पर पानी फेरने वाले) ऐसे पुरुष नरकगामी होते हैं।। ३।।

ब्राह्मणोभ्यः प्रति श्रुत्य न प्रयच्छन्ति ये धनम्।
ब्रह्म स्वानां च हर्त्तारो ते नरानिरयगामिनः।। ४।।

जो ब्राह्मण के लिये प्रतिज्ञा करके धन नहीं देते हैं ब्राह्मण के धन को हरते हैं वे नरकगामी होते हैं।। ४।।

परुषाः पिशुनाश्चैव मानिनोऽनृतवादिनः।
असम्बन्ध पलापश्च ते वैनिरय गामिनः। ।।५।।

कठोर वचन बोलने वाले, चुगलखोर मानी, मिथ्यावादी और व्यर्थ की बातें बनाने वाले ये सब नरकगामी हैं।। ५।।

ये परस्वाप हर्त्तारः परदूषण सूचकाः।
पर स्त्री गामिनी ये च तेवै निरय गामिनः।। ६।।

पराये धन को हरने वाले, पराये दोषों को जहाँ-तहाँ कहने वाले, परस्त्रीगामी ये पुरुष नरकगामी होते हैं।। ६।।।

प्राणिनां प्राण हिंसायां ये नरा निरताः सदा।
पर निन्दा रता ये वै नरानिरयगामिनः।। ७।।

जीव हिंसक और दिन-रात पराई निन्दा में रत मनुष्य नरकगामी होते हैं।। ७।।

सुकूपानां तडागानां प्रापानांच परन्तप।
सरसां चैवभेत्तारो ते नरा निरय गामिनः।। ८।।

कूप, तालाब, प्याऊ आदि सार्वजनिक वस्तुओं के नष्ट-भ्रष्ट करने वाले मनुष्य नरकगामी होते हैं।। ८।।

आद्यं पुरुष मीशानं सर्वलोक महेश्वरम्।
न चिन्तयंति ये विष्णुं ते वै निरयगामिनः।। ११।।

सब लोकों के महेश्वर आदि पुरुष भगवान् का जो पुरुष चिन्तवन नहीं करते वे नर नरकगामी होते हैं।। ११।।

काष्ठैर्वा शंकुभिर्वापित शून्यै रश्मिभिरे ववा।
ये मार्गानुपरुंधन्ति ते वै निरय गामिनः।। १३।।

काठ, कांटे पत्थर आदि से जो रास्ते को नष्ट करते हैं वे नरकगामी होते हैं।। १३।।

सर्व भूतेष्व विश्वस्ता कामेनार्त्ता स्तथैव च।
सर्वभूतेषु जिह्माश्च ते वै निरय गामिनः।। १४।।

जो किसी का विश्वास नहीं करते, अनेक कामनाओं से दुःखित हैं हर एक प्राणी के साथ छल-कपट का बर्ताव करते हैं वे मनुष्य नरकगामी हैं।। १४।।

अनाथं विक्लवं दीनं रोगात्त वृद्धमेवच।
नानु कम्पति ये मूढास्ते वै निरय गामिनः।। १८।।

अनाथ, दीन, रोगी और वृद्ध इन पर जो दया नहीं करते वे पुरुष नरकगामी होते हैं।। १८।।

सदाचारी साधु हैं

श्रीमद्भागवत् में उद्धव जी ने श्री कृष्णचन्द्र जी से प्रश्न किया है कि—

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।। २७।।

—भा० ११। ११

अर्थात् तुम्हें कौन-से लक्षण वाला साधु माननीय है। इसके उत्तर में श्री भगवान ने कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षु सर्व देहिनाम्।
सत्यमारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः।। २९।।
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिचनः।
अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः।। ३०।।
अप्रमत्तो गंभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानीमानद कल्पोमैत्रः कारुणिकः कविः।। ३१।।

—भा० ११। ११

जो समस्त जीवों पर कृपा करता है, किसी से बैर-भाव नहीं रखता, सामर्थ्य होते हुये दूसरे के दिये दुःख को सह लेता है। सत्यवादी, शुद्ध चित्त (ईर्ष्या द्वेष, छल, कपट से रहित) राग द्वेष रहित, यथाशक्ति सबका उपकार करने वाला, जिसकी बुद्धि कामनाओं से शून्य है। जितेन्द्रिय, कोमल चित्त, पवित्र (स्नानादि से बाहरी शुद्धि, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट त्यागकर भीतरी शुद्धि वाला) शरीर-निर्वाह मात्र से अधिक संग्रह वाला नहीं, अनीह (इस लोक के निमित्त किसी प्रकार के कर्म न करने वाला) परिमित भोजी, शान्त चित्त, (कहाँ जाऊँ, क्या करूँ इस घबराहट से रहित) स्थिर (अपने धर्म से चलायमान नहीं) मेरे आश्रय से रहने वाला आत्मातत्व का मनन करने वाला, अप्रमत्त (अपने धर्म में सावधान) गम्भीर स्वभाव, कष्ट के समय धैर्य धरने वाला, जो छः धर्मों को (भूख, प्यास, शोक, मोह,

जन्म-मरण) जीत चुका है, स्वयं मान की इच्छा नहीं करता, औरों का मान करने वाला है, दूसरों को समझाने में चतुर, मिलनसार, करुणावश, परोपकारी, सम्यक् ज्ञानवान् है वह उत्तम ज्ञानी है वह उत्तम साधु है।। २६-३१।।

निजाचारग्रहिणो ये कुर्वते वेदसम्भतम्।
पापाभिलाषरहिता सज्जनास्ते प्रकीर्तिताः।। ७८।।

—पद्म पु० ७वाँ खण्ड अ० १७

वेदशास्त्र सम्मत अपने आचार विचार पर चलने वाले पापवासना से रहित सज्जन कहे जाते हैं।। ७८।।

विषेयेषुन संसक्तिः समत्वं सर्व जन्तुषु।
येषां हर्षविषादौ च न जातु सुखदुःखयो।। २६।।
त एवं साधवो लोके गोविन्दपदसेविन।
तेषां दर्शनमात्रेण कृतार्थो जायते नरः।। ३०।।

—पद्म पु० उ० ख० अ० २१८

शब्दादि विषयों में किनको आशक्ति नहीं, सब प्राणियों में समता, सुख-दुःख पड़ने पर हर्ष विषाद नहीं गोविन्द पद के सेवी, ऐसे पुरुष ही साधु हैं तिनके दर्शन मात्र से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।। २६-३०।।

न स्मरन्त्यपराद्धानि स्मरन्ति सुकृतान्यपि।
असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः पुरुषोत्तमाः।। २।।

दूसरे के ऊपर धन का स्मरण नहीं करते और गुणों का स्मरण करते हैं। श्रेष्ठ मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते ऐसे पुरुष साधु होते हैं।। २।।

मूकः परापवादे परदारनिरीक्षणेऽप्यन्धः।
पगुःपरधन हरणे स जयति लोकत्रयं पुरुषः।।

—सु० भा० र० भा०

दूसरे की निन्दा में मूक (चुप) पर स्त्री के देखने में अन्धे, परधन हरण में पंगु पुरुष तीनों लोकों को जीत लेता है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुया युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यनं श्रुतौ,
प्रकृति सिद्धिमिदंहि महात्मनाम्।। ६३।।

—भर्तृहरि नीतिशतक

विपत्ति मैं धैर्य, सम्पत्ति में क्षमा, सभा में बोलने का ढंग, न्याय प्राप्त युद्ध में पराक्रम, यश में प्रेम, शास्त्र में व्यसन, ये बातें महात्माओं में स्वाभाविकतया मिलती हैं।। ६३।।

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्या।
चित्तं न निर्दहति कोप कृशानुतापः।।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै—
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीर।। १०८।।

—भ० नी०

स्त्री के कटाक्ष जिसके चित्त को नहीं जलाते, क्रोध रूपी अग्नि, जिसके चित्त नहीं जलाती, विषय भोग जिसके चित्त को नहीं खींचते ऐसा धीर पुरुष तीनों लोकों को जीत लेता है।। १०८।।

विवेकः सह सम्पत्या विनयो विद्यया सह।
प्रभुत्वं प्रश्रयोपितं चिन्हमेहतन्महात्मनाम्।।

—सु० र० भा०

सम्पत्ति के होने पर विवेक, विद्या के साथ विनय, नर्मी के साथ प्रभुत्व (मालिकपन) ये महात्माओं के चिन्ह हैं।

वित्ते त्यागः क्षमां शक्तौ दुःखे दैन्य विहीनता।
निर्दम्भता सदाचारे स्वभावोऽयं महात्मनाम्।।

—काव्यमाला

धन के होने पर उदारता, शक्ति होने पर क्षमा दुःख में दीनता का त्याग, सदाचार में लोक दिखावा नहीं यह महात्माओं का स्वभाव होता है।

यस्य चित्तंद्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
स धन्यः संसृतौ पुण्यैः किं जटाभस्मावल्कलैः।।

—चा० नी० अ० १५। १

सब प्राणियों पर कृपा करते हुये जिसका चित्त द्रवीभूत है संसार में ऐसे पुरुष को धन्य है केवल जटा भस्म वल्कल से क्या ? ।। १।।

वर्णाश्रमाचारता भगवद्भक्तिलालसाः।
कामादिदोपनिर्मुक्तास्ते सतो लोकशिक्षकाः।। ३४।।

काम क्रोधादि दोष से मुक्त, वर्णाश्रम सम्बन्धी आचार विचार के प्रेमी, भगवद् भजन में जिसका लालसा है, ऐसे पुरुष लोक शिक्षक हैं।। ३४।।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्व दैहिनाम्।
अजातशत्रवः शांताः साधवः साधुभूषणः।। २१।।

—भा० ३। २५

दूसरे के दिये दुःख को सहते हुये बदला लेने की चेष्टा न करना, करुणामय सब देहधारियों के शुभचिन्तक, शत्रुरहित, शान्तचित्त और सुशीलता ही जिसका भूषण हैं, वे सत्पुरुष हैं।। २१।।

ज्ञान रत्नैश्च रत्नैश्च पर संतोषकृन्नरः।
सज्ञेयः सुमतिर्नूनं नररूप धरोहरिः।। १६।।

ज्ञान रूप रत्नों से और द्रव्यादि से जो सत् पुरुषों को सन्तोष करता है, ऐसे पुरुष मनुष्य रूप धारण हरि समझना चाहिये।। १६।।

विर्षयेषुनसंसक्ति समत्वं सर्व जन्तुषु।
येषां हर्ष विषादी च न जातु सुख-दुखयोः।। २६।।
त एव साधवोलोके गोविन्द सेविनः।
तेषां दर्शन मात्रेण कृतार्थो जायते नरः।। ३०।।

—पद्म पु० ३० खं० अ० २१२

शाब्दादि विषयों में जिनकी आसक्ति नहीं सब प्राणियों में समता (पक्षपात न करना) सुख-दुःख पड़ने पर हर्ष-विषाद नहीं और गोविन्द पद के सेवी ऐसे पुरुष ही साधु हैं। तिनके दर्शन मात्र से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

सदाचारी को तीर्थ का फल प्राप्त होता है

यस्य हस्तौ च वादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्यातपश्च कीर्तिश्च सतीर्थ फलमश्नुते।। ६।।

—म० भा० वन० अ० ८२

जिसके हाथ खोटे दान व पर पीड़ा से बचे हों, जो जीव जन्तु को देखकर पैर रखता हो जिसकी विद्या व्यर्थ के विवाद व अभिचार (मारण प्रयोग) से बची हो, संसार को दिखाने के लिये तप (चान्द्रायण आदि व्रत) न हो पवित्र कीर्ति हो वह तीर्थ के फलको प्राप्त होता है।। ६।।

प्रतिग्रहा दयावृतः सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहंकार निवृतश्च स तीर्थ फलमश्नुते।। १०।।

दान से बचा हुआ, संतोषी, और निरहंकारी तीर्थ स्नान के कल को प्राप्त होता है।। १०।।

अकल्कको निरारंभो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्व पापेभ्यः स तीर्थ फलमश्नुते।। ११।।

निर्मल चित्त, निष्काम कर्म करने वाला, मितभोजी, जितेन्द्रिय, सब पापों से बचा हुआ, ऐसा पुरुष तीर्थ स्नान के फल को प्राप्त होता है।। १२।।

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशोलो दृढ़ व्रतः।
आत्मोपसश्च भूतेषु स तीर्थ फलमश्नुते।। १२।।

क्रोधरहित, सत्यवादी, पूर्ण रीति से नियमों का पालन करने वाला (सावित कदम) अपने समान सबका दुःख-सुख समझकर सब पर दया करने वाला पुरुष तीर्थ फल को प्राप्त होता है।। १२।।

वीर मित्रोदय के तीर्थ प्रकाश प्रकरण में महाभारत के नाम से लिखा है—

भीष्म उवाच—

श्रुणु तीर्था निगदतो मानसानि ममा नरा।
येषु सभ्यगनरः स्नात्वा प्रयाति परमं पदम्।।

हे निष्पाप ? मानसिक तीर्थ सुनोजिन मानसिक तीर्थों में स्नान करने से मनुष्य परमगति को प्राप्त करता है।

सत्यं तीर्थं क्षमातीर्थ तीर्थमिन्द्रिय निग्रहः।
सर्वभूत दया तीर्थ तीर्थ मार्जव मे वच।।

सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, दया और सरलता यह सब तीर्थ हैं अर्थात् संसार सागर से पार करमे वाले हैं।

दानंतीर्थ दमस्तीर्थ संतोषस्तीर्थ मुच्यते।
ब्रह्मचर्य पं तीर्थ तीर्थ च प्रियवादिता।।

दान, दम संतोष, ब्रह्मचर्य प्रिय वचन से सब तीर्थ हैं।

ज्ञानं तीर्थ धृतिस्तीर्थ तपस्तीर्थ मुदाहृतम्।।
तीर्थानामपि तत्तिर्थ विशुद्धिर्मनसः परा।।

ज्ञान, धीरज, तप ये सब तीर्थ हैं पर इनमें भी मन का निर्मल रहना परम तीर्थ है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये सब मन के मैल हैं। इनका न रहना ही निर्मल मन कहा जाता है।

नजेलाप्लुत देहस्य स्नानमित्यमिधीयते।
स्नातोयो दमस्नातः शुचिः शुद्ध मनोमलः।।

जल का स्नान, स्नान नहीं कहा जाता जो दम से (मन का निर्मल रहना) स्नान किया हुआ है उसने वास्तव में स्नान किया है। (स्नानंमनो मल त्याग:) मनका शुद्ध होना वास्तविक शुद्धि है।

योलुब्धःपिशुनः क्रूरो दांभिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपिस्नातः पापो मलिन एव सः।।

जो लोभी, चुगलखोर, दुष्ट, दंभी, विषयी ऐसे पुरुष सारे तीर्थों में चाहे स्नान करें तो भी वे अन्तःकरण के मैले होने से पापी हैं।

न शरीर मल त्यागान् नरो भवति निर्मलः।
मानसेतु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सु निर्मलः।।

शरीर के मल को साफ करने से मनुष्य निर्मल नहीं होता मानसिक मैल दूर करने से अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, छल कपट त्यागने से मनुष्य वास्तव में निर्मल होता है।

जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छति ते स्वर्गमविशुद्ध मनोमलाः।।

जल के जीव जल में जन्मते हैं और मरते हैं, परन्तु वे स्वर्ग नहीं जाते क्योंकि मन निर्मल नहीं।

विषयेऽवनिशरागो मानसो मल उच्चयते।
तेष्वे वहि विरागोऽस्यनैर्मल्यं समुदाहृतम्।।

विषयों में अधिक प्रीति होना मानसिक मल कहाता है। विषयें में विराग होना निर्मलता कही जाती है।

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैनं शुद्धयति।
शतशोऽथ जलेधौतं सुराभांडमिवा शुचि।।

जिसका अन्तःकरण दुष्ट (मैला) है वह तीर्थ स्नान से शुद्ध नहीं होता सुरा के पात्र को सौ बार धोने पर भी शुद्ध नहीं होता।।

दानभिष्टं तपः शौच तीर्थ सेवा श्रुतं तथा।
सर्वाण्येतान्य तीर्थानि यदि भावो न निर्मलः।।

दान, इष्ट (बावड़ी, कूप, दूव-मन्दिर, सदावर्त्त आदि) तप, शौच (व्यर्थ) हैं यदि अन्तःकरण निर्मल नहीं।

निगृहीतेन्द्रिय ग्रामो यत्रेव वसते नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च।।

इन्द्रियजीत पुरुष जहाँ कहीं भी निवास करे उसको वही कुरुक्षेत्र, नैमिषारराय और पुष्कर है।

ज्ञानपूते ध्यानजले रागद्वेष मला पहे।
यस्नाति भानपे तीर्थे स याति परमां गतिम्।।

ज्ञान से पवित्र, राग, द्वेष मल के दूर करने वाले ध्यानरत जल से भरे ऐसे मानस तीर्थ में जो स्नान करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है।

एतत्ते कथितं राजन् मानस तीर्थ लक्षणम्।
भामानामपि तीर्था नां पुण्यत्वे कारणं श्रृणु।।

हे राजन् ! ये मानसिक (सत्य, ब्रह्मचर्य आदि) तीर्थों के लक्षण कहे, अब भौम तीर्थ (गंगा आदि) पुन्यत्व का कारण सुनिये।

यथाशरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः।
प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा।।
परि ग्रहान् मुनीनांच तीर्थानां पुण्यता स्मृता।।

जैसे शरीर के कोई-कोई अवयव पैर आदि की अपेक्षा मुखादि अधिक पवित्र माने जाते हैं, उसी प्रकार जल वे तेज के अद्भुत प्रभाव से और ऋषि-मुनियों के निवास से श्री गंगा आदि तीर्थ पवित्र माने जाते हैं।

तस्माद् भौभेषुतीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः।

तिस कारण से भौम तीर्थ (श्री गंगा आदि) और मनस तीर्थ (अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पालन करना) इन दोनों में नित्य स्नान करना चाहिये।

उभयेषु च यः स्नाति स याति परमां गतिम्।

जो दोनों तीर्थों में स्नान करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है। इस प्रकरण का सारांश यह है कि मानसिक तीर्थ के बिना (सत्य, ब्रह्मचर्य आदि के बिना) भौम तीर्थ (श्री गंगा आदि) निष्फल हैं। इसी आशय का मंतव्य स्कन्द पुराण २। ८। १०। ४४.५७ में प्रकट किया गया है।

❑ ❑

ईश्वर और उसकी अनुभूति

मानव जीवन और ईश्वर विश्वास

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने में कुछ दिन ही शेष थे। कौरव और पाण्डव दोनों पक्ष अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। युद्ध के लिए अपने-अपने पक्ष के राजाओं को निमन्त्रित कर रहे थे। भगवान श्री कृष्ण को निमन्त्रित करने के लिए अर्जुन और दुर्योधन एक साथ पहुँचे। भगवान ने दोनों के समक्ष अपना चुनाव प्रश्न रखा। एक ओर अकेले शस्त्रहीन श्रीकृष्ण और दूसरी ओर श्रीकृष्ण की सारी सशस्त्र सेना इन दोनों में से जिसे जो चाहिए वह माँग ले। दुर्योधन ने सारी सेना के समक्ष निरस्त्र कृष्ण को अस्वीकार कर दिया। किन्तु अपने पक्ष में अकेले निरस्त्र भगवान कृष्ण को देखकर अर्जुन मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ। अर्जुन ने भगवान को अपना सारथी बनाया। भीषण संग्राम हुआ। अन्ततः पांडव जीते और कौरव हार गये। इतिहास साक्षी है कि बिना लड़े भगवान कृष्ण ने अर्जुन का सारथी मात्र बनकर पाण्डवों को जिता दिया तथा शक्तिशाली सेना प्राप्त करके भी कौरवों को हारना पड़ा। दुर्योधन ने भूल की जो स्वयं भगवान के समक्ष सेना को ही महत्वपूर्ण समझा और सैन्य बल के समक्ष भगवान को ठुकरा दिया।

किन्तु आज भी हम सब दुर्योधन बने हुए हैं और निरन्तर यही भूल करते जा रहे हैं। संसारी शक्तियों, भौतिक सम्पदाओं के बल पर ही जीवन संग्राम में विजय चाहते हैं ईश्वर की उपेक्षा करके। हम भी तो भगवान और उनकी भौतिक स्थूल शक्ति दोनों में दुर्योधन की तरह स्वयं ईश्वर की उपेक्षा कर रहे हैं और जीवन में संसारी शक्तियों को प्रधानता दे रहे हैं किन्तु इससे तो कौरवों की तरह असफलता ही मिलेगी।

वस्तुतः जीत उन्हीं की होती है, जो भौतिक शक्तियों तक ही सीमित न रहकर परमात्मा को अपने जीवनरथ का सारथी बना लेते हैं। उसे ही जीवन का सम्बल बनाकर मनुष्य इस जीवन संग्राम में विजय प्राप्त कर लेता है। हम देखंते हैं कि ईश्वर को भूलकर संसार का ताना-बाना हम बुनते रहते हैं, अपने मन में हवाई किले बनाते हैं, कल्पना की उड़ान से दुनियाँ के ओर-छोर नापने की योजना बनाते हैं। किन्तु हमें पद-पद पर ठोकरें खानी पड़ती हैं स्वप्नों का महल एक ही झोके से धराशायी हो जाता है, कल्पना के पर कट जाते हैं, सब कुछ बिगड़ जाता है अन्त में पछताना पड़ता है। दुर्योधन, रावण, हिरण्यकश्यप, सिकन्दर आदि बड़ी-बड़ी हस्तियाँ पछताती चली गईं। भगवान के संसार में रहकर भगवान को भूलने और केवल शक्तियों को प्रधानता देने से और क्या मिल सकता है ? संसार के रणांगण में उतरकर हम इतने अन्धे हो जाते हैं कि इस सारी सृष्टि के मालिक का आशीर्वाद लेना तो दूर उसका स्मरण तक हम नहीं करते और भौतिक स्थूल संसार को ही प्रधानता देकर जूझ पड़ते हैं। ऐसे अहंकारी व्यक्ति चाहे कितनी भी सफलता प्राप्त क्यों न कर लें, उनकी विजय संदिग्ध ही रहती है।

आज मानव जीवन की जो करुण एवं दयनीय स्थिर है, जो सन्ताप दुःख असफलतायें मिल रही हैं, इन सबका मूल कारण है ईश्वर विश्वास की कमी, ईश्वरीय सत्ता की उपेक्षा करना और एकमात्र भौतिक सांसारिकता को ही महत्व देना।

ईश्वर विश्वास के लिये श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान है। भौतिक जीवन तथा शारीरिक क्षेत्र में प्रेम की सीमा होती है। जब यही प्रेम आन्तरिक अथवा आत्मिक क्षेत्र में काम करने लगता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा ही ईश्वर-विश्वास का मूल स्रोत है एवं श्रद्धा के माध्यम से ही

उस विराट की अनुभूति सम्भव है। श्रद्धा जीवन नैया के समस्त चप्पू ईश्वर के हाथों सौंप देती है। जिसकी जीवन डोर प्रभू के हाथों में हो भला उसे क्या भय ? भय तो उसी को होगा जो अपने कमजोर हाथ-पाँव अथवा संसार की शक्तियों पर भरोसा करके चलेगा। जो प्रभु का आँचल पकड़ लेता है वह निर्भय हो जाता है, उसके सम्पूर्ण जीवन में प्रभु का प्रकाश भर जाता है। तब उसके जीवन व्यापार का प्रत्येक पहलू प्रभु प्रेरित होता है, उसका चरित्र दिव्य गुणों से सम्पन्न हो जाता है। वह स्वयं परम पिता का युवराज हो जाता है। फिर उसके समक्ष समस्त संसार फीका और निस्तेज बलहीन क्षुद्र जान पड़ता है। किन्तु यह सब श्रद्धा से ही सम्भव है।

परमात्मा की सत्ता, उसकी कृपा पर अटल-विश्वास रखना ही श्रद्धा है। ज्यों-ज्यों इसका विश्वास होता है त्यों-त्यों प्रभु का विराट् स्वरूप सर्वत्र भासमान होने लगता है। हमारे भीतर-बाहर चारों ओर श्रद्धा के माध्यम से ही हमें परमात्म-तत्व का उस ईश्वर का अवलम्बन लेना चाहिये। श्रद्धा से ही उस परमात्म-तत्व पर जो हमारे बाहर-भीतर व्याप्त है विश्वास करना मुमुक्ष के लिए आवश्यक है और सम्भव भी है।

स्थूल जगत का समस्त कार्य-व्यापार ईश्वरेच्छा एवं उसके विधान के अनुसार चल रहा है। वैज्ञानिक, दार्शनिक सभी इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार भी करते हैं। कहने के ढंग अलग-अलग हो सकते हैं, फिर भी यह निश्चित ही है कि यह सारा कार्य व्यापार किसी अदृश्य सर्वव्यापक सत्ता द्वारा चल रहा है। हमारा जीवन भी ईश्वरेच्छा का ही रूप है। अतः जीवन में ईश्वर विश्वास के साथ-साथ समस्त कार्य-व्यापार में उसकी इच्छा को ही प्रधानता देनी चाहिये। वह क्या चाहता है इसे समझना और उसकी इच्छानुसार ही जीवन रण में जूझना आवश्यक है। इसी तथ्य का संकेत करते हुए भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

"तस्मात् सर्वकालेषु मामनुस्मर युध्यच।"

"हे अर्जुन तू रिन्तर मेरा स्मरण करता हुआ मेरी इच्छानुसार युद्ध कर।" परमात्मा सभी को यही आदेश देता है। ईश्वर का नाम लेकर उनकी इच्छा को जीवन में परिणित होने देकर जो संसार के रणांगण में उतरते हैं उन्हें अर्जुन की ही तरह निराशा का, असफलता का सामना नहीं करना पड़ता। ईश्वरेच्छा को जीवन-संचालन का केन्द्र बनाने वाले की हर सांस से यह आवाज निकलती रहती है "हे ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो।" ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो। जीवन का यही मूलमन्त्र है। महापुरुषों के जीवन इसके साक्षी हैं। स्वामी दयानन्द ने अन्तिम बार जहर खाते हुए भी कहा—"ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो।" महात्मा गाँधी ने गोली खाकर कहा "हे राम तेरी इच्छा पूर्ण हो।" ईसा को क्रूस पर चढ़ाया गया तब उन्होंने भी प्रभु इच्छा को ही पूर्ण होता बताया। जीवन में हर सांस, हर धड़कन में प्रभु की इच्छा को ही प्रधान समझें। जीवन को प्रभु के हाथों सौंप दे तो अन्त में भी उसके पावन अंक में ही स्थान मिलेगा साथ ही हमारा भौतिक जीवन भी दिव्य एवं महान् बन जायेगा। भगवान कहते हैं—

"मन्मना भव मद भक्तो मद्याजी माँ नमस्कुरु।"

"मेरा भक्त बन जा, सारे कर्म-अकर्म मुझे अर्पित कर दे, मैं तुझे सर्व दुःखों से पार कर दूँगा।"

अहंकार का पुतला मनुष्य प्रभु की इच्छा को, उनकी आज्ञा की स्वीकार नहीं करता और अपने ही निर्बल कन्धों पर अपना बोझ उठाये फिरता है। इतना ही नहीं दुनिया का भार उठाने का दम भरता है। यही कारण है कि निराशा, चिन्तायें, दुःख रोग, असफलतायें उसे घेरे हुए हैं और रात-दिन व्याकुल-सा सिर धुनता हुआ मनुष्य अत्यन्त परेशान-सा दिखाई देता है। अहंकारवश प्रभु की इच्छा के विपरीत चलकर कभी सुख शान्ति मिल सकती है ? नहीं कदापि नहीं। हमें अपने हृदय मन्दिर में से अहंकार, वासना, राग द्वेष को निकालकर रिक्त करना होगा और ईश्वररेच्छा को सहज रूप में काम करने देना होगा तभी जीवन यात्रा सफल हो सकेगी।

ईश्वर के प्रति विश्वास, श्रद्धा उसकी इच्छा को जो समस्त स्थूल और सूक्ष्म संसार का संचालन कर रही है, सहज रूप में काम करने देना जीवन के मूलमन्त्र हैं। मनुष्य की शक्ति,

अत्यन्त अल्प है, वह अहंकार की शक्ति है। बड़े-बड़े कौरव, वाणासुर, रावण, हिरण्यकश्यप अनेकों असुरों ने ईश्वरीय सत्ता को चुनौती दी थी अपने सांसारिक बल और अहंकार बल से किन्तु अन्त में पछताते गये। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है, अपने जीवन की बागडोर उनके हाथों देकर निश्चिन्त हो जाने वाले ही उनके विराट रूप का दर्शन कर कृतार्थ हो जाते हैं। हमें सचेत होकर अपना रथ भगवान के हाथों में देना है। परम पिता के संरक्षण में हमें अपनी विजय यात्रा पर चलने को तैयार हो जाना है। हमारी प्रत्येक सांस और धड़कन में प्रभु का अमर संगीत गूँजता रहे, हमारे हृदय मन्दिर में विराजमान प्रभु हमारे जीवन रथ का संचालन करते रहें और अन्त में उनके पावन अंक में ही हमें स्थान मिले ऐसी उनसे प्रार्थना है। ये ही हमारे बाहर भीतर एक रस से व्याप्त हो रहे हैं।

हम महान् ईश्वर के महान् पुत्र हैं

पुत्र से पिता के स्वरूप का आभास मिल जाता है। पुत्र पिता का प्रतिनिधि माना गया है। प्रतिनिधित्व का आशय, उसी रीति-नीति का प्रतिपादन करना जो प्रधान की हो। जो प्रतिनिधि ऐसा नहीं करते थे विद्रोही माने जाते हैं।

मनुष्य का अस्तित्व उसका अपना मूल अस्तित्व नहीं है। वह किसी एक महानतम अस्तित्व का अंश है, उसका प्रतिनिधि है। वह महानतम अस्तित्व क्या है ? परमात्मा ! परमात्मा ही वह सर्वोच्च प्रधान है, जिसकी इच्छा से मानव-जीवन अस्तित्व में आया है। उसकी ही इच्छा के फलस्वरूप वह पृथ्वी पर उसका प्रतिनिधि बनकर अवतरित हुआ।

मनुष्य में परमात्मा के सारे गुण बीच रूप में वर्तमान है। इस बात की साक्षी उसकी वह उन्नति और विकास है, जो अब तक मनुष्य ने किया है और करता जा रहा है।

तथापि एक समान ईश्वर का अंश होनें पर भी सारे मनुष्य समान रूप से उन्नति और विकास नहीं कर पाते। कुछ तो उन्नति के उच्चतर सोपान चढ़ते चले जाते हैं और दूसरे यथा-स्थान पड़े कालचक्र में निर्जीव जैसे घूमते रहते हैं। इस अन्तर का प्रमुख कारण यही है कि यथा स्थान स्थगित रहने वाले व्यक्ति अपने उस अस्तित्व से अनभिज्ञ बने रहते हैं, जिसका सम्बन्ध ईश्वरीय प्रतिनिधित्व से है। वे अपने अज्ञान के कारण न तो यह अनुभव करते हैं और न विश्वास कि ये ईश्वर के पुत्र हैं और संसार में उसके प्रतिनिधि।

जिनको अपनी पैतृक महानता का बोध होता है, उसकी शक्ति सामर्थ्य और गरिमा के प्रति आत्मीयता होती है, वह स्वभावतः उसी के अनुसार अपनी गतिविधि निर्धारित करता है। उसे इस बात का आग्रह रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि उसका कोई काम उसकी पैतृक महिमा में ऋणात्मक तत्व का काम करे। ऐसा शीलवान् पैतृक मर्यादा के अनुसार व्यवहार करता है और उसी के अनुरूप उन्नत होता है।

अपनी पैतृक मर्यादा से अबोध व्यक्ति जीवन ही दीन स्थिति से उठने की प्रेरणा कदाचित ही पाते हैं। साधारण जीवों की तरह सुख-दुःख का भोग भोगते और मरकर चले जाते हैं। अपने इस अज्ञान के कारण ये उसी सहनीय स्थिति से वंचित रह जाते हैं, ईश्वर के पुत्र होने के कारण जिसके सहज अधिकारी होते हैं।

ईश्वर का पुत्र और प्रतिनिधि होने के नाते हर मनुष्य सत्-चित् और आनन्द का सहज अधिकारी है। अपने इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए उसे यह विश्वास जगाना ही होगा कि वह ईश्वर का पुत्र है, जिसकी शक्ति अपार है। जो सर्वशक्तिमान् और निखिल ब्रह्माण्डों का स्वामी है, जिसके संकेत से सृष्टि की रचना उसका पालन और प्रलय होता है। जो सार्वकालिक और सर्वदेशीय है। जो अणु-अणु में आदि मध्य और अन्त रूप से ओत-प्रोत है। मेरा जन्म और जीवन उसके ही अधीन उसकी सत्ता का एक अंश है। हमारे कर्म और वैचारिक क्रियाओं में उसकी प्रेरणा और चेतना प्रतिबिम्बित होती है।

इस दिव्य विश्वास के स्थिर होते ही मनुष्य में आत्मगौरव की स्फुरणा होगी और वह अपने को ईश्वर का उचित प्रतिनिधि प्रकट

करने का प्रयत्न करने लगेगा। प्रतिनिधित्व का प्रकटन गुणों के सिवाय और किसी उपाय से नहीं हो सकता। गुणों का विकास होते ही मनुष्य का अस्तित्व विस्तृत होगा और वह ईश्वर की सारी सम्पदाओं का स्वामित्व पाने लगेगा। दीनता-हीनता और दरिद्रता का कलुष हटने और हृदय में सुख-शान्ति और सन्तोष की सम्पन्नता का समावेश होने लगेगा। जीवन धन्य बन जायेगा।

यदि आप में दैन्य दरिद्र का अंश शेष है, आप सत्-चित् और आनन्द के अपने अधिकार से वंचित है, तो निश्चय ही आप अज्ञान के कारण अपनी पैतृक गरिमा को भूले हुए हैं। अपने को एक सामान्य प्राणी समझकर जी रहे हैं। विश्वास करिये आप सामान्य प्राणी मात्र नहीं हैं आप ईश्वर के पुत्र और संसार में उसके प्रतिनिधि हैं। सोचिये, समझिये, मानिये और कहिये कि आप सर्व शक्तिमान् ईश्वर के पुत्र हैं। यह विश्वास, यह स्वीकृति आप में वे सारे गुण और सारी शक्तियाँ जगा देगी, जो ईश्वर में है और अंश रूप में आपके भीतर भी सोई पड़ी हैं।

जिस प्रकार किसी वनस्पति की विशेषतायें उसका गुण-दोष और खाद, उसकी जड़, तने, शाखा, छाल, माँस यहाँ तक फूल-फल पत्ती आदि प्रत्येक अंश में ओत-प्रोत हैं, उसी प्रकार निश्चय ही ईश्वर के सारे गुण सारी विशेषतायें आप में है, उसका अंश उसका पुत्र और उसका प्रतिनिधि होने के नाते ओत-प्रोत हैं। उनमें विश्वास करिये, उन्हें जगाइये और अपनी प्रकृत पदवी के स्वामी बन जाइये।

उत्तराधिकार का बोध होते ही मनुष्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति से आत्मीयता हो जाती है। वह उन्हें अपनी समझने लगता है। अपने में ईश्वरत्व का बोध होते ही आपको सृष्टि का विस्तार, सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा का सौन्दर्य और नक्षत्रों की ज्योति अपनी लगेगी। वायु की गति, जल का रस और पृथ्वी की गन्ध आपको अपनी सम्पत्ति लगेगी। आपको अनुभव होगा कि यह सारी सृष्टि आप में और आप उसमें रमें हैं। इस महान् और महनीय स्थिति में आते ही आप अपने अधिकार सत्-चित् आनन्द के अधिकारी बन जायेंगे।

अधिकार के साथ कर्त्तव्य का योग स्वाभाविक है। जहाँ अधिकार है वहाँ कर्त्तव्य भी है। जिस प्रकार आप ईश्वरीय अधिकार के पात्र हैं, उसी प्रकार ईश्वरीय कर्त्तव्य का दायित्व भी आपके कन्धों पर है अधिकार और कर्त्तव्यों के क्रम में कर्त्तव्य का स्थान पहले है। कर्त्तव्य के आधार पर ही अधिकार की प्राप्ति होती है और उसकी चरितार्थता भी कर्त्तव्य पर निर्भर है। केवल यह बौद्धिक विश्वास कि हम ईश्वर के पुत्र हैं, उसके अंश और प्रतिनिधि हैं—ईश्वरीय अधिकार का स्वामी न बना देगा, उसके लिए निश्चय ही ईश्वरीय कर्त्तव्य का पालन करते हुए अपने विश्वास की वास्तविकता प्रमाणित करनी ही होगी। अस्तु अधिकारों की भाँति अपने उस ईश्वरीय कर्त्तव्य का बोध कर लेना भी आवश्यक है। बोध होने पर उसके पालन की सुविधा हो सकेगी।

ईश्वर ने सृष्टि रचना करने तक ही अपने कर्त्तव्य को सीमित नहीं रक्खा। उसने अपनी इस सृष्टि का पालन भी अपने कर्त्तव्यों में सम्मिलित किया हुआ है। इसी कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए उसने विविध प्रकार की वनस्पतियाँ, विविध प्रकार के अन्न, वायु, जल और अग्नि आदि साधन उत्पन्न किये। साथ ही जीवों को जीवन रक्षा और उसके साथ आनन्द अनुभूति की चेतना भी अनुग्रह की है। उसकी इस कृपा के आधार पर ही जीव मात्र संसार में आनन्दपूर्वक जी रहे हैं।

ईश्वर के इस कर्त्तव्य के अनुसार उसके प्रतिनिधि मनुष्य पर भी यह कर्त्तव्य आता है कि सृष्टि पालन और उसके संचालन में अपने परम प्रभु अपने परमपिता के साथ योग करें। इस योगदान करने की विधि इसके सिवाय क्या हो सकती है कि वह ऐसे काम करे, जिनसे संसार की प्रगति हो और उसमें सुख-शान्ति का समावेश हो। यह मन्तव्य तभी पूरा हो सकता है, जब मनुष्य स्वयं अपने को उदात्त और आदर्श चरित्र वाला बनाये। वह मानवीय संयम का पालन और ईश्वरीय नियमों का निर्वाह करे। यह नियम और संयम उसके दिये धर्म में पूरी तरह वर्णित है। धर्म का पालन करते रहने से ईश्वरीय कर्त्तव्य का पालन होता चलेगा।

केवल अपने सुख, अपने मंगल और अपने कल्याण में व्यस्त, उसका ही ध्यान रखने वाले लोग ईश्वरीय कर्त्तव्य से विमुख रहते हैं। अपना पिंगल और अपना कल्याण भी वांछनीय है, लेकिन सबके साथ मिलकर, एकांकी नहीं अपने हित तक बँधे रहने वाले बहुधा स्वार्थी होते हैं। स्वार्थ और ईश्वरीय कर्त्तव्य में विरोध है। जो स्वार्थी होगा, वह कर्त्तव्यविमुख ही चलता रहेगा। ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न कर एक से बढ़कर आनन्ददायक पदार्थों का निर्माण किया। वह निखिल ब्राह्माण्डों के प्रत्येक अणु का स्वामी है। पर क्या वह उनका उपभोग स्वयं करता है ? नहीं-नहीं वह उनका उपयोग स्वयं नहीं करता है। उसने सारी सम्पदायें और साधन अपने बच्चों के लिए ही सुरक्षित कर दिए हैं। वह अपने आप में महान् त्यागी और परोपकारी है।

इसी प्रकार हम मनुष्यों का भी कर्त्तव्य है कि हम परोपकारी और परमार्थी बनें। हमारे पास जो भी बल, बुद्धि, विद्या, धन-सम्पत्ति आदि उस प्रभु के दिए हुए पदार्थ हैं, उनका एक अंश परोपकार और परमार्थ में लगायें। ऐसा कभी न सोचें कि यह सब तो मेरा है, मैं ही इसका उपभोग करूँगा। गरीबों, असहायों और आवश्यकता-ग्रस्तों की सहायता करना, दुःखी और अपाहिजों की सेवा करना ईश्वरीय कर्त्तव्य है, जो पूरा करना ही चाहिए। ईश्वर अपने विरचित जीवन-मात्र से प्रेम करता है। उसके पुत्र उसके प्रतिनिधि मनुष्य का भी कर्त्तव्य है कि वह सृष्टि के जीवों से प्रेम करे।

ईश्वरीय कर्त्तव्य के पालन की प्रेरणा, सामर्थ्य और क्षमता लाने के लिये मनुष्य को चाहिए कि वह संसार की नश्वर और भ्रामक वासनाओं से दूर रहें। उनसे सुरक्षित रहकर अपनी शक्ति और स्वरूप को पहचाने। निकृष्ट भोग-वासनायें पाशविक प्रवृत्ति की द्योतक तो आत्म-संयम, आत्म-विकास और आत्मविस्तार से ही होता है। यदि हमारे हृदयों में यह धारणा दृढ़ हो जाये कि हम उस परम पवित्र, महान् और सर्वोपरि सत्ताधर ईश्वर के पुत्र और संसार में उसके प्रतिनिधि हैं तो संसार की निकृष्ट वासनाओं और तुच्छ भोगों से विरक्त हो जाना आसान हो जाये। जब तक अपने उच्च-स्वरूप का विश्वास नहीं होता मनुष्य निम्नता की ओर झुकता रहता है।

कितना ही शक्तिशाली और कितना ही उच्चपद वाला क्यों न हो, किन्तु मनुष्य अपने आत्म-स्वरूप को तब तक नहीं पहचान पाता, जब तक कि वह विषय-वासनाओं के अन्धकार से निकलकर अपने स्वरूप का दर्शन आत्मा के प्रकाश से नहीं करता। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह वासना से निकलकर अध्यात्म के प्रकाश में आये और देखे, विचार करे व उसके फलस्वरूप भी कि वह कितना विशाल, कितना महान् और कितना प्रचुर है। उसका स्वरूप ठीक वैसा ही है जैसा कि उसके परमपिता परमात्मा का। इस प्रकार की ईश्वरीय अनुभूति होते ही मनुष्य अपने को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपकारी और सर्व-सम्पन्न पायेगा। उसकी सारी क्षुद्रतायें सारी दीनतायें और सारी निकृष्टतायें आपसे आप स्खलित हो जायेंगी और वह अपने को सच्चिदानन्द स्थिति में पाकर शुद्ध और बुद्ध बन जायेगा।

मनुष्य का वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द ही है। अपनी सांसारिक निकृष्टताओं के कारण ही वह इस स्वरूप को भूले हैं। अपने में आत्म श्रद्धा और आस्था का विकास करिये। मिथ्या से निकलकर सत्य में आइये। जीवत्व से ईश्वरत्व की ओर बढ़िये। ईश्वर का पुत्र उसका प्रतिनिधि होने में विश्वास करिये। ईश्वरीय कर्त्तव्यों को पालन करने के लिए धर्म को धारण करिये। उपकारी और परमार्थी बनकर सत्य, सेवा, त्याग और आत्मीयता के भाव जगाइये। निश्चय ही आप अपना वह अधिकार और स्वत्व पा लेंगे, जो ईश्वर में सन्निहित है और जिसकी सत्ता है—सत्+चित+आनन्द=सच्चिदानन्द।

ईश्वर हमारा सच्चा जीवन सहचर है

इस संसार में पग-पग पर कठिनाइयों और संकटों का सामना मनुष्य को ही करना पड़ता है। संसार संकटों का आलय कहा गया है। बहुत कुछ साधन होने पर भी आपत्तियाँ आ जाती हैं। उनसे छुटकारे का कोई मार्ग नहीं

दिखता। मनुष्य बहुत कुछ हाथ-पैर मारता है लेकिन संकटों का निस्तार नहीं हो पाता।

ऐसी भयप्रद परिस्थितियाँ कभी न कभी प्रायः सभी मनुष्यों के सामने आती रहती हैं। ऐसा लगता है जैसे उसका सारा बल, सारे साधन समाप्त हो गये हैं। इस अन्धकार में कोई साथ देने वाला नहीं है, जीवन भारी हो गया है। पैर लड़खड़ाने लग गये हैं। चारों ओर अन्धेरा ही छाया हुआ है। इस प्रकार वह निराशा और भय से घिरकर असहाय हो जाता है।

लेकिन फिर धीरे-धीरे सारा ज्वार शान्त होने लगता है। सभी ओर समाधान दीखने लगता है वही साधन जिनकी शक्ति में अविश्वास होने लगा था उसी अपने बल में, जिसमें अनास्था हो गई थी, उसी जीवन में, जिसमें केवल अन्धेरा ही अन्धेरा दीख रहा था, विश्वास, श्रद्धा और प्रकाश आना दिखाई देने लगता है। आपत्तियों और संकट के बादल छटनें लगते हैं और निराश मनुष्य एक बार फिर अपने ही पैरों पर खड़ा हो जाता है। यह सब चमत्कार क्या है ?

यह चमत्कार वह ईश्वरीय कृपा है जिसका उदय अपने भीतर से ही होता है। यह मनुष्य के आस्तिक भाव का लाभ है, उसी का प्रसाद है। यह लाभ उसे नहीं मिल पाता जो नास्तिक होता है, जिसके हृदय में उस सर्वशक्तिमान् के प्रति विश्वास नहीं होता। नास्तिक व्यक्ति को ऐसा अप्रत्याशित सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता। वह तो अपने साधनों, अपने बल और अपनी शक्ति के थकते ही पराजित हो जाता है और तब संकट और आपत्तियाँ उस व्यक्ति को पूरी तरह नष्ट कर देती हैं। ईश्वर उन्हीं पर करुणा करता है, जो उसके विश्वासी होते हैं, आस्तिक भाव से ओत-प्रोत होते हैं।

ईश्वर की यह महती कृपा ही है कि वह अपने विश्वास की निरुपाय स्थिति में सहायता करता है, वह किसी का बन्धक नहीं होता, किसी का उस पर कोई इजारा नहीं होता। यदि वह सहायता न करे तो इसका कोई उलाहना नहीं। लेकिन नहीं वह अपने उस जन की सहायता बिना माँगे ही करता रहता है क्योंकि वह करुणा सागर है, दया का आगार है। परमात्मा की इस कृपा के प्रति हम सबको कृतज्ञ ही रहना चाहिये।

अनेक लोग जरा-सा संकट आते ही बुरी तरह घबरा जाते हैं। हाय-हाय करने लगते हैं, उसे ईश्वर का प्रकोप मानकर भला-बुरा कहने लगते हैं। निराश और हतोत्साह होकर ईश्वर के प्रति आनास्थावन् होने लगते हैं। यह ठीक नहीं। आपत्तियाँ संसार में सहज सम्भाव्य हैं। किसी समय भी आ सकती हैं। किन्तु उनसे घबराना नहीं चाहिये। उन्हें ईश्वर का अपने बच्चों के साथ एक खेल समझना चाहिये। जैसे कोई कागज का भयावह चेहरा लगा कर कभी-कभी बच्चों को डराने का विनोद किया करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी संकट की स्थिति लाकर अपने बच्चों के साथ खेल किया करता है। उसका आशय यही होता है कि बच्चे भयावह स्थितियों के अभ्यस्त हो जायें और डरने की उनकी आदत छूट जाये। वे संसार में हर संकट का सामना, करने के योग्य बन जायें। आपत्तियों को ईश्वर का खिलवाड़ समझकर डरना नहीं चाहिये। उसमें उस खिलाड़ी का साथ देकर खेलते ही रहना चाहिये।

आपत्तियाँ उन्हीं के लिये भय का कारण बनती हैं, जो ईश्वर विश्वास नहीं होते। उनमें ईश्वर के मंगल गन्तव्य का आभास नहीं देखते। अन्यथा संसार की किसी भी परिस्थिति से डरने का कोई कारण नहीं। जिसे ईश्वर की कृपा में विश्वास है, उसको सर्वशक्तिमत्ता में अखण्ड आस्था है, जो उसे अपना स्वामी, सखा और माता-पिता समझता है, उसे किसी बात से डरने का क्या अर्थ ? डरना तो उसे चाहिये, जिसने उस सर्वशक्तिमान का साथ छोड़ दिया है।

जो उसके आदेशों और निर्देशों का उल्लंघन करने का अपराध करता है, जो ईश्वर के विरोध से नहीं डरता है, जो उसकी इच्छा का अनुसरण करने में आनाकानी करता है, डर तो उसके लिये है। जो उसकी उपासना करता है आज्ञा में चलता है, अपना विश्वास सुरक्षित रखता है, उसको संसार में न तो किसी से भय लगता है और न वह किसी परिस्थिति से विचलित हरोता है। अपने विश्वासी को ईश्वर बिना माँगे ही साहस, सम्बल और शक्ति देता रहता है। उसकी महती कृपा है, इसके प्रति हम सबको आभारी रहना चाहिये।

जीवन एक लम्बी यात्रा के समान है। सर्वथा एकाकी चलकर इसे आसानी से पूरा कर सकना सरल नहीं है। जब किसी यात्रा में कोई मनचाहा साथ मिल जाता है, तो वह बड़ी आसानी से कट जाती है। रास्ता लम्बा और नीरस नहीं लगता। लेकिन साथी सच्चा, सहयोगी और योग्य ही होना चाहिये। अन्यथा वह यात्रा को और भी संकटपूर्ण बना देगा। किन्तु संसार में ऐसे मनचाहे साथी मिलते कब हैं ?

संसार में स्वार्थी, विश्वासघाती और आपत्ति के समय साथ छोड़ जाने वाले ही अधिक पाये जाते हैं। जीवन यात्रा के लिए सबसे योग्य एवं उपयुक्त साथी ईश्वर के सिवाय और कौन हो सकता है ? वही एक ऐसा मित्र, सखा, सज्जन, सहायक और गुरु होता है, जो पूरे रास्ते साथ रहे, भूलने पर रास्ता दिखलाये, थकने पर सहारा दे और आपत्ति के समय हाथ पकड़कर बाहर निकाल लाये। एक ईश्वर को छोड़कर ऐसा साथी और कौन हो सकता है, जो जीवन भर साथ दे सके, पग-पग पर चेतावनी और सहारा दे सके, किन्तु अपने इस उपकार के बदले में न तो कुछ ले और न माँगे। ऐसे निःस्वार्थ एवं हित-चिन्तक साथी, सखा और सहचर के उपकार यदि भुला दिये जाते हैं, तो इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है ?

जिससे ईश्वर से मित्रता कर ली है। उसे अपना साथी बना दिया है, उसके लिए यह संसार बैकुण्ठ की तरह आनन्द का आगार बन जाता है, जिसकी यह सारी दुनिया है, जो संसार का स्वामी है, उससे सम्पर्क कर लेने पर, हाथ पकड़ लेने पर, फिर ऐसी कौन-सी सम्पदा, ऐसा कौन-सा सुख शेष रह सकता है, जिसमें भाग न मिले। जो स्वामी का सखा है, वह उसके ऐश्वर्यों का भी साथी होता है।

ईश्वर के अनन्त उपकारों को कोई कृतघ्न नास्तिक ही भुला सकता है, श्रद्धालु आस्तिक नहीं। उस अहेतुक उपकार करने वाले के प्रति हमें सदैव विश्वासी एवं आस्थावान् ही रहना चाहिये। जब वह जीव का जन्म देने को सोचता है, तब उसके लिये सारी सुविधायें पहले से संचय कर देता है, जिससे जन्म लेने के बाद उसके प्यारे जीवों को कोई कष्ट न हो। उसकी मनोनीत माता को दो स्तन दे देता है। जन्म देते ही उनमें नित्यप्रति ताजा, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यदायक दूध पैदा करता रहता है। माता के हृदय में वात्सल्य और स्नेह उपजाकर अबोध जीव की सुरक्षा सेवा और देखभाल करने की प्रेरणा देता रहता है। यदि वह ऐसा न करे तो संसार में जीव का जीवन एक दिन भी नहीं चल पाये।

इतना हो क्यों ? आगे चलकर भी वह जीवों पर अनन्त उपकार करता रहता है। उसे क्रमिक वृद्धि देता है, उसका विकास करता है, बल, बुद्धि और विवेक की कृपा करता है। यदि वह ऐसा न करे तो जीव भी जड़ की तरह अगतिशील ही बना रहे। न वह संसार में किन्हीं कर्त्तव्यों को कर पाये और न उनका आनन्द उठा पाये। ऐसे चिर-कृपालु ईश्वर के उपकारों को किस प्रकार भुलाया जा सकता है ?

इस संसार में क्या नहीं है ? सुख, सौभाग्य, आनन्द-मंगल सभी तो इस संसार में भरा पड़ा है। किन्तु यह मिलता उन्हें ही है, जो इसके स्वामी परमात्मा के अनुकूल रहते हैं। उसके प्रतिकूल चलने वालों को संसार में दुःख और आपत्तियों के सिवाय और कुछ नहीं मिल पाता। जो इस जगत के स्वामी को अपना माता-पिता मानेगा, उसकी आज्ञा में चलेगा, उसे हर प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करेगा, वही उत्तराधिकारी बनेगा और संसार का वैभव पायेगा। संसार का सारा वैभव हमारे पिता का है—जब यह विश्वास हृदय में जम जायेगा तो पुत्र भाव रखने वाला आस्तिक उस अतुल वैभव को अपना अनुभव करने लगेगा। उसे गरीबी, अभाव, दरिद्रता अथवा दुःख का अनुभव ही न होगा। जब सांसारिक राजा, रईसों के लड़के अपने आपको सम्पन्न और सन्तुष्ट अनुभव करते हैं और पिता के बल पर संसार में निर्भय होकर विचरते हैं, तब भला उस सर्वशक्तिमान् को अपना पिता मानने वाला क्यों तो किसी से डरेगा और क्यों अपने को विपन्न मानकर दुःखी होगा ?

ईश्वर मनुष्य के भाव के अपुरूप ही अपना भी भाव बनाता है। जो उसमें पिता का भाव रखता है, वह बदले में उसकी ओर से पुत्र का

भाव पाता है। अब ऐसा कौन-सा पिता होगा जो अपने पुत्र को अपनी सम्पदाओं से वंचित रक्खेगा अथवा उसे विपत्ति में पड़ा रहने देगा ? वह तो उसका हर प्रकार से लालन-पालन करेगा और हर प्रकार से आपत्तियों से बचायेगा। ऐसे परम दयालु पिता का उपकार न मानना बहुत बड़ा पाप है।

संसार की इस लम्बी जीवन-यात्रा को एकाकी पूरा करने के लिए चल पड़ना निरापद नहीं है। इसमें आपत्तियाँ आयेंगी, संकटों का सामना करना होगा। निराशा और निरुत्साह से टक्कर लेनी होगी। इन सब बाधाओं और दुःखदायी परिस्थितियों से लड़ने के लिए एक विश्वस्त साथी का होना बहुत आवश्यक है। वह साथी ईश्वर से अच्छा कोई नहीं हो सकता। उसे कहीं से लाने-बुलाने की आवश्यकता नहीं होती हैं। वह तो हर समय, हर स्थान पर विद्यमान् है। एक अणु भी उससे रहित नहीं है। वह हमारे भीतर भी बैठा हुआ है। किन्तु हम अपने अहंकार के कारण उसे जान नहीं पाते। उसी प्रकार जैसे किसी के घर में बड़ा भारी खजाना छिपा पड़ा हो और वह उसे अज्ञानवश न जान सके। जब किसी को अपनी सम्पत्ति का पता हो जाता है, तो वह उसे खर्च भले ही न करे तब भी उसे उसके बल पर एक सम्पन्नता, एक विश्वास और एक बल अनुभव होता रहता है। जो अन्तस्थ ईश्वर का विश्वास पा लेता है, समझ लेता है कि वह सर्व शक्तिमान् हर समय उसके हृदय में विराजमान् है, उसके साथ रहता है उसे एक बड़ा आनन्ददायक आत्म-विश्वास बना रहता है। फिर उसे न किसी से भय लगता है और न वह किसी प्रकार की कमी अनुभव करता है। वह स्वयं ही अपने उस विश्वास के बल पर हर परिस्थिति से टक्कर ले लेता है, प्रायः रो, कलपकर ईश्वर को पुकारने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

ईश्वर हमारा महान् उपकारी पिता है वह हमारा स्वामी और सखा भी है। हमें उसके प्रति सदा आस्थावान् रहना चाहिए और आभारपूर्वक उसके उपकारों को याद करते हुए उसके प्रति विनम्र एवं श्रद्धालु बना हरना चाहिये। इसमें हमारा न केवल सुख ही निहित है बल्कि लोक-परलोक दोनों का कल्याण भी।

ईश्वर है या नहीं !

कई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और कहते हैं—इस सृष्टि को बनाने एवं चलाने वाली कोई चेतन सत्ता नहीं है। प्रकृति के परमाणु अपने आप अपना काम करते हैं और उसी से जीवों का जन्म-मरण होता रहता है। वे आत्मा की सत्ता को भी नहीं मानते और कहते हैं कि पेड़-पौधों की तरह मनुष्य भी एक बोलने वाला पौधा मात्र है। वह रज-वीर्य के संयोग से जन्मता और रोग एवं बुढ़ापे की क्रिया से मर जाता है।

यह नास्तिकवादी विचारधारा दिन-दिन अधिक तेजी से बढ़ रही है। विज्ञानवेत्ताओं को अपनी प्रयोगशालाओं में ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण किन्हीं यन्त्रों, दुर्बीनों या खुर्दबीनों से नहीं मिल सका है। इसलिए वे यही कहते हैं कि वैज्ञानिक प्रमाणों के अभाव में इस ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन नहीं कर सके। विज्ञान की वर्तमान मान्यताओं को ही सब कुछ मानने वाले लोगों को इससे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है।

ईश्वर की मान्यता से नीति धर्म और सदाचार के बन्धनों से रहने के लिए मनुष्य को विवश होना पड़ता है। उच्छ्रंखलतावादी ईश्वर की मान्यता रखने पर भी धर्म-कर्म के बन्धनों को तोड़ते रहते थे। अब उन्हें कम्युनिज्म और विज्ञान का समर्थन मिल जाने से और भी अधिक छूट मिलती है। इस प्रकार उच्छ्रंखलता और अनैतिकता का मार्ग और भी अधिक प्रशस्त हो जाता है। यह मान्यताएँ यदि इसी प्रकार बढ़ती और पनपती रही तो नैतिकता धर्म और सदाचार के लिए एक विश्व-व्यापी संकट खड़ा होने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अनीश्वरवादी के तर्कों का परीक्षण किया जाय और यह देखा जाय कि उनके कथन में कुछ सार भी है या नहीं ?

अनीश्वरवादियों का कथन है कि—प्रकृति के जड़ परमाणु अपने आप अपनी धुरी पर घूमते हैं, बदलते और हलचल करते हैं, उसी से सृष्टि

का क्रम चलता है तथा प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की इसमें कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इस कथन पर विचार करते हुए हमें देखना होगा कि क्या चेतना की प्रेरणा बिना जड़ पदार्थों में एक क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित गति-विधि निरन्तर चलते रहना सम्भव हो सकता है ? देखते हैं कि कोई रेल, मोटर, जहाज मशीन, अस्त्र आदि कितना ही महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली क्यों न हो, उसे दिलाने के लिए चालक की बुद्धि ही काम करती है। राकेट से लेकर उपग्रह तक स्वचालित यन्त्र तभी अपनी सक्रियता जारी रख पाते हैं, जब रेडियो सक्रियता के माध्यम से मनुष्य उन्हें किसी दिशा विशेष में चलाते हैं। चालक के माध्यम से मनुष्य उन्हें किसी दिशा विशेष में चलाते हैं। चालक के अभाव में अपनी इच्छा और शक्ति से आदि वस्तुएँ अपने आप ही चलने और काम करने लगें तो फिर जड़ ही क्यों कहा जाय ?

मशीन से सम्बन्धित जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सभी चालक की अपेक्षा रखती हैं। संचालन करने एवं प्रयोग करने वाला न हो तो वे महत्वपूर्ण होते हुए भी किसी के कुछ काम नहीं आती। इससे प्रगट होता है कि जड़ पदार्थ किसी संचालक की प्रेरणा से ही सक्रियता धारण करते हैं। विशाल सृष्टि से कार्यक्रम में जो सक्रियता, नियमितता और व्यवस्था दीख पड़ती है, उसके पीछे भी चेतन सत्ता का हाथ होना आवश्यक है। इतना बड़ा सृष्टि-साम्राज्य अपने आप इतने विवेकपूर्ण ढंग से नहीं चल सकता। हवा को चलाने वाली बादलों को बरसाने वाली, नदियों को बहाने वाली, ऋतुओं को बदलने वाली, पौधों को उगाने और सुखाने वाली, कोई शक्ति मौजूद है—यह मानना पड़ेगा। इसे प्रकृति कहें या परमेश्वर इस नाम-भेद से कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

पदार्थों में क्षमता मौजूद भले ही हो, पर उसे गतिशील बनाने वाली एक प्रेरक शक्ति का भी पृथक् से अस्तित्व मौजूद है। अणु अपनी धुरी पर अपने आप नहीं घूमते उन्हें घुमाने वाली भी कोई प्रेरक शक्ति होनी ही चाहिए। इतने नियमबद्ध, इतने विशाल विश्व ब्रह्माण्ड का ठीक प्रकार संचालन होते रहना किसी चैतन्य-सत्ता के द्वारा ही सम्भव है। बुद्धिहीन जड़ पदार्थ अपने आप अपना कार्य नियमपूर्वक करते रहेंगे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? सूर्य, चन्द्रमा ग्रह-नक्षत्र अपनी-अपनी धुरी तथा कक्षा में निर्धारित गति से घूमते हैं। यदि इसमें तनिक भी अन्दर आ जाय तो एक ग्रह दूसरे से टकराकर टूटने लगें और इसकी प्रतिक्रिया से अन्य ग्रह नक्षत्रों की भी गति व्यवस्था बिगड़ जाय। पर होता ऐसा नहीं, क्योंकि इन सबका संचालन एक सावधान सत्ता द्वारा हो रहा है।

जो भी वस्तुएँ हमारे उपयोग में आती हैं वह किसी न किसी के द्वारा बनाई हुई होती है। रोटी, कपड़ा, दवा मकान, चारपाई, बर्तन, लालटेन पुस्तक, घड़ी आदि हमारे उपयोग की सभी चीजें किसी के द्वारा बनाई गई हैं। इनके मूल पदार्थ—अन्न, धातु, कपास आदि को तथा उनके भी मूल पंचतत्वों को बनाने वाला भी कोई होना ही चाहिये। इसी निर्मात्री और संचालन शक्ति का नाम ईश्वर है।

विश्व का संचालन और नियन्त्रण करने वाली कोई विचारशील सत्ता है, उसका अनुमान उसकी कृतियों को ध्यानपूर्वक देखने से सहज ही लग जाता है। जिस प्राणी को जिस परिस्थिति में उत्पन्न किया है, उसके अनुकूल ही साधन भी दिये हैं। माँसाहारी जीवों के दाँत और नाखून ऐसे बनाये हैं कि शिकार को पकड़ और फाड़कर खा सकें। इसी प्रकार शाकाहारी जीवों को उसी व्यवस्था के अनुरूप खाने और पचाने के यन्त्र मिले हैं। ठण्डे बर्फीले प्रदेशों में रहने वाले जानवरों के शरीर पर बड़े-बड़े बाल गर्म भूमि पर के शरीर उष्णता सहन करने की क्षमता-सम्पन्न होते हैं।

प्राणियों के शरीर में खाद्य पदार्थों को रक्त माँस के रूप में परिणित करते रहने वाली पाचन प्रणाली ऐसी आश्चर्यजनक है कि उसकी रासायनिक क्षमता देखते ही बनती है। रोगों को निरोधक शक्ति स्वयं ही बीमारियों से लड़ती और रोगमुक्ति का साधन बनती है। चिकित्सकों के उपचारों द्वारा उसे थोड़ी सहायता ही मिलती है। इस प्रक्रिया की आश्चर्यजनक शक्ति को देखते हुए वैज्ञानिकों को दाँतों तले उँगली दबाकर रह

जाना पड़ता है। शरीर में लगा हुआ एक-एक कल-पुर्जा इतना संवेदनशील और अद्‌भुत कारीगरी से भरा हुआ है कि उसे अपने आप बना हुआ, अपने आप काम करने वाला सही माना जा सकता।

प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश की प्रक्रिया में सन्तुलन रहना एक ऐसा तथ्य है, जिसे किसी विचारवान् सत्ता का ही कार्य कहा जा सकता है। विभिन्न प्राणी अपनी सन्तानोत्पत्ति बड़ी तेजी से करते हैं। मनुष्य चार-छः बच्चे तो साधारण पैदा कर ही लेता है। सुअर और कुत्ते तो अपने जीवन काल में सौ-पचास बच्चे पैदा करते हैं। मक्खी, मच्छर, मछली, चीटीं दीमक आदि तो कई-कई सौ अण्डे देती हैं। मुर्गी को ही देखिए, वह अपने जीवन काल में कई सौ अण्डे देती होगी। यह उत्पादन-क्रम विश्व के लिए एक संकट सिद्ध हो सकता है। यदि एक प्राणी की भी यह वंश-वृद्धि निर्बाध गति से चले तो उसके बच्चे ही इस सारी धरती पर कुछ ही वर्षों में छा जावें और अन्य प्राणियों को खड़े रहने के लिए भी जगह न बचे पर कोई सूक्ष्म सत्ता इस वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिए रोग, युद्ध, दुर्भिक्ष, अभाव आदि पैदा करती रहती है और वे सीमित संख्या में उतने ही बने रहते हैं, जितने के लिए धरती पर गुंजायश है। यदि ऐसा न होता तो करोड़ों वर्षों से चले आ रहे जीवधारी अब तक इतने हो गये होते कि उन्हें अन्य लोकों में भेजने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहता।

जिस ऋतु में जो रोग होता है, उसको शमन करने वाली जड़ी-बूटियाँ भी उसी ऋतु में होती हैं। फल, शाक और अन्नों के बारे में भी यही बात है। ऋतु की आवश्यकता के अनुसार ही पृथ्वी में से वनस्पति और फल-फूल पैदा होते हैं। जहाँ के निवासियों को वहीं की जलवायु और अन्न, शाक, औषधि अनुकूल पड़ती है। यह कार्य किसी विचारवान शक्ति का ही हो सकता है।

नियन्त्रण और सन्तुलन की यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया अपने आप होती रहे, ऐसा सम्भव नहीं। इसके पीछे कोई विचारशील चेतन सत्ता ही काम करती है। उस ज्ञानवान चित्तशक्ति को ईश्वर नाम दिया जाता है। उसके अस्तित्व से इन्कार करना, दिन रहते सूरज को न मानने जैसा दुराग्रह ही कहा जायेगा।

ईश्वर और उसकी अनुभूति

इस संसार में रहते हुए मनुष्य सफलताओं के लिए नाना प्रयत्न करता है किन्तु उसकी निजी इच्छायें प्रायः परिस्थितियों की परतन्त्रता के कारण पूर्ण नहीं होती। उद्योग करने से भी अभीष्ट लाभ नहीं होता तो भाग के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है, जिससे मनुष्य-जीवन की अवधि अपरिमित-सी दिखाई देने लगती है। जीवन की अमरता और उसकी परतन्त्रता—इन दो वस्तुओं पर विचार करने के उपरान्त हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि एक शक्ति ऐसी भी है, जो इस सृष्टि का नियमन करती है। बालक का जन्म होता है तथा सामान्य मनुष्य उसे एक सामान्य संयोग मानकर सांसारिक प्रपंचों में लग जाते हैं, किन्तु विचारवान् व्यक्ति के लिए यही सबसे महत्वपूर्ण घटना भी हो सकती है। हाड़-माँस के इस छोटे-से पिण्ड का गर्भ स्थान जैसी अपर्याप्त जगह में किस तरह पालन-पोषण होता है ? किस तरह वह सांस ग्रहण करता होगा ? कहाँ से प्रकाश मिलता होगा ? रस, रक्त आदि का संचालन किस तरह होता होगा ? माँस के कटघरे में आबद्ध जीव के लिए इतनी कठिन व्यवस्थाओं पर विचार करने से हैरत में रह जाना पड़ता है लगता है कोई अदृश्य शक्ति ही इस संसार के भाग्य और परिस्थितियों का निर्माण करती रहती है।

सब कुछ चमत्कार-सा लगता है, पर सत्य। अपने अन्दर की खोज करते हैं तो केवल हाँड़-माँस, रक्त मल-मज्जा को ही सार-भूत पाते हैं। इससे भी उच्चतर किसी चेतन तत्व का अभास होता है। यह अन्तर्बोध कहाँ से आया ? यह प्रश्न बार-बार उठता है, ईश्वर की धारणा को अस्तित्व में मान लेने से ही सन्तोष नहीं होता। उसकी खोज भी करनी पड़ती है। इसके लिए ध्यान निजत्व पर टिकता है। अपने आपको जानने से सम्भवतः ईश्वर विषयक ठोस निष्कर्ष निकले, यह समझकर सारा ध्यान अन्तर्चेतना पर जमा देते हैं तो उसकी स्थिति के साथ-साथ

किसी प्रेरक सत्ता का ज्ञान होता है। ईश्वर का अस्तित्व स्पष्ट नजर आने लगता है। उसकी सत्ता का अनुभव जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही होने लगता है। ध्यानपूर्वक देखने से प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक प्राणी में ईश्वरता और उसकी समर्थता प्रकट होती है।

सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पहाड़, नदियाँ, पशु-पक्षी और इनसे सम्बन्धित अनेक क्रियायें—भरण-पोषण उत्पादन संरक्षण आदि में उप सर्वव्यापक सत्ता का ही हस्तक्षेप कार्य कर रहा दिखाई देता है। इसे प्रकृति या निसर्ग कहकर टाला नहीं जा सकता, क्योंकि प्रकृति अपने आप में अपूर्ण है। वह स्वतः प्रगतिशील नहीं है। जहाँ भी क्रियाशीलता दिखाई देती है। वही प्रकृति के साथ-साथ विश्व-चेतना का भी प्रादुर्भाव दिखाई देने लगता है।

महात्मा टालस्टाय ने लिखा है, "मैने पहले अधिक तर्कों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहा किन्तु उनसे बोध न हुआ, पर इससे एक बात मेरी समझ में आई कि संसार का कारण देश या काल की भाँति कोई वस्तु नहीं है। यदि 'मैं' हूँ तो इसका कारण भी कुछ जरूर होगा। यह कारण किसी आदि कारण पर आधारित होंगे। सम्पूर्ण सृष्टि का जो मूल कारण होगा उसे ही लोगों ने ईश्वर कहा है। यह विचार मुझे पसन्द आ गया और इसे ही समझने में अपनी सारी चेष्टा लगा दी। इन प्रश्नों के सुलझाने में मैं जितना ही उलझता गया उतना ही एक बात मेरी बुद्धि में स्थिर होती गई कि ईश्वर सृष्टा है, वही संसार का पालन करता है। इस विश्वास ने मेरी क्षुद्रता प्रकट कर दी। तब से मैं निरन्तर परमेश्वर से ही प्रार्थना किया करता हूँ 'प्रभो ! मुझे शक्ति दो, ज्ञान दो ताकि मेरे जीवन की गति रुकने न पाये।"

नास्तिकता और अज्ञेयवाद के झूँठे वितण्डावादों की अपेक्षा घटनाओं की विद्यमानता अधिक वलवतर है। हमारी अन्तर्चेतना यह सिद्ध करती है कि कोई समष्टि मत इस विश्व में अवश्य विद्यमान है, जो सारे संसार को एक क्रम व्यवस्था से चलाता रहता है। यह प्रकृति की तरह जड़ नहीं है। स्वार्थी या कठोर भी नहीं है प्रस्तुत अनन्त शक्तिशाली, सर्वज्ञानी तथा प्रेम स्वरूप है। यह सत्ता न होती तो मनुष्यों के हृदय में प्रेम की अजस्र सत्ता कहाँ से आती ? सौन्दर्य की आध्यात्मिक आकांक्षा का उदय उस परम सुन्दर की अनुभूति का अंग ही तो है। इन सिद्धान्तों का खण्डन किसी भी तरह नहीं किया जा सकता। चेतना का नियमन करने वाली कोई कारण सत्ता है जरूर।

प्रेम और सौन्दर्य की तरह प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान की जो स्फूर्ति हुआ करती है, वह भी तो परमात्मा के प्रकाश की ही स्थिति है। जागृत अवस्था में, प्रत्येक वस्तु जिस तरह व्यवहृत होती है, उसका ठीक वैसा ही आकार-प्रकार डोल-ढाँचा मस्तिष्क में बनता बिगड़ता रहता है। सुप्त अवस्था में भी एक अहं भावना कार्य किया करती है, जिसको प्रत्येक गतिविधि का आभास निद्रा टूट जाने के बाद भी होता रहता है, इससे क्या ज्ञान की अविरलता का बोध नहीं होता ? यह ज्ञान आखिर कहीं से प्रभासित ही हुआ होगा ? उसका भी कुछ न कुछ अस्तित्व होगा ? यह विचार यदि अविचल भाव से चलते रहें तो अन्त में हम ईश्वरीय-अस्तित्व की परिधि में ही पहुँचेगे। वही सर्वत्र अपनी चेतना का प्रकाश फैला रहा है, इस विकास के साथ ही अपना ज्ञान परिपूर्ण बनता है।

हर तरफ से टकराकर मनुष्य बार-बार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बिना किसी कारण के इस संसार का निर्माण हो नहीं सकता। बिना किसी हेतु के मनुष्य का यहाँ आगमन सम्भव नहीं है। इस बात को कहाँ तक टाला जा सकता है ? किसी ने हमें जन्म दिया है, हमारा लालन-पालन किया है, हमें प्रेम किया है। मनुष्य की निजी इच्छायें परवश है। वह प्रत्येक कार्य को गुजरने के लिए पूर्ण क्षमतावान् नहीं है। फिर उसके पास मानवीय सन्देह शंकाओं का समाधान शक्ति भी तो नहीं है। ऐसी अवस्था में इसे कोई कब मानेगा कि मनुष्य का जन्म प्रकृति का कार्य है। प्रत्येक कार्य ठीक विधि-व्यवस्था पर चल रहा है अतः उसका संचालन कर्त्ता भी निःसन्देह हमारे मन की तरह ही विचारपूर्ण होना चाहिये।

ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास कर लेने से सदैव उसकी पुष्टि होती है। भारतीय तत्व-वेत्ताओं ने गहन अनुसन्धान के बाद सबसे पहला आदेश यही दिया है। 'ईश्वर पर विश्वास करो' और इस संसार को ही उसके होने का प्रमाण समझो। विश्वास बना लेने के बाद मनुष्य की चेतना अन्तर्मुखी हो जाती है, फलस्वरूप तर्क और अविश्वास की छाया अपने आप हटने लगती है और मनुष्य पूर्ण प्रकाश की ओर शनैः-शनैः बढ़ने लगता है। सिद्धि प्राप्ति के तुरन्त बाद ही 'ईश्वर पर विश्वास करो' का सर्व-निश्चयात्मक आदेश प्रामाणिक कहा जा सकता है क्योंकि उन महापुरुषों के जीवन से हमें दिव्यता, असीमता और पूर्णता का आभास मिलता है। सभी कालों और देश के मनुष्यों ने परमात्म-सत्ता को माना है। ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, अन्तरिक्ष, आकाश सूर्य-चन्द्रमा में सर्वत्र उसी के प्रकाश का बखान किया है। जिन वेदान्तियों तार्किक तथा दार्शनिकों ने मानव बुद्धि का यथा साध्य प्रयोग किया है, उन्होंने उसके अस्तित्व को प्रमाणित किया है। योगियों ने उसी अन्तर्ज्योति को अनुभव किया है।

कितने ही विरोध उत्पन्न किये जायँ किन्तु जीवन की चेतनाशीलता के आगे आकर सारे अज्ञेय-विचार समाप्त होने को मजबूर हो जाते हैं। जहाँ मनुष्य को विवशता है, वहीं ईश्वर की स्थिति है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि तथा शक्तियाँ कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पातीं किन्तु गतिविधियाँ बराबर चलती रहती हैं, वहीं परमात्मा विराजमान है। यह तथ्य भुलाया या ठुकराया नहीं जा सकता।

अनेक उपलब्धियों, अन्वेषणों तथा गहन जीवन-दर्शन के परिणामस्वरूप उस परमात्मा को बुद्धि संगत और निश्चित ठहराकर ही महापुरुषों ने उसे जानने की शिक्षा दी है। शास्त्रकार का कथन है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति,

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः,

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।

"अर्थात्—यदि इस जीवन में परमात्मा को जान लिया तो यह जन्म सार्थक हुआ और यदि उसे न जान पाये तो यह निश्चय ही बहुत बड़ी हानि है। बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्येक प्राणी में उसी का दर्शन करते हुए अजर-अमर हो जाते हैं।"

सर्व शक्तिमान परमेश्वर और उसका सान्निध्य

प्रत्येक कर्म का कोई अधिष्ठाता जरूर होता है। परिवार के वयोवृद्ध मुखिया के हाथ सारी गृहस्थी का नियन्त्रण होता है, मिलों-कारखानों की देख-रेख के लिये मैनेजर होते हैं, राज्यपाल-प्रान्त के शासन की बागडोर सँभालते हैं। राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वामी होता है। जिसके हाथ में जैसे विधि-व्यवस्था होती है उसी के अनुरूप उसे अधिकार भी मिले होते हैं। अपराधिक की दण्ड व्यवस्था, सम्पूर्ण प्रजा के पालन-पोषण और न्याय के लिए उन्हें उस अनुपात से वैज्ञानिक या सैद्धान्तिक अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकार न दिये जायें तो लोग स्वेच्छाचारिता, छल-कपट और निर्दयता का व्यवहार करने लगें। न्याय-व्यवस्था के लिए शक्ति और सत्तावान होना उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है।

इतना बड़ा संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक-ठिकाने चल रहा है। सूरज प्रतिदिन ठीक समय से निकल आता है, चन्द्रमा की क्या औकात जो अपनी माहवारी ड्यूटी में रत्ती भर फरक डाल दे, ऋतुयें अपना समय आते ही अपनी ओर लौट जाती हैं, आम का बौर बसन्त में ही आता है, टेसू गर्मी में ही फूलते हैं, वर्षा तभी होती है जब समुद्र से मानसून बनता है। सारी प्रकृति, सम्पूर्ण संसार ठीक व्यवस्था से चल रहा है, जो जरा-सा इधर-उधर हुआ कि उसने मार खाई। अपनी कक्षा से जरा डाँवाडोल हुए कि एक तारे को दूसरा खा गया। जीवन-क्रम में थोड़ी भूल हुई के रोग-शोक, बीमारी और अकाल मृत्यु ने झपट्टा मारा। इतने बड़े संसार का नियामक परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली है। सत्तावान् न होता तो कौन उसकी बात सुनता। दण्ड देने में उसने चूक की होती तो अनियमितता, अस्त-व्यस्तता और अव्यवस्था

हो रही होती। उसकी दृष्टि से कोई भी छुपकर पाप और अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा कठोर है वह। दुष्ट को कभी क्षमा नहीं करता। इसलिये वेद ने आगाह किया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मैदेवाय हिवषाविधेम।।

ऋ० वे १०/१११/४

"हे मनुष्यो ! बर्फ के आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं। दिशाएँ जिसकी भुजायें हैं हम उस विराट् विश्व-पुरुष परमात्मा को कभी न भूलें।"

गीता के **"येन सर्वमिदं ततम्"** अर्थात् "यह जो कुछ है परमात्मा से व्याप्त है" की विषद व्याख्या करते हुए योगीराज अरविन्द ने लिखा है—

"यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा की ही सावरण अभिव्यंजना है। जीव की पूर्णता या मुक्ति और कुछ नहीं भगवान् के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा, प्रेम और आध्यात्मिक सुख में एकता प्राप्त करना तथा भागवती शक्ति के कार्य सम्पादन में अज्ञान, पाप आदि से मुक्त होकर सहयोग देना है। यह स्थिति उसे तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक आत्मा अहंकार के पिंजड़े में कैद है, अज्ञान में आवृत्त है, तथा उसे आध्यात्मिक शक्ति की सत्यता पर विश्वास नहीं होता। अहंकार का जाल, मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार, सुख और दुःख के संघर्ष पाप, पुण्य, अपना, पराया आदि के जटिल प्रपंच सभी मनुष्य में स्थित एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति के बाह्य और अपूर्ण रूप मात्र हैं। महत्ता इसी शक्ति की है, मनुष्य की नहीं, जो प्रच्छन्न रूप में आत्मा में अधिगत है।"

योगिराज के इस सम्बन्ध से तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्त होते हैं। (१) वह जो संसार है परमात्मा से व्याप्त है उसके अतिरिक्त सब मिथ्या है, माया है, भ्रम है, स्वप्न है। (२) मनुष्य को उसकी इच्छानुसार सृष्टि संचालन के लिये कार्य करते रहना चाहिए। (३) मनुष्य में जो श्रेष्ठता-शक्ति या सौन्दर्य है वह उसके दैवी गुणों के विकास पर ही है।

मनुष्य जीवन के सुख और उसकी शान्ति के लिये इन तीनों सिद्धान्तों का पालन ऐसा ही पुण्य-फलदायक है जैसा त्रिवेणी स्नान करना। मनुष्य दुष्कर्म अहंकार से प्रेरित होकर करता है। पर वह बड़ा क्षुद्र पापी है। जब परमात्मा का भार उस पर पड़ती है तो बेहाल होकर रोता-चिल्लाता है। सुख तो उसकी इच्छाओं के अनुकूल सात्विक दिशा में चलने में, प्राकृतिक नियमों के पालन करने में ही है। अपनी क्षणिक शक्ति के घमण्ड में आया हुआ मनुष्य कभी सही मार्ग पर नहीं चलता, इसलिये उसे सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। परमात्मा ने यह व्यवस्था इतनी शानदार बनाई है कि यदि अभी मनुष्य इसका पालन करने लगें तो संसार में एक भी प्राणी दुःखी और अभावग्रस्त न रहे।

ईश्वर उपासना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। नदियाँ जब तक समुद्र में नहीं मिल जातीं, अस्थिर और बेचैन रहती हैं। मनुष्य की असीमता भी अपने आपको मनुष्य मान लेने की भावना से ढकी हुई है। उपासना विकास की प्रक्रिया है। संकुचित को सीमारहित करना, स्वार्थ को छोड़कर परार्थ की ओर अग्रसर होना, "मैं" और मेरा छुड़ाकर "हम" और हमारे की आदत डालना ही मनुष्य के आत्म-तत्व की ओर विकास की परम्परा है। पर यह तभी सम्भव है जब सर्व-शक्तिमान परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लें, उसकी शरणागति की प्राप्ति हो जाय। मनुष्य रहते हुए मानवता की सीमा को भेदकर उसे देवस्वरूप में विकसित कर देना ईश्वर की शक्ति का कार्य है। उपासना का अर्थ परमात्मा से उस शक्ति को प्राप्त करना ही है।

जान-बूझकर या अकारण परमात्मा कभी किसी को दण्ड नहीं देता। प्रकृति की स्वछन्द प्रगति प्रवृत्ति में ही सबका हित नियन्त्रित है। जो इन प्राकृतिक नियमों से टकराता है वह बार-बार दुःख भोगता है और तब तक चैन नहीं पाता जब तक वापस लौटकर फिर उस सही मार्ग पर नहीं चलने लगता है। भगवान भक्त की भावनाओं का फल तो देते हैं किन्तु उनका विधान सभी संसार के लिये एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी जब तक अपने आप की सीमायें नहीं पार कर लेता तब तक अटूट

विश्वास, दृढ़ निश्चय रखते हुए भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। अपने से विमुख प्राणियों को भी वे दुःख-दण्ड नहीं देते। दुःख-दण्ड देने की शक्ति तो विधान में ही है। मनुष्य का विधान तो देश, काल और परिस्थितियों वश बदलता भी रहता है किन्तु उसका विधान सदैव एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी उसकी चाहे कितनी ही उपासना करे—सांसारिक कर्त्तव्यों की अवहेलना कर या दैवी-विधान का उल्लंघन कर कभी सुखी नहीं रह सकते। जैसा कर्म-बीज वैसा ही फल—यह उसका निश्चल नियम है। दूसरों का तिरस्कार करने वाले कई गुना तिरस्कार पाते हैं। पुरषार्थ उसी तरह लौटकर असंख्य गुना सुख पैदा कर मनुष्य को तृप्त कर देता है। सुख और दुःख, बन्धन और मुक्ति मनुष्य के कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। दुष्कर्मों का फल भोगने से मनुष्य बच नहीं सकता। इस विधान में राई-रत्ती भर भी गुंजायश नहीं है।

अशुभ कर्मों का सम्पादन और देह का जड़ अभिमान ही मनुष्य को छोटा बनाये हुए है। शुभ-अशुभ कार्यों के फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता न होने पर भी आत्मा मोहवश होकर दुःख भोगती है। "मैं देह हूँ" "मुझे सारे अधिकार मिलने ही चाहिए" यह मान लेने से जीव स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है और इसी कारण वह 'जीव' कहलाता है। जब तक वह इतनी भी सीमा में रहता है तब तक उसकी शक्ति भी उतनी ही तुच्छ और संकुचित बनी रहती है। जब वह इस भ्रम रूप देहाध्यास का परित्याग कर देता है तो वह शिव-स्वरूप हो जाता है। उसकी शक्तियाँ विस्तीर्ण हो जाती हैं और वह अपने आपको अनन्त शक्तिशाली, अनन्त आनन्द में लीन हुआ अनुभव करने लगता है।

अपनी तुच्छ सत्ता को परमात्मा की शरणागति में ले जाने से मनुष्य अनेकों कष्ट-कठिनाइयों से बच जाता है और संसार के अनेक सुखों का उपभोग करता है। गृहपति की अवज्ञा करके जिस तरह घर का कोई भी सदस्य सुखी नहीं रह सकता उसी प्रकार परमात्मा का विरोधी भी कभी सुखी या सन्तुष्ट नहीं रह सकता। परमात्मा की आवमानना का अर्थ है उनके सार्वभौमिक नियमों का पालन न करना। अपने स्वार्थ, अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिये कोई भी अनुचित कार्य परमात्मा को प्रिय नहीं। इस तरह की क्षुद्र बुद्धि का व्यक्ति ही उसके कोप का भाजन बनता है। पर जो विश्व-कल्याण की कामना से ही अपना कल्याण मानते और तदनुसार आचरण करते हैं, ईश्वर के अनुदान उन्हें इसी तरह प्राप्त होते हैं जैसे कोई पिता सदाचारी, आज्ञा-पालक और सेवाभावी पुत्र को ही अपनी सविधाओं का अधिकांश भाग सौंपता है।

पापों का नाश हुए बिना, इन्द्रियों का दमन किये बिना, अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। संसार में रहते हुए मनुष्य कर्मों से कभी छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। अतः निष्काम कर्मयोग परमात्मा की प्राप्ति और सांसारिक सुखोपभोग का सबसे सुन्दर और समन्वययुक्त धर्म है। निष्काम भावनाओं में पाप नहीं होता वरन् दूसरों के हित की, कल्याण की ओर सबको ऊँचे उठाने की विशालता होती है जिससे अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती है और सुख मिलता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को संसार-समर का योद्धा बनकर ही जीवन-यापन करना चाहिए। वह साहस, वह गम्भीरता और वह कार्य करने की भावना मनुष्य ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म सान्निध्यता में ही प्राप्त करता है।

ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर सांसारिक संयोग-वियोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख मनुष्य को बन्धन में नहीं बाँध पाते। यह कल्पित संसार जीव की अपनी कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है। इसमें घट-बढ़ हुआ ही करती है। और इसमें जीव की ममता होने के कारण इसमें बढ़ती होने पर प्रसन्न होता है और कमी होने पर दुःखी होता है। उदाहरण के लिये—जब परिवार में कोई बच्चा पैदा होता है तो लोग खुशी मनाते हैं पर इससे परमात्मा की सृष्टि में कोई कमी नहीं आई जीव तो अमर है जैसे पहले था वैसे ही अब भी है, केवल पंच भौतिक तत्वों का एक शरीर के रूप में संयोग हुआ। इसी प्रकार कोई मर जाता है तो दुःख मानते हैं पर पहली स्थिति की तरह इस बार भी परमात्मा की सृष्टि में बढ़ोत्तरी नहीं हुई। पंच भौतिक शरीर का वियोग मात्र हुआ। जीव तो

अपने मूल रूप में अब भी विद्यमान है। इस गूढ़ रहस्य को न जानने के कारण ही मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बँधकर तरह-तरह के दुःख भोगता है। अतः कल्याणकामी पुरुष के लिये बादल के समान क्षण-क्षण रंग बदलने वाले विनाश-शील व्यवहारिक जगत में मोह का सम्बन्ध न बाँधकर अविनाशी और अचल परमसता में चित्त को जोड़ देने और लोक कल्याण के लिये निष्काम कर्म करने में ही इस जीवन की सार्थकता है।

सद्प्रेरणायें प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में छिपी रहती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ भी उसी के अन्दर होती हैं। अब यह उसकी अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और विवेक पर निश्चित है कि वह अपना मत देकर जिसे चाहे उसे विजयी बना दे। चित्त का मूल स्वभाव शान्त है, आत्मा आनन्दमय है जो इस अपनी मूल प्रवृत्ति को डिगाता नहीं अर्थात् सद्प्रेरणाओं में स्थिर रहता है, जगत में वही योद्धा अंजेय है, जिसका स्वभाव किसी प्राणी पदार्थ के स्वभाव से अपने शान्त स्थिर चित्त के स्वभाव को चलायमान नहीं होने देता! जगत के प्राणी और पदार्थों में इन्द्रियों के द्वारा जिसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है वह निर्बलता है। उसे अपनी निर्बलता का दण्ड भी भोगना ही पड़ता है। सुख का उपभोग तो यहाँ शक्तिमान सूरमा ही करते हैं।

परमात्मा जितना कृपालु है कठोर भी उससे कम नहीं है। उसकी एक शिव शक्ति भी है जो निरन्तर ध्वंस किया करती है। ईश्वर की आज्ञाओं की जो जानबूझकर अवज्ञा करता है उसे परमात्मा की कठोरता का दण्ड भुगतना ही पड़ता है। संसार की व्यवस्था, गृह, समाज, राज्य या राष्ट्र से भी सर्वोपरि है। अतः गृहपति, राज्यपाल या राष्ट्रपति की तुलना में उसके पास शक्तियाँ अतुल होती हैं। विश्व नियम का प्रजा में पालन कराने वाला परमात्मा बहुत बड़ा है, बड़ा कठोर, बडा शक्तिशाली है। गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है—

कालोऽस्मि लोक क्षय कृत्प्रवृद्धो, लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे, येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।

(गीता ११/३२)

अर्थात्—मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिए हे अर्जुन ! जो यह प्रतिपक्षी सेना है वह तेरे न मारने पर भी जीवित नहीं बचेगी। बिना युद्ध के भी इसका नांश हो जायेगा।

वह परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली, बड़ा बलवान है। उसकी अवज्ञा करके कोई बच नहीं सकता। अतः उसी के होकर रहे, उसी की आज्ञाओं का पालन करें, इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण है।

परमात्मा की अनन्त अनुकम्पा और उसके दर्शन

भगवान् सदा सभी के साथ है, वह घट-घटवासी और सर्वव्यापी होने के कारण जहाँ भी हम रहते हैं यहाँ हमारे साथ ओत-प्रोत सर्वत्र होता है। इस विश्व में तिल-भर भी ऐसा नहीं जहाँ भगवान न हो। हमारी हर साँस के साथ वह भीतर जाता और बाहर निकलता है। रक्त की हर तरंग के साथ वह अंग-प्रत्यंगों पर प्रतिक्षण दौड़ता है, हृदय की हर धड़कन के साथ उसका ताल-वाद्य बजता रहता है। जब हम सो जाते हैं तब भी हमारी चौकसी के लिये जागता है। माता की गोदी की तरह निद्रा की चादर से ढककर वह हमें अपनी छाती से चिपकाकर सुलाया करता है। जब सब ओर से जीव अशान्त और क्लान्त होकर थका हुआ चकनाचूर होता है तो निद्रा के रूप में परमात्मा की गोदी ही उसे विश्रान्ति प्रदान करती है। असमर्थ जीव को चिर निद्रा में सुलाकर क्लोरोफार्म देकर आपरेशन करने वाले और सड़ा अंग काटकर उसकी जगह नया अंग लगा देने वाले कुशल डॉक्टर की तरह वही पुनर्जन्म की व्यवस्था करता है। मृत्यु और कुछ नहीं एक गहरी चिरनिद्रा मात्र होती है।

प्रभु की अनन्त अनुकम्पा को हर घड़ी अनुभव किया जा सकता है। उसके इतने अनन्त अनुदान अपने को प्राप्त हैं कि एक-एक पर विचार करने से ऐसा लगता है मानो सृष्टि की सारी विभूति उसने अपने ही लिए बनाकर रख

दी है और वस्तु का मनमाना उपयोग करने की पूरी-पूरी छूट दी गई है। इठलाकर बहती हुई नदियाँ, शान्ति से किलकते हुए सरोवर, मधुर मुसकाते हुए पुष्प, चहकते हुए पक्षी, उमड़कर, घुमड़कर गरजते-बरसते बादल, लहलहाती हरियाली, आकाश चूमने वाले पर्वत, जिधर भी दृष्टि डाली जाय उधर ही प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य बिखरा पड़ा है और हर कोई मनचाही मात्रा में उसका पूरा-पूरा निर्बाध रसास्वादन करने को स्वतन्त्र है।

जो शरीर हमें मिला है उसका एक-एक कल-पुर्जा ऐसा कीमती है कि विज्ञान की उन्नति के इस युग में भी वैज्ञानिक लोग करोड़ों रुपया खर्च करके भी वैसे पुर्जे नहीं लगा सकते जैसे इस देह में लगे हैं। आँखें जैसा स्पष्ट देखती हैं वैसा कैमरा कोई अब तक नहीं बना सका। मस्तिष्क की रचना ऐसी विलक्षण है कि उसके सूक्ष्म विद्युत संस्थान की छोटी-छोटी गतिविधियों को समझने का प्रयत्न करने मात्र में मानव बुद्धि थक जाती है। हाथ, पाँव, पाचन संस्थान, स्वाँस संस्थान, रक्त संस्थान, मल विसर्जन संस्थान की रचना और उपयोगिता ऐसी आश्चर्यजनक है कि उस वैज्ञानिक की, उस कलाकार की कृति को निहारते-निहारते यही लगता है कि इस रचनाकार की मानव शरीर में हुई अद्‌भुत रचना प्रक्रिया को समझ सकना भी कठिन है। समझने की आवश्यकता भी नहीं।

इस मानव शरीर में सुख-सुविधायें प्राप्त हैं उन्हीं का विश्लेषण करें और अन्य जीव-जन्तुओं की तुलना में उनको श्रेष्ठता का अनुभव करें तो मन कृतज्ञता से भर जाता है। परमात्मा के अनन्त अनुदान पर संतोष व्यक्त करें और प्रभु का आभार मानें तो यह सारा जीवन इस एक कार्य को पूरा करने में भी पर्याप्त नहीं हो सकता। बाह्य जीवन में जो उपलब्धियाँ हमें प्राप्त हैं वे अद्‌भुत हैं। बोलने की, लिखने की, पढ़ने की, सोचने की जो विशेषता जितनी मात्रा में किसी भी जीव को नहीं मिल सकीं वह हमें प्राप्त हैं। यह रचना उसकी कैसी मंगलमय व्यवस्था है कि उसके सहारे हँसते-खेलते जिन्दगी कट जाती है और जो पुण्य-परमार्थ प्राप्त करना लक्ष्य था वह भी उस छोटी बगीची के सींचने में पूरा हो जाता है। आनन्द और उल्लास का कितना श्रेष्ठ समन्वय परिवार रचना के साथ सम्बन्धित है उस पर विचार करते हैं तो लगता है कि पूरा आनन्दानुभूति का एक बहुत ही मनोरम व्यवस्था-क्रम बनाकर हमारे साथ जोड़ दिया गया है। मनोरंजन की परिपूर्ण व्यवस्था रख दी गई और कर्त्तव्य-पालन एवं आत्म-विकास का भरपूर अवसर उसमें मौजूद है।

संसार की बाह्य परिस्थितियों में भगवान का कैसा कडुआ-मीठा स्वाद सन्निहित किया हुआ है कि एक के सम्बन्ध से दूसरे की महत्ता बढ़ती है। रात का अन्धकार दिन के प्रकाश का महत्व बढ़ाता है और दिन का प्रकाश रात्रि के अन्धकार को श्रेय प्रदान करता है। गरीबी की उपस्थिति से अमीरी का गौरव टिका हुआ है और अमीरी से खिन्न हुए लोग गरीबी—संन्यास की शरण में शान्ति खोजते हैं। रोग से आरोग्य का महत्व समझ में आता है, पाप को देखकर पुण्य की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। दुरात्माओं की उपस्थिति में महात्माओं का सम्मान होता है। यदि सब कुछ एक-सा ही रहा होता—व्यक्ति और परिस्थितियों में अन्तर न रहता तो मनुष्य की सूझ-बूझ का ही कोई महत्व न रहता। वह कुण्ठित पड़ी रहती और जो हलचल चारों ओर दिखाई पड़ती है उसके स्थान पर सन्नाटा छाया होता। जिन बातों को हम परमात्मा की भूल, अकृपा एवं अव्यवस्था समझते हैं उसमें वस्तुतः उसकी सुव्यवस्था सन्निहित रहती है।

जो परिस्थितियाँ हमें अपने लिए प्रतिकूल अप्रिय, अखरने वाली, कष्टकारक लगती हैं उनमें भी परमात्मा का सत्प्रयत्न और सदुद्‌देश्य छिपा रहता है। पढ़ने के लिए ताड़ना करने वाला अध्यापक, सड़े अंग का आपरेशन करने वाला डॉक्टर, उद्‌दण्डता के लिए क्रोध प्रकट करने वाला पिता, अपराध के लिए दण्ड देने वाला न्यायाधीश उन्हें बुरे लगते हैं जिन्हें उनके व्यवहार से कष्ट पहुँचाता है। पर कष्ट पहुँचाना सदा अकृपा में ही नहीं होता। माता को प्रजनन का कष्ट भुगतना पड़ता है पर क्या यह किसी के क्रोध या दुर्वासा का प्रतिफल होता है ? ईश्वर का प्रेम और अनुग्रह कई बार माता के दूध पिलाने की तरह मधुर और कई बार कान

ऐंठने की तरह कडुआ होता है। बालक नहीं माता ही जानती है कि इन दोनों में केवल बालक के कल्याण और सुख का ही ध्यान रखा गया है।

वह परमात्मा हमारे प्रतिक्षण साथ रहते हैं पर उनकी उपस्थिति से जो लाभ मिलना चाहिए उसे कोई विरले ही उठा पाते हैं। घर की जमीन में गढ़ा धन, यदि अपनी जानकारी में न हो तो उससे क्या लाभ मिलेगा ? गले में पड़े हुए हीरे के कण्ठा को यदि हमने काँच जितना ही समझ लिया हो तो उससे क्या लाभ अपने को प्राप्त होगा ? परमात्मा की अपार और अत्यन्त शक्ति एवं अनुकम्पा हर घड़ी अपने साथ है पर उसका परिपूर्ण लाभ उठा सकना अनजानों के लिए कठिन है। जिस जानकारी के आधार पर परमात्मा के सहचर होने पर समुचित सत्परिणाम प्राप्त किया जा सकता है उसे ही सद्ज्ञान या अध्यात्म कहते हैं।

कपड़े के झीने पर्दे की आड़ में बैठे हुए दो व्यक्ति एक दूसरे को देख नहीं सकते यद्यपि वह अनुभव करते हैं कि कोई पर्दे के उधर बैठा है। हम यह तो जानते हैं कि परमात्मा हमारे समीप है, भीतर ही है पर उसकी उपस्थिति से वह आनन्द और लाभ नहीं उठा पाते जो सान्निध्य सहचरत्व से मिलना चाहिये। राजा, रईस, अमीर, अधिकारी, योद्धा, विद्वान, कलाकार आदि श्रेष्ठ लोगों की मित्रता और समीपता से जब लोग बहुत लाभ उठा लेते हैं तो इतने उदार और अनुग्रही परमात्मा के निरन्तर साथ रहते हुए भी कुछ लाभ न उठा सके तो यह अपना दुर्भाग्य ही कहा जायेगा।

अज्ञान का आवरण उस पर्दे के समान है जो पास बैठे हुए व्यक्तियों को भी दूर जैसी स्थिति में बनाए रहता है। जमीन में गढ़ा धन और गले में पड़ा कंठा अज्ञान के कारण ही उपयोग में नहीं आता। अज्ञान इस संसार का एक बड़ा अभाव और दुर्भाग्य है, उसे हटाने के लिए समुचित प्रयत्न किया ही जाना चाहिए।

हम ईश्वर से विमुख न हों

जिन्दगी को ठीक तरह जीने के लिये एक ऐसे साथी की आवश्यकता रहती है जो पूरे रास्ते हमारे साथ रहे, प्यार करे, सलाह दे और सहायता की शक्ति तथा भावना दोनों से ही सम्पन्न हो। ऐसा साथी मिल जाने पर जिन्दगी की लम्बी मन्जिल बड़ी हँसी-खुशी और सुविधा के साथ पूरी हो जाती है। अकेले चलने में यह लम्बा रास्ता भारी हो जाता है और कठिन प्रतीत होता है।

ऐसा सबसे उपयुक्त साथी जो निरन्तर मित्र, सखा, सेवक, गुरु, सहायक की तरह हर घड़ी प्रस्तुत रहे और बदले में प्रत्युपकार न माँगे केवल एक ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर को जीवन का सहचर बना लेने से मञ्जिल इतनी मंगलमय हो जाती है कि यह धरती ही ईश्वर के लोक, स्वर्ग जैसी आनन्द-युक्त प्रतीत होने लगती है। यों ईश्वर सबके साथ है और वह सबकी सहायता भी करता है पर जो उसे समझते और देखते हैं, वास्तविक लाभ उन्हें ही मिल पाता है। किसी के घर में सोना गढ़ा है और उसे यह प्रतीत न हो तो गरीबी ही अनुभव होती रहेगी, किन्तु यदि मालूम हो जाय कि हमारे घर में इतना सोना है, तो उसका भले ही उपयोग न किया जाय, मन में अमीरी का गर्व और विश्वास बना रहेगा। ईश्वर को भूले रहने पर हमें अकेलापन प्रतीत होता है पर जब उसे अपने रोम-रोम में समाया हुआ, अजस्र प्रेम और सहयोग बरसाता हुआ अनुभव करते हैं तो साहस हजारों गुना अधिक हो जाता है। आशा और विश्वास से हृदय हर घड़ी भरा रहता है।

जिसने ईश्वर को भुला रखा है, अपने बल बूते पर ही सब कुछ कहता है और सोचता है उसे जिन्दगी बहुत भारी प्रतीत होती है, इतना वजन उठाकर चलने में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ सामने आने पर भय और आशंका से कलेजा धक-धक करने लगता है। अपने साधनों में कमी दीखने पर भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगता है। पर जिसे ईश्वर पर विश्वास है वह सदा यही अनुभव करेगा कि कोई बड़ी शक्ति मेरे साथ है। जहाँ अपना बल थकेगा वहाँ उसका बल मिलेगा। जहाँ अपने साधन कम पड़ रहे होंगे वहाँ उसके साधन उपलब्ध होंगे। इस संसार में क्षण-क्षण पर प्राणघातक संकट और आपत्तियों के पर्वत मौजूद हैं और उनसे अब तक अपनी रक्षा करता रहा है वह आगे क्यों न करेगा ?

अब तक के जीवन पर यदि हम ध्यान दें तो ऐसे ढेरों प्रसंग याद आ जायेंगे जब चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था और यह प्रतीत होता था कि नाव अब डूबी, पर स्थिति बदली, विपत्ति की घटायें हटीं और सुरक्षा के साधन बन गये। लोग इसे आकस्मिक अवसर कहकर ईश्वर के प्रति अपनी आस्था को भुलाते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि समय-समय पर हमें दैवी सहायता मिलती है और अपने स्वल्प साधन रहते हुए भी कोई बड़ी शक्ति सहायता करने के लिए आ पहुँचती है। कृतघ्नता को हमने अपने स्वभाव में यदि सम्मिलित नहीं किया है तो अपने निज के जीवन में ही अगणित अवसर दैवी सहायता के ढूँढ़ सकते हैं और यह विश्वास कर सकते हैं कि उसकी अहेतुकी कृपा निरन्तर हमारे ऊपर बरसती ही है।

अब तक जिसने समय-समय पर इतनी सहायता की है, जन्म लेने से पहले ही हर घड़ी गरम, मीठे और ताजे दूध के निरन्तर भरे रहने वाले दो-दो डिब्बे जिसने तैयार करके रख दिये थे, माता के रूप में धोबिन, भंगन, डॉक्टर, नर्स, आया तथा मनमाना खर्च और दुलार करने वाली एक चौबीस घण्टे की बिना वेतन की सेविका जिसने नियुक्त कर रखी थी, प्रत्येक अवसर पर जिसकी सहायता मिलती रही है, वह आगे भी मिलेगी ही और अपना भविष्य उज्ज्वल बनेगा ही, यह विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी निराश नहीं हो सकता। उसकी हिम्मत कभी टूट नहीं सकती। आस्तिकता के आधार पर हमारी हिम्मत बढ़ती है और साहसी - शूरवीरों जैसा कलेजा बना रहता है।

निर्भयता का वरदान

डरता वह है जिसे ईश्वर का डर नहीं। जो ईश्वर से डरता है, उसके आदेशों का उल्लंघन नहीं करता, उसे संसार में किसी से भी डरना नहीं पड़ता। संसार की हर वस्तु से डरने और आशंकित रहने का एक ही कारण है। ईश्वर से न डरना, उसकी अवज्ञा करना जो ऐसा नहीं करते, उसे अपना मित्र, सहायक और मार्ग-दर्शक मानते हैं, उन्हें सबसे पहला उपहार निर्भयता का प्राप्त होता है। उन्हें फिर किसी से भी डरना नहीं पड़ता, आपत्तियाँ उसे खिलवाड़ सरीखी दीखती हैं। वस्तुतः इस पुण्य उपवन संसार में डरने का कहीं कारण नहीं है। कागज का डरावना चेहरा पहनकर छोटे बच्चों को डराने का विनोद किया जाता है वैसा ही विनोद कठिनाइयाँ दिखाकर हमारे साथ किया जाता रहता है।

पिता अपने बच्चे को तलवार घुमाकर डराना चाहे तो क्या बच्चा कभी डरता है ? ईश्वर के हाथ में इस संसार की सारी बागडोर है। दीखने वाली कठिनाइयाँ भले ही तलवार जैसी चमकें, उनकी मूँठ तो अपने परम स्नेही के हाथ में है फिर डरने की क्या बात रही। ईश्वर विश्वासी का सोचना इसी ढंग का होता है। डराने वाली घटना उसे खिलवाड़ जैसी लगती है और विषम घड़ियों में भी न तो उसे घबराहट होती है और न परेशानी।

अपना सहायक, पिता-माता, सहायक स्वामी, सखा, भ्राता, सुहृद, परिजन और धन जिसने ईश्वर को मान रखा है उसे किसी को अमीर से, राजाधिराज से अधिक आत्मविश्वास बना रहेगा। राजा – रईसों के लड़के अपने पिता की जरा-सी शक्ति और सम्पत्ति पर गर्व कर सकते हैं तो अनन्त सामर्थ्यों और असीम विभूतियों के स्वामी ईश्वर को जो अपना पिता मानेगा उसे संसार में फैला हुआ सब कुछ अपना ही अनुभव होगा। इतना अतुल वैभव जब अपना-अपने माता-पिता का ही है तब दरिद्रता और गरीबी की बात सोचने का प्रश्न ही नहीं उठता। गरीब वे हैं जो केवल अपनी ही सम्पत्ति को अपनी मानते हैं। ईश्वर को अपने से पृथक् दूर एवं असंबद्ध मानने वाले को ही गरीबी दुख देती है और उसे ही तृष्णा सताती है। जब सब कुछ अपने ईश्वर का ही है तो फिर असन्तोष किस चीज का ? कमी किस बात की ?

रास्ता वह भूलता है जिसे बताने वाला नहीं होता या बताने वाले को एक बात सुनने की जिसे फुरसत नहीं होती। अन्तरात्मा में बैठा हुआ ईश्वर उचित और अनुचित की, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की प्रेरणा निरन्तर देता रहता है उसे जो सुनेगा, उस का महत्व समझेगा और सम्मान करेगा, उसे सीधे रास्ते पर चलने में

कोई कठिनाई न होगी और जो सीधे रास्ते पर चलता है उस लोग में सुख और परलोक में शान्ति की कमी नहीं रहती। यश, प्रतिष्ठा और सम्मान उसके पीछे फिरते हैं। भले ही धन की दृष्टि से वह अमीर न हो पाये पर महत्ता उसके चरणों पर लोटती रहती है। महापुरुषों और नर रत्नों में ही वह गिना जाता है। ईश्वर को जिसने पहचाना और अपनाया, वह नर से नारायण और पुरुष से पुरुषोत्तम बनकर रहता है। सदाचार और कर्त्तव्यपरायणता, आत्म-विश्वास और निर्भयता, आशा और धैर्य, आनन्द और सन्तोष यही सब तो आस्तिकता के चिन्ह हैं। जैसे-जैसे ईश्वर विश्वास बढ़ता है वैसे ही वैसे यह महानताएँ अपने आप उत्पन्न होती जाती हैं। जीवन की सार्थकता और सफलता इन्हीं तत्वों पर तो निर्भर है।

न उपेक्षा करें और न विमुख हों।

ईश्वर की उपेक्षा करने में परमात्मा की कोई हानि नहीं। हमारे भजन ध्यान से उनका कुछ बनता, बिगड़ता नहीं, न उनकी कृपा में इससे कोई अन्तर आता है। वे तो अपने पुत्रों का हित चिन्तन वैसे ही करते रहते हैं जैसे माता-पिता छोटे शिशु का करते हैं। उपेक्षा में हानि अपनी ही है। अकेला जन सदा अखरता है। दूसरे स्वजन सम्बन्धी एक समय तक ही साथ रह सकते हैं। उनका प्रेम भी बदले की प्रक्रिया पर निर्भर रहता है। फिर उनकी क्षमता और उदारता भी उतनी बढ़ी-चढ़ी कहाँ होती है। सबसे श्रेष्ठ और सबसे सस्ता साथी ईश्वर ही हो सकता है। उसकी उपेक्षा करके अपना ही सबसे अधिक अहित होता है। हम उन सब लाभों से वंचित रह जाते हैं जो भगवान के सान्निध्य में रहने से प्राप्त होते थे, हो सकते थे।

गाड़ी दो पहिये से चलती है। अपनी गाड़ी में एक पहिया अपना और एक ईश्वर का लगालें तो जो गति आती है वह एक पहिये से नहीं आ सकती। ईश्वर विहीन जीवन ऐसा ही है जैसा बिना शरीर के प्रेत पिशाच की योनि में विचरण करने वाली आत्मा। उसे अशांति ही मिलती है, असन्तोष, द्वेष, क्लेश में ही ऐसी मनोभूमि जलती और संत्रस्त रहती है। परमात्मा से विमुख होकर हम पाते कुछ नहीं, खोते बहुत हैं। समय रहते इस भूल को सुधार लिया जाय तो ही अच्छा है।

ईश्वरोपासना के सत्परिणाम

श्रृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युता दिवि।। (ऋ. ६-४१-३)

"बलवान् सोम के तेज अभिषव किये जाते समय विद्युत के सामान घूमते और चमकते हैं और सोम का शब्द वर्षा के शब्द के समान ही सुनाई पड़ता है।"

ईश्वर की स्तुति और उपासना मनुष्य के कल्याणर्थ आवश्यक मानी गई है। प्राचीन काल में जितने भी धर्म और मतमतान्तर हैं, उन सब में इसका कोई न कोई विधान पाया जाता है। चाहे ईश्वर को निराकार मानने वालों को देखिये और चाहे साकार वालों को, स्तुति और प्रार्थना की उपयोगिता सब स्वीकार करते हैं। भारतवर्ष में सैकड़ों ही नहीं हजारों ही विभिन्न सम्प्रदाय पाये जाते हैं, जिनके सिद्धान्तों में जमीन आसमान का सा अन्तर है, पर एक बात सब में समान रूप से मिलेगी और वह यही कि वे किसी न किसी रूप में ईश्वर का गुणगान अवश्य करते हैं और उससे अपने कल्याण की प्रार्थना करते हैं। थोड़े से अर्द्धदग्ध लोग विज्ञान का नाम लेकर इस बात का विरोध करने को तैयार हो सकते हैं, पर सत्य बात यह है कि उन्होंने न विज्ञान के मर्म को समझा है और न अध्यात्म क्षेत्र में कदम रखा है। ऐसे लोग प्रायः इधर-उधर की दो-चार बातों को सुनकर मिथ्याभिमानी हो जाते हैं और उसी धुन में अपने से कहीं अधिक अनुभवी और ज्ञान-सागर में प्रविष्ट महापुरुषों के विरुद्ध बकवाद किया करते हैं।

पर उपासना और साधना के लिए एक आवश्यकीय शर्त यह है कि वह सच्चे भाव से चित्त लगाकर की जाय। आजकल जिस प्रकार बहुसंख्यक 'धार्मिक' कहलाने वाले व्यक्ति दुनियाँ को दिखाने के लिये अथवा एक रस्म पूरी करने

के लिए मन्दिर में जाकर दर्शन कर लेते हैं और नियम को पूरा कर लेने के लिए एकाध माला भी जप लेते हैं, उससे किसी बड़े सुफल की आशा नहीं की जा सकती। उपासना और साधना को तभी सच्ची मानी जा सकती है जब कि मनुष्य उस समय समस्त सांसारिक विषयों और आसपास की बातों को भूलकर प्रभु के ध्यान में निमग्न हो जाय। जब मनुष्य इस प्रकार की संलग्नता और एकाग्रता में अपने इष्टदेव की उपासना करता है, तभी वह अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर हो सकता है और तभी वह दैवी कृपा का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसी तथ्य को समझाने के लिए इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जब मनुष्य हृदय और आत्मा से सोम का अभिषव (परमात्मा की उपासना) करता है तब उसे स्वयमेव ईश्वरीय तेज के दर्शन होने लगते हैं और परमात्मा की कृपा अपने चारों तरफ मेह की तरह अजस्र बरसती जान पड़ती है।

संसार में जीवन निर्वाह करते हुए एक साधारण मनुष्य को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है, विपरीत परिस्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है, विरोधियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है और लोगों की भली-बुरी सब प्रकार की आलोचना को सहन करता है। इससे उसके जीवन में स्वभावतः उद्वेग, अशान्ति, भय, क्रोध आदि के अवसर आते हैं जिसका उस पर न्यूनाधिक परिमाण में प्रभाव पड़ता है और वह जीवन में मानसिक अशांति-कष्ट का अनुभव करने लगता है। ऐसा मनुष्य अपने कष्टों के निवारणार्थ और मन तथा आत्मा की शान्ति के लिए परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है, मन, वचन और कर्म से उसकी उपासना में संलग्न होता है, तो उसकी अनास्था में आस्था परिवर्तित होने लगती है। साधना में अग्रसर होकर वह अपने चारों ओर परमात्म-शक्ति की क्रीड़ा अनुभव करता है और यह समझने लगता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह उस प्रभु की प्रेरणा और इच्छा का ही फल है तथा वह जो कुछ करता है उसका अन्तिम परिणाम जीव के लिये शुभ होता है, चाहे वह तत्काल उसे न समझ सके, तब उसकी व्याकुलता और अशांति दूर होने लगती है और उसे ऐसा अनुभव होता है मानो ग्रीष्म ऋतु से व्यथित, श्रान्त, क्लान्त व्यक्ति को शीतल और शान्तिदायक वर्षा-ऋतु प्राप्त हो गई। मनुष्यों ने अपनी भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए तरह-तरह की साधनायें निकाली हैं। धन, सन्तान, वैभव, सम्मान, प्रभाव, विद्या, बुद्धि आदि की प्राप्ति के लिए लोग भाँति-भाँति के उपायों का सहारा लेते रहते हैं, जिनसे उनको अपनी योग्यतानुसार कम या अधिक परिमाण में सफलता भी प्राप्त होती है। पर आत्मिक शान्ति प्राप्त करने, सांसारिक तापों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न कामनाओं का मोह त्यागकर सच्चे हृदय से परमात्मा का आश्रय ले और शुद्ध भाव से उसकी स्तुति और प्रार्थना करे। हमें स्मरण रखना चाहिये कि सब प्रकार की कामनाओं को पूरा करने वाला भी वास्तव में भगवान ही है। इसलिये अगर हम उसकी कृपा प्राप्त करके आत्मिक शान्ति प्राप्त कर लेंगे तो हमारी अन्य उचित कामनायें और आश्यकतायें अपने आप ही पूरी हो जायेंगी।

कितने ही मनुष्य इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालेंगे कि परमात्मा के ध्यान में लीन होने से मनुष्य की कामनायें शान्त हो जायेंगी, उसमें संसार के प्रति विरक्तता के भाव का उदय हो जायेगा और इस प्रकार वह आत्म-सन्तोष का भाव प्राप्त कर लेगा। इस विचार में कुछ सच्चाई होने पर भी यह ख्याल करना कि परमात्मा की उपासना का सांसारिक कामनाओं की पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, ठीक नहीं है। एक अन्य वेद मन्त्र में कहा गया है कि—"अपमिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावतम्।" भगवान का धन कभी न रुकने वाला है। वह उसके उपासकों को इस प्रकार प्राप्त होता हैं जिस प्रकार नीचे की ओर बहता हुआ जल।' वर्तमान समय में भी अनेकों ऐसे व्यक्ति हो चुके हैं जो बहुत साधारण विद्या-बुद्धि के होते हुए भी परमात्मा के भरोसे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं और जो अपने और दूसरों के बड़े-बड़े कार्यों को सहज में ही पूरा कर देते हैं। हम अपने प्राचीन ग्रन्थों में सन्तों, तपस्वियों और भक्तों के जिन चमत्कारों का वर्णन पढ़ते हैं उनसे तो यह बात स्पष्ट

दिखलाई पड़ती है कि ईश्वर की सच्चे हृदय से उपासना करने वालों को किसी सांसारिक सम्पदा का अभाव नहीं रहता।

मन्त्र में यह भी कहा गया है कि परमात्मा के उपासक को उसके तेज के भी दर्शन होते हैं। विचार किया जाय तो वास्तव में यही उपासना के सत्य होने की कसौटी है। जो कोई भी एकाग्र चित्त से और तल्लीन होकर परमात्मा का ध्यान करेगा उसे कुछ समय उपरान्त, उसके तेज का अनुभव होना अवश्यम्भावी है। यह तेज ही साधक के अन्तर को प्रकाशित करके उसकी भ्रान्तियों को दूर कर देता है और उसे जीवन के सच्चे मार्ग को दिखलाता है। इसी प्रकार से मनुष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी बनता है और सब प्रकार की भव-बाधाओं को सहज में पार कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।

जीवन को भव्य बनाने वाली, ब्रह्म विद्या

ईश्वर उपासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन निर्माण में किस प्रकार होता है इसको समझने के लिये आत्मा के स्वरूप और उसका परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह जानना बहुत जरूरी है। जब मनुष्य अपने आपको शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक देखता है और आत्मिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करता है तो उसकी बुद्धि में एक नये ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है। वह समझता है कि यह इन्द्रियाँ, यह शरीर आत्मोत्थान के महत्वपूर्ण साधन मात्र हैं अतः इनका सदुपयोग भी करना चाहिए। पर इनके विषय में आसक्त न होना चाहिए। इस प्रकार की धारणा जब तक नहीं बन जाती तब तक मनुष्य को विचार-विभ्रम होता रहता है, पर जैसे ही इस प्रकार की निश्चायात्मक बुद्धि बनी कि यह शरीर तो कोई नष्ट हो जाने वाली वस्तु है वहीं मृत्यु का भय छूट जाता है। भय और प्रलोभनों से मुक्त होना अथवा आत्मा के स्ववश होना ही जीवन-मुक्ति है इसी का नाम ब्रह्म-विद्या है।

वेद और उपनिषदों में जो ज्ञान संग्रहीत है उससे मालूम पड़ता है कि ऋषियों ने इसी विद्या के प्रकाश में अनन्त ऐश्वर्यशाली परमात्मा का साक्षात्कार किया। मनुष्य के साथ उस परमात्मा का क्या सम्बन्ध है, इसे भी स्थान-स्थान पर प्रकट किया है। परम्परा, प्रतिपादन पद्धति तथा ज्ञातव्य आदि के भेद से इन वर्णनों में अनेकरूपता तो है, पर उनमें विरोधाभास नहीं है। कुछ अंश तो एक-दूसरे के पूरक हैं, कुछ में केवल साधना पद्धति की भिन्नता है, तथापि ब्रह्म विद्या के इन अनेक रूपों के अन्तस्तल में स्वरूपगत एकता बनी हुई है। ब्रह्म की शक्ति और उसके जीवन को भव्य बनाने के सम्बन्ध में उनमें कहीं भी मतभेद नहीं है। परमात्मा की उपासना चरित्र-निर्माण का अत्यन्त आवश्यक अंग है, यह बात सब स्वीकार करते हैं।

परमात्मा की दिव्य-शक्ति का अवतरण मनुष्य के जीवन में किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध में ऋषियों की सैद्धान्तिक मान्यता यह है—

या आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासतेप्रशिषं यस्य देवाः यस्यच्छाया अमृतयस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविया विधेम।। —यजु. २५/१/६

"यह परमेश्वर उपासनीय है क्योंकि उसके चिन्तन से मनुष्य को आत्मा के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। आत्म-ज्ञान उसके अन्दर महाबल पैदा करता है। सारे विश्व में उसका महत्व आच्छादित है पर उसे पाते वही हैं जो उसके प्रशासन में रहते हैं अर्थात् उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।"

ब्रह्मविद्या का सम्पूर्ण गूढ़ तत्व इस मन्त्र में निचोड़कर रख दिया है। यह सच बात है कि जब तक लोगों में ऐसा विश्वास या जिज्ञासा नहीं पैदा होती कि इस विश्व का अन्तिम निर्णायक कोई परमेश्वर है तब तक वे केवल सांसारिक कर्मों में, लौकक और भौतिक सुखों की उपलब्धि में ही लगे रहते हैं ईश्वर की बात और उसके अस्तित्व पर विश्वास होते ही भौतिक दृष्टिकोण का एकाएक विराम होता है और उसकी मानसिक चेष्टायें अन्तर्मुखी होने लगती हैं। मनुष्य के विचार और अनुभव का क्षेत्र जितना अधिक विकसित होता है उतना ही उसे इन्द्रियों और उसके विषयों की निस्सारता समझ में आने लगती है। जिन कार्यों में लोग प्रमादवश अपनी शक्ति और समर्थ्य ही गँवाया

करते हैं वह उन्हें रोककर आत्म-शोधन की साधना में लगाता हूँ। फलस्वरूप उसकी आत्मिक प्रगति होती है और वह अपने सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझने लगता है।

आत्मा की मान्यता जितनी ही दृढ़ होती जाती है मृत्यु का भय उतना ही दूर होता जाता है। इससे उसके हृदय में बल का संचार होता है किन्तु इस समय मन की अधोगामी प्रवृत्तियाँ भी चुप नहीं रहतीं। संसार के दूषित तत्व भी उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसलिये कहा है कि इस संघर्षकाल में जो जागृत पहरेदार की तरह सर्वत्र सावधान रहते हैं और ईश्वरीय आदेशों का पालन करते हैं, ईश्वर की पूर्ण कृपा उसे ही प्राप्त होती है। उसी का जीवन भव्य बनता है।

ईश्वर की आज्ञायें क्या हैं, हमारे लिये समझने के लिये यह सबसे कठिन बात नहीं है। आमतौर पर हमारे जीवन को प्रत्येक गतिविधि का संचालन मन करता है और अपना अच्छा-बुरा जैसा भी कुछ मन है उसकी बातों को ही ईश्वर की आज्ञायें मानकर पूरा किया करते हैं। किन्तु जब कभी मन कोई बुरा कर्म करता है तो उससे अन्तःकरण में दुःख प्रकट होता है। परमात्मा का आदेश समझने की सीधी कसौटी यही है कि जिन कार्यों से आत्म-हीनता, असन्तोष और अशान्ति उत्पन्न होती है उन्हें न करना और जिनसे दिव्य तत्वों की वृद्धि होती हो आत्म सुख, सन्तोष और शान्ति मिलती हो उनका विकास करना ही ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना है।

मन की प्रवृत्ति आमतौर पर अधोमुखी होती है। इसलिये आत्मा को अपनी बुद्धि और सामर्थ्य का प्रयोग करना चाहिये। मन को बुरे कर्मों से बार-बार हटाने और उसे शुभ कर्मों में लगाये रखने से कुछ दिन में उसकी प्रवृत्ति भी सतोगुणी हो जाती है। पाप करने या बुद्धि का दुरुपयोग करने से ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार उसको लज्जित होना पड़ेगा और उसका सिर झुका रहेगा। पर सतकर्म लौकिक या आत्मिक सभी दृष्टियों में मनुष्य को सुख प्रदान करने वाले ही होते हैं और उनमें अपना आत्माभिमान भी विकसित होता है, तथा शक्तियों और सामर्थ्यों का विकास भी उसी क्रम से होता रहता है।

यह बात तो सभी चाहते हैं कि हमारे मन में बुरे विचार कभी न आवें। हम सदा शान्ति और आनन्दमीय रहें, दुख का भान न हो। इसके लिये लोग प्रयत्न भी करते हैं किन्तु संसार की गति भी कुछ ऐसी है कि मन को आघात पहुँचाने वाली घटनायें यहाँ घटती रहती हैं, उन घटनाओं को सहते हुए भी जो मन को वश में रखता है और उसे शुभ संकल्पों से रिक्त नहीं होने देता, ईश्वर की आज्ञाओं का सच्चे मन से वही पालन कर सकता है। जो मन को चंचल, अस्थिर या विकारपूर्ण नहीं होने देते वह सच्चे साहसी, वीर और गम्भीर होते हैं। इन दैवी सत्प्रवृत्तियों के आधार पर निरन्तर उसे परमात्मा की कृपा प्राप्त होती रहती है और वह आत्मविकास की साधना में उत्तरोत्तर सफल होता हुआ आगे बढ़ता रहता है।

आत्मा के विकास और ईश्वर की प्राप्ति के लिये केवल दैवी गुण भी चिरकाल तक नहीं टिक सकते, ईश्वर-भक्ति, जप उपासना आदि आवश्यक है किन्तु जहाँ भक्ति हो वहाँ श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, दया, करुणा, उदारता, त्याग, सहयोग, सहानुभूति, क्षमा आदि दैवी गुण भी अवश्यक होने चाहिये। कर्म चाहे जैसे करो, ईश्वर सब क्षमा करेगा—इस मान्यता ने व्यक्ति और समाज दोनों का बड़ा अहित किया है। ईश्वर को मानने का दावा करने वाले लोग दैवी गुणों की परवाह न करके इस भ्रम में पड़ गये हैं कि गुणों का विकास चाहे हो या न हो ईश्वर भक्ति से हमारा सब कुछ ठीक हो जायेगा। इस संकीर्ण दृष्टिकोण ने ब्रह्म-विद्या के सच्चे स्वरूप की आस्थाओं को भी नष्ट कर दिया है और बुद्धि प्रधान लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं।

मनुष्य जीवन बड़े सौभाग्य की वस्तु है, उससे भी बड़ा सौभाग्य ईश्वर में विश्वास होना है। कदाचित लोगों का मन जन-तप और उपासना में लग जाय तो उन्हें अपने ऊपर परमात्मा की कृपा समझनी चाहिये, पर साथ ही अपने दुर्गुणों और दुष्प्रवृत्तियों के निवारण के लिये भी प्रयत्नशील होना आवश्यक है। अपने

आसपास सभी प्रकार से ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें गुणों को विकसित करने वाली सब चीजें हों। इसमें यदि किसी प्रकार की सांसारिक हानि हो तो उसे भी ईश्वर का आदेश मानकर पूरा करना चाहिये। सद्‌गुणों के विकास में किया हुआ कोई भी त्याग कभी भी व्यर्थ नहीं जाता।

भारतीय आर्यों ने ईश्वर उपासना को मनुष्य जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग बताया है और प्रकारान्तर से उसकी अनेक सिद्धियों-सामर्थ्य का वर्णन भी किया है। अनेक तरह के साधन और विधानों को भी इसी दृष्टि से निकाला गया है कि हर स्थिति, हर अवस्था तथा देश, काल और परिस्थितियों में भी लोग ईश्वर-उपासना के महान लाभ प्राप्त कर सकें। किन्तु कर्म के क्षेत्र में सबको एक स्थान पर बाँध दिया है। इस जगत में मनुष्य से लेकर छोटे से छोटे कीटाणु तक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे हमारा सम्बन्ध है, उन सबका हमारे ऊपर ऋण है। उन सबके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से ही हमारा कल्याण हो रहा है अतः उनके प्रति भी हमारा कुछ न कुछ कर्त्तव्य है। हम उन्हें भले ही न पहचान सकें पर परमात्मा तो सर्वज्ञ है वह तो यह सब कुछ देख ही रहा है। फिर यदि हम कोई ऐसा कार्य करेंगे जिससे दूसरों को नुकसान होता हो तो वह चाहे जैसा कर्म होगा, परमात्मा हमारे ऊपर अप्रसन्न हो जायेगा। ऐसी स्थिति में उपासना का भी क्या महत्व रहेगा जो ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये की जाती है।

ब्रह्म-विद्या मनुष्य को ईश्वर उपासना तक ही सीमित नहीं रखती प्रत्युत उसे प्राणि मात्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उचित रीति से पालन करना भी सिखाती है। अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्यों को विकसित करने की शिक्षा देती है। (१) उपासना (२) आत्म-शोधन और (३) परमार्थ इन तीन श्रेणियों में विभक्त होकर जो ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हैं, ब्रह्म-विद्या उनके जीवन को भव्य बना देती है उन्हें स्वर्ग और मुक्ति का उत्तराधिकार प्रदान करती है।

भगवान आपके अन्दर सोया है, उसे जगाइये

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः—"मैं अज, नित्य, शाश्वत एवं पुराण हूँ' यह आत्मा की अभिव्यक्ति है। जिसमें किंचित भेदभाव नहीं, जो मुक्त है, जिसमें किसी प्रकार को काई विकार नहीं, अभाव रहित, सदा-सर्वदा-सर्वत्र सम्पूर्ण एक रस, एक रूप हूँ मैं, मेरा कभी परिवर्तन नहीं होता। नाना रूपों में मैं एक ही आत्मा विद्यमान हूँ।

परमात्मा ने ही आत्मा को आच्छादित कर रखा है यह कहें तो अत्युक्ति न होगी। आत्मा में जो भी शक्ति और प्रकाश है वह सब परमात्मा का ही स्वरूप है। परमात्मा मुझसे विलग कहाँ ? वह मैं हूँ, मैं वह हूँ, कर्त्ता की भिन्नता है अन्यथा उसमें और मुझमें अन्तर नहीं। मैं और कुछ नहीं, परमात्मा की उपस्थिति ही मेरे जीवन का कारण बनी है। वह मेरे साथ है इसलिये मैं जीवित हूँ। वह चला जायेगा तो मैं भी चला जाऊँगा। मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व वह ब्रह्म ही है।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अनेक प्राणियों की रचना की सब अपूर्ण, सब अधूरे। किसी की शारिकि शक्ति बड़ी थी, किसी का सौन्दर्य सर्वोपरि था, कोई बोलता मधुर था, किसी को नृत्य कला अच्छी आती थी, कोई अधिक ऊँचाई तक उड़ सकता था, किसी में अधिक दौड़ने की क्षमता थी। प्रवीण सब थे पर किसी एक ही विषय को लेकर। उपयोगी सब थे पर सर्वांगपूर्णता किसी में न थी। एक-दो गुण मिलते थे और बाकी एक-दूसरे से भिन्न किसी में गुण किसी में अवगुण। यह विषमता सम्भवतः उसे रुची न होगी इसलिये उसने अलौकिक देह रचने का निश्चय किया होगा।

वह विलक्षण प्राणी मनुष्य है। इसमें बड़ी सूक्ष्मता और सावधानी से कार्य किया गया। उसने एक-एक कलपुर्जा कीमती से कीमती बनाया। बड़ी अजब शक्तियाँ पिरोईं उनमें। मनुष्य बनकर तैयार हुआ तो सृष्टिकार स्वयं चकरा गया। इस रचना पर उसे सबसे अधिक आश्चर्य हुआ।

सम्पूर्ण देव शक्तियाँ इसमें प्रविष्ट हुईं। उन्होंने अपने-अपने कार्य प्रारम्भ किये। अग्नि देव जाग्रत हुये तो भूख लगी, वरुण को जल की जरूरत पड़ी, किसी ने निद्रा माँगी, किसी ने जाग्रति। सब की अपनी दिशा थी, अपना काम था। इनमें पारस्परिक प्रतिद्विन्दता न होती रहे और उनका नियन्त्रण बराबर किया जाता रहे इस दृष्टि से एक जबर्दस्त नियामक सत्ता की आवश्यकता जान पड़ी तो परमात्मा स्वयं उसमें समा गया। इस तरह इस अद्‌भुत मनुष्य जीवन का प्रादुर्भाव हुआ इस सृष्टि में। सृष्टि के अन्य प्राणियों का सरदार बना मनुष्य तो उसे भी नियन्त्रित रखने के लिए उसका भगवान भी उसके साथ रहने लगा ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता भी की जा सकती और उसे दुराचार या अधिकारों के दुरुपयोग से रोका भी जा सकता।

तब से अब तक मनुष्य निरन्तर एक प्रयोग के रूप में चलता आ रहा है। कभी वह गलती करता है तो उस अपराध के बदले सजा मिलती है और यदि वह अधिक कर्त्तव्यशील होता है तो उसे अधिक बड़े इनाम और अधिकार दिये जाते हैं। गलती का परिणाम दुःख और भलाई का परिणाम सुख। सुख और दुःख का यह अन्तर्द्वन्द आदि काल से चलता आ रहा है।

यदि मनुष्य के सम्पूर्ण ऐतिहासिक जीवन पर दृष्टि डालें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जितना समय बीतता जाता है उसकी भलाई की शक्ति मरती जाती है और उसके अन्तर का असुर भाग बलवान होता जा रहा है। इसके कलस्वरूप उसके दुःखों में बढ़ोत्तरी होती जा रही है। वर्तमान युग इस स्थिति की पराकाष्ठा है यह, कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। अब लोगों में बड़ी हीनता है, लोग हीन और अभावग्रस्त हैं। यह झगडालू स्वार्थों और संकीर्ण प्रवृत्ति वाला हो गया है। मनुष्य का यह अधोगामीपन देखकर विश्वास नहीं होता कि उसके अन्दर परमात्मा जैसी महत्वपूर्ण शक्ति का विकास हो सकता है। दुर्बल मनुष्य में सर्वशक्तिमान परमात्मा ओत-प्रोत हो सकता है, इसकी इन दिनों कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मनुष्य की दयनीय दशा का एक ही कारण है और वह यह है कि उसके अन्दर का भगवान मूर्छित हो चुका है अथवा उसने अपनी मनोभूमि इतनी गन्दी बना ली है जहाँ परमात्मा का प्रखर प्रकाश सम्भव नहीं। यदि वह सचेत रहता, उसकी मानसिक शक्तियाँ प्रबुद्ध रहतीं, भलाई की शक्ति जीवित रहती तो वह जिन साधनों को लेकर इस वसुन्धरा पर अवतीर्ण हुआ है वे अचूक ब्रह्म अस्त्र हैं। उनकी शक्ति वज्र से भी प्रबल है। सृष्टि का अन्य कोई भी प्राणी उसका सामना करने को समर्थ नहीं हो सकता। वह युवराज बनकर आया था। विजय, सफलतायें, उत्तम सुख, शक्ति, शौर्य-साहस, निर्भयता उसे उत्तराधिकार में मिले थे। इनसे वह चिरकाल तक सुखी रह सकता था। भ्रम, चिन्ता, शंका, सन्देह आदि का कोई स्थान उसके जीवन में नहीं पर अभागे मनुष्य ने अपनी दुर्व्यवस्था आप उत्पन्न की। अन्तःकरण की ईश्वरीय सत्ता की उपेक्षा करने के कारण ही उसकी यह दुःखद स्थिति प्रकट हुई। अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने का अपराधी मनुष्य स्वयम् है, इसका दोष परमात्मा को नहीं।

संसार के छोटे कहे जाने वाले प्राणी एक निश्चित प्रकृति लेकर जन्मते हैं और प्रायः अन्त तक उसी स्थिति में बने रहते हैं। इतना स्वार्थी मनुष्य ही था जिसे अपने साधनों से तृप्ति नहीं हुई और उसने दूसरों के स्वत्व का अपहरण करना प्रारम्भ किया। न्यायाधीश बनकर आया था पर स्वयं अन्याय करने लगा। ऐसी स्थिति में परमात्मा के अनुदान भला उसका कब तक साथ देते। ईश्वरीय गुणों से पथ-भ्रष्ट मनुष्य की जो दुर्दशा होनी चाहिये थी वही हुई। दुःख की खेती उसने स्वयं बोई और उसका फल भी उसे ही चखना पड़ा।

परमात्मा हमारे अति समीप रहकर प्रेम का सन्देश देता है पर मनुष्य अपनी वासना से उसे कुचल देता है। वह अपनी सादगी, ताजगी और प्राणशक्ति से हमें सदैव अनुप्राणित रखने का प्रयत्न रखता है, पर मनुष्य आडम्बर, आलस्य और अकर्मण्यता के द्वारा उस शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देता है। कालान्तर में जब आन्तरिक प्रकाश की शक्ति क्षीण पड़ जाती है

तो दुःख और द्वन्द के बखेड़े बढ़ जाते हैं। तब मनुष्य को औरों की भलाई करना तो दूर अपना ही जीवन भार रूप हो जाता है। परमात्मा की अन्तःकरण से वियुक्ति ही कष्ट और क्लेश का कारण, बन्धन का कारण है।

मनुष्य बड़ी बुद्धि-विवेक और विचार वाला प्राणी है पर खेद है कि वह अपनी इन शक्तियों का उपयोग लौकिक कामनाओं और इन्द्रिय भोगों तक ही सीमित रखता है। उस अज्ञानान्धकार में ग्रसित मनुष्य को बड़ी शक्तियों का आभास भी नहीं होता इसीलिये वह कोल्हू की तरह एक सीमित दायरे का ही चक्कर काटता रहता है। उसे इतना भी पता नहीं होता कि हमारे शीश पर बड़ी शक्तियों का हाथ है और उनसे जीवन को सफल बनाने का आशीर्वाद प्राप्त किया जा सकता है।

मनुष्य समाज का एफ बड़ा वर्ग ऐसा है जिसे अपनी गुप्त शक्तियों का आभास भी नहीं होता था वे उन्हें जानना ही नहीं चाहते, यह एक बड़े आश्चर्य की बात है। अपनी दुर्बलताओं का भार लादे हुए जानवरों की तरह जीना ही उन्हें पसन्द होता है। घोड़े, बैल, हाथी या बकरी की पीठ पर अच्छी-अच्छी वस्तुयें लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर ले जाते हैं पर बेचारे जानवरों को क्या पता कि उनकी पीठ पर कोई बहुमूल्य वस्तु रखी है। उनके लिये पीठ पर रखी कोई भी वस्तु भार समान ही है और इसी रूप में वे उसे ढोते रहते हैं। अज्ञान में फँसे मनुष्य की भी स्थिति ऐसी ही होती है। उनके लिये विचार, वाणी या विवेक उतना ही महत्व हीन है, जैसी पीठ पर कीमती सामान रखने वाले घोड़े या हाथी की दशा होती है।

मनुष्य को असीम शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आत्मिक सम्पदाओं से सुसज्जित कर इस भूतल पर भेजा गया है पर अपने प्रयोग का ढंग विपरीत हो जाने, उद्देश्य बदल जाने के कारण उन शक्तियों से लाभ तो कुछ मिलता नहीं अशान्ति, भय, घबराहट, चिड़चिड़ापन, अस्थिरता, राग, द्वेष, घृणा, स्वार्थ और ईर्ष्या का वातावरण और तैयार कर लेता है। आत्म-विकास के लिए अपनी क्षमताओं को ईश्वरीय रूप में देखना था और उनका प्रयोग दिव्य तेज और स्फूर्ति की प्राप्ति के लिये किया जाना चाहिये। ऐसा करने वाले मनुष्य का अपना जीवन सार्थक होता और दूसरों को भी आत्म-कल्याण की प्रेरणा मिलती।

आप अपनी मानसिक दुर्बलताओं का विश्लेषण किया कीजिये। देखिये क्या यह कामनायें और वासनायें अन्त तक आपका साथ देंगी। आप इस पर जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही वे तुच्छ प्रतीत होंगी और उनके प्रति आपके जी में घृणा उत्पन्न होगी। मानसिक दुर्बलतायें रुकेंगी तो आन्तरिक शक्तियों का प्रस्फुरण तीव्र होगा, आपके अन्दर ईश्वरीय अंश बढ़ेगा।

ईश्वर दिव्य है। वह आपके अन्दर दिव्यता लाना चाहता है। वह सत् है और वैसी ही प्रतिक्रिया आपके अन्दर भी चलाने की उसकी इच्छा होती है। आपके मन का मैल दूर हो तो आपका जीवन ईश्वरीय मन मोहकता, दिव्यता का आकर्षण केन्द्र बन जाय और उसकी सुवास से आपका सारा वातावरण महक जाय।

अपने भीतर समाविष्ट अमिट सत्य को पहचानिये, यह सत्य आपको संकीर्णता से मुक्त कर देगा। संसार की बदलती हुई गतिविधियों से, शरीर के नाना प्रकार के रूपों में तब आप दुःखी और विक्षुब्ध न होंगे। आपका जीवन हास्ययुक्त, चहकता और दमकता हुआ रहेगा। मूल बात आत्म-चेतना को पहचानना है जिससे आप मन को तमोगुण से बचा सकते हैं और मनुष्य जीवन को आनन्दमय बना सकते हैं।

वह परमात्मा तेजस्वी, प्रकाशमान् और सम्पूर्ण मानसिक पीड़ाओं को नष्ट करने वाला है। उसे विकसित करने में ही आपका कल्याण है। भगवान् कृष्ण ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ।।

(गीता १०/४६)

हे अर्जुन ! इस जगत में जो कुछ भव्य, "तेजस्वी तथा ऐश्वर्यवान् प्रतीत होता है वह मेरे ही तेज का अंश है। जो अपने अन्दर मुझ दैवी चेतना का अनुभव करते हैं मैं उनके बन्धन काट देता हूँ।

परमेश्वर के साथ अनन्य एकता का मार्ग

मनुष्य का उस परम चेतन परमेश्वर का अंश है। जिस प्रकार जल के प्रपात में पानी के अनेक छोटे उत्पन्न और विलेय होते हैं उसी प्रकार विभिन्न प्राणी परमात्मा में से उत्पन्न होकर उसी में लय होते हैं। यह उत्पत्ति एवं लय की लीला इसलिये रची गई है कि इस विश्व में जो प्रेम का अमृत भरा हुआ है उसका जीव रसास्वादन करे और उस आनन्द में परितृप्त होकर अपने को धन्य माने।

किन्तु इस संसार में ऐसे बुद्धिमान कितने हैं जो इस ईश्वरीय उद्देश्य को चरितार्थ कर पाते हैं। अधिकांश में लोग दुर्भाग्य, कष्ट, अभाव, क्लेश एवं उद्वेग की जिन्दगी जीते देखे जाते हैं। इस मानव-जीवन के अनुपम अवसर का सदुपयोग कर लौकिक एवं पारलौकिक भविष्य को उज्ज्वल बनाने की बात विरला ही कोई सोचते देखा जाता है ? जो सोचते हैं वे भी यथार्थ रूप में वैसा कर सकने में असमर्थ ही दीख पड़ते हैं। सब और अशान्ति, क्षोभ तथा असन्तोष ही फैला दीखता है। सुर-दुर्लभ मानव शरीर मनुष्य को भार स्वरूप बना हुआ है।

ईश्वरीय मन्तव्य से विपरीत मनुष्य को जीवन गति पर विचार करने से यही बात समझ में आती है कि कहीं पर कोई बड़ी भूल हो रही है। नहीं तो शुद्ध-बुद्ध और आनन्द रूप परमात्मा के अंश मनुष्य के पास शोक-सन्ताप का क्या काम ? उसे तो अपने अंशी की तरह शान्त और प्रसन्न होना चाहिये।

मनुष्य की इस दुःखपूर्ण स्थिति की कारणभूत भूल पर विचार करने से यही पता चलता है कि मनुष्य अपने स्वरूप को भूला हुआ है और यही अज्ञान उसको शोक-सन्तापों के कुछ कंटकों में घसीट रहा है। जीवन का मंतव्य, महत्व, मूल्य तथा उपयोग विस्मरण कर देने से उसका मार्ग गलत हो गया है। जिसको यह ही पता न रहे कि मैं क्या हूँ ? मेरा कर्त्तव्य और लक्ष्य क्या है ? उसका जीवन-पथ ठीक भी कैसे हो सकता है ? उसका भटक जाना, पथ-भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक ही है। मूल्य एवं महत्व न जानने वाले के पास यदि रत्नों की पोटली रख दी जाये तो यह उसकी मिट्टी के मोल ही बरबाद कर देगा।

यों ऊपर से देखने में ऐसा लगता है कि मनुष्य ने बहुत प्रगति की है। वैज्ञानिक विकास और सुख-सुविधा के प्रचुर साधन तथा वैभवपूर्ण रहन-सहन देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि मनुष्य इतना दुःखी और विक्षुब्ध होगा कि उसे जीवन एक असह्य भार-सा अनुभव हो। निःसन्देह भौतिक प्रगति की दृष्टि से यह अभुतपूर्व युग है। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि इसने वैयक्तिक सामाजिक सुख-शान्ति को बढ़ाया नहीं, घटाया ही है। यह बाह्य जीवन के साथ-साथ आन्तरिक जीवन का विकास न करने का ही परिणाम है। यह विकास एकांगी एवम् अपूर्ण है। अपूर्णता दुःखों की मूल मानी गई है। दो पहियों पर चलने वाली गाड़ी को यदि एक पहिये पर घसीटा जाये तो असुविधा और तकलीफें बढ़ेंगी ही। मनुष्य का जीवन बाह्य एवं आन्तरिक दो भागों से मिलकर बना है। यदि दोनों समानान्तर गति पर रहेंगे तो वांछित सुख-शान्ति के लिये निराश ही रहना होगा। विषमता स्पष्ट है। बाह्य, भौतिक अथवा वैज्ञानिक विकास क्षितिज के छोर छूता हुआ आगे बढ़ रहा है और आन्तरिक, आत्मिक अथवा आध्यात्मिक प्रगति पाताल की ओर गिरती जा रही है। अपेक्षित सुख-शान्ति के लिये इन दोनों गतियों में सन्तुलन एवम् सामंजस्य स्थापित करना होगा। उसका उपाय यह है कि भौतिक प्रगति के साथ हम सब मनुष्यों को अपना सत्य स्वरूप जीवन का उद्देश्य तथा उसका मूल्य महत्व फिर समझना होगा और उसी गरिमा के अनुसार अपनी गतिविधि का निर्धारण करना होगा।

मनुष्य की वर्तमान दीन दशा का उत्तरदायी न तो दुर्दैव है, न युग अथवा काल का प्रभाव और न कोई अन्य परिस्थितियाँ, इसका उत्तरदायी स्वयं मनुष्य ही है। मनुष्य का अपना दृष्टिकोण विकृत हो जाने से जीवन की गतिविधि में अव्यवस्था का आना स्वाभाविक ही है। गुण, कर्म, स्वभाव में पतनपूर्ण स्थिति का समावेश हो जाये और परिस्थितियाँ अनुकूल बनी रहें यह सम्भव

नहीं। पात्रता के अनुरूप ही प्राप्ति होती है, यह सृष्टि का शाश्वत नियम है। पात्र को पुरस्कार और कुपात्र को दण्ड मिलता ही है। इस संसार में सुख-शान्ति, सन्तोष, प्रेम तथा परिवत्रता की सारी दैवी विभूतियाँ सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं किन्तु उनका अधिकारी वह मनुष्य ही हो सकता है जो अपने को उनके योग्य बना सकता है।

यों मनुष्य भूल में तो पात्र ही है, अपात्र अथवा कुपात्र नहीं। अपने स्वरूप का विस्मरण कर देने से ही उसमें अपात्रता का आरोप हो गया है। जिस दिन वह अपने इस सत्य स्वरूप की प्रतीत कर लेगा कि वह सच्चिदानन्द परमात्मा का अंश है उसी दिन उसके हृदय के बन्द कपाट खुल जायेंगे, विस्मृति का अन्धकार दूर हो जायेगा। उसके जीवन में दिव्य प्रकाश की किरणें विकीर्ण होने लगेंगी। उसके गुण, कर्म स्वभाव, पात्रता की दिशा में विकसित होने लगेंगे। जितनी-जितनी आत्म-स्वरूप की अनुभूति बढ़ती जायेगी परमात्म तत्व के साथ ऐक्य की भावना बढ़ती जायेगी।

मनुष्य की यह प्रतीत अनन्त चैतन्य-सत्ता का एक अंश है जो प्राणी मात्र में पायी जाती है उसकी अन्य प्राणियों से आत्मीयता स्थापित कर देगी। उसकी विरोध, द्वेष तथा स्वार्थ की सारी भावनायें नष्ट हो जायेंगी जिनका परिणाम अनन्त प्रेम के रूप में हृदय में भर जायेगा। हृदय की परिपूर्णता सारे सूखों की मूल है ? परमात्मा के प्रति एकता का ज्ञान हो जाने से मनुष्य के जीवन में एक दिव्यता आ जाती है और शरीराभिमान छूट जाता है।

शरीराभिमान मिथ्या है। मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है जो अनन्त आनन्द के आगार परमात्मा का शुद्ध अंश है। आत्म स्वरूप के अज्ञान तथा अपने को शरीर मात्र मानने के सब प्रकार के पापों, दोषों तथा अनुचित व्यवहारों की स्थिति बनाती है स्वार्थ उत्पन्न होता है। तब सारी भावनायें मानवीय स्वरूप के प्रतिकूल हैं, अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक हैं। अन्य प्राणियों के प्रति अनात्म अथवा विरोधी भावना रखना ईश्वरीय नियम का उल्लंघन करना है। साधारण सांसारिक तथा सामाजिक नियमों का अतिक्रमण करने से जब समाज की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, संकट तथा आपत्तियों के बादल घिरने लगते हैं तब ईश्वरीय नियम का विरोधी कितने बड़े संकट उपस्थित कर देगा इसका अनुमान कठिन है। क्रोध, द्वेष, निन्दा, कुत्सा आदि की बुराई प्रस्तुत करते रहने से चारों ओर बुराई का ही प्रसार होगा जिसका हानिकारक प्रभाव क्या व्यक्ति और क्या समाज क्या मन और शरीर, सभी पर पड़ेगा। एक ओर से क्रोध होने पर दूसरी ओर से भी क्रोध ही होगा, एक ओर से तलवार उठने पर दूसरी ओर उसी प्रकार की अनुरूप प्रतिक्रिया न हो यह सम्भव नहीं। जो दूसरों के लिये गड्ढा खोदेगा उसके लिये कुआँ तैयार ही रहेगा। यह क्रिया-प्रतिक्रियाओं का सहज नियम है जो बदला नहीं जा सकता।

द्वेष-दुर्भाग्य की यह अपरूपता मनुष्य के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप नहीं है ! उसका स्वरूप तो शुद्ध-बुद्ध तथा निरामय है। वह तो अनन्त-सत्ता का साझीदार है, संसार में उसका प्रतिनिधि है, उसका कृपापात्र है और सृष्टि में भरे प्रेम रस का आस्वादन करने के लिये भेजा गया है। आनन्द तथा शान्ति का अधिकारी बनाया गया है। उसके लिये यही शोभनीय है कि वह अपने सत्य स्वरूप का स्मरण करे और उसी के अनुरूप स्थिति प्राप्त करे। इस प्रकार शोक-सन्तापों अथवा द्वेष-दुर्भावों के कल्मष में पड़ा रहना उसके लिये लज्जा की बात है।

स्वार्थ ही सारे पाप-सन्तापों की जड़ है। स्वार्थी को अपने अतिरिक्त कोई दूसरा दीखता ही नहीं। उसका लोभ, उसकी तृष्णा इतनी विकराल होती है कि संसार का सारा सुख, वैभव पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होती। दूसरों की उन्नति और उपलब्धियाँ उससे देखी नहीं जातीं। उसकी यही इच्छा और यही प्रयास रहता है कि संसार में जो कुछ है वह सब उसे ही मिल जाये, किसी दूसरे को उसका एक अंश भी न मिले। वह संसार के सारे प्राणियों के प्रति निर्दय तथा अनुदार हो जाता है। उसे सब ओर अपने लोभ के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई ही नहीं देता।

मनुष्य अपने सत्य स्वरूप की प्रतीति करे और निश्चय करे कि परमात्म तत्व के साथ उसकी एकता है। वही परमात्म तत्व जिस प्रकार

हमारे भीतर से होकर बह रहा है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के अन्तर में प्रवाहित है। उस अनन्त चैतन्य से ओत-प्रोत सारे चेतन सजातीय हैं, उनके मूल रूप में कोई भेद नहीं है। ऐसा निश्चय हो जाने पर उसका अन्य भेद मिट जायेगा। सबके प्रति बन्धुत्व अनुभव होने लगेगा और और तब वह दूसरों के लिये अपने स्वार्थ का त्याग करने में सुख मानेगा और उसकी सेवा करना अपना कर्त्तव्य। दूसरों का सुख-दुःख उसका अपना बन जायेगा। ऐसी दशा में वह किसी को कष्ट देकर स्वयं क्यों सुखी होना चाहेगा ? स्वार्थ का नाश होते ही उसके जीवन में सूनापन, नीरसता, संकीर्णता आदि कष्टप्रद अनुभव दूर हो जायेंगे और वह अपनी आत्मा में सरसता, व्यापकता तथा एक निर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करने लगेगा। उसको संसार के समस्त प्राणियों से अक्षय प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करना उचित तथा आवश्यक लगेगा ?

ज्यों-ज्यों मनुष्य इस सत्य का साक्षात्कार करता जायेगा कि जो परमात्म-सत्ता विश्व का मूल है हम सब उसके ही अंश कहलाये हैं और प्रत्येक प्राणी के साथ सबकी एकता है, किसी में किसी प्रकार का भेद नहीं है, त्यों-त्यों उसका हृदय विश्व प्रेम में परिपूर्ण होता जायेगा और उसके स्वार्थ की संकीर्ण सीमाएँ खण्ड-खण्ड होती जायेंगी। मनुष्य के भीतर रहने वाला सब प्रकार का द्वेष और किसी के प्रति दूषित विचार दूर हो जायेंगे। उसका अन्तःकरण दर्पण की तरह निर्मल होकर प्रसन्न हो उठे-गा। जो भी उसके सामने आयेगा उसमें वह अपनी आत्मा का ही दर्शन करेगा। उसे चारों ओर अपनत्व दिखाई देगा। ऐसी शुभ-स्थिति में फिर कष्ट, क्लेश अथवा शोक सन्तापों का कोई अवसर ही नहीं रह जाता।

संसार के शोक-सन्तापों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को अपने स्वार्थ तथा संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर अपने विशाल तथा विराट् स्वरूप की ओर अग्रसर होना ही चाहिये। हृदय में छिपे अनन्त प्रेम के भण्डार को खोल देना चाहिये और अपने आत्म भाव का प्रसार करना चाहिये। यह आत्म-भाव जितना-जितना विस्मृत होता जायेगा हम उतना-उतना ईश्वर के निकट पहुँचते जायेंगे और जितना-जितना ईश्वर के समीप बढ़ते जायेंगे, आत्म-साक्षात्कार की अनुभूति होती जायेगी। प्रेम ही सारे सुखों का सार है। वही ईश्वर का सच्चा स्वरूप और आत्मा की भौतिक अनुभूति है। जैसे-जैसे हम अपने सत्य स्वरूप की प्रतीति करते जायेंगे वैसे-वैसे वह परमात्म स्वरूप प्रेम हमारे मन, बुद्धि, आत्मा तथा कर्मों में अधिकाधिक प्रकट होता जायेगा। हमारे अन्तःकरण को ओत-प्रोत कर जब वह अमृत संसार में चारों ओर बिखरने लगेगा, सब ओर सुख-शान्ति की परिस्थितियाँ निर्मित होने लगेंगी और यह संसार जो आज कुश-कंटकों से भरा मालूम होता है, सुरभित वाटिका के समान सुखदायक हो जायेगा और हमारा और हमारा यह जीवन जो आज भार स्वरूप अनुभव होता है, आनन्दों का केन्द्र बन जायेगा।

मनुष्य आनन्द स्वरूप है। कष्ट, क्लेशों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दुःखों का मुख्य कारण आत्म-विस्मरण ही है। अपने सत्य स्वरूप का बार-बार स्मरण करिये और इस सत्य का निरन्तर मनन करते रहिए—"अनन्त चैतन्य, निरन्तर, तत्व स्वरूप परमात्मा तथा मेरे जीवन में एकता है। वह परमात्मा ही मेरे जीवन का जीवन है। मैं उसी की तरह चैतन्य स्वरूप हूँ। मेरी प्रकृति दिव्य है उसमें किसी विकार के लिए स्थान नहीं है। जो रोग शोक तथा कष्ट, क्लेश अनुभव होते हैं वह सब देहाभिमान के कारण ही। यह अभिमान ही दूषित है जिसे मैं त्याग रहा हूँ और अपने हृदय का द्वार उस अनन्त सत्ता की ओर खोलता हूँ जिससे उसकी प्रेमधारा मेरे जीवन में भरकर छलक उठे। सारे प्राणी, सारे जीव मेरे अपने बन्धु हैं। मेरा प्रेम उन सबको प्राप्त हो और सभी उसी प्रकार सुखी, निःस्वार्थी तथा निरामय बन जायें जिस प्रकार मैं बन रहा हूँ, "इससे आपको आत्म-साक्षात्कार होगा, आपको अपना सत्य स्वरूप स्मरण होगा और तभी आप जीवन में क्षण-क्षण पर उस आनन्द का अनुभव करने लगेंगे जो वांछनीय है और जीवन का परम लक्ष्य।

उपासना—अर्थात् परमात्मा की समीपता

संसार के सारे पदार्थ और सारी क्रियायें साधन हैं। साध्य केवल है आत्म-शान्ति। यदि आत्मा में शांति का अभाव है तो किसी के पास कितना ही वैभव, कितनी ही विभूति और कितनी ही शक्ति क्यों न हो, समाज में कितना ही आदर-सम्मान क्यों न हो, उसे कोई भी ऐसी अनुभूति नहीं हो सकती जिसे सुख की संज्ञा दी जा सके।

इसी आत्म-शान्ति के अभाव में, अपनी समझ में संसार का सारा सुख भोग लेने पर बड़े-बड़े सम्राटों और श्रीमन्तों को असन्तोष से भरी भयानक मृत्यु मरना पड़ता है। तड़प-तड़प कर उनके प्राण निकलते हैं और कलप-कलप कर वे संसार छोड़ते हैं। जब संसार का सुख भोग लिया, पदार्थों का आनन्द ले लिया, तब अन्त समय में कलपना किस लिए ?

स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति की आत्मा में असन्तोष होता है जो जीवन को रह-रह कर संसार की ओर ढकेलता है। असन्तोष का निवास वहीं रहता है जहाँ शान्ति नहीं होती। आत्मा में जब असन्तोष का ज्वर है तो वहाँ शान्ति की शीतलता नहीं ही होनी चाहिए।

आत्म-शान्ति की उपलब्धि संसार के सुखों और पदार्थों के भोग से सम्भव नहीं। उसकी प्राप्ति तो तब होती है जब मनुष्य के जीवन आचरण में श्रेष्ठता का समावेश होता है। श्रेष्ठता ही आत्म-शान्ति का एकमात्र आधार है। श्रेष्ठ आत्मा वाले व्यक्ति कितने ही गरीब और एकाकी क्यों न हों उन्हें असन्तोष की यातना सहन नहीं करनी पड़ती। विद्वान, परमार्थी, भक्त तथा परोपकारी व्यक्ति श्रेष्ठ आत्मा वाले ही होते हैं। इसी सम्बल के आधार पर ही तो वे अभावों से भरा अपना जीवन शान्ति के साथ जीते हैं और सन्तोष के साथ छोड़ते हैं। उन्हें किसी तरह का मनस्ताप नहीं सताता। ऋषि, मुनि, महात्मा, मनीषी, चिन्तक तथा दार्शनिक व्यक्तित्व न कभी धन वैभववान हैं और न उन्होंने सांसारिक पदार्थों के भोग में ही अपना जीवन निमग्न किया। उनका जीवन सदा ही सरलतम तथा सादा रहा है। भोजन, वस्त्र और निवास जितना साधारण कोटि का हो सकता है उनका रहा। दिनचर्या और परिश्रम उनका इतना कठिन और कठोर रहा है जो किसी के लिए कष्ट के समान हो सकता है। आगे भी इसी कोटि के व्यक्ति इसी प्रकार अभाव में जीवन ग्रहण करेंगे और आज भी जो जहाँ है, जाकर देखा जा सकता है, ऐसे ही जीवन-यापन करते दिखलाई देंगे। तब भी उनके समान सुखी तथा सम्पन्न कोई दूसरे कदाचित ही रह पाते हैं। इसका केवल एक ही कारण है, और वह है उनकी आत्म-श्रेष्ठता। जिसने अपनी आत्मा में श्रेष्ठता का विकास कर लिया है, आत्म-शान्ति उसकी अपनी वस्तु ही हो जाती है। साध्य पर अधिकार हो जाने पर साधनों से चिपटे रहना किसको श्रेयस्कर हो सकता है ? सूर्य का प्रकाश उपलब्ध होने पर दीपक जलाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

जिसका विकल्प आत्म-शान्ति है, उस श्रेष्ठता का लक्षण है, शुभ दर्शन। श्रेष्ठ व्ययिक्त को सारे संसार में, सारी दिशाओं में, सारी घटनाओं तथा सारे संयोगों में केवल कल्याण के दर्शन ही होते हैं। यह शुभ के लिए ही शुभ कर्म करता है और उसके परिणाम को किसी भी रूप में शुभ ही देखता और कल्पना करता है। निराशा, निरुत्साह, खेद, दुःख, पश्चात्ताप अमंगल अथवा असम्भाव्य की आकांक्षा उसे विचलित नहीं कर पाती। जो स्थिति उसकी असफलता तथा सम्पन्नता में रहती है वही सफलता एवं विपन्नता में रहती है उसका हर्ष, उसका सुख और उसका सन्तोष भंग नहीं होता।

दुनियाँ पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो एक-दो नहीं, सैंकड़ों व्यक्ति हँसते-खेलते, बोलते, मुदित तथा प्रसन्न होते दिखलाई देंगे। उनको देखकर यह कहना कठिन हो जायेगा कि इनके जीवन में कोई दुःख, ताप, अशान्ति या असन्तोष भी हो सकता है। कहने के लिये यह भी कहा जा सकता है कि ये सब श्रेष्ठ-आत्मा व्यक्ति होंगे, इन्हें आत्मशान्ति मिल चुकी होगी तभी तो यह प्रसन्नता इनके मुख-मण्डलों पर विराजमान दिखलाई दे रही हैं।

पर बात यह वास्तव में वैसी नहीं होती। उनकी प्रसन्नता का रूप वही होता है जैसे कोई स्वप्न अथवा सन्निपात में हँसता या प्रसन्न होता है। उनकी वह प्रसन्नता मौलिक नहीं होती और न स्थायी ही। या तो वे उस समय किसी पदार्थ भोग से छके होते हैं अथवा लाभ अथवा प्राप्ति से विमोहित। उनके हर्ष का हेतु खोजकर हटा दिया जाये तो उनका उल्लास भी नष्ट हो जायेगा।

वास्तविक अथवा आध्यात्मिक हर्ष तो वह माना जायेगा जो अहेतुक हो। जिसका आधार आत्मा के अतिरिक्त और कुछ न हो। संसार के नश्वर और क्षणिक भोग सुख से अनुभव होने वाला हर्ष एक छलना है, सो भी नश्वर छलना के समान ही होता है, जिसका प्रवंचन भी अधिक देर तक नहीं ठहरता। यथार्थ तथा स्थायी प्रसन्नता उसी को कहा जा सकता है जिसका विकल्प दुःख कदापि न हो। आज किसी को व्यापार में लाभ हुआ है, किसी का विवाह हुआ अथवा किसी को पुत्र की प्राप्ति हुई है। वह प्रसन्न तथा हर्षित दिखलाई देता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उस उल्लास के माध्यम से उसकी आत्म-श्रेष्ठता व्यक्त हुई है। वह हर्ष, वह उल्लास, वह प्रसन्नता उक्त लाभ अथवा उत्सव की प्रतिक्रिया मात्र होती है जो पुनः आवेग समाप्त हो जाने पर शमन हो जाती है और मनुष्य अपनी उदासीन स्थिति में वापस चला जाता है और पुनः खेद और दुःख अनुभव करने लगता है।

जो प्रसन्नता लाभ में बनी रही, वह हानि में भी स्थिर रहे, जो सम्पत्ति के समय अनुभव हो वही विपत्ति के समय, जो अनुकूलताओं में जाग्रत रहे और प्रतिकूलताओं में भी नष्ट न हो, वही सच्ची तथा श्रेष्ठता-जन्य प्रसन्नता मानी जायेगी।

आत्मा की श्रेष्ठता परमात्मा की उपासना से प्राप्त होती है। नास्तिक अथवा अनाध्यात्मिक व्यक्ति संसार का कोई भी पदार्थ और कोई भी भोग क्यों न प्राप्त करले पर उसे उच्ची आत्मोत्कृष्टि नहीं मिल सकती है। इस संसार में जो कुछ शुभ है, श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट और मंगलमय है वह सब उस परम पिता की ही विभूति है। उसी से सम्पन्न होती है और उसी पर आश्रित है। सृष्टि का सौन्दर्य, पृथ्वी की सम्पन्नता, सागर का भण्डार, वनस्पतियों का स्वाद, औषधियों की शक्ति, ग्रह-नक्षत्रों का प्रकाश, ऋतुओं का आनन्द और मनुष्य की अनुभूति शक्ति—सबके पीछे उस (परमात्मा) की ही विभूति विराजमान है। संसार की सारी श्रेष्ठताओं को परमात्मा का आभास ही माना गया है। परमात्मा से ही सब कुछ सुन्दर है और उसी से सब कुछ मंगलमय है। अस्तु आत्मा की श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए संसार के साधनों की ओर न जाकर परमात्मा की ही उपासना करनी चाहिये।

उपासना का अर्थ है—समीप बैठना, सामीप्य अथवा उपसंग। जिसमें समीप उपस्थित रहा जायेगा, उसकी विशेषता अपने में आ जाना स्वाभाविक ही होता है। गर्म लोहे के पास ठण्डा लोहा उसकी गर्मी ग्रहण करता हुआ स्वयं भी गर्म हो जाता है। हिम के सम्पर्क में आने वाली वस्तु ठण्डी हो जाती है। जंगल में चन्दन वृक्ष के समीप उगा वृक्ष भी उसके सम्पर्क से चन्दन जैसी गन्ध वाला हो जाता है और प्रकाश के संग में आने वाली वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। सम्पर्क-संसर्ग अथवा उपस्थिति को गुण-दोषों की ग्राह्यता का बहुत बड़ा कारण माना गया है।

उपासना में रहने वाला व्यक्ति परमात्मा के समीप ही रहता है और उसके परिणामस्वरूप उसकी विशेषतायें ग्रहण करता रहता है। परमात्मा सारी श्रेष्ठताओं तथा उत्कृष्टताओं का विधान है। इसलिए वे गुण उस उपासक में भी आने और बसने लगते हैं। कोई कारण नहीं कि मनुष्य हिमाच्छादित पर्वतों के समीप रहे और शीतलता अनुभव न करे। फूलों से भरी वाटिका में रहने पर तन मन सुगन्धित न हो उठे, ऐसा होना सम्भव नहीं। जो भी उपासना द्वारा परमात्मा का सामीप्य प्राप्त करेगा उसके समीप बना रहेगा, उसमें परमात्मा का गुण, श्रेष्ठता का स्थानान्तरण होना चिर स्वाभाविक और निश्चित ही है।

हजारों-लाखों व्यक्ति नित्य ही पूजा-पाठ करते दिखलाई देते हैं। वे ऐसा भी समझते हैं कि उपासना कर रहे हैं। बहुत से दूसरे लोग भी उन्हें उपासक मान बैठते हैं। पर उनकी यह उपासना वांछित फल के साथ सफल नहीं होती।

न तो उन्हें श्रेष्ठता मिलती है और न आत्म-शांति। वे पूजा-पाठ करने के बाद भी झूठ बोलते हैं, मक्कारी करते हैं। क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत रहते हैं जिसके फलस्वरूप मन में न तो शीतलता और न आत्मा में सन्तोष की अनुभूति होती है। ज्यों के त्यों, शोक-सन्तापों, यातनाओं, त्रासों, शंकाओं, अभावों तथा असन्तोषों से पीड़ित रहा करते हैं। पूरी तरह से तथावत भव-रोगी बने रहते हैं। परमात्मा के वे श्रेष्ठ गुण, जिन्हें प्रेम, सौहादर्य, करुणा, दया, आत्मीयता, आनन्द, सन्तोष, शान्ति आदि के नामों से पुकारा जाता है, प्राप्त नहीं होते। शतशः सिंचन के बाद भी स्थाणु के स्थाणु बने रहते हैं। न उनमें कोई पल्लव प्रस्फुटित होते हैं और न खिलते हैं।

परमात्मा की उपासना करने से उसकी श्रेष्ठताओं का आत्मान्तरिक होना एक अटल सत्य है। इसमें अपवाद हो ही नहीं सकता। जब उपासना करता दिखलाई देने पर भी किसी व्यक्ति में श्रेष्ठ परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर न हों तो कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति असंदिग्ध घोषणा कर सकता है कि वह उपासना, उपासना नहीं, बल्कि उसका आडम्बर मात्र है, दिखावा है, प्रदर्शन है।

सच्ची उपासना का अर्थ है आत्मा को परमात्मा से जोड़ देना। ऐसा करने पर, जिस प्रकार किसी प्रणाली द्वारा खाली जलाशय को भरे जलाशय में सम्बन्धित कर देने से उसकी जलराशि उसमें भी आने लगती है और रिक्त जलाशय भी उसकी तरह ही पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा द्वारा परमात्मा से सम्बन्ध बना लेने से परमात्मा की श्रेष्ठताएँ मनुष्य में भी प्रवाहित हो आती हैं। किन्तु इस माध्यम के बीच कोई व्यवधान रख दिया जाये तो प्रवाह रुक जायेगा और जलाशय को जल और मनुष्य को श्रेष्ठता प्राप्त नहीं होगी।

आग के पास आने पर ठण्डा लोहा ऊष्मा प्राप्त करता है। पर यदि आग और उसके बीच लकड़ी का एक पटला रख दिया जाये तो लोहा आग की गरमी से वंचित रह जायेगा। इसी प्रकार, जब उपासना की विधि में आत्मा और परमात्मा के बीच कामनाओं का व्यवधान डाल दिया जाता है तो मनुष्य परमात्मा को ग्रहण करने से वंचित रह जाता है। जिन उपासकों में परमात्मा के लक्षण संकलित होते दिखलाई न दें समझ लेना चाहिये कि उसकी आत्मा और परमात्मा के बीच कामनाओं, वांछनाओं तथा वासनाओं का व्यवधान पड़ा हुआ है और जब तक वह व्यवधान हटाया नहीं जायेगा, उपासना का वास्तविक फल प्राप्त होना सम्भव नहीं। अधिकांश पूजा-पाठ तथा चन्दन-वन्दन करने वाले उपासना नहीं उपासना का आडम्बर ही किया करते हैं। या उसके आधार पर उन्हें अपनी महत्व प्रदर्शन करने का भाव घेरे रहता है अथवा उनकी उपासना का लक्ष्य किसी कामना की पूर्ति रहता है परमात्म-तत्व की प्राप्ति नहीं।

मनुष्य जीवन का चिर साध्य है आत्म-शान्ति, जिसका आधार है वे श्रेष्ठताएँ जो परमात्मा के स्वाभाविक गुण हैं और जिन्हें उपासना के आधार पर ही पाया जा सकता है। किन्तु सच्ची उपासना वह है जो केवल उपासना के लिए निष्काम होकर की जाये।

निष्काम रूप से उपासना प्रारम्भ कर परमात्मा से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करिये और श्रेष्ठताओं की उपलब्धि कर सुख-शान्ति के अक्षय आनन्द से भरे जीवन और अनन्त अन्त की परख कीजिए।

उपासना का उद्देश्य आत्म-शान्ति

अनेक बार लोग कह उठते हैं कि—"यह हमारा व्यक्तिगत अनुभव है कि अधिक उपासना करने वाले लोग बहुधा विपन्न और दुःखी ही रहा करते हैं।"

संसार का कोई भी सच्चा उपासक इस विपरीत कथन से सहमत नहीं हो सकता। उपासना का परिणाम तो सन्तोष, शान्ति, प्रफुल्लता, आशा, विश्वास तथा आनन्द ही होता है। तब उसको धारण करने वाले को विपन्नता और दुःख किस प्रकार हो सकता है ? मनुष्य वृक्ष की घनी छाया में बैठे और उसका आतप-ताप दूर न हो, फूलों से भरी वाटिका में विहार करे और उसका तन-मन न महक उठे,

ऐसा किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? उपासना के माध्यम से परमात्मा के समीप रहने पर आत्मा में आनन्द का सागर न लहराने लगे यह सम्भव नहीं।

प्रेम, करुणा, आत्मीयता और आनन्द की पावन धारायें निरन्तर ही परमात्मा से प्रवाहित होती रहती हैं। इन्हीं अमरत्व तत्वों से ही तो संसार के प्राणियों और पेड़-पौधों का पालन-पोषण होता है। एक क्षण को भी यदि वह परम दयालु परमात्मा अपनी इस कृपा को रोक ले तो इस सुन्दर संसार को नष्ट होते देर न लगे। ऐसे आनन्दकन्द परमात्मा के संसर्ग में आकर कोई विपन्न और दुःखी रहे, यह तो अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

उपासना का परिणाम आत्मानन्द और आत्म-सन्तोष है। उपासना करने से इन्हीं की उपलब्धि होगी। भौतिक विभूति और आर्थिक उपलब्धियों के लिए पुरुषार्थ और परिश्रम का नियम निश्चित है जो इस नियम का उल्लंघन करते हैं या करेंगे, उन्हें विपन्न रहना ही पड़ेगा। परमात्मा ने जब साधन, शक्ति, उपाय एवं बुद्धि की व्यवस्था करके भौतिक उपलब्धियों का मार्ग प्रशस्त कर दिया तब क्या कारण है कि लोग उससे उपासना के पुरस्कारस्वरूप धन-दौलत और सुख-सुविधा चाहते हैं। यह अनाधिकार चेष्टा है, जिसको स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपासना करते हुए भी जो विपन्न और दुःखी रहते हैं, वे सच्चे उपासक नहीं। प्रभु के पास उनका गमन ठीक वैसा ही होता है, जैसे कि कोई बच्चा मन्दिर की प्रार्थना में प्रसाद के लालच में शामिल होने जाता है। ऐसे लालची लोग उपासना का वह आनन्द नहीं पा सकते, जो भक्ति रस में डूबे हुए भावों के साथ प्रभु को आत्म-समर्पण करने वाले उपासकों को मिलता है। प्रभु के चरणों में अपनी अन्तरात्मा को निष्काम-भाव से अर्पण करने वाले भक्ति-विभोर और प्रसाद की मिठाई लेने के उद्देश्य से उपस्थित लोगों में जो अन्तर होता है, वही अन्तर सच्चे तथा वंचक उपासक में होता है।

अस्तु, उनकी प्राप्ति भी अपनी-अपनी भावना एवं स्तर के अनुरूप ही होगी। एक उपासना के उसी फल को चाहता है, जो उसके साथ नियत है और दूसरा वह कुछ चाहता है, जिसकी नियति किन्हीं अन्य साधनों तथा उपायों से है। ऐसे ना-समझ और नियति विरोधियों की ओर वह परम दयालु परमात्मा भी कुछ अधिक ध्यान नहीं दे पाता। निदान वे विपन्न तथा दुःखी बने रहते हैं।

भौतिक विभूतियों के लोभी उपासक का विपन्न रहना स्वाभाविक ही है। वह कुछ देर परमात्मा का चिन्तन अथवा भजन-पूजन करने के बाद अकर्मण्य होकर बैठा रहता है और प्रतीक्षा किया करता है कि अब उसकी उपासना के मूल्यरूप धन-दौलत और सुख-साधन का हेतु परमात्मा का वरदान उस पर बरसने वाला ही है, जिसके परिणामस्वरूप उसके लिए उन्नति, विकास तथा वैभव का द्वार स्वयं खुल जायेगा और वह बैठे-बैठाये मुफ्त में ही मालामाल होकर सर्व-सुख-सम्पन्न हो जायेगा।

कितना गलत विश्वास और कैसी भ्रान्त धारणा है। पुरुषार्थ तथा परिश्रम के बल पर मिलने वाली भौतिक सम्पदायें यों बैठे ही बैठे किस प्रकार मिल सकती हैं। इसी वंचकता के कारण ही तो बहुत से अवास्तविक उपासक जीवन भर परमात्मा का भजन-पूजन करने के बाद भी विपन्न और दुःखी बने रहते हैं और बाद में अपने इस कटु अनुभव को सिद्धान्त के रूप में लोगों के सामने रखते हुए कहा करते हैं कि—"बहुधा देखा जाता है कि अधिक उपासना करने वाले लोग विपन्न तथा दुःखी बने रहते हैं।"

उपासना स्वार्थ से नहीं प्रेम से प्रेरित होकर की जानी चाहिए। उपासना के पीछे निहित लक्ष्य भौतिक विभूतियों, बाह्य उपलब्धियों तथा आर्थिक उन्नतियों का नहीं बल्कि आत्मिक शान्ति, सन्तोष तथा आनन्द का ही होना चाहिये। यही अनुकूलता एवं अनुरूपता है। ऐसा सच्चा और अनुकूल उपासक जब परमात्मा की समीपता में आता है तो उसमें दैवी श्रेष्ठताओं की अभिवृद्धि होती है। परमात्मा समस्त श्रेष्ठताओं का उद्गम है, उसका सामीप्य आत्मा में अनुदिन

श्रेष्ठताओं को ही स्थानान्तरित करता चलता है। पर-निन्दा, ईर्ष्या, द्वेष लोभ, लालच आदि के अदैवी दोष उससे दूर होते जाते हैं और शीघ्र ही वह प्रभातकालीन समुद्री वायु की तरह निर्विकार तथा निरुद्विग्न होकर आनन्द में स्थित हो जाता है।

जो प्रेम और समर्पण की श्रेष्ठ भावनाओं को लेकर परमात्मा के पावन चरणों में जाता है, उसे उसका प्रतिपादित प्रेम प्राप्त होते देर नहीं लगती है। परमात्मा की उपासना का प्रतिफल पाने के लिए प्रतीक्षा तो उन्हें करनी पड़ती है, जो दीन-हीन भिक्षुक के समान उसके सामने उन वस्तुओं के लिये रिरियाते रहते हैं, जिनको वह शक्ति, विवेक, उपाय तथा अवसरों के रूप में पहले ही दे चुका है। केवल इन विशेषताओं का प्रयोग ही मनुष्य का काम रह जाता है। जिसने हल, बैल, जल, भूमि और शक्ति दे दी है, उससे अब यह आशा करना कि वह खेती भी करे और उससे उत्पन्न फसल उसको दे दे तो यह एक दुराशा ही नहीं अनाधिकार चेष्टा है, जो कि किसी दशा और किसी मूल्य पर भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

परमात्मा की उपासना का जो प्रतिफल नियत है, उसकी इच्छा के साथ उपासना करना समीचीन तथा न्यायसंगत है। जल से आग और आग से जल की आशा करना न केवल असंगत ही है बल्कि अन्यायपूर्ण मूर्खता है। उपासना से कामनाओं का कलुष मिटता है, जिससे मनुष्य के हृदय से याचकता का दोष निकल जाता है। उपासना से वासनाओं का शमन होता है, जिससे आन्तरिक शान्ति की वृद्धि होती है। उपासना से तृष्णा का ताप नष्ट होता है, जिससे शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति होती है। उपासना से चिन्ता भय, घृणा, अशान्ति, दुष्ट तथा द्वेष के दोष मिटते हैं। आत्मा में प्रकाश तथा आनन्द की समाविष्टि होती है, न कि उसमें धन-दौलत और सम्पदाओं की उपलब्धि होती है।

उपासना और आत्म-शान्ति एक ही बात के दो पक्ष हैं। आत्मा जब अपनी आदि एवं उद्गम सत्ता की ओर उन्मुख होगी तो निश्चय ही आत्मलोक और आनन्द की प्राप्ति होगी। आत्मा पर परमात्मा का प्रकाश पड़ते ही उसमें सत्-चित् आनन्द के रूप में उसका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो उठेगा, जिससे साधारण मनुष्य भी परमात्मा-स्वरूप होकर नर से नारायण और अंश से अंशी बन जाता है। उपासना की इतनी बड़ी उपलब्धि छोड़कर व्यक्ति उसके आधार पर नश्वरता एवं निस्सारता से दूषित बाह्य एवं भौतिक सम्पत्तियों की कामना करते हैं, अवश्य ही उनकी बुद्धि पर तरस आने को जी चाहता है।

मनुष्य धन-दौलत अथवा भौतिक विभूतियाँ क्यों चाहता है ? इसीलिये कि उसे सुख-शान्ति और सन्तोष मिले और बहुत से लोग इसी लक्ष्य को आगे रखकर उपासना में निरत होते हैं। पर सोचने की बात है कि जब निर्लोभ उपासना के आधार पर अहेतुक, अविनश्वर, अक्षय और अनन्त आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, तब निकृष्ट सुख को लक्ष्य बनाकर उपासना में कौन-सा विवेक अथवा दूरदृष्टि है ? निर्विकार उपासना द्वारा आत्मानन्द की उपलब्धि हो जाने पर जब किसी सुख की प्राप्ति शेष ही न रह जायेगी तब धन-दौलत अथवा वैभव भण्डारों की क्या तो महत्ता रह जायेगी और क्या प्रयोजन ? उद्देश्य जीवन को सुखी बनाना है और जब वह उपासना द्वारा अनायास और अनाधारित रूप में आनन्दित हो सकता है, तब अनावश्यक आडम्बरों का बोझ अपने सिर पर रखना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। जिस प्यास को मिटाने के लिए जिस उपाय से अमृत-सागर की उपलब्धि हो सकती है, उसी उपाय के आधार पर तालाब से दो चुल्लू पानी की आशा करना आन्तरिक हीनता के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

दरिद्रता की द्योतक भौतिक कामनाओं को साथ लेकर उपासना करने वाले सदा-सर्वदा ही दरिद्र बने रहते हैं। जबकि अवंचक उपासना के पुरुषार्थी निराधार रूप से देवताओं जैसे सुखी

और सम्पन्न बने रहते हैं। उनकी कामनायें, तृष्णायें और वासनायें मिट जाती हैं और उनका जीवन मानसरोवर की तरह निर्मल, शान्त, शीतल और प्रसन्न हो जाता है।

उपासना जीवन की सर्वोपरि बुद्धिमत्ता है किन्तु तब जब वह निर्लोभ और निर्विकार रूप से की जाये। धन दौलत और भौति सुख-साधन पुरुषार्थ और परिश्रम के प्रतिफल हैं। इनको उपासना के प्रतिफलों में जोड़ना क्षीर में क्षार मिलाने के समान असंगत है। इससे सारा रस और सारा उद्देश्य भंग हो जाता है। केवल निष्फलता और निराशा ही हाथ लगती है। आत्म-प्रसन्नता के लिये उपासना कीजिये और भौतिक विभूतियों के लिये पुरुषार्थ। इन दोनों का सन्तुलन बनाये रखने वाला भीतर-बाहर दोनों ओर सुखी, शान्त, सम्पन्न और सन्तुष्ट बनकर लोक, परलोक के सारे पदार्थ पा जाता है।

उपासना के साथ कामनायें न जोड़ें

ईश्वर की उपासना का वास्तविक प्रतिफल अन्तर में स्थायी सुख, शान्ति और सन्तोष की वृद्धि होना माना गया है। यदि ऐसा नहीं होता तो मानना होगा कि उपासना के स्वरूप में कोई कमी चल रही है।

यहाँ पर उपासना के स्वरूप से आशय उपासना की विधि, सामग्री अथवा उसके स्थान आदि से नहीं है। उसका तात्पर्य उस मनोभाव से है, जो उपासना के आगे-पीछे उपस्थित रहता है। उपासना में महत्व क्रिया-विधि अथवा साधन सामग्री का नहीं है। महत्व है—भावना का। यदि उपासक की भावना ठीक उपासना के अनुरूप है तो निश्चय ही वह फलवती होगी। फल भावना के आधीन है, उस क्रम अथवा उपकरण के आधीन नहीं। मन्दिर का एक पुजारी दोनों समय जीवन भर आरती-पूजा करता रहता है पर उसका उसे कोई प्रतिफल नहीं मिलता। उसके जीवन का स्तर वही बना रहता है। उसके मानसिक विकास में कोई प्रगति नहीं होती। उसकी अशान्ति-असन्तोष और आत्मिक अभाव ज्यों का त्यों बना रहता है। वह ठीक वैसा ही आदमी एक लम्बी अवधि के बाद भी बना रहता है, जैसा कि वह पूजन-क्रिया में आने से पूर्व था।

एक पुजारी दस-बीस वर्ष और कभी-कभी आजीवन तक मन्दिर में पूजा-आरती करता रहता है। किन्तु उसे उसका वह फल नहीं मिलता जो उपासना के परिणामस्वरूप मिलना चाहिये। इसका एक ही कारण है, वह यह कि उसकी, उस क्रिया में वास्तविक उपासना की भावना नहीं होती। उसकी भावना मन्दिर के अधिकारियों की नौकरी करने की होती है। अतः वह नौकर मात्रा ही रह जाता है। उपासक नहीं हो पाता।

इस बात को एक श्रमिक और एक पहलवान के उदाहरण से भी समझा जा सकता है। दोनों शारीरिक श्रम करते हैं। पसीना बहाते हैं। शारीरिक श्रम का प्रतिफल शारीरिक विकास ही होता है। पर मजदूर मेहनत करता-करता घिस जाता है। उसका शरीर क्षीण होता जाता है पर पहलवान उसी शारीरिक श्रम से शारीरिक विकास की ओर बढ़ता है, इसका एकमात्र कारण भावना के अन्तर्गत निहित है। मजदूर जब मेहनत करता है, तब उसकी भावना आजीविका के लिये किसी को मजदूरी करने की रहती है और मल्ल जब व्यायाम के रूप में शारीरिक श्रम करता है तो उसकी भावना शारीरिक विकास की ओर प्रगति करने की रहती है। इसी भावना के कारण मजदूर का शरीर क्षीण होता है और पहलवान का विकसित।

इसी प्रकार न जाने कितने लोग प्रातःकाल उठकर अपने काम-काज के लिये जाया करते हैं और अनेक उसी समय प्रातः भ्रमण अथवा वायु-सेवन के लिये जाते हैं। प्रातःकाल का भ्रमण और वायु दोनों ही स्वास्थ्यदायक होते हैं पर अपनी भावना के अनुसार पूर्व पक्ष के लोगों के स्वास्थ्य में कोई अन्तर नहीं आता, पर, दूसरे पक्ष के लोगों के मुख पर लाली, शरीर में स्फूर्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार पता चलता है कि किसी क्रिया के फल का आधार उसमें निहित भावना ही है न कि वह क्रिया अथवा उससे सम्बन्धित उपकरण।

उपासना की आय और आन्तरिक विकास न हो, आत्म-सुख, आत्म-शान्ति और आत्म-सन्तोष

में वृद्धि न हो, यह सम्भव नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो मानना होगा कि उसमें निहित भावना अनुरूपिणी नहीं, विरूपिनी है। अवश्य ही ऐसा असफल उपासक ईश्वर के सामीप्य अथवा उसके निहित फल की भावना नहीं रखता। उसके हृदय में कोई अन्यथा भावना ही चलती रहती है।

अधिकांश लोग जो उपासना के फल से वंचित रहा करते हैं, अपने मन में धन-सम्पत्ति आदि भौतिक लाभों की ही भावना रखते हैं। जिन उपलब्धियों का आधार अन्य प्रकार के भौतिक पुरुषार्थ हैं, उनको आध्यात्मिक आधार पर पाने की आशा उसी प्रकार से उपहासास्पद है, जिस प्रकार कोई आम के बीज बोकर सन्तरे की कामना करते हैं अथवा बम्बई की दिशा में चलकर कलकत्ते पहुँचना चाहते हैं। भौतिक साधना का फल भौतिक और आध्यात्मिक साधना का आध्यात्मिक होगा, यह तो एक बड़ा ही स्थूल और निर्विवाद सत्य है।

भौतिक विभूतियों की कामना है तो उसके लिए भौतिक श्रम, पुरुषार्थ और अध्यवसाय किया जाना चाहिए। कार-रोजगार और शिल्प-साधना की जानी चाहिए और यदि आत्म-सुख, आत्म-विकास आत्म-सन्तोष, आत्म-विस्तार, आत्म-दर्शन आदि आध्यात्मिक सम्पदाओं की कामना है तो आध्यात्मिक उपासना, आध्यात्मिक पुरुषार्थ चाहिए। इन दोनों भिन्न क्षेत्रों को एक-दूसरे से मिलाना नहीं चाहिये। हाँ ! इन दोनों को एक-दूसरे का सहायक अवश्य बनाया जा सकता है।

आध्यात्मिक उपासना में यह मात्र भाव रखने में कोई हर्ज नहीं कि—हमें इस उपासना द्वारा वह शक्ति, वह आत्म-विश्वास और वह बुद्धि मिले, जिसके बल पर हम न्याय, नीति और सदाचार द्वारा अपने भौतिक उद्योगों में सफल हो सकें। उपासना के फलस्वरूप भौतिक सम्पदाओं की स्थूल उपलब्धि की कामना करना असंगत है, उसके लिए शक्ति और क्षमता की याचना ही उचित है। ईश्वर की कृपा सूक्ष्म शक्तियों ही के रूप में होती है, स्थूल पदार्थों के रूप में नहीं।

तथापि भौतिक विभूतियों के लिए शक्ति की याचना भी तभी उचित, संगत और अध्यात्मोचित होगी, जब साथ में यह भी भावना रहे कि आप उस उपलब्ध सम्पदा का उपयोग भी परमार्थ मार्ग में ही करेंगे। यदि आपकी सम्पदाओं का उद्देश्य स्वार्थ, मोक्ष-विलास अथवा विषय-वासनाओं के साथ अहंकार तुष्टि की भावना से दूषित है तो भी उपासना द्वारा भौतिक सफलताओं के लिये शक्ति सम्बल के रूप में ईश्वरीय अनुकम्पा की याचना करना असंगत ही उठेगा और आपकी वह उपासना असफल चली जायेगी। अस्तु, उपासना की सफलता को मूर्तिमान् रूप में देखने के लिये भावनाओं के सम्बन्ध में बहुत ही सतर्क, सावधान तथा यथार्थपूर्ण रहना ही होगा।

फिर भी उपासना के साथ इन सब बातों को जोड़ना, घटाना, उलझन और असमंजस से भरी मानसिक क्रियाएँ हैं। यदि उपासना जैसी पवित्र तथा पुनीत बात को इन सब बातों से सर्वथा पृथक ही रखा जाये तो अधिक मांगलिक होगा। उपासना का प्रयोजन तो मात्र आत्मा को परमात्मा के सान्निध्य में लाना ही है। जिस बात का लक्ष्य परमात्मा के सान्निध्य जैसी ऊँची वस्तुएँ हों उसके बीच में सांसारिक कामनाओं जैसी निम्न स्तर की बात को लाना अपनी अनाधिकारिक पात्रता को सिद्ध करना ही है। यदि हम अपनी सांसारिक वितृष्णाओं, इन्द्रिय लिप्साओं और भौतिक कामनाओं को अमरत्व नहीं दे सकते और इन भवपाशों को धारण किये हुए ही परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करना चाहेंगे तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? यह तो बड़े ही साधारण विचार की बात है।

ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है, आत्मा को परमात्मा से योजित करना अभीष्ट है तो उपासना जैसे साधन और परमात्मा जैसे साध्य के बीच में किसी प्रकार की कामना जैसे व्यवधान को नहीं ही लाना होगा। यदि हमें सूर्य के दर्शन अपेक्षित हैं, दीपक का प्रकाश देखना है तो बीच के आवरण को हटाना ही होगा। यदि हम चाहते हैं कि परमात्म तत्त्व की आनन्दमयी धारा हमारी आत्मा में निर्झरित हो तो सारी कामनाओं का व्यवधान हटाना होगा अन्यथा उपासना से आकर्षित होकर आई हुई वह पावन धार बीच में अवस्थित कामनाओं के

व्यवधान से टकरा कर इधर-उधर बह जायेगी और आत्मा उससे वंचित ही रह जायेगी।

सच्ची, उन्नत और आदर्श उपासना तो तभी होगी, जब हम सर्वथा निष्काम और निष्प्रयोजन ही रहें। यहाँ तक कि परमात्मा की कृपा की भी कामना न करें। इतनी उन्नति निष्काम उपासना से आत्मा न केवल परमात्व तत्व के आनन्द की अधिकारी बनती है, बल्कि परमात्म रूप ही हो जाती है। आत्मा तो यों भी परमात्मा का ही रूप है। केवल जीव ने अपनी भौतिक वितृष्णाओं का आवरण डालकर उसे अपना स्वरूप भुला दिया है। यह असंगत आवरण हटाइये, आत्मा परमात्मा रूप हो जायेगी जो स्वयं आनन्द रूप परमात्म स्वरूप है, उस आत्मा के लिये परमात्मा की अनुकम्पा की याचना भी क्या। उपासना द्वारा आत्मा को उसका सत्य स्मरण कराइये, परमात्मा के समीप जाइये अर्थात् आत्मा को उस तत्व की अनुभूति कीजिये और देखिये कि अपना स्वरूप पहचानने लगती है या नहीं।

इस स्मरण के लक्षण यह हैं कि जब कामनाओं की कमी, वासनाओं का तिरोधान, स्वार्थ का शमन और परमार्थ का विकास होने लगे तब समझना चाहिए कि आत्मा में स्मरण के क्षण आने लगे हैं और जब उसको संसार के सारे प्राणी, संसार के सारे पदार्थ और संसार के सारे सुख-दुःख अपने और अपनी अनुभूतियाँ विदित होने लगें, तब जानना चाहिए कि आत्मा ने अपने सत्य स्वरूप की ओर यात्रा प्रारम्भ कर दी है और जब यही अनुभव विशाल से विशालतर होकर विराटता से विकसित हो जाये और यह निखिल ब्रह्माण्ड अपने में और आत्मतत्व इस निखिल ब्रह्माण्ड में अनुभूत होने लगे, शरीर, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि, विवेक के साथ इनकी सारी वृतियाँ विस्मित होकर केवल आत्म-ज्ञान—आत्म-ज्ञान ही शेष रह जाये, तब समझना चाहिए कि आत्मा अपने सत्य-स्वरूप में आ गया है और अब शीघ्र ही मुक्त होकर वह परमात्मा से मिलकर उसी का रूप बन जायेगा।

यह उन्नत स्थिति, यह सत्य स्वरूप और यह साम्राज्य उपासना द्वारा सर्वथा सम्भव है। किन्तु इसके लिये समय और धैर्य के साथ सतत् साधना की आवश्यकता है। थोड़ी-थोड़ी उपासना करते चलिये। एक-एक करके अपनी कामनाओं को थिराते और वासना को छोड़ते चलिये। साधना पूरी होगी तो सिद्धि स्वयं आ उपस्थित होगी। इस जन्म में नहीं अगले में और अगले में नहीं तो उसके बाद में। साधना की न तो कोई अवधि है और न इतनी बड़ी उपलब्धि के लिये कोई भी कालावधि अधिक है।

मनुष्य जीवन अक्षय और अनन्त है। जल-बुल्ले की तरह यह शरीर न जाने कितनी कितनी बार बनता और बिगड़ता रहेगा पर अनादि जीवन का प्रवाह अनन्त रूप से यों ही बहता चला जायेगा। महत्व शरीर का नहीं, महत्व है उसमें बन्दी आत्मा का जिसे उपासना द्वारा मुक्त करना ही है और जो प्रयत्न द्वारा एक दिन मुक्त की भी जा सकती है।

उपासना—अन्तःकरण की गहराई से

मानव जीवन के लाभों में सबसे बड़ा लाभ यह है कि मनुष्य को परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हुआ है। वह इस मानव योनि में ही आकर यह जान सका है कि इस निखिल ब्रह्माण्ड धारण तथा संचालन करने वाली ऐसी सत्ता है, जिसे परमात्मा नाम से अभिज्ञात किया गया है और हमारा उससे निकट का सम्बन्ध है। यही क्यों, कहना चाहिये कि हम उसके ही एक रूप हैं। उसी की शक्तियाँ और उसी की विशेषताएँ मानवता के रूप में हममें काम कर रही हैं।

मानव के अतिरिक्त संसार में और भी असंख्यों जीव तथा प्राणी हैं। पर उनमें से किसी को भी परमात्मा का ज्ञान नहीं है। परमात्मा का ज्ञान तो दूर, वे अपनी आस-पास की प्रकृति के सम्बन्ध में भी जानकार नहीं होते। विवेक, जिसके आधार पर परमात्मा को जाना गया है और आगे भी जाना जायेगा, मनुष्येत्तर प्राणियों में नहीं होता। यह सौभाग्य एकमात्र मनुष्य को ही प्राप्त हो सका है। क्योंकि यह प्राणियों की सर्वोच्च कोटि है। चौरासी लाख नगण्य यौनियों में भटकने और ठोकर पाने के बाद हम मनुष्यों को यह सर्वोच्च कोटि प्राप्त हुई है।

इस सर्वोच्च कोटि के मिलने का भी एक रहस्य है। वह यह कि जीवन एक ऐसा अवसर है जिनका सदुपयोग करके मनुष्य अपने आदि स्रोत परमात्मा को पा सकता है, उसमें तद्रूप हो सकता है और तब उसके बाद यह जीवन-मरण की यात्रा समाप्त हो जायेगी। यदि हम मनुष्य इसी जन्म में अपनी साधना और सत्कर्मों द्वारा उस परमात्मा को पाने का प्रयत्न प्रारम्भ नहीं कर देते तो निश्चय ही हमको न जाने कौन-सी आदि योनि में चौरासी लाख की मात्रा पूरी करने के लिये जाना होगा और न जाने उसे पूरा करने में कितने युगों तक अधमता की यातना सहनी पड़े। हाँ, यदि हम अपने इस जीवन में परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय शुरू कर दें तो और इस जीवन में उसकी न भी पा सके तो भी यह क्रम आगे भी चलता रहेगा और अपना प्रयत्न आगे बढ़ाने के लिये हमें पुनः मनुष्य योनि ही प्राप्त होगी। इस प्रकार एक नहीं अनेक जन्मों के प्रयत्न से हम एक दिन परमपिता परमात्मा को प्राप्त कर ही लेंगे। किन्तु यदि प्रारम्भ न किया गया तो लक्ष्य की प्राप्ति सर्वदा असम्भव बनी रहेगी।

परमात्मा की प्राप्ति के उपायों में एक सबसे सरल और सुबोध उपाय है—उपासना। यदि नित्य-प्रति मनुष्य थोड़ी बहुत उपास्ना करता चले तो संसार के सारे काम करते हुये भी लक्ष्य की ओर उसकी यात्रा होती रहे। और जिस प्रकार बूँद-बूँद करके घट भर जाता है, एक-एक गिनकर सौ हो जाते हैं और कदम-कदम चलकर कोस पूरा कर लेते हैं उसी प्रकार उपासना द्वारा दिन-दिन रेंगते हुये भी हम जन्म-जन्मान्तरों में किसी भी चाल से अपने लक्ष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेंगे।

उपासना का कोई एक ही प्रकार निश्चित नहीं है। यह बहुत प्रकार से हो सकती है। जैसे विधि-विधान पूर्वक कर्मकाण्ड करना, समस्त आड़म्बरों सहित पूरा करना, वेदों, पुराणों तथा शास्त्रों का पारायण करना, भजन, कीर्तन और प्रार्थना करना। योग, ध्यान और जप करना। सन्तों, ज्ञानियों तथा महात्माओं का सत्संग करना—इस प्रकार त्याग, तपस्या आदि न जाने उपासना के कितने प्रकार एवं स्वरूप हैं। यदि कहना चाहें तो सारांश में यों भी कह सकते हैं कि सारी शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक क्रियाएँ उपासना ही हैं जिनका विषय अध्यात्म अथवा परमात्मा है। इसी प्रकार सत्कर्म, समाज-सेवा, आत्म-सुधार, सृजन तथा अनुशासन, भ्रष्टाचार आदि सारे काम तथा भाव उपासना के अन्तर्गत आते हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त जितना भी पारमार्थिक प्रसंग है वह सब उपासना के अन्तर्गत हो जाता है। अब उनमें से कोई भी अपनी सुविधा, सामर्थ्य तथा स्थिति के अनुसार चुन सकता है।

हम सभी जानते हैं कि परमात्मा एक देशीय न होकर सर्वव्यापक है। कोई भी स्थान उससे रिक्त नहीं है। वह हर समय हर स्थान पर विद्यमान रहता है। इसी प्रकार वह संसार की प्रत्येक वस्तु और क्रिया में वर्तमान है और सर्वदा रहेगा। संसार की गोचर-अगोचर कोई वस्तु, सूक्ष्म अथवा स्थूल, कोई भी व्यक्ति, कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसमें परमात्मा का निवास न हो। इसी प्रकार मनुष्य की अथवा प्रकृति की कोई भी गोचर अथवा अगोचर क्रिया ऐसी नहीं है जिसमें उस सर्वव्यापक और उस प्रेरक परमात्मा की साक्षी न होती हो। वही सब कहीं, सब बातों में, सब समय मौजूद रहता है। जिस प्रकार उपासना—क्रियाओं में परमात्मा का भाव और तदनुरूप पवित्रता रक्खी जाती है, यदि उसी प्रकार मनुष्य अपने जीवन की प्रत्येक अन्य क्रिया में भी वही भाव एवं पवित्रता रक्खे और जिस प्रकार अपनी पूजन सामग्री परमात्मा को समर्पित करता है उसी प्रकार अपने सर्वस्व में भी समर्पण का भाव रक्खे तो उसकी अणु-अणु क्रिया ही उपासना के रूप में बदल जाये और वह हर समय परमात्मा का सामीप्य अनुभव करता रहे। उसका समग्र जीवन ही उपासना रूप हो जाये। ऐसी दशा में वह जीवन-काल ही में जीवन-मुक्त हो जाये। उसे अपना तथ्य पाने के लिये फिर न तो अलग से कोई क्रिया-कलाप करना पड़े और न जन्म-जन्मान्तर की प्रतीक्षा ही करनी हो। वह एक इस ही जीवन में परमात्मा को पाकर मुक्ति, मोक्ष अथवा निर्वाण की स्थिति में पहुँच जाये।

आज जब हमने जन्म-जन्मान्तर की यातना तथा साधना के बाद इस मानव-जीवन में आकर परमात्मा की सत्ता का ज्ञान पा लिया है और यह भी जान लिया है कि हम उसी परमात्मा के अंश हैं तो इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है कि हम अपने उस सत्य स्वरूप को पाने का प्रयत्न न कर पुनः असंख्यों अधम योनियों में भटकने के लिये वापस चले जायँ। उसे पागल के सिवाय और क्या कहा जा सकता है जो जिस कक्षाओं को उत्तीर्ण कर चुका है उन्हीं में वापस जाने की मति पैदा करे। उच्च पद पर से पतित हो जाने से बढ़कर जीवन की असफलता और क्या हो सकती है ? पर यदि इस परमात्मा को पाने के लिये उपासना के उपाय में नहीं लगते तो निश्चय ही जीवन की असफलता की आशंका बनी हुई है।

हमारा प्रत्येक भाव, विचार, क्रिया और वस्तु उपासना का स्वरूप बन जाये—इस उच्च स्थिति को पाने तक हमारा पावन कर्त्तव्य है कि हम प्रतिदिन सच्चे और गहरे मन से परमात्मा की थोड़ी-थोड़ी उपासना तो करते ही चलें। यह थोड़ी-थोड़ी उपासना भी जब हमारे जीवन में अनिवार्य आवश्यकता बनकर हमें अपने अभाव में सताने लगेगी तब इसी उपासना में एक आनन्द, एक विह्वलता और एक कातरता का समावेश होने लगेगा। इस भाव-सम्पन्न संक्षिप्त उपासना का प्रभाव तब हमारे दिन के एक लम्बे समय तक बना रहेगा और हम उतनी देर तक परमात्मा का सामीप्य करते रहेंगे। इसी प्रकार यह संक्षिप्त उपासना ज्यों-ज्यों परिपक्व तथा आत्मसात् होती जायेगी त्यों-त्यों उसका प्रभाव विलम्बित एवं स्थायी होता जायेगा, और यदि उपासना में अपने हृदय की गहराई और ईमानदारी अधिकाधिक बढ़ाई जाती रहे तो जरा भी असंभाव्य नहीं कि इस संक्षिप्त उपासना द्वारा जल्दी ही उस कक्षा में जा पहुँचेंगे, जहाँ पहुँचकर स्वयं अपने के साथ सारा संसार परमात्मामय और परमात्मा संसारमय गोचर होने लगता है और अपनी क्रिया-प्रक्रिया, भाव, विचार और श्वांस-प्रश्वांस तक परमात्म रूप अनुभव होने लगती है।

सच्ची उपासना का स्वरूप

उपासना में आनन्द कब नहीं आता ? जब कोई मनुष्य उसे सामान्य जीवन-क्रम से भिन्न एक विशेष कर्त्तव्य समझकर करता है। ऐसा भाव रहने से कुछ समय बाद उपासना उसे एक अनावश्यक बेगार-सी अनुभव होने लगती है, जिससे वह आनन्द अनुभव करने के स्थान पर थकान अनुभव करने लगता है। और कुछ ही समय में उसे छोड़-छाड़ कर बैठ रहता है।

मनुष्य का सहज स्वभाव है कि जो कार्य उसके जीवन-क्रम में हुए नहीं होते अथवा जिनका वह अभ्यस्त नहीं होता उनके करने में वह कष्ट का अनुभव करता है। यहाँ तक कि रोजमर्रा के बँधे टके कामों में भी यदि कोई काम आकस्मिक आवश्यकतावश बढ़ जाता है तो वह उसे करता भले ही है, किन्तु एक बेगार, एक बोझ की तरह।

यही नियम उपासना के विषय में भी लागू रहता है। अतएव उपासना जीवन-क्रम में भिन्न किसी विशेष कर्त्तव्य की भाँति नहीं, जीवन-क्रम के एक अभिन्न अंश की भाँति करनी चाहिये। उपासना जब जीवन का एक आवश्यक अंग बन जाती है तो उसकी पूर्ति करने में वैसी ही तृप्ति होती है। जैसी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में। जीवन का अंग बनी उपासना को जब तक पूरा नहीं कर लिया जाता तब तक हृदय में उसी प्रकार की छटापटाहट रहती है जैसे किसी प्रियतम से मिलने की इच्छा में। उपासना मनुष्य जीवन का एक अभिन्न अंग है। उसे इसी रूप में ग्रहण करने से भिन्नता का भाव रहता है। पूरे समय यह विचार घेरे रहता है कि मैं कोई विशेष काम अन्जाम दे रहा हूँ, जिसके कारण उसमें एकाग्रता प्राप्त नहीं हो पाती, जिसके अभाव में उसमें अपेक्षित आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। स्वाभाविक है कि जिस कार्य में अरुचिपूर्ण निरानन्दता रहती है वह देर तक नहीं चल पाता और यदि खींच-तान कर चलाया भी गया तो उसमें किसी बड़े फल की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपासना में तब भी कोई आनन्द नहीं आता जब वह किसी लाभ अथवा लोभ के लिये

की जाती है। किसी यथार्थ के वशीभूत होकर जब उपासना की जाती है तब उपासक का ध्यान इष्ट के प्रति लगा रहने के स्थान पर अभीष्ट के प्रति लगा रहता है। जिससे भावनाओं का वेग इष्ट की ओर उन्मुख रहने के बजाय लोभ की ओर गतिवान रहता है। इससे इष्ट की समीपता प्राप्त होने के बजाय लोभ को बल मिलता है जिससे वह उत्तरोत्तर दुर्निवार होता जाता है और कल्याणवती उपासना प्रतिकूल दिशा में फलीभूत होने लगती है। मनुष्य लोभ, लाभ, स्वार्थ एवं कामनाओं का भण्डार बनकर स्वयं अपने लिये भयंकर बन जाता है।

इस प्रकार से संभ्रमित उपासक अपनी सकामता के कारण जब दुखद दुरितों के शिकार बन जाते हैं तब उपासना अथवा इष्ट को दोष देकर यह धारणा बना लेते हैं कि अधिक पूजा, पाठ करने वाला दुःख, दरिद्रता और दीनता का भागी बनता जाता है। इस प्रकार की धारणा भयंकर भूल व अति प्रवंचना है।

जो उपासक दीन, दुःखी दरिद्री अथवा हीन दिखाई दे, उसके विषय में निःसंकोच समझ लेना चाहिए कि इसकी उपासना में लोभ क्रियाशील है। इसकी वंचक उपासना ने ही इस दशा में भेजा है। अन्यथा उपासना का फल है—तेजस्विता, ओजस्विता, सबलता, सम्पन्नता आदि का दिव्य गुण।

इसके अतिरिक्त संकाम उपासक ही उपासना निस्सार होकर बहुत समय तक नहीं चल पाती। वह दिन प्रतिदिन साधना ही कामनाओं की कसौटी पर कसता रहता है और जब उसकी कामनायें फलीभूत होती नहीं दीखतीं तो वह धीरे-धीरे उपासना से ऊबने लगता है और शीघ्र ही निरर्थक कार्य समझकर उसने विरत हो जाता है। कामनाओं के कारण उपासना से विरत हुआ उपासक मृत्यु के भयभीत और जीवन से निराश कायर की तरह त्रासपूर्ण जिन्दगी बिताता है।

उस उपासना की निरन्तरता निरापद नहीं है जो कि विस्तृत कर्मकाण्ड और आडम्बर पर आधारित होती है। एक तो इस प्रकार की उपासना के लिए एक लम्बे समय की आवश्यकता है, जिसका मनुष्य के व्यस्त जीवन में प्रायः अभाव ही रहता है। दूसरे बहुत प्रकार के उपकरण एवं उपादान एकत्र करने में काफी धन की आवश्यकता है। आज के महार्घ जीवन में जीवन की सीमान्त आवश्यकतायें ही जुटाना कठिन हो रहा है, तब महँगी उपासना को मनुष्य कब तक चला सकता है ? ऐसी उपासना सम्पन्न करने के लिए सामान्य स्थिति के व्यक्ति को अपने पारिवारिक व्यय में कुछ कोताही करनी पड़ेगी। जिससे उसको तथा उसके परिवार को प्रत्यक्ष में न सही परोक्ष में तो कुछ न कुछ तकलीफ होगी ही। उपासना के लिए खर्च जुटाने में उसे अपना ध्यान घर के बजट में कतरव्योंत करने में लगाना पड़ेगा। इस प्रकार उक्त महँगी उपासना एक आर्थिक योजना बनकर रह जायेगी, जिससे आत्मिक शान्ति के स्थान पर मानसिक उद्विग्नता बढ़ सकती है और ऐसी स्थिति में उपासना का दीर्घकाल तक चल सकना संदिग्ध होगा।

उपासना के लिए अधिक आडम्बर भी ठीक नहीं। असामान्य रूप में रहने वाला उपासक समाज में अन्यथा दृष्टिकोण से देखा जाता है। कोई उसे कौतूहल की दृष्टि से, कोई आदर की दृष्टि से, तो कोई उपासक की दृष्टि से देखता है। इससे उपासक की मानसिक स्थिति जब तक अपेक्षित कोटि में न पहुँच जाये, उस पर उसके मानसिक भावों पर वांछित प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में सांकेतिक स्थल बनकर कभी वह हर्ष और कभी अमर्ष के वशीभूत होकर आन्दोलित होता रहता है जो कि उसकी साधना के लिये हितकर नहीं होता।

इसके अतिरिक्त आडम्बरित साधक स्वयं भी समाज में अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति अनुभव करता है, अपने को जन साधारण से कुछ अधिक पवित्र समझता है। कभी-कभी आडम्बर की अपेक्षा से उसे अपने इस भाव की अभिव्यक्ति भी करनी होती है। अपने को विशिष्ट अथवा कुछ ऊँचा अनुभव करने के कारण उसमें अहंकार की वृद्धि हो जाती है जो उपासना के अमृत में विष का काम करता है।

अन्दर से असामान्य होने पर भी बाहर से सहज सामान्य रहना ही उपासक के लिए अधिक हितकर है। अपने स्वभाव एवं संस्कारों के कारण जन-साधारण आडम्बर के प्रति अधिक आकर्षित होता है जिससे उपासक भावनाओं की अपेक्षा लोकप्रियता के लोभ में फँसकर आडम्बर की ओर अधिक ध्यान देने लगता है।

समय एवं साधना का असंयम भी ऐसा कारण है जो उपासक में वांछित गम्भीरता नहीं आने देता मन और मस्तिष्क पर वे अपेक्षित संस्कार नहीं पड़ने पाते जिनके बल पर उपासना में निरन्तरता आती है और उपासक अध्यात्म लाभ की ओर अग्रसर होता है। कभी किसी समय उपासना करना उसी प्रकार की धार्मिक अथवा अध्यात्मिक अनियमितता है जिस प्रकार आहार-विहार की। इस प्रकार की अनियमित उपासना व्यक्ति को विशुद्ध आध्यात्मिक न बनाकर आध्यात्मिक रोगी बना देती है जिससे किसी सुख-शान्ति की आशा करना असामान्य कल्पना मात्र ही होगी।

उपासना में इष्ट की अदला-बदली का अर्थ है कि आप उसकी गरिमा को कोई महत्व न देते हुए दैवी शक्तियों के साथ खिलौनों की तरह खेलते हैं। उनका महत्व आपकी रुचि पर निर्भर है। साथ ही इष्ट की अदला-बदली से यह भाव भी प्रकट होता है कि आप किसी एक दैविक विभूति को किसी दूसरी से कम या ज्यादा समझते हैं। उपासना के क्षेत्र में विषमता का यह भाव सबसे अधिक घातक है। इस प्रकार की चेष्टा से मानसिक चांचल्य की वृद्धि होती है, जिसके कारण न उपासना में मन स्थिर हो पाता है और न उसका कोई फल होता है।

निष्काम भाव से किसी भी एक इष्ट में सर्वेश्वर की सत्ता का विश्वास रख कर एक विधि एक मन से जीवन का अभिन्न अंग समझकर संयम एवं सामान्यता पूर्वक नियमित उपासना करना ही वास्तव में उपासना है, जो जीवनभर चलती भी है और फलवती भी होती है।

परमात्मा का सान्निध्य और सम्पर्क साधें

दुःख मनुष्य की स्वाभाविक अनुभूति नहीं है। उसकी स्वाभाविक अनुभूति सुख है। यदि मनुष्य की स्वाभाविक अनुभूति दुःख होती तो मानव मात्र हर समय रोते, कलपते ही नजर आते। पर ऐसा होता नहीं। हर मनुष्य अपने जीवन में अधिकांशतः हँसता, खेलता और मौज मनाता हुआ दिखाई देता है। दुःख मानाता हुआ तो वह यदा-कदा ही दिखलाई देता है। दुःख के प्रसंगों में भी वह सुख, शान्ति और सन्तोष के सूत्र निकाल लिया करता है। बड़े से बड़े आघात को भी वह एक दिन, दो दिन, माह, दो माह में भूल जाता है और उसका शोक-सन्ताप धीरे-धीरे शीतल और विलीन हो जाता है।

यदि मनुष्य की स्वाभाविक अनुभूति दुःख होती तो वह हर समय दुःखी ही बना रहता और तब ऐसी स्थिति में उसका जीवित रह सकना सम्भव न होता। इसके विपरीत वह एक लम्बी आयु तक जीता है खुशी-खुशी जीता है।

मनुष्य परमात्मा का अंश है। परमात्मा आनन्दस्वरूप है। अस्तु, मनुष्य की सहज अनुभूति, सुख होना असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है।

तब आखिर वह यदा-कदा भी दुःखी क्यों दिखलाई देता है ? इसका कारण है। वह यह कि जब मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है, तब वह किन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर दुःखी दीखने लगता है। सब कुछ होने पर भी मनुष्य में विस्मरणशीलता की एक प्रवृत्ति रहती है। किन्तु यह प्रवृत्ति बुरी नहीं कही जा सकती। यदि मनुष्य का स्वभाव चिर-स्मरण हो तो एक बड़ी समस्या खड़ी हो जाये। मनुष्य जीवन में ऐसी न जाने कितनी घटनायें आ जाती हैं, जो दुःखद होती है। यदि मनुष्य मस्तिष्क में विस्मरण की प्रणाली न बनी हो तो वे दुःखद घटनायें बहकर न जा सकें और हर समय मस्तिष्क में जागरूक रहकर उसे पागल ही बना डालें।

अप्रिय घटनायें एक-एक कर इतनी जमा हो जायें कि फिर उनसे एक क्षण भी अवकाश नहीं पाया जा सकता। मस्तिष्क में पुरानी स्मृतियाँ इतनी अधिक मात्रा में जमा हो जायें कि नई बातें सुनने, समझने सोचने और ग्रहण करने के लिये स्थान ही रह जाय जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य का विकास ही रुक जाये। अपनी इसी विस्मरणशीलता के कारण वह अपना आनन्दस्वरूप भूला रहता है।

जिस प्रकार मनुष्य अपनी आँखों से अपनी आँखें नहीं देख सकता और उन्हें देखने के लिये दर्पण का सहारा लेना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार अपना स्वरूप स्मरण करने के लिये परमात्मा का स्मरण करना होगा। उसे जानकर ही हम अपने को सरलतापूर्वक जान सकते हैं।

यों तो कहने के लिये हम सब आस्तिक हैं। परमात्मा को जानते और मानते हैं। पर वास्तविकता यह है कि हम उसे जानते-मानते तो

क्या उसकी एक अबूझ-सी छाया मात्र, एक धुँधली-सी भूली, बिखरी-सी-स्मृति हमारे किसी कोने में पड़ी रहती है, जो यदा-कदा चमक भर जाती है। इतने मात्र को जानना नहीं कहा जा सकता। जानना तो तब माना जा सकता जब वह हर समय हमारे हृदय-पटल पर अंकित रहे, मनो-मन्दिर में विराजमान् बना रहे।

किन्तु यह सम्भव तभी हो सकता है, जब हम उसका बार-बार स्मरण करते रहें, उससे सम्पर्क बनाये रहें। जिन लोगों को हम कभी जानते थे, उनमें से बहुत से ऐसे लोग होंगे, जिनको हम बिल्कुल भूल गये हैं। इसका एकमात्र कारण यही होता है कि या तो हम उनके सम्पर्क में नहीं रहते या बार-बार उन्हें याद नहीं करते रहे होते हैं। सामान्य उपभोग की वस्तुएँ भी जब बहुत दिन तक हमारे व्यवहार में नहीं आतीं तो हमारे स्मृति-पटल पर से उतर जाती हैं और हम उन्हें बिल्कुल भूल जाते हैं। विद्यार्थी प्रारम्भ में वर्णमाला या गिनती याद करता है। उसके पहले वह उनको जरा भी नहीं जानता था। पर बार-बार याद करते रहने पर एक दिन वे सब याद हो जाती और तब तक बनी रहती हैं, जब तक उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क बना रहता है। कुछ दिन को भी सम्पर्क हटा देने या याद न करने पर उनकी स्मृति बालक के मस्तिष्क से निकल जाती है। तथापि जब वह पूर्ण तन्मयता के साथ उन्हें आत्मसात् कर लेता है तो वे उसे आजीवन ही याद बनी रहती हैं।

स्मरण अथवा विस्मरण की जो बात किसी अन्य वस्तु अथवा व्यक्ति के विषय में है, वही परमात्मा के विषय में है। हम उसे बार-बार याद करते रहेंगे, तो वह हमारे मस्तिष्क में जीता, जागता रहेगा और जब हम उसे याद करना छोड़ देंगे तो वह विस्मरण हो जायेगा।

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उसे हृदयंगम करने के लिये उतने ही सूक्ष्म, एकाग्र तथा निर्द्वन्द मनन, चिन्तन और स्मरण करने की आवश्यकता होती है। परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व है, उसे साधारण और स्थूल बुद्धि द्वारा यदा-कदा मनन, स्मरण करने से हृदयंगम नहीं किया जा सकता। उसे हृदय की गहराई और सूक्ष्म विवेक द्वारा निरन्तर चिन्तन करने से ही धारण किया जा सकता है।

चिन्तन में हृदय की गहराई उसी के लिये आविर्भूत होती है, जिससे प्रेम होता है। प्रेमी के जीवन से उसका प्रियतम सांगोपांग रूप से ओत-प्रोत हो जाता है। उसकी सारी भावनायें और कर्मों की सीमा अपने प्रियतम तक केन्द्रित हो जाती हैं। वह उसी के लिए जीता और उसी के लिये मरता है। प्रियतम प्रेमी का सर्वस्व बन जाता है और प्रेमी प्रियतम का रूप हो जाया करता है। तथापि यह प्रेमभाव भी उसी के लिये उत्पन्न हो सकता है, जिसके सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दिया जाये।

अस्तु, अपना स्वरूप जानने के लिये, परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये इस क्रम से चलना आवश्यक होता है—कि उसे सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर हृदय की गहराई से स्मरण किया जाये और यह स्मरण चिन्तन के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। सतत् चिन्तन की सिद्धि तब ही सम्भव है, जब उपासना द्वारा परमात्मा के सम्पर्क में रहा जाये।

परमात्मा की विस्मरणशीलता दूर करने का उपासना से अच्छा और कोई उपाय नहीं है। जप, तप, पूजा, अर्चना आदि के जो भी विधान बनाये गये हैं, वे सब परमात्मा को अपने स्मृति-पटल पर बनाये रखने के लिये ही बनाये गये हैं। नित्य-प्रति जब नियत समय पर उपासना की जायेगी तो परमात्मा की स्मृति हृदय पर भली प्रकार अंकित हो जायेगी, जिस प्रकार बार-बार याद करते रहने पर किसी बालक को गिनती अथवा पहाड़ा याद हो जाता है। किसी का सम्पर्क उसकी याद के लिये सबसे बड़ा कारण है। हमें अपने परिवार और कुटुम्ब के लोग औरों की अपेक्षा अधिक याद क्यों रहते हैं इसीलिये कि उनसे हमारा सतत् और घनिष्ट सम्पर्क बना रहता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसके सम्पर्क में जितना अधिक आते हैं, उसके विषय में उतनी ही गहराई से जान जाते हैं। उसके वास्तविक स्वरूप से हमारा घनिष्ट परिचय हो जाता है। कोई भी उपासना द्वारा जब परमात्मा के सतत् सम्पर्क में रहेगा तो अवश्य ही एक दिन उसके सत्य स्वरूप को जान ही जायेगा। परमात्मा को साक्षी करते ही उसे अपना सत्य स्वरूप स्मरण हो उठेगा। अपने आनन्द रूप सत्यस्वरूप को जानते ही मनुष्य की सारी दुःखद अनुभूतियाँ दूर हो जायेंगी और वह सदा-सर्वदा के लिये अपनी स्वाभाविक अनुभूति में स्थिर हो जायेगा।

सुखी की अनुपस्थिति ही दुःख का कारण है। किन्तु इस प्रकार जब कोई आनन्दरूप हो जायेगा, तब उसके पास किसी भी परिस्थिति में दुःख का कोई प्रयोजन न रह जायेगा। उस स्थिति में सुख तो सुख, दुःख भी सुखरूप आभासित होने लगेगा।

संसार के समस्त आघातों को दूर करने के लिये अपने सहज एवं आनन्दस्वरूप का स्मरण आवश्यक है। आत्मस्वरूप देखने के लिये परमात्मा रूप दर्पण अपेक्षित है, परमात्मा की प्राप्ति सूक्ष्म चिन्तन एवं मनन द्वारा ही हो सकती है। चिन्तन की यह सूक्ष्मता हृदय की गहराई से और हृदय की गहराई प्रेम द्वारा और प्रेम की उत्पत्ति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण द्वारा ही सम्भव है और इन सबका आदिसूत्र उपासना ही है। इस आध्यात्मिक क्रम को उपासना के प्रारम्भ कर दुःखों के आत्यन्तिक अभाव तक आसानी से पहुँचा जा सकता है।

किन्तु यह उपासना प्रगतिवादी हो तभी सकती है, जब इसका स्वरूप विशुद्ध आध्यात्मिक होगा। जो परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी प्रयोजन से पूजा-पाठ या जप-तप किया करते हैं, उनकी वह उपासना वांछित दिशा में फलीभूत नहीं होती। यद्यपि लोग सुख पाने के लिए ही सकाम उपासना किया करते हैं, तथापि यह उल्टा प्रयत्न ही है। सकाम उपासना करने का अर्थ है, अपने जीवन में और अधिकाधिक दुःखों की इच्छा करना। एक तो कामनायें यों भी दुःख का बहुत बड़ा हेतु हैं। फिर यदि उपासना द्वारा किसी ने अपनी लौकिक कामनाओं की सिद्धि भी करली, तब भी उसके दुःखों का अन्त कदापि न हो सकेगा। वह धन-दौलत, पुत्र-पौत्र पायेगा, शक्ति और सम्बल का अर्जन कर लेगा। किन्तु वह सकाम उपासक यह कभी नहीं सोचता कि इन सब लौकिक लाभों के उपयोग अथवा उपभोग का परिणाम क्या होगा, वही विस्मरण, अज्ञान और अन्धकार कहा जाता है।

ऐसी दशा में वह अपने दुःखों की नितान्त निवृत्ति की आशा कैसे कर सकता है ? वह तो घूम-घाम कर फिर उसी दुःख-दर्द के चक्र में पड़ जायेगा। चूँकि लौकिक कामनाओं के अनुसार वह जिन विभूतियों को माँगेगा और पायेगा, वे सब अपने निसर्गानुसार नश्वर ही होंगी। एक दिन उनका नष्ट हो जाना निश्चित है। और वे एक शोक-सन्ताप देकर नष्ट हो जायेंगी। सकाम उपासना करना ठीक वैसी की गलती है, जैसे कोई अनजान व्यक्ति रत्नोपम वस्तु का विनिमय किसी रंगीन काँच से कर लेता है। जिसकी उपासना के आधार पर सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है उसके लिये उन भौतिक वस्तुओं का क्या माँगना जो किसी पुरुषार्थी व्यक्ति के हाथों का मैल कही गई है। उपासना कीजिये, निष्काम उपासना और उसके उपहारस्वरूप विदानन्द की उपलब्धि कर सदा-सर्वदा के लिये संसार के दैहिक, दैविक और भौतिक पाप तापों से उस पार उतर जाइये।

उपासना ही नहीं साधना भी

जितना महत्व उपासना का है उतना ही साधना का भी है। हमें उपासना पर ही नहीं साधना पर भी ध्यान और जोर देना चाहिये। जीवन को पवित्र और परिष्कृत—संयत और ससंतुलित, उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिये अपने गुण, कर्म, सवभाव को उच्चस्तरीय बनाने के लिये, निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रयत्न का नाम ही जीवन-साधना अथवा साधाना है। उपासना पूजा तो निर्धारित समय का क्रिया-कलाप पूरा करने लेने पर समाप्त हो जाती है, पर साधना चौबीस घण्टे चलानी पड़ती है। अपने हर विचार पर चौकीदार की तरह कड़ी नजर रखनी पड़ती है कि कहीं कुछ अनुचित, अनुपयुक्त तो नहीं हो रहा है। जहाँ भूल दिखाई दी कि उसे तुरन्त सुधारा—जहाँ विकार पाया कि तुरन्त उसकी चिकित्सा की—जहाँ पाप देखा कि तुरन्त उसमें लड़ पड़े। यही साधना है। जिस प्रकार सीमारक्षक प्रहरियों को हर घड़ी शत्रु की चालों और घातों का पता लगाने और जूझने के लिए लैस रहना पड़ता है, वैसी ही जीवन-संग्राम के हर मौके पर हमें सतर्क और तत्पर रहने की आवश्यकता पड़ती है। इसी तत्परता को साधना कहा जा सकता है।

यह सोचना ठीक नहीं कि भजन करने मात्र से पाप कट जायेंगे और ईश्वर प्रसन्न हो जायेंगे, अतएव जीवन को शुद्ध बनाने अथवा कुमार्गगामिता से बचने की आवश्यकता नहीं, इसी

भ्रमपूर्ण मान्यता ने अध्यात्म के लाभों से हमें वंचित रखा है। यह भ्रम दूर हटाया जाना चाहिये और भारतीय अध्यात्मक का तत्वज्ञान एवं ऋषि-अनुभवों के आधार पर यही निष्कर्ष अपनाना चाहिये कि उपासना और साधना आध्यात्मिक प्रगति के दो अविच्छिन्न पहलू हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण हैं। जिस तरह अन्न और जल, रात और दिन, शीत और ग्रीष्म, स्त्री और पुरुष का जोड़ा है, उसी प्रकार उपासना और साधना भी अन्योन्याश्रित है। एक के बिना दूसरा अकेला, असहाय एवं अपूर्ण ही बना रहेगा, इसलिये दोनों को साथ लेकर अध्यात्म मार्ग पर प्रगतिशील होना ही उचित और आवश्यक है।

सच्चे आस्तिक एवं सच्चे ईश्वर-भक्त का जीवन-क्रम उत्कृष्ट, आदर्शवादी एवं परिष्कृत होना ही चाहिये। नशा पीने पर मस्ती आनी ही चाहिये। भक्ति का प्रभाव सज्जनता और प्रगतिशीलता के रूप में दीखना ही चाहिये। इसलिये हमारा उपासना क्रम सांगोपांग होना चाहिए और उसमें आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास की परिपूर्ण प्रक्रिया जुड़ी ही रहनी चाहिए। उपासना और साधना का स्वतन्त्र अस्तित्व है। एक को कर लेने से दूसरे की पूर्ति हो जायेगी यह सोचना उचित नहीं। लाखों साधु-बाबा, पण्डा-पुजारी भजन ध्यान में नित्य घण्टों समय लगाते हैं पर उनका जीवन प्रायः घृणित एवं निकृष्ट स्तर का बना रहता है।

इससे स्पष्ट है कि उपासना अपने स्थान पर, अपने प्रयोजन के लिए ठीक है, पर वह साधना की आवश्यकता पूरी नहीं कर सकती। यदि कर सकी होती तो हर भजन करने वाला सच्चरित्र पाया जाता। पर ऐसा होता कहाँ है ? इससे स्पष्ट है कि हमें साधना के लिए पृथक से प्रयत्न करना होगा। जीवन-शोधन और जीवन विकास की साधना पद्धति को उतना ही—उससे भी अधिक महत्व देना होगा—जितना कि उपासना को देना है। साधना रहित उपासना विडम्बना मात्र बनकर रह जाती है। किन्तु साधना को सर्वांगपूर्ण बना लिया है—जीवन को उत्कृष्ट बना लिया जाय—तो बिना उपासना के भी अध्यात्मक प्रयोजन की पूर्ति हो सकती है।

ईश्वर की भावनात्मक पूजा की तरह ही सद्-आचरण द्वारा भी उपासना की जा सकती है। हम निष्पाप बनें इतना ही पर्याप्त नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि अपने कर्म एवं स्वभाव में सद्गुणों का समुचित समावेश करके दिव्य जीवन बनावें और उसके द्वारा अपना और समस्त समाज का कल्याण करें। व्यक्तित्व और विकसित करते हुए ही हम आत्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ते है और पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर सकने में सफल होते हैं।

अवएव यही सनातन क्रम चला आता है कि हर अध्यात्म प्रेमी ईश्वर की उपासना के साथ जीवन को उत्कृष्ट बनाने की साधना भी करे।

हमारा समस्त जीवन ही साधनामय बने

मानव-जीवन ईश्वर की एक अनमोल अमानत है। इसे आदर्श एवं उत्कृष्ट बनाना ही अपनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचय देना है। भगवान् ने हमारी पात्रता की कसौटी के रूप में यह मनुष्य शरीर दिया है और यह परखा है कि हम इसका उत्तरदायित्व सम्भालने की स्थिति में हैं या नहीं ? यदि इस कसौटी पर खरे उतरे तो ऋषित्व एवं देवत्व जैसे उच्च उत्तरदायित्व प्रदान कर अन्ततः अपना ही अंग बना लेता है पर यदि मनुष्यत्व जैसी परीक्षा में सफल न हो सके, इतना छोटा उत्तरदायित्व भी सम्भाल न सके तो जिस स्तर के हम हैं उसी निम्नयोनि में पड़े रहने के लिये वापिस भेज देता है। गैर जिम्मेदार सरकारी कर्मचारी 'रिबर्ट' कर छोटे पदों पर उतार दिये जाते हैं। हमें भी अपनी निकृष्ट मनोभूमि के अनुरूप निम्न-योनियों में उतरना पड़ सकता है।

अस्तु प्रयत्न यह होना चाहिये कि मानव जीवन के महान् उत्तरदायित्व को वहन करने के लिये हम पग-पग पर सतर्कता बरतें। निम्न-योनियों के सचित कुसंस्कारों को हटावें और मनोविज्ञान गुण, कर्म, स्वभाव की सद्

भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि करें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब हर घड़ी अपने आपके ऊपर चौकसी रखी जाय। अपने सम्बन्ध में असावधान रहने से—उसी ढर्रे पर अपनी गाड़ी भी लुढ़कने लगती है, जिससे आस-पास घिरे हुए निकम्मे लोगों का जीवन फूहड़पन के साथ बर्बाद होता चला जा रहा है। आवश्यकता ऐसी विवेकशीलता की है, जो अपने सम्बन्ध में सतर्कता बरतने और दूसरे गन्दे लोगों का अनुकरण न करके अपना मार्ग स्वतः निर्धारण करने का साहस प्रदान कर सके।

ऐसा साहस ही अध्यात्मक है—जो आदर्श जीवन जीने की गतिविधियों का निर्माण करे और उसी रास्ते पर उत्साहपूर्वक घसीट ले चले। जिन लोगों के बीच हमारा रहना है, उनमें से अधिकांश बड़े स्वार्थी, संकीर्ण, ओछे, गन्दे लोग हैं। इनकी कोशिश अपने ही ढर्रे पर साथियों को घसीट ले चलने की होती है। वे उत्कृष्ट जीवन जीने वालों का मजाक बनाते हैं। निन्दा और विरोध करते हैं और तरह-तरह की अड़चनें खड़ी करते हैं। जो इनसे डर गया वह गन्दा जीवन जीने के लिए विवश होगा पर जिसने साहस करके अपना पथ स्वयं निर्धारण करने का संकल्प कर लिया और पड़ोसियों की उपेक्षा करके उत्कृष्टता की गतिविधियाँ अपनाने के लिये दृढ़तापूर्वक चल पड़ा वही जीवनोद्देश्य की प्राप्ति में सफल होता है। अध्यात्म साहसी शूरवीरों का—आदर्शवादी और उत्कृष्ट लोगों का मार्ग है।

देवी-देवताओं को मन्त्रतन्त्र से सिद्ध कर उनसे तरह-तरह की मनोकामनायें सहज ही प्राप्त कर लेने के सपने देखने वाले, थोड़ी-सी टंट-घंट के बदले स्वर्ग-मुक्ति, लूट ले जाने वाले धूर्त, अपना मन सस्ते सपने देखने में बहलाते रह सकते हैं परन्तु रहना उन्हें खाली हाथ ही पड़ता है। जो जीवन-शोधन का पुरुषार्थ कर सकने का साहस नहीं कर सकते, उन्हें आत्मिक प्रगति, ईश्वर की प्रसन्नता और उन दिव्य विभूतियों की आशा नहीं करनी चाहिये, जिन्हें पाकर मनुष्य-जीवन धन्य और सार्थक होता है। कीमती वस्तुयें उचित मूल्य देकर ही खरीदी जा सकती हैं। अध्यात्मिक विभूतियाँ और दैवी सम्पदायें जीवन-शोधन के कम मूल्य पर आज तक न कोई खरीद सका है और न भविष्य में कोई खरीद सकेगा। सस्ते मूल्य पर आत्मिक सफलतायें मिलने के प्रलोभन विडम्बना भरे हैं। उनसे हर विवेकशील को अपना पिण्ड शीघ्र ही छुड़ा लेना चाहिए और साहसपूर्ण जीवन-शोधन के उस राज-मार्ग पर चल पड़ना चाहिये, जिस पर चले बिना कल्याण का लक्ष्य प्राप्त कर सकना किसी के लिये भी सम्भव नहीं हो सकता।

यह कार्य एक निर्धारित समय पर थोड़ी पूजा-उपासना जैसी प्रक्रिया अपनाकर सम्पन्न नहीं किया जा सकता। हर घड़ी आत्म-निरीक्षण की दृष्टि अपने ऊपर रखने से ही यह प्रयोजन सिद्ध होता है। साधना के प्रथम चरण अपने शरीर और मन पर, कार्य और विचारों पर बारीकी से तीखी नजर रखकर यह देखना होता है कि मनुष्यता के गौरव को गिराने वाले—पशु स्तर के कुसंस्कार अपने में कितने समाये हुए हैं ? गुण, कर्म, स्वभाव में किन पशुप्रवृत्तियों का समावेश है ? उन्हें धीरे-धीरे, एक-एक करके छोड़ने का संकल्प करना चाहिए। अपने कुसंस्कारों से लड़ना चाहिये। उनकी हानियों पर विचार करना चाहिये और एक-एक करके अपने दोष-दुर्गुणों को छोड़ते चलना चाहिये।

आहार-विहार सम्बन्धी कितनी ही कुटेबें अपने अन्दर हो सकती हैं। नशे, व्यवसन, व्यभिचार, आलस्य, कटु-भाषण, क्रोध, आवेग, असंयम, शालीनता, लापरवाही, आशंका, चिन्ता, भय, कायरता, निराशा, उच्छृंखलता जैसे छोटे-मोटे स्वभाव जन्य दोष ऐसे होते हैं जो देखने में मामूली से लगते हैं, पर प्रगति के पथ पर भारी अवरोध उत्पन्न करते हैं। चोरी, हत्या, धोखा, बेईमानी, बलात्कार जैसे बड़े पाप तो कोई विरले ही करते हैं, उनके लिए कानून में दण्ड व्यवस्था भी है पर छोटे दुर्गुणों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। असल में पतन की जड़ यही होते हैं और आगे चलकर उन्हीं की वृद्धि होती चलने से व्यक्ति क्रूर-कुकर्मी, नर-पिशाच बन जाता है। इसलिये इन विष वृक्षों के छोटे-मोटे पौधे भी अपने जीवन-क्षेत्र में उग रहे हों तो उन्हें एक-एक करके फेंकने चलने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। अपने दैनिक

क्रिया-कलापों और उनके साथ जुड़े हुए विचारों एवं उद्देश्यों को परखते रहना चाहिये कि निकृष्ट स्तर के नर-पशुओं के स्तर पर तो नहीं चल रहे हैं। यदि इनमें दोष पाये जायँ तो तुरन्त उसके स्थान पर सुधरी हुई रूप-रेखा उपस्थित करनी चाहिये और दोष के स्थान पर गुण को, अनुपयुक्त के स्थान पर उपयुक्त को प्रतिष्ठित करना चाहिये। जो गलत किया जा रहा है, उसके स्थान पर सही क्या हो सकता है। यह निर्णय करने के लिये पक्षापातरहित विवेक की आवश्यकता है।

आमतौर से हर मनुष्य अपने साथ रियायत और पक्षपात करता है। यह भूल सुधारनी चाहिये। जैसे गलत विचार या गलत काम अपने हैं, यदि वैसे ही कोई दूसरा करे और पूछने आवे कि मुझे इन्हें कैसे छोड़ना चाहिये ? और इनके स्थान पर क्या रीति-नीति अपनानी चाहिये ? तो इसके उत्तर में इस निश्चय ही बहुत कुछ उपदेश और परामर्श दे सकते हैं। वही उपदेश और परामर्श अपने को देना चाहिए। अपने भीतर एक नया न्यायाधीश, उपदेशक, गुरु, भगवान् विकसित कर लेना चाहिये। वही अपना सुधार और मार्ग-दर्शन कर सकता है। इसी के परामर्श पर चलना चाहिये। एक-एक करके इसी प्रकार अपने दोष-दुर्गुणों का अन्त होगा। आत्म-शोधन को एक महान साधन मानकर उसमें निरन्तर संलग्न रहने से ही हम निर्मल, निर्दोष, निष्पाप और निष्पक्ष, सद्विवेकी महामानव बन सकेंगे। आध्यात्मिक प्रगति के लिये यही राज-मार्ग है।

जीवन-साधना का दूसरा चरण अपने भीतर सद्गुणों को, उत्कृष्टताओं, योग्यताओं और क्षमताओं को विकसित करना है। असत्य, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, नशा आदि दुर्गुणों को छोड़ देना ऐसा ही है, जैसे किसी पौधे की जड़ को काटने में लगी हुई दीमकों को हटा देना। इससे एक कठिनाई तो दूर हुई पर पौधे के विकास का पथ-प्रशस्त कहाँ हुआ ? उसके लिए खाद-पानी की उपयुक्त आवश्यकतायें भी पूरी करनी होंगी। अन्यथा बेचारा पौधा बढ़ेगा कैसे ? मानवोचित योग्यता और विशेषताओं को बढ़ाने में उस शक्ति को लगा देना चाहिये जो दो दुर्गुणों में बर्बाद होने से बचाई गई है। बहुत-सा समय, मनोयोग और धन बेकार बातों में नष्ट किया जाता रहता है। उस बर्बादी को बचा लेना ही काफी नहीं वरन् यह भी आवश्यक है कि उस बचत से अपनी विशेषताओं को बढ़ाया जाय। रोग दूर करने के लिए चिकित्सा उपचार करना चाहिये पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रोगजन्य दुर्बलता दूर करने के लिए पौष्टिक आहार-विहार का भी प्रबन्ध किया जाय। दोषों को हटा देना औषधि उपचार की तरह है और गुणों का अभिवर्द्धन उत्तम आहार-विहार का प्रबन्ध करने की तरह।

अपनी शारीरिक और आत्मिक क्षमतायें बढ़ाना जीवन साधना का अनिवार्य अंग है। आहार-विहार का संयम किये बिना—ब्रह्मचर्य, व्यायाम, स्वच्छता, विश्राम, सात्विक आहार का ध्यान रखे बिना शारीरिक स्वस्थता को स्थिर नहीं रखा जा सकता है, इसलिए इन बातों पर पूरा ध्यान देना चाहिए। आलस्य को सबसे बड़ा शत्रु मानना चाहिए। समय के एक-एक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए। बेकार कभी भी नहीं बैठना चाहिये। दिनचर्या ऐसी बनानी चाहिए, जिसमें समय की बर्बादी के लिए तनिक भी गुंजायश न रहे।

मानसिक स्वरूप की रक्षा के लिए चिन्ता, निराशा, आशंका, भय, क्रोध, आवेश, ईर्ष्या, द्वेष जैसे मनोविकारों से बचना आवश्यक है। कामुकता भरी कल्पनायें अति घातक हैं। उनसे मस्तिष्क की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है। सन्तानोत्पादन की आवश्यकता समझ में आ सकती है पर अश्लील विचारों का मस्तिष्क में घुमाते रहना और बहुमूल्य मनोयोग को किसी रचनात्मक चिन्तन में लगाने की अपेक्षा इन बे-सिर-पैर की बातों में नष्ट करना सर्वथा अवांछनीय है। इसी प्रकार उपरोक्त अन्य मनोविकार भी मस्तिष्क की सारी सृजनात्मक क्षमता को अपने ही जंजालों में उलझाए रह कर उसे नष्ट करते रहते हैं। इतना ही नहीं वरन् मानस क्षेत्र को विषैला कर उसे इतना दुर्बल बना देते हैं कि किसी महत्वपूर्ण योजना को बनाने और उसे ठीक तरह चलाने की क्षमता ही नहीं मिलती है।

अतएव मनोविकारों ने यदि मस्तिष्क में अड्डा जमा लिया हो तो सफाई करने के लिएं तत्पर होना ही चाहिए। उत्साह, धैर्य, साहस, सन्तुलन, विनोद, सन्तोष, परिश्रम, संयम जैसे सद्गुणों को विकसित करना चाहिए। जीवन हल्का-फुल्का होना चाहिए, हँसते-हँसते हल्के मन से सारे काम करने चाहिए। हर काम जिम्मेदारी और तत्परता से करना चाहिए पर मस्तिष्क पर उसका दबाव और तनाव जरा भी नहीं पड़ने देना चाहिए। जीवन एक खेल की तरह जानना चाहिये। प्रतिकूल परिस्थितियाँ, हानियाँ एवं आशंकाओं को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने देना चाहिए। जो हँसी-खुशी की हल्की-फुल्की जिन्दगी जी सकता है वही जीना जानता है। भारी लाश की तरह जिन्दगी की गाड़ी रोते, कलपते ख़ींचने वाले अविवेकियों की तरह नहीं। हमें दृष्टा और साक्षी की तरह हँसी-खुशी भरा जीवन जीना चाहिये। पाप और कुविचारों को मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। तृष्णा और वासना को लानत को नहीं ओढ़ना चाहिये। यह दोनों ही चुड़ैल ऐसी हैं जो वेशकीमती जिन्दगी को अपने की कुचक्र में फैलाकर नष्ट कर देती हैं। हमें सन्तोषी होना चाहिये संग्रही नहीं। कामुकता, धन-संचय और वाहवाही लूटने की विडम्बनायें बाल-बुद्धि की प्रतीक हैं। इन बचकानी बातों में अपनी शक्तियाँ नष्ट होने से बचाकर उन कार्यों में लगानी चाहिये जो आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण के महान प्रयोजनों को पूरा करने के लिय आवश्यक हैं।

स्वाध्याय नित्य करना चाहिये। जीवन-निर्माण के लिए उपयुक्त सत्साहित्य नित्य पढ़ना चाहिये। मस्तिष्क पर सारे संसार में फैले हुए अनुपयुक्त वातावरण की छाप अनायास ही पड़ती रहती है। इस मलीनता को रोज स्वच्छ करने के लिए स्वाध्याय तथा सत्संग ही एकमात्र उपाय है। इस जमाने में सत्संग के नाम पर भ्रम-जंजाल में भटका देने वाले साधु बाबाओं और कथा-वाचकों की ऐसी माया फैली पड़ी है जो सीधे रास्ते पर चलने वालों को उल्टा भटका दें। अब सत्संग भी लगभग असम्भव है क्योंकि विचारशील व्यस्त रहते हैं और जिनके पास समय है, वे उल्टे भ्रम में डालते हैं। सामाजिक विचारशील और चरित्रवान् लोगों का सत्संग उनके साहित्य से ही मिल सकता है। युग-निर्माण योजना द्वारा प्रस्तुत सत्-साहित्य ही हमारी स्वाध्याय की आवश्यकता को पूरा कर सकता है।

शरीर और मन ही नहीं आत्मिक स्तर का विकास भी किया जाना चाहिए। इसके लिए परमार्थ प्रयोजनों के कुछ कार्य अवश्य करने चाहिए। दान-पुण्य के नाम पर धन की बर्बादी करने वाले बहुत हैं, हमें विवेकपूर्ण परमार्थ करना चाहिये। जिनसे विश्व में सत्प्रवृत्तियों को, सदाचरण को, सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले, वे ही कार्य परमार्थ हैं। ऐसे परमार्थ कार्यों में अपने समय, श्रम, बुद्धि, मनोयोग, धन एवं व्यक्तित्व का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहना चाहिये। हमें अपने लिये ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीना चाहिये। इस संसार में हमने बहुत कुछ पाया है। आहार, वस्त्र, विद्या, व्यवहार, धन, मनोरंजन आदि सब कुछ समाज का ही दिया हुआ है, इसके बदले हमें कुछ ऐसे प्रयत्न निरन्तर करते रहने चाहिये, जिनसे इस संसार की उत्कृष्टता में अभिवृद्धि होती चले।

आत्मबल वृद्धि के लिए उपासना, आत्म-शोधन और परमार्थ तीनों का ही समावेश आवश्यक है। भगवान् का नित्य स्मरण करे। अपने दोष, दुर्गुणों से नित्य संघर्ष करें और उन्हें हटावें। सद्गुणों और योग्यताओं को बढ़ाने के लिए नित्य पुरुषार्थ करें। निजी, पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरी-पूरी ईमानदारी और तत्परतापूर्वक निबाहें। जीवन अपने और अपने घर वालों के लाभ में ही न जी डाले वरन् देश धर्म, समाज, संस्कृति को ऊँचा उठाने के लिए भी समुचित ध्यान दें, प्रयत्न करें और जितना सम्भव हो अधिक-से-अधिक त्याग भी करें। उसी रीति-नीति पर सुसंचालित जीवन क्रम 'साधना' कहलाता है। हमें ईश्वर की उपासना और जीवन की साधना, उत्कृष्ट भावनाओं के साथ करनी चाहिये। तभी जीवनोद्देश्य की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी।

साधना आवश्यक है, अनिवार्य है।

मनुष्य की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि उसे जिस ढाँचे में ढाला जाय उसमें वह ढल सकता है। अन्य प्राणियों में यह विशेषता नहीं है। सिंह, अजगर, बाज आदि हिंसक प्राणी अहिंसक नहीं बन सकते। गाय, हिरन, कबूतर, तितली आदि प्राणी अपनी अहिंसक प्रकृति को नहीं बदल सकते। अन्य सभी जीव-जन्तु अपनी एक निश्चित प्रकृति लेकर आते हैं और साधारणतः उसी स्थिति में जीवनयापन करते हैं। किन्तु मनुष्य पर यह बात लागू नहीं होती। वातावरण, परिस्थिति और प्रयत्न से उसकी प्रकृति बनती और बिगड़ती है। एक मनुष्य से दूसरा मनुष्य शारीरिक दृष्टि से, सूरत शकल से तो बहुत कुछ मिलता-जुलता है पर प्रकृति, योग्यता, क्षमता, गुण, स्वभाव, दृष्टि आदि मानसिक परिस्थितियों में भारी अन्तर देखा जाता है। एक का जीवन देवता जैसा है तो दूसरे का दानव जैसा। एक उन्नति के शिखर पर तेजी से बढ़ता चला जा रहा है तो दूसरा पतन के गर्त में द्रुत गति से गिर रहा है। एक ने पुरुषार्थ का भाग अपनाकर अपनी शक्तियों को विकसित करके आश्चर्यजनक प्रगति की है तो दूसरा आलस्य और प्रमाद में पड़ा हुआ दीन-हीन बन रहा है।

प्रगति और पतन के अनेक क्षेत्र हैं। परिस्थितियों के आधार पर मनुष्य उनमें से किसी भी ओर अग्रसर होता है और जिस दिशा में कदम बढ़े थे उसी के अनुरूप बनता और चलता चला जाता है। प्रयत्नों के द्वारा मनुष्य को ढाला जा सकता है, ढल सकता है। इन ढलने और ढालने को क्रिया को "साधना" कहते हैं। व्यक्ति के निर्माण की विद्या को साधना कहा जाता है। इसे ही 'संस्कृति' भी कहते हैं, ऐसा मनुष्य भी एक पशु ही है, उसमें भी सब पाशविक दुर्गुण मौजूद हैं पर साधना द्वारा संस्कृति के आधार पर उस पर संस्कार डाले जाते हैं। तभी वह संस्कृत एवं सभ्य कहलाने का अधिकारी बनता है। इसी प्रयत्न से उसकी प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हुई महान विशेषताएँ विकसित होती हैं।

जैसे-तैसे जीवित रहने और दिन काटने की स्थिति तो साधारण रीति से भी प्राप्त हो जाती है पर यदि किसी दिशा में प्रगति करनी हो तो प्रयत्नपूर्वक साधना का मार्ग ही अपनाना पड़ता है। ढालने और ढलने की प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। शारीरिक दृष्टि से उन्नति करने के इच्छुक व्यायाम की साधना करते हैं और स्थिर चित्त एवं उत्साह के साथ दीर्घकाल तक उसी ओर लगे रहे तो एक दिन अच्छे खिलाडी, अच्छे पहलवान, अच्छे नट और सुन्दर निरोग, दीर्घायु बनने में सफल होते हैं। शिक्षा की दृष्टि से उन्नति करने के इच्छुक शिक्षालयों में प्रविष्ट होते हैं, शिक्षकों का मार्ग-दर्शन ध्यानपूर्वक ग्रहण करते हैं। पाठ्यक्रम को हृदयंगम करने के लिये दिन-रात पढ़ते हैं, इस प्रकार प्रयत्न करते-करते एक दिन विद्वान् बन जाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में प्रगति करने वाले व्यापार आदि के साधन जुटाते हैं उनकी बारीकियों को समझने के लिए आवश्यक शिक्षण प्राप्त करते हैं, ग्राहकों को आकर्षित करने की व्यवस्था सीखते हैं। भारी दौड़-धूप करते हैं, प्रतिस्पर्धा में टिके रहने की कुशलता बरतते हैं, अपव्यय को रोकते हैं तब कहीं इस अर्थ साधना में धनवान बनने की सिद्ध प्राप्त करते हैं।

इन्जीनियर, डॉक्टर, शिल्पी, मैकेनिक, वैज्ञानिक, संगीतज्ञ, गायक, नर्तक, कलाकार, कवि, लेखक आदि की विशेषताएँ अनायास ही किसी को प्राप्त नहीं हो जातीं, वरन् इसके लिए चिरकाल तक निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है, तब कहीं यह सफलताएँ उपलब्ध होती हैं। यदि यह प्रयत्न एवं साधन न जुटें तो इन विशेषताओं को प्राप्त कर सकना भला किसी के लिये कैसे सम्भव हो सकता है।

जिस प्रकार मनुष्यों में शारीरिक दृष्टि से साधारण-सा ही अन्तर होता है, इसी प्रकार मानसिक दृष्टि से भी थोड़ा-सा ही अन्तर है। यदि हमें किसी को पतनोन्मुख देखते हैं तो इसका कारण उसकी साधना एवं साधन ही है। व्यक्ति गीली मिट्टी के समान है निश्चय ही वह साधनों के आधार पर, साधनाओं के आधार पर ढाला जाता है।

उपरोक्त भौतिक क्षेत्रों में जिस प्रकार साधना एवं साधनों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार गुण, स्वभाव, आदत, चरित्र, आचरण, आदर्श, विश्वास, भावना, दृष्टिकोण आदि मानसिक विशेषताओं के निर्माण में भी साधना एवं साधन ही प्रधान कारण हैं। यदि उनकी ओर उपेक्षा रखी जाय तो असंस्कृत स्थिति ही बनी रहेगी। जिनकी मनोभूमि का सावधानीपूर्वक निर्माण नहीं हुआ है, वे अपने प्रयत्नों से किन्हीं भौतिक सफ़लताओं में सफल भले ही गये हों, आन्तरिक दृष्टि से हीन दशा में ही पड़े रहेंगे और यह हीनता उन्हें कभी भी महानूपुरुष की, सभ्य नागरिक की, श्रेष्ठमानव की स्थिति में न पहुँचने देगी। यह अभाव मानव जीवन का सबसे बड़ा अभाव है।

साधना मानव जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। व्यक्तित्व को किसी दिशा में ढालने का कार्य साधना द्वारा ही सम्पन्न होता है। कमाऊ और सम्मानास्पद कार्यों में ही नहीं चोरी, डकैती, जेबकटी, ठगी जैसी बुराइयों में भी माहिर बनने के लिए उन कार्यों का अनुभव एवं शिक्षण प्राप्त करना होता है उनके लिए भी साधना ही अभीष्ट है। दिन काटने की हीन स्थिति से आगे बढ़कर किसी ने यदि भली या बुरी दिशा में कुछ प्रगति की है तो उसे उस दिशा में साधना अवश्य करनी पड़ी है। साधना ही वह कल्पवृक्ष है जिसकी छाया में मनुष्य के विविध मनोरथ पूरे होते हैं।

सुख प्राप्त करने के लिए अनेक उपकरण जुटाने में लोग व्यस्त हैं, उनके लिये साधनाएँ भी प्राप्त कर रहे हैं और सफलता भी प्राप्त कर रहे हैं, इसमें एक क्षण के लिये लगता है कि बुद्धिमत्ता की मात्रा इन दिनों काफी बढ़ी है। पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता की ओर जन साधारण की ओर उपेक्षा देखकर दूसरे ही क्षण ऐसा लगता है मानो दूरदर्शिता का, सूक्ष्म दृष्टि का दिवाला ही निकल गया हो। मनुष्य का वास्तविक विकास उसके सद्‌गुणों, उच्च्व विचारों, श्रेष्ठ विचारों और सुदृढ़ आदर्शों पर निर्भर रहता है। यदि यह निर्माण न हुआ तो धन, पद, स्वास्थ्य, योग्यता आदि की दृष्टि से कोई व्यक्ति कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न दीखे अपने आपमें सदा असंतुष्ट रहेगा और उसके सम्पर्क में आने वाले लोग खिन्न एवं क्रुद्ध ही रहेंगे। दुर्गुणी दुर्भावनायुक्त, दुश्चरित्र, आदर्शहीन, स्वार्थी, अशिष्ट, अहंकारी, बुरी आदतों में ग्रसित, दुर्व्यसनी, आलसी प्रमादी लोग अपनी भौतिक योग्यताओं के आधार पर बाहर से सफल भल ही दीखें वस्तुतः वे नितान्त असफल ही होते हैं। न तो उनका कोई सच्चा मित्र होता है और उन उन्हें किसी का स्नेह, सद्‌भाव ही प्राप्त होता है। अपने दुर्गुण उन्हें भीतर ही भीतर बुरी तरह जलाते रहते हैं। कभी भी उन्हें शान्ति और सन्तोष के सौभाग्यपूर्ण स्वर्ग का दर्शन नहीं होता है। उनकी अन्तःस्थिति श्मसान की दुर्गन्धित धुँए से भरी और सुलगती सी बनी रहती है। ऐसे लोग यदि बाहरी दृष्टि से कुछ सफल भी हों तो वह सफलता किस काम की ?

आन्तरिक क्षेत्र का असंस्कृत, अव्यवस्थित पड़ा रहना, उनमें दुर्भावनाओं और पतित आदर्शों के झाड़ झँकड़ उपज पड़ना सभी दृष्टियों से दुर्भाग्यपूर्ण है, इन परिस्थितियों में पड़ा हुआ मनुष्य व्यक्तिरूप से कभी भी सुख-शान्ति आनन्द, उल्लास एवं सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता। इस अभाव के रहते हुए उसकी सफलताएँ और उपार्जित सम्पदायें एक प्रकार से व्यर्थ ही रहती हैं।

सामाजिक दृष्टि से विचार किया जाय तो भी अविकसित, असंस्कृत एवं पतित मनोभूमि के लोग समाज के लिए कलंक, मानव जाति के लिए अभिशाप और राष्ट्र के लिए भाररूप ही हैं। किसी भी देश और समाज की वास्तविक सम्पदा उसके सभ्य नागरिक एवं उच्च आदर्श वाले महापुरुष ही होते हैं। उन्हीं से किसी देश का इतिहास बनता और गौरव बढ़ता है। शान्ति और सुव्यवस्था भी ऐसे ही लोगों से स्थिर रहती है। पर यदि समाज में बेईमान, निकम्मे, भ्रष्टाचारी, स्वार्थी लोगों की भरमार हो जाय तो फिर उसकी दुर्गति होना निश्चित ही है। कानून और शासन के द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक दुष्टता पर अंकुश कहाँ तक लगेगा ? न्याय और शासन का कार्य भी तो ये असंस्कृत मनोभूमि के लोग ही जब चलाने वाले हैं तो उनके द्वारा भी कब कुछ बनने वाला है। सामाजिक पतन को कानूनों

के बल पर प्रजातन्त्र व्यवस्था में नहीं रोका जा सकता है। निरंकुश अधिनायकवाद में अत्यन्त कठोर दण्ड-व्यवस्था का आतंक स्थापित करके भले ही उन ही मनोभूमि के लोगों के किसी हद तक काबू में रखा जा सके पर स्वाभाविक सद्भावना का पुण्य, प्रसाद तो तब भी परिलक्षित न होगा।

वैयक्तिक और सामूहिक सुख-शान्ति की सच्ची स्थापना सदाचार से ही सम्भव है और वह सदाचार स्वभावतः तो किसी बिरले को ही प्राप्त होता है। साधना और साधनों से ही उसे उत्पन्न करना पड़ता है। प्राचीनकाल में इस ओर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। उस समय यह भली-भाँति समझा जाता था कि सदुगुणों और उच्च आदर्शों की मनोभूमि बने बिना कोई व्यक्ति न तो अपने आप में सुखी रहता है और न समाज की सुव्यवस्था में कोई योग दे सकता है, इसलिए सबसे पहले सबसे आवश्यक कार्य यही समझा जाता है कि व्यक्ति को आन्तरिक दृष्टि से सुसंस्कृत बनाया जाय, उसकी मनोभूमि को श्रेष्ठ संस्कारित किया जाय। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आस्तिकता और धार्मिकता के दो माध्यम प्रयुक्त किये जाते थे। भारत के प्रत्येक नागरिक को धार्मिक एवं आस्तिक बनने के लिए साधना करनी पड़ती थी। आत्म-निर्माण की यह साधना जीवन का सर्वश्रेष्ठ, सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता था। जब तक यह प्रक्रिया भारतवर्ष में चलती रही, यहाँ प्रत्येक क्षेत्र में महानता का, उत्कृष्टता का, समृद्धि और सफलता का बोलबाला रहा। अब उस दिशा में जितनी ही उपेक्षा होती है उतनी ही अशांति और अव्यवस्था बढ़ती जा रही है। प्राचीन गौरव की तुलना में हम दिन-दिन नीचे उतर रहे हैं।

मनुष्य की शारीरिक भूख इन्द्रिय विषयों से, सत्ता, पद, धन, अहंकार, श्रृंगार, विलासिता आदि के आधार पर पूर्ण हो सकती है पर इन सबसे जो सुख मिलेगा वह ऊपरी ही रहेगा। कुछ ही समय ठहरेगा। आत्मिक भूख की तृप्ति उन विचारों और कार्यों से ही सम्भव है जो आत्म संतोष देने वाले हैं। सद्विचारों, सद्भावों, सद्गुणों, सत्कर्मों की मात्रा जितनी अधिक होगी उतना ही आत्म-सन्तोष बढ़ेगा। आत्म-तृप्ति के लिये किये गये यह प्रयत्न बाह्य जीवन में भी एक अद्भुत सरसता का संचार करते हैं। सत् प्रवृत्तियों से मनुष्य का व्यवहार और आचरण दूसरों के लिए सुखदायक होता है सद्गुणी व्यक्ति अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य की भाँति ही बाहर के सब लोगों के साथ भी सौजन्यपूर्ण व्यवहार करता है। उसकी प्रतिक्रिया स्वभावतः लोगो के प्रेम, सद्भाव एवं सम्मान के रूप में उपलब्ध होती है लोग उसके आचरण से प्रभावित होकर अनायास ही सद्भाव रखने लगते हैं। और उसे अपने चारों ओर प्रेम एवं सौजन्य का समुद्र लहराना दीखता है। यही अनुभव, यही लाभ जीवन का सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक लाभ है। उसके बिना जीवन सर्वदा नीरस ही रहता है।

परस्पर स्नेह, सद्भाव, सौहार्द और सहयोग होने पर जीवन में रस, आनन्द और उल्लास रहता है। इनका अभाव होने पर वह अपार वैभव द्वारा भी नहीं मिल सकता। इस वस्तु-स्थिति को समझकर हमारे पूर्वज सदा व्यक्ति के सद्गुणों और उच्च आदर्शों को पुष्ट करने पर जोर देते रहे। इसी के लिये आध्यात्मिकता का, धार्मिकता का विशाल ढाँचा खड़ा किया था। गुरुकुलों में छात्रों का जो शिक्षण होता था उससे स. प्रवृत्तियों के विकास एवं पोषण की ही साधना उनसे कराई जाती थी। वर्णाश्रम धर्म षोडस संस्कार, व्रत, पर्व, त्यौहार, तीर्थ, कथा, कीर्तन, अनुष्ठान, तप, संयम आदि की पृष्ठभूमि, व्यक्ति की मनोभूमि को उच्च स्तर की ओर अग्रसर करती ही है।

खेद की बात है कि जहाँ भौतिक विकास के लिये इतने प्रयत्न हो रहे हैं वहाँ मनुष्य की अन्तः भूमि के परिष्कार की दिशा में सर्वत्र उदासीनता और उपेक्षा दिखाई देती है। इस अवस्था के रहते उन्नति के लिये अन्य प्रयत्न असफल ही रहेंगे। धन और शिक्षा की दृष्टि से यदि लोग सम्पन्न भी हुए तो उनसे आन्तरिक दुर्गुणों के रहते कोई सत्परिणाम निकलने की सम्भावना नहीं है। सम्पन्नता मिलने पर तो दुर्गुणी के दुर्गुण और भी अधिक बढ़ते है और वह अपेक्षाकृत और भी अधिक विपत्ति में फँस जाता है।

मनुष्य की आत्मा में अनन्त सत् तत्व सन्निहित हैं। उसको कुरेदा और बढ़ाया जाना चाहिए। सम्पन्नता की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न हो रहे हैं वे सराहनीय हैं पर साथ ही मानवीय महानता के उत्थान को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। वह आत्म-निर्माण की साधना का कार्य अत्यन्त ही उपयोगी एवं आवश्यक है। शुष्क उपदेशों के द्वारा तो यह कार्य बनने वाला नहीं है। इसके लिये साधना का मार्ग उसी प्रकार अपनाना पड़ेगा जिस प्रकार धन, स्वास्थ्य, विद्या, यश आदि की प्राप्ति के लिये सुनिश्चित प्रयास करना पड़ता है।

साधना के नाम पर आज देवी-देवताओं की पूजा-पाठ का कर्मकाण्ड शेष रह गया है। यह अपूर्ण है। देवार्चन भी आत्म-साधना का एक अंग है पर वही सब कुछ नहीं है। दुष्प्रवृत्तियों का परिपोषण करके अन्तः भूमिका में देवताओं जैसे स्वर्ग सोपान की स्थापना करने का वैधानिक प्रयास ही साधना का वास्तविक उद्देश्य है। ऐसी ही साधना प्राचीन-काल में होती थी। आज भी आत्म-निर्माण की दृष्टि से, वैयक्तिक और सामूहिक सुख-शान्ति की दृष्टि से ऐसी साधना की आवश्यकता है। साधना के साथ ही हर क्षेत्र की सफलता जुड़ी हुई है। आत्म-निर्माण की सर्वोपरि आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी हमें साधना का ही मार्ग अपनाना पड़ेगा। जीवन-लक्ष्य की सफलता जुड़ी हुई है। आत्म-निर्माण की सर्वोपरि आवश्यकता की पूर्ति के लिये भी हमें साधना का ही मार्ग अपनाना पड़ेगा। जीवन लक्ष्य की सफलता अभीष्ट हो तो साधना आवश्यक है, अनिवार्य है, यह तथ्य स्वीकार करना ही होगा।

साधना की महानता

आध्यात्मिक साधनाओं का मूल उद्देश्य आत्म-निर्माण है। जीवन की सारी समस्याओं का उलझना-सुलझना बहुत करके मनुष्य की आन्तरिक स्थिति पर निर्भर रहता है। यों कभी-कभी कठिन प्रारब्ध भोग भी मार्ग में विघ्न बाधा बनकर जड़ जाते हैं और हटते-हटते बहुत परेशान कर लेते हैं, पर आमतौर से जीवन की गतिविधि व्यक्ति की अपनी निजी मनोभूमि पर आधारित रहती है।

जिसे क्रोध आता है उसे सब कोई अपने प्रति विपक्षी, दुष्ट और झगड़ालू दीखते हैं। जिसके मन में ईर्ष्या और द्वेष की प्रबलता है उसे सर्वत्र शत्रु और दुष्ट ही दिखाई पड़ते हैं। आलसी को सब कार्य कठिन और सफलता के मार्ग में चारों ओर भारी विघ्न उपस्थित लगते हैं। विषय विकारों से जिसकी दृष्टि दूषित हो रही है उसे हर कोई व्यभिचारी दिखता है। जिनकी प्रकृति अविश्वास और छिद्रान्वेषी बन गई है तो उसे हर कोई संदिग्ध, धूर्त और दोषी प्रतीत होता है, डरपोक को चारों ओर से अपने ऊपर आपत्तियाँ मँडलाती लगती रहती हैं। पतित दृष्टिकोण के लोगों को इस संसार में केवल पाप, पतन, छल, शोषण आदि दुष्प्रवृत्तियों का बोलबाला दृष्टिगोचर होता है। माना कि संसार में अनेक बुराइयाँ मौजूद हैं और उनकी मात्रा भी बहुत है पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि यहाँ बुराई के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। निश्चित रूप से इस धरती पर बुराई की उपेक्षा भलाई कहीं अधिक है, पाप की अपेक्षा पुण्य की मात्रा ज्यादा है, कठिनाइयों से सुविधाएँ अधिक हैं, दुष्टता से सज्जनता बढ़ी-चढ़ी है। यदि ऐसा न होता तो यह दुनियाँ इस योग्य न रहती कि परमात्मा का पुत्र आत्मा यहाँ अवतार लेता और मृत्यु की अपेक्षा जीवन को अधिक प्यार करता।

प्याज खा लेने से मुँह में बदबू आती है, नशा पी लेने पर पागलपन छा जाता है, सनाय खा लेने पर दस्त होने लगते हैं, विषपान करने वाले के सामने मृत्यु की विभीषिका उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार जिनकी मनोभूमि असंस्कृत, पतनोन्मुख, निम्नस्तर की एवं उलझन भरी है उनका बाह्य जीवन निश्चित रूप से अस्त-व्यस्त रहेगा। जितने कुछ साधन सामिग्री प्राप्त हैं वह सभी अपर्याप्त और दोषपूर्ण लगेगी। जितने व्यक्ति अपने साथ में किसी सम्बन्ध सूत्र में बँधे हैं वे सभी बुराइयों और बदमाशियों से भरे लगेंगे। जो भी परिस्थिति प्राप्त है वे सभी दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होगी। इस प्रकार का अनुभव करते रहने वाला न तो कभी सुखी रह सकता है और न सन्तुष्ट, उसे खिन्नता, झुँझलाहट, परेशानी और जलन ही घेरे रहेगी।

स्वार्थी दृष्टिकोण वाला व्यक्ति सदा अपना मतलब प्रधान रखेगा। दूसरों के न्यायोचित स्वार्थों को भी धक्का पहुँचाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करेगा। ऐसे लोगों के प्रति भला किसके मन में श्रद्धा और सम्मान का भाव उठेगा। जिसने दूसरों के प्रति कभी सेवा और सहयोग का व्यवहार नहीं किया उसे अपने प्रति किसी उपकार की क्या आशा करनी चाहिए ? कृतघ्न व्यक्ति जो दूसरों के उपकार और अहसान को तुरन्त भुला देता है, किसी में सज्जनता की झाँकी किस प्रकार कर सकेगा ? कृतज्ञता और प्रत्युपकार की उच्च भावनायें उसके मन में कैसे उठेंगी ? निष्ठुर, निर्दय और क्रूर व्यक्ति दया और करुणा स्वर्गीय अनुभूति कहाँ कर पायेगा ? अहंकार में जो डूबा रहता है, उसे नम्रता, विनय, शिष्ट और सभ्य व्यवहार करने की मधुरता का अनुभव क्या होगा ? खुदगर्ज व्यक्ति के लिये निःस्वार्थता का दिव्य रस आस्वादन कर सकना प्रायः असम्भव ही है।

जिसने अपनी मनोभूमि को सुसंस्कृत बनाने की साधना नहीं की, जिसके मन में केवल पाशविक संस्कार ही भरे पड़े हैं उसके लिये परमात्मा की पुनीत कृति यह दुनिया-दुर्गन्ध भरे जलते हुए श्मशान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हो सकता है ऐसे लोगों को पूर्व पुण्यों से, चतुरता और पुरुषार्थ से भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त हुआ हो, पर क्या इतने मात्र से सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है ? भौतिक सम्पदायें केवल झंझट बढ़ा सकती हैं, जिम्मेदारियों और चिन्ताओं के बोझ से लाद सकती हैं, थकान और झुँझलाहट दे सकती हैं पर शान्ति और सन्तोष में इनसे कण भर की वृद्धि न होगी। आन्तरिक स्थिति का, मनोभूमि का परिष्कार ही एक मात्र वह उपाय है जिससे बाहर की हर वस्तु और हर परिस्थिति अनुकूल बन सकती है। बेशक, इस दुनिया में ऊबड़-खाबड़ भी बहुत है पर जिसने अपने दृष्टिकोण को परिमार्जित और सुसंस्कृत बना लिया है उसके लिये अवांछनीय तत्वों की अशुभ-प्रतिक्रिया से अपने को बचाये रखना बहुत हद तक सम्भव है। जिसका सोचने का तरीका सही है, जिसके विचार और आदर्श उच्चस्तर के हैं वह अनायास ही इस संसार के दिव्य तत्वों को, सज्जनता को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है और उनके सहयोग से लाभान्वित होकर मानव जीवन की सरसता का बहुत कुछ अनुभव कर सकता है।

जीवन में उपस्थित अधिकांश कठिनाइयाँ ऐसी हैं जिनमें समाज या दूसरे व्यक्तियों द्वारा उपस्थित कठिनाइयों की अपेक्षा अपनी निज की भूल एवं अशुद्ध दृष्टि ही प्रमुख कारण होती है। स्वास्थ्य बिगड़ रहा है—क्या इसमें अपना आहार विहार की मर्यादाओं का उल्लंघन एवं असंयम का कोई कारण नहीं रहा है ? निश्चय ही यदि स्वास्थ्य के नियमों पर दृढ़ता-पूर्वक चला गया होता तो अस्वस्थता का जो दुःख आज भोगना पड़ रहा है, न भोगना पड़ता।

आर्थिक तंगी परेशान कर रही है—क्या इसमें अपनी फिजूलखर्जी और उपार्जन में उपेक्षा कारण नहीं है ? चूँकि दूसरे अधिक आमदनी वाले लोग अधिक खर्च करते हैं तो हम भी उनकी नकले करके वैसी ही शान बनायें, इस प्रकार से सोचना और अपनी हैसियत से अधिक खर्च करना कहाँ तक उचित है ? जब कि हमसे कम कमाने वाले गरीब लोग भी अपनी हैसियत के अनुरूप बजट बनाते और उसी में सन्तोष तथा व्यवस्थापूर्वक कार्य चलाते हैं तो हम वैसा क्यों नहीं कर सकते ? जब अन्य लोग हमारी अपेक्षा अधिक परिश्रम, अधिक दौड़-धूप करके शान और शेखी की परवाह न करके हलके समझे जाने वाले काम भी प्रसन्नतापूर्वक करते हैं और अपने उचित खर्चों के लायक कमा लेते हैं तो हम आलस और शान-शेखी की आड़ लेकर बढ़िया अवसर की प्रतीक्षा में क्यों बैठे रहें ? यदि हमारा आर्थिक दृष्टिकोण सही हों, उपार्जन और व्यय के सम्बन्ध में समुचित सावधानी रहे तो ऋणी होने का, आर्थिक तंगी पड़ने का कोई कारण नहीं रह जाता। यह तंगी हम अपनी ही दुर्बलताओं के कारण पैदा करते हैं और उनमें सुधार भी तभी होता है जब हमारी अपनी आदतें सुधरती हैं।

कोई सच्चा मित्र नहीं दीखता, शत्रुओं की संख्या बढ़ती जाती है—क्या इसमें अपनी असहिष्णुता, कृतघ्नता, स्वार्थपरता, अशिष्टता, रूखापन आदि का कोई दोष नहीं है ? जो लोग दूसरों से मित्र भाव रखते हैं वे हमारे

प्रति शत्रुता क्यों बरतते हैं, इस पर यदि कोई गम्भीरता से विचार करे और बारीकी से आत्म-निरीक्षण करे तो सहज ही पता चल जायेगा कि अपने अन्दर भी कुछ ऐसे दोष हैं जो लोगों की दुष्टता को उभारने में बहुत हद तक सहायक होते हैं। जिन लोगों ने अपने स्वभाव में मधुरता की आवश्यक मात्रा का समावेश कर रखा है वे दुर्जनों में भी रहने वाली थोड़ी सज्जनता को उभार लेते हैं और उन से भी बहुत कुछ ऐसे लाभ उठा लेते हैं जो मित्रों से प्राप्त होते हैं। यह तथ्य यदि समझ में आ जाय और मनुष्य अपने स्वभाव में आवश्यक परिवर्तन कर ले तो मित्रों की कमी और शत्रुओं की अधिकता वाली कठिनाई बहुत हद तक हल हो सकती है।

घर में क्लेश रहता है, स्त्री, पुत्र कहना नहीं मानते, द्वेष और दुर्भाव बढ़ रहा है—क्या इसमें अपना अनावश्यक मोह, अनुचित नियन्त्रण, डाँट-डपट, कटु भाषण, प्यार से समझाने की उपेक्षा, आवश्यक प्रेम की कमी, न्यायोचित व्यवस्था की कमी, गुणों की प्रशंसा करने में कंजूसी आदि हमारा कोई दोष तो कारण नहीं है ? हो सकता है कि हमारे परिवार के लोग अपेक्षाकृत कुछ अधिक असंस्कृत हों और उनकी बुराइयाँ औरों से अधिक बढ़ी-चढ़ी हों। पर इसमें गृह संचालक का भी कुछ न कुछ दोष अवश्य रहता है। यदि आरम्भ से ही उसने अपने में गृह संचालक के उपयुक्त आवश्यक गुण उत्पन्न कर लिये होते तो परिस्थिति उस सीमा तक न बढ़ती जितनी कि आज प्रतीत होती है। आज भी, इन परिस्थितियों में भी यदि अपनी कुछ आदतों और दृष्टि दोषों को सुधार लें तो अभी भी बहुत कुछ सुधार हो सकता है और गृह क्लेश की समस्या अपने विकराल रूप में सिमट-कर बहुत छोटी रह सकती है।

ऊपर की पंक्तियों में कुछ थोड़े से प्रश्नों पर विचार किया गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी अगणित समस्यायें हैं जिनसे घिरा हुआ मनुष्य सदा अशान्ति एवं असन्तोष का अनुभव करता रहता है। प्रयत्न यह होता है कि परिस्थितियाँ बदल जायें। पर कोई यह नहीं सोचता कि इन प्रतिकूलताओं की जड़ अपने अन्दर है। आवश्यक हेर-फेर करने का वही स्थान है। उसे सँभाला जाय और सुधारा जाय तो बाहर की गुत्थियाँ सुलझें। अपने को निर्दोष और दूसरों को दोषी मानने की प्रवृत्ति अब हर व्यक्ति में बहुत बढ़ चली है। सारा दोष दूसरों के मत्थे मढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए हर कोई तत्पर दीखता है। आत्म निरीक्षण व्यर्थ लगता है। कोई दूसरा अपने दोष बताता है तो उस पर झुँझलाहट आती है। ऐसी स्थिति के रहते भला यह कैसे आशा की जा सकती है कि कोई समस्या स्थायी रूप से हल हो जाय। दूसरों को सुधारना, अपनी मनमर्जी का बना लेना कठिन है, सब प्रतिकूलतायें अपने अनुकूल हो जाय, यह भी असम्भव है। प्रयत्न करने से व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों में थोड़ा सुधार हो सकता है पर अधिक सुधार तो अपने दृष्टिकोण एवं स्वभाव में ही करना पड़ेगा। बाहरी समस्याओं की कुंजी अपने अन्दर है। ताली से ही ताला खुलता, अपने सुधार में ही संसार सुधरता है। दुनिया भर में बिखरे हुए काँटे हटा देना कठिन है पर पैरों में जूते पहनकर उनसे अपनी रक्षा सुगमतापूर्वक की जा सकती है।

वैयक्तिक जीवन की अगणित समस्याओं का हल मनुष्य को अपनी विचारधारा, भावना, आदर्शवादिता, स्वभाव, आदत एवं अभिरुचि से सम्बन्धित है। सामाजिक समस्यायें भी व्यक्तिगत समस्याओं का ही सम्मिलित रूप हैं। जिस समाज में जिस मनोभूमि के व्यक्तियों का बाहुल्य होता है वह समाज भी उसी रूप में दिखाई पड़ता है। हमारे समाज में आज अनेकों बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, कन्या विक्रय, वर विक्रय, नशेबाजी, माँसाहार, छुआछूत, मृत्युभोज, भूत-पलीत आदि कितनी ही कुरीतियाँ प्रचलित हैं। जुआ, चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, शोषण, आक्रमण आदि अनैतिकतायें भी तनप रही हैं। देखने में यह सामाजिक दोष मालूम पड़ते हैं। पर वस्तुतः यह भी व्यक्तिगत दुर्बल्ताओं की ही प्रतिक्रिया है। फूट, विसंगठन, कायरता, सामूहिकता का अभाव, देश-भक्ति एवं राष्ट्र-भक्ति की कमी के कारण हमारा धर्म, समाज एवं राष्ट्र कमजोर होता जाता है। इन बुराइयों के लिये भी व्यक्ति ही दोषी है। राष्ट्र या समाज कोई अलग चीज नहीं, वह तो व्यक्तियों की सामूहिक स्थिति ही है। व्यक्तियों का आन्तरिक स्वर यदि सुव्यस्थित हो तो राष्ट्रीय चरित्र एवं सामाजिक गठन स्वयमेव उत्कृष्ट रहेगा। जो लोग सामाजिक उत्थान एवं राष्ट्र निर्माण की बात सोचते हैं उन्हें यह बात भली प्रकार हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि देश के

नागरिकों के स्वभाव, चरित्र और दृष्टिकोण को बदलना ही इसका एकमात्र उपाय है। इस तथ्य की उपेक्षा करके अन्य उपाय, चाहे वे कितने ही व्ययसाध्य एवं विशाल क्यों न हों कदापि अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति न कर सकेंगे।

व्यक्ति निर्माण का कार्य क्या भाषणों और लेखों द्वारा सम्पन्न हो सकेगा ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। आज हर काम के लिये यही दो उपाय काम लाये जाते हैं। सामान्य जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से लेखों और भाषणों की भी एक सीमा तक आवश्यकता हो सकती है, पर इतने से ही काम न चलेगा। इसके लिये रचनात्मक उपाय अपनाने पड़ेंगे। धार्मिकता और आस्तिकता का अन्तःकरण में प्रवेश होने से ही उन आदर्शों के प्रति निष्ठा बढ़ सकती है जो व्यक्ति की पाशविक दुष्प्रवृत्तियों का समाधान और दैवी सत्प्रवृतियों का उत्थान कर सकें। यही साधना, मानव जीवन की प्रत्येक गुत्थी को सुलझाने वाली, प्रत्येक कठिनाई का समाधान करने वाली मानी जाती है। यह मान्यता असत्य नहीं है। आत्मा पर छाये हुए मल विक्षेपों को जो साधना हटा सकती है वह सुख-शान्ति की प्रगति और उन्नति के द्वारा भी मिल सकती है। आत्म-निर्माण की वैज्ञानिक विधि व्यवस्था को ही साधना के नाम से पुकारा जाता है। आत्म-निर्माण का कार्य किसी विशाल कार्यालय या कारखाने के निर्माण से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस महान कार्य को सम्पन्न करने वाली पद्धति-साधना की महानता स्वल्प नहीं महान ही है।

तपोसाधना की आवश्यकता

तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली ३ के द्वितीय अनुवाक में एक प्रसंग आता है कि भृगु ने अपने पिता वरुण से ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—"अधीहि भगवो ब्रह्मेति।" भगवन् ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।

तू ँ हो वाच। तपसा ब्रह्म विजित्तासस्व। तपोब्रह्मैति। सतपोऽतप्यत। सतपस्तप्यत्या आनन्दो ब्रह्मैति व्यजानात्।

तब वरुण ने कहा—तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। तप ही ब्रह्म है। तब उसने पिता की आज्ञा पाकर तप द्वारा अपने को तपाया और जाना कि ब्रह्म आनन्दमय है।

मुण्डक उपनिषद १। १। ८ में भी परमात्मा की प्राप्ति का उपाय तप को ही बताया गया है।

'तपसा बायते ब्रह्म'

अर्थात् तप से ही ब्रह्म को जाना जाता है।

तप ही महिमा असाधारण है। स्वयं ब्रह्म ने जब एक से अनेक होने की इच्छा की तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए जिस शक्ति और साधन सामिग्री की आवश्यकता पड़ी, उसका जुटाया जाना तप के द्वारा ही सम्भव हो सका। सृष्टि के आदि में ब्रह्म ने स्वयं तप किया और उसके द्वारा उपलब्ध बल से अखिल ब्रह्माण्ड के रूप में अपना विस्तार किया। ब्रह्मा के तप-बल से ही इस सृष्टि की संचालन क्रिया भी व्यवस्थित है।

वर्णन आता है—

सोऽकामयत। बहुल्यां। प्रजायेयेति। सतपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तन्सृष्ट्वा तदेदानु प्राविशत। तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्। —तैत्तिरीय २। ६।

"उस परमात्मा ने इच्छा की कि मैं प्रकट हो जाऊँ, एक से ही बहुत हो जाऊँ।" इसके लिये उसने तप किया। तप से अपने को तपाया और इस जगत की रचना की। इसे रचकर वह उसी में प्रविष्ट हो गया।

परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में तप का प्रमुख स्थान है। क्योंकि ब्रह्म स्वयं तप रूप है। आत्मा की शुद्धि की ब्रह्म प्राप्ति का प्रधान आधार है और यह तभी सम्भव है जब तप की अग्नि में अपने अन्तःकरण को तप के द्वारा स्वर्ग के समान उसके मल जलाने के लिए तपाया जाय।

कहा भी है—

सत्येव लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरं ज्योतिर्मया हि शुभ्रो,
य पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।।

—मुण्डक ३। १। ५

परमात्मा इस शरीर के भीतर ही शुभ्र ज्योति के रूप में विद्यमान है। वह सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और विवेक द्वारा ही प्राप्त होता है। जिनसे अपने दोषों को दूर कर लिया है वे प्रयत्नशील साधक ही उसका वर्णन करते हैं।

ब्रह्मलोक में प्रवेश के लिए सत्य, ब्रह्मचर्य आदि अन्य गुणों की भी आवश्यकता है पर साधक तपस्वी होना तो अनिवार्य ही है।

शास्त्र कहते हैं—

तेषमेवैभ ब्रह्मलोको येषां तपो
ब्रह्म येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

यह जो ब्रह्मलोक है यह उन्हीं का है जिनके पास तप है, ब्रह्मचर्य है और सत्य है।

ऐसा ही एक अभिवचन केन उपनिषद् में भी आता है—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठः वेदाः सर्वांगानि सत्यं यायतयम्। —केन ४।८

जिस रहस्यमयी ब्रह्म विद्या का वेद वेदांगों में विस्तारपूर्वक वर्णन है तथा उस सत्य स्वरूप परमात्मा को जिसके द्वारा जाना जाता है उसके तीन ही आधार हैं—१. तप २. मनोनिग्रह ३. कर्त्तव्य-पालन।

प्रश्नापनिषद् में एक कथा आती है जिसमें जिज्ञासु की प्रारम्भिक योग्यता तप साधना में प्रवृत्ति निर्देशित की गई है। सच्ची ब्रह्म जिज्ञासा का लक्षण ऋषि ने यही माना है कि इसमें लक्ष्य प्राप्ति के लिए कष्ट—तप करने की क्षमता है या नहीं। यदि यह क्षमता न हो तो उसे अनाधिकारी ही माना जाना निश्चित है। अनाधिकारी लोग ब्रह्म की चर्चा भले ही करते रहें पर उसे प्राप्त नहीं कर सकते। इस तथ्य का उद्घाटन उपनिषद् कर्त्ता ने इस प्रकार किया है।

सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यच सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसस्यचाश्वलायनो भार्गवौ वैदर्भिः कवन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मतुरा ब्रह्मनिष्ठः परं ब्रह्मान्वेषमणा एष हर्व तत्सर्व वक्ष्यनीत तेह समित्याथ यो भगवन्त पिप्पलादमुपसन्नाः। —प्रश्नोपनिषद् १।१

भारद्वाज के पुत्र मुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्रीय सार्यायणी, कौशल देशीय आश्वलायन, विधर्भ निवासी भार्गव, कत्य ऋषि के पौत्र कवन्धो, ये छः वेद परायण ऋषि परमात्मा की खोज करते हुए, हाथ में समिधा लेकर भगवान् पिप्पलाद ऋषि के पास इस आशा से गये कि वे ब्रह्म का व्याख्यान करेंगे।

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्थ यथा काम प्रश्नान्पृच्छत यदि वित्तास्यामः सर्वह वो वक्ष्याम इति।

—प्रश्नोपनिषद् १।२

उन सुकेशा आदि ऋषियों ने पिप्पलाद ने कहा—आप लोग श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तप के साथ एक वर्ष तक यहाँ सज्जनों की तरह निवास करें। इसके बाद अपने-अपने प्रश्न पूछें। यदि मैं जानता होऊँगा तो निश्चय ही वे सब बातें आप लोगों को बताऊँगा।

ऋषियों ने महर्षि पिप्पलाद के आदेशानुसार उनके आश्रम में रहकर एक वर्ष तक तप किया। इस प्रकार जब उनने अपनी प्रारम्भिक परीक्षा दे दी तब महर्षि ने उन्हें ब्रह्म का उपदेश देकर समाधान किया।

भगवान् बुद्ध जब आत्म-शान्ति की खोज में गृह त्याग कर निकलते हैं और आत्मा की प्राप्ति का मार्ग विभिन्न गुरुजनों से पूछते हैं तो उनका समाधान नहीं होता। अनेक प्रकार के मार्ग, अनेक विधान, अनेक सिद्धान्त उन्हें विचलित कर देते हैं। ऐसी दशा में उनकी अन्तरात्मा एक ही उपाय सुझाती है कि तप करना चाहिए। तप के द्वारा ही अपने भीतर प्रकाश उत्पन्न होगा जिससे वस्तुस्थिति का स्पष्ट निरूपण हो सके।

अश्वघोष कृत बुद्ध चरित्रम् में यह वर्णन इस प्रकार आता है—

इहास्ति नास्तीति य एव संशय ....
परस्य वाक्यैर्नम मात्र निश्चयः।
अवेत्य तत्वं तपसां शमेन च ....
स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चयम्।

—बुद्ध चरित्रम् ६।७३

क्या है, क्या नहीं है, इस सम्बन्ध में जो संशय है उसका समाधान मुझे दूसरों के वचनों से न होगा। तप और शम से मैं स्वयं ही तत्व को जानूँगा और उसे ही ग्रहण करूँगा। हुआ भी

यही। तपश्चर्या के उपरान्त ही वे निर्वाण प्राप्त कर सके। पूर्णता की परमात्मा की, प्राप्ति के लिए तप आवश्यक है।

आत्म-साधना के कठिन पथ पर

मृत मनुष्य के विषय में सारा संसार संशय-शील है। कुछ लोग मृत्यु को ही जीवन की इति मानते हैं, कोई कहते हैं कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के अतिरिक्त कोई आत्मा है जो मृत्यु के पश्चात् लोक-लोकान्तरों में भ्रमण करती है। प्रत्यक्ष या अनुमान से इसका कोई उचित निर्णय नहीं ले पाता। इस गूढ़ प्रश्न को लेकर एक दिन महर्षि उद्दालक के पुत्र नचिकेता ने यमाचार्य के पास जाकर अत्यन्त विनीत भाव से पूछा—'देव ! आप मृत्यु के देवता हैं अतएव मैं यह आत्म-तत्व आप से जानना चाहता हूँ।'

ऋषि बालक की जिज्ञासा पर एकक्षण यमाचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। पर दूसरे ही क्षण वे प्रश्न की गहराई में डूब गये। यमाचार्य ने पंचाग्नि-विद्या का ज्ञान बड़ी कठोर तपश्चर्या के बाद प्राप्त किया था, वे साधना-पथ की कठिनाइयों से पूरी तरह अवगत थे, बालक की दृढ़ता पर वे एकाएक विश्वास न करे सके अतः उन्होंने नचिकेता को सम्बोधित करते हुए कहा—'वत्स ! तुम इस आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर क्या करोगे, मैं तुम्हें सुख-सामग्रियों से भरपूर राज्य कोष, घोड़े, हाथी, रूपवती स्त्रियाँ और सौ वर्ष जीने वाले बहुत से पुत्र दे सकता हूँ, तुम चाहो तो इन्हें प्राप्त कर बहुत दिनों तक इस धरती का सुखोपभोग करो। यह आत्म-ज्ञान बड़ा कठिन है तुम, ऐसी तपश्चर्या क्यों करना चाहते हो ? दीर्घ-जीवन व्यापी सामर्थ्य प्राप्त कर इस संसार के सुखोपभोग क्यों नहीं माँग लेते।

यमाचार्य की इन प्रलोभनपूर्ण बातों का नचिकेता पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने कहा—भगवन् ! यह वस्तुएँ जो आप मुझे देना चाहते हैं, पता नहीं कब मेरा साथ देंगी, फिर भोग तो शक्तियों को नष्ट करने वाले ही होते हैं और शक्तियों के नाश से मनुष्य निश्चय ही दुःखी होता है और मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। मैं इस मृत्यु-रूपी भय से छुटकारा पाना चाहता हूँ। शरीर के सौन्दर्य और विषय-भोग को अनित्य और क्षणभंगुर समझकर ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो आत्म-ज्ञान की अपेक्षा दीर्घ-जीवन और सांसारिक वैभव विलास को बड़ा मानेगा ?

नचिकेता की प्रबल आत्म-जिज्ञासा के भाव को देखकर यमाचार्य सन्तुष्ट हुये और उन्होंने नचिकेता को आत्म-तत्व का उपदेश दिया।

जिस बात को यमाचार्य और नचिकेता के इस कथानक में बताया गया है, आत्म-साक्षात्कार के साधक के जीवन में भी वैसी ही घटनायें घटित होती हैं। मनुष्य की साधारण जिज्ञासा और आत्म-साक्षात्कार के बीच में जीवन-शोधन की जो आवश्यक शर्त लगी हुई है। वह अति दुस्तर है, इसीलिये शास्त्रकार ने कहा है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया-
दुर्गम् पथस्तत्कवयो वददि।

'यह आत्म-ज्ञान का मार्ग छुरे की धार पर चलने के समान कठिन है, ऐसा कवि-मनीषियों का निश्चित मत है।'

बात भी प्रायः ऐसी ही है, क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक जीवन-क्रम में चलते रहने की प्रवृत्ति होती है। जल को किसी स्थान पर लुढ़का दिया जाय तो वह अपना रास्ता आप बना लेता है। नीचे की ओर बहने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। संक्षेप में, हमारा जैसा जीवन-क्रम चल रहा है उसे वैसे ही चलता रहने दें तो इसमें न कोई असुविधा होगी न कठिनाई। कठिनता तो अपने आप को ऊपर उठाने में ही होती है। पानी को अपनी सतह में ऊँचे उठाना हो तो उसे विशेष यत्नपूर्वक बड़ी कठिनाइयों से ऊपर चढ़ा पाते हैं। आत्मा को लघुता से विभुता की ओर अग्रसर करने में भी ठीक ऐसी ही कठिनाई आती है।

सबसे पहली आत्म-साधना जीवन को शुद्ध बनाना है। पाप और विकार की आत्मा के बन्धन माने गये हैं अतः उनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न किया जाता है। पीछे जो पाप हो गये हैं उनके प्रक्षालन के लिए प्रायश्चित और तपश्चर्या

करनी पड़ती है। इसके बिना आत्म-ज्ञान के लिये जिस एकाग्रता और दृढ़ता की आवश्यकता होती है वह नहीं हो पाती। पापों में रत और चित्त-वृत्तियों का शोधन न करने वालों के मन सदैव अशांत रहते हैं। ऐसी अवस्था में शब्द पाण्डित्य या केवल सैद्धान्तिक ज्ञान काम नहीं देता। आत्म-साक्षात्कार के लिये इन्द्रिय लालसाओं से मुक्त होना, शुद्ध, संयत और समाहित होना अत्यन्त आवश्यक है। पर इन्द्रिय-विजय यों ही नहीं हो जाती। जप, तप, व्रत, उपवास, तितीक्षा आदि के द्वारा आत्मा का शुद्धिकरण होता है। प्राणायाम ध्यान, धारणा आदि के द्वारा उसे शक्तिशाली बनाया जाता है। यह कार्य ऐसे नहीं होते जिन्हें मनुष्य का मान आसानी से स्वीकृति देता रहे और उनका किंचित विरोध न करे।

बुद्धि पाप, इच्छाओं और वासनाओं पर लगाम लगाती है, उन्हें बार-बार नियन्त्रण में लाती है किन्तु इन्द्रियाँ और उनके विषय भी बड़े शक्तिशाली और प्रमथनकारी होते हैं। चोट आये हुए सर्प तथा हारे हुये जुआरी की तरह वे बार-बार दाँव लगाते हैं और परिस्थितियाँ पाकर मनुष्य की सारी बुद्धि और विवेक में घमासान हलचल मचा देते हैं। काम और क्रोध, लोभ और मोह, भय और आशंका के तूफान एक क्षण में मनुष्य की बुद्धि पर पर्दा डाल देते हैं, उसे साधना से विचलित करने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। कुचली हुई वासनाओं को जब भी अवकाश मिलता है वे ऐसे-ऐसे प्रलोभनकारी रूपक रचकर मनुष्य को लुभाती हैं कि आत्म-ज्ञान का सारा महत्व उसकी आँखों से ओझल हो जाता है, बात ही बात में साधक पथभ्रष्ट होकर रह जाता है।

ऐसे कठिन समय में जिनकी बुद्धि में विवेक होता है, जिनका मन एकाग्र और समाहित होता है उसी की इन्द्रियाँ सावधान रहती हैं और वही आत्म-साधना के पथ पर धैर्य-पूर्वक अन्त तक टिके रह पाते हैं।

आत्म-ज्ञान की इच्छा करने वालों को स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि जो अनावश्यक जान पड़ती हों कम से कम उन कामनाओं का तो परित्याग करना ही पड़ता है। अपनी बुद्धि को यथासम्भव एकाग्र और निर्मल बनाने की जैसी ही आवश्यकता होती है जिस प्रकार भरे हुए जल में अपना प्रतिबिम्ब देखने के लिये लहरों का रोकना आवश्यक होता है। कामनायें एक प्रकार की लहरें ही होती हैं जिनके रहते हुए आत्मा का प्रतिबिम्ब साफ नहीं झलकता। इस बात का पक्का और पूर्ण विश्वास हो जाने पर किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं रहती। इसके बाद आत्मा स्वयं अपना गुरु, नेता या मार्गदर्शक हो जाता है और सभी सदाचरण स्वतः उसमें प्रकट होने लगते हैं। वह स्वयं ही सत्य और शुद्ध चरित्रमय बनने लगता है।

भय और लोभ आत्म-विकास के मार्ग में निरन्तर बाधायें पहुँचाते रहते हैं। बहुमुखी इन्द्रियाँ भी चैन से नहीं बैठने देतीं। अन्तरात्मा की देखने की दूर दृष्टि थोड़ी देर के लिए जागृत होती है अन्यथा अधिकांश समय वह इन्द्रियाँ तरह-तरह के बाहरी प्रलोभनों की ओर ही आकर्षित होती रहती हैं। अच्छे-अच्छे स्वादयुक्त भोज्य पदार्थ, अधिक धन, विपुल ऐश्वर्य, कुच और कंचन की अतृप्त तृष्णा बार-बार अन्तर्मुखी इन्द्रियों को बहकाती रहती हैं। अज्ञानी लोग बाह्य विषयों के प्रलोभनों में फँस जाते हैं, इसलिए बतया गया है यह मार्ग अति कठिन है और उसे पार कर जाना कोई आसान बात नहीं है।

पर अमृतत्व की तीव्र आकांक्षा रखने वाले साहसी पुरुष इन्द्रियों की क्षणिक लोलुपता और मोह के विद्रोह के आगे नहीं झुकते। ये नचिकेता की तरह ही निष्ठाभाव से आध्यात्मिक विकास की साधना में संलग्न रहते हैं और आत्म-ज्ञान का लाभ प्राप्त करते हैं। यह मार्ग कायरों के लिए कठिन है पर पुरुषार्थियों के लिए कठिन नहीं होता। वे कठिनाइयों में भी अपने जीवन का आनन्द ढूँढ़ लेते हैं और अन्त तक तत्परतापूर्वक अभ्यास करते रहते हैं। यह आत्मा अन्त में उन्हीं वीर पुरुषों को प्राप्त होता है। वही स्वर्ग और मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

ईश्वर प्राप्ति की साधना

पूजा अर्चा का तात्पर्य ईश्वर को प्राप्त करना नहीं वरन् अपनी भक्ति-भावना, प्रेम-प्रकृति को विकसित करना है। एक महत्वपूर्ण

मनोवैज्ञानिक व्यायाम की तरह ही पूजा-अर्चा की प्रक्रिया को माना जा सकता है, जिसके आधार पर पूजा-काल में किया हुआ अभ्यास हमारे स्वभाव का एक अंग बन जाय। विचारों और कार्यों में प्रेम की दिव्य पुण्य प्रकृति झिलमिलाने लगे यही पूजा की सार्थकता है। हम जो कुछ भी सोचें उसमें प्राणिमात्र के हित साधन की आकांक्षा ओत-प्रोत रहे और जो कुछ करें उसका प्रत्येक अंश विश्व-मानव की सुख शान्ति अभिवृद्धि करने वाला सिद्ध हो, यही तो प्रेममय जीवन की गतिविधियाँ हो सकती हैं। भक्ति-मार्ग का यही लक्ष्य है। ईश्वर-भक्त के लिए अपने जीवन को इसी दिशा में अग्रसर करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। भक्त उसे ही कहा जा सकता है जो प्राणिमात्र में ईश्वर को समाया हुआ देखता है और उसे पाप-पंक की गन्दगी से स्वच्छ करके सब प्रकार स्वच्छ एवं उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। हर किसी को उसकी इच्छानुसार सन्तुष्ट कर सकना न तो उचित है और न आवश्यक। क्योंकि बहुत से लोग ऐसे हैं जो दुष्टतापूर्ण आकांक्षायें रखते हैं, दूसरों का शोषण करना चाहते हैं। यदि उन दुष्प्रवृत्तियों को भी पूर्ण करने के लिए कोई भोला भावुक व्यक्ति प्रयत्न करने लगे तब तो उसमें अनीति ही पनपेगी, असुरता का पोषण होगा! प्रेमी को विवेकशील भी रहना पड़ता है ताकि दूसरों के हित साधन का सच्चा उपाय समझ सके और जरूरत हो तो कड़ुई कुनैन खिलाने पर फोड़े का आपरेशन करने वाले डॉक्टरों की तरह बाहर से निष्ठुर एवं कठोर दीखने वाला दूर-दर्शितापूर्ण व्यवहार भी कर सके। कठोरता के पीछे भी अनन्त करुणा छिपी हो सकती है।

समयानुसार व्यवहार की कोमलता या कठोरता का अन्तर रहता स्वाभाविक है और आवश्यक भी। पर उसके मूल में अपना स्वार्थ साधन नहीं, दूसरो की हित साधना—दूरवर्ती स्थिर फल देने वाली श्रेय-योजना ही सन्निहित होनी चाहिए। जीवन की यही सर्वोत्कृष्ट नीति हो सकती है। इसी में मानव जीवन की सफलता और सार्थकता मानी जा सकती है। प्रेमी स्वभाव बनाने की साधना को ही ईश्वरभक्ति या पूजा अर्चा कहते हैं। इस उद्देश्य में हम जितने ही सफल होते जाते हैं, ईश्वर उतना ही हमारे निकट खिंचता चला आता है। वस्तुतः ईश्वर हमारे नितान्त निकट है, रोम-रोम में समया हुआ है। प्रत्येक श्वाँस-प्रश्वाँस में उसी की बंशी बजती है। अन्तरात्मा में बैठा हुआ वह क्षण-क्षण में हमारे साथ विचार-विनिमय करता है और बिना पूछे ही श्रेय साधन के आवश्यक परामर्श देता रहता है। हमीं हैं जो उसकी उपेक्षा करते हैं, भुलाये रहते हैं और अवज्ञा की अशिष्टता बरतते हैं। ईश्वर-भक्ति इतने से ही पूर्ण हो सकती है कि उसे हम अपने कण-कण में समाया हुआ, अपने चारों ओर फैला हुआ, हर घड़ी साथ रहता, खेलता और मैत्री निबाहता हुआ देखें। इतनी अनुभूति अन्तरात्मा में जागृत हो सके तो समझना चाहिए कि ईश्वर मिल गया।

ईश्वर को अपनी मनमर्जी के अनुसार चलाने की, उसे नौकर जैसे हुक्म देने की धृष्टता छोड़कर यदि उसकी मर्जी से अपनी मर्जी मिलाने की शिष्टता सीख लें तो ईश्वर की उपलब्धि का जो लाभ मिल सकता है वह निश्चित रूप से मिल जायेगा। ईश्वर प्राप्ति कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसके लिये जगह-जगह भटकना पड़े। परमात्मा कहीं खोया हुआ नहीं है जिसे ढूँढ़ना पड़े। वह नाराज नहीं है जिसे प्रसन्न करना पड़े। करना केवल इतना ही है कि उसे जानते हुए भी अनजान जैसी गति-विधियों को अपना रक्खा है उन्हें बदल दिया जाय। पूजा अर्जा के समय तक ही ईश्वर का जप ध्यान करने को सीमित न रखकर, उस अनुभूति को यदि पूरे समय, पूरे जीवन-क्रम में, पूरी स्नेह-सम्वेदना के साथ देखा, समझा और अनुभव किया जा सके तो ईश्वर प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज ही प्राप्त हो सकता है।

अंगार पर भस्म की परत पड़ जाने से उसका स्वरूप अग्नि जैसा न रहकर कुछ और ही प्रकार का बन जाता है। जलता हुआ अंगार गरम होता है। रंग लाल रहता है, प्रकाश भी उसमें रहता है, किन्तु जब यह कुछ समय ऐसे ही निष्क्रिय पड़ा रहता और नया ईंधन नहीं मिलता तो धीरे-धीरे बुझने लगता है। ऊपर की परत पर भस्म की एक तह छा जाती है। तब देखने में वह काला, प्रकाश रहित और छूने से

उष्णता से रहित बन जाता है। यही बात आत्मा की भी है। ईश्वर का अंश होने से वह अग्नि जैसे दिव्य गुणों से परिपूर्ण है, पर जब दिव्य विचारों और दिव्य कर्मों का ईंधन भी नहीं मिलता तो वह मुरझाने और बुझने लगता है। मल, आवरण और विक्षोभ की राख जैसी पर्त उस पर छा जाती है। तब वह निष्कृष्ट कोटि का जीवनमात्र रह जाता है। अगणित मनुष्य इसी स्थिति में पड़े हुए हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव ऐसे घटिया होते हैं कि पशु से, कीट पतंगों से भी निम्न श्रेणी में ही उन्हें गिना जा सकता है। ऐसी दशा में यह सन्देह होने लगता है कि इन घृणित व्यक्तियों को ईश्वर का पुत्र व आत्मा कैसे कहा जाय ? जलते हुए अंगार और राख के ढके हुए अंगार में जो अन्तर होता है, वही प्रबुद्ध आत्माओं और पतित नर-पामरों के बीच भी पाया जाता है।

राख की परत हटा देने पर अंगार का भीतरी भाग पुनः गरम, प्रकाशवान और लाल ही दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार कुविचारों और कुसंस्कारों का आवरण हटा देने पर साधारण स्तर का प्रतीत होने वाला मनुष्य भी महात्मा, महापुरुष एवं देवता की श्रेणी में पहुँच जाता है। अन्तस्तल में महानता मौजूद रहने से आवरण को हटा देने मात्र की प्रक्रिया उसे पूर्व स्थिति में ले जाती है। उपासना और आराधना आत्मा पर चढ़े हुए मल-आवरण और विक्षोभों के हटाने के निमित्त ही की जाती है ? बर्तन माँजने से वे पुनः चमकने लगते हैं, धो डालने से कपड़े पुनः स्वच्छ हो जाते हैं, स्नान करने से शरीर में पुनः ताजगी आ जाती है। उपासना के द्वारा आत्मा पर उच्च संस्कार डालने की विधि व्यवस्था यदि ठीक प्रकार बनी रहे तो उसकी महानता एवं उत्कृष्टता भी निरन्तर बढ़ती चली जाती है। यह प्रगति धीरे-धीरे उन्नति के उच्च शिखर तक ले पहुँचती है और आत्मा की स्थिति भी परमात्मा के समान बन जाती है। उसमें ये सब विशेषताएँ और शक्तियाँ अवतरित होती हैं जो उसके उद्‌गम केन्द्र परमात्मा में मौजूद हैं।

इसमें कठिनाई अवश्य है। पूजा में थोड़े कर्मकाण्ड की विधि-व्यवस्था पूरी कर लेने से काम चल सकता है, पर ईश्वर प्राप्ति को तभी निभेगी जब पूरा जीवनक्रम ही दिव्यता के साँचे में ढाला जाय। आत्मिक पवित्रता ही ईश्वर प्राप्ति की निशानी है। जो आत्म पवित्र है उसे अपने भीतर परमात्मा की झाँकी प्रतिक्षण होती रहेगी।

तपस्वी, साधकों में अनेकों आध्यात्मिक विशेषतायें पायी जाती हैं। इनका व्यक्तित्व अनेकों ऋद्धि-सिद्धियों से भरा होता है अपने निज के लिए उज्ज्वल भविष्य की रचना करने के साथ वे दूसरों के भी बहुत भारी हित साधन कर सकने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। माया, स्वार्थ अज्ञान, वासना, तृष्णा के—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर के बन्धनों में बँधा हुआ जीव तुच्छ है। उसकी शक्ति, सामर्थ्य, स्थिति सब कुछ तुच्छ है। छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए उसे दीनता प्रकट करने और अभाव, कठिनाइयों का रोना रोते देखा जा सकता है। पर जब वह इन तुच्छताओं का परित्याग करके आत्म-स्वरूप को पहचान लेता है और जो सोचना चाहिए वही सोचता है, जो करना चाहिए वही करता है तो वह प्रबुद्ध आत्मा ईश्वर के बिल्कुल समीप जा पहुँचता है और वे सब विशेषताएँ उसमें प्रकट होती हैं जो ईश्वर में मौजूद हैं। सिद्ध पुरुषों की संकल्प-शक्ति के बल पर सारा संसार दहल उठता है, लोक-लोकान्तरों तक उनकी आकांक्षा हलचल मचा देती है। उपने तप आशीर्वाद का एक कण दूसरों को देकर उन्हें निहाल बना सकता है। अष्टसिद्धियों और नवनिद्धियों का वर्णन झूँठा नहीं है। मानव प्राणी अनन्त शक्तियों से ओत-प्रोत है। ब्रह्माण्ड का सारा नक्शा पिण्ड में मौजूद है। इन शरीर के अन्दर समस्त दिव्य शक्तियाँ बीज रूप में मौजूद हैं। साधना के द्वारा उन्हें विकसित करने के पश्चात् मनुष्य महान् ऐश्वर्यवान् बन सकता है।

सारा जीवन ही साधना बने !

रूढ़ अर्थों में साधना एक धार्मिक या आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसकी विभिन्न धर्म-सम्प्रदाओं में अलग-अलग मान्यतायें हैं। हिन्दू धर्म में यम-नियम, आसन और प्राणायाम को बहिरंग, धारणा, ध्यान और समाधि को अन्तरंग साधना-सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है।

जैनागमों में अनुशन, अनोदरता (आहार सम्बन्धी नियम), भिक्षाचर्या, वृत्ति-संकोच, रस-परित्याग, काय-कलेश और निर्विकारता को बहिरंग साधना की तथा प्रायश्चित, सेवा-परिचर्या, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग को अन्तरंग साधना अर्थात् तप की सज्ञा दी गई है। बौद्धधर्म के स्व-पीड़न और पर-पीड़न विरहित तप को श्रेष्ठ माना गया है।

परन्तु साधना या तप कोई जड़ प्रक्रिया नहीं है, जिसको नियमोपनियमों के शिकन्जे में कस दिया जाय। यह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसका अनुगमन बदलती हुई जीवन-परिस्थितियों के साथ व्यावहारिक धरातल पर होना आवश्यक है।

साधना केवल धार्मिक कर्मकाण्ड-सापेक्ष क्रिया मात्र नहीं है। उसको यह रूप देकर धर्माचार्यों ने मानव-मात्र को संकुचित दायरे में बन्द कर दिया है। गृह त्यागी, विरक्त और संन्यासी महाप्राण मनीषियों के आचार आदर्श का मान-बिन्दु ही स्थापित कर सकते हैं, परन्तु लोक धर्म का रूप नहीं ले सकते। आज धर्म के नाम पर नई पीढ़ी नाक-भौं सिकोड़ती है, उसका दोष किस पर है ? जो धर्म या साधन-पथ लौकिक जीवन के बदलते आश्रमों के साथ अपने को गत्यात्मक नहीं बनाये रख सकता, उसका स्थान शास्त्रों में सुरक्षित रहने योग्य है। वह बुद्धि-विलक्षण लोगों के तर्क-वितर्क का विषय बनने योग्य है पर जन-पथ पर उसका रथ अग्रसर नहीं हो सकता।

जन-समाज में अधिकांश संख्या तो गृहस्थों की है और नामधारी साधु-संन्यासी हैं उनमें से भी अधिकांश प्रछन्न गृहस्थ ही हैं। फिर यम-नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान-धारणा, समाधि की कठोर प्रक्रिया में से गुजरने की अपेक्षा किससे की जा सकती है ?

❑ ❑

नियामक सत्ता का नियन्त्रण न तोड़ें

नियामक सत्ता का स्वरूप जानें, समझें

"इलेक्ट्रिकल रिव्यू" नामक पत्रिका के एक अंक में चिकित्सा शोध समूह द्वारा की गयी इस खोज का विवरण प्रकाशित हुआ है कि मानव शरीर की विद्युत क्षमता का पर्यावरण के विद्युतीय दबाव से घनिष्ठ अन्तः सम्बन्ध है। हमारे अयन मण्डल में जब भी कोई गम्भीर उथल-पुथल होती है उसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे शरीर की सामान्य जैव विद्युत चुम्बकीय शक्ति पर पड़ता है, और सामान्य क्रियाशीलता गड़बड़ा जाती है। उस उथल-पुथल को सन्तुलित करने के लिये शरीर में कई तरह की मानसिक व शारीरिक व्याधियाँ उठती दिखाई देती हैं, जिन्हें हम रोग व शोक की संज्ञा देते हैं। विचार पदार्थ को किस प्रकार प्रभावित करते हैं उसका यह स्पष्ट उदाहरण है कि मनोसंस्थान में उतरा यह प्रभाव अविलम्ब शरीर के नाड़ी संस्थान में फैल जाता है और शरीर का जो अंग कमजोर हुआ वहीं वह किसी रोग या बीमारी के रूप में उसी तरह फूट पड़ता है जैसे भयग्रस्त व्यक्ति को चोर, बदमाश और अस्थिर दुर्बल चित्त लोगों को भूत प्रेत हैरान करते रहते हैं।

यह एक विलक्षण सत्य है कि प्राणि-जगत की मनोदैहिक अवस्था को प्रभावित करने वाला वातावरण का चुम्बकीय परिवर्तन स्वयंभू नहीं अपितु वह उथल-पुथल भी सुदूर ग्रह नक्षत्रों के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्रों में उथल-पुथल का परिणाम होती है। प्राकृतिक परमाणु इस दबाव को चलते-फिरते झेल जाते हैं, किन्तु अपनी जीवनचर्या में कृत्रिमता का लबादा ओढ़े इन्सान तनिक से परिवर्तन से ही लड़खडा जाता है महामारियाँ आती हैं तो एक साथ हजारों लोगों को मार जाती हैं, सामान्य से ऋतु परिवर्तन से कितने ही लोगों को सर्दी जुकाम और टाइफाइड तक हो जाता है, किन्तु जिन व्यक्तियों के आहार-विहार, रहन-सहन, खान-पान में प्राकृतिक साहचर्य घुला हुआ रहता है वे उसे हलके से बोझ की तरह हँसते खेलते झेल जाते हैं। उन्हें किसी संकट या बेचैनी का सामना करना नहीं पड़ता है। तालाब का पानी स्वच्छ और स्थिर हो तो सूर्य का प्रतिबिम्ब उतना ही स्वच्छ और चमकदार दिख जायेगा, किन्तु यदि उसे किसी ने घेर रखा हो और पानी अस्थिर हो तो वह बिम्ब इस तरह बिखर जायेगा कि उसका मूल स्वरूप ही समझ में नहीं आयेगा।

विश्व व्यवस्था की दृष्टि से हर व्यक्ति परिवर्तनों का सामना करने के लिये विवश है। जीव रसायन, जीव शास्त्रों की तरह इन दिनों विज्ञान की एक नई विधा का विकास हो रहा है जिसे "जीव चुम्बकीय" विज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक माइकेल गाक्वेलिन ने अपने अनुसंधानों द्वारा यह सिद्ध किया है। आकाशीय पिण्डों की चुम्बकीय शक्ति हमारे "आनुवांशिक जीवन" या कोशिका जगत को प्रभावित करती है। जन्म के समय चन्द्रमा के प्रभाव क्षेत्र में होने पर बालक के स्वभाव में साहित्यिक गुण पाये गये. यदि प्रभाव शनि का रहा तो वह अच्छे डाक्टर या वैद्य बनते देखे जाते और उसी तरह वह बालक जो वृहस्पति वर की राशि में से जन्म लेकर बढ़ते हैं वे बौद्धिक सूझबूझ वाले, अभिनेता किस्म के होते हैं, यह तथ्य वास्तव में इस बात के प्रतीक हैं कि हमारा जीवन ग्रहों से प्रभावित हुये बिना नहीं रहता।

विभिन्न चुम्बकीय बल प्राणियों पर क्या प्रभाव डालते हैं ? इसके अनुसन्धान के परिणाम स्वरूप "बायो मैग्नेटिक्स" नामक चिकित्सा विधि का विकास किया गया है। शिकागो के "बायो मैग्नेटिव रिसर्च फाउन्डेशन" द्वारा १५ वर्षों तक चूहों पर किये गये परीक्षणों से विदित हुआ कि इससे 'केन्सर सेल्स' की वृद्धि रोकी जा सकती है। इस प्रभाव में कैन्सर के कोषाणु बढ़ नहीं पाते। न्यूयार्क के डा. केई मैक्लीन ने भी इस

तथ्य की पुष्टि की है, लेनिन ग्राड चिकित्सालय में न्यूरोलाजिकल वार्ड के रोगियों के लिये एक निश्चित चुम्बकीय क्षेत्र के प्रति सक्रिय रहने वाली आहार व्यवस्था की गई। परिणामतः उनके गुर्दे की पथरी टूटकर घुलने लगी और रोगी को अपेक्षा से अधिक सुधार हुआ। इस दिशा में आगे के अनुसन्धान एक नई सम्भावना की ओर संकेत करते हैं जब मनुष्य केवल ग्रहों से मन को जोड़कर दैवी तत्वों से सीधे सम्पर्क का लाभ ले सकेगा। यह स्पष्टतः लोगों को देववाद और उपासना की ओर ले जायेगा। उपासना और कुछ नहीं दो चुम्बकीय शक्तियों के योग का ही नाम है। गायत्री उपासना से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

गायत्री का देवता "सविता"—सूर्य है उससे उपासक में वहाँ की सद्यः स्फूर्त प्राण चेतना भरती और सूर्य की आन्तरिक स्थिति में जब भी परिवर्तन होता है हमारा पार्थिव जगत उसी अनुपात में प्रभावित होता है मनोमय-जगत में भी व्यापक हलचल उत्पन्न होती है। सूर्य विम्ब में दिखाई देने वाले काले धब्बे जब बढ़ते हैं पृथ्वी में व्यापक प्राकृतिक परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार और वायु सौर ज्वालायें तथा विकिरण भी भूकम्प, हृदय व मानसिक रोगों तथा मानसिक विपत्तियों को बढ़ाते हैं। मंगल और बृहस्पति जब ६० अंश की कोणीय दूरी पर आते हैं उस समय अयन मण्डल में बड़ी तीव्र हलचल पैदा होती है। सौर विकिरण का मनुष्य की कोशिकाओं (जीन्स) में तीव्र असर होता है अर्थात् हमारे स्वभाव का भी सीधा सम्बन्ध सूर्य से जुड़ गया है। इन परिवर्तनों का केन्द्र बिन्दु कहाँ है यह कहना कठिन है, किन्तु सापेक्षवाद के जनक आइन्स्टीन के सापेक्षवाद सिद्धान्त के अनुसार उसका एक केन्द्र बिन्दु अवश्य होना चाहिये। हम चाहें तो उसे प्रकृति की व्यवस्था या परमात्मा का नियमन कुछ भी कह सकते हैं। शरीर और मन की तरह ब्रह्माण्ड और उसका जैव चुम्बकीय तत्व भी एक अनिवार्य सत्य है अतएव जहाँ हमारी शरीरचर्या प्राकृतिक रहन-सहन से स्वस्थ अनुभव करती है उसी प्रकार हमारा मनोमय कोश मन भी उसी के अनुरूप जीवन की मूल नैतिक आकांक्षा के अनुरूप रहना आवश्यक है।, अन्यथा कोई भी छोटी सी कठिनाई हमें निराशा के गर्त में धकेल सकती है।

सूर्य मण्डल ही नहीं, विचार तन्त्र समस्त ब्रह्माण्ड में शरीर की नाड़ियों की तरह फैला हुआ है चन्द्रमा की घटती बढ़ती कलायें तड़ित झंझावात, परमाणु परीक्षणों का वायुमण्डल में चुम्बकीय परिवेश में पड़ा प्रभाव न केवल समुद्र, बादल, तापमान को प्रभावित करते हैं अपितु शरीर स्थिति विद्युतीय प्रक्रिया को. अस्त-व्यस्त कर देते हैं, 'दि लिव्हं गाब्रेन ने लेंखक डा. ग्रे वाल्टर ने इस तथ्य को उल्टे ढंग से यों प्रतिपादित किया है कि जब किसी को शारीरिक चोट लगती है आहत स्थल की जीव विद्युतीय गतिविधि में प्रबल परिवर्तन होता है, उसी से मन पीड़ा अनुभव करता है। इसी तरह सृष्टि के किसी भी भाग में उत्पन्न दुर्दशा से मूल सत्ता का प्रभावित होना आवश्यक है, उन व्यवस्थाओं को सम्भालने के लिये परमात्मा आपात व्यवस्था की तरह तीव्र परिवर्तन करता है, उसमें हर प्राणी को भागीदार होना पड़ता है। अतएव यदि इस तरह का कभी कोई दबाव पड़ता है तो कमाण्डर के इंगित पर सक्रिय हो उठने वाले प्रत्येक सिपाही की तरह ही हमें उन व्यवस्थाओं को मानने के लिये तैयार हो जाना चाहिये और आसुरी प्रवृत्तियों के निराकरण में जुट जाना चाहिये। मूल सत्ता के आदेश हमारी भावनाओं में विचारों में आते अवश्य हैं यही हम उनकी उपेक्षा करते रहें और अपनी जीवन-शक्ति निरर्थक नष्ट करते रहें तो यही व्यवस्थायें हमारे लिये घातक हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति देर-सवेर आपत्ति, असफलता, मानसिक उद्वेग में फँसकर अपनी शान्ति व प्रसन्नता ही गँवाते हैं।

परमात्म-सत्ता से सम्बद्ध होने का माध्यम

जो अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेता है, उसका सम्बन्ध परमात्मतत्व से स्पष्ट और प्रकट हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति उच्च-शक्तियों के रूप में होकर संसार को प्रभावित करने लगती है और लोग व्यक्ति को अवतार, पैगम्बर, ऋषि, योगी आदि मानकर पूजने

और नमन करने लगते हैं। वह एक दिव्य पुरुष बन जाता है।

परमात्म-तत्त्व वह अनन्त जीवन, वह सर्वव्यापी चैतन्य और वह सर्वोपरि सत्ता है जो इस जगत के पीछे अदृश्य रूप से काम करती। इसका नियमन और नियन्त्रण करती है और जिससे दृश्यमान् जीवन आता है और सदा-सर्वदा आता रहेगा। इसी अनन्त, असीम और अनादि ज्ञान और शक्ति के भण्डार से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से साधारण मनुष्य असाधारण बनकर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता हो जाता है।

अणु-अणु का मूलाधार वह परमात्म-तत्व ही है। सब कुछ उसी से बनता और उसी चेतन-शक्ति से गतिशील होता है। आकार-प्रकार में भिन्न दीखते हुये भी प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी एक उसी तत्व का अंश है। जिस प्रकार समुद्र से उठाया हुआ एक जल-बिन्दु भिन्न दीखता हुआ भी मूलतः उसी का संक्षिप्त स्वरूप होता है और समुद्र की सारी विशेषतायें उसमें होती हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन और समष्टिगत जीवन सीमित और असीमित के मिथ्या भेद के साथ तत्वतः एक ही है। जो जीवात्मा है वही परमात्मा और जो परमात्मा है वही जीवात्मा। इस सत्य को जान लेना ही आत्म-ज्ञान कहा गया है। जिन-जिन महापुरुषों ने आत्म-प्रकाश की प्राप्ति कर ली है, उन्होंने अपना अनुभव प्रकट करते हुये, इस सत्य की इस प्रकार पुष्टि की है कि हम अपना जीवन परमात्म तत्व से एक दिव्य प्रवाह के रूप में पाते हैं अथवा हमारे जीवन का उस परमात्म-तत्व से ऐक्य है। हममें और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। हम और हमारा ईश्वर एक सत्य के ही दो नाम और दो रूप हैं। यही ज्ञान अथवा अनुभव आत्मानुभूति, आत्म-ज्ञान के अर्थ में मानी गई है।

प्रतीति के साथ शक्ति का अटूट सम्बन्ध है। जिसे अपने प्रति सर्व शक्तिमान् की प्रतीति होती है, वह सर्वशक्तिमान् और जिसको अपने प्रति निर्बलता की प्रतीति होती है वह निर्बल बन जाता है, और उसी के अनुसार उसका जीवन व्यक्त अथवा प्रकट होता है। अपने प्रति इस प्रतीति की स्थापना करने का प्रयास ही आत्म-ज्ञान की ओर अग्रसर होना है। जिसका उपाय आत्म-चिन्तन के सिवाय क्या हो सकता है ? जब यह चिन्तन अभ्यास पाते पाते अविचल, असंदिग्ध, अतर्क और अविकल्प हो जाती है, तभी मनुष्य में आत्म-ज्ञान का प्रकाश अपने आप विकीर्ण हो जाता है, दिव्य-शक्तियाँ स्वयं आकर उनका सबका वरण करने लगतीं और वह असाधारण से साधारण, सामान्य से दिव्य और व्यष्टि से समष्टि रूप होकर संसार के लिये आश्चर्य, योगी, अवतार अथवा सिद्ध रूप हो जाता है।

आत्म ज्ञान ही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। जिसने इस लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिया, भौतिक विभूतियों के लोभ में इसकी उपेक्षा कर दी, उसने मानो मानव-जीवन का सारा मूल्य गवाँ दिया। जो अवसर परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने और उससे बहने वाले दिव्य प्रकाश को ग्रहण करने की योग्यता उपार्जित करने के लिये मिला था, उसे अज्ञान के अन्धकार में अटकते-भटकते रहकर खो दिया। यह भूल मनुष्य जैसे विवेकशील प्राणी के लिये अनुचित और अवांछनीय है। इस विवेक को त्याग कर हर भटकते हुये व्यक्ति को शीघ्र से शीघ्र सत्य मार्ग पर आ जाना चाहिये।

जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य और अलभ्य है, एक बीत तीन जाने पर दुबारा नहीं मिलता। इसलिये भूल सुधारने में जितनी शीघ्रता की जायेगी, उतना ही हितकर होगा। मनुष्य की महत्ता इस एक जीवन में ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लेने की है। नहीं तो इतना तो कर ही लेना बुद्धिमानी है कि जो जीवन शेष है, अभी अपने अधिकार में है, उसको सत्य पथ पर नियोजित कर जितना जो कुछ बढ़ा जा सके बढ़ा चला जाये। इस अपेक्षित अभियान का तारतम्य आगामी जीवन में बना रहेगा और तब वह उसी निर्धारित सत्य मार्ग पर प्रारम्भ से ही चल पड़ेगा।

प्रायः लोगों में यह भ्रान्त धारणा काम करती कि शरीर छूट जाने के बाद उसके साथ जुड़ी हुई हर बात यहीं छूट जाती है। किन्तु सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। शरीर छूट जाने पर भी जीवन का अन्त नहीं होता। जीवन तो एक अनन्त एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, सदा सर्वदा एक

तारतम्यता के साथ प्रवाहित होता रहता है। जीवन अमर है इसका कभी नाश नहीं होता, जीवात्मा इस स्थूल लोक को त्याग कर इसके पश्चात् आने वाले लोक के नये आकार में जीवन क्रम को पूर्ववत् चालू रखता है। जीवात्मा का परमात्मा की ओर अग्रसर होने का यही विधान है। वह कूदकर अथवा छलांग लगाकर पूरे पथ को पार नहीं करता, वरन् क्रम-क्रम से सोपान-अनुसोपानों पर पैर रखता हुआ ऊपर चढ़ता है। एक जीवन की सारी बातें दूसरे जीवन में उसके साथ यथावत् सूक्ष्म संस्कारों के रूप में जाती हैं और अपनी गतिविधि निर्धारित करती हैं। इसलिये यह सोचकर कि अब तो जीवन का बहुत भाग बेकार चला गया है, अब हो भी क्या सकता है ठीक नहीं। शेष जीवन में जो सत्प्रयास प्रारम्भ कर दिया जायेगा, वह भी अपने पूरे परिमाण के साथ आगामी जीवन का प्रारम्भ बनेगा।

हमारा वर्तमान जीवन, वर्तमान की ही वस्तु है, ऐसा मानना समीचीन नहीं। हमारा जीवन पहले भी था और आगे भी रहेगा। जीवन का वास्तविक अस्तित्व अदृश्य जगत में ही रहता है। यही नहीं संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ जिसे हम देख रहे हैं, देख चुके हैं अथवा आगे देखेंगे, वह आज ही उत्पन्न नहीं हुई है। उसका अस्तित्व पहले से ही सूक्ष्म अथवा अदृश्य जगत् में वर्तमान था। मनुष्य का प्रत्यक्ष जीवन स्थूल-लोक से प्रारम्भ होता दीखता अदृश्य है, किन्तु वह वस्तुतः पहले से ही चला आता है। यह स्थूल शरीर जिसके छूट जाने को हम जीवन का अन्त मान लेते हैं, वास्तविक शरीर जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं, का ऊपर आवरण अथवा कलेवर मात्र है।

यह जो कुछ क्रिया-कलाप करता दीखता है वह उस सूक्ष्य शरीर की ही क्रिया होती है, जो इसके आधार पर प्रकट हुआ करती है। अपने इसी कलेवर के भीतर वह वास्तविक और शाश्वत सूक्ष्म शरीर वृद्धि करता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता रहता है। जिस प्रकार छिलके के भीतर अनाज का दाना धीरे-धीरे विकसित होकर पकता रहता है और जब वह पूरी तरह पक जाता है तो बाहर निकल जाता है, जिससे ऊपर का छिलका बेकाम हो जाता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के विकसित हो जाने पर अथवा परमात्म-तत्व को आत्मसात् कर लेने पर स्थूल शरीर बेकार और व्यर्थ होकर गिर जाता है। अन्तर केवल इतना है कि अन्न का दाना अपने एक ही आवरण में पूरी तरह पक जाता है और सूक्ष्म शरीर अथवा जीवात्मा को पूर्ण विकास पाने के लिये अनेक बार स्थूल शरीर का कलेवर धारण करना पड़ता है, और जिस दिन वह आत्म प्रतीति की स्थिति में पहुँच जाता है, उसके बाद उसे फिर शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, वह अपने अनादि एवं अनन्त जीवन प्रवाह में स्रोत की तरह मिलकर तदरूप हो जाता है।

यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाये तो पता चलेगा कि हमारा जीवन स्थूल शरीर नहीं, सूक्ष्म शरीर ही है। हम जो कुछ करते हैं, उसी रूप में करते हैं और जो कुछ आगे करेंगे, उसी रूप में। हमारा यह बाह्याकार कितना ही बदलता रहे किन्तु उसमें रहने वाला जीवात्मा कभी नहीं बदलता। हमारा जीवन परिवर्तनशील और अमर है और यही रहस्य संसार का सबसे बड़ा सत्य है।

हमारा यह वास्तविक जीवन अथवा सूक्ष्म शरीर क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर होगा 'विचार'। विचार अपने में मूर्तिमान होते हुये भी सूक्ष्म सत्ता होने के कारण कभी स्पष्ट दिखलाई नहीं देते। उनकी मूर्तिमत्ता कार्यों के रूप ही प्रकट होकर सामने आती है। हमारे आस-पास की दुनियाँ में दिखलाई देने वाली हर वस्तु का सर्वप्रथम स्रोत विचार ही होता है। कोई भी वस्तु अथवा पदार्थ सर्वप्रथम विचार रूप में जन्म लेकर ही स्थूल रूप में प्रकट होता है। हम स्वयं अपना जन्म विचारों में ही धारण करते हैं। उन्हीं में पलते-बढ़ते और व्यक्त होते हैं। हम जीवन रूप में विचार स्वरूप ही हैं। हम आज जो कुछ दिखलाई दे रहे हैं अथवा आगे दिखलाई देंगे, वह हमारे विचारों के सिवाय और कुछ न होगा। अपने जीवन को सत्य पथ पर नियोजित करने का अर्थ विचारों को उस दिशा में उन्मुख करने के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

विचार ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। उसे केवल कोरी कल्पना अथवा हवाई उड़ान मानकर महत्त्व न देने वाले अपने स्वरूप की ओर आँख बन्द कर लेते हैं शाश्वत शक्ति से सम्बन्धित होने से विचारों को संसार की वास्तविक, प्रबल सूक्ष्म और महान् शक्ति माना गया है। विचारों कारण ही मनुष्य उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट बनता है।

समानता वाले दो पदार्थ एक दूसरे को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित करते हैं। सृष्टि का यह नियम स्थाई और शाश्वत है। हम अपने जीवन के अनुकूल विचारों और शक्तियों को अदृश्य जगत से आकर्षित करते और स्वयं भी उनकी ओर खिंचते रहते हैं। हमारे विचार सत्य और सत् होंगे, हम सत्य और सत् तत्वों को अपनी ओर आकर्षित करेंगे और स्वयं भी उनकी ओर आकर्षित होंगे। इसके विपरीत असत्य एवं असद् विचारों के कारण हम अवांछनीय तत्वों को आकर्षित करते हैं और उनकी ओर बढ़ते जाते हैं। आत्म विकास अथवा आत्म-निर्माण का दूसरा नाम विचार निर्माण है।

हम जितने ही कुशल विचार शिल्पी होंगे, हमारी आत्मा का निर्माण उतना ही सुन्दर और स्थायी होगा। अपनी आत्मा का साक्षात्कार भी हम विचारों के द्वारा कर सकते हैं। विचारों के आदर्श में ही आत्मा का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है और विचार चक्षुओं से ही उसके दर्शन किये जा सकते हैं। विचार जितने उज्ज्वल और पवित्र होंगे, आत्मा का प्रतिबिम्ब उतना ही स्वच्छ और स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा।

आत्म-चिन्तन जिसे आत्म-ज्ञान का उपाय माना गया है, अपने प्रति विचार करना ही तो है। विचार-शक्ति के द्वारा ही हम अपने प्रति किसी स्थायी प्रतीति का सृजन कर सकते हैं। विचार ही वह माध्यम हैं जो आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध-सूत्र की भूमिका पूरी किया करते हैं। अपने विचारों को विचार द्वारा देखिये और पता लगाइये कि आप किस स्थिति में हैं। आपका जीवन-यापन ठीक उस पथ पर अग्रसर हो रहा है या नहीं जो परमात्म-तत्व की प्राप्ति के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर जाता है। यदि ऐसा है तो निरन्तर चलते जाइये और यदि कोई त्रुटि है तो रुकिये और अपने जीवन-यापन का दृष्टिकोण बदल कर ठीक दिशा में नियोजित कर लीजिये।

मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य परमात्म-तत्व से स्थायी सम्बन्ध स्थापित करना है और मनुष्य उस परम प्रवाह की एक अविच्छिन्न तरंग है यह प्रतीति प्राप्त कर लेना ही आत्म ज्ञान माना गया है। इसका एकमात्र उपाय आत्म-चिन्तन है, जिसे विचार क्रिया ही कह सकते हैं। इस प्रकार यदि हम इस विचार का अभ्यास करते हुये लगातार आगे बढ़ते रहें कि—"हम स्थूल नहीं सूक्ष्य जीवन हैं, जो अजर और अमर हैं, जिसका सीधा सम्बन्ध उस परमात्म-तत्व से ही रहता है। किन्तु अज्ञान का अन्धकार उस सत्य का अनुभव नहीं होने देगा। इसलिये अब हम उस अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ गये हैं। हमारी यह प्रतीति निरन्तर बढ़ती जाती है कि हम बिन्दु रूप में परमात्मा ही हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम शीघ्र ही अपने सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त न कर लें।

इस संसार की यथार्थता समझें

और तत्व दृष्टि प्राप्त करें

वेदान्त दर्शन यह कहता है कि अंश और अंशी का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। मठाकाश और घटाकाश का भेद अवास्तविक है।. समुद्र और लहरों का दृश्य स्वरूप भिन्न होने पर भी उनके बीच वास्तविक भेद नहीं है। 'सर्वखिल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म है। दृश्य और दृष्टा के अन्तर को अवास्तविक बताते हुये, तत्वदर्शियों ने कहा है, मन ही दृश्यं वस्तु के रूप में प्रकट होता है। जो वस्तु हमें जिस रूप में दीखती है, वस्तुतः वह वैसी ही नहीं है। पदार्थ के कम्पन और इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति की जो प्रतिक्रिया मस्तिष्क पर होती है, उसी का बिम्ब दृश्य बनकर दिखाई देता है। हर प्राणी को एक ही वस्तु एक ही प्रकार की नहीं दीखती, उनकी आकृतियों में भारी अन्तर होता है। रंगों के बारे में तो मनुष्य-मनुष्य में ही अन्तर दीखता है।

एक मनुष्य को जितने रंग जिस प्रकार के दिखते हैं, दूसरे को उससे न्यून दिखते हैं। इसी प्रकार स्वाद में अन्तर रहता। मनुष्य और पशुओं की इन्द्रियों में स्वाद का भारी अन्तर होता है। मनुष्य को नीम की पत्तियाँ कडुई लगतीं हैं, पर ऊँट को उसका स्वाद भिन्न प्रकार का लगता है और वह उसे रुचिपूर्वक खाता है। स्वाद की तरह ही दृश्य, श्रव्य, गन्ध और स्पर्श की अनुभूतियाँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। इसका पदार्थ ही नहीं, इन्द्रियों का सम्वेदन और मस्तिष्क तन्त्र का गठन भी बहुत बड़ा कारण होता है। अन्य किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप में और उसको इन्द्रियों द्वारा जिस रूप में अनुभव किया जाता है, उसमें भारी अन्तर रह सकता है।

इसी तथ्य को वेदान्त ने इस रूप में कहा है कि चेतना ही दृश्य बनकर दीखती है। यह कथन विज्ञान की दृष्टि में भी सही है, वस्तुतः यह सारी सृष्टि परमाणुमयी है। सर्वत्र परमाणुओं के गुच्छक ही पदार्थ बनकर रेत के टीलों की तरह विभिन्न वस्तुओं के रूप में दीख रहे हैं। यदि कोई यथार्थ दर्शन कराने वाला मस्तिष्क और मन्त्र हाथ लग जायेगा, तो प्रतीत होगा कि इस संसार में परमाणुओं की प्रकाश, ताप आदि के विद्युतीय कम्पनों की आंधियाँ भर चल रहीं हैं। जो आँखों को सत्य दीखता है, वह बादलों में बनती, बिगड़ती दीखने वाली अवास्तविक आकृतियाँ मात्र हैं।

मनुष्यों में से अनेक रंगों के सम्बन्ध में आंशिक अन्धे होते हैं। इन्हें कलर ब्लाइन्ड कहते हैं हजार के पीछे तीस-चालीस आदमियों में यह बीमारी पाई जाती है। प्रख्यात साहित्यकार जार्ज बर्नार्डशा को हरे और पीले रंग का अन्तर दिखाई नहीं पड़ता था। यह कमी उन्हें तब प्रतीत हुई, जब वे अपने हरे सूट के लिये बाजार में पीली टाई खरीद रहे थे। दुकानदार ने समझाया कि आप सूट के रंग की टाई खरीदें, वहीं फवेगी बर्नार्डशा ने पूछा, तो क्या मैं कोई गलत रंग का चुनाव कर रहा हूँ ? इसी पर बात बढ़ी और रंगों की पहचान करने की नौबत आ पहुँची निष्कर्ष यह निकला कि बर्नार्डशा हरे और पीले रंग का अन्तर नहीं देख पाते।

यह संसार वस्तुतः कैसा है, इसके दो ही उत्तर हैं, या तो यह चेतनामय ब्रह्म है, या फिर जड़, निर्जीव निस्तब्ध। जड़ और चेतन का जहाँ संयोग हैं, वहाँ विभिन्न प्रकार की हलचलें हो रही हैं। उत्पादन, अभिवर्धन और परिवर्तन की गतिविधियाँ प्रकृति और परमेश्वर के संयोग से उत्पन्न होती हैं।

इन्द्रियों से, मन से संसार में जो प्रिय-अप्रिय अनुभव होते हैं, वे अपने ही दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया, प्रतिच्छाया हैं। किस वस्तु का स्वाद कैसा है, यह पूछना व्यर्थ है। पदार्थ और जिव्हा के संस्पर्श से जो अनुभूति होती है, वही स्वाद है। आवश्यक नहीं कि हर मनुष्य को एक जैसा ही किसी खाद्य पदार्थ का अनुभव हो हर व्यक्ति की स्वादानुभूति एक ही पदार्थ के सम्बन्ध में अत्यधिक भिन्न हो सकती है। शक्कर के मिठास का स्वाद किस प्रकार का होता है, इसका कोई सही विश्लेषण सम्भव हो सके, तो पता चलेगा कि जिस प्रकार हर, मनुष्य की आकृति में भिन्नता होती है, उसी प्रकार उनकी स्वादानुभूति में भी सूक्ष्म स्तर पर भिन्न पाई जा सकती है। यही बात अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी है। दृश्य, श्रवण आदि में भी अन्तर रहता है। काम सेन के समय की अनुभूतियाँ प्रत्येक पति पत्नी की दूसरों की तुलना में अन्य ढंग की अनोखी होती हैं। किसी की किसी से समता नहीं हो सकती है।

मनुष्य की इन्द्रियाँ जिस प्रकार अनुभव करती हैं, आवश्यक नहीं कि अन्य प्राणी भी उन पदार्थों की उसी प्रकार का अनुभव करें। रंगों की अनुभूति मनुष्य की तुलना में अन्य प्राणियों को भिन्न प्रकार की होती है। कहते हैं कि हाथी की आँख में मनुष्य इतना बड़ा दीखता है, जितना कि मनुष्य को हाथी। स्वाद में नीम के कडुए पत्ते ऊँट को अति मधुर लगते होंगे, तभी तो वह उन्हें रुचिपूर्वक खाता है। मनुष्य जीवित चूहा दांतों से कुतर कर खाये तो वह उसे अप्रिय लगेगा। वही बिल्ली को इतना स्वादिष्ट लगता है, जितना हम लोगों को मिष्ठान्न-पकवान।

वेदान्त दर्शन में इस संसार को माया, मिथ्या एवं स्वप्न की संज्ञा दी गई है। यह प्रतिपादन इस अर्थ से सही है, कि जो प्रिय-अप्रिय की अनुभूतियाँ हमें होती हैं, वे सत्य नहीं हैं। वर्षा के दिनों इन्द्र धनुष दीखता तो है, पर उसे पकड़ने का प्रयत्न किया जाय, तो निष्फल होगा। क्योंकि दीखते हुये भी, वह सूर्य पर वर्षा बिन्दुओं के प्रतिबिम्ब की प्रतिक्रिया मात्र है, वस्तुतः उस प्रकार का कोई पदार्थ वहाँ है या नहीं, जैसा कि इन्द्र-धनुष दीखता है। मृग मरीचिका में रेत के चमकते कण रात्रि में जलाशय होने जैसा भ्रम उत्पन्न करते हैं। सिनेमा के परदे पर घुड़दौड़ के दृश्य देखे जा सकते हैं, जबकि वस्तुतः वहाँ वैसा कुछ हो नहीं रहा है। स्थिर चित्रों को घुमाने की गति बढ़ जाने से आँखें धोखा खाती हैं और स्थिर चित्रों को गतिशील अनुभव करती हैं। स्वप्नों का संसार भी ऐसा ही है, वहाँ न प्राणी होते हैं, न पदार्थ। ऐसे ही भ्रम जंजालों की एक नई दुनियाँ बस जाती है और स्वप्न दर्शी उस समय ठीक ऐसा ही अनुभव करता है मानों जो कुछ वह देख रहा है, सर्वथा सत्य ही है। जागृति से पता चलता है कि, रात भर जिस सपने के कारण हँसने-रोने के उभार आते रहे, वह अपने ही मस्तिष्क का रचा हुआ इन्द्रजाल भर था।

इस संसार की भी ऐसी ही स्थिति है जहाँ जड़ पदार्थ निर्जीव होने के कारण किसी को किस प्रकार की अनुभूति सम्वेदना दे सकने की स्थिति में नहीं है। प्राणी जगत के जीवधारी भी अपने कार्य कलापों में उलझे हुये हैं। उनकी अपनी समस्यायें एवं आवश्यकतायें ही इतनी हैं कि दूसरों के लिये कुछ अधिक सोच कर या कर सकना सम्भव नहीं है। यही वस्तु स्थिति है। इतने पर भी हमारा प्राणियों के प्रति मोह और पदार्थों के प्रति जो लोभ है, वह अपनी ही मानसिक संरचना है। मकड़ी की तरह हम अपने पेट से धागा निकाल कर जाल बुनते हैं और उसी में उलझ कर समस्याग्रसित होते हैं। हम चाहें तो इस जाल को स्वयं ही आसानी से समेट सकते हैं और राग द्वेष के ज्वार-भाटों में उलझाते गिरते रहने की विपन्नता से छुटकारा पाकर शान्ति और विनोद भरा जीवन जी सकते हैं।

यह संसार सत्य इस अर्थ में है कि इसमें ब्रह्म तत्व की चेतना और उसकी इच्छा लीला-क्रीड़ा से उत्पन्न प्रकृति इन दोनों का ही सम्मिलित हास परिहास चल रहा है। इस विराट् ब्रह्म को विशाल विश्व के रूप में देखा जा सकता है। और ईश्वर दर्शन का हर घड़ी लाभ लेते हुये सत्कर्म पूजा की प्रभु आराधना में निरत रहा जा सकता है। सर्व खलु इदम् ब्रह्म—ईशावास्यमिदम् सर्व—के प्रतिपादनों से यह समस्त संसार ईश्वर की झाँकी है। अयमात्मा ब्रह्म की मान्यता अपनाकर हम आत्म परिष्कार और आत्म विकास के परम पुरुषार्थ में संलग्न रह सकते है और वह प्राप्त कर सकते हैं, जिसके लिये यह सुर-दुर्लभ मनुष्य जीवन मिला है। यही है इस संसार की वास्तविकता, जिसे वेदान्त दर्शन ने सूत्र रूप में किन्तु सारगर्भित व्याख्या समेत समझाया है। जब तक हम इस वास्तकिता को नहीं जानते और अज्ञान अन्धकार में भटकते रहते हैं, हमें बार-बार आधि-व्याधि के जाल जंजाल में उलझते रहना होता है।

समस्त दुःखों का एक मात्र कारण : अज्ञान—

योगवाशिष्ठ का वचन है—

'आयधो व्याधयश्चैव
द्वय दुःखस्य कारणम्।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्
तत्क्षयो मोक्ष उच्यते।"

आधि, व्याधि—अर्थात् मानसिक और शारीरिक यह दो ही प्रकार के दुख इस संसार में हैं। इनकी निवृत्ति विद्या अर्थात् ज्ञान द्वारा ही होती है। दुख निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है।

इस प्रकार इस न्याय से विदित होता है कि यदि मनुष्य जीवन से दुखों का तिरोधान हो जाय तो वह मोक्ष की स्थिति अवस्थित हो जाये। दुखों का अत्यन्त अभाव ही आनन्द भी है। अर्थात् मोक्ष और आनन्द एक दूसरे के पर्याय हैं। इस प्रकार यदि जीवन के दुःखों को नष्ट किया जा सके तो आनन्द वाची मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

बहुत बार देखा जाता है कि लोग जीवन में अनेक बार आनन्द प्राप्त करते रहते हैं। वे हँसते, बोलते, खाते, खेलते, मनोरंजन करते, नृत्य-संगीत और काव्य-कलापों का आनन्द लेते, उत्सव, समारोह और पर्व मनाते, प्रेम पाते और प्रदान करते, गोष्ठी और सत्संगों में मोद विनोद करते और न जाने इसी प्रकार से कितना आमोद-प्रमोद पाते और प्रसन्न बना करते—तो क्या उनकी इस स्थिति को मोक्ष कहा सकता है ?

नहीं, मनुष्य की इस स्थिति को मोक्ष नहीं कहा जा सकता। मोक्ष का आनन्द स्थाई, स्थिर, अक्षय समान अहेतुक और निःशेष हुआ करता है। वह न कहीं से आता है और न कहीं जाता है। न किसी कारण से उत्पन्न होता है और न किसी कारण से नष्ट होता है। वह आत्म-भूत और अहेतुक होता है। वह सम्पूर्ण रूप में मिलता है सम्पूर्ण रूप में अनुभूत होता है सम्पूर्ण रूप में ही सदा-सर्वदा ही बना रहता है। वह सार्वदेशिक, सर्वव्यापक और सर्वस्व सहित ही होता है। मोक्ष का आनन्द पाने पर न तो कोई अंश शेष रह जाता है और न उसके आगे किसी प्रकार के आनन्द की इच्छा शेष रह जाती है। वह प्रकाश पूर्ण और परमावधिक ही होता है।

पूर्वोक्त लौकिक आनन्दों में यह विशेषतायें नहीं होतीं। उनकी प्राप्ति के लिये कारण और साधन की आवश्यकता होती है। वह किसी हेतु से उत्पन्न होता है और हेतु के मिट जाने पर नष्ट हो जाता है। इतना ही क्यों—यदि एक बार उसका आधार बना भी रहे तो भी उस आनन्द में जीर्णता, क्षीणता प्राचीनता और अरुचिता आ जाती है। लौकिक आनन्दों की परि-समाप्ति दुःख में ही होती है। आज जो किसी कारण से प्रसन्न है। आनन्दित है वह कल किसी कारण से दुःखी होने लगता है। लौकिक आनन्द की कितनी ही मात्रा क्यों न मिलती जाये, तथापि और अधिक पाने की प्यास बनी रहती है। उससे न तृप्ति मिलती है और न सन्तोष। जिस अनुभूति में अतृप्त, असन्तोष और तृष्णा बनी रहे वह आनन्द कैसा ? लौकिक आनन्द के कितने ही सघन वातावरण में क्यों न बैठे हों एक छोटा सा अप्रिय समाचार या छोटी दुखद घटना उसे समूल नष्ट कर देती है। तब न किसी के मुख पर हँसी रह जाती है और न हृदय में पुलक । लौकिक आनन्द और मोक्षानन्द की परस्पर तुलना ही नहीं की जा सकती।

लौकिक आनन्दों में इस असफलता का कारण यह होता है कि वे असत्य एवं भ्रामक होते हैं। उनकी अनुभूति प्रवंचना एवं मृगतृष्णा के समान ही होती है इस असत्यता का दोष ही लौकिक आनन्द को निकृष्ट एवं अग्राह्य बना देता है। आनन्द केवल आत्मिक आनन्द ही होता है। मोक्ष का आनन्द ही वास्तविक तथा अन्वेषणीय आनन्द है। लौकिक आनन्दों की अग्राह्यता का प्रतिपादन इसीलिये किया गया है कि व्यक्ति उसकी झूँठे प्रवंचना में फँस जाता है, उन्हें पकड़ने, पाने के लिये दौड़ता रहता है, उनको स्थिर और स्थाई बनाने में लगता है, वह अपना सारा जीवन इसी मायाजाल में फँस कर खो देता है। भ्रम में पड़े रहने के कारण उस वास्तविकता का ध्यान ही नहीं आता। लौकिक आनन्दों के फेर में पड़कर जिसे वास्तविक आनन्द का ध्यान ही न आयेगा वह उसको पाने के लिये प्रयत्नशील भी क्यों होगा। जिस हिरन को मरुमरीचिका जल के भ्रम में भुला लेती है तन-मन से उसी को पकड़ने के पीछे पड़ा रहता है। अब पाया, अब पाया करता हुआ वह निःसार दुराशाका यन्त्र बना भटकता रहता है और इस प्रकार वास्तविक जल की खोज से वंचित हो जाता है। परिणाम यह होता है कि भटक-भटक कर प्यासा ही मर जाता है। जिस जीवन में वह पानी और परितृप्ति दोनों को पाकर कृतार्थ हो सकता था वह जीवन यों ही चला जाता है, नष्ट हो जाता है, यही हाल लौकिक आनन्दवादियों का होता है। जिस जीवन में वे मोक्ष और उसका वास्तविक सुख प्राप्त कर सकते हैं वे उसे माया-छाया और भ्रामक सुख की मरीचिका नष्ट कर अपनी अनन्त हानि कर लेते हैं। इसीलिये लौकिक सुखों को प्रबलता के साथ अग्राह्य एवं गर्हित बताया गया है। वास्तविक आनन्द लौकिक लिप्साओं और सांसारिक भोग-विलासों में नहीं है वह मोक्ष और मोक्ष की स्थिति में है। उसी को पाने का प्रयत्न

करना चाहिये, वही मानव जीवन का लक्ष्य है, उसी में शांति और तृप्ति मिलेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दुख तो दुःख ही है सांसारिक सुख भी दुःख का एक स्वरूप है। इनकी निवृत्ति से ही सच्चे सुख की प्राप्ति सम्भव है किन्तु इनकी निवृत्ति का उपाय क्या है ? इसके लिये पुनः योगवशिष्ठ में कहा गया है—

ज्ञानान्निर्दुःखतानेत
ज्ञानादज्ञान संक्षयः।
ज्ञानादेव परासिद्धि
नन्यिस्याद्राम वस्तुतः।।"

—हे राम ! ज्ञान से ही दुःख दूर होते हैं, ज्ञान से अज्ञान का निवारण होता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि होती है और किसी उपाय से नहीं।

और भी आगे बताया गया है—

"प्रज्ञां विज्ञात विज्ञेयं
सम्यग् दर्शन माधयः।
न दहन्ति वनं वर्षा
सिक्तमग्निशिखा इव।।"

—जिसने जानने योग्य को जान लिया है और विवेक दृष्टि प्राप्त कर ली है, उस ज्ञानी को दुख उसी प्रकार बाधक नहीं होते जिस प्रकार वर्षा से भीगे जंगल को अग्नि शिखा नहीं जला पाती।

अब यहाँ पर ज्ञान का स्वरूप जानने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि आखिर दुःख की उत्पत्ति होती किन कारणों से है ? वैसे तो जीवात्मा अपने मूल रूप में आनन्दमय है। तब अवश्य ही कोई कारण ऐसा होना चाहिये जो उसके लिये दुख की सृष्टि करता। उसको भी योगवाशिष्ठ में इस प्रकार बताया गया है—

"देह दुःख विदुर्व्याधि
माध्याख्यं मानसाममम्।
मौर्ख्य मूले हते वित्ता
तत्वज्ञाने परीक्षयः।।"

—शारीरिक दुःखों को व्याधि और मानसिक दुःखों को आधि कहते हैं। यह दोनों मौर्ख्य अर्थात् अज्ञान से ही उत्पन्न होती हैं और ज्ञान से नष्ट होती हैं।

संसार के सारे दुःखों का एक मात्र हेतु अविद्या अथवा अज्ञान ही है। जिस प्रकार प्रकाश का अभाव अन्धकार है और अन्धकार का अभाव प्रकाश होता है, उसी प्रकार ज्ञान का अभाव अज्ञान और अज्ञान का अभाव ज्ञान होना स्वाभाविक ही है और जिस प्रकार ज्ञान का परिणाम सुख-शान्ति और आनन्द है उसी प्रकार अज्ञान का फल दुख, अशांति और शोक सन्ताप होना ही चाहिये।

यह युग-युग का अनुभूत तथा अन्वेदित सत्य है कि दुखों की उत्पत्ति अज्ञान से ही होती है और संसार के सारे विद्वान, चिन्तक एवं मनीषि जन इस बात पर एक मत पाये जाते हैं। इस प्रकार सार्वभौमिक और सार्वजनिक रूप से प्रतिपादित तथ्य में सन्देह की गुंजाइश रह ही नहीं जाती—इस प्रकार अपना-अपना मत देते हुये विद्वानों ने कहा है—चाणक्य ने लिखा—"अज्ञान के समान मनुष्य का और कोई दूसरा शत्रु नहीं है।" विश्वविख्यात दार्शनिक प्लेटो ने कहा—"अज्ञानी रहने से जन्म न लेना ही अच्छा है, क्योंकि अज्ञान ही समस्त विपत्तियों का मूल है।" शेक्स पियर ने लिखा है—'अज्ञान ही अन्धकार है।"

जीवन की समस्त विकृतियों, अनुभव होने वाले, दुःखों उलझनों और अशांति आदि का मूल कारण मनुष्य का अपना अज्ञान ही होता है। यही मनुष्य का परम शत्रु है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य भी अन्य जीव-जन्तुओं की तरह अनेक दृष्टियों से हीन अवस्था में ही पड़ा रहता है। ज्ञान के अभाव में जिनका विवेक मन्द ही बना रहता है उनके जीवन के अन्धकार में भटकते हुये तरह-तरह के त्रास आते रहते हैं। अज्ञान के कारण ही मनुष्य को वास्तविक कर्त्तव्यों की जानकारी नहीं हो पातीं इसलिये वह गलत मार्गों पर भटक जाता है और अनुचित कर्म करता हुआ दुःख का भागी बनता है। इसलिये दुःखों से निवृत्ति पाने के लिये यदि उनका कारण अज्ञान

का मिटा दिया जाये तो निश्चय ही मनुष्य सुख का वास्तविक अधिकारी बन सकती है।

अज्ञान का निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। शीत उसकी विपरीत वस्तु आग द्वारा ही दूर होता है। अन्धकार की परिसमाप्ति की प्रकाश द्वारा ही सम्भव है। इसलिये ज्ञान प्राप्ति का जो भी उपाय सम्भव हो उसे करते ही रहना चाहिये।

ज्ञान का सच्चा स्वरूप क्या है ? केवल कतिपय जानकारियाँ ही ज्ञान नहीं मानी जा सकतीं। सच्चा ज्ञान वह है जिसको पाकर मनुष्य आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार कर सके। अपने साथ अपने इस संसार को पहचान सके। उसे सत् और असत् जर्मी की ठीक-ठीक जानकारी रहे और वह जिसकी प्रेरणा से असत् मार्ग को त्याग कर सन्मार्ग पर असंदिग्ध रूप से चल सके। कुछ शिक्षा और दो-चार शिल्पों को ही सीख ले पर अथवा किन्हीं उलझनों को सुलझा लेने भर की बुद्धि ही ज्ञान नहीं है। ज्ञान वह है जिससे जीवन तरण, बन्धनमुक्ति, कर्म-अकर्म और सत्य-असत्य का न केवल निर्णय ही किया जा सके बल्कि गृहणीय को पकड़ा और अग्राह्य को छोड़ा जा सके, वह ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही है।

अज्ञान की स्थिति में कर्मों का क्रम बिगड़ जाता है। संसार में जितने भी सुख-दुख, द्वन्द्व आदि है वह सब कर्मों का फल होता है। अज्ञान द्वारा अपकर्म होना स्वाभाविक ही है और तब उनका दण्ड मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। इतना ही क्यों सकाम भाव से किये हुये सत्कर्म में सुख के फल रूप में परिपक्व होते हैं और असत्य होने पर कुछ ही समय में दुख रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इसलिये कर्म ही अधिकतर बन्धनों अथवा दुख को मनुष्य पर आरोपित कराते हैं।

कर्मों का न तो त्याग ही सम्भव है और न इसके परिपाक को बदला जा सकता है। इनकी स्थिति भी बड़ी दृढ़ होती है। इन पर यदि विजय पाई जा सकती है तो केवल ज्ञान द्वारा। इसीलिये तो भगवान ने अर्जुन को कर्मों का रहस्य और ज्ञान की शक्ति प्रकट करते हुये गीता में कहा है—

"यथैधासि समिद्धोग्नि
भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि
भस्मसात् कुरुते तथा।"

—हे अर्जुन ! जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों को जला कर भस्म कर देती है।

कर्म ही मनुष्य के बन्धनों का हेतु हैं, बन्धन दुःखों का। अस्तु ज्ञान द्वारा कर्मों को नष्ट कर दुःख से निवृत्त होकर मोक्ष रूप अक्षय आनन्द की प्राप्ति कर जीवन को सार्थक बनाना ही मनुष्य की सबसे बड़ी बुद्धिमानी है।

जीवन की सर्वश्रेष्ठ विभूति-ज्ञान

ज्ञान को आत्मा का नेत्र कहा गया है। नेत्र विहीन व्यक्ति के लिये सारा संसार अन्धकारमय है। इसी प्रकार ज्ञान विहीन व्यक्ति के लिये इस संसार में जो कुछ उत्कृष्ट है उसे देख सकना असम्भव है। ज्ञान के आधार पर ही धर्म का, कर्त्तव्य शुभ अशुभ का, उचित अनुचित का विवेक होता है और पाप प्रलोभनों के आकर्षणों के पार यह देख सकना सम्भव होता है कि अन्ततः दूरवर्ती हित किसमें है। अज्ञानी व्यक्ति यह सब जान नहीं पाते। इन्द्रियों की वासना और प्रलाभनों की तृष्णा जीव को मनमाना नाच नचाती रहती है और अन्त में उसे पतन के गहरे गर्त में धकेल देती है। इस दुर्दशा से बचाव तभी हो सकता है जब ज्ञान दीपक का प्रकाश हो रहा हो और विवेक के नेत्र खुले हुये हों।

भौतिक जीवन की सफलता और आत्मिक जीवन की पूर्णता के लिये सबसे प्रथम सोपान ज्ञान की प्राप्ति है। स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन के आधार पर जीवन की गुत्थियें को समझना और उन्हें सुलझाने का मार्ग खोजना सम्भव होता है। इसलिये मनीषियों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मनुष्य को ज्ञानवान् बनाना चाहिये। अत्यन्त आवश्यक कार्यक्रमों में

एक कार्यक्रम ज्ञान सम्पादन का भी रहना चाहिये।

स्कूली शिक्षा 'ज्ञान' की श्रेणी में नहीं आती। वह ज्ञान प्राप्ति के लिये एक साधन मात्र है क्योंकि भाषा ज्ञान के बिना शास्त्रों का स्वाध्याय नहीं हो सकता। कठिन अभिव्यक्तियों को समझा नहीं जा सकता। इसलिये शिक्षा की भी आवश्यकता एवं उपयोगिता माननी ही पड़ेगी। ज्ञान का स्तर इससे ऊपर है। स्वाध्याय, सत्संग यह दो ज्ञान प्राप्ति के बाह्य उपाय हैं और चिन्तन, मनन यह आन्तरिक उपाय है। इन चारों चरणों से मिलकर सर्वांगपूर्ण ज्ञान साधना बनती है और उसी के आधार जीव अपने लक्ष्य मार्ग की ओर गतिशील होता है।

भगवान राम ने जब गुरु वशिष्ठ जी से सांसारिक क्लेशों के भव बन्धन से छुटकारे का उपाय पूछा तो उन्होंने कहा कि—यह बिना 'ज्ञान' प्राप्ति के सम्भव नहीं। यदि भव सागर से पार होने की इच्छा है तो सबसे प्रथम ज्ञान संचय का प्रयत्न करो। योग वशिष्ठ में उस सम्बन्ध में बहुत बल दिया गया है।

ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञान संक्षयः।
ज्ञानादेवपरासिद्धिर्नान्यस्माद्राम वस्तुतः।।

योगवाशिष्ठ ५।८८।१२

हे राम, ज्ञान से ही दुख दूर होते हैं, ज्ञान से अज्ञान का निवारण होता है, ज्ञान से ही परम सिद्धि प्राप्ति होती है और किसी उपाय से नहीं।

ज्ञानवानेव सुखवान् ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञान भयोभव।।

योगवाशिष्ठ ५।६२।४६

ज्ञानी ही सुखी है, ज्ञानी ही जीवित है, ज्ञानी ही बलवान है इसलिये ज्ञानी बनना चाहिये।

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पोवा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानम् यथा विद्यादात्मानम् सर्व जन्तुषु।।

जैसे छोटा या बड़ा दीपक प्रकाशवान ही होता है, वैसे ही सब छोटे बड़े प्राणियों की आत्मा भी ज्ञान रूप ही है।

ज्ञानमेव परं ब्रह्मज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परमः।।

ज्ञान से ही ब्रह्म प्राप्ति होती है, विपरीत ज्ञान से ही बन्धन बँधाते हैं, इस संसार में जो कुछ है ज्ञानात्मक ही है। ज्ञान से परे कुछ भी नहीं है।

अस्य देवाधि देवस्य परस्व परमात्मनः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नत्वनुष्ठान दुःखतः।।

योगवाशिष्ठ ३।६।१

उस परमदेव परमात्मा को ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जाता है और किसी अनुष्ठान से उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं।

एकेनैवाऽमृतेनैव बोधेन स्वेन पूज्यते।
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता।।

योगवाशिष्ठ ६।३८।२५

उस आत्मा की एक ही प्रकार से ज्ञान द्वारा पूजा की जाती है। ध्यान ही उस आत्म देवता का सबसे बड़ा पूजन है।

अत्रज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुप युज्यतो।

योगवाशिष्ठ ३।६।२

मुक्ति प्राप्त करने के लिये ज्ञान ही एक मात्र उपाय है। दूसरा और कोई नहीं।

ज्ञानादेव परासिद्धर्नत्वुष्ठान दुःखतः।

योगवाशिष्ठ ३।६।१

परम सिद्धि ज्ञान से ही प्राप्ति होती है और किसी अनुष्ठान से नहीं।

ज्ञानवानुदिता नन्दो न क्वचित्परिमज्जति।

योगवाशिष्ठ ५।६३।२४

ज्ञानी ही परम आनन्द प्राप्त करता है, वही पार होता है।

ततो वच्मि महावाहो यथाज्ञानेतरा गतिः।
नास्ति संसार तरणे पाशबन्धनस्य चेतसः।।

योगवाशिष्ठ ५।६३।२

बन्धन में पड़े हुये तन को मुक्त करने और संसार सागर से तरने के लिये ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मांग नहीं।

ज्ञानयुक्ति प्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम्।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषण रघुद्वह।।

योगवशिष्ठ २।११।३६

संसार रूपी समुद्र को बुद्धिमान लोग ज्ञान रूपी नौका पर सवार होकर आसानी से पार कर जाते हैं।

संसारोत्तरणे जन्तो रूपायी ज्ञानमेवहि।
तपो दानं तथा तीर्थ मनुपायाः प्रकीर्तिताः।।

—योगावशिष्ठ

संसार से पार होने का एक मात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान, तीर्थ आदि उपाय नहीं।

दुरुत्तरा याविपदो दुःख कल्लौल संकुलाः।
तीर्थतेणुज्ञया ताभ्योनानाऽपदृभयो महामते।।

योगवाशिष्ठ ५।१२।२०

विभिन्न प्रकार की कठिन विपत्तियों के समुद्र से ज्ञान द्वारा ही तरा जाता है।

कलना सर्व जन्तूनां विज्ञाने न शमेन च।
प्रबुद्धा ब्रह्य तामेति भ्रमतीतरथा जगत्।।

योगवाशिष्ठ ५।१३।५६

ज्ञान और शम के द्वारा ही प्राणी ब्रह्म रूप हो जाता। इसके अभाव से वह संसार में भटकता रहता है।

आध्यात्मिक जीवन

इस भटकाव से उबरने का प्रयास करना ही आध्यात्मिक जीवन जीना है। आध्यात्मिक प्रगति का मूलाधार अन्तःकरण को निर्मल एवं शुरु करना होगा ऊपर से दिखाई देने वाले सत्कर्म भी अन्तःकरण की शुद्धता के अभाव में निष्फल चले जाते हैं। दान देते समय यदि यह विचार रहता है कि मैं कोई एक विशेष कार्य कर रहा हूँ और इसके उपलक्ष में हमको सम्मान एवं प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये तो निश्चय ही वह दान-पुण्य के फल से वंचित रह जायेगा। किसी की कुछ भलाई करते समय यदि यह विचार रहता है कि मैं किसी पर आभार कर रहा हूँ तो वह उपकार कार्य में परमार्थ की परिधि में नहीं आ सकता। किसी समय परमार्थ कार्य निरहंकारिता का समावेश तभी सम्भव हो सकता है जबकि मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल एवं शुद्ध होगा। अशुद्ध अन्तःकरण की स्थिति में लोभ, मोह स्वार्थ एवं अहंकार आदि विकारों का आना स्वाभाविक है।

वह मनुष्य निश्चय ही सौभाग्यवान है। जिसने अपने अन्तःकरण को निर्मल बना लिया है और जिसका जीवन आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हो रहा है। अध्यात्म जीवन का वह तत्वज्ञान है, जिसके आधार पर मनुष्य विश्व नहीं अखण्ड ब्रह्माण्ड के सारे ऐश्वर्य को उपलब्ध कर सकता है। अध्यात्म ज्ञान बिना वैभव—सारा एश्वर्य और सारी उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं। जो भाग्यवान अपने परिश्रम और पुरुषार्थ एवं परमार्थ से थोड़ा बहुत भी अध्यात्म लाभ कर लेता है वह एक शाश्वत सुख का अधिकारी बन जाता है। व्यवहार जगत में अनेक सीखने योग्य ज्ञानों की कमी नहीं हैं। लोग इन्हें सीखते हैं, उन्नति करते हैं, सुख सुविधा के अनेक साधन जुटा लेते हैं। किन्तु इस पर भी जब तक वे अध्यात्म की ओर उन्मुख नहीं होते वास्तविक सुख शान्ति नहीं पा सकते।

संसार में पग-पग पर दुःख, क्षोभ और कलह, क्लेश की परिस्थितियों में आना पड़ता है। इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियाँ, सुख सुविधा के अनन्त साधन होने पर भी दुखी किये रहती है। मनुष्य के उपार्जित साधन उसकी कोई सहायता नहीं कर पाते। संसार में जिससे सामान्य प्रतिकूलताओं की यातना से तो सहज ही बचा सकता है, वह है आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं आचरण। आध्यात्मिकता के अभाव में सुख-शान्ति सम्भव नहीं और उसके स्वभाव में दुख अथवा अशान्ति असम्भव है।

मनुष्य के अन्तःकरण का निर्माण चार वृत्तियों से मिल कर हुआ है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। मन संकल्प विकल्प करता है, बुद्धि निर्णय देती है, चित्त, स्मृति तथा संस्कारों को ग्रहण करता और बनाये रखता है, अहंकार मनुष्य को आत्मिक न बनाने देकर शरीर भाव बनाये रहता है। इन वृत्तियों के अशुद्ध रहने पर अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है। इन वृत्तियों को सात्विक बनाना ही अन्तःकरण को शुद्ध करना माना जायेगा।

वृत्तियों को शुद्ध करने का प्रयत्न करने से पूर्व उनकी अशुद्धता के लक्षण जान लेना आवश्यक है—"अशद्ध काम संकल्प—शुद्ध काम विविर्जितम्—मन में जब तमोगुण पूर्ण स्वार्थ एवं काम पूर्ण संकल्प विकल्प होते रहें तो समझना चाहिये मनोवृत्ति अशुद्ध है। इसका मोटा सा एक लक्षण यह भी है कि जब मन निराश, निरुत्साह अथवा क्षुब्ध रहे समझना चाहिये कि वह अशुद्ध है। मन की शुद्धता का प्रमुख लक्षण है निष्काम एवं प्रसाद। कर्मों की सफलता एवं असफलता पर मन का समान रूप से प्रसन्न बना रहना इसी शुद्धता का प्रमुख लक्षण है। अधिक असंगत अथवा असात्विक कामनायें करने से मन निर्मल एवं मलीन हो जाता है। सन्तोष न रहने से सदा क्षुब्ध, चंचल दुखी रहता है। मन की प्रसन्नता अपनी स्थिति के अनुसार शुभ संकल्प एवं निष्काम भाव से कर्म करने में सुरक्षित रह सकती है।

बुद्धि जब किसी विषय में स्पष्ट निर्णय देने में असमर्थ रहे, कोई भी प्रसंग उपस्थित होने पर असमन्जस ऊहापोह में पड़ जाये तब समझना चाहिये कि वह प्रबुद्ध अथवा शुद्ध नहीं है। करने अथवा न करने योग्य कर्मों का शीघ्र एवं समीचीन निर्णय दे सकने में समर्थ बुद्धि ही सात्विक अथवा शुद्ध कही जायेगी। देखने में भयप्रद लगने वाले ठीक कर्त्तव्य के प्रति स्वीकृति दे देने वाली साहस की बुद्धि ही शुद्ध हो सकती है। सन्देह अथवा संशयशील बुद्धि अशुद्ध है।

चित्त की शुद्धता का मुख्य लक्षण है उन स्मृतियों तथा संस्कारों का रहना जो शुभ एवं शिव हों। मलीन, दुखद अथवा ग्लानि पूर्ण स्मृतियों तथा संस्कारों का प्रदर्शन करने वाला चित्त अशुद्ध ही माना जायेगा। स्मृतियों के सद् और संस्कारों के शुद्ध होने से मनुष्य का चिन्तन आर आचरण कल्याणकारी दिशा में ही चला करता है। जिसे शुभम् का ज्ञान ही नहीं, शिवत्व की पहचान नहीं वह न तो सत्कर्मों की ओर बढ़ सकता है और न चिन्तन में माँगलिक अनुभूतियों का दर्शन कर सकता है। शुभ संस्कार और मानसिक संस्थान ही चित्त की शुद्धता के लक्षण हैं।

शरीर तथा संसार के प्रति अहंकार अशुद्ध है और यही अहंकार तब शुद्ध कहा जायेगा जब यह आत्मा अथवा परमात्मा के प्रति हो। अपने को शरीर समझना और क्षण भंगुर सांसारिक भोगों का भोक्ताभर समझना अशुद्ध अहंकार है। अपने को शुद्ध बुद्ध चेतना, आत्मा और परमात्मा का प्रतिनिधि मानकर सांसारिक भोगों के प्रति मोक्ष की भावना न रखकर कर्त्तव्यवान की भावना रखना अहंकार की शुद्धता की द्योतक है।

इस प्रकार इन वृत्तियों की शुद्धता-अशुद्धता के लक्षण समझ कर निर्णय कर लेना चाहिये कि उसका अन्तःकरण किस सीमा तक शुद्ध अथवा अशुद्ध है और फिर उसी अनुपात से चिन्तन, मनन तथा सत्कर्मों के द्वारा उसे अधिकाधिक शुद्ध बनाने में लग जाना चाहिये। स्वार्थरहित सात्विक आहार-विहार तथा आचार विचार का अभ्यास अपना लेने से मनुष्य की चारों वृत्तियाँ आप से आप शुद्ध होने लगती हैं। मन को प्रसन्न रखिये बुद्धि को विकृतियों से बचाइये, चित्त पर शिव संस्कारों की छाप डालिये और अहंकार को शरीर से आत्मा अथवा परमात्मा की ओर उन्मुख करिये, आपका अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा। इस प्रकार का सकर्मक अभ्यास ही आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने का प्रयास है, जिसे पाकर मनुष्य जीवन शाश्वत सुख का अधिकारी बनकर सफल एवं सार्थक हो जाता है। यह आध्यात्मिक उपलब्धि संसार की सारी उपलब्धियों का मूल तथा सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसे प्रयत्न से प्राप्त कर मनुष्य को अपने नश्वर जीवन को अनश्वर बनाना चाहिये।

वैराग्य भावना से मनोविकारों का शमन

वैराग्य भावना में निःसन्देह बड़ी शक्ति है। बुरे से बुरे संस्कार वैराग्य के बादलों से घुलते देखे गये हैं। कामाशक्त तुलसीदास, दुष्ट, दुराचारी बाल्मीकि, हिंसक व्याध और अंगुलिमाल जैसे व्यक्तियों के हृदय में जब वैराग्य भावना का प्रभाव उमड़ा तो उसके जीवन की धारायें

बदल गईं। सारे के सारे सन्त, महात्मा और महान पण्डित बन गये।

विचार भाव तथा क्रिया में अत्यन्त सूक्ष्म ग्रहणशीलता रखते हुये सांसारिक विषयों के प्रति निरपेक्ष बने रहने का नाम वैराग्य है। संक्षेप में रागद्वेष के बन्धनों से मुक्त होना ही वैराग्य है। यह भी कह सकते हैं कि वैराग्य उस अवस्था या स्थिति का नाम है जब मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ विभिन्न भावों से हटकर चिर सत्य की ओर जाग्रत हों। इन भावनाओं की शक्ति और सामर्थ्य की थाह पाना निश्चय ही कठिन बात है क्योंकि जिस किसी के जीवन में भी इन भावनाओं का उदय हुआ उनका तीव्र उपहास और सांसारिक विषय विकार कुछ कर नहीं पाये। षट् विकारों के शमन का भी श्रेष्ठ उपाय वैराग्य भावनाओं को ही मान सकते हैं वैराग्य द्वारा ही सात्विक कार्य सम्पन्न होते हैं। वैराग्य का अर्थ है त्याग समर्पण, विवेक और सत्य के प्रति श्रद्धा अनन्य भावना। इस वैराग्य में वह सम्पूर्ण शक्तियाँ सन्निहित हैं जिनसे मनुष्य अपने जीवन में सन्तुलन बनाये रख सकता है।

काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर इन विकारों को काबू में रखने का सरल और प्रभावशाली मार्ग यही है कि जब कभी ऐसे आवेश आयें तब उन्हें दूर हटाने के लिये वैराग्यपूर्ण चिन्तन करने लग जायें। तभी आत्मग्लानि और शरीर मन और वाणी के शक्ति विनाश से बच सकते हैं, तभी तत्परता पूर्वक अपने जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ते रह सकते हैं।

षट्-विकारों में वासना का प्रहार सबसे अधिक तीव्र और मन को हिला देने वाला है। जब यह भाव मनुष्य के अन्तःकरण में प्रवृष्टि हो जाता है तब उसकी शक्ति और भी बड़ा रूप ले लेती है। यह विकार प्रस्फुटित होकर मनुष्य के आचरण को दूषित करता है इसलिये उससे बचने के लिये आध्यात्मिक चिन्तन मनन पूजन कथा-कीर्तन प्राकृतिक दृश्यों से अनुराग, भ्रमण आदि अनेकों साधन काम में लिये जा सकते हैं। पर इतने से यह आशा नहीं की जाती कि आपका आवेश रुक गया या आगे फिर कभी न उठेगा। अन्तर्गत प्रसुप्त कामुक चेष्टायें संयोग पाते ही उठ खड़ी होंगी और इच्छा न होते हुये आपको विभ्रमित करने लगेंगी।

जब कभी ऐसी अवस्था आये तो आप वैराग्य भावना का सहारा लीजिये। आप कल्पना कीजिये कि जिस स्त्री के हाव भाव और अंग-प्रत्यंगों को देखने से आपकी कामुकता जाग्रत हो रही है, वह इस समय मर चुकी है। यह उसकी लाश है जो आपके सामने पड़ी है। अभी, कौवे और सियार आते हैं और इस शरीर को वे अपना भोजन मानकर उसे चीरने-फाड़ने का काम शुरु कर देते हैं। छिः यह क्या, माँस हड्डियाँ आँतों में जमा हुआ मल, मूत्र—क्या इसी सबके लिये मेरी वासना जाग्रत हुई है। क्या इन हाड़-माँस के ऊपर चढ़ी हुई सुनहली पन्नी के ऊपर हम अपनी शक्ति और ओज समाप्त कर देंगे।

आप जितनी भावनात्मक गहराई तक उतर सकें उतरें, आपको यथार्थ ज्ञान मिलेगा, शक्ति मिलेगी और इस दूषित विकार के आघात से बड़ी आसानी के साथ बच जायेंगे। शरीर की नश्वरता और आत्म-ज्ञान की प्रबल जिज्ञासा का भाव जितना शक्ति और क्षमता के साथ आप उठायेंगे उतना ही वैराग्य भाव उमड़ता हुआ चला जायेगा। "मैं अपने जीवन को तुच्छ बातों में नहीं गँवाऊँगा, न जाने कब विनष्ट हो जाने वाले शरीर के प्रति में भला क्यों आसक्त होऊँ मैं आत्मा हूँ, अपने मूल स्वरूप को जानना ही मेरा लक्ष्य है।" इस प्रकार के अनेकों विचार आप तर्क और प्रमाण के साथ उठाते चले आइये, निश्चय ही आपकी कामुकता का आवेश छोड़कर भाग जायेगा। आपके जी में "मातृवत् परदारेषु" का सुन्दर भाव उमड़ता हुआ चला आयेगा, आप आन्तरिक दृष्टि से आनन्दित हो उठेंगे और जो विचार अभी थोड़ी देर पहले आपको आक्रान्त कर रहा था वह न जाने कहाँ विलुप्त हो जायेगा।

वासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन में आँधी-तूफान की तरह होता है, इससे बचने के लिये सिनेमा, नाटक, अभद्र प्रदर्शनों से तो बचें ही, बुद्धि, विवेक और सद्विचार भी ठीक रखें और इसे वैराग्य पूर्ण भावनाओं के द्वारा भी निवारण करें।

क्रोध की अवस्था भी ठीक ऐसी ही होती है। संसार में ऐसा कोई भी पाप नहीं जो क्रोधी व्यक्ति न कर सकता हो। क्रोध को पाप का मूल कहकर पुकारा जाता है। यह भी एक आवेश में आता है और अनेक अनर्थ उत्पन्न करके ही समाप्त होता है, पीछे उन पर भारी दुःख तथा पश्चात्ताप होता है। इससे बचने के पूर्व अभ्यास के रूप में प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, सौजन्य, सहिष्णुता और उदारता आदि भावों को विकसित करें तो ठीक है किन्तु यदि फिर भी कदाचित ऐसा अवसर आ जाये तो आप पुनः वैराग्यपूर्ण भावना का स्मरण कीजिये। आप विचार कीजिये आप जिसे दण्ड देना चाहते हैं, जिस पर आपको क्रोध आ रहा है वह यदि आप होते तो आप पर कैसी बीतती, मान लीजिये आपने ही वह गलती कर डाली होती और उसका कोई दण्ड आपको दिया जा रहा होता तो आपके शरीर में कितनी पीड़ा छट-पटाहट हो रही होती। यह भाव उठते ही आपके हृदय में करुणा का भाव उत्पन्न होगा। आप सोचेंगे कि दण्ड देना अनुचित है दूसरों को पीड़ा न देना ही मानव-धर्म है। आपका क्रोध पराभूत हो जायेगा और आप उसके विषैले प्रभाव से बच सकेंगे। कोई भी प्रतिशोध जनक प्रतिक्रिया उठने से बच जायेगी।

क्रोध के प्रतिरोध में उत्पन्न वैराग्य भावनाओं से ईर्ष्या, दुश्चिन्ता और संघर्ष पूर्ण विकार समाप्त होते हैं और प्रेम, दया मैत्रीभाव जाग्रत होते हैं। इन भावनाओं से क्रोध की उत्तेजना समाप्त हो जाती है।

धन को तृष्णा भी मनुष्य के जीवन में वैसी जड़ता उत्पन्न करती है जैसे काम और क्रोध। पराया माल छीनने, हड़पने और चोरी कर लेने तथा दूसरों की कमाई का उचित पारिश्रमिक न देने की बात किसी भी प्रकार मानवीय नहीं कही जा सकती। इससे मनुष्य का घोर आन्तरिक पतन होता है। आप विचार कीजिये कि आप जब श्रम-पूर्वक धन कमाते हैं और उसका कुछ हिस्सा कहीं गिर जाता है या कोई उठा ले जाता है तो आपको कितना दुःख होता है। फिर इस धन से मनुष्य का जीवन लक्ष्य भी तो पूरा नहीं होता। क्या यह पाप की कमाई अपने बाल-बच्चों के लिये छोड़कर उन्हें भी आलसी और अकर्मण्य बनाना चाहते हैं। जो धन आपकी लाश के साथ आपके साथ जाने वाला नहीं है उसको आप अनाधिकार पूर्वक क्यों प्राप्त करना चाहते हैं ? आप उससे बंधे क्यों जा रहे हैं ? इस धन के लोभ में पड़कर आप अपनी आत्मा अपने जीवन-लक्ष्य की बात को भूल जायेंगे फिर ऐसे धन से लोभ कैसा ? प्राप्ति कैसी ? छोड़िये इसे। जो कुछ परिश्रम से कमाया है उतने से ही बड़ा आनन्द है। धन का बखेड़ा बढ़ाने की अपेक्षा निर्धन होना, आत्मधन प्राप्त करना कहीं अधिक श्रेष्ठ या श्रेयस्कर है। हम कभी इस परम आदर्श से विचलित नहीं होंगे इस प्रकार आप अधर्म की कमाई और अनावश्यक लोभ वृत्ति से निकल सकेंगे।

मनुष्य की सबसे अधिक दीन-हीन अवस्था उस समय दिखाई देती है जब वह छोटी-छोटी बातों के लिये अनुचित आसक्ति या मोह भाव प्रदर्शित करता है। छोटी-सी चीज के टूट फूट जाने से आप कितने परेशान हो उठते हैं ? टूटे-फूटे बर्तन कपड़ों और अनेकों आवश्यक वस्तुओं से आपका इतना अधिक लगाव आखिर क्यों है ? संसार की सभी सम्पत्तियों में शरीर का महत्त्व ही सर्वाधिक है इसी से उपभोग करते हैं और स्वामित्व प्रकट करते हैं इसका भी तो एक दिन विनाश हो जाता है। जिसके उपभोग और स्वामित्व के लिये आप यह मोह कर रहे हैं जब उसी को नहीं पहना तो क्या करेंगे आप इन नाचीज वस्तुओं का संग्रह करके ? इनके टूट-फूट जाने, सड़ने-गलने से आप इतनी दुःखी क्यों हो जाते हैं ? दुःख करना ही है तो सोचिये आपने अभी तक मानव सुलभ साधनों का आत्म विकास में कितना उपयोग किया ? अपने जीवन लक्ष्य की ओर आप कितना बढ़ सके हैं ? क्या आप अपने आपको पहिचान सके हैं ? नकारात्मक उत्तर मिलने से आपका जी दुःखी होगा। जिस प्रकार अब तक हजारों आदमी इस संसार में मर-खप गये उसी प्रकार हमारा भी शरीर व धन व्यर्थ गया तो कहाँ रही इसमें अपनी बुद्धिमत्ता ? आपकी सफलता इसी में सन्निहित है आप अनुचित और छोटी-मोटी वस्तुओं के प्रति मोह

का भाव त्यागिये ताकि आपकी शक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन की ओर उन्मुख हो सकें।

मनुष्य के विनाश का सबसे प्रबल कारण है उसका 'अहंकार' "मैं ही सब कुछ हूँ' मेरा विचार ही सबसे अच्छा है" "मैं ही सबसे अधिक सुन्दर हूँ", "मैं धनी हूँ", "मैं पण्डित हूँ" आदि अहंकारिक भावनाओं के कारण संसार में कलह, झंझट युद्ध और महायुद्ध की विभीषिकायें उठ खड़ी होती हैं। क्या यह अभिमान सार्थक हो सकता है ? नहीं रावण, दुर्योधन, कंस, हिरण्यकशिपु, नेपोलियन, सिकन्दर आदि अहंकारी पुरुषों ने आखिर क्या लाभ उठाया ! उन्हें भी हाथ मलते ही इस संसार से विदा होना पड़ा, फिर आपकी भला क्या बिसात ! आपसे अधिक तो इसी धरती में अनेकों रूपवान्, शक्ति और सामर्थ्यवान् विद्यामान हैं फिर यह अहंकार आपका क्या प्रयोजन हल कर सकता है। आध्यात्मिक विकास की सबसे बड़ी बाधा मनुष्य के अहंकारपूर्ण विचार ही होते हैं। संसार की क्षण भंगुरता को हमेशा ध्यान में बनाये रखने से ही यह सम्भव है कि मनुश्य इस दुष्प्रवृत्ति से बचा रह सके।

इसी प्रकार मत्सर अर्थात् ईर्ष्या और डाह का भाव भी मनुष्य के अधःपतन का कारण होता है। मनुष्य की उन्नति उसकी शक्ति और परिस्थितियों के अनुसार कम ज्यादा होती है। अपनी शक्तियों का विकास मानवोचित ढंग से करें तो इससे किसी का अहित नहीं होता पर जब दूसरों की समृद्धि देखकर लोग ईर्ष्या-द्वेष रखने लगते हैं तो वहीं वैयक्तिक और सामूहिक आत्मिक पतन प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य का जीवन हमें इसलिये नहीं मिला। हमें सेवा सत्कार, प्रेम, दया न्याय आदि के विकास के लिये साधन स्वरूप यह शरीर उपलब्ध होता है। इसे प्राप्त करने की होड़ करें तो चारित्रिक श्रेष्ठता का, अपना जीवन उद्देश्य भी पूरा हो, लोगों को प्रसन्नता मिले और सामाजिक जीवन में खुशहाली लाने में अपना भी कुछ उपयोग हो। यदि यह न कर सके तो मनुष्य शरीर और पशुओं के शरीर में अन्तर ही क्या रहा ?

विवेक से मन पराकाष्ठा को पहुँचता है और इसी अवस्था में वैराग्य द्वारा उसका सन्तुलन होता है। इसलिये षट् विकारों के शमन और आध्यात्मिक आस्था प्रखर रखने के लिये वैराग्यपूर्ण भावनायें बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। वैराग्य से मनुष्य का जीवन उन्नत होता है और अनेकों आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। वैराग्य ब्रह्मविद्या का अंगभूत साधन है। वैराग्य जीवन से विरक्ति का नहीं, जीवन का यथार्थ ज्ञान पाने की तत्परता का नाम है।

स्वयं को जानें, आत्म-शक्ति पहचानें

परमात्मा का दर्शन कैसे मिले!

सृष्टि के कार्य इतने व्यवस्थित तथा नियमित ढंग से चल रहे हैं कि कोई भी विचारवान् व्यक्ति यह मानने के लिये तैयार न होगा कि यह सारे कार्य परमाणुओं के आकस्मिक संयोग के फल हैं। अपितु यह मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि इस सम्पूर्ण व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने वाली कोई चेतना-सत्ता अवश्य विद्यमान है ! यह भी कि उसने संसार को एक निश्चित उद्देश्य रखकर बनाया है और प्रत्येक जीवधारी को उसकी पूर्ति के लिये किसी न किसी प्रकार सहायक नियुक्त किया है। हम यह भली भाँति देखते हैं कि यहाँ जो भी विधान चल रहे हैं वे सब ऐसे हैं, जिन तक मानवीय बुद्धि का पहुँच पाना सहज बात नहीं है तो भी उसमें एक प्रकार का सामंजस्य जरुर है। ठीक गणित के सिद्धान्त की तरह। अंकों के गुणा भाग जिस प्रकार से नियमित और व्यवस्थित उत्तर देते हैं, ठीक ऐसी ही विश्व-व्यापी प्रक्रिया चल रही है जो निश्चित उत्तर देती है। इसलिये हम यह मानने के लिये कदापि तैयार नहीं कि विश्व केवल जड़ परमाणुओं का चमत्कार मात्र है। इस सुन्दर विधि-व्यवस्था का कोई नियामक होना ही चाहिये।

माना कि जड़ पदार्थों की भी एक अनोखी प्रक्रिया है, अर्थात् ग्रह-नक्षत्र जहाँ एक निश्चित पथ, निश्चित कक्षा में रहते हैं, वहाँ वे आपस में टकराते भी हैं। मनुष्य जो इतना बुद्धिमान, ज्ञानवान, क्षमतावान् है वह भी एक दिन नष्ट हो

जाता है। शास्त्रों में तो बड़े-बड़े लोकों और लोकपालों के विनाश और लय की चर्चा की गई है, पर यह सब गणित के सिद्धान्त से विमुख नहीं है और इसी का नाम व्यवस्था है। जहाँ इस प्रकार का एक नियम बना हुआ है वहाँ नियामक होना भी आवश्यक है। सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र जब चाहें टकरा जाते, मनुष्य की आयु की एक निश्चित मर्यादा न होती, दिन १५ घन्टे और रात ६ घण्टे। वर्षा के बाद गर्मी और गर्मी के बाद फिर गर्मी और इसके बाद फिर बरसात, तब जाड़ा—इस प्रकार की उल्टी-सीधी क्रियायें हुई होती तो यह मानने में कदापि संकोच न होता कि इस संसार में कोई नियम नहीं है और न ही उस व्यवस्था को चलाने वाली कोई चेतन शक्ति है।

ईश्वर की मान्यता कोई निराधार कल्पना नहीं है। उस पर ऋषियों के गहन ज्ञानानुसन्धान की छाप लगी हुई है। मुनियों का विशद चिन्तन और उपनिषदों की साधना का निष्कर्ष मिला हुआ है।

इन शास्त्रों में ईश्वर को सन् अर्थात् सदैव शाश्वत बताया गया है पर वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि उसे स्थूल नेत्रों के द्वारा नहीं देखा जा सकता। जीवित तथा विकसित होने वाले पदार्थों का रूप देखने में नहीं आ सकता, केवल पार्थिव संयोग से बने निर्जीव पदार्थ ही देखने को मिल सकते हैं, परमात्मा का कोई ऐसा लक्षण नहीं मिल सकता, जिस प्रकार करके मनुष्य को दिखाया जा सके। यदि वह इस प्रकार परिवर्तन में आ सकने वाली वस्तु होती तो फिर चेतन अथवा शाश्वत न रही होती।

इसलिये ईश्वर का साक्षात्कार किसी बाह्य प्रक्रिया से सम्भव नहीं। किन्तु परमात्मा का अन्य बोध-गम्य स्वरूप भी है। इसे बाह्य चर्म-चक्षुओं से भले ही न देखा जा सकता हो, पर आन्तरिक ज्ञान-चक्षुओं से आत्मनिग्रह आत्म-शुद्धि तथा आत्म-ज्ञान के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्ति की जा सकती है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट ने इस तथ्य की पुष्टि में कहा है—समस्त भौतिक अभिव्यक्ति कार्य कारण और भावना से बँधी हुई हैं, हम उसी के अन्दर रहते, चलते, फिरते तथा उत्पन्न होते हैं। किन्तु उस परमात्मा को बुद्धि के द्वारा नहीं जान सकते। बुद्धि की विशालता की अपेक्षा परमात्मा अधिक व्यापक और गहरा है, हम केवल उसका अनुभव कर सकते हैं, देख नहीं सकते।''

महान् दार्शनिक 'हेगेल' का भी इस सिद्धान्त की ओर झुकाव था, क्योंकि उसका यह विश्वास था कि ईश्वर केवल भावनाओं द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। उसने लिखा है—"ईश्वर का अस्तित्व धर्म का विषय है और उसे अनुभव किया जा सकता है। परमात्मा की व्यापकता और उसकी अभिव्यक्ति का अवगाहन हम उतना ही स्पष्ट कर सकते हैं, जितना हमारा अनुभव गहन और व्यापक होगा।'' प्रो. नाइट का मत है—"ईश्वर की भावना हमारे हृदय में इस प्रकार घर कर गई है कि उसे अन्तःकरण से बाहर लाना कठिन जान पड़ता है।

आन्तरिक ज्ञान के द्वारा ही हम परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं, उसका साक्षात्कार कर सकते हैं अथवा यों कहना चाहिये कि हम ईश्वर बनकर ही ईश्वर के दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें भी आन्तरिक शक्तियों के विकास की ओर ही संकेत है। कल्पना और चिन्तन, विचार-भावना, स्वप्न आदि के माध्यम से तो उसकी एक झलक ही देख सकते हैं। विश्वास की पुष्टि के लिये यद्यपि यह बुद्धि तत्व भी आवश्यक है, तथापि उसके पूर्ण ज्ञान के लिये अपने अन्दर प्रविष्ट होना होगा, आत्मा की सूक्ष्म-सत्ता में प्रवेश करना आवश्यक हो जाता है। वहाँ बुद्धि की पहुँच नहीं हो सकती। आत्मा का भेदन आत्मा ही करता है और आत्मा बनकर ही आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसी बात को ईश्वरीय ज्ञान के बारे में भी घटित किया जाता है। यह ऐसा ही है, जैसे कोई कहे कि एक बूँद समुद्र में मिलकर अपने आपको समुद्र अनुभव कर सकती है पर अपने बूँद रूप में समुद्र की गहराई का मापन नहीं कर सकती।

उपनिषदों में यह स्पष्ट किया गया है कि जब परिमिति के द्वारा अपरिमित शक्ति का अनुमान न किया जा सका तो ऋषियों के पास एक ही उपाय शेष रहा। उन्होंने तर्क के आश्रय को तिलांजलि देकर आभ्यन्तरिक ज्ञान का द्वार खटखटाया और उसकी सहायता से सृष्टि के अन्दर ईश्वर की सत्ता को ढूँढने में सफलता प्राप्त की। ईश्वर के अस्तित्व को जो नहीं मानते, उनमें यह बात भी होगी की वे आन्तरिक ज्ञान की आवश्यकता को भी निर्मूल कर रहे होंगे, पर अब निर्विवाद सिद्ध हो चुका है और दर्शन ने भी इस सत्यता से सिर झुका लिया है कि ईश्वर की अनुभूति केवल आन्तरिक ज्ञान की सहायता से ही सम्भव है।

यह आन्तरिक ज्ञान सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं है। यह केवल पुरुषार्थियों को ही उपलब्ध हो सकता है। क्योंकि जब तक दूषित वासनायें और भौतिक विकार पूर्णतया शान्त नहीं हो जाते, आत्मानुभूति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है और यह प्रक्रिया निःसन्देह भौतिक दृष्टि से काफी कठिन जान पड़ती है। पर यह सिद्धान्त अकाट्य, अपरिवर्तनीय है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिये आत्म-शोधन की आवश्यकता अनिवार्य है।

महापुरुष ईसामसीह की वाणी है—"वे पुरुष धन्य हैं जिनके अन्तःकरण पवित्र हो गये, क्योंकि शुद्ध आत्मा वाले व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं।

सत्य ज्ञान तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि खोज करने वाला उसी सत्ता में घुल मिलकर एक हो जाये, उसी के रंग में पूरी तरह रंग जाये। ईरान के प्रसिद्ध योगी—शम्शतब्रेज ने इस अवस्था का वर्णन इस शैर में बड़ी सुन्दरता के साथ किया है—

दुई रा चूँबदर करदम यकीं दु आलम रा।
यकी बीनम, यकीं जूयम यकीं खानम, यकी दानम्।।

अर्थात्—जब मैं अपने-पराये के प्रपंच में पड़ा था तब तक मुझे ईश्वरीय सत्ता का ज्ञान नहीं हुआ, पर जब से मैंने अहंभाव को नष्ट कर दिया है, तब से वही परमात्मा ही दिखाई देता है, उसे ढूँढता हूँ, उसे ही पढ़ता और उसे ही जानता हूँ।

आध्यात्मिक विकास का यही भाग है। मनुष्य उसे जानता नहीं, पर आन्तरिक ज्ञान के द्वारा उस परम पिता के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। वह उसके स्वरूप को न समझते हुये भी उससे एकता स्थापित करता है तो उसको एक दिव्य अनुभूति मिलती है और वह भी ईश्वरीय गुणों को धारण कर अपना जीवन पूर्णतया प्रेममय और त्यागमय बना लेता है।

यह संसार एक निश्चित विधान के अनुसार चल रहा है। जिसने हमें पैदा किया, पालन-पोषण किया तथा जो हमारी रक्षा करता है, उसके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिये। अरस्तू के शब्दों में—जो परमात्मा जगत का चरम एव चेतन कारण और सारे विश्व का विधाता है, जो सृष्टि का संचालक है, किन्तु स्वयं अचल है, जिसने सृष्टि को स्वरूप और सौन्दर्य प्रदान किया है, पर स्वयं निराकार है, हम उस परम-पिता को प्रणाम करते हैं।

परमात्मा को जानने के लिये अपने आपको जानो

सन्त वास्वानी से एक दिन कुछ लोगों ने प्रश्न किया—भगवान क्या है ?" भगवान् ज्योतियों की ज्योति है, मध्यवर्ती सूर्य हैं" उन्होंने उत्तर दिया। लोगों ने फिर प्रश्न किया—"इस ज्योति से इस मध्यवर्ती सूर्य से अपना नाता कैसे जोड़ें ? वास्वानी ने पुनः समझाया—बस सूर्यमुखी बन जाओ। जैसे सूर्यमुखी सदैव सूर्य के प्रति मुख किये रहता है यद्यपि उसकी देह में अन्य क्रियायें अपनी मर्यादा चलती रहती हैं, जड़ें रस खींचती रहती हैं, पत्तियाँ साँस लेती रहती हैं, हवा में वह हिलता-डुलता रहता है पर उसका सूर्यमुखी नाम इसीलिये पड़ा क्योंकि वह सदैव सूरज की ओर मुख किये रहता है, इसी तरह परमात्मा को पाने के लिये सदैव परमात्मा की ओर मुख किये रहो।

"किन्तु सूर्यमुखी बनें कैसे ? लोगों ने तीसरा प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया—"अपने हृदय को तीव्र अभीप्सा से भर लो। एक बार

खूब अच्छी तरह निश्चय कर लो कि मनुष्य जीवन का ध्येय अनन्त ऐश्वर्य सुख सन्तोष, शान्तिप्रद परमात्मा की प्राप्ति है। जब वह तुम्हारा लक्ष्य बन जायेगा तो भगवान की ओर मुख किये रहोगे और धन्य हो जाओगे।

ईश्वर प्राप्ति की सच्ची आकांक्षा का होना ही प्रधान बात है, परमात्मा कहीं अन्यत्र नहीं। उसे ढूँढने, प्राप्त करने और पहचानने का प्रयत्न नहीं किया जाता, इसलिये अधिकांश लोगों के हृदय अन्धकार से भरे हैं। लोगों के भीतर तामस का, रात का अज्ञान का राज्य है। जब अपने हृदय को ही जीवन का केन्द्र बिन्दु बना लिया जाता है तो आनन्द स्वरूप परमात्मा का अस्तित्व वहीं झलकने लगता है, उसे ढूँढने के लिये कहीं भागने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

हमारा हृदय हमारी आत्मा के विश्वास का अंश है जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य का अंश हैं, पर पृथक् दीखती हैं, उसी तरह आत्मा भी परमात्मा का अंश है पर पृथक् दीखता है। अपने को अपनी गहनतर आत्मा को विश्वात्मा का अंश जान ईश्वर को जान लेना है। मनुष्य अपने शरीर के बाह्य क्रिया-कलापों की व्यस्तता से कुछ गहराई में डूब सकता है, यह सभी उसके गुण हैं विशेषतायें हैं पर वह स्वयं इनसे परे हैं। वह इनसे परे जाकर अपने को इनसे भिन्न, शक्तिशाली और परम तेजस्वी, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी विशुद्ध आनन्द स्वरूप प्रकाश अनुभव कर सकता है।

जिन लोगों ने अपने भीतर ईश्वर की शोध की है वे सब अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। सबने यही बताया है कि मनुष्य चिन्तन के द्वारा मन, बुद्धि और भावनाओं पर ध्यान जमाता हुआ आत्मा के अस्तित्व तक पहुँचता है और इस अनुभव के बाद इस बोध को प्राप्त करता है कि वह परमात्मा जिसमें आत्मा विकसित हो जाती है, आत्माओं से भी परे और सभी में एक ही प्रकार से व्याप्त है।

एक गाँव में एक बार नानक का आगमन हुआ। वे कहते थे—ईश्वर सबके अन्दर है। हिन्दू, मुसलमान का कोई भेद नहीं। उस गांव के नवाब ने उनसे कहा—आपके लिये तो मन्दिर और मस्जिद एक बराबर हैं तो क्या आप आज हमारे साथ मस्जिद में नमाज पढ़ने को तैयार हैं ? नानक ने बहुत आनन्दित होकर कहा—जरुर ! जरुर !! परमात्मा की प्रार्थना में सम्मिलित होने से बड़ा आनन्द और क्या है ?

फिर सब लोग मस्जिद में गये और नमाज शुरु हुई। सब नानक की नमाज देखना चाहते थे किन्तु नानक चुपचाप एक कोने में खड़े हो गये और सबको देखने लगे। उनको इस प्रकार खड़ा देखकर नमाजिये बहुत गुस्सा हुये। वे नमाज भी पढ़ते थे और बीच-बीच में नानक की ओर क्रोध से देख भी लेते थे। जल्दी-जल्दी किसी तरह बेचारों ने नमाज पूरी की और सब एकदम नानक पर टूट पड़े। किसी ने उन्हें धोखेबाज कहा किसी ने वचन तोड़ने वाला। नवाब ने आँख लाल-पीली करके डाँटा, आपने नमाज क्यों नहीं पढ़ी ? नानक हँसे और बोले आप लोगों ने भी तो नहीं पढ़ी' इसलिये हमने भी नहीं पढ़ी। आप लोगों का खेल देखता रहा, यदि नमाज पढ़ते रहते तो फिर मेरे लिये भी चुपचाप खड़ा रहना कठिन ही हो जाता।

उन नमाजियों की तरह जो लोग ईश्वर प्राप्ति की बात तो करते हैं किन्तु उनकी सारी उलझन जीवन के बाह्य क्रिया-कलापों तक सीमित रहती हैं इसलिये उनका नानक, (उनका मन) भी आत्मानुभूति में खो नहीं पाता। जिस दिन शरीर और मन की सारी चेष्टायें सिमिट कर आत्मा में केन्द्रित हो जाती हैं, अन्धकार उसी दिन दूर हो जाता है और मनुष्य परमात्मा के निकट पहुँचा हुआ अनुभव करने लगता है।

'मज्झिम निकाय' में तथागत का एक सुन्दर उपदेश है, वह कहते हैं—कल्पना करो कि किसी मनुष्य के पैर में विष बुझा तीर चुभ गया। यदि वह मनुष्य कहे, मैं तब तक तीर नहीं निकलवाऊँगा जब तक मुझे ज्ञान न हो जाये कि तीर चलाने वाले का नाम, कुल और गोत्र क्या था ? वह ऊँचा था या मझले कद का। धनुष कैसा था, प्रत्यंचा कैसी थी, तीर कैसा था ?

लोग परमात्मा के सम्बन्ध में भी ऐसे ही तर्क वितर्क वाद-विवाद करते हैं पर अपने हृदय में जीवन के बोझ, दुःख कठिनाइयों दैवी आपत्तियों का जो तीर चुभा हुआ है उसे

निकालने की ओर किसी का ध्यान नहीं। हमें सर्वप्रथम आत्मा के दर्द को अनुभव करने की आवश्यकता है। बाह्य जीवन के प्रपंचों को छोड़कर अन्तर्मुख होने की बड़ी आवश्यकता है। बाहरी क्रियाओं को केवल सहयोगी मानना चाहिये। वे लक्ष्य, सत्य या परमात्मा की प्राप्ति की साधन बनाई जा सकती हैं, इसलिये अपने शरीर, मन और भावनाओं के केन्द्र बिन्दु को बेधने की आवश्यकता नहीं कि कौन-सा तत्व कितना सुखद है, किस सुख की प्राप्ति के लिये किधर दौड़ना चाहिये। जब इन सब बातों को साधना बना लिया जाता है तो आवश्यकतायें भी घट जाती हैं और लक्ष्य भी अपने समीप ही स्पष्ट होने लगता है। उसे पाने के लिये न तो लम्बे साधनों के लिये दौड़ना पड़ता है और घर ही छोड़ना पड़ता है।

उपनिषदों ने आत्मा वारे श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिव्यासितव्यः नान्वतऽस्ति विजानतः।—कहकर इसी तथ्य को व्यक्त किया है और बताया है कि विभिन्न साधनों से तुम अपने आपको पहचानो। जिसे दिये आत्म शक्ति का विश्वास जाग जाता है उस दिन परमात्मा के अस्तित्व का विश्वास जमते देर नहीं लगती। विश्वास का जमना उतना ही आनन्ददायक है जितना परमात्मा की प्राप्ति।

मनुष्य अपनी छिपी हुई शक्तियों को पहचाने बिना शक्तिशाली नहीं बन सकता। जो जैसा अपने को जानता है या जिसकी जैसी अभीप्सा है वह वैसा ही बन जाता है। अपने को जानना सब सिद्धियों में बड़ी सिद्धि है। लाखों में एक-दो होते हैं जो अपने को जानने का यत्न करते हैं, यत्न करने वालों में भी थोड़े से ऐसे होते हैं जो आत्मा के अस्तित्व का पहचानने के लिये देर तक अपने आपको निर्दिष्ट किये रहते हैं। जिसने भी मनुष्य देह में जन्म लिया है वह आत्मा के समीप पहुँचा दिया गया है, किन्तु थोड़े ही हैं जो उसमें प्रवेश पाते हैं।

शरीर में काम-क्रोध, मोह, सन्तोष, दण्ड, दया आदि अनेकों भावनायें हैं, यह सब या तो आनन्द की प्राप्ति के लिये हैं अथवा आनन्द में विघ्न पैदा होने के कारण है। आनन्द सबका मूल है। वैसे ही आनन्द सबका लक्ष्य है। लक्ष्य और उसकी सिद्धि दोनों ही आत्मा में विद्यमान हैं जो आत्मा को ही लक्ष्य बनाकर आत्मा के ही द्वारा अपने आपको वेधता है वह उसे पाता भी है, आत्मा ही परमात्मा का अंश है, इसलिये आत्मा का ज्ञान हो जाने पर परमात्मा की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

जीवन को भव्य बनाने वाली, ब्रह्मविद्या

सच्चे ज्ञान की साधना अर्थात् ईश्वर उपासना का प्रभाव मनुष्य के जीवन निर्माण में किस प्रकार होता है इसको समझने के लिये आत्मा के स्वरूप और उसका परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह जानना बहुत जरुरी है। जब मनुष्य अपने आपको शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक देखता है और आत्मिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करता है तो उसकी बुद्धि में एक नये ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है। यह समझता है कि यह इन्द्रियाँ यह शरीर आत्मोत्थान के महत्त्वपूर्ण साधन मात्र हैं अतः इनका सदुपयोग भी करना चाहिये। पर इसके विषयों में आसक्त न होना चाहिये। इस प्रकार धारणा जब तक पक नहीं जाती तब तक मनुष्य को विचार-विभ्रम होता रहता है, पर जैसे ही इस प्रकार की निश्चयात्मक बुद्धि बनी कि शरीर तो कोई नष्ट हो जाने वाली वस्तु है वहीं मृत्यु का भय छूट जाता है। भय और प्रलोभनों से मुक्त होना अथवा आत्मा के स्ववश होना ही जीवन-मुक्त है। इसी का नाम ब्रह्म-विद्या है।

वेद और उपनिषदों में जो ज्ञान संग्रहीत है उससे मालूम पड़ता है कि ऋषियों ने इसी विद्या के प्रकाश में अनन्त ऐश्वर्यशाली परमात्मा का साक्षात्कार किया। मनुष्य के साथ उस परमात्मा का क्या सम्बन्ध है इसे भी स्थान-स्थान पर प्रकट किया है। परम्परा प्रतिपादन पद्धति तथा ज्ञातव्य आदि के भेद से इन वर्णनों में अनेक रूपता तो है, पर उनमें विरोधाभास नहीं है। कुछ अंश तो एक दूसरे के पूरक हैं, कुछ में केवल साधना पद्धति की भिन्नता है, तथापि ब्रह्मविद्या के अनेक रूपों में अन्तस्तल में स्वरूप गत एकता

बनी हुई है। ब्रह्म की शक्ति और उसके जीवन को भव्य बनाने के सम्बन्ध में उनमें कहीं भी मतभेद नहीं है। परमात्मा की उपासना चरित्र निर्माण का अत्यन्त आवश्यक अंग है। यह बात सब स्वीकार करते हैं।

परमात्मा की दिव्य-शक्ति का अवतरण मनुष्य के लिये जीवन में किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध से ऋषियों की सैद्धान्तिक मान्यता यह है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासतेप्रशिषं यस्य देवाः यस्यच्छाया अमृत यस्यं मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम। यजु २५।१३

यह परमेश्वर उपासनीय है क्योंकि उसके चिन्तन से मनुष्य को आत्मा के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। आत्म-ज्ञान उसके अन्दर महान् बल पैदा करता है सारे विश्व में उसका महत्त्व आच्छादित है पर उसे पाते वही हैं जो उसके प्रशासन में रहते हैं अर्थात् उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।

ब्रह्मविद्या का सम्पूर्ण गूढ़ तत्व इस मन्त्र में निचोड़ कर रख दिया है। यह सच बात है कि जब तक लोगों में ऐसा विश्वास या जिज्ञासा नहीं पैदा होती कि इस विश्व का अन्तिम निर्णायक कोई परमेश्वर है तटा तक वे केवल सांसारिक कर्मों में, लौकिक और भौतिक सुखों की उपलब्धि में ही लगे रहते हैं। ईश्वर की बात और उसके अस्तित्व पर विश्वास होते ही भौतिक दृष्टिकोण का एकाएक विराम होता है और उसकी मानसिक चेष्टायें अन्तर्मुखी होने लगती है। मनुष्य के विचार और अनुभव का क्षेत्र जितना अधिक विकसित होता है उतना ही उसे इन्द्रियों और उसके विषयों की निस्सारता समझ में आने लगती है। जिन कार्यों में लोग प्रमाद वश अपनी शक्ति और सामर्थ्य ही गंवाया करते हैं वह उन्हें रोक कर आत्म शोधन की साधना में लगाता है। फलस्वरूप उसकी आत्मिक प्रगति होती है और वह अपने सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप को भी समझने लगता है।

आत्मा की मान्यता जितना ही दृढ़ होती जाती है मृत्यु का भय उतना ही दूर हो जाता है इससे उसके हृदय में बल का संचार होता है। किन्तु इस समय मन की अधोगामी प्रवृत्तियाँ भी चुप नहीं रहतीं। संसार के दूषित तत्व भी उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसलिये कहा है कि इस संघर्षकाल में जो जागृत पहरेदार की तरह सदैव सावधान रहते हैं और ईश्वरीय आदेशों का पालन करते रहते हैं ईश्वर की पूर्ण कृपा उसे ही प्राप्त होती है। उसी का जीवन भव्य बनता है।

ईश्वर की आज्ञायें क्या हैं ? हमारे लिये समझने के लिये यह सब से कठिन बात नहीं है। आमतौर पर हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधियों का संचालन मन करता है और अपना अच्छा-बुरा जैसा भी कुछ मन है उसकी बातों की ही ईश्वर की आज्ञायें मान कर पूरा किया करते हैं। किन्तु जब कभी मन कोई बुरा कर्म करता है तो उससे अन्तःकरण में दुःख प्रकट होता है। परमात्मा का आदेश समझने की सीधी कसौटी यही है कि जिन कार्यों से आत्म-हीनता, असंतोष और अशान्ति उत्पन्न होती हो उन्हें न करना और जिनसे दिव्य तत्वों की वृद्धि होती हो आत्म सुख, सन्तोष और शान्ति मिलती हो उनका विकास करना ही ईश्वर की आज्ञाओं को पालन करना है।

मन की प्रवृत्ति आमतौर पर अधोमुखी होती है इसलिये आत्मा को अपनी बुद्धि और सामर्थ्य का प्रयोग करना चाहिये। मन को बुरे कर्मों से बार बार हटाने और उसे शुभ कर्मों में लगाये रहने से कुछ दिन में उसकी प्रवृत्ति भी सतोगुणी हो जाती है। पाप करने या बुद्धि का दुरुपयोग करने से ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार उसको लज्जित होना पड़ेगा और उसका सिर झुका रहेगा। पर सत्कर्म लौकिक या आत्मिक सभी दृष्टियों से मनुष्य को सुख प्रदान करने वाले ही होते हैं और उनसे अपना आत्माभिमान भी विकसित होता है। शक्तियों और सामर्थ्यों का विकास भी उसी क्रम से होता है।

यह बात तो सभी चाहते हैं कि हमारे मन में बुरे विचार कभी न आवें। हम सदा शान्त और आनन्दमय रहें, दुःख का भान न हो। इसके लिये लोग प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु संसार की गति ही कुछ ऐसी है कि मनको आघात पहुँचाने वाली घटनायें यहाँ घटती रहती हैं, उन घटनाओं को सहते हुये भी जो मन को

वश में रखता है और उसे शुभ संकल्पों से रिक्त नहीं होने देता ईश्वर की आज्ञाओं का सच्चे मन से वही पालन कर सकता है जो मन को चंचल, अस्थिर या विकारपूर्ण नहीं होने देते वह सच्चे साहसी धीर वीर और गम्भीर होते हैं। इन दैवी सत्प्रवृत्तियों के आधार पर निरन्तर उसे परमात्मा की कृपा प्राप्त होती रहती है और वह आत्म विकास की साधना में उत्तरोत्तर सफल होता हुआ आगे बढ़ता रहता है।

आत्मा के विकास और ईश्वर की प्राप्ति के लिये केवल दैवी गुण भी चिरकाल तक नहीं टिक सकते, ईश्वर-भक्ति, जप उपासना आदि आवश्यक हैं किन्तु जहाँ भक्ति हो वहाँ श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, दया, करुणा, उदारता, त्याग सहयोग सहानुभूति, क्षमा आदि दैवी गुण भी अवश्य होने चाहिए। कर्म चाहे जैसे करो, ईश्वर सब क्षमा करेगा—इस मान्यता ने व्यक्ति और समाज दोनों का बड़ा अहित किया है। ईश्वर को मानने का दावा करने वाले लोग दैवी गुणों की परवाह न करके भ्रम में पड़ गये हैं कि गुणों का विकास चाहे हो या न हो ईश्वर भक्ति से हमारा सब कुछ ठीक हो जायेगा। इस संकीर्ण दृष्टिकोण ने ब्रह्म-विद्या के सच्चे की आस्थाओं को भी नष्ट कर दिया है और बुद्धि प्रधान लोग उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं।

मनुष्य जीवन बड़े सौभाग्य की वस्तु है। उससे भी बड़ा सौभाग्य ईश्वर में विश्वास होना है कदाचित लोगों का मन जप और उपासना में लग जाये तो उन्हें अपने ऊपर परमात्मा की कृपा समझनी चाहिये पर साथ ही अपने दुर्गुणों और दुष्प्रवृत्तियों के निवारण के लिये भी प्रयत्नशील होना आवश्यक है। अपने आस-पास सभी प्रकार का ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें गुणें को विकसित करने वाली सब चीजें हों। इसमें यदि किसी प्रकार की सांसारिक हानि होती हो तो उसे भी ईश्वर का आदेश मानकर पूरा करना चाहिये। सद्गुण के विकास में किया हुआ कोई भी त्याग कभी भी व्यर्थ नहीं जाता।

भारतीय आर्यों ने ईश्वर उपासना को मनुष्य जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग बताया है और प्रकारान्तर से उसकी अनेक सिद्धियों सामर्थ्यों का वर्णन किया है। अनेक तरह के साधन और विधानों को भी इसी दृष्टि से निकाला गया है कि हर स्थिति हर अवस्था तथा देशकाल और परिस्थितियों में भी लोग ईश्वर-उपासना के महान् लाभ प्राप्त कर सकें किन्तु कर्म के क्षेत्र में सबको एक स्थान पर बाँध दिया है। इस जगत में मनुष्य से लेकर छोटे से छोटे कीटाणु तक जितने भी प्राणी हैं उन सबसे हमारा सम्बन्ध है उन सबका हमारे ऊपर ऋण है। उन सबके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग से हमारा कल्याण हो रहा है। अतः उनके प्रति भी हमारा कुछ न कुछ कर्त्तव्य है। हम उन्हें भले ही न पहचान सकें पर परमात्मा तो सर्वज्ञ है वह तो यह सब कुछ देख ही रहा है। फिर यदि हम कोई ऐसा कार्य करेंगे जिससे दूसरों को नुकसान होता हो तो वह चाहे जैसा कर्म होगा परमात्मा हमारे ऊपर अप्रसन्न हो जायेगा। ऐसी स्थिति में उस उपासना का भी क्या महत्त्व रहेगा जो ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये की जाती है।

ब्रह्म विद्या मनुष्य को ईश्वर उपासना तक ही सीमित नहीं रखती। प्रत्युत उसे प्राणी मात्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उचित रीति से पालन करना भी सिखाती है। अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्यों को विकसित करने की शिक्षा देती है। (१) उपासना (२) आत्म-शोधन और (३) परमार्थ इन तीन श्रेणियों में विभक्त होकर जो ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हैं ब्रह्म-विद्या उनके जीवन को भव्य बना देती है। उन्हें स्वर्ग और मुक्ति का उत्तराधिकार प्रदान करती है।

विद्या ही जीवन को सार्थक बनाती है

शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रशिक्षण का स्तर, साधन, परिस्थितियाँ एवं शिक्षार्थी का बौद्धिक स्तर सभी होना पर्याप्त है। यह साधन जहाँ भी जुट जायेंगे वहाँ शिक्षा का लाभ सफलतापूर्वक मिलने लगेगा। शिक्षा हमारे लौकिक जीवन की सुव्यवस्था के काम आती है। जानकारी बढ़ने से सोचने की परिधि बढ़ जाती है—लिखने और बोलने की भाषा परिष्कृत होती

है—अर्थोपार्जन की क्षमता बढ़ती है, विभिन्न शिल्प एवं कला कौशल अभ्यास में आते हैं। इन आधारों पर मनुष्य नौकरी अथवा स्वावलम्बी उपार्जन में अधिक सफल होता है। ऐसे-ऐसे अनेक लाभों को ध्यान में रखते हुये शिक्षा का प्रचलन किया गया है। पढ़ने पर सर्वत्र बहुत जोर दिया जाता है। सर्वत्र स्कूल कालेज खोले जा रहे हैं—यह उचित ही है। मस्तिष्कीय विकास की दृष्टि से अर्थोपार्जन जैसी आवश्यकता पूरी करने की दृष्टि से—अति आवश्यक शिक्षा का विकास होना चाहिये—उससे हर व्यक्ति को लाभान्वित होना ही चाहिये। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं।

भौतिक जानकारियों से सम्बन्धित शिक्षा की आवश्यकता और उपयोगिता को हम जानते हैं पर उसके दूसरे पक्ष को भूल जाते हैं। जिसके बिना हमारी ज्ञान वृद्धि सर्वथा अधूरी और अपंग बनी रहती है। ज्ञान की दूसरी धारा है विद्या। विद्या का अर्थ है दृष्टिकोण का परिष्कार चिन्तन और भावोल्लास में उत्कृष्टता का निखार। इसके बिना मनुष्य के अन्तराल में छिपी हुई रहस्यमय दिव्यता का विकास नहीं हो सकता। मानवत एवं महानता की अन्तरिम श्रेष्ठता का विकास जिस क्रम से होता है उसी क्रम से मनुष्य की आकांक्षायें, विचारधारायें और गतिविधियाँ उच्चस्तरीय बनती जाती हैं। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से उसका स्तर उठता जाता है। मन, वचन, कर्म में ऐसी विशेषतायें दीख पड़ती हैं जिनके सम्पर्क में आने वाला हर मनुष्य प्रसन्नता अनुभव करता है, प्रकाश ग्रहण करता है। इन दिव्य सम्पदाओं से सुसज्जित व्यक्ति अपने आप में हर घड़ी सन्तुष्ट एवं प्रफुल्ल रहता है भले ही उसे अपेक्षाकृत अभावग्रस्त एवं कष्ट-साध्य परिस्थितियों में रहना पड़ रहा हो, यही है विद्या चमत्कार—माहात्म्य और प्रतिफल।

प्राचीन काल में विद्या का महत्त्व समझा जाता था और उसे शिक्षा का अविच्छिन्न अंग बनाकर रखा गया था। गुरुकुलों की प्रशिक्षण पद्धति में जहाँ भाषा, गणित, भूगोल, शिल्प आदि विषयों का समावेश था वहाँ ऐसा वातावरण भी जुड़ा रहता था जिसमें शिक्षार्थी को अपनी आत्म चेतना का स्तर आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुरूप ढालने पर अवसर मिले—उसके व्यक्तित्व का—गुण, कर्म स्वभाव का विकास-परिष्कार अनवरत गति से उर्ध्वगामी बनता चले। बौद्धिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण की ऐसी धारायें उस शिक्षा पद्धति में जुड़ी हुई थी जिनके सहारे न केवल भौतिक योग्यतायें वरन् आत्मिक विशेषतायें भी शिक्षार्थी को समान रूप से मिलती रहें।

अर्वाचीन समाज निर्माताओं का विचार कुछ दूसरा ही है। वे भौतिक जानकारियों वाली अर्थकारी शिक्षा को पर्याप्त मानते हैं। अस्तु शिक्षण संस्थाओं का कार्य क्षेत्र बहुत सीमित रह गया है वे साक्षरता से अपने प्रयास आरम्भ करती हैं और स्नातक बनाकर अपना प्रयोजन पूरा कर लेती है। शिक्षार्थी को जानकार एवं अमुक क्षेत्रों में क्रिया कुशल बनने का लाभ तो मिल जाता है पर उसे वहाँ ऐसा कुछ नहीं मिलता जिसे अन्तः चेतना के परिष्कार में सहायक कहा जा सके। इस कमी के कारण शिक्षार्थी की उपलब्धियाँ सर्वथा अधूरी रह जाती है। उसकी जानकारी एवं कुशलता अपनी सीमा में कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो व्यक्तित्व का स्तर ऊँचा नहीं उठ पाता। वक्ता खिलाड़ी, शिल्पी, कला-कुशल आदि वह कुछ भी बन जाये पर वह एक ऐसी कमी अपने भीतर अनुभव करता है जिसके अभाव में वह चेतनात्मक प्रगति की दिशा में अपंग असमर्थ ही बना रहा।

विज्ञान अर्थोपार्जन, शिल्प, कला आदि का अपना महत्त्व और कार्यक्षेत्र है। भौतिक प्रगति के लिये उन सबकी जरुरत है, पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिये, कि व्यक्तित्व को परिष्कृत करना अपने आप में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य क्षेत्र है। इसमें अनजान बने रहने से कोई भी ऐसी स्थिति नहीं पा सकता जिसके आधार पर वह भीतर आत्म-सन्तोष प्राप्त करे और बाहर आत्म-गौरव का पोषण कर सकने वाला वातावरण पाये। जीवन जीना एक महान् शिल्प है। जिसे सलीके का जीवन जीना नहीं आया उसका सारा शिक्षा - लाभ अपंग है। धन से सुविधा साधन खरीदे जा सकते हैं—प्रतिभा से दूसरों को आतंकित अथवा चमत्कृत किया जा सकता है—इतनी ही तो जीवन को आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को इससे ऊँचा भी कुछ चाहिये

इससे आगे की भी मंजिल पार करनी उसे अभीष्ट होना चाहिये। यह अभाव विद्या के माध्यम से ही पूरा किया जा सकता है।

विद्या का स्वरूप है—विचारणा एवं भावना के स्तर को उच्चस्तरीय बनाने वाला ज्ञान अनुभव एवं अभ्यास। यदि उसे प्राप्त किया गया होगा तो जीवन यापन की शैली में उत्कृष्टता का ऐसा समावेश होगा जिसके आधार पर वह अपने सहचरों सहकर्मियों के सम्पर्क में आने वालों का हृदय जीतता चला जायेगा। जहाँ भी सम्बन्ध स्थापित करेगा वहीं अपने लिये श्रद्धा एवं सम्मान का बीजारोपण करेगा। धनवान, गुणवान एवं शक्तिवान का अपना महत्त्व है, पर सबसे बड़ा महत्त्व परिष्कृत व्यक्तित्व का है। आत्मवान मनुष्य कितना बड़ा कितना समर्थ और कितना प्रभावी होता है इस तथ्य को समझने में तो आज हम प्रायः असमर्थ ही हो रहे हैं।

बाहर के लोग किसी की सम्पदा, रूप प्रतिभा एवं पदवी से प्रभावित हो सकते हैं पर अपने आपको जो सन्तोष तथा चैन मिलता है उसका आधार केवल अपनी आन्तरिक सम्पदाओं से—विभूतियों से ही जुड़ा रहता है। दुष्ट, दुर्गुण, व्यसनी, अनाचारी व्यक्ति अपने आप में कितना अशान्त, उद्विग्न रहता है इसे उसके अतिरिक्त और किसी बाहरी व्यक्ति के लिये समझ सकना कठिन है। वह अपने आप ही अपनी आग में जलता, झुलसता रहता है। ईर्ष्या, द्वेष प्रतिशोध, रोष, उद्वेग, विक्षोभ के अनेकानेक उतार-चढ़ाव उसे पिशाच की तरह अशान्त किये रहते हैं। मनःशास्त्र के अनुसार यह स्थिति अगणित ऐसी शारीरिक और मानसिक आधि-व्याधियों को जन्म देती है जिनका उपचार न तो औषधियों से होता है और न सात्वना देने वाले विनोदात्मक उपचारों से, ऐसे उद्विग्न मनुष्य नशेबाजी, व्यभिचार, ठाट-बाट, पर्यटन व्यसन, विलास आदि की योजनायें बनाकर उद्विग्नता का समाधान खोजते रहते हैं। दवादारू एवं बहुमूल्य आहार के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, पर उनका शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य सुधरने ही नहीं पाता। खर्चीली और निन्दात्मक दौड़धूप कुछ क्षण भी राहत नहीं दे पाती और सारे प्रयास निरर्थक चले जाते हैं। अन्तःक्षेत्र को निकृष्टता कितनी आत्म-प्रताड़ना देती है, काश हम इसे समझ सके होते तो अनुभव करते कि इससे बढ़कर जीवन का अभिशाप दूसरा नहीं हो सकता।

दुर्गुणी, कुकर्मी एवं दुर्भावनाग्रस्त व्यक्ति प्रतिभाओं एवं कुशलताओं से सम्पन्न होते हुये भी सम्पर्क क्षेत्र में अपने लिये श्रद्धा उत्पन्न नहीं कर सके फलतः उन्हें सच्चे सहयोग से वंचित रहना पड़ता है। यह एक तथ्य है कि निकटवर्ती सम्पर्क क्षेत्र की सहायता से ही कोई व्यक्ति ऊँचा उठने में समर्थ हुआ है। जिसकी निकृष्टता सम्पर्क क्षेत्र में घृणा और तिरस्कार के भाव उत्पन्न करती है वह कभी भी सच्चे सहयोग का—सच्चे सम्मान का अधिकारी नहीं बन सकता। किसी प्रयोजन विशेष के लिये लोग उसकी चापलूसी कर सकते और लाभ में हाथ बटा सकते हैं। पर सितारा गिरते ही वे पल्ला झाड़कर अलग हो जाते हैं इतना ही नहीं गिरे में दो लात लगाने की उक्ति भी चरितार्थ करते हैं। दुरात्मा अनुभव करता है कि कुसमय में उसका एक भी सच्चा मित्र या सच्चा सहायक नहीं है। वस्तुतः ऐसे एकाकी मनुष्य को ही अभागा कह सकते हैं। मात्र अपने पुरुषार्थ के बल पर सीमित प्रगति ही की जा सकती है। उच्चस्तरीय और चिरस्थायी सफलतायें उसी को मिलती हैं जिसने अपने लिये श्रद्धा और सम्मान का वातावरण उत्पन्न कर रखा होगा यह लाभ केवल उन्हीं के लिये सुरक्षित है जिनकी आन्तरिक स्थिति उत्कृष्टता के आधार पर विकसित—परिष्कृत हुई है।

मनुष्य जीवन की समग्र सफलता के लिये उस ज्ञान की महती आवश्यकता है जिसे विद्या के नाम से पुकारा जाता है—जिसके आधार गुण, कर्म, स्वभाव या परिष्कृत व्यक्तित्व का निर्माण होता है न केवल वैयक्तिक समृद्धि के लिये—सुख शान्ति के लिये—वरन् सामाजिक सुव्यवस्था एवं प्रगति के लिये भी ऐसे ही परिष्कृत व्यक्तित्वों की आवश्यकता है। किसी राष्ट्र अथवा समाज का भवन व्यक्ति घटकों की ईंटों से चुना जाता है। जिस देश के नागरिक ओछे और निकृष्ट होंगे वहाँ विविध-विधि संकट, विद्रोह, अनाचार उभरते रहेंगे और गृह युद्ध जैसी स्थिति बनी रहेगी। अनाचार का जुड़वाँ भाई असहयोग है।

-जहाँ सहयोग नहीं वहाँ प्रगति कहाँ। दुष्प्रवृत्तियाँ रोष-प्रतिशोध उत्पन्न करती हैं। फलतः क्लेश कलह के अनेकानेक दुर्भाग्य पूर्ण घटना-क्रम सामने आते रहते हैं। ऐसे अन्तर्द्वन्द्वों की—गृह-क्लेशों की—विभीषिकाओं में उलझा हुआ राष्ट्र कभी भी प्रगति नहीं कर सकता, कभी समर्थ नहीं हो सकता उसकी सारी शक्ति उन्हीं विडम्बनाओं को सुलझाने दबाने में—नष्ट होती रहती। प्रगति के लिये जब समस्त साधन इन्हीं अव्यवस्थाओं, विस्फोटों से निपटने में लग जाये तो आखिर प्रगति के लिये साधन बचेंगे ही कहाँ।

किसी देश की गरिमा उसकी भौतिक उपलब्धियों से नहीं आँकी जाती वास्तविक सम्पदा तो वहाँ के चरित्रवान एवं आदर्शवादी नागरिक ही होते हैं। यही वास्तव में बहुमूल्य मणिमाणिक्य हैं। सच्ची समृद्धि इसी रत्न राशि की बहुलता पर निर्भर हैं। सम्पन्नता धन पर आधारित नहीं है—शक्ति का माप आयुधों से नहीं किया जाता—बड़प्पन क्षेत्र—विस्तार या जनसंख्या पर टिका हुआ नहीं है। किसी राष्ट्र का गौरव उसके लौह नागरिक ही होते हैं। पिछले दिनों जर्मनी, इजराइल, जापान आदि छोटे देशों ने जो ऐतिहासिक भूमिकायें निबाही हैं और संसार का चमत्कृत किया है। उसमें वहाँ के नागरिकों का मनोबल ही प्रधान था। किसी समय भारत विश्व का मुकुट मणि था। इसमें उसके अर्थ साधन कारण नहीं थे, और न शिक्षा शिल्प, आदि का ही महत्त्व था उसकी संस्कृति और जीवन यापन की रीति-नीति ही वह कारण थी जिससे भारत अपने आप में स्वर्ग समतुल्य बना सतयुगी सुखशान्ति से सम्पन्न रहा और समस्त संसार को ऊँचा उठाने आगे बढ़ाने में अद्भुत योगदान देता रहा। उत्कृष्ट व्यक्ति ही अपने देश, समाज एवं युग को धन्य बनाया करते हैं।

व्यक्ति का अस्तित्व गीली मिट्टी जैसा है। शिक्षा संस्कृति एवं परिस्थितियाँ उसे बल देती हैं और ऊँचा उठाती हैं। यदि इस क्षेत्र में विकृतियाँ घुस पड़े तो फिर मनुष्य उनसे प्रभावित होकर नीचे गिरता चला जायेगा। यह ठीक है कि आत्मा का अपना स्वरूप और बल है वह परिस्थितियों को अपनी अन्तःशक्ति के आधार पर बदल सकता है। पर साथ ही इस मान्यता में इतना और जोड़ रखना चाहिये कि उस अन्तः शक्ति को सुविकसित करने के लिये वातावरण युक्त विद्या का खाद पानी भी दिया जाना चाहिये। बिना इन साधनों के अन्तः शक्ति का बीज अपने स्थान पर पड़ा भले ही रहे वह उगेगा, बढ़ेगा और फलेगा फूलेगा नहीं। अस्तु आत्म शक्ति के विकास का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की विचारणा भावना एवं क्रियाशीलता में उत्कृष्टता का समावेश कर सकने वाली विद्या के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

अपने समय का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि हम विद्या के महत्त्व को लगभग पूरी तरह भूल गये हैं। शिक्षा के क्षेत्र में उसे दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया गया है। धर्म और अध्यात्मक के आधार पर इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये ही विनिर्मित विकसित हुये थे। उसने भी अपनी दिशा बदल दी अब वे परम्पराओं के दुराग्रह में निरत हैं अथवा सस्ते कर्मकाण्डों से स्वयं मुक्ति का सिद्धि चमत्कार का काल्पनिक प्रसाद वितरण करते हैं। सन्त-साधु और ब्राह्मण पुरोहितों की कमी नहीं, पर वे अपने मूल कर्त्तव्य से सर्वथा विमुख होकर धन और सम्मान लूटने के जाल बुनने में निरत हैं। शिष्य और यजमान अब उनके सेवा साध्य नहीं रहे वरन् दुधारु गाय मात्र रह गये हैं। विद्या सम्वर्धन के लिये खड़ा किया गया धर्म क्षेत्र भी जब इन्हीं विडम्बनाओं में डूब गया तो शिक्षा शास्त्रियों समाज के कर्णधारों और राजनेताओं को किस मुँह से रोक दिया जाये ?

आज की स्थिति कुछ भी क्यों न हो—मानवी प्रगति और सुख-शान्ति की आधारशिला 'विद्या' की अवमानना नहीं हो सकती—उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता—निरर्थक नहीं ठहराया जा सकता। उसका महत्त्व जनसाधारण को समझना ही पड़ेगा और इस तथ्य को हृदयंगम कराना पड़ेगा कि विद्या के बिना न व्यक्ति को शान्ति मिलेगी न समाज की प्रगति होगी। विद्या की आवश्यकता को झुठलाते रहना अपने ही दुर्भाग्य को सिर पर लादे रहना है। भौतिक प्रगति कितनी ही विस्तृत क्यों न हो जाये यदि मनुष्य का आन्तरिक स्तर गिरा रहा तो उस प्रगति का उपयोग, संग्रहीत बारुद में जल भरने जैसा ही होगा।

वैयक्तिक चरित्र निष्ठा—चिन्तन की उत्कृष्टता और क्रिया कलाप में आदर्शवादिता का जो समावेश कर सके ऐसी विद्या का बीजारोपण उत्पादन एवं अभिवर्धन इस युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस तथ्य को समझा जाना चाहिये और उसके लिये प्रबल प्रयत्न किया जाना चाहिये। रक्त शोधन से ही दाद, खाज, फोड़े, चकत्ते, चेचक, विस्फोट अच्छे होंगे ऊपरी उपचारों का क्षणिक परिणाम ही मिलेगा। चर्म रोगों की जड़ काटने के लिये रक्तशोधन आवश्यक है आज की अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों, कुत्साओं और कुण्ठाओं का निराकरण मनुष्य के चिन्तन परिष्कार से ही सम्भव होगा। यह प्रयोजन विद्या तत्व की आवश्यकता समझने और उसे उपलब्ध करने के साधन खड़े करने से ही सम्भव होगा। अपने युग की यह सबसे बड़ी माँग, पुकार और आवश्यकता है। सर्वनाश की ओर दौड़ी जा रही मानव जाति को सामूहिक आत्महत्या से विरत करने की रोकथाम विद्या अभिवर्धन के बिना और किसी प्रकार हो नहीं सकेगी। उज्ज्वल भविष्य की आशा विद्या प्राप्त करने के साधन खड़े किये बिना और किसी प्रकार फलित नहीं हो सकती।

ईश्वर की ओर से लगभग समान बुद्धि तत्व का हर मनुष्य को अनुग्रह मिलता है। कोई जन्म-जात मेधावी विद्वान अथवा विवेकी कदाचित् ही होता है। जन्म लेने और चेतना अनुभव करने के बाद मनुष्य उसको अपने अध्यवसाय के बल पर ही विकसित करता तथा बढ़ाता है। जो जन्मजात मेधावी माने जा सकते हैं, वे भी अपने पूर्व जन्म के अध्यवसाय के फल रूप वह विशेषता लेकर वर्तमान जीवन में जाग्रत होते हैं। आशय यह है कि मनुष्य के लिये विवेक एवं बुद्धि का विकास उसके अध्यवसाय के आधार पर अनुपात पर ही होता है।

मनुष्य के बुद्धि विकास के अध्यवसायों में विद्याध्ययन का स्थान प्रमुख तथा व्यापक हैं। विद्या की आवश्यकता न केवल बुद्धि विकास के लिये है, प्रत्युत् यह लोक से लेकर परलोक तक की सभी सफलताओं का आधार है। जीवन को सफल उच्च तथा परिपक्व बनाने के लिये युगों से संचित मानवीय ज्ञान की नितान्त आवश्यक है। उन सारे महान व्यक्तियों ने जिन्होंने उन्नति के चरम शिखरों को छूने का प्रयास किया है, अपने जीवन में अध्ययन सम्बन्धी अध्यवसाय को प्रधानता दी है। उन्होंने लाख संकट उठाये हजार अभावों में रहे कितनी ही व्यग्रता एवं व्यथा की परिस्थितियाँ क्यों न आई हों अपने अध्ययन एवं ज्ञान सम्बन्धी अभ्यास में व्यवधान न आने दिया। वे पुराने ज्ञान से जीवन का अनुभव और तात्कालिक विषयों, का अधिकाधिक अध्ययन कर आधुनिक ज्ञान का लाभ उठाते ही गये।

यदि उन्हें ज्ञान की इतनी उत्कृष्ट अभिलाषा न होती या उसके महत्त्व को कम आंक कर यों ही मनोरंजन के रूप में कुछ बढ़ कर काम चलाने की सोची होती तो निश्चय ही वे उन्नति के उन सोपानों पर भी चरण न रख सकते जिसके अधिकारी बनकर आज विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विवेक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों के उदाहरण बन चुके हैं। नित्य नियम से उत्तमोत्तम ग्रन्थों तथा विषयों का अध्ययन करते रहने से मनुष्य की बुद्धि में उस प्रखरता का सचमुच विकास होता रहता है जिसके आधार पर अच्छाई, बुराई, पाप-पुण्य का ठीक ठीक निर्णय किया जा सकता है अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय पाई जा सकती है और प्रगति की ओर विश्वस्त तथा निर्भय पग बढ़ाया जा सकता है।

विद्या के अभाव में उन्नति असम्भव है। यही वह पूँजी है जो सच्चे अर्थों में मनुष्य का उत्थान कराती और यश व गौरव का अधिकारी बनाती है। ऐसा एक भी उदाहरण इस संसार में नहीं पाया जा सकता जिसके आधार पर यह कहने का साहस किया जा सके कि बिना ज्ञान एवं विद्या के भी उन्नति एवं प्रगति सम्भव मानी जा सकती हैं। उत्कर्ष का उपाय ज्ञान-तप को पूरा किये न तो कोई उस उत्कर्ष का अधिकारी बना है और न बन सकता है। मनुष्यता का गौरव, आदमी की विशेषता और संसार सारा वैभव विद्या विभूत के अधीन माना गया है। ज्ञान रूपी तप किसी भी काल एवं अवस्था में क्यों न किया जाये कभी निष्फल नहीं जाता—कहा भी गया है।

गतेपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः।

यद्यपि यान्न फला, सुलभा सान्यजन्मनि।।

आयु के निकल जाने पर भी विद्या प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहना बुद्धिमानी है यदि वह किसी कारण से इस जन्म में फलवती न हुई तो आगामी जन्मों में सुलभ होगी।

निःसन्देह विद्या ऐसी ही अक्षय सम्पदा है जिसका तीनों लोक तीनों कालों में नाश नहीं होता। वह जन्म-जन्मान्तरों में मित्र की तरह मनुष्य के साथ बनी रहती है। प्रथम तो विद्या का फल आर्थिक सफलता के रूप में देखना ही नहीं चाहिये। फिर भी यदि वह अर्थकरी नहीं हो पाती है। तथापि उसके ज्ञान का जो एक अनिर्वचनीय एवं अहेतुक सन्तोष, शान्ति अथवा आनन्द है उसको तो कोई परिस्थिति नहीं छीन सकती।

विद्या के सर्वथा अभाव में सम्पन्नता भी नहीं और यदि वह उत्तराधिकार, संयोग अथवा किन्हीं उचित अनुचित उपायों से सुलभ भी हो गई तब भी उसका कोई मूल्य महत्त्व मनुष्यता के रूप में नहीं माना जा सकता। सच्चा मनुष्य वही है जिसके पास ज्ञान की विशेषता है, विद्या सभी धन है। विद्या की कृपा से मनुष्य का जीवन सार्थक बनता है। विद्या के कारण ही मनुष्य सभ्य समाज में आदर का अधिकारी बनता है। धन के आधार पर विद्या रहित व्यक्ति का आदर आडम्बर तथा प्रदर्शन मात्र होता है। उसमें कोई सत्यता अथवा हार्दिकता नहीं होती है। वह लोग उसे ठगते अपना उल्लू सीधा करने के लिये ही ऊपरी मन से आदर दिया करते हैं। सफलता, समाज, परिवार, आनन्द, उल्लास, आदर, सम्मान आदि के जो भी भौतिक सुख हैं विद्यावान व्यक्ति उन्हें यथार्थ रूप से भोगता ही है, साथ ही वह उसी आधार पर आगे बढ़ता हुआ आत्म-प्रकाश अथवा मोक्ष पद तक पा लेता है। विद्या ही सारे सुखों की जड़ और अविद्या ही सारे दुःखों का हेतु माना गया है। अविद्या शैतानियत को बढ़ाती है, विद्या देवत्व का अभिवर्धन करती है।

धन, वैभव, जमीन-जायदाद, शक्ति सुन्दरता आदि के आधार पर किसी की उन्नति, विकास अथवा व्यक्तित्व को परखने की कसौटी मूर्खजनों की होती है। सज्जन एवं सत्पुरुष की कसौटी तो विद्या, बुद्धि, सद्ज्ञान, सदाचार, योग्यता एवं प्रतिभा ही रहा करती है। जिनने विद्वानों तथा बुद्धिमानों से सम्मान पाया, श्रेष्ठता तथा सफलता का प्रमाण पत्र प्राप्त किया है, वही वास्तव में सफल एवं श्रेष्ठ हैं अन्यथा व्यक्ति तो सफलता एवं श्रेष्ठता का झूठा सन्तोष कर आत्म-प्रवंचना किया करते हैं।

अध्येता अपनी आत्मा का सफल चिकित्सक माना गया है। अध्ययन द्वारा उपार्जित ज्ञान से वह शीघ्र ही अपनी आत्मा की व्याधियों को पहचान लेता और उसी आधार पर उसका उपचार भी करता है। अविद्या से ग्रस्त मनुष्य की आत्मा प्रकाश से वंचित रह जाती है। आत्मिक प्रगति के अभाव में मनुष्य भी अन्य जीव-जन्तुओं की तरह ही हीन अवस्था में पड़ा रहता है और उन्हीं की तरह प्राकृतिक प्रेरणा से अपना जीवन यापन किया करता है। मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य, अधोगामी परिस्थितियों से उठ कर उर्ध्व दिशा की ओर अभियान करना है। धर्म का सच्चा रूप पहचान कर पारमार्थिक कर्त्तव्यों को पूरा करना है, जिससे उसकी आत्मा दिनों-दिन मुक्ति को ओर ही अग्रसर होती रहे। नर तन पाकर भी जो मुक्ति की ओर अग्रसर होने से रह गया, वह मानो सब कुछ होते हुये असफल एवं अभाग्यवान् ही है। यह आत्मिक प्रगति विद्या के अभाव में कदापि सम्भव नहीं हो सकती। उन्नति एवं अवनति के कर्मों का निर्णय विवेक के आधार पर किया जा सकता है, उसका विकास विद्या के बिना हो ही नहीं सकता।

न केवल आध्यात्मिक प्रगति ही वरन् भौतिक प्रगति भी विद्या के बिना नहीं हो सकती। मानसिक, सामाजिक, आर्थिक तथा व्यक्तित्व हर प्रकार की उन्नति का मूल विद्या है। विद्या से मनुष्य का मानसिक संस्थान सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित हो जाता है, जिससे वह अच्छाई-बुराई, हानि-लाभ, उत्थान-पतन आदि की परिस्थिति पर ठीक-ठीक विचार कर सकता है और उनको समुचित दिशा प्रदान कर सकता है। विद्या ही मनुष्य में वह स्वाभाविक विनम्रता देती है, जिससे वह सर्वोच्च नियामक सत्ता की सर्वोपरिता को समझे और उसके नियन्त्रण को सहज भाव से स्वीकार करें।

नियामक सत्ता के नियन्त्रण की अवज्ञा के प्रयास वैसे भी सफल तो होते ही नहीं, उन्हें उनसे उपद्रव अवरोध, विग्रह आदि उठ खड़े होते हैं। उस सर्वोच्च सत्ता के नियन्त्रण को अस्वीकार कर पाना सम्भव कहाँ होता है ? इसलिये बुद्धिमत्ता इसी में है कि उस सता का स्वरूप समझें पर उसका नियन्त्रण स्वयं सहर्ष करें।

❑ ❑

भक्ति योग का व्यावहारिक स्वरूप

भावनात्मक उत्कर्ष ही व्यक्तित्व विकास का आधार

भावनाओं को श्रेष्ठ आदर्श में नियोजित करने वाले व्यक्ति का व्यक्तित्व उसी आदर्श के अनुरूप विस्तृत विराट हो जाता है। वह सीमित-संकीर्ण या एकाकी-असहाय नहीं रह जाता। भले ही बाहरी-तौर पर वह "एकला चलो रे' की नीति का अनुसरण करता—एकाकी बढ़ता दिखे, किन्तु, उसे आन्तरिक अकेलेन का अनुभव कभी भी नहीं होता। उसका जीवन आदर्श सदा ही उसका साथी, सम्बल एवं सहायक बना रहता है। उसी सम्बल से वह बड़ी-बड़ी बाधाओं को सहने तथा बड़े-बड़े कार्य करते चलने में समर्थ होता है, अन्यथा अकेले की क्या शक्ति ?

एकाकी व्यक्ति की अपनी थोड़ी-सी सीमा मर्यादा है, अपने बलबूते पर भी कुछ कार्य तो हो ही सकता है, पर वह होगा नगण्य ही। बड़ी प्रगति, बड़ी सम्भावना तो सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही मूर्तिमान होती है। एक-एक सैनिक अलग-अलग फिर तो उनके छुट-पुट कार्य एक सुगठित सैन्य टोली जैसे नहीं हो सकते।

कई तरह की योग्यताएँ मिल-जुलकर अपूर्णता को पूर्ण करती हैं। परिवार को ही लें उसमें कई स्तर के—कई विशेषताओं के मनुष्य मिल-जुलकर रहते हैं तो एक अनौखे आनन्द का सृजन करते हैं। पति-पत्नी की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, जब वे मिलकर एक हो जाते हैं तो दोनों को ही लाभ होता है, दोनों ही अपने अभावों की पूर्ति करते हैं। वृद्धों का अनुभव, बालकों का विनोद, उपार्जनकर्ताओं का धन आदि मिलकर एक ऐसा सन्तुलन बनता है जिसमें परिवार के सभी सदस्यों का हित, साधन होता है। सभी एक-दूसरे का, सहयोग का लाभ उठाते हुए आनन्द से रहते और उत्साह पाते हैं। किन्तु यदि परिवारों के सदस्यों में सहयोग न हो मात्र एक सराय में रहने वाले अजनबी मुसाफिरों की तरह निर्वाह करें, तो उनका असहयोग और मनोमालिन्य उस समूह को आनन्दरहित, नीरस और समस्याओं से भरा हुआ बना देंगें और उसका बिखर जाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होगा।

कितने लोग कहाँ इकट्ठे होते हैं, इसका कोई महत्व नहीं। भीड़ तो सदा अड़चन, गन्दगी और अव्यवस्था ही उत्पन्न करती है। मेलों-ठेलों में अधिक लोग जमा होते हैं, पर इससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत जहाँ थोड़े-से लोग भी पारस्परिक सहयोगपूर्वक आदान-प्रदान करने और किसी निर्धारित लक्ष्य की ओर मिल-जुलकर चलने के लिए एकत्रित होते हैं, वे सम्मेलन जो निश्चय करते हैं, उनके दूरगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं। बड़ी संख्या में जमा होते हुए भी यदि लोगों में स्नेह, सहयोग और सामंजस्य नहीं है तो वे सभी अपने आपको एकांकी अनुभव करते रहेंगे। जहाँ घनिष्ठता की मनःस्थिति होगी, एक-दूसरे के दुःख-सुख में सहायक बनकर रहे होंगे—जिनमें एक-दूसरे के हित साधन और कष्ट-निवारण में जितना उत्साह होगा, उनमें उतनी ही प्रसन्नता और निश्चिन्तता दिखाई पड़ेगी। वे उसी अनुपात में समर्थ सम्पन्न और प्रभावशाली बनकर रह रहे होंगें। उस समूह का भविष्य उज्ज्वल ही बनता जा रहा होगा।

जिसका 'अपनापन' जितना संकुचित है वह आत्मिक दृष्टि से उतना ही छोटा है। जिसने अपनेपन की परिधि जितनी बड़ी बना ली है, उसे उतना ही विकसित परिष्कृत माना जायेगा। स्वार्थी व्यक्ति समाज की चिन्ता तो दूर अपने परिवार के हित-अनहित तक का विचार नहीं करते और मात्र अपनी सुविधा समेटने में लगे रहते हैं। ऐसे लोग अपने शरीर सुविधा और क्षणिक प्रसन्नता पा सकते हैं पर उनकी अन्तरात्मा इस क्षुद्रता के लिए कचोटती ही

रहती है। परिचित लोग घृणा करते हैं और सम्बद्ध व्यक्ति रुष्ट रहते हैं। उन्हें कभी न कभी कहीं से सच्चा सम्मान मिलता है और न आड़े वक्त में किसी का कारगर सहयोग जो दूसरों के दुःख-दर्द में शामिल नहीं होता, उसे अपने आपत्तिग्रस्त होने पर किसी की सहायता नहीं मिलती। जिसे दूसरों से कुछ सहानुभूति नहीं उसके साथ भी सहानुभूति कौन व्यक्त करेगा।

उदार चित्त मनुष्य देखने में घाटा उठाते दीखते हैं क्योंकि उन्हें दूसरों की सहायता करने में अपना समय, मस्तिष्क और धन खर्च करते हुए देखा जाता है। पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो बात ठीक उल्टी दिखाई पड़ती है। बीज गलता है तो लगता है वह घाटे में रहा, पर जब उसका अंकुर फूटता है, पौधा बनता है, विशाल वृक्ष होकर फूलों-फलों से लदता है तो प्रतीत होता है बीज का गलना मूर्खतापूर्ण नहीं था, उसे जितना खोया उसकी तुलना में पाया कहीं अधिक है। दूसरों के साथ उदार सहयोग का बरतना, अपनी अन्य आत्मिक सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाता है, दूसरों के मन में अपने लिए श्रद्धा, सम्मान का स्थान बनता है और अपने चुम्बकत्व से अन्य लोगों का स्नेह-सहयोग आकर्षित करता है। इस प्रकार उदार व्यक्ति घटता नहीं बढ़ता ही है। सहयोग की प्रतिक्रिया सुखद सहायता बनकर चारों ओर से बरसती है।

धर्म-शास्त्रों ने दान-पुण्य की महिमा गाई है और उसे हर शुभ कार्य के साथ जोड़ा गया है। इनका कारण मात्र धन को एक से दूसरे के हाथ में पहुँचाना नहीं वरन् उदार सहयोग की सत्प्रवृत्ति को विकसित करना है। हम अपने ही दुःख को दुःख न समझें वरन् दूसरों के कष्टों में भी समान सम्वेदना अनुभव करें। किसी की पीड़ा अपने अन्तःकरण में करुणा और दया उत्पन्न करती हो तो समझना चाहिये आत्मा की कोमलता जागरूक है और व्यक्ति आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर चल रहा है। जो जितना कठोर है उसे दूसरों को कष्ट पीड़ित देखकर तनिक भी दया नहीं आती, ऐसे लोग पर पीड़ा का क्रूर कर्म स्वयं भी करते रहते हैं और दूसरों को करते देखकर प्रसन्न होते हैं अथवा निरेपेक्ष बने रहते हैं। इस आन्तरिक स्थिति को ही असुरता कहते हैं। ऐसे लोग अपने लाभ के लिए ही नहीं, अकार भी पर पीड़ा का आनन्द लेते हैं और उस दुष्टता को वीरता का नाम देते हैं। कसाई, शिकारी, डाकू, हत्यारे प्रायः ऐसी ही असुर मनोवृत्ति के होते हैं। अपराधी मनोवृत्ति भी इसी कठोरता की पृष्ठभूमि पर पनपती है।

मनुष्य असुरता छोड़े और देवत्व की दिशा में अग्रसर हो इसका एक ही उपाय है, उदार सहकारिता की मनोवृत्ति का विकास उसे अन्तःभूमि में परिपक्व करने वाले क्रिया-कलापों का अभ्यास। दान-पुण्य की महिमा इसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर बताई गई है। आज तो इस क्षेत्र में भी मूढ़ मान्यताओं का साम्राज्य है। लोग अमुक वंश या वेश के लोगों को दान लेने का ठेकेदार मानते हैं और देवी-देवताओं तथा पितरों को प्रसन्न करने की दृष्टि से पैसा पानी की तरह बहाते हैं। कुछ लोग अपने को उदार दानी होने के प्रचार विज्ञापन की दृष्टि से तीर्थयात्रा, ब्रह्मभोज, स्मारक आदि में धन खर्च करते हैं। यह आज के घटिया मनुष्य के घटिया चिन्तन का घटिया स्वरूप है। वस्तुतः दान एक सत्प्रवृत्ति है, जो मात्र धन देकर ही नहीं, श्रम, समय प्रोत्साहन, स्नेह, सत्परामर्श, सहानुभूति आदि के माध्यम से भी उसे चरितार्थ किया जा सकता है। दानी के लिए धनी होना आवश्यक नहीं। निर्धन के भी अपने उदार चित्त के आधार पर धन कुबेरों से भी बढ़ी-चढ़ी सेवा सहायता कर सकते हैं। सद्भावना की कमी न हो, उदारता सम्मिलित हो, दूसरों के दुःख में सहायता करने की कसक उठती हो, किसी को सुखी बनाने में रस आता हो तो समझना चाहिए दानशीलता के अनेकानेक आचरण स्वयंमेव होते चले जायेंगे और उसके लिए व्यस्त एवं त्रस्त स्थिति में भी पग-पग पर सुअवसर मिलते रहेंगे।

आवश्यक नहीं कि कोई पीड़ित या पतित मिले तब के लिए दान की प्रतीक्षा में बैठे रहा जाय अथवा उन्हें खोज-खोजकर बुलाया जाता रहे। यह तो आपत्ति धर्म है कि कभी कोई दुःखी दिखाई पड़े तो उसकी उचित एवं शक्य सहायता विवेकपूर्ण की जाय। भावावेश में अनुचित सहायता करने से तो भिक्षावृत्ति पनपती है और कुपात्रों के लिए एक घिनोना व्यवसाय अपनाकर

अकर्मण्य बनने का दुर्भाग्य पल्ले पड़ता है। इस क्षेत्र में पूरे विवेक का प्रयोग करने की आवश्यकता है। विवेकपूर्ण सहायता ही लाभदायक सिद्ध होती है। माता को बच्चे के फोड़े का आपरेशन कराते समय जो कठोरता धारण करनी पड़ती है। वस्तुतः वह भी विवेकपूर्ण करुणा का ही एक अंग है।

अपने स्वजन, सम्बन्धियों, पड़ौसी, परिचितों, में कोई भी हारी-बीमारी हो तो उसकी दवादारू परिचर्या, पूछताछ, सहानुभूति आश्वासन के लिए कुछ समय या प्रयत्न करके अपनी सद्भावना का परिचय दिया जा सकता है। अन्य प्रकार की मुसीबतें तथा कठिनाई भी लोगों के सामने आती रहती है। ऐसे अवसरों पर लोग अक्सर अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं और औंधे-सीधे विचार करके अवांछनीय मार्ग अपनाने लगते हैं, यह मनःस्थिति भी शारीरिक बीमारी से कम भयंकर नहीं। अपने सम्पर्क क्षेत्र में अक्सर कई व्यक्ति ऐसी आपत्ति में फँसे होते हैं। उनके साथ सहज आत्मीयता विकसित करनी चाहिए और अपने विश्वास क्षेत्र में लेना चाहिए। इतना कर सकने पर भी स्नेह, सिक्त, तर्क और तथ्यों से भरा परामर्श प्रभावी बनता है। ऐसा मार्ग-दर्शन कर सकना—धन दान करके किसी दीन-दुःखी की सहायता करने से भी किसी प्रकार कम महत्व का नहीं है। साधारण वार्तालाप में भी सम्पर्क में आने वालों को बिना उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाये, बिना निन्दा, भर्त्सना किये सहज सत्परामर्श दिये जा सकते हैं और उनसे भी धन दान जैसे ही सत्प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं। अपना चरित्र आदर्श बनाकर उसे अनुकरणीय एवं प्रेरणाप्रद बना लिया जाय तो वह भी प्रकारान्तर से सम्पर्क क्षेत्र में बखेरा गया अयाचित अनुदान ही माना जायेगा।

घर में ऐसी परम्परा प्रचलित करनी चाहिए, जिसमें सभी को एक-दूसरे की सहायता करने की उत्सुकता बनी रहे। इसके लिए उन्हें बराबर अवसर भी मिलते रहने चाहिए। बड़ी क्लास के लड़के अपने छोटी कक्षा के भाई-बहिनों को पढ़ाने के लिए नियमित रूप से हर रोज समय निकालें और उन्हें खिलाने, हँसाने, अच्छी आदतें अपनाने, ज्ञान बढ़ाने आदि में सहायता करें। छोटी आयु के बच्चे बड़ों के कामो में हाथ बँटाने में, उनकी छोटी-मोटी आवश्यकताएँ स्वयं जुटा देने में रुचि रखें, बराबर वालों के साथ जी खोलकर हँसने, बोलने और मिल-जुलकर साथ-साथ काम करने का क्रम बनायें। दूसरों की बिखरी चीजों को यथास्थान रख देना एक छोटा-सा काम है, पर उससे यह छाप पड़ती है कि हमारे प्रति कितना ध्यान है ? ऐसे छोटे-छोटे सहयोग देकर साथ वालों की सद्भावना एवं कृतज्ञता अर्चित की जा सकती है।

सार्वजनिक हित के सामूहिक कार्यों में सदा अग्रणी रहना चाहिए। लोक-मंगल के लिए चल रही गतिविधियों में पूरे उत्साह के साथ भाग लेना चाहिए। इन सत्प्रवृत्तियों में भाग लेने से विश्व सेवा के विशाल क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर मिलने से आत्म-विस्तार का लाभ मिलता है साथ ही समाज को समुन्नत बनाने का जीवनोद्देश्य भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत एवं पारिवारिक लाभ के कार्यों में रुचि रखी जाती है, उसी प्रकार समाज को भी बड़ा परिवार मानकर उसे समुन्नत बनाने वाले सामूहिक सार्वजनिक कार्यों में हमारा अनुदान एवं सहयोग सदा ही सम्मिलित रहना चाहिए।

अन्तःकरण की उदारता को विकसित करना, अपना स्तर बढ़ाना और दूसरे का सम्मान सद्भाव अर्जित करना। यह लाभ जो कमाता है, वह देने की अपेक्षा प्रकारान्तर से कहीं अधिक प्राप्त कर लेता है। स्वार्थपरायण व्यक्ति चतुर दीखता है, पर वह एकांकी रहकर खोता ही अधिक है। अस्तु हर विवेकवान का प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह अपनी आत्मीयता का क्षेत्र विस्तृत करे, दूसरों के दुःख को बाँटने और अपने सुख को बाँटने में उत्साह रखें। सहयोग का स्वभाव बनाये और जहाँ भी आवश्यकता हो, अवसर हो, सहकारिता की सत्प्रवृत्ति चरितार्थ करने में पूरी तत्परता बरतें। सद्भाव और सहयोग के बल पर ही परिवार बनते हैं, सुदृढ़ होते और बढ़ते हैं। संगठन का मूल तत्त्व यही है। मानवी प्रगति सहयोग के आधार पर ही सम्भव हुई है और उदात्त भावनायें ही इस सहयोग का आधार जुटा पाती हैं। अतः प्रगति

के लिए भावनात्मक उदारता-उत्कृष्टता का अभिवर्धन आवश्यक है।

उपभोग की इच्छा, कृमि-कीटकों, पशु-पक्षियों और विकसित प्राणियों में भरी रहती है, उसी से प्रेरित होकर वे अपने विविध क्रिया-कलाप चलाते हैं। पेट की भूख को पूरा करने के लिए जीव-जन्तु अहर्निशि भागते-दौड़ते देखे जाते हैं। प्रौढ़ावस्थाा में उन्हें प्रजनन की उत्तेजना व्यग्र करती है, उसकी तृप्ति के लिए वे जोड़ा मिलाते हैं और भिन्न लिंग वाले प्राणी के साथ दोस्ती गाँठते हैं। मादा को प्रकृति ने एक और भावनात्मक विशेषता दी है—वात्सल्य। इस प्रेरणा से उसे घोंसला बनाने, अण्डे सेने और बच्चे पालनें का भी झंझट सहन करना पड़ता है। यदि उस जाति के प्राणी में नर-मादा के साथ रहने का प्रचलन रहा तो फिर उसे भी पत्नी को शिशु-पालन में सहारा देना पड़ता है। इतनी ही छोटी सीमा से अविकसित पशु-पक्षियों और प्राणियों की जीवनचर्या का आरम्भ और अन्त होता है। शरीर की दो ही भूख हैं पेट और प्रजनन। निकृष्ट स्तर के प्राणी इन दो की तृप्ति के अतिरिक्त और कुछ न तो सोचते हैं और न करते हैं। भूख और उसकी तृप्ति को खाते रहने का प्रयास इस शब्द में भी कहा समझा जा सकता है।

अविकसित मनुष्य भी इसी परिधि में घूमते हैं। उनके सोचने और करने का घेरा इतना ही सीमित होता है। स्वादेन्द्रिय से लेकर जननेन्द्रिय तक की लिप्सायें-लालसायें मन में विविध प्रकार के विक्षोभ उत्पन्न करती हैं और उन उद्वेगों के समाधान के लिए कई तरह की गतिविधियाँ अपनानी पड़ती हैं। स्वादिष्ट भोजन पाने-पकाने के लिए रसाईघर का पाक-विद्या का विस्तार होता है। एक के बाद दूसरे स्वाद और शक्ल के व्यंजन बनाये तलाशे जाते हैं। घर में सन्तोष नहीं होता तो हाट, बाजार और होटलों में पत्ते चाटे जाते हैं। स्पष्ट है कि यह चटोरापन ही स्वास्थ्य सम्पदा का सत्यानाश करता है। रुग्णता और अकाल मृत्यु का ग्रास बनता है फिर भी स्वाद तो स्वाद ही ठहरा। विकसित कहे जाने वाले अविकसित स्तर के नर-पशु के लिए स्वाद की महिमा बहुत बढ़ी-चढ़ी हो गई। अन्य प्राणी भूख की तृप्ति के लिए व्याकुल रहते हैं। मनुष्य की विकासोन्मुख विशेषता स्वादेन्द्रिय से चटोरेपन तक बढ़ गई। मूल बात खाने और पेट भरने तक ही सीमित रह गई।

शरीर की अगली भूख कामचेष्टा है। अन्य प्राणी साक्षी की तलाश और यौन-प्रयोजन पूरा करके उसे क्षुधा की तृप्ति कर लेते हैं। मनुष्य ने कामचेष्टा का बौद्धिक विस्तार किया है और बहुत दिनों तक साथ रहने वाले साथी की तलाश और निर्बाध यौन-कर्म का विधि-विधान बनाया है। विवाह उसी का नाम है। इतने से काम नहीं चला तो बौद्धिक और शारीरिक व्यभिचार के अनेकानेक तरीके ढूढ़े। नर-नारी साथ-साथ रहें तो यौन-कर्म के प्रतिफल प्रजनन कों भी व्यवस्थित करना पड़ा। नारी को प्रसव और नर-पशु को पशु-पालन के आवश्यक साधन जुटाना भी आवश्यक हो गया। बात यौन-कर्म भर की थी, पर उसी की प्रतिक्रिया बच्चे-बच्चों के रूप में सामने आ खड़ी हुई तो समाज व्यवस्था के अनुसार वह उत्तरदायित्व भी वहन करना पड़ा। समीप और साथ रहने के कारण बालकों की कोमलता एवं सुषमा भी सुहाने लगी अतः बन्धन और भी कड़े हुए और घर-परिवार बन गया।

अन्य प्राणी भी यौन-कर्म की ऐसी ही क्रिया-प्रतिक्रिया में व्यस्त पाये जाते हैं। मनुष्य ने-भी अपने स्तर के अनुरूप इन्हीं दो प्रवृत्तियों का विकास किया है। पेट भरने की साधन-सुविधा, तन ढकने, विलास-विन्यास के साधन जुटाने की अन्य कई दिशाओं में विस्तृत हो गई। यौन-कर्म का विस्तार कतिपय काम-क्रीड़ाओं एवं विनोद विडम्बनाओं में विकसित हुआ। विवाह परिवार और व्यभिचार इसी यौन-लिप्सा का विस्तार है। इन्हीं प्रयासों में लगी हुई बौद्धिक चेतना को खाने की, शरीर तृप्ति की, प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। इस क्रियाशीलता की भाव प्रेरणा को लोभ और मोह कह सकते हैं। जननेन्द्रिय प्रतिक्रिया के कारण जिन प्राणियों से सम्बन्ध जुड़ा, उन्हें 'मोह' की परिधि में ले सकते हैं और पेट पालने से लेकर शरीर संरक्षण के अन्य प्रयोजनों की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन जुटाने की प्रवृत्ति को

लोभ कह सकते हैं। आमतौर से नर-पशुओं का क्रिया-कलाप इतने तक ही सीमित रहता है।

थोड़ा और बौद्धिक विकास हुआ तो एक नई मस्तिष्कीय भूख लगती है, जिसे अहंकार की तृप्ति कहते हैं। दूसरों की तुलना में अपना बड़प्पन चाहना, इसे अहंता कहा गया है। अहंकार की पूर्ति के लिए मनुष्य ऐसे काम करते हैं, जिससे उन्हें दूसरों की तुलना में अधिक सफल और अधिक सम्पन्न कहा जा सके। चूँकि आज धनवान को अधिक सम्मान प्राप्त है इसलिए चेष्टा अधिकाधिक धनी बनने की होती है। इसमें सम्मान् के अतिरिक्त अधिक मात्रा में अधिक सुविधाजनक वस्तुओं को प्राप्त करने का अवसर रहता है। धनी व्यक्ति निर्धनों पर अपनी गरिमा की छाप तो डालते ही हैं, परिवार समेत इसी धन-सम्पदा के आधार पर अधिक सुखोपभोग किया जा सकता है। अस्तु धन-संग्रह की एक अतिरिक्त आकांक्षा भी मनुष्य में बढ़ी-चढ़ी मात्रा में पाई जाती है, जिसे 'तृष्णा' कहते हैं।

वैभव का प्रदर्शन करने के लिए, तरह-तरह के ठाट-बाट बनाये जाते हैं। श्रृंगारों, साज-सज्जा का यही प्रयोजन है कि निर्धन और अभावग्रस्त लोग उस वैभव का आतंक मानें और धनवान को अपने से ऊँचे स्तर का समझकर सम्मान प्रदान करें। कई बार तो गुण्डागर्दी और आतंकवाद का भी उद्देश्य अहंकार प्रदर्शन ही होता है। प्राचीनकाल में तो युद्ध भी इसी अहंता की सनक पूरी करने के लिए लड़े जाते थे। लूट-खसोट से लेकर रोष-प्रतिरोध भी उन दिनों युद्ध प्रवृत्ति को भड़काते थे, पर मूल कारण आतंकवादी, अहंकार का प्रदर्शन ही रहता था। अब भी लोग इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर करने न करने योग्य, कृत्य-कुकृत्य करते रहते हैं। कई बार तो धर्माडम्बरों के खर्चीले और कष्टमय प्रदर्शन भी इसी निमित्त किये जाते हैं।

वैभव संचय और अहंकार प्रदर्शन की संयुक्त महत्वाकांक्षा को 'तृष्णा' नाम दिया जाता रहा है। शरीर तृप्ति की प्रवृत्ति को वासना और मानसिक लिप्सा की पूर्ति को तृष्णा कहते हैं। देखा जाता है कि ओछे स्तर का मनुष्य समाज अपनी समस्त क्षमता को इन्हीं दो कार्यों में जुटाये रहता है। खाने और पीने की अभिलाषा ही उसके समस्त क्रिया-कलापों का केन्द्रबिन्दु होता है। इसे पशु प्रवृत्ति से एक कदम भी ऊँचा स्तर नहीं कहा जा सकता है। पशु शारीरिक और मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से पिछड़ा होता है, इसलिए उसके प्रयास भी उतने ही छोटे और क्षणिक होते हैं। मनुष्य चूँकि विकसित स्तर का है इसलिए उसने न केवल शारीरिक सुखोपभोग के दो आधार पेट और प्रजनन का विकास विस्तार किया है वरन् अहंता की मानसिक क्षुधा विकसित करके तृष्णा पूर्ति के साधन जुटाये हैं। यों यह तृष्णा, अहंता अन्य प्राणियों में भी पाई जाती हैं। मधुमक्खियाँ और चींटियाँ संग्रह करना जानती हैं और सर्प, सिंह आदि को अहंकारी आक्रोश प्रकट करते सदा ही देखा जाता है। दहाड़ते, चिंघाड़ते नर वर्ग के प्रौढ़ प्राणी प्रायः अपना आहार ही व्यक्त करते हैं। कई बार तो इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मल्ल-युद्ध की चुनौती भी देते हैं।

सृष्टि के अन्य प्राणियों को जो विशिष्टता प्रदान की गई है, वह उसकी शारीरिक बौद्धिक गरिमा नहीं वरन् भावनात्मक महानता है। शरीर की दृष्टि से मनुष्य कितने ही प्राणियों से पिछड़ा है। उसमें जलचरों और नभचरों जैसी डूबने, तैरने या उड़ने की विशेषता कहाँ है ? थलचरों में भी घोड़े जैसे दौड़ने वाले, हाथी जैसे विशालकाय और सिंह जैसे पराक्रमी कितने ही प्राणी हैं, जो मनुष्य की शारीरिक क्षमता को सहज ही चुनौती दे सकते हैं। मानसिक दृष्टि से, इन्द्रिय उत्कृष्टता की दृष्टि से छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े तक मनुष्य से कहीं आगे हैं। गन्ध का आश्रय लेकर छोटे कीड़े अपनी जीवनचर्या चलाते हैं। चमगादड़, मकड़ी, मधुमक्खी दीमक जैसे तुच्छ प्राणियों की मानसिक विशेषताएँ देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इनमें से कितनों को तो वर्षा, सूखा ऋतु परिवर्तन से लेकर भूकम्प आदि का भी पूर्वाभास रहता है। इन विशेषताओं का लेखा-जोखा लिया जाय तो मनुष्य को इन प्राणियों की तुलना में पिछड़ा

हुआ ही पाया जायेगा। वह बन्दर की तरह न तो पेड़ों पर रहकर जीवनयापन कर सकता है और न चूहे की तरह बिलों में ही उसका गुजारा है। बर्फ में रहने वाले सफेद भालू, पेनगुइन पक्षी जितनी क्षमता भी तो उसमें नहीं है। बिना दिशा यन्त्र या घड़ी की सहायता के हजारों मील लम्बी यात्रा करने और अपने स्थान को लौट आने वाले पक्षियों जैसी विशेषताएँ उसमें कहाँ हैं ?

मनुष्य की अपनी महानता और विशेषता एक ही है भावनात्मक उत्कृष्टता। वह खाने में नहीं खिलाने में रस लेता है और उसी से अपनी महानता को सन्तुष्ट परिपुष्ट करता है। दूसरों को दुःख पाते देखकर स्वयं दुःखी हो उठना और पिछड़े हुओं की, पीड़ितों की सहायता के लिए हाथ बढांना जिसके लिए अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाय उसे मानवी विशेषता से सम्पन्न कहना चाहिए। करुणा को मानवी उत्कृष्टता का अविच्छिन्न अंग कह सकते हैं। हिमालय के उच्च शिखर पर जमा हुआ बर्फ पिघलकर निचले क्षेत्र की जल आवश्यकता को पूरा करने के लिए नदी-निर्झरों के रूप में बहाता है। इस बहाव में प्रकृति की करुणा को बहता हुआ देखा जा सकता है। बादलों में से ऊपर से जलराशि के रूप में यह करुणा ही बहती है। वृक्षों में से पत्र, पुष्प और फलों के उत्पादन को अभावग्रस्त आवश्यकता की पूर्ति के लिए करुणा का विकास ही कह सकते हैं। घास इसी उद्देश्य को लेकर उगती है और जीवित रहती है कि उससे प्राणियों की क्षुधापूर्ति का साधन बन सके।

आत्मा का गुण है—आत्मीयता। आत्मीयता का अर्थ है—अपनी विशेषताओं और परिस्थितियों से दूसरों को सजाने की प्रवृत्ति। हमें जो वैभव मिला है, उसे मिल बाँटकर खाने के लिए यह आत्मीयता ही प्रेरित करती है। अपना आपा शरीर तक सीमित न रहकर जब अधिकाधिक क्षेत्र में विकसित है तो उसे आत्म-विस्तार कहते हैं। आत्म-विकास ही मानव जीवन का लक्ष्य है। अपूर्णता का अर्थ है सीमाबद्धता और पूर्णता का तात्पर्य है सीमा का अधिकाधिक विस्तार। शरीर और परिवार तक सीमाबद्ध रहना उतने ही क्षेत्र के सुख-दुःख में दिलचस्पी रखना यह बताना है कि चेतना को स्वार्थ भरी संकीर्णता ने भव-बन्धनों में अवरुद्ध करके रखा है। आत्म-विस्तार जिस क्रम से जितना होगा उतनी ही उत्मीयता की परिधि बढ़ती जायेगी। जो आत्मीय होते हैं उनके दुःख बँटाने और सुख बढ़ाने की आकांक्षा स्वभावतः उमंगती है। जिनके अन्तःकरण में असंख्यों को अपना मानने की भाव चेतना जाग पड़, समझना चाहिए कि आत्मीयता की मान् आध्यात्मिक विभूति का वरदान इसे उपलब्ध होने लगा।

आत्मा को परमात्मा का पद तब प्राप्त होता है, जब वह अपनी लघुता को महानता में विकसित करता है और स्वार्थ को परमार्थ की सीमा तक बढ़ाता है। जिसे परमार्थ प्रतीत होने लगे, समझना चाहिए उसे आत्म-विस्तार का अध्यात्म अनुदान मिलना प्रारम्भ हो गया। नर को नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम के लिए आत्म-विकास की मञ्जिल पूरी करनी पड़ती है। सीमित से असीम बनना पड़ता है। 'अपने में सबको और सब में अपने को देखने' का दृष्टिकोण ही तत्वज्ञान है। इसी को ब्रह्मविद्या एवं आध्यात्मिकता का सार कह सकते हैं। पेट प्रजनन की और अहंता की परिधि से ऊँचे उठकर जब संसार के पिछड़ेपन को हटाने के लिए अपने समस्त साधनों को नियोजित करने की करुणा जगे तो समझना चाहिए कि मानवता का महान् प्रकाश अन्तःकरण में उठा। जब शरीर और परिवार से आगे बढ़कर समस्त संसार को समुन्नत बनाने के लिए सक्रिय सद्भावना उमंगें तो कहना चाहिए मानवी गरिमा का उत्कर्ष हो चला। यही है मानव जीवन का लक्ष्य जिसे पाये बिना किसी का भी अन्तरात्मा सुखी सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

भाव के भूखे हैं भगवान

भक्त मार्ग की गरिमा इसलिए सर्वोपरि है क्योंकि वह भाव हम वेदनाओं की उच्च स्थिति है। यह उच्च भावनाएँ तभी उत्पन्न होती हैं, जब चेतना अधिक परिष्कृत स्थिति में जा पहुँचती है, इससे निम्न परिस्थिति मे छोटे स्तर की सक्रिय हो पाते हैं। कृमि-कीटकों में मात्र शरीरगत सक्रियता ही देखने में आती है। पशु-पक्षियों में ज्ञान का उदय होते देखा जा सकता है। भावनायें तो उनमें से कुछेक में ही सीमित मात्रा में पाई जाती हैं। वे सहचरत्व एवं प्रजनन प्रभाव से प्रभावित रहती हैं। नर का मादा के प्रति मादा का नवजात शिशुओं तक एक सीमा तक प्यार रहता है। मनुष्य शरीर में भी यही विकास स्तर इसी क्रम से उभरता है वन मानुषों में कर्म की प्रधानता रहते है, उनमें ज्ञान, विवेक, स्वल्प मात्रा में होंता है। कुछ और विकसित समझे जाने वाले लोग शिक्षित, चतुर, बहुज्ञ व्यवहार कुशल तो होते हैं, पर उनमें करुणा ममता उदारता जैसी भाव संवदेनाएँ तथा सदुद्देश्यों में श्रद्धा निष्ठा जैसी उत्कृष्टताएँ स्वल्प मात्रा में ही देखी जाती हैं। इनका विकास आत्मिक प्रगति की ऊँची कक्षा में पहुँचने पर होता है। इसलिए समान्य लोगों को कर्म प्रधान पार्थिव पूजा, परिक्रमा, तीर्थ यात्रा, व्रत, मौन जप, कीर्तन जैसी क्रिया उपासनाएँ बताई जाती हैं। ज्ञान भूमिका में पहुँचने पर स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन, ध्यान, धारणा जैसी चिन्तन प्रधान साधनाओं में नियोजित किया जाता है। सबसे ऊँची स्थिति भाव, सम्वेदनाओं के उभार उल्लास की है। इसी में भक्तियोग बन पड़ता है। आत्मवत् सर्वभूतेषु-वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता इसी आत्म विश्वास की स्थिति में हृदयंगम हो पाती है। सब हमारे-हम सबके की उच्च मनोभूमि बन पड़ने पर मनुष्य साधु ब्रह्मण, परिव्राजक लोकसेवी की तरह आचरण करता है उसका 'अहम्' विस्तृत होते-होते 'त्वम्' बन जाता है।

यह समर्पण-विसर्जन अद्वैत, तत्वदर्शन के रूप में अन्तःचेतना पर आच्छादित होता है तो मनुष्य ऋषि कल्प बन जाता है, ऐसे ही लोगों को पृथ्वी के देवता कहते हैं। अन्तःस्थिति के मनुष्य में देवोपम सामर्थ्य भी होती है।

आत्मिक प्रगति की उच्च भूमिका में आनन्द प्राप्त होता है। उससे पहले ज्ञानजन्य सन्तुष्टि और कर्मजन्य समृद्धि पुष्टि भर का सुख-सन्तोष मिल पाता है। उच्च आत्मिक भूमिका में पहुँचे हुए व्यक्ति को उच्चस्तरीय भाव सम्वेदनाओं से पुलकित पाया जाता है। इसी भक्ति कहते हैं। भक्ति भगवान की की जाती है। प्रेम का आरम्भ-आरोपण श्रेष्ठता के समुच्चय भगवान में श्रद्धा के रूप में किया जाता है। इस व्यायामशाला में परिपुष्ट हुई सबलता जन समूह के मध्य में अपना चमत्कार दिखाती है। उसके प्रेम अनुदान का प्रसाद पाकर असंख्य व्यक्ति ऊँचे उठते—पार होते और धन्य बनते हैं।

परमात्मा क्या है ? उसकी अनुभूति मनुष्य को किस रूप में होती है ? इसका रहस्योद्घाटन करते हुए एक ऋचा में कहा गया है—'रसो वै सः। रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भविति। स एवरसानां रस तमः अर्थात् वह परमात्मा 'रस' है। उस रस का पान कर आनन्द से आते-प्रोत बन जाता है। वह रसों में सर्वोत्तम रस है।

उपनिषद्कार भगवान को मधु ब्रह्म कहते हैं—'मधु क्षरित तद् ब्रह्म' अर्थात् जिसमें मधुरता टपकती है वह ब्रह्म है। ऋग्वेद में उसे मधु क्षरन्ति सिन्धवः।' मधुरता बरसाने वाला समुद्र कहा गया है। इस मधुरता की पराकाष्ठा को 'स्वीटेस्ट लव' एवं "सुपर मैड डी लाइट' जैसे नाम भी दिये गये हैं। ईसा के शब्दों में 'गौड़ इज लव'—प्रेम ही परमेश्वर है। सन्त इमर्सन के शब्दों में दि एसेन्स आफ गॉड इज लव'—परमात्मा का सार तत्व प्रेम है। सन्त ब्रौनिका की अनुभूति है—'ब्रियर प्लेजर दियर इज गौड उल्लास वहीं है, जहाँ परमात्मा है।

भक्ति का अर्थ है प्रेम। इसका श्रीगणेश शुभारम्भ ईश्वर भक्ति से किया जाता है क्योंकि वही इसी संसार में सबसे अधिक प्रेम करने योग्य है। उसी की पात्रता ऐसी है जिस पर पूरी तरह आसक्त होकर अन्तःकरण का समस्त प्रेम रस पूरी तरह उँड़ेला जासकता है। अन्य प्राणी या पदार्थ भी सत, रज, तम की त्रिविधि प्रकृति से बने हैं। उनकी स्थूल संरचना मिट्टी,

पानी, हवा, आग से हुई है। वे सभी बदलते और मरते हैं। ऐसी स्थिति में उनके साथ चिर-स्थाई शाश्वत प्रेम सम्बन्ध नहीं निभ सकता। उनकी बदलती रहने वाली परिस्थिति और मनःस्थिति ऐसे कारण उत्पन्न कर देती है, जिससे अपनी प्रेम-निष्ठा भी उलट-पुलट जाये। अस्तु प्रेम का शुभारम्भ ऐसे आधार पर करना पड़ता है, जहाँ फेर बदल करने की विवशता कभी भी उत्पन्न न हो।

अमृत नाम के एक तत्व की कल्पना की जाती रही है, जिसका रसास्वादन अद्भुत है। उसी पीते समय ही आनन्द रहता है सो बात नहीं पर उसकी कुछ बूँद चख लेने के बाद मस्ती की प्रतिक्रया चिरस्थाई जैसी हो जाती है।

इन्द्रियों के स्वाद ऐसे हैं जो एक बार चख लेने पर बार-बार मन को उसी चेष्टा के लिए खींचते रहते हैं। पद सम्मान, संग्रह, वर्चस्व के स्वाद भी ऐसे है, जो एक बार तृप्त होने से ही समाप्त नहीं होते पर दिन-दिन अधिकाधिक तीव्र होते चले जाते हैं। उनकी माँग—भूख और अधिक उग्र बनती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा की आकांक्षा की एक ही रहती है—प्रेम, वासना, तृष्णा और अहंता की पूर्ति के लिए सामान्य मनुष्य की समस्त बौद्धिक और शारीरिक गतिविधियाँ सक्रिय रहती हैं।

आहार निद्रा की प्रारम्भिक आवश्यकतायें पूरी करने को कृमि-कीटक भी सक्रिय रहते हैं। मनुष्य का भौतिक जीवन वासना, तृष्णा और अहंता जैसी मनोगत सरसताओं की आकांक्षा में तत्पर रहता है और उसकी पूर्ति में निरत रहता है।

ठीक इसी प्रकार उच्चस्तर पर उठा हुआ अन्तःकरण प्रेम का अमृत पीने के लिए आतुर पाया जाता है। कामुक अथवा मद्यप अपने विषयों के लिए जितना व्यग्र रहता है, आत्मिक भूमिका में विकसित मनुष्य उससे कहीं अधिक उद्विग्न-व्याकुल प्रेम रस के रसास्वादन के लिए पाया जाता है।

प्रेम की विशेषता है दो आत्माओं को एक में जोड़ देना। पति-पत्नी में प्रणय-प्रेम जब अधिक घनिष्ट होता जाता है तो वे दो शरीर एक प्राण कहे जाने लगते हैं। वस्तुतः भावना क्षेत्र में दोनों का अनुभव भी ऐसा ही होता है कि उनका एक ही व्यक्तित्व दो शरीर करके विचरण कर रहा है।

प्यार वस्तुतः अपनेपन की प्रतिक्रिया मात्र है। जिस वस्तु या व्यक्ति को हम जितना अधिक अपना समझते हैं, उसी अनुपात से उसे प्यार करते हैं। यह प्रेम अनुभूति इतनी सघन होती चली जाती है कि प्रेमी को सुख-दुःख अपने लगने लगते हैं। उसकी इच्छा कामना की पूर्ति भी ऐसी लगती है मानो अपनी ही इच्छा पूर्ति हो रही है। स्वयं कष्ट उठाकर प्रेमी की इच्छा पूर्ति के लिए इसीलिए प्रयत्न किया जाता है कि उसका सन्तोष अपने निज के सन्तोष का अविच्छिन्न अंग बन जाता है। प्रेमिका का रंग-रूप, वचन, व्यवहार सब कुछ इसलिए अनुपम लगता है कि उसके साथ आत्मीयता की मात्रा अधिक गहराई तक जुड़ गई है। यदि यह घनिष्ठता नष्ट हो जाय तो वह प्रेयसी कुरूप ही नहीं शत्रु भी लगने लगेगी। कुछ समय पहले जिसे क्षण-क्षण में देखने को जी करता था मन में विद्वेष, परायापन उत्पन्न होने पर उसकी सूरत देखने और समीप आने पर घृणा उत्पन्न होती है।

अपनी प्रेयसी से भी अधिक सुन्दर और सुयोग्य महिलायें सम्पर्क में आती हैं पर उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता और न उसकी और किसी प्रकार का आकर्षण होता हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी की शारीरिक, मानसिक विशेषतायें नहीं वरन् उसके साथ आरोपित की गई आत्मयीयता ही उसे सुन्दर, आकर्षक अनुकूल एवं परमप्रिय बना देती है। यह आत्मीयता हटती ही क्या प्राणी, क्या पदार्थ, सभी नीरस और निरर्थक लगने लगते हैं। इस संसार में जहाँ भी, जितनी भी सरसता अनुभव में आती है वस्तुतः वह अपनी आत्मीयता के आरोपण की ही प्रतिक्रिया होती है। इस आरोपण के अनुपात से ही प्रिय-अप्रिय का स्तर बनता, बढ़ता और बदलता है।

प्रेम का एक गुण है दूसरे को प्रिय बना देना। उन्हें सरस एवं सुन्दर अनुभव होने की स्थिति में ला देना। उसका दूसरा गुण है, दूसरों को अपना बनाकर उनके साथ आदान-प्रदान का

द्वारा खोल देना। पति-पत्नी सघन स्नेह सम्बन्ध में बँधने पर एक-दूसरे को केवल सुखद एवं सरस अनुभूतियाँ ही प्रदान नहीं करते वरन् उनकी विशेषताओं और क्षमताओं का परस्पर आदान-प्रदान भी सम्भव हो जाता है। जो कछ उनके पास होता है, वे उसका लाभ प्रेम-पात्र को उन्मुक्त भाव से, सहज रूप से देना आरम्भ कर देते हैं। पति कमाता है और पत्नी के हाथ पर रखता है। पत्नी एक पाक विद्या, गृह, व्यवस्था, शृंगार-संज्जा आदि जिन विशेषताओं से युक्त होती है उसका लाभ पति को पहुँचाती है। यह आदान-प्रदान किसी शर्त समझौते के आधार पर नहीं वरन् सहज स्वभाव ही होता रहता है। अपने लिए अपनी उपलब्धियों का लाभ जिस प्रकार लिया जाता है, ठीक वैसा ही साथी भी कर सके इसके लिए प्रयत्न किया जाता है। सच तो यह है कि अपनी उपलब्धियों को प्रेम पात्र के लिए समर्पित करना, उस समर्पण से प्रेमी का प्रसन्न, सन्तुष्ट होना और उस सन्तोष भरी प्रसन्न्ता की प्रतिक्रिया अपने आनन्द के अनुरुप में अनुभव करना, इस प्रकार तीन चक्र वाली चरखी चलती है। अपने वैभव का स्वयं उपयोग करने पर जितना सुख मिलता था। उसकी अपेक्षा साथी को उसका लाभ देने पर दूना आनन्द होता है। प्रेम पात्र को प्रसन्न देखकर अपने को जो आनन्द मिलता है, वह चक्रवृद्धि दर से चौगुना हो जाता है। खाने की अपेक्षा खिलाने का आनन्द अत्यधिक होने की बात कही जाती है। वह निरर्थक नहीं है। उसमें पूरा-पूरा सत्य और तथ्य भरा हुआ है।

प्रेम को अमृत इसलिए कहा गया है कि वह जितने क्षेत्र में आरोपित होता है, उतनी परिधि की हर वस्तु बड़ी सुन्दर बन जाती है। उसकी समीपता अपने आनन्द की मात्रा बढ़ती है। प्रेमपात्रों का अस्तित्व और वैभव अपनी निज की सम्पदा जैसा लगता है। उसी अनुपात से अपना गर्व-गौरव और सन्तोष बढ़ता है। अपना निज का परिवार छोटा ही हो सकता है, अपनी निज की कमाई स्वल्प ही रह सकती है, किन्तु यदि प्रेम भरी आत्मीयता का विस्तार व्यापक बना लिया जाये तो प्रतीत होगा कि अपनापन विस्तृत होने के कारण जितने क्षेत्र में फैला हुआ था, उतने क्षेत्र पर अपना आधिपत्य हो गया। भावनात्मक क्षेत्र में आरम्भ हुआ यह आधिपत्य स्वसंचालित आदान-प्रदान की पृष्ठभूति बनाता है और अनायास ही सहयोग का अनुदान उपलब्ध होने लगता है।

विविध-विधि साधनाओं का भावनात्मक मनोविज्ञान यही है कि जैसे देव शक्ति में अथवा समर्थ व्यक्ति में अपनी सघन श्रद्धा एवं आत्मीयता आरोपित करते हैं, वह चेतना स्तर पर अपना घनिष्ट-घनिष्टतम बनता जाता है। और उसकी विशेषताओं का प्रवाह अपनी ओर सहज ही बहने लगता है। समुद्र अपनी गहराई के कारण समस्त नदियों का जल अपनी ओर आकर्षित करता है और उनके अनुदान से अपना भण्डार भरता रहता है। यही बात प्रेम साधक के सम्बन्ध में लागू होती है, उसी प्रेम भावना उसे गहरा बनाती चली जाती है और इस स्थिति की पात्रता विकसित करने देती है कि दिव्य लोक के अजस्र अनुदान उसे अनायास ही मिलते चले जायें। चुम्बकत्व जितना शक्तिशाली होता है, उतने ही अधिक लौह कण उस क्षेत्र में से सिमट कर उसके साथ चिपकते चले जाते हैं। अध्यात्म क्षेत्र की चमत्कारी उपलब्धियाँ, ऋद्धि-सिद्धियाँ और कुछ नहीं अपनी ही प्रबल भाव-भूमिका द्वारा अनन्त अन्तरिक्ष से खींची हुई उपलब्धियाँ मात्र हैं।

व्यावहारिक जीवन में हम नित्य ही देखते हैं कि पारस्परिक प्रेम केवल एक-दूसरे को परमप्रिय ही नहीं बनाता वरन् सहयोग के अनेकानेक द्वार भी खोलता है। प्रेमी लोग एक दूसरे की इतनी अधिक सेवा, सहायता करते हैं, जितना कि कोई स्वयं आप की सहायता कर सकता है। इससे दोनों ही पक्ष लाभान्वित होते हैं। एक-दूसरे की कमी को पूरा करते हैं और अपूर्णता को पूर्णता में, दुर्बलता को समर्थता में, अतृप्ति को तृप्ति में बदलने की शिक्षा में एक-दूसरे के लिए वरदान सिद्ध होते हैं। पर यह सब सम्भव तभी होता है, जब प्रेम भावना में सघन आत्मीयता का गहरा पुट लगा हो।

यदि कोई प्रेम बाजारू हुआ—कुछ लेने के लिए आरम्भ किया गया होगा तो बात बनेगी नहीं, प्रीति निभेगी नहीं, जहाँ स्वार्थ साधने में थोड़ी भी अड़चन दिखाई पड़ी अथवा उससे

अच्छे कोई नये सम्बन्ध हाथ लगे तो वह नशा उतरते भी देर न लगेगी। उदासी उपेक्षा की ओर बढ़ते हुए कदम अवज्ञा और शत्रुता तक जा पहुँचेंगे। असफल प्रेम की गति सुखान्त और निराशाजनक भी होती देखी गई है।

पेट भरने मात्र से मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती। उसमें जो सजग चेतना तत्व है, वह भावनात्मक परिपोषण चाहता है। वासना, तृष्णा और अहंता की तृप्ति करने की उमंग और उसके लिए अभीष्ट साधनों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य का अधिकाधिक चिन्तन और कर्तृत्व नियोजित रहता है। पेट भरने और तन ढकने की आवश्यकता तो कम प्रयास से सामान्य शरीर श्रम से पूरी हो जाती है। उसके लिए कदाचित ही किसी को अभावग्रस्त रहना पड़ता हो। व्यग्रता एवं उद्विग्नता तो मानसिक क्षुधा को पूरा करने के लिए साधन जुटाने की ही रहती है। यह मानसिक भूखें या माँगें मध्यमवृत्ति के लोगों को विलास-वैभव के लिए लालायित करती हैं किन्तु जब अन्तःकरण का स्तर ऊँचा उठता है तो प्रेम का अमृत पीने और पिलाने की एकमात्र साधना शेष रह जाती है। प्रेम वृत्ति का विस्तार—प्रेमी की खोज—प्रेम का रसास्वादन इतनी ही परिधि में समस्त आकांक्षा, अभिलाषा केन्द्रीभूत होकर रह जाती है।

काया असल है और छाया उसकी नकल। प्रेम असल है और मोह उसकी नकल। मोह में अहंता की पूर्ति प्रधान रहती है और प्रिय पात्र को अपना वशवर्ती बनाने, आज्ञापालन के लिए प्रस्तुत रहने की इच्छा रहती है। उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय और वह पूरी तरह अपना इच्छानुवर्ती होकर रहे, यही मोह की परिभाषा है। स्त्री, पुत्रों अथवा मित्र सम्बन्धियों से जब तक यह अपेक्षा पूरी होती है, तब तक वे प्रिय लगते हैं, पर जब वे ननुच करते हैं तो शत्रु प्रतीत होते हैं। अपनी माँग सही थी या प्रेमी का व्यवहार सही था यह सोचने का अवकाश नहीं रहा। किन्तु उच्चकोटि के प्रेम में सिर्फ देने का ही भाव रहता है। 'लेना कुछ नहीं देना सब कुछ' जहाँ यह भावना अथवा रीति-नीति काम कर रही हो तो समझना चाहिए कि यहाँ असली प्रेमी का अस्तित्व है। लेने से इन्कार और देने का आग्रह जहाँ होगा वहाँ राम, भरत, जैसे स्नेह, सौजन्य का अमृत बरसेगा और आत्मीयता अधिकाधिक सघन होती चली जायेगी। वहाँ साथी की शिकायत करने की कभी भी आवश्यकता ही न पड़ेगी। शिकायत तो वहाँ की जाती है, जहाँ कुछ लेने की, पाने की अपेक्षा रखी गई हो। जब केवल देना ही देना था, पाने की बात सोची ही नहीं गई थी तो उलाहना किस बात का—असन्तोष किस कारण ? जहाँ देना कम लेना अधिक का मोल-तोल चलता है, प्रेम में असन्तोष और विद्वेष वहीं पनपता है। प्रेमियों के बीच लड़-झगड़ का केन्द्रबिन्दु यही विष बीज रहता है।

निःस्वार्थ प्रेम पूर्णतया एक पक्षीय रह सकता है, निभ सकता है, सामने वाला पक्ष यदि अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त न करे तो भी प्रेमी अन्तःकरण की कोई क्षति नहीं होती, उससे उसे खिन्न, असन्तुष्ट भी नहीं होना पड़ता। पाषाण प्रतिमा बनाकर मूर्ति पूजा करने का आधार एक पक्षीय प्रेम का निर्वाह ही होता है। देवमूर्ति हमारी भावना के अनुरूप प्रत्युत्तर नहीं देती, वह मूक, मौन, स्तब्ध, निष्ठुर, निस्पृह बनी बैठी रहती है। इससे कोई उपासक खिन्न नहीं होता वरन् पूजा-अर्चा निर्बाध रीति से चलाता रहता है। यही नीति प्रेम का प्रयोग करते समय हर क्षेत्र में अपनानी पड़ती है। माता अपने नवजात शिशु पर सारा प्यार उँड़ेलती है, जबकि अबोध बालक की मनःस्थिति तो दूर शारीरिक क्षमता भी अविकसित अस्त-व्यस्त रहती है। वह बेचारा न तो माता के प्यार को समझ सकता है और न उसका प्रत्युत्तर प्रतिदान दे सकता है। इतने पर भी माता को यह शिकायत नहीं होती कि बच्चे ने प्रेम का मूल्यांकन नहीं किया और बदला नहीं चुकाया। ठीक यही नीति प्रेमी हृदय को सर्वत्र बरतनी पड़ती है। वह प्रेम इसलिए करता है कि उसकी प्रतिध्वनि उसकी अन्तरात्मा को दिव्य अमृत से ओत-प्रोत कर दे। इस लाभ की तुलना में प्रिय पात्र द्वारा दिया जा सकने वाला अनुदान तो राई-रत्ती जितना ही सिद्ध हो सकता है। प्रिय पात्र के समुचित प्रत्युत्तर न देने पर यदि प्रेमी को निराश होना पड़ा, खिन्न बनना पड़ता तो, समझा जाना चाहिए कि वह प्रतिदिन की अपेक्षा पर टिका हुआ घटिया दर्जे का

लोक-व्यवहार मात्र था। ऐसे ही ओछे प्रेम को व्यामोह अथवा मोह कहा जाता है और उसका परिणाम अन्ततः निराशाजनक ही सामने आता है।

प्रेम की महानता आध्यात्मिक उपलब्ध कर सकने से ही आत्मा को सन्तोष, उल्लास एवं आनन्द की तृप्तिदायक अनूभूति होती है। इसी को सबसे बड़ा लाभ कह सकते हैं। चेतना का सर्वोत्तम रस यही है। प्रेमानुभूति से बढ़कर मनुष्य जीवन का कोई उपार्जन, और कोई रसास्वादन, और कोई वरदान हो ही नहीं सकता। तत्वदर्शी मनीषियों ने प्रेम को ही परमेश्वर का है। वस्तुतः परमेश्वर इन्द्रियों से देखा जाना नहीं जा सकता उसकी अनुभूति अन्तरात्मा में ही होती है इसे जानना हो तो प्रेम का प्रयोग करके देखना चाहिए। इस आलोक की तनिक-सी किरणें अन्तरात्मा को देवत्व की आभा से जगमगा देती हैं। जहाँ प्रेम का अस्तित्व होगा वहाँ संयम सदाचार से लेकर उदार अनुदान तक की समस्त सद्‌भावनाएँ तथा सत्प्रवृतियाँ सहज ही समवेत होकर रहती हैं।

ईश्वर भक्ति एक व्यायाम प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अन्तःकरण को प्रेमी प्रकृति का बनाया जाता है। सूर्य का प्रकाश किसी छोटे दायरे में कैद होकर नहीं रह सकता वह सहज ही अनन्त अन्तरिक्ष में सुविस्तृत होता चला जाता है। प्रेम अन्तःकरण से आत्मीयता के विस्तार का आलोक भी इसी प्रकार अधिकाधिक व्यापक क्षेत्र में फैलता चला जाता है। उसका अपनापन शरीर और परिवार की सीमा से, वासना, तृष्णा और मलीनता की तुच्छता से बाहर निकलता है और संकीर्ण स्वार्थपरता के, लोभ, मोह के भव-बन्धनों को तोड़-फोड़कर आदर्शवादिता के उन्मुक्त आकाश में विचरण करता है। ईश्वर प्रेम, की झाँकी विश्व प्रेम के रूप में मूर्तिमान होती है, भीतर की आस्था को बाहर भी प्रकट होना ही चाहिए ईश्वर भक्ति का प्रमाण लोक-मंगल की सेवा-साधना में परिलक्षित होना चाहिए।

ईश्वर विश्व-व्यापी सचेतन सत्ता का नाम है। उसके सत प्रधान अंश की हम उपासना करते हैं। जिसका प्रयोजन है ईश्वरीय दिव्य तत्व को अपनी चेतना में पूरी तरह भर लेना। प्रेम की भक्ति की, प्रक्रिया इस प्रयोजन को भली प्रकार पूरा करती है। ईश्वर प्रेम में सरावोर होकर हम उस चेतना को अधिक मात्रा में अपनी ओर आकर्षित करते हैं। तादात्म्य होने का परिणाम तद्रूप होना ही होता है। जो जिसे जितना चाहेगा, वह उसी जैसा बनता चला जायेगा। सत्संग के सत्परिणामों की, कुसंग के दुष्परिणामों की यही मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। हम प्रेम तत्व को ईश्वर जैसे उच्च आदर्श के साथ समन्वित करके रखें तो निश्चित रूप से उसी ढाँचे में ढलते चले जायेंगे और एक दिन ईश्वर तुल्य होकर रहेंगे।

कहना न होगा कि प्रेम तत्व मानव जीवन की महानतम विभूति है, उसे अपने भीतर उगाने में, बढ़ाने में जो जितना अधिक सफल हो जाता है, वह उतना ही धन्य बनता है। इस प्रेम की पकडं में पकड़ा हुआ समस्त संसार अपना बनता है—समस्त दिव्य तत्व करतलगत होते हैं यहाँ तक कि ईश्वर भी अपना बन जाता है अथवा हम ईश्वर तुल्य हो जाते हैं। प्रेम की गरिमा को जितने गहराई में समझने का प्रयत्न किया जाय वह उतनी ही महान् होती दिखाई पड़ेगी।

आध्यात्मिक उन्नति की अवस्था तथा ईश्वर प्राप्ति की अन्तिम अवस्था भक्ति प्रेम है। भक्ति का स्वरूप भी निःस्वार्थ प्रेम ही कहा गया है। इस विषय में कोई विवादं नहीं है। कि यह परमात्मा प्राप्ति के अन्य सभी साधनों में दिव्य एवु सुखद है और उसका प्रत्येक साधन में समावेश होना चाहिये। वस्तु कितनी ही सुन्दर क्यों न हो यदि उसके प्रति आकर्षण का भाव न हो तो, न उसकी प्रप्ति का प्रयत्न ही हो सकता है और उस प्रयत्न में चिरस्थायी ही रहा जा सकता है। प्रेम का विकसित रूप ही आध्यात्मिक गुणों, श्रद्धा, भक्ति, आदि के रूप में प्रकट होता है पर ईश्वर उपासना में उसे किसी न किसी रूप में प्रकट होना आवश्यक है। इसके बिना उपासना अधूरी है, सच्ची भक्ति तो प्रेम और परमात्मा का प्रकट स्वरूप है।

प्रेम ईश्वर प्राप्ति की साधना की कसौटी है, जिसमें तपकर जीव विशुद्ध बनता है और ब्रह्म में मिलने की स्थिति को प्राप्त करता है जीव और परमात्मा के बीच जो तादात्म्य है वह

अपने शुद्ध रूप के द्वारा ही प्रकट होता है। प्रेम न होता तो पृथ्वी पर लोगों को आध्यात्मिक तत्वों की अनुभूति भी न होती। यह स्थिति प्रारम्भ में आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए विकलता विरह के रूप में प्रकट होती है, पर जिसने स्वाभाविक रूप में वह स्थिति प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य मान लिया हो तो उन्हें भी प्रेम का अभ्यास करना पड़ता है। तप, त्याग और सुख की इच्छाओं का दमन कर अन्तःकरण में प्रेम वृत्ति को जागृत करना पड़ता है।

प्रेम जो मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे उसकी सत्ता के मूल स्रोत में पहुँचा देता है। जो वस्तु मनुष्य समाज को धारण किये रखती है, उसके विकास और नैतिक उत्कर्ष में सहायता देती है वह प्रेम ही है यदि मनुष्य, मनुष्य के बीच प्रेम का आदान-प्रदान न रहा होता और मानव जाति का प्रगति के मूल में प्रेम का प्रेरक भाव न होता, तो नैतिक क्षेत्र में उसने कोई भी उन्नति न की होती।

मनुष्य विकास क्रम में सृष्टि के अन्य जीवों की अपेक्षा बहुत पीछे है। संसार के अन्य प्राणियों में जो नैतिक मर्यादायें देखी जाती हैं, वे ईश्वर प्रदत्त होती हैं। यदि उनके जीवन में प्रेम परिचालक न रहा होता तो उनकी सारी नैतिक मर्यादायें भंग हो गई होती। स्वार्थ या छल कपट की अधिकता वाले प्रदेशों में आज भी इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

प्रेम विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली सत्ता है, उसी के आधार पर मनुष्य समाज जीवित है यह न होता तो मनुष्य बड़ा दरिद्र एवम् अविकसित रहा होता। उसे केवल अपना ही ध्यान रहा होता, अपने स्वार्थों की फिक्र रही होती, अपने ही सुख सुहाये होते तब न तो उसे समाज-सेवा के लिए प्रोत्साहन मिला होता न व्यक्तित्व जीवन में पराक्रम करने की प्रेरणा मिली होती। प्रेम की शक्ति का साम्राज्य आज सुव्यवस्थिति और सुनियोजित विश्व के रूप में देखने को मिल रहा है।

प्रेम के बगैर मनुष्य मुर्दा है। जब मनुष्यों में प्रेम का अभाव होगा तो कोई आकर्षण भी किसी चीज के लिए न होगा और जब आकर्षण न होगा तो क्रिया न होगी, तो यह सारा संसार नीरस, उदासीन और जड़वत हो जायेगा। इसलिए प्रेम ही जीवन है।

ईश्वर-उपासना में इस उदात्त भावना का दर्शन संसार के सभी धर्मों में पाया जाता है। भगवान को प्रेममय समझकर प्रेममार्ग द्वारा उनकी साधना सभी देशों के भक्तों एवं साधकों में देखी जाती है। उपनिषद् में भगवान् की "मधुब्रह्म कहा है, यह उसका विशुद्ध प्रेममय स्वरूप ही है। परमात्मा प्रेम द्वारा ही मधुर होता है, "मधुक्षरन्तिद्ब्रह्म" जिससे मधु अर्थात् प्रेम संकीर्ण होता है वही ब्रह्म है, अपने इसी रूप में वे भक्ति के लिए आराधक के लिए पुत्र, धन, आत्मीय स्वजन, इससे बढ़कर प्रियतम हो जाते हैं।

महापुरुष ईसा का कथन है—"प्रेम ही परमेश्वर है।' सन्त इसर्मन की वाणी है—"परमात्मा का सारतत्व प्रेम है।" सभी ईसाई सन्तों ने भगवान की साधना, आनन्द, मधुमय एवं प्रेममय रूप में ही की है।

सेंट टेरसा नामक पाश्चात्य साधिका ने लिखा है—"परमात्मा के प्रति प्रेम होता है, तभी सच्ची उपासना बन पड़ती है। आत्मा के उत्थान की यह प्रारम्भिक अवस्था है। अन्त में जीव और ब्रह्म का प्रणय-संस्कार होता है तो दोनों एक-दूसरे में आत्मसात् हो जाते हैं न जीव रहता है और न परमात्मा केवल प्रेम ही शेष रह जाता है, जो ब्रह्म के समान सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् दिखाई देता है।

मुसलमानों में सूफी सन्तों की प्रेममयी भक्तिधारा बहुत प्रसिद्ध हुई है। इन सन्तों ने परमात्मा की उपासना प्रियतमा (माशूक) के रूप में की है और जीवात्मा को प्रेमी, आशिक के रूप में माना है। इस प्रेम भक्ति का सुन्दर प्रवाह जायसीकृत 'पद्मावत' में भलीभाँति देखने को मिलता है। जलालउद्दीन भक्त बड़े प्रेम सन्त हुए हैं। उन्होंने लिखा है, तुम्हारे हृदय में परमात्मा के लिए प्रेम होगा तो उसे भी तुम्हारी चिन्ता अवश्य होगी।

जिस प्रेम शक्ति का सन्तों, अध्यात्मय-तत्ववेत्ताओं ने इतना समर्थन किया है वह मनुष्य जीवन में अवतरित होकर किस प्रकार उसे ब्रह्म की ओर विकसित करती है, यह जानने योग्य है। लोगों के अन्तस् में अनेक बुरी वृत्तियाँ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, कुसंगति, चोरी, व्यसन आदि। इन्हें जीतने और दूर करने का प्रयास जीवनभर करते रहते हैं तो भी वे दूर नहीं हो पाती। मन स्वभावतः कुमार्गगमी होता है और वह किसी भी नियम-बन्धन को मानने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसी अवस्था में लोग यह मानकर निराश हो जाते हैं कि इन बुराईयों से बचने का कोई उपाय नहीं है। पर यदि मनुष्य के अन्तःकरण में प्रेम जागृत हो सका तो उसे उन्हें जीतने में कोई कठिनाई नहीं होती। प्रेम के लिए कुछ उत्सर्ग करने में या अभावग्रस्त जीवन जीने में तो आनन्द है। मनुष्य का मन प्रेम का गुलाम है। प्रेम की शक्ति के सहारे उसे जिस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया जाये वह उसी पर चलने के लिए तैयार हो जाता है, प्रेम ही मानव जीवन के उत्थान का यह आध्यात्मिक रहस्य है,

असीम सुख की प्राप्ति के लिए प्रेमी अपने आपको घुलाता है और इसमें उसे एक अनिवर्चनीय तृप्ति मिलती है। प्रेम का वास्तविक स्वरूप अपने आपको प्रेमी के प्रति आत्मोत्सर्ग करना ही होता है। इसका उदात्त रूप बच्चे के प्रति माता के वात्सल्य में दीख पड़ता है। प्रेमवश माता बच्चे के ध्यान में अपने आप को बिल्कुल विस्मृत कर देती है। उसे अपनी सुख-सुविधा, विश्राम, निद्रा और भूख प्यास की कोई सुध नहीं रहती।

ईश उपासना में ऐसा प्रेम जागृत करने के लिये, इष्टदेव से मिलने के लिये तीव्र और अदम्य इच्छा जागृत करनी चाहिए। साधारण मनुष्य के प्रेम में जब लोग इतने विभोर हो जाते हैं तो ईश्वर के प्रेम में ऐसा क्यों न होना चाहिये। पर इसके लिए हमें भी त्याग और बलिदान के लिये उसी भावना से तैयार रहना चाहिए, जिस प्रकार अपने प्रेमास्वाद का सुख देखने को तरसते हैं और उसके सामने अपनी विद्या-बुद्धि, धन-सम्पत्ति, पद, यश सबको तुच्छ मान लेते हैं।

हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि परमात्मा के शुद्ध प्रेम के लिये अपने आपको, अपनी आत्मा को, अपने बच्चों, अपनी धर्मपत्नी, घर, गाँव, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव भाईयों के प्रति विकसित करना चाहिये। यथाशक्ति उसकी सेवा और त्याग भावना द्वारा निष्काम प्रेम, वासना और कामनारहित प्रेम बढ़ाना चाहिए। इस विकास के मार्ग पर जितना अपना-अहंभाव नष्ट होता जायेगा, हम उतना ही परमात्मा की सत्ता में समाते चले जायेंगे, इसी प्रेम आयाम में परमपिता परमात्मा का द्वारा प्रेमी भक्तों के लिये सदैव ही खुला रहता है।

जो चैतन्य सत्ता इस स्थूल संसार का धारण-पोषण कर रही है, जो आत्म-रूप में सब में व्याप्त है, वही प्रेम ही है। व्यष्टि और समष्टि में आत्मा का वह प्रेम-प्रकाश ही ईश्वर की मंगलमयी रचना का सन्देश दे रहा है जब मनुष्य के उस प्रेम प्रकाश का अवलम्बन लेता है तभी वह संसार को आनन्द और सुखों का घर मानने लगता है और तभी उसे सच्चा सुख मिलता है। प्रेम ही आत्मा का प्रकाश है, जो इस प्रकाश में जीवन-पथ पर अग्रसर होता है, उसे संसार शूल नहीं फूल नजर आता है, दुःखों का घर नहीं वरन् स्वर्ग मालूम होता है।

प्रेम ही एक ऐसा प्रकाश है, जिसका अवलम्बन लेकर मनुष्य इस संघर्षमय संसार में जीवन यात्रा को सफल कर सकता है। प्रेम ही जीवन की सर्वोच्च प्रेरणा है। अन्य प्रेरणायें अन्धकार की जनक हैं। प्रेम-प्रेरित कर्मों से संसार की रचना होती है अन्य तो उसके विनाश और बुराई बढ़ाने का कारण बनते है। जीवन को समृद्ध, बनाने, परम ध्येय की मंजिल तक ले जाने का ही एक रास्ता, एक ही नियम है वह है प्रेम। आत्मा का प्रकाश प्रेम है, वही प्रभु का विधान मंगलमयी सृष्टि के लिये है, जो इसे जीवन में प्रधानता देता है उसके लिए संसार ही स्वर्ग है, प्रभु का मन्दिर है, जीवन-क्रीड़ा सुन्दर उद्यान है।

प्रेम का लक्ष्य प्रेम स्वरूप की प्राप्ति के लिये है, किन्तु हम तो जो कुछ कर रहे हैं,

सब अपने लिये अहम् की तुष्टि के लिये, स्वार्थ के लिये जिस काम में हमारा स्वार्थ सधता हो वही काम तो हमे अच्छा लगता है। अपनी भूख, शान्ति रक्षा, साज-समान को इकट्ठा करने के लिये ही तो हमारी सारी कार्य प्रणाली चल रही है। किन्तु यह सब तो सौदेबाजी, लेन-देन का कार्य है, जिसका उद्देश्य कुछ पुरस्कार प्राप्ति ही है। यह तो दुनियाँ का साधारण नियम है। प्रेम का नियम इससे बिलकुल भिन्न है। प्रेम सौदा नहीं है प्रेम कुछ पाने की इच्छा से नहीं किया जाता बल्कि देने की भावना से किया जाता है। प्रेम पुरस्कार नहीं लेता, बदला नहीं चाहता प्रेम दान का नियम है, जो निरन्तर देता रहता है, यदि लेता है तो केवल प्रेम ही। प्रेम की पूर्ति प्रेम से होती है। स्वतः कृतार्थ होने के लिये प्रेम किया जाता है। प्रेम, प्रेम के लिये कीजिये, किसी स्वार्थ, लेने की भावना से नहीं। कुछ भी आपके पास है उन्मुक्त भाव से लुटाते रहिये प्रेम के लिये।

प्रेम किन्हीं सीमा, मर्यादा, समय, रूप-रंग, जाति, वर्ण आदि के नियमों में बँधा नहीं रहता। वह हर समय एकरस, अचल, सबके लिये होता है। यह प्रेम साधना का दूसरा नियम है। हम किसी से सुबह प्रेम करें और शाम को न करें यह धोखा है। मन्दिर में आँसू बहाने वाला प्रेम यदि दुःखी क्लान्त भाइयों को देखकर द्रवित न हो तो वह प्रेम नहीं ढोंग है। दूसरों का खून करने वाला व्यक्ति यदि अपने घर के सदस्यों से प्रेम करे तो वह प्रेम नहीं स्वार्थ है, भोग है। दूसरों के बच्चों से कटु व्यवहार करने वाले माँ-बाप अपने बच्चों से प्रेम नहीं कर सकते। दूसरों के साथ धोखेबाजी चालाकी, कूटनीति छल-कपट बरतने वाले व्यक्ति किन्हीं से प्रेम करे यह कठिन है। सच्चा प्रेम वह है जो घर-बाहर, मन्दिर, मस्जिद, समस्त जाति-वर्ण में एक रस, एक समान व्याप्त होकर हमारी नस-नस में समा जाय और जीवन का अंग बन जाय। वही प्रेम कहलाने का अधिकारी है। यदि इस कसौटी पर उतरने वाले वाले प्रेम पूजकों की संख्या बढ़ जावे तो यह धरती ही स्वर्ग बन जावे।

प्रेम आत्मा का सहज प्रकाश है, जो प्रत्येक जीवन में स्थित है उसे प्राप्त करने के लिए धन, दौलत, कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। प्रेम का अथाह समुद्र हमारे चारों ओर, बाहर-भीतर उमड़ रहा है, केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी हृदय नगरी में जो मल, विक्षेप अहंकार, स्वार्थ पद-प्रतिष्ठा आदि भरे पड़े हैं, उन्हें निकालकर इस प्रेम समुद्र को मधुर अमृत भर लें। यह एक सहज और स्वाभाविक क्रिया है। किन्तु खेद है मनुष्य की अमीरी, उसकी पद-प्रतिष्ठा, अहंकार इस सहज को सफल नहीं होने देते। यदि हमें प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करना है तो इन बनावटी चालों का त्याग करना होगा। पीड़ित मानवता में दीन-दुःखी भाइयों में, अन्य जीव पशु-पक्षियों के बीच हृदय खोलकर आना होगा उन्हीं की पंक्ति में खड़ा होना होगा। यहाँ कोई निर्बल-सबल, गरीब-अमीर, ऊँच-नीच नहीं है। प्रभु के सब समान पुत्र हैं। हमें हृदय खोलकर सारे भौतिक आवरणों को दूर उतारकर प्राणिमात्र से प्रेम करना है। सबके साथ सहानुभूति सहयोग करके अपना कर्त्तव्य निभाना है। प्रेम सारे भौतिक आकर्षणों से ऊपर रहता है, इनका त्याग किये बिना सच्ची प्रेम साधना सम्भव नहीं हो सकती।

महात्मागाँधी एक कोढ़ी की स्वयं पट्टी आदि करते थे। अपने हाथों से घाव धोते थे जबकि अन्य लोग दूर भागने का प्रयत्न करते थे। ईसामसीह, चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण आदि महापुरुषों के जीवन आज भी उनकी प्रेम-साधना के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके हृदयों से प्रेम की भागीरथी निरन्तर बहती रही, जिसमें प्राणिमात्र ने अपने आपको कृतार्थ किये। वहाँ कोई भेदभाव नहीं था। इस तरह जिसके हृदय में प्रेम का अखण्ड दीप जलकर रहे, वस्तुतः वही सच्चा प्रेम है। महर्षि रमण मनुष्यों से ही नहीं प्राणिमात्र से प्रेम करते थे। साँप, बिच्छू, बन्दर, सिंह आदि उनके पास परिवार के सदस्यों की तरह आया करते थे और महर्षि, उन्हें बड़े प्यार से खिलाया करते थे। प्रेम सर्वत्र व्याप्त हैं, किन्तु मनुष्य ने भेद-भाव, स्वार्थ, अहंकार, राग-द्वेष का जो रंगीन चश्मा चढ़ा रखा है, इसी के कारण उसके दर्शन नहीं हो पाते और इसीलिए वह रात-दिन दुःखी व्याकुल नजर आता है।

प्रेम के लिए अपने आपको उत्सर्ग करने वाला जीवन ही वस्तुतः जीवन कहलाने का अधिकारी है। जीवन में सभी कुछ बदलता रहता है। अवस्था, विचार, परिस्थितियाँ, मनुष्यों का विश्वास यहाँ तक कि यह देह भी बदलती है। इस परिवर्तन प्रधान संसार में यदि अजर-अमर रहता है तो वह है प्रेम।

प्रेम का मूल्य बलिदान से चुकाया जाता है। महात्मागाँधी ने देश से मानवता से प्रेम किया था और अन्त में इसी के लिये अपने आपको बलिदान किया। देश-प्रेम के मतवाले राणाप्रताप अराबली की पथरीली घाटियों में भूखे-प्यासे फिरते रहे। धर्म से प्रेम करने वाले तेग बहादुर' गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों ने मुगलों के हाथों सहर्ष अपना बलिदान स्वीकार किया था। आजादी और देश प्रेम के अनेकों मतवालों ने शूली, फाँसी, गोली, तोपों को सहर्ष स्वीकार किया था। ऐसे प्रेम-पथिकों की भारत में साथ ही विदेशों में भी कमी नहीं रही, जिन्होंने अपने विश्वास, ध्येय, उद्देश्य, लक्ष्य आदि के लिये प्रेम किया, अपने को जीवित ही तिल-तिल मिटाया और इसी के लिये सहर्ष बलिवेदी पर चढ़े।

अपने आराध्य के प्रेम में मतवाली मीरा गाती थी—

ऐ री मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय।

सूली ऊपर सूज पिया की किस विधि मिलना होय।।

प्रेम के मार्ग में वेशक काँटे बिछे हुए हैं, किन्तु जब प्रेमी उन काँटों को अपने प्रेम स्वरूप के लिये फूल मानकर आगे बढ़ता है, उन्हें प्रेमी के लिये दिल से लगाता है तभी मीरा का जहर अमृत बन जाता है, गाँधी जी को लगी गोली उनके अमर-जीवन का कारण बन गई। भटकते हुए प्रताप मेवाड़ के मुकुट बन गये। कृष्ण-प्रेम के मतवाले अन्धे सूरदास, राम प्रेम के मतवाले तुलसीदास आज घर-घर मानव-हृदय में मूर्त रूप में विराजमान हैं। जब प्रेम काँटों पर चलकर भी मतवाला दृढ़ स्थिर बना रहता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप निखरता है। जो इन विपन्नताओं में परीक्षा काल में भी प्रेम-पथ पर अन्तिम सिद्धि तक पहुँच जाता है। अफसलताओं में जो स्थिर रहे वही जीवित है।

सत्य की उक्त कसौटियों पर अपनी प्रेम साधना के पथ पर आगे बढ़िये, तुच्छ स्वार्थी आकर्षणों, लेन-देन के लिये प्रेम शब्द का दुरुपयोग और उसको कलंकित मत कीजिये। उन्मुक्त भाव से प्रेम कीजिये समस्त मानवजाति से प्राणिमात्र से, समस्त वसुधा से। प्रेम में गरीब-अमीर, ऊँचा-नीचा, मेरा-तेरा, भाषावाद, प्रान्तीयता, जाति-पाँति आदि का कोई स्थान नहीं है। इन संकीर्ण बन्धनों को तोड़कर जब आप प्रेम-पथ पर अग्रसर होगें तभी उस विश्व प्रेमस्वरूप का पुण्य साक्षात्कार सम्भव हो सकेगा। ज्योतिर्मयी आत्मा के पुण्य प्रकाश का अवलम्बन कीजिये और जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर कीजिये।

'यह संसार नश्वर है, हे महात्मन् ! मुझे तो इसमें कुछ भी सार नहीं दिखाई देता है। अब तो बस ईश्वर को पाने की इच्छा है। आप मुझे दीक्षा देकर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग दिखाये।' यह कहते हुए एक नवयुवक ने आचार्य रामानुज को प्रणाम किया और उनके समीप ही एक ओर बैठ गया।

आचार्य रामानुज ने सीधा-सा प्रश्न किया, तुमने किसी को प्रेम किया है ? युवक ने उत्तर दिया, मेरा तो किसी से भी प्रेम नहीं है मेरा तो संसार से कोई राग ही नहीं है। किससे प्रेम करूँ मैं तो भगवान को पाना चाहता हूँ।

लेकिन तात ! आचार्य रामानुज बड़ी मीठी वाणी में बोले—भगवान को पाने की तो एक ही कसौटी है—प्रेम। जिसके हृदय में प्रेम नहीं, वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रेम यदि सांसारिक है, तो भी उसे शुद्ध किया जा सकता है। पर जिसने प्रेम की कसक अनुभव नहीं की, वह भला परमात्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ? सो मैं विवश हूँ तुम्हें दीक्षा कैसे दे सकता हूँ ?'

आचार्य रामानुज जैसे महान् अध्यात्मवादी के मुख से प्रेम को परमेश्वर के समकक्ष ले जाना कोई आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः संसार में यदि कुछ अपार्थिव हैं, तो वह प्रेम ही है। यदि प्रेम काम में परिणत नहीं किया जाता, तो मनुष्य धरती पर रहते हुए भी अलौकिक सुख और

ईश्वरत्व की अनुभूति कर सकता है, क्योंकि शुद्ध प्रेम ही तो परमेश्वर है।

"मैं तो प्रेम दीवानी" कहकर मीरा नाचती थी। वहाँ कोई शरीरधारी तो होता नहीं था, पर उस प्रेम की प्राणसत्ता में ही उसे परमेश्वर की झाँकी मिलती थी। मीरा की सखियाँ पूछती—मीरा ! तू बावरी हुई है। अपना सब कुछ छोड़कर भटक रही है। ऐसा निष्ठुर है तेरा भगवान कि वह तो कभी तेरे पास भी नहीं आता। सखी के इतना कहने पर मीरा नाराज होकर कहती—'सेखी री मेरै संग-संग नाचै गोपाल।' सखियाँ नही जानती थी, पर मीरा जानती थी कि उस दिव्य प्रेम की डोर से ही वह उस अविनाशी सत्ता को बाँधे हुए हैं। भगवान उसके प्रेम में ही ओत-प्रोत उसके आस-पास चक्कर काटता था। मीरा जैसे ही नाचती थी, वह वैसे ही नाचता था।

संसार से प्रेम ही सच्चे अध्यात्म है। प्रेम की अविनाशी और प्रेम ही परमार्थ है। धन की आवश्यकता सांसारिक होती है, तो भी स्त्री, पुरुष, मित्र भी स्वार्थ, सहयोग और सेवा-प्राप्त की अनेक कामनाओं से प्रेरित होकर बनाये जाते हैं। पर प्रेम में तो इन सब प्रतिबन्धों की अवहेलना है। संसार एक ही तत्व है प्रेम, पुष्टि और विकास के लिये मनुष्य देना सीखता है और कितना भी दे डालकर देते रहने की कामना करता रहता है ? अपने लिये न चाहकर किसी और के लिये निरन्तर देते रहने में कितना सुख है ? यह तो वही जानता है। जो एक प्रेम की परितृप्ति के लिये स्वयं भिखारी और अनाथ तक होने के लिये तैयार रहता है। भगवान को भी ऐसे ही पाया जाता है। सच्ची बात तो यह है कि परमात्मा को प्राप्त करने की आकांक्षा प्रेम सरोवर में सरोवार हो जाने की आकांक्षा का पर्याय भर है।

प्रेम प्रकृति को जीतने का वैज्ञानिक विधान है। महात्मागाँधी कहा करते थे—जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों का विभिन्न प्रकार से उपयोग करके अनेक चमत्कार कर देता है, उसी प्रकार व्यक्ति प्रेम के सिद्धान्त की भी वैज्ञानिक विधि से प्रयोग की प्रणाली जान ले, तो वह वैज्ञानिक से भी अधिक चमत्कार पैदा कर सकता है। मेरी अपनी अहिंसा की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों से कहीं बढ़-चढ़कर सूक्ष्म और कोमल है। वह प्रेम की भावना ही कहा तो विकास है। मैं इस सिद्धान्त की गहराई में जितना अधिक प्रवेश करता चला जाता हूँ, मुझे लगता है कि मेरे अन्दर उतनी शक्ति बढ़ती चली जाती है। मैं जीवन और सारे संसार की योजनाओं में उतना ही आह्लाद अनुभव करता हूँ प्रेम के सिद्धान्त ने मुझे प्रकृतिक रहस्यों को समझने की जो शक्ति दी है, उससे मुझे अथक और अवर्णनीय शांति मिलती है।"

यह एक नया उदाहरण नहीं है। प्रेम के लिये तो प्रकृति का पत्ता-पत्ता प्यासा है। एक ओर अपूर्णता में अशांति तो दूसरी ओर पूर्णता में शान्ति और स्वर्गीय सुख की अनुभूति—यह बताते हैं कि प्रेम में ही स्वर्ग और ईश्वर विराजते हैं। किसी को ईश्वर-प्राप्ति का उपाय खोजना हो तो, उसे एक बार अन्तःकरण में शुद्ध प्रेम जागृत करके देख लेना चाहिए।

भारतीय धर्म और संस्कृति या वेदान्त जिस अद्वैत धर्म का प्रतिपादन करता है, उसको समझने के लिये प्रेम से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। प्रेम अद्वैत का बोध कराता है। यह एक बलिदान भाव है, उसमें आत्मोत्सर्ग का ही सुख है। किसी से प्रेम है—ऐसा मान लेने भर से तुष्टि तो नहीं हो जाती। उसे देखने से और बार-बार पास आने से सुख तो अपार मिलता है, पर कोई ऐसा सदैव तो नहीं कर सकता। भगवान के प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये भी चन्दन, रोली, पुष्प, अर्घ्य, आचमन का दान देते हैं, तो अपने प्रेमास्पद के लिये भी तो उपहार जुटाने पड़ते हैं। बहुत करके भौतिक वस्तुएँ ही देने जाते हैं, तो उससे इस रस की अनुभूति होने लगती है। देने वाला यह नहीं देखता कि मेरा कुछ गया और पाने वाले को भी यह नहीं हुआ कि वह वस्तु उसे मिल ही जाती। आदान-प्रदान तो अभिव्यक्ति मात्र थे। सच बात तो यह है कि दोनों ही को अपने भीतर के उस रस के पोषण की चिन्ता थी, जो प्रेम के रूप में उदय हुआ। इसी का नाम तो अद्वैत है कि हम सब एक-सा ही अनुभव करें। प्रेमी की सन्तुष्टि भी यही मिलन है, जो वस्तुओं का नहीं,

शरीर का भी नहीं, प्रेम-प्रेम की भावना का एकाकार मात्र होना है।

मनुष्य-जीवन की महानतम् कसौटी है—प्रेम। बुद्धि की सूक्ष्मता और हृदय की विशालता का परिचय प्राप्त करना हो तो, यह देखना पड़ता है कि व्यक्ति के हृदय में प्रेम की अकुलाहट के लिये भी कोई स्थान है। जिस हृदय में प्रेम का प्रकाश जगमगाता है, वह मनुष्य उत्कृष्ट होता है और उसे ही देवत्व की प्राप्ति का सौभाग्य मिलता है। प्रेम मनुष्य-जीवन की सर्वोदय प्रेरणा है, शेष सब आश्रित और स्वार्थ-प्रेरित भाव है। स्वाधीनता और सद्‌गति दिलाने वाली आंतरिक प्रेरणा तो प्रेम ही है। इसी से व्यक्तियों के जीवन समृद्ध होते हैं। आत्म-भावना और परमार्थ का विकास होता है। कला-कौशल का वर्तमान विकसित रूप ओर संसार की रचना प्रेम के वरदान हैं। मानव-जीवन के लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति की पूर्ति भी प्रेम से ही होती है। भक्ति मार्ग का आधार प्रेम ही है।

आत्मविकास के लिए भक्तियोग की साधना

ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर हमारी अन्तःचेतना सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि अनुभव करती है। इस चेतना को ही मन कहते हैं। मन को और अधिक स्पष्ट करें तो उसे विविध अनुभूतियों के आधार पर बनी हुई मानवीचेतना कह सकते हैं जो इतनी समर्थ भी होती है कि जिन कोशों की एकत्रित अनुभूतियों ने उसका निर्माण किया है उन पर नियन्त्रण भी रख सके। मस्तिष्कीय चेतना के विविध पक्षों को प्रभावित, नियन्त्रित और प्रोत्साहित कर सकने में समर्थ होने के कारण मन को अत्यधिक महत्व दिया गया है, उसे ही उत्थान-पतन का कारण माना गया है और उसे ही शत्रु मित्र की संज्ञा दी गई है। परिष्कृत और सुव्यवस्थित होने परवह सचमुच मित्र का काम करता है और व्यक्ति को प्रतिभाशाली, सम्मानास्पद, सन्तोषप्रद बनाने के साथ-साथ भौतिक और आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त करता है, इसके विपरीत यदि वह अस्त-व्यस्त एवं असंस्कृत हो तो फिर वह दूसरों के लिए ही नहीं अपने लिए भी एक संकट सिद्ध होता है। दुष्प्रवृत्तियों से ग्रस्त मन वाला मनुष्य सब की दृष्टि में अविश्वस्त और अप्रमाणिक रहता है। अपने आपके लिए भी वह विक्षोभ और असन्तोष ही उत्पन्न करता है। ऐसे व्यक्ति पग-पग पर असफल और तिरस्कृत होते रहते हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में धकेल देने वाले मन को यदि शुद्ध कहा जाय तो उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है।

मस्तिष्क की भौतिक संरचना से ऊपर उठकर यदि उनकी चेतनात्मक संरचना का विकास का विवेचन किया जाय तो उसे तीन भागों में बाँटना पड़ेगा। (१) भावनात्मक, (२) क्रियात्मक, (३) ज्ञानात्मक। यों हर काम में इनमें से एक का बाहुल्य रहता है पर उसका समुचित समन्वय हर काम में रहना चाहिए अन्यथा वह कार्य भौंड़ा और बेतुका दीखने लगेगा और उस कार्य का वह परिणाम न निकालेगा जो सन्तुलित स्थिति में नहीं निकल सकता था।

भावना का आवेश मनुष्य को विक्षिप्त जैसी स्थिति में पटक देता है। प्रेम श्रद्धा आदि भावनाओं का रंग कई बार ऐसा चढ़ जाता है कि बिना समझे परखे और आगे की बात सोचे अपने प्रेमी या श्रद्धास्पद पर सब कुछ निछावर कर देने का आवेश छाया रहता है। यदि प्रेम या श्रद्धास्पद उपयुक्त हुआ तो ठीक अन्यथा इस आवेश में खतरा ही खतरा है। भोली लड़कियों को कितने ही दुराचारी इसी प्रेम जाल में फँसाकर उनका भविष्य हर प्रकार से अन्धकारमय बना देते हैं। अन्धश्रद्धा के चंगुल में फँसे हुये देवी-देवताओं अथवा सन्त-महन्तों के माध्यम से इतनी क्षति उठाते हैं, जो यदि सही दिशा में विवेकपूर्वक उठाई गई होती तो उससे अपना और दूसरों का बहुत बड़ा हित साधन होता।

अनियन्त्रित भावनायें यदि कुर्मागगामी हो जाये तो पुरी विपत्ति बनकर ही सामने आती है। कामान्ध, क्रोधान्ध, मोहान्ध न जाने क्या न करने लायक कर बैठते हैं और पीछे पछताते हैं। पेशेवर हत्यारों की बात छोड़ दें तो सामान्य हत्यायें और आत्महत्यायें क्रोधान्ध स्थिति में ही

होती हैं। उस समय विवेक पूर्णतया नष्ट हो जाता है और आवेश इस कदर मस्तिष्क पर छा जाता है कि परिणाम का औचित्य का विचार कर सकने की गुञ्जाइश ही नहीं रहती और तनिक से कारण को लेकर आवेशग्रस्त व्यक्ति हत्या या आत्महत्या कर बैठता है। पीछे जब वह बुखार उतरता है तो दूसरों की तरह स्वयं ही अपने आपको धिक्कारते ही बनता है।

भावनाओं का स्तर परिष्कृत हो तो मनुष्य, सज्जन, दयालु, परोपकारी, सहृदय, उदार जैसी सत्प्रवृत्तियों से सुसम्पन्न होकर देवोपम जीवन जी सकता है और महामानवों की पंक्ति में खड़ा होकर ऐसे आदर्श उपस्थिति कर सकता है जिससे असंख्यों को चिरकाल तक प्रेरणा तक मिलती रहे। सद्भावना सम्पन्न अन्तःकरण स्वयं सन्तुष्ट रहता है और उनके समीपवर्ती शान्ति और शीतलता अनुभव करते हैं। भावनाओं का सन्तुलन—उन्हें आवेशों से मुक्त रखकर सत्पथगामी बनाये रहकर, मन का सच्चे अर्थों में सदुपयोग है, जो इसे कर सकें वे मनस्वी कहलाते हैं और उस मनोबल के कारण अपना और दूसरों का भारी हित साधन करते हैं।

मनः चेतना का क्रिया पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। शरीर के द्वारा मस्तिष्क के द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसी के फलस्वरूप भली-बुरी उपलब्धियाँ सामने आती हैं। परिणाम फल-फूल हैं और उन पौधों के बीज हैं कर्म। अक्सर भले-बुरे परिणामों का कारण दूसरे लोगों या कारणों को समझा जाता है। इसमें बहुत थोड़ी सच्चाई है। वास्तविकता यह है कि अपनी खामियों के कारण परिस्थितियों का पासा उलटा पड़ जाता है और जिसका व्यवहार अनुकूल रह सकता था उनका प्रतिकूल हो जाता है। काम को पूरे मन से न करना, उसे खराब करने के बराबर है। लापरवाही से, अन्यमनस्क होकर कुछ किया जाये उससे तो न करना अच्छा। मनोयोग के अभाव में क्रिया त्रुटिपूर्ण रह जाती है और तत्काल एक काम पूरा किया गया दीखने पर भी परोक्ष रूप से उसमें इतनी कमी रह जाती है कि जिसके कारण उसे न करने से भी अधिक अपनों का या दूसरों का हानि उठानी पड़े।

क्रिया पक्ष चाहता है कि उसे साथ पूरा मनोयोगों जुड़ा हो। जो किया जाये पूरी दिलचस्पी के साथ किया जाये। समग्र कुशलता का उसमें समावेश जुड़ा रहे। ऐसे काम ऐसे शानदार होते हैं कि उनसे अपना मन भी प्रसन्न हो और दूसरों की दृष्टि में उस कर्तृत्व के आधार पर अपने व्यक्तित्व का मूल्य बढ़े। व्यवस्था बुद्धि कोई जन्मजात गुण नहीं है। पूरे मनोयोग से अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर यदि हर काम को करने की आदत डाल ली जाय तो निस्सन्देह उसके द्वारा किये हुए काम ऐसे बढ़िया होंगे कि शत्रु भी उन हाथों को चूमना चाहेगा। छोटे कामों में अपनी यह प्रवृत्ति दिखाने वालों को दुनिया सिर आँखों पर उठाती है और फिर वे एक के बाद एक उन्नति की सीढ़ियाँ पार करते हुये प्रतिष्ठा एवं सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच जाते हैं।

अच्छी आदतें डालने में देर लगती है और अध्यवसाय से काम लेना पड़ता है। आत्म-नियन्त्रण रखना पड़ता है। पर बुरी आदतें थोड़ा-सा ही अवसर पाने पर भी स्वभाव का अंग बन जाती हैं और फिर मुश्किल से छूटती हैं। आलसी और प्रमादी स्वभाव के व्यक्ति अपना अधिकांश समय ऐसे ही बर्बाद करते रहते हैं और समर्थ की तुलना में दसवाँ अंश भी काम उनसे नहीं बन पड़ता। हरामखोरी और कमजोरी की आदत आलस और प्रमाद के रूप में परिपक्व होकर जीवन की बर्बादी का कारण बनती हैं। ऐसे व्यक्ति कभी कुछ महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। नशेबाजी, जुआ आदि के व्यसन कईयों के पीछे पड़ जाते हैं। फिजूलखर्ची की कईयों की ऐसी बुरी आदत होती है कि वे उपयुक्त आजीविका होते हुए भी सदा ऋणग्रस्त और तगदस्त रहते हैं। अपने क्रिया-संस्थान पर मन का नियन्त्रण न होने से ही ऐसी अस्त-व्यस्ततायें पनपती हैं। यदि मन चेतना प्रखर हो और मच्छर काटते ही जिस तरह उसे उड़ाने का, काटे हुए स्थान को खुजलाने का प्रबन्ध अचेतन मन करता है, उसी तरह यदि सचेतन मन शरीर की समस्त क्रिया पद्धति पर नियन्त्रण रखे तो सत्य का हर क्षण, बुद्धि का हर कण सत्प्रयोजन के कामों का अभ्यस्त हो सकता है और प्रगति की दिशा में इतना आगे बढ़ा जा सकता है जिसे जादू या चमत्कार कहा जाये।

मुगल साम्राज्य का जब अन्त हुआ तो कुछ दिन पहले केन्द्र का नियन्त्रण ढीला पड़ गया और प्रान्तों के सूबेदार आजाद होकर अपना अलग-अलग राज्य बना बैठे थे। यही स्वेच्छाचार उस सत्ता के पतन का कारण बना। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियाँ मन साम्राज्य की सूबेदार हैं यदि उन पर विवेक का नियन्त्रण न रहे और वे स्वेच्छाचार बरतें तो समझना चाहिये जीवन साम्राज्य का अन्त मुगल साम्राज्य की तरह ही सन्निकट सुनिश्चित है।

मन की तीसरी प्रवृत्ति है—ज्ञान। ज्ञानकारियों के आधार पर ही मनुष्य को सही सोचने और सही निष्कर्ष निकालने की क्षमता प्राप्त होती है। एकाकी, अधूरा अथवा उल्टा ज्ञान होने से चिन्तन को सही दिशा नहीं मिलती और अविकसित मस्तिष्क बाल-क्रीड़ाओं की तरह ऐसा सोचता और ऐसा कुछ करता रहता है, जिसे उपहासास्पद ही कहा जाय।

भावात्मक, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक त्रिविधि प्रवृत्तियों को सन्तुलित, नियन्त्रित और सुव्यवस्थित रखने से ही मन की शक्ति का पूरा लाभ उठाया जा सकता है। अन्यथा वह अन्तर्द्वन्द्व में ही उलझी हुई अपनी अद्भुत क्षमता को नष्ट करता रहता है और इतनी अद्भुत क्षमता से सम्पन्न होने पर भी मनुष्य उसके लाभों से वंचित रह जाता है।

आज ज्ञान और कर्म के विकास पर जोर दिया जा रहा है पर भाव पक्ष को भुला ही दिया गया है। मनष्य जड़ मशीन बनता चला जा रहा है। कम्प्यूटरों की तरह का ज्ञान और मशीनों की तरह का कर्म भौतिक साधन बढ़ा सकता है पर उससे मनुष्य की अन्तःचेतना को पोषण न मिल सकेगा। भाव स्तर यदि सूना, नीरस, शुष्क और निष्ठुर बना रहे तो भाव कोमलता के उस दिव्य आनन्द से सर्वथा वंचित ही रह जाना पड़ेगा। जो आत्मा की भूख है। जड़-जीवन जीकर केवल इन्द्रिय तृप्ति की जा सकती है और अहंन्ता के उन्माद की थोड़ी खुमारी अनुभव की जा सकती है। पर यदि भावना स्तर को सुविकसित करने की परिस्थितियाँ पैदा नहीं की गयीं तो संसार में सुख-सामिग्री कितनी ही बढ़ जाये, आनन्द और उल्लास की एक-एक बूँद के लिए तरसकर आत्मा की उत्कृष्टता मर जयोगी। केवल नर कंकाल ही जीवित रहेगा और उसमें प्रेत-पिशाच का आसुरी अट्हास ही देखने को मिलेगा।

भाव स्तर की सरसता जिस प्रेम, दया, करुणा ममता, स्नेह आत्मीयता, सेवा आदि के रूपों में विकसित देखी जाती है, वही जीवन की श्रेष्ठतम मधुरिमा है। उसकी एक बूँद भी कहीं मिल जाये तो मनुष्य तो क्या छोटे जन्तुओं की आत्मा भी आनन्द-विभोर हो जाती है।

क्वीन्स यूनिवर्सिटी, आन्टोरिया (कनाडा) में प्रेम का प्राणियों पर भौतिक प्रभाव' विषय पर एक नई खोज के परिणाम सामने आये हैं। इस विश्वविद्यालय के फार्माकोलौजी विभाग के प्राध्यापक डाक्टर एल्डन वायड ने बताया कि उनके विभाग की एक महिला कर्मचारी चूहों वाले विभाग को सँभालती है। उसे स्वभावतः चूहों से बहुत प्रेम है। वह उन्हें दुलार भरी दृष्टि से देखती है, उनकी सुख-सुविधाओं का ख्याल रखती है और यथासम्भव अपने व्यवहार में प्रेम प्रदर्शन भी करती है। इसका प्रभाव चूहों पर आश्चर्यजनक हुआ है। महिलाओं ने चूहों के नाम रख छोड़े हैं, वह जिसे पुकारती है वही आगे आता है। जैसे वह पिंजड़ों के पास आती है चूहे दौड़कर उसके पास इकट्ठे हो जाते हैं और एक टक ताकते रहते हैं। जो भी वह दिलाती है खुशी-खुशी खा लेते हैं, यद्यपि उसमें तरह-तरह की औषधि मिली रहने से वह भोजन उनकी रुचि और प्रकृति के प्रतिकूल होता है, कई बार कष्टकर विधि से चूहों के शरीर में औषधियाँ पहुँचाई जाती हैं। अनुभव होने पर तो इसके लिए किसी चूहे को तैयार नहीं होना चाहिये पर वह महिला जिस चूहे को चाहती है खुशी-खुशी इस प्रयोग के लिए सहयोग देने को तैयार कर लेती है।

कई बार चूहे मारने की दवा का भी प्रयोग किया गया है। एक ही किस्म की एक ही मात्रा में दवा दो महिलाओं द्वारा चूहों को खिलाई गई। इस पर प्रेम भावना से युक्त महिला के हाथ से दवा खाने पर २० प्रतिशत चूहे मरे, जबकि उसी दवा को उतनी ही मात्रा

में दूसरी महिला ने खिलाया तो ८० प्रतिशत मर गये।

इस विभाग के अध्यक्ष डा. वायड ने निष्कर्ष निकाला है कि चिकित्सा क्षेत्र में प्रेम भावनाओं का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। चिकित्सकों का व्यवहार रोगी के साथ विश्वास, प्रेम पात्र जैसा होना चाहिए साथ ही उन्हें अपने प्रियजनों के साथ रहने का भी अवसर देना चाहिए ताकि रोगियों को औषधि उपचार के अतिरिक्त प्रेम भावनाओं की औषधि से भी बढ़े चढ़कर गुणकारी सिद्ध होने वाली खुराक मिलती रह सके।

प्रगति और सुख-सुविधा की बात सोचने वाले मनुष्य भाव गरिमा की ओर भी ध्यान देना चाहिए और आत्मा की इस आंकाक्षा को पूरा करने के लिए भी कुछ सोचना चाहिए। ज्ञान के कर्म के साथ भक्ति का भी समन्वय होना चाहिए। उस हेतु भक्ति का सही स्वरूप हृदयंगम करना आवश्यक है।

वृद्धावस्था तथा लकवे की बीमारी के कारण श्री राजनारायण वसु राजगृह में ही रहने लगे। अब उनका बाहर जाना बिल्कुल ही बन्द हो गया उनके परम-प्रिय शिष्य बाबू अश्विनी कुमार को इस बात का पता चला कि गुरुदेव बीमार हैं तो वे तुरन्त उनके दर्शनों के लिए चल पड़े। अश्विनी बाबू कमरे में प्रवेश करते हुए काफी गम्भीर हो गये। दुःख भरे स्वर में उन्होंने गुरुदेव को प्रणाम् किया और आशीर्वाद पाकर समीप ही चारपाई पर बैठ गये।

थोड़ी ही देर में बातचीत का सिलसिला चल पड़ा। राजनारायण वसु ने अपने मार्मिक उपदेश शुरू किये। भगवद्गीता तथा उपनिषदों के श्लोक षड्सवर्थ, शैली, वायरन तथा हाफिज आदि सन्त-पुरुषों की सम्मतियाँ वे इस प्रकार देने लगे, मानों वे पूर्ण स्वस्थ हों, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। यह देखकर अश्विनी कुमार ने पूछा भगवंन् आपने तो ईश्वर की बड़ी उपासना की, फिर भी वह आपको कष्ट दे रहा है, मैं देखरहा हूँ कि आप इस पर भी उसी ईश्वर के गुण गाये जा रहे हैं।' राजनारायण वसु बोले 'अश्विनी ! तू उन्हें दोष न दे। थोड़े दिन यह शारीरिक कष्ट मिलें भी तो उससे मेरा क्या बिगड़ जायेगा ? रोग-शैप्या पर पड़ा और भी निश्चिन्त भाव से भजन कर सकूँगा, पर क्या तुम यह भूल रहे हो कि मैंने उन्हीं की कृपा से जीवन में कितने ही सुन्दर दृश्य देखे और अनेक सुख उठाये हैं।' गुरुदेव की यह अविचल निष्ठा देखकर अश्विनी बापू आगे कुछ न बोल सके।

'ईश्वर को प्राप्त करना कोई सहज बात नहीं है। वह अति दुस्तर और कठिनाई से ही जाना जा सकता है। इस संसार में बहुत सुखद पदार्थ है। धन, यौवन, दीर्घ-जीवन, राजसिंहासन और तू कहे तो मैं तुझे अनन्त काल तक सुखोपभोग करने वाली सामर्थ्य प्रदान कर सकता हूँ, मगर तू ब्रह्म को जानने का हठ न करें।' ऋषि-पुत्र नाचिकेता ने सारी बातें ध्यान से सुनीं यमाचार्य के कथन में उन्होंने कोई रोक-टोक नहीं की।

यमराज ने सम्भाषण समाप्त किया तो उसी सरलता के साथ नचिकेता ने जबाव दिया—देव ! बहुत सुखोपभोग प्राप्त कर लेने पर भी क्या मेरा यह जीवन बना रहेगा। फिर भोगों से तृप्ति भी तो नहीं होती। इसलिये अपना धन, अपना ऐश्वर्य, राजसिंहासन तथा नाच-गान आप अपने ही पास रखें। मुझ पर यदि प्रसन्न हों तो उपदेश दें, जिससे आत्म-कल्याण हो। नाचिकेता की दृढ़ता पर यमराज प्रसन्न हुए और उसे ब्रह्म-विद्या का ज्ञान कराया।

एक ब्राह्मण बड़ा निर्धन था। उसने एक सन्त की इसलिए बड़ी सेवा की कि उसके आशीर्वाद से उसका धनाभाव दूर हो जायेगा। बहुत काल तक सेवा करने के बाद महात्मा प्रसन्न हुए और पूछा—'वत्स ! तूने मेरी इतनी सेवा क्यों की मैं तेरी इच्छा पूरा करना चाहता हूँ। निर्धन ने कहा—भगवान् - मैंने आपकी सेवा इसलिये की है कि आप मुझे कोई ऐसा आशीर्वाद दें, जिस से मेरा धनाभाव दूर हो जाये और मैं इस नगर का सबसे बड़ा सेठ हो जाऊँ।"

ब्राह्मण की बात सुनकर सन्त ने कहा—'तुम विन्ध्यपुरी के महात्मा प्रभुदास के पास जाओ। वे तुम्हें एक ऐसी पारस-मणि देंगे, जिससे तुम मन चाहा सोना इकट्ठा कर सकोगे और

नगर के सबसे बड़े सेठ बन जाओगे।' ब्राह्मण ने वैसा ही कियास। उसने महात्मा प्रभुदास के पास जाकर सारी कथा कह सुनाई। महात्मा जी ने बिना कुछ कहे प्रसन्न मुद्रा में वह पारसमणि उसे ब्राह्मण को दे दी। ब्राह्मण को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह कैसे महात्मा हैं, जो इन्हें धन से भी मोह नहीं है ? ब्राह्मण ने अन्त में अपनी आशंका व्यक्त कर दी। सन्त ने कहा—'वत्स ! मेरे पास इससे भी बड़ी सम्पत्ति है, जिसका नाम ईश्वर प्रेम है। इसके आगे धन तो बिल्कुल तुच्छ है।' महात्मा की इस गहन निष्ठा से ब्राह्मण बड़ा प्रभावित हुआ और उसने भी धन का मोह त्यागकर अपना शेष जीवन परमात्मा के भजन में ही लगाया।

एक व्यक्ति ने अज्ञान में बहुत पाप किये। कुछ दिन में उसकी भेंट एक ईश्वर-भक्त से हो गई। इन महात्मा के उपदेश से उस व्यक्ति की आँखें खुली और संसार के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हुआ। इस प्रकार का आत्म-बोध हुआ तो सबसे पहले अपने पापों पर बड़ा दुःख हुआ। उसने महात्मा से प्रायश्चित का उपाय पूछा। उन्होंने बताया कि यदि वह गंगा-स्नान करले तो उसके पाप दूर हो सकते हैं। इस पर व्यक्ति प्रसन्न हुआ और गंगा-स्नान के लिये चल पड़ा।

इन दिनों मोटरों-गाड़ियों का प्रचलन न हुआ था। गंगा जी वहाँ से काफी दूर थीं। उस आदमी को गंगा जी का पता ठिकाना भी न मालूम था, उसे केवल यही अनुमान था कि गंगाजी बड़े जलाशय का नाम है। दिन भर चलते रहने के बाद तीसरे पहर उसे एक बड़ा तालाब मिला सोचा बस यही गंगाजी हैं। बड़े प्रेम से कपड़े उतारे, स्नान किया और फिर कपड़े पहनकर घर लौटने की तैयारी करने लगा। तभी एक दूसरा व्यक्ति वहाँ आ पहुँचा, जिससे मालूम पड़ा कि गंगाजी तो अभी बहुत दूर हैं।

यात्री ने दूसरे दिन फिर पद-यात्रा की। कई दिन तक लगातार चलते रहने के बाद उसे नाला मिला। उसने उसे ही गंगाजी समझकर स्नान किया और फिर प्रसन्नतापूर्वक घर लौटने की तैयारी करने लगा। पर एक बालक ने बताया कि वह मामूली नाला है, गंगाजी तो यहाँ से बहुत दूर हैं।

वह आदमी फिर यात्रा पर चल पड़ा। कई सप्ताह चलते रहने के बाद उसे एक बड़ी नदी मिली। इस बार उसे पक्का विश्वास हो गया कि यही गंगाजी हैं। भक्त ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्नान किया और फिर घर लौटने की तैयारी करने लगा। इसी समय एक स्त्री ने उस नदी का नाम लेकर जयकार लगाई। यह सुनकर उस आदमी को बड़ा विस्मय हुआ कि वह जिसे गंगा समझ रहा था, वह तो एक दूसरी नदी निकली।

भक्त थक गया था। पाँव सूज गये और उनमें छाले पड़ गये थे। खाने के लिये अन्न भी न बचा। शरीर दुर्बल पड़ गया, पर उसे अभी भी गंगा-स्नान की तीव्र अभिलाषा हो रही थी। वह फिर चल पड़ा। कुछ दूर चलने पर अन्त में उसे गंगाजी दिखाई दीं पर वह उसके रेत में पहुँचते ही थककर गिर गया। बड़ा जोर मारा, पर पाँव जबाव दे गये। उसे घिसटना शुरू कर दिया। किसी तरह वह तट तक पहुँचा, पर तब तक उसके प्राण निकल चुके थे।

इटली के वीर सेनानी गैरीवाल्डी ने अपनी जीवन-कथा में लिखा है— युद्ध में मेरी विजय और साहस को देखकर मेरे मित्र बड़े विस्मय में हैं और वह समझते हैं कि मैं किसी दैवी शक्ति का प्रयोग करता हूँ। पर मैं यहाँ साफ बता देना चाहता हूँ कि मेरे साहस और शौर्य के मूल में ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास ही है। मेरा विश्वास है कि जब तक मेरी माता मेरे प्राण रक्षार्थ ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहेगी, तब तक मुझे कोई भी विपत्ति नहीं पकड़ सकती। मैं ईश्वर के भरोसे पूर्ण निश्चिन्त हूँ। अपने प्राणों की रक्षा के लिये ज़रा भी शंका नहीं है।''

इस युद्ध में भीषण रक्तपात हुआ। गैरीवाल्डी के पास से सनसनाती हुई गोलियाँ छूटतीं और गोले दगते रहे, पर उसके जीवन को आँच नहीं आई।

धर्म-पुराण में कहा है—जिस परमात्मा को बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी भी योग साधनायें करके नहीं जान पाते, उसे भक्त अपनी निष्ठा और भावना के द्वारा शीघ्र ही आकर्षित कर लेते हैं।

भगवान् तो भक्ति का भूखा और निष्ठा का प्यासा है, जहाँ उसे यह दोनों बातें मिल जाती हैं, वहाँ पहुँचने में उसे देर नहीं लगती।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह सुखपूर्वक जीवन को जिये। सबका प्रेम और स्नेह प्राप्त करें। शक्ति और समृद्धि के पथ पर आगे बढ़ने की इच्छा किसको नहीं होती ? सर्वज्ञता की अभिलाषा भी ऐसे ही सबको होती है। यह दूसरी बात है कि यह सम्पूर्ण सौभाग्य किसी को मिलें या न मिलें, मिले भी तो न्यूनाधिक मात्रा में, जिससे किसी को सन्तोष हो किसी को न हो।

परमात्मा सम्पूर्ण ऐश्वर्य का अधिष्ठाता माना गया है। वह सर्वशक्तिमान् है। वेद उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापी बताते हैं। यह उसके गुण हैं अथवा शक्तियाँ। सांसारिक जीवन में उन्नति और विकास के लिये भी इन्हीं तत्वों की आवश्यकता होती है। बुद्धिमान्, शक्तिवान्, और ऐश्वर्यमान् व्यक्ति बाजी मार ले जाते हैं शेष अपने पिछड़ेपन, अभाव दुर्दैव का रोना रोया करते हैं।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन तीन तत्वों का विकास मनुष्य ईश्वर भक्ति से बड़ी सफलता से प्राप्त कर लेता है। कबीर निरक्ष थे किन्तु ईश्वर उपासना से उनकी सूक्ष्म बुद्धि का विकास हुआ था। विचार और चिन्तन के कारण उनमें वह शक्ति आविर्भूत हुई थी, जो बड़े-बड़े विद्यालयों के छात्रों, शिक्षकों को भी नहीं नसीब होती। कबीर अक्षर लिखना नहीं जानते थे किन्तु वह पण्डितों के भी पंडित हो गये।

ध्रुव वेद-ज्ञानी न थे, प्रहलाद ब्रह्मोपदेशक न थे, नानक की बौद्धिक मंदता सर्वविदित है। सूर और तुलसी जब तक साधारण व्यक्ति के तरीकों से रहे, तब तक उनमें कोई विशेषता नहीं रही किन्तु जैसे ही उनमें भक्त रूपी ज्योति का अवतरण हुआ अविद्या रूपी आवरण का अपक्षरण हो गया और काव्य की विचार की ऐसी अविरल धारा बही कि काव्याकाश में 'सूर-सूर और तुलसी चन्द्रमा हो गये।''

जिन लोगों में ऐसी विलक्षणतायें पाई जाती हैं, वह सब ईश्वर चिन्तन का ही प्रभाव होती हैं, चाहे वह ज्ञान और भक्ति पूर्व जन्मों की हो अथवा इस वर्तमान जीवन उपासना से चित्त-शुचिता, मानसिक सन्तुलन, भावनाओं में शक्ति और पंचकोषों में जो सौमनस्य प्राप्त होता है, वह बौद्धिक क्षमताओं के प्रसार से अतिरिक्त है। यह सभी गुण बुद्धि और विवेक का परिमार्जन करते हैं। दूर-दर्शन की प्रतिभा का विकास करते हैं। प्रारम्भ में केवल किसी वातावरण में घटित होने वाल स्थूल परिस्थितियों का ही अनुमान कर पाते हैं किन्तु जब भक्ति प्रगाढ़ होने लगती है तो उनकी बुद्धि भी इतनी सूक्ष्म और जागृत हो जाती है कि घटननाओं के सूक्ष्म अंग उन्हें ऐसे विदित हो जाते हैं जैसे कोई व्यक्ति कानों में सब चुपचाप बता गया हो।

ईश्वर-भक्त की प्रगाढ़ अवस्था भ्रमर और कीट जैसी होती है। भ्रमण कहीं से कीट को पकड़ लाता है फिर उसके सामने विचित्र गुन्जार करता है। कीट उसमें मुग्ध होकर आकार परिवर्तन करने लगता है और स्वयं ही भ्रमर बन जाता है। ईश्वर उपासना में भी वह अचिन्तय शक्ति है जो उपासक को उपास्थ देवता से तदाकार करा देती है। गीता के ११वें अध्याय श्लोक ५४ में भगवान कृष्ण ने स्वयं इस बात की पुष्टि करते हुये लिखा है—"अनन्य भक्ति से ही मुझे लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। भक्ति से ही मैं बुद्धि में प्रवेश करने योग्य बनता हूँ।''

ईश्वर-मुखी आत्माओं में जहाँ सूक्ष्म बुद्धि का विकास होता है और वे सांसारिक परिस्थितियों को साफ-साफ देखने लगते हैं, वहाँ उनमें सर्वात्म-भाव भी जाग्रत होता है। इन्द्रियों से प्रतिक्षण उठने वाले विषयों के आकर्षणों में आनन्द की क्षणिक अनुभूति निरर्थक साबित हो जाती है, जिससे शारीरिक शक्तियों का अपव्यय रुक जाता है। रुकी हुई शक्ति आत्म कल्याण के किसी भी प्रयोजन में लगाकर उससे मनोवांछित सफलतायें पाई जा सकती हैं जिन लोगों ने संसार में बड़ी सफलतायें पाई हैं। विश्वास के रूप में परमात्मा ने ही उन्हें वह मार्ग दिखाया और सुझाया है। निष्काम कर्म में प्रत्येक-कर्म परमात्मा को समर्पित करना बताया जाता है उससे भी यह तथ्य काम करता है कि मनुष्य प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य में परमात्मा का अनुग्रह और अनुकम्पा प्राप्त करे। ईश्वरनिष्ठ व्यक्ति के अन्तःकरण में उसकी सफलता का विश्वास अपने

आप पर बनता है और इस तरह वैभव, विकास की परिस्थितियाँ भी अपने आप बनती चली जाती हैं। भूल दरअसल यह हुई कि कुछ लोगों ने सांसारिक कर्त्तव्य पालन को तिलाजंलि देकर आत्म-कल्याण के लिये पलायनवाद का एक नया रास्ता खड़ा कर दिया। इससे लोगों में मतिभ्रम हुआ आय अन्यथा परमात्मा स्वयं अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न है, वह भला अपने उपासक को क्यों उससे विमुख करने लगा ? ईश्वर उपासना से बौद्धिक सूक्ष्मदर्शिता की तरह अनवरत् क्रिया-शीलता का भी उदय होता है। परिश्रम की आदत पड़ती है। पुरुषार्थ जगता है। इन वीरोचित गुणों के रहते हुए अभाव का नाम भी नहीं रह सकता। परमात्मा अपने भक्त को क्रियाशील बनाकर, उसे संसार अनेक सुख ऐश्वर्य और भोग प्रदान करता है। मनुष्य स्वयं बेवकूफी न करे तो वह चिरकाल तक उनका सुखपभोग करता हुआ भी आत्म-कल्याण का लक्ष्य पूरा कर सकता है।

जीव या मनुष्य परमात्मा का ही दुर्बल और विकृत भाव है दर असल जीव कोई वस्तु नहीं परमात्मा ही अनेक रूपों में प्रतिभाषित हो रहा है। जब तक हमारी कल्पना जीव भाव में रहती है, तब तक अपनी शक्ति और सामर्थ्य भी वैसी ही तुच्छ और कमजोर दिखाई देती है। ईश्वर भक्ति से कीट के अंग परिवर्तन जैसे प्रारम्भिक कष्ट तो अवश्यम्भावी हैं किन्तु जीव का विकास सुनिश्चित है। प्रारम्भ में वह स्वार्थ, परमार्थ, माया ब्रह्म, लोक और परलोक की मोह ममता में परेशान रहता है। कीट जिस तरह भ्रमर का गुँजन पसन्द करता है किन्तु वह अहंभाव छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता, उसी प्रकार जीव का अहंभाव में बने रहना प्रारम्भिक स्थिति है, उसके लिये जिद करना मचलना साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। उसे पार कर लेने पर वह नितान्त ब्राह्मी स्थिति अर्थात् तदाकार में बदल जाता है तो उसका अहंभाव एक विशाल शक्तिमान् रूप में परिणत हो जाता है। वह अपने को ही ब्रह्म के रूप में देखने लगता है। "मैं ही ब्रह्म हूँ" यह स्थिति ऐसी है, जिस में जीव की शक्तियाँ विस्तीर्ण होकर ईश्वरीय शक्तियों में बदल जाती हैं।

संसार में सुख स्वामित्व और विकास के लिये तीसरी वस्तु जो आवश्यक है, वह शक्ति भी उसे मिलती है। शक्ति बुद्धि और साधन पाकर जीव दिनांदिन उन्नति की ओर बढ़ता जाता है। यही सही है कि परमात्माभाव अपने निश्चित समय में पकता है। इसलिये फल देखने के लिये मनुष्य को भी निर्धारित नियमों और समय की प्रतिक्षा करनी पड़े किन्तु यह निश्चित है कि मनोवांछित सफलता और जीवन विकास का अधिष्ठाता परमात्मा ही है। उसकी भक्त के बिना वह उपलब्ध नहीं हो सकता जिसकी हम इस जीवन में कामना करते हैं।

भक्ति पथ की जीवन नीति

सृष्टि में मनुष्य-शरीर जैसी विलक्षण कोई दूसरी वस्तु नहीं। नाना प्रकार की इच्छाओं, कामनाओं, भावनाओं, महत्वाकांक्षाओं का जन्म ही इसमें होता रहता हो, इतना ही नहीं संसार में जो कुछ भी अद्‌भुत और अलभ्य है, उस सब की अनुभूति इस शरीर से सम्भव है। शरीर ही जीव के आत्म-कल्याण का साधन है, बढ़िया उपयोग हो सके तो स्वर्ग अपवर्ग की प्राप्ति भी मनुष्य जीवन से ही सम्भव है। संक्षेप में जो कुछ भी सृष्टि में वह वह सब मनुष्य शरीर में है।

सूर्य, चन्द्रमा जैसे अगणित ब्रह्माण्डों के सूक्ष्म ब्रह्माण्ड जगत् इस शरीर में है, जीवात्मा उनमें विहार कर सकता है। ईश्वरीय आनन्द का उपभोग यदि कहीं प्रत्यक्ष सम्भव है तो मनुष्य शरीर से ही सम्भव है, शर्त यह है कि जीवन-नीति ऐसी हो जो उस शाश्वत लक्ष्य की ओर चलने में सहायक हो रामायण कहती है—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्‌ग्रन्थन गावा।

साधन-धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा।।

सो परम दुःख पावई सिर धुनि-धुनि पछताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय।।

मनुष्य शरीर जैसा उपयोगी साधन नहीं जो जीवन लक्ष्य का उद्‌बोधन करा सके। यही एक ऐसा जीवन है, जिससे नर-नारायण बन सकता

है, सन्त एकनाथ भी भाव-विभोर होकर गाया करते थे—

नरदेहा चे नि जाने, सच्चिदानन्द पदवी घेंग।

ये बढ़ी अधिकार नारायणे कृपावलोकने दीघला।।

अर्थात् परमात्मा ने कृपापूर्वक मनुष्य को यह अधिकार दिया है कि ज्ञान के द्वारा वह इसी नरदेह से सच्चिदान्नद को प्राप्त करे।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रकारों ने गहन अनुसन्धान के बाद ऐसे मार्ग निर्धारित किये हैं, जिन पर चलता हुआ मनुष्य पारलौकिक आनन्द का रसास्वादन कर सकता है। (१) ज्ञान-योग, (२) भक्तियोग, (३) कर्म-योग। ये तीन मार्ग परमात्मा तक पहुँचने के हैं, इनमें भक्ति सर्वसुलभ और सरल साधन है। रामायण में तो कलियुग क्या किसी भी युग में केवल भक्ति को ही सर्वोत्तम साधन बताकर केवल इसी पथ की अभिव्यंजना की है।

भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।

रामचरित्र सर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाई न कोटि उपाए।।

भक्ति में वह रस है कि नारद जैसे ज्ञानी भी उसके लिए इच्छुक हों, अपने लोक से विष्णुपुरी तक भागते हैं। भक्ति मार्ग की एक सुव्यवस्थित जीवन-नीति है, उस पर यदि चला जा सके तो बड़े-बड़े साधन और ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं, मनुष्य स्वल्प प्रयास से ही सौभाग्य सिद्ध कर सकता है।

भक्ति का जो स्वरूप आज सर्वत्र प्रचलित है, वह सही नहीं है। भक्ति वस्तुतः ईश्वर निष्ठा की कठिन कसौटी है जिस पर विरले मनस्वी ही पार लगते हैं। सच तो यह है कि कोई भी योग भक्ति के बिना सम्पूर्ण नहीं होता। साधनों की कठिनाई में शक्ति भावना ही अन्तदर्शनार्थी को सहारा दिये रहती है। भक्ति वह कोमलता है जो माँ की तरह उसके जटिल जीवन को भी सरल और प्रवाहमान् रखती है। रामायण में भगवान राम कहते हैं—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगत मोरि पुरान श्रुति गाई।

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका।। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।

करत कष्ट वहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोह प्रिय नहिं सोऊ।।

भक्ति की ऐसी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भगवान ने भक्त की जीवन-नीति भी घोषित की और कहा—

सरल सुभाउ न मन कुटिलाई। जथा लाभ सन्तोष सदाई।।

वह जिसका मन सरल स्वभाव वाला है, जिसे थोड़े लाभ में भी सन्तोष रहता है, वही सच्चा ईश्वर भक्त है।

देर न विग्रह न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।।

अनारम्भ अनिकेत अमानी। अनघ अरोप दच्छ विज्ञानी।।

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा।।

वह जो किसी से बैर नहीं करता, किसी से झगड़ा नहीं करता, न सुख की आशा, न किसी से भय, जो कुछ मिले उसी से सुखी, स्वयं को कर्त्तापन के अभिमान से जो मुक्त रखता है, जिसे अपने मन की महत्वाकांक्षा नहीं, निष्प्राण अक्रोध अन्तःकरण ओर जो संसार को एक विज्ञान की तरह निरन्तर मन में स्थिर रखता है, ऐसा भक्त ही मुझे प्रिय है।

भगति पच्छ हठ नहिं सताई। दुष्ट तर्क सब दूर बहाई।।

भक्त शठता नहीं करता, किसी वस्तु के लिए हठ नहीं करता, दुष्ट सताता है, बुरा-भला कहता है तो उसे उपेक्षा द्वारा टाल देता है।

मम गुन ग्राम नाम गत ममता मद मोइ।

ताकर सुख सोई जानई परानन्द संदोह।।

इस तरह ममता, मोह और अभिमान से विमुक्त हुआ जन निरन्तर विराट् परमात्मा का मानसिक स्तवन किया करता है, उसका सुख तो बस वही जान सकता है। वह आत्मानन्द की स्थिति ही मनुष्य जीवन का अनादि और अनन्त लक्ष्य है।

भक्तिमय जीवन के इस व्यावहारिक पक्ष को समझने के बाद उन मान्यताओं का खण्डन होता जाता है, जो केवल क्षणिक मूर्ति-दर्शन, तीर्थयात्रा, गंगास्नान, कथा-कीर्तन, व्रत से फलीभूत माना जाता है। श्रद्धा का सुख मिले इसके लिए यह भी आवश्यक है, पर ईश्वरभक्त होकर भी व्यावहारिक जीवन की शुद्ध, पवित्रता, नियमबद्धता और सामाजिक मर्यादाओं के पालन की दृढ़ता आवश्यक ही नहीं पूर्ण अनिवार्य है।

ब्रह्म सिन्धु-सदृश्य गम्भीर और व्यापक है, ज्ञान विराट् ब्रह्म का देवता है, जो जन ईश्व-स्तवन द्वारा भक्ति को परिपुष्ट करते रहते हैं, अनासक्त रहकर ज्ञान द्वारा मद, मोह, लोभ आदि को मानते रहते हैं ऐसी सुदृढ़ भक्ति वाले लोग संसार में विजयी होते हैं और मनुष्य जीवन में आने का सौभाग्य सफल बनाते हैं।

इस प्रकार जब अपने जीवन की शुद्ध, सरल सात्विक, सदय, सन्मार्गगामी, सद्ज्ञान सम्पन्न बताता हुआ मनुष्य परमात्मा की भक्ति में तत्पर होता है तो उसके सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं और वह क्षिप्रता से परम प्रकाश की ओर गमन करने लगता है, रामायण बताती है—

राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसई गरुड़ जाके उर अन्तर।।

परम प्रकाश रूप दिन राती। नहिं कुछ चहिऊ दिया घृत वाती।।

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।।

प्रबल अविद्या तुम मिट जाई। हारहिं सकल सुलभ समुदाई।।

खल कामादि निकट नहिं जाई। वसई मगति जाके उर माहीं।।

व्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।

राम भगति मन उर बस जाकें। दुःख लवलेस न सपनेहु ताकें।।

चतुर सिरोमनि तेई जग माहीं। जे जन लागि सुजतन कराहीं।।

भाव सहित खोजई जो प्रानी। पाव भगति मन सब सुख खानी।।

इन पंक्तियों में स्पष्ट है कि भक्ति मनुष्य को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने में सच्ची सहायक है। पर वहाँ भी एक योग है। योग सरल नहीं कठिन हुआ करते हैं। भक्ति-योग की कठिनता यह है कि व्यावहारिक जीवन को भी शुद्ध खरा और पूर्ण अध्यात्मवादी होनी चाहिए। इस शर्त के साथ की गई भक्ति ही फलदायक होती है. अन्य नहीं।

कुछ लोग भक्ति का अर्थ ईश्वर के प्रति प्रेम का प्रदर्शन मान बैठते हैं भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेम तो है किन्तु उस प्रेम के प्रदर्शन को भक्ति समझना भूल होगी। जब सामान्य व्यक्ति के प्रति सच्चा प्रेम तक प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रखता अपितु वह व्यवहार से स्वतः ही प्रकट हो जाता है, तब सर्वज्ञ ईश्वर के प्रति प्रेम का बाजार प्रदर्शन भला क्या अर्थ रखता है ? विश्वव्यापी सचेतन-सत्ता के प्रति प्रेम तो व्यक्ति के प्रत्येक आचरण से स्वतः ही स्पष्ट ही अभिव्यक्त होता है।

वस्तुतः पाप-बन्धन का मूल पाप पूर्ण आस्थायें ही हैं। जिसने अपनी आस्थायें परम पवित्र, परम प्रकाशवान, परम उत्कृष्ट सर्वव्यापी परमात्मा में केन्द्रित-नियोजित कर दीं, उसके भीतर पाप भावनायें और पाप प्रेरणायें टिक ही कैसे सकती हैं ? जिसने प्रत्येक क्षण उस ईश्वरीय सत्ता का ही स्मरण-वन्दन किया, उसके आचरण में अनीति-अनौचित्य का समावेश असम्भव है। श्रीकृष्ण का उपरोक्त कथन वस्तुतः भक्ति-भाव श्रद्धा एवं आस्था के महत्व का प्रतिपादक है। श्रद्धा-आस्था को जिसने उत्कृष्ट बना लिया, उसे पाप-बन्धन नहीं छू सकते। भक्ति-पथ की जीवन ज्योति आत्म-श्रद्धा को ईश्वर-केन्द्रित बना डालती है। ईश्वरीय भाव-सम्वेदनायें जिसकी आत्मसत्ता के आधार एवं कलेवर दोनों बन जायें, उसी की श्रद्धा और भक्ति प्रगाढ़ एवं परिपक्व है। उसी का जीवन ईश्वरमय है।

"निर्मल मन सो मोहि अति भावा"

भगवान को निर्मलता अतिशय प्रिय है। इस सदगुण से वे जिसे अनुप्राणित देखते हैं, उससे सामान्य स्तर का नहीं, वरन् असाधारण प्रेम करते हैं। भगवत् प्रेम की प्राप्ति के लिये अन्य आधार भी हो सकते है, पर उन सब में उत्कृष्ट वही है जो निर्मल मन वाला है।

निर्मलता से तात्पर्य है—मलिनता का निराकरण। मलिनता हमारे चारों और संव्याप्त है। उसका आक्रमण निरन्तर होता रहता है। भीतर से मलिनता उपजती रहती है। जन्म-जन्मान्तरों के संचित कुसंस्कार तनिक सी अनूकूलता पाते ही उभरने लगते हैं। इस कार्य में शरीर भी पीछे नहीं है। वह भी अनवरत् मलों का निर्माण करता रहता है। मल, मूत्र, स्वेद, तथा अन्य छिद्रों से यह मैल सतत् बाहर निकलता रहता है। यदि किसी कारणवश मल बाहर निकलने से रुक जाय तो विग्रह खड़ा हो जाता है। मलों का निष्कासन ही वह उपचार है, जिसके आधार पर निर्मलता का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

जो बात मन के सम्बन्ध में हैं, वही शरीर के सम्बन्ध में भी लागू होती है। शरीर ही नहीं, निवास और उपकरणों के सम्बन्ध में भी उन सबको बार-बार स्वच्छ करते रहने से ही काम चलता है। घर में बुहारी न लगाई जाय, बर्तनों का माँजा न जाये, रसाईघर आदि की विशेष सफाई का ध्यान न रखा जाय तो उनमें विषाक्तता, मलिनता, कुरूपता भरने लगती है। कृमि-कीटक पलने लगते हैं और उनके द्वारा की गई तोड़-फोड़ से अनेक प्रकार के विग्रह खड़े होते हैं। ऐसी परिस्थिति में घिरे हुए व्यक्ति को मनुष्य समुदाय में से भी कोई पसन्द नहीं करता। उनसे बचने की चेष्टा की करता है। तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। माता कीचड़ में सने हुए बच्चे को तब गोदी में लेती, दूध पिलाती है जब उसकी गन्दगी को धो-पौछकर साफ कर लेती है। यही बात भगवान के सम्बन्ध में भी है। जिसे मलिनता प्रिय है उसका परब्रह्म की पुनीत सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता।

स्वच्छता, सुरुचि का प्रतिनिधित्व करती है। उसे शालीनता का चिन्ह भी कहा जा सकता है। सम्पन्न और सुसंस्कारिता का अनुपात जिसमें जितना बढ़ेगा, उसकी जानकारी इसी आधार पर मिलेगी कि उसने स्वच्छता को किस सीमा तक अपनाया।

व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में यह बात समान रूप से लागू नहीं होती है। अनगढ़ लोग ही मलिनता से लिपटे रहते हैं। उन्हें ही मैला कुचैलापन रास आता है। आलसी और घिनौने लोग शरीर, वस्त्र, घर उपकरण में मलिनता जमने देना सहन करते हैं। सफाई के लिए उन्हें कोई उत्साह नहीं उभरता। ऐसे लोग दुर्गन्ध घिरे रहते हैं, जिसके सम्पर्क में पैर बढ़ाना किसी सभ्य व्यक्ति को रास नहीं आता। ऐसे वातावरण से बचकर निकलने के लिए ही मन करता है। गन्दे लोग स्वयं तो उस मलिनता के कारण उत्पन्न होने वाले संकटों से घिरते ही हैं दूसरों को भी उस छूत के कारण अप्रसन्न करने का कारण बनते हैं। गंदगी की उपेक्षा करने वाले आलसीं अपने सम्मान को दूसरों की आँखों में गिरा लेते हैं। उन्हें हेय दृष्टि से देखा और गये-गुजरे स्तर का समझा जाता है। यह क्षति ऐसी है, जिसके कारण ऐसे लोगों को प्रगति का अवसर ही नहीं मिलता। वे गई-गुजरी स्थिति में ही मौत के दिन पूरे करते रहते हैं। जहाँ जाते हैं वही घृणा, तिरस्कार और उपहास का कारण बनते हैं।

आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है। मनोविकारों से ग्रसित व्यक्ति उस परोक्ष विकृति के कारण शरीर को भी बीमार बना लेते हैं और संतुलन सौजन्य गँवा बैठते हैं। मन में अशुभ तत्व, मलिनता भर चले तो वे अन्तरात्मा की आवाज दबाते हैं। उसकी खुराक को छीनकर खाते हैं। फलतः आत्म-ज्योति धूमिल हो जाती है। उसके प्रकाश में इतना दम नहीं रहता कि ठीक तरह मार्ग-दर्शन कर सकें। फलतः दिग्भ्रान्तं जैसी स्थिति बनती है। अन्तर्द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं। विपरीत बुद्धि को सही-गलत

सूझता है और गलत को सही होने का आभास उभरता है।

आन्तरिक मलीनता उत्पन्न करने वाले विषाणु, काम, क्रोध, मोह, मद मत्सर हैं। वे जहाँ भी एकत्रित होते हैं, वहीं गन्दगी के ढेर लगा देते हैं। अशुभ कल्पनाएँ उठती हैं, हेय योजनाएँ बनती रहती हैं।

मनःस्थिति के अनुरूप क्रियाकलाप बन पड़ता है। वे यदि हेय स्तर के हैं, जो अपनी प्रतिक्रिया संकटापन्न परिस्थितियों के रूप में उत्पन्न करेंगे। विपत्तियाँ बाहर से नहीं आतीं, वे भीतर से ही उभरती हैं। इस प्रकार सुसम्पन्नता और प्रगति का आधार भी भीतर ही रहता है। कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का शत्रु और आत्मा ही आत्मा का मित्र है। उत्थान-पतन की कुंजी अपनी ही जेब में है। मन को यदि धो लिया जाय तो सारा जगत निर्मल दृष्टिगोचर होगा। आँखों पर जिस रंग का चश्मा चढ़ा होता है, उसी रंग का दृश्य जगत प्रकट होता है। मन में मलिनताएँ भरी रहें तो उसके प्रभाव से अपने व्यक्तित्व का स्तर तो गिरता ही है साथ ही यह भी होता है कि निजी चुम्बकत्व के अनुरुप निकृष्ट स्तर का परिष्कार भी अपने इर्द-गिर्द जमा हो जाता है। उस जमघट की परिणति उन प्रेत-पिशाचों जैसी होती है जो मरघट में रहते हैं। डरते-डरते समय व्यतीत करते हैं। अपने विकास क्षेत्रों को वीभत्स बना लेते हैं।

यह चयन अपी सूझ-बूझ पर निर्भर है कि मलिनता का मार्ग चुनें या निर्मलता को अपनायें। असावधानी आलस्य के रूप में विकसित होती है और दूरदर्शी विवेक को कुंठित बनाकर रख देती है। ऐसी स्थिति में कीचड़ में समय गुजारने वाले कृत्रिम कीटकों की तरह दिन गुजारने पड़ते हैं। बाहर न जनता में सम्मान, सहयोग मिलता है और न आत्मिक क्षेत्र में सुख-शान्ति का माहौल बनता है।

स्वच्छता एक विभूति है, जिसकी प्रतिष्ठापना जहाँ भी होती है, वहीं उत्साह और उल्लास का प्रवाह बहने लगता है। इस वास्तविकता को अपने भौतिक-संसाधनों के साथ सफाई की जड़ को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। स्वच्छता के पीछे शालीनता और सुसंस्कारिता की आभा झलकती दिखाई पड़ती है। मनुष्य सभ्य प्रतीत होता है। सुसज्जा के अनेकानेक कलात्मक साधनों में स्वच्छता अकेली ही अपना चमत्कार दिखा सकती है।

आत्मिक पवित्रता का तो कहना ही क्या ? वही जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक आधार खड़ा करने में समर्थ है। इसी के सहारे स्वर्ग और ईश्वर प्राप्ति का परमानन्द प्राप्त किया जा सकता है।

संवेदना व सहकार की सरस निर्झरिणी

इस संपूर्ण सृष्टि में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो भावनाशील है। उसमें से यदि संवेदनाएँ निकाल दी जायें, तो फिर जो शेष बचेगा, वह भले ही कलेवर से मनुष्य जैसा हो, पर स्तर मानवीय नहीं कहा जा सकेग। भाव-संवेदनाएँ ही हैं, जो जीवन को जोड़कर रखती हैं, मनुष्य-मनुष्य के बीच मैत्री स्थापित करती हैं—व्यवस्था बनाये रहती हैं। दुर्भावनाओं से युक्त संसार और मरघट में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दूसरी ओर सद्भावनाओं की शीतल छाया उपलब्ध हो, तो लोग अभाव की स्थिति में भी आनन्दपूर्वक जीवन जीते हैं। संवेदनाएँ न होतीं, तो संसार बिखर गया होता, अब कभी का नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता।

यह मनुष्य के लिए दुर्भाग्य की बात है कि उस जैसा विचारशील प्राणी, जबकि इन मानवीय गुणों से रिक्त होता जा रहा है, तब भी सृष्टि के दूसरे अबोध प्राणियों की भाव-सँवेदनाएँ अक्षुण्ण हैं। मनुष्य मर्यादाशील-विचारशील प्राणी होने का गर्व करता है, पर टूटते हुए दाम्पत्य सम्बन्ध नष्ट होती पारिवारिक शांति, उच्छृंखल होती जा रही पीढ़ियाँ और अराजकतापूर्ण सामाजिक सम्बन्ध यह बताते हैं कि हमारा जीवनक्रम गड़बड़ाता जा रहा है। हम चाहें तो प्रकृति के दूसरे जीवों से इस सन्दर्भ में शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

"डिक-डिक" जाति का हिरन पत्नीव्रता होता है, वह सदैव जोड़े में रहता है। अपने

जीवनकाल में वह कभी किसी अन्य हिरनी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। शेर और हाथी के बारे में भी ऐसी ही कहावत होती है। जोड़ा बनाने से पूर्व वे पूर्ण सर्तकता बरतते हैं, किन्तु एक बार जोड़ा बना लेने के बाद वे तब तक इस मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते, जब कि नर या मादा में से किसी एक की मृत्यु न हो जाय। मृत्यु के उपरान्त भी कई ऐसे होते हैं, जो पुनर्विवाह की अपेक्षा विधुर जीवन यापन करते हैं। इस प्रकार वे अपने समुदाय की संवदेना सहज ही प्राप्त करते रहते हैं और दूसरों के दुर्दिनों में अपनी संवेदना भी प्रदर्शित करते हैं।

चिंपाजियों की पारिवारिक और दाम्पत्य निष्ठ मनुष्य के लिए एक उदाहरण है। यह अपना निवास पेड़ों पर बनाते हैं। जोड़ा बनाने के बाद चिपांजी अपने दाम्पत्य जीवन को निष्ठापूर्वक निवाहते हैं और किसी अन्य मादा या नर की ओर आकृष्ट होकर वे कभी भी अपनी वैवाहिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। जब समस्त परिवार अपने वृक्षीय आवास में आराम कर रहा होता है, तो नर पेड़ के नीचे रहकर उनकी सुरक्षा करता है।

कर्त्तव्यपराणता से ओत-प्रोत चिपांजी का यह दायित्व देखते ही बनता है। परस्पर का प्रेम न हो, तो यह कभी भी संभव नहीं। जंगली बतखों में भी इस प्रकार की निष्ठा देखी जा सकती है। इन बतखों की लगभग चालीस जातियाँ होती हैं, किन्तु हर बतख अपनी प्रजाति के जोड़े के अतिरिक्त कभी किसी अन्य की ओर आकृष्ट नहीं होती। जापनी मैंडेरिन इनके बहुत अधिक समीप होती हैं, किन्तु जीवशास्त्रियों के अनेक प्रयत्नों के बावजूद उसने उससे मिलन से इनकार कर दिया।

उल्लू एक बार अपने साथी का चयन कर लेने के बाद गृहस्थ जीवन की मर्यादा का आजीवन पालन करते हैं। मादा को ३०-३५ दिन तक अंडे सेने में लगते हैं। इस अवधि में नर अपनी मादा के लिए स्वयं भोजन जुटाता है और उसकी रक्षा करता है। बच्चे बड़े होने पर उड़ना और शिकार करना सीख पाते हैं। इस मध्य उन्हें माता-पिता का आश्रय निरन्तर मिलता रहता है।

धनेश पक्षी को तो और भी अधिक कष्टपूर्ण साधना करनी पड़ती है। अंडे सेने के लिए आवश्यक ताप तथा मादा की सुरक्षा के लिए वह जिस कोटर में रहती है, नर उसका मुख बन्द कर देता है, वह उतना ही खुला रहता है, जिससे चोंच भर बाहर निकल सके। बस इसी से नर अपनी मादा को खिलाता-पिलाता रहता है।

मातृत्व भावना यदि देखनी हो तो सारस पक्षी को देखना चाहिए। वे अपने अंडे इतने सुरक्षित पानी से घिरे स्थानों में देती है, कि उन्हें किसी प्रकार की कोई क्षति न पहुँचे। यदि किसी तरह वहाँ कोई अन्य जानवर पहुँच जाता है, तो सारस उसे रक्त-रंजित बनाकर भाग जाने के लिए मजबूर करते हैं। वे अपने अंडे बच्चों को कभी भी अकेला नहीं छोड़ते। एक साथी सदा उनके पास बना रहता है।

कौवे और सर्प जैसे जीव भी अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक भावनाशील होता हैं। कौवे के अण्डे-बच्चों से यदि कोई छेड़खानी करे, तो समूचा कांक-समुदाय छेड़ने वाले पर टूट पड़ता है। सर्प अपने बच्चों को कुंडली में रखते हैं। इस अवस्था में भोजन का प्रबन्ध नर के जिम्मे होता है। छछूँदर गर्भधारण के बाद से भी भावी शिशु के लिए खाद्य-संग्रह आरम्भ कर देती है, ताकि प्रसव के बाद जब तक बच्चे भली प्रकार चलने-फिरने न लगें, तब तक वहीं रहकर उनकी पहरेदारी कर सकें।

इस सम्बन्ध में सबसे सुचारु व्यवस्था हाथियों में होती है। वे न केवल बच्चे की अपितु समूचा कबीला गर्भिणी को एक घेरे में रखकर उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करता है। यदि ऐसे समय उस पर कोई आक्रमण करे, तो हाथी इतने अधिक खूँखार हो उठते हैं कि सारे जंगल को उजाड़कर रख देते हैं।

हिन्द महसागार की कुछ मछलियाँ तो अंडों के समुच्चय को अपने साथ लिए फिरती हैं। ऐसा वह तब तक करती हैं, जब तक उनसे बच्चे न निकल जायें और स्वयं तैरने न लगें। एरियस तथा तिलपिया मछलियाँ तो अंडों को

अपने मुख में सेतीं और बच्चों के आत्मनिर्भर होने तक अपने ही साथ रखती हैं। तिलपिया को थोड़ी भी आशंका हो, तो वह अपने बच्चों को मुँह में छिपाकर उनकी रक्षा करती है। कुत्ते, बिल्ली जिस सावधानी से बच्चों को मुख में दबाकर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं, यह उससे भी अनूठा उदाहरण है। चूहों के दाँत बड़े तेज होते हैं, किन्तु बच्चों को उठाते समय उन्हें कहीं भी कोई खरोंच नहीं आती इतनी कोमलता से उन्हें उठाते हैं।

मछलियाँ पानी में रहने वाला जीव है, पर गौराई जाति की मछलियाँ एक विशेष प्रकार की घास से अपना घोंसला बनाती और उसमें बच्चे पालती हैं। यही नहीं, उन्हें चिड़ियों की तरह बड़े होने तक स्वयं ही खिलाती-पिलाती भी है। सील मछलियाँ अपने बच्चों के पोषण के लिए अपने शरीर में भोजन की पहले से ही प्रचुर मात्रा एकत्र कर लेती हैं और उन्हें पाँच सप्ताह तक उसी के बल पर किनारे पड़ी सेती रहती है। इस अविध में पूर्ब उपवास करती हैं। संतति प्रेम का यह अद्‌भुत प्रतिमान है।

आरंगटन और गिबन बंदर तथा चिंपाजी पेट या पीठ पर लादे बच्चों को बड़े होने तक घुमाते हैं। कई बार बच्चे मर जाती हैं, तो भी ये मातृत्व पीड़ावश कई-कई दिनों तक उनकी लाश को ही छाती से चिपकाये घूमते रहते हैं। ओपोसम बोमनेट के, कंगारू की तरह की पेट में थैली होती है। बच्चों को वे उसी में रखकर पालते हैं। कहीं रुकने पर वे इन्हें बाहर निकाल कर खेलना और शिकार करना सिखाते हैं।

वेल्स द्वीप से एकबार नाम, क्रम आदि के पहचान पट्ट पैरों में बँधकर कुछ जल कपोतों को विमान से ले जाकर अन्य देशों में छोड़ दिया गया। इनमें एक कपोती भी थी, जिसने हाल ही में दो बच्चों का प्रसव किया था। उसे लेकर ६३० मील दूर तक एक अन्य टापू पर छोड़ दिया गया, पर मातृत्व स्नेह से वहाँ रहने नहीं दिया। १५ दिनों की कष्टपूर्ण यात्रा के बाद वह अपने बच्चों के पास लौट आयी। जिन कपोतों के बच्चे नहीं थे, साक्षी थे, वे भी उनसे पृथक् नहीं रह सके। अटलांटिक और ज़िब्राल्टर होते हुए ३७०० मील की लम्बी यात्रा कर वे ५-६ महीनों में लौट आये।

इससे स्पष्ट होता है कि कर्त्तव्य पालन की मूल प्रेरणा संवेदनाओं से प्रस्फुटित होती है। यह संवेदना ही है, जो पारस्परिक स्नेह-सौजन्य को विकसित करती है। प्रगति का आधार भी यही है। व्यक्ति कभी इससे विहीन नहीं रह सकता। जब वह धारा के विपरीत जाता है, तो उसमें ऐसे अनेक कठिनाईयों, उलझनों, विपत्तियों, विग्रहों का सामना करना पड़ता है, जैसे इन दिनों वह कर रहा है। सामंजस्य स्नेह का सहोदर है। जहाँ सद्‌भावना होगी, वहाँ तालमेल स्वतः बनता और निभता चला जाता है। मानवेतर प्राणी इसी कारण मजे में रहते और दिन गुजारते हैं, क्योंकि उनमें पारस्परिक प्रेम अक्षुण्ण रहता है। सद्भाव के अभाव से स्वार्थ पनपते हैं और दो प्रतिद्वन्द्वी स्वार्थों के संघात से विद्वेष और वैमनस्य उपजते हैं। जहाँ कटुरता होगी, विग्रह, और अवगति का मार्ग अपना लेने की मूर्खतापूर्ण दृष्यावलियाँ दिखाई पड़ेंगी। आज यही हो रहा है। पारस्परिक सद्‌भाव घटकर तिल जितना रह गया है और स्वार्थों की टकहराहट ने बढ़कर हिमालय जितना विस्तार ग्रहण कर लिया है, जिससे सर्वत्र अराजकता और अशान्ति का वातावरण छाया दीखता है। परिवार से लेकर समाज, राष्ट्र तक आज ऐसे विषम दृश्य इसी कारण दिखाई पड़ रहे हैं। परिवार विश्रृंखलित हो रहे हैं, समाज टूट रहे हैं और राष्ट्र खण्ड-खण्ड हो रहे हैं—इसके पीछे संवेदना और सहिष्णुता की कमी ही कारणभूत है। हम सद्‌भाव और सहनशक्ति पैदा करें, यही वर्तमान बिखराव का एक मात्र साधन है। इसे हर हालत में प्राप्त किया ही जाना चाहिए।

मंत्रशक्ति को सबल-प्राणवान बनाती है, श्रद्धा-संवेदना

मंत्रजप एक प्रकार से शब्द विज्ञान की एक शाखा है तो भी भौतिक विज्ञान उसका उपयोग नहीं कर पाता। उसका कारण और कुछ नहीं श्रद्धा-संवेदना का वैज्ञानिक विश्लेषण न कर पाना है। अध्यात्म-विज्ञान की बात करते समय

इसी तथ्य को यह कहकर प्रकट किया जाता है कि साधक की श्रद्धा इष्ट में जितनी अधिक होगी, उपास्य के प्रति उसका विश्वास जितना प्रगाढ़ होगा, परमात्मा से मिलन की छटपटाहट-भक्ति जितनी तीव्रतर होगी, मंत्र का प्रभाव प्रतिफल उतनी ही जल्दी उपलब्ध होगा। कभी-कभी अनायास ही किसी के मुख से निकले शब्द सच हो जाते हैं, शाप, वरदान फलित हो जाते हैं। उसमें भी उस व्यक्ति की उस क्षण की भाव-संवेदना ही प्रमुख होती है। जब भाव संवेदनायें अपनी चरम अवस्था में उमड़ रही हो, उस समय मंत्रसिद्धि द्वारा कभी किसी भी समय किसी को भी लाभ पहुँचाया और सहायता की जा सकती है।

साधारणतया शब्द की शक्ति बहुत धीमी होती है। आकाश में बिजली चमकती है तो ध्वनि पहले होती है। प्रकाश पीछे प्रस्फुटित होता है। किन्तु दूरस्थ व्यक्ति को चमक पहले दिखाई देती है और गरज पीछे सुनाई पड़ती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रकाश की गति एक सेकण्ड में एक लाख ८६ हजार मील या ३ × १०⁸ मीटर है। ध्वनि की गति मंद होती है और यह एक सेकण्ड में ११२० फुट या ३३० मीटर जितनी छोटी दूरी ही तय कर पाती है। इतनी स्वल्प क्षमता वाली ध्वनि कोई चमत्कार कैसे पैदा कर सकती है ? यह विचारणीय प्रश्न है।

रेडियो, टेलिविजन आज घर-घर पहुँच गये हैं। बी. बी. सी. लन्दन बी. ओ. ए. न्यूयार्क, रूस, जापान आदि के प्रसारण एक सैकण्ड में इतनी दूर बैठे भारतवासी सुन लेते हैं। ऐसा क्यों होता है, जबकि ध्वनि की गति मात्रा ३३० मीटर प्रति सेकण्ड है।

भौतिक शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि रेडियो प्रसार जिस स्टेशन से होता है, वहाँ एक बड़ी क्षमता वाला विद्युत जनरेटर जुड़ा रहता है। यह विद्युतशक्ति चुम्बकीय क्षेत्र से गुजारी जाती है जिससे उसकी सामर्थ्य भी कई गुना अधिक तंरगित हो जाती है। इन विद्युत चुम्बकीय तरंगों के जहाज पर ही शब्दों के यात्री बैठा दिये जाते तो जिससे उनकी गति ३३० मीटर प्रति सेकण्ड से बढ़कर ३+१०⁸ मीटर प्रति सेकण्ड हो जाती है। इस क्रिया को 'सुपर इम्पोज्ड रिकार्डेड साउण्ड' कहते हैं। इस शक्ति से न केवल रेडियो प्रसारण ही संभव हुए हैं, वरन् अन्तग्रही राकेटों की उड़ान के समय उन्हें दिशा निर्देश देने, उनकी यान्त्रिक खराबी को दूर करने का भी कार्य इस शक्ति से किया जाने लगा है। सोनोग्राफी से लेकर साउण्ड थेरेपी तक के कितने ही चिकित्सकीय कार्य सम्पन्न होने लगे हैं।

अब शक्ति के एक नये स्रोत "लेसर" की जानकारी वैज्ञानिकों को हस्तगत हुई है, जिसको गति प्रकाश या विद्युत चुम्बकीय तरंगों की अपेक्षा बहुत अधिक है। अनुमान है कि यदि शब्द को इस शक्ति के ऊपर चढ़ा दिया जाय तो व्यक्ति ब्रह्माण्ड के दूसरे छोर से बैठ कर पृथ्वी के किसी घने जंगल में किसी गुफा के अन्दर बैठे हुए व्यक्ति से उसी प्रकार बात कर सकता है जैसे दो साथ बैठे व्यक्ति कर लेते हैं। यह किरणें इतनी शक्तिशाली होती हैं कि एक फुट मोटी इस्पात की चादर में सेकिण्ड के अरबवें हिस्से में ही छेद कर सकती हैं। आँख की पुतली में इसके लाखवें हिस्से में आपरेशन करना हो यह किरणें यह कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती हैं। लेसर किरणों को भविष्य की चिकित्सा का चमत्कार माना जा रहा है। एक दिन वह आ सकता है जब क्षय तथा कैंसर जैसे असाध्य रोगियों को एक पंक्ति में लगाकर रेल की टिकटें बेचने जितने समय में चंगा कर भेजा जाया करेगा। मंत्र से भी ऐसी ही अपेक्षायें की जाती हैं। मंत्र की शक्ति सामर्थ्य असीम है, वह लेसर किरणों से कम नही, वरन् अधिक ही है।

मंत्र जप-प्रक्रिया में भी इसी तरह की शक्ति तरंगों का उत्पादन और समन्वय होता है। पर उसका प्रभाव साधक की अस्त-व्यस्त मःनःस्थिति के कारण दिखाई नहीं देता। "योगः चित्तवृत्तिश्चनिरोधाः" अर्थात् चित्त वृत्तियों को एकाग्र करना ही योग साधना का उद्देश्य हैं। पातंजल योग दर्शन का यह सूत्र बताता है कि मंत्र जप के साथ मन की बिखरी हुई शक्तियों को समेटना आवश्यक है। इसी से जप शक्तिशाली बनता है और शब्द की गति एवं

तरंगें तीव्र गति धारण करती हैं। यह शक्ति विद्युत चुम्बकीय क्षमता की तरह है और प्रारंम्भिक है। अन्तिम अवस्था तो मंत्र के साथ-साथ भाव संवेदना का ही जोड़ना है।

भावनाओं की शक्ति मन की शक्ति से अनेक गुना अधिक है। मनोविज्ञान के अनुसंधानकर्ताओं को ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं जिन्हें 'टेलिपैथी' या दूर संप्रेषण के नाम से जाना जाता है। इस संदर्भ में 'साइको काइनोसिसं' नामक एक स्वतन्त्र विज्ञान ही विकसित कर लिया गया है, जिसमें मनुष्य की भाव संवेदनाओं से लेकर अतीन्द्रिय क्षमताओं तक की विज्ञान समस्त जानकारियाँ सम्मिलित हैं। पायाग गया है कि अब अत्यधिक संवेदना की स्थिति में पृथ्वी के किसी भी कौने में बैठे व्यक्ति तक बिना किसी वायरलैस-टेलिफोन के संदेश पहुँचाया जा सकता है। जबकि टेक्नोलोजी के संदेश आज तक शब्द तरंगों को नियंत्रित किये बिना कभी भी यह संभव नहीं होता। यही कारण है कि रेडियो स्टेशन के प्रसारण से तो सुने जा सकते हैं, पर रेडियो वाला स्वयं रेडियो स्टेशन वाले को कुछ नहीं कह सकता। मंत्र जप और भाव संवेदना की यह विशेषता उसे भौतिक उपार्जन से अधिक महत्वपूर्ण बनाती है। मन्त्रशक्ति केवल मात्र संसार के वातावरण को ही प्रभावित नहीं करती, वरन् साधक के व्यक्तित्व में भी प्रकम्पन पैदा करती है। उससे उसका व्यक्तित्व भी प्रखर प्रकाशवान बनता चला जाता है।

मदन मोहन मालवीय जी के जीवन की एक घटना है। वे तब इलाहाबाद में थे और उनकी माँ वाराणसी में थीं। माँ एक दिन दुर्घटनावश आग से बुरी तरह जल गयीं। उस समय उन्होंने सम्पूर्ण हृदय से मालवीय जी को याद किया। उसकी प्रतिक्रिया तुरन्त मालवीय जी को तीव्र जलन के रूप में हुई। उनके अन्तःकरण ने तुरन्त अनुभव किया कि माँ जल गई हैं। वे तत्काल बनारस पहुँचे और वस्तुस्थिति को सत्य पाया। जगत् गुरु आद्य शंकराचार्य के सम्बन्ध में भी ऐसा ही एक प्रसंग हैं। उन्होंने बचपन में अपनी माँ को उनका दाह संस्कार स्वयं अपने हाथों से करने का वचन दिया था। उनकी मृत्यु के समय वे उत्तर भारत की यात्रा में थे, जहाँ उन्हें माँ की अभ्यान्तर वाणी सुनाई दी और वे मध्य यात्रा से ही घर लौट पड़े और ठीक समय पर पहुँचकर माँ का अन्तिम-संस्कार सम्पन्न किया। संत ज्ञानेश्वर एवं रामकृष्ण परमहंस के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्हें मानवेत्तर प्राणियों की भाव-संवेदनायें भी अपनी मर्मान्तक पीड़ा से अवगत करा देंती थीं। निरीह प्राणियों के शरीरों पर पहुँचने वाले कष्ट स्वयं उनकी काया पर उभर आते थे।

भावनाओं का विज्ञान समझ में न आता हो, यह अलग बात है, पर उनके अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता। वह किन प्रकाश परमाणुओं का उपादान है, संभव है भविष्य में उसका पता चला सके, पर उनकी शक्ति सामर्थ्य दैनिक जीवन-व्यापार में हर कोई देखता है। भावनाओं के आधार पर ही सृष्टि की क्रीड़ा चलती रहती है। भावविहीन वातावरण सुनसान मरघट की तरह जान पड़ता है।

मंत्र में यह भावनायें ही—श्रद्धा विश्वास भक्ति माध्यम से ही कार्य करती हैं। उन्हें जितना अधिक प्रखर और पवित्र बनाया जाता है, मंत्रशक्ति उतनी ही शीघ्र फल देने लगती है। आधे-अधूरे मन से जपा गया मंत्र फल तो देता है, पर उसमें थोड़ी देर लगती है। मंत्रशक्ति को प्रभावशाली बनाने में अन्तः श्रद्धा की प्रगाढ़ता ही प्रमुख भूमिका निभाती है। यही वह शक्ति है जो मंत्र को जीवन्त और सद्यः फलदायी बनाती है।

आस्था-क्षेत्र में विज्ञान का प्रवेश

वर्तमान में विज्ञान ने अपनी गतिमान शोध प्रक्रिया के द्वारा अनेकानेक नूतन आयामों को उद्घाटित किया है। इससे दृश्य जगत की कई पहलियाँ सुलझी भी हैं, साथ ही प्रकृति के अविज्ञात साधनों के उपयोग की विधा भी भली-भाँति समझ में आई है। किन्तु मनुष्य ने इन साधन-सुविधाओं का उपयोग अपने व्यक्तित्व की परिपक्वता या अपरिपक्वता के आधार पर ही किया है। इन सारी उपलब्धियों की सार्थकता तभी सिद्ध हो संकेगी जब मानवी मन उसे विधेयात्मक रूप में अंगीकार करें। इस हेतु शोध

के एक अन्य आयाम में प्रवेश करना होगा। जड को एक मात्र क्षेत्र न मानकर चेतना के क्षेत्र में प्रविष्ट होना अपरिहार्य है।

चेतना के विज्ञान को आत्मिकी का नाम दिया गया है। मानवी अंतराल में निहित बहुमूल्य रहस्यों का सदुपयोग न हो पाने के कारण मनुष्य इस शक्तिशाली भंडार का लाभ उठाने से वंचित रहा है। वंचित रहने में एक कारण यह भी है कि इसे अंधविश्वास, रूढ़िवाद के रूप में करार दिया गया। आज आप्त वचनों की दुहाई पर्याप्त नहीं, आवश्यकता तर्क, तथ्य, प्रमाणों की है। इसकी जिम्मेदारी विज्ञान ने हर क्षेत्र में सँभाली है। पदार्थ की तरह चिंतन चेतना के क्षेत्र में उसने मनोविज्ञान के रूप में आधिपत्य जमाया है तो यह उसी का दायित्व बन पड़ता है कि चेतना विज्ञान के सूत्रों पर प्रयोग अनुसंधान करके, उसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करे। ऐसे साधन जुटाये, समस्त उपाय आविष्कृत करे जिनको प्रयुक्त करने से मानवी काय संरचना तथा मनःसंस्थान की प्रसुप्त क्षमतायें उभारी जा सकें तथा व्यक्ति को वर्तमान से कहीं अधिक सक्षम, समर्थ एवं असाधारण बनाया जा सके।

अध्यात्म के कई उपचार मात्र श्रद्धा पर अवलंबित है। कभी समय था जब संयमित जीवन, साधना प्रक्रियाओं, तप के उपक्रमों, आप्त वचनों, आर्ष-साहित्य के कथनों को श्रद्धा के सहारे अपनाया जाता था और उनके परिणाम स्पष्ट गोचर होते थे। किन्तु आज मानव की बुद्धिवादी प्रकृति ने श्रद्धा के गूढ़तत्व में प्रवेश न कर पाने के कारण इनसे सर्वथा इनकार कर दिया है। इस प्रयोजन की पूर्ति प्रखर तथ्यों से ही कर सकना संभव है। विज्ञान साक्षी की आज प्रमाणिकता का परिचायक बन गई है। वरिष्ठता का चोला आज कल वैज्ञानिकता ने पहन रखा है। ऐसी स्थिति में विचार एवं भावना क्षेत्र के साम्य स्थापक तथ्यों को ढूँढ़ निकालने में उसे अग्रणी होना चाहिए। उपरोक्त तथ्य से सहमति व्यक्त करते हुए मूर्धन्य मनोविद इरा प्रोग्राफ ने अपनी कृति "डेथ एण्ड रिबर्थ आप साइकॉलोजी।' में कहा है कि मनोविज्ञान के परम्परागत अध्ययन को भारतीय साधनाओं में वर्णित प्रक्रियाओं से दिशा ग्रहण कर तत्संबद्ध शोध प्रयास करना होगा। इस तरह किया गया प्रयास नूतन मनोविज्ञान को जन्म देने वाला सिद्ध होगा। जिससे मानवी व्यक्तित्व को प्रखर बनाना संभव हो सकेगा।

लारेंस हाइड ने अपनी कृति "आइसिस एंड औरेसिस" में यही मत व्यक्ति किया है कि वर्तमान में प्रचलित उपरतलीय मनोविज्ञान की पद्धतियाँ, व्यक्ति के मनःक्षेत्र की गड़बड़ियों का सही निदान नहीं कर पाती हैं। इस सम्बन्ध में आध्यात्मिक साधनाओं पर अनुसंधान करने की आवश्यकता है। उनके अनुसार मनोविकारों एवं अन्तर्द्वन्द्वों से न केवल शारीरिक मानसिक रोग होते हैं। अपितु इस कुचक्र में फँस जाने पर आर्थिक पारिवारिक सामाजिक जीवन के भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की बात भी पूर्णतया स्पष्ट है। पुरातन काल में यही तथ्य पाप-पुण्य के प्रत्ययों से समझाया जाता था। आधुनिक काल में इसे इण्डीविजुअल साइकॉलोजी एवं सोसल साइकॅलोजी में सामंजस्य स्थापित कर समझाया जा सकता है। इसी को इरा प्रोग्राफ ने अपनी अन्य कृति "युंगस साइकॉलोजी एण्ड इट्स सोसल मीनिंग" में समझाते हुए कहा है कि "मनोविकारों एवं रोगों के प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में न रहकर सामाजिक क्षेत्र में भी कलुष उत्पन्न करते हैं। अतः इस स्तर पर व्यापक अनुसंधान अपरिहार्य है।

प्राचीन समय में साधना निग्रह, आहार-विहार, साधना, योग, तप, जैसे अध्यात्म, उपचारों को सफलता में देव अनुग्रह को माध्यम माना जाता था। अब इन्हीं को क्रिया-कृत्यों के सहारे, स्वसम्मोहन, अचेतन, परिशोधन, प्रसुप्त शक्तियों के ज़ागरण, संकल्पबल, एकाग्रता एवं इच्छाशक्ति के चमत्कार के रूप में सिद्ध किया जा सकता है।

मानवी सत्ता में निहित ऐसे अनेकानेक आधार अब विदित हो गये हैं जिन पर वैज्ञानिक प्रयोग करके व्यक्ति कि उपयोगी। विशिष्टताओं को उभारा और अनेक दृष्टियों से समर्थ बनाया जा सकता है। गुण, सूत्र, हारमोन्स, नाड़ी, गुच्छक एक प्रकार से षटचक्रों, उत्पादन क्रियाओं महा ग्रन्थियों के परिष्कार के रूप में पुरातन जैसी भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं।

प्राचीनकाल में ऋिद्धि-सिद्धियों की चर्चा अपने ढंग से होती थी। आज भी प्रसुप्त विशेषताओं का अस्तित्व स्वीकार करने और उभारने की संभावनाओं पर परा-मनोविज्ञान ने अपने समर्थन की मुहर लगा दी है। सम्मोहन, विचार संचालन, दूर श्रवण, भविष्य ज्ञान जैसे उपचार अब अध्यात्म न रहकर इस क्षेत्र की जानी मानी धारायें बन चुकी हैं। इनसे एक कदम और आगे बढ़ा जा सके तो बहुचर्चित ऋद्धि-सिद्धियों से आज के मनुष्यों को लाभान्वित होने का अवसर मिल सकता है। इन दिनों इन्हें कोतूहल की तरह देखा समझा जा सकता है पर अगले समय में इन्हीं उपलब्धियों को बड़े व्यापक रूप से उसी तरह प्रयुक्त किया जा सकेगा जिस तरह सम्मोहन आदि का प्रयोग चिकित्सा पद्धति के रूप होने लगा है।

आज व्यक्तित्वों को न केवल श्रेष्ठ वरन् अधिक समर्थ भी बनाये जाने की आवश्यकता है ताकि वे विकृतियों से बचाने में, विपत्तियों से जूझने-जुझाने में प्रवीण एवं सफल सिद्ध हो सकें। यह श्रेष्ठता एवं समर्थता शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तीनों ही स्तर की होनी चाहिए ताकि मनुष्य की कर्म, ज्ञान एवं भाव की त्रिविध धाराओं को उच्चस्तरीय बनाया जा सके। महामानव निर्माण का यह समग्र क्षेत्र अनुसंधान प्रक्रिया से गुजरे, यह समय की माँग है।

व्यक्ति के सुधार के लिए आमतौर से भाषण एवं पुस्तकों के सहारे प्रशिक्षित करने की बात सोची जा रही है, पर मानवी इतिहास के लगातार के अनुभव यह बताते हैं कि आस्था क्षेत्र में निकृष्टता की जड़ें जमी होने के कारण बाहरी सुझाव प्रभावी ही सिद्ध होते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि मानवी सत्ता का उद्‌गम केन्द्र अन्तःकरण है। उस क्षेत्र में भावनाओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं का साम्राज्य है उसे सँभालने सुधारने की सामर्थ्य भौतिक उपचारों में नहीं है, किन्तु बुद्धिवाद ने इसे अधंविश्वास करार कर दिया है। यदि इस क्षेत्र में वैज्ञानिकता प्रविष्ट हो सके तो ब्रेन वाशिंग की तरह आस्था परिष्कार की संभावना सिद्ध हो सकती है।

निश्चित ही व्यक्तित्व को परिष्कृत कर महामानव बनने की आध्यात्मिक आधारों को स्वीकार कर वैज्ञानिक प्रणाली आविष्कृत होने की पूर्ण सम्भावना है। समय-समय पर दार्शनिक, मनीषी, अध्यात्मवादी अपने-अपने सुझाव देते रहें हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अध्यात्मवादी एवं वैज्ञानिक दोनों संयुक्त रूप से इस शोध परियोजना को अपने हाथ में लें और अन्वेषण करें कि चिर काल में व्यवहृत एवं सफल होती रही मनुष्य में देवत्व के उदय की संभावना को वर्तमान परिस्थितियों में वर्तमान साधनों से किस प्रकार पुनर्जीवित किया जा सकता है।

प्राचीनकाल में मनुष्य में देव भाव के उदय एवं धरित्री पर स्वर्गिक वातावरण की परिस्थितियाँ रही हैं। अन्वेषण के नूतन प्रयास इस लुप्त कड़ी को पुनः जोड़ सकने में अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं। विज्ञान एवं अध्यात्म दोनों के संयुक्त प्रयत्न स्वयं सार्थक होकर मानव जाति को सार्थकता की ओर अग्रसर कर सकते हैं।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो

उन दिनों रामकृष्ण परमहंस हनुमान की साधना कर रहे थे। कुछ ही दिनों में उनकी प्रकृति में विलक्षण परिवर्तन दिखाई पड़ने लगे। बंदरों की तरह उछलना-कूदना, पेड़ पर चढ़ना-सब कुछ में कपि वृत्ति का विचित्र समावेश था। इतना ही नहीं, बंदरों की भाँति उनके पूँछ भी निकलने लगी। सभी हैरान थे, पर साधना की समाप्ति के साथ कुछ ही दिनों में वे अस्वाभाविक लक्षण स्वतः तिरोहित हो गये। ऐसे ही एक अवसर पर जब वे राधा भाव की साधना कर रहे थे तो उनके विचार व्यवहार, चाल-ढाल न सिर्फ स्त्रियों जैसे हो गये थे वरन् शरीर में स्त्रीगुण भी उभर आये थे। महिलाओं की तरह उरोज और मासिक स्राव भी शुरू हो गया था, किन्तु ज्यो हीं साधना पूरी हुई धीरे-धीरे सभी असमान्यताएँ अदृश्य हो गईं।

यहाँ चर्चा किन्हीं महापुरुष अथवा साधनाओं को नहीं की जा रही है। कहने का आशय मात्र इतना भर है कि अध्यात्म श्रद्धा-विश्वास को

जिस धुरी पर टिका है, उसे यदि प्रगाढ़ और प्रबल किया जा सके, तो आज जिस प्रकार इस सूक्ष्म विज्ञान की विश्वसनीयता पर उँगली उठायी जा रही है, उसकी गंजायश न सिर्फ सदा सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगी, अपितु अनेक ऐसी उपलब्धियाँ भी हस्तगत हो सकेंगी, जिसे अब तक पढ़ी-सुनी भर, कपोल-कल्पना भर मानी जाती रही थीं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि विश्वास में ऐसी कोई शक्ति है क्या, जिसके कारण ऐसे अनपेक्षित उपलब्धियाँ करतलगत कर पाना संभव हो ? उत्तर में चिकित्साशास्त्र का उदाहरण दिया जा सकता है। शरीर विज्ञान में मनःकामिक रोगों की उपज अन्तराल की उस आस्था को बताया गया है, जो निषेधात्मक चिन्तन के रूप में इतना सुदृढ़ हो जाता है कि अब तक जो चिन्तन मात्र था, वह व्याधि के रूप में प्रकट और प्रत्यक्ष होने लगता है। आरोग्यशास्त्र का उक्त सिद्धान्त प्रकारान्तर से उसी अध्यात्म को परिपुष्ट करता है कि विचार और विश्वास को यदि सबल और सशक्त बना लिया जाय, तो जो कुछ सोचा गया था, उसके मूर्तिमान होने में विलम्ब नहीं लगता। गीता में इसी का समर्थन "श्रद्धामयोऽयम पुरुषो यच्छ्रद्धः स एव सः कहकर किया गया है।

अध्यात्म इसी आस्था-विज्ञान का नाम है, उसमें आस्तिकता का स्थान तो है, पर वह तब तक कुछ कर पाने में सफल नहीं हो पाती, जब तक सर्वोपरि सत्ता के प्रति निष्ठा को परिपक्व न कर लिया जाय। ज्यों-ज्यों यह निष्ठा घनीभूत होती जाती है, त्यों-त्यों परिपाक के परिणाम ऐसे अद्भुत और अनूठे सामने आने लगते हैं, जिसे चमत्कार कहा जा सके। आस्तिक और आशुविश्वासी इसका सहज लाभ सरलतापूर्वक उठा लेते हैं, किन्तु प्रत्यक्षवाद के पक्षधर नास्तिक प्रकृति के लोग चूँकि ऐसा करने के समर्थ नहीं हो पाते, अतः ऐसे लाभों से वंचित रह जाते हैं और "नो सोल, नो गॉड," "ईश्वर मर गया" जैसी मनगढ़न्त बातें करने लगते हैं।

प्रसन्नता की बात यह है कि इन दिनों जब महाकाल का चक्र अपनी पूरी गति पर है, तो ऐसे लोगों की मूर्छता टूटी है, जो ईश्वर नाम की किसी सत्ता अथवा व्यवस्था से सर्वथा इनकार करते थे। अब उसी भूखण्ड से आस्तिकता का शंखनाद होने लगा है, जहाँ कभी अनास्था व नास्तिकता का वर्चस्व था। इससे यह सहज विश्वास होने लगा है कि आने वाले समय में सर्व समर्थ सत्ता के प्रति आस्था जगेगी और वह दृढ़ता पैदा होगी, जिसे तर्क की थोथी दलीलों की तरह नहीं, वरन् तथ्य और प्रमाण की तरह प्रत्यक्ष अनुभव की जा सके।

अमेरिका एक ऐसा ही देश है, जहाँ आजकल विश्वास-चिकित्सा की लहर-चल पड़ी है। वहाँ 'यूनिटी स्कूल ऑफ क्रिश्चियनिटी", "कम्यूनिटी ऑफ जीसस", "चर्च ऑफ यूनिर्वसल डिजाइन", "डोवीवाद", "दि चर्च ऑफ फादर डिवाइन", "दि एमेनुअल मूवमेण्ट", "क्रिश्चियन साइंस" एवं "न्यू थॉट मूवमेण्ट" जैसे नामों से विभिन्न केन्द्रों पर ऐसी ही चिकित्सा चलायी और मूर्द्धन्यों द्वारा अपनायी जा रही है। यह उपचार पद्धति कितनी जोर पकड़ती जा रही है, इसका अनुमान इसी बात से लगता है कि अब वहाँ प्रायः दस में से हर पाँच बुद्धिजीवी अपना काम आरम्भ करने से पूर्व प्रार्थना करते और भगवान से सफलता की याचना करते हैं। इनमें चिकित्सक, अभियन्ता, वक्ता, लेखक, कलाकार जैसे सभी क्षेत्र के लोग सम्मिलित हैं। एनाहिम (कैलिफोर्निया) के मेलोडीलैण्ड स्कूल में ऐसे ही एक उपचार केन्द्र की स्थापना की गई है, जिसमें प्रत्येक वृहस्पतिवार को हजार से भी अधिक लोग उपचार हेतु उपस्थित होते हैं। ऐसा ही एक केन्द्र फैमिंघम नामक कस्बे में श्री और श्रीमती अल्बर्ट डोपलर नामक प्रौढ़ दंपत्ति चलाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व तक ओहियो नगर में बी. मेडलिन नामक एक वयोवृद्ध महिला चिकित्सक ने इसी पद्धति द्वारा रोगियों का इलाज करते हुए प्रसिद्ध पायी थी। केप-ओड नामक स्थान में भी एक ऐसा ही आरोग्य केन्द्र काम कर रहा है।

विश्वास-चिकित्सा की विधि शाखाओं के संस्थापकों में फिल्मोर दंपत्ति विशेष उल्लेखनीय हैं। वे आरम्भ में स्वयं भी बीमार थे, किन्तु अपने अगाध ईश-विश्वास के कारण जब स्वस्थ

हुए, तो इसका प्रयोग अन्य अनेकों पर किया और उन्हें कष्टसाध्य व्याधियों से मुक्ति दिलायी।

यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि विश्वास एक ऐसा पारस है, जो लौह के संयोग से स्वर्ण जैसा सत्परिणाम प्रस्तुत करता है, उसमें इतनी अमोघ शक्ति है कि उसे दृढ़तापूर्वक जिस भी लक्ष्य पर संधान किया जाय, वहीं शब्द वेधी वाण जैसा चमत्कार उत्पन्न करता है। यह विश्वास किसी विचार के प्रति हो अथवा परमपिता के प्रति, जब वह गहन अन्तराल में अपनी जड़ें जमा लेता है, तो अपने सदृश्य परमाणुओं को दूर-दूर से खींच बुलाता और ऐसा वातावरण विनिर्मित करता है, जैसी इच्छा की गई थी। चुम्बक को जब धूल में रखा जाता है, तो वह मृत्तिका कणों को अपनी ओर नहीं खीचता, वरन् लौह कणों को ही आकर्षित करता है। विश्वास-चिकित्सा में भी यही विज्ञान कार्य करता है। जब कोई रोगी गहन आस्था के साथ परमेश्वर से आरोग्य की प्रार्थना करता है और ऐसा विश्वास करता है कि वह अवश्य स्वस्थ हो जायेगा, तो दो प्रकार की शक्तियाँ साथ-साथ कार्य करने लगती हैं। परमात्मा की समर्थ शक्ति और प्रबल संकल्प का स्वसंकेत—यह दोनो सत्ताएँ जब एकत्रित होती हैं, तो दिव्य वरदान जैसा प्रतिफल उपस्थित करती हैं और बीमार देखते-देखते स्वस्थ हो जाता है।

विश्वास-चिकित्सा के पीछे के इस विज्ञान को समझ लेने के उपरान्त नास्तिकों एवं संदेहशीलों को इस पर शंका करने की तनिक भी गुँजायश शेष रह नहीं जाती। आज के एड्स कैंसर एवं इस जैसे अन्य अनेक दुसाध्य व्याधियों को दूर करने का यह रामवाण उपचार हो सकता है। इससे गंभीर बीमारियाँ ही नहीं, विकट परिस्थितियाँ भी देखते-देखते दूर की जा सकती हैं। जब विश्वासपूर्वक उस "कर्तुमृकर्तुन्यथाकर्तुम्" में समर्थ सत्ता से प्रार्थना की जाती है, तो तत्क्षण उसकी समर्थ शक्ति कार्य करने लगती है और स्थिति-परिस्थिति को सामान्य एवं सहज बना देती है।

हम उस परमात्मा के प्रति यदि आस्था और श्रद्धा जगा सकें, तो न सिर्फ वर्तमान की विषम परिस्थितियों से त्राण पा सकेंग, अपितु उसकी समर्थ सहायता संकटों में, बीमारियों में, दुर्घटनाओं में भी पग-पग पर अनुभव कर सकेंगे। यह आज की सर्वोपरि आवश्यकता एवं सर्वसुलभ उपचार है। इस सरल-सस्ती प्रक्रिया को अपनाने में ननुनच नहीं किया जाना चाहिए।

❑ ❑
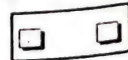
प्रेम ही परमेश्वर है

पढ़े सो पंडित होय—ढाई अक्षर प्रेम के

संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं, एक वह जो शक्तिशाली होते हैं, जिनमें अहंकार की प्रबलता होती है। शक्ति के बल पर वे किसी को भी डरा-धमकाकर वश में कर लेते हैं, कम साहस के लोग अनायास भी उनकी खुशामद करते रहते हैं किन्तु भीतर-भीतर उस पर सभी आक्रोश और घृणा ही रखते हैं। थोड़ी-सी साँस दिखाई देने पर लोग उससे दूर भागते हैं, यही नहीं कई बार अहं भावना वाले व्यक्ति पर घातक प्रहार भी होता है और वह अन्त में बुरे परिणाम भुगतकर नष्ट हो जाता है। इसलिये शक्ति का अहंकार करने वाला व्यक्ति अन्ततः बड़ा ही दीन और दुर्बल सिद्ध होता है।

एक दूसरा व्यक्ति भी होता है—भावुक और करुणाशील। दूसरों के कष्ट, दुःख, पीड़ायें देखकर उसके नेत्र पहले छलक उठते हैं। वह जहाँ भी पीड़ा, स्नेह का अभाव देखता है वहीं जा पहुँचता है और कहता है लो मैं आ गया—और कोई हो न हो तुम्हारा मैं जो हूँ, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा तुम्हारे पास जो कुछ नहीं है, वह मैं दूँगा—उस प्रेमी अन्तःकरण वाले मनुष्य के चरणों में संसार अपना सब कुछ न्यौच्छावर कर देता है इसलिये वह कमजोर दिखाई देने पर भी बड़ा शक्तिशाली होता है। प्रेम वह रचनात्मक भाव है, जो आत्मा की अनन्त शक्तियों को जागृत कर उसे पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचा देता है इसीलिये विश्व-प्रेम को ही भगवान् की सर्वश्रेष्ठ उपासना के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

जीवन के सुन्दरतम रूप की यदि कुछ अभिव्यक्ति हो सकती है तो वह प्रेम में ही है पर उसे पाने और जागृत करने का यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य सुख और मधुरता में ही विचरण करता रहे। वरन् उसे कष्ट, सहिष्णुता और उन वीरोचित प्रयत्नों का जागरण करना भी अनिवार्य हो जाता है, जो प्रेम की रक्षा और मर्यादा के पालन के लिये अनिवार्य होते हैं। प्रेम का वास्तविक आनन्द तभी मिलता है।

प्रेम संसार की ज्योति है और सब उसी के लिये संघर्ष करते रहते हैं, सच्चा समर्पण भी प्रेम के लिये ही होता है, इसलिये यह जान पड़ता है कि विश्व की मूल रचनात्मक शक्ति यदि कुछ होगी तो वह प्रेम ही होगी और जो प्रेम करना नहीं सीखता उसे ईश्वर की अनुभूति कभी नहीं हो सकती। तुलनात्मक अध्ययन करके देखें तो भी यही लगता है कि परमेश्वर के सब गुण प्रेम में ही समाये हैं, इसलिये परमेश्वर की सच्ची अभिव्यक्ति ही प्रेम है और प्रेम भावनाओं का विकास कर मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। प्रेम से बढ़कर जोड़ने वाली (योग) शक्ति संसार में और कुछ भी नहीं है।

पर यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि हमें जो वस्तु परम-प्रिय लगती है, उस पर हमारा अधिकार हो गया और यदि उसे सुविधापूर्वक नहीं प्राप्त कर सकते तो अनाधिकार चेष्टाओं द्वारा उसे प्राप्त करें। प्रेम-प्रेम की इच्छा तो करता है किन्तु उसकी रति आत्मा है कोई और माध्यम या साधन नहीं। आत्मा-जगत् अपने-आप में इतना परिपूर्ण है कि उसका रमण करने पर हमें वह सुख अपने-आप मिलने लगता है, जिसकी हम प्रेमास्पद से अपेक्षा रखते हैं इसलिये पदार्थों के प्रेम को क्षण-भंगुर और ईश्वरीय प्रेम को दिव्य और शाश्वत मान लिया गया।

वह निःस्वार्थ होता है और उसके लिये होता है, जो न कहीं दिखाई देता है और न सुनाई। मालूम नहीं पड़ता कि अपनी आवाज और भावनायें उस तक पहुँचती भी हैं अथवा नहीं, पर हमारी हर कातर पुकार के साथ अन्तःकरण में एक सन्तोष और सान्त्वना की

अन्तर्वृष्टि होती है। वह बताती है कि तुम्हारा विश्वास और तुम्हारी प्रार्थना निरर्थक नहीं जा रही । मूल में बैठी हुई आत्म-प्रतिभा स्वयं विकसित होकर मार्गदर्शन कर रही है। विकास की यह प्रक्रिया ईश्वर-प्रेमी की अनेक प्रसुप्त प्रतिभाओं और बौद्धिक क्षमताओं का जागरण ही करती है। मेलों में उड़ाये जाने वाले गुब्बारों के नीचे एक प्रकार का ऐसा पदार्थ जलाया जाता है, जिससे गैस बनती है और वह गैस ही उस गुब्बारे को उड़ाकर दूर क्षितिज के पार तक पहुँचा देती है।

प्रेम की अन्तःकरण में उठने वाली लपटें भी ऐसी हैं, जो शरीर की, मन की, बुद्धि की और आत्म-चेतना की शक्तियों का उद्दीपन कर उन्हें ऊपर उठाती रहती हैं और विकास की इस हलचलपूर्ण अवस्था में भी वह सुख और स्वर्गीय सौन्दर्य की रसानुभूति करता रहता है, भले ही माध्यम कुछ न हो। भले ही वह विकास के साथ ही रमण कर रहा हो, उसे अपना प्रेमी परमेश्वर दिखाई भी नहीं देता तो भी प्रकृति के अन्तराल से उसकी दिव्य-वाणी और उसका दिव्य-आश्वासन भरा प्रकाश छँटता ही रहता है।

निष्काम प्रेम में वह शक्ति है, जो प्रवाह बनकर फूटती है और न केवल दो-चार व्यक्तियों में वरन् हजारों-लाखों लोगों के जीवन में आनन्द का स्रोत बनकर उमड़ पड़ती है, वह हजारों कलुषित अन्तःकरणों को धोकर उन्हें निर्मल बना देती है। तुलसीदास जी ने भगवान से प्रेम किया था, प्रत्यक्ष में वह प्रेम किसी व्यक्ति के लिये नहीं था, किन्तु उनका प्रेम जब बहुजन हिताय रामायण के रूप में फूटा तो न केवल परमात्मा के प्रति भक्ति, श्रद्धा और विश्वास की लहरें फूटीं वरन् सेवा, सहिष्णुता, दाम्पत्य प्रेम, पारिवारिक मर्यादा, सन्तोष, दया, करुणा, उदारता, आदि उर्ध्वमुखी चेतनाओं की लहरें समाज में फूट निकलीं।

तुलसीदास जी नहीं रहे पर उनकी आत्मा आज भी हजारों लोगों को अपनी आत्मा से मिलाकर ईश्वरीय आभा में परिणत करती है। ईश्वर के प्रति प्रेम का अर्थ स्वार्थ या संकीर्णता नहीं वरन् अपने आपको उस मूल बिन्दु के साथ जोड़ देना है, जो अपने आपको जन-जन के जीवन में विकीर्ण करता रहता है। तात्पर्य यह कि जब हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, तब संसार में व्यक्त चेतना के प्रत्येक कण से प्रेम करते हैं, ईश्वर की वही परिभाषा भी तो है।

इसी छोटी-सी बात को न समझ पाने के कारण या तो लोग ईश्वर प्रेम के नाम पर कर्त्तव्य-परायणता से विमुख होते हैं अथवा पदार्थ या शारीरिक प्रेम (वासना) में इतने आसक्त हो जाते हैं कि प्रेम की व्यापकता और अक्षुण्ण सौन्दर्य के सुख का उन्हें पता ही नहीं चल पाता। ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ विश्व-सौन्दर्य के प्रति अपने आपको समर्पित करना होता है, उसमें कहीं न तो आसक्ति का भाव आ सकता है और न विकार। यह दोष तो उसी प्रेम में होंगे, जिस जिसे केवल स्वार्थ और वासना के लिये किया जाता है।

जीवन भर हम जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, ईश्वर प्रेम का प्रकाश उन सबके प्रति प्रेम के रूप में भी प्रस्फुटित होता है। इसलिये ईश्वर प्रेम और समाज-सेवा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही स्थितियों में आत्म-विकास और आत्म-कल्याण का उद्देश्य पूरा हो जाता है। किसी के साथ भी प्रेम क्यों न करें, उसका उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता होनी चाहिये। भगवान् की प्रसन्नता का अर्थ ही है—कि उस प्रेम में, भय, कायरता, क्षणिक सुख का आभास न होकर शाश्वत प्रफुल्लता और प्रमोद होना चाहिये। ऐसा प्रेम कभी बन्धन कारक या रुकने वाला नहीं होता। उसकी धारायें निरन्तर जीवन को प्राणवान् बनाती रहती हैं, वह मनुष्य ऊपर से चाहे कितना ही कठोर क्यों न दिखाई देता हो।

प्रेम योग का साधक उद्दाम भी होता है। इन्द्रियों के आकर्षण फुसलायें नहीं, कठोरता से दमन किये जाते हैं और इसके लिये साहस की ही आवश्यकता होती है। जो आत्म-दमन कर सकता है, वही सच्चा विजेता है। सच्चा विजेता ही सच्चा प्रेमी और ईश्वर का भक्त होता है। यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है। प्रेम की भावुकता और कर्त्तव्य की कठोरता दोनों विपरीत वस्तुयें-सी लगती है, किन्तु कर्मयोग के सच्चे

साधक को कठोरता में भी भावनाशीलता का सम्पूर्ण आनन्द मिलता है। इसलिये उसे मोह की आवश्यकता नहीं होती वरन् वह मोह के बीच में भी एक दिव्य प्रकाश की अनुभूति का आनन्द लिया करता है।

मर्यादाओं के पालन में जो कठोरता है, उससे प्रेम का, आत्मीयता का अभाव नहीं होता। अपनत्व तो संसार के कण-कण में विद्यमान है। ऐसा कौन-सा प्राणी है, ऐसा कौन-सा पदार्थ है जहाँ मैं नहीं हूँ ? प्राणी, पशु, कीट-पतंग सभी के अन्दर तो 'अहंभाव' से परमात्मा बैठा हुआ है पर तो भी किसी के लिये वह बन्धन तो नहीं है। वह बन्धन मुक्त आनन्द की स्थिति है, इसलिये वह किसी को आनन्द से गिरायेगा क्यों। वह दया और करुणा का सागर है, लोगों को उससे वंचित रखेगा क्यों ? लेकिन वह यह भी न चाहेगा कि एक जीव दूसरे जीव की आकांक्षाओं और मर्यादाओं पर छा जाये। संसार उसी का है पर तो भी वह इतना दयालु है कि किसी पर अपनी उपस्थिति भी प्रकट नहीं करता, किन्तु मर्यादाओं के मामले में वह कठोर और निपुण है किसी भी दुष्कर्म को प्राणी उससे छिपाकर नहीं ले जा सकता। उसका प्रेम निष्काम है, इसलिये जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति और अपने जीव-भाव को ब्राह्मीभाव से परिणत करने के लिये मनुष्य को भी उन्हीं नियमों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है अर्थात् प्रेम करना तो आवश्यक है पर उसमें कामनाओं का समावेश न होने देने के लिये उसे उतना ही कठोर ही होना आवश्यक है। उसके बिना प्रेम कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता।

प्रेम पृथ्वी की मिट्टी, सूर्य के कण और विश्व के कण-कण में व्याप्त परमाणुओं में छिपा हुआ स्पन्दन है। वह स्वर्गीय है, वह मर्त्यभाव में भी अमृतत्व का संचार किया करता है, जड़ में भी चेतनता की अनुभूति कराया करता है। इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि अपनी साधना के अन्तिम दिनों में महर्षि विश्वामित्र ने नदियों से बातचीत की थी। ऋग्वेद् में ऐसे सूक्त हैं, जिनके देवता नदी है और दृष्टा ने उनसे बातचीत की है। उस वार्तालाप में और कुछ आधार भले ही न हो पर उसमें समस्त जड़-चेतन जगत् के प्रति आत्मारोपण का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

उस विज्ञान को समझने में भले ही किसी को देर लगे, किन्तु भावनाओं में जड़-पदार्थों को भी चेतन कर देने की शक्ति है और प्रेम इन समस्त भावनाओं का मूल है, इसलिये यह कहना अत्युक्ति नहीं कि प्रेमी के लिये संसार में चेतन ही नहीं जड़ भी इतने ही सुखदायक होते हैं। जड़ भी प्रेम के आधीन होकर नृत्य करते हैं। प्रेम के लिये सारा संसार तड़पता रहता है, जो उस तड़पन को समझकर लेने की नहीं देने और निरन्तर देने की बात सोचता है, सारा संसार उसके चरणों पर निवेदित हो जाता है।

प्रेम-संसार का सर्वोपरि आकर्षण

क्या रागी और क्या विरागी, सभी यह कहते पाये जाते हैं कि—"यह संसार मिथ्या है, भ्रम है, दुःखों का आगार है।" किन्तु तब भी सभी जी रहे हैं। ऐसा भी नहीं कि लोग विवशतापूर्वक जी रहे हैं। इच्छापूर्वक जी रहे हैं और जीने के लिये अधिक से अधिक अवधि चाहते हैं, सभी मरने से डरते हैं। कोई भी मरना नहीं चाहता।

दुःखों के बीच जीने की यह अभीप्सा प्रकट करती है कि संसार में अवश्य ही कोई ऐसा आकर्षण है जिसके लिये सभी लोग दुःख उठाने में तत्पर हैं। देखा जा सकता है कि लोग सुन्दर फल-फूलों को प्राप्त करने के लिये कंटीले झाड़-झंखाड़ों में धँस जाते हैं। मधु के लिये मधुमक्खियों के डंक सहते हैं। मानिक-मातियों के लिये भयंकर जन्तुओं से भरे समुद्र में पैठ जाते हैं। वे फूलों, फलों, मधु और माणिक, मोतियों के लिये काँटों, मक्खियों और मगरमत्स्यों की जरा भी परवाह नहीं करते। उनकी चुभन, दंश और आक्रमण को साहसपूर्वक सह लेते हैं।

तो इस दुःख और कष्टों से भरे संसार सागर में ऐसा कौन-सा फल, मधु अथवा रत्न है जिसके लिये मनुष्य दुःखों का भार ढोता हुआ खुशी-खुशी जीता चला जा रहा है और जब

तक अवसर मिले, जीने की इच्छा रखता है ? निश्चय ही संसार का वह फल, वह मधु और वह रत्न प्रेम है, जिसके लिये मनुष्य जी रहा है और हर मूल्य पर जीना चाहता है। अब यह बात भिन्न है कि उसका अभीष्ट प्रेम सांसारिक है, वस्तु या पदार्थ के प्रति है अथवा प्रेम स्वरूप परमात्मा के प्रति है। दिशायें दो हो सकती हैं किन्तु आस्था एक है और आकर्षण भी अलग-अलग नहीं है। इसी प्रेमरूप आधार पर संसार ठहरा हुआ है। इसी के बल पर सारी विधि-व्यवस्था चल रही है। एक प्रेम ही संसार का सत्य और सार है।

प्रेम ही आनन्द का आधार है, और आनन्द ही मनुष्य की जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये ही जब मनुष्य सारे कष्ट उठाता हुआ सुख मानता है, तब यह जिज्ञासापूर्ण हो जाये, उसे प्रेम का सच्चा रूप प्राप्त हो जाये तब उसके आनन्द की सीमा कहाँ तक पहुँच जायेगी, इसका अनुमान कठिन है। इसे तो भुक्तभोगी ही जान सकते हैं।

जिनके हृदय में प्रेम का प्रकाश जगमगा उठता है उनके जीवन में आनन्द ही आनन्द भर जाता है। इस हाड़मांस से बने मानव शरीर में देवत्व की समाविष्ट का आधार प्रेम ही है। प्रेम की प्रेरणा से साधारण मनुष्य उच्च से उच्चतर बनता चला जाता है। प्रेम मानव जीवन की सर्वोच्च प्रेरणा है। शेष सारी प्रेरणायें इस एक ही मूल प्रेरणा की आश्रित शाखा-प्रशाखा हैं। स्वाधीनता और सद्गति दिलाने वाली भावना एकमात्र प्रेम ही है। संसार की रचना और प्रेरणा का सारा तत्व यह प्रेम ही है। इसी से जीवन समृद्ध बनता, दुःख की निवृत्ति होती है और परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। प्रेम परमात्म रूप है, आनन्द और उल्लास का आदि तथा अन्तिम स्रोत है।

प्रेम एक दिव्य तत्व है। इसके परिणाम भी सदैव तीनों काल में दिव्य ही होते हैं। आत्म-विश्वास, साहस, निष्ठा, लगन और आशा आदि के जीवन्त भाव प्रेमामृत की सहज तरंगें हैं। जिस प्रकार पर्वतों पर संचित हिम कुछ काल में परिपाक होने पर जल के रूप में बह-बहकर धरती को सराबोर कर देता है। उसकी जलन, उसका ताप और उसकी नीरसता हर लेता है, उसी प्रकार हृदय में संचित प्रेम भी परिपाक के पश्चात् बहकर मनुष्य और मनुष्यता दोनों को आनन्द, उल्लास और प्रसन्नता से ओतप्रोत कर देता है। प्रेम का अभाव मनुष्य को नीरस, शिथिल, अतृप्त और कर्कश बना देता है, जिससे जीवन का सौन्दर्य सारा आकर्षण और सारा उत्साह समाप्त हो जाता है। जो प्रेम का आदान-प्रदान नहीं जानता वह निश्चय ही जीना नहीं जानता। वास्तविक जीवन का लक्षण प्रेम ही है।

संसार अन्धकार का घर कहा गया है। विषय, वासनाओं के आसुरी तत्व यहाँ पर मनुष्य को अन्धकार की ओर ही प्रेरित करते रहते हैं। संसार की इन अन्धकारपूर्ण प्रेरणाओं के बीच प्रेम ही एक ऐसा तत्व है। जिसकी प्रेरणा प्रकाश की ओर अग्रसर करती है। प्रेम ही आत्मा का प्रकाश है। इसका अवलम्बन लेकर जीवन-पथ पर चलने वाले सत्पुरुष काँटों और कटुता से परिपूर्ण इस संसार को सहजानन्द की स्थिति के साथ पार कर जाते हैं। प्रेम का आश्रय परमात्मा का आश्रय है। इस स्थूल संसार को धारण और पोषण करने वाली सत्ता प्रेम ही है। यही प्रेम ही तो आत्मा के रूप में जड़-चेतन में परिव्याप्त हो रहा है। व्यक्ति और समष्टि में आत्मा का यह प्रेम प्रकाश ही ईश्वर ही मंगलमयी उपस्थिति का आभास करता है।

प्रेम का एक स्वरूप आत्मीयता भी है, जो कि मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति होती है। आत्मीयता की प्यास, प्रेम की आवश्यकता मनुष्य जीवन के लिये सहज स्वाभाविक है। इसकी पूर्ति न होने से मनुष्य एक ऐसा अभाव अनुभव करता है जिसका कष्ट संसार के सारे दुःखों से अधिक यातनादायक होता है बच्चा माँ से प्रेम चाहता है। पत्नी पति से प्रेम चाहती है और पुरुष नारी से प्रेम की कामना करता है। पड़ोसी-पड़ोसी से, राष्ट- राष्ट्रों से, मनुष्य-मनुष्यों से, यहाँ तक कि पशु और जड़ वस्तुयें भी प्रेम और आत्मीयता की भूखी रहती हैं। प्रेम पाने पर पशु अपनी भंगिमाओं से और जड़ पदार्थ अपनी उपयोगिता के रूप के प्रेम का प्रतिदान करते हैं। प्रेम का यह आदान-प्रदान रुक जाये तो संसार

असहनीय रूप से नीरस, कटु और तप्त हो उठे। पदार्थ अनुपयोगी हो जायें, पशु बर्बर हो उठें और मनुष्य घृणा, क्रोध और द्वेष की भावना से आक्रान्त हो अपनी विशेषता ही खो दें। चारों ओर ताप ही ताप परिव्याप्त हो जाये। प्रेम जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है जिसकी पूर्ति आदान-प्रदान के आधार पर होती ही रहनी चाहिये। तभी हम इस समस्त संसार के साथ विकास करते हुये अपने चरम लक्ष्य उस परमात्मा की ओर बढ़ सकेंगे जो आनन्दानन्द स्वरूप है, सत् है और चेतन है। प्रेम के आदान-प्रदान के बिना जीवन में सच्चा सुख, सच्ची शान्ति और सच्चा सन्तोष कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य आदि से अन्त तक कलप-कलप कर जियेगा और तड़प-तड़प कर मर जायेगा।

प्रेम मनुष्यता का सबसे प्रधान लक्षण है और इसकी पहचान है त्याग अथवा उपसर्ग। यों तो सभी मनुष्य प्रेम का दावा करते हैं। पर यथार्थ बात यह है कि उनका अधिकांश प्रेम स्वार्थ से प्रेरित होता है। अपने 'स्व', अपने 'अहं' की पूर्ति के लिये प्रेम का प्रदर्शन करते हैं और 'स्व' की तुष्टि हो जाने पर आँखें फेर लेते हैं। यह वह प्रेम नहीं है जिसे मनुष्यता का लक्षण कहा गया है। यह तो अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक उपाय है, साधन है। इससे वह आध्यात्मिक भाव, वह ईश्वरीय आनन्द जागत नहीं हो सकता जो कि सच्चे प्रेम की उपलब्धि है और जिसको पाकर मानव जीवन कृतार्थ हो जाता है।

जहाँ सच्चा प्रेम है, आध्यात्मिक आत्मीयता है वहाँ त्याग, उत्सर्ग और बलिदान की भावना होना अनिवार्य है। प्रेम में देना ही देना होता है, लेने की भावना का वहाँ अवसर नहीं रहता। लेन-देन लौकिक जीवन का साधारण नियम है। इसमें प्रेम श्ब्द का आरोप करना अन्याय है। प्रेम जैसे पवित्र तथा इच्छा रहित ईश्वरीय भाव का अपमान करना है। प्रेम विशुद्ध बलिदान है। इसमें प्रेमी अपने प्रिय के लिये सब कुछ उत्सर्ग करके ही तृप्ति का अनुभव करता है। प्रेम में देना ही देना होता है लेना कुछ नहीं। जहाँ पर परिवार, समाज, राष्ट्र और संसार के लिये निःस्वार्थ त्याग, निर्लेप बलिदान की भावना दिखलाई दे वहाँ पर ही प्रेम का अनुमान करना चाहिये। जिसमें दूसरों के लिये अपना सब कुछ दे डालने की भावना तो हो पर उसके बदले में कुछ भी लेने का भाव न हो तो समझना चाहिये कि उस मनुष्य में सच्ची मनुष्यता का निवास है, वह धरती पर शरीर से देवता और अपनी आत्मा से परमात्मा रूप है।

प्रेम संसार का स्थायी सत्य है। यों तो संसार के रूप में जो कुछ भी दिखलाई देता है, सब सत्य जैसा ही आभासित होता है। पर वह सत्य नहीं सत्य का भ्रम मात्र है। आज देखते हैं कि हमारा एक परिवार है, स्त्री है, बच्चे हैं, हम स्वयं हैं। जमीन है, जायदाद है, धन-दौलत है, सम्पत्ति है, सम्पदा है। सब व्यवहार में आते हैं, सब सत्य जैसे भासित होते हैं। पर क्या यह स्थायी सत्य है। कारण आता है—परिस्थिति उपस्थित होती है तो जीवन की अवधि समाप्त हो जाती है, सब कुछ स्वप्न हो जाता है। कारण आता है—परिस्थिति उत्पन्न होती है तो जमीन बिक जाती है, जो कुछ कल हमारा था आज दूसरे का हो जाता है। ऐसी परिवर्तनशील बातों को सत्य कैसे माना जा सकता है ? सत्य वह है जो तीनों कालों में एक जैसा ही बना रहे। प्रेम ही केवल ऐसा सत्य है जो अपरिवर्तनशील और तीनों कालों में स्थिर बना रह सकता है। प्रिय के बिछुड़ जाने पर उसके प्रति रहने वाला प्रेम नहीं मरता। वह यथावत् बना रहता है। जमीन-जायदाद चली जाती है पर उसके प्रति लगाव समाप्त नहीं होता, धन चला जाता है पर उसके प्रति अभीप्सा बनी रहती है। प्रेम ही संसार का स्थिर तथा स्थायी सत्य है और सारी वस्तुयें नश्वर तथा परिवर्तनशील हैं। ऐसे प्रेम की साधना छोड़कर लौकिकता की आराधना करना, सत्य को छोड़कर उसकी छाया पकड़ने की तरह अबुद्धिमत्तापूर्ण है।

प्रेम का ग्रहण परमात्मा की प्राप्ति है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुये ही महात्मा ईसा ने कहा है—"हमें एक-दूसरे को प्रेम करना चाहिये, क्योंकि प्रेम ही परमात्मा है। ईश्वर को वही जानता है जो प्रेम करता है।" प्रेम परमात्मा की उपासना का भावनात्मक रूप है। जो आत्म को, परिवार को, राष्ट्र और समाज को प्रेम करता

है। सारे मनुष्यों यहाँ तक कि समस्त जड़-चेतन में आत्मीयता का सच्चा भाव रखता है, वह परमात्मा का सच्चा भक्त है। प्रेम हृदय की उस पवित्र भावना का वाचिक रूप है जो अद्वैत को बोध कराती है। उसे 'मैं' और 'तुम' का अपने पराये का बिलगाव नहीं रहता। समष्टिगत विशाल भावना का निःस्वार्थ परिपाक प्रेम है जिसकी आराधना मानव को महामानव और पुरुष को पुरुषोत्तम बना देती है। अस्तु, इसी साध्य और महानता की उपासना श्रेयस्कर है, कल्याण तथा मंगलकारी है।

प्रेम और उसकी शक्ति

प्रेम, आत्मीयता मनुष्य ही सहज स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं, जिनके व्यक्त न होने पर मनुष्य जीवन में एक अभाव-सा अनुभव करता है। लीबमैन ने लिखा है "अपने पड़ौसी से मैत्री भाव रखना, उससे प्रेम करना, स्वयं से प्रेम करने की आवश्यक सीढ़ी है।" दूसरों से प्रेम प्राप्ति की ही नहीं वरन् अपना प्रेम दूसरों को देने की भी प्रबल वृत्ति मनुष्य में काम करती है। जब तक इसकी पूर्ति नहीं होती मनुष्य को पूर्णतः सन्तोष, शान्ति प्राप्त नहीं होती, न उसका आन्तरिक विकास होता है।

जीवन में प्रेम एक महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक आवश्यकता है। मनुष्य को जब तक किसी के प्रेम की प्राप्ति नहीं होती तब तक उसे जीवन में कुछ अभाव और अशांति का अनुभव होता है। प्रेम प्राप्ति की भूख बचपन में अधिक पाई जाती है। जिन बच्चों को अपने माँ-बाप का प्रेम नहीं मिलता, उनका व्यक्तित्व पुष्ट नहीं होता। कई मानसिक रोगों का कारण तो बचपन में माँ-बाप के प्यार का अभाव होना ही होता है। चिन्ता, घृणा, क्रोध, हीनता की भावना बहुत कुछ इसी कारणवश पैदा हो जाती हैं। दूसरों के स्नेह प्रेम से वंचित व्यक्तियों को संसार निर्दयी, क्रूर और क्लेशमय नजर आता है।

प्रेम प्राप्ति की तरह ही मनुष्य में प्रेम देने की भावना भी होती है। प्रेम लेने की भावना बचपन की निशानी है। प्रेम देने की भावना पुष्ट व्यक्तित्व और प्रौढ़ता का आधार है। प्रेम लेने की भावना स्वार्थ परावलम्बन का रूप है तो प्रेम देना परमार्थ और स्वावलम्बन है।

प्रेम देने की भावना की अभिव्यक्ति करने के लिये दूसरों की सेवा सहानुभूति, दूसरों के लिये उत्सर्ग का व्यावहारिक मार्ग अपनाना पड़ता है और इससे एक सुखद शान्ति, प्रसन्नता, सन्तोष की अनुभूति होती है। दूसरों की कठिनाइयाँ दूर करने के प्रयत्न में स्वयं स्वतः दूर हो जाती हैं। दूसरों से आत्मीयता रखने पर आत्म-प्रेम, आत्म-मैत्री सहज ही हो जाती है। मन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रीभूत होकर काम करने लगी हैं। इस तरह प्रेम-मैत्री एक सहज और स्वाभाविक आवश्यक वृत्ति है जिससे मनुष्य को विकास, उन्नति, आत्म-सन्तोष की प्राप्ति होती है।

छोटा बच्चा सदैव दूसरों का प्यार चाहता है, चाह या स्वार्थ बचपन की स्थिति है, जिसमें दूसरों से सुख, आराम, प्रेम की आकांक्षा रहती है। यह वृत्ति अधिक उम्र वालों में भी हो सकती है। बचपन से आगे की विकसित भावना है अपने आपके सुखोपभोग आवश्यक पदार्थों का दूसरों के लिये त्याग करना। यह प्रेम देने की वृत्ति है। जिसमें त्याग है, कष्ट सहिष्णुता है, वही आत्म-विकास की सच्ची कसौटी है। त्याग से प्रेम के स्वरूप का निर्णय होता है। इस तरह प्रेम स्वार्थ से परमार्थ की साधना है। जो प्रेम के लिये—परमार्थ के लिये अपने आपको घुला देता है वही आत्म-विकास की उच्च स्थिति प्राप्ति करता है।

यज्ञाग्नि के दो स्वरूप माने गये हैं एक 'स्वाहा' दूसरा 'स्वधा'। स्वाहा का अर्थ है आत्माहुति, देना, त्याग-उत्सर्ग करना और स्वधा के माने है आत्म-धारण करना। दोनों संयुक्त स्वरूप में यज्ञाग्नि प्रकट होती है। प्रेम की आकांक्षा, इच्छा, प्रेम प्राप्ति का भाव, आत्म धारण करने के लिये है। प्रेम धारण नहीं किया जायेगा तो फिर दिया कहाँ से जायेगा। प्रेम प्राप्ति की लालसा सहज रूप में प्रेम यज्ञ का प्रारम्भिक कृत्य है। आम का पौधा सिंचाई, सुरक्षा, खाद, सेवा आदि के रूप में जब स्वधा शक्ति प्राप्त करता है तभी उस शक्ति को कई गुना असंख्यों रूपों में उत्सर्ग कर सकता है। स्त्री अपने पति का अजस्र प्रेम प्राप्त करके ही उसे बालकों को दे सकने में समर्थ होती है। जिसे किसी का प्रेम नहीं मिला वह दूसरे को भी शायद ही कुछ दे सके।

स्वधा शक्ति की प्राप्ति के अनन्तर मनुष्य के भावों का विकास होता है और वह अपने आपको स्वाहा करने लगता है, त्याग, आत्मोत्सर्ग करता है और स्वार्थ की जगह परमार्थ-त्याग स्थान ले लेता है। जिससे प्रेम किया जाता है उसके लिये त्याग करने की इच्छा बढ़ जाती है। मनुष्य कष्ट उठाने लगता है। तब प्रेम का व्यावहारिक स्वरूप त्याग ही हो जाता है। त्याग, आत्मोत्सर्ग, बलिदान की स्थिति के अनुसार ही प्रेम का सत्य स्वरूप विकसित होने लगता है। जब मनुष्य अपने आपको पूर्णतया स्वाहा कर देता है तब एकमात्र प्रेम की सत्ता ही सर्वत्र शेष रह जाती है।

जहाँ पुरस्कार की आकांक्षा है वहाँ प्रेम नहीं रहता। प्रेम केवल उत्सर्ग करना ही जानता है। जहाँ बदले में लेने की भावना है वहाँ प्रेम नहीं स्वार्थ है। उससे मनुष्य की आत्मा को परितोष प्राप्त नहीं होता। मनुष्य के आन्तरिक बाह्य जीवन में अशान्ति, क्लेश, असन्तोष ही बना रहेगा। स्त्री-पुरुष, माता-पिता और सन्तान, मित्र-मित्र, भक्त और भगवान, मनुष्य के बीच जब स्वार्थमय प्रेम का आचरण होने लगता है तो सदैव विपरीत परिणाम ही मिलते हैं। गृहस्थ जीवन की अशान्ति, कलह, राग, द्वेष, मनुष्य-मनुष्य के बीच की धोखेबाजी, चालाकी, माता-पिता के प्रति अनुशासनहीनता, क्रूरता, भगवान के प्रति नास्तिकता, अविश्वास मनुष्य के बनावटी प्रेम की आड़ में काम कर रहे स्वार्थ लोभ, मोह आदि के ही परिणाम हैं—प्रेम के माध्यम से पुरस्कार प्राप्ति की लालसा के परिणाम हैं।

प्रेम दिव्य-तत्व है। इसके परिणाम सदैव दिव्य ही मिलते हैं। किन्तु वह तब जबकि मनुष्य पुरस्कार की कामना से रहित होकर केवल प्रेम के लिये त्याग, बलिदान, श्रमोत्सर्ग करता है। प्रेम का पुरस्कार तो स्वतः प्राप्त होता है और वह है आत्मसन्तोष, शान्ति, प्रसन्नता, जीवन में उत्साह आदि। प्रेम तो मनुष्य की चतना का विकास कर उसे विश्व-चेतना में प्रतिष्ठित करता है।

प्रेम प्रेरित त्याग-विचारों में एकाग्रता पैदा होती है। मानसिक स्थिरता से पूर्ण तादात्म्य और इससे आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। भक्ति-योग का तत्वज्ञान हृदयंगम किया जाना ईश्वर प्राप्ति के लिये आवश्यक मार्ग है।

जब किसी काम से प्रेम नहीं होता तो उसमें कर्त्तव्य बुद्धि नहीं रहती। मनुष्य कई भूलें करता है, काम को बिगाड़ता है। वह उसे भार स्वरूप लगता है—दुखद बन्धन जैसा। मनुष्य अपने काम से जी चुराने लगता है। प्रेम की शक्ति से ही कर्त्तव्य पूर्ण होता है। इसके अभाव में जबरन कार्य करने पर मनुष्य को शारीरिक और मानसिक रोग सताने लगते हैं।

प्रेम के भाव में कठिन काम भी सरल बन जाते हैं। उनमें कठिनाइयाँ होते हुये भी फूल चुनने जैसी सरलता महसूस होती है। प्रेम की अवस्था में कष्ट नाम की कोई स्थिति ही नहीं। प्रेम की धुन में कर्त्तापन और कर्मफल का ध्यान नहीं रहने से यह योग की सी स्थिति बन जाती है। केवल कर्त्तव्य ही सामने रहता है।

कर्त्तव्य के अभिमान और फल की आकांक्षा के साथ ही क्षमताओं का विकास रुक जाता है। यही कारण है कि एक सरकारी नौकर को दफ्तर का चार-छः घण्टे का काम ही "बोर" कर देता है जब कि देश-प्रेमी, समाज-सेवी, सेवानिष्ठ लोग अठारह घण्टे काम करके भी नहीं थकते। प्रेम एक व्यापक तत्व है। उसके साथ ही अनन्त शक्ति सामर्थ्य रहता है। साधारण तौर से व्यक्ति महामानव बन जाता है।

प्रेम से प्रसन्नता और सहज आनन्द मिलता है। जिसमें शक्तियों का उद्रेक उसी तरह होता है जैसे पर्वतराज हिमालय अपने हृदय के अवयवों को पिघलाकर अनन्त नदी स्त्रोत बहा देता है। आत्मविश्वास, निष्ठा, लगन, आशा की प्रबल हिलोरें मनुष्य के हृदय में उठने लगती हैं जो एक छोटे से पुतले को तरंगित कर ऊँचा उठा लेती हैं। प्रेम अभाव में मनुष्य थका-थका सा रहता है। काम में मन नहीं लगता। फिर किसी भी क्षेत्र में सफलता मिलना दूर की बात है।

प्रेम गिरे हुये व्यक्तियों को उठाता है। क्योंकि गिरे हुये व्यक्तियों में वे होते हैं जिनके जीवन में प्रेम, स्नेह का अभाव रहा है। घर में परिजनों के प्रेम से वंचित लोग व्यसनी, पर

स्त्री-गामी, चरित्रहीन और पतित हो जाते हैं। पति अथवा सास-स्वसुर के अत्याचार से पीड़ित स्त्री. घर से बाहर जाकर प्रेम की चाह करती है, जिससे उसे भ्रष्ट अथवा दूषित कहा जाता है। माँ-बाप के प्रेम से वंचित बच्चे निराशावादी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, घृणा करने वाले, अन्यमनस्क, चरित्रहीन बन जाते हैं। लोगों में फैली हुई बहुत बुराइयों का मुख्य कारण उन्हें जीवन में दूसरों के स्नेह-प्रेम से वंचित होना ही होता है। कोई भी प्रेममय व्यक्ति इन लोगों को अपना प्रेम देकर फिर से सुधार सकता है। हमारे ऋषियों से महात्मा बुद्ध, सुकरात, ईसा, मुहम्मद, रामकृष्ण आदि ने अनेकों पतितों को अपना निश्छल सहज प्रेम देकर असंख्यों पतितों का उद्धार किया।

जब मनुष्य का दृष्टिकोण प्रेममय होता है तो उसे दूसरों के दुर्गुण न दिखाई देकर सद्गुण दिखाई देते हैं। इससे मनुष्य के दोष दर्शन का दुर्गुण दूर हो जाता है। दूसरों के दुर्गुण न देखने से आलोचना में भी मन नहीं लगता। हिंसा, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, डाह की भावनायें प्रेम से धुल जाती हैं। प्रेम में हिंसा नहीं दया, करुणा का निवास होता है। प्रेममय व्यक्ति अपना अहित करने वालों के प्रति भी दया, क्षमा, सहिष्णुता की भावना रखता है। उनके सुधार के लिये शुभ कामना करता है।

मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण, चिन्तन होता है वैसा ही उसके लिये यह संसार दिखाई देता है। मनुष्य जब दूसरों से प्रेम करता है तो दूसरे भी उसे प्रेम करते हैं। उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं। संसार कुए की आवाज है। मनुष्य संसार के प्रति जैसा आचरण करेगा, संसार से उसे वैसा ही प्रत्युत्तर मिलेगा। प्रेम से ही प्रेम मिलता है। प्रेम मैत्री के विचार पहले व्यक्तिगत जीवन में ही आत्म-प्रेम, आत्म-प्रसाद के रूप में मिल जाते हैं। इतना ही नहीं प्रेम एकात्मकता पैदा करता है। देखा जाता है कि जिन व्यक्तियों में परस्पर प्रेम होता है उनके रंग, रूप, स्वभाव, विचार धीरे-धीरे एक से बन जाते हैं।

प्रेम एक तरह की मानसिक स्थिति है। इसका प्रवाह जिस ओर होगा उसी तरह के परिणाम भी प्राप्त होंगे। प्रेम का सहज और सरल प्रवाह नैसर्गिक कार्यों में होता है। पानी सदैव ऊपर से नीचे की ओर बहता है। किन्तु किसी पेड़ की जड़ों द्वारा सोख लिया जाता है तो वही मधुर फलों, सुन्दर फूल और शीतल छाया में परिवर्तित हो जाता है। सांसारिक प्रवाह में प्रेम शक्ति के लगे रहने पर मनुष्य का जीवन पाशविक परिधियों में घिरा रहता है। प्रेम के प्रवाह का संचालन विवेक द्वारा होने पर वह जीवन में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की प्राप्ति कराता है। जीवन विकास की ओर अग्रसर होता है। बार-बार अपने आदर्श के प्रति बाह्य और आन्तरिक क्षेत्र में प्रेम शक्ति का अभ्यास करने पर वैसा ही स्थाई भाव बन जाता है। फिर उसी की प्रेरणा से जीवन संचालन होने लगता है। इस तरह के स्थायी भाव प्रारम्भ में अधिक भी हो सकते हैं किन्तु उन सबमें समन्वय होना आवश्यक है। उच्च श्रेणी के श्रेष्ठ भावों की दिशा भी यदि अलग-अलग होगी तो वे आपस में टकरायेंगे और प्रेम की शक्ति नष्ट होगी।

प्रेम समस्त सद्-प्रेरणाओं का स्रोत

जीवन में जिन व्यक्तित्वों ने विशेष विकास और विस्तार पाया है, उसका मूल आधार अधिकांशतः प्रेम ही रहा है। बिना प्रेम के किसी क्षेत्र में विकास होना सम्भव नहीं। फिर चाहे वह क्षेत्र लौकिक रहा हो अथवा आध्यात्मिक।

दैवी भाव होने से प्रेम अपने प्रकाश में मोह, लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष आदि के अन्धेरे तथा कलुषित भाव नहीं आने देता है। बाधाओं का निराकरण होना ही विकास की परिस्थिति है। जीवन एक गतिशील प्रवाह है। इसे जिधर जिस दिशा में लगा दिया जाता है, यह उसी दिशा में बहता और बढ़ता चला जाता है। प्रवाह के पथ में अवरोधों का अभाव उसके बढ़ने में सहायक होता है। प्रेम एक ऐसा गुण है, जो मनुष्य के आन्तरिक अवरोधों के साथ-साथ बाह्य अवरोधों को भी दूर करता है। असहयोग, असहायता और प्रवंचना जैसी प्रतिकूलतायें प्रेम से परिपूर्ण व्यक्ति के सामने नहीं आतीं और यदि संयोगवश आती भी हैं तो वे प्रेम की वशीकरण शक्ति के प्रभाव

अबाध एवं अविच्छिन्न गति से बहता और बढ़ता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है।

प्रेम में एक अलौकिक शक्ति रहा करती है। ऐसी शक्ति जिसकी तुलना बाहु-बल अथवा बुद्धि बल से नहीं की जा सकती। जिस कार्य को कोई बड़ा सम्राट् अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा-कर नहीं कर सकता, उसे एक प्रेम परिप्लावित संत सहज ही में कर सकता है। जो द्वेष, जो विग्रह और जो संघर्ष वर्षों के शस्त्र प्रयत्न द्वारा नहीं मिटाये जा सकते, वे प्रेमाधारित संधि द्वारा शीघ्र ही प्रशमन किये जा सकते हैं। दो व्यक्ति अथवा दो राष्ट्र जब मोह, भ्रम के कारण बहुत समय तक संघर्ष में लगे रहने के बाद युद्ध की विभीषिका और उसकी निरर्थकता का अनुभव कर लेते हैं, तब प्रेमपूर्ण पारस्परिकता का सहारा लेकर समस्याओं का निबटारा किया करते हैं। अभय और प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही द्वेष मिट जाता है, दृष्टिकोण बदल जाता है और संधि की सम्भावनायें उन्मुक्त हो जाती हैं। प्रेम पर आधारित संधियों में ही स्थायित्व होता है। नहीं तो छलों, विवशताओं और स्वार्थों पर निर्भर मित्रता शीघ्र ही अस्तित्वहीन होकर संघर्ष की पुनरावृत्ति कर देती है।

हृदय की निष्कलंक निष्ठा का दूसरा नाम प्रेम है। निष्ठा ही वह तत्व है, जिसके आधार पर संसार का विकास होता चला आया है और आगे भी जो विकास होना है, उसका आधार भी यह निष्ठारहित कर्त्तव्यों में वास्तविक जीवन का अभाव रहता है। व्यक्ति की उन्नति का भी आधार यह निष्ठा ही होती है। अनिष्ठवान् व्यक्ति का हृदय आलस्य, अरुचि और अकर्तृत्व के दूषित भावों से उसी प्रकार भर जाता है, जैसे कोई पुराने भग्नावशेष धूल, मिट्टी और घास-फूस से आच्छन्न हो जाते हैं। विकास अथवा सफलता के लिये यह प्रतिकूल स्थिति है, जिसमें विकास की आशा नहीं की जा सकती। इसके विपरीत जब आशा, कर्मठता, उत्साह एवं स्फूर्ति की स्थिति प्राप्त होती है तो मनुष्य जाने, अनजाने दोनों दोनों तरह से लक्ष्य की ओर स्वतः ही बढ़ता जाता है। यह प्रेरणापूर्ण अवस्था एकमात्र निष्कलंक निष्ठा से ही पाई जा सकती है।

भगवान् ने गीता में जिस निष्काम कर्मयोग का निर्देश किया है, उसका मुख्य तात्पर्य निष्कलंक निष्ठा से ही है। कामनाओं के साथ जिन कर्त्तव्यों का आचरण किया जाता है, उनमें कुशलता की प्राप्ति नहीं होती। अस्पताल का एक नौकर व परमार्थ भाव वाला एक जन-सेवक, दोनों ही दूसरों की परिचर्या किया करते हैं। किन्तु जो दक्षता और जो प्रभाव जन-सेवक की सेवा में रहता है, वह नौकरी मात्र का भाव रखने वाले कर्मचारी की सेवा मे नहीं होता। इसका कारण यही है कि नौकर का उस काम में अपना स्वर्थ रहता है, कार्य के प्रति उसकी निष्ठा विवशता से बोझिल रहा करती है। अपने कर्त्तव्य का पालन करता तो है, किन्तु किसी यंत्र की तरह। उसके उस कर्तव्य में प्रेम भाव का अभाव रहता है। कर्त्तव्य के प्रति जब तक निष्काम भाव का विकास नहीं होता, तब तक उसमें अपेक्षित कुशलता का भी समावेश नहीं होने पाता। विशुद्ध कर्त्तव्य भावना से किये जाने वाले कर्मों के प्रति मनुष्य का वास्तविक प्रेम जुड़ जाने से उसमें निष्ठा का भाव आप से आप आ जाया करता है जिसके कारण सारे काम कुशलतापूर्वक संपादित होते चले जाते हैं।

मानव-जीवन का संचालन जिस प्रेरणा द्वारा होता है, वह प्रेरणा प्रेम ही है। पवित्र होने के कारण प्रेम की प्रेरणा मनुष्य को ऊर्ध्व दिशाओं में परिचालित किया करती है। प्रेम में आडम्बर, प्रवंचना अथवा छल-कपट का भाव न रहने से मनुष्य की जीवन गति स्वभावतः परमार्थ दिशाओं की ओर उन्मुख होती रहती है। जो सौभाग्यवान् सत्पुरुष निःस्वार्थ प्रेम की प्रेरणा से परिचालित होते हैं वे, इस जीवन में सुख संतोष पाकर पर अथवा पारलौकिक जीवन में सद्गति के अधिकारी बना करते हैं। उन्हें प्रेम के प्रसाद द्वारा उत्कृष्ट और दैवी गतियाँ प्राप्त होती हैं। आत्मा से उद्भूत प्रेरणा मनुष्य को परमात्मा के प्रति जागरूक बनाती है तथापि मनुष्य की आत्मा भी पुण्य प्रेरणा का स्रोत बन तभी पाता है, जब उसको निःस्वार्थ और निष्कलंक प्रेम द्वारा कोमल, करुण और संवेदनशील बना लिया जाता है।

न केवल प्रेरणा ही बल्कि प्रेम मनुष्य जीवन की स्वाभाविक आवश्यकता भी है। इस

आवश्यकता की पूर्ति हुये बिना जीवन जड़, अशांत, असन्तुष्ट और नीरस बना रहता है। जीव-मात्र प्रेम के आदान-प्रदान की सरस प्रक्रिया के आधार पर ही तो इस संकट और आपदाओं से भरे संसार में सुखपूर्वक जीता चला जाता है। जीवन में जब तक प्रेम की प्राप्ति नहीं होती, एक अभाव, एक अशांति और एक कुण्ठा का अरुचिकर अनुभव होता रहता है और मनुष्य शीघ्र ही जीवन से छुटकारा पाने की सोचने लगता है। जिन बच्चों को अभिभावकों का प्रेम नहीं मिलता, वे प्रारम्भ से ही क्रोध, द्वेष, कर्कशता और कठोरता के आसुरी भावों से आक्रान्त होने लगते हैं। उनका शारीरिक और मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। जिन पुरुषों को प्रेम नहीं मिल पाता, उनके अपराधी बन जाने की आशंका रहती है।

प्रेम के अभाव में अधिकांश लोग समाज के विरोधी और विध्वंसक बन जाते हैं। मनुष्य के प्रच्छन्न आसुरी भावों का शमन प्रेम द्वारा ही होना सम्भव होता है। समाज में शांति और व्यवस्था बनाये रहने के लिये जहाँ राजदण्ड की आवश्यकता है, वहाँ पारस्परिक प्रेम भी कुछ कम अपेक्षित नहीं होता। संसार के प्रायः सभी समाजों में राजदण्ड की व्यवस्था रहती है तथापि उनमें अपराध और अपकर्म करने वाले उसकी शान्ति को क्षति पहुँचाते ही रहते हैं। इसका कारण प्रेम का अभाव ही होता है। यदि सभी व्यक्तियों को अपने पूरे समाज से प्रेम हो, समाज का सुख-दुःख, विकास, ह्रास को वे अपनी ही हानि-लाभ समझें तो समष्टि रूप में सद्भावों की एक बड़ी सीमा तक वृद्धि हो सकती है।

पशु-पक्षी आदि मनुष्येत्तर प्राणियों में अपने-अपने समूह के प्रति एक नैसर्गिक प्रेम होता है। इसी प्रेम के आधार पर कोई राज्य व्यवस्था अथवा दण्ड न होने से, उनमें कदाचित ही सामूहिक अशांति और अव्यवस्था आने पाती है। अपराधों और अपकर्मों का कारण मनुष्य का आसुरी भाव ही होता है। प्रेम की पावन प्रेरणा से जिसका निराकरण किया जा सकना असम्भव नहीं है।

जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा में प्रेम पाने की प्यास रहती है, उसी प्रकार उसकी आत्मा प्रेम प्रदान करने के लिये भी व्याकुल रहती है। जिसका प्रेम उसके अन्तःकरण में बन्द पड़ा रहता है और अभिव्यक्ति का अवसर नहीं पाता, उस मनुष्य का व्यक्तित्व भी पूरी तरह से पुष्ट और विकसित नहीं होने पाता। उसके जीवन प्रवाह की गति अवांछित दिशा में मुड़ जाने की आशंका बनी रहती है। जिस प्रकार पानी, अग्नि, वायु का आवेग मार्ग न पाने ने विस्फोट को जन्म दे देता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण में बन्दी प्रेम का आवेग भी ध्वंसक बन सकता है। मनुष्य को प्रेम स्वीकार करना ही चाहिये। प्रेम का आदान-प्रदान संसार की एक अनिवार्य आवश्यकता है, मानव-कल्याण का सम्पादन करने के लिये जिसकी पूर्ति की जानी चाहिये।

बहुत बार लोग इस शिकायत के आधार पर विपथगामी बन जाया करते हैं कि उन्हें न तो प्रेम मिला ही और न उनका प्रेम स्वीकार ही किया गया। ऐसे असफल व्यक्ति यदि ईमानदारी से अपने अन्तःकरण की खोज करें, तो उन्हें पता चल जाये कि उनकी शिकायत समीचीन नहीं है। अथवा उनकी प्रेम भावना में कोई दोष रहा होगा। प्रेम देने की भावना में जब किसी प्रच्छन्न नीति का समावेश रहता है, तब वह अमृत विष की तरह लोगों को अग्राह्य बन जाया करता है और प्रेम पाने की लालसा में निहित लाभ का भाव लोगों को विमुख बना देता है। निःस्वार्थ और निष्कलंक भाव ही प्रेम के आदान-प्रदान का सच्चा और पवित्र आधार है। इसके अभाव में यह स्वर्गीय विनिमय नारकीय विंभीषिका के रूप में परिवर्तित हो जाया करता है।

असंध अद्वैत भावना ही प्रेम का वास्तविक स्वरूप है। मनुष्य समस्त संसार को अपना स्वरूप मानकर हृदय का सारा प्रेम प्रदान में भी विशुद्ध बलिदान का भाव ही रक्खे, तो कोई कारण नहीं कि उसका वह पवित्र प्रेम स्वीकार न किया जाये। प्रेम देने वाले को प्रेम मिलना भी स्वाभाविक होता है। लिया हुआ प्रेम प्रतिध्वनि और प्रतिभास की तरह ही वापस आकर अपने मूल-स्रोत मनुष्य के अन्तःकरण को सुख-शान्ति से परिपूर्ण बना दिया करता है।

लोग दूसरों को प्रेम करते हैं। किन्तु अधिकांशतः स्वार्थवश ही करते हैं और इसी स्वार्थ-भावना के कारण ही प्रेम अपनी दिव्य सिद्धियों के साथ फलीभूत नहीं हो पाता। अपने से, अपने समाज, देश और संसार से प्रेम कीजिये पर निःस्वार्थ और निष्कलंक भाव से। तभी यह शक्ति, सम्बल, सुख-शान्ति, विकास और पुष्टि का हेतु बन सकेगा अन्यथा एक विकार के समान अवांछित प्रेरणा से जीवन का संचालन करता रहेगा।

प्रेम ईश्वर रूप है। उसकी साधना उसी भाव से करनी चाहिये। स्वार्थ के निकृष्ट और निम्न धरातल पर उतार कर प्रेम की अभिव्यक्ति करना एक पाप है। क्योंकि इससे प्रवंचना एवं प्रतारणा को प्रश्रय मिलता रहता है। जिस समय मनुष्य के हृदय में प्राणी मात्र के प्रति निष्काम प्रेम का विकास हो जाता है, वह मनुष्य की स्थिति से दैवी स्थिति में जा पहुँचता है। इसी उपलब्धि के हेतु ही तो भगवान् ने गीता में स्पष्ट निर्देश किया है।

आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग मुक्तात्मा सर्वत्र रूपदर्शिन।।

सभी भूत प्राणियों में एक ही आत्मा समाई हुई है, इसलिये सभी को समभाव से देखते हुये सभी के साथ प्रेम करना चाहिये।

प्रेम जगत का सार और कुछ सार नहीं

जीवन अविभक्त है, देखने में लगता है—जीवों के शरीर, उनकी आकृतियाँ भिन्न हैं पर वे सब एक ही प्रकृति—मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश के पंचीकृत रूप हैं। देखने में लगता है सबकी लालसायें, आकांक्षायें, कामनायें और आवश्यकतायें अलग-अलग हैं पर वह सब एक ही इच्छा-शक्ति, विचार-शक्ति, संकल्प-शक्ति के नाना-रूप हैं। इस भिन्नता को स्थूल दृष्टि से सत्य मान लेने के कारण ही शाश्वत सौन्दर्य नष्ट हो चुका है हमारी अन्तर्वाणी पूछती है—जब सम्पूर्ण चेतना एक ही शक्ति का अंश है तो वह परस्पर प्रेम का आदान-प्रदान क्यों नहीं कर सकती है ? प्रेम का अभाव ही क्या हमारे दुःख का कारण नहीं है ?

प्रेम से उन्नत कोई सम्पत्ति नहीं, प्रेम से उन्नत कोई सद्‌गुण नहीं। प्रेम ही सत्य रूप में प्रकट हुआ धर्म और परमेश्वर का व्यक्त प्रकाश है जिसने प्रेम का रसास्वादन न किया उसका सारा जीवन बेकार है।

ईश्वर को प्राप्त करने के प्रत्येक जिज्ञासु को प्रेम की उपासना करनी पड़ेगी। उसे अपने आपसे—परिवार, पत्नी और बच्चों से—पड़ोसी, देश और विश्व से—सृष्टि के प्राणि मात्र से—उतना ही घनिष्ट प्रेम करना पड़ेगा जितना वह परमात्मा को प्रेमास्पद मानता है। भगवान् प्रेम में जीवित और प्रेम में ही विराजते हैं प्रेम की साधना किये बिना कोई उन्हें पा नहीं सकता।

प्रेम की शक्ति अनन्त और उसकी गहराई अपरिमेय है। वन्य पशु बड़े खूँख्वार होते हैं। शस्त्र से भी वे भयभीत नहीं होते पर प्रेम की की चाह उन्हें इतना निर्बल कर देती है कि एक छोटा सा व्यक्ति भी हिंसक सिंह को साध लेता है। प्रेम की प्यास कब बुझे सारा संसार इस एक ही आकांक्षा के लिये जीवित है। बार-बार मरता है वह, और इस आशा से फिर-फिर जन्म लेता है कि उसे कोई प्यार दे, निश्छल अन्तःकरण से प्रेम देकर अपना दास बना ले। शत्रु भी प्रेम करने लगे तो वह उसके लिये भी हृदय के द्वार खोल देता है। प्रेम जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि है। जो सुख और शान्ति के साधनों में भटकते हैं वह भी अन्त में प्रेम में ही दिव्य-आनन्द की अनुभूति करते हैं। एक बार प्रेम का प्याला पी लिया जिसने, उसके लिये भौतिक सम्पदाओं का क्या मोह, प्रेम जीवन का सार है, सबसे बड़ी शक्ति है आत्मा उसे ही प्राप्त और विकसित करने के लिये मनुष्य शरीर में जन्मा है। धिक्कार है कि फिर भी मनुष्य वासनाओं और कामनाओं की भूल में प्रेम जैसे दिव्य तत्व से सम्बन्ध विच्छेद कर अनन्त सुख प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट हो जाता है।

पदार्थ में जो सुख है वह अपना अन्तःकरण उसमें प्रतिरोपित हो जाने उससे प्रेम हो जाने के कारण है। प्रेम ही सुखद और प्रेम ही लक्ष्य है। फिर वस्तुओं को क्यों ढूँढ़ा जाये ? क्यों न प्रेम का दीपक जलाकर अन्तःकरण आलोकित किया जाये ?

प्रेम का अमृत और उसकी उपलब्धि साधना

प्रेम-तत्व को ज्ञानियों ने अमृत की संज्ञा दी है। निःसन्देह प्रेम तीनों प्रकार से अमृत ही है। यह स्वयं अमर होता है। जिसकी आत्मा में यह आविर्भूत होता है, उसे अमर अनुभूति और इसका रस अमृत होता है। प्रेम अमृत अर्थात् अमर होता है। यह तत्व न तो कभी मरता है, न नष्ट होता है और न इसमें परिवर्तन का विकार उत्पन्न होता है। एक बार उत्पन्न होकर यह सदा-सर्वदा बना रहता है। संसार की हर वस्तु, अवस्था, विचार, परिस्थितियाँ, विश्वास, धारणायें, मान्यतायें, प्रथायें यहाँ तक कि मनुष्य और शरीर बदल जाते हैं, किन्तु प्रेम अपने पूर्णरूप में सदैव अपरिवर्तनशील रहता है। यही इसकी अमरता है। प्रेम अमृत है, स्वयं अमर है।

प्रेम न स्वयं ही अमृत बल्कि जिसकी आत्मा में इसका आविर्भाव होता है, उसे भी अमर बना देता है। प्रेम की पूर्णता प्राप्त किये बिना जिस प्रेममय को निर्यात के अधीन शरीर त्याग करना पड़ता है, वह पुनः शरीर धारण कर उसी स्थान से अपनी प्रेम-साधना को आगे बढ़ाता है। अवधि पूरी होने पर निर्यात उसका एक शरीर तो ले सकती है, किन्तु साधना पूरी करने के लिये उसका नया शरीर धारण करना वर्जित नहीं कर सकती। साधना के लिये एक ही जीवात्मा की यह शरीर परम्परा अमरता का ही तो लक्षण है। उपरान्त जब उसकी प्रेम साधना अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है, तब तो प्रेमी जीवन-मरण की पुनरावृत्ति से ही मुक्त हो जाता है और मोक्ष नामक उस पद को प्राप्त कर लेता है, जो न केवल अमर ही होता है, बल्कि अक्षय शाश्वत होता है।

प्रेम-तत्व में अमृतानन्द की अनुभूति होती है। प्रेम-तत्व से ओत-प्रोत आत्मायें प्रायः वीतराग हो जाती हैं। उनके विषय-भोग की वासनायें शान्त हो जाती हैं। इसलिये नहीं कि वे इसके योग्य नहीं रहते अथवा अक्षय हो जाते हैं, बल्कि वे प्रेम के अमृतानन्द की उपस्थिति में विषय-भोगों की नश्वरता तथा मिथ्यात्व से अवगत हो जाते हैं। जो सत्य और सब कुछ पा सका है, वह मिथ्या तथा तुच्छता की कामना किस प्रकार कर सकता है ? भौतिक रूप से प्रेमियों को प्रायः घाटे में रहना पड़ता है। वे त्याग और उत्सर्ग की मूर्ति होते हैं। अपने प्रेमास्पद के लिये सर्वस्व बलिदान कर देते हैं, तब भी प्रेम के प्रसाद से, एक अनिर्वचनीय आनन्द से ओत-प्रोत बने रहते हैं। वे आत्म-तुष्ट, आत्मानन्दित तथा आत्म-सुखी बने रहते हैं। देश से प्रेम करने वालों, धर्म में प्रेम करने वालों, विचार और आदर्श से प्रेम करने वालों ने गोली, शूली, फाँसी और अंग-भंग यातनायें पाईं, किन्तु प्रेम के प्रसाद से उनके मुख की आनन्दमयी मुस्कान कभी मन्द नहीं हुई।

यदि प्रेम में अमृत आनन्द का गुण न होता तो उसके आधार पर न तो कोई मर्मान्तक मानना सहन करना और न त्याग एवं उत्सर्ग के द्वारा प्राप्त निर्धनता और अभाव को अहोभाग्य मानता। प्रेम से परिपूर्ण आत्मा वाला उसके अक्षय आनन्द से भरा हुआ, गूँगे के गुड़ खाने जैसे अबोल आनन्द का रस लेता हुआ प्रतिक्षण सन्तुष्ट बना रहता है। प्रेम का अमृतानन्द सारे आनन्दों से ऊपर और स्पृहणीय है।

बहुत बार देखा जाता है कि लोग अपने प्रेमास्पद के लिये आँसू बहाते हैं। अपने आराध्य के सम्मुख मन्दिरों में विलाप करते हैं। याचना करते हैं कि उन्हें शरीर कारा से मुक्त कर प्रेमास्पद के साथ एकरूप कर दिया जाये। इस प्रकार की व्याकुलता से व्याप्त मनुष्य को देखकर उसके भक्त अथवा प्रेमी होने का अनुमान होता है। किन्तु वे ही व्यक्ति जब अपने आस-पास के दुःखी और क्लान्त मनुष्यों को देखकर उनकी पीड़ा जानकर भी मौन और उदासीन बना रहता है। दया, संवेदना अथवा करुणा से द्रवित वही हो तो उसे तुरन्त ही प्रति बना प्रेमी का भाव बदल जाता है और मानना पड़ता है कि अमुक व्यक्ति यथार्थ रूप में प्रेमी नहीं है, बल्कि प्रेम प्रदर्शन करने वाला ढोंगी है। प्रेम-तत्व से ओत-प्रोत व्यक्ति की आत्मा बड़ी करुणा और हृदय बड़ा दयावान् होता है। करुणा और दया प्रेम के प्रमुख प्रसाद

हैं। अपने को प्रेमी मानकर भी जो अकरुण है, कठोर है, निश्चित रूप से वह आडम्बरी है, फिर भावातिरेक में वह अपने प्रेमास्पद अथवा आराध्य के लिये रो-रोकर नदियाँ क्यों न बहाता रहे। सच्चा प्रेमी-भोगी अणु-अणु में अपने प्रेमास्पद का ही आभास पाता है, वह सदा-सर्वदा सबके लिये करुणापूर्ण प्रेम का आनन्द बाँटता रहता है।

किसी दीन-दुःखी को देखकर उसका मार्मिक हृदय उसकी सेवा, सहायता किये बिना रह ही नहीं सकता। महात्मा गाँधी, महात्मा ईसा सच्चे ईश्वरभक्त और मानवता के प्रेमी थे। महात्मा गांधी अपने आश्रम में कोढ़ियों तक की सेवा-सुश्रुषा किया करते थे और महात्मा ईसा तो मार्ग में मिले दुःखियों का, जब तक दुःख दूर नहीं कर लेते थे, अपनी आगे की यात्रा तक स्थगित रखते थे। जहाँ वे ईश्वर को पाने और उसमें मिल जाने के लिये व्यग्र रहते थे, उसके लिये आँसू बहाते थे, वहाँ उसकी दुनियाँ के दुःखी लोगों की सेवा भी करते थे। महात्मा ईसा और महात्मा गाँधी यथार्थ रूप में भक्त और प्रेमी थे। मनुष्य को अपने आनन्द और आत्म-कल्याण के लिये आडम्बरपूर्ण प्रेम से बचना और सच्चे प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रेम अमूल्य व निःस्वार्थ वस्तु है। प्रेम का कोई मूल्य नहीं। प्रेम के सम्मुख संसार के सारे सुख, सारी सम्पदायें और सारी विभूतियाँ तुच्छ हैं। संसार में एक नहीं सैकड़ों ऐसे प्रेमी जन हुये हैं, जिन्होंने इस तत्व की रक्षा में धन-दौलत, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद यहाँ तक कि राज सिंहासनों को तृण के समान त्याग दिया है। प्रेमियों ने प्रेम के स्थान पर उसके मूल्य में हँसते-हँसते अपने शीश दान कर दिये हैं। उन्होंने सब कुछ दे दिया, लेकिन प्रेम-त्याग की कल्पना तक नहीं की। प्रेम-धन के समक्ष संसार की सारी सम्पदायें तुच्छ तथा नगण्य हैं।

इतना अनमोल होने पर भी प्रेम निर्मूल्य ही है। न तो उसके लिये कोई मूल्य दिया जाता है और न लिया जाता है। यदि मनुष्य के पास बिना मूल्य बाँटने योग्य कोई वस्तु है तो वह प्रेम ही है। इस अमृत की कोई थाह नहीं। जन्म-जन्म तक झोली भर-भरकर बाँटते रहिये इसमें कमी नहीं होती। बल्कि ज्यों-ज्यों जितना अधिक प्रेम का परसाद बाँटा जाता है, उसका भण्डार उतना ही अधिक भरता जाता है। प्रेम का प्रसाद वितरण करने में न तो कोई पैसा लगता है और न कोई उपकरण। यही तो एक ऐसी सम्पत्ति इस भाग्यवान् मनुष्य के पास है, जो अनमोल होने पर भी निर्मूल्य है। प्रेम का प्रसाद वाणी से, शरीर सेवा से, भावना से, विचार से, करुणा, दया, सहानुभूति, संवेदना आदि किसी भी रूप में संसार भर में वितरित किया जा सकता है। प्रेम के अमृत में न तो धन लगता है और न उसका दान करने में कुछ व्यय ही होता है। प्रेम का अमृत केवल अमूल्य ही नहीं बल्कि निर्मूल्य भी है।

प्रेम रूपी सम्पत्ति को न तो कहीं से लाना होता है और न किसी से लेना होता है मनुष्य की अन्तरात्मा में उसका सागर भरा हुआ है। ऐसा अथाह सागर कि जिसको हजारों जन्मों तथा संसार के मनुष्यों को क्यों न बाँटा जाये, तब भी उसमें रञ्च-मात्र कमी नहीं आती। प्रेम का वह सागर ज्यों का त्यों लबालब भरा रहता है। प्रेम मनुष्य की आत्मा का स्वयं प्रकाश है। प्रकाश वितरण से उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आती। कोई भी प्रकाश कितनी ही वस्तुओं को आलोकित क्यों न कर ले, अपना आभास कितने ही विस्तार में क्यों न डाले किन्तु उसकी मूल मात्रा में जरा भी अन्तर नहीं आता। वह यथावत् पूरे का पूरा बना रहता है। तथापि आत्मा में वर्तमान प्रेम प्रकाश उपलब्धियाँ ही अनायास नहीं हो जाती। उसके लिये उपाय तथा साधना करने की आवश्यकता होती है।

जब तक मनुष्य आत्मा को आवृत किये मल, विक्षेप, स्वार्थ, संकीर्णता आदि आवरण को नहीं हटायेगा, तब तक आत्मा में वर्तमान प्रेम-प्रकाश का उद्घाटन नहीं हो सकता। इन भौतिक आवरणों को हटाने के उपाय स्वरूप मनुष्य को संसार के दीन-दुःखी मनुष्यों के प्रति दया, करुणा तथा सहानुभूति का व्यवहार करना होगा। उनके दुःखों को अपना दुख और उनके आँसुओं को अपने आँसू समझना होगा। अपनी शक्ति भर लोगों की सेवा-सहायता करनी होगी। और इस सहानुभूति को जागृत तथा विकसित

करने का उपाय यह है कि संसार के इस चरम सत्य को स्वीकार कर लिया जाये कि मेरे सहित इस निखिल ब्रह्माण्ड के सारे प्राणी एक उस परम पिता परमात्मा की ही सन्तानें हैं। स्थल, नभ तथा जलचरी जितने भी मनुष्य, पशु-पक्षी अथवा कीट-पतंग दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब हमारे भाई ही हैं। मनुष्य का यह व्यापक भ्रातृ-भाव सहज ही सबके लिये हृदय में प्रेम का प्रवाह आन्दोलित कर देगा, जिससे आत्मा के उस पावन प्रकाश को आवृत्त रखने वाले सारे आवरण छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जायेंगे। आत्मा में वर्तमान प्रेम का अखण्ड प्रकाश निरावरण होकर फैलने लगेगा, जिसकी कृपा से तुच्छ मानव-जीवन एक अद्‌भुत उपलब्धि बन पायेगी। प्रेम आत्मा का सहज प्रकाश है, उसको किसी से पाने अथवा कहीं से लाने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रेम मनुष्य की सर्वोपरि आवश्यकता है। मानव-आत्मा अथवा संसार से प्रेम रूपी अमृत का ज्यों-ज्यों ह्रास होता जाता है, मनुष्य दानव और संसार नरक बनता जाता है। इसका कारण प्रेम तत्व की कमी ही तो है कि मनुष्य क्रूर, कपटी, स्वार्थी और शोषक बनकर अपने ही भाईयों को उत्पीड़ित करता है। उन्हें हानि पहुँचाता है और उसके फलस्वरूप अपनी आत्मा में ही नरक निर्माण नहीं करता, बल्कि देहान्तर के लोकों को भी अन्धकारपूर्ण बना लेता है। प्रेम के अभाव में ही धन-दौलत, मान प्रतिष्ठा, परिवार आदि सब कुछ होने पर भी मनुष्य सुख-शान्ति की एक श्वांस के लिये भी तरसता रहता है। प्रेम की कमी के कारण ही तो यह संसार, परमात्मा की यह सुन्दर रचना, जीव की यह कर्म भूमि जो उसके लिये स्वर्ग, मोक्ष, मुक्ति अथवा अमृत पद की साधिका है, उल्टे शोक-सन्ताप तथा मोह-बन्धनों और जन्म मरण के दुःखदायी चक्र का कारण बनती है। संसार में चारों ओर पनपने वाली त्राहि-त्राहि और शान्ति की याचना के मूल में प्रेम मानव जीवन और संसार की सर्वोपरि आवश्यकता है। अस्तु, कल्याणकारी मार्ग यही है कि आत्मा तथा संसार, अन्तर तथा बाह्य में स्नेह, सौजन्य तथा दया, करुणा व सहानुभूति की परिस्थितियाँ बढ़ाई तथा बनाई जाती रहें। मनुष्य अपने से, अपने परिवार से, पास-पड़ौस से, पुरजन तथा संसार जनों से यहाँ तक कि जीव मात्र से सच्चा तथा निःस्वार्थ प्रेम करे। प्रेम का विकास होते ही यह संसार जो आज अपनी परिस्थितियों में भयावह विदित होता है शीघ्र ही स्वर्गीय सम्पदाओं से भर जायेगा, जिनके बीच मनुष्य न केवल इह-लीला ही आनन्दपूर्वक चला सकेगा, बल्कि मुक्ति तथा मोक्ष का जीवन लक्ष्य पाने में भी सुविधा का अनुभव करेगा।

मानव-जीवन का अमृत प्रेम

सच्चा प्रेम केवल देना जानता है। उसमें बदले के लिये कोई आकांक्षा नहीं होती। वह प्रेमी का हित चाहता है और उसके पास जो कुछ छोटी-मोटी सामर्थ्य है उसको लेकर वह उसका भला करता है। वह कभी सोचता भी नहीं कि इसका प्रतिफल मुझे मिलेगा। जिस चीज के बारे में सोचा तक नहीं गया था वह यदि न मिले तो किसी को भला उससे कोई दुःख क्यों होगा ? कोई उसके लिये शिकायत क्यों करेगा ?

ईसा ने कहा—'परमेश्वर की इच्छा पर मैं अपना सर्वस्व सौंपने को तैयार हूँ। इस दुनियाँ की कोई चीज मैं उससे नहीं चाहता। मैं उसे इसलिये प्यार करता हूँ क्योंकि वह प्यार के ही योग्य है। परमेश्वर में क्या-क्या शक्ति और विशेषता है इसे जानने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है, क्योंकि उससे मैं कोई सिद्धि या अधिकार नहीं चाहता। मेरे लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि वह प्रेममय है। प्रेम उसे प्रिय है।"

यदि हम किसी से प्रेम करते हैं तो उसकी बुराइयाँ भी अप्रिय नहीं लगतीं, किन्तु यदि किसी से द्वेष है तो उसकी अच्छाइयाँ भी दोष सरीखी लगती हैं। कोई धनवान व्यक्ति यदि हमें किसी कारण खटकता है तो उसकी कमाई बेईमानी की दिखाई पड़ती है, उसका कारोबार ठगी, जालसाजी और चोरी से भरा प्रतीत होता है। पर यदि अपना कोई मित्र धनी हो तो उसके परिश्रम की, भाग्य की बुद्धि कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है। कहते हैं कि "अपन काना लड़का भी सुन्दर लगता है और पराया सुन्दर बालक भी भौंदू जैसा दीखता है।"

प्रेम में ऐसी ही विशेषता है, केवल प्रेम मात्र ही नहीं उसकी वस्तुयें भी सुन्दर, निर्दोष एवं उत्तम लगने लगती हैं, किन्तु इस प्रेम भावना के हटते ही सब कुछ कुरूप, त्रुटिपूर्ण, हानिकारक, अवांछनीय एवं भयंकर लगने लगता है।

ईश्वर का सच्चा प्रेमी अपने प्रेम पात्र परमेश्वर से कहता है "हे प्रभु ! इस दुनियाँ में जो दुःख मौजूद हैं, मैं उनसे डरता नहीं। इस दुनियाँ में पाप मौजूद है, मैं उनके दण्ड भुगतने में तेरी रियायत नहीं चाहता। धन, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बुद्धि आदि सम्पदायें प्राप्त करने के लिये भिखारी बनकर तेरे दरवाजे पर नहीं आया और न मुक्ति की, स्वर्ग की कामना के लालच में फिर रहा हूँ। मुझे जन्मने और मरने दे। अपने बोये हुये कष्टों को काटते हुये मुझे तुझ से कुछ शिकायत नहीं। मैं एक ही आकांक्षा करता हूँ-तू मुझे अपने से प्यार करने दे। प्यारे के लिये प्यार। सिर्फ प्यार के लिये प्यार।"

कई व्यक्ति प्रेम की असफलता का रोना रोते हैं। वे कहते हैं हमने मन से प्यार किया पर साथी ने उसका बदला बेवफाई में चुकाया। ऐसी शिकायत करने वाले प्रेम की वास्तविकता से बहुत दूर हैं। प्रेम में केवल देना ही देना है, उसमें लेने का, प्रतिफल का, बदले का, प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ बदला पाने के लिये प्रेम किया जाता है वह तो विशुद्ध व्यापार है। व्यापार में कभी लाभ होता है, तो कभी घाटा भी उठाना पड़ता है। पासा खेलने में कभी वह चित्त पड़ता है कभी पट्ट। बदले के लिये किया हुआ प्रेम भी एक बाजी खेलने के समान है, उसमें हार-जीत दोनों ही हो सकती हैं। जैसा दाँव फँस जाय वैसी ही सफलता-असफलता सामने आ जाती है। व्यापारिक प्रेम—बाजारू मुहब्बत करने वालों की कौड़ी सदा चित्त ही नहीं पड़ती। कभी-कभी निराशा भी हाथ लगती है। सामने वाला यदि अधिक उस्ताद हुआ तो अपना दाव चलाकर अलग हो जाता है। इस प्रकार के प्रेम में दोनों पक्षों में से किसी एक को अवश्य ही शिकायत करनी पड़ती है। एक पहलवान तो गिरेगा ही। खरीद-बेच करने वालों में एक को लाभ होता है तो दूसरे को घाटा। इसमें पश्चाताप या दोषारोपण करना व्यर्थ है।

भोगेच्छा को प्रेम कहना एक बहुत बड़ी प्रवंचना है। प्रेम तो आत्मा में ही हो सकता है और भोग शरीर का किया जाता है। इसलिये जिनके प्रेम के पीछे भोग की लालसा छिपी है उनकी दृष्टि शरीर तक ही है। आत्मा का भोग नहीं हो सकता। वह स्वतन्त्र है, वह किसी के बन्धन में नहीं आती। बंधन में केवल शरीर बँधता है। सच्चा प्रेम आत्मा से ही किया जाता है। उसमें चुभन, पीड़ा, बेचैनी, बेवसी, निराशा कुछ नहीं है, न उसमें विरह है, न वेदना, इन दोनों ही विषों से वह मुक्त है। जिससे प्रेम करना हो उसके शरीर पर घात न लगाई जाये, जिसका शरीर भोगना हो उसके साथ प्रेम का नाटक न किया जाये यही उचित है।

प्रेम करने का उद्देश्य अपने आत्मा को प्रेम रस से सराबोर करना है। उसका और कोई प्रतिफल नहीं। भौतिक दृष्टि से प्रेमी घाटे में रह सकता है, उसे ठगा जा सकता है, धोखा हो सकता है और ऐसा त्याग करता है जिससे उसे स्वयं बड़ी कठिनाई उठानी पड़े। किन्तु प्रेम भावनाओं के उत्पन्न होने के कारण आत्मा में जो स्वर्गीय आनन्द आविर्भूत है उसका मूल्य बहुत है। इतना अधिक है कि उसकी तुलना में सब कुछ गँवाना पड़े तो भी प्रेम नफे में ही रहता है।

प्रेम का अमृत मधुरतम है

प्रेम की पवित्र भावना मनुष्य की आत्मा में अक्षय शान्ति भर देती है। जिस प्रकार निर्झर की धारा स्वयं भी शीतल रहती है और जो उसके पास आता है, उससे सम्पर्क स्थापित करता है, उसको भी शीतलता प्रदान करती है, उसी प्रकार प्रेमी-हृदय व्यक्ति अपनी आत्मा में शीतलता का अनुभव तो करता है, साथ ही उसके सम्पर्क में जो भी आता है, वह भी आनन्दित हो उठता है।

सन्त और महात्मा लोग प्रेम के अक्षय भण्डार होते हैं। उनके जीवन में स्थायी शान्ति का निवास रहता है। कोई भी अभाव, कोई भी आपत्ति उनकी मनः शान्ति को प्रभावित नहीं कर पाती। बहुत बार ऐसा संयोग भी आता है कि दुष्ट लोग उन्हें अकारण ही सताया करते हैं।

पर हृदय में प्रेम का निवास रहने से वे उनकी दुष्टता को वैसे ही सहन कर लेते हैं, जिस प्रकार पिता अपने बच्चे का उपद्रव सहन कर लेता है। इतना ही क्यों, वे उल्टे उसे आशीर्वाद देते हैं, उसकी सद्बुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करने लगते हैं।

महात्मा ईसा प्रेम के भण्डार थे। वे सारे मनुष्यों को अपने अन्तरात्मा की गहराई से प्रेम करते थे। महात्मा ईसा पर कदाचित संसार में सबसे अधिक अत्याचार किया गया तथापि उनके मन में प्रतिकार की भावना नहीं आई। महात्मा ईसा ने जिस मनुष्य जाति का हित चाहा, जिसकी भलाई के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया, उन्हीं मनुष्यों ने उन्हें 'क्रूस' पर ठोंक दिया। उनको विविध प्रकार से शारीरिक यन्त्रणायें दीं। उन्हें कोड़ों से मारा, पत्थरों की वर्षा की। पर प्रेम के देवता महात्मा ईसा ने किसी पर क्रोध तक नहीं किया। प्रेम के प्रसाद से उनके हृदय को प्राप्त हुई शीतलता जरा भी नष्ट न हुई। लोग उन्हें क्रूस पर टाँग कर कीलें ठोंक रहे थे और वे रो-रो कर परमात्मा से प्रार्थना कर रहे थे हे परमपिता ! तू इन अबोधों पर क्रोध न करना, इनको क्षमा कर देना क्योंकि यह नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।

महात्मा महावीर को लोगों ने पागल कहा। उन्हें पत्थरों से मारा। उनके कपड़े फाड़ डाले, गाँव में ठहरने नहीं दिया। उनके पीछे कुत्ते दौड़ाये और जो भी यातना बन पड़ी, दी। पर महात्मा महावीर उस सारे अत्याचार को समान भाव से सहन करते रहे, उन्होंने न तो किसी पर क्रोध किया और न किसी से प्रतिकार लिया। बल्कि वे भी सच्चे हृदय से मनुष्य जाति का हित चाहते और करते रहे। इस प्रकार की सहन-शीलता और क्षमा का भाव उस प्रेम का ही प्रसाद था जो उनके हृदय में निवास कर रहा था।

संसार से त्रस्त और दुःखों से आक्रान्त मनुष्य जब कहीं भी शान्ति नहीं पाता तो किसी महात्मा अथवा सन्त की शरण में जाता है। उनके पास जाते ही उसका सारा शोक-संताप नष्ट हो जाता है उसका जलता हुआ हृदय शीतल हो उठता है। ऐसा इसलिये होता है कि महात्माओं के हृदय में प्रेम का निवास होता है। जिसके आधार पर वे संत्रस्त प्राणी को सच्ची सहानुभूति और सच्ची सम्वेदना दे पाते हैं। सहानुभूति तथा सम्वेदना ऐसी संजीवनी माना गया है, जो किसी भी प्रकार से दुःखी मनुष्य को आश्वस्त कर देती है। प्रेम एक दिव्य अमृत है, जिसका आदान-प्रदान मनुष्य को देवता के समान बना देता है।

प्रेम से शून्य मनुष्य नीरस मरुस्थल के सिवाय और कुछ नहीं होता। प्रेम-विहीन व्यक्ति के पास जाकर एक साधारण मनुष्य भी अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता खो देता है। तब किसी का दुःख दूर हो सकना तो असम्भव ही है। हरे भरे पत्तों से रहित वृक्ष के पास जाकर किसको छाया मिल सकती है और सूखा जलाशय किसकी प्यास बुझा सकता है ?

प्रेम के प्रसाद से मनुष्य अजातशत्रु की स्थिति में पहुँच जाता है। वह तो किसी से शत्रुता नहीं रखता, साथ ही दूसरे लोग भी उससे बैर नहीं मानते। माना कि प्रेमी हृदय सन्त लोग जब किसी के प्रति-बैर भाव नहीं रखते तो दूसरा उनसे क्यों बैर मानेगा ? किन्तु यह प्रतिक्रिया हिंस्र-जीवों में तो नहीं होती। वे तो नैसर्गिक रूप से जीवों के शत्रु होते हैं। कोई जीव उनसे बैर माने या न माने पर वे पाते ही उनको मार तक डालते हैं। ऐसे स्वाभाविक हिंस्र जन्तु भी वनवासियों, ऋषि-मुनियों के समीप जाकर उनके सच्चे प्रेम से प्रभावित होकर हिरनों और गायों के साथ मित्र भाव से विहार करने लगते थे। प्रेम ऐसा चमत्कार है, ऐसा जादू है जो अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहता।

चोर-डाकू अपने से बैर न मानने वालों की भी सम्पत्ति हरण कर लिया करते हैं। किन्तु उनकी भी दुष्ट वृत्ति प्रेम के अमृत से शीतल हृदय वाले महात्माओं के पास पहुँचकर बदल जाती है और वे उनके प्रभाव से सज्जन बन जाते हैं। महात्मा नारद के सम्पर्क में आकर डाकू रत्नाकर वाल्मीकि बन गये, महात्मा बुद्ध के सम्पर्क में आकर अंगुलिमाल धर्म प्रचारक बन गया और तुलसीदास की कुटिया में चोरी करने वाले चोर लौटकर उनके पैरों गिरे और सदा के लिये अच्छे आदमी बन गये।

प्रेम में मनुष्य की जीवनधारा बदल देने की शक्ति होती है। अम्बपाली एक प्रसिद्ध वेश्या थी। वह अपना शरीर बेचती थी। शानशौकत से रहती थी और दिन-रात पाप ही कमाया करती थी। किन्तु जिस दिन वह भगवान् तथागत के विश्व-प्रेम से प्रभावित हुई, सारा वैभव और सारा भोग-विलास छोड़कर महान् भिक्षुणी बनकर कृतार्थ हो गई। सूर और तुलसी अपने जीवन में बड़े ही कामुक तथा स्त्री-लम्पट रहे, पर ज्यों ही उन्हें भगवत् प्रेम की अनुभूति हुई, वे परम वैष्णव भगवान श्रीकृष्ण और राम के भक्त बन गये। सम्राट् अशोक की जीवनगाथा का प्रारम्भिक भाग अत्याचारी के रूप में अंकित है, पर जब उसे कलिंग के युद्ध में विनाश की विभीषिका की प्रतिक्रिया से मानवता के प्रति प्रेम की अनुभूति हुई, वह अशोक महान् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अपने अनन्तर जीवन में उसने मनुष्य की भलाई के लिये बड़े-बड़े काम किये। लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये अजस्र प्रयत्न किया। धर्म प्रचार के लिये अपने पुत्र और पुत्री को भिक्षु तथा भिक्षुणी बनाकर देशान्तर में भेद दिया। प्रेम परमात्मा का सबसे श्रेष्ठ और सबसे पवित्र प्रसाद है। अपने अन्तर में इसका विकास करना अपनी आत्मा के लिये कल्याण का पथ प्रशस्त करना है।

आत्मा में प्रेम का विकास मनुष्य को साधारण से असाधारण बना देता है। प्रेम से धैर्य, सहिष्णुता, क्षमा, दया, करुणा, त्याग और दृढ़ता की उपलब्धि होती है। प्रेम के आधार पर निर्भीक बना मनुष्य कहीं भी विहार कर सकता है। उसके लिये कहीं भी कोई भय नहीं रहता। वह अधिकांशतः निरापद ही रहता है। फिर भी यदि संयोग अथवा पूर्व परिपाक के कारण उस पर कोई विपत्ति आ भी जाती है तो वह उसको प्रेम के सहजन्य गुणों के आधार पर सहन कर लेता है, उसके पार उतर जाता है।

किन्तु यह गुण, यह विशेषतायें उसी प्रेम में होती हैं, जो सत्य, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होने के साथ-साथ स्थिर, निःस्वार्थ तथा असंदिग्ध होता है। सामयिक, एक-देशीय अथवा संदिग्ध प्रेम में यह विशेषतायें नहीं होती हैं। यदि एक मनुष्य अपनी पत्नी को प्यार करता है और वह उसके आधार पर अन्य से बैर शमन की आशा करता है, तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। इससे आगे बढ़कर भी यदि वह सारे संसार को क्यों न प्रेम करता हो, किन्तु अपने विरोधी से द्वेष मानता हो तब भी वह इतने व्यापक प्रेम के होते हुये एक छिद्र के कारण ही निरापद अथवा अजातशत्रु नहीं हो सकता है।

परिपूर्ण पात्र की विशेषता को एक छोटा-सा छिद्र भी व्यर्थ बना देता है। प्रेम यदि परिपूर्ण है तो पूर्ण शक्तिशाली है। उसमें रचं न्यूनता भी उसकी किसी विशेषता को प्रभावशाली न बनने देगी। जिस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति होती है तो पूर्ण रूप से होती है अथवा होती ही नहीं, उसी प्रकार से प्रेम की सिद्धि होती है, तो पूर्ण रूप से होती है या होती ही नहीं।

तथापि जिस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति के लिये यत्किंचित प्रयत्न भी श्लाध्य है, उसी प्रकार प्रेम की सिद्धि के लिये भी जितना अणु कण बन सके, प्रेम की साधना करते ही रहना चाहिये। जिस प्रकार बूँद-बूँद का संचय एक दिन घट भर देता है, जन्म-जन्म का प्रयत्न किसी जन्म में परमात्मा की प्राप्ति करा देता है, उसी प्रकार की थोड़ी-थोड़ी साधना भी एक दिन आत्मा को प्रेम स्वरूप बना देती है।

प्रेम की परिधि सीमित नहीं है और न उसका कोई प्रकार ही होता है। प्रेम का जन्म एक ही हृदय से एक जैसी ही अनुभूति के साथ होता है। प्रेम, प्रेम है, फिर चाहे वह नारी के प्रति हो, पुत्र के प्रति हो, समाज, देश अथवा सम्पूर्ण संसार के प्रति हो। उसका परिपाक आध्यात्मिक प्रेम में होता है और उसका फल भी एक ही है, आत्म-कयाण। शर्त केवल यह है कि प्रेम जिसे किया जाये सम्पूर्ण मन प्राणों से किया जाये, उसमें न तो कोई स्वार्थ और ना ही कोई छिद्र शेष रक्खा जाये। सच्चा और पूर्ण स्थिति के प्रेम अन्त में परमात्मा की भक्ति का रूप बन जाया करता है। शीरी-फरहाद, सोनी-महीवाल, सूर, तुलसी, आदि का प्रेम नारी के प्रति लौकिक रूप से प्रारम्भ होकर अन्त में अनन्त एवं आध्यात्मिक प्रेम में बदल

गया जिसके बल पर उन्होंने शरीरान्तर में कल्याण का वरण किया है।

उनका लौकिक प्रेम पारलौकिक प्रेम बन गया। दशरथ का पुत्र प्रेम उनके कल्याण का संराधक सिद्ध हुआ। लक्ष्मण और भरत भातृ प्रेम के आधार पर उन्नत स्थिति के अधिकारी बने। संयमराय, भामाशाह और बाजी प्रभु देशपाण्डे स्वामी के प्रति प्रेम के कारण महानता के अधिकारी बने। इसी प्रकार भगतसिंह, रामप्रसाद, तिलक और गोखले जैसे देशभक्तों ने देश के प्रति प्रेम के आधार पर भव-बन्धन से छुटकारा पाया। ईसा, बुद्ध, महावीर और महात्मा गांधी जैसी आत्मार्य मानवता के प्रति असंध प्रेम के आधार पर मुक्त हुई हैं।

सच्चे प्रेमियों पर उनकी आस्था की परीक्षा लेने के लिये एक नहीं हजारों संकट आते हैं। जो उन संकटों को हँसता हुआ सहता और अपने प्रेम मार्ग पर अविचलित रूप से चलता रहता है, वही वस्तुतः सच्चा प्रेमी होता है और वह ही उसके आधार पर निर्माण का अधिकारी बन पाता है। मीरा ने कृष्ण से प्रेम किया उसके लिये पति तथा परिवार का कोप सहा, लोकोपवाद की यातना सहन की, अपने चरित्र पर लगाये गये लांछन की आग बुझा ली किन्तु अपना प्रेम न छोड़ा। उसे राजरानी के पद से च्युत कर दिया गया, घर से निकाला गया, जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, पर वह अपने प्रेम के पवित्र मार्ग पर चलती ही रही।

मीरा को यमुना में फेंका गया। पिटारी में उसके पास साँप भेजा गया और हलाहल का प्याला पीने को दिया गया, पर उसका असंदिग्ध प्रेम घटने अथवा विचलित होने के स्थान पर निरन्तर बढ़ता ही चला गया। यहाँ तक कि यमुना की साँवली धारा उसे कन्हैया की गोद लगी। काला सर्प पिटारी में शालिग्राम के स्वरूप में दिखाई दिया और हलाहल के श्याम रंग में उसे कृष्ण प्रेम की मदमाती को साक्षात् श्याम सलोने के ही दर्शन हो गये। यही तो असंध तथा सम्पूर्ण प्रेम का लक्षण है कि मीरा के लिये संसार का अणु कण ही उसके प्रियतम का प्रतिबिम्ब नहीं बन गया जबकि वह स्वयं भी श्याम रूप होकर एक दिन भगवान् श्यामसुन्दर में मिल गई।

प्रेम, प्रेम है, वह लौकिक हो अथवा आध्यात्मिक किन्तु हो पूर्ण असंध, असंदिग्ध तथा निःस्वार्थ, तो निश्चय ही चमत्कारिक, शक्तिशाली और भव-बन्धन से मुक्ति का साधन होगा।

आनन्द का मूल-स्रोत प्रेम ही तो है

यदि गहराई के साथ तथ्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाये तो पता चलेगा कि आनन्द का मूल-स्रोत प्रेम ही है। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ आनन्द का होना सम्भव नहीं, और जहाँ आनन्द होगा उसके मूल में प्रेम का होना अनिवार्य है।

संसार की कोई भी वस्तु या कोई भी व्यक्ति ले लिया जाये, यदि उसमें किसी के सुख की अनुभूति होती है तो निश्चय ही उस वस्तु या व्यक्ति में उस मनुष्य का प्रेम होगा। माता-पिता अपने बच्चे को देखकर आनन्द पाते हैं। यह आनन्द न तो बच्चे में निवास करता है और न माता-पिता की आँखों में। इसका निवास उस प्रेम में होता है, जो बच्चे को देखकर उद्दीप्त हो उठता है।

धन देखकर लोभी व्यक्ति को बड़ा आनन्द मिलता है। इससे यह समझ लेना भूल होगी कि आनन्द का निवास धन में है। यदि ऐसा होता तो धन सबके लिये ही आनन्द का कारण होना चाहिये था। जब कि ऐसा होता कभी नहीं। एक निस्पृह व्यक्ति को न तो धन का भाव आनन्द देता है और न अभाव दुःख। धन को देखकर लोभी को आनन्द होने का कारण यही होता है कि उससे उसे प्रेम होता है। यह धन के प्रति प्रेम का ही कारण है कि धन पाकर लोभी को उतना ही आनन्द होता है, जितना दुःख उसके चले जाने पर होता है। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति अथवा वस्तु क्यों न हो, यदि उसके भावाभाव में सुख होता है तो यही मानना पड़ेगा कि मनुष्य को उसके प्रति प्रेम है।

दो मित्रों को ले लीजिये। उन्हें एक दूसरे को देखकर, मिलकर और परस्पर सम्पर्क में आकर बड़ा आनन्द आता है। इसका एकमात्र

कारण वह प्रेम ही है, जो दूसरे के लिये उनके हृदयों में रहा करता है। इसी प्रकार जब किन्हीं स्वार्थों अथवा भ्रमों के कारण एक-दूसरे के प्रति वह प्रेम-भाव नष्ट हो जाता है, तब यद्यपि व्यक्ति वही दोनों बने रहते हैं किन्तु आनन्द की वह अनुभूति नहीं रहती, जो एक—दूसरे को देखकर होती थी। आनन्द का निवास वस्तु या व्यक्ति में नहीं होता है। उसका निवास उस प्रेम में होता है, जो व्यक्ति या वस्तु के प्रति रहा करता है।

उदाहरण के लिये एक कवि, कलाकार अथवा भावुक व्यक्ति को ले लिया जाये और साथ ही एक सामान्य व्यक्ति को। दोनों तरह के व्यक्तियों के प्रथम वर्ग का कोई भी व्यक्ति जब प्रकृति के सम्पर्क में आता है तो आनन्द-विभोर हो उठता है। उसे फूलों का सौन्दर्य, पक्षियों का कलरव, नदियों की कल-कल, बादलों का उमड़ना, तारों का चमकना और चाँद का निकलना आदि आत्म-विस्मृत कर देते हैं, जब कि दूसरे सामान्य व्यक्ति को उनसे कोई भी आनन्द और सुख नहीं मिलता। इसका एक ही कारण है और वह यह कि कवि कलान्तर और भावुक व्यक्ति को प्रेम होता है और दूसरे सामान्य व्यक्ति को नहीं।

इसी प्रकार एक व्यक्ति ईश्वर का गुण-गान सुनकर भाव-विभोर हो जाता है, तन, मन की सुध भूल जाता है। उसका हृदय गद्-गद् हो उठता है, शरीर पुलक उठता है और आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगते हैं। पर दूसरा व्यक्ति कितनी ही कथायें सुने, कितना ही भजन कीर्तन में भाग ले, कितना ही ईश्वर का गुण गाये अथवा सुने किन्तु उसकी स्थिति यथावत् बनी रहती है। उसे कोई विशेष आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। इसका कारण यही होता है कि एक को ईश्वर से प्रेम होता है और दूसरे को नहीं। आनन्द का निवास न तो कथा-कहानी में है और न भजन-कीर्तन में, उसका निवास तो उस प्रेम में होता है जो किसी को ईश्वर के प्रति होता है।

जिस प्रकार अन्धकार का अपना अस्तित्व कुछ नहीं होता, उसी प्रकार दुःख का भी अपना अस्तित्व कुछ नहीं होता। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार होता है और प्रेम का अभाव ही दुःख है। दुःखों का जन्म मनोविकारों और वासनाओं से होता है। लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि के निकृष्ट मनोभाव अथवा मनोविकार ही दुःख का हेतु बनते हैं और वासनायें आत्मा का सौन्दर्य शोषण कर उसे दुःखों से भर देती हैं। मानव हृदय में इन मनोविकारों का अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक उसमें सच्चे प्रेम का प्रकाश नहीं फैलता।

हृदय में प्रेम का प्रकाश फैलते ही मनोविकार वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे दीपक के जल उठने से कक्ष का तिमिर नष्ट हो जाता है। प्रेम का स्वाद, रस और अनुभव मिलते ही मनुष्य का हृदय अलौकिक सौन्दर्य से भर उठता है, उसकी आत्मा तृप्त हो जाती है, तब उसे न कोई वासनायें रहती हैं और न कामनायें। ऐसे निर्मुक्त हृदय में विकारों के रहने की सम्भावना नहीं रहती। मनुष्य निर्विकार एवं निष्कंट होकर आनन्द से भर उठता है।

प्रेम में मनुष्य का जीवन बदल देने की शक्ति होती है। प्रेम के प्रसाद से मनुष्य की निर्बलता और दरिद्रता, शक्तिमत्ता और सम्पन्नता में बदल जाती है। अशान्ति और असन्तोष तो प्रेम-हृदय के पास फटकने तक नहीं पाते। प्रेम मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ वरदान माना गया है। जिसने प्रेम पा लिया अर्थात् जिसके हृदय में प्रेम का जागरण हो गया, उसे समझो संसार की सारी सम्पदायें प्राप्त हो गईं। प्रेम पा जाने के बाद कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। प्रेम की प्राप्ति ईश्वर की प्राप्ति मानी गई है, क्योंकि मनीषियों और महात्माओं ने प्रेम को परमेश्वर और परमेश्वर को प्रेम रूप ही माना है। हृदय में प्रेम भावना की स्थापना होते ही उसका प्रभाव शरीर, आत्मा पर भी पड़ता है। प्रेम की अनुभूति अमृत रूप जो होती है। इसका संचार होते ही मन प्रसन्न, शरीर स्वस्थ और आत्मा उज्ज्वल हो उठती है।

मानवीय शक्तियों में प्रेम को सबसे बड़ी शक्ति माना गया है। हिंस्र जन्तुओं और अपराधी व्यक्तियों से भरे वनों में ऋषि-मुनियों के पास रक्षा के साधनों में न तो अस्त्र-शस्त्र होते थे और न सेना की शक्ति। उनके पास तो एक

प्रेम की ही वह शक्ति ही रहती थी, जो सारी शक्तियों की सिरमौर मानी गई है। इसी शक्ति और बल के आधार पर वे शेर, चीते, भालू, भेड़िये और सर्प जैसे घातक जीवों को नम्र बना लेते थे और चोर, लुटेरों को श्रद्धा के लिये विवश कर देते थे।

प्रेम में महानतम वशीकरण बल होता है। इससे शत्रु, मित्र, घालक पालक बन जाते हैं। प्रेम द्वारा मनुष्य सारा संसार वश में कर सकता है। भक्त के वश में भगवान के रहने की जो बात कही जाती है, उसका आधार प्रेम ही तो है। प्रेम के बल पर ही उपासक पत्थर में भगवान् के दर्शन कर लेता है। पीड़ित जनता प्रेम-पुकार द्वारा ही तो उसे धरती पर उतार लाती है। प्रेम की शक्ति अपार, उसकी महिमा अकथनीय है।

प्रेम-भाव की प्राप्ति न पुस्तकों से होती है और न उपदेशों से। उसकी प्राप्ति धन अथवा सम्पत्ति से भी नहीं होती और न मान और पद प्रतिष्ठा ही उसको सम्भव बना सकती है। शक्ति और सत्ता द्वारा भी प्रेम-भाव की सिद्धि नहीं हो सकती। जबकि लोग प्रायः इन्हीं साधनों द्वारा ही प्रेमभाव को पाने का प्रयत्न किया करते हैं। पुस्तकें पढ़कर लेखक के प्रति, उपदेश सुनकर वक्ता के प्रति, कुछ पाने की आशा में धनी के प्रति, शक्ति और वैभव देखकर सत्ताधारी के प्रति जो आकर्षण अनुभव होता है, उसका कारण होता है, प्रभाव, लोभ और भय। वास्तविक प्रेम-भाव वहीं सम्भव है, जहाँ न कोई प्रभाव होगा, न स्वार्थ अथवा आशंका।

ऐसा वास्तविक और निर्विकार प्रेम-भाव केवल सेवा द्वारा ही पाया जा सकता है। सेवा और प्रेम वस्तुतः दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें नहीं हैं। यह एक भाव के ही दो पक्ष हैं। जहाँ प्रेम होगा वहाँ सेवा-भाव होगा और जहाँ भाव होगा वहाँ प्रेम भाव का होना अनिवार्य है। जिसके प्रति मनुष्य के हृदय में प्रेम भाव नहीं होगा, उसके प्रति सेवा भाव का भी जागरण नहीं हो सकता। और जो सेवा भाव सेव्य के प्रति प्रेम भाव नहीं जागता वह सेवा नहीं, स्वार्थपरक चाकरी का एक ही रूप होगा। जिसकी सेवा करने में सुख, शान्ति और गौरव का अनुभव हो समझ लेना चाहिये कि उस सेव्य के प्रति हृदय में प्रेम भाव अवश्य ही है।

सच्चा सेवा भाव माता की सेवा में ही प्रतिबिम्बित होता है। जितनी अधिक और निःस्वार्थ सेवा एक माता बच्चे की करती है, उतनी सेवा एक प्रेमी अपने प्रीति भाजन और एक भक्त अपने भगवान् की कर सकता है। जिस सेवा में भक्त और माता जैसा निःस्वार्थ भाव नहीं होता वह आध्यात्मिक सेवा नहीं होती, जिसके द्वारा आनन्द के मूल स्रोत सच्चे प्रेम की प्राप्ति की आशा की जाती है। ऐसी निःस्वार्थ सेवा दुःखियों के सिवा किसी की भी नहीं की जा सकती। ऐसे पात्रों से कुछ पाने की आशा तो की ही नहीं जा सकती, अस्तु इनकी सेवा निःस्वार्थ सेवा ही हो सकती है। निःस्वार्थ ही सच्ची सेवा है, बाकी सारी सेवायें, धन, सत्ता और स्वार्थ की दासता मात्र ही होती हैं। ऐसी सेवा में न तो प्रेम होता है, न आनन्द और न गौरव। सेवा द्वारा यदि आनन्ददायक प्रेम की अपेक्षा है तो मातृ-भाव से संसार के दीन-दुःखी और गरीब आदमियों की सेवा करना उचित है। वैसे जिसने अपनी मनोभूमि को इतना उन्नत बना लिया है कि उसमें किसी प्रकार का स्वार्थ घर न करने पावे तो संसार में किसी का भी सेवा से मनोवांछित प्रेम की प्राप्ति की जा सकती है।

आनन्द का मूल-स्रोत प्रेम है और सच्चा प्रेम निःस्वार्थ भाव से ऐसों की सेवा करने से ही प्राप्त हो सकता है, जिनसे किसी प्रतिदान की आशा न की जा सके। यदि जीवन में सुख-सन्तोष और शान्ति की आवश्यकता हो तो जनसेवा के मार्ग से प्रेम प्राप्त कर उसकी पूर्ति सफलतापूर्वक की जा सकती है।

गर न हुई दिल में मए इश्क की मस्ती

पत्नी का मन नहीं मान रहा था, वह कहने लगी मुझे धन, रुपया पैसा कुछ नहीं चाहिये तुम बने रहो, तो मुझ सब कुछ है, चलो भावुकता ही सही पर मेरा मन आज न जाने क्यों विचलित हो रहा है, किसी अज्ञात अनिष्ट के से भाव उठ रहे हैं, आज तुम

काम पर मत जाओ पति ने—प्रेयसी पत्नी के कोमल बालों को हाथ का मधुर स्पर्श देकर कहा—लिली ! प्रेम जीवन की अमूल्य सम्पत्ति, अन्तिम आनन्द तो है पर उसे स्थायी सौन्दर्य प्रदान करने के लिये सक्रियता है। तुम मेरे लिये दिन भर कितना परिश्रम करती हो तुम्हारे श्रम के साथ जुड़े प्यार-भाव को क्या मैं भुलाता हूँ पर मुझे भी तो अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिये, मुझे भी तो अपने अन्तःकरण के प्रेमभाव को विकसित करने का अधिकार मिलना चाहिये। तुम किसी बात की आशंका न करो हम दमिश्क होकर पन्द्रह दिन में ही लौट आयेंगे। कप्तान हर्बर्ट ने इतना कहकर दाहिना हाथ ऊपर उठाया, अलविदा की और वहाँ से चल पड़ा, लिली दरवाजे पर खड़ी हर्बर्ट को जाते हुये तब देखती रही जब तक वह उसकी आँखों से ओझल नहीं हो गया।

नाविक हर्बर्ट के जीवन की यह प्रेम-गाथा काल्पनिक नहीं उसके जीवन की महान् साधना थी जिसे इन पति-पत्नी ने सत्तर वर्ष की आयु तक सम्पूर्ण अन्तःकरण से निबाहा। हर्बर्ट लिखते हैं—हम दोनों ने जीवन में काम-भावना या यौन आकर्षण को कभी भी महत्त्व नहीं दिया। जिस तरह दो प्रेमी रहते हैं विवाह के बाद से हम दोनों ठीक वैसे ही रहे ओर इस संसार में आने का भरपूर आनन्द लेते रहे। मेरी दृष्टि में प्रेम से बड़ी निधि व सम्पत्ति इस संसार में दूसरी नहीं, हम दोनों की एक ही इच्छा थी कि हम एक ही दिन मरें (ऐसा ही हुआ भी) और जब भी कभी संसार में आयें कभी एक-दूसरे से अलग न हों।

ईश्वरीय विधान भी प्रेम के आगे नतमस्तक है। हर्बर्ट, वहाँ से सीधे आफिस पहुँचा, आवश्यक कागज-पत्र लेकर जहाज पर चढ़ा। जहाज दमिश्क के लिये चल पड़ा। अभी यात्रा एक दिन की भी पूरी नहीं हो सकी थी, रात का समय, नीरव स्तब्धता, घोर अन्धकार—सब मिलकर यह बता रहे थे कुछ अनहोनी होने वाली है। सचमुच आधा घण्टा बीते समुद्री तूफान आ गया, एक घण्टे के इस तूफान ने जहाज को चरमरा कर दख दिया। हर्बर्ट को आज्ञा मिली जहाज के ऊपर जाकर उसके पाल को तूफान की दिशा में मोड़ने की। ताकि उसे तूफान के विपरीत आघात से बचाया जा सके, किन्तु ऊपर जाने का अर्थ—मृत्यु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था—हर्बर्ट सतह पर चढ़ना ही चाहता था कि कोई आकृति सामने आकर रास्ता रोककर खड़ी हो गई, हर्बर्ट आगे नहीं बढ़ सका। एक काली छाया वहीं निकली और ऊपर चढ़ गई, पाल की दिशा बदल गई, जहाज विपरीत दिशा में चल पड़ा, वह आकृति फिर हर्बर्ट के पास आकर बोली मैं तुम्हारी लिली हूँ, हर्बर्ट तुम मुझ से झूठ ही कह रहे थे कि मैं सकुशल लौट आऊँगा—हर्बर्ट विमोहित सा लिली के स्पर्श के लिये आगे बढ़ता तब तक वह आकृति अदृश्य हो गई। जहाज का आफीसर हैरान था यह देखकर कि पाल की दिशा बदल गई, और हर्बर्ट भीगा भी नहीं। उसे कौन समझता कि प्रेम रूप आता और सिद्धि एक ही वस्तु के दो नाम हैं। लिलली उस समय निद्रा में थी, पर अन्तःकरण अपने प्रिय पति के पास था और वह अदृश्य, अस्पर्श होकर भी इतना शक्तिशाली था कि उतने भयंकर तूफान से भी हँसकर टक्कर ले सकता था। हर्बर्ट लौटा तो बोला—लिली तुम मुझे फिर लौटा लाईं।

अपंग भिखारी दिन भर का भूख-प्यासा गाँव की ओर बढ़ रहा था तो वर्षा आरम्भ हो गई। बात गोरखपुर जिले के सिसवाँ बाजार के समीप एक गाँव की है। पास में ही एक मन्दिर था। वर्षा के कारण दूर तक पहुँचना सम्भव न था, अपंग भिखारी का घर तो वहाँ से दूर चम्पारन जिले के नरईपुर गाँव में है। किसी तरह घिसटता हुआ मन्दिर तक पहुँचा। रात वहीं बिताने के अतिरिक्त कोई उपाय न था।

मनुष्य अकेला हो तो भावनायें भावनाओं से बात करती हैं। सामने खड़ी देव-प्रतिमा की ओर देखा आँखों ने, तर्क मन ने किया—भगवान् कैसी है तुम्हारी सृष्टि ? किसी के पास अच्छे स्वस्थ पाँव भी होते हैं और

ऊपर से घोड़ागाड़ी। मोटर, हाथी आदि वाहन तो दूर पाँव भी नहीं देते, तुम्हारी माया बड़ी विलक्षण है।

अन्तःकरण की श्रद्धा बोली—इसमें भगवान का क्या दोष—बावले यह तो सब कर्मफल है, जिसने किया तप सम्पन्न की साधना किया, जिसने पुरुषार्थ, वैभव तो उसे मिलना ही था पर जो पड़ा रहा पापपंक में दूसरों को कष्ट देकर अहंकार की आत्म-प्रवंचना में वह दीन-दरिद्र रह गया तो इसमें भगवान् का क्या दोष ?

दुःखी मन में विचार उठा—प्रभु—आखिर हम भी तो आपकी ही सन्तान हैं, अज्ञानवश आपको छोड़ दें तो क्या आपको भी छोड़ देना चाहिये ? आप तो संसार का पालन करने वाले सबके रक्षक हैं, आप सर्व-स्वर्थ हैं प्रभु ! पाप के बोझ से बचाकर सन्मार्ग की दिशा आप ही तो देते हैं ?

ऐसे ऐसे सोचते हुये अपंग के अन्तःकरण में भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति अपूर्व प्रेम की स्फुरणा आलोड़ित हो उठी, हृदय विह्वल हो उठा, आँखें झर-झर झरने लगीं। बाह्य चेतना शून्य सी हो चली। लगता था चिरकाल से दिग्भ्रमित आत्मा को अपना समाधान मिल गया है। अपंग को नींद आ गई उसे लगा जैसे वह अगाध ज्योति सागर में खो गया है, अब वह प्रकाश के अतिरिक्त कुछ शेष ही नहीं रहा। भोर की ऊषा ने अपंग को आकार जगाया तो वह विस्मय विस्फारित नेत्रों से देखता रह गया कि उसकी अपंगता एक स्वस्थ, सुदृढ़ शरीर में परिवर्तित हो गई है।

दो घटनायें एक लौकिक प्रेम की एक आध्यात्मिक प्रेम की—प्रेम एक ही है रूप भिन्न हैं भिन्नता में भी एक जैसी तृप्ति एक जैसी सिद्धि देखकर ही किसी शायर ने लिखा है—

गर न हुई दिल में भये इश्क की मस्ती।
फिर क्या दुनियादारी, क्या खुदा परस्ती।।

अगर हृदय में प्रेम की मस्ती न हो तो चाहे सांसारिक जीवन हो अथवा ईश्वर प्राप्ति का आध्यात्मिक मार्ग—कोई आनन्द नहीं आता।

"आनन्द का मूल स्रोत प्रेम है। प्रेम के बिना सारा संसार ही नीर हंस हो जाता है। निष्क्रिय हो जाता है। प्रकृति की रचना प्रेम का आनन्द लेने के लिये ही हुई है। यदि संसार में एक ही तत्व बना रहता तो तालाब में भरे जल और चन्द्रमा की मिट्टी की तरह संसार में न तो कोई सक्रियता होती और न चेष्टायें, विविध सृष्टि रचकर परमात्मा ने प्रेम को ही प्रवाहित किया है। अपनी प्रेम भावनाओं का विकास करके अत्यन्त उल्लास, उत्साह, उमंग, क्रियाशीलता, आल्हाद, मैत्री सेवा, सहयोग का जीवन जीता है। ईश्वर की आत्मा की प्राप्ति कोई नई बात नहीं है। वह अहर्निशि प्रेम भावनाओं में डूबी अन्तर्दशा का ही दूसरा नाम है।

प्रेम साधना द्वारा आन्तरिक उल्लास का विकास

महात्मा ईसा ने एक स्थान पर कहा है—

"परमेश्वर की इच्छा पर मैं अपना सर्वस्व सौंपने को तैयार हूँ। इस दुनियाँ की कोई वस्तु मैं उससे नहीं चाहता। मैं उसे इसलिये प्यार करता हूँ कि वह प्यार के ही योग्य है। परमेश्वर में क्या-क्या शक्ति और विशेषतायें हैं, इसे जानने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है, क्योंकि मैं उससे कोई सिद्धि या अधिकार नहीं चाहता। मेरे लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि वह प्रेममय है। प्रेम उसे प्रिय है।"

महात्मा ईसा के उपर्युक्त कथन में प्रेम की महिमा स्पष्ट होती है। उस प्रेम की महिमा, जिसने असंख्य विरोधों और अपवादों के होते हुये भी ईसा को एक महान् पुरुष तथा संसार का पूजा-पात्र बना दिया। ईसा ने अपने हृदय का वह प्रेम परमात्मा को समर्पित कर दिया। परमात्मा के प्रति मन, वचन और आत्मा से सम्पूर्ण प्रेम समर्पित कर देने से ईसा की आत्मा का अनिर्वचनीय विकास तथा विस्तार होगा। उनका ईश्वरपरक प्रेम फैलकर जन-जन पर छा गया, जिससे वे स्वयं सबके प्यारे बन गये। निश्छल तथा निर्विकार प्रेम करने वाला निश्चय ही बदले में प्रेम का प्रतिदान पाता है।

यह सब सत्य है कि प्रेम का प्रतिदान प्रेम से मिलता है किन्तु फिर भी प्रतिदान के लोभ से किया हुआ प्रेम निश्छल तथा निर्विकार नहीं माना जा सकता। उसमें कोई भौतिक स्वार्थ न होने पर भी एक प्रच्छन्न आत्मिक स्वार्थ तो रहता ही है। इतना मात्र स्वार्थ भी प्रेम की निश्छलता, निर्विकारता और गरिमा के साथ उसके प्रभाव को भी नष्ट कर देता है। वास्तविक प्रेम वही होता है, जिसमें दान ही दान की भावना होती है, प्रतिदान का कोई भाव नहीं होता। सच्चा-प्रेमी अपने प्रेमास्पद से किसी प्रकार की आशा, आकांक्षा नहीं रखता। वह तो केवल देना ही चाहता है लेना नहीं। सच्चा प्रेमी दान में ही प्रतिदान का आनन्द और सन्तोष प्राप्त कर लेता है। वह स्वयं आत्म-तुष्ट और परिपूर्ण होता है। उसको अपने प्रेमास्पद का हित ही अपना हित, उसका हर्ष अपना हर्ष और उसका सुख अपना सुख अनुभव होता है। जिसे दान में सुख प्राप्त होगा, वह प्रतिदान के लिये लालायित ही क्यों होगा ?

जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह अमुक व्यक्ति को प्रेम करता है तो सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती है। विचार आता है कि यह व्यक्ति प्रेम की अनुभूति से ओत-प्रोत कितना भाग्यवान् है। यह प्रेमी है किसी को प्रेम करता है। इस प्रकार इसने अपने जीवन में दुर्लभ आत्मशान्ति तथा आत्म-सन्तोष की व्यवस्था कर ली है। किन्तु वही व्यक्ति जब यह कहता सुना जाता है कि उसे उसके प्रेम का प्रतिदान नहीं मिला, इस का उसे दुःख है, तो सहसा ही उस पर तरस आने लगता है और ऐसा भान होता है कि यह तो बड़ा अभागा है। प्रेम का व्यवसाय करना चाहता था। प्रेम का प्रतिदान चाहने वाले प्रेम के व्यवसायी ही तो होते हैं। जहाँ जिस स्थान पर, जिस विषय में लेने और देनें की भावना होती है, वहाँ वह उस विषय का व्यवसाय ही माना जायेगा।

व्यवसाय भावना रखने वालों का प्रेम व्यापार में असफल होना अनिवार्य है। उसकी असफलता को स्वयं परमात्मा भी नहीं रोक सकता। जुए की बाजी की तरह प्रेम का दाँव लगाने वाले उस अमृत से उसी प्रकार वंचित रहते हैं, जैसे जुआरी सम्पन्नता से। यह आवश्यक नहीं कि जुआरी जो दाँव लगाये, वह उसके पक्ष में ही सामने आये और यदि कभी वह पक्ष में आ भी जाता है तो फिर किसी दाँव पर विपक्ष में चला जाता है और इस प्रकार उसकी स्थिति असफल तथा अभावपूर्ण ही बनी रहती है।

जो प्रतिदान की लालसा और व्यवसायिक भावना से प्रेम करता है, वह वास्तव में किसी पर मायाजाल फेंकता है। यह आवश्यक नहीं कि कोई उसके माया-जाल में फँसे ही जाये। और यदि कोई फँस भी जाता है तो शीघ्र ही वास्तविकता खुल जाती है, और तब जीवन में कसक और काँटों के सिवाय कुछ शेष नहीं रह जाता। प्रतिदान की भावना से दूषित व्यावसायिक प्रेम जीवन के लिये विष से भी अधिक भयानक होता है।

प्रेम के अमृत से सन्तुष्ट प्रेमी संसार के सारे दुःख-द्वन्दों से मुक्त हो जाता है। उसका मन सम्पूर्ण रूप से अपने प्रेमास्पद में तल्लीन रहने से उसे संसार के दुःख-द्वन्द अनुभव ही नहीं होते और अपने प्रेमास्पद के लिये तो वह विपत्ति के पहाड़ भी अपने ऊपर ले सकता है। परमात्मा के सच्चे भक्त, उसके प्रेमी, उसके प्रेम के सम्मुख मोक्ष, सुख को भी तुच्छ समझते हैं। वह प्रार्थना करता है, हे प्रभु ! इस संसार में जो भी दुःख-दर्द मौजूद हैं, जो भी कष्ट और विपत्तियाँ वर्तमान हैं, मैं उनसे जरा भी नहीं डरता। इस दुनियाँ के सारे पाप, अभिशाप, जो मेरे भाग्य में लिखे हैं, मैं उनकां प्रसन्नता से भोग करने को तैयार हूँ। उनका पूरा दण्ड पाने को प्रस्तुत हूँ और तुझसे उनमें जरा भी रियायत नहीं चाहता। मैं तुझ से किसी प्रकार की सिद्धि, समृद्धि भी नहीं चाहता और न तुझसे धन, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बुद्धि आदि सम्पदायें ही माँगता हूँ, न मैं मुक्ति अथवा स्वर्ग के लिये तेरे प्रति याचना करता हूँ मुझे जन्म-मरण का चक्र भी सहर्ष स्वीकार है, मैं तुझ से क्षमा का भी आकांक्षी नहीं हूँ, मैंने जो कर्म बोये हैं, उनका फल काटने में जरा भी संकोच नहीं चाहता। हाँ, यदि मुझ को आकांक्षा है तो यह कि तू मुझ को अपने से प्रेम करने दे। प्रेम के

लिये प्रेम और केवल निष्काम प्रेम। इसमें ही मेरे जीवन की सार्थकता है और सफलता भी है। प्रभु ! तू मुझे अपने से ही जी भर प्रेम करने दे। बस।"

जो सच्चे प्रेम का अमृत पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, उसे संसार के मिथ्या भोगों की कामना भी नहीं रहती। जो लोग वासना से प्रेरित आकर्षण को प्रेम कहते हैं, वे प्रेम का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते। वासनाजन्य आसक्ति को प्रेम मानना एक प्रकार से आत्म-प्रवंचना ही है। प्रेम के स्तर आत्मा है और वासना का सम्बन्ध शरीर से है। शरीर नश्वर है, इसलिये उनसे सम्बन्धित सारे विषय भी नश्वर हैं। प्रेम अमर तत्व है, वह नश्वरता से दूर एकरस रहने वाली भावना है। शरीर नष्ट हो जाने पर भी प्रेम-भावना का विनाश नहीं होता। आगामी जन्म में प्रेमी अपने प्रेमास्पद को पुनः पा लेता है और फिर उसी चिरन्तन आनन्द में निमग्न रहने लगता है। किन्हीं भी लोगों में इस जन्म में प्रेम अथवा भक्ति की तीव्रता देखी जाती है, वह उनकी इसी जन्म की उपलब्धि हो यह आवश्यक नहीं। प्रेम की परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चलती रहती है। उसकी पूर्णता की प्राप्ति तभी होती है, जब प्रेम और प्रेमास्पद की आत्मायें परस्पर मिलकर एक हो जाती हैं।

प्रेम आत्मा का विषय है, शरीर का नहीं। इसलिये भोग-वासना के आकर्षण को प्रेम मान बैठना उचित नहीं। भोग-वासना के दोष से भी प्रेम को मुक्त ही मानना चाहिये। आत्मा का विषय होने से प्रेम आत्मा की तरह ही अभोग्य है। भोग शरीर का विषय है। जिस आकर्षण में भोग-वांछा अनुभव हो वहाँ समझ लेना चाहिये कि वास्तविक प्रेम नहीं है। सच्चे और आत्मिक प्रेम में वासना भोग, आसक्ति, मोह, संयोग-वियोग, पीड़ा-कसक अथवा दुःख-शोक आदि विकार नहीं होते। वह तो सर्वथा आत्मा की ही तरह विकार रहित और परिवर्तन से परे होता है। आत्मिक प्रेम का धनी व्यक्ति अपने प्रेमास्पद को निरन्तर अपनी आत्मा में ही पाता रहता है।

शारीरिक संयोग-वियोग उसके लिये कोई महत्त्व नहीं रखते। सच्चा प्रेम अपने प्रेमास्पद को संयोग की अवस्था में भी अपने भीतर ही देखता और सुखी होता है और वियोग की अवस्था में भी अपने अन्दर देखता और सुख पाता है। शरीर से दूर हो जाने पर भी सच्चे प्रेमी को प्रेमास्पद का वियोग अनुभव नहीं होता। जो भी अपने प्रेमास्पद की शारीरिक संयोग-वियोग में सुखी अथवा दुःखी होता है, उसे समझ लेना चाहिये कि उसका प्रेम आत्मिक नहीं है। वह अपने प्रेमी से शारीरिक स्तर पर ही सम्बन्धित है।

किसी के प्रति सच्चे होने का लक्षण यह भी है कि प्रेमी को अपने प्रेमास्पद के दोष भी दोष रूप में नहीं दीखते। उसकी त्रुटियाँ भी अप्रिय नहीं लगतीं। ऐसा इसलिये नहीं होता कि अमुक से अमुक का गहरा सम्बन्ध होता है अथवा किसी को अपने को प्रेमास्पद हीन होना सह्य नहीं होता। यह इसलिये होता है कि प्रेम प्राण मनुष्य योगी के समान होता है। वह बहुधा गुण-दोषों से मुक्त होता है। प्रेम जब अपनी चरमावधि पर पहुँच जाता है, तब केवल प्रेमास्पद ही किसी की समदृष्टि अथवा गुण-दृष्टि का विषय नहीं बन जाता बल्कि संसार के जीव मात्र ही उसकी गुण-दृष्टि के विषय बन जाते हैं। सच्चा प्रेम संसार में जीव-मात्र के लिये एक समान दृष्टि का विकास कर देता है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि प्रेम स्वभावतः ही मनुष्य की आत्मा का विकास सार्वभौम आत्मीयता में कर देता है। दूसरे प्रेमी को संसार के अणु-अणु में अपने प्रेमास्पद के ही दर्शन होते रहते हैं। इसलिये उसको किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु में दोष, दुर्गुण नहीं दीखते।

प्रेम एक महान् योग है। इसे धर्मशास्त्रों तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रेम-योग के नाम से कहा भी गया है। जिसने सत्य-प्रेम का अमृत प्राप्त कर लिया अथवा जिसने उपाय, अभ्यास अथवा साधना द्वारा अपनी आत्मा में प्रेम का स्फुरण कर लिया है, वह योगी है। उसका प्रेमयोग न केवल संसार के दुःख-दर्दों से ही अपने साधक को मुक्त रक्खेगा बल्कि उसे उस गति का भी अधिकारी बना देगा जो योगियों की निश्चित एवं नैसर्गिक उपलब्धि है।

जो संसार में किसी एक को सच्चे रूप में प्रेम करेगा, स्वभावतः उसे संसार के प्राणी

व्यक्तियों से प्रेम की अनुभूति होने लगेगी। बहुत बार लोग समझते हैं कि उन्हें अपनी पत्नी तथा बच्चों से बड़ा गहरा प्रेम है। लोगों का ऐसा समझना गलत भी नहीं होता। उन्हें अपनी पत्नी तथा बच्चों से प्रेम होता भी है। वे उनकी बुराइयों की ओर से निरपेक्ष हो जाते हैं। उनके लिये बड़े से बड़ा त्याग करते हैं और बड़े से बड़ा बलिदान देने में भी संकोच नहीं करते उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं। अपने आप कष्ट उठाकर उनको आराम पहुँचाते हैं। यह सब लक्षण देखकर आभास हो सकता है कि अमुक व्यक्ति को अपनी पत्नी तथा पुत्रों से बड़ा प्रेम है। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं।

पत्नी तथा बच्चों के प्रति लोग जिस अनुभूति का अनुभव करते हैं, वह प्रेम न होकर मोह होता है। मोह में ही आत्मीयता का अंश कम नहीं होता। किन्तु उनकी वह आत्मीयता, स्वार्थ अथवा अपनेपन की संकीर्णता से आध्यात्मिक स्तर की न होकर, सांसारिक स्तर की होती है। अपने बच्चों के प्रति प्रेम में उन पर जान देने वाले, उनके दोषों को दृष्टिगोचर करने वाले बहुधा दूसरों के बच्चों को जरा भी नहीं चाहते। उनका एक साधारण-सा दोष भी वे क्षमा नहीं कर पाते। यदि उनको अपने बच्चों से सच्चा और आत्मिक प्रेम होता तो निश्चय ही उन्हें अन्य बच्चे भी अपने बच्चों के समान ही प्रिय होते। वे उनके लिये भी त्याग और बलिदान कर सकते और उनमें वही सन्तोष पाते, जो अपने बच्चों के प्रति करने में। प्रेम आत्मा का विषय है।

आत्मिक क्षेत्र में अपना-पराया, अच्छा-बुरा अथवा मेरा-तेरा आदि की संकीर्णता नहीं होती। मनुष्य की आत्मा, संकीर्णता, स्वार्थ तथा निकृष्टता से सर्वथा परे हैं। वह आत्मा का अंश है, उसका स्वरूप है। निदान उसी की तरह सारे संसार को अपना आत्मीय ही समझता है। सच्चे प्रेमी में परमात्मा की तरह ही व्यापकता, विस्तार तथा निःस्वार्थता आ जाती है और वह सम्पूर्ण जड़-चेतन में एकात्म-भाव का अनुभव करने लगता है। निःसन्देह जिसने प्रेम के उस पावन तत्त्व को प्राप्त कर लिया है, वह बहुत बड़ा भाग्यवान् और जीवन-मुक्त योगी के समान है।

प्रेम का अमृत और उसका प्रतिदान

किसी मनुष्य के पास दूसरे को देने योग्य यदि कोई सबसे अधिक उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण वस्तु हो सकती है तो वह है प्रेम। यों आर्थिक या बौद्धिक सहायता देकर भी किसी का कुछ उपकार किया जा सकता है पर उसका लाभ स्वल्पकालीन रहता है, इसलिये उसकी प्रसन्नता भी क्षण भर ही टिकेगी। प्रेम और सद्भाव पाकर आत्मा जितनी प्रसन्नता अनुभव करती है उतनी और किसी वस्तु से नहीं करती। उपकार करने में जो त्याग करना पड़ता है उससे कई गुना प्रतिफल तब वसूल हो जाता है जब जिसके साथ उपकार किया गया था वह सच्चे हृदय से कृतज्ञता और प्रेम-भावना प्रकट करता है। यह कृतज्ञता और प्रेम-भावना उपकारी को ही प्राप्त हो सकती है। इस संसार में पाप और दुष्टता की तरह प्रेम और सौजन्य भी परिपूर्ण मात्रा में भरा पड़ा है, पर उसे वे लोग प्राप्त नहीं कर सकते, जिनका मन कुटिलता और व्यवहार अनीति से भरा पड़ा है। सज्जनता, सरलता, सचाई और सहृदयता में ही वह गुण है कि सामने वाले पत्थर को भी अपने लिये मक्खन जैसा कोमल बनाकर रख दे। सच्चा प्रेम प्राप्त करने के लिये सज्जनता की आवश्यकता है। सज्जन व्यक्ति को कई बार चालाक लोग ठग लेते हैं पर तो भी उसकी उदारता और भलमनसाहत के प्रति उन्हें नत-मस्तक ही होना पड़ता है। ठगाये जाने पर भी जिसने अपनी सज्जनता को नहीं छोड़ा है वह किसी भी बलिदानी वीर से कम प्रशंसनीय नहीं है।

जिसके मन में दूसरों के प्रति कोमल भावनायें रहेंगी वे ही दूसरों का स्नेह और सम्मान प्राप्त कर सकेंगे। मतलब के लिये गधे को बाप बनाने की नीति हर कोई जानता है। खुशामद, चापलूसी और भुलावा देने वाली मीठी बोली बोलने की कला को अब बहुत लोग जान गये हैं और दूसरों को उल्लू बनाकर अपना मतलब निकालने के लिये कितने ही लोग इस हथियार का भरपूर प्रयोग भी करते हैं। क्यों कि वे जानते हैं कि हर व्यक्ति की आत्मा स्नेह,

सम्मान और सद्भाव की प्यासी हैं। यदि वे नकली रूप में भी कहीं दिखाई पड़ते हैं तो भी उन्हें लुभाने के लिये उतना ही बहुत है। बहेलिये जिस प्रकार दाने डालकर अपना जाल कबूतरों से भर लेते हैं, मछुए जिस प्रकार आटे की गोली दिखाकर मछलियाँ समेटते रहते हैं उसी प्रकार नकली प्रेम का प्रलोभन देकर कितने ही ठग दूसरों का सर्वस्व हरण कर लेते हैं। इन हथकंडों के बीच एक ही सत्य छिपा हुआ है कि वह यह कि हर व्यक्ति प्रेम का प्यासा है हर किसी को सद्व्यवहार और सज्जनता की प्यास है। यह इतना प्रकट तथ्य है कि नकली प्रेम की विडम्बना बनाकर वेश्याओं से लेकर प्रपंची ठगों तक सभी ने नकली मधुरता को अपने लिये एक सफलता का व्यावसायिक अस्त्र बनाया हुआ है।

इस भूतल का अमृत

यह तो हुई नकलीपन की बात। असली रूप का आनन्द तो इतना उत्कृष्ट है कि उसकी एक बूँद के बदले में मनुष्य अपना सर्वस्व निछावर कर सकता है। प्रेम की असफलता में अनेकों आत्म-हत्या करते रहते हैं, प्रेम की प्राप्ति के लिये लोग बड़े से बड़ा त्याग करते हैं। पति-पत्नी के प्रेम सम्बन्ध में तो यह बात स्पष्ट ही है। स्त्री-स्त्री और पुरुष-पुरुष में भी प्रेम भाव को गहनता होने पर एक-दूसरे के लिये मर-मिटने के अवसर सहज ही आ सकते हैं। निस्सन्देह मनुष्य को अपना धन और प्राण प्रिय हैं, पर प्रेम की महानता इतनी ऊँची है कि उसके लिये इन दोनों को भी सहज ही तिलांजलि दी जा सकती है।

यदि सच्चे स्नेह और सच्चे सद्भाव की कुछ बूँद मनुष्य को मिलती रहें तो वह रूखी रोटी खाकर और फटे-चिथड़े पहनकर अमीरों और रईसों से अधिक आनन्द एवं गर्व अनुभव करता हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है। परिवार के छोटे दायरे में जिसे धर्म-पत्नी की अनन्यता, बच्चों की श्रद्धा, भाई का विश्वास, बहिन की ममता, माता का वात्सल्य, पिता का प्रेम, नौकर की वफादारी प्राप्त है, उसे अगणित समस्यायें सामने रहते हुये भी अपना जीवन स्वर्गीय शान्ति से परिपूर्ण दिखाई देगा। फिर जिसके मित्र, स्वजन, परिजन, परिचित, सम्बन्धी, व्यवहार भी ऐसा भी व्यवहार रखने लगें तब तो कहना ही क्या है। उस जीवन में हर दिशा से आनन्द की निर्झरिणी बहती रहेगी !

हम बदलें तो दुनियाँ बदले

ऐसी प्रेममयी—आत्म-भाव से परिपूर्ण परिस्थितियाँ प्राप्त कर सकना हर किसी के लिये नितान्त सरल और सम्भव है। दुनियाँ में हर चीज की कीमत है यहाँ बिना कीमत चुकाये कुछ भी नहीं मिलता। दूसरों का सम्मान, स्नेह, सद्भाव और सहयोग प्राप्त करने के लिये हमें वही तत्व अपने भीतर पैदा करने पड़ेंगे और उसका उपयोग दूसरों के लिये करना पड़ेगा। चुम्बक अपने सजातीय लोहे को अपनी तरफ खीचंती है। यदि चुम्बक में आकर्षण शक्ति न हो तो पास में पड़े हुये लौह कण भी उपेक्षा का भाव दिखाते रहेंगे, उधर अभिमुख होने की कोई चेष्टा न करेंगे।

प्रेम, प्रेम की कीमत पर खरीदा जा सकता है। वह एकांगी भी हो सकता है। एक का सच्चा प्रेम दूसरे को कभी न कभी अपने अनुगत बना ही लेता है। बुरे लोगों को भी यदि हम प्यार करने लगें तो उनका सुधार ही होगा। आज नहीं तो कल, हमारे जितना न सही उससे कम, कुछ तो प्रेम भाव उनके मन में उपजेगा और बढ़ेगा ही। सच्चे मन से किया हुआ प्रेम कभी भी निरर्थक नहीं जाता। उनके द्वारा पत्थर की मूर्तियाँ और कागज के चित्र देवता बनकर हमें आनन्द से ओत-प्रोत कर सकते हैं तो फिर हाड़-मांस वाला सजीव प्राणी प्रत्युत्तर में सर्वथा प्रेम-विहीन कैसे बना रहेगा ?

यदि प्रेम के बदले प्रेम का प्रत्युत्तर न भी मिले, अपने को ठगे जाने और घाटे में रहने का अवसर आवे तो भी उसकी हानि ही रहेगी। प्रेम की दिव्य अनुभूतियाँ अपने अन्तःकरण में जब उठती रहती हैं तो वहाँ पुष्प-वाटिका की तरह सौन्दर्य और सुगन्ध का साम्राज्य छाया रहता है। उसका आनन्द तो अपने को मिलता ही है। आत्मा की सबसे प्रिय अनुभूति प्रेम है। उसका रसास्वादन होते रहने से आत्म-तृप्ति,

आत्म-सन्तोष और आत्मोल्लास का जो हर घड़ी लाभ होता रहता है उसकी तुलना में यदि कुछ भौतिक हानि उठानी भी पड़े तो वह तुच्छ एवं नगण्य ही मानी जायेगी।

प्रेम की एक-एक बूँद के लिये यह दुनियाँ तरस रही है। अनावृष्टि काल में पानी का जैसा अकाल रेगिस्तानों में पड़ता है वैसा ही प्रेम दुर्भिक्ष आज सर्वत्र छाया हुआ है। प्रेम के नाम पर ठगी, चापलूसी, वासना और शोषण की प्रवंचना तो खूब बढ़ी है पर सच्चा प्रेम—जिसमें आत्म-दान और निःस्वार्थ सेवा का ही समावेश होता है, अब देखने को नहीं मिलता। इस आध्यात्मिक विभूति के अभाव में जीवन नीरस ही बने रहते हैं। सब ओर कुछ खोया-खोया सा, सब ओर अभाव-अभाव सा ही दिखाई पड़ता है। यदि सच्चे प्रेम के कुछ कण भी किसी को प्राप्त हो जाते हैं तो सचमुच ही उसके सब अभाव पूर्ण हो जाते हैं।

हमें अपने भीतर सच्चे प्रेम की भावनायें जागृत करनी चाहिये, दूसरों को अपने मानना चाहिये, उन्हें आत्मीयता की दृष्टि से देखना चाहिये, फलस्वरूप हम भी सच्चे प्रेम के रसास्वादन से वंचित न रहेंगे। संसार के खेत में अपना प्रेम बीज बखरते फिरें तो कोई-कोई पौधा उसका जरूर उगेगा और उसकी सुगंध से भी हमें आनन्द और तृप्ति देने लायक बहुत कुछ मिल जायेगा।

प्रेम और सेवा ही तो धर्म है

शरीर और प्राण मिलकर जिस तरह पूर्ण पुरुष बनता है, धर्म भी उसी तरह बाह्य और आन्तरिक दो स्वरूपों में विभक्त है। बाह्य रूप है पूजा-अर्चा, दीप-आरती आदि कर्मकाण्ड किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप भावनात्मक है जिसका निर्माण प्रेम और सेवा से होता है। कर्मकाण्ड के बाह्य साधन निर्जीव—अल्पकालीन और स्थूल होते हैं। शरीर कालान्तर में नष्ट हो जाता है और मनुष्य "प्राण" में परिवर्तित हो जाता है। कर्मकाण्ड भी उसी तरह कुछ दिन ही चलता है। आगे तो इससे ऊँची भावनात्मक कक्षा में प्रवेश लेना होता है जहाँ मनुष्य को प्रेम और सेवा का पाठ पढ़ाया जाता है। धर्म-प्रशिक्षण की परिपूर्णता जीवन को प्रेममय तथा सेवामय बनाने में ही आती है। इनके बिना धर्म मृत है, निर्जीव है सेवा और प्रेम। इन्हीं से वह अपने सही स्वरूप में स्थिर हो पाता है।

महात्मा गाँधी का कथन है—"धर्म का मतलब सत्य अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति है। धर्म प्रेम का पन्थ है, फिर घृणा कैसी, द्वेष कैसा, मिथ्याभिमान कैसा ? मनुष्य एक ओर तो ईश्वर की पूजा करे, दूसरी ओर मनुष्य का तिरस्कार करे, यह बात बनने लायक नहीं।"

मनुष्य दूसरों को नैतिक उपदेश ही देता रहे तो उससे किसी का काम नहीं बनता। समय पर सहायता मिलना, मुश्किलें और कठिनाइयाँ दूर करना उपदेश देने की अपेक्षा अधिक उपयोगी है, इसी से किसी को कुछ ठोस लाभ प्राप्त हो सकता है। यही ईश्वर की सच्ची पूजा है।

किसी तालाब में एक बालक डूब रहा था। दैवयोग से उसके अध्यापक उधर से गुजरे। बालक को डूबता हुआ देखकर सीढ़ियों पर खड़े होकर डाँटने लगे—"क्यों रे ! मैंने तो मना किया था गहरे पानी में नहीं उतरना चाहिये फिर तू क्यों पानी में कूदा ! भले आदमी पहले तैरना सीख लेता तब गहरे पानी में जाता।" अध्यापक जी न जाने कब तक उपदेश जारी रखते तभी एक किसान पानी में कूदा और बालक को बाहर निकाल लाया। किसान बोला—"पण्डितजी ! उपदेश स्कूल में दिये जाते हैं, यहाँ तो बच्चे को डूबने से बचाने की आवश्यकता थी।"

बेचारे अध्यापक की तरह उपदेशदाताओं की आज भी कमी नहीं है। ऐसे धर्म भी बहुत हैं जिनमें उपदेश और शिक्षाओं से किताबों की किताबें भरी पड़ी हैं। जगह-जगह धार्मिक सभायें भी खूब होती रहती हैं। नाटक, रामलीला आदि के द्वारा भी तरह-तरह की शिक्षायें दी जाती रहती हैं पर सामान्य जनों के लिये उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं होता। और तो और पोथी धारी पंडित भी व्यावहारिक तथ्यों का अनुशीलन नहीं कर पाते। इस दृष्टि से तो कबीर दास जी की ही वाणी सत्य और बुद्धि संगत प्रतीत होती है। उन्होंने लिखा है—

पोथि पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम के पढ़ै सो पण्डित होय।।

पुस्तकें पढ़ लेने से ही कोई धर्म-निष्ठ नहीं बन जाता है। सच्चा धर्म तो प्रेम है, जिससे मानव मात्र के दुःखों की अनुभूति होती है। किस के दुःख में दुःखी न हुआ वह भी कोई इन्सान है ? उसे तो पाषाण हृदय की कहना अधिक उपयुक्त होगा फिर उसने चाहे जितने ग्रन्थों का अवलोकन क्यों न किया हो।

हमारी आँखों के आगे से प्रतिदिन अनेकों प्राणी ऐसे गुजरते रहते हैं, जिन्हें हमारी सहानुभूति की अपेक्षा होती है। भूखे, प्यासे, वस्त्र विहीन, अशिक्षित, साधन विहीन हमसे सहयोग की आशा रखते हैं, किन्तु कितना कठोर होगा वह मनुष्य जो इन्हें तनिक भी सेवा नहीं दे सकता। जो 'सेवा' धर्म का सार है उसे ही लोग छोटेपन का चिन्ह समझते हैं। परोपकार से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं, दूसरों की सेवा से बढ़कर परमात्मा की सच्ची पूजा और कुछ हो नहीं सकती।

परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में निवास करता है, उसके लिये एक मन्दिर बनवा दिया तो कौन भारी काम कर दिया ? जो असंख्यों जीवधारियों को भोजन देता रहता है उसके लिये भोग की थोड़ी-सी मिठाई न भी मिले तो भी कुछ हर्ज नहीं। परमात्मा सबको जीवन-दान देता है उसे क्या भेंट-पूजा चढ़ाकर भी कोई प्रसन्न कर सकता है ? उसकी सच्ची पूजा तो सद्व्यवहार है। दीन-दुखियों के रूप में वह अपने भक्तों की सेवा पाने के लिये दर-दर भटकता रहता है। उसे दरिद्र नारायण के रूप में देख सकें तो सर्वत्र ही आपकी पूजा पाने को वह प्रतीक्षा करता हुआ मिलेगी। पीड़ित और पिछड़े हुये मनुष्य के लिये प्रेम और सद्भावनापूर्वक कुछ सहयोग दे दिया जाये तो उससे अपने को जो आन्तरिक आल्हाद मिलता है। वह परमात्मा का बधाई संदेश नहीं तो और क्या है ? दुःखी मनुष्य का आन्तरिक आशीर्वाद पाने से जो हृदय में विशालता व प्रसन्नता आती है वही तो परमात्मा की सच्ची अनुभूति होती है। भूल में हैं वे लोग जो परमात्मा की इस सच्ची उपासना से वंचित रहकर केवल कर्मकाण्ड के पीछे पड़े हुये अपने बड़प्पन की डींग हाँकते रहते हैं। सचमुच, जो असहायों के हृदय स्पर्श न कर सका, संसार को सद्व्यवहार न दे सका, उसकी उपासना अधूरी है। उसे कभी भगवान् मिलेंगे, यह सोचना भी गलत है।

परमात्मा से सच्चे हृदय से जो प्रीति रखते हैं उन्हें सृष्टि के प्रत्येक प्राणी में उन्हीं की छाया दिखाई देती है। क्या ऊँचा क्या नीचा ! सारा संसार उन्हीं से तो ओत-प्रोत हो रहा है। छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे का भेदभाव परमात्मा के प्रति अन्याय है। सर्वत्र व्यापी प्रभु को समदर्शी पुरुष ही जान पाते हैं।. जो प्राणी मात्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है वही ईश्वर का प्यारा है। अपने पत्नी-बच्चों, रिश्तेदारों तक की ही प्रेम को प्रतिबन्धित रखना स्वार्थ है। प्रेम का क्षेत्र असीम है, अनन्त है। उसे प्राणी मात्र के हृदय में देखना ही ईश्वर-निष्ठा का सबूत है। वह कभी किसी को अप्रिय नहीं कह सकता, किसी को दुःखी देखकर उसका कलेजा आँखों में उतर आता है। उसने तो सब में ही अपने राम को रमा हुआ देख लिया है।

सेवा और भक्ति वस्तुतः दो वस्तुयें नहीं हैं। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। एक-दूसरे पर आश्रित हैं। प्रेम जब मन और वाणी से उतर कर आता है तो उसे सेवा रूप में देखा जाता है। सच्चा प्रेमी वह है जो केवल शब्दों से ही मधुरता न टपकाता रहे वरन् अपने प्रेमी के दुःख-दर्द में कुछ हाथ भी बटाये। कर्त्तव्य-पालन में कष्ट स्वाभाविक है। कष्ट को अपेक्षित करके भी जो कर्त्तव्य-पालन कर सकता हो, सच्ची सेवा का पुण्य फल उसे ही प्राप्त होता है। माता अपने बेटे के लिये कितना कष्ट सहती है पर बदले में कभी कुछ चाहती नहीं। यही सेवा का सच्चा स्वरूप है। इसमें देना ही देना है पाना कुछ नहीं है। जो अपना सब कुछ न्यौछावर कर सकते हों, उन्हीं को तो परमात्मा का सान्निध्य सुख प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता है।

परिवार की देखरेख, स्वजनों के पालन-पोषण की व्यवस्था, बालकों को शिक्षित-विकसित बनाना यह सेवा-कार्य ही हैं। किन्तु यह कार्य करते हुये अहं-भावना न आनी चाहिये। निष्काम कर्म को ही सेवा कहेंगे। जिससे अपना स्वार्थ सधता हो, वह कभी सेवा नहीं हो सकती।

व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षेत्र से ही मनुष्य आगे की उत्कृष्ट सेवा का आधार बनाता है। यह क्षेत्र आगे बढ़कर प्राणी मात्र के हित और त्याग भावना के रूप में फैल जाता है। प्रारम्भ काल से जो अहंकार शेष रह गया था विश्व-सेवा भावना से वह सब धुल जाता है। और मनुष्य प्रेम की पूर्णता का रसास्वादन करने लगता है।

पारमार्थिक सेवा का स्वरूप काम-भाव तथा अहंकार के विग्रह से मुक्त होता है। वहाँ केवल अपनी योग्यता का लाभ दूसरों को देना रह जाता है। मैं कुछ नहीं हूँ, जो कुछ है वह है। मैं कुछ नहीं करता, वह सब परमात्मा ही करता है। "मैं"तो एक यन्त्र मात्र हूँ जो उसके इशारे मात्र से काम करता रहता हूँ। मैं व्यक्ति या समाज पर कोई एहसान नहीं करता हूँ इससे मुझे आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है। यही मेरी सेवा का मूल्य है जो परमात्मा मुझे निरन्तर देता रहता है।

धर्म का यही रूप सही है। इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये शेष कर्मकाण्ड अभ्यास मात्र है। हमें धर्म को कर्मकाण्डों तक ही बाँधकर नहीं रखना चाहिये। हमारे हृदय में प्रेम और सेवा-भावना का उदय हो तो समझना चाहिये कि धर्म के प्राण को समझ लिया है। तभी सच्चे अर्थों में धर्म-निष्ठ कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं।

आत्म जागृति की अमर साधना-प्रेम

वासना का ग्रहण न लगे तो जीवन की सम्पूर्ण असफलताओं और निराशाओं को प्रेम के पुण्य प्रकाशों में ऐसे ही नष्ट किया जा सकता है जैसे महावट की वर्षा के तुषार के अन्ननाशी पात को प्रेम से बढ़कर अन्य कोई प्रतिष्ठा इस संसार में नहीं है। इसीलिये मनुष्य प्रेम के लिये जीता रहता है।

कीट्स अंग्रेजी का महान् कवि थोड़ा-सा जीवन जिया अभाव और कष्टों में जिया। कहते हैं कीट्स कई-कई दिन की सूखी रोटियाँ रख लिया करता था, वह जीवन-निर्वाह की साधन होती थीं, ऐसी परिस्थितियों में कोई व्यक्ति यदि जी सकता है तो उसे किसी का परम प्रेमास्पद ही होना चाहिये। कीट्स के सम्बन्ध में ऐसा ही था। एक सम्पन्न परिवार की नवयुवती ने उसे प्रेम दिया था। वासना-रहित उस प्रेम ने ही कीट्स की भावनाओं को इतना कोमल और संवेदनशील बनाया था। २१ वर्ष की स्वल्पायु में लिखी उसकी रचनायें प्रौढ़ कवियों को भी मात करती चली जाती हैं और जब यही प्रेम उससे छिना, कीट्स की प्रेमिका का विवाह किसी धन सम्पन्न परिवार में कर दिया गया तो उसका यही प्रेम परमात्मा के पैरों में समर्पित हो गया। 'दि लैमेन्ट' नामक गीत में उसकी यह सम्पूर्ण भाव-विभोरता छलक उठी है और उसने 'कीट्स' को अमर बना दिया है।

महाकवि कालीदास जब तक एक भावना-विहीन व्यक्ति थे, तब तक उन्हें यह भी सुधि न थी कि वे जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काट रहे हैं, किन्तु जब विद्योत्तमा के पावन प्रेम ने उसे झकझोरा तो कालीदास का सम्पूर्ण अन्तःकरण अँगड़ाई लेकर जाग उठा। महाकवि के गीतों में भगवती सरस्वती को उतरना पड़ा।

कहते हैं एक बार विवाद उठ खड़ा हुआ कि कवि दण्डी श्रेष्ठ हैं अथवा कालीदास। जब इसका निर्णय मानवीय-पंचायत न कर सकी तब दोनों सरस्वती के पास गये और पूछने लगे—"अम्बे ! अब तुम्ही निर्णय कर दो न हम दोनों में श्रेष्ठ कौन, बड़ा कौन है ? भगवती ने मुस्कुराते हुये कहा—"कविर्दण्डी ! कविर्दण्डी !! कवि तो दण्डी ही है।'

महाकवि कालीदास ने भगवती के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण किया हुआ था। उन्हें यह निर्णय पक्षपात पूर्ण लगा। पूछ बैठे—"अम्बे ! यदि दण्डी ही कवि हैं तो फिर, मैं क्या हुआ ?"

भगवती ने उसी स्नेह से कहा—"तात् ! त्वं साक्षात् सरस्वती। तुम तो साक्षात् सरस्वती ही हो। हम और तुम दोनों अभिन्न हैं।' इस व्याख्यान से महाकवि का मन पश्चात्ताप से भर गया, उन्होंने तब जाना निःस्वार्थ प्रेम की गौरव गरिमा कितनी महान् है।

महाकवि तुलसी के अन्तःकरण को प्रेम ने ही जागृत कर ईश्वर-परायण बनाया था। सूरदास

तब विल्वमंगल कहे जाते थे, चिन्तामणि वेश्या के प्रति निश्छल प्रेम ने ही उनकी आत्मा को झंकृत किया था। प्रेम अध्यात्म की पहली और आखिरी सीढ़ी है। उस पर चढ़कर ही व्यक्ति निराकार सत्ता में विश्वास और चिर-सुख की अनुभूति करता है। उसी में मिलकर ही वह अमरत्व का आनन्द लूटता है। प्रेम का अभ्यास जीवन में न किया हो, ऐसा एक भी अध्यात्मवादी व्यक्ति नहीं मिलेगा, क्योंकि प्रेम नहीं होगा तो वह कैसे मानेगा कि संसार का अन्तिम सत्य पदार्थों में शरीर और सम्पत्ति में नहीं, भावनाओं में है, उसकी ही प्यास मनुष्य को चारों ओर दौड़ाती है।

यही प्रेम का भाव जब विस्तृत होने लगता है तो व्यक्तित्व भी उसी क्रम से परिष्कृत होने लगता है। इसके अनेक रूप समाज के साथ हमारे सम्बन्धों को प्रगाढ़ और मधुर बनाते हैं। छोटों से प्रेम, स्नेह, समवयस्कों से मैत्री और भ्रातृत्व, पत्नी का प्रेम, राग और बड़ों से प्रेम श्रद्धा कहलाता है। यह सब प्रेम रूपी वृक्ष के शाखा, पत्ते और फूल की तरह हैं। ईश्वर के प्रति प्रेम भक्ति कहलाता है, यह निष्काम और विश्वास की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण महान् हो जाता है और जिस अन्तःकरण में प्रस्फुटित होता है, उसे भी मजनू, कीट्स, कालीदास सूर और तुलसी की तरह क्षुद्र से महान् बना देता है।

अपने प्रति प्रेम-स्वार्थ से विश्व-प्रेम परमार्थ की ओर प्रगति करता हुआ, प्रेम-साधक ही विराट् जगत् में फैली आत्मा की एकता को हृदयंगम कर सकता है, उसी की ओर संकेत करते हुये गीताकार ने लिखा है—

आत्मानां सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनिः।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः।।

अर्थात्—वह योगी सभी भूत-प्राणियों में अपनी ही आत्मा समाई हुई देखता है, इसलिये सभी को समभाव से देखता हुआ, वह सभी के साथ प्रेम करता है।

जीवन की सर्वोच्च प्रेरणा प्रेम से ही आत्मा का प्रकाश है। प्रेम की प्रेरणा से काम करना ही ईश्वर की इच्छा का पालन करना है। उसने प्रेम से ही संसार की रचना की है। एक-एक को वह प्रेम से ही जोड़कर रखता है और अन्त में स्वयं भी उसी से जुड़ गया है। अन्य सब साधनायें जो ईश्वर को प्राप्त करा सकती हैं, देश, काल, स्व स्थिति के अनुसार अदल-बदल सकती हैं, लाभदायक भी हो सकती हैं और हानिकारक भी, किन्तु शुद्ध प्रेम की साधना में कहीं भी, किसी भी समय किसी भी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं।

प्रेम आत्मा को झकझोरकर जगा देता है और व्यक्ति को परमार्थवादी बनने को विवश कर देता है। प्रेम का शुद्ध अर्थ है विश्वास। जो निराकार सत्ता में विश्वास करना सीख गया, ईश्वर उससे दूर नहीं रह सकता। आत्मा को झकझोरकर परमात्मा से मिला देने वाली इसीलिये सबसे सरल, सरस, सरस, अमर साधना प्रेम ही है। अध्यात्मवादी प्रेमी हुये बिना ईश्वर की ओर गमन नहीं कर सकता।

प्रेम की परख—प्रेम की परिणति

गंगा का जल शुभ्र, धवल और यमुना का नील वर्ण दोनों जल किसी रजत पात्र में लाकर अलग-अलग रखे जायें तो भेद किया जा सकता है—श्याम वर्ण जल यमुना का, श्वेत जल गंगा का—किन्तु जब गंगा और यमुना दोनों मिलकर एक हो जाती हैं तो आगे पहिचान करना कठिन हो जाता है कि गंगा का जल है या यमुना का। प्रेम की परिणति भी ऐसी ही है कि उसमें दो तत्वों का तदाकार इस स्थिति तक हो जाता है कि एक सामान्य रस-धारा के अतिरिक्त दोनों में द्वैत का कहीं कोई भाव ही नहीं रहता। यह नहीं पहचाना जा सकता कि इसमें प्रधान इच्छा किसकी है।

दूध और पानी के समान—दो प्रेमियों के हृदय से अलग-अलग प्रस्फुटित दो धाराओं का संगम हो जाता है तो दोनों में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। स्त्री-पुरुष, भाई-भाई, मित्र-मित्र, पिता-पुत्र आदि लौकिक सम्बन्धों में भी प्रेम का प्रवाह ऐसा ही है। जब सर्वथा दो भिन्न धाराओं का एकाकार होता है तो यद्यपि दूसरों की दृष्टि में जोड़े में कितने ही दोष-दुर्गुण होते हैं तो भी

उनमें से परस्पर वह दोष तिरोहित हो जाते हैं और केवल गुणों की ही सत्ता शेष रह जाती है। पानी अपनी लघुता को दूध में घुलाकर स्वयं भी दूध हो जाता है। अवगुण प्रेम की दिव्य धारा में घुलकर गुण बन जाते हैं। इसलिये सांसारिक सम्बन्धों की मधुरता के लिये भी प्रेम से बढ़कर कोई अन्य उपादान नहीं।

प्रेम अन्तःकरण की एक ऐसी उपज है जो शुष्क से शुष्क, कठोर से कठोर और कितने ही दिशा भ्रान्त जीवन को सरस, सरल और प्रकाशवान् बना देती है। प्रेम से मधुर संसार में और कुछ नहीं। जब ऐसे दो प्राणी मिलते हैं तो आनन्द की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगती है, किन्तु वियोग से क्या वह आकर्षण समाप्त हो जाता है। चुम्बक के दोनों ध्रुव दो विपरीत दिशाओं में अनन्तकाल से जुड़े हैं पर उन दोनों का एक ही प्रयत्न है। पुनः मिलन का प्रयत्न अनादि काल से दोनों ध्रुवों की धारायें एक-दूसरे को आकर्षित करने में लगी हैं। जीवन की प्रत्येक सूक्ष्म सत्तायें अलग-अलग होकर भी अपने प्रेमी के प्रति अद्यतन सगर्पित होकर इस सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं कि विरह में भी प्रेम निखरता है कम नहीं होता।

अविश्वास को विश्वास में, निन्दा को प्रशंसा, तर्क-वितर्क को निष्ठा और औद्धत्य को सेवा में बदल देने की शक्ति केवल प्रेम में ही है। प्रेमी कभी आलस्य में घिरा बैठा रहे, ऐसा हो ही नहीं सकता। अपने प्रेमास्पद की कितनी इच्छायें कहीं चुपचाप बैठे पूरी होती है ? नहीं तो फिर दोनों ही सक्रिय होते हैं—कुछ न कुछ जुटाते हैं और एक दूसरे को देते हैं। परस्पर आदान-प्रदान की यह धारा ही तो समस्त चेतना का आधार है। जिस दिन वह न रहेगी उस दिन संसार का विराम एक शून्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होगा। प्रेम ही सृष्टि में प्राण और जीवन का आवर्भाव करता है।

कमजोर हो कोई, और उसे अपनी दीनता धोनी हो, तो वह सच्चे हृदय से प्रेम करके परीक्षा कर ले कि उसके हृदय में साहस और हिम्मत का कितना अंबार छिपा पड़ा है। जो कठिन परिस्थितियों में धैर्य नहीं रख सकते वह सच्चे प्रेमी बनकर जीवन में स्थिरता, दृढ़ता और गम्भीरता ले आते हैं, प्रेमी ही संसार का सबसे अधिक कष्ट-सहिष्णु हो सकता है। वह जानता है कि प्रेमी के लिये अपने प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं, ऐसा व्यक्ति ही सच्चा साहसी, धीर, कर्मनिष्ठ और सम्पत्ति वाला हो सकता है। इसीलिये प्रेम को पारस और कल्पवृक्ष कहा है।

प्रेम जीवन की इन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में भी शुष्कता उत्पन्न नहीं करता, यह संघर्ष करते हुये भी वह रसपान करता है—जहाँ भी, जैसी भी स्थिति में रहता है स्वर्ग अनुभव करता है। ऐसा केवल जीवित वस्तुओं के प्रति प्रेम से होता हो, सो भी नहीं किसी भी निर्जीव सत्ता के और आदर्श के प्रति प्रेम में भी वही रस, वही स्वर्गीय अनुभूति और आनन्द की हिलोरें लहर मारती हैं।

सरदार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु ने किसी व्यक्ति से प्रेम नहीं किया था, उनका प्रेम अपने देश, अपनी संस्कृति और अपने आदर्श से था। २४ मार्च, १६३१ को उनको फाँसी होनी थी। किन्तु उन्हीं दिनों महात्मा गांधी और वायसराय लार्ड इरविन के मध्य वार्ता होने को थी, उसमें उनकी फाँसी की बहाली के लिये भी जोर डाला जा रहा था। कुछ ब्रिटिश अधिकारियों ने द्वेशवश २४ मार्च के बजाय २३ को ही फाँसी दिला दी। उस समय का दृश्य स्मरण करें तो पता चले कि आदर्शों के प्रति प्रेम की चमक भी राई-रत्ती कम नहीं होती।

उस दिन एकाएक समय से पहले ही इन कैदियों को कोठरियों में बन्द कर दिया गया। लाहौर सेण्ट्रल जेल के दारोगा श्री शेख मुहम्मद अकबर के आँसुओं ने इन्हें सूचना दे दी थी कि फाँसी आज ही होगी। तीनों कैदी पास-पास की कोठरियों में थे, एक की आवाज दूसरे तक पहुँच सकती थी। राजगुरु ने भगतसिंह को पुकार कर कहा—'मुबारक हो ! आज ही विदा होंगे।' इस पर भगतसिंह बोले—प्यारे मित्र ! सुना है आज मकतल में हमारा इम्तहाँ होगा।' इन शब्दों में जो मस्ती थी वह जेल के अधिकारियों को भी रुला देती थी और उनमें देश-प्रेम पैदा कर देती थी। उस दिन इन्होंने रसगुल्ले मँगाकर खाये। जेलर यह भी चाहता था कि उन्हें कोई भी बाहर निकाल ले जाये, वह किसी प्रकार संघर्ष न करता। इन तीनों वीरों को उसकी सूचना भी दे दी गई पर उन्होंने बाहर निकलने से इन्कार कर दिया। उनने माँग

की तो कुल इतनी कि जब फाँसी लगने का समय हो तो उससे १० मिनट पूर्व बता दिया जाये कि वे अपनी भारतमाता की जय बोल सकें। तीनों ही देशप्रेम के दीवाने ऐसी ही मस्ती भरी आवाज में जय-जयकार करते हुये फाँसी के तख्ते पर झूल गये।

प्रेम, वाणी और हृदय को पवित्र करने वाली सर्वव्यापी सत्ता है। उसमें सच्चाई होती है, आदर्श होते हैं, आग्रह होता है, आकर्षण होता है और होती है हृदय की विशालता, जो न केवल अपने प्रेमी के लिये श्रद्धा-विनत करती है, वरन् सम्पूर्ण चेतना में ही उसे दिव्य रस की अनुभूति कराने लगती है। उसे सब कुछ 'सीयाराम मय' दिखाई देने लगता है। भावनाओं की तन्मयता जो हृदय को धोकर साफ कर दे, वही तो प्रेम है। ऐसे प्रेम के साधक के लिये न जप आवश्यक है न तप। व्रत, नियम तो उसके लिये है, जिसके हृदय में राग-द्वेष विद्यमान हों। प्रेम जीवन की सम्पूर्ण कलुषताओं को धो देता है, दुर्वासनाओं पर नियन्त्रण करके चित्त को निर्मल बना देता है। इसलिये प्रेम सर्वोत्तम योग है, वह साधारण मनुष्य को महान् बना देता है।

जहाँ प्रेम की चर्चा हो पर यह गुण न हो, वहाँ प्रेम नहीं वासना योग नहीं भ्रम समझना चाहिये। ऐसे प्रेम के भुलावे में न आये, जो प्रेम अपने अन्तःकरण के द्वेष-दुर्गुणों को उसी प्रकार गुणों में बदल दे जिस प्रकार गंगा के जल में विलीन हुआ यमुना जल। वही प्रेम सच्चा, सार्थक और अभ्यास के योग्य है—ऐसा प्रेम अमृत है, उसे पीकर मनुष्य अमर हो जाता है।

तुलसी प्रेम पयोधि की ताते माप न जोख

मन्दिर पहाड़ की चोटी पर था। फिर भी दर्शनार्थी ऊपर जा रहे थे।" "दर्शन करना अवश्य है" इसलिये लोग बराबर चढ़ाई चढ़ते जा रहे थे। एक महात्माजी भी थे, वह भी भगवान् की मूर्ति के दर्शनों के लिये ऊँची-नीची घाटी चढ़ते जा रहे थे, पर थकावट के कारण उनका बुरा हाल था, इतनी चढ़ाई कैसे पार होगी यह वे समझ नहीं पा रहे थे। बार-बार थककर बैठ जाते थे। भगवान् के मिलन में आनन्द है तो उसकी साधना में आनन्द क्यों नही उनके मन में एक तर्क उठा—इस तर्क ने उनका मन ढीला कर दिया।

पीछे मुड़कर देखा तो आठ-नौ वर्षीय बालिका भी पहाड़ की चढ़ाई चढ़ रही थी। उसकी पीठ पर दो वर्ष का एक बालक था, तो भी उसके मुख-मण्डल पर थकावट का कोई चिन्ह नहीं था। हँस-मुख बालिका कभी बच्चे को थपथपाती, चूमती-चाटती और कभी नाराज सी होकर उससे बातचीत करती। बच्चा उसे शिकायत वाली मुद्रा में देखता तो बालिका कहती—"बुद्धू" और हँसती हुई फिर दुगुने उत्साह से चढ़ाई चढ़ने लगती है।

मन तो विचारों का भण्डागार है, अभी थोड़ी देर पहले तर्क उठा था अब वह कौतूहल में बदल गया। मेरे पास कोई बोझ नहीं, शरीर भी पुष्ट है फिर भी थकावट और इस नन्हीं-सी बालिका की पीठ पर सवारी है, तो भी उसके मुख पर थकावट का कोई चिन्ह नहीं। उन्होंने पूछा—बालिके ! तुम इतना बोझ लिये चली रही हो, थकावट नहीं लगी क्या ?

बोझ नहीं है बाबा ! लड़की ने महात्मा को चिढ़ाने वाली बात बनाकर कहा—यह मेरा भाई है देखते नहीं, देखते नहीं; इसके साथ अठ खेली करने में कितना आनन्द आता है—यह कहकर बलिका ने शिशु के कोमल कपोल चूमे और एक नव-स्फूर्ति अनुभव करती हुई फिर चढ़ाई चढ़ने लगी।

महात्मा जी ने अनुभव किया यदि भगवान् को प्राप्त करने की भावना कठोर और कष्टपूर्ण लगती है तो यह दोष भगवान् का नहीं जीवन नीति का है। वस्तुत; लौकिक हो तो क्या निश्छल वासनारहित और पवित्र बना रहता है तो कठिन कर्त्तव्य और कठिनाइयों से भरे जीवन में भी मस्ती का आनन्द लिया जा सकता है। यही नहीं व्यक्तित्व के निर्माण और पूर्णता का लाभ भी इसी तरह हँसते-थिरकते प्राप्त किया जा सकता है। अपने जीवन में इस सत्य की गहन अनुभूति के बाद तभी तो प्रसिद्ध वैज्ञानिक जूलियन हक्सले ने लिखा है—व्यक्तित्व के पूर्व विकास के लिये सौन्दर्य पर प्रेम, सुन्दर व आश्चर्यजनक वस्तुओं के प्रति प्रेम भी आवश्यक है क्योंकि उसने भावी जीवन में आगे बढ़ने की भावना जागृत होती है।

भारतीय संस्कृति में मोह और आसक्ति, वासना और फलाशा की निन्दा की गई है, पर ऐसा कहीं नहीं बताया गया कि मनुष्य लौकिक कर्त्तव्यों का परित्याग करे। ईश्वर-दर्शन, आत्मा-साक्षात्कार, स्वर्ग और सद्‌गति, पुण्य और परमार्थ मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य है, अपूर्णता से पूर्णता की ओर तो उसे बढ़ना ही चाहिये। उसे लौकिक हितों से बढ़कर माना जाय तो भी कोई बुरा नहीं पर यह मानकर कि सांसारिक जीवन में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ, अवरोध ही अवरोध, भार ही भार है, उसे छोड़ना या उसे झीकते हुये जीना भी बुरा है, बुराई ही नहीं एक पाप और अज्ञान भी है क्योंकि ऐसा करके वह अपने रचयिता को 'अमंगल' होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। संसार में भी पाप विकार और ध्वंसात्मक वृत्तियाँ पनपीं वह हँसी "नासमझ" का परिणाम है, जो यहाँ से प्रारम्भ होती है, जहाँ से मनुष्य "प्रेम" से पदच्युत होता है। प्रेम एक शक्ति है जो उच्च आकांक्षाओं की पूर्ति करता है और यदि उसे कुपित न होने देकर, जीवन में विचारों और भावनाओं के समावेश द्वारा उसे पवित्र बनाये रखा जा सके तो पता चले कि प्रेम सृष्टि का सबसे अनौखा निर्माण है। मनुष्य तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं तक में अपना सच्चा प्रेम आरोपित करके सुख और सद्‌गति प्राप्त कर सकता है।

लौकिक सुख का सच्चा आधार प्रेम है। नम्रता के साथ गर्व, धैर्य के साथ शान्ति, स्वार्थ के साथ आत्म-त्याग और हिंसा की भावनाओं को भी कोमलता में बदल देने की शक्ति प्रेम में है। यह इन्द्रिय वासनाओं को प्रसन्नता एवं पूर्ण जीवन में बदल सकता है, किन्तु आवश्यक है कि प्रेमी का सर्वोच्च लक्ष्य प्रेममय होना ही रहे।

प्रेमास्पद के प्राणों में अपने प्राण, अपनी इच्छा और आकांक्षायें घुलाकर व्यक्ति उन "अहता" से बाहर निकल आता है, जो पाप और पतन की ओर प्रेरित कर ऐसे दिव्य मनुष्य को नष्ट करता रहता है। प्रेमी कभी यह नहीं चाहता कि मुझे कुछ मिले वरन् वह चाहता है कि अपने प्रेमी के प्रति अपनी निष्ठा कैसे प्रतिपादित हो इसलिए वह अपनी बातें भूलकर केवल प्रेमी की इच्छाओं में मिलकर रहता है। जब हम अपने आपको दूसरों के अधिकार में डाल देंगे तो पाप और वासना जैसी स्थिति आवेगी ही क्यों और तब मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य से पतित ही क्यों होगा ? सच्चा प्रेम तो प्रेमी की उपेक्षा से भी रीझता है। प्रेम की तो व्याकुलता भी मानव अन्तःकरण को निर्मल शान्ति प्रदान करती है।

मन जो इधर-उधर के विषयों और तुच्छ कामनाओं में भटकता है, प्रेम उसके लिए बाँध देने को रस्सी की तरह है। प्रेम की सुधा पिये हुए मन कभी भटक नहीं सकता, वह तो अपना सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। जो समर्पित कर सकता है, पाने का सच्चा सुख तो उसे ही मिलता है। प्रेमी को भोग तो क्या स्वर्ग भी आसक्त नहीं कर सकते और परमात्मा को पाने के लिए भी तो यह सन्तुलन आवश्यक है। प्रेम साधना द्वारा मनुष्य लौकिक जीवन का पूर्ण रसास्वादन करता हुआ पारमार्थिक लक्ष्य पूर्ण करता है। इसलिये प्रेम से बड़ी मनुष्य जीवन में और कोई उपलब्धि नहीं।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।।
पवि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरिखीझि।
रोष न प्रीतम दोष लेखि तुलसी रागहिं रीझि।
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
"तुलसी" प्रेम पयोधि की ताते माप न जोख।।

स्वांति नक्षत्र के बादल चातक के मुख पर क्या चुपचाप जल बरसा जाते हैं ? नहीं, वे गरजकर कठोर ध्वनि करते और डराते हैं। पत्थर ही नहीं कई बार तो रोष में भरकर बिजली भी गिराता है, वर्षा और आँधी के थपेड़े क्या कम कष्ट देते हैं ? किन्तु चातक के मन में अपने प्रियतम के प्रति क्या कभी नाराजी आती है ? तुलसीदास ने बताया कि यह प्रेम की ही महिमा है कि चातक पयोद के इन दोषों में भी उनके गुण ही देखता है।

अमंगल-सी दीखने वाली भगवान् की सृष्टि में कठिनाइयों के झंझावात कम हैं न अभाव और कष्ट-पीड़ायें, एक-एक पग भार है और लक्ष्य प्राप्ति का बाधक है, पर यह केवल उनके लिये हैं, जिन्होंने प्रेम तत्व को जाना नहीं। प्रेम

तो समुद्र की तरह अगाध है और लक्ष्य प्राप्ति का बाधक है पर यह केवल उनके लिये है, जिन्होंने प्रेम तत्व को जाना नहीं। प्रेम तो समुद्र की तरह अगाध है, उसमें जितने गहरे पैठा जाये उतने ही बहुमूल्य उपहार मिलते और मानव-जीवन को धन्य बनाते चले जाते हैं।

सृष्टि का विकास प्रेम से ही सम्भव

भले-बुरे, सत्य-असत्य कल्याण-अकल्याण की तर्क बुद्धि इस संसार में प्रायः हर मनुष्य में समान रूप से पायी जाती है किन्तु कोई ऐसी स्थिर वस्तु दिखाई नहीं देती जिसे हम प्रत्येक परिस्थिति में सत्य मानते रहे। आज देखते हैं कि अपना एक परिवार है, माँ है, स्त्री है, बच्चे हैं, घर, जमीन, जायदाद सभी कुछ हैं। इन पर आज अपना पूर्ण स्वामित्व है। क्या मजाल कि इन्हें कोई हमारी मर्जी के बिना अपने अधिकार में ले ले क्योंकि यह हमारी सम्पत्ति और विभूतियाँ हैं। इसमें कहीं असत्य नहीं, कोई सन्देह नहीं। किन्तु कल परिस्थितिवश जमीन बेचनी पड़ी, घर गिरवी रख दिया, कौन जाने कब किस प्रियजन की मृत्यु हो जाय ? ऐसी दशा में कोई सत्य वस्तु समझ में नहीं आती है। यह घर किसी का न रहा अन्त में अपना भी न रहेगा। यह संसार परिवर्तनशील है। इसकी प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अपना स्वरूप बदलती रहती है।

किन्तु एक अन्तिम सत्य भी है इस संसार में। वह है प्रेम। प्रेम अपने परिजनों पर, विचारों और सिद्धान्तों का प्रेम, स्वत्व और सम्मान के प्रति देश और राष्ट्र-धर्म और संस्कृत के प्रति व्यक्ति को अगाध प्रेम होता है। इसी के बल पर संसार के सभी क्रिया व्यवसाय चलते हैं। यह सारा संसार व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। सभी जानते हैं कि यह संसार मिथ्या है, भ्रम है किन्तु सभी जी रहे हैं, मरने से सभी डरते हैं केवल प्रेम के लिये। यह अलग बात है कि उनका प्रेम सांसारिक है, वस्तु या पदार्थ के प्रति है अथवा प्रेम स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिये। दिशायें दो हो सकती हैं किन्तु आस्था एक है। इसी पर सारा संसार टिका है। इसी से विधि-व्यवस्था भली-भाँति चल रही है।

प्रेम मानव-जीवन की महान् कसौटी है। उससे मनुष्य के दृष्टिकोण, हृदय की विशालता एवं बुद्धि की सूक्ष्मता का पता चलता है। जिसके हृदय में प्रेम का प्रकाश जगमगाता है, वह मनुष्य उत्कृष्ट होता है। मनुष्य शरीर में देवत्व प्राप्त करने का सौभाग्य उन्हें मिलता है, जो प्रेम करना जानते हैं। प्रेम मानव जीवन की सर्वोदय प्रेरणा है। शेष सभी भाव आश्रित भाव हैं। स्वाधीन और सद्गति दिलाने वाली आन्तरिक प्रेरणा प्रेम है, जिससे संसार की रचना होती है। जीवन समृद्ध बनता है और मानव जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

प्रेम हृदय की उस पवित्र भावना का शब्द रूप है, जो अद्वैत का बोध कराती है। मैं और तुम का विलगाव का भाव वहाँ नहीं होता। इसलिए समष्टिगत विशाल भावना का नाम प्रेम माना गया है। यह विशुद्ध बलिदान है। त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना है, जिसमें मनुष्य अपने हितों का अपने प्रेमी के लिये हवन करते हुए असीम तृप्ति का अनुभव करता है। बदले की भावना से नहीं जो केवल प्रेम के लिये प्रेम करता है वही सच्चा प्रेम है।

साधारणतौर पर अपनी प्रेरणा का आधार अपना स्वार्थ होता है। अपने "स्व" या "अहम्" की पूर्ति के लिए सब कुछ करते हैं, भूख मिटाने, श्रृंगार सजावट करने, महल उठाने, जायदाद जमा करने की सम्पूर्ण चेष्टाओं के पीछे अपने स्वार्थ काम किया करते हैं। इससे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं की पूर्ति तो होती है किन्तु अन्तःकरण का वह आध्यात्मिक भाव जागृत नहीं होता, जिसमें प्रेम का स्वाद चखा जा सके। यह लेन-देन जीवन का साधारण नियम है। जब हम इससे आगे बढ़ते हैं और लेने के संकीर्ण भाव को समाप्त कर देते हैं तो प्रेम का उदय होता है। इसमें सब देना ही देना हैं। प्रेम का पुरस्कार केवल प्रेम है और किसी दूसरी वस्तु से इसे खरीदा या बेचा नहीं जा सकता।

मनुष्य का जीवन लक्ष्य निर्धारित करते समय यह ध्यान दिया जाता है कि उसकी स्वाभाविक वृत्तियों की ऐसी व्यवस्था हो जो उसे

उत्थान, अभ्युदय और विकास की ओर अग्रसर करें। इसी को चरित्र निर्माण कह सकते हैं। यह भाव मनुष्य में तभी आ सकता है, जब वह अपने सच्चे स्वरूप को पहचाने और आत्म-ज्ञान प्राप्त करे। जब ऐसी प्रक्रिया जीवन में चल पड़ती है तो दीनता और हीनता के बुरे भाव समाप्त होकर आत्मा का प्रकाश दिखाई देने लगता है। उस ज्योति के एक साधारण तत्व प्रेम उमड़ने लगता है। इस सुख का एक कण भी जिसे मिलता है, उसे चरित्र-निर्माण करते देर नहीं लगती। इसलिये वह कहा गया है मनुष्य जीवन का लक्ष्य प्रेम स्वरूप की प्राप्ति है।

यह भाव जितना विस्तृत होता जाता है मनुष्य का व्यक्तित्व भी उसी क्रम से परिष्कृत होने लगता है। आरम्भ में यह भाव अपने ऊपर तक रहता है, जो कुछ खायें वह हम खायें, जो अच्छा हो वह हम पहनें आदि का स्वार्थपूर्ण भावनाओं से मनुष्य अपने को ही जब तक प्राथमिकता देता रहता है, तब तक वह प्रेम की अनुभूति नहीं कर पाता। इसलिये तब तक बड़ी अस्थिरता, चंचलता और अशान्ति बनी रहती है। धीरे-धीरे इसका परिष्कार होने लगता है। धर्मपत्नी आ जाती है तो अपने स्वार्थों में कटौती करते हैं। अब प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। अपनी व्यष्टि जितनी ही समाप्त होती जाती है, उतनी ही प्रेमपूर्ण भावनायें बढ़ने लगती हैं। पुत्रों के प्रति गाँव और समाज, देश और जाति के प्रति धर्म और संस्कृति के प्रति अपने स्वार्थों का त्याग करते-करते पूर्ण आन्तरिक परिष्कार हो जाता है और हम इस योग्य हो जाते हैं कि विश्वात्मा का सान्निध्य सुख प्राप्त कर सकें।

जब यह उत्सर्ग की भावना प्राणि मात्र के प्रति जागृत होने लगती है तो सच्चे प्रेम की अनुभूति होने लगती है इसलिए गीताकार ने सन्देश दिया है—

आत्मानां सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिनः।।

अर्थात् "सभी भूत प्राणियों में एक ही आत्मा समाया हुआ है इसलिए सभी को समभाव से देखते हुए सभी के साथ प्रेम करना चाहिए।"

प्रेम-ससांर की सबसे बड़ी शक्ति है। जिससे बड़ी-बड़ी मशीनें, अस्त्र-शस्त्र और बलवान् मनुष्य नहीं जीत पाये, उन्हें प्रेम की कोमल भावनायें जीतने में समर्थ हुईं हैं।

महापुरुष ईसा ने लिखा है—"हमें एक-दूसरे से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है। ईश्वर की वही जानता है जो प्रेम करता है।" परमात्मा की उपासना का मूल आधार प्रेम है। जो अपने सजातियों से प्रेम करता है, वही सच्चा ईश्वर भक्त है।

भगवान् कृष्ण ने जिस कर्मयोग की आवश्यकता पर गीता में अधिक बल दिया है उसका आधार भी प्रेम ही है। यह निश्चित बात है कि जब तक स्वार्थपूर्ण भावनाओं का उन्मूलन नहीं होता, तब तक विशुद्ध कर्त्तव्य भावना का उदय नहीं होता। इसलिये जैसे हम फल की भावना से रहित होकर केवल कर्त्तव्य की दृष्टि से काम करने लगते हैं वैसे ही अपने अन्तःकरणों में प्रेम का प्रादुर्भाव होने लगता है। प्रेम के बिना कर्म-कौशल जो प्रेम की प्रेरणा से हो वही योग है।" ऐसा भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रतिपादित किया है। इन शब्दों से प्रेम के स्वयं योग होने की बात पुष्ट होती है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने का सबसे सीधा रास्ता और सरल उपाय विशुद्ध प्रेम ही है।

किन्तु आत्मा-बलिदान का मार्ग कठिन भी उतना ही है। संसार में पुरुष-प्रेम, नारी-प्रेम, देश, जाति या संस्कृति का प्रेम कोई भी क्यों न हो उसके लिए एक परीक्षा निश्चित है। जो इस परीक्षा में अन्त तक धैर्यपूर्वक टिके रहते हैं, उन्हें ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। महापुरुषों ने सदैव ही यह परीक्षा दी है, उन्होंने मार्ग पर बिछे हुए काँटों को भी फूलवत् हँस-हँसकर चुना है। कठिनाइयों, मुसीबतों और आपदाओं को अपनी छाती से लगाया है। तब कहीं जाकर उन्हें महान् कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। कृष्ण-प्रेम में मतवाली मीरा को यमुना में फेंका गया, विष दे दिया गया, घर से निष्कासित कर दिया किन्तु उसकी निष्ठा में राई-रत्ती भर भी कमी नहीं आई। तब कहीं मीरा महान् बनी। देश-प्रेम के दीवाने राणाप्रताप जंगलों-जंगलों भटके, मिट्टी के बर्तनों में घास की रोटियाँ खाईं किन्तु अकबर की दासता उन्होंने स्वीकार नहीं

की। राणाप्रताप इस तितीक्षा पर कसकर धन्य हुए।

इस संसार में आये दिन लोग जन्म लेते हैं और सैकड़ों की तादाद में रोज मरते रहते हैं किन्तु जिन्होंने अपने सिद्धान्तों पर दृढ़तापूर्वक विश्वास किया, जो अपनी आस्थाओं के प्रति सदैव ईमानदार बने रहे, जिन्होंने प्रेम किया और जीवन की आखिरी साँस तक अपने व्रत का निर्वाह किया, उसके हाड़माँस का तन भले ही नष्ट हो गया हो, पर उनका यश-शरीर युग-युगान्तरों तक लोगों की प्रेरणा व प्रकाश देता रहता है।

चरित्र का उत्कृष्ट रूप प्रेम है। यह मानवता की सर्वश्रेष्ठ साधना है, जिससे आत्मबल प्राप्त होता है। निर्भीकता, दृढ़ता, साहस, पवित्रता, त्याग, सत्यनिष्ठा और कर्त्तव्य-भावना का आधार शुद्ध और पवित्र प्रेम है। इसे अपने जीवन में धारण करने वाला पुरुष मानव न रहकर महामानव और देवता बन जाता है। जाति का जीवन खिल उठता है। ऐसे कर्त्तव्य-निष्ठ नागरिकों के बाहुल्य से ही राष्ट्रों के हित फलते-फूलते रहते हैं। प्रेम मानव-जीवन की सार्थकता है। प्रेमविहीन जीवन तो पशुओं का भी नहीं होता।

प्रेम एक निर्मल झरना है। उसके प्रवाह में जो भी आता है, वह निर्मल हो जाता है। पात्र और कुपात्र की घृणा जैसे झरने के स्वच्छ प्रवाह में नहीं होती है वैसे ही प्रेमी के अन्तःकरण में किसी प्रकार ईर्ष्या-विद्वेष या घृणा की भावनायें नहीं होती। महात्मा गाँधी अपने आश्रम में अपने हाथों से एक कोढ़ी की सेवा-सुश्रूषा किया करते हैं। इसमें उन्हें कभी भी घृणा पैदा नहीं होती थी। प्रेम की विशालता में ऊपर से जान पड़ने वाली मलीनतायें भी वैसे ही समा जाती हैं जैसे हजारों नदियों का कूड़ा-कबाड़ा समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाता है। प्रेम आत्मा के प्रकाश से किया जाता है। आत्मा यदि मलीनताओं से ग्रसित है तो भी उसकी नैसर्गिक निर्मलता में अन्तर नहीं आता। यही समझकर उदारमना व्यक्ति अपनी सहानुभूति से किसी को भी वंचित नहीं करते।

प्रेम साधन या वस्तुएँ नहीं माँगता। धर्मपत्नी की चाहे जिस स्थिति में रखें, वह अपने पति के प्रेम में कम या अधिक की दुर्बल वृत्ति से दूर बनी रहती है। पति की जितनी आय-साधन और परिस्थितियाँ होती हैं उन्हीं में सच्चा सुख मनाती है। जिन दम्पत्तियों में ऐसी भावनायें होती हैं, वे अनकों अभाव रहते हुये भी असीम सुख का अनुभव करते रहते हैं। प्रेम की सच्ची परख भी यही है कि अभाव और आयोग्यता के कारण भी सहृदयता और कर्त्तव्य भावना में किसी प्रकार का विक्षेप उत्पन्न न हो।

सच कहें तो मानव जीवन आ आज तक जो भी विकास हुआ है, वह सब प्रेम का सबल पाकर हुआ है। घृणा और ईर्ष्या-द्वेष के कारण लोगों के दिल-दिमाग बेचैन उदास और खिन्नमन बने रहते हैं। निर्माणकर्त्ता प्रेम है, जिससे विशुद्ध कर्त्तव्य-भावना का उदय होता है। हम यदि इस भाव को अपने जीवन में धारण कर पायें तो अमीरी हो या गरीबी, शहर में रहते हों या गाँव में, मकान पक्का हो अथवा कच्चा, एक ऐसा जीवन जी सकते हैं, जिसे सुखी जीवन कह सकें। कहते हैं परमात्मा की उपासना से बड़े सुख मिलते हैं। यह सुख प्रेम का ही प्रसाद है। प्रेम की पूजा ही परमात्मा की पूजा है। फिर हम भी प्रेमी ही क्यों न बनें ?

प्रेम की आस, प्रेम की प्यास पशु-पक्षियों के भी पास

अल्वर्ट श्वाइत्जर जहाँ रहते थे, उनके समीप ही बन्दरों का एक दल रहता था। दल के एक बन्दर और बन्दरिया में गहरी मित्रता हो गई। दोनों जहाँ जाते साथ-साथ जाते, एक कुछ खाने को पाता तो यही प्रयत्न करता कि उसका अधिकांश उसका साथी खाये। कोई भी वस्तु उनमें से एक ने भी अकेले न खाई। उनकी इस प्रेम भावना से अल्बर्ट श्वाइत्जर को बहुत प्रभावित किया। वे प्रातः प्रतिदिन इन मित्रों की प्रणय-लीला देखने जाते और एकान्त स्थान में बैठकर घण्टों उसके दृश्य देखा करते। कैसे भी संकट में उनमें से एक ने भी स्वार्थ का परिचय न दिया। अपने मित्र के लिये वे प्राणोत्सर्ग तक के लिये तैयार रहते, ऐसी उनकी अविचल प्रेम निष्ठा।

विधि की विडम्बना-बन्दरिया कुछ दिन पीछे बीमार पड़ी, बन्दर ने उसकी दिन-दिन भर भूखे-प्यासे रहकर सेवा-सुश्रूषा की पर बन्दरिया बच न सकी, मर गई। बन्दर के जीवन में मानो वज्राघात हो गया। यह गुमसुम जीवन बिताने लगा।

इतर प्राणियों में विधुर-विवाह पर प्रायः किसी में भी प्रतिबन्ध नहीं है। एक साथी के रहने पर नर हो या मादा अपने दूसरे साथी का चुनाव खुशी-खुशी कर लेते हैं। इस बन्दर दल में एक अच्छी बन्दरिया थी, बन्दर हृष्ट-पुष्ट था किसी नई बन्दरिया को मित्र चुन सकता था, पर उसके अन्तःकरण का प्रेम तथाकथित मानवीय प्रेम की तरह स्वार्थ और कपटपूर्ण नहीं था, पता नहीं उसे आत्मा के अमरत्व परलोक और पुनर्जन्म पर विश्वास था इसलिये उसने फिर किसी बन्दरिया से विवाह नहीं किया।

पर आत्मा जिस धातु का बना है वह प्रेम के प्रकाश से ही जीवित रहता है, प्रेमविहीन जीवन तो नरक समान लगता है बन्दर ने अपनी निष्ठा पर आँच न आने देने का संकल्प कर लिया होगा, तभी तो उसने दूसरा विवाह नहीं किया पर प्रेम की प्यास कैसे बुझे ? यह प्रश्न उसके अन्तःकरण में उठा अवश्य होगा तभी तो उसने कुछ दिन पीछे ही अपने जीवन की दिशा दूसरी ओर मोड़ दी। प्रेम की सेवा का रूप दे दिया उसने, अभी तक उसने अपनी प्रेयसी बन्दरिया को आत्म-समर्पण किया था अब उसने हर दीन-दुःखी में आत्मा के दर्शन करने और सबको प्यार करने का सिद्धान्त बना लिया, उससे ही उसे शान्ति मिली।

बन्दर एक स्थान पर बैठा रहता। अपने कबीले या दूसरे कबीले का—कोई अनाथ बन्दर मिल जाता तो वह उसे प्यार करता, खाना खिलाता, भटक गये बच्चे को ठीक उसकी माँ तक पहुँचाकर आता, लड़ने वाले बन्दरों को अलग-अलग कर देता, इसमें तो वह कई बार अति उग्र पक्ष को मार देता था पर तब तक चैन न लेता, जब तक उनमें मेल-जोल नहीं कर देता। उसने कितने ही वृद्ध, अपाहिज बन्दरों को पाला, कितनों ही का बोझ उठाया। बन्दर की इस निष्ठा ने ही अल्बर्ट श्वाइत्जर को एकान्तवादी जीवन से हटाकर सेवाभावी जीवन बिताने के लिये अफ्रीका जाने की प्रेरणा दी। श्वाइत्जर बन्दर की इस आत्म-निष्ठा को जीवन भर नहीं भूले।

सेन्टियागो की धनाढ्य महिला श्रीमती एनन ने पारिवारिक-कलह से ऊबकर जी बहलाने के लिए एक भारतीय मैना पाल ली। मैना जब से आई तभी से उदास रहती थी। एनन की बुद्धि ने प्रेरणा दी सम्भव है उसे भी अकेलापन कष्ट दे रहा हो। सो दूसरे दिन एक और तोता मोल ले लिया। तोता और मैना भिन्न जाति के दो पक्षी भी पास आ जाने पर परस्पर ऐसे घुल-मिल गये कि एक के बिना दूसरे को चैन ही न पड़ता।

प्रातःकाल बिना चूक मैना तोता को "नमस्ते" कहती। तोता बड़ी ही मीठी वाणी में उसके अभिवादन का कुछ कहकर उत्तर देता। पिजड़े पास-पास कर दिये जाते दोनों में वार्तायें छिड़ती, न जाने क्या मैना कहती न जाने क्या तोता कहता पर उनको देखकर लगता यह दोनों बहुत खुश हैं। दोनों का प्रेम प्रतिदिन प्रगाढ़ होता चला गया चोंच से दबाकर अपनी चीजें बाँटकर खाते।

कुछ ऐसा हुआ कि श्रीमती एनन की एक रिश्तेदार को तोता भा गया, वे जिद करके उसे माँग ले गईं ठीक उसी दिन मैना बीमार पड़ गई और चौथे दिन सायंकाल ५ बजे उसने नश्वर देह त्याग दी। तोता कृतघ्न नहीं था। वह बन्दी था चला गया पर आत्मा को बन्दी बनाना किसके लिये सम्भव है वह भी मैना की याद में बीमार पड़ गया और ठीक चौथे दिन सायंकाल ५ बजे उसने अपने प्राण त्याग दिये। पता नहीं दोनों ही आत्मायें परलोक में कहीं मिली या नहीं, पर इसी घटना ने श्रीमती एनन का स्वभाव ही बदल दिया। अब उनके स्वभाव में सेवा और मधुरता का ऐसा प्रवाह फूटा कि वर्षों से पारिवारिक कलह में जलता हुआ दाम्पत्य सुख फिर खिल उठा। पति-पत्नी में कुछ ऐसी घनिष्ठता हुई कि मानों उनके अन्तःकरण में तोता और मैना की आत्मा ही साक्षात् उतर आई हों। उनकी मृत्यु भी वियोगजन्य परिस्थितियों में एक ही दिन एक ही समय हुई।

तोता, मैना बन्दर छोटे-छोटे सौम्य स्वभाव जीवों को कौन कहे प्रेम की प्यास तो भयंकर खुँखार जानवरों के हृदय में भी होती है। एफ. कुवियर ने एक मित्र को भेड़िया पालने की सूझी। कहीं से एक बच्चा भेड़िया मिल गया। उसे वह अपने साथ रखने लगे। भेड़िया कुछ ही दिनों में उनमें ऐसा घुल-मिल गया मानो उनकी मैत्री इस जन्म ही नहीं कई जन्मों की हो।

कुछ ऐसा हुआ कि एक बार उन सज्जन को किसी काम से बाहर जाना पड़ गया। वह भेड़िया एक चिड़ियाघर को दे गये। भेड़िया चिड़ियाघर तो आ गया पर अपने मित्र की याद में दुःखी रहने लगा। मनुष्य का जन्मजात बैरी मनुष्य के प्रेम के लिये पीड़ित हो यह देखकर चिड़ियाघर के कर्मचारी बड़े विस्मित हुये। कोई भारतीय दार्शनिक उनके पास होता और आत्मा की सार्वभौमिक एकता का तत्व दर्शन उन्हें समझता तो सम्भव था। ये वे जीवन को एक नई आध्यात्मिक दिशा में समर्थ होते उनका विस्मय चर्चा का विषय भर बनकर रह गया।

भेड़िये ने अपनी प्रेम की पीड़ा शान्त करने के लिए दूसरे जीवों की ओर दृष्टि डाली। कुत्ता—भेड़िया का नम्बर एक का शत्रु होता है पर आत्मा किसका मित्र, किसका शत्रु—क्या तो वह कुत्ता क्या भेड़िया—कर्मवश अमित अंग-जंग आत्मा से एक है यदि वह तथ्य संसार जान जाये तो फिर क्यों लोगों में झगड़े हों, क्यों मन-मुटाव, दंगे फसाद, भेदभाव, उत्पीड़न और दूसरे से घृणा हो। विपरीत परिस्थितियों में भी प्रेम जैसी स्वर्गीय सुख अनुभूति आत्मदर्शी के लिये ही सम्भव है, इस घटना का सार संक्षेप भी यही है। भेड़िया जब कुत्ते का प्रेमी बन गया उसके बीमार जीवन में भी एक नई चेतना आ गई। प्रेम की शक्ति कितनी वरदायक है कि वह निर्बल और आशक्तों में भी प्राणी की गंगोत्री पैदा कर देती है।

दो वर्ष पीछे मालिक लौटा। घर आकर वह चिड़ियाघर गया अभी वह वहाँ के अधिकारी से बातचीत कर ही रहा था कि उसका स्वर सुनकर भेड़िया भगा चला आया और उसके शरीर से शरीर जोड़ खूब प्यार जताता रहा। कुछ दिन फिर ऐसे ही मैत्रीपूर्ण जीवन बीता।

कुछ दिन बाद उसे फिर जाना पड़ा। भेड़िये के जीवन में लगता है भटकाव ही लिखा था फिर उस कुत्ते के पास जाकर उसने अपनी पीड़ा शान्त की। इस बार मालिक थोड़ी जल्दी आ गया। भेड़िया इस बार उससे दूने उत्साह से मिला पर उसका स्वर शिकायत भरा था बेचारे को क्या पता था कि मनुष्य ने अपनी जिन्दगी ऐसी व्यस्त जटिल सांसारिकता से जकड़ दी है। उसे आत्मीय-भावनाओं की ओर दृष्टिपात और हृदयंगम करने की सूझती ही नहीं। मनुष्य की यह कमजोरी दूर हो गई होती तो आज संसार कितना सुखी और स्वर्गीय परिस्थितियों से आच्छादित दिखाई देता।

कुछ दिन दोनों बहुत प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहे। एक-दूसरे को चाटते थपथपाते, हिलते-मिलते, खाते-पीते रहे और इसी बीच एक दिन उसके मालिक को फिर बाहर जाना पड़ा। इस बार भेड़िये ने किसी से न दोस्ती की न कुछ खाया-पिया। उसी दिन से बीमार पड़ गया और प्रेम के लिये तड़प-तड़प कर अपनी इहलीला समाप्त कर दी। उसके समीपवर्ती लोगों के लिये भेड़िया उदाहरण बन गया। वे जब कभी अमानवीय कार्य करते भेड़िये की याद आती और उनके सिर लाज से झुक जाते।

बर्लिन की एक सर्कस कम्पनी में एक बाघ था। नीरो उसका नाम था। इस बाघ को लीरिजग के एक चिड़ियाघर से खरीदा गया था। जिन दिनों बाघ चिड़ियाघर में था उसकी मैत्री चिड़ियाघर के एक नौकर से हो गई। बाघ उस मैत्री के कारण अपने हिंसक स्वभाव तक को भूल गया।

पीछे वह क्लारा, हलिपट नामक एक हिंसक जीवों की प्रशिक्षिका को सौंप दिया गया। एक दिन बाघ प्रदर्शन से लौट रहा था, तभी एक व्यक्ति निहत्था आगे बढ़ा—बाघ ने उसे देखा और घेरा तोड़कर बाघ निकला। भयभीत दर्शक और सर्कस वाले इधर-उधर भागने लगे पर स्वयं क्लारा हलपिट तक यह देखकर दंग रह गई कि बाघ अपने पुराने मित्र के पास पहुँचकर उसे चाट रहा और प्रेम जता रहा है। उस

मानव-मित्र ने उसकी पीठ खूब थपथपाई, प्यार किया और कहा जब जाओ समय हो गया। बाघ चाहता तो उसे खा जाता, भाग निकलता पर प्रेम के बन्धनों में जकड़ा हुआ बेचारा बाघ अपने मित्र की बात मानने को बाध्य हो गया। लोग कहने लगे सचमुच प्रेम की ही शक्ति ऐसी है। जो हिंसक को भी मृदु, शत्रु को भी मित्र और सन्ताप से जलते हुये संसार सागर को हिमखण्ड की तरह शीतल और पवित्र कर सकती है।

सृष्टि का हर प्राणी, हर जीव-जन्तु स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न हैं। कुछ अच्छे, कुछ बुरे गुण में पाये जाते हैं पर प्रेम के प्रति सद्भावना और प्रेम की प्यास से वंचित कोई एक भी जीव सृष्टि में दिखाई नहीं देता। मनुष्य जीवन का तो सम्पूर्ण सुख और स्वर्ग ही प्रेम है। प्रेम जैसी सत्ता को पाकर भी मनुष्य अपने को दीन-हीन अनुभव करे तो यही मानना पड़ता है कि मनुष्य ने जीवन के यथार्थ अर्थ को जाना नहीं।

अमरीका के मध्य भाग में पाई जाने वाली एक छिपकली के सिर पर अनेक सींग होते हैं। यह माँसाहारी जन्तु क्रोध की स्थिति में होता है तो उसके, आँखों में रक्त उतर आता है, फिर वह शत्रु पर कैसा भी भयंकर आक्रमण करने से नहीं चूकती। इसका सारा जीवन ही चींटियों, गिराड़ों को मारने खाने में बीतता है पर अपनी प्रेयसी के प्रति उसकी करुणा भी देखते ही बनती है। उसके लिये तो वह गिलहरी और खरगोश की तरह दीन बन जाती है।

बिच्छू बड़ा क्षुद्र जन्तु है किन्तु प्रेम की प्यास से मुक्त वह भी नहीं। वह अपने बच्चों से इतना प्यार करती है कि उन्हें, जब तक वे पूर्ण समर्थ नहीं हो जाते अपनी पीठ पर चढ़ाये घूमती है। भालू खूँख्वार जानवर है, वह भूखा नहीं रह सकता पर जब कभी मादा भालू बच्चे देगी तो जब तक बच्चों की आँखें खुल नहीं जायेंगी वह उनके पास ही बैठी भूख-प्यास भूलकर उन्हें चूमती-चाटती रहेगी।

चींटियों के जीवन में सामान्यतः मजदूर चीटियों में कोई विलक्षणता नहीं होती, उनमें अपनी बुद्धि अपनी निजी कोई इच्छा भी नहीं होती है, एक नियम व्यवस्था के अन्तर्गत जीती रहती है तथापि प्रेम की आकांक्षा उनमें भी होती है और वे अपने उस कोमल भाव को दबा नहीं सकतीं। इस अन्तरंग भाव की पूर्ति वे किसी और तरह से करती है। वह तितली के बच्चे से ही प्रेम करके अपनी आन्तरिक प्यास बुझाती है।

यद्यपि यह सब एक प्राकृतिक प्रेरणा जैसा लगता है पर मूलभूत भावना का उभार स्पष्ट समझ में आता है। तितलियाँ फूलों का मधु चूमती रहती हैं। उससे उनके जो बच्चे होते हैं, उनकी देह भी मीठी होती है। माता-पिता के स्थल शारीरिक गुण बच्चे पर आते हैं। यह एक प्राकृतिक नियम है, तितली के नन्हें बच्चे, जिसे लार्वा कहते हैं, मजदूर चींटी सावधानी से उठा ले जाती है, उसके शरीर के मीठे वाले अंग को चाट-चाट कर चींटी अपने परिवार के लिये मधु एकत्र कर लेती है पर ऐसा करते हुये स्पष्ट-सा पता चलता रहता है कि यह एक स्वार्थपूर्ण कार्य है, इससे नन्हें से लार्वे को कष्ट पहुँचता है इसलिये वह थोड़ी मिठास एकत्र कर लेने के तुरन्त बाद उस बच्चे को परिचर्या भवन में ले जाती है और उसकी तब तक सेवा-सुश्रूषा करती रहती है, जब तक लार्वा बढ़कर अच्छी तितली नहीं बन जाता। तितली बन जाने पर चींटी उसे हार्दिक स्वागत के साथ घर से विदा कर देती है। जीव शास्त्रियों के लिये चींटी और तितली की यह प्रगाढ़ मैत्रीगूढ़ रहस्य बनी हुई है। उसकी मूल प्रेरणा अन्तःरंग का वह प्यार ही है, जिसके लिये आत्मायें जीवन भर प्यासी इधर-उधर भटकती रहती हैं।

आस्ट्रेलिया में फैलेन्जर्स नामक गिलहरी की शक्ल का एक जीव पाया जाता है। इसे सुगर स्क्वैरेल भी कहते हैं। यह एक लड़ाकू और और उग्र स्वभाव वाला जीव है, तो भी उसकी अपने बच्चों और परिवारीय जनों के प्रति समता देखते ही बनती है। वह जहाँ भी जाती है अपनी एक विशेष थैली में बच्चों को टिकाये रहती है और थोड़ी-थोड़ी देर में उन्हें चाटती और सहलाती रहा करती है। मानो वह अपने अन्तःकरण की प्रेम-भावनाओं से उद्रेक को सम्भाल सकने में असमर्थ हो जाती हो।

जीव-जन्तुओं का यह प्रेम-प्रदर्शन यद्यपि एक छोटी सीमा तक अपने बच्चों और कुटुम्ब तक ही सीमित रहता है तथापि वह इस बात का प्रमाण है कि प्रेम जीवमात्र को अन्तरंग आकांक्षा है। मनुष्य अपने प्रेम की परिधि अधिक विस्तृत कर सकता है इसलिये कि वह अधिक संवेदनशील और कोमल भावनाओं वाला है। अन्य जीवों का प्यार पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हो पाता इसलिये वे अपेक्षाकृत अधिक कठोर, स्वाथी और खूँख्वार से जान पड़ते हैं पर इसमें संदेह नहीं कि यदि उनके अन्तःकरण में छिपे प्रेमभाव से तादातम्य किया जा सके तो उन हिंसक व मूर्ख जन्तुओं में भी प्रकृति का अगाध सौन्दर्य देखने को मिल सकता है। भगवान् शिव सर्पों को गले लटकाये रहते हैं, महर्षि रमण के आश्रम में बन्दर, मोर और गिलहरी ही नहीं सर्प, भेड़िये आदि तक अपने पारिवारिक झगड़े तय कराने आया करते थे। सारा 'अरुणाचलम' पर्वत उनका घर था और उसमें निवास करने वाले सभी जीव-जन्तु उनके बन्धु-बान्धव, सुहृदय-सखा, पड़ौसी थे। स्वामी रामतीर्थ हिमालय में जहाँ रहते वहाँ शेर, चीते प्रायः उनके दर्शनों को आया करते और उनके समीप बैठकर घण्टों विश्राम किया करते थे। यह उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि हमारा प्रेमभाव विस्तृत हो सके तो हम अपने को विराट् विश्व परिवार के सदस्य होने का गौरव प्राप्त कर एक ऐसी आनन्द निर्झरिणी में प्रमाणित होने का आनन्द लूट सकते हैं, जिसके आगे संसार के सारे सुख-वैभव फीके पड़ जायें।

६०० वर्ष पूर्व की घटना है रोम में एक महिला अपने बच्चे से खेल रही थी। वह कभी उसे कपड़े पहनाती, कभी दूध पिलाती, इधर-उधर के काम करके फिर बच्चे के पास आकर उसे चूसती; चाटती और अपने काम में चली जाती। प्रेम भावनाओं से जीवन की थकान मिटती है। लगता है अपने काम की थकावट दूर करने के लिये उसे बार-बार बच्चे से प्यार जताना आवश्यक हो जाता था। घर के सामने एक ऊँचा टावर था उसमें बैठा हुआ एक बन्दर यह सब बड़ी देर से, बड़े ध्यान से देख रहा था। स्त्री जैसे ही कुछ क्षण के लिये अलग हुई कि बन्दर लपका और उस बच्चे को उठा ले गया। लोगों ने भाग-दौड़ मचायी तब तक बन्दर सावधानी के साथ बच्चे को लेकर उसी टावर पर चढ़ गया।

जैसे-जैसे उसने माँ के बच्चे से प्यार करते देखा था स्वयं भी बच्चे के साथ वैसे ही व्यवहार करने लगा। कभी उसे चूमता-चाटता तो कभी उसके कपड़े उतारकर फिर से पहनाता। इधर वह अपनी प्रेम की प्यास बुझा रहा था उधर उसकी माँ और घर वाले तड़प रहे थे, विलख-विलख कर रो रहे थे। बच्चे की माँ तो एकटक उसी टावर की ओर देखती हुई बुरी तरह चीख कर रो रही थी।

बन्दर ने यह सब देखा। सम्भवतः उसने सारी स्थिति भी समझ ली इसीलिये एक हाथ से बच्चे को छाती से चिपका लिया शेष तीन हाथ-पाँवों की मदद से वह बड़ी सावधानी से नीचे उतारा और बिना किसी भय अथवा संकोच के उस स्त्री के पास तक गया और बच्चे को उसके हाथों में सौंप दिया। यह कौतुक लोग स्तब्ध खड़े देख रहे थे और देख रहे थे साथ-साथ एक कटु सत्य, किस तरह बन्दर जैसा चंचल प्राणी प्रेम के प्रति इस तरह गम्भीर और आस्थावान् हो सकता है। माँ के हाथ में बच्चा पहुँचा सब लोग देखने लगे उसे कहीं कोई चोट तो नहीं आई। इस बीच बन्दर वहाँ से कहाँ गया, किधर चला गया यह आज तक किसी ने नहीं जाना।

पीछे जब लोगों का ध्यान उधर गया तो सबने यह माना कि बन्दर या तो कोई दैवी शक्ति थी जो प्रेम की वात्सल्य महत्ता दर्शाने आई थी अथवा वह प्रेम से बिछुड़ी हुई कोई आत्मा थी, जो अपनी प्यास को एक क्षणिक तृप्ति देने आई। उस बन्दर की याद में एक अखण्ड-दीप जलाकर उस टावर में रखा गया। इस टावर का नाम भी उसकी यादगार में बन्दर टावर (मंकी टावर) रखा गया। कहते हैं, ६०० वर्ष हुये यह दीपक आज भी जल रहा है। दीपके के ६०० वर्ष से चमत्कारिक रूप में जलते रहने में कितनी सत्यता है, हम नहीं जानते पर यह सत्य है कि बन्दर के अन्तःकरण में बच्चे के प्रति प्रसृत प्यार का प्रकाश जब तक यह टावर खड़ा रहेगा, लाखों

लोगों को मानव जीवन की इस परम उद्दात्त ईश्वरीय प्रेरणा की ओर ध्यान आकर्षित करता रहेगा।

प्रेम ही जीवन का सच्चा यज्ञ है, जिसका प्रकाश, जिसकी ऊष्मा कभी मन्द नहीं पड़ती वह मनुष्य को परमात्मा से मिला देने वाला भाव है। इसलिये परमेष्टी ब्रह्मा जी ने उसे जीवन का अन्यतम यज्ञ कहा है।

प्रेम का परिष्कार—पेड़-पौधों से भी प्यार

सम्भव है संसार के किसी और भाग में भी अब ऐसे गुलाब के पौधे हों, जिनमें काँटे न हों पर उनमें भी काँटे न हों, कुमुदनी हो पर दिन में भी खिलती हो, अखरोट के वृक्ष हों जो ३२ वर्ष की अपेक्षा १६ वर्ष में ही अपनी सामान्य ऊँचाई से भी बड़े होकर अच्छे फल देने लगते हों। पर वे होंगे अमेरिका के केलिफोर्निया में विशेष रूप से तैयार किये गये पौधों की ही सन्तान। केलिफोर्नियाँ में यह पौधे किसी वनस्पति शास्त्र या किसी ऐसे शोध-संस्थान द्वारा तैयार नहीं किये गये। उसका श्रेय एक अमेरिकन सन्त लूथर बरबैंक को है, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में प्रेमयोग का अभ्यास किया और यह सिद्ध कर दिया कि प्रेम में प्रकृति के अटल सिद्धान्तों को भी परिवर्तित किया जा सकता है। यह पौधे और कैलीफोर्निया का लूथर बरबैंक का यह बगीचा उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

एक बार एक सज्जन इस बाग से एक बिना काँटों वाला 'सेहुँड़' लेने गये ताकि वे उसे अपने खेत के किनारे-किनारे थूहड़ के रूप में रोप सके। अमेरिका क्या सारी दुनिया भर में सम्भवतः यही वह स्थान था, जहाँ सेहुँड़ बिना काँटों के थे। बाग का माली खुरपी लेकर डाल काटने चला तो दूर से ही लूथर बरबैंक ने मना किया बोले—आपसे काटते नहीं बनेगा लाओ, मैं काट देता हूँ। यह कहकर खुरपी उन्होंने अपने हाथ में ले ली और बोले—माना कि यह पौधे हैं, इनमें जीवन के लक्षण प्रतीत नहीं होते तथापि यह भी आत्मा है और प्रत्येक आत्मा प्रेम की प्यासी, भावनाओं की भूखी होती है। हम संसार की कुछ दे नहीं सकते, तो प्रेम और करुणाशील भावनाएँ तो प्रदान कर ही सकते हैं। कदाचित् मनुष्य इतना सीख जाये तो संसार में सुख-शान्ति का बारापार न रहे।

बरबैंक सेहुँड़ के पास बैठकर खुरपी से सेहुँड़ की डाल काटते जाते थे, पर उनकी उस क्रिया में भी आत्मीयता और ममत्व झलकता था यह देखते ही बनता था, जैसे कोई माँ अपने बच्चे को कई बार दण्ड भी देती पर परोक्ष में उसका हित और मंगल भाव ही उनके हृदय में भरा रहता है, वैसे ही श्री बरबैंक सेहुँड़ को काटते जाते थे और भावनाओं का एक सशक्त स्पंदन भी प्रवाहित करते जाते थे—ऐ पौधे ! तुम यह न समझना कि हम तुम्हें काटकर अलग कर रहे हैं। हम तो तुम्हारे और अधिक विस्तार की कामना से विदा कर रहे हैं। यहाँ से चले जाने के बाद भी तुम मुझसे अलग नहीं होगे। तुम मेरे नाम के साथ जुड़े हो, तुम मेरी आत्मा के अंग हो। माना लोक-कल्याण के लिये तुम्हें यहाँ से दूर जाना पड़ रहा है, पर तुम मेरे जीवन का अभिन्न अंग हो। जहाँ भी रहोगे हम तुम्हें अपने समीप ही अनुभव करेंगे—ऐसी भावनाओं के साथ बरबैंक ने सेहुँड़ की दो-तीन डालें काट दीं और आगन्तुक उन्हें ले गया। इस तरह इस बाग की सैकड़ों पौध सारी दुनियाँ में फैलीं और बरबैंक के नाम से विख्यात होती गईं।

यह कोई गलत कथन नहीं वरन् एक ऐसा तथ्य है जिसने सारे योरोप के वैज्ञानिकों को यह सोचने के लिये विवश कर दिया कि क्या सचमुच ही भावनाओं के द्वारा पदार्थ के वैज्ञानिक नियम भी परिवर्तित हो सकते हैं ?

जिस तरह भारत वर्ष में इन दिनों नेहरू गुलाब, शास्त्री गेहूँ आदि के नामों से पौधों, अन्नों की विशेष नस्लें कृषि विशेषज्ञ वैज्ञानिक अनुसन्धान से तैयार कर रहे हैं, उसी प्रकार बरबैंक पोटेटो (आलू) बरबैंक स्क्वैश, बरबैंक चेरी, बरबैंक रोज, बरबैंक वालनट (अखरोट) आदि सैकड़ों पौधों, फलों, सब्जियों तथा अन्नों की नस्लें बरबैंके नाम से प्रचलित हैं। इन्हें बरबैंक ने तैयार किया यह सत्य है पर किसी

वैज्ञानिक पद्धति से नहीं, यह उससे भी अधिक सत्य है। यह सब किस तरह सम्भव हुआ उसका वर्णन स्वयं लूथर ने अपने शब्दों में 'दिन ट्रेनिंग ऑफ ह्यूमन प्लाण्ट' नामक पुस्तक में निम्न प्रकार लिखा है—यह पुस्तक न्यूयार्क की 'सेंचुरी क. से १६२२ में प्रकाशित हुई है। लूथर लिखते हैं—

'आत्म-चेतना के विकास के साथ मैंने अनुभव किया कि संसार का प्रत्येक परमाणु आत्मामय है। जीव-जन्तु ही नहीं वृक्ष-वनस्पतियों में भी यही एक आत्मा प्रभासित हो रहा है—यह जानकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। मैं वृक्षों को प्रकृति पर विचार करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इनमें जो काँटे हैं, वह इनके क्रोध और रुक्षता के संस्कार हैं। सम्भव है लोगों ने इन्हें उन्हें सताया, कष्ट दिया, इनकी आकांक्षाओं की ओर धन नहीं दिया। इसीलिये ये इतने सुन्दर फूल-फल देने के साथ ही काँटे वाले भी हो गये।

यदि ऐसा है तो क्या इन्हें प्रेम और दुलार देकर सुधारा भी जा सकता है ? ऐसा एक कौतुहल मेरे मन में जागृत हुआ। मैं देखता हूँ कि सारा संसार ही प्रेम का प्यासा है। प्रेम के माध्यम से किसी के भी जीवन में परिवर्तन और अच्छाइयाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, तो यह प्रयोग मैंने पौधों पर करना प्रारम्भ किया।

गुलाब एक छोटा पौधा लगाया जब उसमें एक भी काँटा नहीं था। मैं उसके पास जा बैठता, मेरे अन्तःकरण से भावनाओं की सशक्त तरंगें उठतीं और पास के वातावरण में विचरण करने लगतीं। मैं कहता—मेरे प्यारे बच्चे, मेरे गुलाब ! लोग फूल लेने इस दृष्टि से नहीं आते कि तुम्हें कष्ट दें। वह तो तुम्हारे सौन्दर्य से प्रेरित होकर आते हैं। वैसे भी तो तुम्हारी सुवास विश्व-कल्याण के लिये ही है। जब दान और संसार की प्रसन्नता के लिये उत्सर्ग ही तुम्हारा ध्येय है तो फिर यह काँटे तुम क्यों उगाते हो ? तुम अपने काँटे निकालना और लोगों को अकारण कष्ट देना भी छोड़ दो, तो फिर देखना कि संसार तुम्हारा कितना सम्मान करता है ? अपने स्वभाव को इस मलिनता और कठोरता को निकालकर एक बार देखो तो सही कि यह सारा संसार ही तुम्हें हाथों ही हाथों उठाने के लिये तैयार है या नहीं।

गुलाब से मेरी बातचीत प्रतिदिन होती। भावनायें अन्तःकरण से निकलें और वह खाली चली जायें, तो फिर संसार में ईश्वरीय अस्तित्व को मानता ही कौन ? गुलाब धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसमें सुडौल डालियाँ फूटीं, चौड़े-चौड़े पत्ते निकले और पाव-पाव भर के हँसते-इठलाते फूल भी निकलने लगे, पर उसमें क्या मजाल कि एक भी काँटा आया हो। आत्मा को आत्मा प्यार से कुछ कहे और वह उसे ठुकरा दे—ऐसा संसार में कहीं हुआ नहीं, फिर भला बेचारा नन्हा-सा पौधा ही अपवाद क्यों बनता ? उसने मेरी बात को सहर्ष मान ली और सन्तोष हुआ कि मेरे बाग का गुलाब बिना काँटों का था।

अखरोट का धीरे-धीरे बढ़ना मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। मैंने उसे पानी उतनी ही दिया, खाद उतनी ही दी, निकाई और गुड़ाई में भी कोई अन्तर नहीं आने दिया, फिर ऐसी क्या भूल हो गई, जो अखरोट ३२ वर्ष में ही बढ़ने की हठ ठान बैठा। मैंने समझा इसे भी किसी ने प्यार नहीं दिया।

मैंने उसे सम्बोधित कर कहा—मेरे बच्चे ! तुम्हारे लिये हमने सब जुटाया, क्या उस कर्त्तव्यपरायणता में जो तुम्हारे प्रति असीम प्यार भरा था, उसे तुम समझ नहीं सकते ? तुम मेरे बच्चे के समान हो, तुम्हें में अलग अस्तित्व दूँ ही कैसे ? हम-तुम एक ही तो हैं। आज माना कि दो रूपों में खड़े हैं, पर एक दिन तो यह अन्तर मिटेगा ही। क्या हम उस आत्मीयता को अभी भी स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकते ? तुम उगो और जल्दी उगो, ताकि संसार में अपने ही तरह की और जो आत्मायें हैं, उनकी कुछ सेवा कर सकें।

अखरोट बढ़ने लगा और १६ वर्ष की आधी आयु में ही अच्छे-अच्छे फल देने लगा। इसी तरह कद्दू, आलू, नेक्टारीनेस, बेरीज, पापीज आदि सैकड़ों पौधों पर प्रयोग कर श्री बरबैंक ने उन्हें प्रकृति के समान गुणों से पृथक् गुणों वाले पौधों के रूप में विकसित कर यह दिखा दिया कि प्रेम की आत्मा की सच्ची प्यास है। जिस प्रकार हम स्वयं औरों से प्रेम चाहते

हैं वैसे ही बिना किसी आकांक्षा के दूसरों को प्रेम लुटाने का अभ्यास कर सके होते, तो आज सारा संसार ही सुधरा हुआ दिखाई देता। प्रेम का सिद्धान्त ही एकमात्र वह साधन है, जिससे छोटे-छोटे बच्चों से लेकर पारिवारिक जीवन और पास-पड़ौस के लोगों से लेकर सारे समाज, राष्ट्र और विश्व को भी वैसा ही सुधारा और सँभाला जा सकता है जैसे बरबैंक ने पेड़-पौधों को विलक्षण रूप से सँभालकर दिखा दिया।

श्री बरबैंक ने श्री योगानन्द नामक भारतीय योगी से क्रिया योग की दीक्षा ली थी। उनका निधन १९२६ में हुआ, तब लोगों के मुख से एक ही शब्द निकला था—प्रेम प्रयोगी का निधन सारे विश्व को क्षति है, वह कभी पूरी नहीं हो सकती।

श्री बरबैंक तत्वदृष्टा थे। प्रेम का अभ्यास उन्होंने पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों तक से करके ही आत्मानुभूति प्राप्त की थी। उसी से वे सिद्ध हो गये थे। उनकी भविष्यवाणियाँ बहुत महत्वपूर्ण होती थीं। लन्दन से प्रकाशित होने वाली 'ईस्ट और वेस्ट' पत्रिका में उन्होंने 'साइन्स एण्ड सिविलाइजेशन' नाम से लेख प्रकाशित किया। उसमें लिखा था—

संसार को सुधारने की शक्ति पूर्व में केवल भारतवर्ष के पास है। पश्चिमी देशों को वहाँ की योग-क्रिया और प्राणायाम की विधियाँ सीखने के साथ प्रेम, दया, करुणा, उदारता, क्षमा, मैत्री के भाव भी सीखने और आत्मसात करने चाहिए। मैं देख रहा हूँ कि भारतवर्ष उसके लिये अपने आपको तैयार कर रहा है और एक दिन सारे संसार को ही उसके कदमों में झुककर जीवन जीने की शुद्ध पद्धति और आत्म विज्ञान सीखना पड़ेगा, इससे ही संसार का कुछ वास्तविक भला होगा।

१९४८ में लन्दन के एसोसियेटिड प्रेस में एक सामुख्य में भी उन्होंने भावना योग की महत्ता पर प्रकाश डाला था और कहा था—शीघ्र ही भारतवर्ष में कुछ ऐसे लोगों का उदय होगा जो फिर से सारे संसार की मानवता का पाठ सिखायेंगे। उसमें परस्पर प्रेम और आत्मीयता की भावना प्रमुख होगी। उसी से संसार का सुधार होगा, उसी से सुख-समृद्धि की वृद्धि भी होगी।

प्रेम-प्रतिरोपण से पत्थर भी परमात्मा

प्रकृति में सर्वत्र एक आकर्षण का नियम (ला ऑफ ग्रेविटेशन) काम करता है। नियम यह है कि दो वस्तुओं की दूरी जितनी अधिक है, आकर्षण उतना ही कम होगा। यह दूरी जितनी कम होती है, उतना ही आकर्षण बढ़ता चला जाता है।

मनुष्यों-मनुष्यों के बीच भी प्रकृति का यही नियम काम करता हम स्पष्ट देख सकते हैं। पड़ौसी के दुःख के साथी हम होते अवश्य हैं, समय आने पर उसकी सेवा और सहायता भी करते हैं, पर मूल में एक स्वार्थ भरा रहता है कि इसके साथ ऐसा इसलिए कर रहे हैं कि कहीं हमें भी बदले का सहयोग मिलेगा। विनिमय वाले इस व्यवहार में आकर्षण और प्रेम होता तो है पर अत्यल्प, न के बराबर।

अपने चाचा, मामा, भाई के प्रति कर्त्तव्य-पालन में अपेक्षाकृत अधिक प्रेम और आकर्षण अनुभव करते हैं, किन्तु जो प्रेम अपने पुत्र या पुत्री के लिये हो सकता है, वह इनमें से किसी के साथ नहीं था। इस प्रेम की घनिष्ठता का कारण था दूरी का अभाव। हमारी इस मान्यता और सत्य में कोई अन्तर नहीं था कि यह पुत्र तो मेरा प्राण है, मेरे शरीर से निकली हुई सत्ता है। उसके लिये जब आवश्यकता पड़ती है तो हम प्रकृति के नियमों का भी उल्लंघन कर डालते हैं। साधारणतया दिन भर की थकावट के बाद रात में नींद आये बिना रहती नहीं, किन्तु बच्चा बीमार हो, अस्पताल में हो तो एक-दो रात तो क्या कई-कई रात जाग सकते हैं। ऐसा किसी दूसरे के साथ करने में कष्टप्रद लगता है, पर प्रेम में वही दुःख-सुख की तरह अनुभव होने लगता है।

इस तरह का सभी प्रेम 'तस्वैवाह'—मैं उसी का हूँ, की सीमा के अन्दर आता है। उसमें प्रेम का, आकर्षण का भाव तो है पर वह पर्दे में है। उसमें अपनापन, अपना स्वार्थ जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

दूसरी प्रकार का प्रेम 'तवैवाहं'—मैं तेरा ही हूँ—परमात्मा की आमुख उपस्थिति का बोध कराता है। हम अनुभव करते हैं कि हम अपने आप में अपूर्ण हैं। इस अपूर्णता को जब तक भरा नहीं जाता, तब तक सन्तोष नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती, प्रसन्नता नहीं होती। संसार में मनुष्य स्वार्थ-ही-स्वार्थ चाहकर भी जिन्दा नहीं रह सकता। उसे अपने स्वार्थ को जब कहीं प्रतिरोपित होने का अवसर मिलता है, तभी उसे कुछ सन्तोष होता है—ऐसा प्रेम अपनी पत्नी के प्रति हो सकता है। पत्नी से हमारा कोई रुधिरगत सम्बन्ध नहीं होता। एक व्यक्ति पूर्व से चलकर आता है, दूसरा पश्चिम से आकर मिलता है, दोनों एक-दूसरे को जानते भी बहुत कम हैं किन्तु समर्पण के भाव से सांसारिक दूरी को इतना कम कर दिया है कि जोड़े में से एक-दूसरे को देखे बिना रह ही नहीं सकता। मिलन के प्रारम्भिक दिनों में एक को, दो-एक दिन की बिछुड़न भी दूसरे के लिए कई वर्षों के समान असह्य हो जाती है। समर्पण प्रेम की इस भावना में शक्ति-सुख का स्थान अधिक तो है पर उसमें भी परमात्मा सम्मुख ही था अपने भीतर मिल नहीं सका। ऐसे कोई नियम नहीं था कि चाहते हुए भी स्त्री-पुरुष दोनों एकाकार हो जाते—दो न रहकर एक ही शरीर में समा जाते। काम-वासना उसी की भटक है, जिसमें मनुष्य पाता तो कुछ है नहीं, अपना आकर्षण और कम कर लेता है।

प्रेम के विकास की तब एक तीसरी और अन्तिम भूमिका जो पत्थर को भी भगवान् बना देती है, वह है 'त्वमेवाहं'—मैं तो तू ही हूँ।

मैं और मेरे घेरे में संसार में स्थूलता का एक परदा जो चढ़ा हुआ है, उसी के कारण चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व का आभास नहीं हो पा रहा था। "राम" में भी वही प्रवृत्तियाँ, वही आकांक्षाएँ, वही चेतना भरी पड़ी हैं, जो "श्याम" में हैं। नैसर्गिक विकास की क्रिया दोनों में एक-सी ही हैं, पर राम को अपने काम से अवकाश नहीं, इसलिये उसे श्याम में कोई रुचि नहीं है। किन्तु जब वह श्याम को थोड़ा सन्देह मिटाकर देखता है, तो पाता है कि अरे ! इसमें तो सब कुछ वहीं, वैसा ही है, जैसा मुझ में है।

राम और श्याम तो दूर ही रहे, चेतना तो सृष्टि के कण-कण में समाविष्ट है। तीनों अवस्थाओं में हमारा प्रेम इस चेतना के प्रति-दान से ही हमें सुख मिलता रहा है। शारीरिक सुख का विनिमय तो क्षणिकमात्र और अज्ञानता के कारण होता है। वस्तुतः भूख और प्यास तो चेतना की थी, जिसे अपनी अपूर्णता सहन नहीं हो रही थी।

तब फिर उसे चेतना की पूर्णता कहाँ हो ? साकार में या निराकार में ? यह प्रश्न सनातन काल से चलता और उलझता रहा है। मनीषियों, आचार्य और तत्वदर्शियों ने समझाया भी कि साकार और निराकार में कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि में जो कुछ भी दिखाई देता है, उस सब में परमेश्वर ही भरा पड़ा है। तू तो अपना स्वार्थ, अपनी खुदी, अपना पर्दा हटाकर देख तुझे सबमें भगवान् ही दिखाई देगा। अपनी भावनाओं में जो सबके प्रति 'तू' ही 'तू' के प्रति प्रेम समर्पित कर देता है, उसे तो पत्थर में भी परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं।

प्रेम जो लौकिक अर्थों में था, उसमें भी भावनाओं के समर्पण के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं था। भावनायें नहीं रह जातीं तो अपनी स्त्री, पुत्र, पुत्री और भाई-बहनों के लिए भी तो कोई प्रेम नहीं रह जाता। पंच भौतिक पदार्थों के प्रति प्रेम भावनाओं का प्रतिरोपण मात्र है। भावनायें आवेश हैं, विद्युतीय चुम्बक हैं। उन्हें तो जहाँ भी प्रतिरोपित कर दिया जाता है, वही प्रेम का सुख मिलने लगता है।

पत्थर भी तो पञ्च भौतिक पदार्थ ही है। आने वाली ध्वनि को प्रतिध्वनित करने का, रगड़कर अग्नि पैदा करने का, उनके सूक्ष्म कणों में जल और आकाश का अंश होने का प्रमाण तो आज वैज्ञानिक भी दे रहे हैं। कोई भी जड़-से-जड़ वस्तु में भी चेतना का नियम सर्वत्र भावनाओं की उपस्थिति का प्रमाण ही तो है। तब फिर क्या पत्थर की मूर्ति हमें बदले में कुछ नहीं दे सकती। यदि हमारे अन्तः करण का प्रेम अपने स्वार्थ की सीमा को तोड़कर प्रत्येक वस्तु में 'तू-ही-तू' के दर्शन करने लगे

तो इन पत्थर की गढ़ी हुई मूर्तियों में ही भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं।

यह भगवान् कोई अशक्त और अभावग्रस्त भगवान् नहीं होगा—वरन् मीरा के गिरधर गोपाल की तरह समुद्र में से डूबने से बचाने वाला, विष का प्याला आप अपने कंठ में धारण कर लेने वाला, पायलों के साथ अपनी पायलों की संगति मिलाने वाला हो सकता है। प्रहलाद के नृसिंह की तरह वह आधा शरीर मनुष्य और आधा पशु का धारण कर रक्षा के लिये उपस्थित हो सकता है। कविवर तुलसीदास ने उन भावनाओं की शक्ति को निःसीम बताते हुए लिखा है—

अन्तर्जामिहु ते बड़ बर्हिजीर्मि हैं
राम जे नाम लियेतें।
पैंज परे प्रहलादहु को प्रगटे
प्रभु पाहन तें न हिये तें।।

अर्थात्—अपने भीतर भरे हुए परमात्मा से भी बड़ा है, बाहर सृष्टि के कण-कण में विराजमान परमात्मा। उसे जब भावनाओं की, प्रेम की, समर्पण की चोट देकर प्रहलाद ने जागृत किया तब वह अपने भीतर से नहीं, पत्थर से प्रकट होकर आ गया।

ईश्वर की भक्ति प्रेमपूर्ण भावनाओं का पारमार्थिक विकास मात्र है। उसे हम सृष्टि में फैली विराट् चेतना के प्रति जागृत कर लें तो हम पत्थर के भगवान् से भी सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं, जो कोई भी देहधारी भगवान् प्रकट होकर या निराकार ईश्वर भक्ति से द्रवित होकर दे सकता है।

प्रेम साधना द्वारा विश्वात्मा की अनुभूति

अपने आपसे प्रेम करके अपनी प्रसुप्त आत्म-शक्तियों का क़िस प्रकार विकास किया जाये, अपने पड़ौसी, अपने स्वजन सम्बन्धियों से लेकर ग्राम, नगर, प्रदेश, देश और विश्व के मानव मात्र में प्रेम का प्रतिरोपण करके किस प्रकार मनुष्य जीवन में स्वर्गीय परिस्थितियों का आविर्भाव किया जाये और फिर उससे भी आगे बढ़कर सृष्टि के इतर मानव प्राणियों, पेड़-पौधों तथा निर्जीव वस्तुओं तक से प्रेम-भाव की घनिष्ठता स्थापित करके किस प्रकार विश्वात्मा की अनुभूति, साक्षात्कार और पूर्णानन्द की प्राप्ति सम्भव है। इन नियमों की निश्चित प्रक्रियायें भले ही हमें ज्ञान न हों तो भी मानव जाति का अस्तित्व केवल मात्र प्रेम के लिये टिका हुआ है। ऐसा गाँधी जी कहा करते थे।

प्रेम की शक्ति समस्त भौतिक शक्तियों से बढ़कर है यही वह भाव है, जो छोटे-से केन्द्र जीवात्मा को विराट् जगत से जोड़ने में समर्थ हो पाती है। प्रेम न होता तो सृष्टि में टकराव और संघर्ष इतना अधिक बढ़ जाता कि उसका अस्तित्व दो दिन टिकना भी असम्भव हो जाता। वैज्ञानिक बताते हैं कि परमाणुओं के बीच जोड़ने वाली सत्ता विद्यमान न हो तो पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े हो जाये। जड़ परमाणुओं को एक आकर्षण जोड़कर रखता है उसी प्रकार चेतन प्राणियों को भी एक ही आकर्षण, एक ही केन्द्राभिसारी बल बाँधकर रखता है वह है प्रेम। प्रेम की क़ला में हम कितने पारंगत हो सकते हैं, उसी अंश में अपना विकास कर सकते हैं।

भौतिक आकर्षण और समान स्वार्थों की पूर्ति के लिये मेल-मिलाप ने भी जैसा ही आकर्षण होता है और चूँकि उसमें प्रारम्भिक प्रेम के नियमों का अस्तित्व होता है इसलिये मानव जाति भूल से उसे ही प्रेम समझने लगती है। इस प्रेम को प्रेम मानते हुये भी स्थूल और वासनाजन्य ही कहा जायगा। अदीस अवाय के मध्य में सिदिस्त के किले में वहाँ का अच्छा चिड़ियाघर है इस चिड़ियाघर के संरक्षक वोकले हेतेयस ने २० वर्षों तक लगातार शेरों के जीवन का सूक्ष्म अध्ययन के दिनों में उन्होंने इन वन्य-पशुओं से सम्बन्धित अनेक घटनायें संकलित करके लिखा है शेर अपने बच्चों से प्यार नहीं करता कभी-कभी तो वह उनको जख्मी भी कर देता है। इसके विपरीत शेर अपनी पत्नियों से बहुत प्रेम करते हैं। शेर-शेरनी एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और एक-दूसरे को समझते हैं। शेर यह सहन नहीं कर सकता कि शेरनी पर मक्खी भी आकर बैठे।

यह अध्ययन प्राणियों में प्रेम की जन्मजात आकांक्षा का प्रतीक है भले ही उसकी सीमा इतनी संकुचित हो कि शेर अपने प्रेम के बीच में बच्चों की उपस्थिति भी सहन न कर सकता हो।

भालू का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही होता है। इसमें नर मादा से प्रेम करता है पर अपने बच्चों में शत्रु जैसा व्यवहार करता है और मादा अपने बच्चों से इतना प्रेम करती है कि उनके लिये वह कितने ही सप्ताहों तक माँद में छिपी पड़ी रहती है। पानी तक नहीं पीती भूख मिटाना तो और भी दूर की बात रही।

मनुष्य जाति पशुओं से विकसित श्रेणी का प्रेम करती है पर उसे जागृत आत्माओं वाला प्रेम नहीं कह सकते। एक गाँव में एक बच्चा नदी के पानी में डूब रहा था किनारे पर और भी लोग खड़े थे पर स्वयं डूब जाने के भय से कोई दूर नहीं रहा था। उसकी माँ ने अपने को संकट में डाला और तैरना न जानते हुए भी वह पानी में कूद गई यहाँ यदि और कोई व्यक्ति कूदकर उस बच्चे को बचाता तो उसकी वह निष्काम सेवा प्रेम को उत्कृष्टता का प्रतिपादन करती। माँ के लिये यह प्रेम कर्त्तव्य भाव था उसे श्रेष्ठ तो कहा जा सकता है पर समस्त मनुष्य जाति की तुलना से वह साधारण प्रेम था दैवी नहीं। वह स्त्री बच्चे को बचाने के लिये आगे बढ़ती है और स्वयं डूबने लगती है तब उसका पति कूदता है और पत्नी को बचाता है। इस तरह उसने जो प्रेम प्रदर्शित किया उस प्रेम को वन्य जीवन का-सा ही प्रेम कहा जा सकता है।

मनुष्य का प्रेम कुछ इसी तरह का स्वार्थ और शारीरिक सम्बन्धों की संकीर्णता तक अनुबद्ध हो जाने से हमारी आत्मिक प्रगति का द्वार बन्द हो जाता है, यह हमारी लघुता का प्रतीक है। प्रकृति की प्रेरणा नहीं। आत्म-चेतन की सन्तुष्टि का आधार सीमाबद्ध प्रेम नहीं हो सकता। दूसरी जागृत आत्मायें, भले ही वे अपना विकास क्रम कर्मवश किसी क्षुद्र योनि में चला रही हो, इस सीमा को तोड़ती हैं और बताती हैं कि आत्मा के प्रेम का विस्तार किसी वर्ग, जाति और लिंग तक सीमित न होकर समस्त सृष्टि में फैली चेतना के मूल तक है, उसी से सच्ची सन्तुष्टि मिल सकती है।

२७ अक्टूबर ७० को जूनागढ़ (गुजरात) की घटना है। यहाँ से २३ किलोमीटर दूर नखदी गाँव में कोई एक नवजात शिशु को फेंक गया। उसको देखते चील, कौवे और सियार खाने को लपके किन्तु तभी एक कुत्ता वहाँ आ धमका और वह बच्चे को तब तक रक्षा करता रहा जब तक दूसरे लोगों ने पहुँचकर बच्चे को उठा नहीं लिया। इस बीच अन्य हिंसक जीव भी वहीं मँड़राते रहे पर कुत्ता वहाँ से हटा नहीं।

अलीगढ़ के कस्बा जवाँ में एक बन्दर और कुत्ते की मैत्री विघटित भावनाओं वाले इस युग में लोगों को चुनौती देती है और बताती हैं कि विपरीत स्वभाव के दो पशु परस्पर प्रेम कर सकते हैं पर मनुष्य परस्पर स्नेह से नहीं रह सकता, यह दोनों ही अमानव मित्र दिन-रात साथ-साथ रहते हैं। विश्राम के समय बन्दर कुत्ते के जुयें बीनकर और कुत्ता बन्दर के तलुये सहलाकर अपनी प्रेम-भावनाओं का आदान-प्रदान करते हैं।

अपने स्वभाव अपनी रुचि की भिन्नता के बावजूद भी यदि दूसरे जीव परस्पर प्रेम से रह सकते हैं तो बुद्धिशील मनुष्य को तो उनसे बढ़कर ही होना चाहिये। ऐसा नहीं होता तो यही लगता है कि चेतना की गहराई को जितना मनुष्य नहीं जान सका प्रेम दर्शन का जो अभ्यास मनुष्य नहीं कर सका वह दूसरे प्राणी हँसी-खुशी से कर सकते हैं। यहाँ तक कि शत्रु स्वभाव के जीवों में भी उत्कृष्ट मैत्री रह सकते हैं। यहाँ तक कि दो शत्रु स्वभाव के जीवों में भी उत्कट मैत्री रह सकती है।

फैजाबाद डिवीजन के सुलतानपुर जिला स्थित अस्पताल में एक बालक इलाज के लिये भरती किया गया है। इसका बालक का ६ वर्ष पूर्व सियारों द्वारा अपहरण कर लिया गया था। नन्हें से जीव के प्रति उनकी सहज करुणा-प्रेम उपड़ा होगा तभी तो उन्होंने उसे खाने की अपेक्षा पाल लेना उचित समझा होगा। बहुत सम्भव है सियारों में उसको खाने के लिये संघर्ष भी हुआ हो पर जीत इस दिव्य शक्ति की हुई सियारों ने बच्चे को पाल लिया। उसे अपनी

तरह चलना-फिरना, बोलना और खाना तक सिखाकर यह सिद्ध कर लिया कि आम-चेतना-शरीर नहीं शरीरों से भिन्न तत्व है, वही समस्त जीवों में प्रतिभासित हो रहा है इस मूल की सन्तुष्टि जीवन की सच्ची उपासना है।

कुछ आत्मायें बोल नहीं सकती पर प्रेम तो परावाणी है, जो हाव-भाव और आँखों की चमक से व्यक्त हो जाता है, उसके लिये शरीर उपादान नहीं वह व्यक्त होने के लिये आप समर्थ हैं। त्याग और बलिदान, सेवा और साधना ही उनके रूप हैं। यह देखने को तब मिला जब अलकबन्द में बाढ़ आई थी, गढ़वाल जिले के श्री नगर ग्राम में बाढ़ से बचने के लिये २०-२२ व्यक्ति एक बड़े पेड़ पर चढ़ गये। रात तक पानी सिमट गया तो ये नीचे उतरने लगे। लेकिन नीचे एक भयंकर विषधर खड़ा था और वह किसी को उतरने नहीं देता था। कोई मारने को करता तो वह पीछे हट जाता पर यदि कोई उतरने को करता तो उधर दौड़कर भगा देता। रात इसी तरह बीती सबेरा हुआ तो साँप अपने आप चला गया और तब तक उन लोगों ने देखा कि वहाँ इतना गहरा दलदल था कि यदि सर्प ने न रोका होता तो उन सबकी जीवित समाधि लग जाती।

बंगाल की मात्या इलाके की १९५२ की एक घटना उससे भी विलक्षण और इस बात का प्रमाण है कि दो घनिष्ट शत्रु भी दो घनिष्ट मित्रों का-सा प्रेमी जीवन जी सकते हैं। पति और पत्नी के सिद्धान्त भिन्न हों तो भी प्रेम का आदान-प्रदान चलते रह सकता है। यह घटना उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यहाँ कुछ दिन से एक चीता सक्रिय था उसने बहुत उत्पात मचा रखा था पर कोई उसे मार न पाता था। उसका कारण था उसकी एक बन्दर की से अटूट मैत्री। संथाली लोग बड़े आश्चर्यचकित थे कि एक बन्द और चीते की मित्रता का रहस्य क्या है ? जब कभी कोई चीते को मारना चाहता वह खों-खों करके चीते को सूचना दे देता और दोनों ही वहाँ से सकुशल भाग निकलते। चीता तभी मारा जा सका, जब बन्दर मारा गया। मरते-मरते भी दोनों एक दूसरे के पास ही थे।

आत्मा की अपनी कोई जाति है और न कोई देश। समस्त प्राणियों में उसका विस्तार है, समस्त भूतल और ब्रह्माण्ड में उसी की चेतना नर्तन कर रही है यह विश्वात्मा ही परमात्मा है उसे पाना है तो देश जाति की संकीर्णतायें त्यागकर प्रेम की परिधि उसी तरह बढ़ानी होगी जिस तरह लन्दन के एक शाही बाग के पक्षियों में। वहाँ हंस और बत्तखों की कई जातियों में अपनी-अपनी जातीय संकीर्णतायें तोड़कर अन्य जाति के हंस और बत्तखों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित किया है, यह क्रम अधिकांश पक्षियों पर चल पड़ने और पक्षियों द्वारा अन्तर्जातीय प्रेम प्रदर्शित करने के कारण वहाँ के अधिकारी चिन्तित हो उठे हैं कि नस्लों की शुद्धता को किस प्रकार सुरक्षित रखा जाये। श्री आर्थर को अब उसके लिये जीवशास्त्रियों की मदद लेनी पड़ रही है क्योंकि वे पक्षियों के इस अन्तर्जातीय प्रेम को रोक सकने में असमर्थ रहे हैं।

इस तरह का मुक्त प्रेम जो शारीरिक सुखों, इन्द्रियों के आकर्षणों जाति वर्ण और देश की सीमाओं से परे हो यही सच्चा प्रेम है। ऐसा प्रेम ही सेवा, मैत्री, करुणा, दया, उदारता और प्राणिमात्र के प्रति आत्मीयता का भाव जाग्रत कर तुच्छ जीवात्मा को परमात्मा से मिलाता है हमारे प्रेम का दायरा संकुचित न रहकर समस्त लोक-जीवन के प्रति श्रद्धा के रूप में फूट पड़े तो आज तो भागवत अनुभूतियाँ दुःसाध्य जान पड़ती हैं फल वही काँच के स्वच्छ दर्पण में अपने साफ प्रतिबिम्ब की तरह झलकने लग सकती है।

प्रेम विस्तार से परमात्मा की प्राप्ति

आरम्भ में मनुष्य अपने तक ही सीमित रहता है। वह जो कुछ करता या चाहता है, अधिकांशतः अपने लिये। उसे अपने इस स्वार्थ में कुछ सुख अनुभव होता है। किन्तु यह सुख क्षणिक ही होता है। स्वार्थ की पूर्ति का सन्तोष समाप्त होते ही सुख की अनुभूति भी समाप्त हो जाती है। फिर दूसरा स्वार्थ सताने लगता है।

इस स्वार्थ की यह श्रृंखला चलती रहती है, लेकिन वह सुख सन्तोष नहीं मिल पाता, जिसकी वांछा रहती है। आत्मा रीति की रीती रह जाती है। अशांति और असन्तोष बना रहता है।

स्वार्थ में भी जो, कम, ज्यादा अथवा झूँठी-सच्ची सुखानुभूति होती है, उसका कारण है, अपने प्रति प्रेम। प्रेम ही सुख का हेतु है। किन्हीं कारणों से जिनको अपने से प्रेम नहीं रहता, आत्म-ग्लानि अथवा आत्म-क्षोभ का भाव घेर लेता है, उन्हें स्वार्थ की पूर्ति में भी सुख नहीं मिलता। वह कुछ भी खाये, कुछ भी पहने, कितना ही लोभ क्यों न हो, किन्तु उसे वह क्षणिक सन्तोष भी नहीं मिलता, जो स्वार्थपूर्ति पर किसी स्वार्थी को ही मिल जाता है। इस प्रक्चन का मुख्य कारण यही होता है कि उसका अपने प्रति प्रेम समाप्त हो गया होता है। सुख तथा सन्तोष प्रेम में ही निवास करता है, न तो वस्तु में और व्यक्ति में।

कुछ समय बाद उसका विवाह हो जाता है। संकीर्ण स्वार्थ की सीमा टूटती है। उसका परिवेश बढ़ता है। जब वह न केवल अपने लिये ही करता है और न अपने लिये चाहता है। अब उसके करने और चाहने में पत्नी सम्मिलित हो जाती है। सम्मिलित ही क्यों प्रथम हो जाती है। वह कुछ खाता है तो उसे पत्नी की याद आती है। खाना अच्छा नहीं लगता। जब तक पत्नी को न खिला ले खाने में रस नहीं आता। कुछ पहनाता है तो उसका ध्यान पत्नी की ओर जाता है और जब तक अपने से पहले और अपने से अच्छा उसे न पहनाले जरा भी अच्छा नहीं लगता।

बल्कि सच्ची बात यह है कि जब वह पत्नी के लिये जितने अधिक त्याग का अवसर पाता और करता है, उसे ही अधिक सुख और सन्तोष होता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि उसे पत्नी से प्रेम होता है। नहीं तो जिसकी सम्पत्ति का उपभोग कोई दूसरा करे तो अच्छा लगना दूर, बुरा ही लगना चाहिये। किन्तु प्रेम के कारण जब पुरुष अपनी गाढ़ी कमाई के मूल्य पर पत्नी को सुख-सुविधा में देखता है, उसे खाते, पहनते और व्यय करते देखता है तो प्रसन्न होता है। अब उसे अपना एकांकी स्वार्थ नहीं भाता। उसे उससे ग्लानि होती है। विचार में आते ही हीनता आती है। जो स्वार्थ पहले उसे सुख देता था, वही अब अरुचिकर लगने लगता है। इसका कारण केवल यही होता है कि उसे पत्नी से प्रेम होता है। पत्नी के प्रति प्रेम रंजना से जो सुख प्राप्त होता है, वह स्पष्ट ही स्वार्थ पूर्ति से प्राप्त होने वाले सुख से अधिक शीतल, सन्तोष प्रद तथा स्थायी होता है—यह अनुभव भी अभावित नहीं रहता।

फिर बच्चे होते हैं। प्रेम की परिधि का और अधिक विस्तार होता है। अभी तक पत्नी के साथ कुछ स्वार्थ अपना भी बना रहता था, लेकिन अब वह उतना भी नहीं रहता। अब यदि अपना पेट खाली है और बच्चे तृप्त हैं तो भी सन्तोष रहता है। अपने कपड़े फटे-पुराने हैं और बच्चे अच्छे वस्त्र पहने हैं तो देखने मात्र से ही आनन्दित हो जाते हैं। इतना ही नहीं सबको खिलाने के बाद बचा हुआ खाने बैठें और बच्चे आते ही लूट मचा देते हैं। सब कुछ छीन-झपट कर खा जाते हैं। इस लूट-खसोट में और भी आनन्द आता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि बच्चों से प्रेम होता है। स्वार्थ और भी कई अंशों तक समाप्त हो चुका होता है और त्याग भावना बढ़ने लग जाती है। प्रेम का जितना विस्तार उतनी ही स्वार्थ की हानि, जितनी ही स्वार्थ की हानि—उतनी ही त्याग भावना की वृद्धि, उतना ही सुख, सन्तोष और आनन्द।

प्रेम की परिधि बढ़ती है। समाज, देश अथवा राष्ट्र तक फैल जाती है। राष्ट्र तक विस्तृत प्रेम की परिधि के ही अनुपात से त्याग भावना की वृद्धि होती है। राष्ट्र-हित के लिए, देश-प्रेम के लिये व्यक्ति क्या नहीं दे देता ? सम्पत्ति दे देता, सर्वस्व दे देता। जितना-जितना देता जाता है, उतना-उतना ही उठता जाता है और आनन्द पाता जाता है। देश-भक्त फाँसी पाते और गोली खाते समय भी आनन्दित होते रहते हैं। किसलिये ? इसलिये कि उन्हें देश, राष्ट्र अथवा समाज में प्रेम होता है। आनन्द का निवास प्रेम में है न किसी अन्य वस्तु में। प्रेम की पूर्णता की परिणित ही आनन्द की उपलब्धि है और आनन्द मिश्रित मृत्यु का परिपाक मोक्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

यही प्रेम जब अपनी सारी सीमाओं को तोड़कर अखिल जड़ चेतन तक फैल जाता है, तब मनुष्य विभु रूप हो जाता है। मनुष्य का यह असीम विस्तार उसे आनन्द-सागर में निमग्न कर देता है। प्रतिक्षण सुख, सन्तोष, शीतलता, और आनन्द अनुभव होता है। सारा मंगल, सारा कल्याण और सारी स्वस्ति अनायास ही सदा-सर्वदा के लिये मिल जाती है। फिर कुछ भी मिलना शेष नहीं रहता।

प्रेम की उपलब्धि परमात्मा की उपलब्धि मानी गई है। प्रेम परमात्मा का भावनात्मक स्वरूप है। जिसे अपने अन्तर में सहज ही अनुभव किया जा सकता है। प्रेम प्राप्ति परमात्मा की प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग है। परमात्मा को पाने के अन्य साधन कठिन, कठोर, दुसाध्य तथा दुरुह हैं। एकमात्र प्रेम ही ऐसा साधन है, जिसमें कठिनता, कठोरता अथवा दुःसाध्यता के स्थान पर सरसता, सरलता और सुख का समावेश होता है। प्रेम की आराधना द्वारा परमात्मा को पाना क्या मनुष्य परमात्म स्वरूप ही हो जाता है।

यों तो कोई भी कह सकता है कि उसके हृदय में प्रेम का निवास है। ऐसा अनुभव भी हो सकता है क्योंकि बिना प्रेम-भावना के मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। उसे किसी न किसी से, किसी स्तर का प्रेम होना अनिवार्य है। प्रेम ही मानव-जीवन की संजीविनी है। प्रेम-भावना के सर्वथा समाप्त हो जाने पर मनुष्य मृत हो जाता है, उनकी रुचि, आकर्षण अथवा लगाव किसी से नहीं रहता, तब या तो उनकी जीवन गति रुक जाती है अथवा वे पागल हो जाते हैं। अत्याचार, आततायित्व, रक्तपात, रोष, क्षोभ, कुण्ठा आदि के विकार भी पागलपन के लक्षण हैं। प्रेम के समाप्त हो जाने पर मनुष्य मरुभूमि की तरह तप्त जल तथा निःसार हो जाता है। जोकि अस्तित्ववान् होने पर भी मृत के सदृश ही होते हैं।

हृदय की सरसता तथा सदाशयता प्रेम पर ही निर्भर है। इसके नष्ट हो जाने पर मनुष्य अधिकांश में आततायी बन जाता है, फिर चाहे वह अपने प्रति अनाचारी हो अथवा औरों के प्रति। आततायित्व भी मृत्यु का ही एक लक्षण है। शरीर से जीते हुए भी ऐसे मनुष्य आत्मा से मर चुके होते हैं। जीवन अनुभूति का कोई भी आनन्द उन्हें नहीं मिलता। करुणा, दया, क्षमा आदि से बहने वाली शीतल वायु का अनुभव उन्हें नहीं होता। इन दोषों के साथ चलने वाला जीवन निष्चेष्ठ मृत्यु से भी बुरा होता है। अस्तु, जीवित मनुष्य में प्रेम का कुछ न कुछ भाव होना अनिवार्य है।

तथापि जिस प्रेम को, जिस आकर्षण अथवा रुचि को मनुष्य अपने अन्दर अनुभव करता है, वह वास्तविक प्रेम नहीं होता। वह मात्र स्वार्थ के प्रति मोह की अनुभूति हुआ करती है।

प्रायः लोगों का अनुमान होता है कि उन्हें अपने से, अपने परिवार से, समाज से और राष्ट्र से प्रेम है। किन्तु क्या वे एक क्षण भी यह सोच पाते हैं कि प्रेम सच्चा है अथवा मिथ्या ? इसकी एक मोटी-सी पहचान यह है कि यदि वे कभी भी किसी दशा में कोई ऐसा व्यवहार नहीं करते, जिससे राष्ट्र, देश, समाज, परिवार अथवा अपने को कोई क्षति नहीं पहुँचती। उनका कोई अहित नहीं होता। यदि ऐसा है तब तो एक बार कहा जा सकता है कि उन्हें उन सम्बन्धों के प्रति प्रेम है अन्यथा नहीं। किन्तु सच्चे प्रेम की कसौटी इससे कुछ ऊपर है। वह यह कि यदि कोई अपने सम्बन्धों तथा अनुबन्धों के लिये कुछ त्याग करता है और उसके साथ कोई स्वार्थ नहीं जोड़ता, साथ ही उसे उस उत्सर्ग में आनन्द की अनुभूति होती है तो उसका प्रेम सत्य ही कहा जायेगा।

अनेक बार लोग देश, राष्ट्र अथवा समाज के प्रति बड़ा प्रेम अनुभव करते हैं। उनका यह प्रेम बात-बात में प्रकट होता है। परमात्मा के प्रति भक्ति-भाव में आँखें भर-भर लाते हैं। कीर्तन, भजन अथवा जाप करते समय धाराओं में रो पड़ते हैं। उनकी यह दशा देखकर कहा जा सकता है कि उन्हें समाज अथवा परमात्मा से प्रेम है। किन्तु वे ही लोग अवसर आने पर उसके लिये थोड़ा-सा भी त्याग करने के लिये तैयार नहीं होते। ऐसी प्रेमी अथवा भक्त-जन प्रेम से नहीं भावातिरेक से परिचालित होते हैं। सच्चे प्रेम का प्रमाण है त्याग। जो अपने प्रिय के लिए सब कुछ सुखपूर्वक त्याग करता है और जो उस त्याग के बदले में रत्तीभर भी कोई वस्तु नहीं चाहता, वही सच्चा प्रेमी है, भक्त है।

प्रेम में प्रदान के सिवाय आदन का विनिमय नहीं होता। वह विशुद्ध बलिदान, त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना है। सत्य प्रेमी अपने प्रियजन के हित और सुख के लिए सब कुछ दे डालता है और इस देने की भावना में दान अथवा प्राप्ति का कोई भाव नहीं रहता। किसी के लिये कुछ त्याग करते समय जब ऐसा अनुभव हो कि हम अपने लिए ही त्यागकर रहे हैं। अपने त्याग से दूसरे को मिलने वाला सुख जब अपनी आत्मा में अनुभव हो तब समझना चाहिये कि हमारे हृदय में सच्चे प्रेम का शुभारम्भ हो गया है। जिस दिन इस शुभ का आरम्भ हो जायेगा, संसार के सारे दुःख शरीर, मन और आत्मा के तीनों ताप नष्ट होने लगेंगे। हर समय एक अनिवर्चनीय आनन्द की शीतलता का अनुभव होता रहेगा।

प्रेम ही परमात्मा का अनुभूतिमय स्वरूप है। उसे प्राप्त करना ही मानव-जीवन का ध्येय होना चाहिये। इसकी प्राप्ति के लिये सबसे पहली शर्त है निःस्वार्थ होना। अपने हृदय का प्रेम अणु-अणु में स्थापित कर उसके लिए निःस्वार्थ त्याग का अभ्यास करने वाले ठीक उस मार्ग पर चल पड़ते हैं, जो कि उस परमपिता परमात्मा की ओर जाता है। इस प्रेम-भावना का विकास अपने से बढ़ा आत्म-प्रेम की परिधि को परमात्मा तक पहुँचाकर सरलता से किया जा सकता है।

अस्तु आत्म-कल्याण के इस क्रम को स्मरण रखते हुए मनुष्य को अपने जीवन का संचालन करना चाहिए—ज्यों-ज्यों प्रेम की परिधि बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों स्वार्थ घटता जाता है, ज्यों-ज्यों स्वार्थ घटता जाता है त्यों-त्यों त्याग-भावना की वृद्धि होती जाती है और ज्यों-ज्यों त्याग की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों आत्मा में आनन्द का आगमन होता जाता है और एक दिन ऐसा आता कि मनुष्य परमानन्द स्वरूप परमात्मा को पाकर भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

परमात्मा की प्राप्ति सच्चे प्रेम द्वारा ही सम्भव है

पूजा, पाठ, जप, ध्यान, अनुष्ठान आदि जो भी क्रियायें की जाती हैं, उनका मूल उद्देश्य परमात्मा के प्रति अपनी निष्ठा को गहरा करना होता है। ज्यों-ज्यों निष्ठा गहरी होती जाती है, त्यों-त्यों परमात्मा के प्रति प्रेम-भाव बढ़ता जाता है। यही प्रेम-भाव धीरे-धीरे परिपक्व होकर शक्ति का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार उपासना का मूल तात्पर्य ईश्वर के प्रति प्रेम का विकास करना ही है।

परमात्मा के प्रति विकसित प्रेम जब अपनी चरमावधि में पहुँचता है, तब केवल परमात्मा एक ही सीमित नहीं रहता। वह विश्व-रूप परमात्मा तक फैल जाता है। सच्चे भक्त और परमात्मा के सच्चे प्रेमी ही पहचान यही है कि उसका प्रेम भाव संसार के सारे जीवों के प्रति प्रवाहित होता रहता है। कोई व्यक्ति कितनी ही पूजा और ध्यान, जप आदि क्यों न करता हो, पर उसका प्रेम-भाव संकुचित हो, उसका प्रसार प्राणि-मात्र तक न हुआ हो तो उसे भक्त नहीं माना जा सकता।

भगवान् का भक्त, परमात्मा को प्रेम करने वाला अपनी आत्मा और समाज के नैतिक नियमों को प्यार करता है। कारण यह होता है कि नैतिक नियमों में व्यावहारिक रूप होता है। अध्ययन का सम्बन्ध आत्मा और आत्मा का परमात्मा से होता है। संसार में परमात्मा की ओर उन्मुख होने का यह क्रम है। भगवान् का भक्त इस पावन क्रम से विमुख नहीं हो सकता जो परमात्मा को प्रेम करेगा वह उससे सम्बन्धित इस क्रम में भी प्रेम-भाव रक्खेगा।

जिससे आदर्शवाद को प्रेम करना सीख लिया उसने मानो परमात्मा को पाने का सूत्र पकड़ लिया। परमात्मा के मिलन में अपार आनन्द होता है। लेकिन उसकी ओर ले जाने वाले इस क्रम में भी कम आनन्द नहीं होता। जो आत्मा द्वारा स्वीकृत समाज के नैतिक नियमों का पालन करता रहता है, आदर्शवाद का व्यवहार करता है, वह समाज की दृष्टि से ऊँचा

उठ जाता है। समाज उससे प्रेम करने लगता है। ऐसे भाग्यवान् व्यक्ति जहाँ रहते हैं, उसके आस-पास का वातावरण स्वर्गीय भावों से भरा रहता है। कटुता और कलुष का उसके समीप कोई स्थान नहीं होता जिस प्रकार का निर्विघ्न और निर्विरोध आनन्द परमात्मा के मिलन से मिलता है, उसी प्रकार का आनन्द आदर्शवाद के निर्वाह में प्राप्त होता है।

स्वर्ग की उपलब्धि किसी लोक विशेष की उपलब्धि नहीं है। वह अनुकूल और पावन परिस्थितियों का एक धार्मिक नाम है। जहाँ सुन्दर, सुखदायक और कर्त्तव्यपूर्ण परिस्थितियाँ होंगी, वह स्वर्ग ही माना जायेगा। ईश्वर के सच्चे भक्त में प्रेम की जो पावन-धारा बहती रहती है, उसके आधार पर उसके चारों ओर की परिस्थितियाँ भी प्रेमपूर्ण बनी रहती हैं। इसलिए भक्त जन हर समय स्वर्ग में ही निवास किया करते हैं।

साधना का मन्तव्य ईश्वरीय प्रेम प्राप्त करना ही माना गया है। यदि साधना सच्ची है तो उसका परिणाम प्रेम के रूप में ही मिलना चाहिये। सच्चे साधक का हृदय प्रेम की धारा में परिप्लावित हो जाता है। वह प्राणि-मात्र में अपनी आत्मा के दर्शन करने लगता है। आत्मीयता और उदारता प्रेम का ही तो रूप होता है। आत्मीयता का भाव मिलते ही संसार का दुःख-सुख साधक को अपने दुःख-सुख मालूम होने लगता है।

जिस प्रकार कुएँ में मुख डालकर आवाज करने से उसी प्रकार की आवाज कुएँ से निकलकर कानों में गूँजने लगती है, उसी प्रकार साधक के हृदय का प्रेम परमात्मा अथवा उसके व्यक्त रूप प्राणियों को प्राप्त होकर पुनः प्रेमी के पास ही वापस आकर उसे आत्म-विभोर कर देता है। इसका यह आशय नहीं कि परमात्मा अथवा प्राणी उसके प्रेम को स्वीकार नहीं करते और वह वैसे ही वापस कर दिया जाता है। बल्कि इसका आशय यह है कि जब साधक परमात्मा अथवा प्राणियों को प्रेम करता है तो उनकी ओर से भी प्रेम पाता है।

उदारता और त्याग सच्चे प्रेम की अनिवार्य विशेषतायें हैं। जिसके प्रति प्रेम का भाव रक्खा जाता है, उसके प्रति कुछ त्याग करने की इच्छा होती है। प्रेम का स्तर जितना ऊँचा होता है, त्याग का भाव भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है। भक्त भगवान् के लिये, प्रेमी अपने प्रेमास्पद के लिये सर्वस्व त्याग कर देने को तैयार रहते हैं। प्राणिमात्र से प्रेम होने के कारण साधक सदा ही सबके प्रति त्याग करने और कष्ट उठाने के लिये तैयार रहता है। समय आने पर वह त्याग करता भी है। तथापि सामान्य स्थिति में वह संसार की सेवा तो करता है और अपने उदार भाव का परिचय देता ही रहता है। उदारता और त्याग से रहित व्यक्ति को साधक नहीं माना जा सकता। प्रेम और त्याग का यह जीता-जागता उदाहरण भील बालक एकलव्य के चरित्र में पूरी तरह से देखने को मिलता है।

भील बालक एकलव्य धनुर्वेद सीखना चाहता था। उस समय धनुर्वेद के आचार्य द्रोणाचार्य थे। वे कौरवों और पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखाने के लिए नित्य ही जंगल में ले जाया करते थे। एक दिन एकलव्य उनसे जंगल में मिला और शिष्य रूप में स्वीकार कर धनुर्विद्या सिखलाने की प्रार्थना की। किन्तु जंगली जाति का होने के कारण द्रोणाचार्य ने उसे धनुर्विद्या की शिक्षा देने से इन्कार कर दिया।

किन्तु एकलव्य उससे निराश न हुआ। उसने मिट्टी से द्रोणाचार्य की मूर्ति बना और उसी में अपनी हार्दिक श्रद्धा और निष्ठा फलीभूत हुई। यह उस समय का अद्वितीय धनुर्धर बन गया और बाद में गुरु के कहने से अपना अगूँठा काटकर दे दिया।

मिट्टी के गुरु ने उसे कोई सहायता न की। सहायता की एकलव्य की अपनी गुरु-भक्ति ने जो कि उसके हृदय में निवास कर रही थी। इसके विपरीत यदि द्रोणाचार्य स्वयं भी उसे धनुर्विद्या सिखाते और एकलव्य के हृदय में भक्ति-भाव न होता तो वह जरा भी प्रगति न कर पाता। कौरवों के साथ यही घटित हुआ। उनमें गुरु-भक्ति की कमी थी, निष्ठा निर्बल थी। इसीलिये वणोनुपर्य द्रोण ने सिखलाने पर वे अच्छे धनुर्धारी न बन सके। जबकि उन्हीं के साथ अर्जुन के हृदय में गुरु के प्रति सच्ची भक्ति और निष्ठा थी, जिससे वह अपने युग का यशस्वी और अमोघ धनुर्धर बन सका।

यही बात ईश्वर उपासना के सम्बन्ध में है। उसकी उपासना चाहे साकार अथवा निराकार रूप से की जाये, यदि श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा आदि की प्रेम प्रवण भाव की कमी रहेगी तो उपासना का कोई भी प्रकार सफल न होगा। इससे स्पष्ट है कि उपासना में पूजा, पाठ, ध्यान, जप, तप आदि की उतनी महत्ता नहीं है, जितनी कि सच्ची प्रेम भावना की। उपासना के रूप में साधक जो भी जप-जप, पूजा-पाठ करता है, उससे वह अपनी निष्ठा और प्रेम-भावना को ही परिष्कृत एवं विकसित करता है। इस दिशा में वह जितनी-जितनी प्रगति करता जाता है उतना-उतना ही ईश्वरीय अनुभूति का अधिकारी बनता जाता है। साधना का सार प्रेम अथवा भक्ति को ही माना गया है, बाह्य आडम्बर को नहीं।

साधक यदि इस बात की खबर रखना चाहता है कि उसकी साधना समुचित रूप से विकास की ओर बढ़ रही है या नहीं, तो उसे यह देखना होगा कि उसके हृदय में प्रेम-भावना की वृद्धि हो रही है या नहीं। पूजा-पाठ तो वह बहुत करता है किन्तु उसकी भावना उसी प्रकार नीरस और कठोर बनी हुई है तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसकी साधना निष्फल जा रही है। विकास की दिशा में यह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ रहा है और यदि वह यह अनुभव करता है कि उसके हृदय में आत्मीयता, उदारता और प्रेम की भावना जाग रही है तो उसे विस्वस्त रूप से अपने पथ पर चलते जाना चाहिये। उसकी साधना सफलता की ओर जा रही होगी।

सच्ची तथा समुचित साधना का लक्षण यही है कि साधक के अन्तःकरण में प्रेम की सुधार प्रवाहित होती चले। उसे दूसरों का दुःख-सुख अपना जैसा अनुभव हो और प्राणि-मात्र में अपनी आत्मा और अपनी आत्मा में प्राणि-मात्र की आत्मा का दर्शन करे। जिस दिन साधक इस सार्वभौमिक प्रेम की अनुभूति करने लगेगा, उसी दिन से वह परमात्मा-मिलन की परिधि में प्रवेश कर जायेगा।

छल-कपट ईर्ष्या-द्वेष आदि दोष प्रेम-भाव के बाधक होने के कारण साधक को आगे बढ़ने से रोकते हैं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधक को इन पर विजय प्राप्त करना ही होगा। हृदय को परिष्कृत एवं विकसित बनाने के उपाय यही हैं कि या तो अपने हृदय में प्रेम-भावना का विकास किया जाय व उक्त दोषों का दमन किया जाय। इन दोनों उपायों का परिणाम एक ही होगा। प्रेम का विकास करने से प्रेम में वृद्धि होगी और दोषों का दमन हो जायेगा और यदि दोषों का दमन कर दिया जायेगा तो अवरोधों के टूट जाने के हृदय में प्रेम भावना का विकास स्वयं ही होने लगेगा। तात्पर्य यह कि ईश्वर-मिलन और आध्यात्मिक सफलता के लिए साधक के हृदय में प्रेम-भाव का विकास तथा अभिवृद्धि होनी चाहिये। उसके लिये उपाय कोई भी क्यों न अपनाया जाये ?

त्यागपूर्ण सेवा-भाव को प्रेम का प्राण माना गया है। प्रकट और अनुभव कितना ही क्यों न किया जाय, किन्तु यदि उसमें त्याग और सेवा-भाव नहीं है तो वह सच्चा-प्रेम नहीं है। वह अनुभूति आसक्ति अथवा मोह का ही एक रूप होगी। मोह अथवा आसक्ति आध्यात्मिक अवगुण है। इनके रहते हुये विकास की वांछित दिशा में नहीं बढ़ा जा सकता। प्रेम आत्मा की शक्ति है और मोह अथवा आशक्ति उसकी निर्बलता, निर्बलता को साथ लेकर ईश्वर-मिलन के उच्च-पथ पर चढ़ सकना सम्भव नहीं।

प्रेम की वंचना में मोह अथवा आसक्ति का परिपालन न होने लगे, साधक को इस बात की सावधानी रखनी चाहिये। यदि उसे किसी आस्पद से प्रेम तो अनुभव होता है पर उसके लिये त्याग करने की, उसकी सेवा करने की जिज्ञासा नहीं होती तो विश्वास कर लेना चाहिए कि वह अपनी आत्मा में प्रेम नहीं मोह का ही विकास कर रहा है। ऐसी दशा में उसे तुरन्त सावधान होकर अपना सुधारकर लेना चाहिए।

जिसे प्रति सच्चा-प्रेम भाव होगा उसके प्रति त्याग और सेवा का भाव उदय होना स्वाभाविक है। सच्चा-प्रेमी अपने को कष्ट देकर, अपने को निर्लोभ और निःस्वार्थ रख अपने प्रेम-पात्र को अधिकाधिक सुख पहुँचाने का प्रयत्न करता है। अपने प्रेमास्पद ईश्वर को प्रसन्न करने, उसे सुख पहुँचाने के लिए उसकी भी सेवा करनी

होगी, उसके लिए त्याग करना होगा। किन्तु ईश्वर स्थूल रूप से तो प्राप्त नहीं होता और न इसे सीधे-सीधे किसी के त्याग की आवश्यकता होती है। ऐसी दशा में कैसे तो उसे सुख पहुँचाया जा सकता है और कैसे प्रसन्न किया जा सकता है ?

इसका एक सरल और सुन्दर-सा उपाय यही है कि इम ईश्वर के प्रति जिस त्याग को करना चाहते हैं, उसकी जो सेवा करना चाहते हैं, उसका लाभ उसके अंश संसार के अन्य जीवों को पहुँचायें। संसार के सारे जीवों में परमात्मा का निवास है। उनको दी हुई हर सेवा उस एक ईश्वर को ही प्राप्त होती है। प्राणियों की सेवा ईश्वर की ही सेवा है और उसके लिए किया हुआ हर त्याग उसके प्रति ही किया गया माना जायेगा।

इस प्रकार ईश्वर-मिलन के उपाय को इस प्रकार सारांश में समझकर उसकी साधना करनी चाहिये। जप-तप, पूजा-पाठ, योग-अनुष्ठान द्वारा अपनी आत्मा में प्रेम-भाव का विकास करते हुए, उसकी सच्चाई के प्रमाण में सेवा पूर्ण त्याग का लाभ प्राणिमात्र के देते हुए परमात्मा को प्रसन्न करते रहना चाहिये। धीरे-धीरे वह समय आ जायेगा जब परमात्मा प्रसन्न होगा और साधक को अपनी करुणामयी, आनन्दमयी और कल्याणमयी गोद में स्थान देगा। जीवन की सारी साधना सफल हो जायेगी और उसके सारे मूल्य का एक साथ मिल जायेंगे।

प्रेम-साधना हमें परमात्मा से मिला देती है

परिश्रम के पश्चात् विश्राम, क्षुधा के पश्चात् भोजन और कष्ट के पश्चात् सुख का आनन्द मिलता है—इसी प्रकार मिलन का आनन्द बिछोह के बाद ही मिलता है। दो स्नेहीजन एक स्थान पर रहकर जब नित्य मिलते हैं तो नवीनता समाप्त हो जाने का मिलन का आनन्द शिथिल हो जाता है। किन्तु जब वे दोनों सुहृदय कुछ समय अलग रहने के बाद मिलते हैं तो मिलन का आनन्द सहस्रों गुना हो जाता है।

परमात्मा एकांकी था। उसे अपने एकाकीपन से विरक्ति हुई और चाहा कि एक-से बहुत हो जाऊँ। उसके अन्तर में 'एकोहं बहुस्यामि' की ध्वनि होते ही सृष्टि रचना का काम आपने आप प्रारम्भ हो गया और जड़-चेतनमय यह सारा संसार बनकर तैयार हो गया।

संसार और कुछ नहीं एक परमात्मा का ही अंश है। उसी से उत्पन्न हुआ है और उसी में लीन हो जायेगा। चेतन सृष्टि परमात्मा का विशेष अंश है और उसमें व्यक्ति विशिष्ट—वह परमात्मा की समीपता के क्रम में सबसे आगे और सबसे पहले हैं। व्यक्ति अन्य जीवों की अपेक्षा परमात्मा के अधिक निकट है। इन दोनों के बीच पारस्परिक प्रेम की धारा भी अधिक गहरी है। यों तो परमात्मा को अपनी सृष्टि के अणु-अणु से प्रेम है। किन्तु तब भी व्यक्ति से कुछ अधिक प्रेम-भाव है। इसका कारण यह है कि अन्य सृष्टि उत्पत्ति जहाँ माया के माध्यम से हुई है, वहाँ मनुष्य जीवात्मा के रूप में उसका सीधा-सीधा अपना अंश है, जिसे व्यक्ति ने अपने विवेक द्वारा समझकर उसके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर ली है।

तो मनुष्य परमात्मा का विशिष्ट अंश है। उसने 'बहुस्यामि' की इच्छा से अपने इन अंशों को अपने से पृथक् कर संसार में बिखेर दिया है। इसलिये कि बिछोह के बाद मिलन का अनिवर्चनीय आनन्द प्राप्त हो सके। इस मिलन का माध्यम क्या हो सकता है प्रेम और केवल प्रेम। बिछोह से बड़ी प्रेम की तड़पन ही वह साधन, जो व्यक्ति को परमात्मा की ओर और परमात्मा की व्यक्ति की ओर आकर्षित करती है। इसीलिये प्रेम की शक्ति को परमात्मा मिलन की बहुत बड़ी साधना माना गया है। जिन दो के बीच प्रेम नहीं होता वे परस्पर कभी नहीं मिल पाते।

परमात्मा से मिलन का आनन्द एक लम्बी साधना और लम्बी अवधि के बाद होता है। इस बीच-बीच अपने प्रेम की कसौटी की अभिव्यक्ति कहाँ करे ? किस माध्यम से अपनी इस आनन्ददायक वेदना को सहन करे ? इसका एक ही उपाय है। परमात्मा के अंश जीवन-मात्र से प्रेम किया जाय। जिस प्रकार प्रियजन की वस्तुएँ

और उसके अनुबन्ध भी प्रिय होते हैं, विरही उनमें ही अपने प्रेमास्पद का प्रतिबिम्ब देखकर उसकी याद में सन्तोष कर लेता है, उसी प्रकार जीवों का पारस्परिक प्रेम उस एक परमात्मा के प्रति प्रेम का ही एक प्रकार है, और यही कारण है कि जहाँ परस्पर प्रेम, सौहार्द्र और आत्मीयता होती है, वहाँ भावरूप परमात्मा की उपस्थिति मानी जाती है और उसी के मिलन जैसा आनन्द छाया रहता है। मनुष्य का पारस्परिक प्रेम परमात्मा से ही प्रेम का एक रूप है।

मानव-जीवन परमात्मा की महती कृपा है। व्यक्ति और कुछ भी तो नहीं, परमात्मा का ही एक अंश है, जिसको परमात्मा ने स्वयं ही अपने से पृथक् कर पुनर्मिलन के लिए निर्मित किया है। परमात्म मिलन ही मानव-जीवन का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति प्रेम द्वारा ही हो सकती है। जिन मनुष्यों के बीच परस्पर प्रेम, सौहार्द्र और सहयोग की भावना रहती है, जो दूसरों से प्रेम और प्राणी मात्र पर दया का भाव रखते हैं और सबके प्रति स्नेह एवं शिष्टता का व्यवहार करते हैं, वे सब परमात्मा से मिलने के अपने ध्येय की ओर ही अग्रसर होते रहते हैं।

परमात्मा से मिलन का उपाय साधना, उपासक तथा योग आदि भी बतलाया गया है। किन्तु यह उपाय भी तभी सफल होते हैं, जब इनमें भी प्रेम की प्रधानता होती है। यह प्रेम श्रद्धा, भक्ति, आस्था, विश्वास आदि किसी रूप में भी हो सकता है। श्रद्धा अथवा प्रेम से रहित कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। प्रेम की व्याकुलता ही परमात्मा से मिलाने में समर्थ है। इसके बिना सारे तप कठोर तितिक्षा के सिवा और कुछ नहीं होते।

अध्यात्मक का मूल मन्त्र प्रेम ही बताया गया है। भक्ति-साधना से मुक्ति का मिलना निश्चित है। जिस भक्त को परमात्मा से सच्चा प्यार होता है, वह भक्त भी परमात्मा को प्यार होता है। उपनिषद् का यह वाक्य 'रसो वे सः' इसी एक बात की पुष्टि करता है—परमात्मा प्रेम रूप है' इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि जिसने प्रेम की सिद्धि कर ली है, उसने मानो परमात्मा की प्राप्ति कर ली है अथवा जहाँ प्रेमपूर्ण परिस्थितियाँ होंगी वहाँ परमात्मा का वास माना जायेगा। परमात्मा की प्राप्ति आनन्द का हेतु होता है।

प्रेम का आनन्द अनिवर्चनीय है। वह एक ऐसा आनन्द होता है, जिसकी तुलना में संसार का दूसरा कोई आनन्द नहीं रक्खा जा सकता। प्रेम की इस अनुभूति का आनन्द कबीर ने लिया और एक स्थान पर कहा है—"राम बुलावा भेजिया कबिरा दीना रोय। जो सुख प्रेमी संग में सौ बैकुण्ठ न होय। भक्त प्रेम के आनन्द में बैकुण्ठ का निवास तुच्छ मानता है उसको प्रेम के वातावरण से निकालकर प्रेमीजनों से पृथक् करके स्वर्ग ले जाने की बात कही जाती है तो वह रोने लगता है, उसे अपार दुःख होने लगता है। प्रेम का आनन्द ऐसा ही आनन्द है।

किन्तु प्रेम में इस प्रकार के अनिवर्चनीय आनन्द की प्राप्ति तभी होती है, जब वह सच्चा हो, निःस्वार्थ हो। झूठा प्रेम तो शत्रुता की नींव होता है, दुःख और क्लेश का आधार होता है। बहुत बार लोग अपने मतलब से बड़ा प्रेम दिखलाने लगते हैं। बहुत-से लोग इस प्रवंचना में आ भी जाते हैं। मतलब निकल जाने अथवा उस विषय में निराश हो जाने पर स्वार्थी व्यक्ति का प्रेम समाप्त हो जाता है और तब वह अपने सामयिक प्रेमास्पद की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, मिलने पर पीठ फेर लेता है। उसका वह व्यवहार वहीं से बुराई, मनोमालिन्य अथवा शत्रुता का सूत्रपात कर देता है। इसलिये कहा गया है कि एक बार प्रेम भले ही न किया जाये, पर स्वार्थपूर्ण प्रेम का नाटक न किया जाये नहीं तो इसमें हित के स्थान पर अहित होता है। आनन्द के स्थान पर दुःख मिलता है।

आनन्द, सन्तोष, प्रफुल्लता और आत्म-भाव आदि की दिव्य अनुभूतियाँ वहीं प्राप्त हो सकती है, जहाँ निर्मल और निःस्वार्थ प्रेम की पावन गंगा बहती है। जिन परिवारों, मित्रों और सुहृदयजनों के बीच सच्चा-प्रेम रहता है उनके बीच क्या सम्पन्नता और क्या विपन्नता—किन्हीं भी स्थितियों में कलह, क्लेश और विवाद नहीं होता। उनका सारा जीवन एक स्निग्ध पुष्करिणी की भाँति आनन्द की शीतलता और सरलता से भरा रहता है। यह मानव-जीवन की एक महान्

उपलब्धि है। प्रेम विहीन जीवन एक शुष्क मरुस्थल के समान होता है। उसमें रस अथवा आनन्द का एक कण भी मिल सकता, फिर चाहे उसमें कितनी ही धन-दौलत और सुख साधन क्यों न भरे हों ?

प्रेम द्वारा शत्रु को भी वश में किया जाता सकता है। प्रथम तो जो प्रेमी हृदय होते हैं, वे स्वभावतः अजातशत्रु होते हैं। संसार में उनसे द्वेष करने वाला कोई नहीं होता और यदि अपने दुष्ट स्वभाव-वश कोई उनसे द्वेष मानने भी लगता है तो भी वह उनके सम्मुख आकर विनत हो जाता है। सच्चे सन्त और महात्माओं को न जाने कितने चोर डाकू मिले और उन्होंने उनको हानि पहुँचानी चाही। किन्तु पास जाते ही उनके आन्तरिक प्रेम से प्रभावित होकर पैरों पर ही गिरे हैं। बहुत से डाकू और दुष्ट लोग महात्माओं की प्रेमानुभूति से विवश होकर संत तक बन गये हैं।

आकस्मिक घटनाओं को यदि छोड़ दिया जाय तो भी ऋषि-मुनियों के आश्रम का हाल पढ़कर भी इस सत्य की पूर्णतः पुष्टि हो जाती है। पूर्वकालीन ऋषि आश्रमों में शेर, चीते आदि हिंस्र जन्तु भी आते थे और ऋषियों से बोलने की बात तो दूर वे अपने स्वभाव विरोधी गाय और हिरनों से भी नहीं बोलते थे। उनके साथ उठते, बैठते और खेलते थे। इसका कारण और कुछ नहीं, ऋषि का वह सच्चा प्रेम ही होता था, जो जीव मात्र की मैत्री के रूप में उसके अन्तर में प्रवाहित होता रहता था। उसी के सम्पर्क में आकर सारे जीव अपना द्वेष-भाव भुल जाया करते थे।

सांसारिक जीव ही नहीं, ईश्वर तक प्रेम के वश में हो जाता है। 'भक्त के वश में भगवान्'—यह कथन आज नया नहीं है। यह युगों से अनुभूत किया हुआ एक सत्य है। जिन महात्माओं, सन्तों और साधुजनों ने भगवान् की भक्ति की है, उससे निश्छल प्रेम किया है, उन्होंने भगवान् को अपने वश में कर लिया है। उसे दर्शन देने के लिये मजबूर कर लिया है। तुलसी, सूर, नानक आदि सन्त इसके प्रमाण हैं। प्रेम का यह प्रभाव कोई चमत्कार नहीं है। बल्कि यह एक आध्यात्मिक तथ्य है। प्रेम की हिलोरें जिस मानस में उठती रहती हैं, जो सहृदय भक्त संसार के अणु-अणु में अपने प्रेमास्पद परमात्मा को ही देखता है, उसकी आत्मा का स्तर असाधारण कोटि तक उन्नत हो जाता है। उसमें समग्र दिव्य गुणों का विकास हो जायेगा। उसके चरित्र और आचरण में आदर्शवाद का समावेश हो जायेगा, जिससे वह महान् और पवित्र कर्म ही करेगा। समाज अथवा आत्मा विरोधी कर्म उससे हो ही नहीं सकता। ऐसे सुकर्मी और पवित्र भक्त पर परमात्मा स्वयं ही आसक्त हो जाता है और उसकी पुकार पर प्रकट होकर दर्शन देता है।

यह प्रेम का ही प्रभाव है जो पाषाण को भी भगवान् बना देता है। मूर्ति क्या है ? पाषाण की एक प्रतिमा मात्र। उसमें अपनी व्यक्तिगत विशेषता कुछ नहीं होती। किन्तु यही साधारण प्रस्तर प्रतिमा तब परमात्मा के रूप में बदल जाती है और वैसा ही प्रभाव सम्पादन करने लगती है, जब भक्तों की प्रेम भावना उसमें समाहित हो जाती है। भक्त का प्रेम पाते ही पाषाण-खण्ड अपनी शोभा, आकर्षण तेज और प्रभाव में सजीव हो उठता है। प्रतिमा पूजन का तत्व-ज्ञान यही है कि परम परमात्मा, ब्रह्मा, सामान्यजनों के लिये अज्ञेय और असाध्य होता है। उससे प्रेम किया जा सकता है, उसकी भक्ति भी की जा सकती है, किन्तु यह भावना मानसिक अस्थैर्य के कारण निराधार रह जाता है।

मनुष्य की भावना एक आधार चाहती है, एक ऐसा अवलम्ब चाहती है, जिसका सहारा लेकर वह ठहर सके और अपनी वांछित दिशा में विकसित भी हो सकते हैं। मानव की भक्ति-भावना को आधार देने के लिये ही मूर्ति-पूजा का आविष्कार किया गया है। युग-युग से परमात्मा का प्रतीक के रूप में मूर्ति-पूजन होता आ रहा है और लोग उस माध्यम से आनन्द और सद्गति पाते चले जाते हैं। इस प्रयोग में एक महान् आध्यात्मिक तथ्य वर्तमान है। वह यह कि जिस किसी में, अपनी भावना का आरोपण कर प्रेम किया जायेगा, वह वस्तु चाहे जड़ हो या चेतन, सजीव हो अथवा

निर्जीव व्यक्ति की भावना के अनुसार ही फलीभूत होने लगती है।

मूर्ति पत्थर अथवा धातु की बनी एक निर्जीव प्रतिमा होती है। किन्तु भक्त से परमात्मा से परमात्मा की भावना पाकर वह उसके लिये भगवान् ही बन जाती और तदनुसार ही फल देने लगती है। तथापि मूर्ति में यह विशेषता आती तब ही है, जब भावना के साथ अखण्ड आस्था और असंध श्रद्धा का भी समावेश हो।

प्रेम संसार का अमृतत्व माना गया है। अमृत की तरह ही इसमें आनन्द और अमरता का गुण होता है। प्रेमी का हृदय प्रतिक्षण आनन्द से परिप्लावित रहता है और परमात्मा से सान्निध्य पाकर वह अमर पद तो पा ही लेता है। इसलिये इन दोनों स्थितियों को पाकर मानव जीवन को सफल और सार्थक बनाने के लिये प्रेम की साधना करनी ही चाहिये। यह साधना अपने आस-पास से प्रारम्भ कर जीव मात्र को लेते हुये निखिल ब्रह्माण्ड तक विस्तृत की जा सकती है, और प्रेम ही परमात्मा है इस तथ्य वाक्यांश को अपने इसी जीवन में चरितार्थ कर मुक्ति और मोक्ष का लाभ उठाया जा सकता है।

ईश्वर का प्रतिविम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक

एक आदमी ने सूफी सन्त खुसरो के समीप जाकर पूछा—"आपको रात में नींद भी आती है अथवा रात में भी ईश्वर की याद में रोया करत हो। खुसरो ने उत्तर दिया—

मन कुजा खुसपम् कि अज फरयादे मन।

शब न मीखुसपद् कसे दर कूए तो।।

ऐ भाई ! मुझे नींद कहाँ आती है स्थिति तो यह है कि मेरे रोने से पड़ोसी भी नहीं सो पाते।

प्रेम मानवीय गुणों का, भक्ति का वह स्वरूप है जो सांसारिकता हो या आध्यात्मिकता दोनों के लिये इतनी शक्ति, उष्णता और क्रियाशीलता प्रदान करता है जितनी अन्य कोई भी भावना पैदा नहीं कर पाती। सच पूछा जाये तो—

गर न हुई दिन में मए इश्क की मस्ती।

फिर क्या दुनियादारी क्या खुदा परस्ती।।

अर्थात्—यदि अन्तःकरण में प्रेम न हो तो न तो सांसारिकता में कुछ मजा आता है और न ही ईश्वर की भक्ति में। प्रेम में वस्तुतः इस लोक में लोक-संचालन व व्यवस्था का मूलाधार है। प्रेम ही वह तत्व है जिसका विकास हुये बिना परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

ऐसा जानने से पहले प्रेम की पहचान आवश्यक है, प्रेम एक अनादि तत्व है, दर्शन है। भौतिक सुखों की आकांक्षा का नाम प्रेम नहीं है, रूप-सौन्दर्य पर दीवानगी का नाम भी प्रेम नहीं है। प्रेम कर्त्तव्य और आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा का नाम है। एक बार शायर बलदेव के पास एक युवक ने जाकर पूछा—श्रीमान् मुझे युवती से प्रेम है मैं चाहता हूँ कि वह हर-क्षण मेरे पास रहे और कहीं न जाये, इस पर बल्देव ने उत्तर दिया—

हुस्न पर मुश्ताक होना हर किसी को पसन्द है।

'बल्देव' सादिक यार दिलोजाँ निसारी और है।।

अरे मित्र ! सौन्दर्य पर न्योछावर होना कोई बड़ी बात नहीं, यह तो हर कोई कर सकता है अच्छी वस्तु किसे नहीं लुभाती पर श्रेष्ठ वस्तु की आकांक्षा तो वही सार्थक है, जो उस पर अपना हृदय, अपना प्राण भी निसार कर सकता हो। हृदय और प्राण दिये जाने का अर्थ अपनी क्षमताओं का औरों के उत्थान में प्रयोग करना है। सच्चे प्रेम का अर्थ है हमारे पास जो भी ज्ञान, वैभव, विभूतियाँ हैं उनसे अपने प्रेमास्पद की इच्छाओं, आकांक्षाओं और वृत्तियों का विकास किया जाये उसे यशस्वी बनाया जाये। ऐसे प्रेम में पाना कम, खोना ही अधिक है।

प्रेम 'रस' ढककर रखा जाता है। दिखावट—उसे खोलकर रखना विकृति उत्पन्न करता है सांसारिक प्रेम अपने प्रियस्पद के प्रति कर्त्तव्य और आत्मोन्नति के रूप में स्वतः व्यक्त होता है इस प्रकार ईश्वरीय प्रेम लोक-सेवा, दया, क्षमा, करुणा, उदारता आदि दैवी गुणें में स्वतः

अभिव्यक्त होता है न तो सांसाराभिमुख प्रेम को चिल्लाकर व्यक्त करना आवश्यक है और न ही भक्ति प्रेम का बखान—

जिन्हें है इश्क सादिक से कहाँ फर्याद करते हैं।
लबों पर मुहरे खामोशी दिलों से याद करते हैं।।

जो सच्चे प्रेमी होती हैं वे अपना प्रेम दिखाते नहीं फिरते, उनका मुँह बन्द और दिल याद करता रहता है।

वस्तुतः प्रेम एक शक्ति है यदि उसे बाँधकर न रखा जाये तो वह जीवन का बहुमुखी विकास कर सकने की अपेक्षा इधर-उधर बिखरकर नष्ट ही हो जाती है। ईंधन इंजन के भीतर जलाया जाता है, वह शक्ति देता है, ताकत देता है कि उस इंजन और इंजन के साथ जुड़े हुये हजारों डिब्बों और यात्रियों को खींचकर गन्तव्य तक पहुँचा देता है। वही आग पटरी से बाहर बिखरी होती तो वहाँ न कोई गति होती न प्रगति। भौतिक प्रगति का पथ हो अथवा आत्मोन्नति का, ईश्वर दर्शन का मार्ग प्रेम को भीतर ही छिपाकर रखा जाता है।

हृदय में जगाया प्रेम नष्ट नहीं होता निरर्थक नहीं जाता। वह प्रेम यदि भौतिक है तो अन्तः वृत्तियों को विकसित कर जीवन में क्रियाशीलता स्वावलम्बन, कला निपुणता, अनुशासन और कर्त्तव्य परायणता के भाव पैदा करता है अपनी पत्नी से प्रेम करके कोई उसके पास बैठा नहीं रहता वह जानता है बैठना तो किसी भी क्षण के लिये सम्भव है फिर बैठना तो जीवन की इतिश्री, आल्हाद और उल्लास को खो देना है वह अपनी पत्नी को सजाने सँवारने की आवश्यकता अनुभव करता है उसे कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है, वह स्वयं क्रियाशील होती है, विकास की नई विधियाँ खोजता है और अपने आपको सांसारिक द्वेष, आकर्षणों से बचाकर भी रखता है, क्योंकि उसका लक्ष्य तो उसके पास है भटकने की उसे कहाँ फुरसत।

इस प्रकार परमात्मा का प्यार मानसिक का शक्तियों को बुद्धि को सूक्ष्म बनाता है, प्रज्ञाचक्षु ईश्वर के भक्त ही होते हैं, आत्म-परायण व्यक्ति तीन काल की बातें जान लेने जितना पवित्र हो जाता है। काव्य सृजन की क्षमता, दूरदर्शिता वाक् सिद्धि भाव विव्हलता यह सब ईश्वरीय प्रेम की ही किरणें हैं—ईश्वरीय प्रेम से अन्तः सामर्थ्यों का विकास ध्रुव सत्य है। ऐसे प्रेमी के लिये प्रियतम तो अपने आप न्योछावर होता है—

कबीर मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।
पीछे-पीछे हरि फिरत कहत कबीर-कबीर।।
साँवलिया मैंने चाकर राखो सी। —मीरा

प्रेमी की चाह तो एक ही होती है प्रेमी की याद न भूल जाये उसे तो प्रेमी के प्रेम के अतिरिक्त और किसी वस्तु की इच्छा क्यों होने लगी ?

दिल देके लिया करते हैं सौदा यही उश्शाक।
सौबाई कभी दूसरा सौदा नहीं करते।।

अन्तःकरण का प्रेम, प्रेम से ही सन्तुष्ट होता है प्रेम की अपनी मस्ती ही क्या कम सुखद है, जो उसके आगे किसी और सुख की आकांक्षा की जाये। एक-दूसरे के लिये निरन्तर जलने से रयि-प्राण के मिलन जैसा आनन्द मिलता है प्रत्यक्ष देखने में विरह की जलन और दर्द के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता पर—

मिल वह दर्द में लज्जत कि जखमैदिल पै गर कोई।
छिड़कता है नमक तो हम उसे मरहम समझते हैं।।
वस्ल में हिज्र का गम, हिज्र में मिलने की खुशी।
कौन कहता है जुदाई से बिसाल अच्छा है।।

विरह का, प्रेम के दर्द का अपना रस है अपनी अनुभूति है उसमें तो दूसरों के द्वारा दिया दुःख भी अच्छा लगता है। मिलना बिछुड़ना दोनों में एक-सा सुख यही प्रेम की विशेषता है। परमात्मा दो विपरीत शक्तियों की एकीभूत सत्ता ही तो है इसलिये तो कहते हैं जहाँ प्रेम है वहाँ परमात्मा है। प्रेम हृदय का प्रकाश है। ईश्वर का प्रतिविम्ब प्रेम ही है।

प्रेम-अमृत का झरना

परमेश्वर का कराल मुख अग्नि-जिव्हा की तरह है और उससे प्रेम करना यज्ञ। वह यज्ञ जिसमें देह, प्राण, मन, वस्तु, परिस्थिति, ममता, राग, कामना, मोह आदि को समिधायें बनाकर स्वाहा किया जाता है। प्रेम की परीक्षा यही तो

है कि हम अपनी प्रिय वस्तुओं का प्रेमी के लिये कितना निःस्वार्थ उत्सर्ग कर सकते हैं। जब तक विवाह नहीं होता व्यक्ति केवल अपने हित की बात सोचता है, अपने लिये सबसे अच्छा खाना, सबसे अधिक खर्च, सबसे अच्छे साधन चाहता है। उनमें कोई त्रुटि हो, अभाव दिखाई दे तो वह लड़ने-झगड़ने पर उतारू हो जाता है। और किसी को भी उसी तरह अधिक पाने की इच्छा और अधिकार का उसे किंचित भी ज्ञान न था क्योंकि उसे मालूम नहीं था कि प्रेम जैसी, उत्सर्ग जैसी सुखद वस्तु भी संसार में कुछ है। जब तक लेना ही लेना, स्वार्थ ही स्वार्थ था अधिक पाकर भी उसके मन में सन्तोष और तृप्ति न थी।

फिर विवाह हो गया और नई दुलहिन आ गई। दुलहिन के अंग-प्रत्यंग, नाक-नक्शा, पहराव-ओढ़ाव में अपनी बहन, बुआ, भावज से थोड़ा ही अन्तर था किन्तु वह एक समर्पण का भाव—"मैं केवल तुम्हारी हूँ" ऐसा भाव लेकर जो आई थी इसलिये अब उस व्यक्ति के सुख और स्वार्थ, सन्तोष और तृप्ति का माध्यम धर्मपत्नी हो गई। अपना आपा नष्ट हो गया। धर्मपत्नी को आत्म-समर्पण का लाभ यह मिला कि उसे न जाने क्या-क्या मिल गया पर खोया उस व्यक्ति ने भी नहीं। देखने में नववधु ने उसके स्थूल सुखों को छानना प्रारम्भ कर दिया किन्तु वह जानता है कि बदले में उसे जो प्रेम मिल रहा है, उस सुख की तुलना में वस्तुओं का सुख तुच्छ और नगण्य है। इसलिये अब उसे अपना ध्यान नहीं रहता। वह अपन की अपेक्षा अपनी पत्नी की सुख-सुविधाओं की चिन्ता करने लगता है। प्रेम की इस परीक्षा में दोनों ने ही जो कुछ पाया उस पर उससे भी अधिक न्यौछावर किया जा सकता है, यह कोई नव-विवाहित दम्पत्ति ही जानते हैं।

परमात्मा के प्रेम का अमृत समुद्र की तरह गहरा और अथाह है। सामान्य हाड़-माँस के शरीर वाले सौन्दर्य के प्रति प्रेम-भाव से मनुष्य को थोड़ी देर के लिये ऐसी तृप्ति मिलती है कि मनुष्य उसकी बार-बार याद करता है और भटक-भटक जाता है किन्तु प्रेम के अगाध सागर के पास पहुँचकर द्वन्द्व और भटकने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह तो प्रेम का निरन्तर बहने वाला झरना है, जो कभी सूखता नहीं और जिसके पास पहुँचकर तृप्ति कभी खुटती नहीं।

किन्तु ऐसा प्रेम, प्रार्थना और थोड़ी-सी पूजा तक ही सीमित नहीं रह सकता। जब नाशवान् वस्तुओं का प्रेम आँखों में नशा बनकर छा जाता है एक प्रेमी की मूर्ति के अतिरिक्त और कुछ सुहाता नहीं, मन में उसी की भाव-भंगिमाओं, मधुर निःश्वास और मीठी-मीठी बातों के अतिरिक्त कुछ टिकता नहीं तो परमेश्वर के बारे में यह कल्पना कैसे कर ली जाये कि वह थोड़ी देर को प्रार्थना पूजा से भावनाओं में मस्ती बनकर उतर आयेगा। उसके लिये तो मीरा, सूर, तुलसी, गोरखनाथ, रैदास, कबीर, चैतन्य महा-प्रभु, नानक और सन्त गोविन्ददास की तरह बस एक ही रट—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई" अंखियाँ हरि दर्शन की भूखीं", "राम प्रान-प्रिय जीवन जी के", "मन रे राजा राम होई ले निरदन्द", दरसन तोरा जीवन मोरा, बिन दरसन क्यों जीवै चकोरा", "राम न भूला दास कबीर", "न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये", "तुमरी अस्तुति तुम ते होई" और वल्लभ चरण लग्यो चित मेरो" लगानी पड़ती है। अपने अहंभाव को भूलकर उस विशाल-बाहु, सहस्राक्ष, सहस्रपाद, परमेश्वर की प्रेमानुभूति का सुख मिलता है। इन सन्तों के पास कोई जमीन, जायदादें और जागीरें नहीं थीं। प्रेम की सत्ता पर ही वह स्वर्गीय सुखों का रसास्वादन जब तक जिये करते रहे और मरे तो—मुआ कबीर रमत श्रीराम—ईश्वर में ही विलीन हो गये।

पूर्ण समर्पण का ही दूसरा नाम ईश्वर-प्रेम है पर समर्पित सभी वस्तुओं के बदले में उसी गुण और स्वभाव का अनन्त गुना सुख प्रेमी को मिलता है। देह भगवान् की हो जाये तो फिर वासनाओं से क्या लगाव ? उसकी वस्तु उसी के लिये। फिर उस पर अनावश्यक कामनाओं का बोझ क्यों ? जो रूखा-सूखा मिले वही खाना जहाँ सौर भर की जगह मिले वही सो जाना उस संयमी के लिये रोग शोक, हारी-बीमारी की

क्या चिन्ता ? उसके लिये सर्वत्र सन्तोष ही सन्तोष के दर्शन होते हैं।

प्राण परमेश्वर को दे दे तो वह और भी बढ़ता ही है। प्राण छोटी-सी मात्रा को किसी लौकिक कार्य में नियोजित कर के तल्लीनता का अपार सुख मिलता है पर उससे प्राण का विनिमय होता है। जिस तरह शारीरिक शक्ति देकर कामोपभोग का क्षणिक सुख प्राप्त किया जाता है प्राण के मूल्य पर ही तो सांसारिक भोग आकर्षित किये जाते हैं पर अपने प्राणों को जब प्रेमी भगवान् के प्राणों से जोड़ देता है तो उसकी अपनी मेधा, प्रज्ञा और ऋतम्भरा बुद्धि का विकास होता है। तालाब के पास गड्ढे का पानी भला तालाब को क्या भरेगा ? अपने पानी से भर कर उस नन्हें से गड्ढे को भी तालाब बना देने की क्षमता के समान प्रेमी मनुष्य को अपनी तरह का भगवान् बना देने की क्षमता परमेश्वर में ही है इसलिये उसके लिये हवन किया हुआ प्राण कभी निरर्थक नहीं जा सकता।

मन, वस्तुयें, परिस्थितियाँ और सांसारिक सुखों को भगवान् के लिये जितना ही उत्सर्ग करते हैं उतना ही आमोद बढ़ता है। जिस प्रकार होम की वस्तुयें अधिक सूक्ष्म और व्यापक होकर प्रभावित करती है, होम किये हुये सांसारिक सुख भी सूक्ष्म होकर आत्मिक सुख, श्री शक्ति और सौन्दर्य प्रदान करते हैं। जब सब कुछ छोड़कर सहज स्थिति में अपने आपको खाली बना लिया जाता है तब केवल परमात्मा के प्यार का अन्तःकरण में दोहन होता है और उस निर्झरित प्रेम प्रवाह की मस्ती में प्रेमी भक्त संसार के सब कुछ दुःखों को भूल जाता है। उस प्रेम का अन्त नहीं होता, उस सौन्दर्य की इति नहीं होती और उस आनन्द का कोई बारापार नहीं होता। वरन् रस और जीवन का माधुर्य बढ़ता ही जाता है।

ऐसे प्रेमी को अपने सुखों की लेशमात्र भी इच्छा नहीं रहती। इच्छायें सदैव विचारपूर्ण रहती हैं और जब जब मन में विकार आता है आत्मा के उजलेपन में अन्धकार छा जाता है। विकार का अँधियारा बढ़ते-बढ़ते वह एक दिन आत्मा का घटाटोप की तरह छा लेती है और दिव्य ईश्वरीय प्रकाश कूड़े में पड़े मोती की तरह निरर्थक हो जाता है। मनुष्य भटकता रहता है, फिर कभी अनायास ही वह प्रकाश मिल जाये तो हरि इच्छा अन्यथा विकार-प्रसूत ८४ लाख योनियों में ही मनुष्य भटकता रहता है इसलिये परमेश्वर की आकांक्षा रखने वाले प्रत्येक के लिये इच्छायें दूषण कही गई हैं और इसलिये भगवत् भक्त केवल ईश्वरीय प्रेम की ही अभिलाषा को दृढ़ बनाते रहे हैं। उससे जहाँ वे लौकिक खड्डों से बचे हैं, वहाँ उन्हें प्रेम-रस का धारा प्रवाह सिंचन मिलता रहा है।

प्रेम का विकास करते-करते एक दिन सब द्वन्द्व मिट जाते हैं। हम कभी भावनात्मक सुख की ओर जाते हैं फिर कभी पदार्थों की आसक्ति अपनी ओर खींच लेती है। मानव-इतर योनियों में भ्रमित कराने वाली आसक्ति से ठीक उलटी स्थिति परमेश्वर के प्रेम की है। उसमें लौकिक सुखों के द्वन्द्व समाप्त होकर जीवन में एक प्रकाश की स्थिति शेष रह जाती है प्रियतम की छवि, सौन्दर्य और माधुर्य ही शेष रह जाता है। उसे सब में प्रेम की ही चाह दिखाई देती है। उसे सब में प्रेम का ही व्यापार दिखाई देने लगता है। वह उसी प्रेम के सागर में डूबकर प्रेम-स्वरूप हो जाता है। यही ईश्वरत्व है, इसी का नाम अमृत है जो प्रेम का अमृत पा गया वह ईश्वर को पा गया।

ईश्वर बोध को सर्व सुलभ साधना-प्रेम

"यह संसार नश्वर है महात्मन् ! मझे तो कुछ भी सार नहीं दिखाई देता। अब तो बस ईश्वर को पानी की इच्छा है। आप मुझे दीक्षा देकर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग दिखायें।" यह कहते हुए एक नवयुवक ने आचार्य रामानुज को प्रणाम किया और उनके समीप एक ओर बैठ गया।

आचार्य रामानुज ने सीधा-सा प्रश्न किया—'तुमने किसी को प्रेम किया ?" युवक ने उत्तर दिया—'मेरा तो किसी से भी प्रेम नहीं है, मेरा तो संसार से कोई राग ही नहीं है। किससे प्रेम करूँ, मैं तो भगवान् को पाना चाहता हूँ।'

'लेकिन तात ! आचार्य रामानुज बड़ी मीठी वाणी में बोले—'भगवान को पाने की तो एक ही कसौटी है—प्रेम। जिसके हृदय में प्रेम नहीं, वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रेम यदि सांसारिक है, तो भी उसे शुद्ध किया जा सकता है। पर जिसने प्रेम की कसक अनुभव नहीं की, वह भला परमात्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ? सो मैं विवश हूँ, तुम्हें दीक्षा कैसे दे सकता हूँ ?'

आचार्य रामानुज जैसे महान् अध्यात्मवादी के मुख से प्रेम को परमेश्वर के समकक्ष ले जाना कोई आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः संसार में यदि कुछ अपार्थिव है, तो वह प्रेम ही है। यदि प्रेम काम में परिणत नहीं किया जाता, तो मनुष्य धरती पर रहते हुए भी अलौकिक सुख और ईश्वरत्व की अनुभूति कर सकता है, क्योंकि शुद्ध प्रेम ही तो परमेश्वर है।

"मैं तो प्रेम दीवानी" कहकर मीरा नाचती थी। वहाँ कोई शरीरधारी तो होता नहीं था, पर उस प्रेम की प्राणसत्ता में ही उसे परमेश्वर की झाँकी मिलती थी। मीरा की सखियाँ पूँछती—मीरा ! तू बावरी हुई है। अपना सब कुछ छोड़कर भटक रही है। ऐसा निष्ठुर है तेरा भगवान् कि वह तो कभी तेरे पास भी नहीं आता। सखी के इतना कहने पर मीरा नाराज होकर कहती—'सेखी री मेरे संग-संग नाचै गौपाल।' सखियाँ नही जानती थी, पर मीरा जानती थी कि उस दिव्य प्रेम की डोर से ही वह उस अविनाशी सत्ता को बाँधे हुए हैं। भगवान उसके प्रेम में ही ओत-प्रोत उसके आस-पास चक्कर काटता था। मीरा जैसे ही नाचती थी, वह वैसे ही नाचता था।

संसार से प्रेम ही सच्च अध्यात्म है। प्रेम की अविनाशी और प्रेम ही परमार्थ है। धन की आवश्यकता सांसारिक होती है, तो भी स्त्री, पुरुष, भी स्वार्थ, सहयोग और सेवा-प्राप्त की अनेक कामनाओं से प्रेरित होकर बनाये जाते हैं। पर प्रेम में तो इन सब प्रतिबन्धों की अवहेलना है। संसार एक ही तत्व है प्रेम, पुष्टि और विकास के लिये मनुष्य देना सीखता है और कितना भी दे डालकर देते रहने की कामना करता रहता है। अपने लिये न चाहकर किसी ओर के लिये निरन्तर देते रहने में कितना सुख है यह तो वही जानता है। जो एक प्रेम की परितृप्ति के लिये स्वयं भिखारी और अनाथ तक होने के लिये तैयार रहता है। भगवान् को भी ऐसे ही पाया जाता है। सच्ची बात तो यह है कि परमात्मा को प्राप्त करने की आकांक्षा प्रेम सरोवर में सरोवार हो जाने की आकांक्षा का पर्याय भर है।

प्रेम, प्रकृति को जीतने का वैज्ञानिक विधान है। महात्मागाँधी कहा करते थे—जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों का विभिन्न प्रकार से उपयोग करके अनेक चमत्कार कर देता है, उसी प्रकार व्यक्ति प्रेम के सिद्धान्त की भी वैज्ञानिक विधि से प्रयोग की प्रणाली जान ले, तो वह वैज्ञानिक से भी अधिक चमत्कार पैदा कर सकता है। मेरी अपनी अहिंसा की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों से कहीं बढ़-चढ़कर सूक्ष्म और कोमल है। वह प्रेम की भावना ही कहा तो विकास है। मैं इस सिद्धान्त की गहराई में जितना अधिक प्रवेश करता चला जाता हूँ, मुझे लगता है कि मेरे अन्दर उतनी शक्ति बढ़ती चली जाती है। मैं जीवन और सारे संसार की योजनाओं में उतना ही आह्लाद अनुभव करता हूँ प्रेम के सिद्धान्त ने मुझे प्रकृतिक रहस्यों को समझने की जो शक्ति दी है, उससे मुझ अथक और अवर्णनीय शांति मिलती है।"

यह एक नया उदाहरण है। प्रेम के लिये तो प्रकृति का पत्ता-पत्ता प्यासा है। एक ओर अपूर्णता में अशांति तो दूसरी ओर पूर्णता में शान्ति और स्वर्गीय सुख की अनुभूति—यह बताते हैं कि प्रेम में ही स्वर्ग और ईश्वर विराजते हैं। किसी कोई ईश्वर-प्राप्ति का उपाय खोजना हो तो, उसे एक बार अन्तःकरण में शुद्ध प्रेम जागृत करके देख लेना चाहिए।

भारतीय धर्म और संस्कृति या वेदान्त जिस अद्वैत धर्म का प्रतिपादन करता है,

उसको समझने के लिये प्रेम से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। प्रेम अद्वैत का बोध कराता है। यह एक बलिदान भाव है, उसमें आत्मोत्सर्ग का ही सुख है। किसी से प्रेम है—ऐसा मान लेने भर से तुष्टि तो नहीं हो जाती। उसे देखने से और बार-बार पास आने से सुख तो अपार मिलता है, पर कोई ऐसा सदैव तो नहीं कर सकता। भगवान के प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये भी चन्दन, रोली, पुष्प, अर्घ्य, आचमन का दान देते हैं, तो अपने प्रेमास्पद के लिये भी तो उपहार जुटाने पड़ते हैं। बहुत करके भौतिक वस्तुएँ ही देने जाते हैं, तो उससे इस रस की अनुभूति होने लगती है। देने वाला यह नहीं देखता कि मेरा कुछ गया और पाने वाले को भी यह नहीं हुआ कि वह वस्तु उसे मिल ही जाती। आदान-प्रदान तो अभिव्यक्ति मात्र थे। सच बात तो यह है कि दोनों ही को अपने भीतर के उस रस के पोषण की चिन्ता थी, जो प्रेम के रूप में उदय हुआ। इसी का नाम तो अद्वैत है कि हम सब एक-सा ही अनुभव करें। प्रेमी की सन्तुष्टि भी यही मिलन है, जो वस्तुओं का नहीं, शरीर का भी नहीं—प्रेम-प्रेम की भावना का एकाकार मात्र होना है।

मनुष्य-जीवन की महानतम् कसौटी है—प्रेम। बुद्धि की सूक्ष्मता और हृदय की विशालता का परिचय प्राप्त करना हो तो, यह देखना पड़ता है कि व्यक्ति के हृदय में प्रेम की अकुलाहट के लिये भी कोई स्थान है। जिस हृदय में प्रेम का प्रकाश जगमगाता है, वह मनुष्य उत्कृष्ट होता है और उसे ही देवत्व की प्राप्ति का सौभाग्य मिलता है। प्रेम मनुष्य-जीवन की सर्वोदय प्रेरणा है, शेष सब आश्रित और स्वार्थ-प्रेरित भाव हैं। स्वाधीनता और सद्गति दिलाने वाली आंतरिक प्रेरणा तो प्रेम ही है। इसी से व्यक्तियों के जीवन समृद्ध होते हैं। आत्म-भावना और परमार्थ का विकास होता है। कला-कौशल का वर्तमान विकसित रूप और संसार की रचना प्रेम के वरदान हैं। मानव-जीवन के लक्ष्य-ईश्वर प्राप्ति—की पूर्ति भी प्रेम से ही होती है।

परमात्मा की प्राप्ति प्रेमी के लिये ही संभव है

आध्यात्मिक उन्नति की परम अवस्था तथा ईश्वर प्राप्ति की अन्तिम, भक्ति अवस्था प्रेम है। भक्ति का स्वरूप भी निःस्वार्थ प्रेम ही कहा गया है। इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि परमात्मा की प्राप्ति के अन्य सभी साधन में समावेश होना चाहिए। वस्तु कितनी ही सुन्दर क्यों न हो यदि उसके प्रति आकर्षण का भाव नहीं होगा तो न तो उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही हो सकता है और न उस प्रयत्न में चिरस्थायी ही रहा जा सकता है। प्रेम का विकसित रूप ही आध्यात्मिक गुणों, श्रद्धा भक्ति, विश्वास आदि के रूप में प्रकट होता है पर ईश्वर उपासना में उसे किसी न किसी रूप में प्रकट होना आवश्यक है। इसके बिना उपासना अधूरी है सच्ची भक्ति तो प्रेम ही है प्रेम ही परमात्मा का प्रकट स्वरूप है।

प्रेम ईश्वर प्राप्ति की साधना की वह कसौटी है, जिसमें तपकर जीव विशुद्ध बनता है और ब्रह्म में मिलन की स्थिति प्राप्त करता है। जीव और परमात्मा के बीच जो तादात्म्य है वह अपने शुद्ध रूप में प्रेम द्वारा ही प्रकट होता है। प्रेम न होता तो इस पृथ्वी पर लोगों को आध्यात्मिक तत्वों की अनुभूति भी न होती यह स्थिति प्रारम्भ में आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये विकलता विरह के रूप में प्रकट होती हैं पर जिन्हें स्वाभाविक रूप में वह स्थिति प्राप्त नहो और वे ईश्वर को प्राप्त करना अपने जीवन का उद्देश्य मान गये हों तो उन्हें भी प्रेम का अभ्यास करना पड़ता है। तप, त्याग ओर सुख की इच्छाओं का दमन कर अन्तःकरण प्रेम प्रवृत्ति को जागृत करना पड़ता है।

प्रेम जो मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे उसकी सत्ता के मूल स्रोत में पहुँचा देता है। जो वस्तु मनुष्य-समाज को धारण किये रखती है, उसके विकास और नैतिक उत्कर्ष में सहायक होती है, वह प्रेम ही

है। यदि मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम का आदान-प्रदान न रहा होता और मानवजाति की प्रवृत्ति के मूल में प्रेम का प्रेरक भाव न होता तो नैतिक क्षेत्र में उसने कोई भी उन्नति न की होती।

मनुष्य विकास-क्रम में सृष्टि अन्य जीवों की अपेक्षा बहुत पीछे है। संसार के अन्य प्राणियों में जो नैतिक मर्यादायें देखी जाती हैं, वे ईश्वर प्रदत्त होती हैं। यदि उसके जीवन में प्रेम परिचालक न रहा होता तो उसकी सारी नैतिक मर्यादायें भंग न हुई होतीं। स्वार्थ या छल-कपट की अधिकता वाले प्रदेशों में आज भी इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

प्रेम विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली सत्ता है, उसी के आधार पर मनुष्य समाज जीवित है। यह न होता तो मनुष्य बड़ा दरिद्र एवं अविकसित रहा होता। उसे केवल अपना ही ध्यान रहा होता, अपने ही स्वार्थों की फिक्र रही होती, अपने सुख सुहाये होते। न तो उसे समाज-सेवा के लिये प्रोत्साहन मिला होता, न व्यक्तिगत जीवन में पराक्रम करने की प्रेरणा मिली होती। प्रेम की शक्ति का साम्राज्य आज सुव्यवसथित और सुनियोजित विश्व के रूप में देखने को मिल रहा है।

प्रेम के बगैर मनुष्य मुर्दा है। जब मनुष्यों में प्रेम का अभाव होगा तो कोई आकर्षण भी किसी चीज के लिए न होगा, और जब आकर्षण न होगा तो क्रिया न होगी, तो यह सारा संसार नीरव, उदासीन और जड़वत हो जायेगा। इसलिए प्रेम ही जीवन है।

ईश्वर-उपासना में इस उद्दात्त भावना का दर्शन संसार के सभी धर्मों में पाया जाता है। भगवान को प्रेममय समझकर प्रेममार्ग द्वारा उनकी साधना सभी देशों के भक्तों एवं साधकों में देखी जाती है। उपनिषद् में भगवान् की "मधुब्रह्म कहा है, यह उसका विशुद्ध प्रेममय स्वरूप ही है। परमात्मा प्रेम द्वारा ही मधुर होता है, "मधुक्षरन्तिद्ब्रह्म" जिससे मधु अर्थात् प्रेम संकीर्ण होता है, वही ब्रह्म है, अपने इसी रूप में वे भक्ति के लिए आराधक के लिए पुत्र, धन, आत्मीय स्वजन, इससे बढ़कर प्रियतम हो जाते हैं।

महापुरुष ईसा का कथन है—"प्रेम ही परमेश्वर है।' सन्त इमर्सन की वाणी है—"परमात्मा का सारतत्व प्रेम है।" सभी ईसाई सन्तों ने भगवान की साधना, आनन्द, मधुमय एवं प्रेममय रूप में ही की है।

सेंट टेरसा, नामक पाश्चात्य साधिका ने लिखा है—"परमात्मा के प्रति प्रेम होता है तभी सच्ची उपासना बन पड़ती है। आत्मा के उत्थान की यह प्रारम्भिक अवस्था है। अन्त में जीव और ब्रह्म का प्रणय-संस्कार होता है तो दोनों एक दूसरे में आत्मसात् हो जाते हैं न जीव रहता है और न परमात्मा केवल प्रेम ही शेष रह जाता है, जो ब्रह्म के समान सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् दिखाई देता है।

मुसलमानों में सूफी सन्तों की प्रेममयी भक्तिधारा बहुत प्रसिद्ध हुई है। इन सन्तों ने परमात्मा की उपासना प्रियतमा (माशूक) के रूप में की है और जीवात्माा को प्रेमी (आशिक) के रूप में माना है। इस प्रेम भक्ति का सुन्दर प्रवाह जायसीकृत "पद्मावत" में भली-भाँति देखने को मिलता है। जलालुउद्दीन भक्त बड़े प्रेम सन्त हुए हैं, उन्होंने लिखा है, तुम्हारे हृदय में परमात्मा के लिए प्रेम होगा तो उसे भी तुम्हारी चिन्ता अवश्य होगी।

जिस प्रेम शक्ति का सन्तों, अध्यात्म-तत्ववेत्ताओं ने इतना समर्थन किया है वह मनुष्य जीवन में अवतरित होकर किस प्रकार उसे ब्रह्म की और विकसित करती है, यह जानने योग्य है। लोगों के अन्दर अनेक बुरी वृत्तियाँ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, कुसंगति, चोरी, व्यसन आदि। इन्हें जीतने और दूर करने का प्रयास जीवन भर करते रहते हैं तो भी वे दूर नहीं हो पाती। मन स्वभावतः कुमार्गगमी होता है और वह किसी भी नियम-बन्धन को मानने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसी अवस्था में लोग यह मानकर निराश हो जाते हैं किन बुराईयों से बचने का कोई उपाय नहीं है। पर यदि मनुष्य के

अन्तःकरण में प्रेम जागृत हो सकता तो उसे उन्हें जीतने में कोई कठिनाई नहीं होती। प्रेम के लिए कुछ उत्सर्ग करने में या अभावग्रस्त जीवन जीने में तो आनन्द है। मनुष्य का मन प्रेम का गुलाम है। प्रेम की शक्ति के सहारे उसे जिस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया जाये वह उसी पर चलने के लिए तैयार हो जाता है. प्रेम ही मानव जीवन के उत्थान का यह आध्यात्मिक रहस्य है.

असीम सुख की प्राप्ति के लिए प्रेमी अपने आपको घुलाता है और इसमे उसे एक अनिवर्चनीय तृप्ति मिलती है। प्रेम का वास्तविक स्वरूप अपने आपको प्रेमी के प्रति आत्मोत्सर्ग करना ही तो है। इसका उदात्त रूप बच्चे के प्रति माता के वात्सल्य में दीख पड़ता है। प्रेमवश माता बच्चे के ध्यान में अपने आप को बिल्कुल विस्मृत कर देती है। उसे अपनी सुख-सुविधा, विश्राम, निद्रा और भूख प्यास की कोई सुध नहीं रहती।

ईश-उपासना में ऐसा प्रेम जागृत करने के लिये, इष्टदेव से मिलने के लिये तीव्र और अदम्य इच्छा जागृत करनी चाहिए। साधारण मनुष्य के प्रेम में जब लोग इतने विभोर हो जाते हैं तो ईश्वर के प्रेम में ऐसा क्यों न होना चाहिये। पर इसके लिए हमें भी त्याग और बलिदान के लिये उसी भावना से तैयार रहना चाहिए, जिस प्रकार अपने प्रेमास्वद का सुख देखने को तरसते हैं और उसके सामने अपनी विद्या-बुद्धि, धन-सम्पत्ति, पद, यश सबको तुच्छ मान लेते हैं।

हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि परमात्मा के शुद्ध प्रेम के लिये अपने आपको, अपनी आत्मा को, अपने बच्चों, अपनी धर्मपत्नी, घर, गाँव, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव भाईयों के प्रति विकसित करना चाहिये। यथाशक्ति उसकी सेवा और त्याग भावना द्वारा निष्काम प्रेम, वासना और कामनारहित प्रेम बढ़ाना चाहिए। इस विकास के मार्ग पर जितना अपना अहंभाव नष्ट होता जायेगा, हम उतना ही परमात्मा क़ी सत्ता में समाते चले जायेंगे, इसी प्रेम में अभ्यास में परमपिता परमात्मा की समीपता का सौभाग्य प्राप्त कर लेंगें क्योंकि परमात्मा का द्वारा प्रेमी भक्तों के लिये सदैव ही खुला रहता है।

विश्व प्रेम ही ईश्वर प्रेम

एकांगी उपासना का क्षेत्र विकसित कर ीअपना अहंकार बढ़ाने वाले व्यक्ति, ईश्वर के सच्चे भक्त नहीं कहे जा सकते। परमात्मा सर्व न्यायकारी है। वह ऐसे भक्त को जो अपना सुख, अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहता हो, कभी प्यार नहीं कर सकता। संसार के और भी जितने प्राणी हैं, वह सब उसी परमात्मा के प्यारे बच्चे हैं। किसी के पास शक्ति कम है, किसी के पास गुण कम है, तो इससे क्या ? अपने बच्चे पिता को समान रूप से प्यारे होते हैं। जो उसके सभी बच्चों को प्यार कर सकता हो परमात्मा का वास्तविक प्यार ही उसे ही मिल सकता है। केवल अपनी ही बात, अपने ही साधन सिद्ध करने वाले व्यक्ति लाख प्रयत्न करके भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रेमी भक्तों के लक्षण बताते हुए गीता में भगवान् कृष्ण ने लिखा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणा एव च।
निर्ममो निरहंकार, सम दुःख-सुखः क्षमी।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मदभक्तः स मे प्रियः।।

(गीता १२। १३-१४)

"हे अर्जुन ! मैं उन भक्त को प्यार करता हूँ जो कभी किसी से द्वेष भाव नहीं रखते, सब जीवों के साथ मित्रता और दयालुता का व्यवहार करते हैं। ममता रहित, अहंकार-शून्य दुःख और सुख में एक-सा रहने वाला सब जीवों के अपरोधों को क्षमा करने वाला, सदैव, सन्तुष्ट, मेरा ध्यान करने वाला, विरागी, दृढ़ निश्चयी और जिसने अपना मन-बुद्धि मुझे समर्पित कर दिया है, ऐसे भक्त मुझे अतिशय प्रिय है।"

यहाँ हमें एक बात समझ लेनी चाहिये कि यह सारा संसार भगवान के एक अंश में ही स्थित है। छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सब उसी के बनाये हुए हैं। उनके हित और कल्याण का भी

उसे ध्यान होना चाहिए केवल अपनी-अपनी इच्छाओं की तृप्ति ढूँढ़ने में यह कहाँ सम्भव है कि मनुष्य ओरों के साथ द्वेष न करें। सुख की इच्छा में प्रतिस्पर्धा आवश्यक है। कामनाग्रस्त मनुष्य किसी की भलाई भी क्या कर सकेगा और ऐसा व्यक्ति परमात्मा की दया का अधिकारी भी क्यों बन सकेगा ?

चराचर जगत में एक ईश्वर की सत्ता ही अनेक रूपों में कार्य कर रही है। ईश्वर के एक अंग की उपासना की जाय और अन्यों की बिलकुल उपेक्षा की जाय तो परमात्मा उस भक्त से कैसे सन्तुष्ट हो सकता है ? भक्ति का स्वरूप सर्वांगीण होना चाहिये। मुँह से भोजन कराया जाय और पाँवों को बाँधकर एक ओर पटक दिया जाय तो वह परमात्मा अपने उपासक की भावनाओं से कैसे सन्तुष्ट हो सकेगा ? ईश्वर के पारलौकिक और अदृश्य जगत को यदि प्राण माना जाय और सम्पूर्ण संसार को उसकी देह, तो देह से भी उतना प्यार होना चाहिये जितना प्राण से। देह की उपेक्षा से प्राणों का अस्तित्व भी भला नहीं सम्भव हो सका है ?

ईश्वर के उपासक में श्रद्धा, भक्ति, एकाग्रता, बुद्धि की तीक्ष्णता के साथ-साथ जीव दया और प्रेम का भी समन्वय होना चाहिए क्योंकि प्रेम ही विश्व का आधार है, विश्व की आत्मा है। ईश्वर प्रेम भी विश्व प्रेम के अन्तर्गत है। प्राणिमात्र के साथ सद्व्यवहार, आत्मीयता और मैत्री की भावना रखने वाले लोग उसे बिना प्रयास, बिना साधन प्राप्त कर लेते हैं।

चतुर जनों की यह रीति है कि वे किन्हीं महापुरुषों की कृपा प्राप्त करने के लिये उनकी प्रिय सन्तान की सेवा और प्यार करते हैं। अपने आत्मीय जनों को प्यार करता हुआ देखकर बड़े कठोर हृदय के व्यक्तियों को भी पिघलते देखा गया है, फिर परमात्मा जो इतना सहृदय और दयालु है, वह अपने बालकों के प्रति कर्त्तव्य भावना को पूरा हुआ देखकर भला क्यों न प्रसन्न होगा इससे तो वे भक्त की अन्य कामनायें भी सहर्ष पूरी कर देते हैं।

वेद में कहा गया है कि जो लोग सम्पूर्ण प्राणियों के हित में संलग्न रहते हैं परमात्मा उनका भार स्वयं वहन करता है।" पर समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का समुचित रीति से पालन न करने वाले ईश्वर भक्त आत्मकल्याण में समर्थ नहीं होते। समाज भी तो मनुष्य का अपना ही स्वरूप है। अपने स्वार्थ की पूर्ति में तो उद्यत रहा जाय पर अपने ही समान अपने समाज के प्रति परमार्थ का ध्यान न रखा जाये तो उस ईश्वर उपासना से आत्म-सन्तोष होना असम्भव है।

निर्ममता और अहंकार से मुक्ति मिल गई इसका प्रमाण एकात्मवादी होकर नहीं दिया जा सकता। मनुष्य सबके प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार करेगा तभी उसकी ममता का भाव नष्ट होगा। अहंकार भी, जब तक अपने आप को औरों के लिए त्यागपूर्वक न घुलाया जायेगा तब तक, दूर होना सम्भव नहीं। ईश्वर कभी किसी के सामने प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हुआ। इसलिये वह प्रत्यक्ष सेवायें भी कभी नहीं ले सका। उपासना और प्रार्थना से प्रभावित होकर मनुष्य रूप धारण कर कदाचित वह ईश्वर अपनी विभूतियों सहित भक्त के समक्ष उपस्थित हो जाता और भक्त अपना सर्वस्व अर्पण कर देता तो सम्भव था उस स्थिति में उसे आत्म-सन्तोष हो जाता। परमात्मा के संसार में ऐसी व्यवस्था नहीं है। वह यदि आराधक की त्यागवृत्ति को देखना चाहेगा तो अपने किसी बालक को ही परीक्षा के लिये भेजेगा, हम अपने बच्चे, धर्मपत्नी, परिवार, गाँव, मुहल्ले, वाले, समाज और राष्ट्र तथा सम्पूर्ण विश्व के लिये आत्म-त्याग की भावना का परिष्कार करके ही तो सर्वात्मा की कृपा का पुण्य फल प्राप्त कर सकते हैं और यह तभी सम्भव है, जब हम सबके साथ प्यार करें। सबके साथ आत्मीयता रखें, सबके साथ सहानुभूति बरतें, सबकी उन्नति में सहयोग दें। किसी के साथ ईर्ष्या द्वेष, छल, पाखण्ड, अन्याय, अत्याचार करके परमात्मा की कृपा का अधिकार प्राप्त करने की बात सोचना मिथ्या है।

तब यह आवश्यक है कि उपासना का स्वरूप बहुमुखी हो। आत्मोद्धार के लिए एकान्त में बैठकर करुण-भाव से ईश्वर की उपासना की जाय पर अपने अन्य भाईयों को भी असहाय अवस्था से ऊपर उठाया जाय। भगवान् के

स्वरूप को याद करते हुए प्रेमपूर्वक उनके नाम का जप और कीर्तन, ध्यान और भजन तो किया जाय, पर उनके समाज शरीर की उपेक्षा न की जाय। सम्पूर्ण जीवों में भगवान् का अंश विराजमान है, सब लोग उसी की विविध मूर्तियाँ हैं। सब उसके अंग हैं। सबके उसके साधन हैं। एक साधन के लिये अन्य साधन क्यों भुलाये जाँये ? ईश्वर की एकांगी उपासना क्यों की जाय ?

"परमात्मा केवल एकान्तवासी को मिलते हैं और निर्माता का अर्थ घर-बार छोड़कर योगी हो जाना है" यदि ऐसा अर्थ लगाया जाय तो फिर हमारे ऋषियों की सारी व्यवस्था एवं भारतीय दर्शन की सारी मान्यता ही गलत हो जायेगी। जप, ध्यान या साधना की एक निश्चित सीमा होती है, उसके बाद की साधना समाज और विश्व के हित साधन तथा लोकमंगल में जुटने की होती है। ऋषि गृहस्थ में रहकर उन्होंने साधनायें की पर उन्हें कोई स्वार्थवादी नहीं कह सकता। वे समाज के हित के लिए अन्त तक लगे रहे। निर्माता का अर्थ भी दरअसल "मैं और मेरे' का त्याग है। यह जो कुछ है परमात्मा का अंश है। परमात्मा के प्रत्येक अंश को पूजकर ही उसकी पूर्ण प्राप्त की जा सकती है।

ईसा, मंसूर, शंकराचार्य, रामकृष्ण तथा दयानन्द आदि अनेकों ईश्वर-परायण देवदूत हैं। ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप उन्होंने सामान्य व्यक्तियों से उच्चतर सिद्धियाँ प्राप्त कीं। यदि ईश्वर उपासना का अर्थ एकांगी लाभ उठाना रहा होता तो इन महापुरुषों ने भी या तो किसी एक स्थान में बैठकर समाधि ले ली होती या भौतिक सुखों के लिये बड़े-से-बड़े साधन एकत्र कर शेष जीवन सुखोपभोग में बिताते। पर उनमें से किसी ने भी ऐसा नहीं किया। उन्होंने अन्त में महामानव की ही उपासना की। सिद्धि से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ तो लौटकर वे फिर समाज में आये और प्राणियों की सेवा को अपनी उपासना का अधार बनाया।

मुक्ति के अधिकारी मनुष्यों की परलोक की ही चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यह लोक भी परलोक ही है, यदि हम यहाँ भी परमात्मा के स्वरूप का दर्श करें। जीव-मात्र में उसकी आभा देखने वाले के लिए परलोक की कामना क्यों होने लगी ? परमात्मा से हम प्यार, स्नेह, दया, ज्ञान, शक्ति, भावनाओं के ऊर्ध्वगामी सुखों की अपेक्षा करते हैं यह सुख हमें मनुष्यों और जीवों की सेवा से भी उपलब्ध हो सकते हैं। इस विश्व में पशु-पक्षी आदि जीवों को जिनको आत्म-ज्ञान की प्राप्ति विधेय नहीं है, उनकी रक्षा वृद्धि और उनके हित के लिए भी तो कुछ करना चाहिये अन्यथा परमात्मा के इस सुन्दर बाग की रखवाली और उसको सुसज्जित रखने के अपने उत्तरदायित्व का पालन कैसे हो सकता है ?

जिस प्रकार परमात्मा की उपासना में उनके रूप, गुण और ऐश्वर्य की कीर्तन करते हैं वैसे ही हमें उसके पुत्रों का भी कीर्तन-भजन करना चाहिये। जो पदार्थ जीवों के लिए उपयोगी हैं और सद्गुणों तथा सत्कर्मों की वृद्धि में सहायक हैं उन पदार्थों की उन्नति, वृद्धि और रक्षा करने की चेष्टा करना भी आवश्यक है। परमात्मा अपनी प्रत्येक सुन्दर वस्तु की साज-सँवार देखकर उतना प्रसन्न होगा जितना शायद वह अपने गुणों की प्रशंसा-मात्र से न होगा।

उपयोगी पदार्थों की रक्षा द्वारा सत्सम्पत्तियों को बढ़ाने की चेष्टा के साथ बुराइयों को रोकना भी ईश्वर की ही उपासना है। इसमें भी परमात्मा के सौन्दर्य गुण की ही उपासना का भाव छिपा है। जो पदार्थ जीवों के दुर्गुण और दुष्कर्मों को बढ़ाने वाले हैं, उनकें घटाने और नष्ट करनें के लिए भी हमारे प्रयत्न बिना किसी कामना या द्वेष भावना से चलते रहने चाहिए। हानिकारक पदार्थों के न रहने में जीवों का हित है और विश्व के हित व कल्याण की निष्काम कामना रखना ही विश्वप्रेम है।

इस प्रकार जो विशुद्ध प्रेम और सेवा भावना से प्राणियों के कल्याण के कार्यों में रह रहते हैं, वे बाहर से देखने पर लोगों को कैसे ही दिखाई दें पर ईश्वर की दृष्टि में वही सच्चे प्रेमी भक्त होंगे समाज की उपेक्षा कर की जाने वाली ईश-आराधना का उतना महत्व नहीं, विश्वप्रेम ही ईश्वर का सच्चा प्रेम है।

परमात्मा का प्रेम पूर्ण है, पवित्र है

मनुष्य के जीवनोद्देश्य का जितनी गहराई से अध्ययन करें उतना ही यह स्पष्ट हो जाता है कि "अतिशय आनन्द'' ही उसकी मूलभूत आकांक्षा का जीवन लक्ष्य है। जिस वस्तु में मनुष्य को आनन्द का आभास होता है, वह उधर ही दौड़ता रहता है। यह बात दूसरी है कि अल्प बुद्धि, अविकसित हृदय एवं प्रसुप्त विवेक के कारण वह सच्चे आनन्द को न समझ-पा सके किन्तु चिर-सुख की अभिलाषा प्रत्येक मनुष्य करता है और इसी लक्ष्य की पूर्ति में ही उसका ही सारा जीवन बीत जाता है।

जिन वस्तुओं में आनन्द दिखाई देता है उसके प्रति प्रेम होना, अनुराग होना मनुष्य स्वभाव की विशेषता है। लेकिन जिस आनन्द की अभिलाषा से मनुष्य पदार्थों से प्रेम करता है उस आनन्द की पूर्ति यदि न हो तो समझना चाहिये कि उससे जीवन-लक्ष्य हल नहीं होता। वह अग्राह्य है। विषय-वासनाओं में सुख तो जरूर है पर वह क्षणिक है और मनुष्य की लालसा यह है कि वह ऐसा सुख प्राप्त करे जो कभी नष्ट न हो, जिससे उसे कभी भी विमुख न होना पड़े।

धन, आनन्द की वस्तु है पर वह स्थायी नहीं है। थोड़ा-सा आनन्द लेने के बाद धन अपना साथ छोड़कर भाग जाता है। सब की आँखों में धूल झोंकती हुई लक्ष्मी देवी कभी इनके कभी उनके पास डोलती रहती है, न उससे एक को ही पूरा आनन्द मिलता है न दूसरे को ही। धन का सुख, सुख नहीं मृगतृष्णा है, भुलावा है। अतः धन के प्रेम को भी साध्य नहीं कहा जा सकता।

स्त्री, पुत्र, सांसारिक भोग, धन, आदि सभी सुख के साधन समझे जाने वाले पदार्थ अपना रूप बदलते रहते हैं, परिवर्तनशील हैं अतः इन वस्तुओं में प्रेम का सार नहीं है। प्रेम अखण्ड-आनन्द की अभिव्यक्ति है तो वह वियोगशील वस्तुओं से कैसे बँधकर रह सकता है। पदार्थों से, प्रियजनों से, धन या भोग-पदार्थों से विछोह होने पर दुःख पैदा होता है, जलन पैदा होती है, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, मद और मत्सर पैदा होते हैं, तो इन्हें शाश्वत प्रेम की वस्तु कैसे माना जा सकता है ? पूर्ण प्रेम तो परमात्मा का ही है, उसी में मनुष्य को सच्चे आनन्द के दर्शन हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थ परः स्मृतः।
एकान्त भक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।।

—७। ७। ५५

अर्थात्—इस संसार में मनुष्य का सबसे बड़ा और सच्चा स्वार्थ इतना ही माना गया है कि वह परमात्मा की अनन्य शक्ति, अनन्य प्रेम प्राप्त करें। उस प्रेम का स्वरूप है सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओं में समान रूप से भगवान् का दर्शन करें।''

प्रेमी-भक्ति के लिए विविध-साधनाओं एवं कष्ट-साधक प्रक्रियाओं की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि उसकी सभी सांसारिक कामनायें नष्ट हो जाती हैं। उसके लिए ईश्वर का प्रेम ही लक्ष्य बन जाता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्युक्त एक भक्तिर्विष्यिते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।

—७। १७

अर्थात्—नित्य मुझ में एकी भाव से स्थित अनन्य प्रेम-भक्ति वाला ज्ञानी अति उत्तम है क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाली ज्ञान को में अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।''

परमात्मा से प्रीत करने वाले के सभी दुःख दारिद्रय मिट जाते हैं। प्राणी रंक से राजा हो जाता है। राज्य-सुख, धन या वैभव का उपभोग मनुष्य अकेले नहीं करता। तमाम इष्ट-मित्रों, पियजनों-परिजनों को उसका लाभ देने में सुख मिलता है। परमात्मा अनन्त सुख वैभव के स्रोत हैं। जो लोग उनके समीप जाते हैं, वे निहाल हो जाते हैं। उनका सम्पर्क इतना प्रभावशाली होता है कि मनुष्य की क्षुद्रतायें समाप्त हो जाती हैं। जिसके जीवन में अक्षुण्ण सुख-ओत-प्रोत हो रहा हो उसे विवधि कामनाओं से क्या प्रयोजन ?

परमात्मा का प्रेम पूर्ण है, पवित्र है

मनुष्य के जीवनोद्देश्य का जितनी गहराई से अध्ययन करें उतना ही यह स्पष्ट हो जाता है कि "अतिशय आनन्द" ही उसकी मूलभूत आकांक्षा का जीवन लक्ष्य है। जिस वस्तु में मनुष्य को आनन्द का आभास होता है, वह उधर ही दौड़ता रहता है। यह बात दूसरी है कि अल्प बुद्धि, अविकसित हृदय एवं प्रसुप्त विवेक के कारण वह सच्चे आनन्द को न समझ-पा सके किन्तु चिर-सुख की अभिलाषा प्रत्येक मनुष्य करता है और इसी लक्ष्य की पूर्ति में ही उसका ही सारा जीवन बीत जाता है।

जिन वस्तुओं में आनन्द दिखाई देता है उसके प्रति प्रेम होना, अनुराग होना मनुष्य स्वभाव की विशेषता है। लेकिन जिस आनन्द की अभिलाषा से मनुष्य पदार्थों से प्रेम करता है उस आनन्द की पूर्ति यदि न हो तो समझना चाहिये कि उससे जीवन-लक्ष्य हल नहीं होता। वह अग्राह्य है। विषय-वासनाओं में सुख तो जरूर है पर वह क्षणिक है और मनुष्य की लालसा यह है कि वह ऐसा सुख प्राप्त करे जो कभी नष्ट न हो, जिससे उसे कभी भी विमुख न होना पड़े।

धन, आनन्द की वस्तु है पर वह स्थायी नहीं है। थोड़ा-सा आनन्द लेने के बाद धन अपना साथ छोड़कर भाग जाता है। सब की आँखों में धूल झोंकती हुई लक्ष्मी देवी कभी इनके कभी उनके पास डोलती रहती है, न उससे एक को ही पूरा आनन्द मिलता है न दूसरे को ही। धन का सुख, सुख नहीं मृगतृष्णा है, भुलावा है। अतः धन के प्रेम को भी साध्य नहीं कहा जा सकता।

स्त्री, पुत्र, सांसारिक भोग, धन, आदि सभी सुख के साधन समझे जाने वाले पदार्थ अपना रूप बदलते रहते हैं, परिवर्तनशील हैं अतः इन वस्तुओं में प्रेम का सार नहीं है। प्रेम अखण्ड-आनन्द की अभिव्यक्ति है तो वह वियोगशील वस्तुओं से कैसे बँधकर रह सकता है। पदार्थों से, प्रियजनों से, धन या भोग-पदार्थों से विछोह होने पर दुःख पैदा होता है, जलन पैदा होती है, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, मद और मत्सर पैदा होते हैं, तो इन्हें शाश्वत प्रेम की वस्तु कैसे माना जा सकता है ? पूर्ण प्रेम तो परमात्मा का ही है, उसी में मनुष्य को सच्चे आनन्द के दर्शन हो सकते हैं। श्रीमद्‌भागवत में कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थ परः स्मृतः।
एकान्त भक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।।

—७। ७। ५५

अर्थात्—इस संसार में मनुष्य का सबसे बड़ा और सच्चा स्वार्थ इतना ही माना गया है कि वह परमात्मा की अनन्य शक्ति, अनन्य प्रेम प्राप्त करें। उस प्रेम का स्वरूप है सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओं में समान रूप से भगवान् का दर्शन करें।"

प्रेमी-भक्ति के लिए विविध-साधनाओं एवं कष्ट-साधक प्रक्रियाओं की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि उसकी सभी सांसारिक कामनायें नष्ट हो जाती हैं। उसके लिए ईश्वर का प्रेम ही लक्ष्य बन जाता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्युक्त एक भक्तिर्विष्यिते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।

—७। १७

अर्थात्—नित्य मुझ में एकी भाव से स्थित अनन्य प्रेम-भक्ति वाला ज्ञानी अति उत्तम है क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाली ज्ञान को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।"

परमात्मा से प्रीत करने वाले के सभी दुःख दारिद्रय मिट जाते हैं। प्राणी रंक से राजा हो जाता है। राज्य-सुख, धन या वैभव का उपभोग मनुष्य अकेले नहीं करता। तमाम इष्ट-मित्रों, पियजनों-परिजनों को उसका लाभ देने में सुख मिलता है। परमात्मा अनन्त सुख वैभव के स्रोत हैं। जो लोग उनके समीप जाते हैं, वे निहाल हो जाते हैं। उनका सम्पर्क इतना प्रभावशाली होता है कि मनुष्य की क्षुद्रतायें समाप्त हो जाती हैं। जिसके जीवन में अक्षुण्ण सुख-ओत-प्रोत हो रहा हो उसे विविधि कामनाओं से क्या प्रयोजन ?

परमात्मा के सानिध्य में मनुष्य की इच्छायें ऐसे ही पूर्ण होती हैं कि फिर उनके लिये औरों के आगे हाथ नहीं फैलाना पड़ता।

भगवान् का प्रेम जीवन के सत्य को देखता है। भगवान का प्रेम मनुष्य के शिव को देखता है। भगवान् का प्रेम आपके जीवन के सौन्दर्य को देखता है। आप परमात्मा की अभिव्यक्ति है अतः उनके हो जाने में उनके गुणों का उभार आपके जीवन में होना स्वाभाविक है। गंगा, यमुना, कृष्णा, कावेरी, ताप्ती, नर्मदा, गोदावरी आदि नदियाँ तब तक स्थल खण्ड में इधर-उधर विचरण करती रहती हैं, जब तक उन्हें नदियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जाता। उनकी शक्ति और सामर्थ्य भी तब तक उतनी ही होती है किनतु जब वे सब मिलकर एक स्थान में केन्द्रीभूत हो जाती हैं तो उनका अस्तित्व समुद्र जितना विशाल, रत्नाकर जैसा सम्पन्न, सिंधु-सा अनन्त बन जाता है। अपने आप को परमात्मा में समर्पित कर देने पर मनुष्य का जीवन भी वैसा ही अनन्त विशाल, सत्य, शिव, एवं सुन्दर हो जाता है। उन्हें पाकर मनुष्य का जीवन धन्य हो जाता है।

मनुष्य की जगत् में उत्पत्ति हुई है, इसमें भगवान् का प्रेम ही हेतु है। निश्चल भाव से वे मनुष्य का भरण-पोषण करते रहते हैं। अन्न, फल-फूल, जल, वायु, अग्नि, ताप, वर्षा, वृक्ष वनस्पति, प्रकाश आदि की व्यवस्था करने वाले परमात्मा के हृदय की गति जो न पहचान सके, वह अभागा है। मनुष्य के लिए असंख्य अनुदान जुटाने में परमात्मा का प्रेम का ही परिचायक है। उन्होंने अपने प्राणियों को विश्व के हित और कल्याण के लिये उत्सर्ग किया है। फिर मनुष्य यदि उन उपकारों का बदला न चुकाये तो उसे हृदय-हीन ही कहा जायेगा। परमात्मा को प्रेम की भूख है। वे प्रेम के प्यासे होकर हर प्राणी के द्वार-द्वार भटकते घूमते हैं। जहाँ उन्हें विमल प्रेम मिल जाता है, वहीं वे रम जाते हैं और अपनी सभी शक्तियों की चाभी उसे सौप देते हैं।

कितना हृदय-हीन है मनुष्य, जो परमात्मा से भोग की वस्तुयें माँगता है। सांसारिक स्वार्थ भ्रम है, उनमें स्थिरता नहीं है। जिस क्षण आप परमात्मा के प्रेम को अपनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं उसी क्षण भगवान् के प्रेम को आपके जीवन एवं क्रियाओं में सक्रिय होने का अवसर प्राप्त हो जायेगा।

लौकिक दृष्टि से अपनी कामनायें पैदा करना ही तो हमारी भूल है, इसी से मनुष्य अपने मूल-लक्ष्य से भटकता और आनन्द से वंचित होता है। आत्मा को शरीर मानने से उद्देश्य में गड़बड़ी पैदा होती है। शरीर आत्मा का वाहन, सेवक और उपकरण मात्र है जिस पर सवार होकर जीवात्मा इस नन्दन वन के असीम-आनन्द का सुखोपभोग करने आया है। यह सुख परमात्मा में ही ओत-प्रोत है और उसी के होन जाने पर ही मिलता है। अपने मालिक, स्वामी, पिता और सर्वस्व से दूर रहक मनुष्य को सुख मिल भी कहाँ सकता है ? हम शरीर नहीं आत्मा हैं। प्रेम आत्मा की आध्यात्मिक प्यास है। उसे प्रेम में ही आनन्द मिलता है और सच्चा प्रेम, पूर्ण प्रेम, पवित्र प्रेम, परमात्मा में ही मिल सकता है। इससे भिन्नता वासना कहलाता है क्योंकि उसमें शारीरिक सुख की प्रधानता और स्वार्थपरता रहती है। शारीरिक भोग की दृष्टि से किया हुआ प्रेम निम्न श्रेणी का है उसमें पवित्रता और आत्म-त्याग की भावना नहीं होती।

एक राजकुमार की बड़ी मार्मिक कहानी है। उसके नगर में नटों का बेड़ा आया था। बेड़े में एक अत्यन्त रूपवती युवती थी। राजकुमार उस पर आसक्त हो गया और इसी दुःख में वह दुःखी होकर अत्यन्त दुर्बल पड़ गया। राजा ने अपने बेटे की इच्छा जानी तो नट-राज के पास विवाह प्रस्ताव भेज दिया। नट ने एक शर्त लगा दी कि यदि राजकुमार नटों की कला में पूर्ण दक्ष होने तक उनके दल में रहे तो वह समबन्ध स्वीकार कर सकता है। राजकुमार ने शर्त मान ली। अनेक वर्षों तक परिश्रम करने के बाद वह नट-कला में प्रवीण हो गया। पहला प्रर्दशन उसका वाराणसी के राजदरबार में होना था। राजकुमार एक ऊँचे बाँस पर चढ़कर किसी उत्कृष्ट कला का प्रदर्शन कर रहा था। उसी समय उसने दूर एक मकान में उससे भी अधिक सुन्दर युवती को किसी साधु को भिक्षा देते हुए देखा। उस महात्मा के मुख पर कितना

सरल व वात्सल्य का भाव है। क्षुद्र प्रेम पर राजकुमार को बड़ी घृणा हुई और उसने अधिक श्रेष्ठता सौन्दर्य की प्रति-मूर्ति परमात्मा के साथ अधिक उत्कृष्ट स्तर का प्रेम करना आरम्भ कर दिया।

अवास्तविक सौन्दर्य के लिए राजकुमार जिस प्रकार नट बन जाता है उसी तरह संसार के प्राणी आत्म-हित में विमुख होकर सांसारिक पदार्थों में आनन्द ढूँढ़ते हैं पर मिलता कुछ नहीं। न ईश्वर से प्रेम ही हो पाता है और न शरीरों के हित ही सुरक्षित रहते हैं। आत्मिक शारीरिक या भावात्मक आदि किसी भी अभाव से परमात्मा का प्रेम श्रेष्ठ है, महान् है।

भगवान् बहुत थोड़े से प्रसन्न हो जाते हैं। थोड़ी-सी व्याकुल आराधना जिसमें जीवात्मा अपनी स्थिति को भूलकर अपने आपको उनमें मिला दें, बस उसी क्रम के भूखे हैं। भगवान् ! व्याकुलता उसी के लिये होती है जिसे चित चाहता है। मनुष्य परमात्मा की ओर तभी उन्मुख हो सकता है, जब वह अपने आपको आत्मा की दृष्टि से देखे। आत्मा का चिन्तन करने से ही ईश्वर-प्रेम पैदा होता है। आत्मा का परमात्मा से चिर-सम्बन्ध है, अतः आत्म-स्वरूप की जानकारी के साथ उनके साथ उनका प्रेम जाग्रत होना भी स्वाभाविक ही है।

प्रेम परमात्मा का ही श्रेष्ठ है। भगवान् के प्रेम के अतिरिक्त और कोई प्रेम नहीं जो सर्वत्र, सब देश और सब काल में सब व्यक्तियों के द्वारा समान रूप से किया जा सके। इससे बढ़कर सरलता भी और कहीं नहीं। उनके प्रेम में ही जीवन-मुक्ति है। परावलम्बन, इन्द्रियों के विषय तथा पदार्थों की आसक्ति उनके प्रेम के पास जाकर ऐसे समाप्त हो जाते हैं जैसे— प्रकाश के आगे अन्धकार नहीं ठहर पाता। उसके जीवन में कोई दुःख शेष नहीं रहता जो भगवान् का हो जाता है। वह संसार में रहते हुये भी सांसारिक बन्धनों से नहीं बँधता।

परमात्मा के प्रेम में अद्‌भुत शक्ति है। उसी के सहारे मनुष्य प्रत्येक दुःख पर विजय प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार के दुष्टता का नाश दया से हो जाता है उसी तरह से सच्चे प्रेम के अभाव से कुविचारों का नाश हो जाता है।

प्रेम में शान्ति है, सुख और आनन्द है किन्तु वह केवल निःस्वार्थ परमात्मा के प्रेम ही हैं। अतः मनुष्य के जीवन में ईश्वरीय-प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। प्रेम के बिना आन्तरिक शुद्धता और भावनात्मक परिष्कार नहीं हो पाता।

मनुष्य का और परमात्मा का सम्बन्ध पिता और पुत्र का सम्बन्ध होता है। वृहद् परमात्मा का एक रूप आत्मा है उनका चिर सम्बन्ध है। 'पिता नोऽसि' का ही मन्त्र अतः मनष्य को सुख दे पाता है। यह मेरा पिता है। उन्हीं से कहूँगा, उन्हीं से मागूँगा, उन्हीं से हठ करूँगा। बार-बार आत्मा बोध की याचना उन पर परमपिता से करूँगा। मनुष्य जीवन में इन मूल-मन्त्रों का समावेश हो जाय तो उसका मनुष्य-तन सार्थक हुआ समझना चाहिये।

स्वामी का सेवक से, राजा का प्रजा से, पिता का पुत्र से, जो सम्बन्ध होता है, उसमें अस्वाभाविकता नहीं होती। अतः वहाँ व्यवहार भी निष्कपट होता है। पुत्र में पिता का ही प्राण संचरित होता है अतः वहाँ कोई बनावटीपन नहीं होता। परमात्मा और मनुष्य का प्रेम भी वैसे ही आधारभूत और छल रहित होता है। इसी में ही उसकी प्रतिष्ठा और उसका आनन्द है।

'केनोपनिषद् में प्रश्न किया गया है कि 'केन प्राणः प्रथमः प्रतियुक्तः ?" अर्थात् प्राण को किसके द्वारा प्रेम प्राप्त हुआ है ? प्रश्न के उत्तर में बताया है—जो महा प्राण हैं, उनके द्वारा। महाप्राण परमात्मा की स्थिति का संकेत है।

मनुष्य अपने आप में बहुत छोटा अल्प शक्ति और सामर्थ्यवाला है। पग-पग पर उससे गलतियाँ और अशुद्धियाँ होती रहती है। जब वह अपने आपको उस परमपिता को ही अनन्य भाव से सौंप देता है तो उसकी सारी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

भगवान् के प्रेम के सहारे जिये। भगवान् के प्रेम के आश्रित रहें। उन्हें के स्मरण, चिन्तन और आदेश पालन को अपने पवित्र का धर्म समझें। किसी भी निराशा में भगवान् कृष्ण ने कहा है, 'ऐ मनुष्य ! तू सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर केवल मेरी शरण में आजा। मैं तेरे

सभी पापों का विनाश कर तुझे पवित्र तथा बन्धन मुक्त कर दूँगा।''

ईश-प्रेम से परिपूर्ण और मधुर कुछ नहीं

परमपिता परमात्मा से वियुक्त होकर जीव ने अपनी एक निराली सृष्टि बना ली। छोटा बालक जिस तरह घर के आँगन में ही मिट्टी इकट्ठा कर एक छोटा-सा घरोंदा बनाकर उसमें विशाल आकार-प्रकार की साधन-सामग्रियाँ चाहता है पर न तो उनके लिये उसके उस छोटे-से घरोंदे में स्थान होता है, न पात्रत्व। इसलिये उसकी इच्छायें पूर्ण नहीं होतीं या जान-बूझकर पिता उन्हें पूरा नहीं करता। वह तो सब घर की व्यवस्था का स्वामी होता है, उसे सबका ही ध्यान रखना पड़ता है, इसिलये जितना उसका घरोंदा था, उसी अनुपात से दो-चार पैसे छटाँक सामग्री उसे भी दे देता है पर उससे बच्चे को न सुख मिलता है, न सन्तोष। छोटी-सी इकाई में पूर्णता की इच्छा रखने वाले छोटे बच्चे की तरह जीव को भी अन्तः अपनी लघुता पर असन्तोष और पीड़ा ही होती है।

तब वह अपने एकान्त में, अन्तःकरण की गहराई में मुख डालकर झाँककर देखता है तो पाता है कि अब तक वह जिन वस्तुओं की इच्छा कर रहा था वह तो सब बन्धन रूप थी। नित्य, शाश्वत आनन्द के लिये उनसे कुछ काम बनने वाला नहीं था। यह तो सब क्षण-भंगुर वस्तुयें थीं। रुपया, पैसा, वस्त्र-आभूषण, मोटर, बंगले पंखे, रेडियो, नौकरी, पद-प्रतिष्ठा यहाँ तक कि पिता-माता, पुत्र-पत्नी सुहृदय-सखा, परिवार भी एक दिन छूट ही जाता है, चाहे उससे कितना ही मोह बढ़ा ले, चाहे उससे कितना ही प्रेम कर ले ? गीता में कहा है—"संसार में गुण ही गुण बर्तते हैं, सो सब वस्तुयें जहाँ तक उनकी सीमा, मर्यादा और समय है, वहीं तक थोड़ा-सा सुख सन्तोष प्रदान कर पाती हैं। उसके बाद जीव का पुनः वही अकेलापन। फिर वही लघुता फिर वही भय, फिर वही इच्छायें, फिर वही दौड़-धूप, आपा-धापी, अविश्राम, अविश्राम, अविश्राम। न इच्छायें पिण्ड छोड़ती हैं और न महत्वाकांक्षायें। मृगमारीचिका की तरह सुख और शांति की चाहे में जीव सारे संसार का परिमंथन किया करता है पर हाथ सिवाय निराशा, कष्ट, अपमान, चिन्ता, द्वेष-ईर्ष्या, असफलता, विकलता के अतिरिक्त कुछ नहीं लगता। नेपोलियन जो अनेक राष्ट्रों का भाग्य-निर्माता था वह भी कैसे दुःखद परिस्थितियों में मरा ? महापुरुषार्थी सिकन्दर का अन्त वहाँ हुआ, जहाँ उसे दवा की व्यवस्था न हो सकी।

अपनी इस स्थिति पर विचार करते-करते जीवन अपने पिता-परमात्मा की शरण आता है। बहुत दिन के बाद निधिरूप में अपने सर्वस्व, अपने शाश्वत प्राण, अपने लक्ष्य, अपने गन्तव्य, अपने प्रकाश को पाकर उसका अन्तःकरण उमड़ने लगता है, वह कभी-कभी अपनी अब तक की गई ! बीतीं स्थिति पर दुःख और पश्चाताप करता है तो फिर भगवान् से स्नेहपूर्ण शिकायत करता है, उसे भय रहता है, वहीं पुनः इसी भ्रमजाल में न फँसना पड़े, इसिलिये डरता हुआ जीव भगवान् की स्तुति भी करता जाता है, हे प्रभू ! सम्भव है संसार के झंझटों में मैं तुम्हें भूल जाऊँ पर तुम मुझे छोड़ना नहीं। मैं तुम्हारा ही प्राण हूँ, मैं तुम्हारा ही अंश हूँ, माना की प्रमाद बहुत किया, भूलें बहुत की पर अब ऐसा ज्ञान दो प्रभू ऐसी शक्ति दो नाथ जिससे जर्जर जीवन की नाव पार लग जाये। आकर्षणों से भरे इस संसार-सागर से जीवन तरिणी पार उतर जाये!

मुझे मालूम नहीं प्रभू ! तुमसे मैं बिछुड़ा क्यों ? क्या इसमें भी कुछ रहस्य है ? मैं अपनी इच्छा से संसार में आया या तुम्हीं मुझे अकेला छोड़कर मेरे अयानेपन पर, मेरी अतुकान्त भूलों पर हँसने और उसका चिर आनन्द लेने के लिये तुम पर्दे में छुपे हो। किन्तु हे प्रभू ! अब यह खेल खेलने की शक्ति मुझमें नहीं रही। मैंने संसार के माया रूप को जब से पहचान लिया है, तब से एक तुम्हारा ही प्रेम उमड़ रहा है। भीतर भी तुम्हारा प्रेम जाग रहा है और सृष्टि के कण-कण में भी तुम्हारा प्रेम प्रतिभासित हो रहा है। हे प्रभू ! यह कैसी पीड़ा है, जो तुम्हें आँखों से अलग भी नहीं होने देना चाहती और तुममें मिलने, समा जाने का अवसर भी

नहीं देती। अपनी तृणवत् सत्ता से थके हुए जीवन को विश्राम दो, अपनी मधुर गोद में ले लो, प्राणों में छिपा लो, जिससे भय, लज्जा और विषाद के सम्पूर्ण मल-आवरण घुल जायें। यह सब तुम्हारे से ही सम्भव है। संसार की ममता में वह सब कहाँ ? प्रेम के शाश्वत सिन्धु तुम्हीं इतने निर्मल हो कि संसार का सारा मल तुम्हारे अन्दर आकर घुल जाता है। हे प्रभू ! तुम्हें इतने प्रकाशवान् हो कि संसार का सारा अज्ञ-अँधियार तुममें समा जाता है। तुम निर्बल को भी बलवान् करने वाले घृणित को भी हृदय से लगा लेने वाले हो। तुम्हारी शरण छोड़कर जीव अन्यत्र जा भी तो नहीं सकता।

इस प्रकार जब सब ओर परमात्मा का प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देने लगता है, जीव अपनी लघुता की पहचान कर लेता है और कातरभाव से परमात्मा को पुकारता है तो परमात्मा ! उसके अन्तःकरण की गहराई भी स्थिर नहीं रह सकती। वह अन्तःकरण को मथ डालती है और उसमें से दिव्य ईश्वरीय प्रेम निखरता हुआ चला जाता है। प्रेम में ही सुख है, प्रेम ही परमेश्वर है, प्रेम की सत्ता ने चर-अचर, स्थावर-जंगम सबको क्रियाशील बना रखा है। प्रेम ही सम्पूर्ण पवित्र है। अपवित्रता तो आसक्ति थी, मोह था, ममता थी, वासना थी। जब वही न रहे तो मलिनता कैसी ? जीव मात्र के सौन्दर्य का सागर अन्तःकरण में फूट पड़ता है। जीवन मात्र की चैतन्यता की शक्ति अन्तःकरण में जाग उठती है। जब सब अपने, जब सब कुछ अपना तो कहाँ अभाव, कहाँ आशक्ति, कहाँ अज्ञान, सब और मंगल ही मंगल, आनन्द बिखरा दिखाई देने लगता है।

प्रतिक्रिया का नियम तो जड़ वस्तुओं तक में है। कुयें और पोखर की ओर मुख करके बोली गई आवाज भी जब प्रतिध्वनित होकर आ जाती है तो निःस्सीम गहराई से लौटी हुई भावनाओं की प्रतिक्रिया का तो कहना ही क्या ? जीव जिस भावना से परमात्मा की पुकार लगाता है, उसी गहराई से भगवान् का प्रेम, आशीर्वाद और प्रकाश भी उस तक पहुँचने लगता है। उसकी प्रिय वाणी फूटती है और कहती है—"वत्स ! हम तुम दोनों एक ही हैं, तुम मुझसे विलग कब हो ? यह जो तुम खेल खेलते रहे हो वह मेरी ही तो इच्छा थी, उसमें जो कुछ खराब था, उसका दुःख न कर, उसे भी मेरी ही इच्छा मानकर मुझे ही सौंप दें। तूने यह पाप किये हैं, ऐसा भूलकर अब यह मान कि यह तो मेरा ही अभिमान, मेरी ही इच्छा थी अब तू उन सब बुराइयों को मुझे समर्पित करके निर्द्वन्द्व हो जा। जब तू सारे संसार से मोह और ममता के बन्धन हटकार 'अहं विमुक्त' हो रहा तो अपनी भूलों और गलतियों को ही अपनी मानने की भूल क्यों करता है ? अपना सम्पूर्ण अहंकार छोड़कर तू सम्पूर्ण भाव से मेरी शरण में आ गया है तो तेरी पापों को धो डालने का उत्तरदायित्व भी तब तेरा ही है।"

भावनाओं के इस आदान-प्रदान में भी बड़ा रस है। माना कि परमेश्वर दिखाई नहीं देता पर मन की मलिनताओं के प्रति घृणा और विराट् के प्रति प्रेम से निर्मित स्वच्छ जीवन का सुख तो प्रत्यक्ष है ही, जिसके हृदय में सत्य है वह भला किसी से भय क्यों करेगा, जिसके हृदय में सब के लिये प्रेम, दया और करुणा होगी, वह भला किस अभाव से पीड़ित होगा ? प्रेम में वह शक्ति है, जो हिंसक जीव को भी वश में कर लेती है, फिर जब जीव मात्र में परमात्मा और परमात्मा के प्रति प्रेम का भाव उमड़ने लगेगा तो किसी से छल-कपट, द्वेष-दुर्भाव का दुःख मनुष्य क्यों उठायेंगा ?

प्रेम साधना से बढ़कर और कोई साधना नहीं, उसमें आदि से लेकर अन्त तक मधुरता ही मधुरता, सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, किन्तु वह सौन्दर्य संसार के किसी एक पदार्थ या परिस्थिति में उपलब्ध नहीं हो सकती। जीव स्वयं लघु है, उसकी तरह ही हर कण छोटा और अभाव की स्थिति में है, सबका सम्मिलित भाव परमात्मा है, प्रेम उसका निर्विवाद और निर्भय रूपी स्वरूप है इसिलिये हम प्रेम को पवित्र बनाकर ही अपनी लघुता को विभुता में बदल सकते हैं। परमात्मा के प्रेम में ही वह शक्ति है, जो जीव को सामान्य रस माधुर्य और आनन्द प्रदान करती है।

प्रेम के द्वारा सर्वांगीण कल्याण की साधना

आज का युग अपने पराये के भाव को अधिक प्रोत्साहन दे रहा है। प्रत्येक व्यक्ति और अपने परिवार की सुख-समृद्धि के प्रयत्नशील है। पारस्परिक प्रेम-भाव नष्ट हो रहा है। अपने ही परिवार में भी प्राथमिकता अपने व्यक्तित्व को ही देने का यत्न किया जाता है। मान लीजिए कि एक परिवार में आठ व्यक्ति हैं, उन पर दो सौ रुपया मासिक व्यय होता है और गृहस्वामी इतना ही कमा पाता है तो प्रायः यह प्रवृत्ति रही है कि गृह स्वामी को अच्छा भोजन, अच्छा कपड़ा प्राप्त करने की इच्छा होगी, उसके कारण चाहे स्त्री-बालकों को घटिया दर्जे का भोजन, कपड़ा ही क्यों न मिले ? वे समान रूप से सब का एक-सा खान-पान रख सकते हैं। इससे पारस्परिक प्रेम भी बढ़ सकता है क्योंकि अपने लिए अधिक सुख-प्राप्ति के यत्न से दूसरों के मन में जो दुर्भावना उत्पन्न होती है, वह समान-भाव रखने से नहीं होगी।

परायेपन के भाव से संसार में पागलपन और मानसिक चिन्ताएँ बढ़ती जा रही हैं। दुर्भावना और कलह का बोलबाला है। हत्यायें और आत्म-हत्याएँ भी दिन पर दिन बढ़ रही हैं। इन सब में अपना-परायापन ही कारण रूप से विद्यमान है। यदि मनुष्य सर्वात्म-भाव को अपना ले, सभी को अपना मानने लगे तो ऐसी घटनाओं में बहुत कुछ कमी हो सकती है।

इन बुराइयों को दूर करने के लिए प्रेम-पूर्ण वातावरण चाहिए यदि आप अपने प्रति अथवा ईश्वर के प्रति प्रेम करते हैं तो उसकी मात्रा में वृद्धि कीजिए और दूसरों के प्रति भी प्रेम करने का स्वभाव बनाइये प्रेम का यह कार्य पहले अपने घर से ही आरम्भ कीजिए। पत्नी, पुत्र, भाई, बहिन, माता, पिता आदि, प्रेम कीजिए। जब आप स्वयं विश्वास कर लें कि इनके प्रति प्रेम करने में सफल हो गये हैं, तब घर से बाहर निकल प्रेम की सरिता बहा दीजिए।

आपका प्रेम दूसरों के प्रति जैसे-जैसे बढ़ेगा, वैसे-बैसे ही आपकी शक्ति सर्वत्र बढ़ती जायेगी। उसम समय अधिक से अधिक व्यक्ति आपसे प्रेम करते पाये जायेंगे। अधिक से अधिक लोग आपसे मिलने लगेंगे। यदि आप बुरे व्यक्ति पर भी दया और प्रेम प्रदर्शित करेगे तो संभव है कि वह आपके प्रभाव से अपनी बुराइयों को धीरे-धीरे छोड़ दे।

जो लोग आपसे द्वेष करते हैं, उनके प्रति भी द्वेष-भाव मत रखिये और सदा उनके कल्याण की कामना करिये। जो आपके निन्दक, पीड़क, और शत्रु हैं, उनको भी बुरी दृष्टि से मत देखिये। एक लोकोक्ति भी है—'जो तोकूँ काटें बोबे, वाकूँ तू फूल।' जिस व्यक्ति में प्रेम के गुण का अभाव है, उसके प्रति प्रेम की कीजिए। अपने आचरण से उसे प्रेम करना सिखाइये।

बुद्ध, दयानन्द, शंकराचार्य, गाँधी आदि सबने जन-जन में जाकर अपने प्रेममय सन्देश दिया। वे सबसे प्रेम करते और लोंगों के दुःख को अपना ही दुःख समझते थे। ईसा के अनुयायी एवं प्रचारक लोग विभिन्न कार्य करते हुए अपने मत का प्रचार करते थे। उन्होंने धर्म प्रचार के लिये अनेक छोटे काम करने में भी अपने को ही हीन नहीं माना। उन्होंने अपने लिये कभी किसी प्रकार के प्रत्युपकार की माँग नहीं की। उनका उद्देश्य केवल सेवा और प्रेम था। उनके विरोधी उनकी हिंसा में लगे थे, परन्तु उन्होंने प्रेम के बल पर ही अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त की थी।

जो मनुष्य अन्य मनुष्यों की ओर विशेषकर मनुष्यतर प्राणियों की भी सेवा में लगा रहता है, वह निस्संदेह दूसरों के लिए ही जीवित रहता है। उसे अपने दुःख दूर करने में आनन्द नहीं आता, बल्कि स्वयं दुःख पाकर भी वह दूसरों को सुखी करने में सुख मानता है। ऐसे मनुष्यों को स्वर्ग की भी कामना नहीं होती। बल्कि, सच मानिये—उनके लिये तो पृथ्वी पर ही स्वर्ग है।

प्रेम योग की भक्ति साधना

आज भी जिसने एक कड़े काठ को काटकर छेद डाला था, वह भ्रमर सायंकाल एक कमल के फूल पर जा बैठा। कमल के सौन्दर्य और सुवास में भ्रमर का मन कुछ ऐसा विभोर हआ कि रात हो गई, फूल की बिखरी हुई पंखुड़ियाँ सिमटकर कली के आकार में आ गईं। भौंरा भीतर ही बन्द होकर रह गया।

रात भर प्रतीक्षा की, भ्रमर चाहता तो उस कली को कई ओर से छेकर रात भर में कई बार बाहर आता और फिर अन्दर चला जाता। पर वह तो स्वयं भी कली की एक पंखुड़ी हो गया, प्रातःकाल सूर्य की किरण उस पुष्प पर पड़ीं, पंखुड़ियाँ फिर खिली और वह भौंरा वैसे ही रसमग्न अवस्था में बाहर निकल आया।

यह देखकर सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने शिष्यों से कहा—देखा तुमने, प्रेम का यह स्वरूप समझने ही योग्य है।

भक्ति कोई नया गुण नहीं, वह प्रेम का ही एक स्वरूप है। जब हम परमात्मा से प्रेम करने लगते हैं, तो द्रवीभूत अन्तःकरण, सर्वत्र व्याप्त ईश्वरीय सत्ता में सविकल्प तदाकार रूप धारण कर लेता है, इसी को भक्ति कहते हैं। भगवान निर्विकल्प और प्रेमी सविकल्प दोनों एक हो जाते हैं, तो द्वैत भाव भी अद्वैत हो जाता है। इसी बात को शास्त्रकार ने यों कहा है—

"द्रवी भाव पूर्विका मनसो भगवदेकात्मा रूपा सविकल्प वृत्तिर्भक्तिरिति।"

वस्तुतः मनुष्य के अन्तःकरण में प्रेम जब तक स्फुरित न हो तब तक वह स्थूल पिंड मात्र है। जल को लहरें देने के लिये वायु के झोंके आवश्यक हैं, हिलोरें जरूरी हैं। उसी प्रकार जड़ शरीर में भी चेतना में भाव तरंगें तब तक नहीं फूटती हैं जब तक आत्म-चेतना में प्रेम की स्फुरणा न हो। यह प्रेम जहाँ भी स्थिर हो जाता है, वहीं का आकार गुण, स्वभाव और सत्तात्मक रूप ग्रहण कर लेता है, इसलिए प्रेम एक ऐसी सत्ता है, जो मानवीय जड़ता को देवत्व में बदल देती है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने इसी तथ्य की ओर भी अग्रिम सीमा व्यक्त करते हुए लिखा है—

मयि निर्बद्ध हृदयाः साधवः समदर्शिनः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।।

हे अर्जुन ! जिस प्रकार साध्वी स्त्री अपने प्रेम से पति को वश में कर लेती है, उसी प्रकार मेरे परायण हुए मेरे भक्त मुझे वशीभूत कर लेते हैं और मुझे उनकी इच्छानुसार चलना पड़ता है।"

भक्ति प्रेम के विकास की चरम अवस्था है, जिससे अन्तःकरण में मेरे का भाव भी समाप्त हो जाता है और रहता वह भी नहीं जिसका ध्यान किया जा रहा था। न वह रहता है, न यह, दोनों एक हो जाते हैं और भक्त मानवीय स्वरूप में ही ईश्वरीय स्वरूप की उपलब्ध कर लेता है।

भक्ति निःसन्देह ईश्वरीय प्रेम की प्रगाढ़ अवस्था है, पर अनेक लोग ईश्वर-भक्ति से इसीलिये कतराते हुए पाये जाते हैं कि उनका कुछ ऐसा विश्वास होता है कि ईश्वर-भक्त को संसार, बन्धु-बान्धव, स्वजन-परिजन, माया-ममता सब छोड़ देने पड़ते हैं—पर ऐसी धारणा मिथ्या भ्रम है। जो परमेश्वर स्वयं अपने भक्त के प्रेम में आसक्त हो सकता है कि उसका निजी अस्तित्व ही प्रकट न रह जाता हो, वह भगवान् सांसारिक कर्त्तव्यों के प्रति अवहेलना करने की इच्छा क्यों करेगा ?

ऐसी आशंका किसी ने सन्त तुलसीदास के समक्ष भी की थी, तब उन्होंने कहा था—

प्रीति राम सो नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी सन्तन के मते इहै भगत की रीति।।

भक्ति की रीति यह है कि वह भगवान् को प्रेम करे और राग अर्थात् आसक्ति रिस अर्थात् द्वेष को जीतकर नीति-परायण बना रहे।

इस नीति को व्यावहारिक जीवन में धारण करने वाले व्यक्ति की दृष्टि में, संसार में सौन्दर्य के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। प्रेम के साथ वासना का संयोग अर्थात् यदि हम अपने प्रेमास्पद से कुछ चाहते हैं, विनिमय का भाव रखते हैं तो वही आसक्ति है और इसी

प्रकार यदि किसी से द्वेष रखते हैं तो सौन्दर्य-दृष्टि का अन्त होता है। इसलिए भक्ति यदि नीति-पथ पर आरूढ़ रहती है, अर्थात् हम सृष्टि के कण-कण को 'सीया राम मय' ,जानकर निष्काम व्यवहार करते रहें, तो ऐसे भगवद्‌यक्त के लिये यह दृश्य संसार ही अलौकिक आनन्द का धाम बन जाता है।

भगवान के प्रति इस प्रकार का पवित्र प्रेम जिसके भी अन्तःकरण में जाग्रत होगा, उसके लिये इस संसार में दुःखद कुछ रहेगा ही नहीं, दुःख का कारण तो हमारी अनीति और दोष-दृष्टि है। हम क्यों मानें कि कोई बुरा कर रहा है, पर यदि बुरा कर भी रहा है तो भक्त को अपनी बुरी भावनायें भी तो मारनी और उनकी उपेक्षा करनी पड़ती है। उसी प्रकार संसार की अभद्रता को मारता और उसकी अपेक्षा करता हुआ भी भक्त दोषरहित बना रहता है।

वह सर्वत्र उल्लास ढूँढ़ता और वही पाता है। उसे नदियों का प्रवाह, समुद्र के ज्वार-भाटे, पुष्पों के सौन्दर्य, नक्षत्रों का प्रकाश, चिड़ियों की चहक, फूलों की महक और सम्पूर्ण जीवों की चेतना में आनन्द के ही दर्शन होने लगते हैं। यह वृत्ति रागात्मक होते हुए भी सांसारिक मायामोह से विमुक्त और भगवद् भावना में तल्लीन होती है। गीताकार ने इसी तथ्य को उल्लेख करते हुए लिखा है—

सर्व भूतस्थतात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि।
इक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः।।

इस प्रकार मेरे में युक्त हुआ मेरा भक्त, सृष्टि के सम्पूर्ण प्राणियों में मुझे ही देखता और सबसे प्रेम की इस अवस्था को समाधि-सुख की तरह अनुभव करता है।

इन पंक्तियों में यह स्पष्ट है कि भगवान और सृष्टि दो रूप नहीं है। संसार परमात्मा का ही तो विराट् रूप है। जब हम परमात्मा की भक्ति करते हैं तो वह भावना सृष्टि के प्रत्येक प्राणी को भी बाँधती है। इस तरह भक्ति तो मानवीय कर्त्तव्यों से बाँधने का सर्व सुदृढ़ आधार है। यदि व्यक्ति उस में नहीं ढल पाता तो उसका सीधा-साधा अर्थ यह है कि उसे किसी स्वरूप, मूर्ति, नाम या स्थल की पूजा की, भगवान् से प्रेम नहीं किया। भक्ति तो भावनाओं का वह विस्तार है, जिससे पेड़, पौधे और पत्थर तक अछूते नहीं रह सकते। वह भला सगे-सम्बन्धी, स्वजातियों के प्रति-बिलगता का भाव क्यों स्पष्ट आने देगा, जो उसे भक्ति से रोका जाये।

भक्ति आत्मा के विकास की सम्पूर्ण साधनाओं का प्राण है, पर उसके तत्वज्ञान को कोई प्रेमी अन्तःकरण ही समझ सकता है। जो प्रेमी तत्व को समझता है, वही सच्चा भक्त है, वही सच्चा ईश्वर-परायण है। यह तथ्य समझने ही योग्य है।

निष्काम भक्ति में दुहरा लाभ

इस विश्व में सब से बड़ा रस प्रेम का है। इस की एक-एक बूँद के लिए आत्मा तरसती है और जहाँ कहीं उसे इस मधुर मधु की एक बूँद भी उपलब्ध हो जाती है, वहीं वह उसकी बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हो जाती है। बालक में प्रेम भाव की मान्यता करके माता उस पर अपना सब कुछ न्यौछावर करती है और कुरूप एवं गुण रहित होते हुए भी उसे सुन्दर एवं गुणवान मानती है। पतिव्रता को अपना पति प्राणप्रिय होता है और पत्नीव्रती पति अपनी धर्मपत्नी पर प्राण निछावर करता है। हो सकता है कि इसमें स्वार्थ का भी कुछ अंश शामिल हो पर प्रधानता प्रेम की ही होती है। प्रेमरहित स्वार्थ के लिए एक सीमा तक ही मनुष्य त्याग कर सकता है। पर सच्चा प्रेम जहाँ है, वहाँ प्रेमी की आत्मा उसका महान मूल्य स्वयमेव जान लेती है और उसके लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करना भी सहज ही हो जाता है।

सुख और शान्ति के स्थल तलाश करने के लिए लोग जगह-जगह भटकते रहते हैं। कोई एकान्त में, कोई नदी पहाड़ों के प्राकृतिक दृश्यों में, कोई तीर्थ पुरियों में प्रसन्नता एवं शान्ति प्रदान करने वाली परिस्थितियाँ ढूँढ़ते हैं, पर वस्तुतः आनन्द का स्थान वही है जहाँ प्रेमीजन बसते हैं। अपने से प्रेम करने वाले, सहानुभूति रखने वाले, सान्निध्य से प्रसन्नता अनुभव करने वाले स्वजन जहाँ रहते हैं वहाँ मनुष्य

दौड़-दौड़कर जाता है। परदेश में प्रचुर जीविका एवं सुख-सुविधा होते हुए भी कितने ही व्यवसायी अपनी जन्मभूमि के छोटे से गाँवों में पहुँचने को लालायित रहते हैं। अपने प्रियजन जहाँ रहते हैं वस्तुतः वह स्थान स्वर्ग के समान ही आनन्ददायक लगता है जननी जन्मभूमि को स्वर्गादपि गरीयसी कहा गया है। इस आस्था में प्रेम भावना ही एकमात्र आधार है।

आत्मा की सबसे बड़ी श्रेष्ठता प्रेम भावना है। उच्च स्तर पर जिनका अन्तःकरण पहुँच चुका है उन्हें सभी अपने लगते हैं, सभी के प्रति ममता एवं आत्मीयता होती है। सभी के प्रति प्यार उमड़ता है। सेवा, दया, करुणा, सहायता, सहयोग, क्षमा, उदारता, दानशीलता जैसी अगणित सत्प्रवृत्तियाँ प्रेम भावना की छाया मात्र हैं। जिस अन्तःकरण में दूसरों के प्रति प्रेम उमड़ेगा, जिसे दूसरे लोग भी अपने आत्मीय लगेंगे वही तो किसी के साथ उपकार जैसा आचरण कर सकेगा, प्रेम के अभाव में दिखाऊ उदारता या तो किसी को ठगने के लिए होती है या यश प्राप्त करने के लिये। यह दोनों प्रयोजन जहाँ पूरे न होते होंगे, वहाँ झूठा प्रेम तुरन्त बदल जायेगा। किन्तु जहाँ प्रेम का निवास ही है उस अन्तःकरण में से सौजन्य की सुगन्ध निरन्तर स्वयमेव उड़ती रहेगी।

महान् व्यक्ति केवल प्रेमी ही हो सकता है। उसी में उच्चगुणों का सुस्थिर स्थायित्व रह सकता है। दूसरे लोग शिष्टाचार की सज्जनता से, मोर जैसी मधुरता से, दूसरों को मोहित कर सकते हैं पर परीक्षा की घड़ियों में उनकी कलई तुरन्त खुल जाती है। कठिन अवसरों पर मनुष्य के पैरों को डगमगाने से बचाने और उच्च आदर्शों पर जमाये रखने की शक्ति केवल प्रेम में है। आदर्शों के प्रति, मानवता के प्रति, धर्म के प्रति प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने वाला ही अपने आपको खतरे में डालकर अपनी मूल्यवान प्रेम भावनाओं को सुरक्षित रख सकता है। नीरस, रुखे और स्वार्थी व्यक्ति दूसरों की पीर क्या जान सकते हैं ? और किसी के कष्ट में आँसू बहाने लायक तरलता उनके कठोर मानस में कहाँ से आ सकती है ?

उपनिषदों ने इस विश्व प्रेम के परमात्मा के दर्शन किये हैं। **"रसो वै सः'** की घोषणा करते हुए शास्त्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम ही परमात्मा है। परमात्मा का सजीव मूर्तिमान निवास यदि कहीं देखना हो तो प्रेमी का हृदय ही इसका उपयुक्त स्थान हो सकता है। आत्मा का मूल्यांकन प्रेम भावनाओं की रसायन सेवन करने से ही होता है। वह इसे ही पी-पीकर परमात्मा बन जाता है। स्वाति की बूँद सीप के गर्भ में जाकर मोती बन जाती है आत्मा रूपी सीप में जब प्रेम की स्वाँति बूँद प्रवेश करती है तो वहाँ थोड़े ही समय में परमात्मा रूपी मोती का दर्शन होता है। धूप की गर्मी पाते ही कली खिलकर फूल के रूप में परिणित हो जाती है। आत्मा पर प्रेम का प्रकाश पड़ने से वह परमात्मा के रूप में, महात्मा के रूप में, विश्वात्मा के रूप में विकसित हुई दृष्टिगोचर होने लगती है। आत्मविकास का आधार आखिर प्रेम ही तो है।

परमात्मा को पकड़ने का, वश में करने का, प्रेम के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। भक्ति का अर्थ है प्रेम। भक्त और प्रेमी दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है। इस संसार का यह प्रकट रहस्य है कि जिस वस्तु को हम प्रेम करते हैं वह मिल जाती है। विद्या, धन, स्वास्थ्य, कीर्ति, वासना, विलासिता आदि जो कुछ हमें प्यारा है उसके लिए प्रयत्न किये जाते हैं और उन प्रयत्नों के पीछे जितना उत्साह, विवेक, श्रम एवं मनोयोग लगता है उतनी उसमें सफलता भी मिलती है। आध्यात्म जगत में भी यही नियम काम करता है। आत्म-कल्याण में, परमात्मा की प्राप्ति यदि हमारी प्रीति और प्रतीति सच्ची होगी तो उस लक्ष्य की प्राप्ति भी सुनिश्चित हो जायेगी।

सकाम उपासना से लाभ नहीं होता ऐसी बात नहीं है। जब सभी को मजदूरी मिलती है तो भगवान किसी भजन करने वाले को मजदूरी क्यों न देंगे ? जब भौतिक पुरुषार्थों का लाभ मिलता है तो आध्यात्मिक पुरुषार्थ क्यों निष्फल जायेगा ? जितना हमारा भजन होगा, जिस श्रेणी की हमारी श्रद्धा होगी एवं जैसा भाव होगा उसके अनुरूप हिसाब चुकाने में भगवान के यहाँ

अन्याय नहीं होता। पर यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि व्यापार बुद्धि से किया हुआ भजन अपने अनुपात से ही लाभ उत्पन्न कर सकता है।

निष्काम भाव से आत्म-ज्ञान करने वाली पत्नी विवाह के बाद ही पति की विशाल सम्पत्ति की अधिकारिणी बन जाती है। पर वेश्या को यह लाभ कहाँ मिलता है ? वह अपने शरीर का इतने समय जितना मूल्य ठहरा लेती है, फिर उसे उतना ही मिलता है। सारे जीवन अनेक पुरुषों को शरीर बेचते रहने पर भी वह उतना नहीं कमा सकती जितना धर्मपत्नी को एक दिन में पति के कमाये हुए पर उत्तराधिकार मिल जाता है। फिर वेश्या का आदर भी किसी की दृष्टि में क्या है ? पत्नी के बीमार होने पर पति उसकी चिकित्सा पर अपनी सारी कमाई खर्च कर सकता है, अपना रक्त भी दे सकता है, पर वेश्या के बीमार होने पर कौन व्यभिचारी उसके लिए कुछ भी त्याग करने करने को इच्छुक होगा ? भक्ति का वेश्यावृत्ति की तरह नहीं पतिव्रत की तरह प्रयोग करना चाहिए। भक्ति भावना उपासना का मुख्य लाभ सम्पदाऐं जुटाना नहीं, आत्मकल्याण ही है। भक्ति का उद्देश्य मानव अन्तःकरण में प्रेम भावना की अभिवृद्धि करना है। जिससे वह महान् मानव बनकर अपने चारों ओर सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् से परिपूर्ण एक दिव्य वातावरण उत्पन्न कर सके।

निष्काम उपासना में दुहरा लाभ है। घट-घटवासी, सर्वव्यापी, भगवान यह भली प्रकार जानते हैं कि मेरे किस पुत्र को क्या कष्ट है। वे करुणा के सागर अनन्त वात्सल्य से ओत-प्रोत हैं, प्राणीमात्र का निरन्तर हित साधन करते हैं तो फिर अपने भक्तों का क्यों न करेंगे ? हम स्वयं नहीं जानते कि हमारा हित किसमें और अनहित किसमें है ? रोगी को क्या पता कि उसके लिए क्या आहार पथ्य और कुपथ्य है ? इसे वैद्य ही जानता है। जो कुछ हमारे लिए आवश्यक है वह मिलने वाला है। उस उपलब्धि को हम परमात्मा पर ही क्यों न छोड़ दें। अपना कर्त्तव्य-पालन करने की जिम्मेदारी निवाहते हुए फल का निर्णय उस करुणानिधान पर ही क्यों न छोड़ दें जो अपनी सहज उदारता से हमें निरन्तर बहुत कुछ देता ही रहता है।

सच्चा प्रेम निष्काम भावना की अपेक्षा करता है। स्वार्थपूर्ण प्रेम न संसार में सफल होता है और न आत्मिक क्षेत्र में। उससे कोई मनुष्य अपना बनता है और न परमात्मा। प्रेम का स्वरूप ही निस्वार्थ है। परमात्मा से कामना मिश्रित नकली प्रेम कहाँ तक निभ सकेगा ? जैसे मतलब की दोस्ती जरा सी बात पर टूट जाती है वैसे ही सकाम कामना वाली भक्ति में भी स्थायित्व कहाँ होता है ? मतलब सिद्ध हो गया तो फिर भक्ति से क्या प्रयोजन ? और मतलब न निकला तो फिर पूजा-पाठ में सिर मारने से क्या लाभ ? इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में स्वार्थपूर्ण भक्ति टूटती है। उसका अन्त असफलता में ही होता है।

हमारी साधना आत्म-कल्याण के लिए निष्काम और निस्वार्थ भाव से होनी चाहिए। सच्चे प्रेमी की सच्ची भक्ति का विकास ही साधना का लक्ष्य है। इससे आत्म-कल्याण और लौकिक सुख-शक्ति का दुहरा लाभ है। हमारे लिये यही श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर है।

जीवन की रिक्तता प्रेम प्रवृत्ति से ही भरेगी

देखते हैं दुनिया प्रगति कर रही है। धन बढ़ रहा है। विद्या और बुद्धि का चमत्कार चारों ओर बिखरा पड़ा है। विज्ञान ने देव लोक जैसी सुविधायें इस धरती पर प्रस्तुत कर दी हैं। मनोरंजन के माध्यम तेजी से बढ़ते चले जा रहे हैं। चिकित्सा ने मौत को चुनौती दी है और भी न जाने क्या-क्या बढ़ता चला जा रहा है।

इस प्रगति के युग में न जाने कौन सी विकृति मनुष्य के भीतर घुसती चली जा रही है जिसने वह सूना, खोखला, एकांकी, डरावना और खोया लुटा सा बन रहा है। न किसी के जीवन में आनन्द, न उल्लास, न सन्तोष, न शान्ति। मदिरा पीकर उन्मत्त फिरने वालों की तरह तुच्छ सी उपलब्धियों पर आदमी ऐंठा तो फिरता है, दूसरों पर धाक जमाने की कुचालों में तो उलझा है पर उस उमंग से दिन-दिन वंचित ही

होता चला जा रहा है जो आंतरिक शान्ति और समस्वरता के आधार पर उत्पन्न होती है और जिसके बिना जलन, खीज और अतृप्ति ही जीवन में शेष रह जाती है।

क्या खो गया आदमी से ? किस अभाव में ग्रस्त है मनुष्य ? यह विचारना होगा। स्वल्प साधनों में जब करोड़ों वर्षों से शान्ति और सन्तोषपूर्वक जिया जाता रहा है तो इतने प्रचुर साधनों के रहते, इतना उद्वेग क्यों। इनते असन्तोष और नैराश्य का कारण क्या ? जिससे विक्षिप्त वैताल की तरह आदमी को सन्तोष की प्यास में हर दरवाजे से टकराना पड़े और हर जगह से खाली हाथ लौटना पड़े ?

सचमुच किसी बड़े अभाव ने मनुष्य पर आक्रमण किया है ? सचमुच कोई बड़ी भूल हो गयी है। वस्तुतः कुछ बड़ी चीज गुम हो गई है। यह है—प्रेम भावना का अभाव, जिसने सब कुछ होते हुए भी मनुष्य को कुछ भी नहीं जैसी स्थिति में ला पटका है।

प्रेम—जिसकी सत्ता, महत्ता और उपयोगिता का इन दिनों लगभग विस्मरण जैसा ही कर दिया है, मानव जीवन की सबसे बड़ी विभूति है। शरीर से ऊपर उठकर जो कुछ आदमी के पास 'दिव्य' है। उसकी तृप्ति प्रेम के अतिरिक्त और किसी से हो ही नहीं सकती ? शरीर में ६५ प्रतिशत पानी का अंश है। उसे जीवित रखने के लिए पानी चाहिए। प्यास का समाधान किये बिना शरीर की स्थिरता नहीं। प्यास को सहन कर सकना कठिन है। उसके बिना काया सूखती, मुरझाती, कुम्हलाती चली जायेगी और क्रमशः अपने अस्तित्व को ही गँवा देगी।

शरीर से ऊपर जो 'दिव्य' है। उसकी संरचना में 'प्रेम का बाहुल्य है। उसे सजीव रखने के लिए प्रेम सिंचन अनिवार्य है। यदि वह न मिल सके तो भीतर मरघट ही जलेगा। तब आन्तरिक उद्वेग, अन्तरंग के सारे ढाँचे को लड़खड़ा देगा। लड़खड़ाहट के साथ आज की दुनिया जी रही है। बढ़ती हुई नशेबाजी के पीछे एक बड़ा कारण यही है कि प्रेम के अभाव से उत्पन्न अन्तरंग की रिक्तता का सहन कर सकना सम्भव नहीं हो पा रहा है और इस अभाव से उत्पन्न आन्तरिक चीत्कार को दबाने के लिए नशे पिये जा रहे हैं। गम गलत करना आज की नशेबाजी का प्रमुख कारण है। नींद की गोलियाँ खाये बिना रात नहीं कटती। नशा पिये बिना दिन नहीं बीतता। तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग का यही हाल है। पिछड़े हुए लोग भी इसी तरह जिन्दगी की लाश ढो रहे हैं।

प्रेम—व्यसन नहीं है। भावुकता का उभार भी नहीं है। इसे सम्वेदनात्मक दुर्बलता नहीं समझा जाना चाहिए। यह आत्मा की प्यास है। वह एकाकी, बन्दी की तरह काया में कैद रहकर गुजारा नहीं कर सकता। उसका कोई अपना होना चाहिए। वह किसी का होकर रहना चाहता है। मिलन ने इस दुनियाँ को सृजा है। ब्रह्मा ने माया को साथ लिया—शिव ने शक्ति का आंचल पकड़ा। इसके बिना यह विश्व उपवन अस्तित्व में ही नहीं आता। सृजन का आधार 'मिलन' है। रसायन शास्त्र मिलने से उत्पन्न अद्भुत सम्भावनाओं का रहस्योद्घाटन करता है। विद्युत तरंगें ऋण और धन प्रवाहों के मिले बिना गतिशील ही नहीं होतीं। प्राणियों का जन्म रति और प्राण का योग हुए बिना कैसे सम्भव हो सकता है।

इसमें जो कुछ 'दिव्य' है, वह भी जड़ की भाँति ही 'मिलन' की अपेक्षा करता है। यह 'अन्तः मिलन' आत्माओं की पारस्परिक सच्ची और निकटतम घनिष्ठता पर आधारित है। इसी को प्रेम कहते हैं। जड़ जगत में एक और एक मिलकर दो होते हैं। चेतन जगत में एक और एक मिलकर ग्यारह की उक्ति ही प्रचलित है। वस्तुतः वे असीम और अनन्त बनते हैं। मिलन ही सृजन है। उसी में से उल्लास फूटता है और प्रगति में सहस्रमुखी सम्भावनायें सामने प्रस्तुत होती हैं। इसके विपरीत वियोग—सूनापन, एकाकीपन इतना भयावह है कि उसे सहन करना कठिन पड़ता है।

अणु को अपने परिवार से विलग किया जा सकता है तो उससे भयानक विस्फोट होता है। अणु विखण्ड की प्रक्रिया आज विश्व को ग्रसित कर सकने की विभीषिका बनी बैठी है। सती के वियोग में शिव विक्षिप्त हो गये। मृत काया को कन्धे पर रखकर वे ताण्डव नृत्य करने लगे और संसार के लिए संकट उत्पन्न हो गया। प्रेम

विहीन, एकाकी, सूना, व्यक्ति कितना कर्कश हो सकता है, कितना अतृप्त और उद्विग्न रह सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज के जन समाज में से प्रत्येक को देखा जा सकता है।

वैभव बढ़ा तो बुद्धि का चमत्कार और साधनों का बाहुल्य भी। पर अन्तरंग को भुला दिया गया। शरीर से ऊपर भी कछ है क्या उसे समझने की उपेक्षा की गई। सो शरीर को सब कुछ मिलने पर भी बना कुछ नहीं। भीतर की प्यास ने भौतिक उपलब्धियों को निरर्थक सिद्ध कर दिया। निरर्थक ही नहीं वे अनर्थ मूलक भी बनती चली गईं। 'दिव्य' का नियन्त्रण न रहने पर 'जड़' उच्छृंखल सिद्ध हुआ। घातक-विनाशकारी, भयावह और सत्यानाशी। क्रम यही चलता रहा। वापिस लौटने के लिए, भूल सुधारने के लिये, कुछ किया, सोचा न जा सका, तो वह दिन दूर नहीं जब यह तथाकथित प्रगति मनुष्य के भीतर का 'मनुष्य' खा जायेगी और आदमी नर-पशु बनकर प्रेत पिशाचों की तरह दुनियाँ के मरघट में क्रन्दन भरा कोलाहल करता हुआ दिखाई देगा।

प्रेम कितना सरस, मधुर, सुखद और सृजनात्मक है, इसकी एक झाँकी सच्चे हृदय से सम्बद्ध हुए दाम्पत्य जीवन में देखी जा सकती है। यों यह छाया मात्र है। क्योंकि इसमें 'अर्थ' और 'काम' के दूसरे मौलिक तत्व भी मिले रहते हैं। प्रेम इससे ऊँचा है उसमें उपेक्षा नहीं रहती, केवल अपना अनुदान ही इतना प्रबल होता है जिनके आधार पर साथी के सहयोग के बिना भी परिपूर्ण आनन्द का प्रयास किया जा सके। मीरा, सूर, तुलसी आदि सन्तों ने भगवान से प्रेम किया और प्रतिदान की अपेक्षा न करते हुए अपने उत्पादन से अपना घर भर लिया, मनुष्य से माता की कुछ उपेक्षा हो भी सकती है पर अन्य जीवों में जो मातृभावना पाई जाती है उस उदार वात्सल्य को 'प्रेम' ही कहना चाहिए। यह कितना मधुर और सरस है, इसे किसी माता का हृदय पढ़कर ही देखा समझा जा सकता है।

पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेयसी में 'प्रेम' की छाया देखी जा सकती है। छाया इसलिये कि उसके आकर्षणों में भौतिक कारण जुड़े रहते हैं और उन आकर्षणों में न्यूनता आने पर आधार डगमगाता देखा जाता है। फिर भी छाया को देखकर मूलवस्तु का अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कितना अधिक दिव्य और कितना उल्लासपूर्ण होगा।

प्रेम आत्मा की प्रकृति और प्रवृत्ति है। आन्तरिक विकास का एक क्रम है। 'स्व' की सीमा बद्धता का उल्लंघन किये बिना, भव बन्धनों से मुक्ति नहीं। जो अपनेपन में जितना खोया, जकड़ा हुआ है वह उतना ही एकाकीपन अनुभव करेगा। "न हम किसी के" यह स्थिति अत्यधिक भयावह है। ऐसा मनुष्य स्वार्थ के लिये किसी के साथ भी, कुछ भी कर सकता है। उसकी नैतिकता सभी सीमाओं का उल्लंघन कर सकती है। नैतिक मर्यादायें केवल सहृदयता पर अवलम्बित हैं। कानून और समाज के दण्ड से बच निकलना वर्तमान चतुरता के लिये बाँये हाथ का खेल है। सज्जनता का ढोंग भरा प्रदर्शन रच लेना कुशल लोगों के लिये तनिक भी कठिन नहीं है। नीति और सदाचार की वास्तविकता सहृदयता पर निर्भर है। दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट समझने, दूसरों का सुख, सुविधा को अपनी जैसी समझने की कोमल सम्वेदनायें जब तक अन्तःकरण में प्रस्फुटित न होंगी. तब तक कोई मनुष्य सच्चे अर्थों में न सच्चरित्र हो सकता है और न उदार। दूसरों के प्रति ममता भरी कोमल सम्वेदनाओं के इस आधार को ही प्रेम' कहते हैं।

आरम्भिक अभ्यास के लिये—वह स्त्री, पुत्रों के, साथी सहयोगियों के, संत सज्जनों के माध्यम से भी विकसित किया जा सकता है। पर उतनी ही परिधि में उसे सीमित नहीं रखा जा सकता। प्रेम—ईश्वर की तरह व्यापक है, तत्व है, उसे संकीर्ण सीमाबद्धता से अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। व्यायामशाला में श्रम करके पहलवान बना जाता है पर उसका कार्य-क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं हो सकता। पति पत्नी परस्पर भरपूर प्रेम करें यह उचित भी है और आवश्यक भी। क्योंकि प्रसुप्त प्रेम भावनाओं का विकास करने के लिय, गमले में बोये हुए पौधे की तरह आरम्भ में वहीं उचित है पर विशाल वृक्ष का वह पौधा सदा गमले तक

सीमित नहीं रखा जा सकता। थोड़ा बढ़ने पर ऐसे स्थान पर आरोपित करना पड़ता है जहाँ उसे विशाल वृक्ष रूप में विकसित होने का अवसर मिले। प्रणय बन्धन के समय गृहस्थ जमाने की चिन्ता करना उचित है, पर बाल-बच्चों के माध्यम से प्रेम का क्षेत्र विस्तार करने के उपरान्त, उसे वानप्रस्थ के माध्यम से विश्वव्यापी बनाने का कदम उठाया ही जाना चाहिए। जो प्रेम दो व्यक्तियों तक सीमित होकर रह जाय उसे 'अन्धा' और 'अपंग' की श्रेणी में रखा जायेगा। यह बात पुत्र, मित्र आदि के सम्बन्ध में लागू होती है। इनसे स्नेह, सद्भाव बढ़ाकर शुष्क प्रेम अंकुरों में हरित और पल्लवित किया जा सकता है। पर उसकी सार्थकता और पूर्णता तो 'विश्व प्रेम' के रूप में परिणित होने पर ही सम्भव है।

आज आन्तरिक रिक्तता प्रेम भावनाओं के कुण्ठित हो जाने के कारण उत्पन्न हुई है। साधन रहते हुए भी घोर दरिद्र जैसी दयनीय स्थिति में पड़े रहने का एक ही कारण है। किसी को अपना और अपने को किसी का न समझना की संकीर्ण स्वार्थपरता में उलझे रहना। इन्द्रिय सुखों, तृष्णाओं, वैयक्तिक सम्पन्नता की महत्वाकांक्षाओं में उलझा मनुष्य—जाल में जकड़े हुये हिरन की तरह तड़पता ही रहेगा। 'पर' को 'स्व' में और 'स्व' को 'पर' में घुलाने की प्रवृत्ति ही मानवीय सन्तोष और उत्कर्ष का आधार बन सकती है। इस प्रेम प्रवृत्ति को विकसित करके ही जीवन की रिक्तता और शून्यता को भरा जा सकता है। व्यक्ति और समाज में उल्लास, चरित्र एवं उत्कर्ष का उद्‌भव 'प्रेम' प्रवृत्ति के विकसित किये बिना और किसी तरह सम्भव न हो सकेगा।

विरानों से प्यार-अपनों का तिरस्कार, ऐसा क्यों ?

दूसरों से हमें प्यार करना चाहिए पर उस प्रेम परिधि से अपने को अलग नहीं रखना चाहिए। सेवा-सहायता दूसरों की भी करनी चाहिए पर उससे वंचित अपने को भी नहीं रखना चाहिए।

वस्तुतः हम दूसरों से प्यार और अपने से शत्रुता बरतते रहते हैं। वस्त्रों को साफ-सुथरा रखते हैं पर शरीर को रोगों से ग्रसित, और फटा-टूटा ही बनाये रहते हैं। वस्त्र भी अपने हैं, उनकी साज-सँभाल रखनी चाहिए, उन्हें प्रभावोत्पादक और करीने का होना चाहिए पर कम से कम उतना ही ध्यान शरीर का भी तो रखा जाय। वस्त्रों सम्बन्धी सर्तकता और सुरुचि को शरीर तक भी यदि विकसित किया गया होता तो जरूर आहार-विहार की व्यवस्था पर ध्यान जाता और काया ऐसी जीर्ण-शीर्ण मैली कुचैली न होती जैसी कि इन दिनों हो रही है।

पुत्र और पत्नी को सुखी, समुन्नत और सम्मानित रखने के लिए आवश्यक साधन जुटाना ठीक है। जिन्हें हम प्यार करें उनकी सेवा-सहायता भी करनी चाहिए और उनकी अच्छी स्थिति से सन्तुष्ट होना चाहिए। इस दृष्टि से पुत्र और पत्नी के लिये किये गये प्रयत्नों को उचित ही कहा जायेगा। पर मन रूपी पुत्र और बुद्धि रूपी पत्नी दयनीय स्थिति में रहे—दुःख पायें, असम्मानित, अभावग्रस्त और असन्तुष्ट रहें, उनकी ओर ध्यान न जाय, इस उपेक्षा को क्यों स्वीकार किया जाय ?

पुत्र को आवारागर्दी से रोकते हैं, कुसंग से बचाते हैं, सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करते हैं। पर क्या वे ही प्रयत्न हमने मन के लिये किये ? पुत्र इसी जन्म का साथी है, सो भी उसकी वफादारी है। पर मन तो जन्म-जन्मान्तरों तक अभिन्न साथी, मित्र और पुत्र है उसकी अवारागर्दी, कुसंगति क्यों सहन की जाती है, उसे रोकने का प्रयत्न क्यों नहीं किया जाता ?

बुद्धि से बढ़कर अर्धांगिनी और कौन हो सकती है ? शरीर न रहने पर पत्नी बिछुड़ जाती है, निरन्तर साथ रहने वाली और अपनी समग्र चेष्टा एक ही केन्द्र पर नियाजित करने वाली पत्नी किस की है। स्त्री को अपने बच्चे, शरीर, परिवार, भविष्य को भी देखना पड़ता है। इसके साथ ही वह पति की सुविधा सँजोती है पर बुद्धि रूपी पत्नी की तो समस्त चेष्टाएँ अपने लिये ही समर्पित हैं। वह हर जन्म में साथ सती होती है और सच्चे अर्थों में अर्धांगिनी होकर रहती है। उसे सुयोग्य, सुसंस्कृत,

सन्मार्गगामिनी, सशक्त और साधन-सम्पन्न बनाने के लिये जिस स्वाध्याय और सत्संग आदि जुटाने की आवश्यकता थी, वह विद्या व्यवस्था कहाँ की ? बुद्धि का पोषण जिस विद्या से होता है उसके लिये हमारा प्रयास कितना है ? शरीर की पत्नी के लिये बहुमूल्य उपहार मिले यह ठीक है, पर बुद्धि रूपी अर्धांगिनी को दीन-दुःखी, भूखी-प्यासी, निर्वस्त्र, रुग्ण, चिन्तित रहने और जहाँ-तहाँ भटकने दिया जाय यह भी तो शोभनीय नहीं। प्यार से उस बेचारी को वंचित क्यों रखा जाय ?

अहंकार की तृप्ति के लिये सारा सरंजाम खड़ा किया गया। बड़ा सा ठाठ-बाट रोपा गया पर आत्मा एक कोने में पड़ी सिसकती रही। उसकी इच्छा-आवश्यकता को कभी सुना पूछा नहीं गया। गधे को शाही सज्जा के साथ सजाया गया; पर गाय प्यासी मर गई। यह पक्षपात क्यों ? यह एकांगी असन्तुलन क्यों ?

लोक में यश-वैभव पाने के लिये भारी दौड़-धूप की जाती रही पर परलोक की बात कभी सोची भी नहीं गई। सराय पर दौलत निछावर कर दी पर घर की टूटी झोंपड़ी का छप्पर तक न बना। वर्तमान् ही सामने रहा भविष्य तो आँखों से ओझल ही बना रहा।

बाहर प्यार बखेरे और भीतर निष्ठुरता बनी रहे तो बात कुछ बनेगी नहीं ? बाहर बालों की मनुहार अपने की उपेक्षा, यह रीति-नीति कुछ जँचेगी नहीं ?

हम अपने को प्यार करें ताकि ईश्वर का प्यार पा सकें

महाप्रभु ईसा ने अपने शिष्यों से कहा—तुम मुझे प्रभु कहते हो, मुझे प्यार करते हो, मुझे श्रेष्ठ मानते हो और मेरे लिए सब कुछ समर्पण करना चाहते हो सो ठीक है। बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है, जिस किसी के लिये भी किया जाता है वह लौटकर उस करने वाले के पास ही पहुँचता है। तुम्हारी यह आकांक्षा वस्तुतः अपने प्यार करने, श्रेष्ठ मानने और आत्मा के सामने आत्म-समर्पण करने के रूप में ही विकसित होगी। दर्पण में सुन्दर छवि देखने की प्रसन्नता, वस्तुतः अपनी ही सुसज्जा की अभिव्यक्ति है। दूसरों के सामने अपनी श्रेष्ठता प्रकट करना उसी के लिये सम्भव है जो भीतर से श्रेष्ठ है। प्रभु की राह पर बढ़ाया गया हर कदम अपनी आत्मिक प्रगति के लिये किया गया प्रयास ही है। जो कुछ औरों के लिये कहा जाता है वस्तुतः वह अपने लिये किया हुआ कर्म ही है। दूसरों के साथ अन्याय करना अपने साथ ही अन्याय करना है। हम अपने अतिरिक्त और किसी को नहीं ठग सकते। दूसरों के प्रति असज्जनता बरतकर अपने आपके साथ ही दुष्ट दुर्व्यवहार किया जाता है।

दूसरों को प्रसन्न करना, अपने आप को प्रसन्न करने का ही क्रिया-कलाप है। गेंद को उछालना अपनी माँसपेशियों को बलिष्ठ बनाने के अतिरिक्त और क्या है। गेंद को उछालकर हम कोई एहसान नहीं करते। इसके बिना उसका हर्ज नहीं होगा। यदि खेलना बन्द कर दिया जाय तो उन क्रीड़ा उपकरणों की क्षति हो सकती है ? अपने को बलिष्ठता के आनन्द से वंचित रहना पड़ेगा।

ईश्वर रूठा हुआ नहीं है कि उसे मनाने की मनुहार करनी पड़े। रूठा तो अपना स्वभाव और कर्म है। मनाना उसी को चाहिये। अपने आप से ही प्रार्थना करें कि कुचाल छोड़े। मन को मना लिया, आत्मा को उठा लिया तो समझना चाहिये कि ईश्वर की प्रार्थना सफल हो गई और उसका अनुग्रह उपलब्ध हो गया।

गिरे हुओं को उठाना, पिछड़े हुओं को आगे बढ़ाना, भूले को राह बताना और जो अशान्त हो रहा है उसे शान्तिदायक स्थान पर पहुँचा देना। यह वस्तुतः ईश्वर की सेवा ही है। जब हम दुःख और दरिद्र को देखकर व्यथित होते हैं और मलीनता को स्वच्छता में बदलने के लिए बढ़ते हैं तो समझना चाहिये यह कृत्य ईश्वर के लिये, उसकी प्रसन्नता के लिए ही किये जा रहे हैं। दूसरों की सेवा-सहायता अपनी ही सेवा-सहायता है।

प्रार्थना उसी की सार्थक है जो आत्मा को परमात्मा में घुला देने के लिए व्याकुलता लिए हुए हो। जो अपने को परमात्मा जैसा महान् बनाने के लिए तड़पता है, जो प्रभु को जीवन

के कण-कण में घुला लेने के लिए बेचैन है, जो उसी का होकर जीना चाहता है, उसी को भक्त कहना चाहिए। दूसरे तो विदूषक हैं। लेने के लिए किया हुआ भजन वस्तुतः प्रभु प्रेम का निर्मम उपहास है। भक्ति में तो आत्म-समर्पण के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। वहाँ देने की ही बात सूझती है, लेने की इच्छा ही कहाँ रहती है।

ईश्वर का विश्वास, सत्कर्मों की कसौटी पर ही परखा जा सकता है। जो भगवान पर भरोसा करेगा, वह उसके विधान कौर निर्देश को भी अंगीकार करेगा। भक्ति और अवज्ञा का ताल-मेल बैठता कहाँ है ?

हम अपने आपको प्यार करें ताकि ईश्वर से प्यार कर सकने योग्य बन सकें। हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें ताकि ईश्वर के निकट बैठ सकने की पात्रता प्राप्त कर सकें। जिसने अपने अन्तःकरण को प्यार से ओतप्रोत कर लिया, उसके चिन्तन और कर्तृत्व में प्यार बिखरा पड़ता है। ईश्वर का प्यार केवल उसी को मिलेगा, जो दीपक की तरह जलकर प्रकाश उत्पन्न करने को तैयार है। प्रभु की ज्योति का अवतरण उसी में होगा।

रामायण की प्रेम-परिभाषा

खगपति गरुण ने प्रश्न किया—हे कागभुशुण्डि ! आप मुझे धर्म का वह सरल स्वरूप समझायें जिसका अवगाहन कर मैं भी जीवन-मुक्ति प्राप्त कर सकूँ। कागभुशुण्डि ने अपनी कथा प्रारम्भ की, अपना सारा जीवन वृतान्त सुनाया। उत्तरकाण्ड के यह प्रसंग अध्यात्म-ज्ञान के बीज हैं। उन्हीं में एक-एक प्रसंग प्रेम को ही जीवन की सम्पूर्ण साधनाओं का आधार मानते हुए उन्होंने कहा—

जाने बिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होई नहीं प्रीती।

प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

परमात्मा की महत्ता पर जब तक विचार नहीं किया जाता तब तक 'ब्रह्म है" ऐसा विश्वास भी नहीं होता। विश्वास के बिना प्रेम नहीं होता, जब तक प्रेम नहीं, भक्ति ऐसी ही है जैसे जल के ऊपर तेल फिरता तो है पर मिल नहीं पाता।

इस सम्पूर्ण सन्दर्भ में भक्ति के लिए, ईश्वर प्राप्ति के लिए, प्रेम की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि उसे जहाँ आनन्द मिलता है वहीं उसकी सम्पूर्ण चेष्टायें केन्द्रित रहती हैं। इसी भाव से केन्द्रीयकरण का नाम प्रेम है। प्रेम का आधार लौकिक भी हो सकता है और पारलौकिक भी। एक का नाम आसक्ति है, दूसरे का नाम मुक्ति। मुक्ति प्रेम ही परमात्मा की प्राप्ति का सबसे सरल उपाय है। रामचरितमानस ने स्थान-स्थान पर इसकी पुष्टि की है और लौकिक प्रेम से दिव्य प्रेम के स्वरूप को अलग बताकर मनुष्य को अज्ञान से बचाने का प्रयत्न किया है। विरक्त कवि तुलसी ने प्रेम तत्व की सीधी परिभाषा इस तरह की है—

तात कुतरक काहु जनि जाए। बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराए।।

मुनिगन निकट विहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं।।

हित अनहित पशु-पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना।।

कोई कितना ही षड़यन्त्र करे, बैर और प्रेम कभी छिप नहीं सकते। मुनियों के आश्रमों में पक्षी-मृग अभय घूमते हैं पर बधिक को देखते ही भाग खड़े होते हैं। जिस तत्व को पशु-पक्षी समझ सकते हैं मनुष्य जैसा गुणी-ज्ञानी जीव उसे कैसे नहीं जान सकता।

प्रेम मनुष्य की भावनाओं से, उसकी मुखाकृति, प्राण और प्रत्येक हाव-भाव से दिखाई देता है। वह जीवात्माओं को इस तरह जोड़ देता है जैसे जल और दूध मिलकर एकतन हो जाते हैं किन्तु यदि किसी ने केवल प्रेमाडम्बर किया, छल किया, कामनापूर्ति के लिए बहकाना चाहा तो वे ऐसे ही अलग हो जाते हैं जैसे दूध में खटाई डाल देने पर एकरूपता नष्ट हो जाती है और दोनों न्यारे-न्यारे हो जाते हैं। रामायण में कहा है—

पय जल सरिस बिकाय, देखहु प्रीति की रीति भलि।।

बिलग होई रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि।।

यहाँ प्रेम के दोनों रूपों का दिग्दर्शन है। पहला सांसारिक प्रेम, जिसमें स्वार्थ और कामनायें प्रधान रहती हैं। इसे तुलसीदास जी ने छल बताया है और उसकी निन्दा की है। भगवान राम ने अपने पिता को मार्मिक शब्दों में इस गलती का बोध कराया है। श्री दशरथजी जब राम के वन-गमन के समाचार से अति शोकातुर हो रहे थे तो उन्होंने समझाया—

पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमउ कत कीजै।।

तात किए प्रिय प्रेम प्रमादू। जसु जग जाइ होई अपवादू।

पिता जी ! यह मेरे तप, जीवात्मा के उत्थान का पुण्य अवसर है। ऐसे हर्ष के समय में दुःख करने की कौन-सी जरूरत है। आप तो मुझे वन-गमन की आज्ञा दें। आपका यह प्रेम जो मेरे शरीर तक सीमित है और जिससे मेरे आत्मोत्थान में बाधा पड़ती है वह प्रेम नहीं प्रमाद है। ऐसा न कीजिए इससे आपका यश अपयश ही होगा। रघुकुल में आप इसके लिए अपवाद ठहराये जायेंगे।

आज के मोहासक्त व्यक्तियों के लिए राम का यह कथन जीवन-दायक है। धन, पद वैभव और ऐश्वर्य के लिए माता-पता अपने पुत्रों को आध्यात्मिक जीवन से विमुख रखने का प्रयत्न करते हैं। इसे वे प्रेम मानते हैं, सन्तानें भी उन्हीं का अनुसरण करती हैं। यह दोनों ही राम की दृष्टि में प्रेम के अपयशी हैं। इसे ही सांसारिक प्रेम कहा गया है। इसे ही बन्धन का कारण बताया है।

फिर क्या प्रेमास्पद होना सिद्ध करने के लिये घर, द्वार, धन, वैभव, पुत्र, पिता, पत्नी आदि का परित्याग कर देना चाहिए। या उनसे प्रेम करना चाहिए ? नहीं, नहीं ऐसा कैसे हो सकता है। प्रेम न रहेगा तो संसार कैसे चलेगा, मनुष्य जीवन में आनन्द ही क्या रह जायेगा। तो फिर प्रेम का ग्राह्य स्वरूप कौन-सा है। तुलसीदास जी ने अयोध्याकाण्ड में बड़ा सुन्दर रूपक कर, इस आशंका को दूर किया है लिखते हैं—

घर-घर साजहिं बाहन नाना। हरषु हृदय परभात पयाना।।

भरत जाई घर कीन्ह बिचारू। नगर बाजि गज भवन भँडारू।।

संपति सब रघुपति के आही। जौ बिन जतन चलौ तजि ताही।।

तौ परिनाम न मोरि भलााई। पाप सिरोमनि साईं दोहाई।।

करहि स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई।।

अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ जिन धरम न डोले।।

कहि सब मरमु धरमु भन भाषा। जो जेहि लायक सो तेहि राखा।।

सब लोगों ने सुना कि प्रातःकाल सारी अयोध्या राम से मिलने जा रही है। सब तैयारियाँ हो चुकीं, सभी प्रसन्न थे। पर भरत उस समय विचारमग्न हो गये। उन्होंने सोचा यह सारा नगर, मकान, घोड़े, हाथी, संपत्ति, खजाना सब उन्हीं भगवान राम का ही तो है, फिर यदि इसे अरक्षित छोड़कर जाता हूँ तो भगवान मुझ पर प्रसन्न कहाँ होंगे ? इससे तो उलटा मुझे पाप लगेगा। ऐसा विचार कर उन्होंने धर्मशील सेवकों को बुलाकर उन्हें पहले कर्त्तव्य को बोध कराया और इसके बाद जो जिस योग्य था उसे वह काम सौंप दिया।

उपरोक्त कथन में भरत का निष्काम प्रेम स्पष्ट है। उन्हें, घर, घोड़े, हाथी आदि किसी भी सम्पत्ति का मोह नहीं है, तो भी उसे आरक्षित रखना वे परमात्मा की अवज्ञा मानते हैं। उन्हें राम से प्रेम था पर उसके साथ ही वे अपना कर्त्तव्य भी नहीं भूले। अर्थात् उस धन सम्पत्ति को न तो यों ही छोड़ा और न उसे अयोग्य व्यक्तियों को सौंपा । परमात्मा की सम्पत्ति उन्हें दी जो धर्मनिष्ठ थे। जिस पर उन्हें विश्वास था कि वे इस ईश्वरीय सम्पत्ति का दुरुपयोग न करेंगे। राम के प्रति यही प्रेम सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है। राम के मोह के साथ, राम के प्रति कर्त्तव्यों का जो सुव्यवस्थित ढंग से पालन कर

सकता हो, ऐसा भरत के से गुण वाला व्यक्ति ही उनका सच्चा भक्त हो सकता है।

निष्काम प्रेम का एक और सुन्दर उदाहरण अयोध्याकाण्ड में ही प्रस्तुत है। संसार की ऐसी कौन-सी माता होगी जिसे अपने पुत्र पर प्रेम न होगा। कौशल्या का अपने पुत्र राम के प्रति अगाध प्रेम था पर इस प्रेम में उन्होंने स्वार्थ की झलक नहीं आने दी। उन्हें राम और भरत में कोई अन्तर नहीं जान पड़ा। दरअसल सच्चा प्रेम तो यही है। अपने बच्चे की सच्ची स्नेहिल वही माता हो सकती है जिसे दूसरे बच्चों से प्रेम हो। यह संसार परमात्मा का बनाया हुआ है। अपने-पराये सब उसी के पुत्र हैं। फिर एक से प्रेम और दूसरों से दुराव कैसे हो सकता है। जो अपनों से प्रेम करता है वह यदि मानव-मात्र से प्रेम करे तो ही उसका प्रेम सच्चा है। ईश्वरीय और प्रेममयी भक्ति में जीवन-मुक्ति का यही स्वरूप है। यह कथानक राम का माता कौशल्या से वन जाने की आज्ञा माँगने से प्रारम्भ होता है और कौशल्या के सुन्दर उत्तर से समाप्त होता है—

धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदुबानी।।

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।।

आयसु देहु मुदित मन माता। जेहि मृदु मंगल कानन जाता।।

जनि सनेह बस डरपसि मोरे। आनंदु अम्ब अनुग्रह तोरे।।

धरम सनेह उभयै मति घेरी। भई गति साँप छछूँदर केरी।।

राखहूँ सुतहि करहूँ अनुरोधू। धरम जाई अरु बन्धु विरोधू।।

बहुरि समुझि तिय धरम सयानी। राम भरत दोउ सुत सम मानी।।

सरल सुभाउ राम महतारी। बोली वचन धीर धरि भारी।।

तात जाउँ बलि कीन्हेहुँ नीका। पितु आयु सब धरमकु टीका।।

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि सच्चा प्रेमी सरल होता है, वह सब के कल्याण की कामना करता है। धर्म करते हुए अपने-पराये की भेदवृत्ति जिसमें न हो, वही सच्चा प्रेमी है।

इस प्रकार की निष्काम सेवा निस्सन्देह लौकिक दृष्टि से काफी कष्टदायक होती है पर उसे प्रियतम परमात्मा के प्रति आत्मदान का जो सुख मिलता है, वह उस कष्ट की अपेक्षा अधिक सुखकर होता है। लौकिक प्रेम में ही आत्म-त्याग की इतनी भावना होती है कि उसकी रक्षा के लिए अपने प्राण त्याग के लिये तैयार रहते हैं। इसमें प्रेमी को आन्तरिक सुख मिलता है फिर परमात्मा के प्रति यदि अनन्य भाव से आत्म-दान किया जाय और उस पथ का अनुकरण करते हुये आपदायें आयें तो उनसे सन्तोष क्यों न होग ? तुलसीदास जी कहते हैं—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारहिं। जाचत जल पवि पाहन डारहिं।।

चातकु रटनि घटें घट जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई।।

कनकहिं वान चढ़इ जिमि दाहें। तिनमि प्रियतम पद प्रेम निबाहें।।

चातक जन्म-भर स्वाति नक्षत की आशा में प्यासा बना रहता है। स्वाति नक्षत्र में दो बूँद जल की आकांक्षा से वह ऊपर की ओर चोंच फैलाता है पर बादल ऊपर से ओले बरसाते हैं। चातक को कष्ट होता है पर वह अपने नियम से विमुख नहीं होता। सोना जिस प्रकार अग्नि में चढ़कर खरा होता है उसी प्रकार अपने प्रियतम के लिए कर्त्तव्यपालन की उच्चतम कसौटी पर खरा उतरकर सच्चा प्रेमी कहलाने का सौभाग्य मिलता है।

अन्त में तुलसीदास जी ने प्रेम के द्वारा सहज ही परमात्मा की प्राप्ति का प्रसंग प्रस्तुत करते हुये लिखा है—

पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।।

जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।।

तेहि समाजा गिरिजा मैं रहेऊ। अवसर पाय वचन एक कहेउँ।।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।

देस काल दिसि विदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।।

अग जगमय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटहिं जिमि जागी।।

देवताओं में चर्चा चल रही थी, परमात्मा से कैसे मिला जाये ताकि असुरों के साथ संग्राम में उनका अनुग्रह प्राप्त किया जा सके। कोई कहता था वे बैकुण्ठ में हैं वहाँ जाना चाहिये, कोई उन्हें क्षीर-सागर में बताता था। जिसके हृदय में जैसी भक्ति थी वह उसी रीति से ईश्वर से मिलने की बात कर रहा था। उस समाज में भगवान शंकर जी भी उपस्थित थे। उन्होंने कहा—परमात्मा तो सर्वव्यापक है। मेरा निश्चित मत है कि वह प्रेम से ही प्रगट होता है। वह देश, काल, दिशा-विदिशाओं में सर्वत्र व्यापक है और प्रेम द्वारा अग्नि के समान प्रगट हो जाता है।

काकभुशुण्डि की इन व्याख्याओं से गुरुड़ जी अति प्रसन्न हुये। उत्तर काण्ड में बताया है—

सुनि भुसुंडि के वचन सुहाये। हरपति खगपति पंख फुलाए।।

पुनि-पुनि काग चरन सिरु नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा।।

गरूड़ इस संवाद से अति प्रसन्न हुये। उन्होंने काग की भी परमात्मा का स्वरूप ही मानकर अति प्रेम प्रदर्शित किया। प्रेम का ज्ञान प्राप्त कर उनके सारे संशय दूर हो गये।

प्रेम का अमरत्व और उसकी व्यापकता

प्रेम किसी पदार्थ या व्यक्ति से आरम्भ हो सकता है पर उस तक सीमित नहीं रह सकता। जब सीमाबद्ध हो जाय तो उसे मोह कहा जायेगा। आरम्भ का मोह आगे चलकर प्रेम के रूप में विकसित हो यह उचित है, पर यदि उतने ही दायरे में सीमित रह गया तो बौना या कुबड़ा कहा जायेगा। बौने मुनष्य वे होते हैं जिनके हाथ-पैर बढ़ते नहीं, जिनकी शरीर स्थिति बड़े होने पर भी बालकों जितनी रह जाय, उन्हें हास्यास्पद ही समझा जाता है। माँ के पेट से बालक छोटा सा उत्पन्न हुआ था, उस समय उसकी वह स्थिति ठीक थी पर सदा उतना ही वजन तथा आकार बना रहे तो यह ऐसा शिशु चिन्ता का कारण ही बनेगा। प्रेम के अंकुर व्यक्ति या पदार्थ के माध्यम से उत्पन्न हों सो ठीक है पर वे अंकुर उतने ही बड़े रह जायें, आगे न बढ़े, वृक्ष रूप में परिणित न हों तो उनकी क्या सार्थकता रही ?

परिवार बढ़ाने में विवाह से लेकर सन्तानोत्पादन तक में प्रेम भावना की अभिवृद्धि का सरल स्वाभाविक अभ्यास शुरू कराया जाता है, किशोर को अपने ही शौक-मौज की, खाने की इच्छा रहती है। वह अपने लिये कई सुविधायें तथा वस्तुयें प्राप्त करने के लिए अभिभावकों से लड़ता-झगड़ता रहता है, तब उसके मन में पाने ही पाने की आकांक्षा रहती है। पर जब थोड़ा बड़ा होता है और विवाह हो जाता है तो पत्नी के लिए उपहार देने या साधन जुटाने में मन मुड़ जाता है। अपनी शौक-मौज अपने शरीर में नहीं पत्नी के शरीर में पूरा होते देखना चाहता है और इस सन्दर्भ में वह जितना कर पाता है उतना ही प्रसन्न होता है। तब पत्नी की प्रसन्नता उसकी अपनी प्रसन्नता बन जाती है। आगे चलकर बच्चे होते हैं, तब पत्नी तक प्रेम की परिधि सीमित न रहकर बच्चों में फैल जाती है और बच्चों की प्रसन्नता तथा प्रगति के लिए निरन्तर चेष्टा की जाती रहती है। उस प्रयत्न में अपने आप को क्रमशः खोया और भुलाया जाने लगता है। अपने को दूध न मिले कोई शिकायत नहीं, बच्चों को मिलना ही चाहिये। खुद सस्ते, फटे-पुराने कपड़े पहनकर काम चला लें, बच्चों की फीस और पुस्तकों की खर्च जुटाना ही चाहिये। बच्चों की आवश्यकता पूर्ण होने पर बड़ा सन्तोष मिलता है तब अपने अभावों की बात ध्यान भी नहीं आती। परिवार को आत्म-विस्तार की, प्रेम प्रशिक्षण की छोटी सी पाठशाला कहा जाये तो यह उपयुक्त ही होगा।

किन्तु कोई व्यक्ति जीवन भर प्राइमरी पाठशाला में ही पढ़ते रहने की जिद करे और अगले स्कूल में बढ़ने के लिए तैयार न हो तो उसे बाल-बुद्धि ही कहा जायेगा। प्रेम का प्रशिक्षण घर परिवार में हो या किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से आरम्भ हो उसकी स्वाभाविकता समझ में आती है पर जब कोई उतने तक ही सीमाबद्ध होकर रह जायेगा, आगे न बढ़ेगा तो रुके हुए पानी की तरह सड़न पैदा हुए बिना न रहेगी। जो प्यार सीमाबद्ध होकर रह जाता है उसे मोह कहते हैं, मोह में पक्षपात जुड़ जाता है। औचित्य का ध्यान नहीं रहता। प्रिय पात्र की त्रुटियों का परिमार्जन करने की इच्छा नहीं होती वरन् उन्हें भी प्रिय मानकर समर्थन किया जाने लगता है। इससे प्रेम की महत्ता ही नष्ट हो जाती है। प्रेम गंगाजल है जिसे जहाँ छिड़का जाय वहीं पवित्रता पैदा करेगा पर यदि वह गन्दे नाले में गिर कर अपनी पवित्रता खोदे तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। प्रेम पात्र लगाव का नहीं है और न पक्षपात के अथवा हर प्रकार के समर्थन सहयोग का। उसमें आदर्शों की अविच्छिन्नता जुड़ी रहती है। आदर्श विहीन प्यार को मोह कहेंगे। मोह अपने प्रिय पात्र के अनुचित कार्यों का भी समर्थन करने लगता है तब उसको ऊँचा उठाने की क्षमता नष्ट हो जाती है और गंगाजल का गन्दे नाले में गिरकर अपनी महत्ता खो बैठने जैसा उदाहरण बन जाता है। मोहको प्रेम की विकृति ही कह सकते हैं इस लिए उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती है।

प्रेम देव तत्व है। उसका घुलन देवत्व के साथ ही हो सकता है। प्रेम एक उत्कृष्टता है जिसका आदर्शों के साथ ही तालमेल बैठ सकता है। आदर्शों का उल्लंघन करके जो मैत्री स्थापित होती है उसे हलके दर्जे की दोस्ती भर कह सकते हैं। ऐसी दोस्ती किन्हीं भौतिक स्वार्थों या आकर्षणों पर टिकी होती है। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरे का स्वार्थ पूरा करने के लिए रजामन्द रहना एक घटिया दर्जे का मानसिक व्यापार है। इसमें प्रेम की महानता कहाँ रही। जिसमें महानता के प्रति आस्था जुड़ी न हो वह कैसा प्रेम ?

अवांछनीयता के साथ मोह समझौता कर सकता है, प्रेम नहीं। प्रेम तो पवित्रता की गंगा है उसके सम्पर्क में जो भी आवेगा उसे पवित्रता, शीतलता और शांति ही प्रदान करेगी। जो मलीनता को धोने की शक्ति से रहित हो वह कैसा गंगाजल ? यदि हम किसी वस्तु से प्रेम करते हैं तो स्वभावतः उसे स्वच्छ, सुन्दर एवं सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं। यों ही अस्तव्यस्त या मलीन स्थिति में नहीं पड़ा रहने देते। फिर जिस व्यक्ति से प्रेम किया जाय उसकी श्रेष्ठता को अक्षुण्ण रखने या बढ़ाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया जाना चाहिए ? मैत्री आत्मा से की जाती है। व्यक्ति की महानता, उत्कृष्टता, सद्भावना एवं प्रगति से की जाती है, न कि उसकी मलीनताओं और निकृष्टताओं से।

प्रेम आगे बढ़ता है और जो आगे बढ़ता है वह प्रगतिशील है, प्रतिगामी नहीं। सूर्य पूर्व से उदय होता है पर उसका प्रकाश समस्त दिशाओं को उपलब्ध होता है। बादल समुद्र में से निकलते हैं पर बरसते सब जगह हैं। प्रेम का आरम्भ देव प्रतिमा से लेकर अपने मित्र परिवार से आरम्भ किया जा सकता है पर उसे उतने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए वरन् नगर, राष्ट्र, विश्व की सीमाओं में विकसित होना चाहिए और देश, धर्म, समाज, संस्कृति की श्रेष्ठता अभिवर्धन करके वाले क्षेत्रों में अग्रसर होते हुए विश्व मानव की—समस्त संसार की सेवा साधना में निरत होना चाहिए। आदर्शों के अभिवर्धन में ही प्रेम की सार्थकता है। ऐसी मैत्री तो प्रेम तत्व को कलंकित ही कर सकती है जो पतन के गर्त से प्रेमी को न निकाल सके और न स्वयं ही उससे निकल सके। सघन मित्रता एवं सद्भाव रखते हुए प्रेमी की आवंछनीयताओं को स्वीकार करने और उसमें सयहयोग देने से इनकार किया जा सकता है और यदि इतने भर से मित्रता टूटती हो तो उसे कच्चे आधार पर टिकी हुई मानकर टूटने का खतरा भी उठाया जा सकता है। आदर्श तो प्रेम का प्रण है। यदि आदर्श ही चला गया तो प्रेम की सड़ी हुई लाश को छाती से बाँधे फिरने से क्या लाभ ?

प्रेमी कभी असफल नहीं होता क्योंकि उसकी सफलता सामने वाले के प्रतिदान पर टिकी नहीं रहती। देव प्रतिमायें कुछ भी प्रतिदान नहीं दतीं। हमारी नित्य की पूजा-अर्चा, श्रृंगार, सज्जा के बदले कभी धन्यवाद तक नहीं कहतीं। हमारे बिलखने पर भी उनकी आँखें सजल नहीं होतीं, फिर भी हमारी आराधना चलती ही रहती है और प्रतिदिन के अभाव में भी आस्था ज्यों की त्यों बनी रहती है। प्रेमी ने हमारे प्रेम का प्रत्युत्तर क्या दिया, इसे देखने की फुरसत ही कहाँ होती है ? न इसकी आवश्यकता ही अनुभव होती है। प्रेम अपने आप में पूर्ण है, वह एकांगी, एकपक्षीय होकर भी यथास्थान अपने पैरों पर खड़ा रह सकता है। दूरवासी प्रेमी को चित्र की निकटता जैसा आनन्द प्रदान कर सकताहै। जहाँ कुछ पाने की लालसा नहीं वहाँ असन्तोष या असफलता का कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। ईश्वर से यदि निष्काम भक्ति की जाय और प्रतिदान की आशा न रखी जाय तो वह भक्ति भावना शाश्वत बनी रह सकती है। उसमें न चढ़ाव-उतार आता है और न असन्तोष का कोई अवसर प्रस्तुत होता है।

जहाँ देना ही है, लेने की इच्छा ही नहीं वहाँ असफलता क्या होनी है ? प्रेमी की जीत उसकी मुट्ठी में सुरक्षित रहती है। क्योंकि उसे प्रेम के साथ सेवा और सहायता ही करनी है। जहाँ कुछ पाना हो वहाँ खीज और दुःख हो सकते हैं पर जहाँ देना ही देना रहा वहाँ उस प्रयास को कौन रोक सकेगा ? इसमें व्यवधान वह निर्धारित प्रेमपात्र भी नहीं कर सकता। वह विमुखता या रुखाई दिखाये तो भी प्रेम के प्रवाह में कुछ अन्तर नहीं आता क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है और आदर्शों पर टिका हुआ है। आदर्शों से प्रेम ही प्रेम की परिणति है और उस स्तर पर पहुँचा हुआ प्रेम ही ईश्वर का प्रतीक बनकर सर्वत्र सुख-शान्ति की वर्षा करता है।

प्रेम की सृजनात्मक शक्ति

सृजन प्यार से आरम्भ होता है। जिस वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति से हम प्यार करते हैं उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। उसके लिये प्रयत्न ही सफलता का जनक है। मोटे तौर से किसी सफलता का श्रेय उसके लिये किये गये प्रयत्न या पुरुषार्थ को दिया जाता है पर यह स्थूल निरूपण है। गहराई तक जाने पर पता चलेगा कि प्रयत्न और पुरुषार्थ जैसे कष्टकर भार कोई अनायास ही उठाने को तैयार नहीं हो जाता। उसके मूल में तीव्र इच्छा अभीष्ट को प्राप्त करने की होनी चाहिए तभी शरीर और मन का सुव्यवस्थित पुरुषार्थ बन पड़ता है। इच्छा में जितनी शिथिलता होगी, पुरुषार्थ उतना ही अधूरा रहेगा और उस अधूरे पुरुषार्थ से सफलता भी आंशिक, अस्त-व्यस्त या संदिग्ध ही रहेगी।

स्कूल जाने वाले छोटे बच्चे को जब तक विद्या का महत्व मालूम नहीं होता, उसे प्राप्त करने की इच्छा नहीं जगती और स्कूली वातावरण में कोई तात्कालिक आकर्षण नहीं दीखता, वह पढ़ने जाने में अरुचि दिखाता है और हील-हुज्जत करता है। पर जब उसे विद्या का महत्व मालूम हो जाता है और विद्वान बनने, उपाधि प्राप्त करने की आकांक्षा प्रबल होती है तो बिना किसी के कहे स्वयं रात को देर तक जगता है। पूछने जहाँ-तहाँ जाता है और उसके लिये पूरी मेहनत करता है। इस बालक को यदि कोई ऐसा काम करने के लिये कहा जाय जिसमें उसकी रुचि न हो तो इस प्रकार की दौड़-धूप उससे बन ही न पड़ेगी। तब सफलता की तो आशा ही कैसे की जायेगी। तात्पर्य यह हुआ कि सफलता के मूल में प्रत्यक्ष आँखों से जो पुरुषार्थ कारण मालूम पड़ता है वह स्वतन्त्र नहीं वरन् इच्छा का फलितार्थ मात्र है। इसलिए श्रेय भी इच्छा को ही मिलना चाहिए भले ही वह प्रत्यक्ष दिखाई न पड़ती हो।

अब थोड़ा और गहराई तक प्रवेश करें तो पता चलेगा कि इच्छा भी अनायास ही नहीं उठ पड़ती। यह उसी दिशा में चलती है जिसमें अपना प्यार होता है। इसमें लाभ-हानि का आकर्षण मुख्य नहीं है। अन्तरंग में वह आकर्षण प्रधान है, जिसे प्यार कहा जा सकता है। प्यार के कारण जो उत्कृष्ट आकांक्षाएँ उठती हैं वे सदा सांसारिक दृष्टि से लाभकर ही नहीं होतीं वरन् कई बार तो पूरी तरह हानिकारक ही होती

हैं तो भी उस हानि को उठाने में प्रेमी प्रत्यक्ष लाभों की अपेक्षा ,भी बहुत अधिक महत्व देता है। और उस जोखिम को उठाने के लिये सहर्ष तैयार रहता है। मीरा ने प्रभु प्रेम में प्रत्यक्षतः क्या पाया। घर-द्वार, राज-घाट, सुख-साधन छोड़कर बावली की तरह बाहर वालों की उपहासास्पद और घर वालों की कोप-भाजन बनी रही और कष्ट तथा अभाव भरा जीवन जीती रही। ईश्वर भक्ति में प्रत्यक्षतः घाटा ही रहता है। जितना परिश्रम और मनोयोग भक्ति के लिये लगता है उतने में तो ढेरों पैसा और सुख साधन कमाये जा सकते हैं। पर भक्ति भावना से प्रेरित मनुष्य उस लाभ को छोड़कर अपनी भावना में निमग्न रहने को ही सर्वोपरि मानता है। सांसारिक प्रेमियों को ही देखें, तो लगता है वे भी कम कष्ट नहीं उठाते। इंग्लैण्ड के राजा एडवर्ड ने अपनी प्रेमिका सिम्पसन के लिए इतने बड़े साम्राज्य का सिंहासन खुशी-खुशी त्याग दिया। लैला-मजनूँ, शींरी-फरहाद की पुरानी गाथाओं के संस्मरण भी जहाँ-तहाँ देखने सुनने को मिलते ही रहते हैं। यह तथ्य बताते हैं कि प्यार भरी भावनायें मूर्तिमान करने की इच्छा से प्रेरित होकर व्यक्ति ऐसे पुरुषार्थ भी कर सकता है जिसमें सांसारिक दृष्टि से हानि ही हानि दीखती है, लाभ की तो वहाँ कोई सम्भावना ही नहीं रहती।

सफलता-पुरुषार्थ इच्छा की तीव्रता पर निर्भर करता है और इच्छा जहाँ से उठती है उस मूल उद्गम का नाम है प्यार। प्यार अन्तरात्मा की एक स्वाभाविक वृत्ति है। क्योंकि आनन्द नाम का तत्व मात्र उसी में सन्निहित है। सुख-साधन तो पदार्थों के द्वारा मिल सकते हैं अथवा लोगों के शरीर खरीदकर उनके द्वारा उपलब्ध किये जा सकते हैं पर आनन्द दूसरी चीज है। उसे आत्मा की छाया कह सकते हैं। अन्तःकरण जिस पर अपनी आत्मीयता का आरोपण कर देता है उसमें उसे अपनी प्रतिच्छाया प्रतिध्वनि का दर्शन होता है—यही प्यार है। आत्मा अपने को देख नहीं सकता, अपने रस को स्वयं चख नहीं सकता, इसके लिये उसे किसी दूसरे माध्यम की जरूरत पड़ती है। अपना मुख अपने आप देख सकना कठिन है इसके लिये दर्पण की जरूरत पड़ती है उसी प्रकार आत्मरस को निचोड़ने और उसका आस्वादन कराने के लिये किसी दूसरे निर्जीव या सजीव माध्यम की जरूरत पड़ती है इस सन्दर्भ में जिसका भी चुनाव हो जाय वही प्रिय लगने लगता है और उसकी समीपता, प्राप्ति एवं एकाकरित के लिये अन्तःकरण में उत्कृष्ट उमंग उठने लगती है। वस्तुतः इस उमंग का नाम ही प्यार है। वह पदार्थ या व्यक्ति जिससे प्यार किया गया है वह तो गौण-निमित्त अथवा माध्यम मात्र है। वस्तुतः प्रेम आत्मा का रस है और वह अपने आप अपने अन्तरंग से उठता-उमड़ता है। अपने ही आप अपने को आनन्द और उल्लास से पूर्ण करता है। इस दिव्य तत्व की कुछ बूँदें जिस पर पड़ जायें वह तो उस अमृत का तनिक सा रसास्वादन करने मात्र से धन्य हो जाता है।

सृजन मात्र प्रतिक्रिया है। क्रिया के अन्तरंग में तो प्यार को ही देखा जायेगा। जिस प्रयोजन से गहरा प्यार हो जाता है भले ही वह विवेक की कसौटी पर हानिकारक ही क्यों न हो, उसे उपलब्ध करने के लिये व्यक्ति इतनी शक्ति लगा देता है जितनी उसमें दिखाई भी नहीं पड़ती थी। फरहाद ने शींरी को प्राप्त करने के लिये ऊँच पहाड़ काटकर उस नगर तक नहर खोद लाने का असम्भव दीखने वाला काम पूरा किया था। वैज्ञानिकों, अन्वेषकों, महामानवों, दुस्साहसियों और अद्भुत सफलताएँ प्राप्त करने वालों—आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाने वालों की गतिविधियों और परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो साधन उनके पास बहुत नहीं थे, परिस्थितियाँ भी अनुकूल नहीं थीं। पर उनकी लगन उफनी पड़ती थी। वे अभीष्ट प्रयोजन से अत्यधिक प्यार करते थे और उसे प्राप्त करने के लिये पूरे भावावेश के साथ लालायित थे। उस उत्कंठा ने मन्द बुद्धि मस्तिष्क में नई सूझ-बूझें उत्पन्न कीं, जो लोग उपहास उड़ाते थे उन्हें तत्परता ने प्रभावित किया और जो साधन-सम्भव दिखाई नहीं पड़ते थे वे न जाने कहाँ से दौड़ते चले आये और उस प्रयोक्ता के सामने उपस्थित हो गये। इसे कोई दैवी वरदान कहना चाहे तो कहे वास्तव में देवत्व का एकत्रीकरण मानवीय अन्तःकरण में प्यार के रूप में ही हुआ है और वह जिस दिशा में पूरी तरह नियोजित

हो जाता है वहाँ चमत्कार ही चमत्कार उत्पन्न करता है। दैवी वरदान को दूसरे शब्दों में प्रेम की शक्ति का चमत्कार भी कह सकते हैं।

प्यार में सृजन की अद्‌भुत शक्ति भरी पड़ी है। मनुष्य शक्तियों का पुंज है। ईश्वर का युवराज होने के कारण उसे वह सब सम्पदायें तथा विभूतियाँ सहज ही उपलब्ध हैं जो इस संसार में प्रकट या अप्रकट रूप में विद्यमान हैं। पर यह सब प्रायः सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं। समुद्र मंथन की तरह प्रबल प्रयास करने पर ही इन्हें सजग, सक्रिय और समर्थ बनाया जा सकता है। अन्तःकरण के समुद्र को मथ डालने का प्रयोजन केवल प्रेम ही पूरा कर सकता है। प्रेमी की सस्त जागृत और सुषुप्त सामर्थ्य सजग होकर अभीष्ट दिशा में संलग्न हो जाती है। नीरस मनोभूमि वाली स्थिति में जितना मनोबल था उसकी में प्रेम के बाद हजार गुना मनोबल जाग पड़ता है और उस आधार पर इतने बड़े काम कर डालना सम्भव हो जाता है जिनका उस व्यक्ति की पूर्व स्थिति को देखते हुए तारतम्य मिलाना कठिन हो जाता है।

प्रेम स्वयं सृजन है। जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ देवत्व उत्पन्न करता है और जिस पर उसे प्रयुक्त किया जाता है वह समर्थ बनता है। शर्त इतनी ही है कि प्रेम—सच्चे अर्थों में प्रेम होना चाहिए।

प्रेम रूप अमृत और उसका रसास्वादन

पद्‌म पुराण में एक बड़ी ही मार्मिक कथा आती है। महर्षि जावालि वन विचरण करते हुए एक सरोवर के निकट पहुँचे। वहाँ विशाल वट वृक्ष के नीचे एक परम सुन्दर तेजोमय तरुणी देवी कन्या को कठोर तप करते देखा। उसके शरीर से चन्द्रमा जैसी शुभ्र ज्योति प्रकाशवान हो रही थी, महर्षि को इस निविड़ वन में एकाकी बाला को इस प्रकार तप करते देखकर आश्चर्य हुआ और उनने, उसका परिचय तथा कठोर तप का कारण पूछा। उत्तर में उस देवी ने कहा—मैं—ब्रह्म विद्या हूँ। भगवत् प्रेम की प्राप्ति बिना मेरी पूर्णता नहीं सो उसे प्राप्त करने के लिए कठोर तप कर रही हूँ।

इस गाथा में यह मर्म सन्निहित है कि ज्ञान द्वारा आत्म-बोध और तत्व-दर्शन किया जाना चाहिए, साधक को प्रज्ञा परायण होना चाहिए। पर इतने से भी पूर्णता नहीं मिल सकती। दूसरा कदम कर्म का—कठोर पुरुषार्थ का तप होना चाहिए। पर इतने से भी लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। तीसरा कदम भक्ति का है। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी का समन्वय ही सामान्य जीवन-क्रम को तीर्थराज के रूप में विकसित करता है।

भक्ति का अर्थ है प्रेम। प्रेम अर्थात् वह प्रवृत्ति जो "स्व" की बंधनात्मक परिधि से निकलकर 'पर' की निर्बन्ध स्थिति में प्रवेश करती है। तुच्छता की बन्ध रज्जु से बँधा हुआ प्राणी लोभी पाया जाता है। उसे विविध वस्तु से सुख-सुविधायें प्राप्त करने की अभिलाषा सताती रहती है। उनकी पूर्ति के लिये असीमित पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होता। पुरुषार्थ के अनुरूप तो स्वल्प सुविधाएँ ही मिल सकती हैं। कामना बहुत, साधन कम। ऐसी दशा में व्यक्ति जिस-तिस के आगे हाथ पसारता, माँगता, ललचाता, गिड़गिड़ाता, डराता, धमकाता और फुसलाता फिरता रहता है। उसका ध्यान इसी केन्द्र पर केन्द्रित रहता है कि किस प्रकार दूसरों को प्रभावित, आकर्षित या आतंकित किया जाय जिससे वह अपनी सहायता देकर उसकी कामनाओं को पूरा करने में उपयोगी सिद्ध हो सके। इस लोभ वृत्ति से ग्रस्त प्राणी अपने आपको—आत्म-गौरव को खोकर दीन-दरिद्र की स्थिति में फिरता रहता है जो उपलब्ध है उसे स्वल्प मानता है उतने में सन्तोष नहीं करता। लालच से ग्रस्त व्यक्ति धन, यश, काम, मद, विनोद, साहाय्य आदि अनेक प्रयोजनों की दृष्टि से अनेक व्यक्तियों को ढूँढ़ता और आशा निराशा की अनुभूतियों के साथ इधर-उधर अशान्त मन मारा-मारा फिरता रहता है। लोभी को कहाँ चैन, कहाँ सन्तोष, कहाँ शान्ति ?

इस उद्विग्नता का अन्त तब होता है जब मनुष्य इस लुब्ध व्यामोह से निकलकर प्रेग तत्व का रसास्वादन करने की दिव्य भूमिका में प्रवेश

करता है। प्रेम जिसे अध्यात्म की भाषा में भक्ति कहते हैं। जब अन्तःकरण को स्पर्श करता है तो उसकी मनःस्थिति भावविभोर परम उल्लास में आवेशग्रस्त जैसी हो जाती है। इसे मुक्त भूमिका कहते हैं। इसे प्राप्त करने की लिप्सा लुप्त हो जाती है और देने की व्याकुलता उमड़ पड़ती है। लेने में अनेक अवरोध हैं पर देने को कोई कैसे रोक सकेगा ? न व्यक्ति उसे रोक सकता है और न भगवान्। इस दिव्य प्रवृत्ति के विकसित और फलित होने के लिये अति विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। भक्ति के पथ में इस बात की भी बाधा नहीं कि जिसे प्रेम किया गया था उसने अनुभव या स्वीकार किया भी नहीं। प्रतिदान के दिव्य प्रेम में न इच्छा रहती है न आवश्यकता। वह एकाकी एकपक्षीय भी निर्बाध गति से निर्मल प्रवाह की तरह अपने लक्ष्य सागर की ओर बिना मनुहार या प्रकार की प्रतीक्षा किये प्रवाहित ही होता रहता है। ऐसा अमृत निर्झर जिसके अन्तःकरण से फूट पड़े समझना चाहिए उसने आत्म-चेतना को पूर्णता के सोपान तक पहुँचा दिया। श्रुति में **"रसो वै सः"** उक्ति में यही इंगित किया है कि प्रेम ही परमेश्वर है। परमेश्वर का साक्षात्कार जब कभी, जिस किसी को हुआ है, उसने अपने अन्तःकरण में प्रेम को निर्झर के रूप में अद्‌भुत होते हुए ही उसे पाया है। ईश्वर दर्शन एवं आत्म-साक्षात्कार का स्वरूप का किसी छवि विशेष की क्षणिक झाँकी हो जाना नहीं वरन् अन्तरात्मा में सर्व-व्यापी प्रेम निर्झरणी का अमृत स्रोत फूट पड़ना ही होता है। यही जीवन का लक्ष्य है और यह पूर्णता का पूर्णता में प्रत्यावर्तन।।

देव कन्या ब्रह्म विद्या इसी के लिये कठोर तप कर रही थी। कठोर तप की भूमिका पर ही प्रेम प्रस्फुटित होता है। जो कठोर परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकता—इस मार्ग पर चलते हुये जो कष्ट उठाने पड़ते हैं उन्हें फैलने का साहस नहीं समेट सकता, उसके लिये प्रेम का पथ एक प्रकार से दुस्तर ही है। तप का अर्थ आत्म संयम-मनोनिग्रह। मन की प्रवृत्ति सुख-सुविधा एवं अनुकूलता अभीष्ट होती है सो प्रेमी को प्रतिकूलता से धकेला जा सकता है। इस खींचतान में विग्रह खड़ा हो सकता है। कटुता, द्वेष और खीज की गुंजायश रहती है। प्रयोजन मन में रखकर किया गया प्रेम अभीष्ट की पूर्ति न होने पर विरोध एवं प्रतिशोध पर उतारू हो सकता है इसलिए उसमें खेद बहुत है।

साधारण प्यार और दिव्य प्रेम में भारी अन्तर है। साधारण प्यार आकर्षण पर आधारित रहता है। रंग, रूप, यौवन, धन, विनोद, स्वभाव कौशल अथवा किसी सहायता के आधार पर जो आकर्षण उत्पन्न होता है, और उसे दूसरे पक्ष की स्वीकृति मिलने पर जो घनिष्ठता उत्पन्न होती है उसे सांसारिक प्यार कहते हैं। इसमें भी मिलन की उत्कण्ठा तथा वियोग की व्यथा जुड़ी रहती है पर उतने ही समय तक है जब तक कि आकर्षण के मूल प्रयोजन बने रहते हैं। वे आधार टूटते ही उस प्यार का उफान ठण्डा पड़ जाता है और खीज भरी नीरसता उसका स्थान ग्रहण करती चली जाती है। इस प्रकार के प्यार, मुहब्बत के धन्धे वासना अथवा दोस्ती के आधार पर आये दिन चलते-टूटते रहते हैं। इन्हें एक तरह का व्यवसाय कह सकते हैं। जिनसे लाभ भी हो सकता है और घाटा भी। इस उफान में पड़ने वाले, घाटा ही अधिक उठाते हैं क्योंकि दूसरे की सहायता में जितना प्रयोजन पूरा होता है उससे मानसिक अशान्ति के रूप में क्षति हो जाती है। इसलिए इस प्रकार के प्यार, मुहब्बत के झंझट से दूर रहकर सामान्य सौजन्य शिष्टाचार सज्जनोचित एवं मर्यादित मित्रता को ही लोकजीवन में सराहा गया है और शान्ति सन्तुलन की अपेक्षा करने वालों को उस झंझट से दूर रहकर स्थिति प्रज्ञ जैसी—राग-द्वेष से बचते रहने की मनःस्थिति अपनाये रहने का परामर्श तत्ववेत्ताओं ने दिया है। सामान्य लौकिक जीवन में वह मर्यादित स्नेह, सद्‌भाव की व्यवस्था ठीक भी है अन्यथा तथा कथित प्रेम-मुहब्बत के उफान में भावुक पक्ष बुरी तरह ठगे जाने तथा विश्वासघात भरी बर्बादी की जोखिम भी उठा सकता है।

प्रेम तत्व जिसे आत्मिक अपूर्णता की पूर्ति के लिये अनिवार्य बताया है। इस प्यार मुहब्बत वाली बिडम्बना से बहुत ऊँची चीज है। वह एक साधना है जो अपने अन्तःकरण में दबे—अमृत

निर्झर को अद्‌भुत करने के लिये की जाती है। इसका माध्यम कोई भी चुना जा सकता है। यहाँ तक कि निर्जीव और सम्वेदनरहित प्रत्युत्तर दे सकने में असमर्थ पाषाण प्रतिमा को भी ऐसे प्रेम परिष्कार के लिये बिना किसी कठिनाई के माध्यम के चुना जा सकता है। मीरा के गिरधर गोपाल और राम-कृष्ण परमहंस की काली प्रत्यक्षतः पाषाण प्रतीक ही थे। उनसे प्रत्युत्तर या प्रतिदान की आशा कैसे की जा सकती थी। फिर भी अनेक भक्तजनों ने इस प्रकार के प्रतिमा प्रतीकों को 'इष्टदेव' मानकर प्रेम तत्व की आराधना आरम्भ की और उसमें पूर्णतया सफलता भी पाई। कहा जा चुका है कि प्रेम एकांगी हो सकता है उसके लिए प्रति पक्षी का प्रतिदान उचित और आवश्यक उपयोगी तो है पर अनिवार्य नहीं। क्योंकि प्रेम तो मूल दिशा देने की प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। जिसे कोई रोक नहीं सकता है।

सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म अकेला था, अकेलापन उसे बहुत अखरा—उसमें स्तब्धता और नीरसता भरी पड़ी थी। एकाकी मन में न उल्लास, न आनन्द और न उन्हें उत्पन्न करने वाला रमण। अस्तु, ब्रह्म ने इच्छा की कि 'एक से बहुत हो जाऊँ ? बहुत के साथ ही विनोद का आधर बनता है। सो परमेश्वर ने अपना परिवार बढ़ाया, प्रकृति बनाई। सृजन के लिये फैलाव उचित तो था पर वही क्रम निरन्तर चलता रहता तो ब्रह्म अपने आप को ही खो बैठता और अनारम्भ की तरह अति समापन भी नीरस हो जाता इसलिए फिर परमेश्वर को अपनी ओर खींचा। इस विकर्षण और आकर्षण की क्रिया को प्रकृति और पुरुष का रमण कहा जाता है। आनन्द और उल्लास का उद्‌भव, तत्व ज्ञान ने इसी प्रकार वर्णन किया है।

मानवी सृष्टि में भी यह क्रम इसी प्रकार चलता है। एकाकी जीवात्मा अपने को विस्तृत करने के लिए—प्रेम का निर्झर अद्‌भुत करने के लिए किसी को माध्यम चुनती है—किसी को आधार बनाती है—उसके साथ घनिष्ठता ऐसे उल्लास भरे अनुदान में परिणित हो जाती है जिसे दिव्य प्रेम कहा जाय। लिंग भेद और प्रकृति गत आकर्षण के कारण पति-पत्नी भाव में इसकी अधिक सरलता सफलता रहती है पर यह अनिवार्य नहीं। दूसरे सांसारिक रिश्ते भी प्रेमी के साथ रह सकते हैं। पति-पत्नी के बीच का माधुर्य ही नहीं-माता-पिता का वात्सल्य, मित्र को सखा भाव, सन्तान की मातृ-पितृ भक्ति, गुरु का स्नेह, शिष्य की गुरु-भक्ति, माता-पुत्र, भाई-बहिन, पिता पुत्री आदि वैयक्तिक रिश्ते इसके आधार हो सकते हैं और अधिक उदात्त दृष्टिकोण अपनाकर इसे देशभक्ति, विश्वसेवा, कर्त्तव्य-निष्ठा आदि के रूप में भी विकसित किया जा सकता है। पर अभ्यास का आरम्भ व्यक्ति से हो तो अच्छा है। परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष में मन अधिक रमता है और समय-समय पर अनुकूल प्रतिक्रिया अवगत होते रहने से उत्साह भी बढ़ता है। साकार प्रेम से आरम्भ करके उसे निराकर प्रेम में परिणित करना आरम्भ से ही निराकार प्रेम की साधना की तुलना में अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है। देव प्रतिमाओं के छवि प्रतीकों से लेकर अपनी श्रद्धा एवं विश्वास के ऐसे उपयुक्त व्यक्ति के माध्यम से भी यह प्रेम साधना अग्रगामी बना सकने की पवित्रता से युक्त हो। पीछे तो इसे विश्व मानव के प्रति आत्मोत्सर्ग के रूप में ही परिणित करना होता है। अहंता को विराट् में, अणु को विभु में, आत्मा को परमात्मा में, स्वार्थ को परमार्थ में, मैं को तू में लय कर देना ही प्रेमयोग की आत्मिक स्थिति है। बूँद अपने को समुद्र में घुलाकर जिस प्रकार समुद्र बन जाती है, उसी प्रकार जीव अपनी कामानाओं, वासनाओं, तृष्णाओं को ईश्वरीय सत्ता में—उसके संकेता में अपने आपको लय कर देता है। ईश्वर की इच्छा को अपनी इच्छा बना लेना—उसकी प्रसन्नता को अपनी प्रसन्नता मान लेना—उसके संकेतों पर अपने को चलने के लिए सर्वतोभावेन तत्पर कर लेना यही भक्ति योग की अन्तिम स्थिति है और इसी में आत्मिक पूर्णता की उपलब्धि होती है। अपने को दूसरे में फैलाना और फिर दोनों का एक हो जाना—किसी से प्रेम जोड़ना—और फिर उसमें अपने आपको समर्पित कर देना इसी प्रक्रिया के अनुरूप यह सृष्टि चल रही है। ईश्वर ने प्रकृति को अपने से अलग बनाया फिर उसके कण-कण में अपनी सत्ता को घुला दिया। प्रेमी को भी इसी प्रक्रिया का अवलम्बन करना

पड़ता है। प्रेम योग की साधना का यही तत्व ज्ञान है।

प्रत्यक्ष जीवन में यह परोक्ष प्रेम साधना कैसे की जा सकती है। इसका अलंकारिक रूप गोपी और कृष्ण की प्रेम साधना के रूप में बहुत ही अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया है। एक गोपी अपने प्रेमी कृष्ण की रुचि का श्रृंगार बना कर उन्हें सुख पहुँचाने के लिये पहुँचती है। कृष्ण सोये हुये हुये हैं। गोपी कमल पुष्प से उन पर विजन करती है और चाहती है उनकी आँख खुल जाये और अपनी रुचि का श्रृंगार देखकर प्रसन्नता अनुभव करें। इतने में राधा जी आ पहुँचती हैं, और गोपी का मनोरथ समझ-कर उसे बड़े प्रेम से छाती से लगाती हैं और कहती हैं। निस्सन्देह तुम कृष्ण को प्रसन्न करने के लिये ही श्रृंगार करके आई हो, तुम्हारा इसमें कोई मोह विकार नहीं है। पर अभी उसमें इतना और जोड़ो कि कृष्ण को नींद में आनन्द आ रहा है उसमें विक्षेप न पड़े इसलिये अभी उस उत्सुकता को भी दबाना चाहिये जिसके अनुसार तुम कृष्ण को प्रसन्न देखकर स्वयं प्रसन्न होने की आतुर हो। अपनी इच्छा इतनी भी न हो—तभी तो सच्चा समर्पण और सच्चा प्रेम माना जायेगा।

इस प्रेम साधना के पीछे मूल तत्व है 'उत्कृष्टता लिये आत्म-समर्पण'। यह व्यक्ति से आरम्भ हो सकता है पर अन्त इसका अनन्त में ही होना चाहिये। अपनी अहंता और संकीर्णता को उतारकर फेंक देना और नंगे की तरह अपना सर्वस्व लेकर भगवान के सम्मुख, विश्व मानव के सम्मुख उपस्थित होना यही तो आत्मिक पूर्णता है। इसके लिये अपनी प्रतिभा, सम्पदा, क्षमता ही नहीं, अहंता को भी प्रभु के चरणों में अर्पित करना पड़ता है। पोली वंशी ही प्रियतम के ओंठ को चूमने और मधुर राग-रागिनियों से झंकृत होने का सौभाग्य प्राप्त करती है। पोला शंख ही तो मन्दिरों में उद्घोष करता है। भीतर अहंता, ममता और स्वार्थ परता भरी हो, लेने की कामना प्रबल हो रही हो तो वहाँ प्रेम या भक्ति का दर्शन भी नहीं हो सकता।

कृष्ण द्वारा गोपियों के चीर हरण की कथा में भी अलंकारिक रूप से जीव के द्वारा समस्त मल आवरण और विक्षेपों के वस्त्रों को उतारने और नंगे होकर प्रभु की शरण में आने का रहस्य समाया हुआ है।

इस प्रकार प्रभु समर्पित जीवन जीने वाली आत्माओं को कृष्ण उपाख्यान में 'गोपी' संज्ञा दी गई है। जो जीव व्यष्टि को समष्टि में घुला चुका--व्यक्तित्व को समाज के लिये उत्सर्ग कर दिया, स्वार्थ को परमार्थ में लीन कर दिया ऐसा समर्पण परायण जीवात्मा गोपी कहा जा सकता है। वस्तुतः ऐसे लोग ही सच्चे अर्थों में भगवान को जानते हैं और प्रतिक्रिया स्वरूप भगवान भी उन्हें जानता है।

भागवत् में भगवान कृष्ण उद्विग्न मना अर्जुन से दो प्रसंगों में गोपियों के उच्चस्तरीय प्रेम की चर्चा करते हुये कहते हैं—उनका मन मेरे मन में, उनका प्राण मेरे प्राण में, रम गया है। मेरे लिये वे अपनेपन का—अपने सुख साधनों का परित्याग कर चुकी हैं। मेरी महिमा, मेरा स्वरूप, मेरी श्रद्धा और मेरे मन की बात केवल गोपियाँ ही जानती हैं। दूसरा कौन जानता है।

प्रेम की प्रतिक्रिया प्रेम की भाषा में उसी के अनुरूप भगवान की ओर से भी होना स्वाभाविक है। कृष्ण कहते हैं "अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यं घ्ररेणुभिः।" अर्थात्—मैं उनके पीछे-पीछे सदा इस विचार से चला करता हूँ कि उनके चरणों की धूल उड़कर मुझ पर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ। सचमुच प्रेम तत्व की साधना करने वाली आत्मायें इतनी महान् होती हैं कि यदि भगवान उनके चरणों की धूलि अपने ऊपर पड़ने से प्रसन्नता अनुभव करते हों तो उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है।

जिस प्रकार व्यक्तिगत सुख-सुविधायें उपलब्ध करने में इच्छा रहती और आनन्द मिलता है, उसी प्रकार दूसरों में अपनापन आरोपित कर उन्हें सुखी बनाने में आनन्दानुभूति उपलब्ध करना यही प्रेम तत्व का वास्तविक रूप है। इसे सघन मित्रता के रूप में किसी व्यक्ति के माध्यम से विकसित किया जा सकता है। ऐसी उच्चस्तरीय मित्रता जिससे की जाये, अथवा

जिसके द्वारा की जाय दोनों के लिये ही श्रेयस्कर होती है। प्रेम वह अमृत है जिसकी प्यास सभी को है। उसकी कुछ बूँद पाकर हिंस्र जन्तु भी कोमल हो जाते हैं फिर सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या है। किसी के दूषणों को सुधारने, अवरोधों को हटाने और सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के लिये प्रेम से बढ़कर शक्तिशाली अनुदान और कुछ नहीं हो सकता। प्रेम की प्यास में मृगतृष्णा जैसा उद्विग्न भटकता हुआ प्राणी जब कभी इस दिव्य वरदान को प्राप्त कर लेता है तो वह धन्य हो जाता है। जितना हित साधन प्रेमास्पद का है उससे भी अधिक प्रेमकर्त्ता का है, दूसरे जिसकी कुछ बूँदों का प्रसाद पाकर धन्य हो जाते हैं उस अमृत का निर्झर जिसके अन्तरंग में अहर्निश प्रभावित होता हो, उनकी अन्तः भूमिका स्वर्गलोक के देवताओं से बढ़कर ही हो सकती है, कम नहीं। इस प्रेम साधना को परस्पर व्यवहृत करते हुये हम सब देवत्व की ओर निरन्त अग्रसर हो सकते हैं और इस साधना तपश्चर्या के माध्यम से सारा संसार देवताओं का निवास स्वर्गलोक बन सकता है।

प्रेम का अभ्यास ही व्यक्ति से आरम्भ किया जा सकता है अन्ततः उसका विकास तो भगवान के—विश्व मानव के—समाज के चरणों में अपनी अहंता तथा सम्पदा समर्पित करने की दिशा में ही होना चाहिये। प्रेम व्यक्ति को स्वार्थ की कीचड़ से उठाकर परमार्थ के राजसिंहासन पर बिठाता है। व्यक्तिवाद से ऊँचे उठकर समाजवाद के आदर्शों से ओत-प्रोत करने का तत्व-ज्ञान ही प्रेम की अध्यात्म साधना से भरा हुआ है।

ब्रह्म विद्या वन में कठोर तप इसलिये कर रही थी कि उसे भक्ति की पूर्णता प्राप्त हो। आत्मा का अमृत उल्लास निस्सन्देह मनुष्य की प्रेमी प्रकृति के अभिवर्धन पर निर्भर है।

प्रेम का प्रयोग उच्च स्तर पर

जिसे हम अपना समझते हैं उससे प्यार होता है। अपना आपा जिसमें न घुलाया जाय उससे प्यार हो ही नहीं सकता। दूसरे लोगों की अपेक्षा अपने भाई से प्रेम अधिक होता है क्योंकि वह अपना सहोदर है। भाई से भी अधिक प्यारा पुत्र होता है क्योंकि वह अपने ही अंश से पैदा हुआ है। पुत्र से भी अधिक स्त्री प्रिय होती है, क्योंकि वह अर्धांगिनी है। अपनेपन का यह दायरा जितना सघन होता चला जायेगा उसी अनुपात से यह संसार और उसके निवासी अपने लगने लगेंगे। कहना न होगा कि यह आत्मीयता ही आनन्द की निर्झरिणी है। हमें निरन्तर इस आनन्द की अनुभूति करनी हो तो अपने को प्रेमयोग की आराधना में लगाना चाहिये।

प्रेम निर्मल और निर्लोभ होना चाहिये तभी उसका समुचित आनन्द मिल सकता है। लोभ की कीचड़ में सने हुये प्रेम का नाम तो मोह है। परामोह में व्यक्ति पराधीन हो जाता है। यदि प्रेम पात्र ने अनुकूलता दिखाई तो सुख, यदि वह प्रतिकूल हो गया या उपेक्षा बरतने लगा तो दुख, जिस प्रक्रिया से पराधीन होना पड़ता हो वह अध्यात्म नहीं हो सकता। प्रेम विशुद्ध अध्यात्म की उपलब्धि है, उसमें प्रेमी सर्वथा स्वाधीन रहता है। वह किसी की अपेक्षा नहीं करता। प्रियपात्र की भी अपेक्षा नहीं इसलिये वह शाश्वत कहा गया, लोभ युक्त मोह जहाँ होगा वहाँ साथी का दबाव अनुभव करना पड़ेगा। उसकी मर्जी पर चलना पड़ेगा। यदि वह अनुचित होगी तो भी संकोचवश उसे मानने की विवशता रहेगी। किन्तु यदि वह निर्मल है, उच्च आदर्श और उद्देश्य के निमित्त किया है तो उसमें प्रेम को अक्षुब्ध बनाये रहने पर भी साथी की बात मानने से इनकार करने की भी गुंजायश रहेगी। प्रेम का अर्थ अवांछनीयता के आगे सिर झुका देना नहीं वरन् यह है कि प्रिय पात्र की अनुपयुक्त गतिविधियों को सुधारा जाय, न बन पड़े तो भी स्वयं उसमें सहमत सम्मिलित न होने की तो छूट रहनी ही चाहिये। प्रेम व्यवहार नर-नारी, बाल-वृद्ध, सब के बीच निर्बाध रूप से चलता रह सकता है पर उसमें मर्यादाओं का ध्यान रखा जाना चाहिये। ऐसा न हो कि घनिष्ठता की छूट में फिसलन पैदा करने वाली परिस्थितियाँ बनने लगें। यदि ऐसा हुआ तब तो प्रेम का मूल स्वरूप और प्रयोजन ही नष्ट हो जायेगा।

जब नर और नारी के बीच प्रेम व्यवहार चल रहा हो तब इस जोखिम से सावधान रहना चाहिये कि वह जरा सी फिसलन का अवसर आते ही विकार उत्पन्न कर सकता है और उसमें काम की परिणति हो सकती है। इस सन्दर्भ में किसी को भी अपनी दृढ़ता की डींग नहीं हाँकनी चाहिये। व्यास, विश्वामित्र, पाराशर, इन्द्र, चन्द्रमा आदि के अगणित प्रसंग ऐसे हैं जिनमें तपस्वी, विद्वान्, ज्ञानी और भरे-पूरे गृहस्थ—सुख वाले व्यक्तियों के पैर नीचे फिसले हैं। मन में जितना देवत्व है उतना ही वरन् उससे भी कुछ अधिक मात्रा में शैतान मौजूद है। जहाँ देवता सन्मार्ग पर अड़े रहने का साहस देता है वहाँ शैतान पतन की ओर घसीटने में कुछ कसर उठा नहीं रखता। कौन जाने सदा देवत्व ही विजयी होता रह सकेगा या नहीं। असुरों की विजय और देवताओं की पराजय के अगणित कथानक इतिहास पुराणों में भरे पड़े हैं। कौन जाने यह असुर विजय अपने ऊपर भी प्रत्यक्ष हो उठे। अस्तु, जब नर और नारी के बीच घनिष्ठता बढ़ने लगे तो इस तथ्य को सबसे प्रथम आगे रखना चाहिये और मर्यादाओं का बन्धन इतना कड़ा कर लेना चाहिये कि प्रेम को वासना और व्यभिचार की वृद्धि के कलंक से कलंकित न होना पड़े।

बड़ों के साथ श्रद्धा भक्ति और छोटों के साथ वात्सल्य जोड़ रखने से प्रेम की भावनात्मक मर्यादा बनी रहती है। नारी यदि अपने बराबर की है या कुछ बड़ी है तो उसे दीदी, माता जी जैसे श्रद्धास्पद शब्दों के साथ सम्बोधन करना चाहिये और वैसे ही उच्च भाव मन में लाने चाहिये। उसी प्रकार यदि वह छोटी आयु की है तो बेटी, बच्ची, मुन्नी, आदि शब्दों में वात्सल्य का मिठास भरते हुये संबोधन करना चाहिये और बुजुर्ग लोग बच्चों के साथ जैसा निर्मल, निश्छल और स्नेह सौजन्य का व्यवहार करते हैं उसी स्तर पर अपनी मनोभूमि को टिका लेना चाहिये। यही प्रक्रिया नारी की ओर से नर के बारे में बरतनी चाहिये। प्रेम भाव बढ़े हर्ज नहीं—पर यह ध्यान रहे यह दुधारी तलवार उपयुक्त प्रयोजन के लिये ही काम में लाई जाये ऐसा न हो कि अर्थ का अनर्थ होने लगे और अमृत की परिणति विष के रूप में प्रस्तुत हो चले।

भौतिकता का प्रवाह आज हर वस्तु को छूने लगा है। उसने प्रेम जैसे विशुद्ध अध्यात्म तत्व को भी अछूता नहीं छोड़ा। आज प्रेम शब्द का प्रचलित अर्थ युवा नर-नारियों के बीच चल रही वासनात्मक गतिविधियाँ ही तो हैं। उपन्यास, कहानियाँ, फिल्म, चित्र, गीत आदि कला के सभी अंग जिस प्रकार प्रेम की परिभाषा करने लगे हैं उसके अनुसार वासनात्मक मांसलता का प्रदर्शन, यौन आकर्षण अथवा रूप यौवन की उच्छृंखल उमंगों का नाम ही प्रेम है। सारा योरोप इसी मर्ज का मरीज है। लम्बे-चौड़े प्रेमपत्रों की जो रेल दौड़ती रहती है उसका केन्द्रबिन्दु वासना ही होती है। सो इन दिनों उस खतरे से बहुत सावधान रहा जाना चाहिये और ऐसे प्रसंगों का अवरोध करना चाहिये जिनसे पतन की फिसलन का पथ प्रशस्त होता हो। नर-नारी के बीच शालीनता की मर्यादाओं का बने रहना प्रेम पथ में अवरोध नहीं, सहायक ही माना जाना चाहिये।

व्यक्तियों के बीच जहाँ घनिष्ठता बढ़ने लगे वहाँ उसका स्तर ऊँचा रखने में सतर्कता बरती जानी चाहिये। प्रेम के साथ आदर का भाव जोड़कर रखा जाना चाहिये। श्रद्धा और सम्मान को मिलाये रखने से अनुचित व्यवहार की इच्छा नहीं होती। इच्छा हो तो लज्जा आती है कि ऐसा करने से उस आदरास्पद व्यक्ति के मन में अपनी तुच्छता की छाप पड़ेगी और वह हमारे बारे में क्या से क्या सोचने लगेगा। इस मनःस्थिति में प्रेम का दुरुपयोग नहीं होता, जो कि पूर्ण समानता की स्थिति में सम्भव है। अपनी दुर्बलतायें प्रकट करने और अनुचित लाभ उठाने में संकोच न करने की वृत्ति तब पनपती है जब मित्र को अपनी ही स्थिति में गिन या मान लिया जाता है। संकोच बना रहना शील का चिन्ह है। पूर्ण निःसंकोचता इस दृष्टि से तो अच्छी है कि व्यक्ति अपनी घुटन दूर करने, अपना जी हल्का करने और दूसरों के सामने अपनी वास्तविक स्थिति रखे। ऐसा करने से अपनी प्रामाणिकता और सच्चाई प्रकट होती है तथा दूसरा धोखे में रहने से सतर्क हो जाता है। पर हानि यह है कि निःसंकोच सी मनःस्थिति

में व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं को खुल-खेलने की छूट दे देता है और धन से लेकर अन्य अनुचित लाभ उठाने में संकोच नहीं करता। जिस बात को कहने में और जिस काम को करने से सकुचना झिझकना चाहिये उसे कहने लगता है और मर्यादाओं का बाँध टूटने से फिर अक्सर पतन की ओर ही पग बढ़ाने लगता है। ऐसे कम ही व्यक्ति को अवसर होते हैं जब निस्संकोचता से सुधार या प्रगति की दिशा में सहायता मिलती हो, आमतौर से इसका परिणाम एक दूसरे की दुर्बलताओं का समन्वय करके तीसरी बड़ी दुर्बलता के रूप में परिणत होने का ही होता है। दो चार मिलते हैं तो संयुक्त रूप से नया षड्‌यन्त्र बनाते हैं। दो व्यभिचारी मिल कर पतन का बड़ा जाल बुनते हैं। दो शिकारी जब भी मिलेंगे, हत्याओं का नया सिलसिला चल पड़ेगा। मनुष्य की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के दबे और छिपे रहना ही श्रेयस्कर है। उनका शील संकोच का पर्दा पड़ा रहना चाहिये। गन्दी नाली को ढका न रखा जाये तो उसकी दुर्गन्धि से उधर गुजरने वाले अरुचि एवं घृणा ही प्राप्त करेंगे गुह्य अंगों को ढके रहने की तरह दुर्बलताओं पर भी आवरण ही पड़ा रहना उचित है।

प्रेम के साथ विवेक और कर्त्तव्यों का सन्तुलन बनाये रहना आवश्यक है। ऐसा न हो कि यह उफान आँधी-तूफान की तरह सारी मर्यादाओं को ही उखाड़कर फेंक दे। लोहे के खम्भे यथा-स्थान इसलिये गढ़े रहते हैं कि उनका बैलेन्स सही रहता है। वे किसी ओर झुकते नहीं। सब ओर के झुकावों, आकर्षणों से रहित होकर अपने स्थान पर खड़े रहते हैं। यदि खम्भा किसी एक ओर झुकने लगे तो सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी। थोड़ा झुकाव पृथ्वी के आकर्षण के कारण अधिक झुकाव बनता चला जायेगा और फिर खम्भा अपने ऊपर अधिक दबाव अनुभव करेगा और तेजी से झुकता चला जायेगा। अन्ततः वह स्वयं गिरेगा और उसमें जो बिजली के तार आदि बँधे थे उनको भी अपने साथ ही गिराकर नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। प्रेम का प्रयोजन श्रेय पथ पर चलने के लिये अन्य साथी तलाश करना है ताकि लम्बी मंजिल में एकाकीपन थका देने वाला एवं नीरस प्रतीत न हो। जितने साथी होते हैं उतना ही रास्ता अच्छा कटता है पर यह साथी एक दिशा में चलने वाले तथा एक प्रकृति के होने चाहिये। मित्रता से पूर्व एक कसौटी तो प्रयुक्त की ही जानी चाहिये कि सहचर में आदर्शवादिता का कितना पुट है। अवांछनीय अनैतिक व्यक्ति तो साधारण परिचय से ही सांप, बिच्छू जैसे डंक मारते हैं और पागल कुत्ते जैसे आक्रमण करते हैं। फिर यदि वे घनिष्ठ बन जायें और प्रेम-जाल में फँसा लें तब तो सब प्रकार बर्बादी ही समझनी चाहिये। आज के फैशन में शत्रु जैसा आक्रमण मित्र बनकर ही किया जाता है। विश्वासघात तो एक प्रकार का चातुर्य गिना जाने लगा है सो हर किसी को फूँक-फूँककर ही इस मार्ग पर कदम बढ़ाना चाहिये और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की घनिष्ठता—मित्रता स्थापित करते समय हजार बार जांच लेना चाहिये कि कहीं किसी के प्रेम जाल में फँसने की दुर्भाग्य पूर्ण दुर्घटना तो घटित होने नहीं जा रही है। कोई दुश्चरित्र व्यक्ति प्रेमी का नकाब ओढ़कर बहेलिया जैसी कुचाल तो नहीं चल रहा है। इस सन्दर्भ में थोड़ी-सी भूल रह जाने पर भावुक और विश्वस्त व्यक्तियों को किसी बड़ी विपत्ति में फँस जाने की सम्भावना बनी ही रहेगी। स्मरण रखना चाहिये कि चरित्रवान और प्रामाणिक व्यक्ति ही सही प्रेम-पात्र सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये घनिष्ठता बढ़ाने से पूर्व इस परख को पूरी तरह ध्यान में रखना चाहिये और अपने को सीधे खड़े खम्भे की तरह सन्तुलित रखना चाहियें कि प्रेम के नाम पर अनीति की ओर झुकने या झुकाये जाने का अवसर न आवे।

व्यक्तिगत प्रेम की तो प्रसंगवश चर्चा आ गई। वस्तुतः यह महान् अभिव्यक्ति आदर्शों के लिये ही प्रयुक्त की जानी चाहिये। इसे ही ईश्वर भक्ति कहते हैं। ईश्वर-भक्ति का अर्थ है—समष्टि आत्मा से—विश्वात्मा से प्यार आदर्शों और सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा। जहाँ भी उच्च आदर्श चरितार्थ हो रहे हैं वहीं हमारा प्रेम बरसे। दया, करुणा और सेवा का पात्र हर दीन-दुःखी हो सकता है। गिरे हुओं को उठाना और पिछड़े हुओं को उठाना यह भी प्रेम का ही एक स्वरूप है। सेवा और सहायता के पीछे भावना ही छिपी रहती है। पर यदि किसी को साथी सहचर

बनाना हो और घनिष्ठता का आनन्द लेना हो तो इस स्तर का प्रेम या तो आदर्शों के साथ जुड़ा रहना चाहिये या फिर परखे हुये आदर्शवादी उत्कृष्ट व्यक्तियों पर उस तत्व कों संजोया जाना चाहिये।

आन्तरिक उल्लास का विकास प्रेम की अभिव्यंजना के ऊपर टिका हुआ है। वस्तुतः आत्मा ही आनन्द का स्रोत है और वह जिस किसी पर भी आरोपित कर दी जाये उसे भी आनन्द की अनुभूति होने लगती है। मकान, मोटर, जेवर आदि जब तक अपने हैं तब तक परमप्रिय लगते हैं और उनकी सुरक्षा-सावधानी रखने का ध्यान बना रहता है जब उन्हें बेच दिया जायँ—दूसरे के हो जायें तो उनके टूटने खोने आदि का जरा भी दुःख नहीं होता। यह अपनेपन का ही विस्तार और संकोच है। अपनी जेब का रुपया खो जाय, चोरी चला जाय तो दुख होता है और वही रुपया जब दूसरे के हाथ चला गया और खो गया तो जरा भी कष्ट न होगा। क्यों तब वह अपना न रहकर पराया हो गया था। अपने घर बेटा जन्मे तो प्रसन्नता होती है दूसरे के यहाँ जन्म हो तो उसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता। इससे प्रत्यक्ष है कि पुत्र, रुपया, मोटर, मकान, जेवर आदि प्रिय नहीं, प्रिय अपना अपनापन है, उसे जिस किसी के साथ जोड़ दिया जाये वही अपना लगता है और वही प्रिय दीखता है। संसार की समस्त वस्तुओं को यदि अपनी मान लिया जाये, सब में अपनी ही आत्मा का समावेश अनुभव किया जाये तो इस संसार में जो कुछ है वह सब प्रिय लगने लगेगा। आत्मा का प्रकाश पड़ते ही सब काली-कुरूप वस्तुयें भी सुन्दर दीखने लगेंगी, अपनी अभिव्यक्तियों को, अनुभूतियों को परिष्कृत करना प्रेम तत्व का काम है। उससे रहित जिसका मन है उसे इस संसार में सब कुछ का-कुरूप और अन्धकार जैसा दीख पड़ेगा पर प्रेम की ज्योति किरणें जब अन्तःकरण में उदय हुईं और उनका प्रकाश जहाँ भी—जिस पर भी पड़ा वहीं आलोक और उल्लास बिखरा दिखाई पड़ने लगेगा।

प्रेम का आरम्भ होता है, अन्त नहीं

प्रेम का आरम्भ होता है—अन्त नहीं। क्योंकि न उससे निवृत्ति मिलती है न उसकी पूर्ति होती है। इसी से प्रेम को नित्य कहा जाता है और अनन्त वासना की तृप्ति, भोगों की प्रचुरता से हो सकती है। भले ही वह कुछ समय के उपराम के रूप में क्यों न हो। आग पर घी की मात्रा अत्यधिक डाल दी जाये तो वह कुछ समय के लिये तो शान्त हुई दीखती है। इसी प्रकार वासना, लिप्सा, तृष्णा और मोह का समाधान अभीष्ट वस्तु या व्यक्ति प्राप्त हो जाने पर सम्भव है, भले ही वह कुछ समय के लिये ही क्यों न हो। कुछ समय की बात इसलिये कही जा रही है कि संसार की समस्त वस्तुयें जिनमें काया भी गिनी जा सकती है, विकारी हैं। उनमें रुचिकर लगने वाले तत्वों से अरुचिकर लगने वाले तत्वों की मात्रा कम नहीं, अधिक ही है।

सत् और तम से मिलकर यह संसार बना है। रज तो इन दोनों का सम्मिश्रण है। वस्तुतः रज की पृथक सत्ता नहीं। सुर और असुर के—शुभ और अशुभ के—भगवान् और शैतान के संग का सम्मिश्रित स्वरूप मनुष्य है, इसलिये उसमें श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है, उतनी ही निकृष्टता भी विद्यमान है। इसी से मनुष्य को अपूर्ण कहा जाता है। इस संसार में कोई जीवधारी पूर्णता प्राप्त करने पर काया धारण करने की, जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रखता। पूर्ण पुरुष बिना काया के भी—सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्म जगत में हलचलें उत्पन्न करके वह काम कर सकते हैं जो देह धारियों द्वारा सम्भव नहीं होते। लोक शिक्षण के लिये—जनता का मार्गदर्शन करने के लिये लीलायें प्रस्तुत करें यह बात दूसरी है। ऐसे अपदार्थों को छोड़कर आमतौर से मनुष्यों में अपूर्णता का, विकारों का—त्रुटियों का बहुत बड़ा अंश पाया जाता है।

यही बात वस्तुओं के बारे में भी है, वे न मिलने तक बड़ी आकर्षक लगती हैं क्योंकि तब

तक उनका पक्ष—आकर्षण के रूप में ही दीखता रहता है। जब समीप आते हैं और वे उन पदार्थों की प्राप्ति के साज-सम्भाल, सुरक्षा, उपयोग, उपभोग आदि की जिम्मेदारियाँ कन्धों पर आती हैं, तथा उन वस्तुओं में जो परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, दोष दृष्टि में आते हैं उनके कारण सारा आनन्द ही चला जाता है। गरीबों की अमीरी प्राप्त करने की बड़ी अभिलाषा रहती है, पर अमीरों को अन्तर्द्वन्दों से बेतरह उद्विग्न देखा गया है उनमें से कितने ही आत्महत्या करते तथा विरक्त होते देखे गये हैं। सांसारिक वस्तुओं में यही विशेषता है कि जब तक वे दूर रहती हैं जब तक प्रिय लगती हैं और वे जैसे ही जितनी ही समीप आती हैं उतना ही आकर्षण खो बैठती हैं। विवाह होने से पूर्व प्रेमिका या मंगेतर जितनी सुहावनी—आकर्षक लगती है, विवाह होने के बाद पत्नी बन जाने पर आकर्षण चला जाता है। दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा कितने सुन्दर लगते हैं पर यदि उनके समीप पहुँचा जाय तो मुसीबत ही खड़ी हो जायेगी। सूर्य की प्रचण्डता ज्वाला और चन्द्रमा की वायुरहित अनियन्त्रित शीत ताप वाली स्थिति में किसी को एक क्षण भी ठहरना न भायेगा।

लिप्सा, तृष्णा और वासना जो आमतौर से प्रेम का आवरण ओढ़कर हमारे सामने आती हैं, यही झंझट उत्पन्न करती हैं। जिस पदार्थ की आज बहुत उत्कण्ठा थी वह मिल जाने के बाद अरुचिकर बन जाता है। यही कारण है कि न तो भोग से तृप्ति होती है और न भोग्य पदार्थों की एकरूपता से। एक ही मिठाई कोई बहुत दिन नहीं खाना चाहेगा। भोजन में रोज-रोज नये पदार्थ बदलने की आकांक्षा के पीछे यही रहस्य छिपा हुआ है कि जिस पदार्थ को जितना आकर्षक समझा गया था, मिलने के बाद उसका आकर्षण चला गया। नित नये भोजन—व्यंजन पाने की इच्छा के पीछे यही मर्म छिपा पड़ा है कि न मिलने तक वस्तु के गुण दीखते हैं पर जब उसको प्राप्त कर लिया जाता है तो दोष भी सामने आ जाते हैं। अथवा यों कहिये कि अपनी कल्पना का नशा वस्तुस्थिति समझने के बाद नीचे उतर आता है। यह बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। आज जो खेल देखा था उसे कल देखने की इच्छा नहीं होती। आज जो गीत सुना कल वह फीका लगता है। व्यभिचारी की काम-वासना भी नई-नई आकृति के भोग्य व्यक्ति ढूँढ़ती है। पुरुषों को नई स्त्रियों और स्त्रियों को नये पुरुषों में रति रहती है। इसी से कहा जाता है कि वस्तुओं और व्यक्तियों का आकर्षण—भले ही प्रेम के नाम से पुकारा जाय, वस्तुतः वह लोभ और मोह का भावुकता भरा सम्मिश्रण ही है इसे कोई प्रेम समझे तो समझता रहे। पर वास्तविकता से वह दूर ही है।

प्रेम का स्तर ऊँचा है। वह न वस्तु के स्थूल रूप को देखता है और न व्यक्ति के शरीर आकर्षण को। वरन् प्रेमी की दृष्टि उन आवरणों के अन्तराल में छिपी हुई दिव्य सत्ता को देखने की—उसकी रसानुभूति उपलब्ध करने की रहती है। साकार मूर्ति पूजा के माध्यम से हम पदार्थों के भीतर छिपी हुई दिव्य सत्ता को अनुभव करने और उसके साथ भक्ति भावना का समन्वय करने का अभ्यास करते हैं। देव प्रतिमायें धातु या पत्थर की बनी होती हैं। धातु या पत्थर का मूल्य नगण्य है। उनका सामान्य उपयोग उपेक्षापूर्वक होता रहता है, चाहे तो इस व्यवहार को तिरस्कार भी कह सकते हैं। पर इसी पत्थर या धातु की बनी देव प्रतिमा के सम्मुख हम भाव-विभोर हो जाते हैं। यह भावना पत्थर या धातु के प्रति नहीं वरन् उसके अन्तराल में छिपी हुई देव सत्ता के प्रति है। जहाँ ऐसी दृष्टि होगी वहाँ वह पत्थर कभी भी अनाकर्षक प्रतीत न होगा वरन् जितना पुराना हो जायेगा उतना ही सम्मान बढ़ता जायेगा। नये देव मन्दिरों की अपेक्षा आमतौर से प्राचीन देव प्रतिमाओं का सम्मान होता भी अधिक है। यही बात प्राचीन ध्वंसावशेषों, ऐतिहासिक स्मारकों, तीर्थों के बारे में लागू होती है। स्थूल रूप से वे सब पुराने जीर्ण होने के कारण—नई इमारतों की तुलना में मूल्य, कला, उपयोगिता आदि की दृष्टि से नगण्य ही ठहराये जा सकते हैं पर चूँकि उनके पीछे ऐतिहासिक और भावनात्मक तथ्य जुड़े हुये हैं इसलिये वे स्वभावतः आकर्षक लगते हैं और उन्हें देखने के लिये लोग बहुत धन और समय खर्च करके बहुत कष्ट उठाते हुये भी पहुँचते रहते हैं।

यदि स्थूल दृष्टि से इन दर्शनीय स्थानों का मूल्यांकन किया जाये तो निःसन्देह उनमें से भी अनाकर्षक लगेंगे। जो आकर्षक हैं उनके चित्र आदि देखकर काम चलाया जा सकता है। पर देखने की जो तीव्र अभिलाषा होती है उसके पीछे उन स्थानों या स्मारकों के पीछे जुड़ा हुआ सूक्ष्म दर्शन ही है जो बरबस व्यक्ति को अपनी ओर खींचता रहता है। मेले-ठेले देखने जाते हैं तो एक दुकान पर बहुत देर खड़े रहने या देखते रहने की इच्छा नहीं होती, पर तीर्थों या देव मन्दिरों के बारे में यह लागू नहीं होती। बार-बार उन्हें देखते हैं पर आकांक्षा बनी ही रहती है। कितने व्यक्ति अपना प्रिय घर परिवार छोड़कर भी इन पुण्य तीर्थों में निवास करने लगते हैं। सुविधा की दृष्टि से यद्यपि घर परिवार ही अच्छा था पर भावना का आकर्षण उन असुविधाजनक स्थानों में निवास करने पर शान्ति प्रदान करता है। यह तथ्य बताते हैं कि वस्तु का स्थूल रूप देर तक आनन्द नहीं दे सकता। उसकी अन्तः सत्ता की सूक्ष्मता और दिव्यता को देखा समझा जा सके तो ही वह चिर उल्लास दे सकने में समर्थ होगा। मूर्तिकारों के यहाँ बिकन वाली एक से एक सुन्दर प्रतिमा में वह श्रद्धा या आकर्षण नहीं होता जो किसी प्राचीनकाल की अनगढ़ देव प्रतिमा में होता है। यह सूक्ष्म दर्शन का ही चमत्कार है।

व्यक्तियों के बारे में भी यह बात लागू होती है। उनके साथ यदि बाह्य आकर्षणों से प्रभावित होकर प्रेम किया गया है तो उसमें स्थिरता रह न सकेगी। रंग, रूप पर, हाव-भावों पर मोहित होकर कई व्यक्ति परस्पर प्रेमी बन जाते हैं। धन, कौशल, कला, सफलता, पद, सत्ता, विनोद आदि के आकर्षण भी कई बार मित्रता के लिये आकर्षित करते हैं। आमतौर पर इन्हीं आधारों पर मित्रता जुड़ती रहती है। युवा स्त्री पुरुषों के बीच जो जल्दी और गहरी मित्रता जुड़ जाती है। उसके पीछे आमतौर से वासना की तृप्ति तथा दूसरे भौतिक लाभों की प्राप्ति ही प्रधान कारण देखी जाती है। यों इस आकर्षण को भी नाम प्रेम का ही दिया जाता है और गीत वैसे ही गाये जाते हैं। पर वस्तुतः बात वैसी ही नहीं है।

शाश्वत प्रेम का स्तर उससे बहुत ऊँचा है। वह यदि वस्तु से किया गया है तो उसकी उपयागिता के प्रति श्रद्धा रखकर ही किया जाता है। मन्दिरों में प्रसाद प्रायः एक ही तरह का मिलता है पर उसे स्वाद की दृष्टि से न देखकर श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है इसलिये उस में स्वाद परिवर्तन की इच्छा या अरुचि नहीं होती। संसार में जो वस्तुयें हैं वे मेरे उपभोग के लिये वरन् नहीं इस विश्व की शोभा व्यवस्था बनाये रहने के लिये परमात्मा की पुनीत कृति के रूप में हैं। यह मान्यता यदि मन में हो तो कोई पदार्थ अरुचिकर न लगेगा वरन् उसकी लोक मंगल के लिये आवश्यकता को समझते हुये श्रेष्ठता उपयोग करने की इच्छा होगी। तब दुरुपयोग किसी वस्तु का न हो सकेगा, न अपव्यय किया जा सकेगा, न उपेक्षापूर्वक रत्तीभर बर्बादी सम्भव होगी। हर वस्तु को यहाँ तक कि कूड़े और मलमूत्र को भी उसके उचित स्थान पर इस प्रकार रखने की बुद्धि जगेगी जिससे उसे तिरस्कृत या हेय न समझा जाये। यह प्रेमदृष्टि यदि पदार्थ के प्रति उत्पन्न हो जाये तो निश्चय ही उन्हें अधिक स्वच्छ, व्यवस्थित एवं सदुपयोग की स्थिति में रखा जायेगा। तब किसी पदार्थ से न तो अरुचि होगी न घृणा न निराशा।

व्यक्ति प्रेम के सम्बन्ध में भी यही बात है। मनुष्य के भीतर रहने वाली परम पवित्र आत्मा में जब स्नेह भावना जुड़ती है तो उसकी श्रेष्ठता के प्रति श्रद्धा रखने और उसे अभिसिंचित करने की भावना रहती है। दोष हर व्यक्ति में सम्भव हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें सुधारने पर आशा भरा विश्वास रखा जाता है और जब तक अनुकूलता उत्पन्न न हो तब तक सहने और निबाहने का भाव रखा जाता है। इस सन्तुलित दृष्टि के साथ जो प्रेम किया जाता है वह न तो त्रुटियाँ सामने आने पर निराश होता है और न रंग-रूप अथवा लाभ का आकर्षण घटने पर खिन्न होता है। आस्था के आधार पर जब मिट्टी के ढेले को गणेश बनाकर रखा जा सकता है और उसकी उपासना का आनन्द पाया जा सकता है तो मिट्टी की काया में समाये हुये अमृत के समावेश युक्त सजीव व्यक्ति के

प्रति क्यों आत्मीयता नहीं बनाये रखी जा सकती ?

प्रेम वस्तुतः एक आन्तरिक दिव्य अनुभूति है जो पदार्थ या शक्ति के माध्यम से विकसित भर होता है। अन्ततः वह आदर्शों पर जाकर जम जाता है और समस्त विश्व में फैल जाता है। प्रेम एकांगी होता है। इसलिये उसका आदि होता है अन्त नहीं। कलम टूट जाने से भी मस्तिष्क में भरी विद्या का अन्त नहीं होता। इसी प्रकार किसी पदार्थ या व्यक्ति के अनुपयुक्त या हानिप्रद सिद्ध होने पर भी सहज आत्मीयता में कमी नहीं आती। अपनापन जिस बालक में जुड़ा होता है वह कुरूप या बीमार होने पर भी स्नेह-भाजन, कृपा पात्र एवं सहयोग का अधिकारी ही बना रहता है। यह आत्मीयता जब अपनी प्रौढ़ स्थिति में पहुँचती है तो उसकी साधना व्यष्टि से बढ़कर समष्टि में संव्याप्त हो जाती है और उस पदार्थ या व्यक्ति के न रहने पर भी अवरुद्ध नहीं होती। अपने शरीर में भरे हुये अशुभ और अवांछनीय तत्वों को जब हम सहन कर लेते हैं तो दूसरों के दोष देखकर ही क्यों अपनी प्रेम-साधना समाप्त कर ली जाये ?

प्रेम की कभी तृप्ति नहीं होती क्योंकि उसका क्षेत्र व्यापक है। अधिक सेवा, अधिक त्याग, अधिक अनुदान देने की प्रेम भरी प्रवृत्ति तब तक विकसित होती रहती है जब तक कि उसका अपना कहने लायक कुछ भी शेष रहता है। प्रेमी देना ही जानता है सो देते-देते जब अपनी अहंता तक प्रभु चरणों में समर्पित नहीं कर देता तब तक अतृप्ति ही बनी रहती है। पूर्ण समर्पण में जब अहंता का लय हो जाता है तभी तृप्ति मिलती है। जब तक प्रेमी का अस्तित्व मौजूद है—पूर्ण समर्पण नहीं हुआ जब तक अतृप्ति ही रहेगी। सो तत्वदर्शियों ने ठीक ही कहा है—प्रेम का आरम्भ होता है अन्त नहीं। क्योंकि न उससे निवृत्ति मिलती है और न उसकी पूर्ति होती है।

प्रेम में न शिकायत की गुंजायश है, न असफलता की

भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों समेत परिव्रजा पर जा रहे थे। रास्ते में एक शिष्य ने पूछा—हम, लोगों के साथ सदा सद्भाव भरा व्यवहार करते हैं पर बदले में हमें उपेक्षा ही मिलती है—भन्ते इसका क्या कारण है।

तथागत ने कुछ उत्तर न दिया। यात्रा आगे बढ़ती रही। मध्यान्ह हो गया और प्यास लगी। एक कुआँ मिला। उस पर डोल भी पड़ा था और रस्सी भी। पानी खींचा गया। पर भरा हुआ डोल ऊपर तक आते-आते खाली हो गया, श्रम निरर्थक जाने पर खींचने वाले को दुःख हुआ। संयोगवश वह प्रश्नकर्त्ता ही पानी भी खींच रहा था। उसे यहाँ भी असफलताजन्य खिन्नता कष्ट दे रही थी।

भगवान बुद्ध ने कहा—तात् इस डोल में छेद हैं। सो कुआँ, रस्सी, श्रम आदि सब साधन होने पर भी पानी छेदों में होकर बह जाता है और तृप्ति लाभ से वंचित होना पड़ता है। प्रतिफल की इच्छा के छेदों के रहते मनुष्य की सेवा-साधना और प्रेम-प्रवृत्ति भी सन्तोषदायक परिणाम उत्पन्न नहीं करती।

देखा यही जाता है कि सेवा सहायता—या स्नेह सद्भाव का प्रयोक्ता आरम्भ में ही अपने अनुदान के लम्बे-चौड़े प्रतिफल का स्वप्न देखता है और उसकी उतनी पूर्ति नहीं हो पाती तो खिन्नता और खीज से भरी निराशा व्यक्त करता है। आशा के अनुरूप दूसरों की प्रशंसा या प्रतिदान मिलने की आकांक्षा लेकर उदारता या आत्मीयता बरती जाय तो उसे छेद वाले डोल की तरह ही समझना चाहिये। जिसका अभीष्ट परिणाम मिल सकना कठिन है।

व्यवहार और प्रेम के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। व्यवहार प्रतिदान के ऊपर अवलम्बित रहता है। उसे व्यवसाय या आदान-प्रदान कहते हैं। संसार के सभी कारोबार इसी आधार पर चलते हैं। मजदूर काम करता है, मालिक उसका पारिश्रमिक चुकाता है। आज घर आने पर मित्र को—चाय पिलाई, कल उसके

घर जाने पर हम चाय की अपेक्षा कर सकते हैं। यह व्यवसाय है। मधुर व्यवहार भी प्रतिफल पर आधारित होते हैं। वैश्या और मछुए के बीच प्रेमालाप में कमी नहीं रहती। पर चूँकि वह ढर्रा अनुदान-प्रदान के आधार पर चल रहा है। मूल आधार में कमी आते ही उपेक्षा या विरोध के रूप में परिस्थिति बदल जायेगी।

इस प्रकार की मधुरता या घनिष्ठता को प्रेम नहीं कहा जा सकता। जिसमें परिणाम प्रतिदान की अपेक्षा की गई हो। वस्तुओं की तरह व्यवहार का भी आदान-प्रदान होता है। व्यवसाय में लाभ और हानि के लिये तैयार रहना पड़ता है। अपनी सद्‌भावना को उतनी ही सद्‌भावना के रूप में प्रत्युत्तर मिला तो जमा खर्च बराबर। ज्यादा मिला तो नफा। कम मिला तो घाटा। यह तो धन्धे में चलता ही रहता है। इससे खिन्न होने या शिकायत करने की क्या आवश्यकता।

प्रेम इससे ऊँची चीज है। वह न किसी पर अहसान करने के लिये किया जाता है और न प्रतिदान के लिये। अपने अन्तःकरण में भरे अमृत का अवरुद्ध स्रोत खोलने के लिये किन्हीं औजारों की जरूरत पड़ती है। जिन व्यक्तियों पर आरोपित करके अपनी प्रेम प्रवृत्ति को विकसित किया जाता है उन्हें धन्यवाद ही देना चाहिये कि उतने अंशों में—उतने समय तक हमारी प्रेम साधना को विकसित होने देने में अपना सहयोग प्रदान किया, प्रतिदान इतना भी क्या कम था जो हम उनसे और अधिक अपेक्षा करें। कुआँ खोदने के लिये गेंती, फावड़े प्रयुक्त होते हैं। पानी तो कुएँ में से निकालना है, यदि फावड़े में से पानी नहीं निकलता तो उस जड़ माध्यम पर क्यों खीजा जाय ?

प्रेम अपने अन्तरंग में से निकलता है और उसी के उभार से आत्मतृप्ति मिलती है। इस दुनियाँ में ऐसे लोग कम हैं जो प्रेम का मूल्य वस्तुतः समझते हों। उससे भी कम वे हैं जिनका आन्तरिक विकास उस महान् अनुदान का प्रतिदान दे सकने योग्य हो चुका हो आमतौर से रूखे और नीरस लोग ही सर्वत्र भरे पड़े हैं। लम्बे-चौड़े वायदे करते रहना—प्रेमी के अनुदान से लाभ उठाते रहने की कला को चतुर लोग भली प्रकार जानते हैं। उन आश्वासनों को सही मानकर जिनने प्रेम किया उन्हें दुहरा घाटा रहेगा। समय पर खोटे सिक्के की तरह जब प्रेमास्पद तोताचश्मी करेगा तब अपने को बुरा लगेगा। दूसरे उस खीज की प्रतिक्रिया से अपने विश्वासों की नींव हिल जायेगी और प्रेम प्रवृत्ति की आत्म-साधना को असफलता का मुँह देखना पड़ेगा। इसलिये वस्तु स्थिति आरम्भ में ही समझ लेनी चाहिये। मूर्ति-पूजा में पाषाण प्रतिमा से कुछ भी प्रत्यक्ष लाभ न दीखते हुये भी जिस श्रद्धा के साथ भक्ति भावना की जाती है, लोगों को भी—मित्र कुटुम्बियों को भी उसी स्तर का मानकर न मात्र अपने आन्तरिक विकास के लिये प्रेम प्रवृत्ति के आत्म-वर्द्धन का अभ्यास करने के लिये—किसी को प्रेमास्पद चुनना चाहिये और बदले की अपेक्षा से आरम्भ से ही विरत रहना चाहिये। इस प्रकार भले ही सीमित प्रेम-प्रदर्शित हो सके पर वह सही होगा। भावातिरेक में किसी से अपनी जितनी ही घनिष्ठ आत्मीयता की आशा लेकर चलना ऐसी भूल है जिसमें अन्ततः पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। कोई पहलवान अपने व्यायाम उपकरणों से यह आशा रखे कि वह भी बदलू में उतना ही साथ देंगे तो यह आशा व्यर्थ है। संसार में जड़ता का ही बाहुल्य है। प्रेम-पथ के पथिक को यह समझकर ही चलना चाहिये अन्यथा उसको धोखे की आशंका बनी ही रहेगी।

प्रेम वस्तुतः आदर्शों से किया जाता है। मनुष्य उसके माध्यम हो सकते हैं और वे बदले भी जा सकते हैं। दुखियों की सहायता करना—सज्जनता को सहयोग देना, कर्त्तव्य के लिये कष्ट सहना जैसे आदर्शों से प्रेम किया जाना चाहिये, इसी को ईश्वर प्रेम या भक्ति साधन कहते हैं। इसमें असफलता का कभी कोई कारण उत्पन्न नहीं हो सकता, किसी वृद्ध बीमार को सड़क पर असहाय पड़ा देखा और उसकी सेवा सहायता में उदारता बरती। अपने लिये संतोष और उल्लास के लिये इतना सा कर्त्तव्य पालन पर्याप्त है। लोक-मंगल की चल रही प्रवृत्तियों में जुट पड़े, उसमें अपना जितना अनुदान बन पड़ा लगा दिया। इतने भर से अपना अन्तःकरण पुलकित हो जायेगा। यदि उस वृद्ध बीमार से बदला चुकाने की या लोक-सेवा में यश मिलने की कामना रहेगी तो वे दोनों ही प्रयोजन न तो कुछ सन्तोष प्रदान करेंगे न उल्लास। उल्टे बदला न मिले के कारण दुनियाँ को कोसने की जो जलन उठेगी उससे अपना सन्तुलन नष्ट

होगा। यह घाटा सेवा न करने की हानि से भी महँगा पड़ेगा।

व्यवहार-व्यवसाय अलग चीज है उसे उसी तरह नाप-तौल कर व्यापार बुद्धि से करना चाहिये। ऐसी दोस्ती घटाई-बढ़ाई, तोड़ी-जोड़ी जाती रहती है। प्रयोजन जब जिससे जितना सधे तब उसे उतनी मूल्य की—घनिष्ठता बताकर दिखा दी। इस कला को चतुरता कहा जाता है। लोग उसकी जरूरत समझते भी हैं और उसे अपने-अपने दाव घात के अनुसार प्रयोग भी करते हैं। जिसे जरूरत हो वह उसका उपयोग करे। इसमें दिव्य-प्रेम को कुछ लेना-देना नहीं है। रंग एक जैसा होने से बगुले और हंस-कोयल और कौए एक नहीं हो सके। उदारता और घनिष्ठता भरा दीखने वाला मधुर व्यवहार उस श्रेणी में नहीं आता जिसे दिव्य प्रेम कहा जाता है—जिसके आधार पर आत्म-विकास होता है और समाज में उच्च परम्पराओं की प्रतिष्ठापना होती है। ऐसा प्रेम तो निःस्वार्थ ही हो सकता है और आदर्शों पर अवलम्बित। उसमें न असफलता की गुंजायश है न शिकायत का प्रश्न।

अभिलाषाओं और आकर्षणों से गुथे हुये 'छाया प्रेम' में प्रेमी की इच्छा पूर्ति आवश्यक हो जाती है चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित। उसमें साथी के दबाव, आग्रह या अनुरोध को अपनी कोमलता सहन स्वीकार कर लेती है और अनैतिक आचरण में भी सहयोगी बनती है। आदर्श उसमें बाधक नहीं बनते। प्रेमी की खुशी के लिये वह भी किया जाता है जिसे अन्तरात्मा प्रत्यक्ष ही अनुचित कहती है। ऐसा 'प्रेम' दोनों पक्षों में किसी के लिये भी हितकर सिद्ध नहीं होता। प्रेम-व्यवहार उच्च-आध्यात्मिक भूमिका है। उसमें अनौचित्य का सम्मिश्रण नहीं हो सकता। जो कुमार्ग पर चलने के लिये दबाता है वह दुष्ट और दबता है उसे कायर ही कहा जायेगा। जहाँ दुष्टता और कायरता जैसे अनात्म तत्व उफन रहे हैं, वहाँ सच्चे प्रेम का अस्तित्व कहाँ रहेगा, वह भावुकता अन्ततः महँगी ही पड़ेगी और घाटे का सौदा सिद्ध होगी जबकि सच्चे प्रेम में इस प्रकार के अनर्थ की कोई गुंजायश नहीं है।

सच्चे प्रेम की घनिष्ठता में प्रेमी को उच्च आदर्शों की ओर घसीट ले चलने की निष्ठा ओत-प्रोत रहती है। इच्छाओं की पूर्ति नहीं, इच्छाओं का परिष्कार इष्ट रहता है। प्रेम उठाता है, गिराता नहीं। आत्म-हत्या करते हुये भाई को बलपूर्वक घसीटकर उस दुष्कर्म से विरत किया जाता है भले ही इस प्रयत्न में लड़ने-झगड़ने या पिटने-पिटाने की नौबत ही क्यों न आ जाय। सामयिक प्रसन्नता-अप्रसन्नता को सच्चे प्रेम में स्थान नहीं दिया जाता वरन् दूरगामी भविष्य एवं आत्यन्तिक परिणाम देखा जाता है। जो इस कसौटी पर खरा उतरे वही सच्चा प्रेम है। अत्यन्त भावुकता भरी अन्धी घनिष्ठता को 'भ्रान्ति' ही कहा जायेगा। ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने वाले अन्ततः प्रेम को कोसते ही देखे गये हैं।

आत्मा की प्यास बुझाने के लिये—अन्तःकरण को पवित्र करने के लिये—आत्मबल बढ़ाने के लिये—प्रेम साधना की अनिवार्य आवश्यकता है। रूखा, नीरस, एकाकी स्वार्थी मनुष्य कितना ही वैभव सम्पन्न -क्यों न हो अध्यात्म की दृष्टि से उसे नर-पशु ही कहा जायेगा। जो किसी का नहीं, जिसका कोई नहीं। ऐसा मनुष्य कुछ भी अनर्थ कर सकता है। उसे अपने आप से डर लगेगा और अपनी जलन में जीवन मृतक की तरह झुलसेगा। प्रेम-रहित नीरस, जीवन घृणित है वह मनुष्य जैसे विकासवान प्राणी के लिये हर दृष्टि से हेय है। सामाजिक दृष्टि से व्यक्तिवाद हर कसौटी पर हेय सिद्ध होता है। जो जितना सामाजिक है वह उतना ही अच्छा विश्व नागरिक माना जायेगा। समूह निष्ठा की उदार आदर्शवादिता उसी कोमल संवेदना की परिणति है, जिसे प्रेम भावना के नाम से संबोधित किया जाता है।

मनुष्य का वास्तविक और आन्तरिक उत्कर्ष उसकी प्रेम-भावना की न्यूनता और अधिकता से ही किया जाना चाहिये। समाज की प्रगति, स्थिरता, शान्ति, समृद्धि का आधार नागरिकों का पारस्परिक सहायता सद्भावना से ही आँका जाना चाहिये। प्रेम इस धरती का अमृत है और मनुष्य का प्राण, यह जितना ही विकसित होगा उतनी ही सुख-शान्ति की सम्भावना साकार होगी।

❑ ❑

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवन काल में जितना भी कुंछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युगनिर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्रनिर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़ पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद कांग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रंगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका-मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोबा जी के चले जाने के बाद अस्तित्त्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि. संवत् २०६८ में जन्मे राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराम मत्त कहलाने वाले, आचार्य श्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रांति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माता जी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका-अपनी लेखनी से लिखी ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उनने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाब लाये कोई क्रांति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्व दर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में संपन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरु सत्ता को देखकर त्याग करने की यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उनने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेघ के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से संपन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी **गायत्री तपोभूमि, मथुरा** जो वृन्दावन रोड़ पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक आँवल खेड़ा से अपनी जन्मभूमि से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी 12 वर्ष पूर्व आरंभ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतः स्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसं भुतहा

हवेली कहा जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा** के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जोकि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ बनाई गई। १९५३ में एवं क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों- प्रज्ञा संस्थानों भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों-चरणपीठों का महत्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा ज़ा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्य पूर्ण था।

परम पूज्य गुरुदेव की महत्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ, इस प्रकार हैं-

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शांतिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष जन्मा संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन ब्राह्म मुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर १९११ के दिन आती थी। एक श्री मंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित-पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रंम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थी। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुआँ जिसे पूरे गाँव का एक मात्र मीठे जल वाला कुआँ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीर धारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशा धारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इंटर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धन राशि द्वारा विनिर्मित्त है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ-एवं कन्या इंटर कालेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा एवं एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित संस्कारवान आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव निर्माण की सांस्कृतिक-भावनात्मक क्रांति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीया मण्डी, मथुरा में स्थित हैं। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रांतिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरंभ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तंभ व अन्यान्य

लेखों की पंक्तियों के माध्यम से संपन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतस्तल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुखी, तनाव ग्रसित व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परम वंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी टेण्ड्रिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजा घर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में 1942-43 में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ सहस्र कुण्डीयज्ञ की आधार शिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परम वंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं संपन्न हुआ। जन सम्मेलनों छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन विस्तार डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परम वंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षत: देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू० गुरुदेव की साधना स्थली व प्रात: काल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन संपन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा संपन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्य श्री ने युग निर्माण योजना के शत सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युगनिर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरंभ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युगनिर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शांतिकुंज, हरिद्वार- ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुन: एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने,

सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया । इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने 24 कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़ गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था । पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्त्तन सत्र जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े । यह सत्र श्रृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का तांता लगा रहता है । पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं ।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्त ऋषियों की मूर्त्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को संपन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार संपन्न होते हैं। इस बीच परम वंदनीया माताजी ने जागरण सत्र श्रृंखलाएँ संपन्न करना आरम्भ रखा । देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया । इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा ।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक अकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ । विलक्षण, दुर्लभ जड़ी बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थ स्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया । यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी । स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है ।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परम-पूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवी स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७९ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था । वर्तमान शांतिकुंज-गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्त्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फल-श्रुतियों सहित स्थापित हैं । द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्त्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये । इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है । यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों-जैव विद्युत आदि पर पड़ा यह देखा जाता है । विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं । तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित हैं, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं । यहाँ प्राय: ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं । यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता ।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीला संदोह रचकर चली गयी । प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान २४००० से अधिक प्रज्ञा मण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जायें तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है ।

□□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. परिचयात्मक खण्ड
   समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
८. ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्त्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरद: शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं दीक्षा
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता, प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार-ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना -दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६८. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे--

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. मर्मस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

हर निमिष उनका साथ रहा । अंतिम बीस वर्ष शांतिकुंज हरिद्वार या सूक्ष्म शरीर से हिमालय में बीते । ऋषि परम्परा का बीजारोपण, सिद्ध तीर्थ गायत्री तीर्थ का निर्माण एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के लिए संकल्पित ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान व समर्थक साहित्य का लेखन इसी अवधि में हुआ । जीवन भर उनने लिखा, हर विषय को स्पर्श किया एवं जीवन मूरि की तरह भाव-संवेदना को अनुप्राणित करने वाली अपनी लेखनी साधना की । स्वयं के बारे में वे कहते थे- ''न हम अखबार नवीस हैं, न बुक सेलर, हम तो युगदृष्टा हैं । हमारे ये विचार, क्रांति के बीज हैं । ये फैल गए तो सारी विश्व-वसुधा को हिलाकर रख देंगे ।''

गद्य ही नहीं, पद्य पर भी उनकी उतनी ही पकड़ थी । हजारों को प्रेरित कर उनने सृजनात्मक काव्य लिखवाया। लेखनी उनकी पत्रों के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को बदलती चली गयी । प्राय: श्रेष्ठ लेखक, श्रेष्ठ वक्ता नहीं होते । किन्तु उनकी ओजस्वी अमृतवाणी ने लाखों का कायाकल्प कर दिया । उनके उद्‌बोधनों को, जो उनने भारत के कोने-कोने व मथुरा-हरिद्वार की पावन भूमि में दिए, इस वाङ्मय में देने का प्रयास किया गया है । करुणा छलकाती उनकी वाणी, अंत: को स्पर्श करती हुई जीवन-शैली बदलने को प्रेरित रहती प्रतीत होती है।

सत्तर खण्डों में जो पाँच-पाँच सौ पृष्ठ के हैं, प्राय: वह सब कुछ समा गया है, जो ऋषि युग्म के माध्यम से प्रकट हुआ । जो कमियाँ हैं, वह संपादन मण्डल की हैं । जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सब उसी गुरु-सत्ता का है, उन्हीं का है, उन्हीं को समर्पित है ।

प्रज्ञा पुराण
अथर्ववेद संहिता
सामवेद
यजुर्वेद संहिता
ऋग्वेद संहिता
अखण्ड ज्योति
प्रज्ञा अभियान
WHAT AM I